श्रीः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के

प्रधान-संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मानपूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

श्रीमान् की सशक्ता संरक्षता से समन्वित तत्त्वशोधसंस्थानने अपने प्रक्रान्त वर्षत्रयात्मक स्वल्पकाल में राष्ट्र के जनतन्त्र, एवं सत्तातन्त्र के सहयोग से भारतराष्ट्र की ज्ञान-विज्ञानसमन्विता, श्रुति-स्मृति-पुराणमूला प्राच्य-सांस्कृतिक-तत्त्वानुसंधान-की दिशा में अनुमानतः ५००० (पाँच हजार) पृष्ठों का जो मौलिक-साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया है, उसका प्रमुख श्रेय श्रीमान् की सांस्कृतिक-प्रेरणा से ही अनुप्राणित है। यद्यपि अपनी आर्थिक-सीमाओं के अनुबन्ध से निर्म्मित-साहित्य के अनुपात से अभी कार्य्य 'नहीं' के समान ही होपाया है। तथापि संस्थान की ऐसी आस्था है कि, महामहिम की अन्यर्था प्रेरणा से शीघ्र ही संस्थान अपने इस 'प्राच्य-साहित्यिकयज्ञ' में पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा, इसी आशा-प्रतीक्षा के साथ 'दिग्देश-कालस्वरूपमीमांसा' नामक प्रस्तुत सहस्रपृष्ठात्मक प्रकाशन कृतज्ञता-पूर्वक संस्थान की ओर से महामहिम राष्ट्रपति की सेवा में अत्यन्त विनय-पूर्वक समर्पित होरहा है अपने राष्ट्रपति की शतायुः--कामना के साथ।

समर्पकः—नम्रः

मोतीलालशर्म्मोपाह्वः-यः कश्चिदपि
सुकरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
(संस्थानाध्यक्षः)

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर)
द्वितीय-श्रावणशुक्ल-तृतीया, रविवासर
वि० २०१५

श्री

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग-द्वारा प्राप्त

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का

'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है—

भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
दिनांक 30 अगस्त 1958

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
यदुनाथसिंह
(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नुगत-'किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्'

की

संक्षिप्ता-विषयसूची-परिच्छेदात्मिका

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'नुगत-"किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्"

की

संक्षिप्ता-विषयसूची

उपरता चेयं-'किञ्चिदिव–प्रास्ताविकस्य' संक्षिप्ता परिच्छेदात्मिका-विषयसूची

सृष्टितत्त्वविमर्शपरायण, ज्ञानशक्तियुक्त विद्वान्-ब्राह्मण को अपनी इस सांस्कृतिक-निष्ठा के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयासपूर्वक 'अराजन्य' ही बना रहना चाहिए। क्योंकि यही इसके सांस्कृतिक स्वरूप संरक्षण का प्रमुख अवलम्ब है। अर्थात् दिग्देशकालनिबन्धन शासनतन्त्रात्मक सत्तातन्त्रों के प्रभाव से, आश्रय से ब्राह्मण को असंस्पृष्ट ही बना रहना चाहिए।

४६-'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों से अनुप्राणिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। संस्कृति, और सभ्यता, दोनों शब्द सुप्रसिद्ध हैं। पाञ्चभौतिक महाविश्व के स्रष्टा मन:प्राणवाङ्मय जिस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है, उस की 'कृति' [रचना] दो महिमा भावों में विभक्त मानी गई है। सुसूक्ष्मा 'प्राणात्मिका-कृति' ही उस प्रजापति की 'अन्तरङ्गकृति' है, एवं स्थूला 'वाङ्मयी-कृति' ही उसकी 'बहिरङ्गकृति' है। इन्हीं को सूक्ष्मकृति, स्थूलकृति, भी कहा जासकता है। प्राणकृतिरूपा सूक्ष्मकृति उस की रहस्य-पूर्णा 'परोक्षकृति' है, एवं वाक्कृतिरूपा स्थूलकृति उस की 'प्रत्यक्ष-कृति' है। एक ही प्रजापति की कृति क्यों, और कैसे दो महिमा भावों में परिणत होगई ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शतपथब्राह्मण) इत्यादि श्रुतिवचन के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है।

४७-प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति का संस्मरण, एवं उस के अमृत मर्त्य भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है'। मनःप्रधान अव्ययपुरुष ही 'पुरुष' है, जिसे 'भा'-रूप, सत्यात्मक, आकाशात्मा भी माना गया है (१)। मनोमय इस अव्ययपुरुष की अन्तरङ्गा 'परा' प्रकृति ही 'अक्षर' है, और यह प्राणप्रधाना है, प्राणमयी है। एवं बहिरङ्गा 'अपरा' प्रकृति ही 'क्षर' है, और यह वाक्प्रधाना है, वाङ्मयी है। मनोमय, मनःप्रधान अव्ययपुरुष की यही प्रकृति रसप्राधान्या-वस्था में-'अमृताप्रकृति' है, यही 'अमृताक्षर' है (२)। एवं इसी पुरुष की यही प्रकृति बलप्राधान्यावस्था में 'मर्त्याप्रकृति' है, यही 'मर्त्यक्षर' है। इसप्रकार पुरुष की एक ही प्रकृति रसानुबन्धी 'प्राण' तथा बलानुबन्धिनी 'वाक्'-के भेद से क्रमशः अमृत, मर्त्य, इन दो विवर्त्तभावों में परिणत होरही है। प्रकृति के ये दोनों विवर्त्त ही क्रमशः प्राणात्मिका सूक्ष्मकृति, तथा वागात्मिका स्थूलकृति, पूर्वोक्त इन दोनों कृतियों की प्रवर्तिका बन रही है।

ही 'अक्षरात्मा' है। प्राणः- आपः-वाक्-अन्नाद्-अन्नात्मिका पञ्चकलोपेता मर्त्याप्रकृति ही-'क्षरात्मा' है। एवं इन तीनो कलात्मक तन्त्रों से अतीत, अमना-अप्राणात्मक (१) विश्वातीत तत्त्व ही इन तीनों की पन्द्रह कलाओं का पूरक सोलहवाँ निष्कल-निरञ्जन-'परात्पर' है।

४६-षोडशकला--समन्वित षोडशी प्रजापति का संस्मरण—

पञ्चकल मनोमय अव्ययपुरुष, पञ्चकल प्राणमय अक्षर (पराप्रकृति), पञ्चकल वाङ्मय क्षर (अपराप्रकृति), एवं निष्कल परात्पर, इन षोडश (सोलह) तत्त्वों की समष्टि का नाम हीं वह 'षोडशी-प्रजापति' नामक 'प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति' है, जिस की प्रकृति का अक्षरात्मक अर्द्धभाग अमृत है, एवं क्षरात्मक अर्द्धभाग मर्त्य है।

५०-'नासदासीन्नो सदासीत्' मूलक सदसद्विलक्षण प्रजापति, और अनुगमवचन—

प्राणात्मक अर्द्ध अमृताक्षर-भाग ही उसी का-'सद्रूप' है, एवं वागात्मक अर्द्ध मर्त्य क्षर भाग ही उसी का 'असद्रूप' है। इन दोनों प्राकृत सदसद्भावो का प्रवर्त्तक, अतएव सदसद्भावात्मक (२), अतएव च सत्, और असत् (अक्षर, और क्षर,) से अतीत बनता हुआ-'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋक्-सं०१०।१२६।१) इत्यादि रूपेण सत्, और असत्, दोनों से ही विलक्षणभावमाध्यम से उपगीयमान प्रकृति-विशिष्ट यह षोडशीप्रजापति ही भूत-भवत्-भविष्यत्, सब कुछ बन रहा है (३)। इसी की तथोक्ता सोलह कलाओं के आधार पर जहाँ-'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (शत० १३।२।२।१२।) यह अनुगम सिद्धान्त प्रतिष्ठित है, वहाँ परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-इन चार प्रमुख विवर्त्तों के आधार-पर 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (शां० ब्रा० १४।३।) यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

---

(१)——अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः--अक्षरात्-परतः परः (तस्मात् 'परात्परः)'

(२)——अमृतं चैव, मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन ! (गीता).

अक्षरापेक्षया स एवाव्ययः सत्, क्षरापेक्षया च स एव-असत्- इति निष्कर्षः।

(३) क-यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

—यजुःसंहिता ८।३६।

ख--यस्माज्जातं न पुरा किञ्च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

—यजुःसं०३२।५।

ग--प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

—यजुःसं० १०।२०।

५१–प्रजापति की 'समब्रह्मता', तदनुबन्धी 'सम्' उपसर्ग, एवं तन्निबन्धन-समता समत्व–साम्य-एकीभाव--आदि समत्वप्रतिपादक शब्द—

उक्त प्राजापत्य–स्वरूप के द्वारा प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, प्रकृति विशिष्ट पुरुष (अव्ययात्मा) ही सर्वत्र, सब भूतों में 'समवस्थित (१) बना रहता हुआ-'समब्रह्म' (२) नाम से प्रसिद्ध है । अपने क्षरनिबन्धन-वाङ्मय–मर्त्य, अतएव नानाभावापन्न भौतिक-(३) क्षरधर्म से दिग्देशकालात्मक भौतिक पदार्थ विभिन्न-भावापन्न हैं, अनेक भावाक्रान्त है (४) । इन विभिन्नों में, विभक्तों में, अनेकों में अविभिन्न–अविभक्त–एकरूप से प्रतिष्ठित रहना ही अव्ययपुरुष का 'समब्रह्मत्व' है (५) । इसी आधार पर व्याकरणशास्त्र का सुप्रसिद्ध-'सम्' उपसर्ग एकीभाव का ही वाचक माना गया है, जैसा कि–'समित्येकीभावे' से स्पष्ट है । एकभावापन्न, सर्वत्र समरूपेण अवस्थित 'अव्ययेश्वर' नामक 'समब्रह्म' का सग्राहक एकीभावात्मक यही 'सम्' उपसर्ग प्रमाणित हो रहा है । अतएव यत्र यत्र शास्त्र में जब भी तत्त्वों की अभिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब तब सर्वत्र-'सम्' उपसर्ग ही समन्वित कर दिया जाता है । संस्कृति–संस्कार–संस्कृत–इत्यादि सुप्रसिध्द शब्दों में पठित 'सम्' उपसर्ग 'सम'ब्रह्मानुगता' इस 'समता' का, 'समत्त्व' का, 'साम्य' का, 'एकीभाव' का ही सग्राहक बन रहा है । यैषा तात्त्विकी–स्थिति ।

---

(१)–समं पश्यन् हि सर्वत्र-'समवस्थित'-मीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम् ॥
—गीता १३।२८।

(२)–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितम् ।
निर्दोषं हि 'समब्रह्म' तस्माद् ब्रह्मणि, ते स्थिताः, ॥
—गीता ५।१९।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति ॥
—गीता १३।२७।

(३)–क्षरः सर्वाणि भूतानि (गीता)

(४)–मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
—(उपनिषत्)

(५)–अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
—गीता १३।१६

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
—गीता १८।२०।

५२–षोडशीपुरुषप्रजापति की अव्यय-अक्षर--क्षर-मूला भाव-गुण-विकार-निबन्धना त्रिविधा सृष्टि का तात्त्विक स्वरूप–दिग्दर्शन—

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति का मनःप्रधान अव्ययभाग (पुरुष) ही प्राजापत्या सृष्टि का 'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' (१) मूलक 'अधिष्ठान' ('आलम्बनकारण') है। इस मूलाव्ययपुरुषाधिष्ठान का नाम ही–'समब्रह्म' है। इस समब्रह्म (अव्ययपुरुष) पर 'अधिष्ठित' प्राणप्रधान अक्षरभाग (अव्ययपुरुष की 'परा' नाम की–अन्तरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'कथासीत्' मूलक 'असमावायिकारण' ('निमित्तकारण') है। एवं इसी समब्रह्म पर प्राणमय अक्षर के माध्यम से 'प्रतिष्ठित' क्षरभाग (अव्यय–पुरुष की–'अपरा' नाम की 'बहिरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'आरम्भणं कतमित्स्वित्' मूलक–'आरम्भण' ('समवायिकारणात्मक उपादानकारण') है। इन तीनों कारणों से अभिव्यक्त–व्यक्त–प्रसूत (२) प्राजापत्यसर्ग इन तीन 'आत्ममहिमा' भावों के अनुबन्ध से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जो कि तीनों सर्ग क्रमशः भावसर्ग (अव्ययात्मक), गुणसर्ग (अक्षरात्मक,) एवं विकारसर्ग (क्षरात्मक), नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोमय–अव्यय से अनुप्रेरित भावसर्ग ही प्रजापति की 'अकृतिरूपा–सूक्ष्मतमा ऋषिसृष्टि' है, जिसका–'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (३) (गीता १०।५।) इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है। यही–'मानसीसृष्टि' है, यही–'पुरुषसृष्टि' (अव्ययसृष्टि) है। प्राणमय अक्षर से अनुप्राणित गुणसर्ग ही प्रजापति की 'आभ्यन्तरकृतिरूपा सूक्ष्मा 'देवसृष्टि' है। एवं वाङ्मय क्षर से समन्वित (४) विकारसर्ग ही प्रजापति की 'बाह्यकृतिरूपा–स्थूला–भूतसृष्टि' है। इन तीनों में भावात्मक सर्ग पुरुषसर्ग है, एवं–गुण–विकार–नामक दोनों सर्ग अक्षर, क्षर, नाम की परा–अपरा प्रकृतियों के द्वारा क्रमशः अनुप्राणित, तथा समन्वित होते हुए–'प्राकृतिकसर्ग' हैं, जिन्हें लक्ष्य बना कर ही भगवान् वासुदेवकृष्णने कहा है–

> प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
> विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति–सम्भवान्।
>
> —गीता १३।१६।

---

(१)–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।

—ऋक्संहिता

(२) अव्यय के द्वारा अभिव्यक्त, अक्षर के द्वारा व्यक्त, एवं क्षर के द्वारा प्रसूत।

(३) महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

—गीता १०।६।

(४)–अव्ययात्मक मन से 'प्रेरित', अक्षरात्मक प्राण से 'अनुप्राणित', एवं क्षरात्मिका वाक् से 'समन्वित'।

५३-भावसृष्टि का असृष्टित्व, एवं गुण-विकार-सृष्टियों का सृष्टित्व, तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ—

भाव, गुण, विकार (१) नाम की पूर्वोक्ता प्राजापत्या सृष्टित्रयी ही प्रजापति की-'कृति' है। इन तीनों कृतियों में पुरुषमूला ('अव्यय' नामक समब्रह्म से प्रेरिता) प्रथमा 'भावकृति' (मानसृष्टि) असृष्टिरूपा ही मानी गई है, जैसाकि-'न करोति, न लिप्यते' (गीता) से स्पष्ट है। अतएव अकृतिरूपा इस मनोमयी भावात्मिका सृष्टि को हम सृष्टिमर्यादा से असम्पृष्टा ही मानेंगे। ऐसी अवस्था में अब अक्षर-क्षर-मूला गुण-विकारात्मिका दो कृतियाँ ही-'कृति' शब्द की अधिकारिणी रह जाती हैं। अतएव अब इन दो को ही 'कृति', किंवा-'सृष्टि' कहा जायगा।

५४-समब्रह्मानुगता देवभावात्मिका अक्षरप्रकृतिनिबन्धना-अधिदैवतभावापन्ना 'संस्कृति', एवं वाग्ब्रह्मानुगता-भूतभावात्मिका-क्षरविकृतिनिबन्धना अधिभूतभावापन्ना-'सभ्यता' शब्दों का तत्त्वार्थ—

उक्त दोनों कृतियों में अक्षरात्मिका 'प्राणकृति' ही देवकृति (देवसर्ग) है, यही अक्षररूपा अमृता-सनातना नित्यासृष्टि है, जिसका अक्षरात्मक-अव्यक्त अमूर्त्त अनाद्यनन्त अनन्तकाल से ही सम्बन्ध माना गया है। एवं इस अक्षरात्मिका अधिदैवतात्मिका प्राणसृष्टि को ही तत्त्ववेत्ताओंने 'समब्रह्म' (अव्यय) की 'प्रमुख कृति' माना है। दूसरी क्षरात्मिका 'धातुकृति' ही-'भूतकृति' है, यही क्षररूपा मर्त्या-परिवर्त्तन-शीला-अनित्यासृष्टि है, जिसका क्षरात्मक व्यक्त-मूर्त्त-सादिसान्त दिग्देशकाल से ही सम्बन्ध माना गया है। इसी व्यक्तता के कारण विकारात्मिका यह दूसरी मर्त्या-स्थूला भूतसृष्टि-लक्षणा (अधिभूतात्मिका) 'विश्व-सृष्टि' 'सभात्मिकासृष्टि' (प्रकटसृष्टि) मानी गई है। ये दोनों प्राकृत-सृष्टियाँ हीं तत्परिभाषानुसार क्रमशः संस्कृति, और सभ्यता, नामों से व्यवहृत हुए हैं। समब्रह्म की अक्षरात्मिका नित्या अनन्ता कृति ही 'सम' के समाहक 'सम्' की कृति बनती हुई जहाँ 'संस्कृति' है, वहाँ क्षरात्मक-विश्व-लक्षण-सभाभावानुबन्ध से प्रत्यक्षा अनित्या सादिसान्ता कृति ही 'विश्वसभा' माध्यमेन-'सभ्यता' कहलाई है। अत्यन्त ही दुर्विगम्य है इन दोनों तात्त्विक शब्दों का चिरन्तन-इतिवृत्त, जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही मानवाश्रमने अपने उत्तर-दायित्व पर सहस्रपृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र-निबन्ध उपनिबद्ध किया है (२)।

---

(१)-क्रिया-मानसी—प्राणात्मिका-वाङ्मयी-सृष्टित्रयी

किंवा-अव्यय——अक्षर——क्षर—— मूला-सृष्टित्रयी

किंवा-पुरुष——प्रकृति——विकृति——मूला सृष्टित्रयी

किंवा-ऋषि——देव——भूत——मूला सृष्टित्रयी

किंवा-सूक्ष्मतमा-सूक्ष्मा——स्थूला——सृष्टित्रयी

(२)-"सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द का, एवं सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इति-वृत्त, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा" नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध।

५५–अक्षरानुबन्धी–देवभावानुगत–प्राणात्मक सूक्ष्म विश्व का संस्कृतित्त्व, क्षरानुबन्धी–भूतभावानुगत–वागात्मक स्थूल विश्व का सभ्यतात्त्व, एवं मित्र–ब्रह्म–प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति' का, तथा क्षत्र–वरुण–प्रतिरूप सत्तातन्त्र के द्वारा 'सभ्यता' का सम्भावित–संरक्षण—

प्रजापति का मनोगर्भित प्राणात्मक सुसूक्ष्म सनातन आधिदैविक विश्व ही–'संस्कृति' है, एवं इसी का मनःप्राणगर्भित–वागात्मक स्थूल–परिवर्त्तनशील आधिभौतिक–जगत् ही 'सभ्यता' है, एवं यही पूर्वोक्त–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की इन दोनों सुप्रसिद्धा अमूर्त्ता–मूर्त्ता कृतियों का संक्षिप्ततम स्वरूप–समन्वय है, जिसे मध्यस्थ बनाए बिना प्रतिज्ञात–'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः' इस महामाङ्गलिक उद्बोधनसूत्र का समन्वय सम्भव ही नहीं है। संस्कृति, और सभ्यता, शब्दों से अनुप्राणित अधिदैवत, और अधिभूत को लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधार पर ही अब उद्बोधनसूत्र-समन्वय का निःसीम अनुग्रह कीजिए। "नान्यः पन्था विद्यते-ऽयनाय। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"।

प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की अक्षरप्राणनिबन्धना नित्या कृति ही 'नित्या देवसंस्कृति' है, एवं क्षरवाग्निबन्धना अनित्या (परिवर्त्तनशीला) कृति ही 'अनित्या भूतसभ्यता' है। इन दोनों सहज-सिद्ध संस्कृति, सभ्यता,–रूपा देव–भूत–कृतियों के आधार पर ही भारतीया ऋषिप्रज्ञा के द्वारा 'भारतीय–संस्कृति' तथा–'भारतीय-सभ्यता' नामक दोनों तन्त्रों की स्वरूप-व्यवस्था हुई है। जिसप्रकार प्रकृतिजगत् में 'संस्कृतिरूपा-देवकृति' का उत्तरदायित्त्व मनस्तन्त्रात्मक क्रतुभावापन्न–ज्ञानशक्तिप्रधान 'मित्रब्रह्म' पर अवलम्बित है, एवं जिसप्रकार 'सभ्यतारूपा–भूतकृति' का उत्तरदायित्त्व मनोगर्भित–प्राणतन्त्रात्मक–दक्ष–भावापन्न–क्रियाशक्ति–(पौरुषशक्ति)–प्रधान 'वरुणक्षत्र' पर आश्रित है, ठीक इसीप्रकार–'देवाननुविधा वै–मनुष्याः'–'यद्दै देवा अकुर्वंस्तत्–करवाणि–'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'–'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'यदमुत्र तदन्विह'–'यथाण्डे–तथा पिण्डे' इत्यादि के अनुसार मित्रब्रह्म के प्रतिरूप ब्राह्मण के उत्तरदायित्त्व पर देवकृति की प्रतिरूपा 'संस्कृति' का, तथा वरुणक्षत्र की प्रतिरूपा राजन्यसत्ता के उत्तरदायित्त्व पर भूतकृति की प्रतिरूपा 'सभ्यता' का उत्तरदायित्त्व समर्पित हुआ है तत्त्ववेत्ता महामहर्षियों के द्वारा।

५६–सत्तानिरपेक्षा 'संस्कृति', एवं सत्तासापेक्षा 'सभ्यता', तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठिता–व्यवस्थिता सभ्यता के प्रति ही सत्तातन्त्र के व्यवस्था–सञ्चालन–मात्र का उत्तरदायित्त्व—

अतएव ब्राह्मण को हम जहाँ संस्कृति का अधिष्ठाता मानेंगे, वहाँ सत्तातन्त्र को सभ्यता का ही संरक्षक कहेंगे। और इसी आधार पर 'संस्कृति' शब्द को जहाँ 'सत्तानिरपेक्ष' कहा जायगा, वहाँ 'सभ्यता' शब्द को 'सत्तासापेक्ष' माना जायगा। अतएव कहा, और मान लिया जायगा कि, ब्राह्मण के 'संस्कृतितन्त्र' में सत्तातन्त्र यत्किञ्चित् भी हस्तक्षेप नहीं करसकेगा। अपितु इस सत्तातन्त्र का एकमात्र यही कर्त्तव्य होगा कि, "यह संस्कृतिनिष्ठ–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–प्रकृति–रहस्यवेत्ता ब्राह्मण की संस्कृति के आधार पर निर्णीत-

व्यवस्थित (१) सस्कृत्यनुगामिनी सभ्यता के विधि-विधानों को ही साम-दाम-दण्ड-भेद-माध्यम से राष्ट्रप्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक अनुगमन कराता रहे, एवं स्वयं भी अनुगामी बना रहे"।

५७-संस्कृति स्वरूप-विश्लेषक शास्त्र, तन्निष्ठ सांस्कृतिक ब्राह्मण, तद्द्वारा श्रुति-स्मृति-पुराण-माध्यम से संस्कृति-तदाचार-तदायोजन-त्रयी का व्यवस्थापन, एवं तत्प्रति सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप का निरोध—

संस्कृति का स्वरूप-विश्लेषक सनातनशास्त्र ही 'श्रुतिशास्त्र' कहलाया है। तदनुधर्मा शास्त्र ही-'स्मृतिशास्त्र' माना गया है। एवं उभयशास्त्रस्वरूपोपबृंहक इतिहास-पुराणात्मक शास्त्र ही-'पुराणशास्त्र' कहलाया है। इसप्रकार प्रक्रमभेद से एक ही सांस्कृतिक-सनातनशास्त्र के श्रुति-स्मृति-पुराण-नामक तीन शास्त्रविवर्त्त सम्पन्न हो रहे हैं, जिन इन तीनों के माध्यम से ही क्रमशः उसी तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण के द्वारा संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन-इन तीन अभिन्नात्मक सांस्कृतिक व्यूहों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। इसी दृष्टि से अत्र संस्कृति, और साहित्य (श्रुति स्मृति-पुराणात्मक शब्दशास्त्र), दोनों को अभिन्नार्थक ही माना जासकता है, माना गया है। शब्दशास्त्र ही, तद्रूप साहित्य ही भारतीय-संस्कृति का प्रतिरूपात्मक प्रतीक माना गया है। अतएव संस्कृतिरूप इस साहित्य को भूतसभ्यता के सञ्चालकमात्र सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माना गया है।

५८-संस्कृतिमूलक-'धर्म्म' की स्वरूप-परिभाषा, एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र), तथा धर्म्म-तत्त्वों की अभिन्नार्थकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-सनातन-विधि-विधानों के आधार पर ही प्राकृत विश्व का, एवं तद्गर्भीभूता चतुर्दश-विधा (२) भूतसृष्टिरूपा प्रजा का कर्त्तव्यकर्म्मात्मक स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। यही स्वरूप-व्यवस्था, प्रकृतिसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म क्योंकि तत्तत् प्राकृत जड-चेतन-पदार्थों, प्रजाओं के द्वारा 'धृत' बनता हुआ इन्हें स्व-स्व-स्वरूप में धारण किए हुए है। अतएव इस प्रकृतिसिद्ध, शास्त्रसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म को ही-'धर्म्मिणा धृत सन् धर्म्मिणं धारयति स्व-स्वरूपे' इस निर्वचन से-'धर्म्म' कहा जाता है (३)। तदित्थ-

---

(१)-एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं य व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
—मनु १२।११३।

(२)-लता-गुल्म-वल्ली-त्वक्सार-ओषधि-वनस्पति-आदि आदि पदार्थों की समष्टिरूप एकविध (एक जातीय) १-स्थावरसर्ग, १-कृमि, २-कीट, ३-पक्षी,-४-पशु, ५-मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध चेतनसर्ग, एवं १-ब्राह्म-२-प्राजापत्य-३-ऐन्द्र-४-पैत्र्य-५-गान्धर्व-६-पिशाच-७-यक्ष-८-राक्षस, भेदभिन्न अष्टविध देवयोनिसर्ग, इन चौदह प्रकार के प्रजासर्गों का नाम ही-'चतुर्दशविध-भूतसर्ग' है।

(३)-धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स 'धर्म्म' इति निश्चयः॥
—पुराणे

संस्कृतिमूलक साहित्य (शास्त्र) के सनातन-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नामान्तर-'धर्म्म' प्रमाणित होरहा है। इसी आधार पर हम-'संस्कृति-साहित्य-धर्म्म'-तीनों को अभिन्नार्थक ही मान सकते हैं, जिन इन तीनों अभिन्नार्थक तत्त्वों का चिन्तनोत्तरदायित्व सांस्कृतिक-ब्राह्मण से ही अनुप्राणित माना गया है।

५९-'नीति' की स्वरूप-परिभाषा, धर्म्मानुगता 'नीति' का 'नीतिपथत्त्व', धर्म्मनिरपेक्षा 'नीति' का 'अनीतित्त्व', तद्द्वारा राष्ट्रस्वरूपप्रतिष्ठोच्छेद, एवं धर्म्म की परमता—

प्रकृतिसिद्ध सुसूक्ष्म विधि-विधानों की समष्टिरूप सांस्कृतिक-धर्म्म का दिग्देशकालानुबन्धी सामयिक-अभिव्यक्त स्वरूप ही 'नीति' है, जिसका सामाजिक-सभ्यता से ही सम्बन्ध है, जिसका कि सञ्चालक सत्तातन्त्र ही माना गया है। यह संस्मरणीय, एवं सर्वथा अविस्मरणीय है कि, सत्तातन्त्रानुगत नीतितन्त्र तभीतक 'नीति' उपाधि का अधिकारी बना रहता है, जबतक कि इसका आधार (प्रतिष्ठा) संस्कृति-साहित्यमूलक पूर्वोक्त 'धर्म्म' बना रहता है। 'धर्म्म सापेक्ष नीतितन्त्र ही यहाँ 'नीतिपथ' माना गया है। जो नीति धर्म्म की उपेक्षा कर देती है, दूसरे शब्दों में अपने सत्तामदगर्व से अभिभूत जो सत्तातन्त्र इस प्रकृतिसिद्ध धर्म्म को निरपेक्ष मान बैठने की भयावहा भूल करता हुआ, मूर्त्त-दिग्-देशकालानुगता तात्कालिकी सभ्यता के आवेश से आविष्ट होता हुआ व्यक्ति-पद-प्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों में आसक्त होजाता है, निश्चयेन उसकी धर्म्मनिरपेक्षा, किंवा धर्म्मविरुद्धा नीति अनीतिरूप में परिणत होती हुई राष्ट्रस्वरूप की विध्वंसिका ही बन जाया करती है. 'तस्मान्-धर्म्मात् परं नास्ति' (शतपथ१४।४।२।२६)।

६०-सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणवत् 'धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र' रूपा महती समस्या का आविर्भाव, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

धर्म्म, और नीति के इस प्रासङ्गिक-अनुबन्ध के माध्यम से ही एक नवीन प्रश्न अभिव्यक्त होपड़ता है, जिसका समाधान किए बिना प्रतिज्ञात उद्बोधनसूत्र अगतार्थ ही बना रह जाता है। यह स्पष्ट किया गया है कि, संस्कृति, तन्मूलक साहित्य, तद्विधि-विधानात्मक धर्म्म, तथा तदुपासक ब्राह्मण को सभ्यतानुगामी, नीतिपथानुवर्त्मा सत्तातन्त्र से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए। इसी समान-क्षेत्र-नियमानुबन्ध से क्या सत्तातन्त्र को भी धर्म्म से निरपेक्ष नहीं बना रहना चाहिए?। दूसरे शब्दों में-संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, और तदनुवर्त्मा ब्राह्मण यदि सत्तानिरपेक्ष हैं, तो क्या सभ्यता, नीति, और तदनुवर्त्मा सत्तातन्त्र (शासनतन्त्र) को भी संस्कृति-साहित्य, तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष नहीं बन जाना चाहिए?। यही वह महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका विगत-मुक्त, प्रक्रान्त तीन सहस्र वर्षों की अवधि में न तो राष्ट्र का विद्वत्तन्त्र ही इस दुरधिगम्या समस्या का समन्वय कर पाया है, एवं न सत्तातन्त्र ही इस विप्रतिपत्ति का निराकरण कर सके हैं।

६१-संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की निरपेक्षता के सम्बन्ध में भावुक-विद्वानों की महती भ्रान्ति, एवं तन्मूला आपातरमणीया 'राजभक्ति —

वर्त्तमान गणतन्त्र-स्वतन्त्र सत्तातन्त्र से पूर्व की ब्रिटिशसत्तातन्त्र पर्य्यन्त समुक-दासतापूर्ण शताब्दियों से भारतराष्ट्र के धर्म्माभिनिविष्ट, धर्म्मभीरु (मतवादाभिनिविष्ट (१), धर्म्मनिष्ठ नहीं) उपदेशक, महामहोपदेशक धर्म्मप्रचारक (मतवादप्रचारक) विद्वानों से ऐसा कुछ उद्घोष सुना जाता था कि-"हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु हमें तो (राजभक्ति से आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समाप्लुत रहते हुए) केवल धर्म्म का ही प्रचार करते रहना है"। क्या सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है?। सत्तातन्त्र यथेच्छ करता कराता रहे, विद्वान् प्रणतभाव से न केवल इस यथेच्छाचार के प्रति तटस्थ ही बने रहें, अपितु शास्त्र के बलपर इन यथेच्छाचारों को ही 'राजभक्ति' के आवेश में 'शास्त्रसिद्ध' प्रमाणित करते रहें, क्या श्रुतिसिद्धा सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है?। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

६२-ज्ञानविज्ञानसिद्ध, प्रकृतिसम्मत, सनातन-ईश्वरीय-'धर्म्म', तथा मानसिक-मान्यतानुबन्धी युगधर्म्मात्मक 'मत', एवं दोनों का आत्यन्तिक पार्थक्य —

वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के व्यामोहनाकर्षण से अनुप्राणिता सत्तातन्त्र की सापत्न्यानुगता आश्रयता से, लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के विकर्षण से अभिव्यक्ता वैश्यतन्त्र की आश्रयता से, एवमेव अन्यान्य भी कारणविशेषों से जब मानवीया प्रज्ञा तथोक्ता 'धर्म्मनिष्ठा' से पराङ्मुख होजाती है, तो इसके अध्यात्मतन्त्र की दिग्देशकालातीता आत्मबुद्धिनिष्ठा तो होजाती है बहिर्मुख, एवं तत्स्थान में मन शरीरनिबन्धना कामार्थमूला भावुकता होजाती है उद्बुद्धा। यह भावुकता ही कालान्तर में मानव की आत्मानुगता सत्त्वबुद्धि का अपहरण कर लेती है। अतएव 'आस्था' परिसमाप्त होजाती है। फलस्वरूप मनोऽनुगता 'मान्यता' ही प्रधान बन जाती है। अपनी भावुकतापूर्ण मान्यता से अनुप्राणित काल्पनिक-सिद्धान्तों को ही-'मत' नाम से व्यवहृत किया गया है, जो कि दिग्देशकालानुबन्धों से परिवर्त्तित होते रहते हैं। यही 'धर्म्म', और 'मत' में वह महान् अन्तर है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

६३-वर्त्तमानयुगीय-'सनातनधर्म्म'-'हिन्दूधर्म्म' आदि धर्म्मों-की 'धर्म्म' से पराङ्मुखता, एवं इन का विशुद्ध मतवादत्व—

विगत तीन सहस्र वर्षों से तथाविधा मतवादपरम्पराओंने ही 'धर्म्म' का स्थान अपहृत कर रक्खा है। सनातनधर्म्म, आर्य्यसमाज, एवं विभिन्न सम्प्रदाएँ, आदि आदि जो भी धर्म्म-विभाग आज देखे सुने जारहे

---

(१) प्रकृतिसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक, ईश्वरीय-सनातन-विधि-विधानात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नाम-'धर्म्म' है, जिसका मानव की मनोऽन्विता मान्यता से, एवं तदनुगत दिग्देशकालानुबन्धों से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। तप पूत महामहर्षिगण इस धर्म्म के 'द्रष्टामात्र' हैं, 'कर्त्ता' नहीं। ईश्वरावतार भगवान् राम-कृष्णादि भी इस शाश्वतधर्म्म के सन्देशवाहक एवं धर्म्मानुगता ग्लानि के उपशामनकर्त्तामात्र हैं। यही इस 'धर्म्म' तत्त्व की दिग्देशकालातीता 'सनातनता' है। अतएव यह धर्म्म 'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों से उपस्तुत है।

हैं, उन सभी का वस्तुतः मान्यतानुगत 'मतवादों' से ही सम्बन्ध है, जिन इत्थंभूत, दासताप्रवर्त्तक मतवादों से राष्ट्र जितना शीघ्र 'निरपेक्ष'-बन जाय, एवं इसी निरपेक्षता के बल पर यह जितना शीघ्र आस्थापरिपूर्ण ज्ञानविज्ञानात्मक शाश्वतधर्म्म के प्रति प्रणतभाव से सापेक्ष बन जाय, इसीमें इसका अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् है। क्योंकि मानवीय–कल्पनाओं से असंस्पृष्ट ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्रकृतिभेद-भिन्न शाश्वतधर्म्म को ही दार्शनिकोंनें अभ्युदय, निःश्रेयस् का एकमात्र संसाधक माना है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः' (वैशेषिक-दर्शन)।

६४–ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तात्त्विक-समन्वय, एवं निरपेक्षतामूलक साक्षित्व से ही संस्कृतिनिष्ठा का सम्भावित-संरक्षण—

निरपेक्षता का क्या अर्थ है ?, प्रश्न का तत्त्वसम्मत एकमात्र यही समाधान है कि, संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–निष्ठ विद्वान् को कभी सत्ता का वैसा आश्रय नहीं ग्रहण कर लेना चाहिए, जिससे इसकी सांस्कृतिक-निष्ठा तो होजाय अभिभूत, एवं तत्स्थान में सत्ता की मान्यताएँ ही बन बैठे इसकी संस्कृति। कदापि इस निरपेक्षता का यह तात्पर्य्य नही है कि, सत्ता अपनी इच्छानुसार यथेच्छ व्यवस्थाएँ करती रहे, और संस्कृतिनिष्ठ इनका समर्थन करता हुआ इनसे उदासीन ही बना रहे। इतिहास साक्षी है कि, पुरायुगों में जब जब भी अमुक वेन, रावण, कंस, आदि के सत्तातन्त्रोंनें 'अनीतिपथों'को ही 'नीतिपथ' मानना, मनवाना आरम्भ कर दिया था, तब तब ही राष्ट्र के विद्वद्वर्ग ने हीं उनका न केवल प्रचण्ड विरोध ही किया था, अपितु प्रज्ञाबल से उन तन्त्रों का उन्मूलन ही कर दिया था। 'साक्षी' जिस सीमापर्य्यन्त 'कर्त्ता' के प्रति निरपेक्ष बना रहता है, वही निरपेक्षता यहाँ अभिप्रेत है।

६५--ब्राह्मण की सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता का, तथा सत्तातन्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण—

अब उस प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए, जिसके द्वारा सत्तातन्त्र की सापेक्षता का द्वन्द्व उपस्थित होपड़ा था। जिसप्रकार ब्राह्मण-'अराजन्य' रहता है, क्या उसीप्रकार राजन्य, अर्थात् सत्तातन्त्र भी 'अब्राह्मण', अर्थात् 'ब्राह्मणनिरपेक्ष' बन जाय ?, जिसका फलितार्थ निकलता है-संस्कृति, साहित्य, एवं धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना। नही, कदापि नही। क्यों ?। इसलिए कि 'मित्रब्रह्म' जहाँ स्वस्वरूप से स्वयं प्रतिष्ठित रहने में समर्थ है, वहाँ 'वरुणक्षत्र' बिना मित्रब्रह्म के क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नही रहसकता। ज्ञान स्वस्वरूप से सुरक्षित है, किन्तु 'कर्म्म' तो बिना ज्ञानाधार के प्रवृत्त ही नहीं होसकता (१)। अतएव स्पष्ट है कि, ब्राह्मणतन्त्र तो सत्तातन्त्र के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकता है, रहता ही है। किन्तु सत्तातन्त्र कभी इसे निरपेक्ष बनाकर न तो स्वस्वरूप से ही प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न समृद्ध ही बन सकता, जैसाकि स्वयं श्रुत्यक्षरों के द्वारा पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

---

(१)--ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म तदेतत्कृतमुच्यते ॥
—प्रसिद्धसूक्तिः
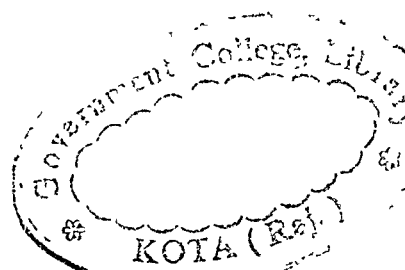
६६–ब्राह्मण की 'अराजन्यता' का दिग्देशकालानुबन्धी समन्वय, एवं तदभावे सस्कृति-निष्ठात्मिका स्वाध्यायनिष्ठा की अन्तर्मुखता—

उक्त सन्दर्भ के द्वारा निष्कर्ष यही निकला कि, ब्राह्मण को सस्कृति, साहित्य, धर्म्म, के सहज तात्त्विक स्वरूप-सरक्षण के लिए अपने आप को 'अराजन्य' ही बनाए रखना चाहिए। अर्थात् सत्तातन्त्र के वैसे आश्रय से, सहयोग से प्रत्येक सम्भव उपाय से सस्कृतिनिष्ठ विद्वान् को आत्मपरित्राण ही करते रहना चाहिए, जिस से कि उस की दिग्देशकालातीता, किन्तु दिग्-देशकालप्रतिष्ठारूपा सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा मे दिग्देशकालानुबन्धिनी सत्तामान्यताएँ प्रविष्ट न होजायँ, जिन के प्रवेश से कि,सस्कृति का स्वरूप तो होजाता है अन्तर्मुख, एवं सत्तामान्यताएँ बन जातीं हैं प्रमुख। तस्मात्—

'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'

६७–चिन्तनमूला 'संस्कृति', स्वाध्यायमूलक 'साहित्य', एवं आचरणमूलक 'धर्म्म' का समन्वय, तथा-मतवादात्मक-काल्पनिक 'धर्म्मप्रचार' के व्यामोहन से ही सत्ताश्रय की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

क्यों ब्राह्मण में 'राजन्यवृत्ति' का उदय होपड़ा ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–संस्कृति, साहित्य,-एव सर्वोपरि धर्म्म का प्रचार-व्यामोहन। प्रचार मतवादों का ही हुआ करता है। किन्तु संस्कृति का तो चिन्तन ही होता है, साहित्य का स्वाध्याय ही होता है, एवं धर्म्म का आचरण ही होता है। चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-त्रयी ही तत्त्रयी का वास्तविक प्रचार है। शिष्य-सख्याभिवृद्धि-मूलक प्रचार-व्यामोहन का इन तीनों प्रक्रमों में से किसी का भी सम्बन्ध नहीं है। स्वय अपनी ओर से प्रचार की तो कथा ही विदूर है। अपितु प्रणतमात्र से जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर भी इन तीनों प्रक्रमों के लिए शास्त्रने पात्रापात्रता को ही सर्वात्मना परीक्षणीया माना है। (१)। विविध प्रकार की मान्यताओं को अग्रणी बना कर ही प्रचार हुआ करता हुआ है अपने

---

(१)–विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
अस्यूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्॥
—यास्कनिरुक्ते

परनिन्दाशीलः-असूयकः। मनसा-वाचा-कर्म्मणा च कुटिलः-अनृजुः। इन्द्रि-यासक्तश्चञ्चलोऽशुचिः-अयत। तस्मै न ब्रूयात्-इति निष्कर्षः

(२)-इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
—गीतायाम् (१८।६७)।

कल्पित-मतवादों का। इत्थंभूत मतवादों के क्षेत्र में हीं शिष्य-सम्प्रदाय-वृद्धि-की लिप्सा-पूर्णा कामना जागरूक बनी रहती है। और आज से तीन सहस्र वर्षारम्भ में अपनी अनात्ममूला मतवादात्मिका इसी मान्यता के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतीय-प्रज्ञा में जो 'धर्म्मप्रचार'—कामना जागरूक होपड़ी थी, उसी के अभिशाप से इस राष्ट्र के ईश्वरनिष्ठ प्रजावर्ग में, विशेषतः तन्निष्ठासंरक्षक विद्वत्समुदाय में भी वही सर्वविनाश—कारिणी प्रचारकामना जागरूक हो ही तो पड़ी। इसी प्रचार-कामना के वारुणपाशने सर्वनिरपेक्ष भी इस राष्ट्र के ब्राह्मण को बलात् उसीप्रकार राजन्य (सत्तासापेक्ष) बना ही तो दिया, जैसे कि अनात्मवादियों को स्वमतप्रचार के लिए तद्युग में सर्वप्रथम राजन्य (सत्ताश्रित) ही बन जाना पड़ा था।

६८—सत्तासापेक्ष विद्वानों के द्वारा आचारशून्य, अतएव जीवनसौन्दर्य से असंस्पृष्ट, सत्ता-मान्यता-समर्थक काल्पनिक साहित्य का सर्जन —

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' न्याय से तद्युगारम्भ में प्रचार-कामनाकर्षण के अनुग्रह से विवेकभ्रष्ट हो जाने वाले राष्ट्रीय विद्वानों का यह विनिपात उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित ही होता गया लोकैषणाभिवृद्धि से, एवं तत्समर्थिका वित्तैषणाभिवृद्धि से। ज्ञान के नियन्त्रण से पराङ्मुखा सत्ताएँ ज्यों ज्यों अधिकाधिक उच्छृङ्खल होती गईं, त्यों त्यों ही इस वर्ग की आत्मदासता भी अधिकाधिक प्रवृद्ध होती गई। सत्ता ने जैसी कामना की, वैसी ही शास्त्रव्याख्याएँ इस वर्ग को उपनिबद्ध कर देनी पड़ी। इसी असत्प्रवृत्ति के कारण आचारात्मक-शास्त्र तो स्वाध्यायनिष्ठा से पराङ्मुख होगए, एवं तत्स्थान में मतवादसमर्थक साम्प्रदायिक शब्दभार प्रधान बनता गया। एव शृङ्गारप्रधान भावुकतापूर्ण वैसा शब्दाडम्बर ही 'राष्ट्रीय-साहित्य' प्रमाणित कर दिया गया, जिस से कमलाविलास—मदोन्मत्त सत्तातन्त्रों का अनुरञ्जनमात्र ही सम्भव था, एवं जिस का आचारनिष्ठात्मक जीवन—सौन्दर्य्य से, तथा आत्मनिःश्रेयस् से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं था।

यह प्रकृतिसिद्ध तथ्य है कि, ब्रह्म ही क्षत्र का नियन्ता है, ज्ञान के द्वारा ही कर्म्म की मर्य्यादा सुरक्षित रहा करती है, संस्कृति ही सभ्यता की संरक्षिका है, धर्म्म ही नीति की आधारभूमि है। सर्वात्मना संस्कृति ही आश्रय है, एवं सभ्यता ही 'आश्रित' है। ऐसे भी अवसर आए हैं इस भारतराष्ट्र में, जब कि, सत्तातन्त्रों की अनीति से सभ्यताओंने संस्कृति का, धर्म्म का आश्रय छोड़ दिया है। और परिणाम—स्वरूप तात्कालिकरूपेण दोनो में संघर्ष होपड़ा है। उन सभी अवसरो पर भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-प्रज्ञाने दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी सभ्यताओं की उपेक्षा कर सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अपनी संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण कर ही लिया है।

६९—'पर' सभ्यता के वारुणपाश में आबद्ध वर्त्तमान भारतराष्ट्र की 'पर'-तन्त्रा-सक्तिमूला काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

और यदि हम भ्रान्ति में नही हैं, तो वर्त्तमानकाल भारतराष्ट्र के लिए तथाविध 'संघर्षकाल' ही प्रमाणित होरहा है। प्रतीच्य—सभ्यताने भारतीय-सांस्कृतिक—सभ्यता को उस सीमा पर्य्यन्त आज सर्वात्मना अभिभूत ही कर लिया है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर परसभ्यता में हीं स्वसभ्यता की भ्रान्ति हो जाया करती है। अवश्य ही नाममात्र के लिए आज भारतराष्ट्र 'भारत' अभिधा से समन्वित है। किन्तु सभ्यता-परिचायक वेश,-भूषा, भाषा, आहार-विहार-शिक्षा-दीक्षा, आदि आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में आज यह स्वसंस्कृतिमूलक स्व—सभ्यता-तन्त्र से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख बनता हुआ, परसभ्यतात्मक—'पर' तन्त्रों को ही

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व'-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' का सर्वात्मना उपहास ही करता जारहा है। ऐसा क्यों ?, एकमात्र उत्तर 'दिग्देशकाल का व्यामोहन'।

७०-'समय' शब्द-व्यामोहनानुगत-'वर्त्तमान' की भ्रान्ति, भूत भविष्यत् की उपेक्षा, एवं वर्त्तमानकालात्मक पशुजगत् में तत्समतुलन—

हमारे राष्ट्रीय नेता 'समय' शब्द का उद्घोष करते हुए आज भूत, और भविष्यत् की तो आत्यन्तिक रूपेण उपेक्षा करते जा रहे हैं, एवं कथित-'यथार्थवाद' की घोषणा के माध्यम से 'वर्त्तमान' को ही आराध्य मान-रहे हैं। अवश्य ही वर्त्तमान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् को प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वर्त्तमान' मानव के अभ्युदय का जनक प्रमाणित होसकता है। तत्त्वदृष्ट्या 'विशुद्ध-वर्त्तमान' तो पशुजगत का ही आराध्य माना गया है शास्त्रों में। भूत-भविष्यत्-से रहित, अतएव 'पशुकाल' में समतुलित इस वर्त्तमान के तात्कालिक-प्रत्यक्षात्मक, अतएव भावुकतापूर्ण दिग्देशकाल-व्यामोहनने ही तो निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से राष्ट्रप्रजाओं को सांस्कृतिक-निष्ठा से पराङ्मुख प्रमाणित किया है।

७१-भारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण—

'राजा कालस्य कारणम्' मूलक इसी दिग्देशकालानुबन्धने विद्वद्वर्ग को 'राजन्य' बनाया है। इसी 'राजन्यता' (सत्तासापेक्षता) ने इस वर्ग को लक्ष्यच्युत किया है। इसी सत्ताश्रयव्यामोहनने इसे आचारनिष्ठा से परा पराकृत किया है। और सर्वात्मना इसी एकमात्र प्रमुख दोष से भारतराष्ट्र की संस्कृति, साहित्य, एवं धर्म्म, नामक तीनों ही तन्त्र अपने मौलिक ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूपों से अन्तर्मुख बन मतवादात्मक वैसे सम्प्रदायवादों के रूप में ही परिणत होगए हैं, जिन के अनुगमन से ही भारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अधनिगर्तपरम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता आ रहा है तीन सहस्र वर्षों से। तस्माद्भूत, तस्मादेव—

'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'

७२-संस्कृति-संरक्षणानुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रतिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतलुगना भ्रान्ति--परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव—

विद्वद्वर्ग के सत्तानिरपेक्ष बन जाने से क्या भारतीय संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, नामक सांस्कृतिक तन्त्र केवल विद्वद्वर्ग के द्वारा ही सुसमृद्ध बन जायँगे ?, दिग्देशकालानुबन्धी 'राजा कालस्य कारणम्' मूलक तात्कालिक वर्त्तमान-सत्तातन्त्रों की दृष्टि से इस अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। तत्सम्बन्ध में तो यही 'प्रतिप्रश्न' पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में तत्तत्-सत्तातन्त्रों के प्रति प्रणतभाव से आत्मसमर्पण करते रहने वाले एतद्राष्ट्रीय विद्वानोंने तत्तत्तन्त्रों के द्वारा क्या सांस्कृतिक-तन्त्रत्रयी की समृद्धि कर ली ?। समृद्धि की कौन कहे, तथाकथिता आत्मसमर्पणमूला प्रणतामनताने ही तो इस तन्त्रत्रयी को आज उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया है कि, आज तो नाच-गान-ढोलक-झाँझ-मंजीरा-घुँघरु-आदि आदि अलङ्करणों से समलङ्कृत, चान्द्रमसानुगत-गन्धर्वाप्सराप्राण-निबन्धन-मनःशरी-

रानुबन्धी–कामार्थभावोत्तेजक–मानसिक–तात्कालिक आयोजनों का भी 'सांस्कृतिक–आयोजन' जैसी पावन अभिधा से इन्हीं विद्वानों के द्वारा सर्वात्मना यशोगान किया जारहा है । अतएव सुनिश्चित है कि, सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण से कदापि तत्–तन्त्रत्रयी की समृद्धि तो क्या, स्वरूपसत्ता भी सम्भव नहीं है, जिस इस व्यामोहनने ही भारतीय विद्वानों को तथोक्ता अवधि से सत्तासापेक्ष बना रक्खा है । अतएव पुनः पुनः हमें यही निवेदन कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रज्ञाओं से कि—

"ब्राह्मणोऽराजन्य एव स्यात्"

७३–सत्ताश्रयता, तथा शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इदमत्र नितान्तमवधेयम् । जहाँतक मतवादात्मक सम्प्रदायवादों का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही सत्तासापेक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादों की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण दिग्देशकालधर्म्माक्रान्त मानवीय मन की तात्कालिकी 'मान्यता' ही बना करती है । अपनी इस 'मान्यता' से समुद्भूत मतवादों के प्रचार–संवर्द्धन–परिपोषण के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पोषक कालिक सत्तातन्त्रों का आश्रय-ग्रहण ही अनिवार्य्य बना रहता है । सत्ताश्रयता से ही मतवाद स्वस्वरूप से सुरक्षित रहते हैं, एवं तदाश्रय से ही इनकी समृद्धि (प्रचार) होपाती है । यही कारण है कि, मतवादाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक वर्ग ही सत्ताश्रय के लिए, एवं शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए प्रतिक्षण समुत्सुक बने रहते हैं ।

७४–सांस्कृतिक नित्यधर्म्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एवं चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु सांस्कृतिक धर्म्म कदापि सत्ताश्रय की कोई अपेक्षा नहीं रखता । अपितु यह तो विद्वत्प्रज्ञाओं की ऐकान्तिकी चिन्तन–स्वाध्याय, तथा आचरण–निष्ठात्रयी से ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होता है । हाँ, यदि सत्तातन्त्र प्रणतभाव से इस तन्त्रत्रयी के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तो अवश्यमेव सुविधा–पूर्वक इस की 'समृद्धि' होजाती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादों की भाँति कदापि इस त्रयी की कोई स्वरूपहानि नही है । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य का–'ततः शशाकैव–ब्रह्ममित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्-स्थातुम् । यद्यु राजानं लभेत, समृद्धं तत्' इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५–सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तातन्त्रों का प्रणतभाव से आत्मार्पण, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशुभावनिबन्धना-'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

ध्यान रहे, संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण कदापि स्वकामना से सत्ता के प्रति अनुगत नही होता । (१) । अपितु स्वयं सत्तातन्त्र ही राष्ट्ररक्षा, तथा राष्ट्रसमृद्धि के लिए संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् का परामर्शानुग्रह प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में-स्वयं ही श्रद्धा-आस्था-पूर्वक सांस्कृतिक-शिक्षण प्राप्त करता है, जैसाकि उसी 'मैत्रावरुणश्रुति' के–

१–नापृष्टः कस्य चिद्ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥

'म चत्र वरुण, ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे, उप मावर्त्तस्व, मसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूत कर्म्म करवै' इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है। क्या इस सत्ता-आमन्त्रण से संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् उसी प्रकार वर्त्तमानयुग की भाँति कृतज्ञता के रूप में अवनतशिरस्क बन कर 'अभिनन्दनग्रन्थ' समर्पित करना अपना सांस्कृतिक कर्त्तव्य मान लेता है, जैसाकि, निर्व्याजात्मक सहयोग के बिना भी आज इस वर्ग को निरन्तर यशोगान करते रहना पड़ता है?, इस प्रश्न के प्रति उद्बोधन प्रदान करने के लिए ही श्रुति ने-'तथेति' जैसे प्रदर्शनशून्य-सामान्यमात्र का ही दिग्दर्शन कराया है। सत्तातन्त्र जहाँ-"प्रणतमात्र से उस चत्ररुणने आमन्त्रण किया ब्रह्ममित्र का कि-आप मेरी ओर अनुगत होजाइए! आपके साथ में समन्वित होजाऊँ। इस समन्वय में मैं आप ही को अग्रणी-पुरोधा-अभिगन्ता मानता रहूँगा। आप जैसी, जो आज्ञा प्रदान करेंगे, मैं (सत्तातन्त्र) वैसे ही, वही कर्म्म करूँगा" इत्यादि महारम्भपूर्वक संस्कृतिनिष्ठ की अभ्यर्थना ही करता हुआ तदनुगत बन रहा है, वहाँ संस्कृतिनिष्ठ बिना किसी प्रदर्शन के-'तथेति', ठीक है, ऐसा ही हो' इस उपांशुनागुच्चारणमात्र के माध्यम से अनुगत होता हुआ अपने आपको 'सत्तानिरपेक्ष' ही प्रमाणित कर रहा है।

७६-सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अराजन्य' शब्द का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं 'सर्वान् परित्यजे- दर्थान्' इत्यादि माननीय-वचन का स्वरूप-दिग्दर्शन—

युक्त चैतत्। यदि यह भी सत्तातन्त्रवत् सत्तासापेक्ष बन जायगा, तो निश्चयेन इसकी संस्कृतिनिष्ठा सापेक्षतामूला आश्रयता से उसी प्रकार अभिभूत होजायगी, जैसे कि दिग्देशकालव्यामुग्ध इस अल्पमति ब्राह्मण की प्रज्ञा आज सांस्कृतिक-स्वाध्याय में सर्वथा ही शिथिला प्रमाणित होचुकी है। अतएव सत्तानुगत बनते हुए भी इस संस्कृतिनिष्ठ को सर्वात्मना 'अराजन्य' ही बना रहना चाहिए, जिसका सीधा सा तात्पर्य्य यही है कि, सत्ता के द्वारा उपलब्ध लोकैषणात्मक (उपाधिलक्षण-नामरूप्यातिरूप), तथा वित्तैषणात्मक (आर्थिक) वैभव व्यामुग्धा से जागरूकता-पूर्वक सदा ही इसे अपना आत्मपरित्राण करते रहना चाहिए, जो कि लोक-वित्त-व्यामोहन निश्चयेन ब्राह्मण को सांस्कृतिक चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरण से परा-परावत (अत्यन्त विदूर) ही बना दिया करता है। 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' इस माङ्गलिकसूत्र का यही निष्कर्षार्थ है, जिस इस श्रुतिसिद्ध उद्बोधन का ही श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृतिने इन स्पष्ट अक्षरों में उद्घोष किया है कि,—'स्वाध्यायनिष्ठ द्विजातिवर्ग को चाहिए कि, वह उन यच्चयावत् आर्थिक सुख-सुविधाओं का सर्वथा परित्याग ही करता रहे, जो सुख-सुविधाएँ इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में अवरोधिका बन जाया करती हैं (१)।

---

(१)-सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥

—मनु ४।१७।

७७–युगधर्म्मानुगता भावुकतान्विता 'असहयोग' भावना के प्रति सांस्कृतिक–प्रज्ञा का उद्बोधन, एवं वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति राष्ट्रप्रजा का निष्ठार्पण—

पूर्व निवेदनानुसार वर्त्तमानयुग (सत्तानुबन्धी युग) भारतीय 'संस्कृति', एवं तन्मूला भारतीय 'सभ्यता' के लिए इसलिए संघर्षात्मक संकटकाल ही माना जायगा कि, जो एतद्देशीया संस्कृति, और सभ्यता ब्रिटिशयुग-पर्य्यन्त दिग्देशकालात्मिका भूतसभ्यता से अन्य जाति (प्रतीच्यजाति) के द्वारा आक्रान्त थी, वही आज 'स्वजाति' से ही उसी प्रतीच्यसभ्यता से समाक्रान्ता है। ब्रिटिशयुग में जिस प्रतीच्य-सभ्यता को, उसके विधि-विधानों को हम इस भारतराष्ट्र के लिए परतन्त्रता का अन्यतम कारण मान रहे थे, आज स्वयं हमारे ही शासनयुग में वही सभ्यता, वे ही विधि–विधान भारतराष्ट्र के सर्वस्व बनते जारहे हैं, किंवा बना दिए गए हैं। अतएव इस वर्त्तमानयुग को तो हम पूर्वयुगों की अपेक्षा भी कहीं अधिक भयावह ही कहेंगे। इस घोरघोरतम संकट से परित्राण प्राप्त करने के लिए क्या हम भी भावुकतापूर्णा–असहयोगनीति का अनुगमन आरम्भ करदें वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति उसीप्रकार, जैसेकि मतवादाभिनिविष्ट एतद्देशीय विभिन्न वर्गोंनें 'धर्म्म' के नाम-च्छलमात्र से आज सत्तातन्त्र के प्रति असहयोग–भावना का ही अनुसरण कर रक्खा है ?। नहीं, कदापि नहीं। अपितु हमें तो सर्वतोभावेन तत्प्रति निष्ठार्पण ही कर देना चाहिए।

७८–सांस्कृतिक–निरपेक्षता–मूला—'धर्म्मनिरपेक्षता' के मूलकारण का अन्वेषण–प्रयास, एवं तदनुगता वर्त्तमाना धर्म्मनिरपेक्षता की दोष–असंस्पृष्टता—

क्योंकि वर्त्तमान सत्तातन्त्र हम से पृथक् नहीं है। जनतन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र से संघर्ष, किंवा असहयोग करना तो एकप्रकार का आत्मघात ही होगा। एतदतिरिक्त, ऐसी भी आस्था है हमारे अपने ही अङ्गभूत इस भारतीय सत्तातन्त्र के प्रति कि, इसके सामान्य, और विशिष्ट, सभी श्रेणि के सञ्चालक अधिकांश में भारत-राष्ट्र के प्रति सर्वात्मना नहीं, तो अंशत: तो अवश्य ही जागरूक हैं। एवं राष्ट्रहित के लिए ही उनके सम्पूर्ण आयोजन प्रक्रान्त भी हैं। तदपि एकमात्र भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति, मौलिक साहित्य, तथा तदनुप्राणित शाश्वतधर्म्म (मतवाद नहीं), इन मौलिक विभूतियों के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूपबोध से अपने आपको पृथक् रख लेने के कारण हीं इस दिशा में सत्तातन्त्र की उपेक्षामूला निरपेक्षता होपड़ी है, जिसके लिए भी सत्तातन्त्र को ही हम सर्वात्मना दोषभाक् इसलिए नहीं मान सकते कि, विगत तीन सहस्र–वर्षों से प्रक्रान्ता भावुकता से सम्बन्ध रखने वाली मतवादपरम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति–धर्म्मादि का मौलिक स्वरूप सर्वथा ही पराङ्मुख होता चला आरहा है। संस्कृति, साहित्य, एवं धर्म्म के नाम से जो कुछ उप–लब्ध हुआ सत्तातन्त्र को, वह मतवादात्मक अभिनिवेशमात्र ही था। अतएव इसे तत्प्रति निरपेक्ष ही बन जाना पड़ा, जिस के लिए सत्तातन्त्र को दोषासंस्पृष्ट ही माना जाना चाहिए।

७९–धर्म्मनिरपेक्ष भी वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा मतवादों के प्रति प्रक्रान्ता 'सापेक्षता' का दुःखपूर्ण आपातरमणीय इतिवृत्त—

ओमित्येतत्। तदपि सत्तातन्त्र को तथाभूता निरपेक्षता के लिए सर्वात्मना दुग्धधौत तो इसलिए नहीं ही माना जा सकता कि, उसे दोषदृष्टि से ही सही, एकबार अपनी इन मूलनिधियों के स्वरूपान्वेषण के लिए

तो प्रवृत्त हो ही जाना था। दुःख है कि, ज्ञात–अज्ञात कारणपरम्पराओं के निग्रह से हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र विगत–मुक्त सुदीर्घ दशवर्षात्मक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र युग में भी भारतराष्ट्र की मूलनिधि संस्कृति, तदनुप्राणित साहित्य, तथा तदाचरणात्मक धर्म्म, के मौलिक स्वरूपान्वेषण के सम्बन्ध में न केवल अपने आपको तटस्थ, किंवा निरपेक्ष ही प्रमाणित करता आरहा है, अपितु मतवादाभिमत इतर सम्प्रदाएँ धर्मनिरपेक्ष भी हमारे इसी सत्तातन्त्र मे जहां सर्वात्मना पुष्पित–पल्लवित होतीं जारही हैं, वहां इसी धर्म्मनिरपेक्ष ? सत्तातन्त्र के द्वारा भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म की वैसी वैसी आपाततरमणीया आलोचनाएँ ही प्रक्रान्त हैं, जिन्हें सुन कर प्रत्येक 'भारतीय' को तो लज्जा से अवनत–शिरस्क ही बन जाना पड़ता है।

८०–सांस्कृतिक-संकटकालीना वर्त्तमानावस्था, तत्परित्राणोपाय, एवं सत्तानिरपेक्षता-मूलक चिन्तन-स्वाध्याय--आचरण--से ही सम्भाविता राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-निधि की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इत्थंभूता सांस्कृतिक-संकटकालीना अवस्था में राष्ट्र के प्रज्ञावर्ग का क्या कर्त्तव्य शेष रह जाता है ?, यही वह सर्वप्रधाना समस्या है, जिस के समन्वय-समाधानान्वेषण के लिए ही हमें–'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' मूलक मैत्रावरुण–श्रौतसन्दर्भ का प्रस्तुत प्रास्ताविक में संस्मरण करना पड़ा है। प्राज्ञ विद्वानोंने जब जब भी सत्तातन्त्र के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, तब तब ही भारतराष्ट्र की संस्कृति अन्तर्मुख होगई है। अतएव यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक है कि, राष्ट्रहितचिन्तक विद्वान् मतवादपरम्पराओं से अपने आपको असंस्पृष्ट रखते हुए, मतवादसमर्थिका शास्त्रव्याख्याओं को दूरतः ही प्रणम्य मानते हुए स्वयं मूलशास्त्र की मौलिक ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के माध्यम से ही संस्कृति के चिन्तन में, साहित्य के स्वाध्याय में, एवं धर्म्म के आचरण में प्रवृत्त होजांय। इनकी इसी तपोनिष्ठा से जब भी इन निर्मल-विभूतियों के तात्त्विक, मङ्गलमय स्वरूप से राष्ट्रीय जनतन्त्र, तथा तत्सञ्चालक सत्तातन्त्र अंशतः भी परिचित होजायगा, अवश्य ही उसी क्षण भारतराष्ट्र अपना विस्मृत सांस्कृतिक गौरव प्राप्त कर लेगा।

८१–दिग्देशकाल-व्यामोहनासंस्पृष्टा, गुहानिहितवृत्त्यनुगता निरपेक्षता, तन्मूला सांस्कृतिक-निष्ठा, एवं तत्स्वरूपोपबृंहिका 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'—

तथाविधा चिन्तन-स्वाध्याय-धर्म्माचरण-निष्ठात्रयी में विद्वद्वर्ग को तभी सफलता उपलब्ध होसकेगी, जबकि वह दिग्देशकालानुबन्धी, अतएव सर्वथा तात्कालिक, अतएवच सत्तातन्त्रानुगत लोकैषणात्मक वित्तैषणादि व्यामोहनों से अपने आपको सर्वथैव परा परावृत, आत्यन्तिकरूपेण निरपेक्ष बनाता हुआ गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्यायनिष्ठा में ही तल्लीन होजायगा। इसी तथ्य का, इसी महान् उद्बोधन का-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' से स्पष्टीकरण हुआ है। एवं दिग्देशकालानुबन्धिनी सत्तासापेक्षता के महान् अभ्व, महान् यक्ष–रूप इसी स्वरूप-विमोहन से हमने स्वयं हीं अपना आत्मपरित्राण करने के लिए, दूसरे शब्दों में स्वान्त सुखायैव प्रस्तुत–'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक निबन्ध उपनिबद्ध करने की महती धृष्टता की है, जिसकी एतद्वानुगता-मर्यादा के स्वरूपेतिवृत्त का दिग्दर्शन कराते हुए ही प्रास्ताविक उपरत होरहा है।

८२–'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण दिग्देशकालनिबन्धना भावुकता—

"सर्वसाधन–परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तत्रापि सर्वविशेषतः 'भारतीय-हिन्दू मानव' विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों त्रस्त-संत्रस्त-क्षुब्ध–विक्षुब्ध, अशान्त–असमृद्ध बनता चला आरहा है ?" जिस इस महत्त्वपूर्ण, दुरधिगम्य अनति-प्रश्नात्मक प्रश्न की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में ही उत्थानिका की थी, तत्प्रश्न के समाधानाभासों से (कल्पित उत्तरों से) अनुप्राणित ईश्वरीय–कोप, भाग्यदोष (जन्मान्तरीय दोष), कलियुगप्रभाव, सत्तातन्त्रों का शैथिल्य, आदि तथ्यों ! की ही अबतक स्वरूपमीमांसा हुई, जिनका पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सर्व-नाशकारिणी उस 'भावुकता' पर ही हुआ, जोकि तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

८३–सर्वसाधन–परिग्रह–सम्पन्न, संस्कृति–साहित्यधर्म्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परित्राणोपाय–दिग्दर्शन—

निःसन्देह इत्थंभूता एकमात्र भावुकता ही श्रुति–स्मृति–पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रत्रयी के विद्यमान रहते हुए भी भारतीय–हिन्दू–मानव के पारम्परिक अभिभव का प्रधान निमित्त बनती आरही है, जिस इस महान्, प्रथम, तथा प्रमुख कारण के समतुलन में ईश्वरीयकोप, भाग्यदोषादि, नितान्त भावुकता-पूर्ण, अतएव काल्पनिक कारणाभासों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। भावुकता से ही मानव स्वसंस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख होजाया करता है। और इस भावुकता की जननी आरम्भ में बनी है-- संस्कृति–साहित्य–धर्म्म, नामक निष्ठास्तम्भों से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन–स्वाध्याय–आचरण–भावों की उपेक्षा, तत्स्थाने च तत्प्रचार–व्यामोहन, तत्सफलता के लिए सत्तातन्त्र की सापेक्षता, जिसे–संस्कृति–स्वरूपचिन्तक,–शास्त्र–(साहित्य)–स्वाध्यायनिष्ठ, तथा धर्म्माचारपरायण मानव के लिए–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने हीं प्रधान कारण माना है।

८४-स्वस्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सत्तासापेक्षता–मूला महती भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्खलनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय–संघठनो-च्छेद, और आततायीवर्ग के द्वारा राष्ट्र का अभिभव—

स्वस्वरूपेण सुरक्षित भी संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–तन्त्रों का भावुकतावश ही दिग्देशकाल–व्यवस्थापक मात्र, भूतसभ्यतामात्रानुगामी सत्तातन्त्रों को जिस दिन से भारतीय सांस्कृतिक-प्रज्ञाओंनें (ब्राह्मणोंनें) संरक्षक मान लिया, उसी दिन से भावुकतामूला परावलम्बनता के माध्यम से इस वर्गविशेष के चिन्तन–स्वाध्याय–धर्म्माचरण से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा तो तो होगई अभिभूत, एवं तत्क्षण से ही सत्तानुबन्धिनी दैशिक-कालिक–मान्यताएँ हीं बन गईं इसके लिए संस्कृति, साहित्य, और धर्म्म। यों भावुकतापूर्णा सत्तासापेक्षता से ही कालान्तर में संस्कृति बन गई असंस्कृति, साहित्य (शास्त्र) का स्थान ग्रहण कर लिए सत्ताप्ररोचनात्मिका कल्पित व्याख्याओंने, एवं धर्म्म को अभिभूत कर लिया लोकैषणानुगता–वित्तैषणा से समन्वित मतवादों, सम्प्रदायवादोंने। फलतः राष्ट्रीय संघठन कालान्तर में उच्छिन्न ही तो होगया। क्योंकि सांस्कृतिक–निष्ठापूर्ण-

क्य ही राष्ट्रसंघटन की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। संस्कृति–साहित्य–धर्म–मूलक संघटन के शिथिल होने से ही राष्ट्र में ऐसे महतोमहीयान् छिद्र होगए, जिनमें सुगमता से आततायी–वर्गों को प्रविष्ट होने का सुअवसर मिलता गया, और, अलमतिपल्लवितेन पाथकथाप्रसङ्गेन। माथुरतामूला सत्तासापेक्षता के अनुबन्ध से ही हमें यहाँ तत्सम्बन्धी, तत्स्वरूपनिरूपिका मैत्रावरुण–ग्रह–श्रुति का आश्रय लेना पड़ा, जिसके अक्षरार्थ–समन्वय के बिना 'माथुरता' का इतिहास अपूर्ण ही बना रह जाता है।

८५–लोकानुबन्धी 'व्यामुग्धसूत्र' से हमारा आत्मविमोहन—

आज से अनुमानतः १२–वर्ष पूर्व, जबकि एक 'सांस्कृतिक-संस्थान' की कल्पना 'मानवाश्रम' के रूप से पक्रान्त थी, उसके प्रति जनतन्त्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही 'मानवाश्रम-पाक्षिक' नामक 'पाक्षिक-पत्र' की अभिव्यक्ति हुई। किसी अज्ञातनामा श्रद्धालु के तत्कालीन आक्षेपपूर्ण इस 'व्यामुग्धसूत्र' से हम सहसा उद्विग्न ही हो पड़े कि-'तुम आज जिस श्रुति-स्मृति पुराण-संस्कृति-धर्म-आदर्श-आदि से सम्बन्ध रखने वाले जिस मानवाश्रम की कल्पना में विभोर बने हुए हो, बीसवींसदी जैसे वर्त्तमान युग में तुम्हारा यह प्रयास कदापि सफल नहीं होसकता। क्योंकि वर्त्तमान त्रिदिशसत्तातन्त्र के अनुग्रह ? से हमारा सभी कुछ उस सीमापर्य्यन्त बदल गया है कि, अब इस विज्ञानप्रधान ? परिवर्त्तित युग में केवल श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाली धर्म्मादि की चर्चा का कोई भी महत्त्व नहीं रहा' इत्यादि इत्यादि।

८६–आचार्य्यचरणानुग्रह से व्यामोहन से आत्मपरित्राण, एवं उपास्य 'शतपथ' के द्वारा महती समस्या का निराकरण—

उक्त आक्षेपपूर्ण उद्बोधन से हम सहसा उन्निद्र ही हो पड़े। और एकबार तो इस युगधर्म के प्रभाव ने हम भी सहसा अभिभूत ही कर लिया। किन्तु आचार्य्यचरणानुग्रह से शास्त्र का शाश्वतविज्ञानात्मक दृष्टिकोण हमारे सम्मुख था। अतएव वह अभिभूति अधिक समय पर्य्यन्त स्थिर न रह सकी। तदपि प्रश्न अवश्य एक महती समस्या बन कर अन्तराल को उद्विग्न रखता रहा। उसी युग में शतपथभाष्य प्रक्रान्त था। उसी 'शतपथ' के दो स्थलोंने सहसा हमारा ध्यान उस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित कर ही तो लिया, जिसने सभी समस्याओं का एकान्ततः उन्मूलन कर दिया। उन दोनों तथ्यों में से शतपथ के ही चतुर्थकाण्डीय-'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' से अनुप्राणित 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' इस एक उद्बोधक तथ्य का तो पूर्व में विस्तार से यशोगान किया ही जाचुका है। अब दिग्देशकालप्रेमी (इतिहासप्रेमी) पाठकों के अनुरञ्जन के लिए दूसरे तथ्य का भी दो शब्दों में अब दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

८७–चतुर्विधा 'मणिजा' जाति, एवं देवयुगीय भौमत्रैलोक्य का स्वरूप-संस्मरण—

विज्ञाननिष्ठ माहाराजिक, पौरुषनिष्ठ महाराजिक, व्यवसायनिष्ठ आभास्वर, तथा प्रवर्ग्यनिष्ठ तुषित, नामों से प्रसिद्ध चतुर्विध 'मणिजा' मानवों के विज्ञानप्रधान साध्ययुग से उत्तरभावी वेदयुगात्मक 'देवयुग' में साध्यों के भूतविज्ञान से प्रभावित भारतीय मानवोंने एकबार सहसा अपने यज्ञादि आचारधर्म्मों का परित्याग कर दिया। उस देवयुग में इसी भूतल पर त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी भौमब्रह्मा के द्वारा (१)। निरत्त (लङ्का)

(१)–इस व्यवस्था का शतपथभाष्य प्रथमखण्ड में विस्तार से स्वरूपनिरूपण हुआ है। 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के द्वारा आजकल इसी का प्रकाशन प्रक्रान्त है।

से शर्य्यणावतपर्वत (सुप्रसिद्धा–'रात्री' नदी के विनिर्गमन स्थानरूप शिवालक) पर्य्यन्त पृथ्वीलोकात्मक भारतवर्ष था, यहाँ से हिमालय की द्रोणियां पर्य्यन्त प्रदेश अन्तरिक्ष था, एवं यहाँ से प्राचीसरस्वती (उत्तररूसप्रदेशान्तर्गता) पर्य्यन्त द्युलोक था। तीनों के शवसोनपात्--अतिष्टावा–देवता क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र थे, भारतीस सम्राट् मनु थे। इनके द्वारा ही देवधर्म्मात्मक मानवधर्म्म सुव्यवस्थित बना हुआ था। तद्युग में देवगुरु बृहस्पति ही धर्म्म के ज्ञानविज्ञानस्वरूप के निर्देशक थे। इसी ऐतिहासिक-भौगोलिक-क्षेत्रव्यवस्था के आधार पर अब हम उस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिसका वर्त्तमान-युग के तथाविध ही आक्रोश के साथ सर्वात्मना समतुलन होरहा है।

८८--देवयुगीय भारतीय-मानव के संस्कृति के प्रति भावुकतापूर्ण उद्गार—

जैसाकि, निवेदन किया गया है, साध्यजाति के भूतविज्ञानात्मक क्षणिक-विज्ञानों से सहसा आकर्षित हो-पड़ने वाले भारतीय धार्म्मिक मानवोंने उसी देवयुग में ये उद्गार अभिव्यक्त करते हुए यज्ञ–यागादि शास्त्र-सिद्ध कर्त्तव्य–कर्म्मों का परित्याग कर ही तो दिया कि—

"हम क्यों, और किस लिए इन धार्म्मिक कर्म्मों का अनुगमन करें ?, जब कि हम प्रत्यक्ष में यह देख रहे हैं, सुन रहे हैं, और अनुभव कर रहे हैं कि, जो यजनादि कर्म्म नहीं करते, वे तो सुखी-समृद्ध बने हुए हैं, और जो (अस्मदादि) इन शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का अनुगमन कर रहे हैं, वे आद्यन्त के दुःखी ही बनते जारहे हैं। इस प्रत्यक्षस्थिति को देखते हुए कौन प्रज्ञाशील इन शास्त्रीय कर्म्मों के प्रति श्रद्धा रक्खेगा ? (१)।

८९–देवयुगीया स्थिति से समतुलित वर्त्तमान भारतीय–मानव के अश्रद्धापूर्ण उद्गार—

इसप्रकार जिस हेतुवाद को अग्रणी बना कर वर्त्तमान भारतीय मानव धर्म्माचरणों की आज उपेक्षा करते जारहे हैं, ठीक उसी कारण के आकर्षण से सहस्रों वर्षो-पूर्व देवयुग में भी मानवों में सत्कर्म्मों के प्रति सहसा अश्रद्धा ही अभिव्यक्त होपड़ी थी। आज भी तो—'होम करते हाथ जलता है'—"जो धर्म्म करते हैं, वे दुःखी हैं, जो धर्म्म की उपेक्षा कर चुके हैं, वे सुखी, तथा समृद्ध बने हुए हैं' इसप्रकार के हेत्वाभासों के आधार पर ही तो भारतीय प्रजा धर्म्मविमुख होती जारही है (२)।

---

(१)-ते हस्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयाँस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयाँस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–ये यजन्ते, पापीयांसस्ते भवन्ति, ये–उ–न–यजन्ते, श्रेयाँसस्ते भवन्ति।

—शतपथ १।२।५।२४।

२–वस्तुस्थिति वास्तव में यथार्थ है। तमोगुणबहुल पाञ्चभौतिक विश्व में–'बलं सत्यादोजीयः' इस श्रौत–सिद्धान्त के अनुसार सत्यात्मक देवभाग तो है अन्तर्म्मुख, एवं बलात्मक भूतभाग है अभिव्यक्त। धर्म्मसापेक्ष कर्म्मों का प्रधान सम्बन्ध जहाँ देवभाव से है, वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष, किंवा धर्म्मविरुद्ध कर्म्मों का सम्बन्ध भूतभाव से है। अतएव अधर्म्मात्मक भूतप्रधान कर्म्म आरम्भ में तत्काल ही फलप्रद बन जाते हैं।

९०–देवप्रेरणया भौमस्वर्ग से देवगुरु बृहस्पति का भारत आगमन, एवं यज्ञरहस्य स्वरूप-विश्लेषण के द्वारा भारतीय मानवों की अश्रद्धा का निराकरण—

देवयुगीय-भारतीय-मानवों के तथाविध अश्रद्धात्मक इतिवृत्त-श्रवण से भौमस्वर्गाधिपति 'हरिवाहन' नामक देवेन्द्र चिन्तित हो पडे। और इन्होंने देवगुरु बृहस्पति को प्रेषित किया पृथिवीलोकात्मक भारतवर्ष में इस तथ्य के समाधान के लिए। देवगुरु बृहस्पति यहाँ आए, और प्रश्न किया मानवों से कि– 'आप लोगों ने यों सहसा यज्ञ–यागादि धार्मिक कर्म्मों के प्रति क्यों अश्रद्धा कर ली?' । उत्तर मिला–"हम क्यों इन कर्म्मों का अनुगमन करें, जब कि न करने वाले हमारी अपेक्षा अधिक–सुखी–समृद्ध हैं" (१)।

सचमुच अधर्म्ममार्गारूढ मानव व्यक्त–भूत के सहज व्यक्त धर्म्म के कारण एकबार तो सहसा भूतसमृद्धि से ही समन्वित होजाता है। इसकी इस प्रारम्भ की भूत लोक-समृद्धि से भावुक मानवों का प्रभावित होजाना भी स्वाभाविक है, एवं इसी प्रभावाकर्षण से प्रत्यक्षप्रभावाक्रान्त मानवों का धर्म्म के प्रति निरपेक्ष, किंवा विमुख बन जाना भी स्वाभाविक ही है।

अधर्म्मपथानुगामी दिग्देशकालभ्रान्त मानव की अधर्म्मप्रवृत्ति जहाँ इसे आरम्भ में भूतसमृद्धि से समन्वित कर देती है, वहाँ इस भूतसमृद्धि के बल पर यही आवेशाविष्ट मानव विविध प्रकार के लौकिक-समारोह, उत्सवादि का भी सफल उपभोक्ता बन जाता है। नृत्य–गान–वादन-भोजन–पर्य्यटन आदि भूतात्मक व 'भद्र' भाव भूतसमृद्धि के बल पर इसके लिए सुलभ बन जाते हैं, जिनका धार्मिक पुरुष के लिए तो स्वान्विक-संस्मरण भी शास्त्र के द्वारा निषिद्ध ही है-'तस्माद् ब्राह्मण -संस्कृतिनिष्ठ -न नृत्येत, न गायेत' (श्रुति.)। इसी भूतसमृद्धि का तत्समानधर्म्मा व्यक्तियों में वितरण करता हुआ यह भूतोपासक अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भी पराजित करता रहता है। और यों प्रत्यक्षमूला भूतदृष्टि से समृद्धि, समृद्धिभोग, प्रतिद्वन्द्वियों का पराजय, आदि आदि वे सभी लोकफल तथाविध धर्म्मनिरपेक्ष, किंवा धर्म्मद्वेषी को उपलब्ध हो ही जाते हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा–'समूलस्तु विनश्यति' ही इसका उत्कृष्ट पुरस्कार निर्णीत होजाता है प्रकृति के द्वारा ही। इसी तथ्य का विस्पष्ट भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए राजर्षि ने कहा है कि—

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥

—मनु ४।१७४।

(१)–ते ह देवा ऊचुः-बृहस्पतिमाङ्गिरसं-अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्। 'तेभ्यो विधेहि यज्ञम्' इति। स हेत्य उवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः-कथा-(कथ) न यजध्वम्'? इति। ते होचुः (मनुष्याः)–'किं काम्या यजेमहि। ये यजन्ते, पापीयाँसस्ते भवन्ति, य ऽ उ न यजन्ते, श्रेयाँसस्ते भवन्ति' इति।

—शतपथ १।७।४।७।

बृहस्पति ने जिस तात्त्विक-समाधान से मानवों में इस आचारधर्म्म के प्रति पुनः श्रद्धा प्रतिष्ठित की, उस समाधान का अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-सन्दर्भ से सम्बन्ध है, जिस का न्यत्र समावेश सम्भव नहीं है। उस समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, भारतीय आचारधर्म्म का मतवादों की भाँति क्योंकि मानवीय-मानसिक कल्पनाओं से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव इन के आचरण में मानव के दिग्देशकालानुबन्धी काल्पनिक ऊहापोहों का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध है। यह आचारधर्म्म तो प्रकृति के सनातन-ज्ञानविज्ञानात्मक-नित्य-नियमों के आधार पर ही व्यवस्थित है। यदि कोई सुधारवादी 'गायत्रीमन्त्र' के स्थान में गायत्रीमन्त्र के अक्षरार्थ (भाषार्थ) का ही जप करना आरम्भ कर देगा, तो वही मन्त्रार्थ इष्ट के स्थान में अनिष्ट का ही कारण बन जायगा। यही नहीं, अपितु स्वयं गायत्रीमन्त्र भी एक भी स्वर-वर्ण-अक्षर-के विपर्य्यासात्मक दोष से जपकर्त्ता का विध्वस ही कर देगा (१)। अपने इसी काल्पनिक दोष से देवयुगीय मानवों के लिए अभ्युदयसंसाधक भी यज्ञकर्म्म प्रत्यवायात्मक अनिष्ट का ही कारण बन गया था। भूतदृष्ट्या यद्यपि घटना साधारण सी थी। किन्तु प्राणदृष्ट्या वही घटना यज्ञकर्त्ता के अनिष्ट का कारण बन गई थी। भावुकतावश इस स्व दोष से अपरिचित तत्कालीन मानव यज्ञात्मक धर्म्म को ही इस अनिष्ट का कारण मान बैठा था। भूमिनिखननानन्तर निर्म्मिता वेदि पर कुशास्तरण होता है। तत्पूर्व इस वेदि का स्पर्श कर लेने से ही निखननप्रयुक्त हिंसक प्राण (उग्रप्राण) यज्ञकर्त्ता का अनिष्ट कर देता था। बृहस्पति ने यही तथ्य मानवों के सम्मुख रक्खा, एवं इस वैज्ञानिक-स्वरूप-के माध्यम से ही उद्बोधन प्रदान किया (२)। बर्हि (कुश-डाभ) से वेदि का हिंसक प्राण क्योंकि उपशान्त हो जाता है, अतएव उस के बिछा देने के अनन्तर ही वेदि का स्पर्श करना चाहिए, यही उस उद्बोधन का वह निष्कर्ष है, जिस इस प्राणविज्ञान का समन्वय कदापि भूतविज्ञानवादी नहीं करसकता।

६१-मानसिक-कल्पनाओं से समन्विता व्याख्याओं से सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी कर्त्तव्यकर्म्मात्मक धर्म्म की 'मतवादरूप' में परिणति, एवं धर्म्मव्याजात्मक आज के य 'यज्ञसमारोह'—

सचमुच हमने अपने ज्ञानविज्ञानसिद्ध आचारधर्म्मों को भी उसीप्रकार सामान्य-लौकिक-कर्म्म ही मान लिया है, जिनका कि इष्टानिष्ट विशेषरूपेण प्रभावशाली नहीं हुआ करता। इसी भावुकतापूर्णा भौतिकी मान्यता से हमने विगत-अवधि से शास्त्रीय-आचारों को अपनी कल्पना से ही समन्वित कर लिया है। 'यज्ञ' जैसे

---

(१)—दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(२)—क्लृप्ता वेदिः। तेनाव्मर्शचारिष्ट-तस्मात् पापीयाँसोऽभूत। तेन-अनवशं यजध्वम्। तथा श्रेयाँसो भविष्यथ। आ कियत-इति (कबतक वेदि का स्पर्श न करें?), आबर्हिपस्तरणात्-इति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यो हैवं-विद्वान्-अनमर्शं यजते, श्रेयान् ह वै भवति।

—शतपथ १।२।५।२६।

प्राणस-धानात्मक सुसूक्ष्म वैज्ञानिक कर्म को पश्चिम के-'इन्फ्लुएन्जा-फिल्टर' के समतुलन में कीटाणुओं का विध्वंसक, एवं सुगन्धि-प्रवर्तक मानते हुए हमने यज्ञिय-पदार्थों में केसर-कर्पूर-चन्दनादि का यथेच्छ समावेश कर इस महत्त्वपूर्ण यज्ञकर्म को आज कौतुकमात्र का ही साधन बना लिया है। एवमेव रहस्यपूर्णा, एकान्तेऽसम्पादन योग्या भी यह यतिया आचारनिष्ठा श्रद्धालु सनातनधर्मियों के द्वारा भी आज 'विश्वशान्ति' के छलमात्र से प्रदर्शनपथा की ही अनुगामी बन गई है, इति नु अब्रह्मण्यमेव।

६२–सामयिक उद्बोधनानुबन्धी एक सामयिक 'लेख' का प्रकाशन, एवं तत्सम्बन्ध में प्रज्ञाबन्धुओं की बलवती प्रेरणा—

प्रकृत में उक्त सन्दर्भ में निवेदनीय यही है कि, मैत्रावरुणश्रुति, और पूर्वोक्ता अनवमर्शश्रुति, इन दोनों तथ्यों के माध्यम से ही हमें वह उद्बोधन प्राप्त हुआ, जिस के अनुग्रह से ही प्रत्यक्षप्रमाणमूला परप्रत्ययनेयामिका भावुकता के स्वरूप–दर्शन से हम समन्वित होसके। और तत्परिणाम–स्वरूप ही–'भारतीय हिन्दूमानव की भावुकता' नाम से एक संक्षिप्त लेख तथाकथित 'मानवाश्रम–पाक्षिक' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ। तदाधार पर कितने एक प्रज्ञाबन्धुओं की बलवती प्रेरणा से स्वतन्त्ररूपेणापि उक्त संक्षिप्त लेख का प्रकाशन हुआ। किन्तु एतावता ही हमारा अन्तर्द्वन्द्व सर्वात्मना उपशान्त न होसका।

६३–प्रेरणाकर्षण से ही श्रुति-स्मृति-पुराण-सिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तथ्यों के आधार पर खण्डचतुष्टयात्मक स्वतन्त्र निबन्ध की स्वरूपनिष्पत्ति—

यद्यपि शतपथब्राह्मण, ईशोपनिषत्, गीता, वेदान्तसूत्र, आदि आदि आप्तग्रन्थों के माध्यम से हमारा शास्त्रीय–ग्रन्थ–निर्माण–क्रम अनेक सहस्रपृष्ठों (अनुमानतः ८० सहस्र पृष्ठों) का अनुगामी बन चुका था। तथापि हम इस तत्त्वमीमांसात्मक सम्भार से स्वयं ही इसलिए उत्पीडित ही बनते आरहे थे कि, आचार–निष्ठाशून्य वर्त्तमान भारत का क्या हित होगा इस पिष्टपेषण से ?। सचमुच जबतक यह अपनी किसी प्रच्छन्ना भ्रान्ति का सफल निदान नहीं कर लेता, एवं तद्द्वारा उसकी सफल चिकित्सा नहीं करलेता, तबतक केवल तत्त्वनिरूपणों से कदापि इस का आचारात्मक उद्बोधन सम्भव ही नहीं है। एवं बिना आचारनिष्ठा के तत्त्वमूला निरी दार्शनिकता से कदापि इस का न तो अभ्युदय [ऐहलौकिक समृद्धि] ही सम्भव, एवं न पारलौकिक निःश्रेयस ही सम्भव। उसी भ्रान्ति के निराकरण के लिए श्रुति–स्मृति–पुराण–से अनुप्राणित, ज्ञानविज्ञानात्मक तथ्यों के आधार पर ही एक स्वतन्त्र वैसा 'निबन्ध' उपनिबद्ध कर देने की कामना जागरूक होपड़ी, जिस के द्वारा भारतीय मानव को, एवं तद्व्याज से प्रधानरूपेण स्वयं को ही आचारात्मक उद्बोधन प्राप्त होसके। दोष था मुख्यरूप से 'सत्तासमर्पितात्ममूला भावुकता' ही। अतएव सङ्कल्पानुसार उद्बोधनात्मक उस सामयिक निबन्ध का नामकरण हुआ-'भारतीय हिन्दू मानव, और उस की भावुकता'।

६४–निबन्ध-अभिधा में अनुप्राणित-'हिन्दू' शब्द से आज के अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध, अतएव नितान्त भावुक भारतीय मानव का उत्तेजन, और उस की काल्पनिक-'विश्वमानवता'—

अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति-विमुग्ध वर्त्तमान मानवों की 'विश्वमानवता'-'विश्वबन्धुत्व' आदि आदि-लक्षणा भावुकतापूर्णा मान्यताओं की समतुलनदृष्टि से 'हिन्दूमानव' नाम अवश्य ही उत्तेजक प्रमाणित हो

रहा है। यही कारण है कि, तथाविधा भावुकता के व्यामोहनपाश से आपादमस्तक आबद्ध–सुबद्ध राष्ट्रीय नेताओं की भाँति वर्त्तमानकाल के संस्कृतिनिष्ठ ? भारतीय कतिपय विद्वान् भी अपने आपको 'हिन्दू' कहने में संकोचात्मिका लज्जा का ही अनुभव करते जारहे हैं। अपनी इसी स्वनिष्ठा की उपेक्षा से इस भारतीय 'हिन्दू-मानव' ने विगत भुक्त–प्रक्रान्त शताब्दियों में क्या क्या छोड़ दिया ?, इसी काल्पनिक व्यक्तित्व–विमोहन से आज भी यह क्या क्या छोड़ता, और विस्मृत करता जारहा है ?, इन सभी प्रश्नों का प्रस्तावना में तो दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। इस के इस काल्पनिक त्याग–तपस्या–बलिदानों के अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक मलीमस इतिवृत्त के स्वरूप–विस्फोटन के लिए ही तो तथोक्त निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है।

६५--'हिन्दूमानव' का सुप्रसिद्ध उदात्त-उद्घोष, एवं तद्द्वारा इसी की नैष्ठिकी विश्वमानवता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'हिन्दूमानव' ही समस्त विश्व में एकमात्र वैसा मानव है, जिस की श्रुति–स्मृति–पुराण–मूला संस्कृति के अमुक–सामान्य–सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के मानव स्व–स्व–कर्त्तव्य–कर्म्मों का शिक्षण प्राप्त कर अभ्युदय–पथानुगामी बनसकते हैं। भारतेतर सभी मानव जहाँ स्व–स्व–मतवादात्मिका मान्यताओं को ही इतर मतवादों से श्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए अपने अपने तन्त्रों में हीं सब को दीक्षित कर देने के लिए अहोरात्र आकुल–व्याकुल--बने रहते हैं, वहाँ समस्त विश्व में हिन्दूमानव के सांस्कृतिक प्रतिनिधि भारतीय हिन्दू–ब्राह्मण की ही ऐसी उदारतापूर्ण–उदात्त–घोषणा है कि,–'भारतराष्ट्र में प्रसूत द्विजाति से सम्पूर्ण विश्व के मानव अपने अपने चरित्र की, प्रकृति-भेदभिन्न-स्व-स्व—धर्म्मात्मक स्व-स्व-कर्त्तव्य-कर्म्मों की ही शिक्षा प्राप्त करते रहें" (१)।

६६-'भारत'–'विश्वबन्धुत्त्व-'मानव'-'मानवधर्म्म'--'सत्य'--'अहिंसा-'त्याग'-आदि शब्दों की भी 'हिन्दू' शब्दानुप्राणिता निर्वचनानुगता साम्प्रदायिकता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण महान् व्यामोहन—

यदि–'हिन्दू' नाम साम्प्रदायिकता का बोधक है, तो 'भारत' नाम भी इस साम्प्रदायिकता से असंस्पृष्ट नहीं है। यही नहीं, भारतीय–भाषा के सभी सांस्कृतिक शब्द इसी साम्प्रदायिकता के रँग से रञ्जित हैं। जिन 'विश्वबन्धुत्त्व'-'मानवता' 'मानवधर्म्म' आदि का आज तुमुल उद्घोष किया जारहा है, वे शब्द भी इस दोष से उन्मुक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए-'विश्व' शब्द को ही लिजिए। सुप्रसिद्धा वैज्ञानिकी निर्वचनप्रक्रिया के अनुसार-'विशत्यत्र सच्चिदानन्दात्मा, तद् विश्वम्' ही विश्व शब्द का निर्वचन है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस विज्ञानसिद्धान्तानुसार पूर्वप्रतिपादित प्रकृतिविशिष्ट पुरुषेश्वर के अन्तःप्रवेश से ही यह भूतविवर्त्त-'विश्व' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। जिन के लिए दिग्देश-कालात्मक-सादि-सान्त-परिवर्त्तनशील-

(१)-एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
—मनुः

परिच्छिन्न-भौतिक जगत् के अतिरिक्त दिग्देशकालातीत-अनाद्यनन्त-अपरिवर्त्तनीय-व्यापक-आत्मब्रह्म का स्वरूप सर्वथा अविज्ञेय, एवं अपरिचितही है, उन अनात्मवादियों की दृष्टि से तो 'विश्व' शब्द भी साम्प्रदायिक ही है। तथैव-'भरतोऽग्निरित्याहुः, स हि देवेभ्यो हव्यं भरति' (शतपथे) 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' (यजुःसंहितायाम्) इत्यादि से प्रसिद्ध त्रयीवेदमूर्त्ति भरत, किंवा भारत अग्नि की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले, ब्राह्मणात्मक हव्यवाट् भारताग्नि से अनुप्राणित, एतद्देश की 'भारत' अभिधा भी 'हिन्दू' शब्द के समतुलन में तो प्रत्यक्ष ही साम्प्रदायिक बनी हुइ है। इन्द्र-प्राण-अग्नि-शाश्वत-ब्रह्म आदि विभिन्न भावों से (१) समन्वित, केन्द्रस्थ मनुरतत्त्व से समन्वित-'मानव' शब्द भी प्रत्यक्ष में ही साम्प्रदायिक बना हुआ है।

९७-गङ्गा-यमुना-वन्देमातरम्-सौराष्ट्र-सिद्धार्थ-जयहिन्द-आदि आदि यच्चयावत् शब्दों की तथाविधैव साम्प्रदायिकता, एवं तत्समतुलित 'हिन्दू' शब्द के प्रति राष्ट्रीय मानव का निरर्थक आक्रोश—

एवमेव गङ्गा, यमुना, सरयू, सरस्वती, कावेरी, चन्द्रभागा, यज्ञ, देव द्विज, आचार्य्य, विद्या, सम्भूति, ज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, आचार, धर्म्म, नीति, सत्ता, स्वतन्त्रता, मातृभूमि, मातरम्, जयहिन्द—आदि आदि सभी शब्द उसी भारतीय भाषा के शब्द हैं, जिन का निर्वचन भारतीय-ज्ञानविज्ञानात्मक प्रकृतिसिद्ध तत्त्वों से ही अनुप्राणित है। यदि इस ज्ञानविज्ञानात्मिका तत्त्वदृष्टि का नाम ही साम्प्रदायिकता है, तो अवश्य ही उक्त शब्द भी साम्प्रदायिक ही हैं। और यही महान् गौरव है इस राष्ट्र का कि, इस के ये सभी शब्द मानवीय काल्पनिक-उच्छृङ्खलतमात्रानुगत असंस्कृत-प्राकृत-शब्दों की भाँति काल्पनिक न होते हुए तत्त्वात्मक ही हैं। आर्य्यायणजाति के द्वारा गुण-गरिमा-योग्यता आदि के सम्मान में उपलब्ध 'हिन्दू' शब्द भी भारतीय मानव की उत्कृष्टता ही अभिव्यक्त कर रहा है (२)। अतएव भावावेश में आकर, किंवा परदर्शनमूला भावुकता से आकर्षित होकर कदापि इन सांस्कृतिक-शब्दों का परित्याग नहीं किया जासकता। जो ऐसा करते हैं, कर रहे हैं, मानाविष्ट तथाविध भावुक मानवों की भावुकता के अनुरञ्जन के लिए ही तो हमें तथाकथित निबन्ध उपनिबद्ध करना पड़ा है।

९८-'हिन्दू-मानव'-रूपा पवित्र-अभिधा से अनुप्राणित 'विश्वमानव' के शान्ति-स्वस्ति भाव, एवं हिन्दूमानव के ही—'वसुधैव कुटुम्बकम्' इत्यादि लक्षण उदात्त-उद्घोष—

हिन्दूमानव का उद्बोधन निश्चयेन विश्वमानवोद्बोधन का भी कारण प्रमाणित होजाता है। अतएव निबन्ध के तन्नामकरण को ही हमने निष्पाप माना है। "भारतीय हिन्दू-मानव सम्पूर्ण-साधन-

---

(१)-एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके, परे प्राणं, मपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥
—मनु

(२)--देखिए! प्रस्तुत निबन्ध के 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड की प्रस्तावना

परिग्रहों की विद्यमानता में भी तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्यों, और कैसे दुःखी बनता आरहा है'' इस वाक्य का उक्त मीमांसा के द्वारा 'विश्वमानव दुःखी क्यों ?, इस तथ्य पर भी विश्राम माना जासकता है। और इसी दृष्टि से आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, निष्ठादृष्ट्या प्रधानरूपेण भारतीय-हिन्दू-मानव के उद्बोधन से सम्बन्ध रखता हुआ भी प्रस्तुत निबन्ध अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका प्रकृतिसिद्धा सनातन- परिभाषाओं के अनुबन्ध से परम्परया 'विश्वमानव' के भी अभ्युदय का निमित्त बन रहा है, जिस निमित्तता के प्रमाण 'वसुधैव कुटुम्बकम्-'सर्वे भवन्तु-सुखिनः'–'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'-सर्वे सन्तु निरामयाः' इत्यादि माङ्गलिक उद्घोष ही बने हुए हैं।

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगमसिद्धान्त को आधारस्तम्भ मान कर इस निबन्ध को हमनें चार खण्डों में विभक्त किया है, जिनके सम्बन्ध में–'स्तम्भदृष्टया' किञ्चिदिव (सन्दर्भ–समन्वयार्थ) निवेदन कर देना भी अप्राङ्गिक न होगा।

६६–निबन्ध के प्रथमखण्ड के सम्बन्ध में (१)—

निबन्ध के प्रथम खण्ड का प्रमुख नाम है–'विश्वस्वरूपमीमांसा'। 'विश्वमानव दुःखी क्यों ?, इस मूलप्रश्न के समाधान के लिए सर्वप्रथम स्थावर–जङ्गम–भावापन्न विश्व के स्वरूप का तात्त्विक–स्व–रूप–समन्वय अनिवार्य्य बन जाता है। अतएव सर्वप्रथम विश्व के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का उपबृंहण आवश्यक मान लिया गया है। इस प्रथमखण्ड में १–असदाख्यानस्वरूपमीमांसा, तथा प्रमुखरूपेण २–विश्वस्वरूपमीमांसा, इन दो स्वतन्त्र स्तम्भों का समावेश हुआ है। जिसप्रकार भावुकता के कारण सम्पूर्ण–साधन परिग्रहो की विद्यमानता में भी आत्मनिष्ठ भी मानव आद्यन्त का दुःखी बन जाया करता है, ठीक इसीप्रकार इनसे भी अधिक साधनों के विद्यमान रहते हुए भी सुयोग्य–बुद्धिमान्–राजनीतिकुशल–लोकचतुर भी मानव कुनिष्ठात्मिका असन्निष्ठा के वारुण–पाश में आबद्ध होता हुआ, अपनी इस तमोगुणबहुला असन्निष्ठा से तात्कालिकरूपेण-समृद्धि-परम्पराओं का अनुगामी बनता हुआ भी अन्ततोगत्वा समूल ही विनष्ट होजाता है। भावुकता, और असन्निष्ठा से कैसे मानव का सर्वनाश होजाता है ?, प्रश्न के ऐतिहासिक वास्तविक–तथ्य के स्वरूपदिग्दर्शन के लिए ही प्रथमखण्ड के आरम्भ में हीं 'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा' का समावेश हुआ है। आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति धर्म्मभीरु अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु दुर्य्योधन, ये दोनों पात्र क्रमशः भावुकता, तथा असन्निष्ठा के ही सगुण प्रति–मान बने हुए थे।

श्रुतिस्मृतिपुराणशास्त्रनिष्ठ, परम आस्तिक भी, पौरुषप्रतिमान भी अर्जुन एकमात्र अपनी भावुकता से ही सर्वात्मना तबतक दुःखी ही बने रहे, जबतक कि भगवान् ने इन्हें अव्ययपुरुषनिबन्धना, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नाम की चतुर्विध 'भग' (१) सम्पत्तियों की प्रवर्त्तिका, समत्वयोगात्मिका, आचारभावात्मिका 'बुद्धियोगनिष्ठा' जैसी 'सन्निष्ठा' प्रदान नही कर दी। स्वकर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा की प्रतिबन्धिका वर्त्तमानयुगान्विता काल्पनिक-

(१)-ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरिणा॥
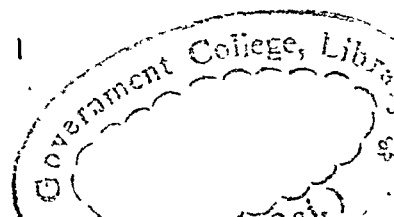
मानवता, अहिंसा, करुणा, दया, सहास्तित्त्व, आदि आदि भावुकता परम्पराओं से आलोमभ्य आनखा-ग्रेभ्य समाप्लुत नितान्त भावुक अर्जुन के उस आकर्षक-प्रारम्भिक-व्याख्यान से सभी गीताप्रेमी सुपरिचित होंगे, जिसका नैष्ठिक भगवान् के द्वारा उपहासपूर्वक ही निराकरण हुआ था। प्रत्यक्षप्रभावमूला इसी भावुकता ने, दिग्देशकालव्यामोहनमूला इसी भीरुताने अर्जुन जैसे पुरुषश्रेष्ठ, पुरुषार्थी, को भी एकबार तो—'न योत्स्ये' रूपेण कायरता की भूमि पर ही ला खड़ा किया था।

दूसरा प्रधान पात्र दुर्य्योधन दिग्देशकाल का तो महा पण्डित था। किन्तु इसका यह पाण्डित्य दिग्देशकालातीत परिणामों के समतुलन में असमर्थ बना रहता हुआ केवल 'वर्त्तमान' में ही अभिनिविष्ट होगया था। इसी वर्त्तमानव्यामोहन ने इसे भी उस घातक पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्वविमोहन से सर्वात्मना विमुग्ध कर लिया था, जिस विमोहन के अनन्तर मानव के सत्त्वगुणानुबन्धी सभी सद्गुण तो होजाया करते हैं विलीन, एवं प्रतिक्रियात्मक दुर्गुण होजाया करते हैं अभिव्यक्त। इस ओर का भावुक, एवं उस ओर का असन्निष्ठ, दोनों ही वास्तविक 'सत्ताब्रह्म' से पराङ्मुख ही होजाया करते हैं। परिणामस्वरूप दोनों की भाषा निषेधभावापन्न आक्रोश से ही समन्विता बन जाती है। सभी क्षेत्रों में अपने आपको ही सर्वज्ञ मानते रहना, तथा अन्य सत्परामर्शों को भी क्यों ?, न च कुच, नहीं मानते, इत्यादि रूपेण उपेक्षित करते रहना ही इत्थंभूत भावुक, तथा असन्निष्ठ मानवों की जीवनचर्य्या बन जाया करती है। दूसरे शब्दों में-सद्ब्रह्मानुगत सत्ताब्रह्म से अनुप्राणित 'अस्तित्त्व' का विरोध, तथा-भ्रान्तिमूलक 'निषेध' की अनुगति ही इन दोनों वर्गों का एकमात्र आराध्य-मन्त्र बन जाता है, जिस इस असद्भावात्मक 'निषेध' से ही अन्ततोगत्वा दोनों ही वर्ग नष्ट ही होजाया करते हैं (१)। भावुक अर्जुन की-'न योत्स्ये' भाषा, तथा असन्निष्ठ-कूटनैतिक-दुर्य्योधन की 'नैव दास्यामि' भाषा ही प्रत्यक्ष निदर्शन है इन दोनों की निषेधभावना में। इन्हीं दोनों पात्रों के माध्यम से प्रथमस्तम्भ में भावुकताके ऐतिहासिक तथ्य का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, एवं तत्स्तम्भ ही-'असदाख्यानस्वरूप-मीमांसा' नाम से व्यवहृत हुआ है।

तदनन्तर विश्वस्वरूपमीमांसा नामक द्वितीयस्तम्भ समाविष्ट हुआ है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-मूर्त्ति अश्वत्थप्रजापति की सहस्रशाखाओं में से 'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा' नाम की एक शाखा ही पञ्चपर्वात्मक एक विश्व का सम्पूर्ण इतिहास है, जिसके प्राणमय-आकाशात्मा स्वयम्भू, आपोमय वाय्वात्मा परमेष्ठी, वाङ्मय तेजोरूप सूर्य्य, अन्नमय आपोरूप चन्द्रमा, तथा अन्नादमय पृथिव्यात्मक भूपिण्ड, ये पांच पुण्डीर (पर्व-पोर-अवयव) वैदिक-विज्ञानजगत् में सुप्रसिद्ध हैं। इन्हीं पांचों विश्वपर्वों से अध्यात्मनिष्ठ मानव के स्वायम्भुव शान्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन), एवं पार्थिव भूतात्मा (प्राणविशिष्ट पाञ्चभौतिक शरीर), इन पांच आध्यात्मिक विश्वपर्वों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। द्वितीयस्तम्भ में पञ्चपर्वात्मक इसी विश्वस्वरूप की ज्ञानविज्ञानात्मिका स्वरूप-मीमांसा हुई है, जिसके माध्यम से भावुक मानव की, तथा असन्निष्ठ मानव की अनेक भ्रान्त-कल्पनाओं का

---

(१) असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥
—उपनिषत्

सहजरूपेणैव उन्मूलन होजाता है। तदित्थं इन दो स्तम्भों से कृतरूप, पान्सौ (५००) पृष्ठात्मक प्रथम-खण्ड का यही संक्षिप्त-स्वरूप-निदर्शन है (३)।

१००-निबन्ध के द्वितीय-खण्ड के सम्बन्ध में (२)—

पञ्चपर्वा विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित मानव प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से दुःखी है, तो दिग्देशकाल निबन्धना असन्निष्ठा से भी परिणाम में इस असन्निष्ठ का सर्वनाश ही निश्चित है। एकमात्र **सन्निष्ठात्मिका निष्ठा (संविन्मूला आत्मनिष्ठा)** ही मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् का कारण मानी गई है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में श्रुति-स्मृति-पुराण-आगमादि आर्षवचनों के माध्यम से सर्वप्रथम **निष्ठाभावुकता-स्वरूप-मीमांसा'** नामक क्रमप्राप्त तृतीय (तथा खण्डानुगत प्रथम) स्तम्भ में **निष्ठा,** और **भावुकता,** शब्दों का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

क्रमप्राप्त चौथे, एवं खण्डानुगत दूसरे-**'मानवस्वरूपमीमांसा'** नामक स्तम्भ में **'मानव'** के स्वरूप का ही समन्वय-प्रयास हुआ है। सम्पूर्ण विश्व में **'मानव'** का स्वरूप अत्यन्त दुरधिगम्य इसलिए प्रमाणित हो रहा है कि, इसकी अभिव्यक्ति का मनुकेन्द्रानुगत शाश्वतब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध है। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-पितर-असुर-गन्धर्व-पिशाच-यक्ष--राक्षस-आदि आदि चतुर्दशविध **भूतसर्गों (विश्वप्रजाओं)** में से मानवातिरिक्त अन्य सभी प्रजावर्ग जहाँ केवल **'प्राकृतजीव'** मात्र हैं, वहाँ एकमात्र मानव ही **'अप्राकृत-आत्मनिष्ठ-तत्त्व'** है। अतएव केवल इसे ही पञ्चपर्वाध्यक्ष विश्वेश्वर का अन्यतम **प्रतिरूप,** अतएव **'नेदिष्ठ'** माना गया है, जैसाकि-**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर **भगवान्** व्यास के मुखपङ्कज से-**'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि-किञ्चित्'** (महाभारते) यह उदात्त उद्घोष विनिःसृत हुआ है।

अव्ययात्मब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति से पूर्णात्मक प्रमाणित भी इत्थंभूत मानव विगत तीन सहस्र-वर्षों से क्यों उत्तरोत्तर अपने आपको अभावग्रहग्राहग्रस्त मानता आरहा है ?, इस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न के समाधान के लिए इसी स्तम्भ में मानव की अमुकामुक-सापेक्षता-मूला भावुकता से तात्कालिक रूपेण लाभ उठाने की लोककला में चतुर, मानव के उद्बोधक-उन ६ वर्गों के स्वरूपेतिवृत्त का भी विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिनका प्रस्तावना के उपक्रम में हीं संस्मरण किया जाचुका है। मानव के तात्त्विक-स्वरूप-विश्लेषण-पूर्वक प्रस्तुत चतुर्थ, किंवा द्वितीय *'मानवस्वरूपमीमांसा'* नामक स्तम्भ में निम्नलिखित अवान्तर प्रमुख प्रकरणों का समावेश हुआ है—

(क)-मानव का सुखशान्तिमूलक तत्त्वेतिहास, एवं दुःखपूर्ण मानवेतिहास

(ख)-मानवेतिहासमूला युगपरम्परा, और मानव का क्रमिक स्खलन

(ग)-मानवोद्बोधक-नवग्रहग्राहात्मक-नवविध विवेचकवर्गों का इतिवृत्त

(घ)-मानवस्वरूपानुगत--'अहम्' भाव-स्वरूपमीमांसा

(ङ)-मानवस्वरूपानुगता-'पुरुषार्थचतुष्टयी' की स्वरूपमीमांसा

ति-

(३) 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'-नाम की संस्था के द्वारा संस्थान के सम्म[illegible]द्ध होने वाले डाँ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महोदय की भूमिका के साथ स्तम्भद्वयात्मक यह प्रथमखण्[illegible]ोधनात्मक पथ प्रकाशित होगया है।

तदित्थं निष्ठा–मानुकता–शब्दों का तात्त्विक समन्वय करता हुआ, उपर्युक्त पञ्चविध महत्त्वपूर्ण तथ्यों की मीमांसा करता हुआ स्तम्भद्वयात्मक यह द्वितीयखण्ड सहस्राधिक परिच्छेदों के द्वारा अपने वाङ्मय 'काय' मे सम्पन्न हुआ है।

छसौ (६००) पृष्ठात्मक इस द्वितीयखण्ड के साथ दोसौ (२००) पृष्ठात्मक एक-'परिशिष्ट-खण्ड' और समाविष्ट हुआ है, जिसका नामकरण हुआ है 'मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा', जिसमें मानव के प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक–नैष्ठिक–कर्त्तव्यों का ही स्वरूपदिग्दर्शन हुआ है। और यों सकलनधिया आठसौ पृष्ठों में, तथा तीन स्तम्भों में इस द्वितीयखण्डने अवमृथस्नान किया है।

१०१–निबन्ध के तृतीय-खण्ड के सम्बन्ध में (३)—

निबन्ध के इस तृतीयखण्ड का नामकरण हुआ है–'श्वेतक्रान्ति का महान सन्देश'। ज्ञानविज्ञान–समन्विता आचारनिष्ठात्मिका परिभाषाओं के विलुप्त होजाने से अवश्य ही एतादृश नामकरण सामान्य–जनों की दृष्टि में (?) रहे, सस्कृतिमर्मज्ञ विद्वानों की दृष्टि में भी ऊहापोह का जनक बन सकता है। तत्त्वदृष्टि से अनुप्राणित मानव का स्वरूप जिन चार प्राकृतिक भावों से समन्वित, सम्पन्न हुआ है, उन चारों का मानवीय–जगत् में क्रमशः आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, रूपेण नामकरण हुआ है, जैसा कि निबन्ध के द्वितीयखण्डान्तर्गत–'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक स्तम्भ में विस्तार से स्वरूपोपवृंहण हुआ है। ये ही चारों मानवीय पर्व प्रत्येक मानव में प्रकृत्या ही ससिद्ध क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विट्, पौष्ण, (शूद्र), ये चार तत्त्व हैं। मानव का ज्ञानप्रधान, शुद्ध-सात्त्विक आत्मतन्त्र ही ब्रह्म, किंवा ब्राह्मण है। ज्ञानगर्भित क्रियाप्रधान सत्त्व-गर्भित रजोमय बुद्धितन्त्र ही क्षत्र, किंवा क्षत्रिय है। क्रियागर्भित अर्थप्रधान रजोगर्भित तमोमय मनस्तन्त्र ही विट्, किंवा वैश्य है। एवं अर्थगर्भित प्रवर्ग्यप्रधान तमोमय शरीरतन्त्र ही पौष्ण, किंवा शूद्र है। और यों मानव, मानव ही नहीं अपितु प्राणीमात्र प्रकृतिसिद्ध इन चारों ही वर्णों से सहजरूपेणैव नित्य समन्वित हैं, जिनमें कि संस्कारों के तारतम्य से समन्वय-व्यवस्था, किंवा अव्यवस्था होती रहती है (१)।

यही मानव के–'व्यक्तित्व' का संक्षिप्ततम स्वरूप-प्रदर्शन है, जिसके आधार पर ही स्वरूपेण अभिव्यक्त, अतएव अभिव्यक्तित्वलक्षण 'व्यक्तित्व' से समन्वित मानव की परिवारव्यवस्था, समाज-व्यवस्था, तथा राष्ट्रव्यवस्था, एवं तद्द्वारा विश्वमहासमन्वयव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। चतुष्पर्वात्मक मानव का व्यक्तित्व ही परिवार, समाज, राष्ट्र, तीनों की स्वरूप-व्याख्या बनता हुआ विश्वमानवता की स्वरूप-व्याख्या प्रमाणित होरहा है। अपने प्रज्ञापराध (नासमझी) से भ्रान्त मानव प्रकृतिसिद्धा इस व्यवस्था-चतुष्टयी में अपनी मानुकता का समावेश करता हुआ कुछ समय के लिए, किंवा लम्बे समय के लिए अव्यवस्था अवश्य ही उत्पन्न कर सकता है, कर रहा है आज। किन्तु कदापि इस प्रकृतिसिद्धा व्यवस्था का आत्यन्तिक भी मूलोच्छेद सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसी चतुष्टयी के द्वारा विश्व का, एवं विश्वमानव का स्वरूप–'धाता-यथापूर्वमकल्पयत्' रूपेण प्रक्रान्त है।

चतुष्पर्वात्मक 'व्यक्तिमानव' का सत्त्वानुगत आत्मतन्त्र ही परिवारसंस्था में कुलवृद्ध का स्थान ग्रहण (करता है)। सत्त्वरजोऽनुगत बुद्धितन्त्र ही इस संस्था में 'समर्थयुवापुत्र' का, रजस्तमोऽनुगत मनस्तन्त्र ही

१ – विशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च। (वसिष्ठस्मृति)

'नारीतन्त्र' का, एवं तमोऽनुगत शरीरतन्त्र ही 'बालतन्त्र' का स्थान ग्रहण करता है। मानवव्यक्ति में जो स्थान आत्मा, बुद्धि, मन, एवं शरीर, का है, मानवपरिवार में वही स्थान कुलवृद्ध–समर्थयुवापुत्र–नारी–तथा बालवृन्द का है। यही व्यवस्थाचतुष्टयी मानव के सामाजिक-जीवन की व्यवस्था का आधारस्तम्भ बनती है। आत्मानुगत कुलवृद्ध ही समाजव्यवस्था में ब्राह्मणवर्ग है, बुद्ध्यनुगत समर्थयुवा ही अत्र क्षत्रियवर्ग है, मनोऽनुगता नारी ही अत्र वैश्यवर्ग है, एवं शरीरानुगत बालवृन्द ही अत्र 'शूद्रवर्ग' है। और यही भारतीय प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वह मूलेतिवृत्त है, जिसके आधार पर ही इसके राष्ट्रतन्त्र में भी चार प्रकार के ही शासनतन्त्र व्यवस्थित होते आए हैं आदिकाल से ही।

व्यक्तितन्त्रानुगत आत्मभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत कुलवृद्धभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत ब्राह्मणभाव ही 'नीतितन्त्रात्मक' शासनतन्त्र की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है। तथैव व्यक्तितन्त्रानुगत बुद्धिभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत समर्थयुवापुत्रभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत क्षत्रियभाव ही 'राज–तन्त्रात्मक' शासनतन्त्र की, एवमेव व्यक्तितन्त्रानुगत मनोभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत नारीभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत वैश्यभाव ही 'गणतन्त्रात्मक' शासनतन्त्र की, तथा व्यक्तिनिबन्धन शरीरभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत बालभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत शूद्रभाव ही 'प्रजातन्त्रात्मक' शासनतन्त्र की प्रतिष्ठाभूमि बना रहता है। तदित्थं प्रकृतिसिद्ध त्रैगुण्य-से अनुप्राणिता मानवीया पर्व–चतुष्टयी ही मानव के अथ से इति पर्य्यन्त के चिरन्तन इतिवृत्त की आधारभूमि प्रमाणित होरही है, जिसकी आत्मा–कुलवृद्ध–ब्राह्मण–नीतितन्त्रानुगता प्रथमपर्वचतुष्टयी सत्त्वप्राधान्य से 'श्वेतवर्णात्मिका' मानी गई है। बुद्धि–समर्थपुत्र–क्षत्रिय– राजतन्त्रानुगता द्वितीया पर्वचतुष्टयी सत्त्व–रजः–साम्य से–'रक्तवर्णात्मिका' मानी गई है। मन–नारीवृन्द–वैश्य–गणतन्त्रानुगता तृतीया पर्वचतुष्टयी रजःस्तमः–प्राधान्य से–'पीत–वर्णात्मिका' मानी गई है। एवं शरीर–बालवृन्द–शूद्र–प्रजातन्त्रानुगता चतुर्थी पर्वचतुष्टयी तमःप्राधान्य से 'कृष्णवर्णात्मिका' मानी गई है। इसी प्रकृतिसिद्धा तत्वचतुष्टयी के आधार पर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्यग्रन्थ महाभारत में चारों वर्णों को क्रमशः श्वेत–रक्त–पीत–कृष्ण, वर्णात्मक ही बतलाया है, जिनका वर्णभाग केवल सत्त्वरज–स्तमोगुणादि से ही परिलक्षित है, न कि रँगात्मक वर्णों से।

चतुष्पर्वा मानव का स्वरूपनिर्म्माण जिस सम्वत्सरप्रजपति से हुआ है, उसमें भूपिण्डानुगत पार्थिव सम्वत्सर, चन्द्रानुगत चान्द्रसम्वत्सर, एवं सूर्य्यानुगत सौरसम्वत्सर, इन तीन सम्वत्सरचक्रों का समन्वय होरहा है। अपने 'अक्षवृत्त' पर परिभ्रममाण भूपिण्ड के चारों ओर अपने 'दक्षवृत्त' के आधार पर चन्द्रमा परिक्रममाण है। एवं सचन्द्र–यह भूपिण्ड 'क्रान्तिवृत्त' के आधार पर सूर्य्य के चारो ओर परिक्रमा लगा रहा है। क्रान्तिवृत्तानुबन्धिनी 'क्रान्ति' के आधार पर ही प्रकृतिसिद्ध 'अश्वमेधयज्ञ' का स्वरूप–सम्पन्न हुआ है। इसी क्रान्तिपरिवर्त्तन के माध्यम से मानवीय पर्वों में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहे हैं। अतएव श्वेतादि भावनिबन्ध परिवर्त्तनों को विज्ञानभाषा में अवश्य ही–'श्वेतक्रान्ति–रक्तक्रान्ति–पीतक्रान्ति–कृष्णक्रान्ति–नामों से व्यवहृत किया जासकता है। आत्मानुगता विचारक्रान्ति ही श्वेतक्रान्ति है, जिसका सत्त्वगुण से ही सम्बन्ध है, यही ज्ञानविज्ञानात्मिका 'ब्राह्मणक्रान्ति' है। इस के तात्त्विक, तथा आचारात्मक, उभयविध स्वरूपेति-वृत्त के यशोगान के लिए ही निबन्ध का एतन्नामक तृतीय–खण्ड–उपनिबद्ध हुआ है।

द्वितीयखण्ड के–'मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा' नामक प्रकरण के अनन्तर ही उपनिबद्ध होने वाले तृतीयखण्ड के द्वारा भारतीय मानव का ध्यान दिग्देशकालानुबन्धी युगधर्म्माक्रान्त जिस उद्बोधनात्मक पथ

की ओर आकर्षित करा देना अनिवार्य्य माना गया है, तल्लक्ष्यसिद्धि के लिए ही इस खण्ड में निम्न लिखित अवान्तर पाँच स्तम्भों का समावेश हुआ है—

(१)-भारतीय धर्म्म, तथा नीति का स्वरूप-परिचय, एवं मुक्त-प्रक्रान्ता राष्ट्रीयप्रगति का संक्षिप्त इतिवृत्त
(२)-अभिनव-स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के उद्बोधन के लिए 'श्वेतक्रान्ति' का महान् सन्देश
(३)-रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य-साम्यवाद (अर्थसाम्यवाद), तथा श्वेतक्रान्तिमूलक प्राच्य (भारतीय) साम्यवाद (आत्मसाम्यवाद) का नीर-क्षीर-विवेक
(४)-श्वेतक्रान्ति का घोषणापत्र
(५)-पुरातन भारतीय राष्ट्रमानव की चिरन्तना राष्ट्रनिर्म्माणपद्धति, एवं उसकी अलौकिक, तथा लौकिक कामनाओं का चिरन्तन इतिवृत्त

पञ्चस्तम्भात्मक, एवं चारसौ (४००) पृष्ठात्मक इस तृतीय खण्ड के ही शेषभूत, तीनसौ (३००) पृष्ठात्मक 'परिशिष्ट-खण्ड' का सङ्कलन हुआ है, जिस में श्वेतक्रान्तिघोषणामीमांसा, तथा 'स्वतन्त्रराष्ट्र-कामनामीमांसा' नामक दो स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं। तदित्थं सप्त स्तम्भात्मक, तथा सातसौ पृष्ठात्मक इस 'श्वेतक्रान्तिसन्देश' नामक तृतीय खण्ड में पर शत ज्ञान-विज्ञानात्मक तात्त्विक विषयों के माध्यम से ही भारतीय मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा का स्वरूप-समन्वय समाविष्ट हुआ है। हमारी न केवल ऐसी मान्यता ही है, अपितु दृढतमा आस्था है कि, बिना इस 'श्वेतक्रान्ति' के सन्देशप्रसार के अन्य प्रयत्न-सहस्रों से भी त्रिसहस्र-वर्षात्मिका सर्वनाशकारिणी भावुकता के वारुण-पाश से सर्वात्मना-परिग्रह-सम्पन्न भी भारतराष्ट्र कदापि उन्मुक्त नहीं होसकता। प्रतीच्यदासता के पदचिह्नों का आवेशपूर्वक अन्धानुकरण करती आरहीं वर्त्तमान अभिनव-प्रजाओं के मानस में जितना भी शीघ्र यह सन्देश अन्तर्य्यामसम्बन्ध से सञ्चित होजाय, इसी में राष्ट्र के वर्त्तमान, तथा भविष्य का अभ्युदय है।

१०२-निबन्ध के चतुर्थखण्ड के सम्बन्ध में (४)—

स्वयं चतुर्थखण्ड ही दिग्देशकालप्रेमी पाठकों के सम्मुख प्रस्तभाव से उपस्थित होरहा है। अतएव इसके सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से कुछ भी निवेदनीय नहीं रह जाता। निबन्धानुगत खण्ड-सन्दर्भ-सङ्गति की दृष्टि से यही प्रासङ्गिक निवेदन कर देना अलं होगा कि, सत्तामापेक्षतामूला राजन्यभावात्मिका जिस भावुकता का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस भावुकता को निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से प्रक्रान्त बनाए रखने में अन्यान्य ज्ञात-अज्ञात-पर शत सामान्य विशेष कारण-परम्पराओं के समतुलन में सर्वमूर्द्धन्य, एवं प्रमुख-कारण 'दिग्देशकाल' ही बनते आरहे हैं।

भावुकतावश स्वदोषों को परक्षेत्रों के प्रति ही सतत्यवाद समर्पित करते रहने जैसी जघन्यतमा मलीमसा कला में परमनिष्णात भारतीय हिन्दूमानव अपने सभी दोषों को मुख्यरूप से दिग्देश-कालात्मक युगधर्मों से ही अनुप्राणित करता आरहा है तथोक्ता अवधि से। सम्पूर्ण तथ्यों के नीर-क्षीर-विवेक कर लेने के अनन्तर भी ऐसा देखा गया है, सुना गया है, एवं स्वयं भी अनेक बार अनुभव किया गया है कि, मानव अन्ततोगत्वा

इन्ही दिग्देशकाल–महिमा का यशोगान करता हुआ मूलनिष्ठापथ को ऋजुतापूर्वक अनुगमनीय मानने से तटस्थ ही बना रह जाता है। सचमुच दिग्–देश–काल–त्रयी का स्वरूप अत्यन्त ही दुरधिगम्य, अतएव अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए निरतिशयरूपेण व्यामोहक ही बना हुआ है।

जिसप्रकार उक्थासदविद्या–अर्क्यविद्या–परिमरविद्या–पर्य्यङ्कविद्या–उद्गीथविद्या–चाक्षुपपुरुष–विद्या–दहरपुण्डीरविद्या–अश्वत्थविद्या–तानूनप्त्रविद्या–शवसोनपाद्विद्या–विराड्विद्या–आदि आदि ज्ञानविज्ञानात्मिका, आचारसमन्विता परःशत विद्याएँ पारिभाषिक–तत्त्वबोधाभाव से विगत तीन सहस्र–वर्षों से उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही बनती आरहीं हैं भारतीय–विद्वत्प्रज्ञाओं से, तथैव दिग्देशानुगता महत्त्वपूर्णा 'काल–विद्या' भी पराःपरावता ही बनी हुई है, जिसे तत्त्वभाषा में–'कालाश्वविद्या' भी कहा जासकता है। इस विद्या की विलुप्ति का ही यह दुष्परिणाम हुआ है कि, भारतराष्ट्र काल के वास्तविक स्वरूप से अपनी प्रज्ञा को पराङ्मुख रखता हुआ उस 'दिग्देशकालत्रयी' का ही उपासक बनता आरहा है तीन–सहस्र–वर्षों से, जो कि व्यक्ता–मूर्त्ता–दिग्देशकालत्रयी मानवेतर कृमि–कीट–पक्षी–पश्वादि प्राणीजगत् का ही सञ्चालन करती रहती है। आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव दिग्देशकालातीत, अतएव च अप्राकृत सनातन मानव को कदापि व्यक्त दिग्देशकालत्रयी प्रभावित नही कर सकती। यदि यह इस से प्रभावित होजाता है, तो यह उस अवस्था में तत्प्रभावानुगामी मनःशरीरमात्रोपजीवी पशुजगत् की श्रेणि में हीं समाविष्ट होजाता है।

जहाँतक हमारे प्रयास की सीमा है, राष्ट्रभाषा (हिन्दी, हिन्दूस्तानी नहीं) में हीं नही, अपितु वर्त्तमान विद्वत्समाज के आराध्य नव्यन्याय–व्याकरण–साहित्य–आदि संस्कृतग्रन्थों में भी हमें दिग्देशकाल की तात्त्विक-स्वरूप–मीमांसा अद्यावधि (सम्भवतः हमारे दृष्टिदोष से ही) उपलब्ध नहीं होसकी है। यदि किसी ग्रन्थ मे मीमांसा हुई होगी, तो वह ग्रन्थकर्त्ता का ही अनुरञ्जन कर रही होगी। रही बात प्रतीच्यजगत् की, सो तत्स-म्बन्ध में अपनी निरक्षरमूर्द्धन्यमूला अज्ञता से हम कुछ भी निवेदन नही करसकते। हमारे एक स्थानीय मित्रश्रेष्ठने अनुरोध किया था कि, "पश्चिमजगत् ने टायम (काल)–स्पेश (दिक्) और मेटर (देश) के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, उनका भी संक्षेप से इस निबन्ध मे समावेश होना चाहिए"। किन्तु सम्भवतः हम अपने ही दोष से उस अनुरोध में सफलता इसलिए नहीं प्राप्त कर सके कि,—

हमारी ऐसी आस्था है कि, दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म की अपरिच्छिन्ना-अखण्डा-चित्सत्ता के आधार पर प्रतिष्ठित भारतीय तत्त्ववाद का पारिभाषिक दृष्टिकोण केवल भूतानुगत प्रतीच्य दृष्टिकोण के साथ कदापि समन्वित नहीं होसकता। परब्रह्म के परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर नामक सनातन महिमाभावों से सर्वात्मना समतुलित अर्द्धमात्रा-अकार-उकार-मकारात्मक, स्फोट-वर्ण-समन्वित, नित्यशब्दब्रह्म की प्रकृति-प्रत्यय–उपसर्ग–निपातादि–ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं से अनुप्राणित मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अपौ-रुपेय शब्दों के तथाविध ही प्राणप्रधान अर्थों के साथ प्रतीच्यभाषा के यदृच्छाभावात्मक, सङ्केतभावापन्नमात्र लौकिक शब्दों का कैसा, क्या समन्वय–समतुलन होगा ?, और कैसे होगा ?, प्रश्न हमारी वेदाभ्यासजड़प्रज्ञा के लिए तो अनतिप्रश्न ही प्रमाणित होरहे हैं। जिसप्रकार भारतीय संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के रहस्यात्मक पारिभाषिक शब्दार्थों का प्रतीच्यभाषा के कल्चर, और सिविलाइजेशन शब्दो के साथ स्वाप्निक सम्पर्क

भी नहीं है, हम समझते हैं--'अप्सरसो वै दिशः'-'अग्निर्भूः स्थानं'-'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि रहस्यपूर्ण परिभाषाओं से अनुप्राणित दिक्-देश-काल-शब्दों का भी प्रतीच्यभाषा के स्पेश-मेटर-टायम आदि साङ्केतिक-शब्दों का कोई विशेष सम्पर्क नहीं ही होगा। फिर हम अपरिचित भी हैं इस प्रतीच्यभाषा के मर्म से।

अवश्य ही इसे हम अपना महत्सौभाग्य ही मानते हैं कि, किसी जन्मान्तरीय संस्कारानुग्रह से ही हम प्रयास करते हुए भी इस प्रतीच्यभाषा-बोध का अद्यावत्‌ निग्रहात्मक अनुग्रह नहीं प्राप्त करसके। यदि ऐसा अनुग्रह प्राप्त कर लिया जाता, तो निश्चयेन हम भी सत्तासापेक्षतामूला तथाकथिता भावुकता के वारुणपाश में आबद्ध होते हुए उसीप्रकार वर्त्तमान अमुक आयोजनों को ही 'सांस्कृतिक-आयोजन' प्रमाणित करने लग पड़ते, जिन आज के इन अमुक नृत्यगानादिव्यामञ्जनात्मक कल्पित आयोजनों का न तो भारतीय संस्कृति से ही कोई समन्वय है, न सभ्यता से ही। तथ्य तो इस दिशा में यही निष्ठापूर्ण माना जायगा कि, सर्वप्रथम हमें अपनी उस मूलनिधि का ही इसी निधि की परिभाषाओं के माध्यम से चिन्तन-मनन-स्वाध्याय ही करना चाहिए।

तथोक्त समन्वय का तो अभी अवसर ही नहीं आया है, जबकि भारतीय मूलनिधि की ज्ञानविज्ञानात्मिका स्वाध्याय-परम्परा अनेक शताब्दियों से अन्तर्मुख ही बनती चली आरही है। ऐसी विजड़िता-अवस्था में समन्वय-समतुलन के लिए व्यग्र हो पड़ने का तो यही अर्थ होगा, जैसेकि प्रतीच्यभाषा के-'सायंस' शब्दाकर्षण से प्रभावित होपड़ने वाले अमुक भारतीय वेदभक्त वैदिक शब्दों के अनुकरणात्मक-काल्पनिक-तोड़ तोड़ बैठाते हुए वेदशास्त्र को भी वर्त्तमान भूतविज्ञानवत् तार-टेलीफोन-आदि का ही निरूपक मानने, और मनवाने के लिए व्यग्र बनते आरहे हैं। आलम्यालम्।

निवेदन निष्कर्ष यही है कि, केवल भारतीय शास्त्र (वेदशास्त्र) की मौलिक परिभाषाओं के आधार पर ही हमने 'दिग्देशकाल' जैसे दुर्बोध्य तत्त्व की मीमांसा का साहस, किंवा अक्षम्य धृष्टता करली है, जिसका परमान्यताओं से-'न त्वद् तेषु, ते मयि' न्याय से यत्किञ्चित् भी समन्वय नहीं है। 'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि०' अथर्वसंहिता के इत्यादि सुप्रसिद्ध दोनों कालसूक्तों के-अश्व, सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर, भूरिरेता, चक्र, भुवनानि, किरण, नाभि, अक्ष, पूर्णकुम्भ, परमव्योम, तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म, स्वयम्भू, कश्यप, गन्धर्वाप्सरस, आदि आदि अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से ही 'दिग्देश-काल-मीमांसा'-स्वरूप-सङ्कलन का प्रयास हुआ है।

आठसौ (८००) पृष्ठानुपात से कृतशरीरी इस चतुर्थखण्ड में प्रमुखरूप से-दिग्देशकालानुगत पारिभाषिकप्रकरण, (२)-अथर्ववेदीय कालसूक्तार्थमात्र-समन्वयप्रकरण, एवं(३) दिग्देशकालानुबन्धी आचारात्मक प्रकरण, रूप से प्रकरणात्मक तीन स्वतन्त्र स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनके स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए तदनुगता विस्तृत-विषयसूची ही पर्याप्त मान ली जायगी।

उक्त चतुर्थखण्ड के अनन्तर इसी चतुर्थखण्ड का एक परिशिष्टखण्डात्मक स्वतन्त्र खण्ड और है, जिस में क्रमशः (१)-प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा (अनुमानतः ३०० पृष्ठों में), (२)-योग-क्षेम--

स्वरूपमीमांसा (अनुमानतः २०० पृष्ठों में), एवं (३) निष्ठा-भावुकतानुगत-लोकसूत्र-स्वरूपमीमांसा (अनुमानतः ३०० पृष्ठों में), ये तीन स्वतन्त्र स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं । प्रास्तविक विस्तृत होता जारहा है । अतः इस अन्तिम परिशिष्टखण्ड की स्तम्भत्रयी के स्तम्भ–नाममात्र पर ही हमें उपरत होजाना चाहिए ।

तदित्थं-चार स्वतन्त्र खण्डों में, तथा तीन परिशिष्ट खण्डों में, एवं संकलनधिया ३६०० (तीन हजार छह्सौ) पृष्ठों में–'भारतीय-हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है, और यही इस 'राष्ट्रीय-निबन्ध' का भौतिक-बाह्य-स्वरूप-परिचय है, जिसका तालिकारूपेण निम्न लिखित समन्वय किया जासकता है ।

"भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता"

नामक

खण्डचतुष्टयात्मक-उद्बोधक-सामयिक निबन्ध की रूपरेखा

(१)-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड (स्तम्भद्वयात्मक)

५०० पृष्ठात्मक {
१–असदाख्यानस्वरूपमीमांसा (प्रथमस्तम्भ) (१)
२–विश्वस्वरूपमीमांसा (द्वितीयस्तम्भ) (२)

१

—※—

(२)-'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीयखण्ड (स्तम्भद्वयात्मक)

६०० पृष्ठात्मक {
१–निष्ठा–भावुकतास्वरूपमीमांसा (प्रथमस्तम्भ) (३)
२–मानवस्वरूपमीमांसा (द्वितीयस्तम्भ) (४)

※–द्वितीयखण्डानुगत–परिशिष्टखण्ड २०० पृष्ठात्मक

मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा'–नामक

(३)–'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीयखण्ड
(पञ्चस्तम्भात्मक)

४०० पृष्ठात्मक

१–भारतीय धर्म्म, तथा नीति का स्वरूप परिचय, एवं भुक्त-प्रक्रान्ता राष्ट्रीय-प्रगति का संक्षिप्त इतिहास (प्रथमस्तम्भ) (५)

२–अभिनव स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के उद्बोधनार्थ श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश (द्वितीयस्तम्भ) (६)

३–रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य-साम्यवाद, तथा श्वेतक्रान्तिमूलक प्राच्य (भारतीय) साम्यवाद का नीर-क्षीर-विवेक (तृतीयस्तम्भ) (७)

४–श्वेतक्रान्ति का घोषणापत्र (चतुर्थस्तम्भ) (८)

५–पुरातन भारतीय राष्ट्रमानव की चिरन्तना राष्ट्रनिर्म्माण-पद्धति, एवं उसकी अलौकिक, तथा लौकिक कामनाओं का चिरन्तन इतिवृत्त (पञ्चमस्तम्भ) (९)

*–तृतीयखण्डानुगत परिशिष्टखण्ड ३०० पृष्ठात्मक

*–श्वेतक्रान्तिघोषणामीमांसा

*–स्वतन्त्रराष्ट्रकामनामीमांसा

३

—*—

(४)–'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक चतुर्थखण्ड
(स्तम्भत्रयी से समन्वित)

२०० पृष्ठात्मक

१–दिग्देशकालानुगत पारिभाषिक-स्तम्भ (प्रथमस्तम्भ) (१०)

२–सूक्ताद्यर्थमात्रसमन्वय-स्तम्भ (द्वितीयस्तम्भ) (११)

३–दिग्देशकालानुबन्धी-आचार-स्तम्भ (तृतीयस्तम्भ) (१२)

❀-चतुर्थखण्डानुगत परिशिष्ट--८०० पृष्ठात्मक

※-प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा

※-योगक्षेम-स्वरूप-मीमांसा

※-निष्ठा--भावुकता-सूत्रस्वरूप--मीमांसा

४

——※——

सोऽयं-खण्डचतुष्टयात्मकः-३६०० पृष्ठात्मकः-सामयिक-उद्बोधनात्मकः-

'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'

नामकः

सामयिक--निबन्धः

——※——

१०३--शास्त्रतत्त्वमात्रभक्त विद्वानों का सामयिक परितोष, तत्त्वचिन्तनमूला सर्वनिरपेक्षा चिन्तननिष्ठा की महती उपयोगिता, एवं सर्वनिरपेक्षता ही तच्चिन्तन में सम्भाविता सफलता—

श्रुतिसिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्ववाद के प्रति ही अपनी निष्ठाएँ समर्पित करते रहने वाले शास्त्रमात्र-भक्त सांस्कृतिक-विद्वानों के मानस-परितोष के लिए भी उक्त उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के सम्बन्ध में प्रसङ्गधिया किञ्चिदिव निवेदन कर देना हम अत्र अनिवार्य्य मान रहे हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से पराङ्मुख बनते आरहे श्रुतिसिद्ध-ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्व के उपासक साहित्य-सेवी को इस दिशा में आंशिक-सफलता भी उसी अवस्था में उपलब्ध होसकती है, जबकि वह दिगदेशकालानुबन्धिनी न केवल सामाजिकी, राष्ट्रीया, एवं विश्वानुबन्धिनी समा-विषमा-भूत-भौतिकी, तथा समाजनीति-राष्ट्रनीतिलक्षणा राजनीति, विश्वनीतिलक्षणा अन्तर्राष्ट्रीयनीति आदि आदि लोक व्यासङ्गों से ही अपने आपको निरपेक्ष-तटस्थ बनाए रहे, अपितु यथाशक्य अपनी पारिवारिकी-व्यवस्थाओं से भी अपने आपको निरपेक्ष, तथा तटस्थ ही प्रमाणित करता रहे। गुहानिहिता इस ऐकान्तिकी चिन्तन-स्वाध्यायनिष्ठा के माध्यम से ही विलुप्तप्राया, विस्मृतप्राया इस ज्ञानविज्ञानविधि का आंशिक-बोध प्राप्त किया जासकता है।

१०४--पराश्रयमूला भावुकता से ही सांस्कृतिक-निष्ठा से पराङ्मुखता, एवं तत्स्वरूप-विश्लेषण—

अन्यथा पुत्रैषणामूलिका वित्तैषणा के समुत्तेजक पारिवारिक-व्यासङ्ग-व्यामोहन, वित्तैषणा गर्भिता लोकैषणा के समुत्तेजक सामाजिक-व्यामोहन, एवं केवल लोकैषणा के समुत्तेजक राष्ट्रीय, और अन्तर्राष्ट्रीय व्या-

मोहन आजके भयावह लोकलिप्सात्मक युग में क्षणमात्र के लिए भी संस्कृतिनिष्ठ,स्वाध्यायनिष्ठ, साहित्यसेवी को चिन्तनशील नहीं बने रहने दे सकते। आज ही नहीं, हम समझते हैं–सदा से ही ज्ञानविज्ञान के इस रहस्य-पूर्ण स्वाध्याय-चिन्तन-क्षेत्र के लिए तो तदुपासक के सम्बन्ध में स्वयं शास्त्र के द्वारा भी गुहानिहितवृत्ति ही प्रमुख बनी रही होगी। तभी तो –'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्य. स्यात्, तत्-तदेवावक्लृप्तम्' जैसी विस्पष्टभाषा में ब्रह्म (तत्त्व) के उपासक ब्राह्मण के लिए तो सत्तानिरपेक्षालक्षणा, अतएव सर्वनिरपेक्षात्मिका तटस्थता ही व्यवस्थित हुई है। और यह भी सुनिश्चित है कि, इस माङ्गलिकी व्यवस्था की उपेक्षा करते रहने वाले त्रिसहस्रवार्षिक भारतीय ब्राह्मण की पराश्रयमूला अमुकामुक–सापेक्षताओं ने ही इस की मूलनिधि से इसे परा-ङ्मुख ही बनाए रक्खा है। और इसी तथ्य के आधार पर हमें भी अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, स्वाध्यायनिष्ठा के संरक्षणानुबन्ध से हमें भी दिग्देशकालानुबन्धिनी पारिवारिकी–सामाजिकी–राष्ट्रीया, किंवा अन्तर्राष्ट्रीया, आदि आदि किसी भी समस्या के प्रति कदापि आकर्षित नहीं होना चाहिए।

१०५-जरामर्य्यसत्रानुगता हमारी निरपेक्षा साहित्याराधना के सम्बन्ध में विद्वानों से किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन—

अन्तरात्मा को ही साक्षी मानते हुए हम यह निवेदन कर देने में यत्किञ्चित् भी सङ्कोच का अनुभव नहीं कर रहे कि, स्वाध्यायकाल से आरम्भ कर वर्त्तमान क्षण पर्य्यन्त की साहित्योपासनावधि में हमने प्रयासपूर्वक ही तथाकथित सभी सापेक्षताओं से आत्मपरित्राण का ही प्रयास प्रक्रान्त रक्खा है। एवं एकमात्र इसी परित्राण के अनुग्रह से त्रिंशत् [३०] वर्षावधि के भुक्त स्वाध्यायकाल में हमने शतपथ-उपनिषत्-गीता-पुराण-स्मृति-आगम आदि आदि शास्त्रीय शब्दों के ही मनन निदिध्यासनादि के चिन्तनपथ का अनुगमन प्रक्रान्त रक्खा है, जिसके परिणामस्वरूप ही इन शब्दों की तन्मौलिक ग्रन्थों के आधार पर ही अशीतिसहस्रपृष्ठात्मिका शब्द-राशि-समन्वित हो सकी है। यही सनातनक्रम आज भी प्रक्रान्त है, एवं जरामर्य्यसत्रवत् जीवनपर्य्यन्त प्रक्रान्त ही रहेगा। नात्यत्र सन्देहलेशावसर।

१०६-'उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धों' के सम्बन्ध में सापेक्षता की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

ऐसी स्थिति में—प्रत्यक्षप्रमाणमूला भावुकता से आकर्षितान्तःकरण सांस्कृतिक विद्वान् हमें यह मान लेने के लिए क्या विवश नहीं कर सकते कि, "भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'—'श्वेत-क्रान्ति-का महान् सन्देश'—'संस्कृति, और सभ्यता का चिरन्तन इतिवृत्त'—'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' आदि आदि उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धों की अभिव्यक्ति करते हुए हम समाज-राष्ट्रादि व्यामोहों में आसक्त होते हुए अपनी मूल ज्ञानविज्ञानचिन्तन निष्ठा से पराङ्मुख ही होते जा रहे हैं" ?। सम्भवतः ही क्या, निश्चयेन इन निबन्धों के-'सामयिक'–'उद्बोधनात्मक'–'महान् सन्देश'–सांस्कृतिक-आयोजन'–'हिन्दू–मानव'–'भावुकता' 'सभ्यता'-इतिवृ.' आदि आदि अभिधानुगत शब्दों के आधार पर ही हमारे अमुक वेदभक्त सहयोगी ऐसा कुछ मान बैठे होंगे कि,-हमने भी दिग्देशकालात्मक-प्रवाह में प्रवाहित होते हुए स्वाध्यायानुगता-ज्ञान-विज्ञान-चिन्तनधारा को जलाञ्जलि समर्पित कर किसी लोकैषणा के, अथवा तो वित्तैषणा के आकर्षण से ही इस प्रवाहित-पथ को अपना लिया है, इति नु सर्वथा अनह्वाणयमेव!

१०७–सांस्कृतिक–अधःपतन के सम्बन्ध में विद्वानों से कतिपय सामयिक-प्रश्न, एवं तदद्द्वारा हमारा निःसीम उत्पीड़न—

क्या समाधान है इस 'अब्रह्मण्यमेव' का ?, इसी प्रश्न के समन्वय के लिए हमें इस अप्रिय, किन्तु अनिवार्य्य प्रसङ्ग का उपक्रम करना पड़ रहा है। श्रुति–स्मृति–पुराणादि–आगमसिद्धा ज्ञानविज्ञाननिष्ठा, एवं तदनुगता तत्त्वमीमांसा के आलोडन–विलोडन में, हम समझते हैं, विगत तीन सहस्रवर्षों में प्रतिभासम्पन्न सुविख्यातनामा भारतीय विद्वानों की ओर से न्यून प्रयास नहीं हुआ है। वेदों की प्रामाण्यनिष्ठा, स्मार्त्त आचारोद्घोष, पौराणिक कथाव्यासङ्ग, आगमीया–तत्त्वानुगति, आदि आदि सभी तो शास्त्रीय क्षेत्र तदवधि में उपास्य रहे हैं विद्वानों के लिए। इन सब वाग्विजृम्भणों के विद्यमान रहते हुए भी क्यों भारतराष्ट्र का पारम्परिक पतन हुआ ?। और आज जैसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतराष्ट्र में तो वह सांस्कृतिक-अधःपतन क्यों चरम सीमा का ही अनुगामी बन गया ?, क्या ये प्रश्न समाहित होसके हैं शास्त्रभक्त विद्वानों के द्वारा ?। क्या शास्त्रने केवल तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त इन अनिवार्य्य प्रश्नों की कोई मीमांसा नहीं की ?। क्या भारतीय श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों का सुसूक्ष्म प्राणात्मक विवर्त्तों से अनुप्राणित केवल मानसिक, अधिक से अधिक बुद्धिवादात्मक बौद्धिक-चिन्तन के अतिरिक्त और कोई आचारात्मक-व्यावहारिक लक्ष्य कभी रहा ही नहीं ?, क्या भारतीय सांस्कृतिक तात्त्विक-शास्त्र के साथ विश्वेश्वर प्रजापति के महिमामय, सत्यं-शिवं–सुन्दरं–लक्षण पाञ्चमहाभौतिक प्रत्यक्षदृष्ट इस विश्व से अनुप्राणिता अभ्युदयसिद्धि के व्यावहारिक प्रकारों से कदापि कोई भी सम्बन्ध नही रहा ?, इन्हीं कतिपय प्रश्नोंने सहसा हमें उत्पीड़ित कर दिया, जो कि उत्पीडन उत्तरोत्तर निःसीम ही बनता जारहा है भारतराष्ट्र के त्रिसहस्र–वार्षिक पतन को देख सुन कर।

१०८–केवल तत्त्वभक्त विद्वानों की ही राजन्यवृत्ति, किंवा सत्ताश्रयता का नग्नचित्रण—

निःसन्देह शास्त्र का दार्शनिक पक्ष जहाँ गच्छतः स्खलन–रूपेण भारतीय प्रजा के लिए उक्त अवधि में केवल वाग्विलापनरूपेण अनुरञ्जनमात्र का ही साधक बना रहा, वहाँ तदनुगता आचारष्ठिात्मिका कर्त्तव्य-निष्ठा की दृष्टि से शास्त्रैकशरणता का उद्घोष करने वाले सांस्कृतिक विद्वानों की दृष्टि दिग्देशकालानुगता–सत्तासम्यताओं के द्वारा आविष्कृत काल्पनिक आचाराभासो की ही अनुगमिनी बनती रही, और बनी हुई हैं आज तो विशेषरूपेण। सहजभाषा में हमें यह स्पष्ट कर देने में भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होरही कि, जिन एतद्देशीय विद्वानोंनें सत्तासापेक्षता से तटस्थ मानने की उच्चघोषणाएँ कीं हैं, वे ही संस्कृति–साहित्य–धर्म्म आदि के व्याज (छल) से तथाविधा सत्तासापेक्षताओं के प्रचण्ड समर्थक बनते हुए शास्त्र की सहजसिद्धा तत्प्रतिनिरपेक्षता का अभिभव ही करते आरहे हैं।

१०९–शास्त्रतत्त्वमात्रासक्त इन भारतीय विद्वानों की निरपेक्षता का प्रच्छन्न रहस्य, निरपेक्षतानुगता इन की 'राजभक्ति', और ब्रिटिशराज्य के यशोगानकर्त्ता हमारे ये राष्ट्रीय-विद्वान्—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। सुनते हैं–ब्रिटिशसत्तातन्त्रयुग में धर्म्मनिष्ठ ? भारतीय विद्वानों की यह प्रचण्ड घोषणा थी कि,–'**हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है**'। उधर तत्सत्तातन्त्र भी–'ब्रिटिशराज्य

किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता' इस व्यामोहनात्मिका, सर्वथा प्रतारणात्मिका घोषणा का अनुगामी बना हुआ था। लोकनिष्ठाकुशल ब्रिटिशराज्य की 'धर्मनिरपेक्षता' जहाँ दिग्देशकालिक-व्यामोहनात्मक राजनैतिक-प्रलोभनों, स्वार्थों की तात्कालिकरूपेण सरक्षिका बनती हुई अमुक दृष्टि से कुछ सामयिक अर्थ रखती थी, वहाँ विद्वानों की सत्तानिरपेक्षता-राष्ट्रव्यवस्था-निरपेक्षता, एवं तदनुगता समाजादि निरपेक्षता-आदि के गर्भ में तो प्रचण्ड वैधी 'राजभक्ति' ही पुष्पित पल्लवित होती रहती थी, जिस के संरक्षण के लिए ही जहाँ तच्छासनयुग में प्रायः भारतराष्ट्र के सभी वर्ग 'राष्ट्रस्वातन्त्र्ययज्ञ' में येनकेनरूपेण योग प्रदान करना अपना धर्म मान रहे थे, वहाँ भारतीय धर्म का महान् प्रतिनिधि ? शास्त्रभक्त, सत्तानिरपेक्ष ?, केवल तत्त्वमीमांसक ? हमारा तथाकथित विद्वद्वर्ग तो सामन्तसत्तानुगत ब्रिटिशसत्तातन्त्र के यशोगान में ही तल्लीन बना हुआ था।

११०-लोक-वित्तैषणा-समन्विता भावुकता से अनुप्राणित विद्वद्वर्ग, एवं केवल निरपेक्ष-तत्त्वचिन्तन के उद्घोषक भी इस वर्ग की तत्त्वनिष्ठा, तथा आचारनिष्ठा से आत्यन्तिक-पराङ्मुखता—

युगधर्मानुगता वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के, किंवा लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के, अथवा तो विशुद्धा ही लोकैषणा के गर्त्त में आपाद-मस्तक निमज्जित हमारे देश के इस विद्वद्वर्गने ही तत्तत्सत्तातन्त्रों की दिग्देशकालनिबन्धना मान्यताओं को शास्त्र के द्वारा समर्थन प्रदान कर भारतराष्ट्र की तत्त्वानुगता मौलिक-आचारनिष्ठा से राष्ट्रप्रजा को भी पराङ्मुख किया है, एवं सत्तातन्त्रों को भी लक्ष्यच्युत बनाया है। यही इस विद्वद्वर्ग की काल्पनिक निरपेक्षता का वह प्रच्छन्न इतिवृत्त है, जिस के संरक्षण के लिए ही यह वर्ग विगत कतिपय शताब्दियों से केवल 'तत्त्ववाद' की घोषणा करता हुआ वस्तुगत्या न तो 'तत्त्वसमन्वयनिष्ठा'-लक्षणा 'तत्त्वमीमांसा' के चिन्तन से ही कोई सम्बन्ध रख रहा, एवं न तत्त्वानुगता पारम्परिकी आचारनिष्ठा से ही इस का कोई सम्बन्ध।

१११-तात्कालिक लाभ-प्रवर्त्तिका लोकमान्यताओं का महान् पण्डित यह संस्कृति-निष्ठ ? विद्वद्वर्ग, और इस की अवसरवादिता से अनुप्राणिता- निरपेक्षता, सापेक्षता का ताण्डव—

संस्कृतसाहित्य के सुप्रसिद्ध 'यत्र शाब्दिका०' * इत्यादि आभाणक को चरितार्थ करते रहने वाला यह वर्ग दिग्देशकालनिबन्धन तात्कालिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए आकुल-व्याकुल ही बना रहता है। यथावसर, यथाकाल, परिवार-समाज-राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्रादि अनुबन्धों से अपने आप को सुप्रसिद्ध-'दुग्धधौत' न्यायानुबन्ध से कभी सर्वथा 'निरपेक्ष' प्रमाणित कर लेता है, तो कभी 'युगधर्म्मों की सगुणप्रतिमा' ही बन बैठता है। विगत तीन सहस्र वर्षों से इस की तत्त्वमूला कोई निश्चित आचारनिष्ठा रही ही नहीं।

---

*—यत्र शाब्दिकास्तत्र तार्किकाः, यत्र तार्किकास्तत्र शाब्दिकाः।
यत्र नोभयोस्तत्र चोभयोः, यत्र चोभयोस्तत्र नोभयोः॥

अपितु उक्त अवधि में यह विविध–भाव–विन्यासों के माध्यम से अवसरवादी ही बनता आरहा है। आचारनिष्ठा-शून्या, तत्स्थाने च सामयिक–लाभप्रवर्त्तिका मान्यताएँ ही इस की आराध्या बनती आ रही हैं विगत अवधि से, जो कि मान्यताएँ वर्त्तमानयुग में तो अत्यन्त ही उग्ररूप में परिणत हो गईं हैं।

११२–आचारनिष्ठात्मक धर्म्म से पराङ्मुखा ज्ञानविज्ञान--चिन्तन--धारा की आत्यन्तिक निरर्थकता, एवं–'आचारः परमो धर्म्मः' का माङ्गलिक संस्मरण—

युगधर्म्मानुगता मान्यताओं को, तदनुप्राणित 'बुद्धिवाद' को, तत्समर्थक तथाविध ही मतवादविशेषों को, तथैव च अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात काल्पनिक 'वाग्विजृम्भणों' को ही 'शास्त्र' मानते, और मनवाते रहने वाले अवसरवादी तथोक्त वर्ग के अनुग्रह से ही तो श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों का ज्ञानविज्ञानात्मक वह आचारपक्ष उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है तीन सहस्र वर्षों से, जिस आचारपक्ष की अभिभूति से ही ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्ववाद भी केवल वाग्विग्लापन ही बन कर परिसमाप्त हो जाता है ÷। तभी तो–'आचारः परमो धर्म्मः' इत्यादि रूप से 'आचार' को ही परमधर्म्म माना है आर्ष मानवश्रेष्ठोंनें। इस आचारनिष्ठा के सम्बन्ध से ही स्वयं श्रुतिशास्त्रने भी-'तस्माद्धर्म्मं-परमं वदन्ति' (शतपथ) इत्यादि रूपेण-आचारात्मक धर्म्म को ही 'परम' उपाधि प्रदान की है। आचारधर्म्मलक्षण निष्ठात्मक कर्त्तव्यकर्म्म से आत्यन्तिक रूपेण पराःपरावत होजाने वाली वाग्विग्लापनमात्रैकसारा निष्कैवल्या इस तत्त्वचर्चाने हीं तो भारतराष्ट्र को अभ्युदय-निःश्रेयस् पथ से पराङ्मुख किया है उक्त अवधि में। ऋषिप्रज्ञाने निरी ज्ञानविज्ञानचर्चा को ही कदापि सुख-शान्ति-समृद्धि-प्रवर्त्तक अभ्युदय-निःश्रेयस् के प्रति तबतक कारणता प्रदान नही की, जबतक कि इस तत्त्वज्ञान, और तदनुगत विज्ञान को आचारात्मक, कर्त्तव्यनिष्ठात्मक 'धर्म्म' से समन्वित नहीं कर दिया जाता। अतएव 'धर्म्म' को ही-'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः' इत्यादि रूपेण सर्वसंसाधक माना गया है।

११३–कल्पनाप्रसूत अध्यात्मवाद की भित्ति पर प्रतिष्ठित विद्वद्वर्ग के काल्पनिक सिद्धान्त, एवं तदनुग्रहेणैव अष्टविध उपग्रहों का आविर्भाव—

निष्कैवल्य ज्ञान, तथा बुद्धिवाद का परितोषकमात्र ऐकान्तिक विज्ञान, इसप्रकार के ज्ञान-विज्ञानाभिनिवेशने ही भारतीय विद्वत्-प्रज्ञाओं को आचारनिष्ठात्मक धर्म्म से पराङ्मुख किया है। इसी पराङ्मुखताने कालान्तर में इसे अन्ततोगत्वा ज्ञान–विज्ञाननिष्ठा से भी बहिर्भूत ही प्रमाणित कर दिया है। और यों आरम्भ का ज्ञानविज्ञानवादी, किन्तु धर्म्म के (आचार के) प्रति निरपेक्ष बन जाने वाला यही भारतीय विद्वान् अपनी काल्पनिक-आध्यात्मिक-मान्यताओं को ही अपना 'सिद्धान्त' बनाता हुआ, अधिदैवत-ब्रह्माण्ड के आचारनिबन्धन-समस्त-विश्वसौन्दर्य्य से वञ्चित होता हुआ केवल-'दार्शनिक' ही बना रह गया है, जिस की इस दार्शनिकताने हीं भारतीय आचारधर्म्म को न केवल अभिभूत ही कर लिया है, अपितु इस महाग्रह-ग्राहात्मक प्रथम ग्रह के (दर्शन के) आधार पर ही आगे चल कर सर्वविनाशक वैसे मतवादात्मक आठ उपग्रह और उत्पन्न हो पड़े हैं, जिन के मलीमस इतिवृत्त के लिए, एवं इन नवग्रहग्राहों से होने वाली अनिष्ट-परम्पराओं के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही निबन्ध का द्वितीयखण्ड उपनिबद्ध हुआ है।

÷ नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

११४-तत्त्वानुगता आचारनिष्ठा का समर्थक-'दिग्देशकालमीमांसा' नामक सामयिक निबन्ध—

आचारधर्मों से निरपेक्ष, तटस्थ बन जाने वाली, किंवा आचारधर्म से द्रोह कर बैठने वाली दार्शनिक प्रज्ञा मानव में जिस महाभयावह-'बुद्धिवाद' को अभिव्यक्त कर देती है, जिस घोरघोरतम बुद्धिवाद से मानव आचारनिष्ठा का अन्यतम शत्रु बन जाता है, उस बुद्धिवाद के नग्नतम स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही तो हमें प्रस्तुत-'दिग्देशकालमीमांसा' का अनुगम करना पड़ा है। जो बुद्धिवाद एकमात्र दिग्देशकालमर्यादों को ही अपना प्रधान आलम्बन बना कर केवल बौद्धिक-ज्ञान, विज्ञान के शुष्कतर्कवादात्मक, अतएव निष्फलतम वाग्विजृम्भणा का सर्जन करता हुआ, मानव को सहजमूला सहजप्रज्ञा से परा पराचत करता हुआ इसे अभिनिविष्ट ही बना देता है स्वकाल्पनिकी मान्यताओं में, उसी सर्वविनाशक बुद्धिवाद के स्वरूप-विश्लेषण के लिए दिग्देशकालमीमांसा, एवं विशेषरूपेण इसका-'दिग्देशकालानुगता आचारमीमांसा' नामक तृतीय प्रकरण उपनिबद्ध हुआ है।

११५-ज्ञानविज्ञानप्रचारविजृम्भणात्मिका आचारशून्या हमारी प्रचारैषणा, एवं तद्द्वारा ही विगतयुगे स्वाध्यायनिष्ठा-विच्युति—

हमें स्वयं अवनतशिरस्कतापूर्वक यह मान लेना पड़ रहा है कि, अपनी आरम्भ की स्वाध्याय-प्रवृत्ति में हम स्वयं भी अभिनिवेशमूलक तथोक्त बुद्धिवाद की ही जघन्यतमा उपासना में तल्लीन थे, जिसके परिणाम-स्वरूप, किंवा घोरघोर-तम दुष्परिणाम-स्वरूप ही हमारे अन्तस्तल में भी तद्युग में वही 'प्रचार-व्यामोहन' जागरूक होपड़ा था, जिस इस प्रचाराभिनिवेशने ही हमें अनन्तकाल के प्रतीकभूत 'सम्वत्सर' (वर्ष) की अनेक प्रक्रमधाराओं पर्यन्त (अनेक वर्षों पर्यन्त) इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही प्रमाणित करते हुए तदवधि में स्वाध्यायनिष्ठा से भी पराङ्मुख बनाए रक्खा, एवं आचारभावों से भी सर्वथैव परा.पराचत। आचारशून्या-ज्ञानविज्ञानात्मिका इस प्रचारैषणा से, तदनुगत वाग्विजृम्भण से हमारा कितना, और कैसा अनिष्ट हुआ है?, इन प्रश्नों की वेदना-परम्पराओं का यथार्थ अनुभव तो मादृश भुक्तभोगी, अथवा तो सर्वसाक्षी हृदयस्थ अन्तर्यामी ही कर रहे होंगे।

११६-निष्ठाविच्युतिमूला अन्तर्वेदना, तदनुप्राणिता महती समस्या, एवं तदाधारेणैव निष्ठा-भावुकता-शब्दों के स्वरूपदर्शन से सान्निध्य—

इसी वेदनाने अन्ततोगत्वा प्रश्नात्मिका वह महती समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर ही तो दी, जिस समस्या के महान् अनुग्रहने ही कालान्तर में निष्ठा, और भावुकता, जैसे रहस्य-पूर्ण शब्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर लिया। एवं इसी आकर्षणानुग्रह से हमें अपनी भ्रान्तिपरम्पराओं का 'स्वरूपबोध' उपलब्ध हुआ। इसी उपलब्धि के अनुग्रह से उपलब्ध तदनुबन्धी 'भावुकता' शब्द के चिरन्तनेतिवृत्त के ही स्वरूपदर्शन से हमें उस महती समस्या का आंशिक समाधान भी उपलब्ध होगया, जो समस्या निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र के पारम्परिक-पतन-का कारण बनती चली आरही है। इसी उपलब्धि को शब्दद्वारा सङ्कलित करने का सङ्कल्प जागरूक हुआ, और वही सङ्कल्प भगवत्प्रसादानुग्रह से मूर्तरूप में परिणत होता हुआ निबन्धरूपेण अत्यन्त प्रणतभाव से राष्ट्रप्रजा के प्रति आज समर्पित हो रहा है।

११७–चिन्तनशील स्वाध्यायनिष्ठ वर्ग से अनुगत हमारा मूलसाहित्य, तथा युगधर्म्मानुगत वर्ग से अनुगत तूलसाहित्य—

प्रस्तुत सामयिक निबन्ध से कदापि ज्ञानविज्ञाननिष्ठ सांस्कृतिक विद्वानों को इस आपातरमणीया भ्रान्ति का अनुगामी नहीं बन जाना चाहिए कि, इन **सामयिक–निबन्धों** में श्रुतिसिद्ध ज्ञान–विज्ञानात्मक स्वरूप–विश्लेषण से अन्यथा ही किसी काल्पनिक–मतवाद का हम सर्जन करने जारहे हैं। अपितु इसके सम्बन्ध में तो हमारी धारणात्मिका न केवल ऐसी मान्यता ही है, अपितु संविन्मूला दृढतमा श्रद्धासमन्विता यह आस्था ही है कि, अनेक शताब्दियों से अन्तर्म्मुखा, अतएव निरतिशयरूपेण गहन–गभीरतमा, अतएव च आत्यन्तिकरूपेणैव दुर्बोध्या ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूप–विश्लेषण से अनुप्राणित, अतएव अत्यन्त विस्तृत **शतपथब्राह्मणभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, शारीरिकभाष्य,** आदि आदि प्रधान–मौलिक–साहित्य के अनुशीलन से निरपेक्ष, तटस्थ बन जाने वाली, त्रिसहस्रवर्षावधि की आत्मिक–बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–दासताओं से उत्तरोत्तर स्वरूप-विमुख ही बनती रहने वाली दिग्देशकालव्यामुग्धा भारतीय प्रजा के उद्बोधन के लिए तो आज वे **सामयिक-निबन्ध** ही अनुरूप प्रमाणित होंगे, जिनमें संक्षेप से उपलालनात्मक–अनुरञ्जन–भावों के माध्यम से भारतीय–तत्त्ववादमूला ज्ञानविज्ञानात्मिका **संस्कृति,** तन्मूलक **सांस्कृतिक–आचार,** एवं तदनुप्राणित **सांस्कृतिक–आयोजन,** आदि आदि सभी भारतीय–विभूतियों का आंशिक स्वरूप–समन्वय सम्भावित होगा।

११८–तूलसाहित्यात्मक उद्बोधनात्मक लोकसाहित्य की श्रुतिमूला तत्त्वप्रतिष्ठानुगति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-निष्ठा-संरक्षणोपायावलम्बन—

इन उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्धों में निरूपित विषयों का किसी भी अर्वाचीना काल्पनिकी मान्यता से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु मन्त्रसंहिताभाग के कतिपय सूक्त, ब्राह्मणसाहित्य के सृष्टिविज्ञानप्रतिपादक सन्दर्भ, उपनिषदों से अनुप्राणित ब्रह्मविज्ञानानुगत स्थलविशेष, स्मृति–शास्त्रोपबृंहित आचारसूत्र, आर्य्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र से अनुप्राणित तात्त्विक–आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्प, डामर, जामल, दगार्गल, ज्योतिश्चक्र (खगोल), भुवनकोश (भूगोल), मन्वन्तर, सर्ग, प्रतिसर्ग, आदि आदि रहस्यपूर्ण विषय, आगमशास्त्रीय षड्विध–आम्नाय, आदि आदि के आधार पर ही नैबन्धिक-विषयों के स्वरूप–समन्वय की चेष्टा हुई है। प्रत्यक्ष–प्रमाणन के लिए निबन्ध का प्रस्तुत चतुर्थखण्ड ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

११९–प्रस्तुत–"राष्ट्रीय-साहित्य' का द्विधा वर्गीकरण, और उसकी स्वरूपदिशा—

तदित्थं–मौलिकसाहित्य, तथा सामयिक–साहित्य, रूप से हमने इस **राष्ट्रीय–साहित्य,** किंवा विश्वसाहित्य का द्विधा वर्गीकरणमात्र कर दिया है, **विस्तार,** तथा **संक्षेप**–भावद्वयी के अनुबन्ध से। **मूलसाहित्य अशीतिसहस्र पृष्ठों में, तथा तूलसाहित्य [सामयिक साहित्य] पञ्चसहस्र पृष्ठों में अद्यावधि सम्पन्न हुआ है।** जिस वर्गविशेषात्मिका सांस्कृतिक–प्रज्ञा के जीवन का लक्ष्य ही चिन्तन–मनन–स्वाध्याय है, गुहानिहित उन स्वाध्यायनिष्ठ व्यक्तिविशेषों के अनुरञ्जन से ही **'मूलसाहित्य'** का सम्बन्ध है।

अस्मदादि सामान्य प्रजावर्ग कदापि इत्थभूता अनन्या स्वाध्यायनिष्ठा का अनुगामी नहीं बन सकता, विशेषत सम्कृति, धर्म–निरपेक्ष, दिग्देशकालविमोहनात्मक प्रक्रान्त युग में। दूसरा 'तूलसाहित्य' ही अस्मच्छब्दश– ब्दप्रकृतिपरायण महानुभावों का सर्वात्मना नहीं, तो आंशिकरूपेण तो परितोष कर ही सकता है, निश्चयेन करेगा ही।

१२०–वर्त्तमान मानव का 'उपयोगिता' मूलक महान् व्यामोहन, भारतीय- संस्कृति के सम्बन्ध में जनतन्त्रप्रेमी आज के मानव के भावुकतापूर्ण उद्गार, और हमारी स्तब्धता—

तथोपलब्धि से सम्बन्ध रखने वाली हमारी तथाविधा निश्चयात्मिका भावना के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत प्रास्ताविक में किञ्चिदिव आवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। वर्त्तमानयुग की सर्वमूर्द्धन्या एक विशेष प्रवृत्ति–'समय'–'उपयोगिता'-'उपादेयता'–'आवश्यकता' आदि आदि कतिपय भावुकतापूर्ण अनुबन्धों से सर्वात्मना समन्विता है। सर्वसामान्य की कौन कहे, जो प्रज्ञाएँ भारतीय शास्त्र पर, तत्सस्कृति, तत्परम्पराओं के प्रति आस्था–श्रद्धा रखने वाली है, जिन्होंने अपनी वयस्कता में तथाविध सांस्कृतिक–रचनाओं के माध्यम से अपनी इस आस्था को मूर्त्तरूप प्रदान किया है, दशवर्षात्मक–भुक्त–प्रभ्रान्त–आज के सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रयुग में वे सचित–प्रज्ञाएँ भी इसी आपातरमणीया 'उपयोगिता' जैसे महान् भ्रम, महान् यन्त्र की अनु– गामिनी प्रमाणित होगई हैं। जब उन के श्रीमुख से भी कार्णाकर्णिपरम्परया हमें यह श्रुति उपलब्ध होती है कि–'वर्त्तमानयुग में परात्पर–अव्यय–पक्षर–महदुक्थ–वैराजिक–अक्षोध–ब्रह्म–उक्थामद–परिसर– आदि आदि की चर्चा से क्या–लाभ, क्या उपयोगिता जनजीवन में इन की ?" तो हम सर्वथा स्तब्ध ही बने रह जाते हैं।

१२१–'उपयोगिता' के काल्पनिक विजृम्भण का स्वरूप-दिग्दर्शन, निष्कारणभाव– निबन्धना भारतीय-संस्कृति, एवं तन्मूलक स्वधर्म्मात्मक भारतीय कर्त्तव्यकर्म्म की निष्कारणता का दिग्दर्शन—

नितान्त भावुकतापूर्ण इस काल्पनिक–'उपयोगितावाद' का एकमात्र जनक दिग्देशकालव्यामोहन ही माना गया है, जो आज की ही घटना नहीं है। अपितु सदा से ही तथाविधा भावुकप्रज्ञाएँ इसी 'उपयोगि– तावाद' के व्यामोहन में व्यामुग्धा बनती हुई अभ्युदय–निःश्रेयस–साधिका इस सांस्कृतिक–निधि से वञ्चित होती रही हैं, जैसा कि देवयुगीय अमुक इतिहास के–'अश्रद्धा नै मनुष्यान् निवेद। किंकाम्या यजेमहि' इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। ज्ञान–विज्ञान–पाथोधि–तलस्पर्शी, विदित -वेदितव्य, अधि– गत-याथातथ्य, इस राष्ट्र के महामहर्षि बहिर्मुख मानव की भावुकतापूर्णा कारणतामूला इस उपयोगिता से सर्वात्मना सुपरिचित थे। अतएव इस सांस्कृतिक–निधि के अनन्योपासक ब्राह्मण के लिए आरम्भ में ही उन्होंने यह विधान बना देना विस्मृत नहीं किया कि,–'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'। उद्बोधनात्मक इस महान् आदेश का-'निष्कारणम्' शब्द पर्वोक्त-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्' इस श्रौत उद्बोधनसूत्र का ही रूपान्तर है। श्रुतिप्रसिद्ध, एवं अपौरुषेय वेदशास्त्रसिद्ध इसी तथ्य का एतद्देशीया स्मार्त्ती

उपनिषत् (गीता) के द्वारा–'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस माङ्गलिकसूत्र से स्वरूपोपवृंहण हुआ है।

१२२–मानव की-'मानव' उपाधि के सम्बन्ध में मानव की सहज जिज्ञासा, एवं बुद्धि-मनः-शरीर-अनुबन्धत्रयी के माध्यम से 'मानव' स्वरूपान्वेषण-प्रयास, तथा तन्निष्फलता—

दैनंदिनीय अशन–पान–गमन–हसन–नर्त्तन–वादन–आदि आदि प्रत्यक्षतम भूत–भौतिक–अनुबन्धों को ही 'मानवजीवन' की 'उपयोगिता' का एकमात्र मापदण्ड मानते रहने वाले विशुद्धतम भूताविष्ट भूतवादी मानव को तो 'मानव' अभिधा से भी समन्वित नहीं किया जासकता, नहीं ही किया गया सम्भवतः विश्व के किसी भी मानवीय सुसंस्कृत–सुसभ्य–मानवीय क्षेत्र में। निबन्ध के 'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय खण्ड में विशदरूपेण यह स्पष्ट किया गया है कि, प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक 'शरीर' का नाम कदापि मानव नहीं है। क्योंकि पाञ्चभौतिक–'शरीर' नामक प्रत्यक्षदृष्ट भूतपिण्ड से कृतशरीरी लोष्ट–पाषाण–धातु–वृक्ष–वनौषधि–आदि आदि असंज्ञजीवात्मक जड़पदार्थ किसी भी देश के 'मानव' के लिए–'मानव' उपाधि से समलङ्कृत होते देखे सुने नहीं गए। नापि इन्द्रियाधिष्ठाता, सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय नामक 'प्रज्ञान' नामक चान्द्रमन को इसीलिए 'मानव' उपाधि नहीं दी जासकती कि, कृमि, कीट, काक, गिद्ध आदि पक्षी, रासभ उष्ट्र–आदि पशु, आदि आदि सेन्द्रिय–समनस्क (किन्तु बुद्धि से अनभिव्यक्त) प्राणियों को भी किसी भी कोशकार ने-'मानव' अभिधा से समन्वित नहीं किया। तथैव च शुक–पिकादि–पक्षी–विशेष, अश्व-गजादि पशु–विशेष उन बुद्धिजीवी विशेष प्राणियों को भी 'मानव' संज्ञा से किसी ने भी समलङ्कृत नहीं किया, जो शरीर और मन के साथ साथ लोकबुद्धि के भी सत्पात्र प्रमाणित होरहे हैं।

१२३–दृष्टिमूला सृष्टिबिन्दु के माध्यम से मानवस्वरूपान्वेषण-प्रयास, एवं तद्द्वारा बुद्धि–मनः–शरीरत्रयी से अतीत गुह्यब्रह्मात्मक 'मानव' स्वरूप के दर्शन—

यही वह दृष्टिमूला सृष्टिबिन्दु है, जिसने मानव को सर्वथा परोक्ष उस 'मानव' स्वरूप की ओर आकर्षित किया है, जिस अत्यन्त दुरधिगम्य 'मानवस्वरूप' के स्वरूप–दिग्दर्शन के लिए हमें एक स्वतन्त्र खण्ड का ही आश्रय लेना पड़ा है। वह ऐसा कौन सा गुप्ततम, शरीर–इन्द्रिय–मनो–बुद्धि से अतीत गुह्यब्रह्म (रहस्यपूर्ण तत्त्व) है, जिसने केवल शरीरधर्म्मा जड़पदार्थों से, शरीर–मनोधर्म्मा सामान्य प्राणियों से, तथा शरीर-मनो-बुद्धिधर्म्मा विशेष प्राणियों से अमुक प्राणी को पृथक् प्रमाणित करते हुए उसे-'मानव' अभिधा से समन्वित कर रक्खा है ?, इस प्रश्न का जो भी गुह्यब्रह्मात्मक समाधान है, वही 'मानव' की स्वरूप–व्याख्या है, जिस की इस सर्वोत्कृष्टता, गुह्यता के अनुबन्ध से ही पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपङ्कज से ये ही रहस्यपूर्ण उद्गार विनिःसृत होपड़े हैं कि—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि–नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'।

—महाभारते

१२४–बुद्ध्यनुगता 'विद्वत्ता', मनोऽनुगता 'प्राज्ञता', एवं शरीरानुगता 'स्वस्थता' से अतीता विलक्षणा 'मानवता', एवं तन्निबन्धन प्राणी का ही 'मानवत्व'—

हृष्टतम, अतएव स्वस्थतम बलिष्ठ, तथा आयामादि मात्रान्वित (लम्बा-चौड़ा) शरीर कदापि 'मानव' की 'मानवता' का मापदण्ड नहीं है। तथैव मनोनिबन्धन मानसिक यच्चयावत् कला-कौशलों में पारङ्गत मनोवस्मा मानव भी इस मापदण्ड से असंस्पृष्ट ही बना रह जाता है। तथैव च बुद्धिगम्य, विद्या बुद्धिवादात्मक तत्त्वविजृम्भणों का पर-पारदर्शी धुरन्धर विद्वान् भी इस मापदण्ड से पृथक् ही रह जाता है। सहज भाषानुसार यदि कोई मानव शरीर, मन, बुद्धि, इन तीनों तन्त्रों से महात्मना अभिव्यक्त, अतएव स्वस्थ, मनीषी, तथा बुद्धिमान् विद्वान् भी है, तब भी भारतीय पारिभाषिकी 'मानवता' से तबतक उस की यह स्वस्थता, प्रज्ञाशीलता, तथा बुद्धिमत्ता विद्वत्ता समन्वित नहीं मानी जा सकती, जबतक कि इन तीनों से अतीत किसी विलक्षणा 'मानवता' में सम्बन्ध रखने वाले विलक्षण ही 'तत्त्वविशेष' की अभिव्यक्ति के साथ इस मानवशरीरी का सहजसिद्ध भी अन्तर्याम सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं हो जाता।

१२५–बुद्धिप्रतिष्ठात्मक कालात्मक सूर्य्य, मनःप्रतिष्ठात्मक दिगात्मक चन्द्रमा, एवं शरीरप्रतिष्ठात्मक देशात्मक भूपिण्ड, एवं तीनों विवर्त्तों का केवल 'प्रकृति' पर ही अवसान—

पाञ्चभौतिक शरीर का उक्थ (प्रभव), ब्रह्म (प्रतिष्ठा), साम (परायण) ही भारतीय विज्ञानकाण्ड में 'पार्थिव-विवर्त्त' माना गया है। भूपिण्ड ही मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का अधिष्ठाता है। और इसी को–'देश' कहा गया है। प्रज्ञा-प्राणात्मक, सर्वेन्द्रिय नामक सौम्य मन का उक्थ-ब्रह्म-साम भास्वरसोम-मय चन्द्रमा माना गया है *। चन्द्रमा ही–'अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनुसार आप्य-छन्दोरूप-दिग्भाव है। एवं यही–'दिक्' है। धिषणा, प्राणमयी बुद्धि का सर्वस्व सावित्राग्निमय सूर्य्य है। यही सम्वत्सर का प्रवर्तक बनता हुआ–'काल' है। कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, तथा देशात्मक भूपिण्ड, ये तीन ही प्राकृतिक विवर्त्त क्रमशः बुद्धि, मन, और शरीर के आरम्भक बने हुए हैं, यही निवेदन-निष्कर्ष है।

१२६–दिग्देश-कालातीत, सौरब्रह्माण्डातीत, महद्ब्रह्मगर्भित मनुर्लक्षण अव्ययात्म-ब्रह्म, तदनुप्राणित 'मानव', और मानव का लोकोत्तर स्वरूप—

क्या सौरब्रह्माण्ड पर ही विश्वानुबन्धी तत्त्ववाद परिसमाप्त है ?। नहीं। सौरब्रह्माण्ड तो महाविश्व की महामहिमा के समतुलन में बिन्दुमात्र ही माना गया है भारतीय विज्ञानकाण्ड में। अतएव च पुराणशास्त्र

---

*–एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः। चन्द्रमा मनसो जातः। मनश्चन्द्रेण लीयते। अन्नमयं हि सौम्य मनः। (श्रुतयः)।

ने समस्त सौरब्रह्माण्ड की आपोमय-भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति सरस्वान्-समुद्र के समतुलन में वही सत्ता मानी है, जो कि सत्ता प्रत्यक्ष-दृष्ट-पार्थिव समुद्र में एक बुद्बुद् की है । अतएव स्वयं मन्त्रसंहिताने-'द्रप्सस्चस्कन्द' (ऋक्संहिता) रूपेण सौरब्रह्माण्ड को उस पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म का एक ÷ 'द्रप्स' ही माना है। मानव के बुद्धिवाद से सम्बन्ध रखने वाली दिग्देशकालत्रयी इसी भूः-चान्द्र-सूर्य्य-समष्ट्यात्मक तथोक्त बिन्दुभावमात्र पर ही परिसमाप्त है । इस दिग्देशकालत्रयी को, भूः-चन्द्रमा-सूर्य्य-रूप समस्त सौर ब्रह्माण्ड को जो तत्त्व अपने एकांश (यत्किञ्चिदंश) में निमज्जित किए हुए है, दिग्देशकालव्याप्त, किन्तु दिग्देशकालातीत, सर्वातीत, सर्वरूप महद्गर्भान्वित वही रहस्यपूर्ण तत्त्वविशेष वह **'तुरीय'** (चतुर्थ) **'अव्ययात्मब्रह्म'** है, जो अपने **'श्वोवसीयस्'**-नामक-काममय-मनोभाव से **'मनुर्म्मय'** प्रमाणित होरहा है । विश्वकेन्द्रस्थ, विश्वाध्यक्ष, विश्वातीत यही **'आत्ममनु'** (**'अव्ययात्मब्रह्म'**)अमुक प्राणी की-**'मानव'** अभिधा की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । आत्ममनु ही मानव की **'मानवता'** का एकमात्र मापदण्ड है, जो आत्ममनु मानवेतर समस्त विवर्त्तों में जहाँ **'अर्क'** (रश्मि) रूप से प्रतिष्ठित है, वहाँ मानव में वही स्वतन्त्र-**'उक्थ'** रूप से, अपने परिपूर्ण स्वरूप से अभिव्यक्त होरहा है, जिस इस गहनतम गुह्यतम **'मानवब्रह्म'** के स्वरूप-दर्शन पाठकों को निबन्ध के द्वितीयखण्ड में हीं होसकेंगे ।

१२७-पार्थिव शरीर, चान्द्र मन, सौरी बुद्धि, तथा दिग्-देश-कालातीत आत्मब्रह्म, एवं तन्निबन्धन सर्गों के सर्वथा विभिन्न चार श्रेणिविभाग, और तदनुगत मानवीय-वचन-समन्वय—

प्रकृत में उक्त तथ्य के माध्यम से यही निवेदनीय है कि, मानव की उपयोगिता, अनुपयोगिता की मीमांसा कदापि मानवीय बुद्धि-मनः-शरीर-नामक काल-दिक्-देश-भावों के माध्यम से ही सर्वाङ्गीण नहीं बन जाया करती । जबतक मानव अपने शाश्वतब्रह्मलक्षण मनुरूप श्वोवसीयस्मनो नामक अव्ययात्म-ब्रह्मरूप मानवभाव की स्वानुगता अभिव्यक्ति का अनुगामी नहीं बन जाता, सहज भाषानुसार जबतक यह आत्मनिष्ठ नहीं बन जाता, तबतक कदापि इस के कालात्मक, दिगात्मक, तथा देशात्मक बुद्धिः-मनः-शरीर-तन्त्र आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वमूला **'मानव'** अभिधा को अन्वर्थ नहीं ही प्रमाणित करसकते । अव-श्य ही उस अवस्था में मानव मनुनिर्बन्धना स्वात्मकेन्द्रप्रतिष्ठा से पराङ्मुख बना रहता हुआ बुद्धिजीवी, मनोजीवी, एवं शरीरजीवी, एवं पूर्वोक्त प्राणियों, भूतों में से ही किसी के प्राकृत-पथ का अनुगामी बनता हुआ प्राकृत-पशु-पक्षी-आदि की सृष्टि को ही समलङ्कृत किया करता है । मानव के तथोक्त आत्मभाव-निबन्धन गुह्यतम **'मानवस्वरूप'** के आधार पर ही मानवधर्म्म-व्यवस्थापक भगवान् मनुने भी पूर्वोक्त श्रेणिवि-भाग का समन्वय किया है। एवं तदाधारेणैव उन्होंने भी शरीरधर्म्मा भौतिकपदार्थ, शरीरमनो-धर्म्मा सामान्य प्राणी, तथा शरीर-मनो-बुद्धिधर्म्मा विशेषप्राणी, एवं आत्मनिष्ठ **मानव**, ये चार प्रधान वर्ग व्यवस्थित करते हुए ही मानव की सर्वापेक्षया श्रेष्ठता स्थापित की है, जैसा कि-**'भूतानां प्राणिनः**

÷ छोटी छोटी बिन्दुएँ 'पृषत्' हैं, सामान्यबिन्दु 'विन्दु' है । एवं स्थूलबिन्दु ही-'द्रप्स' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि हमारी (राजस्थानी) प्रान्तीय-भाषा में-'टपका' नाम से प्रसिद्ध है ।

श्रेष्ठा, प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा' (मनु. * १।९६।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है, जिस की कि विशद व्याख्या द्वितीय खण्डे-एव द्रष्टव्या ।

१२८-केवल शरीर-मनो-बुद्धि-धर्म्मा पश्वादि प्राणियों की प्राकृत-उपयोगिता के अनुबन्ध मे मानव की उपयोगिता से समतुलित-'भाव' का चित्रण—

हाँ, तो हमने यह देखा कि, मानव केवल बुद्धि-मन-शरीर-धर्म्मा ही नही है । अपितु ये तीनों तन्त्र तो मानव, तथा मानवेतर सभी प्राणियों में समतुलित हैं । और इस दृष्टि से तो मानव के लिए दिग्देशकालातीत, अचिन्त्य, ज्ञानविज्ञानात्मक किसी भी रहस्यबोध की, तत्समन्वय की, तदाचरण की उसीप्रकार कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसेकि मानवेतर वर्गों के लिए इन सब-सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-तथ्यों की कोई भी उपयोगिता नही है । अपितु परात्पर-अव्यय-अक्षर-यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-आदि आदि किसी भी शास्त्रीय तथ्य की किसी भी उपयोगिता-अनुपयोगिता से कोई भी सम्पर्क न रखते हुए भी यावदायुर्भोगपर्य्यन्त ये सभी मानवेतर प्राणी-वर्ग खाते-पीते-हँसते-खेलते-नाचते-कूदते-रोते-बिलखते-यथाप्रकृति अपना प्राकृत-जीवन समाप्त कर ही तो लेते हैं ।

१२९-भूत-भविष्यत् के सदसत् परिणामों से तटस्थ-निरपेक्ष-मानवेतर प्राणीवर्ग की केवल वर्त्तमानोपयोगिता, एवं तद्विमोहनासक्त जनतन्त्रवादी वर्त्तमानोपयोगितावादी आज का मानव—

सचमुच महद्भाग्य ही माना जायगा इन प्राणियों का कि, न तो इन्हें कभी भूत की ही कोई चिन्ता रहती, न भविष्यत् की चिन्ता से ही ये कभी व्यग्र बनते, एवं न इन्हें कभी अपने सहजसिद्ध प्राकृत-ज्ञानशिक्षण के लिए किन्हीं नितान्त-अनुपयोगी स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-निदिध्यासनादि विजृम्भणों का ही अनुगामी बनना पड़ता । और यों स्वच्छन्दरूपेण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र की बने रहने वाले, यथाकाम-यथाभोग-परायण-कुशल ये पश्वादि महाभाग सचमुच उस मानव को महामूर्ख ही मानते रहते होंगे अपने मनोराज्य में, जो कि मूर्खमानव भौतिक-वर्त्तमान-जीवन की प्रत्यक्षसिद्धा-मूर्त्ता-व्यक्ता-दिग्देशकालनिबन्धना-अशनपानपरायणात्मिका काम-भोग-रति जैसे महतोमहीयान् ? उपयोगी ? तथ्यों की यदा कदा उपेक्षा कर इत्यालमत्यालमेव ।

१३०-बुद्धि-मनः-शरीर-लक्षण सत्यं-शिवं-सुन्दरं-रूप आचारात्मक, दिग्देशकालात्मक विश्वसौन्दर्य्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक आत्मवादी दार्शनिक मानव, और तन्निबन्धना क्षणिक-दुःख-शून्य-भावनिबन्धना काल्पनिक-उपयोगिता—

क्या इस का यह तात्पर्य्य है कि, शास्त्रतत्त्वज्ञात्मलक्षण मनु के सम्बन्ध से ही 'मानव' अभिधा के अधिकारी बने रहने वाले आत्मनिष्ठ मानव के लिए सौर बुद्धितन्त्र, और तदनुगत काल, चान्द्र-मनस्तन्त्र,

---

* केवल-शरीरधर्म्मयुक्तानि भूतानि प्रथमस्थाने प्रतिष्ठितानि । तदपेक्षया मनः-शरीरधर्मान्विताः-प्राणिनः श्रेष्ठाः सामान्याः । तदपेक्षया च मनःशरीरबुद्ध्युपजीविनो विशेषप्राणिनः श्रेष्ठाः । तदपेक्षया, सर्वापेक्षया वा शरीर मनो-बुद्धि-समन्विताः-आत्मनिष्ठा मानवा एव-श्रेष्ठाः ।

और तदनुबन्धिनी दिक्, तथा पार्थिव शरीरतन्त्र, और तदनुबन्धी देश, भावों की कोई भी उपयोगिता नहीं है ? । आज तो इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर–'ओमित्येत्' (हाँ, कोई उपयोग नहीं) इसी रूप से इसलिए दिया जासकेगा कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से प्रक्रान्ता, आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा-शून्या, तत्त्वमीमांसात्मिका, केवल वाग्विजृम्भणलक्षणा दार्शनिकता के निविड़तम, घोरघोरतम मलीमस वारुण-पाश से आबद्धा सुबद्धा भारतीया आस्तिकप्रजा भी कालसाक्षीभूत, अतएव कालात्मक, 'हिरण्य' नामक सौरसम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित 'सत्यभाव' से, दिक्साक्षीभूत, अतएव दिगात्मक, 'परिप्लव' नामक चान्द्र-सम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित 'शिवभाव' से, एवं देशसाक्षीभूत, अतएव देशात्मक, 'इलान्द' नामक पार्थिव-सम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित 'सुन्दरभाव' से, 'रोदसीब्रह्माण्ड' नामक त्रैलोक्य के-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डात्मक सत्यं-शिवं-सुन्दर-लक्षण विश्व के सहज सत्य-शिव-सुन्दर-भावों से सर्वथैव पराङ्मुखा बनती हुई, तत्स्थाने च विश्वातीत, दिग्देशकालातीत 'आत्मब्रह्म' नामक किसी अचिन्त्य-'आत्मतत्त्व' के प्रति ही अपनी भावुकताएँ समर्पित करती हुई, अनात्मवादी काल्पनिक मतवादों की हीं भाँति इस सनातन विश्वसत्य को क्षणिकं,-क्षणिकं, अतएव शून्यं-शून्यं, अतएव च दुःखं-दुःखं, अतएव च स्वलक्षणं-स्वलक्षणं ही घोषित करती हुई शरीर-मनो-बुद्धि भावों से, एवं तदनुगत अर्थ-काम-धर्म्म-भावों से आत्यन्तिक रूपेणैव पराः-परावता ही प्रमाणित होगई है ।

१३१-काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववादमूला काल्पनिकी आत्मभावना, तन्निग्रहेणैव भारतीय-आचारनिष्ठा-परम्परा का त्रिसहस्रवर्षात्मक अभिभव, एवं विद्या, तथा अविद्या से सम्बन्ध रखने वाले द्विविध तमोभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जगन्मिथ्यात्ववादी, आचारशून्य दार्शनिकों की महती अनुकम्पा ! से, एवं तदाधारेणैव आविर्भूत-तिरोभूत उन सन्त-साधु-आदि महाभागों के नितान्त भावुकतापूर्ण-'जग झूँठा रे साधो-झूँठा' इत्यादि अनर्गल प्रलापों से प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से आकर्षिता भारतीय प्रजा सचमुच अपने बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आचारों, प्रकृतिसिद्ध सनातन-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठाओं को जलाञ्जलि समर्पित करती हुई विगत तीन सहस्र वर्षों से आचारशून्या केवल 'आत्मभावना' का ही शून्यतम वैसा उद्घोष ही करती चली आरही है, जिस इस काल्पनिक उद्घोष के बल पर ही आततायी-आक्रान्ता वर्गों के द्वारा तथोक्ता अवधि में इसकी बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक-विभूतियों का उत्तरोत्तर अपहरण ही होता आरहा है । जिसप्रकार दिग्देशकालातीता आत्मप्रतिष्ठा को अवलम्ब बनाए बिना दिग्देशकालात्मिका आचारनिष्ठा अनाचाररूपा अन्धतमोलक्षणा बनती हुई केवल 'अविद्या' ही बनी रह जाती है, तथैव विश्वानुगता आचारनिष्ठा के बिना विश्वातीता आत्मनिष्ठा तो तदपेक्षया भी कहीं अधिकरूपेण तमोभावानुगता ही मानी गई है ऋषिदृष्टि में * ।

---

*-अन्धं तमः प्रविशन्ति, ये-अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
—यजुःसंहिता, तथा ईशोपनिषत्

१३२–आत्मनिष्ठावञ्चित, दिग्देशकालविमूढ उपयोगितावादी मानवों की 'उपयोगिता' का पशुजगत्समतुलित सम्पूर्ण इतिवृत्त, एवं तत्प्रति-सांस्कृतिक-मानवश्रेष्ठ की तटस्थता—

इत्थभूता, वर्गान्मिथ्यात्वमूला, अतएव च क्षणिक शून्य-दुःख-स्वलक्षणात्मिका कल्पनिकी 'आत्म-मान्यता' (भावुकता) की अनुगामिनी त्रिसन्ध्यपर्यवसना भारतीय-प्रजा की दृष्टि में तो सचमुच बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक आचारभावों की कोई भी उपयोगिता उसीप्रकार नहीं है, जैसे कि दिग्देशकालविमूढ, अत-एव बुद्धि-मन-शरीरविमूढ, अनात्मवादी आहारविहारमात्रपरायण, यथाजात, प्राकृत, अतएव पशुसमान-धर्मा मानवों की दृष्टि में दिग्देशकालातीत, आत्मानुबन्धी सनातन ज्ञान-विज्ञान-भावों की, तदनुगता संस्कृति की, तन्मूलक शास्त्रीय-सांस्कृतिक-आचारों की, तथा तदनुप्राणित बनोत्सवपर्वादि सांस्कृतिक-आयोजनों की, आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक-विभूतियों की न पुरायुगों में कोई उपयोगिता रही, न आज ही कोई उपयोगिता है। अतएव इत्थभूत जो महानुभाव भारतीया इस सनातन-सांस्कृतिक-निधि को आहारविहारमात्रानु-बन्ध से यदि जनजीवन के लिए अनुपयोगी मान रहे हैं, एवं तदपेक्षया ही यदि वे इस भारतीया मूलनिधि के प्रति सर्वात्मना अपने आपको निरपेक्ष—तटस्थ मानते, और बलपूर्वक मनवाते रहने मात्र को ही अपने जीवन की महती उपयोगिता अनुभूत करते जारहे हैं, तो उन महानुभावों के सम्बन्ध में कुछ भी न कहना ही श्रेयः-पन्था है—।

१३३–सहजसिद्ध मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीरात्मक चतुष्पर्वा स्वरूप का दिग्-दर्शन, एवं तत्स्वरूप-माध्यम से ही मानव के उपयोगी–अनुपयोगी–भावों का सम्भावित-प्रयास—

इय हि वस्तुस्थिति। न तो जड-भौतिक-पिण्डों की भांति केवल 'शरीर' का ही नाम 'मानव' है। न शरीर-मनो-जीवी सामान्य पश्वादि प्राणियों की भांति केवल 'मन' का ही नाम मानव है। नापि शरीर-मनो-बुद्धि-जीवी विशेष-प्राणियों की भांति केवल 'बुद्धि' का ही नाम मानव है। एवं नापि इन तीनों तत्त्वों से असस्पृष्ट, निरा परात्पर, विश्वातीत-निर्विशेष 'आत्मब्रह्म' का ही नाम मानव है। अपितु इत्थभूत आत्मब्रह्म की दिग्देशकालातीता अनन्ता-सनातना-शाश्वत-प्रतिष्ठा से समन्वित, अतएव आत्मच्छन्द से छन्दित-मर्य्यादित दिग्देशकालात्मक मन-शरीर-बुद्धितत्त्वों की समष्टिरूप चतुष्पर्वात्मक, महासत्त्व, महा-प्राण वर्गविशेष का ही नाम—'मानव' है, जिस इत्थभूत चतुष्पर्वा महान् मानव के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपयोगिता, तथा अनुपयोगिता की मीमांसा इसके आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चारों मानवीय-पर्वों के माध्यम से ही समन्वित होसकती है। नान्य पन्था विद्यते-अयनाय।

— ये त्वेदम्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मानवा ॥
सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥

—गीता

१३४–आर्षभावनिबन्धना 'पुरुष' अभिधा, तदनुगत 'पुरुषार्थ', एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित त्रिविध-प्रकृत्यर्थ, और पुरुषार्थ–प्रकृत्यर्थ–निबन्धन–मानवीय कर्त्तव्य की स्वरूप-दिशा का सङ्केत—

चतुःस्वरूपात्मक तथाविध श्रेष्ठतम प्राणीविशेष का ही नाम 'मानव' है, और इसी की आर्ष–अभिधा है–'पुरुष'। स्वयं शास्त्रने इस पुरुष के पुरुषत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने वाली 'उपयोगिता' की सुविशदा स्वरूप–मीमांसा की है, जो कि उपयोगिता पुरुष के 'अर्थ' (प्रयोजन, लक्ष्य) की संसाधिका बनती हुई 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पुरुष से अतिरिक्त (मानवेतिरिक्त) अन्यान्य भूत-भौतिक सामान्य-प्राणीवर्गों की भी उपयोगिताएँ उसी शास्त्र के द्वारा निर्णीत, तथा व्यवस्थित हैं, जो प्रकृत्यैव उन से समन्वित होती रहती हैं। पुरुष (मानव) जहाँ आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से समन्वित होता हुआ 'पुरुष' है, अर्थात्–'अप्राकृत' है, वहाँ पुरुषेतर यच्चयावत् प्राणीवर्ग इस 'पुरुष' (अव्ययात्मपुरुष) की स्वस्वरूपानुगता अभि–व्यक्ति से असंस्पृष्ट रहते हुए विशुद्धरूपेण–'प्राकृत' ही हैं। अतएव इन के उपयोगितात्मक 'अर्थ' शास्त्रीय-परिभाषा में– प्रकृत्यर्थ' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। तदित्थं-अप्राकृत–पुरुषात्मक मानव, तथा प्राकृत-प्रकृत्यात्मक प्राणीवर्ग, भेद से ईश्वर–प्रजापति का सर्ग पुरुष, और प्रकृति, इन दो महिमाविवर्त्तों में विभक्त होरहा है, जो कि दोनों ही सर्गविवर्त्त (सृष्टिधाराएँ) 'धाता-यथापूर्वमकल्पयत्' रूपेण परिभ्रममाण ब्रह्माण्डचक्र से समन्वित होती हुई सनातन हीं हैं। इन दोनो विवर्त्तों की पृथक्–पृथक्–विधा विभिन्ना उपयोगिताओं के लिए ही क्रमशः पुरुषार्थ, तथा प्रकृत्यर्थ, नामक दो तन्त्र विभक्तरूपेणैव व्यवस्थित हैं। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव सर्वथा दुर्राधगम्य ही माना गया है इन दोनों तन्त्रों का स्वरूप--समन्वय, जिसके लिए एकमात्र शास्त्र-निष्ठा ही अस्मदादि सामान्य जनों के लिए शरणीकरणीया है। हम कदापि अपनी दिग्देशकालात्मिका सीमित प्रज्ञा से इस तथ्य की उपयोगिता–अनुपयोगिता, किंवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नही करसकते--'तस्माच्छास्त्रमेवास्माकं प्रमाणम्' *।

१३५–मानव की पुरुषार्थचतुष्टयी, एवं मानवेतर प्राणियों की प्रकृत्यर्थत्रयी, एवं दोनों विभक्त तन्त्रों का स्वरूप दिग्दर्शन --

अब यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नही रह गई है कि, मानव का 'पुरुषार्थ' जहाँ एकविधपुरुष (दिग्देशकालातीत अव्ययब्रह्मात्मक , तथा इत्थंभूत एकविध पुरुष के आधार पर प्रतिष्ठिता–काल--दिक्–देशात्मिका सौरी–चान्द्री–पार्थिवी, बौद्धिकी--मानसी–शारीरिकी--लक्षणा त्रिविधा–प्रकृति के

---

*–यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥
—गीता

भेद से दो विभिन्न प्रमुख-विवर्त्तों में परिणत होता हुआ चार विभिन्न सामान्य-महिमाभावों में विभक्त होरहा है, वहाँ पुरुषाव्ययात्मा के स्वस्वरूपाभिव्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव केवल प्राकृत, अतएव च भूत-भविष्यत्-के-सम-विषय-परिणामों से परा पराहत, दिग्देशकालात्मक-प्रत्यक्षसिद्ध-व्यक्त-मूर्त्त-भूत-भौतिक-प्राकृतिक विश्व को ही स्वप्रतिष्ठा बनाए रखने वाले, अतएव च केवल प्रत्यक्षवादी, मानवेतर-पश्वादि प्राणियों के प्रकृत्यर्थ बौद्धिक, मानसिक, तथा शारीरिक, केवल इन त्रिविध प्रकृत्यर्थभावों के ही अनुगामी बने रहते हैं। सहजभाषा में मानवानुबन्धी पुरुषार्थ जहाँ चार हैं, वहाँ मानवेतर पश्वादि से अनुप्राणित प्रकृत्यर्थ तीन ही हैं, जैसाकि-परिलेख से स्पष्ट है।

(१) पुरुषस्याप्राकृतस्य-पुरुषार्थचतुष्टयी--उपयोगिताचतुष्टयी वा

१-अव्ययात्मानुगतः————पुरुषार्थरूप ————पुरुषार्थ (१)-परमपुरुषार्थ

२-कालात्मक —बुद्धितन्त्रानुगत —प्रकृत्यर्थरूप ————पुरुषार्थ (१)
३-दिगात्मक —मनस्तन्त्रानुगत —प्रकृतिविकृत्यर्थरूप —पुरुषार्थ (२)
४-देशात्मक —शरीरतन्त्रानुगत —विकाररूप.————पुरुषार्थ (३)

} -सामान्या पुरुषार्थत्रयी -प्रकृत्यर्थत्रयी वा—

} प्रथमा पुरुषार्थचतुष्टयी

(२) प्राकृतपशुनिवर्त्तरूपा—प्रकृत्यर्थत्रयी, उपयोगितात्रयी वा

१—वर्त्तमानकालिक-बुद्धितन्त्रानुगत —प्रकृत्यर्थ (१)
२—वर्त्तमानकालिक-मनस्तन्त्रानुगत —प्रकृत्यर्थ (२)
३—वर्त्तमानकालिक-शरीरतन्त्रानुगत.—प्रकृत्यर्थ (३)

} —प्रकृत्यर्थत्रयी

द्वितीया—प्रकृत्यर्थत्रयी

१३६–'पर' पुरुष से अनुप्राणित 'पुरुषार्थ' की स्वरूप–परिभाषा, एवं आत्मा–बुद्धि-मनः–शरीर–पर्वानुगत मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–नामक चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक दहरोत्तरसम्बन्ध—

क्या तात्पर्य्य ?, प्रश्न का तात्पर्य्य अब स्पष्टतम है प्रज्ञाशील, आत्मनिष्ठ–मानवों के लिए। अव्यय-पुरुषात्मक ब्रह्मानुगत, तद्भिन्न मानवीय अव्ययपुरुष (परपुरुष) का परमपुरुषार्थात्मक प्रधान पुरुषार्थ ही 'मोक्षपुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इत्थंभूत परमपुरुषार्थ की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित बुद्धि का पुरुषार्थ ही–'धर्म्मपुरुषार्थ' कहलाया है। इत्थंभूत–आत्ममोक्ष, बुद्धिधर्म्म–से मर्य्यादित, अतएव आत्म–बुद्ध्यनुगत–मन का पुरुषार्थ ही 'कामपुरुषार्थ' कहलाया है। एवं इत्थंभूत आत्म-बुद्धि-मनोऽनुगत-मोक्ष-धर्म्म-कामान्वित–शरीर का पुरुषार्थ ही 'अर्थपुरुषार्थ' कहलाया है, जिन इन चारों पुरुषार्थों का वैज्ञानिक–समन्वय द्वितीय-खण्ड में गतार्थ होगया है। 'अर्थ' वही 'अर्थ' माना जायगा, जिसके मूल में सत्त्वप्रधान मनोमय 'काम' प्रतिष्ठित रहेगा। 'काम' वही 'काम' कहलाएगा, जिसका आधार बुद्ध्यनुगत 'धर्म्म' बना रहेगा। एवं 'धर्म्म' वही 'धर्म्म' माना जायगा, जिसकी प्रतिष्ठा 'आत्मसाम्य' होगा। यों चारो हीं दहरोत्तरसम्बन्ध से मानव की चतुर्विधा उपयोगिताओं का यथाक्षेत्र समन्वय करते हुए सचमुच ही तो मानव को–'सगुणब्रह्म' की श्रेणि में परिणत कर देंगे।

१३७–आत्म-बुद्ध्यनुबन्धी मोक्ष–धर्म्मों से असंस्पृष्ट, मनः–शरीर–मात्र–प्रधान कामार्थ-मात्रपरायण पशुजगत्, एवं तत्समतुलित मानववर्ग—

मानवेतर प्राणीवर्ग की उपयोगिता के पूर्व में हमने तीन प्रकृत्यर्थक्षेत्र बतलाए हैं, जिनका अन्ततोगत्वा काम, और अर्थ, इन दो प्रकृत्यर्थों पर ही पर्य्यवसान होजाता है। कारण स्पष्ट है। मानवीया सौरी बुद्धि दिग्देशकालातीत आत्मभाव से अनुप्राणिता बनती हुई जहाँ सशक्ता–सबला–बनी रहती है, अतएव ऐसी उद्बुद्धा आत्मभावान्विता बुद्धि जहाँ सेन्द्रिय–मन पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित रखती हुई स्वस्वरूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त रहती है, वहाँ मानवेतर प्राणियों की यही सौरी बुद्धि आत्मप्रतिष्ठा के अभाव से निर्बला-अशक्ता बन जाती है। अतएव ऐसी 'पशुबुद्धि' मनोभाव से ही अनुप्राणिता होती हुई मनोवशवर्त्तिनी ही बन जाती है। और परिणामस्वरूप ऐसी मनोवशवर्त्तिनी प्राकृतबुद्धि का मानसिक-इच्छातन्त्र के अतिरिक्त कदापि स्वतन्त्ररूपेण उपयोग उसीप्रकार सम्भव नही है इस प्राणीजगत् में, जैसे कि आत्मस्वरूपविस्मृत मानव की बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बनती हुई अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व ही परिसमाप्त कर लेती है। अतएव मानवेतर प्राणियो में बुद्धिगर्भित मनस्तन्त्र, तथा मनोऽनुगत शरीरतन्त्र, ये दो ही प्राकृत तन्त्र शेष रह जाते हैं। परिणाम-स्वरूप मनोऽनुगत काम, तथा, शरीरानुगत अर्थ, ये दो ही प्रकृत्यर्थ इस प्राणीजगत् में प्रधान बने रहते हैं। यही इस प्राकृत–प्राणीवर्ग की अर्थ-कामशक्ति है, जिस इत्थंभूता आसक्ति के कारण हीं बुद्ध्यनुगत धर्म्म के तात्त्विकबोध (ज्ञान), तथा तदाचरण से प्राणीजगत् का उसीप्रकार कोई भी सम्पर्क नही रहता, जैसेकि अर्थकामासक्त मानवों के सम्बन्ध में भी धर्म्मशास्त्रने यही मन्तव्य अभिव्यक्त किया है *।

*–अर्थ–कामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
––मनुः १।१३। (अर्थकामलिप्सासंस्पृष्टानामेव धर्म्मोपदेशः)।

१३८–कामार्थप्रधाना, अतएव 'पशुजगत' से समतुलिता 'उपयोगिता' का महान् व्यामोहन, एवं इत्थंभूत पशुधर्म्मात्मक तात्कालिक उपयोगितावाद के व्यामोहन से ही मानव का सांस्कृतिक- अधःपतन—

अलमतिपल्लवितेन। कारणतामूला उस उपादेयता के अनुबन्ध से ही इन पुरुषार्थ प्रकृत्यर्थ–भावों का स्वरूप–दिग्दर्शन प्रासङ्गिक बन गया, जिस महान् अभ्व–यज्ञ–रूप इस उपयोगितावादने हीं वर्त्तमानयुग के भारतीय–मानव को भी अपनी पुरुषार्थमूला उस मानवीया महत्त्वशालिनी सांस्कृतिक–विभूति से आयन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख प्रमाणित कर दिया है। जिस निधि के अनुग्रह से ही इसने 'मानव' के रहस्यपूर्ण तत्त्व का समन्वय कर तद्द्वारा ही ऐहलौकिक–सुख–समृद्धि–साधक अभ्युदयपथों का, तथा पारलौकिक–शान्ति–तृप्ति–साधक–निःश्रेयस् पथों का आविष्कार कर 'मानवता' का सर्वात्मना संरक्षण करते हुए सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व किया था, तथाविध पुरुषार्थ की उपेक्षा कर बैठने वाले, तत्स्थाने च आपातरमणीय तात्कालिक–कामार्थों में आसक्त हो जाने वाले उसी भारतीय–मानवने दिग्देशकालनिबन्धन–वर्त्तमानकालात्मक–तात्कालिक–लोकैषणात्मक वित्तैषणामूलक व्यामोहनों से सर्वात्मना आकर्षित होते हुए, सर्वथा पशुजगत् से समतुलिता 'उपयोगिता' को अग्रणी बनाते हुए आज तो अपना सर्वात्मना अधःपतन ही करा लिया है।

१३९–युगधर्म्मात्मक-भोजन, भाषण, पर्य्यटन, प्रतीच्य-भौतिक विधि-विधानानुसरण, आदि आदि दिग् देशकालानुबन्धी कला कौशलों के प्रति सर्वथा अनुपयुक्त भारतीय सांस्कृतिक-वाङ्मय, एवं तत्सम्बन्ध में उपयोगितावादियों की विप्रतिपत्ति का सर्वात्मना समादर—

अवश्य ही प्रतिदिन सायं प्रातः होने वाले गलाधःकरणानुकूलव्यापारलक्षण भोजनसमारोह में, दिग्देशकालानुबन्धी–प्रतीच्यभावनयानुसारी भूतभौतिक–चर्व्वणाप्रधान विधि–विधानों के प्रचार–प्रसार में, मनोविनोदात्मक नृत्य–गान–वादनादि अमुकामुक आयोजन–विजृम्भणों में, युगधर्म्माक्रान्त, सर्वथा प्रदर्शनात्मक भाषण–उद्घाटनादि समारोहों में, तथैव च अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात तथाविध–ही महतोमहीयान् युगधर्म्मात्मक कौशल–प्रदर्शनों में तो न तो आज ही भारतीय–सांस्कृतिक–निधि की कोई उपयोगिता है, नापि पूर्वयुगों में ही कभी भी इत्थंभूत युगधर्म्मात्मक विजृम्भणों के प्रति इस निधि की कोई उपयोगिता मानी गई। और इसी दृष्टि से हमने प्रारम्भ में ही–'ओमित्येतत्' कहते हुए स्वयं ही प्रणतभाव से यह मान लिया है कि, "वर्त्तमानयुगानुगता, केवल मन शरीरानुगता, कामार्थमात्रप्रधाना मान्यताओं की दृष्टि से तो सांस्कृतिक–निधि की कोई भी उपयोगिता नहीं है"। अतएव च तथाभूत उपयोगितावाद का, कारणतावाद का उद्घाटक मानव जो भी आक्रोश अभिव्यक्त करना चाहे इस मूलनिधि पर, अवश्यमेव सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रतापूर्वक वह सभी कुछ करसकता है, कहसकता है। क्योंकि तथाविध प्राकृत मानव के सभी आक्रोश शास्त्रने उसीप्रकार क्षम्य ही माने हैं, जैसे कि • आलप्यालमेव !

१४०–युगधर्म्म-प्रवाहाक्रान्त, अतएव दिग्देशकालविमूढ संस्कृतज्ञ विद्वानों की, तथा मेधावी संस्कृत-छात्रों की भी उपयोगिता-कारणता-उन्नति-आदि वाक्छलों के व्याज से प्रवाहानुगति—

हम उस समय आश्चर्य्य-स्तब्ध ही बने रह जाते हैं, जबकि आज भारतराष्ट्र के वे ब्राह्मणविद्वान् भी तथाविधा उपयोगिता, कारणता, तन्मूला युगधर्म्मानुगता उन्नति के माध्यम से अपना–'निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" यह सांस्कृतिकसूत्र विस्मृत ही करते जारहे हैं। तथैव सस्कृतसंस्थानो के सुयोग्य मेधावी छात्रो का तथाविध स्वाध्यायचिन्तन तो उत्तरोत्तर होता जारहा है शिथिल, एवं तत्स्थाने च बी. ए., एम्. ए. की उपाधियो का आकर्षण एकमात्र इसी दिग्देशकालानुबन्धिनी उपयोगिता के आकर्षण से होता जारहा हैं उत्तरोत्तर-पुष्पित पल्लवित, जिसउपयोगिता की परिसमाप्ति है-योगक्षेमव्यवस्था, जो कि स्वतन्त्ररूपेण इन उपाधियो में कौशल प्राप्त करते रहने वाले, साथ ही युगधर्म्मानुगता पी. एच्. डी.-डी. लिट्-उपाधियो को समलङ्कृत करते जाने वाले पुरुषार्थियों ! के समतुलन में इन संस्कृत के छात्रों के लिए तो संदिग्धा ही बनी रहती है।

१४१–'योगः कर्म्मसु कौशलम्' मूलक-'योग' शब्द, एवं तदनुप्राणित प्रकृतिसिद्ध वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-नामक चतुर्विध 'सिद्धयोग'—

'योगः कर्म्मसु कौशलम्' ही–'योग' शब्द की तात्त्विक व्याख्या है, एवं–'समत्त्वं योग उच्यते' के अनुसार पूर्वप्रदर्शित 'समब्रह्म' नामक अध्यात्मब्रह्म के 'समदर्शन' (नतु समवर्त्तन) से अनुप्राणित ब्रह्म (ज्ञान), और कर्म्म का साम्य ही 'समत्त्व' की परिभाषा है। आत्मसाम्यमूला बुद्धि ही इस समत्त्व-योगात्मक 'योग' की अन्यतमा अधिकारिणी मानी गई है। इत्थंभूत आत्मसाम्यमूलक, बुद्धियोगात्मक इसी योग के बुद्धि के सुप्रसिद्ध-धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नामक चार महिमाविवर्त्तो के माध्यम से चार स्वतन्त्र विवर्त्त होजाते है, जिन इन चारो योगों का स्वतन्त्र–निबन्ध में ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है *। राजर्षिविद्यानुगत, वैराग्यभावप्रवर्त्तक, आसक्तिबन्धननिवर्त्तक, बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग, सिद्धविद्यानुगत, ज्ञानभावप्रवर्त्तक, अविद्याबन्धननिवर्त्तक, ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग, राजविद्यानुगत, ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तक, अस्मिताबन्धननिवर्त्तक, भक्तियोगात्मक बुद्धियोग, तथा आर्षविद्यानुगत, धर्म्मप्रवर्त्तक, अभिनिवेशनिवर्त्तक, कर्म्मयोगात्मक बुद्धि-योग, ये चारों 'बुद्धियोगात्मक योग' पूर्वनिर्दिष्ट मानवीय चारों पर्वों से ही क्रमशः अनुप्राणित हैं।

१४२–आत्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग, बुद्ध्यनुगत ज्ञानबुद्धियोग, मनोऽनुगत ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग, तथा शरीरानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

मानव के प्रथम आत्मपर्व से अनुप्राणित 'योग' का ही नाम–'वैराग्यबुद्धियोग' है, द्वितीय बुद्धिपर्वानुगत योग ही 'ज्ञानबुद्धियोग' है, तृतीय मनःपर्वानुगत योग ही–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' है, एवं चतुर्थ शरीरपर्वानुगत

---

* देखिए ! सहस्रपृष्ठात्मक–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत–'ख' कारविभागात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र खण्ड। (निबन्ध प्रकाशित होगया है)।

योग ही 'धर्म्मबुद्धियोग' है। ये हैं सिद्धावस्थापन्न 'सिद्धयोग', जिन्हें प्राप्त करने के लिए ही मानव को साध्यावस्थापन्न चतुर्विध 'साध्ययोगों' का आश्रय लेना पड़ता है, जो कि साध्ययोग ही 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मानुगत 'मोक्षयोग' नामक साध्ययोग से वैराग्यबुद्धियोग की, बुद्ध्यनुगत 'धर्म्मयोग' नामक साध्ययोग से 'ज्ञानबुद्धियोग' का, मनोऽनुगत'कामयोग' से 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की, तथा शरीरानुगत 'अर्थयोग' से 'धर्म्मबुद्धियोग' की अभिव्यक्ति ही प्रकृतिसिद्धा है।

१४३–समत्वयोगात्मक पुरुषार्थलक्षण चतुर्विध सिद्धयोगों के समाधक क स्वर्थलक्षण चतुर्विध साध्ययोगों का 'उप' भाव, एवं तदनुगत-'उपयोग' भाव, और तन्निबन्धना 'उपयोगिता'—

समत्वयोगाभिन्ना सिद्धयोगचतुष्टयी ही वह 'योग' है, जिसे–'सिद्धयोग' माना गया है। सिद्धावस्थापन्न (सहजसिद्ध) इन चारों नित्ययोगों के समीप जो भी मानव के आत्मादि चारों पर्वों को लेजाने की क्षमता रखते हैं, उन्हीं हीं–इसी योगसामीप्य–भावानुबन्ध से कहा जाता है–'उप–योग'। योग के–उप (समीप) प्रतिष्ठित 'साध्ययोग' को ही इस सनातना निर्वचनपद्धति के अनुसार–'उपयोग' शब्द से व्यवहृत किया जायगा। और ये साध्यावस्थापन्न चतुर्विध उपयोग वे ही मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–नामक पूर्वनिर्दिष्ट सुप्रसिद्ध चार 'पुरुषार्थ' माने जायँगे। इस उपयोगाभिन्ना साध्या योगचतुष्टयी की ही 'उपयोगिता' स्वीकार की जायगी चतुष्पर्वा मानव के सहजसिद्ध योगात्मक स्वरूपानुबन्ध से। उपयोगभावापन्ना, अतएव लोकभावुकतासंरक्षणव्याजेन उपयोगिता–जिज्ञासा की पूरिका इस–उपयोगिनी चर्चा का निम्न लिखित परिलेख से सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है।

---

(१)–राजर्षिविद्यानुगतः, वैराग्यभावप्रवर्त्तकः, आसक्तिनिवर्त्तकः, अबुद्धियोगात्मकः–
'वैराग्यबुद्धियोगः,' प्रथमः (आत्मपर्वात्मकः)

(२)–सिद्धविद्यानुगतः, ज्ञानभावप्रवर्त्तकः, अविद्यानिवर्त्तकः, ज्ञानयोगात्मकः–
'ज्ञानबुद्धियोगः', द्वितीय (बुद्धिपर्वात्मकः)

(३)–राजविद्यानुगतः, ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तकः, अस्मितानिवर्त्तकः, भक्तियोगात्मकः–
'ज्ञानबुद्धियोगः', तृतीयः (मनःपर्वात्मकः)

(४)–आर्षविद्यानुगतः, धर्म्मप्रवर्त्तक, अभिनिवेशनिवर्त्तकः, कर्म्मयोगात्मकः–
'धर्म्मबुद्धियोगः', चतुर्थः (शरीरपर्वात्मकः)

---

(१)–आत्मानुगते-सिद्धावस्थापन्ने-वैराग्यबुद्धियोगे-दिग्देशकालातीते उपोद्बलकः-
'साध्य-मोक्षयोगः'-प्रथमः पुरुषार्थः- उपयोगो वा

(२)–बुद्ध्यनुगते-सिद्धावस्थापन्ने-ज्ञानबुद्धियोगे-कालात्मके-उपोद्बलकः-
'साध्य-धर्म्मयोगः'-द्वितीयः पुरुषार्थः,-उपयोगो वा

(३)–मनोऽनुगते-सिद्धावस्थापन्ने-ऐश्यर्य्यबुद्धियोगे-दिगात्मके-उपोद्बलकः-
'साध्य-कामयोग.'-तृतीयः-पुरुषार्थः, उपयोगो वा

(४)–शरीरानुगते-सिद्धावस्थापन्ने-धर्म्मबुद्धियोगे-देशात्मके-उपोद्बलकः-
'साध्य-अर्थयोगः'-चतुर्थः पुरुषार्थः, उपयोगो वा

१४४–'उपयोगिता' की व्यावहारिकता के मूलस्रोत का 'कोशत्त्व', एवं 'कोश' के सम्बन्ध में व्यावहारिक-उपयोगितावादियों से प्रश्न—

वर्त्तमानयुगानुगत, काल्पनिक, उपयोगितावाद की भावुकतापूर्णा आपातरमणीया दृष्टि का–हम समझते हैं, उक्त दोनों तालिकाओं से पर्य्याप्त समाधान होजाना चाहिए। यदि नहीं तो, फिर उन उपयोगितावादियों के स्वयं के ही कामार्थक्षेत्र तथाविधा अनेक समस्याओं के अनुगामी बन जायँगे, जिन के निराकरण के लिए वे किसी भी समाधान से सम्पर्क स्थापित कर ही न सकेंगे। उदाहरण के लिए सञ्चित कोश को ही लक्ष्य बनाइए। सञ्चित कोश का क्या दैनंदिनीय जीवन में प्रत्यक्ष में कोई उपयोग है ?। स्पष्ट है कि, कदापि प्रत्यक्ष में कोश का कोई भी उपयोग नहीं है। किन्तु कोश माना जाता है सर्वात्मना संरक्षणीय इसीलिए कि, प्रावाहिक जीवन की व्यवस्था के लिए आवश्यकता के अनुपात से कोशस्थ द्रव्य का ही उपयोग होता रहता है। जिस का उपयोग हो रहा है, किंवा जो उपयोगिता में आ रहा है, उस का मूलस्रोत कोश ही प्रमाणित होरहा है। ठीक यही स्थिति हमें उस परोक्ष ज्ञानविज्ञाननिधि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

१४५–सर्वव्यवहाराधिष्ठाता सर्वाधार 'कोशब्रह्म' का स्वरूप–संस्मरण—

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि, पञ्चमहाभूतात्मक, पञ्चप्राणात्मक, चतुर्विध मनोरूप, अष्टविध बुद्ध्यात्मक, तथा अष्टादशधा विभक्त–प्राकृतात्मात्मक विश्वविवर्त्त का मूलाधिष्ठाता, 'क्षर' नाम की 'अपरा-प्रकृति' से, 'अक्षर' नाम की 'पराप्रकृति' से समन्वित, पञ्चकलोपेत विश्वाध्यक्ष, विश्वेश्वर इसी उपयोगितावाद की दृष्टि से वेदशास्त्र में 'कोशब्रह्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। बात उस उपयोगितावाद की चल पड़ी, जिस महाभूत–महायक्षने भारतीय सांस्कृतिक–प्रज्ञाओं को भी आज भूतावेशवत् सर्वात्मना आविष्ट ही

कर लिया है। अतएव उदाहरणात्मक 'कोश' (अर्थ-सम्पत्ति) से लक्षीभूत इस 'कोशब्रह्म' के सम्बन्ध में, एवं तत्सम्बन्धिनी उपयोगिता के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देना उपयोगितावादियों की दृष्टि में तो अप्रासङ्गिक नहीं ही माना जायगा।

१४६–मात्राभावानुबन्धी आनन्द-विज्ञान–ज्ञान–कर्म्म–अर्थ–नामक व्यावहारिक महिमाविवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं इनका सर्व्वानुगतित्व—

आमोद, प्रमोद, हर्ष, उल्लास, आदि आदि अवान्तर भेदों से अनेकधा विभक्त 'सुख' नामक सुप्रसिद्ध अनुभूतभाव से तो सभी उपयोगितावादी सुपरिचित होंगे ही। तथैव आधिभौतिक–आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिनाक्षत्रिक–आधियाज्ञिक–आदि भेदेन स्थूल भेदों में विभक्त, तथा असङ्ख्यसङ्ख्यात अवान्तर शाखाओं में विभक्त, इसी वैविध्य के कारण 'विविध ज्ञान विज्ञानम्' निर्वचनानुसार 'विज्ञान' * नाम से प्रसिद्ध तत्त्व भी सर्व्वात्मना सुपरिचित नहीं *, तो अपरिचित भी नहीं है तथाविध मानववर्ग के लिए। तथैव च मति, प्रज्ञा, मनीषा, चित्, संवित्, अनुभूति, चिन्तन, मनन, आदि आदि भेदेन पर शत महिमाभावों में विभक्त 'ज्ञान' नामक तत्त्व का नाम भी अश्रुत नहीं है उपयोगितावादियों के लिए। एवमेव गमन–हसन–रुदन–अशन–पान–धावन–आदि आदि भेदेन सहस्रधा विभक्त 'कर्म्म' भी परिचय से पृथक् नहीं माना जासकता। तथैव च गुणभूत–अणुभूत–रेणुभूत–महाभूत–सत्त्वभूत–आदि आदि भेदभिन्न भूतात्मक 'अर्थ' का नाम भी उपयोगितावादियों के उपासनाक्षेत्र से बहिर्भूत नहीं माना जासकता।

१४७–व्यावहारिक मात्राभावों के उपभोक्ता के सम्बन्ध में उपयोगितावादियों से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

तदित्थं सुखात्मक समृद्धानन्द, विज्ञान, ज्ञान, कर्म्म, अर्थ, ये पाँचों ही तत्त्व उपयोगितावादियों के लिए कदापि अमान्य तो नहीं माने जासकते। अवश्य ही इन पाँचों ही सुप्रसिद्ध तत्त्वों–भावों–पदार्थों की उपयोगिता में किसी भी उपयोगितावादी को स्वाप्निक सन्देह भी नहीं होसकता। अब क्षणमात्र के लिए इन पाँचों उपयोगी तत्त्वों को विश्राम प्रदान कर इनका उपयोग करने वाले भर्गों को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। कौन है इनसे उपयोग लेने वाला ?। क्या एकमात्र आपही हैं इनके उपभोक्ता ?। अर्थात् क्या एकमात्र मानव का ही स्वत्वाधिकार है इनके उपभोग में ?। नेति होवाच। उदारवादियों की उदारता से अनुप्राणित यही उत्तर समीचीन होगा कि, इस महाविश्व में जितने भी प्राणी हैं, सभी को इनके उपयोग का उत्तरदायित्व प्राप्त है।

१४८–उपभोक्ता-प्राणियों के असंख्य विवर्त्त, एवं तदनुबन्धिनी असंख्य-संख्याता उपयोगिताएँ—

ओमित्येतत्। तो क्या कृमि–कीट–पक्षी–पशु–मानवादि भेद भिन्न सभी उपभोक्ताओं के आनन्द–विज्ञान–ज्ञान–कर्म्म–अर्थ–समानधर्म्मा हैं ?, किंवा एकजातीय हैं ?। प्रश्न सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने

*–विशेष विवेचन के लिए देखिए–'भारतीय दृष्टिकोण से–'विज्ञान' शब्द का समन्वय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध। (निबन्ध प्रकाशित है)।

वाली उस 'महत्प्रकृति' से सम्बन्ध रख रहा है, जिसके आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, रूपेण तीन महान्, एवं प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं। इन तीनों के प्रत्येक के अवान्तर अगणित भेद होजाते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम-'आकृतिमहान्' को ही लीजिए। चतुरशीतिकल (८४ कलायुक्त) पितृप्राण के सहस्रधात्मक सहस्रधा व्युदूहन से केवल आकृतिमहान् के ही-'८४००००० (चौरासीलाख) वर्गभेद होजाते हैं तथोक्त उप-भोक्ताओं के। योनिर्भावानुगत ये वर्ग (प्रत्येक वर्ग) पुनः असंख्य-संख्यायुक्त व्यक्तिनिबन्धन-प्रकृतिमहान्, तथा अहङ्कृतिमहान्-नामक विवर्त्तों से समन्वित होजाते हैं, जिस इस तात्त्विक विस्तार से 'उपयोगिता' जैसे महान् आकर्षक विषय के अनुयायियों में हम शिरोवेदना उत्पन्न नहीं करना चाहते।

१४९-सम्पूर्ण मात्राभावों के मूलकोशात्मक, पञ्चकोशात्मक 'कोशब्रह्म' की सर्वानुस्यूतता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासा-

वक्तव्यांश उक्त निदर्शन से केवल यही है कि, प्रत्येक योनि (जिस में अगणित व्यक्तियाँ हैं) की आनन्द-विज्ञानादि की मात्राएँ सर्वथा प्रातिस्विक, एव विभिन्न नाम-रूप गुणात्मक ही हैं। अतएव अनन्त महिमा-विवर्त्त होजाते हैं इन उपयोगी आनन्द-विज्ञानादि विवर्त्तों के, जिन का कि मानवबुद्धि यथावत् परिगणन भी तो नहीं करसकती। विभक्त-भावो के अनुबन्ध से इन उपभोग्य उपयोगी विवर्त्तों के साथ-'मात्रा' शब्द समन्वित कर दिया है भारतीय महर्षियोंने। अतएव उपयोग में आने वाले उक्त विवर्त्त यत्र तत्र **आनन्दमात्रा, विज्ञानमात्रा, ज्ञानमात्रा,** आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं। ये ही व्यावहारिक आनन्द-विज्ञानादि हैं, जिन यच्चयावत् मात्राभावों * का जो एक, अभिन्न महाकोश है, उसी का नाम है दिग्देशकालातीत, किन्तु दिग्देशकालव्यापक वह कोशब्रह्म, जिस के छन्दोमय पाँचो ही कोश क्रमशः **आनन्दमयकोश, विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश, प्राणमयकोश, वाङ्मयकोश,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। व्यवहारजगत् के व्यवहर्त्ता असंख्य संख्यात-वर्गों की परस्पर सर्वथा विभिन्ना **आनन्द-विज्ञान-ज्ञान-कर्म्म-अर्थ**-नाम की मात्राएँ इसी पञ्चकोशात्मक उसी महान् कोश से व्यवहारानुपात से, किंवा व्यवहर्त्ता की योग्यता-शक्ति-आदि के अनुपात से विनिर्गत होती रहतीं हैं, जैसा कि-'**एतस्यैवानन्दस्य--मात्रामुपादाय-अन्यानि-भूतानि-उपजीवन्ति**' (बृहदारण्यकोपनिषत्-) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है।

१५०-पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मब्रह्म, तदनुबन्धी मात्राभावों का सृष्टिभेद से वितान, एवं एकमात्र आत्मनिष्ठ 'मानव' का ही पूर्णरूपेण तत्सह-साम्य-समन्वय-

अत्यन्त ही विलक्षण है पञ्चकोशात्मक, अतएव **आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-रूप** वह विश्वेश्वर विश्वात्मा, जिन इन दिग्देशकालानन्त-विभूति-विवर्त्तों के समतुलन में दिग्देशकालनिबन्धन मात्रा-विवर्त्तों का यत्किञ्चित् भी महत्त्व उसी प्रकार नहीं है, जैसे कि विश्वगर्भ-भुक्त प्राणियों के श्रेणि-विभागात्मक मात्रानन्दादि विवर्त्तों में पूर्व-पूर्व-विवर्त्तों के समतुलन में--उत्तर उत्तर के मात्रानन्दादि विवर्त्तों का अकिञ्चित्कर ही स्वरूप है। यह तो एकमात्र महान् मानव का ही पुरुषार्थ है, जिसने सम्पूर्ण मात्रानन्दादि

*-अतएव राजस्थान में-'मात्रा' शब्द खण्ड-खण्डानुगता वित्तसम्पत्ति के लिए भी उपयुक्त होता देखा गया है।

विवर्तों को उस घनमात्रापन्न कोशानन्दादि विवर्तों में अर्पीत कर तत्क्षण ही भूमाभाव प्राप्त कर लिया है,
इति नमो नमस्तस्मै आत्मनिष्ठाय-मानवश्रेष्ठाय प्रणतमानेन।

१५१–स्वतन्त्र-'मोक्तृत्व' से वञ्चित मानवेतर वर्ग, तन्निबन्धना-'जायस्व म्रियस्व' व्यवस्था, एवं भूतसर्गानुबन्धिनी आनन्दमात्रानुगता तारतम्य व्यवस्था—

केवल मन-शरीरोपजीवी मानवेतर प्राणियों के मात्राभावों की तो मीमांसा ही अप्राकृत मान ली है ऋषियोंने इसीलिए कि, उन में-'भोक्ता' जैसा स्वतन्त्र आत्मा स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है ही नहीं। अपितु-प्रकृतिमात्र की प्रेरणा से उत्पन्न होते रहना, एवं खाते पीते हुए मर जाना ही। इस वर्ग का सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस की-'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त कोई भी मीमांसा सम्भव ही नहीं है। अतएव श्रुतिने मात्रानन्द की मीमांसा का उपक्रमस्थान 'मानव' को ही माना है। मानव से आरम्भ कर चतुर्दशविध-भूतसर्ग के सर्वान्त के चान्द्र जीवात्मक-'ब्रह्म' पर्य्यन्त व्याप्त श्रेणि-विभागों के आधार पर ही श्रुतिशास्त्र ने मात्रानन्द के तारतम्य की मीमांसा की है। (देखिए बृ० उप० ५ अध्याय-३ ब्राह्मण)।

१५२–मात्राभावाधिष्ठाता कोशब्रह्म के पञ्चकोशों का संस्मरण, कोशविनिर्गता मात्राओं की उपयोगिता से अनुप्राणिता मौलिक–'उपयोगिता' का किञ्चिदिव निदर्शन—

जिस कोशब्रह्म के अन्तिम पर्व को हमने 'वाङ्मयकोश' कहा है, वही तैत्तिरीय उपनिषत् में–'अन्न-ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कोशब्रह्म का वाग्भाग ही 'आकाश' है, इस का अभिव्यक्त रूप ही 'वायु' है, तदभिव्यक्तरूप ही–'तेज' है, तदभिव्यक्ति ही-'जल' है, एवं तदभिव्यक्ति ही 'पृथिवी' (मृत्) है। यों पाँचों भूत वाङ्मय ही बने हुए हैं, जैसा कि–'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'-'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि से स्पष्ट है। वाङ्मय ये पाँचों भूत ही विकारावस्था में आकर प्राणियों के 'अन्न' बनते हैं। आकाश शब्दान्नरूप में, वायु श्वास-प्रश्वासान्नरूप में, तेज चक्षुर्ज्योतिरन्नरूप में, जल पेयान्नरूप में, तथा-पृथिवी यव-गोधूम-तृणाद्यादिरूप में उपयुक्त होरहे हैं। इसी तथ्य की दृष्टि से वाङ्मय कोश को महर्षि तित्तिरिने-'अन्नमयकोश' नाम से व्यवहृत कर दिया है, जिस से परे तत्सूक्ष्म प्राणमयकोश, तत्पर मनोमयकोश, तत्पर विज्ञानमयकोश, एवं तत्पर आनन्दमयकोश प्रतिष्ठित है। इन्हीं पञ्चविध कोशों से मात्राएँ ले ले कर सम्पूर्ण चर-चर-उपजीवित हैं। और हम समझते हैं–श्रुति के निम्न लिखित स्पष्टतम, उपयोगिता-सूचक-उद्बोधनसूत्रों के तथ्य से अब भी अपने आप को असंस्पृष्ट-बनाए रखने की लोककला में कुशल जो महानुभाव कोशब्रह्मानुगता भारतीय-संस्कृति, तदनुप्राणित भारतीय-सांस्कृतिक आचार, एवं तत्प्रसूत भारतीय-सांस्कृतिक--आयोजनों की व्यावहारिकी उपयोगिता में भावुकतामूलक अपने व्यक्तित्व के विमोहन के कारण सन्देह करते हैं, उन के सम्बन्ध में तो--'न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति' यह लौकिक न्याय ही महान् पुरस्कार प्रमाणित होता रहेगा। आत्मनिष्ठ, अतएव शास्त्रनिष्ठ भारतीय मानवने तो न कभी उपयोगिता--अनुपयोगिता जैसी कुत्सित मीमांसा का ही अनुगमन किया, नापि इत्थभूत कारणता-वाद को अपनी लक्ष्यभूमि ही बनाया। अपितु इसने तो निम्न लिखित शब्दों में कोशब्रह्म का यशोगान ही ही प्रशान्त रक्खा है कि—

अन्नं, प्राणः, मनः, विज्ञानं, आनन्दः, ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नात्, प्राणात्, मनसः, विज्ञानाद्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन, प्राणेन, मनसा, विज्ञानेन आनन्देन जातानि जीवन्ति। अन्नं-प्राणं-मनः-विज्ञानं-आनदं-प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता *।

—तैत्तिरीय-उपनिषत्

१५३–आत्मभावनिबन्धना प्राणप्रधाना मौलिक उपयोगिताओं के प्रति उपयोगितावादी की निरपेक्षता, एवं तन्निबन्धना लोकोपयोगान्विता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

क्या उपयोगितावाद का महतोमहीयान् विजृम्भण, किंवा दिग्देशकालव्यामोहनात्मक, कारणतावादात्मक, बुद्धिवाद उपरत होगया उक्त निवेदन से ?। अभी नहीं। इसलिए नहीं कि, जिन की ओर से 'उपयोगितावाद' का प्रश्न आवेशपूर्वक उपस्थित होता रहता है, उनकी दृष्टि में न तो वर्त्तमान से अतिरिक्त दिगदेशकालातीत किसी अनन्त आत्मा का ही कोई महत्त्व, न आत्मानुबन्धी मोक्ष, तथा सत्त्वबुद्ध्यनुगत धर्म्म की ही कोई अपेक्षा। अपितु वह वर्ग तो इन दोनों से ही अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष, तटस्थ मान कर ही, तत्स्थाने च प्रत्यक्षदृष्ट–वर्त्तमानात्मक–दिग्देशकाल की भूतोन्नति को ही जीवन की चरम उपयोगिता मानता हुआ तथाविधा शास्त्रीया उपयोगिता की उपेक्षा में ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के विसर्ज्जन में आविष्ट होरहा है। अतएव जबतक इसी की मान्यता से अनुप्राणिता लौकिकी–प्रत्यक्षसिद्धा–भूतभौतिकी–उपयोगिता की ओर इसका ध्यान आकर्षित नहीं करा दिया जाता, तबतक इस दिग्देशकालप्रेमी, अतएव केवल–वर्त्तमानवादी का कदापि अनुरञ्जन सम्भव नहीं है।

१५४–आज का भौतिक-जनजीवन, तत्सञ्चालक उपयोगितावादी प्रमुखवर्ग, एवं-'सांस्कृतिक-उपयोगिता' के सम्बन्ध में वर्त्तमानानुबन्ध से अनुरञ्जन का आत्यन्तिक अभाव—

निष्कर्ष यही है कि, दिग्देशकालातीता, अतएव "अमूर्त्त–अव्यक्त, अतएव च अप्रत्यक्ष–भावापन्न आत्मानन्द, तदनुबन्धी सुसूक्ष्म-ज्ञान-विज्ञान, धर्म्म-ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्यादि लक्षणा आध्यात्मिक विभूतियाँ, मोक्ष, धर्म्म, परलोक, स्वर्ग, आचार, योग, समत्त्व, आदि आदि भूतातीत उपयोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है आज के जन–जीवनीय–उपयोगी–क्षेत्रों से" ऐसी मान्यता है हमारे आज के उपयोगितावादी आत्मबन्धुओं की। इत्थंभूता आपातरमणीया काल्पनिकी मान्यता में केवल आज का तथाविध मानव ही अपराधी नहीं है। अपितु यह अपराध तो त्रिसहस्रवार्षिकी उस दार्शनिकता की कृपा के ही प्रसूत हैं, जिसने अध्यात्मवाद का

*–इस श्रुति के ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वसमन्वय के लिए देखिए—'तैत्तिरीयोपनिषद्विज्ञानभाष्य'। (यह अभी अप्रकाशित है)।

अर्थ केवल लोकातीत-आत्मब्रह्म मानते हुए तदपेक्षया समस्त विश्व को, एवं विश्वानुबन्धी व्यक्त-मूर्त-कर्म्म को मिथ्या ही घोषित कर दिया है, जैसाकि पूर्व में सत्य, शिव, सुन्दर-लक्षण, ईश्वरीय-महिमाविवर्त्तरूप विश्व के स्वरूप-दिग्दर्शन से स्पष्ट किया जाचुका है।

१५५-मौलिक-संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषक शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न-परम्परा, एवं दार्शनिक प्रज्ञा के वाग्विजृम्भण से प्रश्न की महती सम्प्रश्नात्मकता—

क्या औपनिषद ज्ञान मानव का प्रत्यक्षजगत् से विच्छेद कराने के लिए ही प्रवृत्त हुआ है ?। क्या औपनिषद ज्ञान-विज्ञान-धारा का मानवव्यक्ति के बुद्धि-मन-शरीर-निबन्धन प्राकृत स्वरूपों से, तदनुगता पारिवारिकी व्यवस्थाओं से, तन्मूलक सामाजिक-अनुबन्धों से, तदनुगत राष्ट्रीय विधि-विधानों से, एवं तदनुप्राणिता विश्वसमस्याओं से सर्वात्मना पार्थक्य कर देना ही एकमात्र परम-पुरुषार्थ है ?। क्या लोकविभूतिरूप भोग्य-भोक्ता-प्रजा-पशु-कीर्त्ति-यश-आदि यादि दिग्देशकालानुबन्धिनी वर्त्तमानकालानुगता सामयिकी उपयोगिताओं के साथ भारतीय तत्त्ववाद का, तद्रूपा संस्कृति का, एवं तदभिन्न आचार-आयोजनों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ?। ऐसा ही तो बतलाया जारहा है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से इस भावुक-भारतीय मानव को दार्शनिक-प्रमुख उन नवग्रहग्राहात्मक नवविध उद्घोषक भारतीय विद्वानों के द्वारा, जिनके नि आधारशून्य इन अकाण्ड-ताण्डवों के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही हमें निबन्ध में एक स्वतन्त्र खण्ड-(द्वितीय खण्ड) उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

१५६-नवग्रहग्राहात्मक दार्शनिक वारुणपाश से आबद्ध भारतीय प्रज्ञातन्त्रों का शास्त्रीया लोकानुबन्धिनी आचारनिष्ठाओं से पारम्परिक स्खलन, एवं तत्परिणाम स्वरूप ही लोकोपयोगिता से शास्त्र की पराङ्मुखता—

नवग्रहग्राहों के वारुणपाश-बन्धन से ही भारतीय प्रजा उस समस्त लोक-सौन्दर्य्य से, लौकिक समृद्धि-विभूति परम्पराओं से तीन सहस्र वर्षों से निरन्तर उत्तरोत्तर वञ्चित ही होती आरही है, जिस इस कल्पनाप्रसूता भावुकतापूर्णा त्याग तपस्या-बलिदान-त्रयी से ही इसके व्यक्त-मूर्त-उपयोगी-क्षेत्र इसकी प्रज्ञा से सर्वथा ही पराङ्मुख होगए हैं, जिस पराङ्मुखता का उत्तरदायित्व समन्वित होपड़ा है उन्हीं नवग्रहों की कृपा से उस भारतीय मौलिक शास्त्र के साथ भी, जिसने कदापि भौतिक उपयोगितावाद का विरोध नहीं किया है। यही नहीं, पाठकों को यह जान कर तो आश्चर्य्य ही होगा कि, वेदशास्त्र के कर्म्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में तो पारलौकिकी-उपयोगिताओं के साथ साथ ऐहलौकिकी-समृद्धियों का सह समन्वय हुआ ही है। किन्तु जग-न्मिथ्यावादी जिन दार्शनिकों ने वेद के जिस उपनिषद्भाग को केवल ज्ञानकाण्डात्मक, अतएव दिग्देशकाला-तीत लोकातीत परोक्ष या ब्रह्ममात्र का प्रतिपादक मानने, एवं मनवाने की भावुकतापूर्णा भ्रान्ति कर रक्खी है, वे उपनिषद्ग्रन्थ भी अपने आत्मस्वरूपनिरूपण-प्रसङ्गों के उपसंहार में भौतिकी उपयोगिताओं को सर्वात्मना सह-समन्वित ही मान रहे हैं। महनमाया में-स्वस्वरूपबोधात्मक-प्रोक्त पञ्चकोशात्मक अध्यात्मब्रह्म के बोध का फल यदि आत्मनि श्रेयस् है, तो उसी उपनिषत् की दृष्टि में, उसी स्थल के द्वारा वही आत्मबोध लौकिक-अभ्युदय का भी निमित्त माना गया है। पारलौकिक-आत्मनि.श्रेयस् ही ऐहलौकिक अभ्युदय की भी मूलप्र-तिष्ठा प्रमाणित की गई है उसी उपनिषच्छास्त्र के द्वारा।

१५७-सूक्ष्म, तथा स्थूल-भावों के माध्यम से ही सम्भावित उपयोगितावाद का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में एक तात्त्विक प्रश्न—

युक्तं चैतत् । सूक्ष्म ही स्थूल की आधारभूमि है । आत्मा हीं विश्व की प्रतिष्ठा है । क्या स्थूल-शरीर का सूक्ष्म प्राण की प्रतिष्ठा के विना कोई उपयोग है ? । क्रियाशक्तिमय सूक्ष्मप्राण क्या ज्ञानशक्तिमय सूक्ष्मतर मन की इच्छा के विना क्रिया में प्रवृत्त होसकता है ? । क्या सूक्ष्मतमा विज्ञानबुद्धि के विना निष्कैवल्य मन व्यवस्थित-मर्य्यादित कामनाओं का अनुगामी बन सकता है ? । सर्वान्ते च सर्वान्तरतम आनन्दमय ब्रह्म से अनुप्राणिता रसानुभूति को अवलम्ब बनाए विना क्या विज्ञानबुद्धि प्रकृतिस्था बनी रह सकती है ?। और क्या ये ही प्रश्न यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त नही है कि, सूक्ष्मजगत् को मूलप्रतिष्ठा बनाए विना स्थूलजगत् से सम्बन्ध रखने वाली उपयोगिताओं का स्वरूप व्यवस्था-कौशल-पूर्वक सुसम्पन्न हो ही नही सकता । हां, तो कौनसी हैं वे लौकिक-उपयोगिताएँ, जिनका आज के युग में 'जनजीवन' से सम्बन्ध माना जारहा है, एव जिन वर्त्तमानयुगीया उपयोगियाताओ से ही सर्वात्मना समाकर्षित 'उपयोगितावादी' महानुभाव इनके समतुलन में लोकातीत-सांस्कृतिक-निधियों को अनुपयोगी-प्रमाणित करने के लिए प्रतिक्षण आवेश-पूर्वक जागरूक ही बने रहते हैं ? ।

१५८-मूलसंस्कृति से निरपेक्ष जनतन्त्र की उपयोगिताओं का षड्विध-वर्गीकरण, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन—

आज के युग की सर्वाधिक-महती उपयोगिता है-'रोटी, और कपड़ा' । अर्थात् अन्नवस्त्र, अर्थात् शास्त्रीय भाषा में-'योगक्षेमव्यवस्था', अर्थात्-सामान्या-व्यावहारिकी भाषा में-दैनिक-जीवन के उपयोग में आने वाले भूत-भौतिक 'भोग्य-पदार्थ' । दूसरा उपयोगी स्वयं वह 'भोक्ता' है, जो इन भोग्यों के उपभोग से सम्बन्ध रखता है । तीसरा विवर्त्त 'सन्तति' रूपा 'प्रजा' का है । चौथा उपयोगी विवर्त्त-'पशु-सम्पत्ति' है, जिसका कृषि में भी उपयोग है, एवं अन्यान्य भी उपयोग हैं । पाँचवाँ उपयोगी वह लौकिक-ज्ञान है, जिसके द्वारा भोक्ता भोग्यो से भी अनुगत होता रहता है, एवं प्रजापालन, तथा पशुसंरक्षण में भी सफल बनता रहता है । एवं सर्वान्त का उपयोगी तथ्य है वह-'नाम', जिसकी प्रच्छन्ना बुभुक्षा मानवीय मन का सहज स्वभाव माना गया है, एवं जो नामख्याति कीर्त्ति, यश, आदि नामों से प्रसिद्ध है । अलमतिपल्लवितेन । एक लौकिक मनुष्य की लौकिक-कामनाएँ, लौकिक उपयोगिताएँ इन्हीं [1]भोग्य-[2]भोक्ता-[3]प्रजा [4]पशु-[5]ज्ञान-[6]नामख्याति, इन षड्विध सामान्य-अनुबन्धों पर ही परिसमाप्त हैं, जिनकी सीमा में ही अन्यान्य यच्चयावत् लौकिक उपयोगिताएँ अन्तर्गर्भित हैं ।

१५९-उपनिषदों की सुप्रसिद्धा भार्गवी-वारुणी-विद्या से अनुप्राणिता ६ प्रकार की लोकोपयोगिताओं का आत्यन्तिक-समर्थन—

क्या उक्त लौकिकी-उपयोगिताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है भारतीय तत्त्ववाद का ?, जिस इस हेत्वाभास के माध्यम से ही आज के ये उपयोगितावादी-'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित करते हुए झटिति अपने इत्थंभूत ही अविचारितरमणीय उद्गार अभिव्यक्त कर

ही तो पड़ते हैं कि-"आज के जनजीवन में परात्पर-परोरजा-अव्यय-अक्षर-अह्ना-मस्कृति आचार-आदि आदि से समन्विता तत्त्वचर्चा की क्या उपयोगिता ?", इति नु सर्वथा इसलिए अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! ही कि-शास्त्र अपनी तात्त्विकी आत्मगूला संस्कृति के बोध को ही तथाविधा-तथोक्ता लौकिकी उपयोगिताओं के प्रति प्रमुख कारण मान रहा है, जैसाकि-'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि लक्षणा भार्गवी वारुणीविद्या से अनुप्राणिता पूर्वनिर्दिष्टा तैत्तिरीय श्रुति के ही निम्नलिखित उपसंहार स्थल से सर्वात्मना प्रमाणित होरहा है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद-(सः) प्रतितिष्ठति (प्रतिष्ठितो भवति लोके)। अन्नवान् (भवति), अन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया, पशुभि, र्ब्रह्मवर्चसेन (ज्ञानेन)। महान् (भवति) कीर्त्या (यशसा)।

—तै० उपनिषत्

१६०-षड्विध लौकिक उपयोगिताओं के मूलाधिष्ठानरूप तीन प्राकृत-विवर्त—

उक्त श्रुति का तात्त्विक अर्थ स्पष्टतम है। ये ६ओं फल 'प्राकृतफल' हैं, 'लौकिकफल' हैं। मानव का पुरुषभाग जहाँ एकविध है, वहाँ प्रकृतिभाग तीन महिमाविवर्त्तों में विभक्त हो रहा है, जोकि प्रकृति के तीनों विवर्त्त क्रमशः कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, तथा देशात्मक भूपिण्ड नामों से पूर्वनिर्दिष्ट हैं। ये ही तीनों विवर्त्त मानव के (पुरुष के) क्रमशः बुद्धि, मन, शरीर, नामक तीन प्राकृत विवर्त्त हैं, जिनका दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृतिक उपयोगी-तन्त्रों से ही प्रधान सम्बन्ध माना है उपनिषच्छ्रुति ने।

१६१-'दैवतानि च भूतानि च' मूलक 'पदम्', और पुनःपदम्', एवं तन्निबन्धन स्पृश्य-पिण्ड, दृश्यमण्डल-भावों का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धी प्राकृत-विवर्त्त—

प्रकृति के ये तीनों ही विवर्त्त सुप्रसिद्धा तात्त्विकी पदम्, पुनःपदम्, लक्षणा द्विधा विभक्ता परिभाषा से समन्वित होते हुए दो दो अवान्तर भावों में विभक्त हो रहे हैं, जिस इस रहस्यपूर्ण तथ्य के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। प्रसङ्गसमन्वयात्मिका सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, भारतीय विज्ञानदृष्टि से पाञ्चभौतिक विश्व का प्रत्येक पदार्थ 'दैवतानि च भूतानि च' इस श्रुति के अनुसार देवता, और भूत, इन दो भावों का ही समन्वितरूप है। भूत का आधारभूत सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व ही-'देवता' है, जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-नाम से सुप्रसिद्ध पञ्चविध भौतिक-तन्मात्राओं के धामच्छद (स्थानावरोधक) धर्म्म से असंस्पृष्ट रहता हुआ विशुद्ध अधामच्छद तत्त्व है। इसी की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित रहने वाला धामच्छद (स्थान अवरुद्ध करने वाला) स्पृश्यपिण्ड ही 'भूत' है। भूत ही वस्तुपिण्ड है, जिसका आधारभूत-भूतपिण्डहृदयस्थ (केन्द्रस्थ) प्राण अपने हृदयावच्छिन्न उक्थबिम्बरूप से अर्क-रश्मि-रूप में परिणत होता हुआ, अकस्मात् इन्हीं प्राणरश्मियों से भूतपिण्ड को परितः-आसमन्तात् (चारों ओर से, किंवा

सब ओर से) परिवेष्टित करता हुआ, इसी भूपिण्ड को अपना केन्द्रस्थान बनाता हुआ अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है, जो कि प्राणात्मक महिमामण्डल विज्ञानभाषा में साहस्री-महिमा-वषट्कार-उक्थामद-साम-आदि विभिन्न अभिधाओं से व्यवहृत हुआ है। इसी प्राणमण्डल का साङ्केतिक नाम है-'पुनःपदम्', एवं प्राणमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित भूतपिण्ड का नाम है-'पदम्'। और यों प्रत्येक भौतिक-पदार्थ प्राण-मण्डल, तथा भूतपिण्ड-रूप से इन पुनःपदं, तथा पदम्-भावों से नित्य समन्वित रहता है।

१६२-काल-दिक्-देशात्मक सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-विवर्त्तों के पिण्ड-मण्डल-भाव, और 'उपयोगिता'-

प्राणमण्डलात्मक पुनःपद ही तद्भूतपिण्ड का ज्योतिर्म्मण्डल है, जिस के माध्यम से ही ज्योतिर्म्मयी प्राणात्मिका रश्मियों के प्रतिफलनात्मक वितानात्मक 'साम' से वस्तुपिण्ड की आकृति दृश्या बना करती है, जब कि स्वयं वस्तुपिण्डात्मक पदम् केवल स्पृश्य ही माना गया है। भूतपिण्ड ही स्पृश्य बनता है, एवं प्राणमण्डल ही दृश्य बनता है। जिसका हम स्पर्श करसकते हैं, कदापि उसे देख नहीं सकते। एवं जिसे हम देख सकते हैं, कदापि उसका स्पर्श सम्भव ही नहीं है। दृश्याधिष्ठाता प्राणमण्डलात्मक देवभावापन्न पुनःपदं, एवं स्पृश्याधिष्ठाता भूतपिण्डात्मक भूतभावापन्न पदं, इन दोनो सामान्य-भावो का पूर्वोक्त सूर्य्य-चन्द्र-भू-विवर्त्तों के साथ भी सम्बन्ध हो रहा है, यही प्राकृत वक्तव्य है।

१६३-कालात्मक सूर्य्य से अनुप्राणित ज्ञान, और यश, दिगात्मक-चन्द्रमा से अनुप्राणित पशु, और प्रजा, तथा देशात्मक भूपिण्ड से अनुप्राणित भोग्य, और भोक्ता, एवं षड्विध लौकिक-उपयोगी-विवर्त्त-

सूर्य्यपिण्ड भूतपिण्ड है, तत्प्राणात्मक महिमामण्डलात्मक ज्योतिर्म्मण्डल ही इसका साममण्डल है, और यही 'पुनःपदम्' है। तथैव चन्द्रमा, और भूविवर्त्त में भी पिण्ड, और मण्डलरूप से दोनो विवर्त्त समन्वित हैं। इन तीनो के प्राणात्मक ज्योतिर्म्मण्डल ही क्रमशः स्वज्योतिः-परज्योतिः-रूपज्योति-नामक मण्डल कहलाए हैं। मण्डलात्मक इन तीनों पिण्डों को लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधारेणैव तैत्तिरीय-उपनिषत् के तथाकथित ६ ओं लोक-विवर्त्तों का समन्वयानुग्रह कीजिए। [1]भूपिण्ड, और रूपज्योतिर्म्मय [2]भौम-मण्डल, इन दोनों पार्थिव विवर्त्तों से ही क्रमशः [1]अन्न, और [2]अन्नाद, इन दो भावों का सम्बन्ध है। [1]चन्द्रपिण्ड, और रूपज्योतिर्म्मय [2]चान्द्रमण्डल, इन दोनों चान्द्र-विवर्त्तों से ही क्रमशः पशु, और प्रजा, इन दो भावों का सम्बन्ध है। एवमेव [1]सूर्य्यपिण्ड, तथा स्वज्योतिर्म्मय [2]सौरमण्डल, इन दोनों सौर-विवर्त्तों से ही क्रमशः ब्रह्मवर्चस्, तथा कीर्त्ति, इन दो भावों का सम्बन्ध है। कैसे है ?, क्यो है ?, इत्यादि जिज्ञासापूर्त्ति का आधार तो एकमात्र चिरन्तना स्वाध्यायनिष्ठा ही मानी जायगी। सैव शरणीकरणीया जिज्ञासुभिः।

१६४-मानवीय-बुद्धि, मन, शरीर, के साथ तथोक्ता षड्विध उपयोगिताओ का तालिका-माध्यमेन स्वरूप-समन्वय-

प्रकृत में इस निदर्शन से एतावन्मात्र ही निवेदनीय है कि, मानव की [1]सौरी-[2]चान्द्री-[3]पार्थिवी [1]बुद्धि-[2]मनः-[3]शरीर-निबन्धना त्रिविधा प्रकृति ही मानव का [1]काल-[2]दिक्-[3]देशात्मक प्राकृतिक-व्यक्त-मूर्त्त-प्रत्यक्ष-स्वरूप है। प्रत्येक की उपयोगिता के क्षेत्र दो दो भावों में विभक्त हैं। सम्भूय ६

प्राकृत-उपयोग निष्पन्न होजाते हैं, जिन का ही श्रुतिने सक्षेप से सङ्केत कर दिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

प्राकृतिक-उपयोगी-भावानां-मूलभावाः-षड्विधाः—

१	१-सूर्य्यपिण्ड [पदम् भूतानि]—ब्रह्मवर्चस्	बुद्धितन्त्रानुगत -कालभाव
	२-सौरमण्डलम् [पुन.पदम्-प्राणा.]-कीर्त्ति	
२	१-चान्द्रपिण्ड [पदम् भूतानि]—पशव	मनस्तन्त्रानुगत.-दिग्भाव
	२-चान्द्रमण्डलम् [पुन पदम्-प्राणा]-प्रजा	
३	१-भूपिण्ड [पदम्-भूतानि]—अन्नम्	शरीरतन्त्रानुगत -देशभाव.
	२-पार्थिवमण्डलम् [पुन पदम्-प्राणा]-अन्नाद.	

दिग्देशकालानुगताः-व्यक्तभावाः-उपयोगितावादसमर्थकाः—

१-ब्रह्मवर्चस्--[भोगसाधनभूता-ज्ञानशक्ति]	सौरी-उपयोगद्वयी
२-कीर्त्ति.——[भोगफलात्मिका-नामख्याति]	
१-पशव ——[कृषि-वाणिज्यादि-साधका]	चान्द्री-उपयोगद्वयी
२-प्रजा ——[पुत्र-पौत्रादय -सन्तानभावा]	
१-अन्नम्——[भोग्यपदार्था -मूलभौतिका]	पार्थिवी-उपयोगद्वयी
२-अन्नाद ——[भोक्तारो मानवा.]	

१६५–षड्विध प्राकृत उपयोगिताओं की मूलप्रतिष्ठारूप महान् उपयोगी अव्ययात्मब्रह्म–

प्रासङ्गिकरूपेण समुपस्थिता उपयोगिता–अनुपयोगिता की तथोक्ता मीमांसा के अनन्तर किसी भी प्रज्ञाशील, किन्तु ईश्वरनिष्ठ मानवश्रेष्ठ को तो भारतीय सांस्कृतिक-निधि के सम्बन्ध में इत्थंभूत अनार्षभावापन्न उपयोगितावाद का प्रश्नोत्थान भी मलीमस ही प्रतीत होगा। अतएव इस प्रासङ्गिक–प्रसङ्ग को अत्रैव उपरत कर हम पाठकों का ध्यान पुनः मानव की उस 'मानवता' की ओर ही आकर्षित करना चाहते हैं, जिसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, पार्थिव-शरीर, चान्द्र-मन, एवं सौरी–बुद्धि, इन तीन प्राकृत–तन्त्रों से कदापि मानव तबतक 'मानव' अभिधा का तो उपभोक्ता नहीं बन सकता, जबतक कि, वह इन तीनों प्राकृत तन्त्रो को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले अव्ययात्मब्रह्म को इन तीनो की प्रतिष्ठा नहीं बना लेता।

१६६–अव्ययात्मनिबन्धन 'मानव' की 'मानवता' से अनुप्राणित भारतीय आचार–निष्ठापथ, और तन्निबन्धन मूल–तूल–भेदात्मक राष्ट्रीय–साहित्य का (त्रयीवेदमूर्त्ति भारताग्नि) राष्ट्रदेवताके पावन–चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पण–

जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध, रहस्यपूर्ण, किन्तु ऋजुतम (सरलम) उपायविशेष से 'मानव' की 'मानवता' के एकमात्र मापदण्ड उस 'अव्ययात्मा' की स्वस्वरूपेण अभिव्यक्ति सम्भव बन जाया करती है, वही उपायविशेष 'आचारनिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध है। त्रिसहस्रवार्षिकी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से इत्थंभूता जो आचारनिष्ठा भारतीय–भावुक–प्रज्ञा के लिए सर्वात्मना विस्मृति-पथानुगामिनी हीं बन गई है, सर्वनाशकारिणी उसी भावुकता के निरोध के लिए, एवं तत्स्थाने च मतवाद–सम्प्रदायवादादि दिग्देशकालानुबन्धों से सर्वथैव असस्पृष्टा मानवीया आचारनिष्ठा के आंशिक–आराधन के लिए ही राष्ट्रभाषा–हिन्दी में हमने राष्ट्रदेवता के पावन चरणो में मूल-तूल–भेदेन द्विधा विभक्त शब्दप्रसून अत्यन्त प्रणतभाव से आस्था–श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देना अपना वर्णोचित आचार ही मान लिया है।

१६७–तत्त्वस्वरूपविश्लेषणात्मक 'मूलसाहित्य', एवं आचारस्वरूप–विश्लेषणात्मक 'तूल-साहित्य', तथा तदनुबन्धिनी उपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

मूलसाहित्य तत्त्वविश्लेषणात्मक, एवं तूलसाहित्य आचारविश्लेषणात्मक है। कदापि इसका यह तात्पर्य्य नही है कि, मूलसाहित्य की तत्त्वचर्चा आचार से, तथा तूलसाहित्य की आचारचर्चा तत्त्व से सर्वात्मना पृथक् है। अपितु इन दोनों ही साहित्यों में गौण–प्रधान–रूपेण दोनो ही दृष्टिकोणो का यथाशक्य अनुगमन हुआ है। अशीतिसहस्रपृष्ठसंख्या में अबतक सम्पन्न मूलसाहित्य के सम्बन्ध में हमें यह निवेदन कर देने में कोई संकोच नही होरहा कि, इस विस्तृत–साहित्य की उपयोगिता का प्रधान क्षेत्र संस्कृति के स्वाध्यायनिष्ठ परिगणित-विशेषवर्ग से ही अनुप्राणित है। विलुप्तप्राया ज्ञान–विज्ञानात्मिका परिभाषाओं के तात्त्विक स्वरूप–विश्लेषण से ही प्रमुखरूपेण सम्पन्न यह मूलसाहित्य सर्वसामान्य की 'उपयोगिता' का सर्वात्मना समर्थन तबतक तो नहीं हीं करसकता, जबतक कि, सर्वसामान्यवर्ग अपनी इस मूलनिधि के पारम्परिक–तत्त्वानुगत–आचारात्मक स्वरूप के बोध से समन्वित होता हुआ तत्प्रति जिज्ञासु नहीं बन जाता।

१६८–सामयिक-उपयोगितावाद से अनुप्राणित तूलसाहित्य, एवं तदनुगत चिन्तन स्वाध्याय, तथा आचरण से अनुगता निष्ठा से ही सम्भावित राष्ट्र-अभ्युदय—

सर्वसामान्य की जिज्ञासा जागरूक करने जैसे पावन, माङ्गलिक उद्देश्य से ही हमनें–मूलसाहित्य के आधार पर, उन्हीं श्रौत–स्मार्त–पौराणिक–तान्त्रिक–सन्दर्भों के प्रासङ्गिक–विश्लेषण–के माध्यम से 'सामयिक-उपयोगितावाद' की दिग्देशकालानुगता मान्यता का समादर करते हुए उद्बोधनात्मक सामयिक-साहित्य सङ्कलित किया है, जो अपने विगत पञ्चवर्षीय काल में अनतक पञ्चसहस्रपृष्ठानुगत बन चुका है, जिस में अनुमानत चार-सहस्रपृष्ठात्मक साहित्य तो यही प्रक्रान्त निबन्ध है, जिसका कि चतुर्थखण्ड पाठकों के समक्ष उपस्थित है। एकसहस्रपृष्ठात्मक 'भारतीय सांस्कृतिक आयोजन' नामक निबन्ध है। तदतिरिक्त कतिपय सामान्य (छोटे) निबन्ध हैं। और यही उद्बोधनात्मक–प्रस्तुत–सामयिक (तूल) साहित्य का स्वरूप-दिग्दर्शन है। इन सामयिक–निबन्धों के सम्बन्ध में आत्मनिष्ठापूर्वक, किन्तु अत्यन्त ही प्रणतभाव से हमें यह निवेदन कर देने की भी धृष्टता कर ही लेनी पड़ रही है कि, यदि इन निबन्धों में से एक भी खण्ड के प्रति आद्योपान्तरूपेण पाठकों का ध्यान आकर्षित होगया, तो निश्चयेन दिग्देशकालानुबन्धी वर्त्तमानयुगानुगत यत्किञ्चित् आपात-रमणीय विजृम्भणा की उपेक्षा कर वे असंदिग्धरूपेण अपने राष्ट्र की मूलनिधि के चिन्तन-स्वाध्याय, तथा आचरण की ओर प्रवृत्त हो ही जायँगे।

१६९–पुनःप्रक्रान्ता प्रकाशनप्रवृत्ति से अनुप्राणित 'तत्त्वशोध-संस्थान' का दिग्देशकालानुबन्धी कृतज्ञता-ज्ञापन

सचमुच ही मानुकता को प्रतिक्षण बल प्रदान करने वाले दिग्देशकालव्यामोहनने ही आज हमें अपनी मूलनिधि, मूलसंस्कृति, एवं आचारादि से निरतिशयरूपेण परा पराङ्गत ही प्रमाणित कर दिया है। दिग्देशकालभावों के इसी व्यामोहन के प्रति भारतीय-प्रज्ञा के व्याज से विश्वमानवों को ही जागरूक कर देने की मङ्गल-कामना से निबन्ध में–'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक प्रस्तुत चतुर्थखण्ड समाविष्ट होगया है, जो कि 'सत्तासापेक्षकालानुग्रह' से ही आज प्रकाशित होरहा है, जिस सत्तासापेक्षतानुगता-प्रकाशन–प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी कृतज्ञता–ज्ञापन के रूप में किञ्चिद् निवेदन कर देना दिग्देशकालधर्म्मसम्मत ही मान लिया जायगा।

अनुमानतः तीन वर्ष पूर्व हमारी शारीरिक–अस्वस्थता के अनुबन्ध से सुहृद्वर माननीय डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल महाभाग के प्रयास से प्रस्तुत–साहित्य की प्रकाशन–प्रचारादि–व्यवस्थाओं के कालिक–अनुबन्धों के आधार पर (सामयिक विधि-विधानों के आधार पर)–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान–जयपुर' नामक संस्थान अभिव्यक्त हुआ, जिसे त्रिंशत्सहस्रात्मक प्राथमिक, और अयाचितप्राय ही सहयोग हमारे चिरन्तन उन सांस्कृतिक–सहयोगियों से ही उपलब्ध हुआ, जिनके द्वारा सदा से ही

---

*–संस्थान की कार्यप्रगति के लिए आरम्भ में सर्वश्री माननीय कुडीलालजी सेकसरिया, स० मा० श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका तथा स० मा० जगदीशप्रसादजी सेकसरिया से तीसहजार का सात्त्विक सहयोग बिना किसी सन्धा (शर्त्त) के उपलब्ध हुआ था।

हमारी सांस्कृतिक-प्रवृत्तियाँ गन्छतः-स्खलनरूपेण अद्यावधि प्रक्रान्त रहीं हैं। एवं भविष्य में भी प्रक्रान्त रहेंगी। इसी प्राथमिक निधि से संस्थान ने एक ओर प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रान्त की, एवं दूसरी ओर संस्थान के न केवल मन्त्री ही, अपितु इसके सर्वस्वभूत श्रीवासुदेवशरण महाभागने सर्वप्रथम 'राजस्थान-सत्तातन्त्र' के प्रति आवेदन-निवेदन समर्पित किए कार्य्यरूपरेखा के माध्यम से।

अनुमानतः २५०० (पचीससौ) पृष्ठात्मक साहित्य के प्रकाशन में, तत्त्वस्वाध्यायजिज्ञासु कतिपय छात्रों की छात्रवृत्तिपरम्परा में, तथा अन्यान्य-कार्य्यालयादि परिशिष्टव्ययों में एक वर्ष में ही वह प्राथमिक निधि परिसमाप्त होगई, जिससे मन्त्रीमहाभाग का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। सम्भवतः इसी चिन्ता से परित्राण प्राप्त करने के लिए आपने भारतराष्ट्र के महामहिम परमसम्मान्य **राष्ट्रपति महाभाग** का ध्यान इस संस्थान की ओर आकर्षित किया। और राष्ट्रपतिमहाभागने राष्ट्रपतिभवन में **पञ्चदिवसीय व्याख्यान-माला** के आधार पर इस कार्य्य की उपयोगिता अनुभूत करने का निःसीम अनुग्रह अभिव्यक्त किया। एवं अनुग्रहपूर्वक आपने संस्थान के-'**प्रधान-संरक्षक**' बन जाने की स्वीकृति से संस्थान को उपकृत किया।

किन्तु अनेक दैशिक-कालिक-मम-विषय-समस्याओं के कारण संस्थान की कार्य्यप्रगति में आचारात्मिका प्रेरणा कार्य्यान्वित न होसकी निरन्तर दो वर्षपर्य्यन्त, जबकि संस्थान के सम्मान्य मन्त्री महाभागने इस अवधि में यत्र तत्र अनुधावन में, विशेषतः '**राजस्थानसत्ता**' द्वार के प्रति पुनः-पुनः अनुधावन में कोई न्यूनता नहीं की। अन्ततोगत्वा उत्तरप्रदेश के प्रधानमन्त्री संस्कृतिनिष्ठ माननीय सर्वश्री डॉ० **सम्पूर्णानन्दजी** महाभाग का ही ध्यान (गत मार्चमास में) संस्थान में प्राथमिक सहायता के रूप से आकर्षित हुआ। आपके इस प्राथमिक अनुदान की ओर जब राजस्थानसत्ता का ध्यान आकर्षित किया गया, तो इसके प्रधानमन्त्री माननीय सर्वश्री **मोहनलालसुखाड़िया** जो महाभाग ने भी श्रीवासुदेवशरणमहाभाग की त्रिवार्षिकी सतत-आवेदन-निवेदन-प्रवृत्ति पर अनुग्रह करते हुए ही अमुक प्राथमिक सहयोग-प्रदान के आदेश की अभिव्यक्ति से संस्थान को उपकृत किया, जिसके लिए संस्थान दोनों ही सत्ताधीशों के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य मान रहा है। इसी प्राथमिक-अनुदानद्वयी के माध्यम से अब अप्रैल सन् ५८ से संस्थान का प्रकाशन कार्य्य पुनः प्रक्रान्त हुआ है, जो विगत दो वर्षों से सर्वात्मना अवरुद्ध होचुका था।

२७०-संस्थान की भौतिक प्रवृत्ति के एकमात्र संवाहक संस्थान के सम्मान्य मन्त्रीमहाभाग, एवं तत्प्रेरणयैव सांस्कृतिक-साहित्य-प्रकाशन की जागरूकता—

दिग्देशकालधर्म्मानुगत उक्त संस्थान की बाह्य-मूर्त्त-सभी व्यवस्थाओं का प्रधान उत्तरदायित्व हमने (योग्यता के अभाव से) संस्थान के मन्त्रीमहाभाग से ही समन्वित मान लिया है। अतएव उनके इङ्गिताधार पर ही संस्थान की प्रवृत्तियाँ प्रक्रान्त हैं। प्रस्तुत '**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**' नामक प्रथम-प्रकाशन नवीन-(अनुदान की अपेक्षा) डॉ० शरणमहाभाग की प्रेरणा का ही सुपरिणाम है। तदन्तर आप ही के परामर्श से दूसरा प्रकाशन-'शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य' नामक प्रकाशनानुगामी बनने जारहा है। तदनन्तर संस्थान जैसा, जो प्रकाशन अभीप्सित मानेगा, वही यथाकाल समुपस्थित होजायगा।

१७१–दिग्देशकालानुबन्धी प्रयासों का समादर, किन्तु सांस्कृतिक मौलिक स्वरूप-संरक्षण के लिए अपेक्षिता सर्वनिरपेक्षा स्वाध्याय-निष्ठा का ही श्रुति के द्वारा समर्थन—

'अकरणान्मन्दकरणं श्रेय' न्याय से सामयिक-विधि-विधानात्मक, अतएव एकान्तत दिग्देश-कालानुबन्धी, अतएव सत्तातन्त्रादि सापेक्ष, अतएव च-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' इत्यादि पूर्वोक्त श्रौत आदेश से सर्वथा ही प्रतिरूप इत्थभूत प्रयास भी यद्यपि समादरणीय ही मान लिए जायेंगे–युगधर्म्मानुबन्ध से। तथापि भारतीय संस्कृति, तदाचार, तदायोजन, नामक तीनों श्रौत-स्मार्त्त-पौराणिक-सांस्कृतिक विवर्त तो एतद्देशीय ब्राह्मण की आत्मसाक्ष्यनुगता-तत्रैव प्रतिष्ठिता बुद्ध्यनुगता चिन्तनधारा, मनोऽनुगता स्वाध्यायधारा, तथा शरीरानुगता आचारधारा, इन तीनों की सह-समन्वयात्मिका, सर्वनिरपेक्षा, गुहानिहित-बुद्ध्यनुगता ऐकान्तिकी-निष्ठा से ही अनुप्राणित माने गए हैं। बिना ऐसा किए तथोक्त-कालिक-अनुबन्धों से तात्कालिकरूपेण कण्डूमात्रोपशान्ति के अतिरिक्त और कोई भी नैष्ठिक परिणाम कदापि नहीं निकल सकता। चिन्तन-स्वाध्याय आचरण–निष्ठ सांस्कृतिक वर्ग के द्वारा ही जनतन्त्र की सांस्कृतिक-आचारनिष्ठाएँ व्यवस्थित रहा करतीं हैं। अतएव एवंविध सांस्कृतिकवर्ग, तथा तदनुवर्त्मा आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र, इन दो महान् स्तम्भों के आधार पर ही यह राष्ट्रीया निधि अभ्युदय-पथानुगामिनी बन सकती है। बनी है इन्हीं दोनों स्तम्भों के आधार पर पुरायुगों में। और आज सांस्कृतिक-निष्ठा की दृष्टि से तो इन्हीं दोनों स्तम्भों का उद्बोधन-जागरण अपेक्षित है प्रमुखरूपेण, एवं सर्वतोभावेन।

१७२–'राजा कालस्य कारणम्' मूला सापेक्षता का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना सांस्कृतिक-समृद्धि—

तदर्थ ही तो हमने इस 'राष्ट्रीय-साहित्य' का मूल-तूल-रूपेण द्विधा वर्गीकरण किया है। मूल-साहित्य जहाँ राष्ट्रीय विद्वद्वर्ग के प्रति-आस्थापूर्वक समर्पित है, वहाँ तूलसाहित्य राष्ट्रीय जनतन्त्र के प्रति श्रद्धापूर्वक अर्पित है। रही बात सत्तातन्त्र की, तो तत्सम्बन्ध में तो–'राजा कालस्य कारणम्' समाधान ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा। सत शरीरानुबन्धिनी तात्कालिकी सम्यताओं प्रति सापेक्ष सत्तातन्त्र के उदार मनोभावों के समाश्रय के बिना तो कदापि राष्ट्रीया संस्कृति अपने पूर्णाभिव्यक्तिरूप से श्रद्धा (व्यक्त)-भावानुगता नहीं ही बना करती, जैसाकि 'यत्र राजान लभेत, समृद्ध तत्' इत्यादि रूपेण पूर्व के मैत्रावरुणग्रह-श्रुतिसन्दर्भ के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। और सम्भवत ही क्या, निश्चयेन एकमात्र इसी सांस्कृतिक-समृद्धि के उद्देश्य से संस्कृतिनिष्ठ माननीय वासुदेवशरण महाभाग ने अपने उक्त वैदिक संस्थान को-'सत्तासंरक्षण' से समन्वित किया भी है, जिसकी युगधर्म्मानुगता सफलता के प्रति आज भारतराष्ट्र का प्रत्येक संस्कृतिनिष्ठ मानव आशा-प्रतीक्षोन्मुख ही बना हुआ है।

१७३–पारिशेष्यात् व्यक्तित्वनिबन्धना' अभिव्यक्ति, एवं-तदनुबन्धिनी'-उक्थैराजिक' अभिधा की स्वरूप-दिशा का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन—

अब पारिशेष्यात् शेष रह जाता है यह साहित्यसेवी–भारतीय ब्राह्मण, जिसे अपने सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त किञ्चिदिव तो स्पष्टीकरण कर ही देना है, जिससे कि नीरक्षीरविवेक–चतुर, लोकप्रज्ञ सामयिक–

महानुभावों को हमारे व्यक्तितन्त्र से अनुप्राणित 'मानवाश्रम' के सम्बन्ध में यातयामात्मिका आलोचना-प्रत्यालोचनाओं के लिए भविष्य में कष्ट न उठाना पड़े। 'भारतीय हिन्दू-मानव की भावुकता' के स्वरूप-साक्षात्कार के साथ ही हमारा ध्यान-'मानव' के स्वरूप की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुआ, एवं साथ ही इस लक्षीभूत 'मानवस्वरूप' के अनुपात से ही इसकी—आचारनिष्ठात्मिका (व्यावहारिकी) 'जीवनपद्धति' की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित होपड़ा। एवं इस आकर्षण के आधार पर ही मानव की ज्ञानविज्ञान—समन्विता सहज जीवनपद्धति से सम्बन्ध रखने वाली उस आर्ष-अभिधा की भी सहजरूपेणैव अभिव्यक्ति होपड़ी, जो कि अभिधा तात्त्विकी परिभाषा में-'उक्थवैराजिक' नाम से प्रसिद्ध है।

१७४-हिरण्यगर्भ, और सर्वज्ञ से समन्वित विराट्-प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, उसकी 'उक्थ' रूपता, तदनुबन्धी 'उक्थविराट्', एवं तत्समतुलित 'मानव'—

स्थावर-(जड़)-जङ्गम (चेतन)-भावापन्न यह पाञ्चभौतिक महाविश्व जिस त्रिमूर्त्ति, विश्वेश्वर-प्रजापति की महिमा का विस्तार है, वही प्रजापति 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध है, जिस विराट्तेज की अभिव्यक्ति हिरण्यगर्भात्मक-सर्वज्ञ-भाव के द्वारा हुआ करती है। यों सम्पूर्ण विश्व का मूल हिरण्यगर्भ-एवं सर्वज्ञ-से नित्य समन्वित 'विराट्प्रजापति' ही प्रमाणित होरहे हैं। अवश्य ही सर्वव्यापक विश्व-व्यापक-विश्वेश्वर-विश्वात्मा-विश्वचर इस प्रजापति का कोई न कोई केन्द्रात्मक वैसा मूलबिम्ब भी होना ही चाहिए, जिससे चारों ओर प्राणार्क (प्राणरश्मि) रूप से इसकी महिमा का विस्तार होरहा है। विराट्प्रजापति का वही नभ्य-केन्द्रिय-गर्भात्मक-सूक्ष्मतम, अतएव परोक्षतम गुहानिहित स्वरूप उसी साङ्केतिक परिभाषा के अनुसार-'उक्थम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसी मूलबिम्ब से अर्कात्मिका प्राणरश्मियों का आसमन्तात् मण्डलरूपेण क्योंकि वितान-आतान-प्रसार-विस्तार-होरहा है, दूसरे शब्दों में इसी प्राजापत्य केन्द्रीय मूलबिम्ब से विश्व के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त भाव क्योंकि समुत्थित, उद्भूत, अभिव्यक्त हैं, अतएव-'यत उत्तिष्ठन्ति सर्वे भावाः' निर्वचन से इसे अवश्य ही 'उक्थम्' कहा जासकता है। अपने सुसूक्ष्म केन्द्रभाव से यद्यपि वह उक्थ 'अणोरणीयान्' है, तथापि अपने महिमाविस्तार से यही क्योंकि 'महतोमहीयान्' भी है, अतएव इस उक्थ को-'विराट्' कहना भी अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है। जिसकी कोई इयत्ता नही, दिग्देशकाल जिसके कदापि मापदण्ड नहीं बन सकते, ऐसा है वह 'उक्थरूप विराट्', यही है विश्वाधिष्ठाता दिग्देशकालातीत प्रजापति। और सम्पूर्ण विश्व में इस उक्थात्मक विराट् प्रजापति का सर्वात्मक प्रतिरूप है एकमात्र 'पुरुष', अर्थात् मानव, जैसा कि—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' इत्यादि से प्रसिद्ध है।

१७५-मानवेतर प्राणियों की-'अर्कवैराजिक', तथा मानव की-'उक्थवैराजिक' अभिधाओं का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्वतन्त्र पुरुषार्थ-प्रवर्त्तक, अतएव 'पुरुष' अभिधा से सुप्रसिद्ध मानव उसी उक्त विराट् मूर्त्ति प्रजापति का निकट का अपत्य, किंवा प्रतिमानात्मक प्रतिरूप है, अतएव इसे 'विराट्पुत्र' कहा जासकता है। मर्त्यभावापन्न विश्व का अध्यक्ष उक्थविराट् क्योंकि-'अमृतम्' है, जरामरणरहित है, शाश्वत-सनातन है, अतएव तत्पुत्र मानव को भी अवश्य ही 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इत्यादि के अनुसार 'अमृतपुत्र', अर्थात् 'सनातन' ही माना जायगा। अमृतविराट् की पूर्णाभिव्यक्ति के अनुबन्ध से ही इस मानव को 'वैराजिक' (विराट् की

अभिव्यक्ति) कहा जायगा। यों 'ईश्वरोक्थविराट्' से अभिन्न 'मानव'-'मानवोक्थवैराजिक' अभिधा से समन्वित होरहा है। मानवेतर विश्व के जड़-चेतनात्मक यच्चयावत् पदार्थ जहाँ ईश्वरीय-विराट् की शाश्वत अभिव्यक्ति (पूर्णाभिव्यक्ति) न होकर उस उक्थविराट् से 'महत्तया-महिमान. महत्त्वम्' रूपेण असत्य रूपेण आममन्तात्-विनिर्गता-व्याप्ता अर्वाचीना रश्मिभावों से ही समर्चित हैं, वहाँ एकमात्र मानव ही साक्षात् उक्थविराट् से अनुप्राणित है। अतएव अन्य सर्गों को जहाँ 'अर्कवैराजिक' कहा जायगा, वहाँ-'उक्थवैराजिक' उपाधि का सम्मान तो एकमात्र मानव को ही उपलब्ध होगा।

१७६-समदर्शी विराट्प्रजापति के विषम-सृष्टिसर्गों के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं तत्समाधाता-'ब्रह्मोद्य' शब्द—

क्यों ?। समदर्शी विश्वेश्वर के विश्वप्राङ्गण में मानव, और तदितर वर्गों में इत्थंभूत वैषम्य क्यों ?। उत्तर उसी प्रजापति के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है। इसलिए कि, इस क्यों का जो भी कोई आलोचना-प्रत्यालोचनात्मक उत्तर होगा, उसका शब्दात्मिका उस वैखरी वाणी से ही सम्बन्ध रहेगा, जो वाणी दिग्देश-कालात्मिका व्यक्तामूर्त्ता भूतभौतिकी-'विकृति' लक्षणा प्रकृति से ही अनुप्राणिता है। प्रश्न का तात्त्विक-समाधान तो उस दिग्देशकालातीत विराट्पुरुष की स्वरूपस्थिति से ही अनुप्राणित है, जिसके सम्बन्ध में-'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' यही सिद्धान्त है। अतएव तत्सम्बन्ध में कोई भी शब्दात्मक समाधान कदापि सम्भव है ही नहीं। हाँ, एक उपाय ऐसा अवश्य है, जिसके अनुगमन से कालान्तर में यह एक प्रश्न ही क्या, इत्थंभूत सभी प्रश्न सहजरूपेणैव समाहित होजाते हैं। उसी महत्त्वपूर्ण उपाय का नाम है—'ब्रह्मोद्य'।

१७७-'ब्रह्मोद्य' शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय—

प्रकृतिसिद्ध-तत्त्वार्थों के समन्वय से अनुप्राणित, चिन्तन-स्वाध्याय, तथा आचारात्मक ज्ञानविज्ञान-सिद्ध तत्त्वों के सम्बन्ध में तत्त्वनिष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ विचारकों की सभा में प्रवान्त विचारविमर्श ही-'ब्रह्मोद्य' कहलाया है, जिस का सरल अर्थ है-ब्रह्मविचार। रहस्यपूर्ण तत्त्व की एक पारिभाषिक संज्ञा-'ब्रह्म' भी मानी गई है *। वैसे भी गुह्यतम-सुसूक्ष्म प्रधान तत्त्व क्योंकि-'ब्रह्म' (विराट्प्रजापति) ही है। इसलिए भी 'ब्रह्म' शब्द तत्त्वानुगत बन गया है। भारतीय तत्त्वनिष्ठ, तथा आचारनिष्ठ ऋषिगण क्यों ?, कैसे ?, कहाँ ?, किससे ?, आदि आदि तात्त्विक प्रश्नों के समन्वय के लिए चिन्तन-स्वाध्याय-आचारात्मक विचारविमर्श का ही अनुगमन किया करते थे, तद्द्वारा ही, इस उपाय से ही प्रश्न समाहित होते थे। यही सुप्रसिद्ध-चिन्तन-प्रकार 'ब्रह्मोद्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है-(देखिए शत० १४।६।८।१।)।

१७८-'ईश्वरोक्थवैराजिक' का प्रतिरूप-'मानवोक्थवैराजिक,' एवं मानवानुरूपी उक्थवैराजिक के सिद्ध, साध्य-रूप दो विवर्त—

अलौकिक, ईश्वरोक्थवैराजिक, तथा लौकिक मानवोक्थवैराजिक, इन दोनों का ही साम्य क्यों है ?, इस 'क्यों ?' का उत्तर यथोक्त 'ब्रह्मोद्य' (तत्त्वविमर्श)' पर ही अवलम्बित है। प्रकृतिसिद्ध तत्त्वविवेक

*'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इत्यादि महाभारतीय वचन में 'ब्रह्म' शब्द रहस्यपूर्ण सुगुप्त-(परोक्ष) तत्त्व के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

के माध्यम से हमें सहजरूपेणैव प्रकृतिमूलक वर्गभेद के प्रति अपनी आस्थाएँ समर्पित कर ही देनी पड़ती हैं। इसी तथ्य के आधार पर अब हम मानवीया तत्त्वपूर्णा अभिधा के साथ-'ब्रह्मौद्य' शब्द का सम्बन्ध भी अनिवार्य मान लेते हैं। निष्कर्षतः अब इस आर्ष-अभिधा का सर्वाङ्गीण नाम होजाता है-'मानवोक्थ-वैराजिकब्रह्मौद्य', जिस का लोकमान्यतामात्र के संरक्षण के लिए अभी यही अक्षरार्थ-समन्वय पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि,-जहाँ जिस क्षेत्र में मानव के उक्थवैराजिक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली चिन्तन-स्वाध्याय-तथा आचारणात्मिका तत्त्वविचार-प्रणाली प्रक्रान्त हो, उसी क्षेत्र का नाम 'मानवोक्थवैरा-जिकब्रह्मौद्य' है।'मानवोक्थवैराजिक' सिद्ध तत्त्व है, एवं-'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौद्य' साध्यभाव से अनु-प्राणित है।

१७९-छन्दोभ्यस्तानुगता 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौद्य' अभिधा का संस्कृतभाषानुगत-'मानवाश्रम'-नाम-समन्वय—

अवश्य ही पारिभाषिक-श्रौत तत्त्वों के विस्मृतप्राय हो जाने से आज तथाकथिता 'क्षेत्र-अभिधा' सर्व-साधारण की कौन कहे, विद्वानों के लिए भी दुःसाध्या ही प्रमाणित होसकती है। इसे सुसाध्या बनाने की कामना से ही हमने तथोक्ता वैदिकी-पारिभाषिकी-अभिधा के साथ साथ उपनाम-मर्य्यादया सर्वसाधारण के लिए सुपरिचित 'मानवाश्रम' नाम का सम्बन्ध समन्वित कर लिया है।

१८०-'आश्रम' शब्द की लोकप्रचलिता भावुकतापूर्णा-स्वरूप-व्याख्या—

जिसप्रकार ज्ञान-विज्ञान-सिद्ध सहस्रों तात्त्विक-शब्द मतवादात्मक-सम्प्रदायवादों की मान्यतानुगता व्याख्याओं के वारुणपाशबन्धन से अपने वास्तविक तत्त्वार्थों से पराङ्मुख होते आरहे हैं विगत तीन सहस्र वर्षात्मक दिग्देशकालव्यामोहनात्मक युगों से, तथैव 'आश्रम' शब्द भी आज अपनी तत्त्वार्थता से सर्वथैव पराङ्मुख होगया है। जगन्मिथ्यात्वमूला-संसारासारात्मिका-दीनता-हीनता आदि से समन्वित, मलिम्लुच-परम्पराओं से आसमन्तात् परिवेष्टित, शून्य-भावों से अनुगत, पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रीय-लोक-तन्त्रों से सर्वथैव असंस्पृष्ट, शून्यं-शून्यं लक्षणे निर्ज्जने प्रान्ते अवस्थित, केवल परलोकचिन्तन-क्षेत्रात्मक, अमुक कल्पित स्थान-विशेषों का नाम ही आज-'आश्रम' शब्द से अभिव्यक्त मान लिया गया है। इसी कल्पित मान्यता से आचारनिष्ठात्मक, सर्वाश्रममूर्द्धन्य उस-'गृहस्थाश्रम' का समस्त लोकाभ्युदयपक्ष सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन गया है, जिस अन्तर्म्मुखता के स्वरूपेतिवृत्त-विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। यहाँ तो हमें दो शब्दों में 'आश्रम' शब्द के तात्त्विक अर्थ की ओर ही दिग्देशकालप्रेमी तथाविध आश्रमभक्तों का ध्यान आकर्षित करा देना है।

१८१-पारिभाषिक तथ्यों की विस्मृति के दुष्परिणाम, एव भारतीय तात्त्विक शब्दों के 'अर्थ' के स्थान में अनर्थ-परम्पराओं का आविर्भाव—

अपने सापेक्षभावानुबन्धी अनेक अपेक्षाभावों से सहजरूपेणैव समन्वित 'आश्रम' शब्द 'नित्य-सापेक्ष' बन रहा है, जिस की यह सापेक्षता उसी तथाकथित 'ब्रह्मौद्य' नामक अत्यन्त रहस्यपूर्ण, अतएव दुसूहन तत्त्वसमन्वय पर ही अवलम्बित है, जिस तत्त्वसमन्वय का आज के उपयोगितावादी अपने व्यावहारिक-

जन-जीवन में कोई उपयोग नहीं मान रहे । सम्पूर्ण-उपयोगिताओं के आधार-स्तम्भरूप उस 'अक्षोय' से अपरिचित रह जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि, आज तत्स्तम्भ पर प्रतिष्ठित तत्तच्छब्दों का अक्षरार्थबोध भी जनजीवनोपयोगितावादियों की प्रज्ञा से सर्वथैव पराङ्मुख होगया है । फलस्वरूप सभी शब्द अपनी तत्त्वार्थमर्य्यादाओं से वञ्चित होकर काल्पनिक अर्थों से समन्वित होते हुए अर्थ के स्थान में अनर्थ-परम्पराओं का ही सर्जन करते आरहे हैं । शब्द, और अर्थ के औत्पत्तिक-सम्बन्ध* से अनुप्राणित भारतीय शब्द इतर भाषाओं की भाँति केवल साङ्केतिक-यदृच्छात्मक काल्पनिक शब्द नहीं हैं । अपितु प्रत्येक सांस्कृतिक शब्द अपनी स्वर-वर्ण-पद-वाक्य-उपसर्ग-निपात-धातु-प्रकृति-प्रत्ययादि की मच्छन्दस्का प्रकृतिसिद्धा ज्ञानविज्ञानात्मिका मर्य्यादा से ही नित्य समन्वित है, जिस के साथ दिग्देशकालानुबन्धिनी यत्किञ्चित् भी (मान्यतानुगता) कल्पना का समावेश होजाने से तच्छब्द का अर्थ सर्वथा अनर्थरूप में ही परिणत होजाता है, और अनर्थात्मक वही शब्द इष्ट के स्थान में अनिष्ट का ही, जनजीवन के स्थान में जनमृत्यु का ही कारण बन जाया करता है × । 'छन्दोभ्यसा' नाम से प्रसिद्धा तत्त्वात्मिका वेदभाषा के द्रव्यभूत सांस्कृतिक शब्दों के आधार पर ही अभिव्यक्त होने वाले, 'ब्राह्मी' भाषा नाम्नी 'सुरभारती' (संस्कृतभाषा) के शब्द भी इसी तथाकथित तथ्य से समन्वित माने गए हैं, जैसा कि पाठक 'आश्रम' शब्द, तथा तत्सापेक्ष अमुक शब्दों के तत्त्वानुगत निर्वचन के आधार पर स्वयं ही अनुभूत कर लेंगे । जैसे सम्कृतभाषा का सुप्रसिद्ध यह-'आश्रम' शब्द भी मूलतः वेदभाषा का ही शब्द है (देखिए-गोपथब्राह्मण १।२।८)। तथैव तत्सापेक्ष अन्य अमुक शब्द भी।

१८२-सापेक्ष-'आश्रम' शब्द की मूलप्रतिष्ठारूप चतुष्पर्वा-षोडशकल-षोडशी-प्रजापति का पावन-संस्मरण—

'ईश्वरोऽस्यचैराजिक' अभिधा से समन्वित जिस विश्वेश्वर विराट्प्रजापति का पूर्व में यशोगान हुआ है, वह 'प्रजापति' अपनी अमुक तत्त्व-मर्य्यादा में 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । एककल, अतएव निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, एवं पञ्चकल क्षर, इन चारों प्राजापत्य विवर्त्तों की समन्वितावस्था ही तदनुगता, तद्युक्ता, तद्रूपा सोलह कलाओं के कलात्मक अनुबन्ध से 'षोडशी-प्रजापति' (षोडशकल-सोलह-कलायुक्त, प्रजापति विराडीश्वर) नाम से व्यवहृत हुई है । आस्तिक हिन्दूप्रजा के भगवान् इसी तथ्य के आधार पर सोलह कलाओं से परिपूर्ण बने हुए हैं । षोडशकल इस षोडशीप्रजापति का निष्कल परात्पर विवर्त्त विश्वमर्य्यादा में मनोमनसा असम्पृक्त है । अतएव उसे हम छोड़ते हैं । अतएव अब शेष रह जाते हैं-अव्यय, अक्षर, क्षर, नामक तीन प्राजापत्य विवर्त्त । इन्हीं तीनों को आधार मान कर अब हमें 'आश्रम' शब्द के, तथा तत्सापेक्ष अन्य शब्दों के तत्त्वार्थ-समन्वय का प्रयास करना है ।

---

*-औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (पू० मी०) ।

×-दुष्टः शब्दः-स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

१८३–सर्वाधार षोडशीप्रजापति के अधिष्ठान, निमित्त, उपादानात्मक 'अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रं' विवर्त्तों का संस्मरण—

ज्ञानशक्तिघन अव्यय मनोरूप बनता हुआ–'अमृतम्' है, यही विश्व का अधिष्ठानकारण है। क्रियाशक्तिघन अक्षर प्राणरूप बनता हुआ–'ब्रह्म' है, यही विश्व का निमित्तकारण है। एवं अर्थशक्तिघन क्षर वाग्रूप बनता हुआ-'शुक्रम्' है। और यही विश्व का उपादानकारण है। यों एक ही आत्मप्रजापति (विराट्प्रजापति) अपने इन तीन महिमा-विवर्त्तों से अमृतं-ब्रह्म-शुक्रम्–रूप में परिणत होरहा है, जैसाकि–'त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्' [शत० १४।४।४।३।] इत्यादि से स्पष्ट है (१)। इति नु-आधिदैवतम्।

१८४–ईश्वरोक्थवैराजिकविराट् प्रजापति के कारण-सूक्ष्म, एवं स्थूल-शरीरों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अथाध्यात्मम्–अब इसी उक्त ईश्वरोक्थवैराजिक-प्रजापति का अध्यात्मलक्षण 'मानवोक्थवैराजिक-पुरुष (मानव)' के साथ समतुलन कीजिए। तभी–'आश्रम' शब्दार्थ समन्वित होसकेगा। परात्पर से अभिन्न, अव्ययभावापन्न,–ज्ञानशक्तिघन, मनोरूप 'अमृताव्यय' ही मानवीया अध्यात्मसंस्था के–कारणशरीर का 'साक्षी' बनता है। अव्यय से अभिन्न, अक्षरभावापन्न, क्रियाशक्तिघन, प्राणरूप 'ब्रह्माक्षर' ही मानव के–'सूक्ष्मशरीर' का 'निमित्त' बनता है। एवं अक्षर से अभिन्न, क्षरभावापन्न, अर्थशक्तिघन, वाग्रूप 'शुक्रक्षर' ही मानव के 'स्थूलशरीर' का 'उपादान' बनता है। यों ईश्वरानुगत आधिदैविक [1]अमृताव्यय–[2]ब्रह्माक्षर-[3]शुक्रक्षर नामक तीनों आत्मविवर्त्त हीं मानवसंस्था के [1]कारण-[2]सूक्ष्म–[3]स्थूल–नामक तीन शरीरों के क्रमशः [1]साक्षी-[2]निमित्त-[3]उपादान बने हुए हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है–

अखण्डः—एककलः—निष्कलः — सर्वातीतः—परात्परः—परमेश्वरः	
१–अमृताव्ययः-मनोघनः–स एव साक्षी	मानवीय–कारणशरीरस्य
२–ब्रह्माक्षरः—प्राणघनः–तदेव निमित्तम्	मानवीय–सूक्ष्मशरीरस्य
३–शुक्रक्षरः—वाग्घनः-तदेवोपादनम्	मानवीय–स्थूलशरीरस्य
इति—नु अधिदैवतम्	इति–नु–अध्यात्मम्

(१) यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
–यजुःसंहिता ८।३६।

१८५–अंशी ईश्वरविराट् का साक्षी-सुपर्णत्व, अंश मानवविराट् का भोक्ता-सुपर्णत्व, दोनों का सम-साम्य, एवं दोनों शरीरों के मापदण्ड का सम-समन्वय—

मानव के चतुष्पर्वात्मक आत्मा बुद्धि-मन-शरीर–लक्षण पूर्वोक्त स्वरूपानुबन्ध में अत्र बात कुछ समझने जैसी है। परात्परात्भिन्न-अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीनों आत्मानुबन्धी [ईश्वरानुबन्धी] साक्षी-निमित्त-उपादानात्मक महिमा विवर्त्तों की समष्टि ही अधिदैवत, अध्यात्म, इन दो संस्थानों के भेद से पृथक् पृथक् रूपेण अंशी-अंश–उपाधियों के अनुबन्ध से क्रमशः साक्षी, और भोक्ता, इन दो भावों में परिणत होजाती है। वही ईश्वरात्मा अधिदैवत में अंशीरूपेण अभिव्यक्त रहता हुआ जहाँ–'साक्षी' है, वहाँ वही ईश्वरात्मा अध्यात्म में (१) अंशरूप से व्यक्त होता हुआ 'भोक्ता' है। अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक, (२) सहस्रवल्शान्विछन्न, अश्वत्थमूर्त्ति ईश्वरविराट्रूप अंशी उस साक्षी प्रजापति का अंशात्मक, अमृतब्रह्मशुक्रात्मक ही स्वरूप-'मानवविराट्' है। दोनों ही इस समानता से 'सयुक्-सखा' हैं, अभिन्न मित्र हैं, जिनमें एक [ईश्वर] साक्षी है, तो दूसरा 'भोक्ता' है (३)। साक्षी महासुपर्णरूप ईश्वरात्मा विश्वात्मक अपने शरीर का सर्वस्व है, तो भोक्ता–सुपर्णरूप मानवात्मा शरीरात्मक अपने विश्व का सर्वस्व है। दोनों हीं शरीरधर्म्मा हैं, दोनों ही सापाधिक हैं। यही नहीं, दोनों के आत्मतन्त्रों का स्वरूप जहाँ समतुलित है, तथैव दोनों के कायविवर्त्तों [शरीरों] का मापदण्ड भी सर्वात्मना समतुलित ही है। ईश्वर का विश्वात्मक शरीर भी चतुरशीति-अङ्गुल-मित [चौरासी अङ्गुल का] ही है, तो मानव का शरीरात्मक विश्व भी चौरासी अङ्गुल का ही है। सार्द्ध-द्वादश [१२॥] अङ्गुलिमिता एक वितस्ति (बिलाँत) के सात अभिक्रमों से कृतशरीरी ईश्वर का

---

(१) 'अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके'।

—वेदान्तसूत्र २।३।४३।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

—गीता १५।७।

(२) ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन ।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

—कठोपनिषत् ६।१।

(३) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

ऋक्संहिता १।१६४।२०।

शरीर सचमुच ८४ अङ्गुल का ही है (१), जैसाकि सार्द्ध-दश (२) [१०।।] अङ्गुलिमित, गायत्रप्राणावच्छिन्न एक प्रादेश के आठ अभिक्रमों से कृतशरीरी मानव का स्वरूप भी स्वाङ्गुलिपरिमाण से ८४ अङ्गुलि का ही है। यही तो ईश्वर, और मानव का वह साम्य है, जो अन्य प्राणियों में सर्वथा अनुपलब्ध है।

२८६–सर्वभूतान्तरात्मा, हिरण्य, परिप्लव, इलान्द, पर्वों से समन्वित चतुष्पर्वा ईश्वरविराट्, एवं तत्समतुलित भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर, पर्वों से युक्त चतुष्पर्वा मानवविराट्—

ईश्वरात्मा का विश्वात्मक शरीर भी त्रिविध है, उसी प्रकार-जैसे कि मानवात्मा के कारण-सूक्ष्म-स्थूल–शरीर सुप्रसिद्ध है। सौरसम्वत्सरमण्डल उस ईश्वरविराट् का कारणशरीर है, चान्द्रसम्वत्सरमण्डल उसी का सूक्ष्मशरीर है, एव पार्थिवसम्वत्सरमण्डल उसी का स्थूलशरीर है। जिसप्रकार अंशीभूत, अमृत–ब्रह्म–शुक्रात्मक ईश्वरात्मा से ही, तथाविध ही अंशात्मक मानवात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई हैं, तथैव उसी ईश्वरात्मा के विश्वात्मक–महाशरीर के उक्त सौर–चान्द्र--पार्थिव–नामक तीनो सम्वत्सर-विवर्त्तों से क्रमशः मानव के कारणशरीरात्मक विज्ञानशरीर, सूक्ष्मशरीरात्मक प्रज्ञानशरीर, तथा स्थूलशरीरात्मक भूतशरीर, इन तीन शरीरविवर्त्तों की अभिव्यक्ति हुई है। सौरसम्वत्सरानुगत विज्ञानशरीर ही 'बुद्धि' नाम से, चान्द्रसम्वत्सरानुगत प्रज्ञानशरीर ही 'मन' नाम से, तथा पार्थिवसम्वत्सरानुगत भूतशरीर ही 'शरीर' नाम से प्रसिद्ध हैं। तदित्थं-ईश्वरीय विराट्संस्था में भी आत्मा, तथा शरीरत्रयी, भेद से चार विवर्त्त समन्वित हो रहे हैं, एवं मानवीया विराट्संस्था में भी इन चारो विवर्त्तों का सम–साम्य प्रमाणित हो रहा है। व्यावहारिकी अभिधामात्र में अन्तर है। ईश्वरीय चारों विवर्त्त जहाँ क्रमशः सर्वभूतान्तरात्मा, हिरण्य, परिप्लव, इलान्द, इन नामों से प्रसिद्ध हैं विज्ञानजगत् में, वहाँ मानवीय चारों विवर्त्त क्रमशः भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन नामो से प्रसिद्ध हैं लोकजगत् में। ईश्वरीय-संस्था के तीनो शरीरविवर्त्त ईश्वरात्मा के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित हैं, तो मानवीय-संस्था के तीनों शरीर मानवात्मा के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-भावो से अनुप्राणित हैं। समष्ट्या च ईश्वरीय चारों विवर्त्त मानवीय चारों विवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित है। और यों वह पूर्ण इसे भी सर्वात्मना पूर्ण ही प्रमाणित कर रहा है। इसी आधार पर–'योऽहं (मानव), सोऽसौ-(ईश्वरः)-'योऽसौ--सोऽहम्'–'यदेवेद–तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह'-'पूर्णमदः, पूर्णमिदम्', 'यतो हि पूर्णदेव पूर्णमुदच्यते'-इत्यादि श्रौत-निगम प्रसिद्ध है। लक्ष्य बनाइए परिलेख को, एवं तन्माध्यम से ही स्वयं अपनी ब्रह्मोद्यभावानुगता ऋजुप्रज्ञा से ही इस तथ्य का समन्वय कीजिए कि,–'इस पाञ्चभौतिक विश्व में एकमात्र मानव ही उस समदर्शी ईश्वर से सर्वात्मना समतुलित क्यों है?'।

---

(१) क्वाहं तमो महदहं खचराग्निवाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवते

(२) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
–यजुःसं० ३१।१।

१-परात्पराभिन्नोऽव्यय—मन (ज्ञानम्) अमृतम् साक्षी
२-अव्ययाभिन्नोऽक्षर—प्राण (क्रिया) ब्रह्म निमित्तम्
३-अक्षराभिन्न क्षर—वाक् (अर्थ) शुक्रम् उपादानम्

—सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी (१)
(ईश्वरविराट्)

—————०

१-स्वयम्भू
२-परमेष्ठी
३-सूर्यः
}-सौरसम्वत्सर—अमृतात्मनानुप्राणित
—हिरण्मय (२)—

४-चन्द्रमा } चान्द्रसम्वत्सर—ब्रह्मात्मनानुप्राणित
—परिप्लव (३)—

५-भूपिण्ड } पार्थिवसम्वत्सर—शुक्रात्मनानुप्राणित
—इलान्दम् (४)—

—ईश्वरशरीरत्रयी

(सोऽयं 'साक्षी' सुपर्णः)
'ईश्वर'

इति नु-आधिदैवतम्

१-साक्षी—अमृतम्
२-निमित्त-ब्रह्म
३-उपादान-शुक्रम्
}-भूतात्मा—भोक्ता (१)

(सोऽयं 'भोक्ता' सुपर्णः)
'मानव'

—————०

१-अव्यक्तम्
२-महान्
३-विज्ञानम्
}-विज्ञान बुद्धिर्वा (२) (कारणशरीरम्) अमृतानुगतम्

४-प्रज्ञानम् } प्रज्ञान मनो वा (३) (सूक्ष्मशरीरम्) ब्रह्मानुगतम्

५-भूतम् } भूत शरीर वा (४) (स्थूलशरीरम्) शुक्रानुगतम्

मानवशरीरत्रयी

इति नु-अध्यात्मम्

१८७–ब्राह्मी-स्थिति के माध्यम से 'आश्रम'-परिश्रम'-आदि-सापेक्ष-शब्दों का समन्वय-प्रयास—

मैषा ब्राह्मी स्थितिः, तत्त्वमीमांसा वा-'आश्रमशब्दानुगता'। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया-आश्रम-शब्दार्थ-समन्वयानुबन्धेन। निवेदन किया गया है कि, 'आश्रम' शब्द सापेक्ष शब्द है, जिसकी अपेक्षापूर्त्ति अमुक सापेक्ष शब्दों से ही अनुप्राणित है। उन अमुक शब्दों में से प्रकृत में हम लोकप्रसिद्ध 'परिश्रम'–'श्रम', इन दो शब्दों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। इन तीनों शब्दों का मूलरूप 'श्रम' शब्द ही है, जो 'श्रम' ही 'आङ्' उपसर्ग से 'आश्रम' बन रहा है, 'परि' उपसर्ग से–'परिश्रम', तथा निष्कैवल्यरूप से–'श्रम' रूप में परिणत होरहा है। 'श्रम' शब्द की इसी समानव्याप्ति से हमें सर्वप्रथम उपसर्गशून्य इस 'श्रम' का ही स्वरूपान्वेषण कर लेना चाहिए। तदाधारेणैव **परिश्रम**, तथा **आश्रम**, ये दोनों शब्द भी अपने वाच्यार्थों से स्वतएव समन्वित होजायँगे।

१८८–सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्ध, तदनुबन्धी कामः-तपः-श्रम-भाव, एवं तन्नि-बन्धना-कर्म्मस्वरूप-निष्पत्ति—

जिस **अमृत**[1]-**ब्रह्म**[2]–**शुक्रात्मक**[3]–ईश्वरप्रजापति का पूर्व में यशोगान किया जाचुका है, उसे तत्रैव **मनः**[1]–**प्राण**[2]–**वाङ्मय**[3] भी बतलाया गया है, एवं तीनों को क्रमशः **ज्ञान**[1]–**क्रिया**[2]–**अर्थात्मक**[3] भी माना गया है। **अपूर्वभावाभिव्यक्ति का नाम हीं–'सृष्टि'** है। इस सृष्टिकर्म्म में **काम–तपः–श्रम**–ये तीन सामान्य अनुबन्ध माने गए हैं। लोकप्रसिद्धा **'इच्छा'** ही **'काम'** (कामना) है। **'कृति'–'यत्न'** (चेष्टा–कोशिश) ही–**'तप'** है। एवं शारीरिक-भूतों का व्यक्त–**'बाह्यव्यापार'** (हाथ–पैर हिलाना) हीं–**'श्रम'** है। प्रत्येक कार्य्य की स्वरूपसिद्धि के लिए, किंवा स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम–**मैं अमुक काम करूँ'** इत्येवंरूपा **'इच्छा'** का ही आविर्भाव होता है। इच्छा के अनन्तर शरीरस्थ सुसूक्ष्म प्राण क्रियाशील बनता है। प्राण में गत्यात्मक कम्पन उत्पन्न होजाता है। इसी का नाम **'तप'** है। तपोलक्षण यही आभ्यन्तर–प्राण–कम्पन (अन्तः–क्रिया) ऐच्छिक कार्य्यसिद्धि के लिए हमारे भौतिक शरीर को गतिशील बना देता है। यही बाह्यक्रिया **'श्रम'** कहलाई है। इसप्रकार इन **इच्छा–यत्न–व्यापार**, तीनों अनुबन्धों के अनन्तर ही कार्य्य की स्वरूपसिद्धि अभिव्यक्त होती है *। सृष्टि के उक्त तीनों सामान्य अनुबन्ध तथोक्त विराट्प्रजापति के अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक **मनः-प्राण-वाग्**-भागों से ही अनुप्राणित हैं। ज्ञानशक्तिघन मन के ज्ञानात्मक व्यापार का नाम ही–**'काम'** (कामना–इच्छा) है। क्रियाशक्तिघन प्राण की अन्तर्व्यापाररूपा अन्तः–क्रिया का ही नाम–**'तपः'** (कृति–यत्न–चेष्टा) है। एवं अर्थशक्तिघना वाक् की बहिर्व्यापाररूपा क्रिया का ही नाम **'श्रम'** है। इसी तथ्य के आधार पर–श्रुति ने कहा है—

स प्रजापतिरकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत (प्राणेन), सोऽश्राम्यत् (वाचा)। तस्य प्रजापतेः कामयमानस्य--तप्तस्य–श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। (शतपथे)

---

* **ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।**
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म, तदेतत्कृतमुच्यते ॥

१८९-आसमन्ताद्भावापन्न 'आङ्' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'आश्रम' शब्द, एवं परितः-भावापन्न 'परि' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'परिश्रम' शब्द, एवं उपसर्गशून्य-'श्रम' शब्द—

आग्नात्मक तपोभाव से अनुप्राणित भूतसर्गात्मक, एवं इस सर्ग से जनित-स्वेदभावानुगत-बहिर्व्यापार का ही नाम है-'श्रम', जैसा कि एतत्स्वरूपनिर्मापक-'श्रमु तपसि, खेदे च' इत्यादि सुप्रसिद्ध पाणिनीय-धात्वर्थ से भी स्पष्ट है। भूतसर्गात्मक यही श्रम मानवीया चार मर्यादाओं के अनुबन्ध से, सम्बन्धानुगत सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादि चार भावों के अनुपात से चार स्थानों में विभक्त होरहा है। सूक्ष्मतम, अमृतब्रह्मशुक्रभावापन्न, आत्मा से अनुप्राणित श्रम क्योंकि इतर सभी पर्वों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए है। सभी आध्यात्मिक पर्व आत्मानुगत श्रम की सीमा में गर्भीभूत हैं-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' सिद्धान्तानुसार। इस सर्वव्याप्ति के लिए ही व्याकरणशास्त्र में-'आङ्' उपसर्ग व्यवस्थित है। अतएव आत्मानुगत, अतएवच सर्वात्मक 'श्रम (आत्म-श्रम)-'आसमन्तात्-सर्वतो व्याप्त -श्रम' निर्वचन से--'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध होगया है।

१९०-बुद्धिप्रधान-'परिश्रम'-शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय—

आत्मा के अनन्तर दूसरा क्षेत्र है-आत्मानुगता बुद्धि का, जिसे हमने पूर्व में कारणशरीर कहा है। आत्मप्रतिष्ठिता इस बुद्धि का प्राणात्मक (सौरप्राणात्मक) जो 'श्रम' है, वह सबको तो स्वगर्भ में प्रतिष्ठित नहीं कर रहा। किन्तु-'अध स्विदासीत्-उपरिस्विदासीत' (ऋक्सं०) के अनुसार शरीरत्रयीरूपा व्यक्त-सम्बन्धत्रयी में तो (केवल आत्मा को छोड़ कर) यह बौद्धिक श्रम उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे कि प्राणात्मक तपोमूर्त्ति सौरसम्वत्सरमण्डल शेषभूत-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरों के चारों ओर व्याप्त रहता है। इसी-'चारों ओर' की व्याप्ति का सूचक है-'परि' उपसर्ग। आत्मानुगता बुद्धि का श्रम क्योंकि 'परितः' व्याप्त है। अतएव-'परितः-श्रमः-परिश्रम' इस निर्वचन से इसे अवश्य ही-'परिश्रम' (१) नाम से व्यवहृत किया जासकता है।

१९१-चित्सोममय, प्रज्ञाप्राणात्मक, मनोमय, 'श्रोकःसारी' इन्द्र, तदनुगता भूतमक्ति, एवं तन्निबन्धन शरीरानुगत-'श्रम' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

सर्वानुगत, 'आङ्'-निबन्धन-'आसमन्ताद्भाव, तथा चतुर्दिगात्मक-'परि' निबन्धन 'परितोभाव, मानवीय मनस्तन्त्र इन दोनों ही भावों से पराङ्मुख रहता हुआ, दिग्देशकालात्मक-परिच्छिन्न-ऐन्द्रियिक-भावों के द्वारा, तथा स्वानुगत-स्नेह-गुणक, अतएव सङ्कोचधर्म्मा मार्गानुबन्धी आसक्तिभावों के द्वारा एक

---

(१) शरीरधर्म्मा मानव के व्यापार में क्योंकि 'श्रम' ही प्रधान है। अतएव श्रमदानकुशल ऐसे शरीरप्रधान मानव को जहाँ-'श्रमजीवी' कहा जायगा, वहाँ बौद्धिक श्रम का अनुगामी स्वाध्यायनिष्ठ छात्र-'परिश्रमी' माना जायगा। यदि परिश्रमात्मिका स्वाध्याय-अवस्था (शिक्षाकाल) में इस 'परिश्रम' के क्षेत्र में शरीरप्रधान 'श्रम' को प्रधान बना दिया जायगा, तो निश्चयेन ऐसे श्रमदानपथ के अनुगामी छात्र की परिश्रममूला स्वाध्यायनिष्ठा अन्तर्मुख ही बन जायगी, जिसके दुष्परिणाम श्रमभावानुगत आज के शिक्षाक्षेत्र में सर्वात्मना स्पष्ट बन चुके हैं।

तोऽनुगामी ही बना रहता है। अतएव इन्द्रियद्वारसे जिस विषय में मन एक बार आसक्त होजाता है, दूसरी ओर से निरपेक्ष बन उसी पूर्व विषय के प्रति पुनः पुनः अनुधावन किया करता है। अतएव प्रज्ञानुगत-(सोमानुगत) इस मनोमय प्रज्ञानेन्द्र प्राण को श्रुति ने–'ओकःसारी' (१) नाम से व्यवहृत किया है। लोकनिबन्धन-व्यक्त–मूर्त्त–दिग्देशभावानुगत–बौद्धिक परिश्रम से अनुगत इत्थंभूत मन का व्यापार क्योंकि एकतः ही अनुगत रहता है। अतएव आङ्, तथा परि, दोनों भावों से पृथक् इस मनोनिबन्धन व्यापार को ही 'श्रम' नाम से ही व्यवहृत किया गया है।

१६२–आत्मानुगत 'आश्रम', बुद्ध्यनुगत 'परिश्रम', मनोऽनुगत 'श्रम', एवं शरीरानुगता 'सेवा', तथा तदनुबन्धी प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य—

अब चौथा बच जाता है–'शरीर'। इस केवलशरीरानुगत 'श्रम' को ही शास्त्रने–'सेवा' नाम से व्यवहृत किया है। और यों आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर, इन चारों तन्त्रों के साथ क्रमशः–आश्रम–परिश्रम-श्रम-सेवा, इन चार भावों का सम्बन्ध प्रमाणित होजाता है, जिस इस प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर ही आत्मनिष्ठ ब्राह्मण के साथ प्रधानरूपेण 'आश्रम' का, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय के साथ प्रधानरूपेण-'परिश्रम' का, मनोभावुक वैश्य के साथ प्रधानरूपेण–'श्रम' का, तथा शरीरधर्म्मा शूद्र के साथ प्रधानरूपेण 'सेवा' का क्रमिक सम्बन्ध होरहा है। चौंकिए नही। यदि मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृतिसिद्धा भी इस वर्णचतुष्टयी में आज दोष आगए हैं, तो यह ज्ञानविज्ञानसिद्धा, सनातना, नित्या वर्णव्यवस्था का अपराध नही है। अपराध तो उन का है, जो इन प्रकृतिसिद्ध, सहज वर्णभावों के मौलिक स्वरूप से अपरिचित रहते हुए इन के उन्मूलन के व्यर्थतम प्रयास में आपादमस्तक व्यग्र बनते हुए जहाँ व्यवस्था में साङ्कर्य्य उत्पन्न करते जारहे हैं, वहाँ अपने काल्पनिक-वर्गभेदोन्मूलनवादव्यामोहन से इन चार वर्गों के स्थान में परःशत नवीन नवीन वर्ग ही अभिव्यक्त कर रहे है, इति नु आलप्यालमेव।

१६३–सदसन्मूर्त्ति, अमृत-मृत्यु-मय, ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मप्रजापति का स्वरूप-संस्मरण—

भारतीय विद्वान् 'आश्रम' शब्द की तथोक्ता तात्त्विकी अभिव्यक्ति से सम्भवतः ही नही, अपितु निश्चयेनैव अपनी परम्परासिद्धा 'चातुराश्रमव्यस्था' के प्रति आशङ्कित होपड़ेंगे। किन्तु इस आशङ्का, किंवा कुशङ्का का यहाँ प्रवेश भी सम्भव नही है। कथम् ?, प्रश्न के सम्यक्-समाधान के लिए तो अन्य निबन्ध ही द्रष्टव्य है (२)। सन्दर्भ-समन्वय-दृष्ट्या प्रकृत में दो शब्दों में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'आश्रम'

---

(१) वैदिक परिभाषा में 'ओकः' स्थान–गृह–आदि का नाम है। मन जिस स्थान-गृह, किंवा विषय में चला जाता है, वहीं 'रम' जाता है। अतएव इसे-'ओकःसारी' (स्थानासक्त–विषयासक्त) कहा गया है, जैसा-कि–'ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, ऐव तत्रापरं गच्छति' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

(२)–देखिए–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड का–'आश्रम–व्यवस्थाविज्ञान' नामक प्रकरण। ग्रन्थ प्रकाशित होगया था आज से १० वर्ष पूर्व। किन्तु अब पुनः प्रकाशनापेक्ष है।

तत्त्व की प्रतिष्ठारूप 'आत्मब्रह्म' रम, तथा बल, नामक तत्त्वविशेषों के अनुबन्ध से ज्ञान, कर्मोभय-मूर्त्ति माना गया है। ज्ञान 'ब्रह्म' है, यही 'सत्' है, यही 'अमृतम्' है। कर्म-'कर्म्म' है, यही 'असत्' है, यही 'मृत्यु' है। एवं इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'अहम्' शब्देनाभिनीयमान 'आत्मब्रह्म' है, जैसा कि-'अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' इत्यादि गीतासिद्धान्त से प्रमाणित है।

१६४-उभयात्मक आत्मप्रजापति से अनुप्राणित मानव के ब्रह्म, तथा कर्म्म, नामक दो प्रमुख 'आश्रम', एवं तन्निबन्धन मानव के सुप्रसिद्ध चार आश्रम--

अंशी ईश्वरात्मा यदि दिव्य-'ब्रह्म, कर्म्म-रूप' है, तो तदंशरूप मानवात्मा भी लौकिक-'ब्रह्म-कर्म्म-मय' ही है। सिद्धाश्रमापन्न ईश्वरात्मा का अंशरूप आश्रमी मानव जिन साध्य-आश्रमों से अपने माननीय आत्माश्रम की पूर्णाभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है, ऋषिप्रदिष्टा यही तात्त्विकी व्यवस्था 'आश्रमव्यवस्था' नाम से प्रसिद्ध हुई है। मानव अपने शतायुर्भोगकाल में ५०-५०-वर्षों के विभाजन से क्रमशः 'कर्म्म', तथा 'ब्रह्म' सम्पत्ति को अभिव्यक्त करसकता है। ये ही दोनों कर्म्माश्रम, ब्रह्माश्रम, नामक दो प्रमुख साध्याश्रम माने जायँगे। कर्म्माश्रम भी ब्रह्मसापेक्ष है, तो ब्रह्माश्रम भी कर्म्मसापेक्ष है। अतएव ५०-५०- के-२५-२५-के अनुपात से पुनः दो दो विभाग कर दिए हैं। प्रारम्भ की पञ्चविंशति में कर्म्म-सापेक्ष ब्रह्म का संग्रह होता है, यही ब्रह्मचर्य्याश्रम है। उत्तर की पञ्चविंशति में ब्रह्मसमन्वित कर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, यही 'गृहस्थाश्रम' है। तदुत्तर की तीसरी पञ्चविंशति में ब्रह्मसापेक्ष निवृत्तिकर्म्म का संग्रह होता है। यही तीसरा 'वानप्रस्थाश्रम' है। एवं सर्वान्त की चौथी पञ्चविंशति में 'ब्रह्म' की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। और यही-'सन्यस्ताश्रम' है। यों ब्रह्म-कर्म्म के साध्य-साधन भावानुबन्धों से एक ही ब्रह्मकर्म्माश्रम आरम्भ में द्विधा विभक्त होता हुआ अन्ततः चार महिमाभावों में परिणत होजाता है। यह 'आश्रमव्यवस्था' उसीप्रकार मानव के व्यक्तित्व की स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण मानी गई है, जैसे कि तदनुबन्धिनी वर्णव्यवस्था-'समाज' स्वरूप की अभिव्यक्ति मानी गई है। आश्रमव्यवस्था, तथा वर्णव्यवस्था, इन दो महता महीयान् वैज्ञानिक स्तम्भों के आधार पर ही मानव के व्यक्तितन्त्र की, तथा समाजतन्त्र की स्वरूप-स्थिति व्यवस्थित हुई है, जिसे प्रज्ञापराधवश अव्यवस्थित कर भारतीय मानवने आज अपना सभी कुछ वैय्य-क्तिक-सामाजिक ऐश्वर्य्य सर्वात्मना अभिभूत ही कर लिया है, इति नु अस्वप्रमेव!।

१६५-आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-दानमूला आश्रम-परिश्रम-श्रम-सेवा-दानात्मिका आश्रम-प्रधाना दानपद्धति, तदनुगता आश्रमसिद्धा 'आश्रमजीवनपद्धति', एवं तत्सम-न्विता 'मानवजीवनपद्धति'—

प्रकृतमनुसराम, पापपाशा तराम। पूर्वनिर्दिष्टा आत्मब्रह्ममूला 'ब्राह्मीस्थिति' से सम्बन्ध रखने वाले अपेक्षा-भावापन्न १आश्रम, २परिश्रम, ३श्रम, ४सेवा, नामक चारों शब्दों का '१आत्मा-२बुद्धि-३मन-४शरीर-अनुबन्ध से समन्वय प्रयास उपरत हुआ। अवश्य ही मानव के लिए शरीरापेक्षया 'सेवादान' भी अपेक्षित है, मन की अपेक्षा से 'श्रमदान' भी अनिवार्य्य है, तो बुद्ध्यपेक्षया परिश्रमदान भी अपेक्षित है। किन्तु जबतक आत्मनिष्ठानुगत आश्रमदान को इन तीनों तन्त्रों की मूलप्रतिष्ठा नहीं बना दिया जाता, तबतक ये तीनों प्राकृतदान अव्ययपुरुष के पौरुष से वञ्चित बने रहते हुए केवल प्रकृत्यर्थ ही प्रमाणित होने

रहते हैं । और तदवस्था में भावुकतापूर्ण इन बौद्धिक–मानसिक-शारीरिक परिश्रम-श्रम–सेवा-दान-परम्पराओं से मानव का आत्मानुगत नैष्ठिक पुरुषार्थ कदापि सिद्ध नहीं होता । आत्मनिष्ठानुगता आश्रमनिष्ठा से नियन्त्रित–मर्य्यादित बनी रह कर ही परिश्रम–श्रम-सेवा–भावत्रयी मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस् का कारण बना करती है । अतएव भारतीय तत्त्वज्ञोंनें मानव के लिए 'आश्रमानुगता-जीवनपद्धति' को ही मानव की सर्वश्रेष्ठा जीवनपद्धति माना है, जो आश्रमजीवनपद्धति दार्शनिकभावानुबन्धिनी काल्पनिकी आश्रमव्यवस्था के अनुग्रह से उत्तरोत्तर स्खलित होती हुई अन्ततोगत्वा आज तो काल्पनिक श्रमदानानुगत–सेवादान जैसे विजृम्भण पर ही परिसमाप्त है, इत्यहो महतीयं विडम्बना दिग्देशकालव्यामोहनस्य ।

१९६–'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौघ' अभिधा के साथ 'मानजीवनपद्धति' से अनुप्राणित 'मानवाश्रम' का स्वरूप-समन्वय —

'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौघ' के नामकरण–प्रसङ्ग से ही यह आश्रमचर्चा प्रक्रान्त है । 'आश्रम' के तथोक्त तात्त्विक–अर्थसमन्वय के आधार पर ही-हमने 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौघ' इस वैदिकी अभिधा का--'मानवाश्रम' नामकरण अन्वर्थ माना है, और यही हमारे व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले 'मानवश्रम' का स्वरूप-समन्वय है, जिसका दिग्देशकाल-निबन्धन किसी भी भूतभौतिक-विजृम्भण से कोई भी अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं है । मानवस्वरूपानुगत ब्रह्मकर्म्मानुबन्धी–ज्ञानविज्ञानात्मक–आश्रम की उपासना से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्त्यनुगत चिन्तन–स्वाध्याय–आचारात्मक–प्रयास ही–'मानवाश्रम' है, जिसका किसी भी युगधर्म्मानुगत विधि–विधानात्मक–लौकिक अनुबन्ध से कोई भी सम्बन्ध नहीं है । तथाविध प्रत्येक ही मानव स्व-स्व-मानवाश्रमों का ही आराधक माना जायगा । और यही भारतीय-प्राचीन-'आश्रमों' की तात्त्विकी स्वरूप-परिभाषा मानी जायगी । मानव स्वयं भी आत्मभावानुगत बनता हुआ, अतएव आत्माश्रमनिबन्धन परिश्रम–श्रम–सेवात्मक बौद्धिक- मानसिक–शारीरिक–व्यापार करता हुआ 'आश्रम' है, जो कि प्रकृतिसिद्ध यह 'मानवाश्रम' आयुर्भोगकालानुपात से क्रमशः-ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थादि साध्य आश्रमरूपों की प्रतिष्ठा बनता रहता है ।

१९७–लोक, तथा सत्तासापेक्ष गृहस्थाश्रम, एवं तन्निरपेक्ष वानप्रस्थ, तथा तन्निबन्धना हमारी सर्वनिरपेक्षता—

सम्भव है कि, तथाविध व्यक्तिरूप 'मानवाश्रमों' को अपने 'गृहस्थाश्रम' नामक द्वितीयाश्रम के भोगकाल में वर्त्तमानयुग के भावुकतापूर्ण-दिग्देशकालानुबन्धी काल्पनिक-प्रावाहिक-सापेक्ष भावों का भी अमुकसीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही आश्रय लेना पड़ता हो, लेना पड़ा हो । किन्तु पञ्चाशत् (५०) वर्षानन्तर उपक्रान्त होने वाले तीसरे 'वानप्रस्थाश्रम' नामक 'मानवश्रम' का तो किसी भी लोकतन्त्र से कोई भी निकट का सान्निध्य नहीं रह जाता, (विशेषतः अराजन्य सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणमानव के लिए) । द्वितीय–मानवाश्रमभोगकाल (गृहस्थाश्रमभोगकाल) पर्य्यन्त लोकभावुकता–संरक्षक नितान्त भावुकतापूर्ण जिन लोक–सापेक्षताओं का दिग्देशकालानुबन्धिनी युगधर्म्मानुगता लोकैषणा-वित्तैषणाओं के आकर्षण–विकर्षण से (गच्छतःस्खलनरूपेणैव) अद्यावधि–विवशतापूर्वक अनुगमन करते रहना पड़ा है, प्रक्रान्त द्वि० श्रावणमास की अमुक पुण्यातिथि से उपक्रान्त होजाने वाले प्रक्रान्त, निवृत्तिकर्म्मप्रधान इस तृतीय मानवाश्रम (वानप्रस्थाश्रम) के अनुग्रहा–

...र निग्रह से इस साहित्यसेवी को अब तथोक्त लोकसापेक्षताओं के अनुबन्धों से यथाशक्ति अनुतापूर्वक ...नानामेनैव तटस्थप्राय ही बना लेना है। एष एव श्रेय पन्था। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

१९८–विगत युगानुगता हमारी 'प्रचारात्मिका एषणा', एवं तन्निग्रह से सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा का आत्यन्तिक अभिभव—

तटस्थ बना ही लेना चाहिए था स्वाध्यायोपक्रमकाल में ही। किन्तु भारतीय विद्वानों की विगदहस्तवर्णानु-गता सत्ता, लोक-सापेक्षता-निबन्धना परावलम्बमूला जिस प्रवृत्ति, किंवा घोरघोरतमा दुष्प्रवृत्ति के भारतव्यापक जिस मलीमस उपेक्षतापूर्ण वातावरण में हमें अपनी स्वाध्याय-चिन्तन-प्रवृत्ति उपक्रान्त करनी पड़ी, उस वाता-वरण से तन्मय हम अपनी अवस्थानुगता परदर्शनमूला, गतानुगतिकभावापन्ना भावुकता से प्रभावित होते हुए 'प्रचारात्मिका एषणा' में तत्कालस्य-भावुकतयैव मुक्तावस्थाओं में लोक-सत्तातन्त्र सापेक्षताओं से हम अपना ...आत्मपरित्राण नहीं करसके, नहीं हीं करसके।

१९९–'सांस्कृतिक-प्रचारैषणा-साफल्या' नुगता हमारी दद्रम्यमाणता, और तन्निबन्धना लोक, सत्ता-सापेक्षता—

और इसी नितान्त-भावुकतापूर्णा, अतएव 'स्वाध्यायनिष्ठाव्रत' की अन्यतमा प्रतिबन्धिका तथा-विध प्रचारैषणा के व्यामोहन से आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समाप्लुत होते हुए हमने निरन्तर २०-२५ वर्ष-पर्यन्त 'सांस्कृतिक-प्रचारैषणा-साफल्य' के लिए ही सुप्रसिद्धा 'दद्रम्यमाण' (१) उस अवन्या वृत्ति का ही अनुगमन प्रक्रान्त रक्खा, जिसका उद्गम मोहमयी 'अविद्या' से ही हुआ करता है। इसी दद्रम्यमाण मोहमयी भ्रमप्रवृत्ति से हमें तथोक्त अवधि में कभी राजन्यसत्ता-तन्त्रों की, तो कभी देश के धर्मप्रेमी (वस्तुतः सम्प्रदायात्मक मतवादों के ही अनुगामी) सम्पन्न धनिकों की अहर्निश उपासना ही प्रक्रान्त रखनी पड़ी, जिसके द्वारा अभिव्यक्त 'स्वाध्यायनिष्ठा-अभिभव' से (जैसाकि हम आज स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं कि) हमारा अत्यन्त ही अनिष्ट हो हुआ अपने सांस्कृतिक चिन्तन, साहित्यिक-स्वाध्याय, तथा कर्त्तव्यकर्म्मा-त्मक कर्म्म के आचरण-क्षेत्र की दृष्टि से।

२००–'भावुकता' स्वरूपदर्शनानुग्रह से ही दश वर्ष पूर्व तत्सापेक्षता से आंशिक-परित्राण, एवं 'आंशिक' भावानुबन्धी एक नूतन भ्रम का आविर्भाव—

अन्ततोगत्वा सन् ४२ के अवसान से 'मानवाश्रम-पाक्षिक' के 'भावुकता' निबन्ध के अनुग्रह से ही हमारी वह मोहनिद्रा आंशिकरूपेण उपशान्त होगई। 'आंशिक-रूपेण' इसलिए कि, उस समय हमारी ऐसी मान्यता थी कि, 'ब्रिटिशसत्तातन्त्रानुगत-पारतन्त्र्य' के निग्रह से ही भारतीय संस्कृति, साहित्य,

---

(१)-अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
—उपनिषत्

तथा धर्म्म अपने ज्ञानविज्ञानात्मक–मौलिक–स्वरूप से आज अभिव्यक्त नही होरहे हैं। एवं **परसत्ता–निबन्धना आत्म–बुद्धि–मनः–शरीरनुगता** इसी सर्वदासता से न तो भारतराष्ट्र के * **सामन्त-सत्तातन्त्रों** की ही अपनी इस मूलनिधि की ओर दृष्टि है, नापि साम्प्रदायिक–मतवादो के निग्रहात्मक अनुग्रह से देश का **सम्पन्न वर्ग** ही इस ओर जागरूक है। किन्तु प्रक्रान्त राष्ट्रीय **स्वतन्त्रता–संग्राम** के अनुग्रह से जब निकट–भविष्य में ही हमारा राष्ट्र इस आर्थिक पारतन्त्र्य के साथ साथ सांस्कृतिक पारतन्त्र्य से भी (**मनःशरीरदासता** के साथ साथ **आत्मबुद्धिदासता** से भी) उन्मुक्त होजायगा, तो उस **सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र** के अपने ही **सुशासनकाल** में अवश्य ही राष्ट्रीया वह **मूलसंस्कृति**, वे मौलिक–**सांस्कृतिक आचार**, तथा वे मौलिक **सांस्कृतिक-आयोजन** असंदिग्ध रूपेण पुनराविर्भूत, तथा पुष्पित–पल्लवित हो ही जायँगे, जो परसत्तातन्त्रो की निबिडतमा वारुणपाश-परम्परा से विगत अनेक शताब्दियो से अन्तर्मुख ही बनते चले आरहे हैं। और **स्वसत्तातन्त्र के स्वशासनयुग** में राष्ट्र का सुसमृद्ध वर्ग भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपनी राष्ट्रीया सस्कृति का महत्त्व समझने लगेगा, एवं किसी भी प्रतिदान की असद्भावना से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न रखता हुआ तत्प्रति निर्व्याजरूपेणैव अपनी मुक्तहस्तता का भी परिचय प्रदान करने लगेगा।

२०१–आंशिक–निरपेक्षता–युगानुगता अमुक मानवश्रेष्ठ की निर्व्याजा संस्कृतिनिष्ठा, एवं तन्निबन्धन हमारा स्वाध्यायनिष्ठा–संरक्षण—

सन् ४२ को तथाकथिता आंशिकरूपेण उपशान्ता **सत्तासापेक्षता**, तथा **लोकसापेक्षता** के पर्य्यवसान के साथ साथ ही सम्भवतः ही क्यों, अपितु निश्चयेन अनायासेनैव बिना प्रयास के ही हमें एक वैसे **मानवश्रेष्ठ** की उपलब्धि होगई, जिसकी निर्व्याजा सांस्कृतिक–श्रद्धा के कारण हीं हमारी सांस्कृतिक–प्रवृत्तियाँ तथाविध निरपेक्षयुग में भी येन केन रूपेण निष्ठापथानुगामिनीं हीं बनी रही। और आजतक भी एकमात्र उसी मानवश्रेष्ठ के निर्व्याज सांस्कृतिक-सहयोग से हमारी तत्प्रवृत्तियाँ यथापूर्व प्रक्रान्त हैं। एवं ऐसी आस्था है कि, भविष्य में भी '**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' इस आर्षविधान के अनुसार तथाप्रक्रान्ति में कोई भी विघ्न उपस्थित न होगा।

---

*–**सामन्त-सत्तातन्त्र (राजन्ययुग)** से सम्बन्ध रखने वाली एक भुक्त-घटना हीं इस दिशा में वैसा ज्वलन्त प्रमाण है, जिससे ब्रिटिशराज्यानुवर्त्ती सामन्त-राज्यतन्त्रों की तद्युगीया मनोवृत्ति स्पष्ट होजाती है। जयपुरराज्य प्राच्यसंस्कृति का पारम्परिक उपासक माना जाता रहा है निगमनिष्ठ स्वर्गीय नृपतिश्रेष्ठ श्रीजय–सिंहजी महाभाग की शास्त्रनिष्ठा के पारम्परिक–विस्तारानुबन्ध से। उसी सांस्कृतिक ?, साहित्यिक ?, एवं परम-धार्म्मिक ? जयपुर में सन् १६३० में जब हमने वेद के सुप्रसिद्ध-'शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य' के '**मासिक–पत्र**' के रूप से प्रकाशन की राज्य से स्वीकृति लेनी चाही, तो इस स्वीकृति–ग्रहण में हीं हमें पूरा एक वर्ष लग गया। उस सामन्त–युग के अधिकारीगण सशङ्कित ही होपड़े कि, कहीं हम इस 'पत्र' के द्वारा उनकी आराध्या ब्रिटिशसत्ता के विरुद्ध तो कुछ आन्दोलन नहीं करना चाहते उक्त मासिक–पत्र से, इत्याल–प्यालमेव।

२०२–महद्भाग्यानुगता भारतराष्ट्र की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता, तन्निबन्धन सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारतीय-सत्तातन्त्र, एवं तथाविध सत्तायुग के सुशासन में भी भारतीय सांस्कृतिक-मूलनिधि की निरपेक्षता, और आंशिक-निरपेक्षता की 'सर्वनिरपेक्षता'-रूप में परिणति—

महती भाग्य से राष्ट्रने अपने स्वतन्त्रता-संग्राम में परसत्तातन्त्र के स्थान में 'स्वसत्तातन्त्र' स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, एवं तदनुसार ही गणतन्त्रात्मिका प्रजातन्त्रात्मिका पद्धति के आधार पर राष्ट्र का स्वतन्त्र संविधान निर्मित हुआ, और की गाथा के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है*। इस सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, अपने, अर्थात् भारतीय सत्तातन्त्र से यह आशा स्वाभाविक ही थी कि, वह अवश्य ही भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के पुनरावनिर्माण के लिए कोई प्रयत्न शेष नहीं रहने देगा। इसी आशा से सम्भवत सन् ४८ में हमने राजस्थान के प्रान्तीय सत्तातन्त्र के सम्मुख ही अपना सांस्कृतिक-दृष्टिकोण रखने का साहस किंवा दुस्साहस कर ही तो डाला, जो साहस तब से सन् ५८ के अप्रैल पर्य्यन्त, अर्थात् निरन्तर दस वर्ष पर्य्यन्त आशा-प्रतीक्षा, तो कभी निराशा-तटस्थता के ही चक्र क्रमण से चक्रायित बनता रहा, और स्वतन्त्र-सत्तानुबन्धी हमारे सभी सङ्कल्प सर्वात्मनैव अन्तर्मुख ही बन गए अन्ततोगत्वा। यहाँ आकर ही ब्रिटिशसत्ता-नुगता वह 'आंशिकी' सत्तानिरपेक्षता सर्वात्मना 'निरपेक्षता' के रूप में ही परिणत होगई, जो कि 'निरपेक्षता' ही 'संस्कृति' के क्षेत्र में-'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' के अनुसार एकमात्र राजपथ माना गया है। 'सत्तानिरपेक्षा-संस्कृति' के इस तथ्यपूर्ण चिरन्तन दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए ही हमें सहयोगिनी सांस्कृतिक-प्रजाओं के सामयिक उद्बोधन के लिए अपने उत्तरदायित्व पर ही सहस्र पृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है, जो कि कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित हुआ है।

२०३–'सत्तानिरपेक्षता' रूप महान् पुरस्कार की पुण्यगाथा का संस्मरण—

'सत्तासहयोगप्राप्ति' के ही प्रमुख उद्देश्य से तीन वर्ष पूर्व स्थापित-'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान' के सुनैष्ठिक संस्कृतिपरायण मन्त्री माननीय डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल महोदय संस्थान की सफलता के लिए तीन वर्षों से निरन्तर प्रयत्नशील हैं। आपका क्योंकि भारतीय-संस्कृतिभक्त महामहिम राष्ट्रपति महाभाग से अनन्य सांस्कृतिक-सम्बन्ध है। सम्भवतः इसी महान् अनुबन्ध से आपकी इस त्रिवार्षिकी महती तपश्चर्या के सुपरिणाम-स्वरूप ही विगत मार्चमास में सर्वप्रथम उत्तरप्रदेश के सत्तातन्त्र के सञ्चालक, (मुख्यमन्त्री) भारतीय संस्कृति के मर्म्मज्ञ माननीय डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी महोदय की ओर से ही 'सर्वप्रथम' अमुक आर्थिक अनुदान की घोषणा हुई है उक्त संस्थान के लिए। इस प्राथमिक घोषणा के एकमास के अनन्तर ही हमारी अपनी उस राजस्थानसत्ता के वर्त्तमान मुख्यमन्त्री माननीय श्रीमोहनलाल जी सुखाड़िया का ध्यान भी अनुदानदान की ओर आकर्षित हुआ है, जिस हम अपने सत्तातन्त्र के प्रति दस वर्षों से निरन्तर प्रयत्न करते हुए अन्ततोगत्वा परिश्रान्त होकर हमने तो तथाकथित-'सत्तानिरपेक्षता' जैसे महान् पुरस्कार का ही अनुगमन कर लिया है।

---

* 'सांस्कृतिक संघर्ष के लिए आमन्त्रण' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध में वर्त्तमान सत्तातन्त्र के अभारतीय दृष्टिकोण का सर्वात्मना दिग्दर्शन करा दिया गया है। (निबन्ध प्रकाशित है)।

२०४–सापेक्षता-निरपेक्षता-से अनुप्राणित उद्बोधनात्मक श्रौत-सूत्रों का माङ्गलिक-संस्मरण—

जैसा कि प्रास्ताविक के आरम्भ में ही निवेदन किया जाचुका है, संस्कृति का मूलस्वरूप तो तच्चिन्तन–तत् स्वाध्याय, तथा तदाचरण, त्रिधा विभक्त इस 'सांस्कृतिक-अनुष्ठान' पर ही अवलम्बित है, जिसके लिए न तो 'लोक' की ही अपेक्षा है, नैव 'सत्तातन्त्रों' की। यदि लोकतन्त्र, और सत्तातन्त्र का अयाचित, सात्त्विक सहयोग उपलब्ध होजाता है 'संस्कृति' को स्वतः ही, तो–'यत्र राजानं लभेत–समृद्धं तत्' इस सांस्कृतिक सूत्र के अनुसार अवश्य ही संस्कृति का लोक–सत्तानुगत स्वरूप समृद्ध बन जाता है। किन्तु सहयोग के अभाव में कदापि 'संस्कृति' के मूलस्वरूप का अभिभव नहीं है–जैसा कि 'ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्स्थातुम्' इस सूत्र से स्पष्टतम है। ठीक इसके विपरीत जो लोक-सत्तातन्त्र इस मूलसंस्कृति के आश्रय की उपेक्षा कर देते हैं दिग्देशकालविमोहनों में आसक्त–व्यासक्त होते हुए, वे तो समृद्धि से भी सर्वात्मना वञ्चित होजाते हैं, एवं उनकी स्वरूपरक्षा भी शङ्कातङ्किता ही बन जाती है, जैसाकि उसी सन्दर्भ के–'न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात्-स्थातुं शशाक। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे-अप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे' इत्यादि उद्बोधनसूत्र से स्पष्ट है।

२०५–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' की बाह्यप्रवृत्तियों के प्रति तटस्थ-साक्षित्व—

स्पष्ट किया जाचुका है कि, निवृत्तिकर्म्मप्रधान प्रक्रान्त 'मानवाश्रम' ('वानप्रस्थाश्रम') के अनुग्रहात्मक निग्रह से अब इस साहित्यसेवी का तथाविध लोक-सत्ता-तन्त्रों की सापेक्षताओं से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रह गया है। फलतः भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा के निःश्वासरूप अपौरुषेय सनातन वेदशास्त्र के चिन्तन, स्वाध्याय, एवं दिग्देशकालानुबन्धतारतम्येन यथाशक्य तदाचरण, के अतिरिक्त इस मानवाश्रमी (वानप्रस्थी) की अब और कोई लोक-सत्ता-निबन्धना एषणा शेष नहीं रह गई है। एकमात्र अपने निरपेक्ष-वानप्रस्थानुगत प्रक्रान्त जीवन के अनुबन्ध से ही लोकानुगत, अतएव युगधर्म्माक्रान्त, अतएव च विविध 'सापेक्षता'–अनुबन्धों समन्वित तथा कथित–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' की भूत–भौतिकी–सत्ता-लोक–निबन्धना उच्चावच यच्चयावत् बाह्यप्रवृत्तियों के व्यावहारिक स्वरूप का समस्त उत्तरदायित्व अब संस्थान के श्रेष्ठतम मन्त्री श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग से ही अनुप्राणित हो रहा है भविष्य के लिए। तटस्थ साक्षित्व के अतिरिक्त अब न तो इच्छा ही है, नैव शक्ति ही।

२०६–कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नुगत-'किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्' का उपराम—

सर्वनिरपेक्ष अपने तथाकथित साक्षित्व के लोकानुबन्ध से ही तत्त्वशोधसंस्थान की ओर से सर्वप्रथम हम भारतराष्ट्र के सर्वोच्च-सत्ताप्रतीक-भारतीय–संस्कृति के प्रति अनन्यश्रद्ध, मानवसुलभ सहज ऋजु मानवधर्म्म से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ओतप्रोत, संस्थान के प्रधान संरक्षक, महामहिम उन राष्ट्रपति माननीय श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग के प्रति ही हम अपनी कृतज्ञताञ्जलियाँ समर्पित कर देना अपना प्रथम, एवं प्रमुख कर्त्तव्य मान रहे हैं, जिनके प्रेरणात्मक 'सांस्कृतिक पत्रों' से ही सर्वप्रथम सर्वश्री

मा० डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी महोदय ने उत्तरप्रदेश से संस्थान को अनुदानप्रदान का अनुग्रह किया, एवं जिनकी पत्रप्रेरणासे ही हमारे अपने राजस्थानसत्तातन्त्रने भी हमारी दशवार्षिकी, तथा डॉ० अग्रवाल महोदय की त्रिवार्षिकी कटुपरीक्षा लेने के अनन्तर अपना अनुग्रह अभिव्यक्त किया।

तदनन्तर उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री सर्वश्री मा० डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी महोदय जैसे संस्कृति-मर्म्मज्ञ के प्रति संस्थान अपने कृतज्ञता-प्रसून समर्पित कर रहा है, जिन्होंनें ही 'सर्वप्रथम' इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को लक्ष्यानुगत बनाया, एवं इसे अपने अनुग्रहदान से समन्वित कर प्रोत्साहित किया। संस्थान अपने इन संस्कृतिमर्म्मज्ञ मुख्यमन्त्री महोदय के प्रति संस्थान के मन्त्री महोदय की आस्था के अनुसार ही अपनी ऐसी निष्ठा भी अभिव्यक्त कर रहा है कि, भारतीय वाङ्मय में सुप्रसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक तीस सहस्र-पृष्ठात्मक उस शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य के महारम्भ प्रकाशन की ओर भी आप का निकट भविष्य में ही ध्यान आकर्षित होगा, जो शतपथ भारतीय संस्कृति का 'महाकोश' माना गया है।

स्वान्त में राजस्थानसत्तातन्त्र के परम यशस्वी मुख्यमन्त्री, दिग्देशकालमर्म्मज्ञ माननीय श्रीमोहन-लालजी सुखाडिया के प्रति भी संस्थान की ओर से कृतज्ञता अभिव्यक्त कर देना हम दिग्देशकालानुबन्धी अनिवार्य्य कर्त्तव्य ही मान रहे हैं, जिनकी निःसीम उदारता से ही हमारा दशवार्षिक, तथा संस्थान के सम्मान्य मन्त्री डॉ० अग्रवाल महाभाग का त्रिवार्षिक-प्रतिबन्ध टूट सका है, और राजस्थानसत्तातन्त्रने सुदीर्घपरीक्षण के अनन्तर निर्णीत अपने इस अनुदानानुग्रह से राजस्थान की सांस्कृतिक-मर्य्यादा के संरक्षण का ही महत्पुण्य कार्य्य ही अभिव्यक्त किया है। संस्थान को आशा रखनी चाहिए कि, भविष्य में राजस्थानसत्तातन्त्र 'राजस्थान' की सनातनी 'सांस्कृतिक-निष्ठा' के संरक्षण में किसी भी प्रान्त से पश्चादनुगामी प्रमाणित नहीं होगा। और अपने प्राथम्य से राजस्थान के सांस्कृतिक-यशः शरीर को अक्षुण्ण ही प्रमाणित करता रहेगा।

कृतज्ञता-ज्ञापनात्मिका उक्त मङ्गलकामना से अनुप्राणित, श्री डॉ० अग्रवाल-महाभाग की महत्त्वपूर्ण भूमिका से (यथासम्भव) समन्वित, सांस्कृतिक चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-निष्ठ, अतएव समान--धर्म्मा मानवाश्रमात्मिका पारिभाषिकी 'आश्रमव्यवस्था' के उपासक मानवश्रेष्ठों के दिग्-देश-काला-नुबन्धी बौद्धिक अनुरञ्जन के लिए ही उपनिबद्ध- 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक चतुर्थखण्ड प्रस्तुत-'किञ्चि-दिव प्रास्ताविकम्' के साथ साञ्जलिबन्ध उपरत हो रहा है, इति निवेदयति प्रणतमावेन-

द्वितीय श्रावणशुक्ल-तृतीया, रविवासर
वि० सं० २०१५
'मानवीस्वैराजिकब्रह्मोद्य'
-(मानवाश्रम)-

य कश्चदपि सुकरकश्शर्म्मा
वेदवीथी--पथिक
आङ्गिरसो भारद्वाज

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक
चतुर्थखण्ड की
संक्षिप्ता--विषयसूची
(१२६३ परिच्छेदात्मिका)

श्री:

"भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता"-निबन्धान्तर्गत-
'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नामक
चतुर्थखण्ड की संक्षिप्ता विषयसूची

४

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके--एकादशस्तम्भे-'क'-कारविभागात्मके-चतुर्थखण्डे-दिग्देशकालस्वरूपानुगत (१)-"पारिभाषिकस्य" प्रथमप्रकरणस्य संक्षिप्ता विषयसूची-१८५ परिच्छेदात्मिका

उपरता चेयं

दिग्देशकालमीमांसानुगत–'पारिभाषिक'–प्रथमप्रकरणस्य

संक्षिप्ता विषयसूची (१८५ परिच्छेदात्मिका)

१

श्री

'अथर्ववेदीय कालसूक्तार्थसमन्वयात्मकस्य' द्वितीयप्रकरणस्य

संक्षिप्ता विषयसूची-४८८ परिच्छेदात्मिका

१

—※—

—इति प्रथममन्त्रार्थसङ्गतिः—

१

---

(२)-द्वितीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [द्वितीयमन्त्रार्थ]

इति-द्वितीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

२

---

(३)–तृतीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

इति–तृतीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

३

---*---

(४)–चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ)

इति–चतुर्थमन्त्रार्थ

४

---*---

(५)–पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (पञ्चममन्त्रार्थ)

इति–पञ्चममन्त्रार्थसङ्गतिः

५

—*—

(६)–षष्ठमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (षष्ठमन्त्रार्थ)

इति-षष्ठ-मन्त्रार्थसङ्गतिः

६

—*—

(७)–सप्तम–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (सप्तममन्त्रार्थ)

इति-सप्तम-मन्त्रार्थसङ्गतिः

७

—※—

(८)–अष्टम-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (अष्टममन्त्रार्थ)

इति–अष्टममन्त्रार्थसङ्गतिः

८

---

(९)–नवम–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (नवममन्त्रार्थ)

इति–नवममन्त्रार्थसङ्गतिः

९

———*———

(१०)–दशम–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (दशममन्त्रार्थ)

इति–दशममन्त्रार्थसङ्गतिः

१०

अत्र–कालसूक्तं–उपरतं–अष्टमम् [८]

श्रीः

अथ–कालमहिमात्मक–कालसूक्त–[नवम]–पञ्च–मन्त्रात्मक
[२]–नवमसूक्तानुगत-प्रथममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण[प्रथममन्त्रार्थ]
[पूर्वतोऽनुवृत्त ११ वाँ मन्त्र]
१-[११]-

—※—

इति-प्रथम (१-११) मन्त्रार्थसङ्गतिः

(१२)-(२)-द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

इति-द्वितीय (१२)-मन्त्रार्थसङ्गतिः

२

—*—

(३)-(१३)-अथ तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

इति–तृतीय (१३)–मन्त्रार्थसङ्गतिः

३

---

(४)–(१४)–अथ–चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण–(चतुर्थमन्त्रार्थ)

इति-चतुर्थमन्त्रार्थसङ्गतिः

४-(१४)

---

(५)-(१५)—अथ-पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [पञ्चममन्त्रार्थ]

इति–पञ्चम (१५)–मन्त्रार्थसङ्गतिः

—*—

पञ्च–मन्त्रात्मक–अथर्ववेदीय–नवमसूक्त–अत्र उपरत

—*—

इत्यथर्ववेदीय कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मकं

द्वितीयं प्रकरणमुपरतम्

—*—

श्री:

(२) दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके-एकादशस्तम्भे 'क' कारविभागात्मके-चतुर्थखण्डे दिग्देशकालानुगतस्य-'आचारप्रकरणस्य' तृतीयस्य संक्षिप्ता-विषयसूची-६२२ परिच्छेदात्मिका

३

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसानुगत–'आचारात्मक'

तृतीय–प्रकरण की संक्षिप्ता विषयसूची—

उपरत

३

—*—

उपरता चेयं–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा–खण्डस्य

संक्षिप्ता–विषयसूची

—*—

इति–शम्

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक–"भारतीय–हिन्दू–मानव, और उसकी भावुकता"

नामक–उद्बोधनात्मक–सामयिक–निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–नामक

चतुर्थखण्ड

श्री
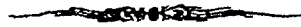
मानवाश्रमवैराजिक-ब्रह्मोद्य-मानवाश्रम (दुर्गापुरा) की प्रकाशनसूची-

(ले० मोतीलालशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाज)

१—ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड ... १२)

२—ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड ... १२)

३—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड १३)

४— ,, 'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड ... १३)

५— ,, 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड ★ १५)

६— ,, 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड ★ १५)

७—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड ... ... १२)

८—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड .... २०)

९— ,, 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड १५)

१०—संस्कृति, और सभ्यता, शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा ... ... २५)

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग-
'मानवाश्रमविद्यापीठ', दुर्गापुरा
जयपुर (राजस्थान)

★—चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशन-सापेक्ष हैं।

श्रीः

ओं तत्–सद्–ब्रह्मणे नमः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' (चतुर्थखण्ड)

तत्र–'दिग्देशकालानुगत–पारिभाषिक–प्रकरण'
नामक–प्रथम–प्रकरण

१

१–माङ्गलिकसंस्मरणम्—

१—कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

२—सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

३—पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥

४—स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्य्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां "तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः" ॥

५—कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

६ कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्य्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥

७—काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥

८—काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
"कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः" ॥

९—तेनेषितं तेन जातं 'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

१०—कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥

११—कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो 'दिशः'।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले नि विशते पुनः ॥

१२—कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥

१३—कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥

१४—कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥

१५—कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ॥
"सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः"

—अथर्वसंहिता १६ काण्ड। ६ अनुवाक। ५३–५४ सूक्त।

२–कालपुरुष से अपराध-क्षमापन, एवं तत्स्वरूपोपक्रम—

कालातीत महाकाल का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए आज हमें दिग्-देश-प्रवर्त्तक उस कालपुरुष की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ रहा है, जो कालपुरुष अपनी 'अनन्तप्रतीकता' के कारण मादृश कालानुगत प्राकृत भावुक मानवों के लिए सर्वथा अमीमांस्य, अतएव अनिर्वचनीय ही घोषित हुआ है। अनन्त कालपुरुष के एक क्षुद्र बिन्दुमात्र में प्रतिष्ठित, कालकवलित, कालोपासक, कालिक-दैशिक-दिगनुबन्धाबद्ध मानव अपने उपास्य अनन्तकाल के स्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्ति का साहस करे, यह इसकी धृष्टता ही तो मानी जायगी। यह सबकुछ जानते हुए भी, अनुभव करते हुए भी अपनी कालिक-दैशिक अन्यान्य प्राकृतिक धृष्टताओं का सतत अभ्यासी मानव यदि केवल उपासनिक-पद्धति के माध्यम से अपने इस अनन्तप्रभव की भी स्वरूपजिज्ञासा की धृष्टता में प्रवृत्त होता है, तो यह उसका अक्षम्य अपराध उसी प्रकार नहीं माना जायगा, जैसे कि एक अबोध शिशु जलपूर्णपात्र में प्रतिबिम्बित त्रैलोक्य व्यापक सूर्य्य के प्रतीक के माध्यम से सूर्य्यस्पर्श की धृष्टता करता हुआ भी अपराधी नहीं माना जाता। धृष्टताजनिता इस अपराधक्षमापन की भावना को मूल बनाते हुए ही, एकमात्र 'कालपुरुष' के अनुग्रह से ही कलिकालव्याहित प्रक्रान्त दुर्दान्त काल के निबिड पाश से आबद्ध-सुबद्ध हो जाने वाले भावुक मानवों के स्वरूपोद्बोधन के लिए ही, उनको कालातीतभाव का अनुगामी बनाने के लिए ही दिग्-देश-गर्भिता यह 'कालस्वरूपमीमांसा'-प्रक्रान्त हो रही है। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

३–'काल' का शाब्दिक निर्वचन—

जैसा कि तृतीयखण्ड के उपक्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, "प्रत्येक तत्त्व, किंवा पदार्थ की स्वरूप-मीमांसा तत्तत्त्ववाचक, तत्पदार्थवाचक मौलिक सांस्कृतिक शब्द के अर्थ में ही अन्तर्निगूढ रहती

है"। अतएव स्पष्ट है कि, 'काल' की स्वरूप–मीमांसा का चिरन्तन इतिहास (काल का मौलिक स्वरूप) भी कालतत्त्व–वाचक 'काल' शब्द के गर्भ में ही प्रच्छन्न है। अतः इस शब्द के माध्यम से ही हमें काल के मौलिक-स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त होना चाहिए। 'प्रकृति' मात्र के 'प्रत्यय' (ज्ञान) से अनुराग रखने वाले वैय्याकरणोंनें संख्यानार्थक, एवं शब्दार्थक 'कल' धातु ('कल' संख्याने, शब्दे च-भ्वा० आ० से०) से कर्म्म में 'घञ्' प्रत्यय का सम्बन्ध मानते हुए 'कालः' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति मानी है, जिसका निर्वचन हुआ है 'काल्यते–स कालः'। 'ण्यन्तात्-पचाद्यच्' रूप से 'कालयति सर्वं यः-सः कालः' भी इसी काल शब्द का निर्वचनान्तर है। अक्षरार्थ इन निर्वचनों का स्पष्ट है। "जो तत्त्व सम्पूर्ण भूत भौतिक पदार्थों का अयं घटः, अयं पटः-अयं मनुष्यः-अयं पशुः-इत्यादिरूप से संख्यात्मक, तथा शब्दात्मक (नामात्मक) व्यवच्छेद (पार्थक्य) करता है, इस व्यवच्छेद के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को स्व–स्व पार्थक्य के लिए प्रेरित करता है, वही तत्त्व-विशेष 'काल' माना गया है। कोई भी पदार्थ इस कालसीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

४–काल का दार्शनिक स्वरूप––

दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार काल उत्पद्यमान-उत्पन्न-यच्चयावत् पदार्थों का उत्पादक तत्त्व है, जिसके निमेष-क्षण-दण्ड-मुहूर्त्त-प्रहर-अहः–रात्रि-पक्ष-मास-सम्वत्सर-युग भेद से अनेक विवर्त्त माने गये हैं*। 'काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। इत्थं च तस्याश्रयत्त्वमेव सम्यक्' (सि० मु०) इत्यादि के अनुसार प्रतीयमान पदार्थों का आधारभूत सम्बन्धघटक तत्त्व, आश्रयभूत तत्त्व ही नव्यन्याय का कालपदार्थ है। नवपदार्थवादी काणादों के मतानुसार काल भी एकप्रकार का द्रव्य है÷। संख्या–परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–विभाग, ये काल के गुण–धर्म्म माने गए हैं दार्शनिक जगत् में, जिनके आचारात्मक स्वरूप से दार्शनिक-मान्यता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। केवल तत्त्वमीमांसानुगत, अतएव सृष्टिसर्गात्मक आचारधर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्टा इत्थंभूता दार्शनिक-मान्यता–से अनुप्राणिता कालस्वरूप की मीमासा दार्शनिकों से ही सम्बन्ध रख रही है, जिसका नैगमिक–कालमीमांसा में कोई विशेष उपयोग नहीं है।

५–काल का पौराणिक स्वरूप––

निगमशास्त्र में काल की जो स्वरूपमीमांसा हुई है, ज्ञानविज्ञानात्मक जो स्वरूप स्पष्ट हुआ है, नैगमिक तत्त्वों का आलङ्कारिक–बालोपलालनभाव से उपबृंहण करने वाले पुराणशास्त्र ने उसीका अपनी भाषा में जो स्वरूप–विश्लेषण किया है, उसका संक्षिप्त अक्षरार्थ–समन्वय यही है कि–– "अतीत–वर्त्तमान–भविष्यत्–भेद से काल के तीन विभाग हैं। त्रिभावापन्न यह काल ही लोक का कलनात्मक व्यवच्छेद करता है। अपने

---

* जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः॥
––कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड–४५–४६–

÷––पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन–इति द्रव्याणि।
––वै० सू० १।१।१।५।

व्यवच्छेदात्मक इस कलनधर्म्म से ही यह 'काल' कहलाया है। देवता-ऋषि-सिद्ध-किन्नर-आदि आदि सब इस काल के ही वशवर्त्ती हैं। यह काल साक्षात् भगवान् है, परमेश्वर है। सम्पूर्ण विश्व का उत्पादन-पालन-एवं निलयन इसी काल पर निर्भर है। परस्पर पृथक् रहने वाले पदार्थों के लिए काल समान है। यही सम्पूर्ण भूतों की सुषुप्ति है, यही जाग्रदवस्था है, एवं यही स्वप्नावस्था है। काल में ही कालान्तर में सब विलीन हो जाते हैं। अतएव यह दुरतिक्रम है। यथा हि—

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथम द्विज ! ॥
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे, कालस्तथापरम् ॥१॥
—विष्णुपुराण १।२।१४।

अनादिनिधनः कालो रुद्रः सङ्कर्षणः स्मृत. ॥
कलनात् सर्व्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः ॥२॥
—तिथ्यादितत्त्वम

कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च ॥
वर्त्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम् ॥
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥३॥
कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः ॥
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात् परमेश्वरः ॥४॥
सर्गपालनसंहर्त्ता स कालः सर्वतः समः ॥
कालेन कल्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥५॥
येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्यते कला ॥
सोऽन्तवच्च भवेत् कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥६॥
यः कर्म्मणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्त्तमानके ॥
सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः ॥७॥
येन मृत्युवशं याति कृतं येन लयं व्रजेत् ॥
संहर्त्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः ॥८॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ॥
कालः स्वपिति जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥९॥
काले देवा विनश्यन्ति काले चासुरपन्नगाः ॥
नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च काले सर्व्वं विनश्यति ॥१०॥

त्रिकालात् परतो ज्ञेय आगन्तुर्गतचेष्टकः ॥
तथा वर्षाहिमोष्णाख्यास्त्रयः काला इमे मताः ॥११॥
तथा त्रयोऽन्येऽपि ज्ञेया उद्यन्मध्यास्तरूपिणः ॥
सूक्ष्मोऽपि सर्व्वगः स वै व्यक्ताद्व्यक्ततरः शुभः ॥१२॥

——*——

६--स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ मानव का जन्म--साफल्य—

दिक्--देश-काल, इन सुप्रसिद्ध तीन शब्दों का चिरन्तन इतिहास ही 'विश्व' का चिरन्तन वैसा इतिहास है, जिस इतिहास के यथार्थ समन्वय के बिना मानव न तो अपने आत्मस्वरूप से (बुद्ध्यनुगत आत्मा की दृष्टि से) 'स्वस्थ' ही बन सकता, एवं न अपने प्रकृतिस्वरूप से (मनोऽनुगत शरीर की दृष्टि से) 'प्रकृतिस्थ' ही बन सकता। स्वस्थतानुगता प्रकृतिस्थता ही मानव का वह **पुरुषार्थ है,** जिस पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव प्रकृतिमूलक विश्वनिबन्धन अभ्युदय (लोकैश्वर्य्य) का, तथा आत्ममूलक विश्वेश्वर--निबन्धन **निःश्रेयस्** का, दोनों का अनुगामी बनता हुआ कृतकृत्य हो जाता है, एवं यही प्रजापतिनिर्दिष्ट परिपूर्ण मानव का जन्मसाफल्य है।

७--दिग्--देश--काल--निबन्धन चिरन्तन--इतिहास का मूलाधारभूत 'काल' शब्द—

नैगमिक सृष्टिसर्गव्याख्या की परम्परासिद्धा पद्धति के अभिभूत हो जाने से दिक्--देश--काल--शब्दों का चिरन्तन--परम्परासिद्ध इतिहास उस सीमापर्य्यन्त आज धूमिल बन चुका है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर मानव दिक्स्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ 'दिग्भ्रान्त' बन जाता है, प्रदेशस्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ 'देशच्युत' हो जाता है, एवं कालस्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ कालान्तर में 'कालकवलित' ही बन जाता है। और ऐसा ही कुछ घटित विघटित हो रहा है अपने इस चिरन्तन--इतिहास की पारम्परिक जीवनपद्धति से चलित--स्खलित भावुक मानव के सम्बन्ध में निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से। दिग्--देश--काल--विमूढ़ आज का मानव कभी दिक्--विदिक् का अनुधावन करता है, तो कभी देश--प्रदेश-प्रत्यन्त--प्रदेशों का अनुगामी बनता है, तो कभी भूत--भवत्--भविष्यत्--काल मीमांसाओं में निमज्जित बना रहता है। दिग्--देश--काल--त्रयी का यह महान् व्यामोहन महा अम्बरूप से यो मानव को सतत उत्पीड़ित किए हुए है। यही उत्पीड़न सहजरूप से नैष्ठिक भी मानवश्रेष्ठ को आज सर्वथा 'भावुक' बनाए हुए है। अपनी इसी भावुकता से आज का मानव दिग्देशकाल--विमूढ़ बनता हुआ भावावेशपूर्वक यथेच्छ कल्पनाओं का सर्ज्जन कर तन्माध्यम से निर्लक्ष्य-रूपेण इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है--सर्वथैव अपनी सहजसिद्धा भी मानवीय--शक्तियों को यातयाम ही प्रमाणित करता हुआ। अतएव मानवोद्बोधन से सम्बन्ध रखने वाले खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध में दिक्--देश--कालानुबन्धिनी विमूढ़ता से उद्बोधन प्राप्त करा देने का दृष्टि से इन तीनों शब्दों के उस चिरन्तन इतिहास का दिग्दर्शन करा देना भी प्रासङ्गिक ही बन जाता है, जिस चिरन्तन इतिहास का मूलाधार 'काल' शब्द ही माना गया है।

८–भूत–भवत्–भविष्यत्–रूपेण त्रिवर्त्तत्रयात्मक 'काल', और 'समय'—

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, 'काल' शब्द अपने शाब्दिक निर्वचन से सङ्ख्या, एवं शब्द, इन दो भावों से नित्यसम्बद्ध है। यही कालशब्द लोकव्यवहारभाषा में–'समय' नाम से प्रसिद्ध है। एवं इस 'समय' नामक काल के सर्वसाधारण की मान्यता में 'भूत–भवत्–भविष्यत्' ये तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। कल, आज, कल, रूप से उपवर्णित त्रिधा विभक्त 'समय' से प्राय आबालवृद्धवनिता सभी सुपरिचित हैं। "कल (भूत) की बातें कल थी, आज (भवत्) की बातें आज हैं, एवं कल (भविष्यत्) की बात कल देखी जायगी"–इसप्रकार से 'समय' नामक काल के ये तीनों विवर्त्त सार्वजनीन बने हुए हैं। सभी तो समय से, समय के तीनों विवर्त्तों से सुपरिचित हैं। फिर इस के सम्बन्ध में जानने जैसा और रह क्या जाता है?, जिस के लिए हम आज एक स्वतन्त्र निबन्ध का अनुगमन करने जारहे हैं।

९–कालानुबन्धी–'समयः' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय—

गत्यर्थक 'इण्' धातु ('इण्' गतौ अ प अ) ही 'अच्' प्रत्यय के द्वारा 'सम्' उपसर्ग के सम्बन्ध से 'समय' रूप में परिणत हुआ है, जिस का अर्थ है - समेति', किंवा 'सम्यक् एति'। ठीक ठीक रूप से जो तत्त्व गतिशील बना रहता है, वही 'सम्यक्–एति–गच्छति' रूप से 'समय' है। अर्थात् व्यवस्थित–क्रमसिद्ध गतिमान् पदार्थ ही 'समय' है। इसी के भूत–भवत्–भविष्यत्–नामक तीन विवर्त्त हैं। कालसूचक इन तीनों शब्दों का मूलाधार 'भू' धातु है, फिर यह सत्तार्थक हो, अथवा तो प्राप्त्यर्थक हो। सत्ता ही प्राप्ति का आधार है। बिना सत्ता ही उपलब्धि का कारण बनती है, एवं उपलब्धि को ही 'प्राप्ति' कहा गया है, जैसाकि–'यदि स्यादुपलभ्येत' इत्यादि से स्पष्ट है। 'अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' (कठोपनिषत्) इत्यादि श्रुति स्पष्ट ही 'अस्ति' रूप 'सत्ताभाव', और उपलब्धिरूप 'प्राप्तिभाव', दोनों की अभिन्नता प्रमाणित कर रही है। सत्तार्थक, किंवा प्राप्त्यर्थक 'भू' धातु से 'क्त' प्रत्यय के द्वारा 'भूतम्' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, शतृप्रत्यय के द्वारा 'भवत्' का स्वरूपनिर्माण हुआ है, एवं शतृ–स्यट् के द्वारा 'भविष्यत्' की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। तात्पर्य्य–व्यवस्थित, क्रमसिद्ध गतिभाव की विभिन्न तीन अवस्थाओं का नाम ही क्रमशः भूत-भवत्-भविष्यत् है। गतिभाव ही पदार्थ का स्वरूप है, यही पदार्थ का अस्तित्वस्वरूप-परिचायक है। अस्तित्वस्वरूपपरिचायक गतिभाव अस्तिलक्षणा 'सत्ता' से अभिन्न है। अतएव एति-समेति-लक्षण गतिभावरूप 'समय', एवं गतिभावानुबन्धी सत्ताभावात्मक 'भू', तथा तदनुबन्धी भूत–भवत्–भविष्यत्, अभिन्न तत्त्व हैं। फलतः जो अर्थ 'समय' का है, वही समय के विवर्त्तरूप भूत–भवत्–भविष्यत्–भावों का प्रमाणित हो रहा है। शेष रह जाता है–'काल' शब्द। गतिभाव ही पदार्थव्यवच्छेद का, तदनुगत एकत्व–द्वित्वादि सङ्ख्याभाव का कारण बनता है। एवं गतिभाव ही वस्तुनाम का सङ्ग्राहक बनता है, जो कि 'नाम' 'शब्द' कहलाया है। इसप्रकार सङ्ख्या, एवं शब्द, दोनों भाव भी परम्परया गतिभाव में ही समाविष्ट हैं। और यों सङ्ख्या, तथा शब्दभावसूचक 'काल' शब्द भी गतिभावसूचक 'समय' शब्द से अभिन्न प्रमाणित हो रहा है। एवं इसी समन्वयदृष्टि से अब यह कहा, एवं माना जा सकता है कि–गतितत्त्व का ही नाम 'काल' है, यही 'समय' है, एवं इसी के भूतादि तीन कालानुबन्धी विवर्त्त हैं।

१०–कालतत्त्व के आनन्त्य की महामहिमशालिता—

काल का पूर्वरूप भी यदि 'कल' भाव से आक्रान्त है, उत्तररूप भी यदि 'कल' भाव से आक्रान्त है, तो मध्य का 'आज' भी पूर्वोत्तर के 'कल' से संदंशपतित होता हुआ 'कल' भाव से पृथक् नही रह सकता, नही माना जासकता। फलतः भूतात्मक 'कल', भवदात्मक 'आज', एवं भविष्यदात्मक 'कल', तीनो का अन्ततोगत्वा अनवच्छिन्नरूपेण प्रवाहित गतिभावात्मक 'समय' के संग्राहक 'कल' भावात्मक 'काल' की सीमा में ही अन्तर्भाव संसिद्ध हो जाता है। और यही अपने कल–आज–कल (भूत–भवत्–भविष्यत्) रूप सोपाधिक विवर्त्तभावो से सीमितवत्–परिच्छिन्नवत्–प्रतीयमान भी इस कालतत्त्व की महामहिमशालिता है, जिसे आधार बना कर ही हमें दिग्देशकालस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होना है। अपनी स्थूलदृष्टि से सर्वथा सुगम भी प्रतीयमान, सर्वसामान्य के लिए 'काल'–'समय'–'भूतादि' रूप से सुलभ, तथा परिगृहीत भी 'काल' सचमुच अपनी 'अनन्तप्रतीकता' से दुरधिगम्य, एवं दुरतिक्रम ही प्रमाणित हो रहा है। इत्थंभूत कालपुरुष को मुहुर्मुहुः नमन करते हुए ही कालचक्रानुगत यह भावुक जन अपनी आराध्या महाकाली की साक्षी में ही तदभिन्न महाकाल की स्वरूपमीमांसात्मिका धृष्टता में प्रवृत्त होता हुआ अपराधक्षमापन से अपने आप को समन्वित मान रहा है।

११–भूत–भविष्यत्- कालों की अनन्तता, एवं वर्त्तमानकाल की सादि–सान्तता—

आप ऐसा कहते हे कि,–"वर्त्तमान काल हमारे सम्मुख है। हम वर्त्तमानकाल का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। भूतात्मक अतीतकाल भी हम से सर्वथा परोक्ष बन चुका है, एवं भविष्यात्मक आगामीकाल भी हम से परोक्ष ही बना हुआ है"। भूतात्मक अतीतकाल आप से परोक्ष है, अतएव आप उसकी 'इयत्ता'–'स्वरूप'–'परिमाण' बतलाने में असमर्थ हैं। भविष्यात्मक आगामी काल भी आपकी अनुभूति से पृथक् रहता हुआ आपके मानसिक मापदण्ड से बहिर्भूत है। तो इसका तात्पर्य्य हमें यह समझ लेना चाहिए कि, भूतकाल, तथा भविष्यत्काल तो आपकी दृष्टि में अपरिमित बनता हुआ अनन्त, अतएव अविज्ञेय है। सादि-सान्त, अतएव विज्ञेय है आपके लिए मध्यस्थ वर्त्तमानकाल।

१२–अवलोकित दृश्यजगत् की वर्त्तमानकालता—

क्या स्वरूपलक्षण करते हे आप अपने इस प्रत्यक्षदृष्ट–अनुभूत सादि-सान्त वर्त्तमानकाल का ?। इस लक्षणसमन्वय के गर्भ में ही दिग्देशकाल का चिरन्तन इतिहास गर्भीभूत है। हाँ, तो अन्वेषण कीजिए स्वरूपलक्षणात्मक लक्षण का !। 'वर्त्तमानकाल' के साक्षात्कार करने का एकमात्र मुख्य साधन है आपके शारीरिक कोश में 'चक्षुरिन्द्रिय'। सुषुप्ति का परित्याग कर प्रातः उदयवेला में जब भी आप आँखे खोलते हैं, तो आप की आँखों के सम्मुख प्राकृतिक विश्व का समष्ट्यात्मक, तथा व्यष्ट्यात्मक स्वरूप उपस्थित हो जाता है। अपना प्रासाद, प्रासादावस्थित अन्य पारिवारिक जन, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म, पृथिवी, सूर्य्य, आकाश, अग्नि, वायु, आदि आदि सम्पूर्ण चर अचर पदार्थ आपके सम्मुख व्यक्त होपड़ते हैं। और इस व्यक्तीभाव के आधार पर ही तो आप 'वर्त्तमानकालप्रत्यय' से अपने आपको समन्वित मानते हैं। कल्पना कीजिए, यदि आपको कुछ भी प्रतीत न हो, तो क्या उस अवस्था में भी आप 'वर्त्तमान' का अभिनय कर सकेंगे ?। नही, कदापि नही। तो आपके कथनानुसार ही–अब हमें यह मान लेना चाहिए कि,–"चक्षु–
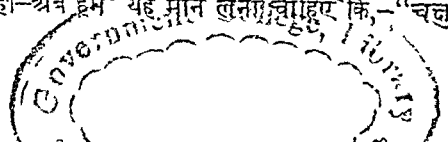
रिन्द्रिय के माध्यम से अवलोकित चर अचरात्मक विविध दृश्यजगत् ही हमारे लिए वर्त्तमान-काल है"।

१३-अवलोकन-लोचन, और आलोक का समन्वय—

'अवलोकित' का सम्बन्ध हुआ 'लोचन' से। क्या घोरघोरतम निबिड अन्धकार में भी आपके लोचन तथाकथित 'वर्त्तमान' का 'अवलोकन' करने की क्षमता रखते हैं ?। नहीं। क्या ?। आप यही तो समाधान करेंगे कि,—"लोचन से तबतक अवलोकन सम्भव ही नहीं, जबतक कि दृश्यजगत्, तथा द्रष्टा लोचन (चक्षु), दोनों के मध्य में किसी 'आलोक' को साक्षी नहीं बना लिया जाता। आलोक की मध्यस्थता से ही हमारे लोचन अवलोकन में समर्थ होते हैं। और तभी हम 'वर्त्तमानकाल' के स्वरूपाभिनय में समर्थ बनते हैं। यथार्थ है-यदि रात्रि है, तो लोचन को अवलोकन के लिए नक्षत्र चन्द्रमादि के आलोक-माध्यम की अपेक्षा है। यदि नक्षत्र-चन्द्रमादि का आलोक मेघावरणादि, तथा प्रासादभित्यावरणादि के द्वारा आवृत है, तो दीप-विद्युतादि आलोक-माध्यम की अपेक्षा है। यदि रात्रि नहीं है, तो क्या होता है ?। भगवान् सूर्य्यनारायण अपने सहस्रांशु से आलोकित रहते हुए रोदसीविश्व के यच्चयावत् चराचर पदार्थों को अलोकित कर देते हैं, प्रकाशित कर देते हैं।

१४-सौरलोकानुगत अवलोकन, और लोकसाक्षी सूर्य्यनारायण—

इसी सौर आलोक से आपके लोचन अह काल में सभीकुछ देखने में समर्थ बन जाते हैं। नक्षत्र-चन्द्रमादि का आलोक, एवं दीपक-विद्युतादि का आलोक भी, विश्वास कीजिए ! इसी सौर आलोक की ही की महिमा है। इसी आलोकमात्रा से ये आलोकित हैं, प्रकाशमान हैं। और यों अन्ततोगत्वा सौर आलोक ही आपके लोचन में प्रतिफलनरूपेण सम्बद्ध होता हुआ आपको अवलोकनदृष्टि प्रदान कर रहा है। 'अव-लोकन' ही तो 'लोक' का स्वरूप-परिचायक है। अवलोकन, लोक, आलोक, सबकुछ एक ही सौरज्योति के विविध महिमारूप हैं। तभी तो सूर्य 'लोकसाक्षी' नाम से प्रसिद्ध है। यों अन्ततोगत्वा आप अपने प्रत्यक्ष दृष्टानुभूत 'वर्त्तमानकाल' को 'सौर आलोक' पर ही प्रतिष्ठित मान रहे हैं, मान ही लेना पड़ेगा। 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय'।

१५-वर्त्तमानकालात्मक सौरकाल, और त्रयीमय त्रिगुणमूर्त्ति सूर्य्यनारायण—

आप केवल अपने लोचनबल से अवलोकनात्मक वर्त्तमानकाल के दर्शन-अनुभव में तबतक सर्वथा असमर्थ हैं, जबतक कि आपके लोचन सौर आलोक से समन्वित नहीं हो जाते। क्या इसी से यह भी सिद्ध नहीं होगया कि, सौर आलोकमण्डल ही वस्तुगत्या 'वर्त्तमानकाल' है। यही वह 'सृष्टिकाल' है, जिसका मनीषी विद्वानोंने 'पुण्याहकाल' रूप से समरण किया है। यही सौर पुण्याहकालात्मक वर्त्तमान सृष्टिकाल हमारा, आपका, यत्किञ्च जगत्या जगत्, सबका आधार-आतपन-आयतन-आलम्बन-प्रतिष्ठा, तथा उक्थ बना हुआ है। इसी वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यनारायण को आधार मानकर हमें दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है, 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नम' इस माङ्गलिक सस्मरण के साथ।

१६-जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः—

'जन्याना जनक कालो जगतामाश्रयो मत' से उपवर्णित काल वह सुप्रसिद्ध 'काल' है, जिसकी सीमा में एक-दश-शत-सहस्र-लक्ष-कोटि-अर्बुद-न्यर्बुद-न्यर्बुद-परम-परार्ध्य-सख्याएँ कलनरूप से,

क्रमरूप से सुव्यवस्थित हैं। यह संख्यानुगत क्रम ही हमें इस आलोकात्मक, किंवा अवलोकनात्मक क्रमसिद्ध काल का स्वरूप-परिचय कराता है। अतएव इस संख्यानुगता क्रमधारा को ही हम 'काल' कहा करते हैं, जो कि काल क्रमसिद्ध है, जिसका कि सौर आलोकात्मक सृष्टिकाल से, तद्रूप पुण्याहकाल से, एवं तद्रूप वर्त्तमान काल से ही सम्बन्ध है।

१७--संख्यानुगत क्रमभाव, एवं क्रमधारात्मिका कालव्यवस्था—

भूत, और भविष्यत्रूप से अनाद्यनन्त बने रहने वाले, अतएव सर्वथा 'अमूर्त्त' भावापन्न महाकाल के गर्भ में ततप्रतीकरूप से व्यक्त होपड़ने वाला एक से आरम्भ कर परमपरार्ध्यरूपा क्रमसंख्या से असंख्य, किन्तु निर्णीतसंख्यात्मक--कलाभावों से कलनभाव में परिणत होजाने वाला सौर आलोकात्मक वर्त्तमानकाल ही वह क्रमसिद्ध, अतएव कलनात्मक सादि-सान्त-मूर्त्तकाल है, जिसके माध्यम से ही मानव अनन्त के साक्षात्-कार में समर्थ होता है। क्रमसंख्यासिद्ध इस सौर आलोकात्मक वर्त्तमानकाल का ही नाम 'ज्योतिः-कालात्मक' काल है, जिसे ज्योतिर्विदोंने **सम्वत्सर-अयन-मास-पक्ष-अहोरात्र-मुहूर्त्त-क्षिप्र-एतर्हि-इदानि-प्राण-अन-निमेष-लोमगर्त्त-स्वेदायन**--आदि रूप से व्यवस्थित मानकर कालगणात्मक खगोलचक्र की व्यवस्था की है।

१८--संख्यात्मक कलाभावों से क्रमसिद्ध काल की स्वरूपनिष्पत्ति, तथा क्रमगणनासिद्ध काल की मूर्त्तता—

गणना से संसिद्ध इत्थंभूत कालचक्र ही वह 'मूर्त्तकाल' है, जिसे आधार बनाकर आर्ष मानव के सम्पूर्ण कर्म्मकलाप क्रमरूप से कालसाक्षी में हीं व्यवस्थित बना करते हैं। प्राकृत विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने आरम्भ के अव्यक्त मुहूर्त्त से आरम्भ कर अन्त के अव्यक्त मुहूर्त्त पर्य्यन्त के जीवनकाल में क्रमसिद्ध गणन के आधार पर, गणित के आधार पर ही **'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति'** इन षड्भावविकारों से अनुप्राणित रहता है। गणित ही भौतिक विश्व का समष्ट्यात्मक व्यष्ट्या-त्मक वैसा मूलाधार है, जिसे आधार बनाकर मानव गणनसिद्ध व्यवस्थित गतिभागात्मक मूर्त्तकाल के माध्यम से अमूर्त्त अनन्तकाल की साक्षी में कालातीत आत्मभाव की उपलब्धि में समर्थ बन जाया करता है।

१९--सादि--सान्त--मूर्त्त-भावापन्न वर्त्तमानकाल के अवच्छेदक भूत--भविष्यत्--कालों की अमूर्त्तता, एवं अनन्तता—

"वर्त्तमानकाल जहाँ सादि-सान्त-काल है, मूर्त्तकाल है, वहाँ भूत, और भविष्यतकाल अनन्तकाल है, अमूर्त्तकाल है" यह कहा गया है। व्यक्त पदार्थों का आवर्त्तनात्मक क्रमसिद्ध काल ही 'वर्त्तमानकाल' है। सूर्य्यानुगत आलोक ही पूर्वकथनानुसार व्यक्त पदार्थों की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला प्रतीति, प्रतीतिरूपा भाति, एवं भातिरूपा उपलब्धि (प्राप्ति-अवलोकन) का आधार बनता है। अतएव व्यक्तमूर्त्ति सौरकाल को ही हम 'वर्त्तमानकाल' कह सकते हैं, जिसका अर्थ है 'सृष्टिकाल'। सूर्य्योत्पत्तिकाल से आरम्भ कर सूर्य्यनिधनकालपर्य्यन्त सम्पूर्ण सौरकालविवर्त्त एक 'वर्त्तमानकाल' है। और यह सूर्य्यकालात्मक एक

वर्त्तमानकाल, किंवा सृष्टिकाल सर्वथा क्रमसिद्ध बना हुआ है। यह क्रमभावात्मक गणनभाव ही इस सूर्य-कालात्मक वर्त्तमानकाल की 'मूर्त्तता', तथा सादि-सान्तता है, जिस सादि सान्त-भाव की, मूर्त्तभाव की आधारभूमि स्वयं सूर्य्यगोलक ही बना हुआ है। सूर्य्यगोलक अवश्य ही कभी न कभी किसी नियत काल में उत्पन्न हुआ था। अतएव यह कभी न कभी अवश्य ही अपने इस प्रत्यक्षदृष्ट आलोकात्मक प्रत्यक्ष-मूर्त्तरूप (मूर्तिरूप) से विलीन हो जायगा। और उस अवस्था में आज (वर्त्तमान में) प्रत्यक्षरूपेण अवलोकित यह सर्वविध चर अचर प्रपञ्च अपने विलयनभाव में आता हुआ अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य उस तमोभाव में परिणत हो जायगा, जो कि तमोभाव सूर्य्य की अभिव्यक्ति से पूर्व विद्यमान था * (है)। सूर्य्याभिव्यक्ति से पूर्व की तमोभूता अव्यक्तावस्था ही 'भूत' नामक वह अव्यक्तकाल माना जायगा, जिसका कोई और छोर, आदि-अन्त-नहीं है। एवमेव सूर्य्यविलयन से उत्तर की तमोभूता अव्यक्तावस्था ही 'भविष्यत्' नामक वह अव्यक्तकाल कहलाएगा, जिसका भी कोई आद्यन्त नहीं है।

२०-अनन्ताव्यक्त-भूत-भविष्यत्-काल से परिगृहीत सादि-सान्त-व्यक्त भी वर्त्तमान-काल की अनन्तता का का समन्वय—

पूर्वावस्थानुगता भूतात्मिका अव्यक्तावस्था, एवं उत्तरावस्थानुगता भविष्यदात्मिका अव्यक्तावस्था, दोनों कहने की दो अवस्था हैं। मध्यस्था व्यक्तावस्था-(सूर्य्यसत्ताकालावस्था) के कारण ही एक ही अव्यक्तावस्था का अभिनय भूत-और भविष्यत्-रूप से हो रहा है। वस्तुतः यह एक ही अवारपारीण वैसा महान् अव्यक्त-भाव है, जो मूर्त्तभावानुबन्धी नामरूपभावों से पृथक्-अतीत रहता हुआ, सम्पूर्ण मूर्त्तभावों-नामरूपभावों-व्यक्तभावों-सादि सान्तभावों का तटस्थ कूटस्थ साक्षी बना रहता हुआ स्वयं अपने एक ही रूप से मध्यस्थ व्यक्त मूर्त्त सादि सान्त वर्त्तमान के अनुबन्ध से भूत और भविष्यत्-रूप से उपवर्णित होता हुआ सर्वथा अमूर्त्त-अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। और साथ ही भूत-भविष्यल्लक्षण अपने अप्रज्ञात- अनिर्देश्य-अलक्षण-अप्रतर्क्य-तमोभूत अमूर्त्त सम्पूर्ण अनन्तभाव को यह अनन्तकाल मध्यस्थ सादि-सान्त मूर्त्त व्यक्त और वर्त्तमान-काल से मानों अभिव्यक्त ही कर रहा है। वर्त्तमानकालात्मक सादि सान्त काल अवश्य ही भूत-भविष्यत्-कालात्मक अनाद्यनन्तकाल का अभिव्यञ्जक ही तो है। तभी तो केवल कहने सुनने मात्र के लिए क्रमसिद्ध-गणनसिद्ध प्रमाणित होता हुआ भी सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल अपने सुसूक्ष्म विस्तार से 'अनन्त' ही प्रमाणित हो रहा है।

'क्रमसिद्ध'-'गणनसिद्ध' आदि कहने सुनने मात्र से ही तो वर्त्तमानकालात्मक मूर्त्त-सादि-सान्त भी व्यक्तकाल की इयत्ता का परिग्रहण सम्भव नहीं है समूहालम्बनरूप से। जिस स्वेदायनकाल में अव्यक्तकाल से व्यक्तकालात्मक सूर्य्य का व्यक्तीभाव हुआ था, एवं जिस ब्राह्म अहोरात्र के अवसानात्मक स्वेदायनकाल में ही व्यक्तकालात्मक सूर्य्य अन्ततोगत्वा अव्यक्तरूप में परिणत हो जायगा, उस गणनात्मक सादि-सान्त मूर्त्तकाल की भी इयत्ता किसने की है सामूहिक रूप से?, कर ही कौन सकता है?। अतएव व्यक्तभावात्मक गणनसिद्ध भी,

---

* आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १।५)

क्रमसिद्ध भी वर्त्तमानकाल गणनातीत–क्रमातीत–अमूर्त्त–अनाद्यनन्त–भूतभविष्यल्लक्षण अनन्तकाल के आनन्त्य को, अनन्तस्वरूप को सर्वात्मना अभिव्यक्त करता हुआ स्वयमपि परमार्थतः 'अनन्त' ही प्रमाणित हो रहा है। अव्यक्त की अनन्ता अभिव्यक्ति भी अनन्ता ही मानी गई है। अमूर्त्त-अनन्तकाल का मूर्त्त सादि सान्तरूप भी तत्त्वतः अमूर्त्त अनन्त ही माना जायगा। क्योंकि जो मूर्त्त सादि–सान्त व्यक्त वर्त्तमानकाल पूर्वोत्तररूपेण उभयथा अमूर्त्त–अनन्त–अव्यक्त भूत–भविष्यत्–काल से पिनद्ध (सीमाबद्ध) है, वह वर्त्तमानकाल अपने तात्कालिक भाव से व्यक्त–मूर्त्त–सादि सान्त कहलाता हुआ भी तत्त्वतः अपने उपक्रमोपसंहारात्मक मूलभाव से अव्यक्त–अमूर्त्त–अनन्त ही तो है। वर्त्तमानकालात्मक प्रत्येक भूत (पदार्थ) जब कि अव्यक्तादि, एवं अव्यक्तनिधन है, तो उभयतः अव्यक्तपरिगृहीत मध्यस्थ व्यक्तभाव भी तत्त्वतः अव्यक्त-भाव की सीमा से पृथक् कैसे रह सकता है ? *।

२१–भूत का भविष्यत् में, एवं इन दोनों का वर्त्तमान में अन्तर्भाव, तथा भूत-भविष्यत् की महदक्षरमूला अनन्तता––

जो भूत, वही भविष्यत्। एवं भूत, और भविष्यत् के मध्यम में प्रतिष्ठित वर्त्तमान भी भूत, और भविष्यत् से अभिन्न। तो ऐसी स्थिति में क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि, 'भूत–भवत्–भविष्यत्–', तीन पृथक् शब्दमात्र हैं, जो किसी एक ही अनन्तभाव का यशोगान कर रहे हैं। वही भूत है, वही भवत् है, वही वर्त्तमान है। वही अमूर्त्त है, अनाद्यनन्त है (भूत–भविष्यत्‌रूप से), तो वही मूर्त्त है, सादिसान्त है (वर्त्तमानरूप से)। 'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि, वहु ब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' कहते हुए ऋषिप्रज्ञा ने अनन्त की इसी अनन्तरूपता, सर्वकालात्मिका कालातीतता महाकालात्मकता की ओर ही सङ्केत किया है, जिस सङ्केतानुग्रह से ही हम भी अनाद्यनन्त कालपुरुष की यशोगाथा में प्रवृत्त हो पड़ने का आज महत् सौभाग्य उपलब्ध कर रहे हैं।

२२–भूत--भविष्यल्लक्षण अमूर्त्त--अव्यक्त--अनन्तकाल के द्वारा वर्त्तमानकाल–लक्षण–मूर्त्त-व्यक्त--सादि-सान्त-काल की अभिव्यक्ति—

अहःकाल के माध्यम से समन्वय कीजिए। प्रातः से सायं पर्य्यन्त व्याप्त काल आप की दृष्टि में 'वर्त्तमानकाल' है। क्या कोई वैसी राशि–स्तूप–किंवा ढेर है 'वर्त्तमान' नाम का, जिस के प्रति अङ्गुलि–निर्द्देशपूर्वक आप 'यह वर्त्तमानकाल है,' ऐसा अभिनय कर सकते हैं ?, नहीं। अपितु अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–पुनः व्यक्त-पुनः अव्यक्त–तो पुनः व्यक्त-इसरूप से अव्यक्तादि के धाराक्रम से प्रतिक्षण-विलक्षण-भावापन्ना क्रियाधारा के माध्यम से ही तो आप 'वर्त्तमान' शब्द का उच्चारण करने में समर्थ बनते हैं। प्रतिबिन्दु–बिन्दु अमूर्त्त-मूर्त्त-अमूर्त्त-मूर्त्त-इस धारावाहिक क्रम से समन्विता है। जिसे जिस क्षण में आप 'भूत' मानते है, उत्तरक्षण में वही वर्त्तमान है, तदुत्तर क्षण में वही भविष्यत् है, एवं तदुत्तरक्षण में वही भविष्यत्, और पुनः वर्त्तमान है। तदुत्तरक्षण में वही वर्त्तमान भूत है, एवं तदुत्तरक्षण में वही भूत वर्त्तमान है। और यों प्रातः से सायं पर्य्यन्त

---

* अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ (गीता २।२८)।

व्याप्त रहने वाले आप के माने हुए एक अहर्गणात्मक वर्त्तमानकाल में ही आप भूत–भवत्–भविष्यत्–तीनों का सन्तान-क्रम उपलब्ध कर रहे हैं। इसीलिए तो हमें कहना पड़ा कि–जो भूत (अव्यक्त) है, वही वर्त्तमान (व्यक्त) है, जो वर्त्तमान है, वही भविष्यत् है। अनन्त ही सादिसान्तरूपेण प्रतीयमान है। सादिसान्त ही अनन्त की प्रतीति का मूलाधार है। 'भूतेषु भूतेषु निचित्य धीरा' ही अनन्तप्रतीति का मूलबीज है। और यों भूतभविष्यल्लक्षण अनन्त–अमूर्त्तकाल ही अपने वर्त्तमानलक्षण सादि सान्त मूर्त्तकालरूप से अपने अनन्त–अमूर्त्तभाव को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है *।

२३–द्वादश होरात्मक मानवीय अहःकाल के साथ सौर सत्तात्मक वर्त्तमानकाल का समतुलन—

आप अपने प्रत्यक्षदृष्ट द्वादश होरात्मक एक अहःकाल को 'वर्त्तमान' काल कहते हैं, और इसी में पूर्वोक्त अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–(भूत-वर्त्तमान–भविष्यत्) रूप से तीनों कालों का समन्वय कर रहे हैं। आप की इस मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमानकालात्मक अहःकाल का स्वरूप क्या है ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान होगा–'सूर्य्यसत्ताकाल'। प्रातः जिस क्षण में सूर्योदय होता है, वही अहःकाल का आरम्भस्थान है, एवं सूर्यास्तक्षण अहःकाल का अवसानस्थान है। तो क्या जिस क्षण में ज्योतिर्मय सूर्य्य व्यक्त हुआ, उस क्षण से आरम्भ कर जिस क्षण में यह सूर्य्य पुनः अव्यक्त बन जायगा, उस क्षणपर्य्यन्त का सूर्य्यसत्ताकाल एक 'अहःकाल' नहीं कहला सकता ?, एवं क्या इस सूर्य्यसत्तात्मक अहःकाल को 'वर्त्तमानकाल' नहीं कहा जासकता ?। अवश्य ही कहला सकता है, कहा जासकता है, कहा गया है। साथ ही एक अहःकालात्मक सूर्य्यसत्ता–कालात्मक वर्त्तमानकाल को भी अव्यक्तादि तीनों क्रमधाराओं के अनुबन्ध से अवश्य ही त्रिकालात्मक भी कहा, और माना जागया आपके द्वादश होरात्मक अहःकालात्मक एक वर्त्तमान काल (एक दिन) की भाँति।

२४–सूर्य्यसत्ताकालात्मक, अहर्लक्षण वर्त्तमानकाल के अनन्तभावानुगत गणनक्रम का उपक्रम—

सर्वानुभूत इसी मानुष 'अहःकालात्मक (दिनरूप) वर्त्तमानकाल के समतुलन–माध्यम से अब हमें वर्त्तमानकालात्मक ब्राह्म–अहःरूप (ब्रह्मा के दिनरूप) उस सूर्य्यसत्ताकाल को लक्ष्य बना लेना है, जिस केवल वर्त्तमानकालात्मक भी सूर्य्यसत्तात्मक एक ही अहःकाल की सीमा में अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–लक्षण

---

* प्रयोगारम्भणो भूतकाल एव वर्त्तमानकाल', इति नव्यन्यायविद प्राहुः। आरम्भापरिसमाप्ति–र्वर्त्तमानकाल, इति शाब्दिका प्राहुः। सोऽयं वर्त्तमानकालश्चतुर्विधः–"प्रवृत्तोपरतश्चैव, वृत्ताविरत एव च। नित्यप्रवृत्त, सामीप्यो, वर्त्तमानश्चतुर्विधः"। उदाहरणानि, यथा–'मांसं न खादति,' आदौ प्रवृत्त मत्स्यभोजन निवर्त्तयति–इत्यर्थः। 'इह कुमाराः क्रीडन्ति'–इति तदानीन्तनक्रीडनाभावेऽपि पूर्वक्रीडाया बुद्धौ वर्त्तमानत्वात्। 'पर्वतास्तिष्ठन्ति'–नित्यप्रवृत्तत्वात्। किञ्च पर्वताना स्थितत्वे वर्त्तमानत्वेऽपि भूतभविष्यत्कालस्था सम्बन्धविवक्षया–पर्वतास्तस्थु–स्थास्यन्ति–इत्यपि स्यात्। सामीप्यो द्विविधः–भूतसामीप्य, वर्त्तमानसामीप्य,। भूतसामीप्ये यथा–'कदा आगतोऽसि ?' इति प्रश्ने–अध्वश्रेदादेर्वर्त्तमानत्वात्–'एषोऽहमहमागच्छामि', इत्यागतोऽपि वदति। भविष्यत्सामीप्ये यथा–'कदा गमिष्यसि ?' इति प्रश्ने 'एषोऽहं गच्छामि' इति गमने क्रियमाणोऽसौऽपि वदति।

सह क्रमणधारा के अनुपात से भूत–भवत्–भविष्यत्–नामक तीनो सोपाधिक काल भुक्त हैं । यह अविस्मरणीय है कि, अपने व्यक्तभावात्मक, अतएव व्यक्तभावापन्न क्षरभाव के अनुबन्ध से वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यसत्ता-काल वस्तुगत्या 'मूर्त्तकाल' ही है, जिसे सादि–सान्तकाल माना गया है । इस सादि–सान्त–व्यक्त–मूर्त्त–वर्त्तमान-कालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल की वर्त्तमानरूपा अभिव्यक्ति का मूलाधार क्योंकि अनाद्यनन्त–अव्यक्त–अक्षरमूर्त्ति–अमूर्त्तकालात्मक महाकाल ही है । अतएव अपने मूलाधारभूत अव्यक्त अनन्तकाल की अनाद्यनन्तता भी परम्परया अनुस्यूत ही बनी रहती है तथाकथित इस व्यक्त–मूर्त्त–सादिसान्त–वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में भी । व्यक्तकालानुबन्धिनी इसी पारम्परिक–अनन्तता के दिग्दर्शन के लिए हमें दो शब्दों में सादि–सान्त–भावात्मक सूर्य्यसत्ताकालात्मक–व्यक्तभावापन्न वर्त्तमानकाल के अनन्तभावानुगत गणनक्रम की ओर ही कालोपासक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित कर लेना है ।

२५–वाक्साहस्री के 'सहस्रधा महिमानः सहस्र'–भावमाध्यम से अहोरूप सूर्य्य का सहस्रांशुत्व, एवं तन्मूलक सहस्ररश्मिभाव—

अपनी सहस्रमहिमात्मिका वाग्विभूति से 'सहस्रधा–महिमानः सहस्रम्' बने हुए *, वर्त्तमान–व्यक्त–मूर्त्त–कालसाक्षी भगवान् सूर्य्यनारायण इसी महिमासाहस्री से सहस्रांशु, सहस्रदीधिति, आदि नामो मे उपस्तुत हैं । ज्योतिर्म्मय एक ही वाक्तत्त्व अपने दशावयव विराड्भाव से आरम्भ में दशधा विभक्त होकर आगे चलकर शत–सहस्र–भावों में परिणत हो जाता है, जिस इस विराट्साहस्री के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही वेदशास्त्र की वह 'वाक्साहस्रीविद्या' प्रवृत्त हुई है, जिसे 'वषट्कारविद्या' भी कहा गया है । आगे चलकर वाङ्मयी ये सहस्र रश्मियाँ (ज्योतिर्म्मय गोतत्त्व) अपने प्रतिफलन मे अनन्त सहस्र–भावों में परिणत हो जाती हैं । सहस्र प्राणरश्मियों के इस सहस्र–सहस्रधा प्रतिफलनात्मक 'महिमा-विवर्त्त' का परिणाम यह होता है कि, सम्पूर्ण सौरमण्डल इन महिमामयी प्राणरश्मियों से अच्छिद्र बन जाता है । सम्पूर्ण सौर–आलोकमण्डल (आतपमण्डल–प्रकाशमण्डल) सौररश्मियों के सहस्र–सहस्र–भावानुबन्धी महिमात्मक प्रतिफलन का ही व्यक्त स्वरूप है । रश्मियों के प्रतिफलनात्मक महिमामय तन्तुवितानरूप जाल का ऐसा आतान हो रहा है, जिसमें यत्किञ्चित् भी छिद्र नहीं है । अतएव सौररश्मि का पारिभाषिक नाम–'अच्छिद्रपवित्र' मान लिया गया है । यद्यपि अनन्त–असंख्य हैं ये रश्मियाँ । तथापि इनका समूहात्मक पर्य्यवसान क्योंकि आरम्भ की मूलभूता वाक्साहस्री पर ही हो रहा है । अतएव अनन्त–असंख्य–रश्मियुक्त भी सौरमण्डल को सहस्ररश्मि-समन्वित ही मान लिया गया है, एवं इस पारिभाषिकी सहस्रता के आधार पर ही सूर्य्य को 'सहस्रांशु' कह दिया है, जिसका आधार-'पूर्णं वै सहस्रम्' यह निगमवचन प्रमाणित हो रहा है । जिस कालानन्त्य का सूर्य्यमाध्यम से दिग्दर्शन अभीष्ट है, उसका आधार यह 'सहस्ररश्मिभाव' ही बना हुआ है ।

*–सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
—ऋक्संहिता १०।११४।८

२६–'मन्वन्तरविद्या'-मूलक गणनानन्त्य, एवं श्रीभास्कराचार्य्य के भावुकतापूर्ण उद्गार–

सहस्र–सौर–रश्मियों के महिमामय वितान–आतानात्मक सन्तनन से परिमण्डलरूप में परिणत, इस साहस्री–भावानुबन्ध से ही सहस्रांशु–सहस्रदीधिति–आदि नामों से उपस्तुत–उपवर्णित भगवान् सूर्य्यनारायण का अहर्गणात्मक–व्यक्त मूर्त्त, अतएव सादि सान्त–भावात्मक सूर्य्यसत्ताकाल अपने इस सादि–सान्त क्रमसिद्ध गणनभाव की विद्यमानता में भी कैसे आनन्त्य का अनुगामी प्रमाणित होरहा है ?, प्रश्न के यथार्थ समन्वय के लिए तो पुराणशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'मन्वन्तरविद्या' का ही स्वाध्याय करना चाहिए *। प्रकृत में तो केवल विषय–समन्वयदृष्ट्या मन्वन्तरमूला कालगणना का दिग्दर्शनमात्र ही पर्य्याप्त मान लिया जाता है, जिस इस दिग्दर्शनमात्र से सादि सान्त-भावापन्न भी सौरकालात्मक वर्त्तमानकाल की अव्यक्तकालानुगता अनन्तता का भलीभाँति अनुमान लगाया जासकता है, जिस अनुमया सौरकालगणनात्मिका अनन्तता-मात्र के व्यामोहन से सहसा व्यामुग्ध बन जाने वाले सुप्रसिद्ध गणनविद्याविद् सर्वश्री भास्कराचार्य्य जैसे महान् विद्वान् को भी 'एतत्सर्वं पुराणाश्रित वोऽयम्' जैसे नितान्त–भावुकतापूर्ण–उद्गार अभिव्यक्त कर देने पड़े हैं।

२७–अव्ययमनोऽनुगत 'मनुभाव', एवं तन्मूलक 'मन्वन्तरभाव'—

सहस्ररश्मिमण्डलात्मक ज्योतिर्म्मय परिमण्डल के केन्द्र में (बृहतीछन्द के हृदय में) सूर्य्यपिण्ड अवस्थित है। इस सूर्य्यपिण्ड के सर्वान्तरतम अणोरणीयान्–महतोमहीयान्–हृदयाकाश में प्रतिष्ठित प्राण-मूर्त्ति–हृदयभावावच्छिन्न–इन्द्रात्मक–मानिनाग्निमय जो शाश्वत–सनातन तत्त्व प्रतिष्ठित है, उसी का नाम है–'मनु'। यही समस्त सौर ब्रह्माण्ड का उक्थ–ब्रह्म–साम–लक्षण आत्मा है, जिसके आधार पर ही सौर-रश्मि-भाव ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों के द्वारा सौरब्रह्माण्डान्तर्गर्भित स्थावर–जङ्गम–प्रजा का सञ्चालन कर रहे हैं, जैसाकि–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'–'नून जना सूर्य्येण प्रसूता'–'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्य'–इत्यादि नैगमिक–वचनों से प्रमाणित है। श्वोवसीयस्–मनोमूर्त्ति अव्ययब्रह्म ही केन्द्रस्थ आत्मा है, जो अनन्तकालात्मिका अव्यक्ता अक्षर–प्रकृति के द्वारा सादि–सान्त–कालात्मिका व्यक्ता क्षरप्रकृति के माध्यम से मूर्त्त–भौतिक स्थावर–जङ्गम–प्रपञ्च के संचमना प्रमाणित हो रहे हैं। मनोमूर्त्ति–प्रकृतिविशिष्ट यह अव्ययपुरुषात्मा ही वह 'मनु' तत्त्व है, जिसका–'पुनन्तु मनसा धिय'-'पुनन्तु मनवो धिया' इत्यादि वचनों से सङ्केत हुआ है। इत्थंभूत आत्ममूर्त्ति–मनोमूर्त्ति-हृदयस्थ मनु के महिमामय सौररश्मिभाव का नाम ही है-'मन्वन्तर', जिसके आधार पर ही हमें सौर सादि–सान्त–काल की अनन्तता का अन्वेषण करना है।

२८–असंख्य मन्वन्तरों के सौर अहःकालानुबन्धी त्रिंशद् विवर्त्त–

अनन्त–असंख्य–हैं सौररश्मियाँ पूर्वोक्त 'सहस्रधा–महिमान –सहस्र'–रूप से। अतएव अनन्त–असंख्य हैं मनोनिबन्धन, किंवा मनुनिबन्धन मन्वन्तर, जिनका 'मन्वन्तराण्यसंख्यानि' रूप से पुराणशास्त्र में साटोप

*–खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में मन्वन्तर-विद्यामूला इस कालगणना का सङ्केत करा दिया गया है (देखिए तत्खण्ड–पृष्ठसंख्या १०५ से १२० पर्य्यन्त)।

*–एतमेके वदन्त्यग्निं मनुं, मन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणं, मपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥ (मनु १२।१२३।)

उपवर्णन हुआ है। इन असंख्य अनन्त भी मन्वन्तरों का पारिभाषिकी 'त्रिंशत्' (३० तीस) संख्या पर ही विश्राम मान कर मन्वन्तरमूला कालगणना का समन्वय हुआ है पुराणशास्त्र में, जिस इस मन्वन्तरमूला कालगणना के आधार पर ही सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित है।

२९–मानवीय अहोरात्र के त्रिंशत् (३०) मुहूर्त्तों के साथ सौर अहोरात्र के त्रिंशत् मन्वन्तरों का समतुलन—

जिस वस्तुतत्त्व के लिए अपनी लोकव्यवहार–भाषा में हम 'मुहूर्त्त' शब्द का प्रयोग करते रहते हैं, सृष्टिविद्यानिबन्धना शास्त्रीय– भाषा [परिभाषा] में उसी का नाम 'मन्वन्तर' है। मुहूर्त्त' शब्द हमारा जाना–पहिचाना हुआ शब्द है। अतः इसे मध्यस्थ बना कर ही हमें 'मन्वन्तर' शब्द के पारिभाषिक समन्वय में प्रवृत्त होना है। सुविदित है कि, २४ घन्टों के एक अहोरात्र [दिनरात] में ६० [साठ] घड़ियाँ होती हैं। 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' इस सुप्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार दो घड़ियों की समष्टि का नाम ही एक 'मुहूर्त्त' है। फलत: दिन रात की ६० घड़ियों के ३० तीस मुहूर्त्त हो जाते हैं, जिस का सीधासा अर्थ यही निकलता है कि, ३० घड़ियों, किंवा १५ मुहूर्त्तों का भोग तो बारह घन्टात्मक दिन में हो रहा है, एवं ३० घड़ियों, किंवा १५ मुहूर्त्तों का उपभोग बारह घन्टात्मिका रात्रि में हो रहा है, जिस का फलितार्थ यही निकल रहा है कि–अहोरात्र में २४ घन्टे हैं, ६० घड़ियाँ हैं, एवं ३० मुहूर्त्त हैं। तथा इन सब होरा–घटिका–मुहूर्त्तादि की समष्टिरूप एक अहोरात्र का नाम है एक तिथि। जिसप्रकार मुहूर्त्त को 'मन्वन्तर' कहा जाता है, एवमेव अहोरात्रात्मिका एक तिथि के लिए सृष्टिविद्यात्मिका परिभाषा में 'कल्प' शब्द व्यवस्थित हुआ है। एक 'मानवमास' में यदि ३० तीस तिथियाँ हैं, तो ३० अहोरात्रात्मक ब्राह्म–मास में ३० ही कल्प हैं। एक मानुष अहोरात्र में यदि ३० मुहूर्त्त है, तो एक ब्राह्म अहोरात्र में ३० ही मन्वन्तर हैं। एक मानुष अह:काल में यदि १५ मुहूर्त्तों का भोग हो रहा है, तो एक ब्राह्म अह:काल में १५ मन्वन्तरों का भोग हो रहा है। और इसप्रकार मानुष–अहोरात्रात्मिका मुहूर्त्तमती तिथि की वे सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ ब्राह्म अहोरात्रात्मक तिथिस्थानीय प्रत्येक कल्प में मन्वन्तररूप से व्यवस्थित हो रही हैं, जिस इस समतुलन को आधार बना कर ही हमें सृष्टिकालानुबन्धिनी कालगणना के आनन्त्य की उपासना में प्रवृत्त होना है।

३०–मानव का शतायु:–परिमित आयुर्भोगकाल, एवं तन्मूलक 'बृहतीसहस्रप्राण' का रहस्यात्मक समन्वय—

सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल–लक्षण एक अह:काल अपनी कितनी अवधि रखता है ?, यह मूलप्रश्न है, जिस का पर्य्यवसान 'सूर्य्य का आयु:काल कितना है ?' इस वाक्य पर हो रहा है। लक्षीभूत इस प्रश्न के समन्वय से पहिले यह जान लेना आवश्यक होगा कि, जिज्ञासा करने वाले 'मानव–का आयु:काल कितना है ?। 'शतायुर्वै पुरुष:' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मानव का वेदोक्त आयु–र्भोगकाल शतवर्षात्मक [सौ १०० वर्षात्मक] माना गया है वेदशास्त्र की इस आस्थापूर्णा मान्यता का मूलाधार आयु:सूत्रप्रदाता सूर्य्यनारायण का त्रिवृद्भावापन्न सुप्रसिद्ध वह 'आयुष्टोमयज्ञ' ही है, जिस का 'बृहती–छन्दोविज्ञान' से सम्बन्ध है। 'पूर्वापरवृत्त' नाम से प्रसिद्ध गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–

त्रिष्टुप्-जगती-छन्दो-नामक ६-७-८-९-१०-११-१२ अक्षरात्मक सप्त अहोरात्रवृत्तों में से मध्य का नवाक्षर बृहतीछन्द ही सूर्य्य की प्रतिष्ठाभूमि है, जैसा कि-'सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। नवाक्षरभेद से चतुष्पर्वा बृहतीछन्द के षड्त्रिंशदक्षर [३६] हो जाते हैं। बृहती के इस सब अक्षरों से-प्रत्येक से-सौरी गौमाहस्री का सम्बन्ध होजाता है। फलत ३६ बार्हत अक्षरों के महिमारूप 'बृहतीमहस्र' [षट्त्रिंशतसहस्र-३६००० छत्तीस हजार] सख्याओं में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक बृहतीप्राण मनो-वाक् से परिगृहीत बनता हुआ मन प्राणवाङ्मय है, जिसके द्वारा मनोमयी ज्ञानशक्ति, प्राणमयी क्रियाशक्ति, एव वाङ्मयी अर्थशक्ति नाम की तीनों जीवनस्वरूपसमर्पिका शक्तियाँ सह गृहीत हो रही हैं। इन त्रिभावापन्न ज्ञानक्रियार्थ-शक्तिमयी मन प्राणवाङ्मयी बार्हत-अक्षरमहिमा षट्त्रिंशत-सहस्राक्षरों से समन्वित षट्त्रिंशतसहस्र-सख्यात्मक अहोरात्रों की राशि (स्तूप) का ही नाम है-'आयुष्टोम' [आयु प्रदाता बार्हत प्राणों का स्तोम-ढेर-राशि]। इस आयुष्टोम के मन-प्राण-वाङ्मय-अहोरात्रीय एक एक आयु सूत्र का मानव-जीवन के एक एक अहोरात्र में भोग होता रहता है। प्राकृतिक सौरसस्थान से ये आयुर्मय जीवनीय प्राण मानव को निरन्तर ३६००० अहोरात्र पर्य्यन्त मिलते रहते हैं, जिन इन छत्तीस हजार अहोरात्रीय आयुःप्राणों की भोगकालावधि का ही नाम 'शतायु काल' है, एव यही शतायु मानव की शतवर्षात्मिका जीवनावधि का आयुष्टोममूलक और बार्हत-अक्षरप्राणात्मक रहस्यपूर्ण समन्वय है।

३१-आयुष्टोमयज्ञ के द्वारा सम्वत्सर-प्रजापति का शतायुष्ट्वभाव, एवं तदभिन्न-तन्त्रे-दिष्ठ मानव का आयुष्टोमनिबन्धन शतायुर्भोगकाल--

'योऽहं-सोऽसौ,-योऽसौ-सोऽहम्' मूला अनन्तप्रज्ञानुगता अद्वैतनिष्ठा में परम्परया आस्था रखने वाले भारतीय आत्मनिष्ठ मानव को यह जान कर कोई आश्चर्य्य नहीं होगा कि, शतायु से समन्वित [illegible] का तथाविध शतायुर्लक्षण बार्हत-भोगकाल मानव के मूलस्रष्टा प्रजापति से भी ज्यों का त्यों समसमन्वित है, जिस समन्वय का सहजभाषा में यही अर्थ है कि, मानव जिस प्रजापति के आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है, उस प्रजापति का आयुर्भोगकाल भी शतायु ही है। शतवर्षात्मक प्रजापति से नेदिष्ठ [समीपतम] मानव अपने मूलभूत प्राजापत्य-स्वरूपानुबन्ध से ही तो शतायु बनता है, जिस इस सहस्र-भावानुगता बृहतीछन्दो-ऽनुगता समानपूर्णता के आधार पर ही-'पूर्णमद -पूर्णमिदम्-,पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। ईश्वरप्रजापति क्योंकि अपने बार्हत-साहस्री-मण्डल से शतायु है 'आयुष्टोम' के द्वारा। अतएव तदभिन्न-तन्त्रे दिष्ठ मानव भी उसी अनुपात से शतायु बना हुआ है।

३२-शतायु ईश्वरप्रजापति के अविज्ञेय-दुर्विज्ञेय-विज्ञेय-सुविज्ञेय-भावात्मक चतुर्विध महिमाविवर्त्त—

क्या स्वरूप है इस शतायु ईश्वरप्रजापति का ?, प्रश्न को सर्वथा विभिन्न चार दृष्टिकोणों से-अविज्ञेयस्वरूप, दुर्विज्ञेयस्वरूप, विज्ञेयस्वरूप, एव सुविज्ञेयस्वरूप-भेद से चार महिमाभावों में विभक्त माना जा सकता है। मायासीमा से अतीत वही ब्रह्म अपने निरवच्छिन्न-दिक्-कालानवच्छिन्न-असीम-परात्पर-स्वरूप से सर्वथा 'अविज्ञेय' है। महामायावच्छिन्न सहस्रपुण्डीराश्वत्थात्मक-अश्वत्थवृक्षलक्षण-

अमृतब्रह्मशुक्रमूर्त्ति–अव्ययाक्षरात्मक्षरसमन्वित वही षोडशी प्रजापति अपने महामायी–स्वरूप से 'दुर्विज्ञेय' है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–नाम से प्रसिद्ध पञ्चपुण्डीरों की समष्टिरूप–योगमायावच्छिन्न–पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्यवल्शाधिष्ठाता वही प्रजापति अपने योगमायात्मक स्वरूप से 'विज्ञेय' है। एवं सौर–चान्द्र–पार्थिव–नामक तीन रोदसी–लोकों का साक्षीभूत–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–रूप से आदित्य–वायु–अग्निमूर्त्ति–सम्वत्सरत्रिलोक्यधिष्ठाता–वामपलित नाम से प्रसिद्ध वही प्रजापति अपने सगुण–सावरण–स्वरूप से 'सुविज्ञेय' है. जिन इन चतुर्थ सम्वत्सरप्रजापति का नेदिष्ठरूप ही शतायुः मानव माना गया है।

३३–अविज्ञेय परमेश्वर, दुर्विज्ञेय महेश्वर, विज्ञेय वल्शेश्वर, एवं सुविज्ञेय उपेश्वर–भावात्मक ईश्वरीय विवर्त्तों का दिग्दर्शन—

ब्रह्म के उक्त चारों विवर्त्तों में से सर्वारम्भ का मायातीत परात्पर विवर्त्त तो आयुः–सीमा से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है अपने अप्राकृतभाव से। अतएव उसे तो अचिन्त्य–अप्रतर्क्य ही माना जायगा *। शेष रहजाते हैं दुर्विज्ञेय–विज्ञेय–सुविज्ञेय–नामक तीन प्रजापति–विवर्त्त, जिनके साथ अवश्य ही–**'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः'** नियम से आयुर्भोग का समन्वय माना जा सकता है, माना गया है। अविज्ञेय परात्परका साङ्केतिक नाम है **'परमेश्वर'**, जिस के अनन्त धरातल पर महामायावच्छिन्न असंख्य दुर्विज्ञेय प्रजापति उसीप्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे कि अनन्त समुद्रधरातल पर असंख्य बुद्बुद प्रतिष्ठित हैं,जिन इन असंख्य विवर्त्तों में से प्रकृत में केवल एक ही विवर्त्त लक्षीभूत है। इसी का साङ्केतिक नाम है **'महेश्वर'**। योगमायावच्छिन्न तीसरा विज्ञेय प्रजापति 'वल्शेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है, एवं चौथा सम्वत्सरात्मक सुविज्ञेय प्रजापति 'उपेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। **परमेश्वर–महेश्वर–वल्शेश्वर–उपेश्वर–चारों** नाम तत्त्वमूला विज्ञानभाषा में सर्वथा विभक्त तत्त्वों के संग्राहक हैं, जिन इन चारों प्राजापत्य–विवर्त्तों को हमने प्रकृत में मानव की अपेक्षा से सामान्यरूपेण 'ईश्वर' अभिधा से व्यवहृत कर दिया है। इन त्रिविध ईश्वरों के अनन्तर चौथा स्थान ईश्वरनेदिष्ठ उस मानव का आता है, जिस की आयु का विचार प्रक्रान्त है, एवं जिस मानवीय–आयु के अनुपात से ही त्रिविध ईश्वरों की आयु का प्रश्न समन्वयसापेक्ष बना हुआ है।

३४–नित्यप्रलयानुगत मानव, खण्डप्रलयानुगत उपेश्वर, प्रलयानुगत वल्शेश्वर, एवं महाप्रलयानुगत महेश्वरानुबन्धी लयभावों का समन्वय–

शतायुर्भोगानन्तर मानव अपने प्रभव सुविज्ञेय उपेश्वर में लीन हो जाता है, एवं इसी लयभाव को **'नित्यप्रलय'** कहा गया × है। सम्वत्सरप्रजापतिरूप 'उपेश्वर' नामक ईश्वर अपने शतायुर्भोगकालानन्तर स्वप्रभव योगमायावच्छिन्न वल्शेश्वर में विलीन हो जाता है, जिसे 'सौरप्रलय' भी कहा गया है, एवं जो विलयनभाव 'खण्डप्रलय' नाम से प्रसिद्ध है। अपने शतायुर्भोगकालानन्तर यह उपेश्वर स्वप्रभव महामाया–वच्छिन्न महेश्वर में विलीन हो जाता है, एवं इसी तीसरे लयभाव को 'प्रलय' कहा गया है। अन्ततोगत्वा

---

* अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

× 'आप मरा और जग परलै' (प्रलय)–राजस्थानीया लोकसूक्ति।

अपने शतायुर्भोगकालानन्तर यह महेश्वर भी मायाबन्धन के विशकलित होने पर स्वाधारभूत परात्पर परमेश्वर में विलीन हो जाता है, एवं यही अन्तिम लयभाव 'महाप्रलय' नाम से प्रसिद्ध है। तदित्थं-मानवानुगत नित्यप्रलय, उपेश्वरानुगत खण्डप्रलय, वल्शेश्वरानुगत प्रलय, एवं महेश्वरानुगत महाप्रलय-भेद से लयभाव चतुर्धा विभक्त हो रहा है स्व-स्व-शतायुर्भोगकालों के अनुपात से। सौ वर्ष के ही महेश्वर हैं, सौ वर्ष के ही उपेश्वर हैं, सौ वर्ष के ही वल्शेश्वर हैं, अतएव सौ वर्ष का ही मानव है। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् !

२५-स्वेदायनादि-वर्षान्त कालखण्डों के चौदह विवर्त्तों का समन्वय, एवं तत्समर्थक महर्षि वार्कलि—

स्वाक्षपरिभ्रमणानुगत-भूपिण्डपरिभ्रमण का नाम ही 'दैनन्दिनगति' है, जिस इस गति से ही चतुर्विंशति (२४) होरात्मक मानवीय एक अहोरात्र (दिनरात) का स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव आयु का मूलोपक्रमस्थान 'अहोरात्र' ही माना गया है, जबकि सुसूक्ष्मदृष्टया अहोरात्रस्वरूप-प्रवर्त्तक-स्वेदवेदात्मक अथर्ववेदमय-पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोभावात्मक 'स्वेदायन' को ही भारतीय वैज्ञानिकों ने आयु की मूलप्रतिष्ठा माना है। इस 'स्वेदायनतत्त्व' के द्रष्टा मानवमहर्षि 'वार्कलि' ने शतपथब्राह्मण में स्वेदायन को ही काल का प्रमुख मापदण्ड घोषित किया है, जिस का निष्कर्ष यही है कि,-पन्द्रह (१५) स्वेदायनों की समष्टि से एक (१) लोमगर्त्त (रोमकूपपरिमाण) का स्वरूप सम्पन्न होता है। एवमेव १५ लोमगर्त्तों से १ 'निमेष' का, १५ निमेषों से १ 'अन' का, १५ अनों से १ 'प्राण' का, १५ प्राणों से १ 'इदम्' का, १५ इदमावों से १ 'एतर्हि' का, १५ एतर्हिभावों से १ 'क्षिप्र' का, १५ क्षिप्रों से १ 'मुहूर्त्त' का, १५ मुहूर्त्तों से १ 'अह' का, ३० मुहूर्त्तों से १ 'अहोरात्र' का, १५ अहोरात्रों से १ 'पक्ष' का, २ पक्षों से १ 'मास' का, ६ मासों से १ 'अयन' का, एवं २ अयनों से १ 'सम्वत्सर' (वर्ष) का स्वरूप सम्पन्न होता है, जिस एक सम्वत्सर में वार्कलि के मतानुसार १०८०० (दसहजार आठसौ) मुहूर्त्त होजाते हैं। मुहूर्त्तों से पन्द्रहगुणित क्षिप्रों का, क्षिप्रों से पन्द्रहगुणित एतर्हि' का, एतर्हि से पन्द्रहगुणित निमेषों का, निमेषों से पन्द्रहगुणित लोमगर्त्तों का, एवं लोमगर्त्तों से पन्द्रहगुणित स्वेदायनों का एक सम्वत्सर में भोग हो जाता है, जिन इन स्वेदायनभावों के साथ वार्कलि ने वर्षास्तोकों का समतुलन किया है, जोकि समतुलन कादम्बिनीमूला वैदिकी 'वृष्टिविद्या' का आधार माना गया है *। निम्न लिखित परिलेखों से उक्त स्वेदायन-लोमगर्त्तादि का पारम्परिक क्रम भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

---

* दश च ह वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। यावन्तो मुहूर्त्ताः-तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि। यावन्ति क्षिप्राणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व एतर्हीणि। यावन्त्येतर्हीणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व इदानीनि। यावन्तीदानीनि, तावन्तः पञ्चदशकृत्वः प्राणाः। यावन्तः प्राणाः, तावन्तोऽनाः। यावन्तोऽनाः, तावन्तो निमेषाः। यावन्तो निमेषाः, तावन्तो लोमगर्त्ताः। यावन्तो लोमगर्त्ताः, तावन्ति स्वेदायनानि। यावन्ति स्वेदायनानि, तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति। —शतपथब्राह्मण १२।३।२।५।

पञ्चदश (१५) स्वेदायनों का एक (१) लोमगर्त्त	पञ्चदश (१५) क्षिप्रों का एक (१) मुहूर्त्त
पञ्चदश (१५) लोमगर्त्तों का एक (१) निमेष	पञ्चदश (१५) मुहूर्त्तों का एक (१) अहः
पञ्चदश (१५) निमेषों का एक (१) अन	त्रिंशत् (३०) मुहूर्त्तों का एक (१) अहोरात्र
पञ्चदश (१५) अनों का एक (१) प्राण	पञ्चदश (१५) अहोरात्रों का एक (१) पक्ष
पञ्चदश (१५) प्राणों का एक (१) इदम्	द्वि (२) पक्षों का एक (१) मास
पञ्चदश (१५) इदानीनि का एक (१) एतर्हि	षट् (६) मासों का एक (१) अयन
पञ्चदश (१५) एतर्हीणि का एक (१) क्षिप्र	द्वि (२) अयनों का एक (१) वर्ष
	(वैदिकमान्यतानुसार) ÷

शत (१००) वर्षों का एक मानवायुर्भोगकाल

३६–उपेश्वरात्मक सम्वत्सरप्रजापति, एवं तन्मूलक तदभिन्न पुरुष (मानव)—

स्वेदायन से आरम्भ कर अयन पर्य्यन्त जितने भी सम्वत्सरावयव हैं, सब भातिसिद्ध काल के विवर्त्त हैं, एवं इस दृष्टि से अयनद्वयात्मक सम्वत्सर भी भातिसिद्ध कालात्मक ही है। यह सर्वात्मना अवधेय है कि,

÷ पौराणिकमतानुसार समन्वय—

१५ निमेषों की १ काष्ठा

३० काष्ठा की १ कला

३० कला का १ मुहूर्त्त

३० मुहूर्त्तों का १ अहोरात्र

अमरमतानुसार समन्वय—

१८ निमेषों की १ काष्ठा
३० काष्ठा की १ कला
३० कला का १ क्षण
१२ क्षणों का १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्तों का १ अहोरात्र
३० अहोरात्रों का १ मास
१२ मासों का १ सम्वत्सर

लोकप्रचलित साधारणमतानुसार समन्वय—

१५ कला की १ घड़ी
२ घड़ियों का १ मुहूर्त्त
१५ मुहूर्त्तों का १ दिन
२ दिनों का १ दिनरात

१५ दिनरातों का १ पखवाड़ा
२ पखवाड़ों का १ महीना
६ महीनों का १ अयन
२ अयनों का १ वर्ष

स्वेदायनादि पर्यन्त यच्चयावत् अवयव-अवयवीभाव अग्नि-सोमात्मक सत्तासिद्ध काल के ही स्वरूपसम्प्राहक बने हुए हैं, जिस अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति को पूर्व में हमने 'उपेश्वर' कहा है, एवं जिस हृदयभूत उपेश्वर (सत्तात्मक-अग्नीषोममय सम्वत्सर) की पूर्णा अभिव्यक्ति का ही नाम 'मानव' है। सत्तासिद्ध सम्वत्सरप्रजापति का भोगकाल भी 'सम्वत्सर' नाम से ही प्रसिद्ध होपड़ा है। एवं सत्तात्मक काल, तथा भात्यात्मक काल की इसी समन्वयपद्धति को आधार मान कर भगवान् याज्ञवल्क्यने भोगकालात्मक सम्वत्सरपर्वों (भातिसिद्ध अहोरात्रादि पर्वों) के माध्यम से ही सम्वत्सरप्रजापति के साथ तदभिव्यक्तिरूप मानव का सम-तुलन व्यवस्थित किया है, जिस इस समतुलन के लिए तो चयनयज्ञमूला शातपथी 'सम्वत्सरविद्या' का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

३७-सम्वत्सरप्रजापति, और पुरुष का पारस्परिक समतुलन—

तद्विद्यासमन्वयप्रसङ्ग में श्रुति ने कहा है कि-'पुरुषो वै सम्वत्सर', जिसका तात्पर्य्य यही है कि-यह पुरुष (मानव) सम्वत्सर का ही सर्वात्मना समतुलित प्रतीक है। कैसे ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे चलकर भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, जिसप्रकार अपने अनेक अवयवों की विद्यमानता में भी सम्वत्सर 'सम्वत्सर' रूप से एकभावापन्न ही है, एवमेव पुरुष भी अनेक अवयवों के विद्यमान रहते हुए भी 'पुरुष' रूप से एकभावापन्न ही प्रमाणित होरहा है। और यही मानवपुरुष के साथ सम्वत्सरप्रजापति का पहिला साम्य है। एक सम्वत्सर के जैसे अह-रात्रि-नामक दो प्रमुख पर्व हैं, तथैव पुरुष के भी ऐन्द्रप्राण (अह), वारुण अपान (रात्रि) रूप से दो ही पर्व हैं, यही दूसरा साम्य है। ग्रीष्म-वर्षा-शीत-रूप से सम्वत्सर के तीन ऋतुपर्व हैं, तो प्राण-व्यान-अपान रूप से मानव के भी तीन ही ऋतुपर्व हैं। 'सम्वत्सर' के जहाँ 'स-व-त्-स-र' रूप से चार अक्षर हैं, तो इस चतुरक्षरमूर्त्ति-चतुष्पात्-(तीन-मृत्युमात्रा-१ अमृतमात्रा के भेद से) सम्वत्सर के साथ प्रकृत्यैव यजन करने वाले मानव की 'यजमान' अभिधा भी-'य-ज-मा-न' रूप से चतुरक्षरा ही प्रमाणित हो रही है। सम्वत्सर में यदि वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्धेमन्त-नामक पाँच ऋतुपर्व हैं, तो पुरुष में भी प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान-नामक पाँच ही ऋतुपर्व हैं। सम्वत्सर में यदि वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत-हेमन्त-शिशिर-नामक ६ ऋतुपर्व हैं, तो मानवपुरुष में भी चक्षुर्गोलकानुगत दो अग्निप्राण, नासान्छिद्रानुगत दो सारस्वतप्राण, एवं श्रोत्रविवरा-नुगत दो ऐन्द्रप्राण-भेद से ६ ही ऋतुपर्व प्रतिष्ठित हैं। वसन्तादि ६ ऋतु, तथा मलिम्लुच ऋतु (अधिक-मासऋतु) भेद से सम्वत्सर में जहाँ सात ऋतुपर्व हैं, वहाँ मानवपुरुष में भी 'सप्तऋ' नामक सात ही आध्यात्मिक ऋषिप्राणरूप सप्त ऋतुपर्व प्रतिष्ठित हैं। सम्वत्सर में जहाँ बारह मासात्मक पर्व हैं, वहाँ मानवपुरुष में भी मासानुगत बारह प्राण प्रतिष्ठित हैं। सम्वत्सर में यदि ३६० रात्रिपर्व हैं, तो मानव में भी ३६० ही स्थूल-अस्थिपर्व हैं। सम्वत्सर में यदि ३६० अह पर्व हैं, तो मानव में भी ३६० ही मज्जापर्व हैं। इसप्रकार सभी दृष्टियों से-'सम्वत्सरसमता वेदितव्या' (गोपथब्राह्मण पू० ५ ५) इत्यादि सिद्धान्तानुसार मानव सम्वत्सरप्रजापति से सर्वात्मना समतुलित ही प्रमाणित हो रहा है। (देखिए शतपथब्राह्मण १२।३।२ ब्राह्मण, एवं गोपथब्राह्मण पूर्वभाग ५ प्रपाठक के ५-६ ब्राह्मण)।

३८—उपेश्वर के स्रष्टा वल्शेश्वरप्रजापति, एवं इनके चित्पति—प्राणपति-भूतपति-लक्षण ब्रह्मा--विष्णु—महेशात्मक तीन विवर्त्त—

मानवस्वरूप के स्रष्टा सम्वत्सरप्रजापति का नाम ही उपेश्वर है, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है। इस उपेश्वर का स्रष्टारूप ही वह 'वल्शेश्वर' है—जिसमें स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—चन्द्रमा—भू—पिण्ड—नामक पाँच पुण्डीर (पर्व—पोर) हैं। इनमें स्वयम्भू ही 'ब्रह्मा' हैं, परमेष्ठी ही विष्णु हैं, एवं सूर्य्य—चन्द्रमा—भूपिण्ड (तदुपलक्षित गायत्राग्नि) की समष्टि ही महादेव है। चित्पति ब्रह्मा, प्राणपति विष्णु, एवं भूतपति महादेव, तीनों क्रमशः अव्यक्त—व्यक्ताव्यक्त—व्यक्त—भावों के साक्षी बने रहते हैं। जो क्रम सञ्चरभावात्मक सर्ग का है, वही क्रम प्रतिसञ्चरभावात्मक प्रतिसर्ग का है।

३९—मानव का उपेश्वर में, उपेश्वर का वल्शेश्वर में, वल्शेश्वर का महेश्वर में, एवं महेश्वर का परमेश्वर में विलयन, तथा सर्गानुबन्धिनी लयपरम्परा—

उक्त प्रकृतिसिद्ध क्रमानुपात से सर्वप्रथम पृथिवी—चन्द्रमा—से समन्वित उपेश्वरमूर्त्ति सम्वत्सरात्मक सूर्य्य का आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में लय होता है, यही उपेश्वर का अवसान है, जिसे पूर्व में—'खण्डप्रलय' कहा गया है। दिव्ययुगसमाप्ति ही इसकी आयुःसमाप्ति है। आगे चलकर ब्राह्मयुगावसान पर पारमेष्ठ्य विष्णु से समन्वित स्वायम्भुव ब्रह्मा का महामायावच्छिन्न महेश्वर—अश्वत्थपुरुष में विलयन होजाता है, और यही वल्शेश्वर का अवसान है, जिसे पूर्व में 'प्रलय' कहा गया है। ऐसा भी समय आता ही है, जबकि अश्वत्थ-मूर्त्ति मायी महेश्वर की सहस्रों वल्शाओं का भी विलयन हो जाता है। महामाया का बन्धनविमोक ही वैसा समय माना गया है। इस बन्धन के विमुक्त होते ही अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वर स्वप्रभव परात्पर परमेश्वर की अनन्तता में विलीन हो जाते हैं। और यही महेश्वर का अवसान है, जिसे 'माया' बन्धनविमोकदृष्ट्या पूर्व में-'महाप्रलय' कहा गया है। तदित्थं महामायी—सहस्रवल्शात्मक—महेश्वर, पञ्चपुण्डीरात्मक योगमायी-वल्शेश्वर, एवं सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यात्मक सम्वत्सरमूर्त्ति त्रिकल उपेश्वर, इन तीन प्राजापत्य विवर्त्तों के भेद से लयभाव क्रमशः महाप्रलय-प्रलय-खण्डप्रलय-इन तीन भावों में परिणत हो जाता है।

४०—पुरुषानुगत मानवयुग, उपेश्वरानुगत दिव्ययुग, वल्शेश्वरानुगत ब्राह्मयुग, एवं महेश्वरानुगत ईश्वरीययुग, भेद से चतुर्विधा युगव्यवस्था—

सम्वत्सरप्रतिमानरूपा नित्यलयानुगता मानवीय—कालमहिमा का समन्वय करने वाली कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है-'मानवयुग'। सम्वत्सरलक्षण-उपेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है--'दिव्ययुग'। वल्शेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है—'ब्राह्मयुग'। एवं महेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है 'ईश्वरयुग'। मानव, उपेश्वर, वल्शेश्वर, महेश्वर, ये चारों ही विवर्त्त स्व-स्व-युगानुगत शतवर्षात्मक-कालभोगों से शतायु ही बन रहे हैं, जिन इन चार विवर्त्तों में से सर्वान्त के महेश्वर-विवर्त्त के शतायुर्भोगकाल की मीमांसा मानवप्रज्ञा के लिए दुरधिगम्या ही मानी जायगी। कारण इस दुरधिगम्यता का स्पष्ट है। महेश्वर की सीमा में सहस्रवल्शेशर प्रतिष्ठित हैं। इन सहस्रों वल्शे-श्वरों के सहस्रधा विभक्त शतशत-आयुर्भोगकालों से सम्बन्ध रखने वाले आनन्त्य का यथावत् गणनात्मक

समन्वय करलेना अत्यन्त ही दुरधिगम्य है। अतएव प्रस्तुत प्रसङ्ग में महेश्वर के शतायुर्भोगकाल की गणना-मीमांसा को प्रणम्य ही मान लिया गया है। शेष रह जाते हैं वल्शेश्वर-उपेश्वर-मानव-नामक तीन विवर्त, जिनका क्रमश ब्राह्मयुग-दैवयुग-मानुष्ययुग नामक तीन युगों से सम्बन्ध है। इन युगपरिभाषाओं के माध्यम से ही हमें कालपुरुष की गणनात्मिका अनन्तता की उपासना में प्रवृत्त होना है निम्नलिखित परिलेख-माध्यम से रूपरेखा को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ करते हुए ही—

*—सर्वाधिष्ठाता—अखण्डः—परात्पर —परमेश्वर —मायातीत —(अविज्ञेय)

१—सहस्रकल्पावच्छिन्न —अश्वत्थमूर्त्ति —महामायी—महेश्वर —महाप्रलयाधिष्ठाता (अविज्ञेय)

२—पञ्चपुण्डीरावच्छिन्न —एकवल्शेश्वर —योगमायी—वल्शेश्वर —प्रलयाधिष्ठाता (दुर्विज्ञेय)

३—सौरचान्द्रपार्थिवसम्वत्सरमूर्त्ति —योगमायी—उपेश्वर —खण्डप्रलयाधिष्ठाता (सुविज्ञेय)

*—सम्वत्सरप्रतिमानभूत —योगमायावच्छिन्न —पुरुषो मानव —नित्यप्रलयानुगत (ज्ञाता)

४१–पार्थिव अक्षवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, एवं सौर क्रान्तिवृत्त-मूलक मानव-पैत्र्य-दैव-अहोरात्रों का पारिभाषिक समन्वय—

* भूलोकानुगता आत्मनिष्ठा प्रजा ही 'मानव' नाम से, चन्द्रलोकानुगता प्रजा ही 'पितर' नाम से, एव सूर्यलोकानुगता प्रजा ही 'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र 'मानुष-अहोरात्र' कहलाया है, चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र 'पैत्र-अहोरात्र' कहलाया है, एव सूर्य से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र 'दैव-अहोरात्र' कहलाया है। तात्पर्य्य यही है कि, अह (दिन) की सामान्य परिभाषा है सूर्य्यप्रकाशानुगत भोगकाल, एव रात्रि की परिभाषा है प्रकाश से वञ्चित तमोमय काल। इस परिभाषा के अनुसार भूपिण्ड के अक्षवृत्त, चन्द्रपिण्ड के दक्षवृत्त, एव सूर्य्यानुगत क्रान्तिवृत्त, इन तीन वृत्तों के भेद से पार्थिव-चान्द्र-सौर-कक्षाओं में प्रकाशभोगकालात्मक अह, एव तमोभोगकालात्मिका रात्रि का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् कालानुगामी बन जाता है। पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण से सम्बन्ध रखने वाली दैनदिनगति की अपेक्षा से भूलोक पर १२ घन्टा पर्य्यन्त सौर प्रकाश की सत्ता है, तो १२ घन्टा पर्य्यन्त तम का साम्राज्य है। इस दृष्टि से पार्थिवी मानवप्रजा का एक अहोरात्र २४ घन्टात्मक बन रहा है। चान्द्र दक्षवृत्तानुपात से सम्बन्ध रखने वाली चान्द्रीगति की अपेक्षा से चान्द्र कक्षावृत्त का माननीय पन्द्रह अहोरात्रात्मक अर्द्धभाग सौर प्रकाश से समन्वित रहता है, एव अर्द्धभाग तम से समन्वित रहता है। यही तमोमय सोम पितरों का अह काल बना हुआ है, ज्योतिर्मय आलोक पितरों की रात्रि प्रमाणित हो रहा है। कृष्णपक्ष पितरों का अह काल है, अमावास्या मध्याह्नकाल है। शुक्लपक्ष पितरों का रात्रिकाल है, पूर्णिमा मध्यरात्रि है पितरों की। यही कृष्ण-शुक्ल-पक्षात्मक काल पैत्र अहोरात्र है, जिसका तात्पर्य्य यह हुआ कि,

*—त्रयो वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः—इति।—शत० १४।४।३।२४।

मानवीय ३० अहोरात्रो की समष्टि, किंवा एक मास का नाम ही पितरों का एक 'अहोरात्र' है जैसा कि–**'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः'** इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है।

४२–त्रिविध अहोरात्रों का निष्कर्षार्थ–समन्वय—

भूपिण्ड की साम्वत्सरिक–परिभ्रमण–गति के आधारभूत क्रान्तिवृत्त से वार्षिक गति का स्वरूप सम्पन्न होता है, जिससे सम्वत्सर के षट्–षट्–मासात्मक दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं, जो कि दोनों क्रान्तिवृत्तीय विभाग क्रमशः **उत्तरायण-दक्षिणायन**-नाम से प्रसिद्ध है। षण्मासात्मक उत्तरायणकाल उत्तरध्रु वानुबन्ध से सौरप्रकाशभोगकाल है, यही सौरप्राणलक्षण–देवभाव से अनुप्राणित 'अहःकाल' है, एवं षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल दक्षिणध्रु वानुबन्ध से सौरप्रकाशविरोधी तम का भोगकाल है, एवं यही देवताओं का रात्रिकाल है। इसप्रकार मानव के एकवर्ष से (३६० अहोरात्रयुग्मो से) सौरप्राणात्मक देवदेवताओं के उत्तरायण–दक्षिणायन–भेद से एक अहोरात्र का स्वरूप सम्पन्न होता है, जैसा कि–**'वर्षेण दैवतः'** वचन से स्पष्ट है। २४ घन्टों का एक अहोरात्र मानव का, मानवीय एक मास का अहोरात्र पितरों का, एवं मानव के एकवर्ष का एक अहोरात्र देवताओं का, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

४३–दिव्य अहोरात्र, दिव्य दिव्यमास, एवं दिव्यवर्ष का परिभाषिक समन्वय—

मानव के ३० अहोरात्रों का मानवीय १ मास, ऐसे १२ मासों की समष्टि मानव का १ वर्ष, एवं ऐसे सौ वर्षों की समष्टि ही मानव का **मानुषयुग**, एवं यही मानवायुर्भोगकाल की इयत्ता, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी मानवयुगानुपात से अब दिव्ययुगानुगता व्यवस्था का समन्वय कीजिए, एवं तदनुपात से ही सम्वत्सरलक्षण उपेश्वर के शतायुर्भोगकाल को लक्ष्य बनाइए। **मानव का एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र** है, यह प्रसिद्ध है। यही 'दिव्य–अहोरात्र' (देवताओं का एक दिनरात) है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों की समष्टि का नाम होगा एक 'दिव्यमास' (देवताओं का एक महीना), जिस देवमास के मानुषवर्ष होंगे ३० तीस। हमारे ३० वर्ष, तो देवताओं का १ मास (३० अहोरात्र), यही निष्कर्ष है। ऐसे १२ मासों की समष्टि का नाम होगा देवताओं का एक **दिव्यवर्ष**, जिसके मानववर्षानुपात से होंगे ३६० तीनसौ साठवर्ष। अर्थात् मानव के ३६० वर्षों की समष्टि का नाम होगा एक 'दिव्यवर्ष'। ऐसे दिव्य १०० वर्षों के मानुषवर्ष ३६००० (छत्तीसहजार) हो जाते हैं।

४४–दिव्ययुगानुगता आयुर्व्यवस्था की अनन्तता का मूलाधार––

स्थूलदृष्टि से दिव्य शतवर्ष (मानुष ३६००० वर्ष) पर ही सम्वत्सरात्मक उपेश्वर का आयुर्भोगकाल समाप्त होजाना चाहिए था, जैसे कि ३६००० मानव अहोरात्रात्मक सौ वर्षों में मानव का आयुःकाल उपरत होजाता है। किन्तु दिव्यवर्षानुगता व्यवस्था का 'शत' भाव सौर–साहस्री के सम्बन्ध से सहस्र–भाव पर विश्रान्त होता है, जबकि मानवयुगानुगता आयुर्व्यवस्था शतभाव पर ही परिसमाप्त है। वाक्साहस्री से अनुप्राणिता सहस्रभावानुगति का महिमात्मक समन्वय ही **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** रूप से दिव्ययुगीया आयुर्व्यवस्था को अनन्तता प्रदान कर रहा है, जिस इस आनन्त्य के यथावत् समन्वय के लिए तो साहस्री-विद्यानुगता 'मन्वन्तरविद्या' का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय अपेक्षित है।

१-महामायी महेश्वर——शतायु —ईश्वरयुगव्यवस्थानुपातेन—अचिन्त्योऽयमायुर्भोगकाल

२-योगमायी विश्वेश्वर——शतायु—ब्राह्मयुगव्यवस्थानुपातेन—उपास्योऽयमायुर्भोगकाल

३-सम्वत्सरमूर्तिरूपेश्वर ——शतायु —दिव्ययुगव्यवस्थानुपातेन—आराध्योऽयमायुर्भोगकाल

४-सम्वत्सरप्रतिमानभूतो मानव -शतायु –मानुषयुगव्यवस्थानुपातेन—अनुगमनीयोऽयमायुर्भोगकाल

*

१-मानुषयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

२४ घन्टों का १ मानुष अहोरात्र
३० अहोरात्रों का १ मानुषमास
१२ मासों का १ मानुषवर्ष
१०० वर्षों का १ मानुषयुग

—मानुषयुगोऽय–नित्यप्रलयानुगत सैषा–जीवभावात्मिका–पुरुषसंस्था—

२-दिव्ययुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१ मानुषवर्ष का १ दिव्य अहोरात्र
३० दिव्य अहोरात्रों का १ दिव्यमास
१२ दिव्यमासों का १ दिव्यवर्ष
१२०० दिव्यवर्षों का १ खण्डदिव्ययुग
२००० दिव्ययुगों का १ महादिव्ययुग

—दिव्ययुगोऽय–खण्डप्रलयानुगत सैषा सम्वत्सरभावात्मिका उपश्वरसंस्था

३-ब्राह्मयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१ महादिव्ययुग का १ ब्राह्म अहोरात्र
३० ब्राह्म अहोरात्रों का १ ब्राह्ममास
१२ ब्राह्म मासों का १ ब्राह्मवर्ष
१०० ब्राह्म वर्षों का १ ब्राह्म युग

—ब्राह्मयुगोऽय प्रलयानुगत सैषा अव्यक्तात्मिका विश्वेश्वरसंस्था

४-ईश्वरयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१००० ब्राह्मयुगों की समष्टि १ विश्वेश्वरयुग

—ईश्वरयुगोऽय महाप्रलयानुगत सैषा अचिन्त्या महेश्वरसंस्था

४५–सूर्य्यकेन्द्रस्थ मनु, एवं तन्मूलक मन्वन्तरों की मुहूर्त्तात्मकता का समन्वय----

सूर्य्यकेन्द्रस्थ मनोमय शाश्वत ऐन्द्र प्राण का ही नाम मनोमय 'मनु' है, जो सौरसम्वत्सर का हृद्य आत्मा माना गया है। दिव्ययुगानुबन्धी सूर्य्यसत्ताकाल की परिधि को व्यवस्थित करने वाला मध्यान्तर ही 'मन्वन्तर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो सौरमनु केन्द्र सम्बन्ध से पुराणशास्त्र में 'सूर्य्यपुत्र' नाम से उपवर्णित है। मानव-अहोरात्र-व्यवस्था में जो स्थान मुहूर्त्त का है, सृष्टिसत्ताकालात्मक एक सूर्य्यसत्तानुबन्धी दिव्ययुग–विवर्त्त में वही स्थान 'मन्वन्तर' का है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। विषय–समन्वयदृष्ट्या पुनः एक बार यह स्पष्ट कर लीजिए कि, मानवयुग–व्यवस्था में अहोरात्र की ६० घडियों में ३० मुहूर्त्त उपभुक्त हैं। आपके चतुर्विंशति (२४) होरा–(घन्टा)–त्मक एक अहोरात्र (दिन-रात्र में ६० घटिका होती है, जिनके २–२ घटिकाओं के अनुपात में अहोरात्र में मुहूर्त्त ३० (त्रिंशत्) हो जाते हैं, जिनमें से १५ महुर्त्तों, किंवा ३० घड़ियों का भोग तो दिन में हो रहा है, एवं १५ मुहुर्तों, किंवा ३० घड़ियों का उपभोग रात्रि मे हो रहा है। वस्तुतस्तु दिन और रात में तो १४–१४ मुहुर्त्तों, किंवा २८–२८ घडियों का ही भोगोपभोग प्रकृत्या समन्वित है। १–१ मुहूर्त्त, किंवा २–२ घडियों का भोगोपभोग तो अहोरात्रानुबन्धिनी प्रातः साय–सन्ध्याओं मे ही अन्तर्लीन हो जाता है। फलतः अहोरात्र में तो १४–१४–(संकलनया २८) मुहूर्त्त ही उपभक्त है।

४६–दिव्ययुगानुगत गणनानन्त्य का उपक्रम----

ठीक यही व्यवस्था सूर्य्यसत्ताकालात्मक उस दिव्ययुग में समझिए, जिसे हम आरम्भ से 'वर्त्तमानकाल' कहते आए हैं, एवं जो कि सूर्यसत्ताकाल ब्राह्मयुगानुबन्ध से ब्रह्मा का एक 'अहःकाल' (पुण्याह) कहलाता है। ब्राह्म अहः, ब्राह्मी रात्रि, दोनों की समष्टि एक ब्राह्म अहोरात्र है, जिसमें पूर्वोक्त मानुष अहोरात्रवत् ३० मुहूर्त्तों का उपभोग हो रहा है, जिन मुहूर्त्तों को इस दिव्ययुगपरिभाषा में 'मुहूर्त्त' न कह कर **'मन्वन्तर'** कहा गया है। १५ मन्वन्तरात्मक ब्राह्म अहःकाल, एवं १५ मन्वन्तरात्मिका ही ब्राह्मी रात्रि, सम्भूय इस दिव्य–युगात्मक एक अहोरात्र मे ३० मन्वन्तरों का भोगोपभोग प्रमाणित हो जाता है। वस्तुतस्तु मानवयुग-व्यवस्थावत् यहाँ भी १४ मन्वन्तरों का भोग अहःकाल में, एवं १४ मन्वन्तरों का उपभोग रात्रिकाल में, तथा १–१ मन्वन्तर का प्रातः-सायं-सन्ध्या में भोग हो रहा है। अत्र इस 'मन्वन्तर' को लक्ष्य बनाकर ही हमें दिव्ययुगानुगता गणना के आनन्त्य का समन्वय करना है।

४७---सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि-युगों के ३६०००००० (छत्तीसलाख) विभूतिभाव---

सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि–नाम से प्रसिद्धा 'युगव्यवस्था' पूर्वोक्त अहःकालीन सौर मन्वन्तरों के आधार पर ही प्रतिष्ठिता है। अतएव बिना इस चतुर्युगी–व्यवस्था के समन्वय के दिव्ययुगानुगता कालगणना का समन्वय कदापि सम्भव नहीं है। कहा गया है कि, ३६० मानुषवर्षों का एक दिव्यवर्ष होता है, एवं ३६००० मानुष-वर्षों के दिव्य १०० वर्ष होते हैं, जो यह शतभाव सौरी वाक्साहस्री से सहस्रमहिमाभाव में परिणत होकर ही दिव्ययुगानुगता कालव्यवस्था का मापदण्ड बनता है। शत दिव्य वर्षों के स्थान मे अब आपको सहस्र (१००० एक हजार) दिव्यवर्षों को माध्यम बना लेना चाहिए इस दृष्टिकोण से, जिसके मानुषवर्ष ३६०००० (तीन लाख साठहजार) वर्ष हो जाते हैं। ऐसे १० सहस्र दिव्यवर्षों के समुच्चय से पूर्वोक्त सत्य-त्रेता-

द्वापर-कलि-नामक चार युगों की अवधि सम्पन्न हुई है। चार (४) हजार दिव्ययुगों का १ सत्ययुग, तीन (३) हजार दिव्ययुगों का एक त्रेतायुग, दो (२) हजार दिव्ययुगों का १ द्वापरयुग, एवं एक (१) हजार दिव्य युगों का एक कलियुग, इसप्रकार ४-३-२-१ इस क्रमानुपात से क्रमशः चारों युगों का काल व्यवस्थित हुआ है, जिन चारों के समन्वय से १० हजार दिव्यवर्ष हो जाते हैं। एक दिव्य सहस्र वर्ष के मानुषवर्ष यदि ३६०००० (तीन लाख साठ हजार) होंगे, तो इसी अनुपात से दस सहस्र (१००००) दिव्य वर्षों के मानुषवर्ष होंगे-३६०००० (छत्तीस लाख) वर्ष, एवं यही चतुर्युगी का भोगकाल माना जायगा।

४८-सन्ध्यांशों से समन्वित बारह हजार दिव्यवर्षों के साथ ४३२०००० (तियालीस-लाख बीस हजार) मानववर्षों का समन्वय—

दशसहस्र दिव्यवर्षात्मक, एवं षट्त्रिंशल्लक्षमित मानुषवर्षात्मक चारों युगों में प्रत्येक में क्रमशः ८००-६००-४००-२०० इतने इतने दिव्यवर्ष और समाविष्ट रहते हैं युगानुगता प्रातःसन्ध्या, एवं सायंसन्ध्या के अनुपात से, जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, चार हजार दिव्यवर्ष सत्ययुग का भोगकाल, ४०० दिव्यवर्ष इस युग की प्रातःसंध्या का भोगकाल, ४०० दिव्य वर्ष इस युग की सायंसन्ध्या का भोगकाल, सम्भूय ४८०० (चार हजार आठसौ) दिव्यवर्ष सन्ध्याविशिष्ट सत्ययुग के, ३६०० (तीन हजार छःसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्या-विशिष्ट त्रेतायुग के, २४०० (दो हजार चारसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्याविशिष्ट द्वापरयुग के, एवं १२०० (बारहसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्याविशिष्ट कलियुग के हो जाते हैं। यों १० के स्थान में सन्ध्यांशों के २ सहस्र दिव्यवर्षों के समावेश से द्वादश सहस्र (१२००० बारह हजार) दिव्यवर्ष सम्पन्न हो जाते हैं, जिनके मानुषवर्ष होते हैं ४३२०००० (तियालीस लाख बीस हजार)। यह है एक चतुर्युगी का भोगकाल।

४९-अतःपरमिदं महदाश्चर्य्यम्!

अतः परमन्यदपि महदाश्चर्य्यम्। तियालीस लाख बीस हजार मानुष वर्षात्मक, एवं बारह हजार दिव्य-वर्षात्मक तथाकथित चारों युगों की समन्वितावस्था का नाम है एक 'खण्डदिव्ययुग', जिस इस खण्डता की आधारभूमि बन रही है सहस्ररश्मियों में से केवल एक सूर्यरश्मि। अभी तो ९९९ सूर्यरश्मियों का कालानुपात शेष ही बन रहा है। तात्पर्य्य यह निकला कि, पूर्वोपवर्णित १२ सहस्रदिव्यवर्षात्मक खण्डदिव्ययुग जैसे ९९९ (नौसौनिन्यानवें) खण्डदिव्ययुगों का जब सङ्कलन और कर लिया जायगा, तब कहीं महादिव्य-युगात्मक-सूर्य्यसत्ताकालात्मक-वर्त्तमानकाल का सर्वात्मना समन्वय सम्भव बन सकेगा, जिसके आधार पर ही 'उपेश्वर' का शतायुर्भोगकाल व्यवस्थित है।

५०-चतुर्युगी से अनुप्राणिता दिव्यवर्षानुगता, एवं मानववर्षानुगता महिमा का समन्वय—

सर्वप्रथम चतुर्युगी से सम्बद्ध वर्षमहिमा का समन्वय कीजिए दिव्यवर्ष-दृष्ट्या, एवं मानुषवर्ष-दृष्ट्या। ४८०० दिव्यवर्ष हैं सत्ययुग के, जिसके मानुष वर्ष होते हैं १७२८००० (सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार)। ३६०० दिव्यवर्ष हैं त्रेतायुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं १२९६००० (बारह लाख छियानवे हजार)। २४०० दिव्यवर्ष हैं द्वापरयुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं ८६४००० (आठ लाख चौसठ हजार)। एवं १२०० दिव्य-वर्ष हैं कलियुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं ४३२००० (चार लाख बत्तीस हजार)। चारों युगों के दिव्यवर्षों का सङ्कलनात्मकस्वरूप होता है १२००० (बारह हजार) दिव्यवर्ष, जिसके मानुषवर्षानुपात से ४३२०००० (तियालीस-लाख बीस हजार) मानुषवर्ष हो जाते हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

युगनाम	सन्धिकाल	मध्यकाल	सन्ध्यांश	संकलन	
१—सत्ययुग	४००	४०००	४००	४८००	दिव्यवर्षानुगता—चतुर्युग-कालमान
२—त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००	
३—द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००	
४—कलियुग	१००	१०००	१००	१२००	
	१०००	१००००	१०००	१२०००	

१—सत्ययुग के दिव्यवर्ष	४८००	मानुषवर्ष १७२८००० सत्रहलाख,अट्ठाईसहजार	एकसूर्यरश्मिभोगकालः
२—त्रेतायुग के दिव्यवर्ष	३६००	मानुषवर्ष १२९६००० बारहलाख, छिनवेंहजार	
३—द्वापरयुग के दिव्यवर्ष	२४००	मानुषवर्ष ८६४००० आठलाख,चौसठहजार	
४—कलियुग के दिव्यवर्ष	१२००	मानुषवर्ष ४३२००० चारलाख, बत्तीसहजार	
चतुर्युगी के दिव्यवर्ष	१२०००	मानुषवर्ष ४३२०००० तियालीसलाख,बीसहजार	

सत्रहलाख—अठाईसहजार—मानुषवर्ष,	एवं चारहजार—आठसौ दिव्यवर्ष सत्ययुगमान
बारहलाख—छिनवेहजार—मानुषवर्ष,	एवं तीनहजार—छसौ दिव्यवर्ष त्रेतायुगमान
आठलाख—चौसठहजार—मानुषवर्ष,	एवं दोहजार—चारसौ दिव्यवर्ष द्वापरयुगमान
चारलाख—बत्तीसहजार—मानुषवर्ष,	एवं एकहजार—दोसौवर्ष कलियुगमान
तियाँलीसलाख—बीसहजार—मानुषवर्ष,	एवं बारहहजार दिव्यवर्ष चतुर्युगमान

५१–सहस्र दिव्यचतुर्युगात्मक सौर सत्ताकाल, एवं तद्रूप पुण्याहकाल—

उक्त कालविस्तार सौरमण्डलानुगता केन्द्रभानपिनद्धा सहस्र रश्मियों में से केवल एक रश्मि से सम्बन्ध रख रहा है। इसी अनुपात से मन्वन्तरमाध्यम से हमें अब शेष ९९९ रश्मियों के कालविस्तार का संक्षेप में समन्वय कर लेना है। सहस्र-सौर रश्मियों के अनुपात से अब हम सहस्र ही चतुर्युगियों के भोगकालों पर दृष्टिनिक्षेप अभीष्ट है। सूर्य्यसत्तात्मक–वर्तमानकालात्मक–अह काल के मुहूर्त्तस्थानीय १४ मन्वन्तरों को एक ओर रख लीजिए, एवं सहस्ररश्मिसमष्ट्यात्मिका सहस्र–चतुर्युगियों को एक ओर रख लीजिए। और तब दोनों के समन्वय के माध्यम से सूर्य्यसत्ताकाल का समष्ट्यात्मक दर्शन कीजिए। सहस्र–चतुर्युगियों में से ७१–७१ (इकहत्तर–इकहत्तर) चतुर्युगियों को विभक्त कर देने से १४ मन्वन्तरों की ९९४ (नौसौ-चोरानवे) चतुर्युगियाँ हो जातीं हैं। ६ चतुर्युग शेष रह जाते हैं, जिनका अहरनुगत–समष्ट्यात्मक–प्रातःसन्ध्यात्मक १५ वें मन्वन्तर में अन्तर्भाव हो जाता है। यों अह कालीन १५ मन्वन्तरों में १००० (सहस्र) चतुर्युगात्मिका सहस्र सौर–रश्मियों का भोग समन्वित हो जाता है। इसीका नाम है सूर्य्यसत्तात्मक अह काल, जिसे 'पुण्याह' (पुण्यदिन–पवित्र–दिन) कहा गया है, जिसका कि भारतराष्ट्र के तत्त्वज्ञ द्विजाति 'पुण्याहम् पुण्याहम्' रूप से अपने माङ्गलिक स्वस्तिवाचन–कर्म्म में सतत सस्मरण करते रहते हैं।

५२–मानवीय-चारअर्ब-बत्तीसकरोड-वर्षात्मक पुण्याहकाल का समन्वय—

तद्विध–१५ मन्वन्तरों से समन्वित सूर्य्यसत्तात्मक अह काल में जिन दिव्य–सहस्र–चतुर्युगों का भोग हो रहा है, जो दिव्य–सहस्र–चतुर्युग प्रत्येक मन्वन्तर में ७१–७१–चतुर्युगों की समष्टि से उपभुक्त है, १५ वें प्रातःसन्ध्यास्थानीय मन्वन्तर में ६ चतुर्युगों से उपभुक्त हैं, उन सहस्र–दिव्य–चतुर्युगों का अनन्त विस्तार सचमुच ही तो मानव के सीमित–प्राकृत–जीवन के समतुलन में अनन्ततम ही प्रमाणित हो रहा है। मुहूर्त्त से समतुलित एक मन्वन्तर, और उसमें ७१ चतुर्युगों का उपभोग। तात्पर्य्य यह निकला कि, ७१ (इकहत्तर) चतुर्युगों की समष्टिरूप एक मन्वन्तरभोगकाल में दिव्यवर्ष तो हुए, ८,५२००० (आठ लाख, बावनहजार), एवं मानववर्ष हुए ३०६८२०००० (तीस करोड, अड़सठलाख, बीसहजार)। अह कालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में सहस्र–रश्मियों के भोगानुपात से एक सहस्र तो चतुर्युग समाविष्ट हैं, एवं १५ (पन्द्रह) मन्वन्तर समाविष्ट हैं। इस दृष्टि से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि–एकहजार चतुर्युगों के दिव्यवर्ष तो हुए १२०००००० (बारह करोड), एवं मानववर्ष हुए ४३२००००००० (* चार अर्ब, बत्तीस करोड)। यही सम्वत्सरप्रजापतिरूप उपेश्वर का शतवर्षात्मक आयुर्भोगकाल है। मानवीय चार अर्ब बत्तीसकोटिमित वर्षों की समष्टि ही उपेश्वरप्रजापति का शतायुर्भोगपरिमाण है, सहज भाषा में यही सूर्य्यप्रजापति का आयुर्भोगकाल है। यों मानवत् उपेश्वरात्मक सूर्य्यप्रजापति भी अपने दिव्य-

---

*–एक चतुर्युग के मानुषवर्ष–४३२०००० (तितालीसलाख बीसहजार)

दस चतुर्युग के मानुषवर्ष–४३२००००० (चारकरोड बत्तीसलाख)

सौ चतुर्युग के मानुषवर्ष–४३२०००००० (तितालीसकरोड बीसलाख)

हजार चतुर्युग के मानुषवर्ष ४३२०००००० (चार अर्ब, बत्तीसकरोड)।

वर्षानुगत–माहस्त्रीभाव से शतायुः ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिस इस सौर आयुर्भोगकाल को आधार बना कर ही अब हमें बल्शेश्वरप्रजापति के शतायुर्भोगकाल का समन्वय–बोध प्राप्त कर लेना है।

५३–अहःकल्पसमतुलित रात्रिकल्प, एवं ब्राह्म–अहोरात्र का गणन–समन्वय—

एक सहस्र–दिव्यखण्ड–युगों की समष्टि का नाम ही एक 'महादिव्ययुग' है। सहस्र खण्डदिव्ययुगों में मन्वन्तरानुपात से सूर्य्य की सहस्ररश्मियों का सर्वात्मना भोग हो जाता है, और यही सूर्य्य की, किंवा तद्रूप उपेश्वरप्रजापति की जीवनसत्तानुगता इयत्ता है, जो कि इयत्ता पुराणपरिभाषानुसार ब्राह्म 'अहःकल्प' कहलाई है। बल्शेश्वरात्मक अव्यक्त ब्रह्म का एक अहःकाल (एक दिनमात्र) ही सूर्य्य का जीवनसत्ताकाल है। इसी से हमें स्वतः ही इस तथ्य पर भी पहुँच जाना पड़ता है कि, ब्रह्मा का रात्रिकल्प भी (एकरात्रि) उसी काल-इयत्ता से समन्वित है, जिस से अहःकल्प समन्वित है। अर्थात् १५ मन्वन्तरानुगत सहस्रचतुर्युगों जितना ही १५ मन्वन्तरात्मक–सहस्रचतुर्युगात्मक ही ब्रह्मा का रात्रिकाल है। इन दोनों अहः–रात्रि–कल्पों के संकलन से उसीप्रकार एक 'ब्राह्म–अहोरात्र' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जैसे कि ३० मुहूर्त्तात्मक–२४ होरानुगत एक मानुष अहोरात्र का स्वरूप व्यवस्थित है।

५४–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' मूलक–सर्गसंहारात्मक असंख्य मन्वन्तर, एवं कालपुरुष की अनन्तता—

ब्राह्म अहःकल्प में सूर्य्यात्मक उपेश्वरप्रजापति (सम्वत्सरप्रजापति-पार्थिव-चान्द्र-सम्वत्सर-समन्वित सौर सम्वत्सर) अपने सहस्रसंख्यामित रश्मिभावों का भोग समाप्त कर स्वप्रभव आपोमय-परमेष्ठीरूप महल्लक्षण अव्यक्त में ही विलीन हो जाते हैं, जो कि यह सौरब्रह्माण्डविलयन पुराणभाषा में 'खण्डप्रलय' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्दश मन्वन्तरात्मक, किंवा पञ्चदश मन्वन्तरात्मक ब्राह्म अहःकाल ही सूर्य्यसत्ताकाल है। एक अहःकल्प एक सूर्य्य का पूर्णायुर्भोगकाल है। अहःकल्पान्त में सहस्रांशु सूर्य्यनारायण स्वप्रभव भृग्वङ्गिरोमय आपोमय महन्मूर्त्ति पारमेष्ठ्य समुद्र में विलीन हो जाते हैं। पुनः भृग्वङ्गिरोऽत्रि–मूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में भार्गव दाह्य सोमाधार पर प्रतिष्ठित आङ्गिरस अग्नि के चितिरूप से लम्बलम्बायमान अग्निज्वालापुञ्जरूप धूमकेतु–माध्यम से नवीन सूर्य्य का प्रादुर्भाव हो पड़ता है। और यह सर्ग–विलयनात्मक धारावाहिक क्रम–'धाता यथा–पूर्वमकल्पयत्' रूप से अनाद्यनन्तकाल से शाश्वतीभ्यः समाभ्यः * (सदासदा के लिए) यों ही अबाधगति से प्रक्रान्त चला आरहा है। रात्रिकल्पानुगत–मन्वन्तरों से अनुप्राणित सूर्य्यविलयनात्मक खण्डप्रलय, एवं अहःकल्पानुगत मन्वन्तरों से अनुप्राणित–सूर्य्यसत्तात्मक–सर्ग, दोनों के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण महन्मूर्त्ति परमेष्ठी ही बने हुए हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है, जिस इस धारावाहिक अनाद्यनन्त सर्ग–विलयन के अनुपात से तो मन्वन्तरों की १५–३० संख्यानुगता इयत्ता का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। इस धारावाहिक चङ्क्रमण की दृष्टि से तो सौरसर्ग–लय–मूलक मन्वन्तर भी असंख्य ही प्रमाणित हो रहे हैं। सृष्टि–लय–भावों के इसी आश्चर्य्यपूर्ण आनन्त्य को लक्ष्य बना कर राजर्षि मनुने कहा है—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि, सर्गः–संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥ —मनुः १।८०।

---

* स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (ईशोपनिषत्)

५५--'ब्राह्मीतिथि' से समतुलित एक ब्राह्म-अहोरात्र, एवं इसके मानववर्षानुपात से आठ अर्ब चौंसठकरोड वर्ष--

एक सहस्र दिव्यखण्डयुगात्मक एक अहःकाल, एवं एक सहस्र दिव्यखण्डयुगात्मक ही रात्रिकाल, इन दोनों की समष्टिरूप एक ब्राह्म अहोरात्र का नाम ही है एक ब्राह्मकल्प, जिसे मानवपरिभाषा में एक 'ब्राह्मी-तिथि' कहा जा सकता है। जितना वर्षभोगकाल अहः का है, उतना ही वर्षभोगकाल रात्रि का है। अर्थात् १४ मन्वन्तरानुगत सहस्र-चतुर्युगों के १२ करोड दिव्यवर्ष, ४ अर्ब, बत्तीसलाख-मानववर्ष-जहाँ अहर्भोग-काल है, वहाँ १२ करोड दिव्यवर्ष, ४ अर्ब-बत्तीस करोड-मानववर्ष रात्रिभोगकाल है। सम्भूय एक ब्राह्म अहोरात्र में २४०००००० (चौबीस करोड) तो दिव्यवर्ष हो जाते हैं, एवं, ८६४०००००००० (आठ अर्ब, चौंसठकरोड) मानववर्ष हो जाते हैं, और यही है ब्रह्मा की एक तिथि, एक कल्प, किंवा एक अहोरात्र।

५६--त्रिंशत् (३०) ब्राह्म-अहोरात्रों के माध्यम से वल्शेश्वर के शतायुर्भोगकाल का गण-नात्मक समन्वय---

आठ अर्ब-चौंसठ करोड मानववर्षात्मक, एवं चौबीस करोड दिव्यवर्षात्मक एक ब्राह्म अहोरात्र को आधार बना कर ही अब वल्शेश्वर के आयुर्भोगकाल के आनन्त्य का साक्षात्कार कीजिए। ब्राह्म ३० अहो-रात्रों-कल्पों-तिथियों की समष्टि ही एक 'ब्राह्ममास' माना जायगा, जो कल्पात्मिका ब्राह्मी तिथियाँ क्रमशः श्वेतवराह-नीललोहित-वामदेव-रथन्तर-आदि नामों से प्रसिद्ध हैं निगमागमशास्त्र में, जैसाकि परि-लेख के द्वारा आगे चलकर स्पष्ट होने वाला है। एवंविध १२ मासों की समष्टि का नाम है एक 'ब्राह्मवर्ष'। और यदि परमेष्ठ्यनुगता लोकसाहस्री की अभी अभिव्यक्ति करली जाती है, तो ऐसे १०० वर्षों की समष्टि का नाम होगा एक 'ब्राह्मयुग,' यही वल्शेश्वर-का शतायुर्भोगात्मक आयु काल मान लिया जायगा। मन्वन्तर, कल्प, एवं वल्शेश्वर- के शतायुर्भोगकालों से अनुप्राणित कुछ एक परिलेखमात्र ही प्रकृत में उपनिबद्ध कर दिए जाते हैं, जिनके माध्यम से प्रज्ञाशीलों को स्वतः ही कालपुरुषानुगता अनन्तता का समन्वय करते रहना चाहिए शास्त्रतीर्थ्य ममाम्य। इस सम्बन्ध में पुनः यह स्मरण करा दिया जाता है कि, जिसप्रकार उपेश्वरप्रमत-सौरसम्वत्सर से सम्बन्ध रखने वाले दिव्ययुगात्मक कालपरिमाण का शतभाव भौमपरमण्डलानुगता वाक्साहस्री से सहस्रधा महिमान-सहस्ररूप में परिणत होता हुआ सहस्रशम्यनुबन्ध से सहस्रचतुर्युगात्मक रूपेण आनन्त्य का सम्राट बन जाता है, एवमेव प्रक्रान्त वल्शेश्वरमूर्ति ब्राह्मकालानुबन्धी शतवर्ष भी पार-मेष्ठ्या लोकसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र-सहस्र-भावापन्न उस महिमामय आनन्त्य के अनुगामी बन रहे हैं, जिन का अश्वत्थमूर्ति मायी महेश्वर की सहस्र वल्शाओं पर पर्यवसान होता है। इसी समतुलन को लक्ष्य बनाकर-महर्षि के द्वारा शत-सहस्र-दोनों भावों का समन्वयरूप से ही प्रतिष्ठापन हुआ है, जैसा कि-'वन-स्पते! शतवल्शो- विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम' [ऋक्सं० ३।८।११।] इत्यादि मन्त्रवर्णन में प्रमाणित है। वनस्पतिमध्यस्था यह उक्ति शतवल्शायुक्त वल्शेश्वर से समन्वित सहस्रवल्शामूर्ति अश्वत्थ-वृक्ष [महेश्वर] की ओर ही प्रतीकविधि से सङ्केत कर रही है। दिव्ययुगवत् यदि ब्राह्मयुग के शतभाव का भी लोकसाहस्री-निबन्धन समन्वय किया जाता है, तो मानवीया गणनप्रज्ञा सर्वथा ही कुण्ठित हो जाती है। परमपरार्ध्यमूला अन्तिम संख्या भी ब्राह्मयुगानुबन्धी सहस्रवर्षों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ बनी रह जाती है।

और यही है सादिसान्तभावापन्न भी काल की गणनानुगता वह अनन्तता, जिस के दिग्दर्शनार्थ ही यहाँ ब्रह्मयुगानुबन्धी–केवल शतभावानुगत अहोरात्र–मास–वर्ष–शतायु–भेद से चार प्रक्रमों के माध्यम से काल–गणना–परिलेख उपस्थित हो रहे हैं।

१–ब्राह्म अहोरात्र के [एक दिन रात के] दिव्यवर्ष—२४००००००००	दिव्यवर्षानुपात से ब्राह्म अहो-रात्र मास, वर्ष, एवं शतायुर्भोग-कालों का समन्वय
२–ब्राह्म अहोरात्र के [एक महीने के] दिव्यवर्ष—७२००००००००	
३–ब्राह्म वर्ष के [बारहमहीनों के] दिव्यवर्ष—८६,४०,०००००००००	
४–ब्राह्मशतायु के [सौवर्षों के] दिव्यवर्ष—८६,४००००००००००	
१–चौबीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्म अहोरात्र	
२–सात अर्ब, बीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्ममास	
३–छियासी अर्ब, चालीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्मवर्ष	
४–छियासी खर्ब, चालीस अर्ब दिव्यवर्षों के ब्राह्म सौवर्ष	

१–ब्राह्म अहोरात्र के [एक दिनरात के] मानववर्ष—८,६४०,०००००००	मानववर्षानुपातसे ब्राह्म–अहो–रात्र, मास, वर्ष एवं शतायुर्भोग–कालों का समन्वय
२–ब्राह्म मास के (एक महीने के) मानववर्ष—२,५६,२०,०००००००	
३–ब्राह्म वर्ष के (बारह महीनों के) मानववर्ष—३१,१०,४०,००००००००	
४–ब्राह्म शतायु के (सौवर्षों के) मानववर्ष——३१,१०,४०,०००००००००००	
१–आठअर्ब, चौसठ करोड़ मानववर्षों का एक ब्राह्मअहोरात्र	
२–दोखर्ब, उनसठअर्ब बीसकरोड़ मानवर्षों का एक ब्राह्ममास	
३–इकतीसखर्ब, दसअर्ब, चालीसकरोड़ मानववर्षों का एक ब्राह्मवर्ष	
४–इकतीसनील, दसखर्ब, दसअर्ब मानववर्षों के ब्राह्म सौ वर्ष	

५७--पुराणशास्त्र की चतुर्दशमन्वन्तरमूला सृष्टिविद्या—

मानव के लिए अपने उस पार्थिव अहोरात्र का स्वरूप-स्पष्ट है, जिसमें २४ तो होरा (घन्टा) हैं, ६० घटिका हैं, एवं ३० मुहूर्त्त हैं। प्रत्यक्षदृष्टानुभूत मानवीय इसी अहोरात्र के षट्त्रिंशत्सहस्र (३६००० छत्तीस-हजार) चक्र क्रमणभाव से मानव के शतायुर्भोगकाल की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। मानवीय ३६० अहोरात्रों की समष्टिरूप मानवीय एक वर्ष के षण्मासात्मक उत्तरायणकाल का नाम एक देव-अह है, एवं षण्मा-सात्मक-दक्षिणायनकाल का नाम एक देवरात्रि है, और यही दैव-अहोरात्र है, जिसके माध्यम से खण्डदिव्य-युगानुगता महादिव्ययुगव्यवस्था हुई है, जिसके दिव्यवर्षानुपात से १२००००० (बारहकरोड) तो दिव्यवर्ष हो जाते हैं, एवं ४३२००००००० (चार अर्ब बत्तीसकरोड) मानववर्ष हो जाते हैं। एतावन्मित मानववर्षात्मक, एवं द्वादशकोटिमित दिव्यवर्षात्मक इस काल का ही नाम है एक 'ब्राह्मअहः', और यही है दिव्ययुगावच्छिन्न सम्वत्सरमूर्त्ति-उपेश्वरप्रजापति का शतवर्षात्मक आयुर्भोगकाल, जिसमें १५ मन्वन्तर उपभुक्त हैं। पन्द्रह-मन्वन्तरों की समष्टि, किंवा एक ब्राह्मअहः—ही उपेश्वर की आयु की इयत्ता है, जो ब्राह्मी के सम्बन्ध से सहस्रधा वितायमान होने पर भी जिसे मान लिया गया है—शतायुरूप ही। निम्नलिखित परिलेख मुहूर्त्त-स्थानीय इन अह कालीन मन्वन्तरों के ही सग्राहक बन रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में प्रसङ्गविधया यह और जान लेना चाहिए कि, १५ मन्वन्तरों मे अह कालानुगत मन्वन्तर १४ चौदह ही हैं। क्योंकि एक मन्वन्तर प्रातःसन्ध्या में ही अन्तर्लीन बना रहता है। अतएव इसे अह कालभोग से पृथक् कर दिया गया है। यही कारण है कि, पुराणशास्त्र की मन्वन्तरमूला सृष्टिविद्याओं में 'चतुर्दश'-मन्वन्तर ही प्रमुख बने हुए हैं।

५८- ब्राह्म-अहःकाल के पूर्वपक्षीय सप्त मन्वन्तर, एवं उत्तरपक्षीय 'सावर्णि' नामक सप्त मन्वन्तर—

सौर सृष्टिकालानुबन्धी चौदह (१४) मन्वन्तरों के ७-७-मन्वन्तरों के दो प्रमुख क्रम व्यवस्थित हुए हैं, जिनका वैदिक विज्ञान की सुप्रसिद्ध 'उद्ग्राभ-निग्राभ-विद्या' से सम्बन्ध है। पूर्व का सप्तक उद्ग्राभभाव से, एवं उत्तर-सप्तक निग्राभभाव से समन्वित है। जिस क्रम से पूर्व सप्तक के सात मन्वन्तरों का क्रम-क्रमश उद्ग्राभ (विकासमूलक चढाव) होता है, उसी क्रमानुपात से उत्तर सप्तक के सातों मन्वन्तरों का क्रमश निग्राभ (ह्रासमूलक उतार) होता है। अतएव उत्तर सप्तक के सातों मन्वन्तरों की सामान्य-अभिधा 'सावर्णि' हो गई है। विकासदृष्ट्या जैसी स्थिति प्रथम (१) मन्वन्तर की है, ह्रासदृष्ट्या ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें (१४) मन्वन्तर की है। एवमेव २ का १३ वें से, ३ रा १२ वें से, ४ था ११ वें से, ५ वां १० वें से, ६ ठा ९ वें से, एवं ७ वां आठवें से समतुलित है। इस समतुलनात्मिका सवर्णता से ही ८-९-१०-११-१२-१३-१४-वें मन्वन्तर 'सावर्णि' कहलाने लग पड़े हैं। इस स्थिति को लक्ष्य बनाकर ही अब चौदहों मन्वन्तरों का परिलेख के द्वारा समन्वय कर लीजिए।

---
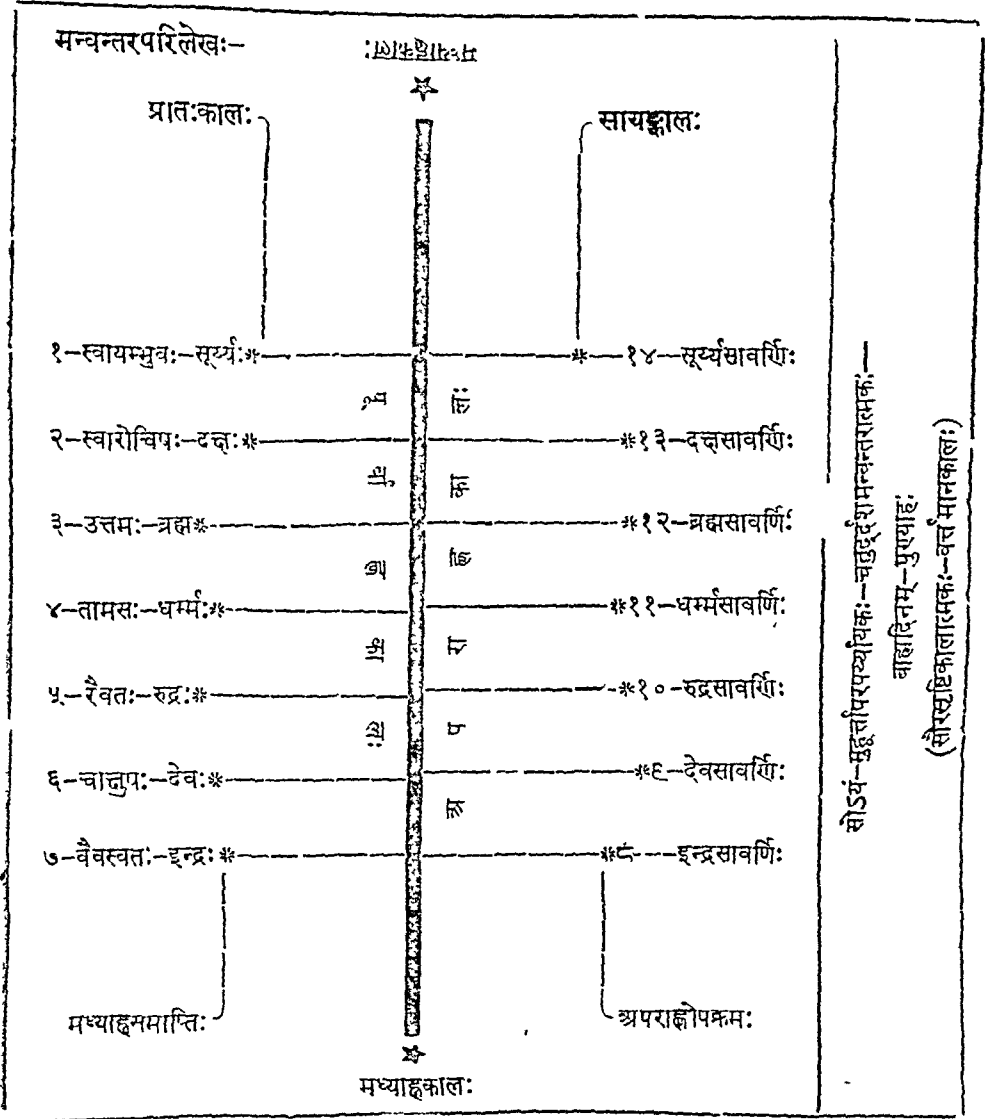
* सावर्णिः सूर्य्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः ।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम ॥
—मार्कण्डेयपुराण (सप्तशती)

तिथिस्थानीयः–ब्राह्म–अहःकल्पानुगतः–युगभोगात्मको मन्वन्तरपरिलेखः—

मन्वन्तर	भोगकाल			
१–स्वायम्भुवमन्वन्तरभोगकाल.	(१)–७१—७१	सौरद्युस्थिविकालात्मक पूर्वसप्तक. उद्ग्राभालिमा–श्रर्द्ध छहः	सौरसन्वत्सरात्मकस्य -उपेश्वरप्रजापतेः सप्तायुर्भोगकालोऽयं चतुर्दशमन्वन्तरात्मक	सहस्र (१०००) चतुर्युगभोगा अत्र प्रतिष्ठिता । सोऽयमहःकालो ब्रह्मणः प्रजापतेः
२–स्वारोचिषमन्वन्तरभोगकाल	(२)–७१–१४१			
३–उत्तममन्वन्तरभोगकालः	(३)–७१–२१३			
४–ताममन्वन्तरभोगकाल	(४)–७१–२८४			
५–रैवतमन्वन्तरभोगकाल	(५)–७१–३५५			
६–चाक्षुषमन्वन्तरभोगकाल	(६)–७१–४२६			
७–वैवस्वतमन्वन्तरभोगकाल.	(७)–७१–४९७			
८–इन्द्रसावर्णिमन्वन्तरभो०	(१)–७१–५६८	सौरद्युहिद्रात्मकालात्मक –उत्तरसप्तक निम्राभालिमा श्रर्द्ध छहः		
९–देवसावर्णिमन्वन्तरभो०	(२)–७१–६३९			
१०–रुद्रसावर्णिमन्वन्तरभो०	(३)–७१–७१०			
११–धर्मसावर्णिमन्वन्तरभो०	(४)–७१–७८१			
१२–ब्रह्मसावर्णिमन्वन्तरभो०	(५)–७१–८५२			
१३–दक्षसावर्णिमन्वन्तरभो०	(६)–७१–९२३			
१४–सूर्यसावर्णिमन्वन्तरभो०	(७)–७१–९९४			
*–प्रान सन्ध्यानुगतो भोगकाल ——६—१०००				

५९-ब्राह्ममासानुगता कल्पलक्षणा ३० तिथियाँ—

जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है, उक्त ब्राह्म अह काल की अवधि से समतुलित ब्राह्म रात्रिकाल के समन्वय से जिस एक ब्राह्म-अहोरात्र का स्वरूप-सम्पन्न हुआ है, वही एक देवसृष्टिकल्प (उपेश्वर-सृष्टि-महाकाल) कहलाया है, यही ब्रह्मा की एक 'तिथि' मानी गई है। जिसप्रकार मानवीय-मास में अहोरात्रात्मिका ३० तिथियाँ होतीं हैं, तथैव त्रिंशत्कल्पात्मक एक ब्राह्ममास के ये ३० कल्प ब्रह्मा की ३० तिथियाँ ही हैं, जिनके समन्वय से एक 'ब्राह्ममास' का स्वरूप-सम्पन्न हुआ है। परिलेख के द्वारा इन ब्राह्म तिथियों का भी साक्षात्कार करलेना चाहिए।

ब्राह्ममासानुगतः–तिथिभावपरिलेखः—

शुक्लकल्पाः–पञ्चदश				कृष्णकल्पाः–पञ्चदश
१–श्वेतवराहः–(प्रतिपत्) *	१	१६	*	१–नारसिंहः–(प्रतिपत्)
२–नीललोहितः-(द्वितीया) *	२	१७	*	२–समानः—(द्वितीया)
३–वामदेवः—(तृतीया) *	३	१८	*	३–आग्नेयः–(तृतीया)
४–रथन्तरः—(चतुर्थी) *	४	१९	*	४–सौम्यः—(चतुर्थी)
५–रौरवः——(पञ्चमी) *	५	२०	*	५–मानवः—(पञ्चमी)
६–प्राणः——(षष्ठी) *	६	२१	*	६–तत्पुरुषः—(षष्ठी)
७–बृहत्——(सप्तमी) *	७	२२	*	७–वैकुण्ठः—(सप्तमी)
८–कन्दर्पः——(अष्टमी) *	८	२३	*	८–लक्ष्मी—(अष्टमी)
९–सत्यः——(नवमी) *	९	२४	*	९–सावित्री—(नवमी)
१०–ईशानः——(दशमी) *	१०	२५	*	१०–अघोरः—(दशमी)
११–व्यानः——(एकादशी) *	११	२६	*	११–वराहः—(एकादशी)
१२–सारस्वतः—(द्वादशी) *	१२	२७	*	१२–वैराजः—(द्वादशी)
१३–उदानः——(त्रयोदशी) *	१३	२८	*	१३–गौरी——(त्रयोदशी)
१४–गारुडः——(चतुर्दशी) *	१४	२९	*	१४–महेश्वरः—(चतुर्दशी)
१५–कूर्म्मः——(पूर्णिमा) *	१५	३०	*	१५–पितरः——(अमावास्या)

ब्राह्मः–शुक्लपक्षः–पूर्णिमान्तः

ब्राह्मः–कृष्णपक्षः–अमान्तः

त्रिंशत् (३०)–कल्पाः–त्रिंशद्दिनानि–एको ब्राह्ममासः

६०–मायी महेश्वरानुगत शतायुर्भोगकाल की दुरभिगम्यतामूला अचिन्त्यता—

अब शेष रह जाते हैं मायी महेश्वर, जिनके शतायुर्भोगकाल की यथावत्–मीमांसा में तो मानव–प्रज्ञा सर्वथा कुण्ठित ही प्रमाणित हुई है, जिस इस अचिन्त्या–अनन्तता की ओर सङ्केत करने के लिए ही पुराणशास्त्र में मार्कण्डेय की आयु का विचार समन्वित हुआ है। सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से इस चतुर्थ आयु प्रक्रम के सम्बन्ध में केवल यही समन्वय कर लेना पर्याप्त होगा कि–छियासी अर्ब, चालीस करोड़ दिव्यवर्षात्मक, तथा इक्तीस खर्व, दस अर्ब, चालीस करोड़ मानववर्षात्मक काल अग्नीश्वरप्रजापति का एक वर्ष माना गया है (देखिए पृ० सं० ३१)। यही काल मायी महेश्वरात्मक सहस्रवल्शामूर्त्ति प्रजापति का एक अहःकाल माना जायगा, इतना ही काल महेश्वर की रात्रि मानी जायगी, जिसका अर्थ यही होगा कि–एक खर्ब, बहत्तर-अर्ब, अस्सीकरोड़ दिव्यवर्षात्मक (१७२८०००००००००), एवं बासठखर्ब–बीसअर्ब–अस्सीकरोड़–मानववर्षात्मक (६२२०८००००००००) काल एक 'माहेश्वर-अहोरात्र' होगा। ऐसे ३० अहोरात्रों की समष्टि (अर्थात ३० वर्षों की समष्टि) महेश्वरप्रजापति का एक मास होगा। ऐसे १२ मासों का एक महेश्वरवर्ष अनुमेय माना जायगा। एवं मानवीय मन के क्षणिक परितोषमात्र के लिए ऐसे १०० माहेश्वर वर्षों की समष्टि को महेश्वर का शतायुर्भोगकाल मानने की अक्षम्य धृष्टता करली जायगी, जबकि मानव के लिए तो उसके साक्षात्स्रष्टा संवत्सर-प्रजापतिमूर्त्ति सौर–उपेश्वर की कालावधि ही अचिन्त्या प्रमाणित हो रही है–'न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपु'।

६१–'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्यायेन वर्त्तमान सृष्टिकालभुक्त भोग्यपरिमाण-जिज्ञासा का उपक्रम—

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से अब इस प्रक्रान्त आयुर्भोगकाल के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। मायातीत अव्यक्त–परात्पर–परमेश्वर के अनन्त–असीम–क्रोड़ में बुद्बुदसम अवस्थित असंख्य मायी महेश्वर–विवर्त्तों में से जिस किसी एक मायावच्छिन्न मायी-महेश्वररूप-सहस्रवल्शामूर्त्ति-अश्वत्थेश्वर की पञ्चपुण्डीरा सहस्र–शाखाओं में से जिस किसी एक 'वल्शेश्वर' की आपोमयी पारमेष्ठ्य-सीमा के गर्भ में बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित–पृथिवीचन्द्रगर्भित सौरसम्वत्सरात्मक उपेश्वर के शतायुर्भोगकाल से अनुप्राणित मानव के साक्षात् आधारभूत इस एक सृष्टिकाल की अवधि के भुक्त–वर्त्तमान–भोग्य–भागों की कालइयत्ता की विश्राम-भूमियाँ कौन कौन सी हैं ?, यही वह शेष प्रश्न है, जिसका दो शब्दों में समन्वय कर यह आयुर्भोग-प्रसङ्ग उपरत हो रहा है।

६२–धार्मिक आचारानुगत 'संकल्पसूत्र' के माध्यम से प्रश्नत्रयी के समन्वय की चेष्टा–

सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल ही उपेश्वर का आयुर्भोगकाल है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इस एक वर्त्तमानकाल का ही नाम ब्राह्म अह है, जिसे 'पुण्याह' कहा गया है। इसी के माध्यम से हमें वर्त्तमानसृष्टिकाल के भुक्त–वर्त्तमान–भोग्य–इन तीनों प्रक्रमों का समन्वय करना है। कितना समय बीत चुका ?, कौनसा समय चल रहा है ?, एवं कितना काल शेष है अह कालात्मक वर्त्तमानकाल में ?, ये तीनों प्रश्न उक्त शेष प्रश्न के अङ्ग बने हुए हैं, जिन तीनों का समाधानकेन्द्र भारतीय आस्तिक मानवों का, धर्मनिष्ठ मानवों का दिग्देशकालानुबन्धी वह 'सङ्कल्पमन्त्र' ही बना हुआ है, जिस सङ्कल्पसूत्रसंस्मरण के बिना धार्मिक प्रजा के कोई भी विधि–विधान उपक्रान्त नहीं हुआ करते।

६३-श्वेतवाराहकल्पतिथ्यनुगत सृष्टिकालात्मक १४ मन्वन्तर—

ब्रह्मेश्वरात्मक ब्रह्मप्रजापति के तिथिस्थानीय जिन ३० कल्पों का परिलेख के द्वारा पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन में शुक्लपक्ष की प्रतिपत् (पड़वा) तिथि से समतुलित 'श्वेतवाराह' नामक प्रथम तिथि-कल्प ही ब्रह्मा के मास का प्रथम दिन है, प्रथम अहःकाल है। यही हमारा मूलभूत सौरकालात्मक वर्त्तमान-काल है, जिसका १४ मन्वन्तरों से सम्बन्ध माना गया है। एक ब्राह्म अहःरूप-श्वेतवाराहकल्पात्मक प्रथम (शुक्लप्रतिपत्) तिथिभावानुगत इस सृष्टिकाल के १-स्वायम्भुव, २-स्वारोचिष, ३-उत्तम, ४-तामस-५-रैवत, ६-चाक्षुष-नामक ६ मन्वन्तर भुक्त हो चुके हैं। सातवाँ '७-वैवस्वतमन्वन्तर' प्रक्रान्त है, जिसके भोगकालावसानानन्तर शेष ८-इन्द्र, ९-देव, १०-रुद्र, ११-धर्म्म, १२-ब्रह्म, १३, दक्ष, १४-सूर्य्य-नामक ७ (सात) सावर्णिलक्षण मन्वन्तरों का भोग होने वाला है क्रमशः। यही सृष्टिकाल का भोग्यकाल माना जायगा। इन सब के अवसानान्त पर सूर्य्य का शतायुःकाल समाप्त हो जायगा, यही हमारी एक सम्वत्सरसृष्टि की इयत्ता मानी जायगी। एवं इसी को आधार बना कर हमें अपनी सम्पूर्ण कालव्यवस्थाओं का समन्वय करना पड़ेगा।

६४-स्वायम्भुव मन्वन्तरादि चाक्षुष मन्वन्तरान्त-६मन्वन्तरों के भोगानन्तर सप्तम वैवस्वत-मन्वन्तरभोग की उपक्रान्ति—

स्थितस्य पुनः—गतिश्चिन्तनीया। वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्य ही हमारे वर्त्तमानसृष्टिकाल का साक्षी है, जिस इस सृष्टिसाक्षीरूप सूर्य्य का उदय हुआ था ब्रह्मात्मक उपेश्वरप्रजापति की शुक्लप्रतिपत्-तिथि के उप-क्रम में, जिस 'तिथिकल्प' को 'श्वेतवाराहकल्प' कहा गया है। अस्मिन् श्वेतवाराहकल्पे—सौरसृष्टिकाल के स्वायम्भुवादि चाक्षुषान्त ६ मन्वन्तर उपभुक्त हो चुके हैं, व्यतीत हो चुके हैं। एक एक मन्वन्तर में क्योंकि ७१-७१-चतुर्युगों का भोग होता है। अतएव ६ (छह) चतुर्युगों की समष्टिरूप प्रातःसन्ध्यात्मक मन्वन्तर-भोग काल के अनन्तर क्रमशः भुक्त होने वाले ६ छओं मन्वन्तरों में क्योंकि प्रत्येक के अनुपात से ७१-७१-चतुर्युगों का भोग हो चुका है। अतएव प्रातःसन्ध्या से आरम्भ कर छठे चाक्षुष-मन्वन्तरपर्य्यन्त ४३२ (चार-सौबत्तीस) चतुर्युग भुक्त हो चुके हैं। अब सहस्र (१०००) चतुर्युगों में से ५६८ (पान्सौ अड़सट) चतुर्युग भोगार्थ शेष रह जाते हैं, जिनमें से सातवें वैवस्वतमन्वन्तर के ७१ चतुर्युगों को इसलिए इन ५६८ चतुर्युगों में से पृथक् कर लेना है कि, सप्तम वैवस्वतमन्वन्तर का भोग आरम्भ हो चुका है। इस वैवस्व-तमन्वन्तरीय प्रक्रान्त भोग के माध्यम से ही सृष्टिकाल की इयत्ता समन्वय-सापेक्षा बन रही है।

६५-षट्-मन्वन्तरानुगता सृष्टिभुक्तकाल की इयत्ता का समन्वय-

७१-चतुर्युगों से समन्वित एक मन्वन्तर के दिव्यवर्ष तो हैं-८५२००० (आठलाख बावनहजार वर्ष), एवं मानुषवर्ष होते हैं-३०६७२०००० (तीसकरोड़, सड़सठलाख, बीसहजार)। क्योंकि स्वायम्भुव मन्वन्तर से आरम्भ कर चाक्षुषमन्वन्तर-पर्य्यन्त के ६ छह मन्वन्तरों का प्रथम-प्रतिपत्-स्थानीय श्वेतवाराहकल्प में भोग हो चुका है। अतएव षट्-मन्वन्तरों का भुक्त सृष्टिकाल दिव्यवर्षानुपात से तो ५,१,१२००० (इक्यावन-लाख, बारहहजार) दिव्यवर्षात्मक, हैं, एवं मानववर्षानुपात से १,४००,३,२०००० (एकअर्ब, चालीसकरोड़ तीनलाख, बीसहजार) मानववर्षात्मक है। यह है पूर्णमन्वन्तरानुगता षट्मन्वन्तरात्मिका भुक्तकाल की इयत्ता।

६६–सप्तम मन्वन्तर की ७१ चतुर्युगियों में से भुक्त काल की इयत्ता—

चाक्षुषमन्वन्तर के समाप्त होने के अनन्तर वर्त्तमान में ७ वें वैवस्वत मन्वन्तर का भोग चल रहा है, जिसके पूर्वानुपातानुगत ७१ चतुर्युगों में से अबतक पूरे २७ (सत्ताईस) चतुर्युगों का तो भोग समाप्त हो चुका है, जिस २७ चतुर्युग–समूह के मानववर्षों का अनुपात है–११६६ ४०००० (ग्यारहकरोड़, छाछठलाख, चालीस हजार) मानववर्ष। तदनन्तर आरम्भ होता है २८ वाँ चतुर्युग, जिसके सत्ययुग–त्रेतायुग–द्वापर–युग नामक तीन युग तो भुक्त हो चुके हैं, जिनके दिव्यवर्षों का अनुपात तो है–१०८०० (दसहजार आठसौ) दिव्यवर्षात्मक, एवं मानुषवर्षानुपात है–३८,८८००० (अड़तीसलाख अठ्यासीहजार–मानववर्षात्मक। अब अन्त में सम्मुख उपस्थित होता है २८ वीं चतुर्युगी का चतुर्थ युगात्मक वह कलियुग, जो आजकल वर्त्तमान है। पूर्णकलियुग के दिव्यवर्ष माने गए हैं १२०० (बारहसौ), एवं मानववर्ष माने गए हैं–४३२००० (चारलाख बत्तीसहजार)। इन कलिवर्षों में से कलिवर्षों के मानुषवर्षानुपात से १०८००० (एकलाख आठहजार के अनुपात से) चार विभाग मान लिए हैं, जो कलियुग के चार चरणों के स्वरूपसम्पादक बन रहे हैं *। सङ्कल्पानुसार चारों चरणों में से वर्त्तमान में प्रथम चरण का भोग चल रहा है, जैसाकि–'कलिप्रथमचरणे' इत्यादि सङ्कल्पवाक्य से स्पष्ट है। प्रथम चरणात्मक १०८००० मानुषवर्षों में से अबतक ५००० (पाँचहजारवर्ष) भुक्त हो चुके हैं। वर्त्तमान में छठी कलिसाहस्री की शती का भोग प्रक्रान्त है —।

६७–संकलनविधया अद्यावधि–भुक्त सृष्टिकालगणना का समन्वय

अब २८ वें चतुर्युग के चौथे कलियुग के ५००१ वें वर्ष का भोगकाल विक्रमसम्वत् १६५७ (उन्नीसौ सत्तावन) से हो गया है। ४३२००० (चारलाख बत्तीसहजार) मानववर्षात्मक कलियुग के इन शेष ५००० को निकालने पर ४२७००० (चारलाख सत्ताईसहजार) मानववर्षात्मक वर्षों का भोग होगा। तब कलियुग का भोग समाप्त होगा, एवं तभी चतुर्युगात्मक २८ वाँ विवर्त्त अट्ठाईसवाँ चतुर्युग) समाप्त माना जायगा। तदनन्तर इस प्रक्रान्त ७ वें वैवस्वत-मन्वन्तर की २८ से आगे की २९ से ७१ पर्य्यन्त की शेषभूत ४३ (तियालीस) चतुर्युगियों का क्रमिक भोग होगा, जिनकी इयत्ता मानववर्षानुपात से सम्भूय १८५७६०००० (अठारहकरोड़, सत्तावनलाख, साठहजार) मानववर्षात्मिका मानी जायगी, और यहाँ आकर ७ सातवाँ मन्वन्तर समाप्त होगा।

उक्त सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर की ७१ चतुर्युगात्मिका समष्टि के, अर्थात् एक मन्वन्तर के कुल मानववर्ष हुए ३०,६७,२०००० (तीसकरोड़–सड़सठलाख–बीसहजार)। इन में से २७ तो भुक्त चतुर्युग–समूह के मानववर्ष निकाल दीजिए। २८ वें चतुर्युग के सत्य–त्रेता–द्वापर-के भुक्त मानववर्ष निकाल दीजिए। इसी २८ वें चतुर्युग के अन्त के कलियुग के ५००० पाँचहजार भुक्तवर्ष निकाल दीजिए। एवं इन सब सप्तम मन्वन्तरीय भुक्त मानववर्षों का पहिले सङ्कलन कर लीजिए, जिस सङ्कलन का विश्राम होगा–निम्नलिखितरूप से—

---

*–सत्य–त्रेता–द्वापर–युगों में भी चार–चार चरण व्यवस्थित कर लेने चाहिएँ।

—विक्रमसं० १९५६ की समाप्ति पर कलिप्रथमचरण के पाँच सहस्र वर्ष समाप्त हो गए हैं, जिनके साथ ही सङ्घप्रवाह का गौरव उपशान्त होगया है, जैसाकि पुराणवचन से प्रमाणित है। स्पष्ट हुआ कि, १९५६ सम्वत् के अनन्तर छठी सहस्राब्दी–विंशा शताब्दी के भी वर्त्तमान सं० २०१४ पर्य्यन्त के अनुपात से ५७ वर्ष भुक्त हो चुके हैं। ५०५७ वर्ष भुक्त होकर अब सं० २०१४ तक ५०५८ वाँ कलिवर्ष चल रहा है।

अद्यावधि--भुक्त--सृष्टिकालपरिलेख:—

भुक्त (१)–स्वायम्भुवमन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० तीसकरोड़, सड़सठलाख, बीसहजार
भुक्त (२)–स्वारोचिषमन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (३)–उत्तममन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (४)–तामसमन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (५)–रैवतमन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (६)–चाक्षुषमन्वन्तर (७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त ६ छह–मन्वन्तरों के, किंवा ४२६ चारसौ छब्बीस चतुर्युगों के मानुषवर्ष	१,८४०३२०००० (एकअर्ब, चौरासीकरोड़ तीनलाख बीसहाजार)

सप्तम भुक्त वैवस्वत मन्वन्तर के २७ चतुर्युगों के मानुषवर्ष-११,६६,४०००० (ग्यारह करोड़ छाछठलाख चालीसहजार)

वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें सत्ययुग के भुक्त मानववर्ष——१७२८०००० (सत्रहलाख आठाईसहजार)

" " २८ वें त्रेतायुग के भुक्त मानववर्ष——१२९६००० (बारहलाख छिनवेंहजार)

" " २८ वें द्वापरयुग के भुक्त मानववर्ष——८६४००० (आठलाख चौसठहजार)

" " २८ वे कलियुग के भुक्त मानववर्ष—५००० (पाँचहजार)

स्वायम्भुवमन्वन्तरादि चाक्षुषमन्वन्तरान्त ६ मन्वन्तरों के चतुर्युगात्मक वर्षों का, एव सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के आरम्भ के चतुर्युग से २८ वें तीन युगों, तथा कलियुग के भुक्त वर्षों का मानववर्षात्मक–संकलन	–१९६०८५३००० (एकअर्ब, छिनवेंकरोड़, आठलाख त्रेपनहजारवर्ष)

आजतक (वि० सं० १९५९ पर्यन्त) भुक्त (व्यतीत होजाने वाले) सौरसृष्टिकाल की मानववर्षात्मिका–इयत्ता

६८–संकलनविधया अद्यप्रभृति–भोग्यसृष्टिकालगणनाका समन्वय—

(१) सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के २८ वें कलियुग के शेष मानुषवर्ष—	४२७००० (चारलाख, सत्ताइसहजार)
(२) सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के २९ से ७१ पर्यन्त के ४३–तियालीस चतुर्युगों के भोग्य–मानुषवर्ष	१८५७६०००० (अठारहकरोड, सत्तावनलाख, साठहजारवर्ष)
(३) अष्टम-(८) 'इन्द्रसावर्णि' नामक मन्वन्तर से आरम्भ कर चतुर्दश-(१४) 'सूर्यसावर्णि' नामक मन्वन्तर पर्यन्त उत्तरपक्षीय ७ सात मन्वन्तरों के भोग्य मानुषवर्ष	११४७०४०००० (एक अर्ब, चौदहकरोड, सत्तरलाख चालीसहजार वर्ष)
(४) चतुर्दशमन्वन्तरान्त में सन्धिकालानुगत भोग्य मानुषवर्ष—	२५९२०००० (दोकरोड, उनसठलाख, बीस हजार वर्ष)

२३५९१४७००० दो अर्ब पैंतीसकरोड, इक्यानवेलाख सैंतालीसहजार

मानवर्षात्मक–भोग्य–सृष्टिकाल

६९–भूत-भविष्यल्लक्षणा अक्षरप्रकृतिस्वरूपा महत्प्रकृति की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

'श्वेतवराह' नामक शुक्लप्रतिपत्स्थानीय–एक ब्राह्म अहःकाल में (स्वयम्भू के एक दिनमात्र में), एवं चतुर्दश मन्वन्तरात्मक-सूर्यसत्तानुगत-वर्त्तमान कालानुवर्त्ती एक सृष्टिकाल में (उपेश्वरप्रजापति के शतायुर्भोगकालात्मक एक कल्पसर्ग में) पूर्व–परिलेखद्वयी के अनुसार भुक्तसृष्टिकाल का परिमाण जहाँ १९६०८५३००० (एक–अर्ब, छियानवेकरोड, आठलाख, त्रेपनहजार मानववर्षात्मक) है, वहाँ भोग्यकाल २३५९-१४७००० (दोअर्ब, पैंतीसकरोड, इक्यानवेलाख, सैंतालीसहजार) मानववर्षात्मक है। इन दोनों भुक्त भोग्यरूप भूत–भविष्यत्–लक्षण कालों की मध्यस्थता में ही प्रक्रान्त–वर्त्तमान–सृष्टिकाल का सग्रह होता जाता है भुक्तरूप भूतकाल के, एवं भोग्यरूप भविष्यत्काल के अनुग्रह से। इस तथ्य के आधार पर अब हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि 'वर्त्तमान' का वर्त्तमानत्व वस्तुतः भूत-भविष्यत पर ही

अवलम्बित है। दूसरे शब्दों में अव्यक्त-भावापन्न भूत (भुक्त), एवं अव्यक्तभावापन्न ही भविष्यत् (भोग्य), दोनों की व्यक्तभावापन्ना क्षणभावमात्रनिबन्धना-तात्कालिकी अवस्थाविशेष का नाम हीं 'वर्त्तमान' है, जो वस्तुगत्या भूत, और भविष्यत् के अतिरिक्त अपना कोई भी तो स्वतन्त्र स्वरूप नहीं रख रहा, जैसा कि आगे के कालस्वरूप-विश्लेषात्मक सन्दर्भ में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृतिमूलक इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर 'भूतं भविष्यत्-प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। भूत, और भविष्यत्-दोनों हीं अपने अव्यक्तभाव से अनन्त हैं। अतएव तदभिव्यक्तिरूप-गणनात्मक वर्त्तमान को भी अन्ततोगत्वा अनन्त ही माना जायगा, जिसकी दिग्देशानुगता सोपाधिकी सादि-सान्तता को निमित्त बनाकर ही हम मानुष-दैव-ब्राह्म-ईश्वरीय-भेदेन चतुर्धा विभक्त प्राजापत्य-कालपुरुष को सादि-सान्त मानने का वाग्विजृम्भण करते जा रहे हैं। और नितान्त धृष्टतापूर्ण इसी वाग्-विजृम्भण के माध्यम से पुनः यह कहने की धृष्टता करने लग ही तो पड़ते हैं कि, भुक्त, एवं भोग्य-सृष्टिकालों के समन्वय से (संकलन से) एक ब्राह्मदिन, किंवा एक सौरसृष्टि-काल का परिमाण ४३२०००००० (चारअर्व, बत्तीस करोड़) मानववर्षात्मक प्रमाणित हो रहा है, जिसके एक अर्व, छिनवेंकरोड़ आठलाख, त्रेपनहजार-मानव-वर्षात्मक वर्ष तो विक्रम सम्वत् १९५६ पर्य्यन्त भुक्त बन चुके हैं, एवं वि० सं० १९५७ से शेष दोअर्व, पैंतीसकरोड़, इक्यानवेंलाख, सैंतालीसहजार भोग्यवर्ष भुक्ति के अनुगामी बन गए हैं।

स्मरण रहे-उक्त कालानुपात अर्द्धतिथ्यात्मक ही है, केवल ब्राह्म अहः से ही अनुप्राणित है। इतना हीं कालपरिमाण ब्रह्मा की एक रात्रि का होगा। दोनों के समन्वय से एक ब्राह्म अहोरात्र का काल व्यवस्थित होगा, और तब 'श्वेतवराह' शुक्ल-प्रतिपत् नाम की एक तिथि सुसम्पन्ना बन सकेगी। ऐसी ३० तिथियों से अनुगत कालपरिमाण ब्राह्ममासात्मक काल होगा। ऐसे द्वादश मासों से अनुगत कालपरिमाण वल्शेश्वर का शतायुर्योगकालात्मक काल होगा, जिस इस आश्चर्य्यपूर्ण महदानन्त्य को स्मृत्वा स्मृत्वा हम तो रोमहर्ष का ही अनुभव कर रहे हैं।

७०–अर्वाचीन-भावुक-प्रज्ञाओं की आत्मस्वरूपविमूढ़ता, एवं भारतराष्ट्र के मौलिक स्वरूप का अभिभव—

मन्वन्तरविश्रामूलक उक्त पौराणिक–कालगणना-प्रसङ्ग को वर्त्तमानयुग की भूतावेशविष्टा भावुक प्रज्ञाएं अवश्य ही 'पौराणिक-गप्प' कह कर उपेक्षित मान सकती है, मानती ही चली आरही है विगत अनेक शताब्दियों से एकान्ता दासता के निग्रह से। अपने आप को परिपूर्ण सांस्कृतिक–शास्त्रमर्मज्ञ–तत्त्व–निष्ठ भी मानते मनवाते रहने वाले अर्वाचीन भारतीय–विद्वान भी 'पुराण' नाम श्रवण से ही उत्तेजित हो पडते हैं। और भारतवर्ष की संस्कृति–सभ्यता–स्रोत के महान् प्रवाहरूप इस गरिमामहिमामय पुराण–शास्त्र की, अत्र-उपवर्णित सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश वंशानुचरित-मन्वन्तर-गाथा-कल्पशुद्धि-डामर-जामल-तन्त्र-ज्योतिष्चक्र–भुवनकोश–आख्यान–उपाख्यान–आदि आदि की अपने कल्पित बुद्धिवाद के व्यामोहन में आकर न केवल उपेक्षा ही करने लग पडते हैं, अपितु संस्कृति–सभ्यता के महान प्रतीकभूत 'आर्य्य–सर्वस्वात्मक' इस महत्त्वपूर्ण पुराणशास्त्र की वैसी मलीमस–आलोचना में भी प्रवृत्त हो पडते हैं, जिसे कर्णा–कर्णिपरम्परया सुनने पर यही कह देना पडता है कि, अनन्तपुरुष की अनन्तता को विस्मृत कर देने वाला भारतराष्ट्र अनात्मवादमूलक-शून्यवाद से समन्वित होता हुआ जडभूतवादात्मक प्रकृतिवाद में आपादमस्तक निमज्जित बनकर अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर बैठा है।

७१–'सप्तहोता'- यज्ञमूलक सप्त–मन्वन्तरसर्ग, एवं तदाराधन में प्रवृत्ति—

'सप्तहोता' नाम की सुप्रसिद्धा प्रकृतिसिद्धा यज्ञप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली सप्तमन्वन्तर–रूपा पूर्वपक्षीया सर्गपद्धति के, एवं सप्तमन्वन्तरीया ही उत्तरपक्षीया सर्गपद्धति के तात्विक-वेदसिद्ध–स्वरूप के आधार पर प्रतिष्ठिता चतुर्दशमन्वन्तरमूला सर्गविद्या के आनन्त्य से अनुप्राणित गणनात्मक अनन्तकाल की उपासना में तो सभी सफलता प्राप्त की जा सकती है, जबकि हम अपने बुद्धि–मन.–शरीर–निबन्धन–प्राकृत स्वरूप को अनन्त 'आत्मपुरुष' के साथ समन्वित करलें। आत्मपुरुषानुगत उसी महिमामय आनन्त्य के काल–प्रतीक-माध्यम से दिग्दर्शन कराने के लिए ही तो हमें प्रसङ्गवश मन्वन्तरमूलक कालगणनाप्रसङ्ग का आश्रय लेना पडा है, जिस कालाश्रयता के माध्यम से ही अब हमें कालपुरुष की तदनुगता आराधना में प्रवृत्त होना है।

७२–भाति, तथा सत्ता–सिद्धा कालद्वयी के माध्यम से अनन्तकालानुगता अनन्तकालोपासना में प्रवृत्ति—

'दिक्–देश–काल–स्वरूप–मीमांसा'–नामक प्रस्तुत–प्रक्रान्त निबन्ध में आरम्भ से अबतक 'काल' को लक्ष्य बनाकर जो कुछ निवेदन किया गया है, उस का गणनात्मक उस 'भातिसिद्धकाल' से ही सम्बन्ध माना जायगा, जिस के माध्यम से अवश्य ही यद्यपि कालानुगता अनन्तता का आभास तो प्रतीत–होने लगता है। तदपि एतावता ही सत्तोपलब्धिरूप से उस अनन्तता का मानवप्रज्ञा के साथ अन्तर्याम-सम्बन्ध नहीं हो पाता कालगणनाभिका इस प्रातिभासिकी अनन्तता से। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, गणनानन्त्यलक्षण, मन्वन्तरानुबन्धी भातिसिद्ध काल गणनातीत जिस सत्तासिद्धकाल का प्रतीकमात्र है, उसका आश्रय ग्रहण करते हुए ही हमें कालपुरुष के सत्तासिद्ध–सत्तोपलब्धिरूप–आत्मलक्षण–आनन्त्य की उपासना में ही प्रवृत्त होना चाहिए, जिस के महिमामय विवर्त ही क्रमश काल–दिक्–देश–रूप में परिणत हो रहे हैं।

७३--तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या के स्वरूप की विलुप्ति, एवं कालस्वरूप की दुर्विज्ञेयता---

सत्तासिद्ध काल का जो सत्तात्मक स्वरूप प्रक्रान्त होने वाला है, तत्सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना कदापि अतिमान नहीं माना जायगा कि, लक्षीभूत–प्रतिपाद्य वह कालस्वरूप अनेक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञाशीलों के लिए भी अन्तर्हित ही बनता चला आरहा है। कारण इस अन्तर्हितता का स्पष्ट है। तत्त्वात्मिका जिस त्रयीविद्या के माध्यम से हम अत्र सत्तासिद्धकाल के आचारात्मक–स्वरूप को उपक्रान्त करने वाले हैं, उस त्रयीविद्या के तत्त्वात्मक–मौलिक स्वरूप की व्याख्या से भारतीय प्रज्ञाएँ अनेक शताब्दियों से पराःपरावत प्रमाणित होती हुई वर्ण–स्वर–शब्द–पद–वाक्य–मन्त्रादि की समष्टिरूप शब्दग्रन्थात्मक वेदशास्त्र को ही ईश्वर–निःश्वासरूप–अपौरुषेय-वेद मानती, और मनवाती चली आरही है अभिनिवेशपूर्वक, जबकि तत्त्वात्मिका अपौ–रुषेया वेदत्रयी वैसा तत्त्व है, जिसे माध्यम बना कर ही उपेश्वरप्रजापति पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–नामक तीनों लोकात्मक प्रदेशरूप **देशों** के, पूर्वादि **दिग्भावों** के, एवं मन्वन्तरानुगत–गणनात्मक **कालविवर्त्तों** के अभि–व्यञ्जक बन पाते हैं ❋।

७४--त्रयीतत्त्वमूलक सत्तासिद्ध अनन्तकाल के चिरन्तन इतिवृत्त का उपक्रम—

त्रयीविद्यामूलक सत्तासिद्ध अनन्तकाल अपने अमूर्त्तभाव से क्योंकि अत्यन्त ही दुरधिगम्य–दुर्विज्ञेय बना हुआ है। अतएव कालस्वरूपजिज्ञासु–मानवश्रेष्ठों से तत्स्वरूपोपवर्णन के उपक्रम में ही हम यह आवेदन कर देना चाहेंगे कि, वे अनुग्रह कर अपनी निरापदा–स्वस्था, एवं प्रकृतिस्था–शान्तप्रज्ञा के माध्यम से ही इस कालस्वरूपमीमांसा को लक्ष्य बनावें। क्योंकि कल्पनाप्रसूत थोड़ा भी बुद्धिवादात्मक–आत्मस्वरूपविमोहन हमारी लोक-प्रज्ञा को कालस्वरूप के सहजसिद्ध ऋजुभाव से पराङ्मुख प्रमाणित कर सकता है। अब-'**त्रयीमयाय-त्रिगुणात्मने नमः**' इस सुप्रसिद्ध आर्षसूत्र का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए ही सत्तासिद्ध–कालपुरुष के दिक्–देश–कालानुबन्धी–चिरन्तन–इतिवृत्त की उपासना में प्रवृत्त होने की धृष्टता उपक्रान्त हो रही है।

७५–मन्वन्तरमूलक सौर हृद्य--मनुके ज्योतिर्गौरायुर्विवर्त्त---

मन्वन्तरमूलक–कालगणन का मूलाधारबिन्दु सूर्य्यकेन्द्रस्थ अव्ययमनोमूर्त्ति मनुतत्त्व है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जो सौर मनुभाव नवबिन्दुमात्रा में वितत बृहतीछन्दोमय अक्षरप्राण के कारण 'स्वः' (स्वरः) है, गौतत्त्व के कारण 'अहः' है, एवं यज्ञप्रवर्त्तक त्रयस्त्रिंशत् ज्योतिर्म्मय दिव्यप्राणों के कारण 'देवाः' है। '**स्वरहर्देवाः सूर्य्यः**' (शत०) इत्यादि शातपथी श्रुति सूर्य्य के स्वरात्मक **स्वभाव**, आलोकात्मक **अहोभाव**, एवं प्राणात्मक **देवभाव**, इन तीन दिव्यभावो की ओर ही सङ्केत कर रही है। इन तीन तत्त्वो के माध्यम से ही सौर यज्ञ त्रिसंस्थ बना हुआ है, जो तीनों संस्थाएँ क्रमशः **ज्योतिष्टोम–गोष्टोम–आयुष्टोम** नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोताविज्ञान की अपेक्षा से सौर मनोता–तत्त्व **ज्योतिः–गौः–आयुः**–इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। ज्योतिर्भाव 'देवाः' से, गौभाव 'अहः' से, एवं आयुर्भाव 'स्वः' से समतुलित है। देवभावात्मक

❋ तत्त्ववेद के इस तात्त्विक स्वरू–समन्वय के लिए तो १५०० पृष्ठात्मिका–खण्डत्रयात्मिका--'**उप--निषद्–विज्ञानभाष्यभूमिका**' ही देखनी चाहिए, जो प्रकाशित हो चुकी है। प्रकृत में तो इस तत्त्ववेद का सङ्केतमात्र ही समाविष्ट हुआ है कालस्वरूपानुबन्ध से।

ज्योतिर्भाव से ज्योतिष्टोम का, अर्थभावात्मक गोभाव से गोष्टोम का, एवं स्वभावात्मक आयुर्भाव से आयुष्टोमयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

७६-त्रिसंस्थ सौरयज्ञ, एवं तन्मूलक उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मभाव—

क्या तात्पर्य्य सिद्ध हुआ उक्त यज्ञत्रयी से ?, प्रश्न है। कालपुरुष के आनन्त्य की जिज्ञासा करने वाले मानव का सर्वस्व स्वरूप इस त्रिसंस्थ सौर यज्ञ पर ही अवलम्बित है। एवं इस यज्ञस्वरूप के माध्यम से ही मानव अपने प्रभव अनन्तकाल की उपासना में सफल हो सकता है। स्थूलदृष्ट्या मानव की स्वरूपसंस्था में (१) हृदयस्थ-आत्मा, (२) मध्यस्थ-प्रज्ञान-(मन)-विज्ञान (बुद्धि)-प्राणयुक्त इन्द्रियवर्ग, एवं (३) उपरिस्थित पाञ्चभौतिक-शरीर, ये तीन संस्थाएँ सर्वानुमत नहीं, तो सर्वश्रुत तो अवश्य ही हैं—(आत्मनिष्ठ आस्तिक मानवों की सर्वता के अनुबन्ध से)। मानव का आत्मभाव आयुष्टोमयज्ञ से अनुप्राणित है, मनोबुद्धिसमन्वित इन्द्रियभाव ज्योतिष्टोम से समुद्भूत है, एवं पाञ्चभौतिक शरीरभाव गोष्टोम से प्रभूत है। यों मानव का सभी कुछ तो ज्योतिर्गौरायुष्टोमयज्ञमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण पर ही अवलम्बित है। आयुष्टोममय स्वभाव मानव के आत्मा को ज्ञानशक्ति प्रदान कर रहा है, ज्योतिष्टोममय 'देवभाव' मानव के इन्द्रियवर्ग को क्रियाशक्ति प्रदान कर रहा है, तो गोष्टोममय अर्थभाव मानव के शरीर को अर्थशक्ति प्रदान कर रहा है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमान् मानव की इन शक्तियों के उक्थ (प्रभव)-ब्रह्म (प्रतिष्ठा)-साम [समभावात्मक साम्य, एवं परायणभाव] लक्षण आत्मा ज्योतिर्गौरायुर्म्मय सूर्य्यनारायण ही बन हुए हैं, जैसा कि—*'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'* इत्यादि यजु श्रुति से प्रमाणित है।

७७-सूर्य्यानुगत त्रित्वधर्म्म की उपपत्ति का त्रिवृत्करणात्मक समन्वय—

अब एक प्रासङ्गिक प्रश्न और शेष रह जाता है इस सम्बन्ध में। तत्समाधान का समन्वय और कर लीजिये। सूर्य में त्रित्वधर्म्म का समावेश कैसे हुआ ?, यही वह प्रश्न है, जिसका उत्तर **'आत्मा उ एक सन्नेतत्त्रय-त्रय सदेकमयमात्मा'** इस श्रौत सिद्धान्त पर अवलम्बित है। बतलाया गया है कि, सूर्य्यकेन्द्रस्थ 'मनु' तत्त्व 'अव्ययपुरुषात्मक' रूप मन से अभिन्न है। यही सूर्य्यकेन्द्रस्थ वह हृद्य आत्मा है, जिसका अनुग्रह तदभिन्न मनु (गोपिक नियामक विश्राम), एवं मनावी (मनुपत्नी-श्रद्धा) के द्वारा प्राप्त हुआ करता है। मनोमय सृष्टिसाक्षी यही अव्ययात्मा अपने महिमाभाव से क्रमशः 'मन-प्राण-वाक्' रूपेण तीन त्रित्वा में परिणत हो रहा है। अव्ययात्मानुगत इस त्रित्व के कारण ही सौर मनु से अनुगत सौर तत्त्वों के त्रि-त्रि-विवर्त्त हो जाते हैं। ज्ञानशक्तिघन मन, क्रियाशक्तिघन प्राण, एवं अर्थशक्तिमयी वाक् से ही पूर्वोक्त विविध-त्रिकभाव उदित हो पड़ते हैं, जिन त्रिकों से रोदसीत्रिलोकीरूपा सम्वत्सरत्रिलोकी का आविर्भाव हुआ है, जो कि लोकत्रयात्मक सम्वत्सर ही अपने सत्तासिद्ध-अमृत-अनन्त-कालमाध्यम से उस निरपेक्ष-अनन्त-अव्यय-ब्रह्म का प्रतीक बना हुआ है। निम्नलिखित परिलेख से इन सम्पूर्ण त्रिकभावों का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

७८–सौर ज्योति-गौ-रायु-सम्बन्धी काल-दिक्-देश–भावों का समन्वय—

सौर मनु से समन्वित अव्ययपुरुष ही अपने ज्ञानशक्तिघन मनोभाव से आगे जाकर 'कालस्वरूप' में परिणित होता है, जिस कालविवर्त्त का आयुः–स्वः–भावानुबन्धी 'आयुष्टोमयज्ञ' से सम्बन्ध माना गया है। एवमेव अपने क्रियाशक्तिघन प्राणभाव से वही अव्ययपुरुष 'दिक्स्वरूप' में परिणित होता है, जिस दिग्विवर्त्त का ज्योतिः–देवाः–भावानुबन्धी 'ज्योतिष्टोमयज्ञ' से सम्बन्ध है। एवमेव च अर्थशक्तिघन वाग्भाव से वही अव्ययब्रह्म 'देशस्वरूप' में परिणत होता है, जिस देशविवर्त्त का गौः–अहः–भावानुबन्धी 'गोष्टोम–

यज्ञ' से सम्बन्ध है। इसप्रकार सूर्य्यकेन्द्रस्थ—आणोरणीयान्—मन-प्राण-वाग्रूप—ज्ञानक्रियार्थशक्तिघन—'शाश्वत-ब्रह्म' रूप अव्ययपुरुष ही अपने हृद्य मनु के माध्यम से मन्वन्तर के द्वारा सौर आयु—ज्योति—गौ—नामक स्तोमयज्ञों से क्रमशः काल—दिक्—देश—महिमाओं में परिणत हो रहा है, जैसा कि आगे चल कर विस्तार से स्पष्ट होने वाला है।

१—अव्ययमनोमावेन—आयुष्टोमद्वारा—कालविवर्त्ताविर्भाव २—अव्ययप्राणमावेन—ज्योतिष्टोमद्वारा दिग्विवर्त्ताविर्भाव ३—अव्ययवाग्भावेन—गोष्टोमद्वारा—देशविवर्त्ताविर्भाव	षोडशाविवर्त्ते पुरुष (अव्यय)—षोडशम (मानव)

१—कालमूर्त्ति सूर्य्य—मनोमयेन मनुमावेन (काल) २—दिङ्मूर्त्ति सूर्य्य—प्राणमयेन मनुमावेन (दिक्) ३—देशमूर्त्ति सूर्य्य—वाङ्मयेन मनुमावेन (देशः)	ग्रह सूर्य्य इत्यादि

७६—'ब्रह्म' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्मूलक विश्वपदार्थों के जन्म-स्थिति-भङ्ग-भाव, एवं क्षरब्रह्म की उपादानकारणता—

दिग्देशकालस्वरूप के इस दुरधिगम्य—दुर्विज्ञेय—प्रसङ्ग—समन्वय—की अपेक्षा से आज हम अपने प्रज्ञाशील—पाठकों का ध्यान उस 'ब्रह्म' शब्द की ओर ही आकर्षित करना चाहते हैं, जो सृष्टिविज्ञान—परिभाषाओं के अन्तर्मुख हो जाने से अत्यन्त ही भ्रामक बना हुआ है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यादि औपनिषद वचनों से अनुप्राणित जो कोई तत्त्वविशेष है, उसी तत्त्वविशेष का नाम 'ब्रह्म' है (तद्ब्रह्म)। इसी से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न भूत इसी को आधार बना कर उपजीवित हैं, एवं आयुःकालसमाप्त्यनन्तर वे सम्पूर्ण भूत अन्ततोगत्वा इसी ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इसप्रकार 'ब्रह्म' नामक वही तत्त्वविशेष सम्पूर्ण भूत-भौतिक-प्रपञ्च का उत्पत्ति-स्थान—प्रतिष्ठास्थान—एवं लयस्थान बना हुआ है। और ऐसे जन्म-स्थिति-भङ्ग ('जन्माद्यस्य यतः'-ब्रह्मसूत्र) के प्रवर्त्तक इस 'ब्रह्म' तत्त्व के 'प्राकृत' स्वरूप का सृष्टिविज्ञानात्मक समन्वय न कर सकने के कारण ही भ्रान्तिवश अभिनव-व्याख्याताओं ने निर्भ्रान्त भी उक्त श्रुतिमूलक 'ब्रह्म' शब्द को भ्रान्त प्रमाणित कर दिया है। क्षरविशिष्ट अक्षर-प्रकृति का नाम ही यहाँ तत्त्वविशेषात्मक वह ब्रह्म है, जिसे श्रुति ने 'जन्म—स्थिति भङ्ग' का कारण बतलाया है। प्रकृति का अक्षररूप तो अपने सहज अव्यक्त—अमूर्त्त—धर्म्म से जन्मादि भावों का पारम्परिक निमित्त (निमित्तकारण) ही बनता है। साक्षात् कारण (उपादानकारण) तो अक्षरानुगता व्यक्ता क्षर-प्रकृति ही बनती है। अतएव तत्त्वतः अक्षराविनाभूता व्यक्ता क्षरप्रकृति को ही 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बनता है, जिसका अर्थ होता है-'वैसा उपादानकारण, जिससे भौतिक विश्व मूर्त्तस्वरूप में परिणत हो जाया करता है'।

यही 'जातानि'-'जीवन्ति','अभिसंविशन्ति' का स्वारस्यार्थ है। और 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'-'क्षरः सर्वाणि-भूतानि' इत्यादि स्मार्त्त वचन इसी क्षरप्रकृति का समर्थन कर रहे हैं। अतएव सृष्टि-सर्ग-प्रसङ्गानुगत-सृष्टि-भावसापेक्ष-जन्मस्थितिभङ्गप्रवर्त्तक श्रौत 'ब्रह्म' शब्द सर्वत्र 'अक्षरानुगता क्षरप्रकृति' के ही वाचक माने जायँगे, माने गए हैं। यही प्रकृति 'ब्रह्म' है, एवं यह ब्रह्म ही विश्वरूप में परिणित हो रहा है। और इसी प्रकृतिभूत-ब्रह्मतत्त्व का नाम है—'काल', जो अपने सोपाधिक काल-दिग्-देश-भावों से भौतिक विश्व का सर्वस्व बना हुआ है।

८० -अक्षरविशिष्ट क्षरात्मक कालरूप ब्रह्म के आधारभूत निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप-परिचय—

सोपाधिक दिग्-देश-काल-भावों से समन्वित अक्षरविशिष्ट क्षरात्मक कालरूप 'ब्रह्म' तत्त्व जिस किसी अचिन्त्य तत्त्व का महिमामय-एकांशात्मक-विवर्त्त भाव है, कालाधारभूत, किन्तु कालातीत, एवं महाकाल के भी कालस्वरूप उसी तत्त्व को विश्वातीत 'पुरुष' कहा गया है, जिसे व्यवहारभाषा में हम 'अव्यय' कहा करते हैं। क्षराक्षरात्मक कालविवर्त्त को पृथक् करके जब उस अव्ययपुरुष को हम अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो उस अवस्था में वही सर्वधर्म्मनिरपेक्ष, सर्वातीत, निरञ्जन, निर्विकार, द्वैत-अद्वैतातीत, सदसदतीत, मायातीत, प्रमाणित होता हुआ अपने इस 'विश्वातीत' स्वरूप से सर्वथा अचिन्त्यकोटि में ही आजाता है, जिसके सम्बन्ध में चिन्तनशीला मानवप्रज्ञा, किंवा मानवप्रकृति किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा में प्रवृत्त नहीं हो सकती। तत्सम्बन्ध में मानवीय मन कोई जिज्ञासा नहीं कर सकता। क्योंकि उस निरपेक्ष विश्वातीत परात्पराभिन्न अव्ययपुरुष में तत्त्वमीमांसा का, जिज्ञासाभावों के आधारभूत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-जैसे प्राकृतभावों का यत्किञ्चित् भी तो समावेश नहीं है। प्राकृतब्रह्मस्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र * कुण्ठित हैं उसके स्वरूप-वर्णन में। त्रैलोक्यसर्ज्जक पारमेष्ठ्य विष्णु असमर्थ हैं उसकी इयत्ता करने में। तत्त्ववेदसर्ज्जक स्वायम्भुव-अव्यक्त ब्रह्मा भी अपने योगमायानुबन्ध से इधर ही रह जाते हैं उससे। मानव की वाणी भी मनको साथ लेकर प्रकृतिचिन्तन पर ही समाप्त हो जाती है। वही वह निरपेक्ष 'ब्रह्म' है, जिससे पूर्वोक्त सापेक्ष प्रकृतिब्रह्म का आविर्भाव हुआ है महिमारूप से, जो कि महिमाभाव वेदान्तभाषा में 'विवर्त्त' नाम से प्रसिद्ध है।

८१-ब्रह्म के चार पाद, एवं इसके 'एकपादरूप' 'एकांश' से जगद्विवर्त्त का आविर्भाव—

क्या वह अचिन्त्य-निरपेक्ष-विश्वातीत-ब्रह्मरूप अव्ययपुरुष सर्वात्मना विवर्त्तभाव में परिणित हो गया है ?। नहीं। अपितु-'एकांशेन जगत् सर्वम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार उस अचिन्त्य विश्वातीत तत्त्व का एक अंश ही जगद्विवर्त्तरूप में परिणित हुआ है। क्या अर्थ है इस 'एकांश' का ?, प्रश्न की मीमांसा अत्र

---

* सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
अन्यदेव तद् विदितात्, अथो अविदितादधि।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ इत्यादि।

सम्भव नहीं है । इसके लिए तो वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'चतुष्पाद्ब्रह्मविद्या' का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय अपेक्षित है, जिसका मूलाधारसूत्र माना गया है-'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष, पादोऽस्येहाभवत्पुन' इत्यादि यजुर्मन्त्र । मनस्तुष्टिमात्र के लिए, किंवा सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए इस सम्बन्ध में अब एतावन्मात्र ही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्रकृति की भावुकतापूर्णा भाषा में 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर' रूप से ब्रह्म के चार पाद-चरण-मान लिए जा सकते हैं । इन चारों में से परात्पर सर्वथा निरपेक्षब्रह्म है, अव्यय साक्षीब्रह्म है, अक्षर निमित्तब्रह्म है, एवं क्षर आरम्भकब्रह्म, किंवा उपादानब्रह्म है । उपादान-निमित्त-साक्षी-निरपेक्ष-इन चारों भावों में से विश्वस्वरूप की इयत्ता का मापदण्ड उपादानकारण ही तो माना जायगा, जो कि उक्त चतुष्पाद्ब्रह्म का चतुर्थांश प्रतीत हो रहा है । निरपेक्षरूप परात्परपाद, साक्षी अव्ययपाद, निमित्त-अक्षरपाद, इन तीन पादों-चरणों से तो वह अचिन्त्य पुरुषब्रह्म विश्वधर्मों से, विश्वविवर्त्तभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बना रहता है । इसका एकमात्र चतुर्थांशरूप-उपादानकारणात्मक क्षरपाद ही जगद्विवर्त्तरूप में परिणत हुआ है । और इसी भावुकतापूर्ण मान्यतामात्र के माध्यम से 'एकांशेन जगत् सर्वम्' के समन्वय की धृष्टता की जा सकती है ।

८२-चतुष्पाद्ब्रह्म के 'एकांश' शब्द का पारिभाषिक समन्वय—

वस्तुतस्तु एक अनन्त समुद्र का अञ्जलिमात्रमित पानी जैसे समुद्र का 'एकांश' माना गया है, वैसा सा ही भाव यहां के 'एकांश' शब्द का प्रतीत हो रहा है । 'यत्किञ्चित्'-'स्वल्पमात्र'-'थोडा सा' आदि वाक्यों से परिगृहीत भाव ही 'एकांश' का समर्थक बना हुआ है । 'वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्त्वम्' इत्यादि भागवतीय * वचन भी इसी भाव का समर्थन कर रहा है । अंश, अर्थात् अणुभाव । अणुभाव, अर्थात् पञ्चतन्मात्रारूप क्षर के गुणभावों की अग्रिम अवस्थारूप रेणुभूतात्मक अणुभूत । गुण-रेणु-अणु-परमाणु-भेदभावान्वित-क्षरब्रह्म की गुणभूतानुगता रेणुभूता अणुता के आधार पर भी 'एकांश' का समन्वय किया जासकता है, जो कि समन्वय उस त्रिपाद्विभूति के समतुलन में तो स्वल्पतमांश ही प्रमाणित होगा । वस्तुतस्तु विवर्त्तभावात्मक महिमामात्र में अंश-अंशी,-अवयव-अवयवी-जैसी प्राकृत-कल्पनाओं का समावेश ही असम्भव है । ऐसी स्थिति में 'एकांशेन' का साधारण सा यही समन्वयार्थ सम्मत प्रतीत होरहा है कि-अनन्तब्रह्म को यदि अपने पूर्णात्मक भाव से सहस्रभावात्मक ÷ मान लिया जासकता है, सहजभाषानुसार उसे यदि सहस्ररश्मिरूप मान लिया जासकता है, तो उसकी हजारवीं रश्मि ही उसका एकांश माना जायगा । और वह एकांश ही 'सृष्टि' का सम्पूर्ण इतिवृत्त व्यक्त कर देने के लिए पर्य्याप्त बन जायगा । 'मण' के समतुलन में 'कण' भी एकांश ही कहा जायगा । 'पर्वत' के समतुलन में 'राई' भी एकांश ही मानी जायगी । एक गजराज, और एक पिपीलिका (चिऊँटी), दोनों का क्रमशः मण, और कण से समन्वय

---

* क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्त्वम् ॥
—श्रीमद्भागवते

÷ सहस्रशीर्षा पुरुषः-सहस्राक्षः-सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । (यजुःसंहिता-३१।१।)

माना गया है, जैसाकि–'**हाथी को मण, और कीड़ी को कण**' इस राजस्थानीया किंवदन्ती से स्पष्ट है। कण मण का चतुर्थ भाग कदापि नहीं है। फिर भी है तो कण मण का एकांश ही। इसप्रकार की यत्किञ्चित्–भावानुगता एकांशता के लिए ही हमारे प्रान्त में–'**किणका मातर**' (कणमात्र) वाक्य प्रसिद्ध है।

८३–एकांशतानुगत व्यावहारिक लोकपक्ष, एवं 'राई के ओट पर्वत' सूक्तिका समन्वय—

क्या 'किणकामातर' रूप कण केवल कण होने से ही महत्त्वशून्य बन गया ? । कदापि नहीं । जो स्वरूप, जो महिमा मण की हैं, वही कण की है। तभी तो आर्षपरम्पराओं का उपासक भारतीय आस्तिक मानव अन्नराशि से इतस्ततः विकीर्ण (बिखर जाने वाले) अन्नकणों को भी बीन–बीन कर '**अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व**' मूला उपासना की भावना से उन्हें पूज्यबुद्धि से मस्तक के लगाकर अन्नराशि से समन्वित कर दिया करता है। इस ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि में तो सभी ब्रह्म की ही विभूति है। इस विभूतिपथ के अनुगमन करने वाले के लिए 'निरर्थक'–'उपेक्षणीय'–'त्याज्य'–'हेय'–जैसा कोई भी तो विश्वपदार्थ नहीं है। यही तो इसका आत्मसाम्यमूलक वह समदर्शन है, जिसके अनुग्रह से ही इसने विश्वशान्ति का संरक्षण किया है सदा से ही। अभिनव भारतराष्ट्र की '**अल्पबचत योजना**' सफल बन ही तब सकती है, जबकि उसे ब्रह्ममूलिका महिमामयी-एकांशता का स्मरण करा दिया जाय। बिना ब्रह्मसाम्य के, आत्मनिष्ठा के केवल भूतदृष्टि के माध्यम से, धर्म्मनिरपेक्षा भूतभावना के माध्यममात्र से तो कदापि भारतवर्ष में ऐसी शून्य योजनाएँ सफल नहीं हो सकतीं। '**राई के ओट पर्वत**' कहणावत (किंवदन्ती) का भी यही अर्थ है। कहाँ पर्वत, और कहाँ राई ?। फिर भी कहा यह जाता है कि, राई की ओट में पर्वत छिपा हुआ है । सत्यञ्चैतत् । कणमात्रभावापन्ना राई सर्वात्मना पर्वतमहिमा को अभिव्यक्त कर रही है, जैसाकि आगे आने वाले कालोदाहरणों से स्पष्ट होने वाला है । '**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**'–'**इह चेदवेदीत्–अथ सत्यमस्ति**' इत्यादि वचन कणभावानुगता इसी विश्वमहिमा का यशोगान कर रहे हैं। जो स्वरूप अनन्तकाल का है, वही स्वरूप एक क्षण–निमेष–का है। जो महत्त्व कोटिकोटिमिता द्रव्यराशि का है, वही महत्त्व एक पण (पैसे) का है। जो मानव काल के क्षण का महत्त्व नहीं समझता, उसके कोई उद्देश्य सफल नहीं होसकते। एवमेव जो एक पण का महत्त्व नहीं समझता, कदापि वह सम्पत्तिशाली नहीं बन सकता । क्योंकि जो महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है। यह अणोरणीयान् भाव सर्वात्मना अपने महतोमहीयान् स्वरूप को ही अभिव्यक्त कर रहा है। क्योंकि अणु महान् का ही महिमारूप है, जिसे 'विवर्त्त' कहा जाता है। "**सम्पूर्ण विश्व उसका एकांश है,**" इस वाक्य का तात्पर्य्य एक ओर 'अणोरणीयान्' भाव है, तो दूसरी ओर यही उसका महिमारूप भी बना हुआ है। तभी तो–'**एतावानस्य महिमा–अतो ज्यायांश्च पूरुषः**' (यजुःसंहिता) यह कहा गया है। और यही प्रसङ्गोपात्त विश्वविवर्त्तात्मक 'एकांश' शब्द का अर्थसमन्वयात्मक प्रासङ्गिक दृष्टिकोण है।

८४–ब्रह्म की 'एकांशता' के समन्वय के लिए 'अध्यासवाद' की भ्रान्त कल्पना, एवं तत्सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों का महान् व्यामोहन—

परात्परात्व्ययाक्षरमूर्त्ति विश्वातीत पुरुषब्रह्म के एकांशरूप क्षरब्रह्मात्मक 'ब्रह्म' से उपबृंहित विवर्त्त का, महिमाभाव का ही नाम जब 'विश्व' है, तो इस एकांशरूप को, दूसरे शब्दों में उस महतोमहीयान् के

समतुलन में अणोरणीयान् (एकाश) बने रहने वाले इस विश्व को–'एतावानस्य महिमा' रूपेण श्रुति ने कैसे महिमारूप बतला दिया ?, यह मूलप्रश्न है । विश्वातीत निरपेक्ष अचिन्त्य ब्रह्म अपने एकाश से विवर्त्तभाव के द्वारा विश्वरूप में परिणत हो रहा है, यह अबतक का निवेदन–निष्कर्ष है । अचिन्त्य ब्रह्म की विश्वविवर्त्तात्मिका–विश्वरूपा इस 'एकाशता' का समन्वय कैसे हो ?, कैसे यह प्रमाणित किया जाय कि, वह अचिन्त्य–अनन्त–अमूर्त्त–अव्यक्त–निरपेक्ष–ब्रह्म चिन्त्य–मूर्त्त–व्यक्त–सापेक्ष विश्वरूप में परिणत होगया ?, इस दुरधिगम्य अचिन्त्य–अव्यक्त प्रश्न का समन्वय मानव अपनी व्यक्त-भाषा में कैसे, किस माध्यम से करे ?, यही पूर्व के मूलप्रश्न की वे व्याख्याएँ हैं, जिनके सम्बन्ध में जगन्मिथ्यात्व-समर्थक–मायावादी–अभिनव वेदान्तभक्तानें 'अध्यास' नाम के शब्द का डिण्डिमघोष कर डाला है, जिस इस अध्यास–भावना के द्वारा ये दार्शनिक–धुरीण वेदान्ती ब्रह्म की एकाशता के समन्वय में अभिनिवेशपूर्वक प्रवृत्त होते हुए विश्वानिबन्धन काल्पनिक दृष्टान्तों के माध्यम से उस अचिन्त्य ब्रह्म को इस चिन्त्य विश्व में व्यष्टि–रूप से अध्यस्त ही मान रहे हैं । समन्वयात्मक उदाहरण उपलब्ध ही नहीं हो सका इन अध्यासवादी भावुक–दार्शनिकों को । अतएव मृगमरीचिका, शशशृङ्ग, शुक्तिरजतभाव, स्थाणुपुरुषभाव, वन्ध्या-पुत्रभाव, आदि आदि काल्पनिक–मूर्त्त–दृष्टान्तात्मक व्यष्ट्यात्मक उदाहरण ही इनके कल्पित–अध्यासवाद के महान् ? उदाहरण बने हुए हैं । अहो ! महतीय विडम्बना विवर्त्तशब्दस्य । 'विवर्त्त' शब्द की इसी अध्यासार्थता से उस सर्वविनाशक काल्पनिक जगन्मिथ्यात्ववाद का आविर्भाव हो पड़ा है इन दार्शनिकों के द्वारा, जिस जगन्मिथ्यात्वमूला महती भ्रान्ति के भयानकतम दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की राष्ट्रनिष्ठा तथाकथित दार्शनिकयुग से उत्तरोत्तर दासता की ही अनुगामिनी बनती चली आरही है विगत तीन सहस्र–वर्षों से ।

८५–अध्यासवादमूलक मूर्त्त–भौतिक दृष्टान्तों की अन्ततोगत्वा 'सिद्धान्त' रूप में परिणति, अतएव च प्रतीकात्मक इन मूर्त्त दृष्टान्तों की आत्यन्तिक निरर्थकता—

दृष्टान्तों में सृष्टिविज्ञानानुबन्धी सुसूक्ष्म नियमानुसार कितना कैसा तथ्य है ?, प्रश्न को अभी छोड़ देते हैं * । केवल विश्वधर्म्म की दृष्टि से ही जब हम इन दृष्टान्तों को लक्ष्य बनाते हैं, तो सहसा हमारे मानस में करुणभाव ही अभिव्यक्त हो पड़ते हैं इन दार्शनिकों के प्रति । व्यष्ट्यात्मक ये सभी दृष्टान्त मूर्त्त–व्यक्त–भौतिक–विश्व की भूतमर्य्यादाओं से समन्वित हैं । सभी दृष्टान्त मर्त्यभावापन्न हैं, क्षरभावापन्न हैं, मूर्त्तभावापन्न हैं, जिनके माध्यम से हमारे ये दार्शनिक बन्धु अमूर्त्त–अचिन्त्य–अनन्त–ब्रह्म की एकाशता के समन्वय में व्यग्र बने हुए हैं । इस व्यग्रता का यही परिणाम होता है, जो हुआ करता है । सजातीय–अनुरूप–समान-धर्म्मा दृष्टान्त अपनी अनुरूपता से शनैः शनैः लक्षीभूत सिद्धान्त के प्रति आचारधर्म्मात्मिका बुद्धि के माध्यम से सचित्-मूला निष्ठा के जनक बनते हुए जहाँ अन्ततोगत्वा तटस्थ बन जाते हैं, वहाँ विजातीय–प्रतिरूप–विषमधर्म्मा दृष्टान्त अनुकरणधर्म्मा मन के माध्यम से अपनी प्रतिरूपता से शनैः शनैः बहिर्भावानुगता भावुकता को लक्ष्य बनाते हुए अन्ततोगत्वा स्वयं ही सिद्धान्तरूप में परिणत हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में–विजातीय दृष्टान्त आरम्भ में दृष्टान्त प्रतीत होते हुए भी

*–अन्य निबन्धों में इन दृष्टान्तों के शैथिल्य का विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है । तदर्थ ईशविज्ञानभाष्यादि ही द्रष्टव्य हैं ।

अन्ततोगत्त्वा सिद्धान्त ही बन जाया करते हैं। कैसे ?, तो उदाहरण से समन्वय कर लीजिए। उपासना-काण्ड से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीकात्मक माध्यम उपास्य की प्राणात्मिका शक्तियों की ओर सङ्केतग्रह करा देने की सीमापर्य्यन्त तो प्रतीकधर्म्म से जहाँ मान्य है, वहाँ यदि इन्ही को उपास्य के अङ्ग मान लिया जाता है, तो अव्यक्त उपास्य इन व्यक्त प्रतीक–माध्यमों पर ही विश्रान्त हो जाता है। एवं परिणामस्वरूप उपासनात्मक लक्ष्य ही उच्छिन्न हो जाता है। प्रतीक माध्यममात्र हैं, उपास्य नहीं। प्रतीक ही जहाँ धर्म्म बन बैठते हैं, वहाँ धर्म्म का मौलिक स्वरूप ही अन्तर्हित हो जाता है। सत्यभाषण-दया–अहिंसा–अस्तेय–आदि आदि धर्म्म के प्रतीकमात्र हैं, अनुरूप प्रतीकमात्र हैं। ये ही जब धर्म्म बन जाते हैं, तो इनके साथ 'आग्रह' मूला आसक्ति हो पड़ती है। यह आग्रहासक्ति ही सूक्ष्म–शाश्वत–धर्म्म से मानवीय प्रज्ञा को पृथक् कर देती है। जबकि अनुरूप–समानधर्म्मा-सजातीय भी प्रतीक विवेक के अभाव से यों सिद्धान्त बन बैठते हैं, तो जो प्रतीक, किंवा उदाहरण, किंवा दृष्टान्त सर्वथा विजातीय हैं, उनकी मध्यस्थता तो सर्वथा प्रत्येक दशा में सिद्धान्त ही बन बैठती है, जिसके *प्रत्यक्षोदाहरण* पूर्वोक्त *मृगमरीचिका–स्थाणुपुरुषादि* विजातीय–प्राकृतिक (वैकारिक) उदाहरण ही बने हुए हैं।

८६--मूर्त--दृष्टान्तानुगत--'अध्यास' सम्बन्ध का दिग्दर्शन—

अनन्त ब्रह्म में विश्व उसी प्रकार एकांश से अध्यस्त है, जैसेकि मरीचिका में मृग के लिए जल प्रतिष्ठित है, किंवा एक निर्जीव काष्टस्थूण में द्रष्टा के लिए पुरुष प्रतिष्ठित है, किंवा स्वप्नजगत् में स्वप्नद्रष्टा के लिए विविध दृश्य प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य यह हुआ कि, जल के अभाव में भी मृग को मरीचिका में जल का प्रतीत होना ही मरीचिका में जल का अध्यास माना गया है। चेतनपुरुष के अभाव में भी एक काष्ठस्थूणा में द्रष्टा को पुरुष की प्रतीति हो जाना ही स्थाणु में पुरुष का अध्यास है। किसी भी वास्तविक दृश्य के विद्यमान न रहने पर भी स्वप्नदशा में स्वप्नद्रष्टा को विविध दृश्यों का प्रतीत होजाना ही स्वप्न में कल्पित-दृश्यों का अध्यास है। मरीचिका–स्थाणु–स्वप्न–में जल–पुरुष-दृश्यजगत् का वस्तुतः अभाव है। किन्तु मृगादि को मरीचिकादि में जलादि की प्रतीति होने लग पड़ती है। जिस सम्बन्ध से इस प्रतीति का उदय हो पड़ता है, उस सम्बन्ध का नाम ही दर्शनभाषा में–'अध्यास सम्बन्ध' है। एवं एतादृश उदाहरणों के माध्यम से ही दार्शनिकोंनें ब्रह्म के एकांशरूप–विश्व के साथ ब्रह्म का अध्यास सम्बन्ध स्थापित किया है।

८७–अध्यासमूलक प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों के महद्दुष्परिणामस्वरूप ही 'जगन्मिथ्यात्त्व' रूपा भ्रान्त-कल्पना का उदय, एवं इसी भ्रान्ति से ब्रह्म की अनन्त विभूतियों की अन्तर्म्मुखता—

दर्शनाभिमत उक्त–'अध्यास' भाव के इतिवृत्त को आधार बना कर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्तब्रह्म के एकांश से सम्बन्ध रखने वाले 'विवर्त्त' भाव के समन्वय के लिए दार्शनिकों नें जिन भौतिक–मूर्त्त–व्यक्त-मर्त्य–वैकारिक दृष्टान्तों को माध्यम बनाया, वे दृष्टान्त ही अपनी प्रतीकरूपा विभिन्नता से अन्ततोगत्त्वा सिद्धान्त बन बैठे। फलस्वरूप ब्रह्म की अनन्तविभूतिरूप, ब्रह्मविवर्त्तरूप विश्व का पर्य्यवसान 'मिथ्या' भाव पर ही होगया, जिस इस जगन्मिथ्यात्त्वरूपा भ्रान्ति ने ही अनन्त की यच्चयावत् अनन्तविभूतियों को तो अन्तर्म्मुख बना ही दिया। इसके साथ ही ब्रह्म की अनन्तता भी एक इत्यन्ता
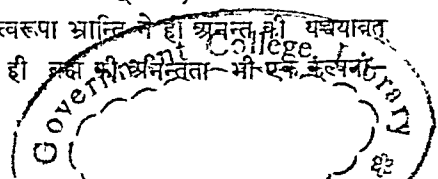
प्रसूनमात्र बन कर ही विश्रान्त हो गई। कारण स्पष्ट है। दार्शनिक-भावुकता की ओर से मृगमरीचिकादि जितने भी दृष्टान्त उपस्थित हुए, वे सभी अपने मूर्त्त-वैकारिक-भाव से सापेक्ष ही थे, जबकि ब्रह्म स्वयं सर्वथा निरपेक्ष है अपने अमूर्त्तभाव से। ऐसे अमूर्त्त-निरपेक्ष-ब्रह्म के सम्बन्ध में उपस्थित मूर्त्त-सापेक्ष दृष्टान्तों का तो प्रवेश भी निषिद्ध ही माना गया है।

८८-अनन्तब्रह्म के साथ अमूर्त्त काल-दृष्टान्त की अनुरूपता, एवं तत्स्वरूपान्वेषणोप-क्रम—

अनन्तब्रह्म के एकांश से महिमारूप-विवर्त्तभावमाध्यम से व्यक्त होने वाले विश्व को अनन्तब्रह्म से समतुलित करने के लिए तो किसी ब्रह्मसजातीय-अनन्त-अव्यक्त-निरपेक्ष-वैसे दृष्टान्त को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा, जो एक ओर अपने सोपाधिक-व्यक्त-मूर्त्त, अतएव सापेक्ष दिक्-देश-काल-भावों से जहाँ एकांशेन समुद्भूत विश्व की स्वरूपव्याख्या का विज्ञानविधया समन्वय कर देगा, वहाँ वही दूसरी ओर अपने निरुपाधिक-अव्यक्त-अमूर्त्त, अतएव निरपेक्ष, अतएव ब्रह्मसमतुलित प्रातिस्विक अनन्त अमूर्त्त 'काल' रूप से विश्वाधारभूत ब्रह्म की अनन्तता का स्थापन करता हुआ कलङ्कजीवन् स्वयमपि अपने से अभिन्न अनन्त आत्मब्रह्म में ही विलीन होजायगा। अतएव च ब्रह्म की अनन्तता के तटस्थ-बोध के लिए, एवं अनन्तब्रह्म के एकांश से महिमात्मक विवर्त्तरूपेण आविर्भूत विश्व के आधारभूत एकांश की अनन्तता के समन्वय के लिए, इस आनन्त्य-समन्वय के माध्यम से सादिसान्तभावात्मकरूपेण प्रतीयमान विश्व की भी परमार्थदृष्टिमूला अनन्तता के समन्वय के लिए अमूर्त्तभावापन्न काल को ही एकमात्र निर्भ्रान्त दृष्टान्त माना जायगा, जिस इस दृष्टान्तात्मक काल के दिक्-देशानुबन्धी मूर्त्तकाल पर ही भौतिक-मूर्त्त-दृष्टान्तवादी दार्शनिकों की प्रज्ञा परि-समाप्त होगई है। अजस्र अमूर्त्तकालानुबन्धिनी सर्गमहिमा का समन्वय सम्भव ही नहीं हो सका है दार्शनिकों के लिए। ऐसा क्यों, और कैसे घटित-विघटित हो पड़ा ?, प्रश्न सचमुच दुरधिगम्य है, जबकि दार्शनिक-वर्ग ने भी उसी वेदशास्त्र को आधार मान कर तत्त्वसमन्वय की चेष्टा की है, जिस वेदशास्त्र को आधार बना कर ही हम 'कालदृष्टान्त' को मध्यस्थ बनाने जारहे हैं अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध 'कालसूक्त' की आश्रयता से। हमारी दृष्टि में प्रश्न सर्वथा भावुकतापूर्ण है, जबकि मान्यतावादियों के लिए प्रश्न दुरधिगम्य ही माना जासकता है।

८९-नित्यसिद्ध आधिदैविक-सत्यसर्ग से पराङ्मुखता, तत्परिणामस्वरूप तत्त्वात्मक नित्यवेद की विस्मृति, तन्मूलक काल्पनिक अध्यासवाद, एवं तदनुबन्धिनी दार्शनिक-मान्यताएँ, तथा उनकी निस्सारता—

जिस दार्शनिक-मान्यता में 'वेद' केवल शब्दब्रह्मात्मक शास्त्र का ही नाम हो, जो मान्यता विश्वो-त्पादक-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रारूप तत्त्वात्मक वेदस्वरूप से सर्वथा पृथक् हो गई हो, अतएव जिसके लक्ष्य में तत्त्ववेदमूला नित्यविज्ञानसिद्धा-अधिदैवतभावान्विता सृष्टिविद्या की कोई स्वरूपव्याख्या न हो, इस सर्गव्याख्या के अभाव से ही जिसने 'सत्य-ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' के 'नित्य-विज्ञान-आनन्द-ब्रह्म' रूप विश्व जैसे महिमाभाव को 'मिथ्या' मान बैठने की महती भ्रान्ति करते हुए कर्मत्यागानुगता कल्पित-सन्यासभावना का आविर्भाव कर डाला हो, उसकी दृष्टि में यदि अमूर्त्त-अनन्तकाल का सृष्टिसाक्षी तत्त्वात्मक-वेदात्मक-स्वरूप न आया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। और इसी सत्यसिद्ध कालसर्ग के बोधाभाव से वह वेदशास्त्र

को आधार बना कर भी सर्गमहिमा का समन्वय करने में भी यदि असमर्थ बनी रह गई हो, तो इस प्रश्न में भी कोई दुरधिगम्यता नहीं है। यद्वा तद्वास्तु। दार्शनिक–मान्यताओं का स्वरूप–विश्लेषण हमारा लक्ष्य नहीं हैं। हमें तो स्वयं वेदशास्त्र के वेदपदार्थ को लक्ष्य बना कर ही अमूर्त्तकाल के दृष्टान्त–माध्यम से वेदतत्त्व–सिद्ध सृष्टि–सर्गव्याख्या के द्वारा ही लक्षीभूत दिग्देशकालस्वरूपों की आराधना में प्रवृत्त होना है। एवं इन सोपाधिक अनुबन्धों के आधारभूत अमूर्त्तकाल की अनन्तता के माध्यम से ही अनन्तब्रह्म की अनन्तता के स्वरूपदर्शन में तटस्थरूपेण प्रवृत्त होने की धृष्टतामात्र कर लेनी है। और आचारनिष्ठानुगत विज्ञ–पाठकों से उपक्रम में ही यह भी निवेदन कर ही देना है कि,–अमूर्त्त–निरपेक्ष–काल के सत्तासिद्ध–आनन्त्य–समन्वय का जो प्रयास अत्र उपक्रान्त हो रहा है, उसे वे अत्यन्त ही अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाने का अनुग्रह करेंगे। क्योंकि यह पारिभाषिक समन्वय उस तत्त्ववेद से ही सम्बद्ध है, जिसका स्वरूप शताब्दियों से भारतीय प्रजा से पराङ्मुख बन चुका है।

६०–पाञ्चभौतिक विश्वानुबन्धी मूर्त्त पदार्थों की सापेक्षता—

भूत–भौतिक–व्यक्त–भावापन्न वैकारिक–पदार्थों की उत्पत्ति–वृद्धि–स्थिति–परिवर्त्तन–आदि आदि समस्त वैकारिकभाव परस्पर अन्योऽन्याश्रित ही बने रहते हैं। प्रत्येक भौतिक पदार्थ अन्य पदार्थों की आश्रयता से ही अपने वैकारिक–भावों की स्वरूपसत्ता में समर्थ बनता है। यही पारस्परिक–आश्रयता वैदिक-परिभाषा में–**'अन्न–अन्नादभाव'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थों को खाकर ही, लेकर ही स्वस्वरूप से उपजीवित है। इस दृष्टि से सभी पदार्थ अन्नादरूपेण खाने वाले भी हैं, एवं अन्नरूपेण खाए जाने वाले भी हैं। **'सर्वमिदमन्नम्–सर्वमन्नादः'** (शतपथब्राह्मण) इत्यादि श्रुति से समर्थित भौतिक पदार्थों में परस्पर व्याप्त, अन्योऽन्याश्रयमूलक यह आश्रित–आश्रय-भाव ही **'अपेक्षाभाव'** कहलाया है। एवं इस अन्न–अन्नादमूलक अपेक्षाभाव के सम्बन्ध से ही पाञ्चभौतिक महाविश्व के सभी पदार्थ समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से–**'सापेक्ष'** बने हुए हैं।

६१–सापेक्ष पदार्थों की गणनानुगता अनन्तता, एवं काल–दिक्–देश–माध्यम से उन अनन्त–सापेक्षभावों का तीन वर्गों से संग्रह—

अनन्त–असंख्य हैं ये भूत–भौतिक–पदार्थ, जिनका गणनात्मक संख्यानुपात मानवप्रज्ञा के लिए सर्वथा दुरधिगम्य ही बना हुआ है। गणितशास्त्र के सभी अङ्क इनके आनन्त्य-परिगणन में असमर्थ ही बन जाते हैं अन्ततोगत्वा। जबकि पदार्थ असंख्य–अनन्त हैं, तो तदनुगत–अन्नान्नादभावात्मक 'सापेक्ष' भाव भी असंख्य–अनन्त ही मान लेने पड़ते हैं। नित्य ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित भारतीय नित्यविज्ञान के द्रष्टा महर्षियोंने इन अनन्त भी सापेक्ष भूत–भौतिक–पदार्थों का तीन श्रेणियों के माध्यम से संग्रह कर लिया है, जो तीन वर्ग क्रमशः–'काल–दिक्–देश' इन नामों से सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध हैं। प्रातिस्विक-विभिन्न-गुण-धर्म्मात्मक अनुबन्धों से जहाँ व्यष्ट्यात्मक पदार्थ विशेषभावों से समन्वित रहते हैं, वहाँ देश-दिक्–कालानुबन्ध से सभी पदार्थ 'सामान्यभाव' से समन्वित माने जायेंगे। तात्पर्य्य यही है कि, अपने प्रातिस्विक-वैय्यक्तिक-विशेषधर्म्मों से सर्वथा पृथक्-पृथक्-धर्म्मा बने रहने वाले भी पदार्थ दिग्देशकालरूप सामान्यधर्म्मानुबन्धों से समानधर्म्मा भी प्रमाणित हो रहे हैं। और इसी सामान्यानुबन्ध से अनन्त भी अपेक्षाभावों का इन तीन

अपेक्षाभावों में ही अन्तर्भाव कर लिया जासकता है। प्रत्येक पदार्थ कालसापेक्ष बनता हुआ दिक्सापेक्ष भी है। एवं दिक्सापेक्ष बनता हुआ देशसापेक्ष भी है, जिस इस काल-दिक्-गर्भिता देशसापेक्षता का पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा पदार्थ के प्रातिस्विक विशेषधर्मानुबन्धी–'प्रदेश' भाव पर ही होता है। अनन्त-असंख्य-अपेक्षाभावात्मक-विशेषभावों का संग्राहक 'प्रदेश' शब्द है, जिसका आधार सापेक्ष देशभाव है, देश का सापेक्षभाव दिग्भाव है, एवं दिक् का सापेक्षभाव काल है। और यो प्रदेशात्मक विशेष पदार्थ सामान्य-धर्मात्मक काल-दिक्-देश-नामक तीन सापेक्षभावों से सदा समन्वित रहते हैं। इसी समन्वय-दृष्टिकोण को आधार बना कर हमें सर्वप्रथम इन तीनों सापेक्षभावों के ही साक्षात्कार में प्रवृत्त होना है।

६२–'देश' भाव की गौणता, एवं- 'काल-दिक्' भावों की प्रमुखता—

इदमत्र प्रासङ्गिकम्। सापेक्ष पदार्थों की सापेक्षता के समन्वय में प्रवृत्त होते हुए भारतीय तत्त्वचिन्तक विद्वान् यद्यपि काल-दिक्-देश-इन तीन सापेक्षभावों को ही आधार बनाते हैं। और सामान्यदृष्ट्या यह निर्विवाद स्वीकरणीय भी है। तथापि तत्त्वदृष्ट्या जो प्रयोजन विद्वान् इन तीन भावों से समन्वित करना चाहते हैं, वह प्रयोजन 'काल-दिक्' इन दो भावों से भी गतार्थ बन जाता है। इसी तात्त्विक दृष्टिकोण के आधार पर–'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये' यह सूक्ति प्रतिष्ठित है, जिसके द्वारा अनन्तचिन्मूर्त्ति (अनन्तज्ञानघन) ब्रह्म को दिक्काल से अतीत प्रमाणित किया गया है।

६३–दिक्कालानवच्छिन्न निरपेक्षब्रह्म, एवं ज्यौतिषशास्त्रानुबन्धी काल-दिग्भाव, तथा दिक् के सम्बन्ध में प्रश्नोत्थान—

सूक्ति में ब्रह्म को दिक्, और काल से ही अनवच्छिन्न (असंस्पृष्ट) बतलाया गया है, जिसका अर्थ यही निकलता है कि, काल की व्यक्तारूपा दिक् ही मूर्त्तभावात्मक देशरूप में क्योंकि परिणत होती है, अतएव देश का स्वरूपतः दिग्भाव में ही अन्तर्भाव होजाता है। और यो तीन भावों के स्थान में काल, और दिक्, इन दो से भी ब्रह्म की अनवच्छिन्नता गतार्थ बन जाती है। इसीलिए तो अर्वाचीन ज्यौतिषशास्त्र में भी तत्तदाचारात्मक कर्म्मों-यात्राओं-शान्ति-स्वस्त्ययनादि प्रसङ्गों में लक्षीभूत मुहूर्त्त-चिन्तन में कालानुगत 'दिग्भाव' को ही प्रधानता देदी गई है। अतएव च 'देश' भाव विशेषरूपेण विचार का लक्ष्य नहीं बनता, जबकि आचारभावों की आधारभूमि देश, किंवा प्रदेश ही बना करता है। यह तभी सम्भव है, जबकि 'दिक्' को देश का संग्राहक मान लिया जाय। एवं यह संग्रह तभी वस्तुतत्त्व बन सकता है, जबकि देश को दिक् की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय। क्योंकि ऐसा ही है सत्तारूपेण। अतएव दिङ्मात्रावलम्ब से मुहूर्त्तचिन्तनप्रसङ्ग सर्वात्मना समन्वित होजाता है। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यही शेष रह जाता है कि, काल कैसे दिक्रूप में परिणत होजाता है ?, एवं दिग्भाव कैसे देशरूप में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा प्रदेशभावों का सर्जक बन जाता है ?। तत्-प्रश्नसमाधान के लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' उपक्रान्त हो रही है।

६४–दिग्-देश-काल-भावों की स्वरूप-जिज्ञासा का मौलिक कारण—

सब से पहिले दो शब्दों में इस प्रश्न का समन्वय कर लेना आवश्यक होगा कि, मानव के प्रज्ञाक्षेत्र में दिग्-देश-काल जैसे सापेक्षभावों की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हुई ही क्यों ?। अनन्तब्रह्म के एकांश

से महिमारूप से आविर्भूत–महाविश्व के क्रोड़ में जितने भी अणु–महान् चर–अचर–भाव प्रतिष्ठित हैं, उन सब में एकमात्र मानव के मानस में ही विश्वानुबन्धी दिग्–देश-काल-भावों की स्वरूप-जिज्ञासाभिव्यक्ति का मूल यही प्रतीत हो रहा है कि, मानव वस्तुतः अपने हृदयस्थ आत्मभाव से उस अनन्तब्रह्म से सर्वात्मना समतुलित रहता हुआ दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न, अतएव परिपूर्ण ही है ब्रह्मवत्। मानव का आत्मभाव ब्रह्म ही है, दूसरे शब्दों में अनन्त ब्रह्म ही मानव का आत्मभाव है। जब कि अनन्त ब्रह्म दिग्देशकाल से अतीत है, तो अनन्तता के पूर्णाभिव्यक्तिलक्षण मानवीय आत्मा को भी दिग्देशकालातीत ही माना जायगा।

९५–कालसापेक्षा बुद्धि, दिक्सापेक्ष मन, देशसापेक्ष शरीर, एवं दिग्देशकालनिरपेक्ष आत्मभाव, तथा उस का सहज आत्मप्रसाद—

सहजबोधनिष्ठ–स्वयंसिद्ध–इत्थंभूत परिपूर्ण मानव अपने आत्मभाव से एक ओर जहाँ दिग्देश–कालानवच्छिन्न बनता हुआ सर्वथा 'अप्राकृत' है, वहाँ वही मानव दूसरी ओर अन्यान्य स्थावर–जङ्गम–(जड़–चेतन) सापेक्ष–भूतभौतिक-पदार्थों की भाँति सौरप्रकृतिसिद्ध 'बुद्धिभाव', चान्द्रप्रकृतिसिद्ध **मनोभाव**, एवं पार्थिवप्रकृतिसिद्ध **शरीरभाव**, इन तीन विभिन्न प्राकृतिक भावों से भी अपने आप को समन्वित पा रहा है, जो इस के ये तीनों भाव ही क्रमशः काल–दिक्–देश–भावों के संग्राहक बने हुए हैं। कालसापेक्षा बुद्धि, दिक् सापेक्ष मन, एवं देशसापेक्ष शरीर, इन तीनों प्राकृत–अनुबन्धों से मानव की व्यक्ता–मूर्त्ता–भूतसंस्था का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जो भूतसंस्थात्मिका प्रकृतिसंस्था अपने सहज परिवर्त्तनभाव के कारण पर (बाह्य विषय) भावानुगता–परदर्शनमूला बनती हुई 'भावुकता' के नाम से प्रसिद्ध है। स्वतःसिद्ध नैष्ठिक आत्मपुरुष, तथा परतःप्रमाणीकृता भावुक–प्रकृति, दोनोंका स्वरूप ही स्थूलदृष्ट्या मानव का सर्वस्व स्वरूप है। स्वतःसिद्धा निष्ठा के अनुबन्ध से मानव प्रकृतिमूला सभी जिज्ञासाओं से सर्वथा तटस्थ ही बना रहता है। एवं ऐसा आत्मनिष्ठ सहजसिद्ध 'पुरुषमानव' ही 'आत्मवश्य' मानव माना गया है, जिस का निम्नलिखि शब्दों में यशोगान हुआ है—

> **रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।**
> **आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति** —गीता

९६–प्रकृतिपारवश्यमूला आत्मस्वरूपविस्मृति, तदनुगत प्राकृत व्यामोहन, तन्निबन्धना दिग्-देश–काल-स्वरूप-जिज्ञासा, एवं तत्समाधाता सृष्टिविज्ञान—

तथोक्त आत्मवश्य पुरुषमानव अपने विवर्त्तभूत बुद्ध्यनुगत काल, मनोऽनुगत दिक्, एवं शरीरानुगत देश, इन तीनों का साक्षीमात्र बना रहता है। अतएव इस सहजावस्थात्मिका सिद्धावस्था में मानव के यच्च-यावत् कर्मकलाप-जीवनीयेतिवृत्त,आदि सभी कुछ सहजरूपेणैव उत्थिताकांक्षालक्षणा निष्कामभावनात्मिका कामना, किंवा अकामभाव से स्वतः ही प्रक्रान्त होते रहते हैं। अतएव इस आत्मभावानुगता सहजावस्था में किसी भी प्रकार की उत्थाप्याकांक्षालक्षणा जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता। हाँ, मानव प्रत्येक दशा में प्राकृतभाव का भी साक्षी बना ही रहता है। अतएव इस निष्कामावस्था में यह सहज मानव दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के महिमामय स्वरूपों का स्तवन-वर्णन अवश्य करता रहता है, जैसा कि महिमामय सृष्टिसर्गों के स्तवन–वर्ण–

नादि से स्पष्ट है । किन्तु मादृश- प्राकृत मानव जब अपने स्वस्वरूपात्मक पुरुषभाव को विस्मृत कर केवल प्रकृति को ही अपना स्वरूप-मान बैठते हैं, तो उस दशा में कामभावमूला जिज्ञासा-परम्पराएँ जागरूक हो पड़ती हैं । अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, दिग्-देश-कालानुगत जिज्ञासाभाव का एकमात्र कारण मानव का प्रकृतिपारवश्य, एवं आत्मभावविस्मृति ही है । प्रकृतिनिबन्धना अज्ञानता ही कोऽयं कालः ?, केयं वा दिक् ?, अथ च कोऽयं वा देशः ? इत्यादि जिज्ञासाओं की जननी बनती है, जिन इत्थंभूता प्राकृतिक जिज्ञासाओं का समाधान भी प्रकृतिविज्ञानात्मक प्राकृतिक-स्वरूप पर ही अवलम्बित माना गया है । अतएव अभी थोड़ी देर के लिए प्रकृति से पर अवस्थित पुरुष से समतुलित निरपेक्ष-अनन्त-अमूर्त्त-काल को तटस्थ मानते हुए सर्वप्रथम प्रकृति के क्रोड में अवस्थित, प्रकृति से ही समतुलित, किंवा प्रकृतिरूप ही सापेक्ष-सादि-सान्त मूर्त्तकाल को, तथा तदनुगत, किंवा तन्मूलक दिग्देशभावों को (प्रकृत्यनुबन्धिनी जिज्ञासा की उपशान्ति के लिए) प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान के माध्यम से ही हम उपक्रान्त कर रहे हैं । क्योंकि प्रकृतिमूला जिज्ञासा का समाधान प्राकृतिक-सृष्टिविज्ञान के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

९७--'प्रयुतां संयोगः', तथा 'प्रहितां संयोगः' मूलक 'वयुन' तत्त्व का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं 'वयुन' की सर्वव्याप्ति----

परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-ग्रह-नक्षत्र-ऋषि-पितर--असुर- गन्धर्व-देव-पशु-पक्षी-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पति-धातु-रस-विष-आदि आदि महाब्रह्माण्डान्तर्गत, विभिन्न प्रदेशात्मक, विभिन्न दिग्-वच्छिन्न, विभिन्न कालानुबन्धी जितने भी स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम सापेक्ष पदार्थ हैं, स्थूलदृष्टि-विज्ञान--दृष्टि, एवं योगजदृष्टि-भावों में से किसी भी एक दृष्टि के विषय बनते हुए वे सभी पदार्थ 'दार्ष्टिविषयक' ही माने जायँगे । दृष्टि के विषयभूत (लक्षीभूत) उक्त सम्पूर्ण भूत--भौतिक प्रपञ्च जिस वस्तुभाव के माध्यम से हमारे लिए परिगृहीत बनते हैं, जिस वस्तुभाव के माध्यम से तथाकथिता दृष्टि इन पदार्थों के व्यक्तभावापन्न 'आकृतिभावों' का अनुगमन करने में समर्थ होती है, दूसरे शब्दों में जिस वस्तुभाव के कारण इन की आकृ-तिलक्षणा 'जाति' अभिव्यक्त हो पड़ती है, जिस वस्तुभाव के द्वारा ही ऊर्ध्वलोकस्थ ऊर्ध्व पदार्थों के प्रवर्ग्यभावों का 'प्रयुता संयोग' रूप सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है अधोलोकस्थ अध पदार्थों के अन्नादेनों के साथ, एवं अध-पदार्थों के प्रवर्ग्यभावों का 'प्रहिता संयोग' रूप सम्बन्ध ऊर्ध्वलोकस्थ पदार्थों के अन्नादनों के साथ प्रक्रान्त रहता है, वह विलक्षण अपूर्व वस्तुभाव ही भारतीय-विज्ञान की परिभाषा में 'वयुनम्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । पदार्थों की आकृतियाँ इसी 'वयुन' के कारण अभिव्यक्त हैं । पदार्थमात्राओं का प्रवर्ग्यरूप से परस्पर आदान-प्रदान इसी वयुनभाव पर अवलम्बित है । एवं पदार्थों की महिमाभावापन्ना दृष्टिमूला प्रतीति का भी यही वयुन 'आवपन'(सर्वत आधार) बना हुआ है * । अपने अपने आकृति--प्रकृति--अहङ्कृति--गुण-धर्म्म-आदि विशेष अनुबन्धों से परस्पर सर्वथा विभिन्न भी ब्रह्माण्ड के यच्चयावत् पदार्थ सर्वाधारलक्षण--आवपनरूप- 'वयुन' नामक वस्तुभाव की अपेक्षा से तो 'अयुन' रूपत्वेन अविभिन्न ही प्रमाणित हो रहे हैं ।

---

* आंशिक आधार 'आधार' कहलाया है, एवं सर्वाधार 'आवपन' कहलाया है । भूपिण्ड ओषधि वन-स्पतियों का जहाँ 'आधार' है, वहाँ स्वायम्भुव आकाश सर्वाधारत्वेन ओषधि वनस्पतियों का 'आवपन' माना गया है, जो कि यजुःसंहिता में-'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है ।

वयुन की इसी सर्वसामान्यव्याप्ति के आधार पर हम सम्पूर्ण पदार्थों को समष्टिरूप से, तथा व्यष्टिरूप से, उभयथा 'वयुन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं, जैसाकि–'सर्वमिदं वयुनम्' इस निगमवचन से प्रमाणित है।

९८–'वयुन' तत्त्व के स्वरूपलक्षण का तात्त्विक समन्वय, एवं 'आकृति' शब्द का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ 'वयुन' नामक वस्तुभाव का तत्त्वात्मक तटस्थ लक्षण। अब आचारात्मक स्वरूपलक्षण का समन्वय कीजिए। 'वयुन' उस वस्तुतत्त्व का नाम है, जिस में 'वय'–'वयोनाध' नामक दो भाव समन्वित रहते हैं। किंवा 'वय', और 'वयोनाध' की समन्वितावस्था का ही नाम 'वयुनम्' है, जिस इस द्विमात्रात्मक वयुन के वय–वयोनाध–भावों के स्वरूपान्वेषण के लिए किसी भी एक भौतिक पदार्थ को उदाहरण बना लेना समीचीन होगा। उदाहरणात्मक 'भूपिण्ड' को लक्ष्य बना लीजिए, जिस का आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं। भूपिण्ड पदार्थात्मक (शब्द, एवं तद्वाच्य अर्थात्मक, शब्दतन्मात्रायुक्त भूतमात्रात्मक) 'वयुनम' है। हम इस वयुनरूप पुरोऽवस्थित भूपिण्ड की एक आकृति का साक्षात्कार कर रहे हैं, जिस प्रतीयमाना बाह्याकृति में वृक्ष–वनौषधि–पर्वत–नद–नदी–सागर–मृत्–आदि आदि असंख्य पदार्थ समन्वित हैं। इन सब विभिन्न भूत–भौतिक–पदार्थों की समन्वितावस्था का नाम ही 'भूपिण्ड' है। न केवल भूपिण्ड में ही, अपितु दृष्टिपथ में आने वाले छोटे बड़े सभी पदार्थों में, प्रत्येक में असंख्य पदार्थ समन्वित हैं। असंख्यों के सह समन्वय से ही भूतपदार्थों के आकृतिभाव अभिव्यक्त होते हैं। बड़ा ही विलक्षण है यह 'आकृतिभाव', जिसे हमने सर्वाधाररूप 'वयुन' कहा है पूर्व में। इस शब्द में 'आ' (आङ्–उपसर्ग)–और 'कृति', इन दो भावों का वैसा विलक्षण सह समन्वय है, जिस में से एक दूसरे को एक दूसरे से कदापि पृथक् नहीं किया जासकता। आङ् उपसर्ग–निबन्धन 'आ' अक्षर 'आसमन्तात्' भाव का स्वरूप–संग्राहक है, तो 'कृति' शब्द परिवर्त्तनशील धामच्छद (स्थानावरोधी–जगँह रोकनेवाले) कार्य्यभाव का संग्राहक बना हुआ है। भूपिण्ड 'वयुन' रूपा 'कृति' है उपेश्वरप्रजापति (सौरसम्वत्सरप्रापति) की। किन्तु 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से इस कृति को उत्पन्न कर, किंवा अभिव्यक्त कर वह प्रजापति इस कृति के केन्द्र में अणोरणीयान्‌रूप से, एवं महिमामण्डल में महतोमहीयान्‌रूप से सर्वत्र आसमन्तात् इस छोर से उस छोर पर्य्यन्त सर्वाधाररूप से प्रविष्ट हो रहा है। इसी सर्वाधार प्रजापति की ओर संकेत हो रहा है–'आकृति' शब्द के 'आ' अक्षर से। एवं प्राजापत्य कृतिलक्षण भूपिण्ड की ओर संकेत हो रहा है आकृति के–'कृति' शब्द से। भूपिण्डाधारभूत प्रजापति भी कृति से पृथक् नहीं है, एवं कृतिरूप भूपिण्ड भी प्रजापति से पृथक् नहीं है। अतएव सर्वाधारप्रजापति के सूचक 'आ' अक्षर के साथ भी 'कृति' शब्द का समावेश अनिवार्य्य होगा. एवं प्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित भूपिण्ड के सूचक 'कृति' शब्द के साथ भी 'आ' अक्षर का समावेश अनिवार्य्य होगा। फलतः इन आ, और कृतिरूप प्रजापति, तथा भूपिण्ड, दोनों के लिए ही 'आकृति' शब्द प्रयुक्त होगा। अन्तर दोनों शब्दों के वाच्यार्थों में यही रहेगा कि, प्रजापतिवाचक 'आकृति' शब्द का अर्थ होगा–'कृति का सर्वरूप' (कृति का आभाव)। एवं भूपिण्डवाचक 'आकृति' शब्द का अर्थ होगा 'सर्वरूपानुगता कृति' (आङ् पूर्विका कृति)। समझने के लिए–प्रजापतिवाचक आकृति शब्द को तो हम 'आकृति' शब्द से व्यवहृत करेंगे, एवं भूपिण्डवाचक आकृति शब्द को 'आकार' शब्द से व्यवहृत करेंगे। 'आकृतिभाव अपरिवर्त्तनीय माना जायगा, अक्षरात्मक माना जायगा, एवं 'आकारभाव' परिवर्त्तनशील कहा

जायगा, क्षरात्मक माना जायगा। अक्षरामृतरूप प्रजापति, एवं क्षरमर्त्यरूप भूपिण्ड, दोनों की समन्विता-वस्था को, आकृति, और आकार की समुच्चयावस्था को ही कहा जायगा—'वयुनम्'*।

९९–वयुनभावानुगत 'वय', और 'वयोनाध', एवं वयोनाध की छन्दोरूपता—

भूपिण्ड में आकृतिरूपा आकृति, एवं कृतिरूपा आकृति (आकार) दोनों भाव समाविष्ट हैं। कृतिरूपा आकृति ही वह वस्तुभाव है, जिस का हम स्पर्श करते हैं, जिस पर हम चलते फिरते हैं, गृह–उद्यानादि का निर्म्माण करते हैं। इसी धामच्छद 'कृतिभाव' का 'वय' कहा गया है, जो वयुन का एक भाव है। जिस आकृतिभाव से यह 'वय' (पदार्थ) सीमित–बद्ध–आबद्ध है आसमन्तात् (चारों ओर से सब ओर से), वह बन्धनवृत्त ही 'वयोनाध' है, जिस का अक्षरार्थ है वय का बांधने वाला, बाँधने वाला तत्त्व, जोकि वयुन का ही एक भाव है। अस्तु, आर वस्तु की आकृति ही क्रमश 'वय' और 'वयोनाध' शब्दों का भावुकता-सरलक अर्थसमन्वय माना जासकता है। इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि, वयोरूप धामच्छद पदार्थ (भौतिक पिण्ड) का आकार ही वयोनाध है। और यही 'वयोनाध' 'त्रयीविद्‌विद्या' के अनुबन्ध में 'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है।

१००–वाक्‌परिमाणात्मक छन्द का स्वरूप-परिचय—

सम्पूर्ण भूत–भौतिक पदार्थ मन प्राणवाङ्‌मय अव्ययब्रह्म के तीसरे अर्थशक्तिमय 'वाक्' तत्त्व के ही उपबृंहित विवर्त्त हैं, जिस के लिए–'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'अथो वागेवेद सर्वम्' इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। वाक् का पहिला विवर्त्त आकाश है, इसका विवर्त्त वायु है, इसका विवर्त्त तेज है, इसका विवर्त्त जल है, एवं इसका विवर्त्त पृथिवी (मृत्) है। यों वाक् ही आकाशरूप से बलग्रन्थिपरम्परया क्रमश. आकाशादि पृथिव्यन्त पाँच विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। एक ही वाक्‌तत्त्व, और वाक् के विवर्त्त रूप पाँचों महाभूत वाङ्‌मयत्वेन समानधर्म्मा। यों सभी 'वय' नामक पदार्थ पञ्चमहाभूतात्मक बनते हुए समान–धर्म्मा, अतएव वाङ्‌मय ही हैं। फिर पदार्थों के नाम–रूप–गुण–कर्म्मादि में विभिन्नता–विचित्रता कैसे आविर्भूत हो पड़ी?, जबकि सब पदार्थों (वयों) का आरम्भक (उपादान) द्रव्य समानधर्म्मा ही है?, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान यही 'वयोनाधरूप छन्द'–तत्त्व है, जो वेदशास्त्र का अत्यन्त ही दुरधिगम्य विषय बना हुआ है। आकृतिभाव, सीमाभाव, भूतपदार्थ का बन्धनभाव ही वह 'वयुन' है, जिस के भेद से समानोपादान-द्रव्यता में भी 'वय' के असंख्य–अनन्त विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं। वाङ्‌मय भूत को, किंवा भूताधारभूत वाक्‌तत्त्व को एक विशेष आकार प्रदान करने वाला, वाक् को विशेष सीमा में सीमित कर देने वाला तत्त्व ही 'छन्द' है। अतएव छन्दोविद्यावेत्ताओं ने इस का लक्षण किया है–'वाक्‌परिमाणं छन्द' (श्रीगुरुवर-प्रणीता छन्दःसमीक्षा)।

---

* यच्च किञ्चिदार्ष्टिविषयकं अग्निकर्म्मैव तत्सर्वम्। अग्निरेव गायत्रः प्रतिफलितो विषयदर्शने हेतुः। विषयाश्च वयुनात्मकाः, इति अग्निर्हि वयुनानि विद्वान्।

१०१–प्रकृतिसिद्ध नित्य छन्दों के विविध रूपों का संस्मरण, एवं 'वय'-'वयोनाध'-'वयुन' भावों का समष्ट्यात्मक संग्रह—

एक ही मृत्तिका है । किन्तु वही आकारात्मक–वाक्परिमाणात्मक छन्द के भेद से विभिन्न–धर्म्मा असंख्य पार्थिव वयःपदार्थों में परिणत हो जाती है । एक ही जल कूप–तड़ाग–वापी–नद–नदी–सर–समुद्रादि–छन्दों के भेद से विभिन्न जातीय बने हुए हैं । एवमेव एक ही पाञ्चभौतिक द्रव्य, वाङ्मय द्रव्य असंख्य छन्दों के भेद से ही पदार्थासंख्यता का कारण बन रहा है । यही छन्द **'इन्द्रमाया'** **'लेखा' 'रेखा'–'पुर'–'सीमा–'आयतन'–'आवपन'–'आधार'–'प्रतिष्ठा'** आदि आदि विभिन्न नामों से उपवर्णित हैं दृष्टिभेदमूलक सर्गों के भेद से । यही आगमशास्त्र की **'महामाया'** है, यही त्रिदेवानुबन्धिनी वह **'योगमाया'** है, जो ब्रह्ममाया–विष्णुमाया–शिवमाया आदि नामों से उपस्तुता है तन्त्र–शास्त्र में । पार्थिवी लोकविद्या में **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–दिशः**– नामक चार अवान्तर लोक माने गए हैं । एक ही पृथिवीलोक चार छन्दों के भेद से ही पृथिव्यन्तरिक्षादि चार लोकों के स्वरूप में परिणित हो रहा है, जो क्रमशः **माच्छन्दः** (पृथिवी का), **प्रमाच्छन्दः** (अन्तरिक्ष का), **प्रतिमाच्छन्दः** (द्यौ का), एवं **अस्त्री-विश्छन्दः** (दिक् का)–इन नामों से प्रसिद्ध है । एवमेव गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती-लक्षण सात छन्दों के भेद से अहोरात्रात्मक एक ही वय सात विभिन्न अहोरात्रों में परिणत होता हुआ **'सप्ताहयज्ञ'** का अधिष्ठाता बन रहा है । 'समुद्रश्छन्दः–आकाशश्छन्दः–वायुश्छन्दः–इत्यादिरूपेण सर्वत्र वाक्-परिमाणात्मक वयोनाध नामक छन्द का हो तो साम्राज्य है । सम्पूर्ण विश्व समष्टि–व्यष्टि–रूपेण छन्द से ही तो छन्दित है । इसीलिए तो सृष्टिसर्जक वाङ्मय–वाग्विवर्त्तरूप * त्रयीवेद का तदावपनरूप इस वयोनाधात्मक 'छन्द' पर ही पर्य्यवसान मान लिया है शब्दशास्त्र के नियामक भगवान् पाणिनिने, जैसाकि-**'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति'-'छन्दसि बहुलम्'** इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है । छन्दोविद्या ही वेदविद्या की आधारभूमि है, किंवा छन्दोविद्या का नाम ही वेदविद्या है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । सम्पूर्ण वेदविज्ञान की आश्रय भूमि वयोनाधविज्ञानात्मक छन्दोविज्ञान ही है । इस छन्द का ही नाम **वयोनाध** है, एवं छन्द से छन्दित पदार्थ का ही नाम वय है, और दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है–**'वयुनम्'**–इत्यलमतिपल्लवितेन वयुनशब्देतिवृत्तप्रसङ्गेन ।

१०२–'पदं' लक्षण 'वस्तुपिण्ड', 'पुनःपदं' लक्षण 'वस्तुमण्डल', एवं पिण्ड की 'स्ट–श्यता', तथा मण्डल की 'दृश्यता' का समन्वय—

छन्दोरूप वयोनाध से सीमित–परिच्छिन्न–बने रहने वाले धामच्छद–भूतपदार्थ का नाम ही 'वय' है, जिसे तत्त्वात्मक वेद के अनुबन्ध में **'रसवेद'** कहा गया है, और अब यही तत्त्ववेद की वे कतिपय परिभाषाएँ उपक्रान्त बन रही हैं, जिन से विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय-विद्वत्प्रजा सर्वथा ही पृथक् बन चुकी है । अतएव

***–अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।**
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।४।

अत्यन्त अवधानपूर्वक ही इस उपक्रान्ति को लक्ष्यानुगत बनाना है। रसवेदात्मक वय के आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो क्रमश -'पदम्-पुन पदम्'-इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। 'वस्तुपिण्ड' का ही नाम 'पदम्' है, जिसका हम स्पर्शमात्र तो कर सकते हैं, किन्तु जिसे देख नहीं सकते। अतएव इसे 'स्पृश्यपिण्ड' भी कहा जा सकता, है। स्पृश्यपिण्डात्मक इस वस्तुपिण्डरूप 'पदम्' को केन्द्र बनाते हुए, पिण्ड के चारों ओर अपना एक स्वतन्त्र परिमण्डल बना लेने वाले 'वस्तुमहिमाण्ड' का ही नाम है 'पुन.पदम्', जो 'पदम' रूप वस्तुपिण्ड के अनन्तर अपने आण्डमहिमाभाव को व्यवस्थित करने के कारण ही 'पुन पदम' (पद का ही पुन वितन स्वरूप) नाम धारण कर रहा है। इसका हम दर्शनमात्र तो कर सकते हैं, किन्तु स्पर्श नहीं कर सकते। अतएव इसे 'दृश्यमण्डल' भी कहा जा सकता है। 'पदम्' नामक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणो-रणीयान्, एव महतोमहीयान् आसमन्तात् व्याप्त आ मत्रब्रह्मप्रजापति * का पहिला महिमाभाव ही वस्तुपिण्डात्मक 'पदम्' है, एव दूसरा महिमाभाव ही वस्त्वण्डात्मक 'पुन पदम्' है। और वय के पिण्ड-अण्डरूप ये दोनों ही महिमा-विवर्त्त पद-पुन.पद-रूपेण उसी केन्द्रस्थ आत्मब्रह्म में अन्तर्भुक्त हैं, जिसे 'ज्यायान्' कहा गया है इन दोनों महिमाभावों के समतुलन में, जैसाकि-'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुष' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

१०३-प्राणों के आनन्त्य का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी पद-पुनः पद-रूप पिण्ड, और ब्रह्माण्ड—

वय का स्पृश्यधर्म्मा धामच्छद पिण्डमात्र ही 'पदम' है, एव वय का दृश्यधर्मा अधामच्छद आण्डभाव ही 'पुन पदम' है। जो वस्तुभाव पिण्डानुगता भूतमात्राओं के रूप से पिण्डात्मक पद म हैं, वे ही वस्तुभाव अण्डानुगता प्राणमात्राओं के रूप में अण्डात्मक पुन पद म हैं-'यथा पिण्डे तथा अण्डे, यथा वा अण्डे-तथा पिण्डे'। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-रूप पद-पुन पद-नामक इन दोनों महिमा-विवर्त्तों की समन्वितावस्था का नाम ही 'वय' है, जो वयानाध से परिच्छिन्न है। भूतभाव का ही नाम पिण्डात्मक पदभाव है, एव प्राणभाव का ही नाम अण्डात्मक पुन पदभाव है। पिण्डानुगत भूतभाव ही 'पशु' है, एव अण्डानुगत प्राणभाव ही 'देवता' है। 'देवतानि च भूतानि च' रूप से श्रुति ने इन्हीं दोनों प्रजाओं की ओर सङ्केत किया है, जो हृदयस्थ आत्मपुरुषप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। मर्त्यभूत ही 'पशु' है, अमृतप्राण ही 'देवता' है, जिस इन अमृतप्राणदेवता की छन्दोभेदभिन्ना-संस्थाओं के भेद से अनन्त-असख्य भेद हो जाते हैं, जैसाकि-'अनन्ता वै प्राणा'-'को हि प्राणानामानन्त्य वेद' इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

---

*-प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजु संहिता)।
अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ (उपनिषत्)

१०४--प्राण शब्द की स्वरूपपरिभाषा, एवं 'प्राण--ऋषि--देवता' नामक तीनों शब्दों की आंशिक--अभिन्नता का समन्वय—

आण्डवृत्तात्मक–पुनःपद नाम के महिमामण्डल-में प्रतिष्ठित–व्याप्त 'देवता'-लक्षण इस प्राणतत्त्व का लक्षण होगा–'रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–तन्मात्रा–भावेभ्योऽसंस्पृष्टः–अधामच्छदः-भूतप्रतिष्ठात्मकः-शक्तिविशेषभाव एव प्राणः'' यह। यह प्राणदेवता ही छन्दोभेद से ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–विराट्–नाभानेदिष्ठ–वालखिल्या–एवयामरुत्–वृषाकपि–सरस्वती–आदि आदि रूप से अनन्त विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है। सर्वाधारभूतावस्था (प्राण की मौलिक अवस्था) ही 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है। छन्दोभेदेन विवधरूपों में परिणत हो जाने के कारण ही प्राणों को 'विरूपासः' (विविधरूपासः–अनन्ताः) कहा गया है, जिनकी रहस्यात्मिका थाह अत्यन्त ही दुरधिगम्या मानी गई है, जैसाकि–'विरूपास इद्–ऋषयः, त इद् गम्भीरवेपसः' इत्यादि ऋङ् मन्त्र से स्पष्ट है। 'प्राणा वा ऋषयः, ऋषयो वाव प्राणाः, प्राणा एव देवताः' इत्यादिरूपेण ऋषि–प्राण–देवता–आदि शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त अभिन्नार्थों के ही सग्राहक बने हुए हैं।

१०५--प्राण की गतिरूपता, एवं गतिरूप प्राण के गत्यात्मक पाँच विवर्त्त—

'ऋषि' अभिधा का एकमात्र कारण है प्राण का सहजसिद्ध गतिधर्म्म। 'ऋषति-गच्छति'-ही 'ऋषि' शब्द का निर्वचन है। 'इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद्–ऋषयः' (शत० ६।१।१।१) ही प्राण के 'ऋषि' नामकरण का समन्वय है। गतिशील प्राणतत्त्व ही ऋषितत्त्व है, जिस इस ऋषिप्राण के किंवा 'गति' तत्त्व के अपेक्षाभेद के माध्यम से ''विशुद्धा स्थिति (ब्रह्माक्षर), विशुद्धा आगति (विष्ण्वक्षर,), विशुद्धा गति (इन्द्राक्षर), स्थितिगर्भिता गति (अग्न्यक्षर), स्थितिगर्भिता आगति (सोमाक्षर)'' ये पाँच प्रमुख विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका सुप्रसिद्धा 'पञ्चाक्षरविद्या' में विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। प्राण–गति–अक्षर–ऋषि–देवता–आदि शब्दों का चिरन्तन इतिहास ही पुनःपदस्थ महिमामण्डल का, किंवा ब्रह्माण्ड का रहस्यपूर्ण सुसूक्ष्म इतिहास है, जिसे जड़भूतव्यामोहन से आज मानवने, विशेषतः प्राणोपासक भारतीय मानवने सर्वात्मना विस्मृत कर दिया है, जिस इस विस्मृति के अनुग्रह से ही प्राणात्मक भी भारत-राष्ट्र आज सर्वथा ही निष्प्राण–देवभावशून्य–गतिभाववञ्चित–अनार्ष मानव ही बन गया है।

१०६–'प्राणदपानत्' रूप 'प्राणिति च--अपानिति च' का समन्वय—

सम्पूर्ण भूत–भौतिक–पदरूप–पदार्थों की प्रतिष्ठा 'गति' तत्त्व ही माना गया है भारतीय विज्ञानकाण्ड में, जिस इस गति–प्रतिष्ठा के तात्त्विक स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'सोमापहरणाख्यान' व्यवस्थित हुआ है। जिस गायत्री के द्वारा तीसरे द्युलोक से सोम का अपहरण होता है, वह गायत्री-तत्त्व एति–प्रेति–भावापन्न पार्थिव गतिप्राण ही है। गमन 'एति' भाव है, आगमन 'प्रेति' भाव है। आदान–विसर्ग–रूप आगमन–गमन–भावों की समन्वितावस्था का नाम हीं– 'प्राणदपानत्' है। प्राणन से वस्तुस्वरूप के प्रवर्ग्य का विनिर्गमन होता है, एवं अपानन से वस्तुस्वरूप में ब्रह्मौदन का आगमन होता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ गत्यात्मक इस प्राणन–अपान–धर्म्म से नित्य समन्वित रह कर ही प्राणिति च, अपानिति च। यही प्राणनापानन वस्तुभूत की जीवनसत्ता का मूलाधार है, एवं यही 'सोमापहरणख्यान' का निष्कर्षार्थ है,

जिसे 'सौपर्णाख्यान' भी कहा गया है, जिसका कि वेतदनोपवृहक पुराणशास्त्र में- 'कद्रु-विनताख्यान' रूप से विस्तार से यशोगान हुआ है प्रतीकभाषा में।

१०७-ऋषय--पितरः--असुराः-देवाः-पशवः-भूतानि-लक्षण प्राण के विभिन्न वर्गों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

प्राणदपानल्लक्षण मौलिक प्राण ही 'ऋषि' है। इन सजातीय-विजातीय-ऋषिप्राणों के बलग्रन्थितारतम्य से सर्वप्रथम जो यौगजप्राण आविर्भूत होते हैं, उन्हीं के नाम 'पितर' हैं। पितृप्राणों के समन्वय से उत्पन्न सौम्य-आप्य-भार्गव वारुण प्राण ही 'असुरा' हैं, एवं आग्नेय-आङ्गिरस-प्राण ही 'देवा' हैं, मूर्च्छित सौम्य प्राण ही-'पशव' हैं, मूर्च्छित आग्नेय प्राण ही 'भूतानि' हैं। तदित्थ-गतिलक्षण-प्राणदपानद्रूप-मौलिक-ऋषिप्राण ही हृदयस्थ प्रजापति के काम-तप-श्रम-मय मन-प्राण-वाग्-भावों की साक्षी में बलग्रन्थितारतम्य से क्रमशः ऋषय-पितर-असुरा-देवा-पशव-भूतानि-इत्यादि विवर्त्तभावों में परिणत होते हुए सम्पूर्ण पिण्डजगत् की मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित होरहे हैं। इन्हीं मौलिक-गत्यात्मक-प्राणों के अनुग्रह से यच्चयावत् भूत-भौतिक पदार्थ स्वस्वरूप-रक्षा के लिए निरन्तर प्राणन, एवं अपानन में जागरूक ही बने हुए हैं, जबकि एकमात्र मानव ही अपनी स्वतन्त्र-प्रज्ञा के व्यामोहन में, किंवा जडभूतनिबन्धन-सर्वस्वघातक बुद्धिवाद के अभिनिवेश में आविष्ट होकर इस प्राजापत्या प्रकृतिसिद्धा प्राणदपानल्लक्षणा नियति का अतिक्रमण करता हुआ- 'मनुष्या-एवैके-अतिक्रामन्ति' (शतपथ०) इस अभियोग को चरितार्थ कर रहे हैं आज।

१०८-भूतानुबन्धी 'रसभाव', प्राणानुबन्धी 'वितानभाव', एवं तन्मूला तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या—

प्रासङ्गिकमेतत्। प्रकृतमनुसराम। वयोनाधात्मक छन्द की सीमा से छन्दित-परिवेष्टित-परिमित-मर्य्यादित-वस्तुपिण्डात्मक 'वय' का ही नाम 'रस' है, एवं इस रसात्मक वस्तुपिण्ड (भूतपिण्ड) के केन्द्र में प्रतिष्ठारूप से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित प्राण का ही नाम 'वितान' है। इसप्रकार वयोनाधरूप छन्द से बद्ध-निबद्ध-आबद्ध एक वयोभाव के ही भूत-प्राण-रूप से रस, और वितानात्मक दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं, और अब इन विवर्त्तभावों के माध्यम से ही हमें तत्त्वात्मिका उस वेदत्रयी का दिग्दर्शनमात्र करा देना है, जिसके समन्वयाधार पर ही प्रतिज्ञाता दिक्-देश-काल-स्वरूप-मीमांसा का समन्वय सम्भव है।

१०९-छन्दः-रस-वितानम्, तदनुगत ऋक्-यजुः-साम, एवं तन्निबन्धन दिग्देशकाल—

वयोनाधात्मक छन्द की सीमा में प्रतिष्ठित भूतपिण्डरूप वयोलक्षण रसभाव, एवं प्राणाण्डरूप वयोलक्षण वितानभाव, इस रूप से वय के ही रस, और वितान-रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं, और यों वयोनाधात्मक छन्द के समावेश से वयोनाध-वय-रूप 'वयुन' के अब छन्द-रस-वितानम्-ये तीन विवर्त्त बन जाते हैं, जिनमें वयोनाधात्मक छन्द का नाम है ऋग्वेद, वय पिण्डरूप रस का नाम है यजुर्वेद, एवं वयोमहिमारूप वितान का नाम है सामवेद, एवं यही है छन्दो-रस-वितानात्मिका ऋक्-यजु-साम-लक्षणा तत्त्वात्मिका वेदत्रयी, जिसका विज्ञान ही 'सृष्टिविज्ञान' का चिरन्तन इतिवृत्त बना हुआ है। ऋग्वेदात्मक छन्द, किंवा छन्दोरूप ऋग्वेद ही भूतपदार्थ की आकृति है, यही

सर्वाधारात्मक आवपन है, यही वयोनाध है, और इसी का नाम है 'काल'। यजुर्वेदात्मक रस, किंवा रसरूप यजुर्वेद ही स्वयं भूतपिण्ड है, यही आकृति से आकारित भूतप्रधान स्पृश्यपिण्डात्मक वय है, और इसी का नाम है–'दिक्'। सामवेदात्मक वितान, किंवा वितानरूप सामवेद ही प्राणात्मिका भूतमहिमा है, यही दृश्यमण्डलात्मक 'वय' है, और इसी का नाम है–'देश'। यों ऋक्–यजुः–साम–रूप–छन्दः–रसः–वितानं–रूप से तत्त्वात्मक तीनों वेद ही व्यवहारभाषा में क्रमशः काल–दिक्–देश–नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं।

११०-सर्वसामान्यानुभूता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं तत्त्वानुगता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूपोपक्रम—

सर्वसामान्य में 'दिक्' का अर्थ पूर्व-पश्चिम–उत्तर-दक्षिणादि दिशाएँ हैं, देश का अर्थ भारतभूमि–इंग्लेण्डभूमि–अमेरिकनभूमि–रूसभूमि–आदि रूप से तत्तद्भूप्रदेश हैं, एवं कालशब्द से प्रातः–मध्याह्न–सायं–वर्त्तमान–भूत–भविष्यत्–अहोरात्र–मास–पक्ष–अयन–ऋतु–सम्वत्सर–युग–शताब्दि–सहस्राब्दि–आदि आदि समय–विभाग परिगृहीत हैं। इस लोकमान्यता के अनुसार वस्तुपिण्ड तो 'देश' बन रहा है, एवं वस्तुपिण्ड के पूर्व–पश्चिमादि सीमाभाव 'दिक्' प्रमाणित हो रहे हैं, एवं सीमाभावात्मक दिग्रूप, एवं वस्तुपिण्डात्मक देशरूप, दोनों रूपों का क्रमसिद्ध भोगात्मक समय ही 'काल' प्रमाणित होरहा है। "अमुक देश अमुक सीमा में है, एवं अमुक देश अमुक समय से समन्वित है", इत्यादि सुप्रसिद्ध लोकव्यवहार स्पष्ट ही काल–दिक्–देश–भावों से समय-दिशाएँ, एवं भूतपिण्ड-इन भावों के संग्राहक बन रहे हैं। इधर हम त्रयीवेद के आधार पर किसी अचिन्त्या–अप्रतर्क्या–सर्वतः परिव्याप्ता छन्दोरूपा सीमा को तो 'काल' कह रहे हैं, लोकव्यवहारानुगत देशात्मक वस्तुभूतपिण्ड को दिक् कह रहे हैं, एवं स्थूलबुद्धि से पराक् बने रहने वाले उस महिमामण्डल नामक अप्रतर्क्य प्राणात्मक तत्त्व को 'देश' कह रहे हैं, जिस महिमामण्डल का स्वरूप भी लोकप्रज्ञा के लिए अचिन्त्य ही बन रहा है। अतएव यह आवश्यक होजाता है कि, काल–दिक्–देश–भावों से सम्बन्ध रखने वाली उक्त लोकमान्यता के विमोहन को उपशान्त करने के लिए शास्त्रीय–आस्था का ही आश्रय ग्रहण कर लिया जाय, जिसके बिना लोकव्यामोहन का पलायन असम्भव ही बना रहता है। तीनों में से 'काल' को अभी हम थोड़ी देर के लिए तटस्थ मान लेते हैं, एवं शेषभूत दिक्–देश–भावों की शास्त्रीया तत्त्वपरिभाषा को ही लक्ष्य बना रहे हैं।

१११—दृश्यजगत्, एवं स्पृश्यजगत् का पार्थक्य, तथा तदनुबन्धी समानधर्म्म—

सामने रक्खे हुए पदार्थ को देख कर, जान कर ही हमें पदार्थ के देश का स्वरूपबोध होता है। ज्ञान होता है कि, अमुक पदार्थ का आकार ऐसा है, गुण–रूप–नाम–कर्म्म–आदि ऐसे है। "इन आकार–गुण–रूप–नाम–कर्म्मादि भावों की समष्टि ही पिण्डात्मक देश है", ऐसी मान्यता है सर्वसाधारण की, जो दृष्टिमूलक प्रत्यय की तात्कालिक भावुकता के लिए मान्य कही जा सकती है। किन्तु तत्त्वदृष्टि से यह मान्यता निरी मान्यता ही प्रमाणित हो जाती है उस समय, जबकि हमाही प्रज्ञा में यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण समाविष्ट हो जाता है कि–"जिस पदार्थ का हम हाथ से स्पर्श कर सकते हैं, उसे आँखों से कभी देख नहीं सकते। एवं जिस पदार्थ को हम आँखों से देख सकते हैं, उसका कभी हाथ से स्पर्श नहीं कर सकते।"

वर्तमानभाषानुसार--"जिसे छू सकते हैं, उसे देखा नहीं जासकता, एवं जिसे देखा जासकता है, उसे छुआ नहीं जासकता"। दृश्यजगत् पृथक् वस्तुतत्त्व है, एवं स्पृश्यजगत् पृथक् वस्तुतत्त्व है। और इस रहस्य को समझने के लिए उस सजातीय धर्म्म को लक्ष्य बनाना आवश्यक हो जाता है, जिसके माध्यम से दृश्य-स्पृश्य के भेद का भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है।

११२–सौर-चाक्षुष-प्राणों की सजातीयता, चक्षुरनुबन्धी दृश्यजगत्, एवं शरीरानुबन्धी स्पृश्यजगत्—

दृष्टि (दर्शन-देखने) का माध्यम बनती है चक्षुरिन्द्रिय, एवं स्पृष्टि (स्पर्श) का माध्यम बनता है हमारा भौतिक-स्थूलशरीर, तथा इसके हस्त-पाद-उर-कण्ठ-वक्ष-आदि स्थूल भौतिक अवयव। चक्षुरिन्द्रिय का मूलाधिष्ठाता तत्त्व सौर प्राण है, जो सर्वथा अधामच्छद माना गया है। तभी तो चक्षुरिन्द्रिय में महतोमहीयान् भी दृश्य प्रतिबिम्बवत् खचित हो जाते हैं। चक्षुर्गोलक अवश्य ही धामच्छद है। किन्तु प्रज्ञामय चक्षुरिन्द्रियप्राण तो अपने प्राणधर्म्म से अधामच्छद ही है, जिसमें यच्चयावत भौतिक दृश्य निर्विरोध समन्वित हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर, एवं इसके स्थूल शरीरावयव, दोनों का मूलप्रभव वह पार्थिव महद्भूत है, जो सर्वथा धामच्छद (जगह रोकने वाला) है। पार्थिव भूत, और पार्थिव शरीर, दोनों समानधर्म्मा हैं, एवं सौरप्राण और चक्षुप्राण (चक्षुरिन्द्रिय), दोनों समानधर्म्मा हैं। अतएव स्पष्ट है कि, चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध समानधर्म्मा प्राणात्मकभाव से ही हो सकता है, एवं शरीर का सम्बन्ध समानधर्म्मा भूतात्मकभाव से ही हो सकता है। अतएव यह भी स्पष्ट है इसी समान धर्म्मानुबन्ध से कि, चक्षु से समन्वित 'दृश्य' का भौतिक शरीर के स्पर्श से कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं शरीर से सम्बन्धित स्पृश्य का चक्षुरिन्द्रिय के दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी लोकप्रज्ञा अभी समझ नहीं सकी इस समन्वय को।

११३–दृश्यमण्डलों की विदूरता से अनुप्राणिता चाक्षुषी दृष्टि में तारतम्य, एवं तदाधारेण-दृश्य-स्पृश्य-भावों का समन्वय—

तो हमें अब यह कहना पड़ेगा कि, सम्मुख रक्खे एक भूतपिण्ड को हमारी आंखें तभीतक देख सकती हैं, जबतक कि वह वस्तुपिण्ड हमारी आंखों से आपेक्षिक दूरी पर ही विद्यमान रहता है। यदि वस्तुपिण्ड के साथ आंखों का स्पर्श करा दिया जायगा, तो तब भी उसका साक्षात्कार न हो सकेगा (अतिसान्निध्यात्)। यदि अपेक्षित दूरी से यह वस्तुपिण्ड अधिक दूर हो जायगा, किंवा हमारी आंखें अधिक दूर चली जायँगी, तब भी वस्तुपिण्ड हमें नहीं दिखलाई देगा (अतिदूरात् *)। अमुक नियत-अपेक्षित विदूरता के माध्यम से

---

* अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहाराच्च ॥
सौक्ष्म्यात्-तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्य्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्य्यं प्रकृति-सरूपं विरूपं च ॥

—सांख्यकारिका ७।८,

ही चक्षुरिन्द्रिय पुरोऽवस्थित पदार्थ को देख सकेगी, जबकि पदार्थ के स्पर्श करने मे शरीर को पदार्थ के निकटतम लेजाना आवश्यक होगा, अथवा तो पदार्थ को शरीर के निकटतम ले आना आवश्यक होगा। इस सहज स्थिति को सम्मुख रखिए, और इसी आधार पर अब अपनी लोकप्रज्ञा से ही दृश्य–स्पृश्य–भावों के उक्त पार्थक्य का समन्वय कीजिए।

११४–भूतज्योतिरनुबन्धिनी चाक्षुषी दृष्टि, तदाधारभूत 'प्रति–अक्ष' भाव, एवं तन्मूलक 'प्रत्यक्ष' शब्द का समन्वय—

प्रज्ञाप्राणगर्भित भूतज्योतिर्मय सौर आलोक ही लोचनेन्द्रिय में अवलोकनधर्म्म प्रदान करता है, जिस अवलोकनधर्म्म का मूलाधार प्राणगर्भित आलोक ही बन रहा है। अतएव सौर, किंवा तत्प्रवर्ग्यांशभूत–वैद्युत–चान्द्र–नाक्षत्रिक–आग्नेय–तैलदीपादि आलोकों में से किसी भी एक आलोक के माध्यम से ही भौतिक पदार्थों का साक्षात्कार (अवलोकनात्मक दर्शन) सम्भव बना करता है चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा, जिसका सीधासा अर्थ यही है कि, आलोकरश्मियाँ भूतपिण्ड के साथ सङ्क्रान्त होकर तदाकार में परिणत हो जातीं है। तद्वस्त्वाकाराकारिता आलोकरश्मियों का आगे जाकर वस्त्वाकाररूपेणैव प्रतिफलन होता है। इन प्रतिफलित–रश्मियों के साथ जब भी चाक्षुष–रश्मिमण्डल का सम्बन्ध हो पड़ता है, तत्काल वस्तुस्वरूप का दर्शन उदित होपड़ता है। और यों रश्मिप्रतिफलनप्रक्रिया ही 'प्रति–अक्ष' भावानुबन्ध से 'प्रत्यक्ष' की जननी बन जाती है। 'प्रत्यक्ष' शब्द का 'प्रति' उपसर्ग प्रतिफलन का संग्राहक है, एवं 'अक्ष' शब्द चाक्षुष–मण्डल का संग्राहक है। इस विवेचन से हमें यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि, हमें वस्तुपिण्ड नहीं दिखलाई देता। अपिदु वस्तुपिण्ड से संलग्न वस्त्वाकाराकारित आलोकमण्डल ही दिखलाई देता है। किंवा आलोकरश्मिमय वस्त्वाकार ही हम देखते है, जो मूलवस्तुपिण्ड से सर्वथा विभिन्न ही वस्तुतत्त्व है।

११५–दृश्यमण्डलानुगत सापेक्ष अणु–महान्–भाव, एवं नियताकाराकारित वस्तुपिण्ड, तथा दृश्यमण्डल–स्पृश्यपिण्ड का पार्थक्य –

अब प्रश्न इस सम्बन्ध में यही शेष रह जाता है कि, आलोकमण्डल स्वयं ही वस्त्वाकार है ?, अथवा इस मण्डलात्मक आकार का वस्तुपिण्डमात्राओं से भी कोई सम्बन्ध है ?। उत्तर स्पष्ट है। जिसप्रकार सूर्य्य–चन्द्र–नक्षत्र–अग्नि–दीप–आदि ज्योतिर्म्मय पदार्थों से रश्मिमण्डल उदित हो रहे है, तथैव प्रत्येक भौतिक पदार्थ से प्राणात्मक रश्मिमण्डल अपना अपना स्वतन्त्र महिमामण्डल बनाए हुए है। आलोकमण्डल चक्षुरिन्द्रिय को सहयोगमात्र देता है। कदापि यह स्वयं वस्तु का आकार नहीं बनता। वस्त्वाकार तो तद्वस्तु का अपना प्राणमण्डल ही बना हुआ है और यही प्रातिस्विक वस्तुप्राणमण्डल आलोक की सहायता से चक्षुरिन्द्रिय के प्रत्यक्षज्ञान का मूलाधार बनता है। वस्तुपिण्ड के केन्द्र से संस्पृष्ट वस्तुमण्डल में मण्डल के उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने से मण्डलभुक्त वस्तुमूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटी होती जाती है। अतएव ज्यों ज्यों हम वस्तुपिण्ड से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों वस्तुमूर्त्ति छोटी बनती जाती है, किंवा छोटी प्रतीत होने लगती है। यह सापेक्ष अणु–महान्–भाव भी यही प्रमाणित कर रहा है कि, वस्तु का दृश्यमण्डल पृथक् वस्तुतत्त्व है, एव स्पृश्यपिण्ड पृथक् वस्तुतत्त्व है। तथा दर्शन दृश्यमण्डल का ही होता है, और स्पर्श स्पृश्यपिण्ड का ही होता है। यदि मूलभूत वस्तुपिण्ड का ही दर्शन होता, तो कदापि एक ही वस्तु छोटी बड़ी नहीं दिखलाई देती।

११६–'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक अन्तर्जगत्, पदार्थों के सत्तासिद्ध–भातिसिद्ध–उभयसिद्धरूप तीन विवर्त्त, एवं भातिसिद्ध पदार्थों की महती अभ्व–यक्ष–रूपता–

अन्यदपि महदाश्चर्य्यम्। वस्तुपिण्ड से सम्बद्ध वस्तुमण्डल ही हमारे लिए दृश्य बनता है, यह कथन भी भावुकता का सूचकमात्र ही माना जायगा 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक 'अन्तर्जगत्' की दृष्टि से, जिस के सम्बन्ध में प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए अभी यही जान लेना पर्याप्त होगा कि–पदार्थप्रपञ्च क्रमशः सत्तासिद्ध–भातिसिद्ध–उभयसिद्ध–भेद से तीन वर्गों में विभक्त है। ईश्वर–आत्मा–प्राण–आदि कतिपय पदार्थ शुद्ध सत्तासिद्ध हैं, जिन का इन्द्रियों से साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। पूर्व–पश्चिमादि दिग्भाव, दूरत्व–अपरत्व–गुरुत्व–ऊर्ध्व–अध–तिर्य्यक्–लम्ब–चतुष्कोण–षट्कोण–आदि भाव केवल भातिसिद्ध पदार्थ हैं, जिन की प्रतीतिमात्र तो व्यवहारजगत् में हो रही है, किन्तु जो सत्ता से असंस्पृष्ट हैं। ये भातिसिद्ध पदार्थ व्यवहार में अहोरात्र उपयुक्त होते हुए भी इन्द्रियातीत, किंवा इन्द्रियों से अग्राह्य हैं। कदापि–पूर्व–पश्चिमादि दिग्भावों का किसी भी इन्द्रिय से साक्षात्कार, किंवा ग्रहण–सम्भव नहीं है, एवं यही इन–भातिसिद्ध पदार्थों की महदाश्चर्य्यता है। अतएव श्रुति ने इन का साङ्केतिक नाम रख दिया है–'महान् अभ्व'–'महान् यक्ष'।

११७–उभयसिद्ध पदार्थों का स्वरूप–परिचय, एवं स्वदृष्ट पदार्थों का स्वसृष्टित्व––

अब तीसरा वर्ग वह है, जो सत्ता से भी सिद्ध है, एवं जिस की भाति (प्रतीति) भी हो रही है। इन्द्रियगम्य–इन्द्रियग्राह्य घट–पट–मठ–सूर्य्य–चन्द्र–नक्षत्र–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–पर्वत–नद–समुद्र–ओषधि–वनस्पति–आदि आदि पदार्थ इस 'उभयसिद्ध' वर्ग में ही समाविष्ट हैं। इन उभयसिद्ध इन्द्रियग्राह्य–भूतभौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में ही स्पृश्य, तथा दृश्य–भावों का विचार प्रक्रान्त है। वस्तुपिण्ड को हमने स्पृश्यपिण्ड कहा है, एवं वस्तुमण्डल को दृश्यमण्डल कहा है। और स्पष्ट किया है कि, दोनों में से वस्तुमण्डल ही दृश्य बनता है। अब ठीक इस के विपरीत इन उभयसिद्ध पदार्थों के 'भाति' भाव की मध्यस्थता से हम यह कहेंगे कि, वस्तु का मण्डल भी दृश्य नहीं बन सकता। वह तो सत्तासिद्ध अपने वस्तुस्वरूप में ही अन्तर्भूत है। हम जिस मण्डलात्मक वस्तु को देखते हैं, वह तो हमारे मानस–प्रज्ञान का ही स्वरूप है। अर्थात्–हम जो कुछ अपनी इन्द्रियों से दिखलाई देता है, उस सम्पूर्ण ऐन्द्रियक-वितान के स्रष्टा तो स्वयं हम ही (हमारा मानस–प्रज्ञान ही) हैं, जैसाकि–"तं यथा यथोपासते–तथैव भवति, श्रद्धामयोऽयं पुरुषः (प्रज्ञानात्मा–मन–इन्द्रियां यत्र)–यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इत्यादि–श्रुति–स्मृति–वचनों से स्पष्ट है।

११८–सत्तासिद्ध पदार्थों की अन्तर्जगदनुगतता, एवं मानवीय 'प्रत्यय' की सत्यरूपता का समन्वय––

सत्तासिद्ध वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आबद्ध सत्तासिद्ध वस्तुमण्डल तो तद्वस्तु का अन्तर्जगत् ही कहलाया है, जिसका साक्षी–स्रष्टा–द्रष्टा–मन्ता–बोद्धा तो तद्वस्तु का केन्द्रस्थ आत्मप्रजापति ही है। सत्तासिद्ध सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक विश्व उस विश्वेश्वर का ही अन्तर्जगत् है। जबकि एक मानव अपने से विभिन्न मानव के अन्तर्जगत्–(मानस–जगत्) का ऐन्द्रियक–प्रत्यय प्राप्त करने में असमर्थ है, तो भला वही मानव ईश्वरीय अन्तर्जगद्रूप महाविश्व का कैसे अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार कर सकता है? मानव तो केवल अपने अन्तर्जगत् के प्रति ही अपनी ऐन्द्रियक–अनुभूतियों–प्रत्यक्षादि–प्रतीतियों का साक्षात्कर्त्ता बना रह सकता

है, बना हुआ है । मानव के लिए तो मानव का अपना भातिमूलक 'प्रत्यय' ही 'सत्य' है, और यही अन्तर्जगत्–मूलक प्रत्ययैकसत्योपनिषत्–है । तदतिरिक्त तो इस के लिए सबकुछ अन्यथा ही बना रहता है ।

११९–अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य के सह समन्वय से 'प्रत्यय' का उदय, एवं प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्र का तन्तुवितानात्मक 'इन्द्रजाल'—

'अहं मनुरभवम्'–'अहं सूर्य्य इवाजनि'–'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'–'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'–'अहमेवाधस्तात्–अहमुपरिष्टात्'–'आत्मैवेदं सर्वम्'–'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि आर्ष वचन मानव की इसी आत्ममूला भातिविभूति का समर्थन कर रहे हैं। जो कुछ हम जानते, सुनते, देखते, और अनुभव करते हैं, सब के स्रष्टा हम ही हैं, जिस इस भातिमूला सृष्टि में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (प्रज्ञानात्मा)–अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य–(इन्द्रियवर्ग), और *विषयावच्छिन्न चैतन्य (सत्तासिद्ध ईश्वरीय अन्तर्जगत्), इन तीनों के समन्वय से, इन्द्रियों के द्वारा* तत्कालरूपेण आविर्भूत, एव आगे चलकर अन्तर्य्यामसम्बन्ध से मानस-प्रज्ञा-क्षेत्रमें भावना-वासना-संस्काररूप से दृढमूल बन जाने वाले भाव का नाम ही 'प्रत्यय' है, जो प्रत्यय ऐन्द्रियक-भावानुबन्धी प्रज्ञानेन्द्र के तन्तुवितान (रश्मिवितान) से लोकभाषा में 'इन्द्रजाल' नाम से प्रसिद्ध है, जिस इस 'इन्द्रजाल' शब्द के प्रज्ञाप्राणात्मक सत्तासिद्ध इन्द्रतत्त्व को, तथा तद्वितानमहिमारूप सत्तासिद्ध ही–'जाल*' भाव को सर्गविद्यानुबन्ध से समन्वित करने में असमर्थ दृष्टान्तवादी दार्शनिकोंने 'मिथ्या' परक मानने की महती भ्रान्ति करडाली है । मानव की अपनी सत्तासिद्धा ज्ञान–क्रिया–अर्थ-शक्तियो के द्वारा प्रज्ञान-मनोमय इन्द्र के माध्यम से ईश्वरीय-सत्तासिद्ध विश्व के आधार पर वितत मानव का सत्तासिद्ध–अन्तर्जगत् ही 'इन्द्रजाल' शब्द का सहज अर्थ है, जिस इस इन्द्रजाल (प्रज्ञानमनोमय अन्तर्जगत्) के स्वरूप–बोध से ही मानव स्वस्वरूपबोध प्राप्त कर लिया करता है ।

१२०–प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रा–निबन्धन वस्तुदर्शनात्मक ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष, एवं-'मानवीय-प्रत्ययजगत्' की उभयसिद्धरूपता का समन्वय—

हाँ, तो उक्त विवेचन के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, सत्तासिद्ध, एवं स्वापेक्षया भातिसिद्ध, अतएव उभयसिद्ध ईश्वरीय अन्तर्जगद्रूप वस्तुपिण्ड, तथा वस्तुमण्डल के आधार पर स्वप्रत्यय से नवीनरूपेण आविर्भूत हो पड़ने वाला ऐन्द्रियक प्रत्यय ही मानवीय-'वस्तुदर्शन' कहलाएगा । न केवल दर्शन ही, अपितु मानवीय यच्चयावत् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष मानव के स्वयं के ही प्रज्ञा-प्राण–भूत–मात्राओं से ईश्वरीय–सत्याधार पर वितत समन्वित माने जायँगे । और यहाँ आकर यह निःसंकोच कह दिया जायगा कि, "वस्तुपिण्डानुगत वस्तुमण्डल भी दृश्य नहीं बन सकता। अपितु जिसे हम दृश्यादि कहते हैं–सब हमारे (मानव) ही ऐन्द्रियक-प्रत्ययमात्र हैं, जो प्रत्ययत्त्वेन भातिसिद्ध बनते हुए भी प्रज्ञाप्राणादि मात्रानुबन्ध से सत्तासिद्ध भी बने हुए हैं । अतएव ईश्वरीय जगत्-वत मानवीय-प्रत्ययजगत् भी उभयसिद्ध ही प्रमाणित हो रहा है । सत्यमूर्त्ति विश्वेश्वरात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति–स्वरूप मानव भी यों सर्वात्मना सत्यमूर्त्ति ही बन रहा है"। यही सत्यमूर्त्ति विश्वेश्वर यदि ऋक्–यजुः-साम–अनुबन्ध से त्रिःसत्य

---

* य एको 'जालवान्'–ईशत ईशनीभिः (श्वेता० उप० ३।१।)

है, तो मानव भी तदभिन्न ऋक्–यजु–साम–रूप काल–दिक्–देश–भावानुबन्ध से त्रिसत्य ही बना हुआ है। और–'सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र देवा सर्व एकीभवन्ति' (मानवसत्य ईश्वरीय-सत्यस्यैव सत्यविवर्त्तम। तच्च यत्र अव्ययब्रह्मणि समन्वित भवति, तत्र प्राणात्मका सर्वे देवा -प्राकृतभावा- समस्त्य गता भवन्ति, इति सैव मानवस्य जीवन्मुक्ति)।

१२१–प्रत्ययाधारभूत दिक्-देश–प्रदेश-भावों का स्वरूप–समन्वय—

विचार प्रक्रान्त है दिक्, और देश–भावों के शास्त्रीय समन्वय का। इसी प्रसङ्ग में वयोरूप वस्तुभाव के वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल–इन दो विवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाले स्पृश्य–दृश्य–भावों के प्रसङ्ग से सत्तासिद्धादि प्रत्ययभावों का प्रसङ्ग समाविष्ट हो पड़ा। भूतमय वस्तुपिण्ड ही शास्त्रीय भाषा में दिक् है, जब कि लोकव्यवहार में इसे 'देश' कहा जाता है। एवं प्राणमय वस्तुमण्डल ही शास्त्रीय दृष्टि में 'देश' है, जबकि लोकप्रज्ञा इससे सर्वथा अपरिचित ही है। मानवीय दृश्यजगत् का आधार सत्तासिद्ध यह वस्तुमण्डल ही (आलोक के माध्यम से) बनता है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। हम जिस वस्तुमूर्त्ति को देखते हैं, वह इस महिमामण्डल का ही प्रत्यक्षभाव है, जो प्रत्यक्षभाव वस्तुतः महत्तामहीयान है। इसीके माध्यम से हमारे दृश्य में दृष्ट वस्तु के आकारादि–देशभाव अभिव्यक्त होते हैं। जिसे हम वस्तु का देश कहते हैं, किंवा प्रदेश कहते हैं, वह यह दृश्यमण्डलाभिन्न प्राणमयी मूर्त्ति ही है। अतएव हमारे दृश्यमण्डल, किंवा दृश्यमूर्त्ति के आधारभूत ईश्वरीय उस दृश्यमण्डल को लाक्षणिक विधि से हम अवश्य ही 'देश' कह सकते हैं, जो ईश्वरीय वस्तुपिण्ड से अनुगत है। इस देशभाव का दिशा–बिन्दु क्योंकि वस्तुपिण्ड ही बनता है। अतएव वस्तुपिण्ड को इस दृष्टि से अवश्य ही 'दिक्' कहा जा सकता है, जो कि दिक्-शब्द पूर्वादि दिशाओं का संग्राहक न होकर यहाँ वस्तुस्वरूपसमाप्ति–अवसानभूमि का ही संग्राहक बन रहा है। अतएव भारतीय–शास्त्र–परिभाषा में समाप्तिभाव की सूचना के लिए–'इति दिक्' इत्यादिरूप से 'दिक्' शब्द का ही समावेश हुआ है। अनन्त–महिमामण्डलात्मक दृश्यमण्डलरूप प्राणमण्डल ही अनन्त–देश है, जिसका पर्य्यवसान वस्तुपिण्ड पर ही हो रहा है। अतएव वस्तुमण्डलरूप देश का दिग्भाव वस्तुपिण्ड ही बन रहा है। इसी दिक् से मण्डल का उपक्रम है, एवं इसी दिक् के केन्द्र पर मण्डल का पर्य्यवसान है। एवं इसी तत्त्वदृष्टि से यहाँ हमने वस्तुपिण्ड को तो दिक् कहा है, एवं वस्तुमण्डल को देश कहा है। क्योंकि देशप्रतीति का एकमात्र अवलम्ब प्राणात्मक यह वस्तुमण्डल ही बना हुआ है।

१२२–छन्द–वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल–रूप से काल–दिक्–देश–भावों का समन्वय—

वस्तुमण्डल (प्राणमण्डल) देश है, वस्तुपिण्ड (भूतपिण्ड) दिक् है। अब शेष रह जाता है काल, जिसे पिण्ड–मण्डल–रूप वय को सीमित करने वाला वयोनाव' ही कहा जायगा विज्ञानभाषा में। अब एक दूसरे दृष्टिकोण से काल–दिक्–देश–भावों का समन्वय कीजिए। अवसानभूमि ही दिग्भाव है। एवं वस्तुपिण्ड का यदि सीमाभावात्मक छन्द ही वयोनाव है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। वस्तुपिण्ड में आकृति, और आकृति से सीमित स्वयं वस्तुपिण्ड, ये दो भाव प्रत्यक्ष हैं। आकृति वह भाव है, जो पिण्ड के चारों ओर वर्त्तुल (गोल)–त्रिकोण–चतुष्कोण–षट्कोण–अष्टकोण–आदि भावों से प्रत्यक्षतम है। इन विभिन्न आकृतिभावों से मर्यादित विशेष गुण–रूपादि से युक्त स्वरूपात्मक वस्तुभाव ही वस्तुपिण्डभाव है। वस्तुपिण्डभाव

पर आँखे मींच कर हाथ फिराते जाइए। सब ओर फिराते जाइए। जहाँ-जहाँ आप के हाथ अपनी इस क्रिया से उपशान्त होते जायँगे, वहीं वहीं भाव पिण्ड के आकार का संग्राहक बनता जायगा। और यों अन्ततोगत्त्वा पिण्ड के अवसानात्मक प्रान्तों के सर्वात्मना संगृहीत हो जाने पर पिण्ड का आकार आप की प्रज्ञा में खचित हो पड़ेगा। अतएव कहा, और माना जायगा कि, वस्तुपिण्ड का बाह्य आकार ही वस्तुपिण्ड की अवसानभूमि है। सम्भवतः इसी आधार पर (सृष्टिसर्गव्याख्याओं की छन्दोमयी परिभाषाओं से अपरिचित) दार्शनिकोंने अवसानभावसंग्राहक इस आकृतिभाव को 'अभाव' नाम दे डाला है। अतएव च इन्होंने अभाव को भी भावस्वरूप के प्रति कारण मानलिया है। यच्चयावत् पदार्थों का अभाव, एवं वस्तुभाव का अवसानात्मक अभाव ही इनकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तुभाव का का जनक बना हुआ है, इति नु महतीयं भावुकता दार्शनिकानां छन्दःस्वरूपपराङ् मुखानाम्।

१२३-छन्दोमयी ऋक्, तद्रूपा दिक्, पिण्डरूप यजुः, तद्रूप देश, मण्डलरूप साम, एवं तद्रूप काल--

अवसानभाव ही 'दिक' है पूर्वपरिभाषानुसार। अतएव अब इस दूसरे दृष्टिकोण से हम छन्दोरूप-वयोनाध को (जिसे कि पूर्वदृष्टिकोण में 'काल' कहा गयाथा) 'दिक्' ही कहेंगे। इस छन्दोरूप-बाह्याकृतिरूप-वयोनाध से ही वस्तु की दिशा का परिचय उपक्रान्त होता है। छन्दोरूप इस दिग्भाव (आकृतिरूप वयोनाध-भाव) से परिगृहीत वस्तुपिण्ड को ही अब 'देश' कहा जायगा अपने भौतिक-धामच्छद धर्म्म से, जिसके अवान्तर विवर्त्त ही 'प्रदेश' नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रदेशता ही वस्तुपिण्ड की देशता का आधार बनी हुई है। देशाधार पर ही तो प्रदेशकल्पना सम्भव है। अब शेष रह जाता है वस्तुमण्डलात्मक प्राणमण्डल। छन्दोरूप दिग्भाव जहाँ ऋक् है, छन्द से छन्दित देशभाव जहाँ यजुः है, वहाँ महाछन्दोमय प्राणभाव ही वितानभावात्मक साम है। मण्डल का वितानसाम से, पिण्ड का रसयजुः से, एवं वयोनाध का छन्दोमयी ऋक् से ही क्रमिक सम्बन्ध है। तीनों में से तीसरे महिमामय-प्राणमण्डल के गर्भ में ही देशात्मक वस्तुपिण्ड, एवं दिगात्मक वस्त्वाकार-दोनों प्रतिष्ठित हैं। सुविशाल-उरु-अन्तरिक्षरूप प्राणमण्डलात्मक महिमामण्डल के गर्भ में ही दिक्-देशात्मक वस्तुभाव अन्तर्गर्भित बनते हुए अपने षड्भावविकारों से समन्वित रहते हैं। अतएव इस प्राणमण्डल को अवश्य ही सर्वाधार (दिक्-देशाधार) कह सकते हैं, जो कि अपने अमूर्त्त-अव्यक्त-प्राण-धर्म्म से सर्वथा ही दुरधिगम्य बना हुआ है। और यही वह अमूर्त्त-अनन्त-काल है, जिसे ब्रह्म का महिमात्मक प्रतीक मान लिया है महर्षियोंने। तभी तो अनन्तकाल ही दृष्टान्तविधि से अत्र प्रक्रान्त बना हुआ है।

१२४-काल की दिग्रूपता. दिक् की देशरूपता, एवं देश की प्रदेशरूपता, तथा दिग्-देश-प्रदेश-भावों की कालात्मकता—

इदमत्र विशेषरूपेण अवधेयम्। जिसे दिग्रूप छन्द कहा है, वह व्यक्त वस्तुपिण्डापेक्षया व्यक्त बनता हुआ भी अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अव्यक्त ही है। और यह पिण्डसीमा ही उस प्राणात्मिका कालरूपा महासीमा के रूप में वितत हो रही है। किंवा उसी महाकाल-अनन्त-अव्यक्त-प्राणमूर्त्ति-अमूर्त्तकाल का ही व्यक्तरूप व्यक्तकाल है, जिसे वस्तुपिण्ड का 'दिक्' मान लिया गया है, जबकि पूर्वदृष्टिकोण में इसी को

'काल' कहा गया है। निष्कर्षत काल ही दिक् है, और काल ही दिग्रूप वस्तुभाव है, काल ही देशरूप वस्तुपिण्ड है, एवं काल ही प्राणमण्डलात्मक अमूर्त भाव है। यों छन्दोरूप काल ही क्रमश व्यक्तकाल–दिक्–देश–भावों में परिणित हो रहा है। निम्न लिखित परिलेखों के माध्यम से उक्त दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय किया जासकता है।

(१) प्रथमदृष्टिकोणानुगतः-परिलेखः—

१	२	३
छन्दोवेदः	रसवेदः	वितानवेदः
ऋग्वेदः	यजुर्वेदः	सामवेदः
वयोनाधः	अदृश्य-वयः	दृश्य-वयः
आयतनम्	भूतपिण्डः	प्राणमण्डलम्
कालः	दिक्	देशः

(२) द्वितीयदृष्टिकोणानुगतः-परिलेखः—

१	२	३
छन्दोवेदः	रसवेदः	वितानवेद
निरुढाकृति	पिण्डः	मण्डलम्
भूतछन्दः	व्यक्तछन्दः	प्राणछन्दः
अन्तर्महिमा	मध्यमहिमा	बहिर्महिमा
काल एव	काल एव	काल एव
दिक्	देशः	कालः

(३)–समष्टिदृष्ट्यात्मकः–परिलेखः–

	१	२	
१–छन्दः––वयोनाधात्मकः-ऋग्वेदः-आवपनम् (वस्त्वाकृतिः)—	कालः–	दिक्	सर्वमिदं वयुनेन
२–रसः––वयः————यजुर्वेदः––भूतानि (वस्तुपिण्डः)—	दिक्–	देशः	
३–वितानम्-वयः————सामवेदः––प्राणः (वस्तुमहिमा)—	देशः––	कालः	

१२५–'सहस्रधा महिमानः सहस्रं' रूप असंख्य मूर्त्तिभाव––

अत्र एक सर्वथा नवीन तीसरे दृष्टिकोण से दिग्–देश–काल–भावों का समन्वय उपस्थित हो रहा है। स्पृश्य–दृश्य–भावों का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वस्तुपिण्ड की केन्द्रप्रतिष्ठा को आधार बना कर केन्द्रप्रतिष्ठात्मक अमूर्त्त–अधामच्छद प्राण ही वस्तु के महिमामण्डलस्वरूप में परिणत होता है। एवं इस महिमामण्डलात्मक महादेश की ही आलोकमाध्यम से प्रतीति हुआ करती है वस्तु के देशरूप से। इसी देशस्थिति के सम्बन्ध में हमें यह समझ लेना होगा कि, वस्तुपिण्ड का महिमामण्डल वस्तुपिण्ड के चारों ओर व्याप्त है, जिसकी व्याप्तिसीमा हीं-'**रथन्तरसाम**' कहलाया है। रथन्तरसामात्मक महिमा-मण्डल वैसा महादेश है, जिस में वस्तुपिण्ड के मूर्त्तिभावों का आनन्त्य विद्यमान है। मानवदृष्टि कदापि एककाल में सर्वात्मना इस महिमादेश का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है। अपितु मानवदृष्टि का समवन्ध तो महिमामण्डलदेश के एक प्रत्यंशमात्र से ही हुआ करता है। **देश, देश का अंश, और इसका भी प्रत्यंश**' इस कथन का स्वारस्य तो '**सहस्रधा-महिमानः-सहस्रं**'-लक्षण अनन्त-मूर्त्तिभावों से ही सम्बद्ध है।

१२६–वस्तुपिण्डाधारभूत दृश्यमण्डल की 'षड्दर्शनता' का समन्वय, एवं महादेश–अल्पदेश–भावों का स्वरूप–तारतम्य––

वस्तुपिण्ड के आधार पर वितत महामण्डल का स्वरूप सहस्र साममण्डलों से हुआ है। क्योंकि मण्डलवितानात्मक सामवेद सहस्रवर्त्मा है। सहस्ररश्मिरूप सहस्रमण्डल की प्रत्येक मण्डलरश्मि पुनः आगे जाकर सहस्र–सहस्र रूप में वितत हो जाती है। यों १ के सहस्र महिमात्मक मूर्त्तिभाव आविर्भूत हो जाते हैं उस एक महिमामय महाप्राणमण्डलात्मक महादेश में। महामण्डल यदि महादेश है, तो इसके सहस्र मण्डल देश हैं। एवं इन सहस्रों के सहस्र भाव इस दशा में माने जायँगे प्रदेश, जिसे एक मण्डलात्मिका (प्रदेशात्मिका) एक मूर्त्ति माना जायगा। महादेश '**अंशी**' है, देश '**अंश**' है, तो प्रदेश '**प्रत्यंश**' है, जिसके भी एक अंश का ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। यों '**एकांशेन जगत्सर्वम्**' यह रहस्यात्मक अनुगमभाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। प्रत्यक्षानुगत मूर्त्तिभाव का आधार वह प्रत्यंश ही है, जिसके स्थूल मापदण्ड से भी न्यूनतम ६ अंश माने गए हैं। प्रत्येक वस्तु यदि प्रत्यंश है, तो इसके ६ विवर्त्त प्रत्यंशतम ही तो माने जायँगे। प्रत्यंशात्मक दृश्य वस्तुभाव के ६ चित्र ही उसके सम्पूर्ण प्रत्यंश के दर्शन के कारण माने जायँगे। अतएव 'दर्शन' (वस्तुस्वरूप–दर्शन) यहाँ–'**षड्दर्शन**' नाम से ही प्रसिद्ध हो पड़ा है। अभी हमें इस सूक्ष्म स्थितिभेद का विचार नहीं करना है। अपितु **महादेश**, और दृष्टिविषयभूत **स्वल्पदेश**, इन दो भावों के माध्यम से ही प्रक्रान्त तीसरे दृष्टिकोण का समन्वय कर लेना है।

१२७-दिग्-देश-काल-शब्दों का दृष्टिकोण-भेदनिबन्धन स्थानविपर्य्यय-

महादेशात्मक महामण्डल अचिन्त्य-अप्रतर्क्य है मानवप्रज्ञा के लिए अपने अत्यन्तपिनद्ध आनन्त्य के कारण, जिसे द्वितीय दृष्टिकोण में हमने अनन्त-अमूर्त-काल नाम से व्यवहृत किया है। अतएव 'देश' शब्दव्यवहार एकप्रकार से अनुपपन्न ही है इस अनन्तविभतिरूप महान् प्राणमण्डल के सम्बन्ध में। इस महामण्डल का प्रत्यक्षतमभावात्मक-दृष्टिपथानुगत-दृश्यमण्डलांश ही व्यवहार का माध्यम बनेगा, एवं इसी को 'प्रदेश' कहा जायगा। इसप्रकार दूसरे दृष्टिकोण में जिस महिमामय-दृश्यमण्डलात्मक प्राणमण्डल को हमने-'काल' कहा था, वही इस तीसरे दृष्टिकोण में अब अपने तथाकथित प्रत्यक्षतमरूप से-'प्रदेश' ही कहलाने लगेगा, जिस इस प्रदेश का 'देश' माना जायगा अब वह वस्तुपिण्ड, जिसे हमने द्वितीय दृष्टिकोण में तो देश ही कहा था, किन्तु जो प्रथम दृष्टिकोण में 'दिक्' बना हुआ था। वस्तुपिण्ड यदि देश बन जायगा यहाँ, तो वस्तुपिण्ड का वयोनाधात्मक छन्द [पिण्डाकृति] दिक् बन जायगा, जो कि द्वितीय दृष्टिकोण में दिक् ही था, जोकि प्रथमदृष्टिकोण में 'काल' बना हुआ था। इसप्रकार छन्द-रस-वितान-रूप आकृति-पिण्ड-मण्डल-नामक तीनों भाव इस तृतीय दृष्टिकोण में क्रमशः दिक्-देश-प्रदेश-इन तीन भावों में परिणित हो जायँगे। शेष रह जायगा काल, जिसे अनन्त-अमूर्त-होने से अचिन्त्य ही कहा जायगा, जिसके सादि-सान्त-मूर्त-चिन्त्य तीन विवर्त ही क्रमशः दिक्-देश-प्रदेश-मान गए हैं।

१२८-प्रदेश-प्रादेश-शब्दों का समन्वय, एवं प्रदेश शब्द का स्वरूप-निर्वचन -

उक्त दृष्टिकोण का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च की सामान्य संज्ञा है-'वयुन' (सर्वमिदं वयुनम्)। इस वयुन-भाव में 'वयोनाध' और 'वय'नामक दो विवर्त समन्वित हैं। इन में वयोनाध का ही नाम वस्तु का (वय का) आकार है, यही आकृति है, यही आयतन है, आयपन है, एवं आधार है। और छन्दोरूपा इस वयोनाधामिका आकृति पर ही क्योंकि वय का पर्य्यवसान है। अतएव अवश्य ही इसे-'दिक्' कहा जासकता है, जिस के माध्यम से वयोरूप वस्तु का दिशा-परिचय सम्भव बना करता है। दिग्रूप इस वयोनाध से सीमित वय नामक दूसरे विवर्त के आगे चलकर पिण्ड, एवं महिमारूप से पुनः दो विवर्त हो जाते हैं। इन में 'पिण्डमय' स्पृश्यभाव का आधार बनता है, एवं 'महिमामय' दृश्यभाव का आधार बनता है। स्पृश्यानुगत पिण्डभाव ही देश है, एवं दृश्यानुगत महिमाभाव ही प्रदेश है। देश भूत-प्रधान है, प्रदेश प्राणप्रधान है। अतएव प्रदेशात्मक 'महिमामय' नामक मापदण्ड का प्राण के साथ ही समन्वय माना गया है। प्राणपरिमाण में प्रदेशात्मक प्रादेश ही संगृहीत है, जैसाकि-'प्रादेशमितो वै प्राणः' इत्यादि से स्पष्ट है। भूतपिण्ड का ही नाम देश है, यही पारिभाषिक 'प्रथम्' है। प्राणमण्डल ही प्रदेश है। क्योंकि इस प्राणमण्डलात्मक प्रदेश के माध्यम से ही पिण्डात्मक देश हमारी प्रतीति (प्रत्यक्ष) का विषय बनता है। यही पारिभाषिक 'पुनःप्रथम्' है। जबकि पिण्डात्मक देश की प्रतीति मण्डलात्मिका प्राणमूर्त्ति के माध्यम से ही सम्पन्न होती है, तो अवश्य ही इस प्राणमूर्त्ति का भूतमूर्त्ति का पूर्वभाव-प्राग्भाव-प्रथमभाव कहा जा सकता है। इस प्राग्भावानुरूप से ही दृश्यरूप प्राणदेश 'प्रदेश' कहलाने लग पड़ा है। देशात्मक पिण्डभाव का, किंवा पिण्डात्मक देशभाव का पूर्वभाव-प्राग्भाव मण्डलात्मक प्राणमय देश ही है। अतएव इसे 'प्रदेश' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। 'देशस्य-पिण्डस्य वा मूर्त्तेर्वा-प्राग्भाव एव प्रदेशः' ही प्रदेश-शब्द का निर्वचनार्थ है।

१२६–वस्तुपिण्डात्मक स्पृश्य--देश की देशरूपता का, तथा वस्तुमण्डलात्मक दृश्य-देश की प्रदेशरूपता का समन्वय---

स्थितिभाव, एवं दृष्टिभाव, दोनों को लक्ष्य बना कर ही इस स्थिति का समन्वय करना चाहिए। स्थितिभाव की अपेक्षा से वस्तुपिण्ड आधार बना हुआ है प्राणमण्डलात्मिका वस्तु–महिमा का। क्योंकि रसात्मक पिण्ड के आधार पर ही वितानात्मक मण्डल का वितान हुआ है। इस स्थितिमूलक दृष्टिकोण से तो यही कहा जायगा कि, "देश ही प्रदेश का आधार है, पिण्ड ही मण्डल का आधार है। अतएव च देश पूर्वावस्थित है, एवं प्रदेश पश्चात् अवस्थित है"। इस दशा में प्रदेश के 'प्र' उपसर्ग का अर्थ होगा'-देश का प्रत्यंशभाव'। पिण्डात्मक पूर्वस्थित–आधाररूप–वस्तुपिण्डात्मक देश के एक प्रत्यंश का ही मण्डलरूप से–(बहिर्मूर्तिरूप–से) क्योंकि वितान होता है। अतएव उत्तरावस्थित–आधेयरूप–वस्तुमण्डलात्मक देश को 'प्रदेश' (प्रत्यंशात्मक देश) कहना सर्वथा अन्वर्थ मान लिया जायगा।

१३०–वस्तुमण्डल का पूर्वभावित्व, एवं वस्तुपिण्ड का उत्तरभावित्व--

दूसरा है दृष्टिभाव। पदार्थसाक्षात्कारक्षेत्रानुबन्ध से स्थिति पूर्वापेक्षया सर्वथा परिवर्त्तित हो जायगी। जब हम पदार्थों का प्रत्यक्ष करने लगते हैं, तो उस वस्तुदर्शनकाल में प्राथम्य प्राणमण्डलात्मिका महिमा–मूर्त्ति का ही होता है। दृष्टि का प्रथमावगम्य मण्डल बनता है, एवं मण्डल के माध्यम से ही पिण्डात्मक देश का अनुमान हुआ करता है। यों दृष्टिप्रसङ्ग में मण्डल पूर्वभावी है, तो पिण्ड पश्चाद्भावी है। अतएव इस दृश्यस्थिति की अपेक्षा से पुनःपदरूप बहिर्मण्डलात्मक प्राणमण्डल को ही प्राग्भावत्वेन 'प्रदेशः' कहा जायगा, एवं–पश्चाद्भावत्वेन पदरूप भूतपिण्ड को ही देश कहा जायगा। और यहाँ 'प्रदेश' का अर्थ होगा–'पूर्वभावानुगतित्व', जबकि स्थितिभावानुबन्धन से प्रदेश के 'प्र' का समन्वय 'प्रत्यंश' भाव के द्वारा हुआ है, इति तत्त्वचिन्तकैर्मुकुलितनयनैरेवाकलनीयम्।

(३) तृतीय–दृष्टिकोणानुगतः परिलेखः—

१–छन्दः–वयोनाधः आकृतिः (आवपनम्)–वस्वाकृतिरेव—दिक् (दिगिति नु ऋग्वेदः)।	सर्वमिदं वयुनम् [illegible] प्रति- छन्दितम्
२–रसः--पिण्डवयः–मूर्त्तिः (भूतम्)–वस्तुपिण्ड एव—देशः–(देशः–इति नु यजुर्वेदः)।	
३–वितानम्–मण्डलवयः--महिमा(प्राणः)--वस्तुमहिमैव—प्रदेशः--(प्रदेशः--इति नु सामवेदः)	

१३१ -दिक्-देश-प्रदेश--भावों की काल-दिक्-देश--रूपता--का समन्वय—

'वयुन' नामक वस्तुतत्त्व का मूलोपक्रम 'वयोनाध' माना गया है, जो कि 'छन्द' नाम से उपवर्णित है। वस्तुपिण्डात्मक रसमूर्त्ति यजुर्वेद, वस्तुमहिमात्मक वितानमूर्त्ति सामवेद, वयोरूप ये दोनों ही 'तत्त्ववेद' छन्दोमूर्त्ति ऋग्वेद से ही प्रस्तुत हैं, जिस का उद्गीथरूप यजुः माना गया है, एवं निधनरूप साम माना गया है। ऋगात्मक प्रस्ताव, यजुरात्मक उद्गीथ, सामात्मक निधन, इन तीनों वयुनविवर्त्तों में प्राथम्य, एवं प्राधान्य प्रस्तावानुगत–ऋगनुबन्धी छन्द का ही माना जायगा। छन्द को आधार बना कर ही रस, और वितानभाव क्योंकि

आविर्भूत हैं, उत्थित हैं, अतएव छन्द को इन दोनों का 'उक्थ' स्थान (प्रभवस्थान) कहा जासकता है। छन्द से उत्थित-प्रसूत-ये-दोनों क्योंकि छन्द के द्वारा ही, छन्द को आधार बना कर ही छन्द से ही धृत हैं स्वस्वरूप में। अतएव छन्द से धृत इन दोनों की अपेक्षा से छन्द को इन दोनों का 'ब्रह्म' स्थान (प्रतिष्ठा आधारभूमि) कहा जा सकता है। छन्द से उत्थित, छन्द में धृत ये दोनों भाव छन्द साम्य से ही रसपिण्ड, एवं महिमाभावों में समानभावानुबन्धी बने हुए हैं, जिस इस साम्य का अर्थ यही है कि, छन्दोमात्रा के माप-दण्ड से ही तो रसात्मक वस्तुपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होता है, एवं छन्दोमात्रा के अनुपात से ही वितानात्मक वस्तुमण्डल ऊर्ध्व वितत होते हैं। इसप्रकार छन्द अपने आकृत्यात्मक वाक्परिमाणात्मक-छन्दोरूप-मापदण्ड से दोनों में समभावापन्न बन रहा है। अतएव छन्द को इन दोनों का 'साम' स्थान कहा जासकता है। **"जो तत्त्व जिस वस्तुभाव का उक्थ-ब्रह्म-साम-बना रहता है, वही तत्त्व उस वस्तुभाव का आत्मा माना गया है"** इस सामान्य-परिभाषा के अनुसार जिसप्रकार सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थों का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण मृत्तिकातत्त्व सम्पूर्ण मृण्मय वस्तुपदार्थों का आत्मा है, तथैव वस्तुपिण्ड-वस्तुमण्डल-रूप दोनों वयभावों के उक्थ-ब्रह्म-साम-स्थानीय छन्द को अवश्य ही इनका 'आत्मा' माना जासकता है, जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि, छन्द तो छन्द है ही। साथ ही अपने उक्थ-ब्रह्म-साम-धर्मों से वस्तुपिण्डरूप वयु भी छन्द ही है, तो वस्तुमहिमारूप साम भी छन्द ही है। यही छन्द वह अव्यक्त-अमूर्त-अनन्त-काल है, जिसके व्यक्त-मूर्त-सादिसान्त विवर्त ही तृतीय दृष्टिकोण में क्रमश दिक्-देश-प्रदेश रूप से उपस्तुत हैं। छन्दोविवर्त्तात्मक कालविवर्त्त ही दिक् है। काल का व्यक्तीभाव ही दिक् है, दिक् का व्यक्तीभाव ही देश है, एवं देश की अभिव्यक्ति ही प्रदेश है। व्यवहारभाषा में-अनन्त-अमूर्त-छन्द काल के ये तीनों दिक्-देश-प्रदेश विवर्त्त ही क्रमश काल-(व्यक्त-मूर्त्तकाल) दिक्-देश (प्रथम दृष्टिकोण में), किंवा दिक्-देश-काल-नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं। विश्वानुबन्धी सोपाधिक-सापेक्ष-इन दिग् देश-कालभावों का मौलिक-सत्तासिद्ध स्वरूप क्योंकि छन्दोवेदमयी त्रयीविद्या पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव जबतक तत्त्वात्मिका इस वेदत्रयी का स्वरूप यथावत् समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक दिग्-देश-कालात्मक विवर्तों का स्वरूपबोध कदापि समन्वित नहीं हो सकता। शब्दात्मक वेदशास्त्र की यथायावत विधाओं में तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का स्वरूप अत्यन्त ही दुर्बोध्य है। दूसरे शब्दों में वेद से-वेद का स्वरूप अत्यन्त ही दुरधिगम्य है अन्य विषयों की अपेक्षा। तभी तो वेदात्मक दिग्-देश-काल भी दुरधिगम्य बने हुए हैं अस्मदादि सामान्य जनों के लिए। इस दुरधिगम्यता की उपशान्ति के लिए तो स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-पूर्वक अनन्या सन्निष्ठा से पारिभाषिक-तत्त्वबोध-माध्यम से वेदस्वाध्याय में ही प्रवृत्त होना चाहिए। प्रकृत में तो उस अपौरुषेया वेदत्रयी का संस्मरणमात्र ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

१३२-व्यक्तिमूला अभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला त्रयीविद्या, एवं तदनुबन्धी मूर्त्त-व्यक्त-भाव का स्वरूप-समन्वय—

सामासिक-भूतभौतिक पदार्थ अपने अपने भौतिक स्वरूप की अभिव्यक्ति से अमुक सीमापर्य्यन्त 'व्यक्ति' नाम से व्यवहृत हो सकते हैं। व्यक्ति का अभिव्यक्तित्व ही व्यक्ति का वस्तुस्वरूप परिचय माना गया है, जिस इस 'व्यक्तित्व'-स्वरूपाभिव्यञ्जिका वस्तुस्वरूपा अभिव्यक्ति के, किंवा 'व्यक्ति' के 'व्यक्तित्व' के (अभिव्यक्तित्व के) स्वरूपान्वेषण में जब हम प्रवृत्त होते हैं, तो त्रयीविद्या की ओर ही हमारा ध्यान आक-

र्पित हो पड़ता है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति का क्या स्वरूप ?, क्या अभिव्यक्त (प्रकट) होता है व्यक्ति के माध्यम से ?, यह सहज प्रश्न है, जिसका प्रारम्भिक उत्तर है **मूर्त्ति, आकार, आकृति**। सबसे पहिले वस्तु का आकार ही हमारे दृष्टिपथ में अभिव्यक्त होता है, जिस आकृतिभाव को व्यक्त–मूर्त्त–द्रव्य–की अपेक्षा से लोक में–'मूर्त्ति' कहा गया है, वेद में छन्द–वयोनाध–कहा गया है। यही वस्तु की प्रथमा (पहिली) अभिव्यक्ति है।

१३३–प्राणगतिरूपा क्रिया के सञ्चरण से अभिव्यक्तित्व में परिवर्त्तन, तन्मूलक अन्नोर्क्प्राणान्योऽन्यपरिग्रहलक्षण नित्य यज्ञ, एवं यज्ञाधारभूत रसात्मक यजुः—

अब दूसरी क्रमसिद्धा अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाइए। मूर्तिमान् (आकृतिभावापन्न) पदार्थ (वस्तु–पिण्ड) में प्रतिक्षणविलक्षणभावापन्ना परिवर्त्तनात्मिका क्रिया की भी अभिव्यक्ति प्रतीत हो रही है। इस गत्यात्मक–क्रियात्मक–परिवर्त्तन के कारण ही तो वस्तु में नूतन–पुरातन–जरात्व–आदि अवस्थाएँ क्रमशः अभिव्यक्त होती रहती हैं। यह अवस्थापरिवर्त्तन ही सर्वात्मना प्रमाणित कर रहा है कि, अवश्य ही प्रत्येक मूर्त्तिमान् वस्तुपिण्ड क्रियाशील है, गत्यात्मक है *। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, यह गतिभाव ही वस्तु की स्वरूपस्थिति का नियामक बना रहता है। गति ही वस्तु का जीवन है अपने आदान–विसर्गात्मक प्रवर्ग्य-ग्रहण–प्रवर्ग्यपरित्यागात्मक अन्नान्नादयज्ञ के द्वारा, जिस यज्ञ का लक्षण माना गया है–'**अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञ:**'। प्राणगति से अन्न का आगमन होता है, अन्न अर्करूप में परिणत होता है, ऊर्क् प्राण–भाव में परिणत होता है, प्राण का क्रियामाध्यम से विस्रंसन होता है, अशनाया जागरूक हो पड़ती है। पुनः प्राण के द्वारा अन्नाकर्षण होता है। यों 'अन्न से ऊर्क्, ऊर्क् से प्राण, प्राण से पुनः अन्न, इस धारावाहिक चंक्रमणप्रक्रिया की आधारभूता क्रिया (प्राणगति) ही तो वस्तु की स्वरूपरक्षिका बनी हुई है। क्रियारूपा यही यज्ञवृत्ति पदार्थ की दूसरी अभिव्यक्ति है, जिसे लोकभाषा में क्रियागति–सञ्चरण–आदि कहा गया है, एवं यही वेदभाषा में '**रसात्मक यजुः**' कहलाई है।

१३४–केन्द्रस्थ यजुः–रस का ऊर्ध्व व्युदूहन, एवं तद्द्वारा मूर्त्ति-गति-तेजो-भावत्रयी का आविर्भाव—

अब क्रमप्राप्ता तीसरी अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाइए, जो अपने सूक्ष्म प्राणधर्म्म से सर्वसामान्य के लिए अप्रतर्क्या ही बनी रहती है। वस्तुपिण्डस्थ गत्यात्मक प्राणरस ही अपने प्राणनधर्म्म (ऊर्ध्वगमनधर्म्म) से वस्तुपिण्ड से बाहिर निकलता हुआ, किन्तु वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आबद्ध रहता हुआ परिमण्डल बनाता है। '**तमेतं रसं ऊर्ध्वं समुदौहन् प्रजापतिः**' इत्यादि भाव इसी प्राणमण्डल की ओर सङ्केत कर रहा है। इसी ऊर्ध्व–सुसूक्ष्म–वितानात्मक–वितानभावात्मक–प्राणरूप का ही नाम है–'**तेज**'। स्थूल का सूक्ष्मभाव ही 'तेज' की स्वरूप-परिभाषा है, जैसा कि '**तिज–निशाने**' धातु से स्पष्ट है। तीक्ष्णीकरण का नाम ही निशान-

---

* न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
—गीता

मात्र है। स्थूलभूतपिण्ड का सूक्ष्म–सुतीक्ष्ण–प्राणरूपेण मण्डल में परिणत हो जाना ही इस का तेजोभाव है। तेजोमय–रश्मिप्रसारात्मक–विकासभावात्मक–महिमण्डलरूप–यह प्राणमण्डल ही वितानात्मक सामवेद कहलाया है, और यही व्यक्तिपदार्थ की तीसरी, और अन्तिम अभिव्यक्ति है। या व्यक्ति की अभिव्यक्तिरत्र मूर्त्ति-गति-तेजो-रूप से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जिन इन तीनों अभिव्यक्तिभावों के तात्त्विक स्वरूप ही क्रमशः ऋक्-यजु-साम-कहलाए हैं।

१३५–मूर्त्ति-गति-तेजो-भावात्मिका ऋक्-यजुः सामत्रयी, एवं तत्समर्थन में भगवान् तित्तिरि का तात्त्विक वचन–

मूर्त्तिरूपा अभिव्यक्ति ही छन्द है, यही ऋक् है, यही आकृति है, और यही है दिग्भाव। गतिरूपा अभिव्यक्ति ही 'रस' है, यही 'यजु' है, यही वस्तुभाव (वस्तुपिण्ड) है, और यही है देशभाव। एवं तेजोरूपा अभिव्यक्ति ही 'वितान' है, यही 'साम' है, यही वस्तुमहिमा (वस्तुमण्डल) है, और यही है–'प्रदेशभाव'। इन तीनों का मर्यादारभूत अव्यक्त अमूर्त्तभाव ही कहलाया है–काल। शब्दात्मक मन्त्रों को ही 'वेद' मान बैठने वाले दार्शनिक अवश्य ही भौतिक वस्तुरूप मूर्ति-गति तेजो भावों को ऋक् यजु-साम-से समन्वित देखकर सहसा क्षुब्ध–आविष्ट हो पड़ेंगे हमारी इस समन्वयदृष्टि से। किन्तु उनकी प्रमाणभक्ति के परितोष के लिए इस समन्वयदृष्टि का अक्षरशः स्पष्टीकरण करने वाले वेदशास्त्र का ही जब हम निम्नलिखित वचन उनके सम्मुख रख देंगे, तो निश्चयेन उनका भ्रान्तिमूलक आवेश सर्वथा ही उपशान्त होजायगा। और अगत्या उन्हें भी ऋक्-यजु-साम की शब्दैककारणता के व्यामोहन का परित्याग कर मूर्त्ति-गति-तेजो-भावों के साथ ही वेदत्रयी का समन्वय कर लेना पड़ेगा। मन्त्र का अविकल स्वरूप है---

> ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहुः–
> सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्–
> सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
> —तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।६।१।

अयमत्र परिलेख —

१–प्रथमा–अभिव्यक्तिरत्र–वस्तुमूर्त्ति (मूर्त्ति)–छन्द –ऋक्–आकृति (दिक्) २–द्वितीया–अभिव्यक्तिरेव–वस्तुगति (गति)–रस–यजु–पिण्ड (देश) ३–तृतीया–अभिव्यक्तिरेव–वस्तुवितानम् (तेज)–वितानम्–साम महिमा (प्रदेश)	इयमेका–व्यक्तिः–त्रेधा– अभिव्यक्तिः–त्रिविधा– वेदमयी

१३६-मूर्त्तिस्वरूपसम्पादक ऋग्वेद की छन्दोवेदरूपता, एवं तन्मूला वेदत्रयी—

दिग्भावानुबन्धी छन्दोवेद (ऋग्वेद), देशभावानुबन्धी रसवेद (यजुर्वेद), एवं प्रदेशभावानुबन्धी वितानवेद (सामवेद), इन तीनों वेदभावो का इतिवृत्त ही दिग्-देश-प्रदेशात्मिका उस कालसृष्टि का इतिवृत्त है, जिसके समन्वय के लिए ही यह प्रासङ्गिक, किन्तु अनिवार्य्य वेदस्वरूपप्रकरण अत्र समाविष्ट हो गया है। अब इस सम्बन्ध में वेदस्वरूपदृष्टया किञ्चिदिव निवेदन कर तदनन्तर कालस्वरूपेतिवृत्त का उपक्रम होने वाला है। मूर्त्ति-आकृति-आकार-आवपन-आयतन-आधार-इत्यादि विविध अभिधाओं से अभिनीयमान, 'वयोनाध' नामक पारिभाषिक सङ्केत से सङ्केतित, छन्दोवेदानुगत 'छन्दः' की क्या स्वरूप-महिमा है ?, प्रश्न के समाधान के लिए ही वेदत्रयात्मक 'छन्दोवेद' का स्वरूपोपबृंहण हुआ है ब्राह्मणग्रन्थों में। स्मरण रहे-यह उस छन्दोवेद का ही उपबृंहण है, जो प्रधानरूपेण ऋग्-रूप ही है। ऋग्रूप केवल छन्दोवेद ही अपने महिमाभाव से ऋक्-यजुः-साम-भेदेन त्रिपर्वा बन रहा है।

१३७-मूर्त्तिभावानुगत परिणाह-विष्कम्भ-हृदय-भावों का दिग्दर्शन—

वस्तुभाव में समन्वित मूर्त्ति (आकृति)-वस्तुपिण्ड-वस्तुमहिमा-इन तीन विवर्त्तों में से पिण्ड, और महिमारूप यजुः-तथा-साम, इन दोनो वेदभावो को तटस्थ मान लीजिए। एवं केवल ऋग्रूप मूर्त्तिभाव (आकारभाव) को ही लक्ष्य बना लीजिए, और इसीके माध्यम से छन्दोवेद के रहस्यपूर्ण स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। उदाहरण के लिए अपने सम्मुख एक वर्त्तुल (गोलाकार) वस्तुपिण्ड को सामने रख कर इसकी वर्त्तुलतामात्र को मध्यस्थ मान लीजिए छन्दोवेदस्वरूप के समन्वय के लिए। वृत्त (गोलाकार) ही आकृति, किंवा मूर्त्ति है, यही छन्द है। यह आकृतिभाव परिणाह-विष्कम्भ-हृदय-भेद से तीन भावों में परिणत हो रहा है।

१३८-ऋङ्मूलक-'प्रस्ताव', यजुर्म्मूलक-'यजन', एवं साममूलक 'उद्गीथ' शब्दों का वाच्यार्थ-समन्वय—

ऋक्-यजुः-साम-नामक वेदमन्त्रों का 'वैधयज्ञ' (द्विजातिमानवों के द्वारा सम्पादित यज्ञ) रूप कर्म्मकाण्ड में ऋत्विजो के द्वारा विनियोग हुआ है। 'शस्त्र' कर्म्माधिष्ठाता 'होता' नामक ऋग्वेदी ऋत्विक् ऋङ्मन्त्रों से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है-'प्रस्ताव'। 'ग्रह' कर्म्माधिष्ठाता 'अध्वर्य्यु' नामक यजुर्वेदी यजुर्म्मन्त्रों से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है-'यजन'। एवं 'स्तोत्र' कर्म्माधिष्ठाता 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् साममन्त्रो से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है—उद्गानात्मक 'उद्गीथ'। इस-प्रकार यज्ञफलभोक्ता यजकर्त्ता यजमान के द्वारा प्रदत्त दक्षिणाद्रव्य से यज्ञकर्म्म में समाविष्ट होने वाले तीनों ऋत्विक् तीनों वेदमन्त्रों से क्रमशः प्रस्ताव-यजन-उद्गीथ-नामक तीन यज्ञकर्म्मों का सम्पादन करते हैं, एवं इन्हीं से यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है। स्पष्ट है कि, यह मानुषयज्ञ प्रकृतिसिद्ध उस नित्ययज्ञ पर ही प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजापति यजमान हैं, अग्नि-वायु-आदित्य-नामक प्राणदेवता ही क्रमशः होता-अध्वर्य्यु-उद्गाता हैं। एवं प्रकृतिसिद्ध तत्त्वात्मक ऋक्-यजुः-साम ही वेद हैं, जिनका छन्दोवेदात्मक ऋग्वेद में ही यहाँ अन्तर्भाव बतलाया जारहा है।

१३९–विष्कम्भ-ऋक्-प्रस्ताव-त्रयी का, हृदय यजुः-यजन-त्रयी का, एवं परिणाह साम उद्गीथ-त्रयी का अभिनत्त्व —

वर्त्तुलाकृतिभाव के मध्य का विष्कम्भ (व्यास–डायमीटर Diameter) ही ऋक् है, और यही 'प्रस्ताव' है। इसीलिए तो–'ऋचा प्रस्तौति ऋग्वेदी होता'। स्वयं वर्त्तुलवृत्तात्मक परिणाह (घेरा) ही साम है, और यही-'उद्गीथ' है। इसीलिए तो 'साम्ना उद्गायति उद्गाता'। वर्त्तुलवृत्तात्मिका मूर्त्ति का केन्द्रबिन्दु (हृदयबिन्दु) ही 'यजु' है, और यही 'यजन' है। इसीलिए तो–'यजुषा यजति यजुर्वेदी अध्वर्युः'। विष्कम्भरूपा ऋक् का त्रिगुणित आकार ही परिणाह का स्वरूपसमर्पक माना गया है। वस्तुपिण्ड के व्यास से वस्तु का परिणाह त्रिगुणित हुआ करता है। इसी आधार पर 'त्रिच साम' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। शब्दवेद में भी यही ऋङ्मन्त्र उच्चारण में त्रिगुणित होकर उक्त तत्त्वानुसार साममन्त्र बन जाता है। विष्कम्भरूपा ऋक् के द्वारा परिणाहरूप साम में जो यजन (मेल) होता है, वह यजनधर्म्म हृदयबिन्दु का ही माना गया है। और इस विष्कम्भ–परिणाहात्मक-यजन–(सम्बन्ध) के कारण ही यजनकर्त्ता हृदयभाव 'यजु' कहलाने लगा है। परिणाह पर ही आकार की समाप्ति है। समाप्ति ही अवसान है। अवसान ही साम है। अतएव परिणाह 'साम' कहलाने लगा है। इसप्रकार मूर्त्ति-आकृतिरूप एक छन्दोवेद में ही विष्कम्भ-परिणाह-हृदय–भेद से तीनों वेदों का उपभोग प्रमाणित हो रहा है।

१४०–छन्दोवेदत्रयीरूप ऋग्वेद की स्वरूप-महिमा—

स्मरण रहे-छन्दोरूपा आकृति भातिसिद्ध पदार्थ है। तभी तो इसे 'दिक्' कहना अन्वर्थ बनता है। न तो विष्कम्भ में ही देशभाव है, न परिणाह में ही, एवं न हृदय में ही। अपितु वस्तुपिण्डात्मक–धामच्छद–मूर्त्त–जिस वयोरूप वस्तुपिण्ड के विष्कम्भ–परिणाह–हृदय–नामक तीन भाव हैं, उस वस्तुपिण्ड में ही सत्तासिद्ध देशभाव समन्वित है। धामच्छद–पिण्डात्मक देश जहाँ 'देश' कहलाया है, वहाँ अधामच्छद महिमात्मक देश 'प्रदेश' कहलाया है, जिन इन वयोऽनुबन्धी पिण्ड–मण्डलभावानुगत देश–प्रदेश–भावों का विष्कम्भादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ देश–प्रदेश–भावों के मापदण्ड अवश्य ही ये तीनों विष्कम्भादि बने हुए हैं। और यही है छन्दोवेदात्मक दिग्भावानुगत पहिले ऋग्वेद के अवान्तर तीनों छन्दोवेदों का स्वरूप-दिग्दर्शन, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

(१) छन्दोवेदात्मके ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

१४१-इन्द्रमूला गति, उपेन्द्रमूला आगति, एवं इन्द्राविष्णू की प्रकृतिसिद्धा प्रतिस्पर्द्धा—

अब क्रमप्राप्त दूसरे गतिभावापन्न-रसात्मक यजुर्वेद के वेदत्रयात्मक-रहस्यपूर्ण स्वरूप को लक्ष्य बनाइए। विष्कम्भ-परिणाह, एवं हृदय, इन तीन छन्दोभावों से अवच्छिन्न गतिधर्म्मा जो प्राणात्मक 'रस' है, उसीको पूर्व में रसात्मक यजुर्वेद कहा है, जिससे सत्तासिद्ध वस्तुपिण्ड का स्वरूप अवस्थित है। गतितत्त्व ही प्राणतत्त्व की स्वरूप-परिभाषा है, और गत्यात्मक इसी प्राणतत्त्व का नाम है रसात्मक यजुर्वेद। इस एक ही गतितत्त्व के हृदयरूप केन्द्रभाव के, तथा परिणाहरूप परिधिभाव के अनुबन्ध से गति, और आगति-ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। **केन्द्रप्रतियोगिनी, परिध्यनुयोगिनी उसी गति का नाम 'गति' है, एवं परिधिप्रतियोगिनी-केन्द्रानुयोगिनी उसी गति का नाम 'आगति' है।** केन्द्र से परिधि की ओर प्राण की गमनरूपा गति ही 'गति' है, एवं परिधि से केन्द्र की ओर प्राण की आगमनरूपा गति ही 'आगति' है। परिधि-से अनुगत गति का अर्थ है—गमन (जाना), एवं हृदयानुगता गति का अर्थ है—आगमन (आना)। यों एक ही गति केन्द्र, और परिधि-भावात्मक छन्दों की अनुयोगिता-प्रतियोगिता से **गति-आगति** रूपेण दो विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। अक्षरविद्यापेक्षया गतिभाव का नाम जहाँ 'इन्द्र' है, वहाँ आगतिभाव का नाम 'उपेन्द्र' है, जो कि 'उपेन्द्र' ही यज्ञप्रवृत्ति के कारण 'विष्णु' नाम से भी प्रसिद्ध है। दोनों संयुक्प्राण हैं, अतएव 'इन्द्राविष्णू' व्यवहार प्रतिष्ठित है। आगमन-गमन-मूलक आदान-विसर्ग-भावों का धारावाहिक चङ्क्रमण ही मानो इन्द्राविष्णू की वह प्रतिस्पर्द्धा है, जिसके प्रभाव से ही न तो अन्य शक्तियाँ इन दोनो को ही परास्त कर सकती, एवं न ये दोनों शक्तियाँ स्वयं परस्पर में ही एक दूसरी से पराजित होती। गतितत्त्व के गति-आगति-रूप इसी प्रतिद्वन्द्वीभाव को लक्ष्य में रख कर वेदमहर्षिने कहा है—

> **उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।**
> **इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्** ॥ऋक्सं० ६।६९।८।-

१४२-लोक-वेद-वाक्-अनुगता साहस्री त्रयी, एवं 'न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः' का तात्त्विक समन्वय—

क्या तात्पर्य्य हुआ 'न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः' (दोनों में कोई भी एक दूसरे से पराजित नही होता) इस वाक्य का ?, तात्पर्य्य स्पष्ट है। **गति के पूर्वभाग का ही नाम जहाँ आगति है, वहाँ आगति के उत्तरभाव का ही नाम गति है।** अपने इन पूर्वोत्तरभावों के समतुलन से ही गतिरूप इन्द्र, और आगतिरूप विष्णु-दोनो का बलप्रयोग समतुलित बना रहता है। जिस अनुपात से गति की प्रवृत्ति होती हैं, उसी अनुपात से आगति की प्रवृत्ति होती है। अतएव गतिप्राणात्मक--**ददानधर्म्मा**--इन्द्र के साथ आगतिप्राणात्मक-**आदानधर्म्मा**-विष्णु से होने वाली, किंवा विष्णु के साथ इन्द्र से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा समबलान्विता ही बनी रहती है। दोनो मे से कोई भी तो एक दूसरे से नही हारता। क्या होता है इस समानप्रतिस्पर्द्धा का परिणाम ?, उत्तर है महिमामण्डलात्मिका उस प्राणसाहस्री का ऊर्ध्व-आसमन्तात् वितान, जिस साहस्री-मण्डल के * लोकसाहस्री-वेदसाहस्री-वाक्साहस्री-ये तीन विवर्त्त माने गए है, जिन इन तीनों साहस्रियों का आग-

---

* किं तत्सहस्रमिति ?-इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्।
—ऐतरेय-आरण्यक

तिधर्म्मा विष्णु के आधारभूत पारमेष्ठ्य-सरस्वान-नामक-आपोमार के साथ ही समन्वय है, जिस इस आपोमूला त्रिशाहस्री के स्वरूप-समन्वय के लिए तो सुप्रसिद्ध 'वषट्कारविद्या' के ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए।

१४३-प्राणगति के गति-आगति-स्थिति-रूप-तीन विवर्त्त, तद्रूपा ब्रह्मे-न्द्र-विष्णु-त्रयी, एवं तदनुगता एका मूर्त्तिः—

यही गतिरूप केन्द्रबल से परिच्छिन्न बन कर 'स्थिति' भाव में परिणत हो जाता है। विरुद्ध दिग्-द्वयगति, एवं सर्वतोदिग्गति ही 'स्थिति' का स्वरूप-परिचय है, जिस का लोकार्थ है-'गतिसमष्टि'। गति, और आगति नामकी गतियाँ विरुद्ध-दिग्द्वयानुगता हैं केन्द्र-और परिधि की अनुयोगिता-प्रतियोगिता से। इन दोनों के केन्द्रात्मक स्तम्भन का नाम ही 'स्थिति' है, जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है तदीतत्तत्समन्वय प्रसङ्ग में (शत० ६।१।१।६।)। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' इस चयनश्रुति के अनुसार स्थितिरूप यह ब्रह्म (पुराणभाषानुसार 'ब्रह्मा') ही गति-आगति-रूप इन्द्र-विष्णु के नियन्ता बने हुए हैं। अतएव ब्रह्मा का एक नाम-'नियति' भी हो गया है। केन्द्र से परिधिपर्य्यन्त अपना सामान्य प्रतिष्ठित रखने वाली इन्द्र-रूपा गति, एवं परिधि से केन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली विष्णुरूपा आगति, इन दोनों ही विरुद्ध गतिभावों की आधारभूता गतिस्तम्भनरूपा स्थिति ही ब्रह्मप्रतिष्ठा है, जो गतिसमुच्चयलक्षणा गति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसप्रकार गतिरूपा गति, आगतिरूपा गति, गतिसमुच्चयरूपा गति ही क्रमशः गति-आगति-स्थिति-नामों से प्रसिद्ध हो रही है, और यही क्रमशः इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मात्मिका वह अविक्ता देव-त्रयी है, जिसका-"एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा -ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' (महेश्वर -इन्द्र)"इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है।

१४४-आगतिरूपा गति का उक्थाप्यायनत्व, तदनुबन्धी ऋक्त्व, एवं यजुर्गति में ऋग्वेद का उपभोग—

आगतिरूपा-विष्णुभावात्मिका गति का ही नाम है-ऋक्, गतिरूपा इन्द्रभावात्मिका गति का ही नाम है-साम, एवं स्थितिरूपा ब्रह्मभावात्मिका गति का ही नाम है यजु। इसप्रकार गतिरूप एक ही यजुर्भाव, किंवा यजुरूप एक ही गतिभाव अपने आगति-गति-स्थिति-रूप तीन विभिन्न गतिविवर्त्तों से ऋक्-साम-यजु -रूप में परिणत हो रहा है। क्यों इन तीन गतिभावों को ऋगादिरूप से व्यवहृत किया गया ?, प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकरण-समन्वय-दृष्टया अब यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, वस्तुभाव के उप-क्रमबिन्दु का नाम ही-'प्रस्तार' है, प्रस्तारात्मक उपक्रमभाव ही 'उक्थभाव' है, और प्रस्तावात्मक उक्थ-भाव ही 'ऋग्भाव' है। ऋक् के इस स्वरूपधर्म का सम्बन्ध क्योंकि आगतिरूप गतितत्त्व से हो रहा है। अत-एव अवश्य ही आगतिरूपा गति को 'ऋक्' कहा जा सकता है। इस आगतिधर्म्म से ही पिण्डप्रजापति के विस्रंसन (क्षीण) भाग की चतिपूर्त्ति होती रहती है। आगतिधर्म्म से ही बाहिर से अन्न का आहरण होता है, जो कि प्राजापत्य अन्न 'अशीति' कहलाता है। अशीतिरूप अन्न की आहुति से ही प्रजापतिरूप उक्थ का आप्यायन होता है, जैसाकि-'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' इत्यादि निगम से स्पष्ट है। यथार्थ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड की भूतमात्राएँ गतिभाव से निरन्तर क्षीण होती रहती हैं। किन्तु आगतिभाव से बाहिर

की भूतमात्राओं का निरन्तर आगमन भी होता रहता है। इसी से विस्रस्त–क्षीण–भाग की पूर्त्ति होती रहती है। इस आप्यायनधर्म्म से ही वस्तुपिण्ड का स्वरूपरक्षक उक्थ (बिम्ब–पिण्ड) स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है, जिस उक्थ के आधार से ही सम्पूर्ण पिण्डभाव प्रस्तुत होते रहते हैं। यह प्रस्तावभाव क्योंकि–ऋग्भाव है, आगतिरूपा गति ही अशीति के द्वारा उक्थाप्यायन करती हुई उक्थ के ऋग्रूप प्रस्तावभाव की मूलप्रतिष्ठा बनती है। अतएव अवश्य ही प्रजापति–आप्ययनकर्त्री इस आगतिरूपा गति को प्रस्तावोक्थात्मिका–'ऋक्' कहा जा सकता है, कहा गया है। पिण्डात्मक देश का उपक्रमरूप ऋगात्मक प्रस्ताव आगतिमूलक ही है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है।

१४५–गतिरूपा गति का ऋचा समत्त्व, एवं यजुर्गति में सामवेद का उपभोग—

साम का एक लक्षण यह माना गया है कि–'**ऋचा समं मेने, तस्मात् साम**'। साम क्योंकि ऋग्भाव के साम्यभाव से ही स्वस्वरूप व्यक्त करता है। अतएव इस ऋक्–साम्यधर्म्म से ही साम को 'साम' कहना अन्वर्थ बन रहा है। गतिविवर्त्तों में से गतिभावात्मिका ऐन्द्री गति इसी साम्यधर्म्म से अनुप्राणित है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। जिस अनुपात से आगतिभाव व्युत्क्रान्त * रहता है, उसी अनुपात से गतिभाव उत्क्रान्त रहता है। व्युत्क्रमण के समानानुपात से ही उत्क्रमण होता रहता है। यही तो इन्द्राविष्णू की समानविजयानुबन्धिनी प्रतिस्पर्द्धा है। इस उत्क्रमण से प्रजापतिमात्राओं का उसी अनुपात से विस्रंसन होता रहता है, जिस अनुपात से कि व्युत्क्रमण के द्वारा प्रजापति का विस्रस्त भाग आप्यायित होता रहता है। यों आगतिभाव से गतिभाव समभावापन्न ही प्रमाणित हो रहा है। आगति ऋक् है, तो तत्समा गति को इसी परिभाषा के अनुसार '**ऋचा-आगत्या समं मेने-आगतिं**'–इस नियमानुबन्ध से अवश्य ही 'साम' कहा जा सकता है, कहा गया है। पिण्डात्मक देश का उपसंहारात्मक–सामात्मक निधन गतिमूलक है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

१४६–स्थितिरूपा गति का यजनात्मक यजुष्ट्व, एवं यजुर्गति में यजुर्वेद का उपभोग, तथा रसवेदात्मक यजुर्वेद की त्रयीरूपता का समन्वय—

अब शेष रह जाता है प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक स्थितिभाव। यजनधर्म्मात्मक युञ्जनधर्म्म ही यजुः की स्वरूप–परिभाषा है। योग कराना ही यजुः का स्वरूपधर्म्म माना गया है। और यह धर्म्म गतिसमुच्चयरूपा 'स्थिति' नाम की गति पर ही अवलम्बित है। सर्वाधारभूता स्थिति ही आगतिभाव को गति के साथ समन्वित रखती है, एवं स्थिति ही गतिभाव को आगतिभाव से समन्वित रखती है। अतएव–'**युञ्जनमेव यजुः**' इस परिभाषा के अनुसार युञ्जनकर्त्री स्थिति अवश्य ही यजुर्भावात्मिका प्रमाणित हो रही है, जिस युञ्जन से ही पदार्थस्वरूप की 'स्थिति' सुरक्षित रहा करती है। इसप्रकार वस्तुपिण्डात्मक गतिभावात्मक–रसमय–यजुर्वेद में भी आगति–स्थिति–गति–रूप ऋक्–यजुः–साम, इन तीनों वेदों का उपभोग होजाता है, जो वस्तुगत्या देश के ही विवर्त्त हैं। यही है रसवेदात्मक, देशभावानुगत दूसरे यजुर्वेद के अवान्तर तीनों रसवेदों का स्वरूप–दिग्दर्शन, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

* विष्णोर्विक्रमणं–व्युत्क्रमणं वा प्रसिद्धम्। इन्द्रस्य उत्क्रमणं प्रसिद्धम्।

(२)-रसवेदात्मके यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

१–हृदयानुयोगिको गतिभाव एव आगति	(विष्णु)—ऋक्		
२–गतिसमुच्चयात्मको गतिभाव एव स्थिति	(ब्रह्मा)—यजु	२ रसवेद यजु	पिण्डः
३–परिध्यनुयोगिको गतिभाव एव गति	(इन्द्र)—साम		

१४७-तेजोभावापन्न वितानात्मक सामवेद, एवं तदनुगत पूर्वोत्तरमण्डलभाव—

अब क्रमसिद्ध तीसरे-तेजोभावापन्न-वितानात्मक-सामवेद हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसके ऋक्-यजु-साम-रूप-तीनों विभूतिपर्वों का दिग्दर्शन कराती हुई ही यह वेदरहस्यात्मिका रूपरेखा उपरत हो रही है। आगति-स्थिति-गति, इन तीन रसभावों-वस्तुभावों से क्रमरूप-ऋक्-यजु-सामात्मक-देशानुबन्धी जिस रसात्मक यजुर्वेद का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वही तेजोमय सामवेद का प्रवर्त्तक बनता है, जिस तेजोमय सामवेद के वैतानिक-महिमामयरूप से ही रसवेदात्मक-वस्तुपिण्ड के चारों ओर वितानवेदात्मक महिमामण्डल का आविर्भाव हो पड़ता है। "सलिलस्य अप्सु प्रविध्यत' मूलक बलप्रयोगात्मक प्राण-सङ्क्षेदन से वस्तुपिण्डभुक्त गत्यात्मक यजु प्राण पिण्ड से बाहिर की ओर वितत बनकर रश्मिरूप में परिणत होता हुआ, आगे चलकर रश्मियों के अभिप्लवस्तोम-सम्बन्ध से मण्डलरूप में समन्वित होजाता है। ऐसे सहस्र-सहस्र-रश्मिभावात्मक सहस्र-छोटे-बड़े-मण्डलों की समष्टि ही सहस्रतमा सामवेद है।

१४८-प्रदेशात्मक-प्राणमण्डल-लक्षण-तेजोमय-साम से अनुगता त्रयीविद्या-

वस्तु के प्राणमय महिमामण्डल की प्रदेशता का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में बतलाया गया था कि, महतोमहीयान् महिमामण्डल जहाँ अपने अमूर्त्त-प्राण-भाव से सर्वथा अचिन्त्य बनता हुआ दिक्-देश-प्रदेशादि-भावों से असंस्पृष्ट है, वहाँ इस महिमामण्डल में ही भुक्त, वस्तुपिण्ड के विष्कम्भात्मक व्यास के आधार पर उत्तरोत्तर छोटी होती जाने वाली भूतमात्रागर्भिता प्राणमयी मूर्त्तियाँ ही तद्वस्तु के देश, एवं प्राणमूर्त्तिरूप प्रदेश के साक्षात्कार का अवलम्ब बनती हैं आलोक के प्रतिफलन से। मूर्त्तियों की साहस्री से जहाँ प्रदेशात्मक उत्तरोत्तर वरीयान् (बड़े) सापेक्ष साममण्डलों का स्वरूपाविर्भाव होता है, वहाँ मूर्त्तिभुक्त विष्कम्भों के माध्यम से प्रदेशात्मिका-उत्तरोत्तर-ह्रसीयसी मूर्त्तियों का आविर्भाव होता है। इसी से यह भी सुसिद्ध है कि, वस्तुपिण्ड के चारों ओर वितत रहने वाले अचिन्त्य-अमूर्त्त-महामहिमामण्डल के गर्भ में प्रदेशरूप से अवस्थित प्राणमण्डलों में पूर्व-पूर्वमण्डल उत्तरोत्तरमण्डलापेक्षया जहाँ छोटा है, उत्तरोत्तर मण्डल पूर्व-पूर्व-मण्डलापेक्षया जहाँ बड़ा है, वहाँ प्राणमूर्त्तियों में पूर्व-पूर्व-मूर्त्यपेक्षया उत्तरोत्तर मूर्त्तियाँ छोटी हैं, एवं उत्तरोत्तर मूर्त्तियों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मूर्त्तियाँ बड़ी हैं। यों विष्कम्भमूलक वितान से अनुप्राणिता मध्यस्था हृदयभावानुगता ऋजुरेखा के परिधिपर्य्यन्त-व्याप्त रहने से इसी के सापेक्ष बड़े-छोटे विष्कम्भों के (पूर्वपूर्व व्यास उत्तरोत्तर व्यास से बड़ा है)-आधार पर ही प्राणमण्डलों का निर्म्माण हुआ है। विष्कम्भात्मिका ऋजुरेखा का जहाँ प्राणमूर्त्तियों से सम्बन्ध है, वहाँ विष्कम्भ के त्रिगुणित वितानभावों का प्राणमण्डलों से सम्बन्ध है। एवं इस स्थिति के आधार पर ही इस प्रदेशात्मक प्राणमण्डललक्षण-तेजोमय-साम के तीनों वेदभावों का समन्वय करना है।

१४६-पूर्व-पूर्व-मण्डलात्मक भावों का ऋक्त्व, उत्तरोत्तरमण्डलात्मक भावों का सामत्व, विष्कम्भहृदयरेखानुगत भाव का यजुष्ट्व, एवं वितानवेदात्मक सामवेद में त्रयीवेद का उपभोग--

मूर्त्तिभाव ऋक् की परिभाषा है, मण्डलभाव साम की परिभाषा है, एवं गतिभाव यजुः की परिभाषा है, जैसाकि, पूर्व के-'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट किया जा चुका है। सहस्र-मण्डलों में से पूर्व-पूर्व मण्डल मूर्त्तिभावों के संग्राहक हैं, एवं उत्तरोत्तर मण्डल मण्डलभावों के संग्राहक है। पूर्वा पूर्वा मूर्त्ति ही विष्कम्भ के हृदयबिन्दुपार्श्ववर्त्ती अणुद्वय के ऊर्ध्व वितान से उत्तर उत्तर के मण्डल-रूप में परिणत हो जाया करती है, जिस इस रहस्य का समन्वय तो परिलेखानुगत-उपनिषद्भूमिकाग्रन्थ के तात्त्विक स्वरूप--निरूपण के माध्यम से ही करना चाहिए। यहाँ यही समझ लेना अलं होगा कि, पूर्व-पूर्व-मण्डल क्योंकि प्राणमूर्त्तिभावों के सम्पादक हैं, मूर्त्ति को ही क्योंकि 'ऋक्' कहा जाता है। अतएव महामहिमा-मण्डलभुक्त सहस्रमण्डलों में से सम्पूर्ण पूर्वमण्डलों को मूर्त्तित्वेन-'ऋक्' ही कहा जायगा। एवमेव उत्तर-उत्तर-मण्डल क्योंकि पूर्व-पूर्व-मूर्त्तिरूप मण्डलों के ही वैतानिक-माण्डलिक-रूप हैं, मण्डल को ही क्योंकि 'साम' कहा जाता है। अतएव महामहिमामण्डलभुक्त सहस्रमण्डलों में से सम्पूर्ण उत्तरमण्डलों को मण्डल-त्वेन 'साम' ही कहा जायगा। अब शेष रह जाती है विष्कम्भहृदयानुगता वह ऋजुरेखा, जो वस्तुपिण्ड के विष्कम्भकेन्द्र से चलकर अपने स्वाभाविक गत्यात्मक प्राणभाव से परिधि से समन्वित निधनसामबिन्दु पर विश्राम ले रही है। इसी से तो पूर्वमण्डल मूर्त्तिरूप में परिणत होते हैं, एवं इसी से उत्तरमण्डल पूर्वमूर्त्ति-मण्डल के महिमामण्डल कहलाए हैं। गतिशील यह ऋजुप्राणात्मक ऊर्ध्व वितत-केन्द्रीय प्राण ही मूर्त्ति, और मण्डल-भावों का यजनात्मक सम्बन्ध करा रहा है, जोकि केन्द्रीय प्राण अपने इस विकासात्मक वितानधर्म्म से मण्डलरूप में परिणत होता हुआ जहाँ साम है, वहाँ यजनसम्बन्ध से यही साम यजुः भी बन रहा है। इस-प्रकार पूर्वमण्डल--उत्तरमण्डल-विष्कम्भानुगता हृत्प्राणरेखा-भेद से प्राणमण्डलात्मक एक ही साम इन तीन विभूतियों में परिणत होता हुआ वेदत्रयात्मक बन रहा है। यही है वितानवेदात्मक प्रदेशभावानुगत तीसरे सामवेद के अवान्तर तीनों वितानवेदों का स्वरूप-दिग्दर्शन, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

(३)–नितानवेदात्मके सामवेदे वेदत्रयोपभोगः—

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि-मूर्त्तय (मूर्त्ति -ऋक्)—इति-ऋगात्मक साम २—उत्तरोत्तर-मण्डलानि-मण्डलानि (मण्डल-साम)–इति–सामात्मक साम ३—केन्द्रानुगता प्राणात्मिका ऋजुरता (गतिप्राण-यजु)–इति–यजुरात्मक साम	(३) नितानवेदः-साम मण्डलम्

समष्ट्यात्मकः परिलेखः—

अयमत्र प्रश्नोत्तरविमर्शः—पारिभाषिकः—

———————————*

१—केयं दिक् ?, इति छन्दोवेदमेव गृहाण
२—कोऽयं देशः ?, इति रसवेदमेव गृहाण } इत्यन्यत्
३—कोऽयं प्रदेशः ?, इति वितानवेदमेव गृहाण

———————————*

१—वयोनाधात्मकः—ऋङ्मयश्छन्दोवेद एव 'दिक्'
२—पिण्डवयात्मकः—यजुर्म्मयो रसवेद एव 'देशः' } इत्यन्यत्
३—मण्डलवयात्मकः-साममयो वितानवेद एव 'प्रदेशः'

———————————*

१—मूर्त्तिरेव ऋक्—सैषा 'दिक्'
२—गतिरेव यजुः—सोऽयं 'देशः' } इत्यन्यत्
३—तेज एव साम—सोऽयं 'प्रदेशः'

———————————*

१—वस्तुमूर्त्तिरेव ऋक्—सोऽयं दिग्भावः
२—वस्तुपिण्ड एव यजुः—सोऽयं देशभावः } इत्यन्यत्
३—वस्तुमण्डलमेव साम—सोऽयं प्रदेशभावः

———————————*

बड़ा ही दुर्बोध्य है काल का महिमामय वह स्वरूप, जिसके व्यक्त—काल, दिक्, देश, प्रदेश, नामक चार प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं। चारों में से प्रदेश का जब देश में अन्तर्भाव होजाता है, तो चार के स्थान में 'काल—दिक्—देश' ये तीन ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। एवं यदि व्यक्तात्मक काल का अव्यक्त महाकाल में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो उस दशा में 'दिक्—देश—प्रदेश' ये तीन हीं विवर्त्त शेष रह जाते हैं। एवमेव यदि देश का दिक् में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो 'काल--दिक्' ये दो ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। सर्वान्ते च यदि दिक् का भी काल में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो केवल 'काल'

ही शेष रह जाता है, जिसके अमूर्त–भावात्मक आनन्त्य का अनन्तब्रह्म के साथ दृष्टान्तविधि से समतुलन करने के प्रसङ्ग में ही–'दिग्देशकालमीमांसा'–अत्र जागरूक हो पड़ी है। सर्वसामान्यभावानुगता मान्यता के अनुपात से अनुप्राणित समयसूचक 'काल', पूर्व–पश्चिमादि दिशाओं की सूचिका दिक्, छोटा–बड़ा–लम्बा–चौड़ा गोल–आदि विविध भौतिक स्थानों का सूचक देश, एवं देशावयवों का सूचक प्रदेश, इन लोकानुबन्धी काल–दिक्–देश–प्रदेश–भावों के साथ शास्त्रीय–भावानुगता आस्था से समन्वय रखने वाले काल–दिक्–देश–प्रदेश–तत्त्वों का कहाँतक, कैसा समतुलन है ?, प्रश्न की मीमांसा तो सम्भवत प्रस्तुत निबन्ध के–उपसंहार में ही की जायगी। अभी तो सृष्टिविज्ञान के माध्यम से शास्त्रीय दृष्ट्या ही इन तत्त्वों का स्वरूप-दिग्दर्शन पाठकों के सम्मुख अनेक दृष्टिकोणों से उपस्थित किया जारहा है।

१५०–त्रिवेदात्मिका छन्दोवेदमयी वस्तुमूर्त्ति, त्रिवेदात्मक रसवेदमय वस्तुपिण्ड, त्रिवेदात्मक वितानवेदमय वस्तुमण्डल, एवं मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डलात्मक पदार्थ—

जिस वेदतत्त्व के माध्यम से पूर्व में दिक्–देश–प्रदेश–तत्त्वों की जो स्वरूपमीमांसा हुई है, उसके आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, त्रिवेदात्मक छन्दोवेद से वस्तुमूर्त्ति का, त्रिवेदात्मक रसवेद से वस्तुपिण्ड का, एवं त्रिवेदात्मक वितानवेद से वस्तुमण्डल का आविर्भाव होता है। वस्तुमूर्त्ति–वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल–तीनों मिलकर एक वस्तुभाव (पदार्थ) है, जिसका तात्पर्य्य यही होता है कि, ऋग्रूप छन्दोवेद, यजुरूप रसवेद, एवं सामरूप वितानवेद ही वस्तुभाव के मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल, इन तीन अवान्तर भावों के सर्जक बने हुए हैं। अतएव कहा जासकता है कि–त्रिमूर्त्ति वेद से ही विश्वपदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

१५१–गुण–अणु–रेणु–भूत–भौतिक–महाभूत–आदि के मुख्य सर्जक तत्त्वात्मक त्रयीवेद का संस्मरण, एवं त्रयीवेद की कालरूपता के माध्यम से 'कालः सृजति भूतानि' का समन्वय—

रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–नाम से प्रसिद्ध इन पाँच तन्मात्राओं के पञ्चीकरण–पारम्पर्य्य से ही अणुभूत–रेणुभूत–भूत–इन तीन क्रमों के अनन्तर पृथिव्यादि पञ्च स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन पञ्च महाभूतों से ही मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलात्मक-त्रिभावापन्न भूतभौतिक पदार्थों का स्वरूप–निर्माण हुआ है। पदार्थों का साक्षात्सर्जक पञ्चमहाभूतसर्ग परम्परया रूप–रस–गन्धादि पञ्चतन्मात्रात्मक गुणभूतसर्ग पर ही विश्रान्त है। अतएव गुणभूतात्मक पञ्चतन्मात्राभाव को ही हम भूतभौतिक–पदार्थों का सर्जक कहेंगे। यहाँ प्रश्न होता है कि–पञ्चतन्मात्राएँ (गुणभूत) किससे आविर्भूत हुई ?। इस प्रश्न का जो भी समाधान होगा, वही पदार्थों का इसलिए प्रमुख सर्जक माना जायगा कि, पञ्चतन्मात्रारूप गुणभूतों से आरम्भ कर तत्पञ्चीकृत–रूप गुणभूत अणुभूत–रेणुभूत-महाभूत-पर्य्यन्त के चारों वर्ग तो पाञ्चभौतिक पदार्थों की भूतानुबन्धिता से भूत-श्रेणि में ही प्रतिष्ठित होते हुए वस्तुगत्या 'प्रकृति' ही बने हुए हैं, 'कार्य्य' ही बने हुए हैं। अतएव इन चारों–गुण–अणु–रेणु–महा–भूतों में से किसी को भी भौतिक पदार्थों का मुख्य सर्जक नहीं माना जा–सकता। मुख्य सर्जक वही होगा, जो स्वयं प्राणरूप होता हुआ भूतानुबन्धी अपने सीमाभाव से भूतों का

सर्जन करेगा। वही तत्त्व 'वेद' कहलाया है, एवं यही 'काल' तत्त्व का स्वरूप-दिग्दर्शन है। 'कालः सृजति भूतानि' का अर्थ है-'वेदः सृजति भूतानि'। वेदात्मक काल, किंवा कालात्मक वेद ही गुणाणुरेणुभूत-महाभूतभावों का सर्जक बनता हुआ परम्परया भूतभौतिक पदार्थों का मूलस्रष्टा प्रमाणित हो रहा है। पञ्चतन्मात्रारूप से भौतिक पदार्थ जहाँ पञ्चावयव हैं, वहाँ अपने मूलभूत वेदतत्त्व के सम्बन्ध से भूत पदार्थ मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-रूपेण त्रिभावापन्न बने हुए हैं। 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' (छान्दोग्य उपनिषत्) मूलक इसी सृष्टिसमन्वय को लक्ष्य में रखते हुए राजर्षिने कहा है—

> शब्दः-स्पर्शश्च-रूपञ्च-रसो-गन्धश्च पञ्चमः।
> वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः॥ —मनुः १२।९८।

१५२-तत्त्वात्मक-लोकातीत-वेद की कालपुरुषता का, एवं योगात्मक-लोकमय- वेद की यज्ञपुरुषता का समन्वय—

पदार्थस्रष्टा तत्त्वात्मक वेद स्वयं अपने समष्ट्यात्मक लोकातीत स्वरूप से जहाँ कालात्मक है, वहाँ यही पदार्थसृष्टिरूप से दिक्-देश-प्रदेश-रूप लोकस्वरूप से यज्ञात्मक बना हुआ है। काल ही यज्ञरूप में परिणत हो रहा है, यज्ञ ही पदार्थ का पदार्थत्व है। यज्ञात्मक पदार्थ का ऋगनुबन्धी मूर्त्तिभाव ही 'दिक्' है, यजुरनुबन्धी पिण्डभाव ही 'देश' है, एवं सामानुबन्धी मण्डलभाव ही 'प्रदेश' है। सामानुबन्धी वस्तुमण्डल वस्तुपिण्ड में अन्तर्भूत है, अतएव मण्डलात्मक प्रदेश पिण्डात्मक देश में अन्तर्भूत है। यजुरनुबन्धी वस्तुपिण्ड वस्तु-मूर्त्ति में अन्तर्भूत है, अतएव पिण्डात्मक देश मूर्त्यात्मिका दिक् में अन्तर्भूत है। ऋगनुबन्धिनी मूर्त्ति सर्वाधारभूत लोकातीत वेद में अन्तर्भूत है, अतएव मूर्त्यात्मिका दिक् वेदात्मक काल में अन्तर्भूत है। वेदात्मक काल ही मूर्त्तिभाव से दिक् है, काल ही दिङ्माध्यमेन पिण्डभाव से देश है, काल ही देश-माध्यमेन मण्डलभाव से प्रदेश है, इति 'काल एवेदं सर्वम्'। वेदात्मक काल से आविर्भूत मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-माध्यम से छन्दोवेद-रसवेद-वितानवेद-स्वरूप-विश्लेषण-पूर्वक-दिक्-देश-प्रदेश-भावों का स्वरूप तो स्पष्ट किया जा चुका। किन्तु अभी इन तीनों का आधारभूत कालतत्त्व (लोकातीत वेदतत्त्व) का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित नहीं हो सका।

१५३-अपौरुषेय कालवेद, एवं पौरुषेय यज्ञवेद, तथा तद्वाचक ब्रह्मनिःश्वसित, और गायत्रीमात्रिक-शब्दों का संस्मरण—

क्या तत्त्वात्मक वेद के भी लोकातीत-लोकात्मक-रूप से दो विवर्त्त हैं? प्रश्न इसलिए उपस्थित हो पड़ा कि, पूर्व में छन्दः-रसः-वितानम्-रूप से जिन त्र्यात्मक [त्रिवृद्भावापन्न] तीन वेदों का विष्कम्भ-परिणाहादिरूप से दिग्दर्शन कराया गया है, वे तीनों तत्त्वात्मक वेद तो मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलरूप दिक्-देश-प्रदेशात्मक लोकमर्गों में ही समन्वित हो रहे है। अतएव दिक्-देश-प्रदेशात्मक छन्दः-रस-वितान-रूपा वेदत्रयी तो लोकात्मिका वेदत्रयी ही प्रमाणित हो रही है। उधर हम इन तीनों के मूलाधार-सर्वाधार-लोकातीत-कालतत्त्व को भी वेदतत्त्व ही बतला रहे हैं। अतएव उक्त प्रश्नोदय सर्वथा न्यायसिद्ध बन जाता है। प्रश्न का समाधान-'अस्ति' रूप-में ही दिया जायगा, और कहा जायगा कि, वास्तव में तत्त्वा-

त्मक वेद दो ही विवर्त्त-भावों में परिणत है, जो क्रमश अपौरुषेय-कालवेद, पौरुषेय-यज्ञवेद, इन नामों से व्यवहृत होगा। अपौरुषेय-कालात्मक वेद ही 'ब्रह्मनि श्वसितवेद' नाम से प्रसिद्ध है, एव पौरुषेय-यज्ञात्मक वेद ही-'गायत्रीमात्रिकवेद' नाम से उपवर्णित है। दिक्-देश-प्रदेशानुबन्धी-मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-भावों का सर्वांक छन्द-रस-वितान-रूप पौरुषेय-यज्ञवेदात्मक गायत्रीमात्रिकवेद है, एव तत्सहित भूत-भौतिक सम्पूर्ण सर्गों का आवपनभूत लोकातीत अव्यक्त-अमूर्त्त-कालात्मक लोकातीत-अपौरुषेयवेदात्मक-ब्रह्मनि-श्वसितवेद है। इसी रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के माध्यम से अब हमें पौरुषेय गायत्रीमात्रिकवेदात्मक-दिक्-देश-प्रदेश-भावों के आधारभूत, एव अपौरुषेय-ब्रह्मनि.श्वसितवेदात्मक लोकातीत 'काल' तत्त्व के स्वरूपान्वेषण में ही तटस्थबुद्ध्या प्रवृत्त होना चाहिए, जिस इस तटस्था प्रवृत्ति का केन्द्रबिन्दु माना जायगा निम्नलिखित आर्षवचन—

> ततः स्वयम्भूर्भगवान्-अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
> महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ —मनु १।६।

१५४-लोकातीत कालपुरुष के स्वरूप-समन्वय के लिए प्रतीकविधि मे लोक का आश्रय—

अव्यक्तमूर्त्ति, अतएव लोकातीत, अतएव च 'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध, वृत्तौजा [वर्त्तुलभावापन्न-गोलाकार]-महाभूतादि [पञ्चमहाभूतों से प्रथम-आदि में रहने वाला] जो कोई विलक्षण तत्त्व है, उसे ही हम लोकातीत 'कालपुरुष' कहेंगे, जो वेदानुबन्ध से—'ब्रह्मनि श्वसित' नाम से प्रसिद्ध है वेदशास्त्र में। इस लोकातीत अव्यक्तकाल की औपासनिकी-सरलता के लिए सर्वप्रथम हमें उसके सैद्धान्तिक लोकरूप को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा। क्योंकि लोकातीत भावों की तटस्थ स्वरूप-बोधात्मिका उपासना लोकप्रतीकों के माध्यम से ही हुआ करती है। अतएव सर्वप्रथम लोक को ही लक्ष्य बनाया जारहा है।

१५५-लोकातीत कालपुरुष से अभिव्यक्त 'लोक' के महिमामय विवर्त्त, एवं काल मे काल का उत्पीडन—

श्रौती-परिभाषा के अनुसार व्यक्तभावापन्न लोक चार माने गए हैं, जो कि क्रमश पृथ्वीलोक- अन्तरिक्षलोक-द्युलोक दिक्-लोक इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यौर्दिश' रूप से उपवर्णित पृथिव्यादि चारों लोकों में से आरम्भ के तीन लोक तो अपने व्यक्तभाव से जहाँ सर्वविदित हैं, वहाँ चौथा दिक्लोक व्यक्ताव्यक्त बनता हुआ विदिताविदित है। भूपिण्डोपलक्षित पृथिवी-लोक, चन्द्रपिण्डोपलक्षित अन्तरिक्ष-लोक, एवं सूर्य्यपिण्डोपलक्षित द्युलोक, ये तीनों लोक व्यक्तभावापन्न बने रहते हुए सुविज्ञेय हैं, यही तात्पर्य्य है। तीनों ही क्रमशः 'भूतानि'-'पशव'-'देवा'-कहलाए हैं। देवप्राणानुगत सूर्य्य पशुप्राणानुगत चन्द्रमा, एवं भूतप्राणानुगत भूपिण्ड, ये तीनों व्यक्तलोक ही 'रोदसी' नामकी 'रोदसीत्रिलोकी' है, जो महान् आपोमय पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से अवस्थित है। यह आपोमय परमेष्ठी, किंवा पारमेष्ठ्य आप ही चौथा 'आपोलोक' है, जिस का असुर-गन्धर्व-प्राणात्मक पितरप्राण से सम्बन्ध माना गया है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप' से इसी आपोलोक का ग्रहण हुआ है, जो अपने सोम भाग से सौर

सावित्राग्निमय देवदेवताओं का स्वरूप–रक्षक बनता हुआ 'देवलोक' भी बना हुआ है। पितृप्राणप्रधान, सौम्य–भावापन्न यह पारमेष्ठ्य आपोलोक ही 'पारमेष्ठ्यलोक' है, देवप्राणप्रधान द्युलोक ही 'सूर्य्यलोक' है, पशु–प्राणप्रधान अन्तरिक्षलोक ही 'चन्द्रलोक' है, एवं भूतप्राणप्रधान पृथिवीलोक ही 'भूलोक' है। चारों ही वस्तु-भाव व्यक्तभावापन्न हैं। व्यक्तता ही इन की मूर्त्तता है, मूर्त्तता ही अवलोकनरूपा लोकता का आधार है। यही चतुर्विध मूर्त्त–व्यक्त–प्राजापत्य सर्ग क्योंकि अवलोक्यते अस्माभिः, अतएव इस अवलोकनाधारभूत मूर्त्तभावानुबन्ध से इन्हें–'लोक' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। चतुर्लोकरूपा चतुर्लोकात्मिका यही सृष्टि प्रजापति की 'मूर्त्त सृष्टि'–(क्षरसृष्टि–व्यक्तसृष्टि–विकारसृष्टि–भूतसृष्टि) कहलाई है। इस मूर्त्तसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल–रूप वस्तुभाव ही पूर्व में दिक्–देश–प्रदेश–रूप से उपवर्णित हुआ है। चतुर्लोकात्मिका, मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल–भावापन्ना–गायत्रीमात्रिकवेदमयी इस मूर्त्तसृष्टि के सर्वान्त के पारमेष्ठ्य आपोलोकरूप दिग्लोक को मध्यस्थ बना कर ही अब हमें–'ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्ज–यन्निदम्' इत्यादि मूलक कालात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति उस अमूर्त्त–अव्यक्त काल की आराधना में प्रवृत्त होना है, जो अव्यक्तकाल ही दिक्–देश–प्रदेश–रूप से व्यक्तकालरूप में परिणत हो रहा है, जिस व्यक्तकाल को यज्ञ कहा गया है। अव्यक्तकाल से पीड़ित व्यक्तकाल ही कालात्मक प्राजापत्यसर्ग का चिरन्तन इतिवृत्त है, जिस का राजर्षि ने इन शब्दों में संस्मरण किया है—

> एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
> आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन्॥ (मनुः १।५१)

१५६–अनन्तब्रह्म–अनन्तकाल–व्यक्तकाल–मनु, एवं भूत–भौतिक विकारों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

राजर्षि कहते हैं कि, "इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इस सम्पूर्ण भूत–भौतिक विश्व को, तथा विश्व की केन्द्रप्रतिष्ठारूप मुझे (मनुतत्त्व को) उत्पन्न कर अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–पराक्रम–महिमा–शाली वह तत्त्व पुनः अपने आत्मस्वरूप में हीं अन्तर्लीन होगया काल से काल को पीड़ित करता हुआ"। बड़ा ही रहस्यपूर्ण, अतएव अत्यन्त ही दुर्बोध्य है राजर्षि का उक्त आर्ष वचन। अचिन्त्यमहिमा–शाली तत्त्व, मनुतत्त्व, सृष्टिप्रपञ्च, सृष्टि का प्रवर्त्तक कालतत्त्व, सृष्टि का स्वरूपव्यवस्थापक कालतत्त्व, ये पाँच प्रकम लक्ष्य बने हुए हैं उक्त वचन के। दिक्–देश–प्रदेशात्मक भूतभौतिक प्रपञ्च ही 'सृष्टिप्रपञ्च' है, जिस के लिए 'इदं' रूप से अङ्गुलिनिर्देश हुआ है–(सृष्ट्वेदम्)। इस सृष्टिप्रपञ्च का मूलधार–केन्द्रप्राण ही 'मनु' है, जिस के रश्मिभोगात्मक 'मन्वन्तर' से ही सर्गपरम्पराएँ व्यवस्थित हुई हैं, जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में मन्वन्तरानुगत–कालगणन–प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। मन्वन्तरप्रवर्त्तक हृद्यप्राणात्मक इस मनु के लिए ही राजर्षिने अपने आप को उसका नैदानिक प्रतीक मानते हुए 'मां' कहा है। दिक्–देश–प्रदेशात्मक वस्तुभावलक्षण सर्ग का आदिभूत दिग्भाव ही छन्दोरूपा व्यक्ता सीमा है, और यही है व्यक्त–मूर्त्तकाल, जो विष्कम्भ–परिणाहादि–धर्म्मों से मानों पीड़ित होता हुआ ही उत्तरोत्तर संसृष्टिभाव में परिणत होरहा है। बलों का उत्तरोत्तरभावी दृढ–दृढतर–दृढतम–ग्रथिबन्धन ही संसृष्टिरूप सृष्टिधर्म्म है। यह बलग्रन्थिबन्धनता ही व्यक्तकाल का उत्पीड़न है, जिस से यह अपने मूलभूत–उन्मुक्त–विकसित तत्स्वरूप से आवृत होरहा है।

इसी पीडित (बलग्रन्थि से अनुगत) व्यक्तकाल के लिए 'कालम्' यह द्वितीयान्त पद प्रयुक्त हुआ है। स्वय वह–अव्यक्त–अमूर्त–ग्रन्थिबन्धनभाव से असंस्पृष्ट, किन्तु ग्रन्थिबन्धनप्रवर्त्तक काल या प्रेरकाधार काल ही यहां–'कालेन' इस तृतीयान्त पद से परिगृहीत है, जिस की आराधना का ही हम उपक्रम करने जारहे हैं। पीडित होता है व्यक्त लोककाल, एवं इसे पीडित करने वाला काल है अव्यक्त–अमूर्त–लोकातीत काल।

अब शेष रह जाता है महामहिमशाली–अचिन्त्यपराक्रम वह तत्त्व, जिसे इस अव्यक्तकाल से भी अतीत एक पृथक् तत्त्व घोषित किया है राजर्षि ने, जो अपने एकांशरूप अव्यक्त–काल से व्यक्त–काल के परिपीडन–द्वारा सम्पूर्ण सर्ग का सर्जन कर स्वयं अपने अंशी–अनन्त विभूतिभाव में विलीन होजाता है, सदा ही विलीन ही रहता है। यह अचिन्त्यतत्त्व है वह अनन्त–अपरिमेय–सनातन–मायातीत–परात्पर परमेश्वर ब्रह्म, जिसकी अनन्तता के तटस्थ समन्वय के लिए ही यहां तत्प्रतीकभूत अनन्त–अव्यक्त–काल की आराधना प्रक्रान्त हो रही है। तत्त्वभाषानुसार–मायातीत परात्पर परमेश्वर ही अचिन्त्यपराक्रम तत्त्व है। षोडशीप्रजापति नाम से उपवर्णित वृत्त इत्र स्तब्ध महामायी महेश्वराव्यय ही अनन्त–अव्यक्तकाल है। इस महेश्वराव्यय का परिवर्त्तनशील आत्मक्षरब्रह्म ही व्यक्तकाल है, जो गुणाणुरेणुमहा–भूतादि परम्परया व्यक्तसृष्टि का सर्जक बन रहा है। एवं विकारक्षरात्मक-भूतभौतिक प्रपञ्च ही 'इदं' रूपेण निर्दिष्ट सृष्टिप्रपञ्च है। यों मनु ने एक वचनमात्र से पांच विवर्तों के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान का संग्रह कर लिया है इति नु आर्षवचनानां महत्तीय गरिमा–महिमा–महदाश्चर्यान्विता मुकुलितनयनै·प्रज्ञाशीलै· रेवानुभवनीया।

१–अचिन्त्यपराक्रम कश्चित्	—मायातीत –परात्पर –अनन्तब्रह्म
२–'कालेन' इति तृतीयान्तेन सूचित काल कश्चित्	—मायीमहेश्वर -अव्यय -अनन्तकाल
३–'कालम्' इति द्वितीयान्तेन सूचित काल कश्चित्	—योगमायी—आत्मक्षर -व्यक्तकाल
४–'मा' रूपेण सूचित मनु कश्चित्	—इन्द्र -अव्यक्तमूर्ति -—मनु
५–'इदं' रूपेण सूचित सर्ग कश्चित्	—वैकारिक भूतभौतिकमात्रा

१५७–अचिन्त्य-पराक्रमशाली अनन्तब्रह्म के एकांश से आविर्भूत सर्गप्रपञ्च—

सबकुछ है उसी अचिन्त्यपराक्रम के एकांश से महिमारूपेण आविर्भूत। किन्तु वह अपने महिमारूप एकांश से सबकुछ आविर्भूत कर आविर्भावानन्तर आविर्भूत सर्गधारा-परम्पराओं को यथापूर्व प्रक्रान्त रखने का उत्तरदायित्व अपने प्रतीकभूत अनन्तकाल के ऊपर छोड़ कर स्वयं अपनी अनन्तमहिमा में ही विलीन रहता है। एवं इस अद्भुत–अप्रतर्क्य–अचिन्त्य तत्त्व का ही तटस्थ नाम है अनन्तब्रह्म, जिस के आनन्त्यानुमान के लिए तत्प्रतीकरूप अव्यक्तकाल की आराधना ही पर्य्याप्त होगी मानवप्रज्ञा के लिए, इतिनु कालाय तस्मै नमो नमः -महेश्वराय अव्ययात्ममूर्त्तये।

१५८–एकांशरूप अनन्तकाल के माध्यम से सृष्टि के मूलबीजरूप 'शुक्रम्' का संस्मरण—

अचिन्त्यपराक्रमशाली अनन्तब्रह्म का वह एकांश कौनसा है, जिसे अग्रणी बना कर वह अपने महिमात्मक वित्त से विश्वरूप में परिणत होकर अपने अनन्तरूप से स्वयं अपने आप में ही विलीन हो

जाता है ?, इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाला 'एकांश' ही अव्यक्त–अनन्तकाल है, जो व्यक्तकाल के परिपीड़न से विश्वरूप में परिणत हो रहा है। इस के स्वरूप–दिग्दर्शन के लिए ही पूर्व में चार लोकों का दिग्दर्शन कराया गया है, जिन चार लोको में सर्वान्त का चौथा लोक माना गया है आपोमय परमेष्ठी, जो कि पितृप्राणमय है। अब इस दिगात्मक आपोलोक को, किंवा आपोमय परमेष्ठी को आधार बना कर ही हमें अव्यक्तकाल की स्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है। इस आपोलोक का पारिभाषिक नाम है–'शुक्रम्', जिसका अर्थ है–'बीज'। वह बीज, जो अपनी महिमा से संसारमहीरुह (संसारवृक्ष) रूप मे परिणत होने वाला है, जिसका कि ऋषिने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपं, आपो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं, सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥

—गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १।१।३९।

१५९–भृग्वङ्गिरोमय शुक्रबीज के द्वारा कालसाक्षी में लोकसर्ग का आविर्भाव—

शुक्ररूप आपः तत्त्व अपनी मौलिक बीजावस्था में जहाँ भृग्वङ्गिरोरूप है (भृग्वङ्गिरोघन है), वहाँ यही वृक्षावस्था में (सृष्टिस्वरूपावस्था में) भृग्वङ्गिरोमय है। * **'सर्वमापोमयं जगत्'** का अर्थ है–**'सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्'**। सम्पूर्ण विश्व भृग्वङ्गिरोरूप आपः का ही वैकारिक विवर्त्त है। स्नेहगुणक सौम्य भृगुतत्त्व, एवं तेजोगुणक आग्नेय अङ्गिरातत्त्व, दोनों हीं लोकात्मक विश्व के उपादानकारण हैं, जैसाकि **सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या** में विस्तार से उपबृंहित है। कारणदशा में भृग्वङ्गिरोरूप आपः 'शुक्रम्' कहलाया है, एवं कार्य्यदशा में यही शुक्र भृग्वङ्गिरोमय बन रहा है, जिस इस भृग्वङ्गिरोरूप–शुक्रात्मक–बीजात्मक आपः के गर्भ में भृगु–अङ्गिरा को अपनी आश्रयभूमि बनाते हुए ऋक्–यजुः–साम–नाम के वे तीनों पौरुषेय वेद प्रतिष्ठित हैं, जिनका छन्दः–रसः–वितानम्–रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है, एवं जिसे ही हमनें–लोकात्मक–पौरुषेय–गायत्रीमात्रिकवेद कहा है। भृग्वङ्गिरोरूप, एवं भृग्वङ्गिरोमय–स्नेह–तेजोगुणक–अग्नि–सोमात्मक–आपोमय इस पारमेष्ठ्य शुक्र से तद्गर्भीभूता 'गायत्रीमात्रिक' नाम की त्रयीविद्या से कैसे विश्व का स्वरूप–सम्पादन होता है ?, प्रश्न की मीमांसा प्रस्तुत निबन्ध के प्रथमखण्ड की–**'विश्वस्वरूपमीमांसा'** में विस्तार से की जाचुकी है। शुक्रमूलक आथर्वण–विश्वसर्ग के यथावत् समन्वय के लिए तो कालप्रेमी पाठकों को कालस्वरूपाराधन से पूर्व उसी प्रकरण को एकबार अवधानपूर्वक लक्ष्य बना लेना चाहिए।

---

* **अप्सु तं मुञ्च, भद्रं ते, लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।**
आपोमयाः सर्वरसाः,–'सर्वमापोमयं जगत्'॥ —महाभारते

१६०–शुक्र के द्वारा अस्त्वण्ड-पोपाण्ड-यशोऽण्ड-रेतोऽण्ड-नामक चतुर्विध ब्रह्माण्डों का आविर्भाव—

पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोमय शुक्र से ही सर्वप्रथम उस 'अण्ड' मात्र का उदय होता है, जिससे विश्व-महिमामण्डल–'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह वही अण्ड है, जो प्रजापति के 'अस्तु' कहने मात्र से 'अस्त्वण्ड' बन रहा है, 'पुष्यतु' कहने से–'पोपाण्ड', 'यशो निभृहि' कहने से 'यशोऽण्ड', एवं–'रेतो विभृहि' कहने से 'रेतोऽण्ड' रूप में परिणत होता हुआ चार आण्डविवर्तों का समात्मक प्रमाणित हो रहा है। इसप्रकार भृग्वङ्गिरोमय–पारमेष्ठ्य–'आप'–शुक्र के आधार से ही चतुर्विध अण्डभाव निष्पन्न हो रहे हैं। यही आण्डसृष्टि का स्वरूप–दिग्दर्शन है, यही चतुर्लोकसृष्टि है, यही शुक्रमूला मैथुनीसृष्टि है, यही शुक्रसृष्टि है, जिसकी अण्डता त्रिकेन्द्रभाव पर ही प्रतिष्ठित मानी है वैज्ञानिकोंनें।

१६१–अक्ष-दक्ष-क्रान्ति-नामक-विवर्त्तों के द्वारा दीर्घवृत्त की अण्डवृत्तता का स्वरूप-समन्वय, एवं 'ब्रह्माण्ड' शब्द का वाच्यार्थ—

लोकप्रसिद्ध वह 'अण्डा' ही अण्ड है, जो लम्बाकार बनता हुआ मध्य में बड़ा होता है। जो स्वरूपस्थिति लोकप्रसिद्ध 'अण्डे' की है, प्रतीकन्याय से ठीक वही स्थिति त्रिकेन्द्रात्मक ब्रह्म के अण्ड की है। तीन वर्त्तुल (गोलाकार) वृत्तों को (पारस्परिक सम्पर्कभाव से) रख लीजिए। इन तीनों की परिधियों का स्पर्श कराते हुए एक मण्डल बना दीजिए। यही मण्डल 'दीर्घवृत्त' कहलाया है, एवं इसीका नाम 'अण्डवृत्त' है। पार्थिव-सम्वत्सरमूलक अक्षवृत्त, चान्द्रसम्वत्सरमूलक दक्षवृत्त, एवं सौरसम्वत्सरमूलक क्रान्तिवृत्त, इन अक्ष–दक्ष-क्रान्ति–नामक तीनों वृत्तों के त्रिकेन्द्रों से कृतरूप आपोमय परमेष्ठी के शुक्रभाव से समन्वित वृत्त का नाम ही 'दीर्घवृत्त' है, जो आण्डवृत्त कहलाया है, एवं इसी से विश्व 'ब्रह्माण्ड' कहलाया है, जिस के पारमेष्ठ्य सम्बन्ध से चार विवर्त्त हो रहे हैं। अतएव च एक ही ब्रह्माण्ड के चार अण्डवृत्त सम्पन्न हो रहे हैं, और यही चतुरण्डात्मिका चतुर्लोकसृष्टि का संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त है। स्वतन्त्र है यह विषय, जिसके समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र निबन्ध ही अपेक्षित है। प्रकृत में केवल तालिका उद्धृत करदी जाती है, जिसके माध्यम से प्रज्ञाशीलों को स्वयं ही अण्डविद्या के समन्वय में प्रयत्नशील बने रहना चाहिए।

ब्रह्म वै स्वयम्भूः—प्रजापतिरनन्ताव्यक्तकालमूर्त्तिः-वृत्तौजाः—नात्र अण्डभावः					
(१)	(२)	(३)	(४)	प्रजापतेः स्वयम्भूब्रह्मणः—इमानि—अण्डानि इति—समष्टिरेव ब्रह्माण्डम्	गायत्रीमात्रिकवेदात्मको व्यक्तकालः—तस्यैतद्—विवर्त्त—ब्रह्माण्डम्
(१) अग्निः	वायुः	आदित्यः	परमेष्ठी		
(२) अश्वः	वयांसि	अश्मापृश्निः	नक्षत्राणि		
(३) पृथिवी	मरीचयः	रश्मयः	अवान्तरदिशः		
(४) पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौः	दिशः		
(५) वाक्साहस्री	गौःसाहस्री	द्यौःसाहस्री	आपः		
(१) अश्वत्थण्डम्	(२) पोषाण्डम्	(३) यशोऽण्डम्	(४) रेतोऽण्डम्		
पार्थिवसम्वत्सरानुगतं	चान्द्रसम्वत्सरानुगतम्	सौरसम्वत्सरानुगतम्	परमेष्ठ्यनुगतम्		

१६२—ब्रह्माण्डप्रवर्त्तक-कारणभूत-कालात्मक ब्रह्म की असद्रूपता का समन्वय—

अण्डसृष्टि के मूलबीजात्मक आपोमय—पारमेष्ठ्य—'शुक्र' का उपादानकारण कौन ?, यह सहज प्रश्न उपस्थित है पूर्वोक्त वैकारिक—चतुर्लोकात्मक—अण्डचतुष्टयात्मक शुक्रात्मक सर्ग के सम्बन्ध में, जिस प्रश्न का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, जिस ब्रह्म के शुक्रमूलक चार अण्ड हैं, जिस ब्रह्म के सम्बन्ध से (समन्वय से—'तत्तु समन्वयात्'—व्याससूत्र) अण्डरूप विश्व 'ब्रह्माण्ड' कहलाया है, वह 'ब्रह्म' क्या वस्तु-तत्त्व है ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए हमने पूर्व में—'ततः स्वयम्भूर्भगवान्–अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्' इत्यादि वचन का संस्मरण किया है (देखिए पृ० सं० ८८)। स्मृत्याधारभूत श्रुतिशास्त्र उस अव्यक्त–अचिन्त्य-कारणब्रह्म का अव्यक्तभाषा के द्वारा ही स्वरूपोपवर्णन करता हुआ कहता है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'। अर्थात् "-'इदं' रूपेण अभिनीयमान यह अण्डात्मक–लोकात्मक–विश्वविवर्त्त अपने इस मूर्त्त-व्यक्त–भौतिक–स्वरूप से पूर्वदशा में असत ही था।" अव्यक्तधर्म्म के कारण ही वह मूलकारण 'असत्' कहलाया है, जो अपनी इस व्यक्तमूला अमूर्त्तभावात्मिका अनन्तता के कारण ही व्यक्ता मानवप्रज्ञा

के लिए सर्वथा तमोभूत (अज्ञात)–अप्रज्ञात–अलक्षण अप्रतर्क्य–अविज्ञेय–सर्वतः प्रसुप्तमिव–भावों से समन्वित मान लिया गया है। देखिए!

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु १।५)

१६३–असत् शब्द के तात्त्विक वाच्यार्थ का दिग्दर्शन—

प्रज्ञा से अतीत होने के कारण ही तमोमय–अप्रज्ञात बन रहने वाले, अतएव अपने इस अव्यक्तरूप से ही–'असत्' नाम से व्यवहृत हो पड़ने वाले उस अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–अलक्षण–तत्त्व का उस ऋषिदृष्टि ने क्या स्वरूपलक्षण किया है?, जो अपनी आर्षता से परोक्ष–अचिन्त्य–तत्त्वों का भी साक्षात्कार करने में समर्थ हैं *, प्रश्न का उत्तर है–'ऋषितत्त्व'। ऋषितत्त्व का अर्थ है–मौलिक विशुद्ध–'प्राण', ऋषिप्राण का अर्थ है–अव्यक्त–अक्षरात्मक–निरपेक्ष–गतितत्त्व, जिस इस ऋषिप्राणरूप गतितत्त्व का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है छन्दोवेद–प्रसङ्गानुपात से। प्राणात्मकमूर्ति यह अव्यक्त गतिभाव ही, किंवा निरपेक्ष गतिभावात्मक अव्यक्त–अमूर्त–प्राण ही यह 'असत्' तत्त्व है, जो अपनी सद्रूपा सद्घनता से–'सामान्ये सामान्याभाव' न्याय से–'असत्' कहलाने लग पड़ा है। 'सत्' ही इस 'असत्' का वास्तविक अर्थ है, जैसा कि 'सदेवेदमग्र सोम्य असदासीत्' इत्यादि वचनान्तर से स्पष्ट है। यही वह सत्ब्रह्म है, जिसके द्वारा पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय शुक्र के माध्यम से लोकसृष्टि का वितान हुआ है। चतुर्लोकात्मक ब्रह्माण्ड का मूलकारणभूत ब्रह्म 'असत्' नामक 'ऋषिप्राण' है, जो कि सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) बल के द्वारा 'स्वयम्भू' रूप से सर्वप्रथम आविर्भूत होता है। स्वयं अपने स्वरूप से, विशुद्ध प्राणरूप से अभिव्यक्त होने के कारण ही यह असत्प्राण–'स्वयं भवति' निर्वचन से–'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अभिव्यक्ति से पूर्व जो 'असत्' कहलाया है, निरपेक्ष प्रथमा अव्यक्तभावाभिका अभिव्यक्तिदशा में वही 'स्वयम्भू' कहलाने लगता है, यही तात्पर्य है।

१६४–लोकातीत–अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्त–वेदमूर्त्ति कालपुरुष के महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

तत्त्ववेदपरिभाषा में असन्मूलक इस प्राणमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का ही नाम है–'ब्रह्मनि श्वसितवेद', जो किसी मायोपाधिक पुरुष से उत्पन्न होने के कारण अपने नित्य महिमाभाव से 'अपौरुषेय' ही कहलाया है। अण्डभाव का ही नाम 'पुर' है, पुर में सीमित प्राण ही पुरुष है–'पुरि शेते' निर्वचन से। असत् नामक मौलिक प्राण अपने वैय्यक्तिक स्वरूप से अण्डात्मक पुर से असंस्पृष्ट है अण्डसृष्टि की पूर्वदशा में। अतएव उसे अपुरुषविध ही कहा जायगा, एवं इस अपुरुषत्वलक्षणा–नि सीमता से ही उसे 'ब्रह्मनि श्वसित–अपौरुषेयवेद' माना जायगा तत्त्वभाषाप्रसङ्ग में। अमूर्त्त है यह ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्व। अण्डभावात्मक चारों लोकों से अतीत रहता हुआ लोकातीत है यह प्राणब्रह्म। अण्डरूपा पुरसीमा से असंस्पृष्ट रहता हुआ अपुरुषविध

---

* अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

है यह ऋषितत्त्व। और यही है अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त्त-लोकातीत-अपुरुषविध-अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित-वेदमूर्त्ति-अनन्त-कालपुरुष, जिसका तत्त्वज्ञों ने-'**मायी महेश्वर**' रूप से यशोगान किया है।

१६५-प्राणब्रह्ममूर्त्ति कालपुरुष के आकाश-वायु, नामक दो महिमामय विवर्त्त—

अभी समझ में नहीं आसका उस कालपुरुष का तत्त्वात्मक-प्राणस्वरूप। तो इस समस्या के निराकरण के लिए प्राण की ही शरण में आना चाहिए। प्राणब्रह्ममूर्त्ति कालपुरुष का प्राणभाव ही इसके स्वरूप को अभिव्यक्त करेगा अपने स्थिति-गति-प्रकृतिक 'यज्जू' रूप प्राणस्वरूप के माध्यम से ही। गतिभाव का नाम ही प्राण है, इसीका अभिव्यञ्जक है-'यत्' भाव। गति का **आधार यहाँ गति के अतिरिक्त और कौन होगा ?** । यही अपने रसानुबन्धी गतिभाव से गत्याधार बन रहा है, एवं यही अपने बलानुबन्धी गतिभाव से गति बन रहा है। आधाररूप गतिभाव से वही रसप्रधान बनता हुआ 'स्थिति' रूप में परिणत है, तो आधेय-रूप गतिभाव से वही बलप्रधान बनता हुआ 'गति' रूप में परिणत हो रहा है। यों गतिमूर्त्ति वह एक ही अव्यक्त-ऋषिप्राण रसबलानुबन्ध से स्थिति-गतिरूप से दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है, जिन्हें समझने मात्र के लिए भूतप्रतीकमाध्यम से हम क्रमशः-'आकाश-वायु' कह सकते हैं।

१६६-आकाश-वायु-मूर्त्ति कालात्मक यजुर्ब्रह्म की ऋक्साम में अपीतता—

पञ्चमहाभूतों में-आकाशतत्त्व सर्वथा स्थितिमान् प्रतीत हो रहा है, एवं वायुतत्त्व सर्वथा गतिमान् (**'मातरिश्वा सदागतिः'**)। प्राणमूर्त्ति-स्वयम्भूब्रह्म का रसानुबन्धी स्थितिभाव इस आकाशस्थिति से, तथा बलानुबन्धी गतिभाव वायुगति से प्रतीकधिया समतुलित है। एतावता ही उस के रसात्मक स्थितिभाव को आकाश, एवं बलात्मक गतिभाव को 'वायु' कह दिया जाता है। ब्रह्म के स्थिति-गति-प्रकृतिक-बला-नुबन्धी ये ही दोनों महिमाविवर्त्त पारिभाषिक-दृष्टि से क्रमशः 'जू-यत्' कहलाए हैं। गतिरूप इस 'यत्' की, तथा स्थितिरूप 'जू' की, (लोकभाषानुसार आकाश-वायु की) समन्वितावस्था का नाम ही है-'**यज्जूः**', जिसे परोक्षप्रिय वैज्ञानिक विद्वान् सङ्केतसिद्धा अपनी परोक्षभाषा में-'यजुः' कहा करते हैं। यही वह रस-बलात्मक प्राणरस है, जिस की गायत्रीमात्रिक-पौरुषेयवेद-विवर्त्त लक्षण गतिप्रकृतिक वस्तुपिण्डात्मक 'यजु'र्भाव में अभिव्यक्ति होती है। 'यज्जू', किंवा 'यजुः' का 'जू' भाग स्थितिरूप आकाश है, इसी का पारिभाषिक नाम है-'वाक्' ('अथ यः स आकाशः, वागेव सा')। एवं-यज्जू का 'यत्' भाग गतिरूप वायु है, इसी का पारिभाषिक नाम है-'प्राण'। वाक् **अनेजत्** (अविकम्पित-स्थिर-) तत्त्व है, प्राण **एजत्** (विकम्पित-चर) तत्त्व है। **वाक्-प्राण,-आकाश-वायु, अनेजत्-एजत, रस-बल, स्थिति-गति,**-इत्यादि विविध पारि-भाषिक नामों से उपवर्णित यत्-जुः-रूप-यजुर्ब्रह्म ही वह गतिधर्म्मा 'ऋषि' नामक रसात्मक मौलिक वेदप्राण है, जो ऋक्-साम से नित्य-अविनाभूत माना गया है।

१६७-स्थिति-गति-प्रकृतिक, ऋषिप्राणमूर्त्ति, असद्रूप, अनन्त, लोकातीत, लोक-साक्षी, द्विब्रह्मात्मक कालब्रह्म की यशोगाथा का पावन संस्मरण, तदनन्तता, एवं तद्रूप अनन्त वेद—

महिमामय महाछन्दोरूप आकाशवृत्त (परोरजा नामक-परमेव्योमन्-लक्षण वह परमाकाश, जो पाञ्चभौतिक-व्यक्त-मूर्त्त-भूताकाश से सर्वथा-पृथक् तत्त्व माना गया है) ही अपने अणिमास्वरूप से ऋक्

है यजु. का उपक्रमात्मक प्रस्ताव बनता हुआ, एवं महिमास्वरूप से साम है यजुः का उपसंहारात्मक-- विधन बनता हुआ । यों अपने हीं विभूतिप्राणरूप महिमाकाशात्मक परमाकाश-रूप से प्राणमूर्ति-यजुर्ब्रह्म के साथ ऋक्-साम--का समन्वय और प्रमाणित हो जाता है । यों यह अपौरुषेय-स्थितिगतिप्रकृतिक -ऋषिप्राणमूर्ति-असद्रूप-अव्यक्त-अनन्त-लोकातीत-लोकसाक्षी, - यत्-जू-रूप दो ब्रह्मनिवर्तों से--'द्विब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध यजुर्ब्रह्म ऋक्साम-समन्वय से 'त्रिवेदमूर्ति' बन रहा है । और यही ब्रह्मनि श्वसित-अपौरुषेय-तत्त्ववेद की सक्षिप्ततमा यशोगाथा है, जिस का अपनी आयु के चारसौ वर्षपर्यन्त गान करते हुए भी महर्षि भरद्वाज कृतकृत्य नहीं बन सकेथे, और अन्ततोगत्वा इस अचिन्त्य आनन्त्य के सम्मुख अवनतशिरस्क होजाने वाले महर्षि के मुख से-'अनन्ता वै वेदा' (ऐत० ब्रा०) यही उद्घोष विनि सृत हो पड़ता था, इति नमो नम - अनन्ताय वेदपुरुषाय-अपुरुषविधाय-अमूर्त्ताय-कालात्मने प्रणतभावेन ।

१६८-'वामपलित' नामक कालाग्नि का संस्मरण--

'ऋक् सामे-यजुरपीत ' इत्यादि सिद्धान्तानुसार ऋक्-साम से समन्वित (महिमामय छन्द से समन्वित) वयोरूप (रसरूप) यजुर्ब्रह्मात्मक ऋषिप्राण ही) (वेदप्राण ही) सृष्ट्युन्मुख बनता हुआ सुप्रसिद्ध 'चयन-प्रक्रिया' के माध्यम से सप्तप्राणात्मक-सप्तर्षिभाव के द्वारा 'सप्तपुरुषपुरुषात्मक चित्यप्रजापति'स्वरूप में परिणत हो जाता है आत्मा, पक्ष, पुच्छ-रूप से (देखिए-शत० ६।१।१।५।) । ऐसे इस चित्यप्रजापति का नाम ही है चित्याग्निरूप-'वामपलित' नामक वह 'कालाग्नि', जिस के वेदतत्त्वात्मक उपादान में ही अब आगे का सर्गक्रम प्रक्रान्त होने जा रहा है, जिसे अत्यन्त अवधानपूर्वक ही लक्ष्यास्पद बनाना चाहिए ।

१६६-कालाग्नि से आविर्भूत विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कालाग्निरूप-अपौरुषेय-ऋषिप्राणात्मक-सप्तपुरुषात्मक पुरुषप्रजापतिलक्षण-स्वयम्भू-नामक इस ब्रह्मनि श्वसित-त्रयीवेद से आविर्भूत विश्व का क्या स्वरूप है ?, प्रश्न के समन्वय में, 'आप -वाक्-अन्न -अन्नाद:' इन चार शब्दों को ही हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म स्वय प्राणमूर्ति (ऋषिमूर्ति) बनता हुआ 'प्राण ' है, एवं इस के चार सृष्टिमहिमाभाव ही क्रमश आप-वाक्-अन्नाद-अन्नम्-हैं। चारों महिमाभावों में से सर्वप्रथम-'आप ' रूप महिमाभाव का ही समन्वय कीजिए । बतलाया गया है कि-प्राणमूर्त्ति-स्वयम्भू ऋक्-यजु -साम-मूर्ति हैं, जिन इन तीन वेदभावों में ऋक्-साम-तो आयतनात्मक छन्द स्थानीय बनते हुए सृष्ट्यारम्भणधर्म से असम्पृष्ट ही बने रहते हैं । सृष्टि का आरम्भण-द्रव्य बनता है ऋक्-साम से समन्वित द्विब्रह्मात्मक वह यजुर्ब्रह्म, जिसे हम 'कालाग्निपुरुष' कहेंगे । इसका 'यत्' भाग गतिशील 'प्राण' तत्त्व है, तो 'जू' भाग स्थितिशील 'वाक्' तत्त्व है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । गत्यात्मक प्राण के सञ्चार से स्थित्यात्मक वाक् तत्त्व का घनात्मक मर्त्य वाग् भाग द्रुत हो पड़ता है सघर्षानुग्रह से । सघर्षजनित उत्पीडन से मर्त्या वाक् की 'आप ' रूप में परिणति हो जाती है, और यही उस यजुर्मूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म की प्रथमा मूर्त्तसृष्टि है, जिसका-'सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्। वागेव-साऽसृज्यत इत्यादि श्रुति से विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण हुआ है, जिस इस श्रोती स्वायम्भुवी प्रथमा आप सृष्टि का ही श्रुत्यथानुसारिणी स्मृति ने इन शब्दों में समन्वय किया है—

> सोऽभिध्याय शरीरात्-स्वात्-सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
> 'अप' एव ससर्जादौ-तासु बीजमवासृजत् ॥ [मनु १।८।]

१७०–कालाग्निरूप त्रयीब्रह्म से 'आपःशुक्र' का आविर्भाव, तस्मिन् ब्रह्म का प्रवेश, ततः आण्डस्वरूपनिष्पत्ति, एवं रेतोऽण्डरूप शुक्र के भृगु-अङ्गिरा-अत्रि-नामक तीन महिमा-विवर्त्त

ऋक्सामसमन्वित, द्विब्रह्मात्मक–यजुर्ब्रह्म के यत्–रूप प्राणव्यापार से परिस्रुत–द्रुत–जूरूप वाग्भाग ही आपः कहलाया, जिस इस आपः की महिमारूपा अदिति से उत्पन्न कर वेदमूर्त्ति त्रयीब्रह्म इस अव्गर्भ में ही प्रविष्ट हो गए। क्या हुआ इस प्रवेश से ?, ततः-'आण्डं समवर्त्तत'। अव्गर्भित त्रयीब्रह्म से आपः आण्डरूप लोकभाव में परिणत होगए, और इस के साथ साथ ही गर्भीभूत त्रयीब्रह्म के स्थितिगतिप्रकृतिक जू- यत्-धर्म्मों का भी इस आपः में स्नेह–तेजो–रूप से आविर्भाव हो पड़ा। स्थितिभावानुगत स्नेहगुण, एवं गतिभावानुगत तेजोगुण से आपः–तत्त्व स्नेह–तेजोमय बन गया। आपः का स्थितिप्रकृतिक स्नेहतत्त्व ही कहलाया 'भृगु', एवं गतिप्रकृतिक तेजोभाव ही कहलाया 'अङ्गिरा'। सौम्य भृगु, आग्नेय अङ्गिरा, इन दोनो स्नेह-तेजो-भावों की समन्वितरूपता का ही नाम हुआ भृग्वङ्गिरोरूप–आपः, जैसाकि–'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्' से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। आण्डभाव के उदय से अब आपोमण्डल से ही अवस्थापरिवर्त्तनधर्म्म भी उद्भूत हो पड़ा, जिस अवस्थापरिवर्त्तनधर्म्म का प्राणरूप स्वयम्भू में व्यक्तीभाव ही नही हो पाता। 'अवस्था' तत्त्व–ध्रुव, धर्त्र–धरुण–नामक पारिभाषिक सङ्केतों के अनुसार क्रमशः घनावस्था–तरलावस्था–विरलावस्था रूपेण तीन प्रमुख भावों में परिणत रहता है। इस अवस्थात्रयी के सम्बन्ध से स्नेहगुणक भृगु की जहाँ आपः (घन)–वायुः–(तरल)–सोमः–(विरल), ये तीन अवस्थाएँ हो जाती है, वहाँ तेजोगुणक अङ्गिरा की भी अग्निः (घन)–यमः (तरल)–आदित्यः (विरल)-ये तीन ही अवस्थाएँ हो जाती हैं। भृगु–और अङ्गिरा, इन दोनो आप्यप्राणों के अतिरिक्त परमेष्ठी में ही इन दोनों प्राणो के प्रवर्ग्यभाग से जो एक तीसरा धामच्छदगुणक–मलीमस–तमोमय–आप्यप्राण प्रादुर्भूत हो जाता है, उस में मूर्च्छाधर्म्म से क्योंकि तीन अवस्थाओं का आविर्भाव नहीं हो पाता। अतएव उस तीसरे मूर्च्छित, किन्तु धामच्छदधर्म्मा, भूतसर्ग के प्रमुख आरम्भक प्राण को–'न–त्रिः' निर्वचन से–'अत्रिः' कह दिया जाता है। यो आपोमण्डल में भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–ये तीन प्रमुख आप्यप्राण समन्वित रहते है, जिनमें से अत्रि को (भूतसर्गानिबन्धनत्त्वेन) तटस्थ मानते हुए प्रकृत में हम अवस्थात्रययुक्त भृगु–अङ्गिरा–नामक दो आपोभावों को ही लक्ष्य बनाना है।

१७१–द्विब्रह्म, सुब्रह्म का दाम्पत्यसम्बन्ध, एवं तद्द्वारा विराट्पुत्रोत्पत्ति—

आपः–वायुः सोमा–त्मक–स्नेहगुणक–स्थितिप्रकृतिक सौम्य भृगुप्राण, एवं अग्निः–वायुः–आदित्यः-रूप-तेजोगुणक–गतिप्रकृतिक–आग्नेय–अङ्गिराप्राण, इन दोनो प्राणों की तीन–तीन अवस्थाओं के कारण भृग्वङ्गिरो–रूप आपः तत्त्व 'षड्भावापन्न' बन जाता है। अतएव 'आपः' को 'षड्ब्रह्म' कह दिया जा सकता है, जिसके द्वारा ही वैकारिक पदार्थों में षड्भावविकार प्रादुर्भूत हुआ करते हैं। ऋक्सामसे समन्वित यत्-जू-रूप स्वयम्भूब्रह्म यदि 'द्विब्रह्म'-त्मक 'ब्रह्म' है, तो तदुत्पन्न आपोब्रह्म 'षड्ब्रह्म'-त्मक 'सुब्रह्म' है, और इसी का नाम है-'अथर्वब्रह्म' (अथर्ववेद)। स्वयम्भू प्राणवेद है, तो तदुत्पन्न आपोमय परमेष्ठी आपोवेद है। वह ब्रह्म है, तो यह सुब्रह्म है। वह द्विब्रह्म है, तो यह षड्ब्रह्म है। वह त्रयीवेद है, तो यह चतुर्थवेद है। वह कालाग्निरूप है, तो यह

कालसोमरूप है। वह +पुरुष है, तो यह प्रकृति है। वह महेश्वर है, तो यह महेश्वरी है। वह यदि महाकाल है, तो यह है-महाकाली। यही है वह पहिला दम्पतीभाव (पति-पत्नी-भाव), जिस से आगे के सम्पूर्ण भूतसर्ग उत्पन्न होने वाले हैं। पतिस्थानीय यजुर्ब्रह्म ही अपने जूरूप अर्द्ध-वाग्भाग से द्रुत होकर पत्नीस्थानीय पत्न्रब्रह्मरूप आप रूप में परिणत हुआ है। एक ही का अर्द्धभाग पति (ब्रह्म) है, अर्द्धभाग पत्नी (सुब्रह्म) है। दोनों के दाम्पत्य का प्रथम परिणाम (सन्तति) है विराट् मूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए राजर्षि कहते हैं—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
> अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ [मनुः १।३२।]।

१७२-अनादिनिधना सत्या वेदवाक्, एवं इन्द्रपत्नीरूप से तत्संस्मरण—

त्रयीवेदमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति की यजुर्म्मयी 'वाक्' ही आपोमय परमेष्ठी की जननी बनती है। अतएव (वागुपादानत्वेनैव) स्वयम्भू को 'वाग्ब्रह्म' भी कहा जा सकता है, जोकि यह वाग्देवी 'अनादिनिधना सत्या वेदवाक्' * नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस के प्राणमय (यत्-सामय) महिमावितानों का नाम ही ब्रह्मनि स्वाभिमत अपौरुषेय वेद है —। 'नैसर्गिकवाक्' नाम से प्रसिद्धा शब्दात्मिका वाक् से सर्वथा विभिन्न है यह वाग्देवी, जोकि महिमामय आकाश की ही समाहिका बनी हुई है। रसलक्षणा अमृता वाक् से अभिन्ना बललक्षणा सृष्टिसाक्षिणी इसी आपोजननी वाक् को सर्वभूतानुबन्ध से राजर्षि ने 'शब्द' नाम से व्यवहृत अवश्य कर दिया है ×। किन्तु इस शब्द का अर्थ है वाक्तत्त्व ही। क्योंकि विश्वसंस्थाओं का निम्माण शब्दतन्मात्रारूप, अतएव इस मात्राभावापेक्षया 'शब्द' नाम से भी व्यवह्रियमाणा स्वायम्भुवी सत्यावाक् उच्चार्य्यमाण शब्दप्रपञ्च से सर्वथा ही पृथक् है। शब्दतन्मात्रालक्षणा यह वही वेदवाक् है, जिसे श्रुतिने-'इन्द्रपत्नी' कहा है-'सा नो इन्द्र जुषतामिन्द्रपत्नी'। यह वही वाक् है, जो अपने प्राणधर्म्म से वाक् के द्वारा आपोरूप में, एवं तद्द्वारा सौरीवाग्रूप में परिणत होती हुई अपने इन वाक्-आप-अग्नि-रूप यमांशुओं से अग्नि-आप-वाक्-रूप तीन मर्त्यांशुओं के सर्जन-द्वारा शुक्रात्मक सम्पूर्ण विश्व की अधिष्ठात्री बनी हुई है-'अथो वागेवेदं सर्वम्'। 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'।

+ यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
  तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ —[मनु १।११।]।

* अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

— वागविवृताश्च वेदाः (श्वेता० उप०)।

× सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
  वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ [मनु १।२१।]।
  —वेदवाग्भ्य-शब्दतन्मात्ररूपेभ्य-इति यावत्

१७३–अनेजदेकब्रह्मलक्षण ब्रह्म में मातरिश्वा के द्वारा आपःशुक्र का आधान—

'सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'-'अप एव ससर्जादौ' इत्यादि श्रुति-स्मृति से उपवर्णित अव्यक्त स्वयम्भू का प्राणमय वाक्तत्त्व ही आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत होगया, और यह आपः ही स्वयम्भूप्रजापति की प्रथमा लोकसृष्टि कहलाई, जिसे वेदविद्यानुबन्ध मे 'अथर्वसृष्टि' भी कहा जासकता है। भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय यह अथर्वतत्त्व ही वह 'शुक्र' है, जो आगे की भूतसृष्टियों का 'रेत' (उपादान) बनने वाला है। यही इस का शुक्रत्व है। पिण्ड-मण्डल-स्वरूप-सम्पादक, 'वराह' नामक तत्त्ववायुलक्षण 'मातरिश्वा' के द्वारा इस शुक्ररूप-'आपः' का सर्वप्रथम तत्सर्ज्जक अनेजदेजद्रूप-द्विब्रह्मात्मक स्वयम्भूब्रह्म में ही आधान होता है, जिस इस आधान का सर्गानुगत वैज्ञानिक रहस्य 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में ही द्रष्टव्य है, जिस विज्ञान का स्मारक मन्त्र है—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
> तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
>
> —ईशोपनिषत्

१७४–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः-(सदा सदा के लिए) प्रक्रान्त प्राजापत्य सर्गचङ्क्रमण—

शुक्रात्मक आपः का जब प्राणात्मक ब्रह्मप्रजापति में आधान हो जाता है, दूसरे शब्दों में 'आप':-रूप शुक्रात्मक सुब्रह्म के साथ प्राण: रूप ब्रह्म का जब दाम्पत्यभाव हो जाता है, तो दोनो के इस अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक दाम्पत्य से संसृष्टिमूला भूतसृष्टिका प्रवाह व्यवस्थितरूप से प्रक्रान्त हो जाता है। प्राणमूर्त्ति ब्रह्मपुरुष, एवं आपोमूर्त्ति सुब्रह्मप्रकृति, दोनो के दाम्पत्य से आविर्भूत, एवं सदा सदा के लिए परम्परया प्रक्रान्त रहने वाले इसी सर्गचङ्क्रमण को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

> स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
> कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
>
> —ईशोपनिषत्

१७५--प्रजापति की अमृतसृष्टित्रयी, एवं मर्त्यसृष्टित्रयी—

भृगुत्रयी, एवं अङ्गिरात्रयी से समन्वित षड्भावापन्न, अतएव 'षड्ब्रह्म' नाम से ही प्रसिद्ध आपोमूर्त्ति इस शुक्रतत्त्व के ६ ही महिमाविवर्त्त माने हैं वैज्ञानिक महर्षियो नें, जो अमृत-मर्त्य-भेद से द्विसंस्थ बन रहे हैं। वाक्-आप:-अग्नि:, ये तीन अमृतशुक्र हैं, जिनका क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य, इन तीन भावों से क्रमिक सम्बन्ध है। अग्नि:-आपः-वाक् ये तीन मर्त्यशुक्र हैं, जिनका क्रमशः मर्त्यसूर्य्य, मर्त्यचन्द्रमा, मर्त्यभूपिण्ड, इन तीन भूतपिण्डों से क्रमिक सम्बन्ध है। ईशोपनिषत् में, तथा इसी ग्रन्थ के प्रथमखण्ड में इन ६ ओ पारमेष्ठ्य शुक्रो का विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेकधा समन्वय किया जा चुका है।

१७६–भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय-शुक्र के वाक् आप-अग्नि:-रूप तीन विवर्त्त—

'भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय परमेष्ठी ही शुक्र है' यही वक्तव्य-निष्कर्ष है, एवं इसीका नाम है सत्त्व-रज-स्तमोगुणान्वित, आकृति-प्रकृति-अहङ्कृत्यात्मक-षड्भावापन्न 'महद्ब्रह्म', जिसे भूत-भविष्यत्, एवं तदुप-

लक्षित वर्त्तमान का प्रस्तोता माना गया है। यह वही अव्यक्त-स्वायम्भुव-अक्षरविशिष्ट-पञ्चतन्मात्रा-प्रवर्त्तक आत्मक्षरब्रह्म (मूब्रह्म) है, जिसमे-'क्षर सर्वाणि भूतानि' निरन्वयना भूतसृष्टि की प्रवृत्ति हो रही है। इसीका 'भूत भविष्यत्-प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्-बहुब्रह्मैकमक्षरम्' इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। इस महद्-ब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक, अव्यक्त-अचिन्त्य-प्राणमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म ही वह ब्रह्म है, जिसका प्रथमाण्डरूप यह आपोमय-परमेष्ठी ही 'रेतोऽण्ड' कहलाया है अपने शुक्रधर्म्म से । ब्रह्मनि श्वसित अपौरुषेय-त्रयी वेदमूर्त्ति अनन्त स्वयम्भू ही अनन्तकाल है, जिसके तटस्थभाव-दिग्दर्शन के लिए ही यहाँ आपोमय-पारमेष्ठ्य-शुक्र का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन हो पड़ा है। अब इसी शुक्ररूप आप परमेष्ठी को आधार बना कर हम संक्षेप से ब्रह्म के (अव्यक्त-काल के) शेष वाक्-अन्न-अन्नाद नामक तीन आण्डविवर्त्तों का भी क्रमश समन्वय कर लेना चाहिए।

१७७-भृग्वङ्गिरोमय बीजात्मक-गायत्रीमात्रिक नामक सौरवेद—

यह निवेदन किया जा चुका है कि, भृग्वङ्गिरोरूप-पारमेष्ठ्य-आप तत्त्व, और यत् जू-रूप-स्वायम्भुव तत्त्व, इन दोनो के दाम्पत्य से ही बीजात्मक विराट् लक्षण मर्त्तमात्र सूर्य्यरूप में आविर्भूत हुआ है, जिसका-'तासु बीजमवासृजत्' से सङ्केत हुआ है। स्वय परमेष्ठी ? भृग्वङ्गिरोरूप, एव तद्गर्भीभूत बीज है--भृग्वङ्गिरोमय। सोमगर्भित अग्नि ही भृग्वङ्गिरोमय वह बीज है, जो चयनधर्म्म से चित्यपिण्डरूप म परिणित होता हुआ कालान्तर में कालक्रम से कालाधार पर व्यक्तकालात्मक सूर्य्यपिण्डरूप से प्रस्फुटित हो पड़ा है। यही 'वाक्' रूप-दूसरा यशोऽण्डविवर्त्त है, जिसे 'द्युलोक' कहा गया है। अङ्गिरा का विरजानस्थापन्न आदित्यप्राण ही भूतावेष्टित होकर सूर्य्यरूप मे अभिव्यक्त हुआ है। अतएव आदित्य सूर्य्य का पर्याय बन गया है, जब कि आदित्यतत्त्व प्राणात्मक कारण है, एव सूर्यपिण्ड भूतात्मक कार्य्य है। यही भूतज्योतिर्म्मय यह पौरुषेय तत्त्ववेद(सौरवेद) है, जिसे सौर-गायत्र तेज (प्रतिस्खलित सौर तेज) के सम्बन्ध मे 'गायत्रीमात्रिकवेद' कहा गया है।

१७८-पौरुषेय तात्त्विक-सौरवेद का स्वरूपदिग्दर्शन—

इसी दृष्टिबिन्दु पर यह भी समन्वय कर लेना चाहिए कि, भृगुगर्भित जिस पारमेष्ठ्य अङ्गिरा से सूर्य्य-मूला भूतसृष्टि का आविर्भाव हुआ है, वह अङ्गिरातत्त्व ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद की प्रतिष्ठा बनता है। आप परमेष्ठीरूप-(भृग्वङ्गिरोरूप) प्रकृतिरूप से समन्वित ऋक्-साम से समन्वित यत्-जू-मूर्त्ति-प्राणमय अव्यक्त स्वयम्भू पुरुष से ही क्योंकि भृग्वङ्गिरोमय सौर संस्थान का आविर्भाव हुआ है। दूसरे शब्दों मे-ब्रह्मनि श्वसित अपौरुषेय वेदात्मक सप्तपुरुषात्मक पुरुषप्रजापति से ही सौर आङ्गिरस वेद का आविर्भाव हुआ है, अतएव इस प्रजापति-पुरुष से आविर्भूत होने के कारण ही सौरवेद को-'पौरुषेयवेद' कहा गया है।

१७९-'भृग्वङ्गिरोरूपम्', एवं 'भृग्वङ्गिरोमयम्' का तात्त्विक समन्वय—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य है अपौरुषेय ब्रह्मनि श्वसित अव्यक्त अनन्त वेद का, तथा पौरुषेय गायत्रीमात्रिक व्यक्त सादिसान्त वेद का समन्वय, जिसे यथावत्-क्रमसिद्ध रूप से प्रज्ञा में सञ्चित किए बिना

---

* शुक्रात्मक इस पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म की षड्भावापन्नता अनेक रूपों में समन्वित हुई है वेदशास्त्र में जिन अनेकों में से प्रकृत में तीन प्रकार ही अब समाविष्ट हुए हैं। भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी-रूपा षड्रूपता एक प्रकार है। वाक्-आप-अग्नि-रूपा अमृतशुक्रत्रयी, अग्नि-आप-वाक्-रूपा मर्त्यशुक्रत्रयी-रूपा दूसरी षड्रूपता है। एव सत्त्व-रज-स्तमो-गुणत्रयी, तथा अहङ्कृति-प्रकृति-आकृतित्रयीरूपा तीसरी षड्रूपता है।

अव्यक्त-व्यक्त-भावापन्न कालविवर्त्तों का स्वरूप अज्ञात ही बना रह जाता है। भृगु-अङ्गिरा-शब्द भ्रामक है। इसलिए भ्रामक हैं कि, इनका परमेष्ठी से भी सम्बन्ध बतलाया जा रहा है, एवं सौर संस्थान से भी। यह भ्रामकता उस दशा में सर्वथा निःशेष हो जाती है, जब कि हम-'आपो भृग्वङ्गिरोरूपं-आपो भृग्वङ्गिरोमयम्' मूलक 'रूपम्' और 'मयम्' के स्वरूप से परिचित हो जाते हैं। 'रूपम्' भाव परमेष्ठी का संग्राहक है, एवं 'मयम्' भाव सौरसंस्थान का संग्राहक है। परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं सौरसंस्थान भृग्वङ्गिरोमय है। रूपता, और मयता में अन्तर वही है, जो ऋत, और सत्य में अन्तर है।

१८०–ऋत-सत्य-भावापन्न अग्नि-सोम की सर्वव्याप्ति, एवं-'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का समन्वय—

केन्द्रात्मक पिण्डभाव जहाँ 'सत्य' की स्वरूप–परिभाषा है, वहाँ अकेन्द्रात्मक अपिण्डभाव 'ऋत' की स्वरूप–व्याख्या है *। परमेष्ठी के भृगु–अङ्गिरा इसी परिभाषा के अनुसार जहाँ ऋत हैं, अतएव परमेष्ठी जहाँ 'ऋत' कहलाए हैं÷, वहाँ सूर्य्यनारायण के केन्द्र-पिण्डात्मक भृगु-अङ्गिराभाव की समष्टि 'सत्य' नाम से प्रसिद्ध हुई है। अतएव सूर्य्य 'सत्य' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि–'तद्यत्-तत्सत्यं-असौ स आदित्यः–य–एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (शत १४।८।६।३) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। ऋत परमेष्ठी के भृग्वङ्गिरोभाव 'आपः' हैं, एवं सत्यसूर्य्य के भृग्वङ्गिरोभाव 'वाक्' हैं। आपोमय ऋत परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं वाङ्मय सूर्य्य भृग्वङ्गिरोमय है। ऋतता ही रूपता है, सत्यता ही मयता है। और यही पारमेष्ठ्य आपोलोक, एवं सौर वाग्लोक के भृग्वङ्गिरोभावों में महान् अन्तर है। भृग्वङ्गिरोरूप पारमेष्ठ्य ऋत आपः ही तो आगे की मूर्त्त-पिण्ड-सत्य-सृष्टियों के उपादान बन रहे हैं कहीं भृगुप्राधान्य से, तो कहीं अङ्गिरा-प्राधान्य से। सूर्य्यसृष्टि अङ्गिरा-प्रधाना है, तो चन्द्रसृष्टि भृगुप्रधाना है, एवं पार्थिव सृष्टि पुनः अङ्गिराप्रधाना है। यों भृग्वङ्गिरा के तपोरूप व्यापार से ही आपः (परमेष्ठी) वाक् (सूर्य्य)-अन्न (चन्द्रमा)–अन्नाद-(पृथिवी,-रूपा लोकचतुष्टयी का, किंवा रेतोऽण्ड, यशोऽण्ड-पोषाण्ड-अस्त्वण्डो का स्वरूप-विकास हुआ है, जैसाकि–'भृगूणां–अङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि वचन से प्रतिध्वनित है। भृगु सोमतत्त्व है, अङ्गिरा अग्नितत्त्व है। मूर्त्त-भौतिक–आण्डविश्व भृग्वङ्गिरोमय बनता हुआ अग्नि–सोमात्मक ही तो है, जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

---

* सहृदयं-सशरीरं-वस्तु-सत्यम्, अहृदयं-अशरीरं-वस्तु- ऋतम्, एवं अहृदयं–किन्तु सशरीरं–वस्तु–ऋतसत्यम्, इति हि वैज्ञानिका आमनन्ति—

÷ ऋतमेव परमेष्ठी, ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥
—गोपथब्राह्मण

सूत्रमेव-परमेष्ठी । ता आप । सूत्र नाम्नेति विज्ञान

१—अङ्गिरागर्भिता —भृगुरूपा —आप —एव—आप —परमेष्ठी (रेतोऽण्डम्)—सोमो भृगु.

२—भृगुगर्भिता ——अङ्गिरोमय्य.-आप -एव—वाक्——सूर्य्य (यशोऽण्डम्)—अग्निरङ्गिरा

३—अङ्गिरागर्भिता —भृगुमय्य ——आपः-एव—अन्नम्—चन्द्रमा (पोषाण्डम्)—सोमो भृगु'

४—भृगुगर्भिता ——अङ्गिरोमय्य -आपः-एव—अन्नाद —भूपिण्ड' (अस्त्वण्डम्)—अग्निरङ्गिरा

गायत्रीमात्रिकवेदमहिमा

इति नु—'भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम' ।
'अग्नीषोमात्मकं जगत्'—इत्याहुराचार्य्या

१८१—तत्त्वात्मक-कालात्मक-वेद, और प्रामाण्यजिज्ञासा—

तत्त्वात्मक वेद के दोनों विवर्त्त उक्त परिलेख के माध्यम से, तथा पूर्वप्रतिपादित विषयसन्दर्भ से अवधानपूर्वक समन्वित करके ही हमें कालस्वरूपाराधना में प्रवृत्त होना चाहिए । रही बात इस दिशा में प्रामाण्य की, सो तत्सम्बन्ध में तूष्णीं बने रहना ही श्रेय पन्था है, इसलिए कि—प्रमाणोपस्थिति भी पारिभाषिक तत्त्वसमन्वय के बिना सर्वथा असमर्थ ही बनी रह जाती है तत्त्वबोधोदय में । उदाहरण के लिए-हम यहाँ अपौरुषेय-पौरुषेय-दोनों त्रयीवेदों के कतिपय श्रौत प्रमाण उपस्थित कर देते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह निवेदन किए बिना नहीं रहा जा सकता कि, पूर्वोक्त—पारिभाषिक—तत्त्वसमन्वय के बिना केवल व्याकरणबोध के बलपर यदापि इन वचनों के तत्त्वार्थ की कथा तो दूर रही, अक्षरार्थमात्र का भी समन्वय सम्भव नहीं है ।

१८२—तात्त्विकवेद के सम्बन्ध में कतिपय श्रौत-सन्दर्भ—

ब्रह्मनि श्वसित—अपौरुषेय—स्वायम्भुव—अव्यक्त—अमूर्त्त—अनन्त—वेद को हम एक विशेष दृष्टिकोण से 'त्रयीवेद' कहेंगे, एवं गायत्रीमात्रिक—पौरुषेय—सौर—व्यक्त—मूर्त्त—सादिसान्त वेद को 'चतुर्वेद' कहेंगे । 'त्रयीवेद' का अर्थ होगा 'ऋक्-यजु-साम-वेदसमष्टि', एवं 'चतुर्वेद' का अर्थ होगा-'अथर्व-साम-यजु-ऋक्-समष्टि' । इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ही लोकसामान्य—व्यवहार में—'वेद तीन हैं'—'वेद चार हैं'—ये दोनों व्यवहार प्रचलित हैं । 'त्रयीवेद' व्यवहार जहाँ ऋक्सामयजुर्मूर्त्ति स्वायम्भुव अपौरुषेय वेद की ओर सङ्केत कर रहा है, वहाँ 'चतुर्वेद' व्यवहार अथर्व—साम—यजु—ऋक्—मूर्त्ति पौरुषेय वेद का संग्राहक बन रहा है । इस भेदव्यवहार का व्यवस्थापक विशेष दृष्टिकोण भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय परमेष्ठी ही बना हुआ है । अपौरुषेय—त्रयीवेद के यजुरनुगत 'जू' रूप वाग् भाग से आविर्भूत भृग्वङ्गिरोरूप 'आप' ही का नाम 'अथर्व' नामक चतुर्थ वेद है, जो लोकसृष्टि का उपक्रम बन रहा है । यद्यपि यह ठीक है कि, प्रथम दाम्पत्य की दृष्टि से यह अथर्व अपौरुषेय त्रयीवेद में भी अनुगत है । तथापि इसकी यह अनुगति अभिव्यक्त होती है मूर्त्तभाव के आधार पर ही । अतएव इसे अपौरुषेय त्रयीवेद से असम्पृक्त ही मान लिया गया है । और या लोकातीत स्वायम्भुव त्रयीवेद लोकप्रवर्त्तक-लोकात्मक आपोवेदात्मक सुब्रह्म नामक चतुर्थवेद से अतीत ही बना रह जाता है । त्रयीवेद की दृष्टि से अवाक्—बने रहने के कारण ही तो—'अथ अर्वागभवति' निर्वचन से यह लोकातीत आपोवेद—'अथर्व' कहलाने लग पड़ा है । इस ओर सौर त्रयीवेद (गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद), उस ओर स्वायम्भुव त्रयीवेद (ब्रह्मनि श्वसित अपौरुषेय वेद), एवं मध्य में भृग्वङ्गिरोरूप—आपोमूर्त्ति सुब्रह्म

नामक अथर्ववेद, यह स्थिति है, जिसमें अपने आपोमूलक संसृष्टिधर्म्म से मध्यस्थ अथर्ववेद सृष्टिरूप पौरुषेय-गायत्रीमात्रिक वेद का ही प्रधान सहयोगी बना हुआ है। लोकातीत अपौरुषेय वेद तो इस संसृष्टिधर्म्मा अथर्व से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। और यही 'त्रयो वेदाः'-'चत्त्वारो वेदाः'-इस भेद के व्यवस्थापक विशेष दृष्टिकोण का स्वरूप-विश्लेषण है, जिसे लक्ष्यारूढ बनाते हुए ही इन दोनों (अपौरुषेय-पौरुषेय) वेदतत्त्वों के समर्थक वचनों के द्वारा हमें अपनी प्रमाणनिष्ठा का संरक्षण-समन्वय कर लेना चाहिए।

अपौरुषेय पौरुषेय-वेदतत्त्वसंग्राहकानि प्रमाणवचनानि—

स्वयम्भूः	पिता / त्रयीविद्या स्वायम्भुवी	(१)—"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत-भूयान्त्स्यां, प्रजायेय-इति, सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्मादाहुः-'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा-' इति।"	प्रतिष्ठावेदः ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेयः	त्रयीवेदः--अपौरुषेयः
परमेष्ठी—	माता / चतुर्थवेदः पारमेष्ठ्यः	(२)—"तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सो ऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्-तस्मादापः। यदवृणोत्-तस्मात्-वाः।"	आपोवेदः ब्रह्मस्वेदवेदः (२) पौरुषेयः	चत्वारो वेदाः--पौरुषेयाः
—सूर्यः	पुत्रः / त्रयीविद्या-सौरी	(३)—"सोऽकामयत--आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय--इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया (प्रतिष्ठावेदेन) सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुः-'ब्रह्मास्य-सर्वस्य प्रथमजम्' इति। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत।" —शतपथब्राह्मण ६।१।१।८–१०।	प्रथमजवेदः गायत्रीमात्रिकः पौरुषेयः (३)	

—"अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः"—इति हि वैज्ञानिका आहुः

१८३–तात्त्विकवेद के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

अपौरुषेय–स्वायम्भुव–त्रयीवेद की साक्षी में (अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त–महाकाल की साक्षी में) पौरुषेय–पारमेष्ठ्य–अथर्ववेद के भृगुगर्भित अङ्गिरा के द्वारा (महाकाल की पत्नी महाकाली के द्वारा) पौरुषेय–सौर–गायत्रीमात्रिक जिस व्यक्तवेद का (व्यक्त–मूल–काल का) आविर्भाव हुआ, वह आङ्गिरस सौरवेद ही अपने घन–तरल–विरल–रूप अग्नि–वायु–आदित्य–नामक तीन अवस्था विवर्तों से क्रमशः ऋक्–यजु–साम–रूपों में परिणत होगया, जिस इस अङ्गिरात्रयीमूलक–सौरयज्ञप्रवर्त्तक–गायत्रीमात्रिक–त्रयीवेद को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि ने कहा है—

> अग्नि–वायु–रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं–ऋक्–यजुः–साम–लक्षणम् ॥
> —मनु १।२३।

१८४–गायत्रीमात्रिक–यज्ञमात्रिक–भूतमात्रिक–नामक सौर–चान्द्र–पार्थिव–तत्त्ववेदों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अग्निमय ऋग्वेद, वायुमय यजुर्वेद, एवं आदित्यमय सामवेद से, किंवा ऋग्वेदात्मक अग्नि, यजुर्वेदात्मक वायु, एवं सामवेदात्मक आदित्य से ही क्रमशः भूः–भुवः–स्वः–नाम की व्याहृतियों से प्रसिद्ध पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नामक तीन रोदसी लोक आविर्भूत हो जाते हैं। सौर अङ्गिरा के अग्नि–वायु–आदित्य–विवर्तों से आविर्भूत ऋक्–यजु–साम ही सुप्रसिद्ध वे छन्द–रस–वितानस–नामक (मूर्त्ति गति–तेजोभाव प्रवर्त्तक) वेद हैं, जिनका पूर्व में छन्दोवेद–रसवेद–वितानवेद–नाम से दिग्दर्शन करा दिया गया है। तीनों ही सौर वेद (प्रत्येक) त्र्यात्मक हैं। या एक ही त्रयीवेद के तीन त्रयीवेद विवर्त्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से सौरद्युलोक को हम वितानसामात्मक त्रयीवेद कह सकते हैं, जिसका क्रान्तिवृत्तात्मक सौरसम्वत्सर–मण्डल से सम्बन्ध माना गया है। चान्द्र–अन्तरिक्षलोक को रसयजुरात्मक त्रयीवेद कहा जा सकता है, जिसका दक्षवृत्तात्मक चान्द्रसम्वत्सर से सम्बन्ध माना गया है। एवं भौम–पार्थिवलोक को छन्दोऋगात्मक त्रयीवेद माना जासकता है, जिसका अक्षवृत्तात्मक पार्थिव सम्वत्सर से सम्बन्ध माना गया है। या 'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' रूप से त्रिवृद्भावापन्न इन तीन रोदसीलोकों के लोकवितानधर्म्मों से एक ही आङ्गिरस–गायत्रीमात्रिकवेद तीन त्रयीभावों में परिणत हो रहा है। एक ही सत्य यों त्रिसत्य बनता हुआ यज्ञरूप में परिणत हो रहा है। 'त्रिःसत्या वै देवाः' इति हि नैगमिका प्राहुः।

त्रिवृद्भावापन्ना--गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी--यज्ञप्रवर्त्तिका

सौरवेदत्रयी ३ वितानवेदत्रयी वा

१--आदित्यः--साम--द्यौः
२--वायुः--यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः--ऋक्--पृथिवी

आदित्यमयः-सामवेदः-वितानवेदः सौरः--द्युलोकः--वाङ्मयः--(यशोऽण्डम्)-सैषा वितान-वेदत्रयी--

चान्द्रवेदत्रयी ३ रसवेदत्रयी वा

१--आदित्यः--साम--द्यौः
२--वायुः--यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः--ऋक्--पृथिवी

वायुमयः--यजुर्वेदः-रसवेदश्चान्द्रः--अन्तरिक्षलोकः--अन्नमयः (पोषाण्डम्)--सैषा रसवेद-त्रयी--

पार्थिववेदत्रयी ३ छन्दोवेदत्रयी वा

१--आदित्यः-साम--द्यौः
२--वायुः--यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः--ऋक्--पृथिवी

अग्निमयः--ऋग्वेदः-- छन्दोवेदः--पार्थिवः--पृथिविलोकः-- अन्नाद--मयः-(अस्त्वण्डम्)-सैषा छन्दो-वेदत्रयी--

भूतमात्रिक--यज्ञमात्रिक--वेदावच्छिन्नो गायत्रीमात्रिकवेदः (पार्थिव) आग्नेय)--
वेदावच्छिन्नो दिव्यवेदः

समष्ट्यात्मकः-परिलेखः-(सर्वसमन्वयाधारभूमिः)—

१—प्राणमूर्त्तिः—स्वयम्भू ऋषिप्राणमयः (ऋषय)-प्राणाग्निवेदः (अग्निः) विश्वमात्रिकवेदः-स्वायम्भुव (ब्रह्मवेदः)-ब्रह्मनि श्वसितवेदोऽपौरुषेय (वृत्तौजाः)	अव्यक्तकाल	त्रयोवेदा (३) अपौरुषेयाः
२—आपोमूर्त्ति परमेष्ठी—पितृप्राणमय (पितरः)—भृगुवेदः (सोमः)-आपडमात्रिकवेद -पारमेष्ठ्य (सुब्रह्मवेद)-ब्रह्मस्वेदवेदोऽथर्व (रेतोऽण्डम्) ३—वाङ्मूर्त्ति —सूर्य्य —वेदप्राणमयः (देवा)—अङ्गिरावेदः (अग्नि)-गायत्रीमात्रिकवेदः सोरः (वितानवेदत्रयी-आदित्या)-सामानि (यशोऽण्डम्) ४—अन्नमूर्त्ति —चन्द्रमाः—पशुप्राणमय (पशवः)—भृगुवेद सोमः)-यज्ञमात्रिकवेदश्चान्द्र (रसवेदत्रयी-वायव्या)——यजूँषि (पोषाण्डम्) ५—अन्नादमूर्त्तिः-भूपिण्ड —भूतप्राणमयः (भूतानि)-अङ्गिरावेदः (अग्नि)-भूतमात्रिकवेद पार्थिव (छन्दोवेदत्रयी-आग्नेयी)-ऋच (अस्तवण्डम्)	गायत्रीमात्रिकवेदविताननम् व्यक्तकालात्मकम्	चत्वारो वेदाः पौरुषेयाः (४)

समष्टि-परिलेखस्य शेषांश एव—

दिक्कलाद्यनवच्छिन्न तु परात्परब्रह्म—अनन्त ब्रह्म—तस्यैवान्तप्रतीकोऽय—वेदात्मक —कालोऽनन्त

१—वृत्तौजानुगत स्वयम्भू —सोऽय लोकातीतो लोकप्रवर्त्तकः परोरजा (महिमा)—ब्रह्मा—स्वच्छन्द —अमूर्त्तकालः } ब्रह्मनि श्वसितवेदोऽपौरुषेय अव्यक्तकालात्मकः—

२—रेतोऽण्डानुगतः—परमेष्ठी—सोऽय दिक्-लोक -आपोमय — (दिश)—अथर्व -अतिछन्दोमय —व्यक्तकाल

३—यशोऽण्डानुगतः—सूर्य्य —सोऽय द्युलोक —वाङ्मय — (द्यो) —साम—वितानमयम्—दिग्भाव —प्रदेशभावो वा

४—पोषाण्डानुगत ——चन्द्रमाः-सोऽय अन्तरिक्षलोकः—अन्नमय - (अन्तरिक्षम्)-यजु —रसमयम्——देशभाव -देशो वा

५—अस्तवण्डानुगत —भूपिण्डः-सोऽय पृथिविलोक अन्नादमय - (पृथिवी)—ऋक्-छन्दोमयी——प्रदेशभाव -दिग्भावो वा

} गायत्रीमात्रिकवेदः पौरुषेय —व्यक्तकालात्मकः— -दिग्-देशावच्छिन्नः—

१८५–'कालः कालं परिपीडयन् कालान्तरे कालोपादानमाध्ययेन कालमेव जनयति' लक्षण पारिभाषिक सूत्र का तात्त्विक–समन्वय,–एवं आचार्य्यचरणानुगता पावन-श्रद्धा का संस्मरण––

* "कालः[1]–कालं[2]–परिपीड़यन्[3]–कालान्तरे[4] कालोपादानमाध्यमेन[5]–कालमेव[6] जनयति, इत्येवं–सर्वमपि काल एव" इस महान् पारिभाषिक सूत्र के आधार पर ही अब हमें (लोकभावुकता-संरक्षणपूर्वक) काल के उस गरिमा-महिमामय इतिवृत्त का ही दिग्दर्शन करा देना है, जिसका प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के आरम्भ में ही माङ्गलिक–संस्मरण–रूप से आराधन प्रक्रान्त हो चुका है। "शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं–शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्" (महाभाष्य) यह है हमारी वह शब्दशास्त्रप्रमाणनिष्ठा, जिसका–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गीता) इत्यादि वचन से सर्वात्मना समर्थन हुआ है। काल के व्यक्तकाल, सौरकाल, चान्द्रकाल, पार्थिवकाल, मन्वन्तरमूलक गणनकाल, आदि आदि जिन अवान्तर विवर्त्तों का आरम्भ से अबतक पारिभाषिक समन्वय करने की जो चेष्टा, किंवा धृष्टता हो पड़ी है, उसके प्रामाण्य–स्वरूपसंरक्षण के लिए ही अथर्ववेदीय उस कालसूक्त के अक्षरार्थमात्र का ही संस्मरण कर लिया जाता है। 'अक्षरार्थमात्र' वाक्य केवल विनय-प्रदर्शन नहीं है, किन्तु वस्तुस्थितिमूलक है। यही नहीं, पारिभाषिकी–परम्परा के अभिभूत हो जाने से यदि इस सम्बन्ध में यह भी निवेदन कर दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि–वेदशास्त्र के अक्षरार्थमात्र का उद्घोष करना भी हमारे जैसे प्राकृत–मानव के लिए तो धृष्टता ही प्रमाणित होगी। फिर तत्त्वार्थसमन्वयात्मक पारिभाषिक–समन्वय की तो कथा ही क्या है। अपनी इस अक्षमता–असमर्थता–को सर्वात्मना जानते हुए भी–'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' इस चिरन्तन आर्षसूत्र के माध्यम से स्वज्योतिर्घन भी सूर्य्यभगवान् के प्रति भक्तिपूर्वक प्रदत्त दीपदानवत् वेदभगवान् का अपनी बालभाषा में संस्मरण तो किया ही जासकता है। आचार्य्यचरणों के प्रति अनन्यनिष्ठा से प्रवाहित रहने वाला श्रद्धानसूत्र ही इस बालभाषा का मूलाधार है, जिसके आश्रय से ही 'अथर्ववेदीय-कालसूक्त का अक्षरार्थमात्र-संस्मरण उपक्रान्त हो रहा है केवल स्वान्तःसुखायैव्। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

---

*–"कालः (स्वायम्भुवः–अव्यक्तकालः–ब्रह्मनिःश्वसितवेदात्मकः)–कालं (पारमेष्ठ्य–व्यक्तकालात्मकं–ब्रह्मस्वेद–वेदरूपं) परिपीड़यन् (बलग्रन्थिलक्षणसंसृष्टिभावे परिणमय्य)–कालान्तरे (मन्वन्तर–कल्पादि–धाराप्रक्रमे) कालोपादानमाध्यमेन (व्यक्तपारमेष्ठ्यकालात्मक–अग्निसोममय–भृग्वङ्गिरोरूपोपादानद्रव्येण) कालमेव (सौर-चान्द्र-पार्थिव-लोकात्मकं-व्यक्तकालस्यैव परमेष्ठिनो भगवतः-अभिव्यक्तित्वलक्षणं-दिग्-देश-प्रदेश-भावात्मकं–भूतभौतिकं–स्थावरजङ्गमभावापन्नं--व्यक्तं विश्वमेव) जनयति, इति काल एव अधिष्ठानकारणं-. आलम्बनकारणं वा, कालएव निमित्तकारणं, काल एव उपादानकारणं, काल एव च उत्पन्नं वस्तुजातमिति सर्वमपि काल एवेति नमो नमः साञ्जलिबन्धं मुहुर्मुहुः कालाय तस्मै प्रभविष्णवे सर्वरूपाय, अरूपाय, अनन्तायाव्यक्ताय च", इति सूत्रनिष्कर्षः।

दिग्देशकालस्वरूपानुगत–'पारिभाषिकप्रकरण' नामक

प्रथमप्रकरण–उपरत

१

श्री

इति–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
'पारिभाषिकप्रकरण' नामकं
प्रथमप्रकरणमुपरतम्

१

श्रीः

अथ-दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे "अथर्ववेदीय-कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वय" नामकं द्वितीयप्रकरणम्

श्रीः

अथर्ववेदीय–कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मकं

द्वितीयं–प्रकरणम्

२

कालस्वरूपात्मक–कालसूक्त (अष्टम)–दशमन्त्रात्मक

---

(१)–प्रथममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (प्रथममन्त्रार्थ)

१–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

(१)–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

यह है अथर्ववेदीय कालसूक्त का प्रथम (१) मन्त्र, जिसका अक्षरार्थसमवन्य यों सम्भव माना जा सकता है कि,—(१)—"सात रश्मियों वाला, सहस्र अक्ष वाला, वृद्धावस्था से पृथक् रहने वाला, प्रभूत वीर्य्यवान् 'कालाश्व' (विश्व का) वहन कर रहा है। (वाहन बने हुए इस) कालाश्व को लक्ष्य बना कर प्रज्ञाशील विद्वान् (इस पर) चढ़ जाते हैं। उस (कालाश्व) के सम्पूर्ण लोक चक्र हैं (परिभ्रमणस्थान) हैं"।

"एक ऐसा अश्व (घोड़ा) है, जिसने सम्पूर्ण विश्व का भार अपने ऊपर उठा रक्खा है। सब का वाहन (भार ढोहने वाला) बना हुआ यह अश्व सात रश्मियों से युक्त रहने के कारण 'सप्तरश्मिः' नाम से, सहस्र (हजार) नेत्रों से समन्वित होता हुआ 'सहस्राक्षः' नाम से, जरावस्था (वृद्धावस्था) से असंस्पृष्ट रहने के कारण 'अजरः' नाम से, एवं (महामहिमशाली ब्रह्माण्ड के समष्टि–व्यष्ट्यात्मक पदार्थों के उपादानद्रव्यरूप) पर्य्याप्त (भूरि) रेतः (शुक्र) के कारण 'भूरिरेताः' (महान् वीर्य्यशाली) नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे इस कालाश्व पर वे आरूढ रहते हैं, जो कवि (श्रद्धाशील) है, एवं विपश्चित् (बुद्धियोगनिष्ठ) है। विश्व–पदार्थों के वहन करने वाले, श्रद्धालु नैष्ठिकोंके वाहन बने रहने वाले ऐसे इस कालाश्व के परिभ्रमण स्थान (चक्र) सम्पूर्ण (सातों) भुवन बन रहे हैं," यह है पूर्वोक्त अक्षरार्थ का स्पष्टीकरण।

२–व्यक्तकाल के उपक्रम–उपसंहार–स्थान, एवं चतुर्लोकात्मक ब्रह्माण्ड का भाग्यविधाता व्यक्तकाल—

मन्त्र उस व्यक्तकाल का स्वरूप व्यक्त कर रहा है, जिसका उपक्रमस्थान तो माना गया है भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय परमेष्ठी, एवं उपसंहारस्थान बना हुआ है भूपिण्ड। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–दिशः–रूप

भूपिण्ड-चन्द्रमा-सूर्य-परमेष्ठी-नामक चार लोका, किंवा अण्डवृत्तो की समष्टि का नाम ही 'ब्रह्माण्ड' है, जिसे व्यक्त-मूर्त-काल का ही उपबृंहितरूप माना गया है। व्यक्तकाल ही चतुर्लोकात्मक इस ब्रह्माण्ड का भाग्यविधाता बना हुआ है। अथर्ववेदीय दोनों कालसूक्तोंने इस व्यक्तकाल को माध्यम बना कर ही स्वयं इसके (व्यक्तकाल के), तथा तदाधारभूत अमूर्त-अव्यक्त-काल के अथ से इतिपर्य्यन्त का इतिवृत्त अपनी पारिभाषिकी विज्ञानभाषा में सर्वात्मना स्पष्ट कर दिया है, जिस स्पष्टीकरण का कदापि वैखरी-वाणी के माध्यम से स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। कालसूक्त के पारिभाषिक, अतएव रहस्यपूर्ण, अतएव च दुरधिगम्य इस स्पष्टीकरण का समन्वय तो आस्थाश्रद्धा-पूर्वक हमें अपने 'प्रज्ञाजगत्' में ही ढूँढते रहने का यावज्जीवन प्रयत्नमात्र करते ही रहना चाहिए जरामर्य्यसत्त्ववत्। क्योंकि-'अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परां गतिम्' ही आर्षमानव की विश्रामभूमि मानी गई है।

३-अथर्व, साम, यजु., ऋक्, भेदेन चतुष्पर्वा सौर गायत्रीमात्रिकवेद, तद्रूप व्यक्तकाल, एवं तत्प्रतीक-माध्यम से 'कालाश्व' रूप अव्यक्त-अमूर्त्त काल के दर्शन---

स्मरण कीजिये उन पूर्व परिच्छेदों का, जिनमें तात्विकवेद के पौरुषेय-अपौरुषेय-नामक महिमा-विवर्तों का स्पष्टीकरण हुआ है (देखिए-पृष्ठ सं० १०३)। पारमेष्ठ्य अथर्ववेद का (स्वायम्भुव ब्रह्मनि:श्वसित-अपौरुषेयवेद के वाक् भाग-यत् के जू भाग-से आविर्भूत तत्त्व का) नाम ही था भृग्वङ्गिरोरूप-स्नेह-तेजोगुणक-शुक्रात्मक-पारमेष्ठ्य-'आप' तत्त्व, इसी का नाम था-'अथर्ववेद'। इस आथर्वणिक भृग्वङ्गिरोभाव के भृगुगर्भित अङ्गिरा की चिति में आविर्भूता छन्द-रस-वितान-भावात्मिका त्रयीविद्या ही वह 'गायत्री-मात्रिक-पौरुषेयवेद' कहलाया, जिसे तत्रैव प्रमाणवचन में 'प्रथमजवेद' कहा था, जिस इस प्रथमज त्रयी-वेद के साथ तदुत्पादक पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोरूप-अथर्व को भी समन्वित माना गया है अन्तर्याम-सम्बन्ध से। अत 'अथर्व-साम-यजु-ऋक्-इन चारों तत्त्ववेदों की समन्वितावस्था को ही पूर्व में हमनें 'गायत्री-मात्रिकवेद' कहा था (देखिए-पृ० सं० १०५ की तालिकाएँ)। 'अथर्व' का अर्थ है-आपोमय-पारमेष्ठ्य शुक्र, एवं ऋक्-साम-यजु-का अर्थ है-मूर्ति-मण्डल पिण्डरूप-सूर्यनारायण, जिस इस त्रयीवेदविद्यात्मक-सावित्रतेजोमय-गायत्राग्निरूप-सौर मण्डल को लक्ष्य बना कर ही-'सैषा त्रयीविद्या तपति' (शतपथब्रा०) सिद्धान्त स्थापित हुआ है। पारमेष्ठ्य-अथर्वगर्भित-भृग्वङ्गिरोमय-(आपोमय)-ऋक्-यजु-साम-मूर्त्ति-सौर-गायत्रीमात्रिकवेद ही व्यक्तकाल की स्वरूप-परिभाषा है, जिसे माध्यम बना कर ही अब हमें इस अव्यक्तकाल की 'अश्वरूपता' का दर्शन करना है श्रुतिप्रामाण्यबुद्ध्यैव।

४-भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित भृग्वङ्गिरोमय 'अश्रु' लक्षण अश्वमूर्त्ति 'प्रथमजब्रह्म' नामक 'हिरण्यगर्भात्मक' व्यक्त-विश्वबीजात्मक-'अग्नि'-भावापन्न दिव्याग्नि---

'ब्रह्मैव प्रथमसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' इत्यादि पूर्वपरिच्छेदोपात्त श्रौतप्रमाण के अनन्तर (देखिए पृ० सं० १०३ की श्रौतप्रमाणत्रयी) उसी सन्दर्भ का यह वचन हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि—"अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्-सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याम-

मसृज्यत–तस्मादग्निः। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्" (शत० ६।१।१।१०,११)। आपोमय शुक्रमूर्त्ति–पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित ऋक (छन्द)–यजुः (रस), साम (वितान) समष्टिरूप त्रयीवेद ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेदरूप 'प्रथमजब्रह्म' है, जिसके लिए-'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः' यह कहा है गोपथ ने। यही वह अन्तर्गर्भित वेदाग्नि है, जिसके लिए–'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि प्रकृत सन्दर्भ उपस्थित हुआ है। ऋक्–सामावच्छिन्न प्राणाग्नि ही अन्तर्गर्भित वह वेदाग्नि है, जिसे 'हिरण्यगर्भाग्नि' कहा गया है, एवं जिसका–'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि मन्त्र से विस्तारपूर्वक स्वरूपोपवृंहण हुआ है। भूतसर्गों में सर्वप्रथम आविर्भूत होने के कारण ही यह अन्तर्गर्भित हिरण्य–गायत्रतेज–[किंवा सावित्रतेज] 'अग्रि' कहलाया है। यह 'अग्रि' ही परोक्षभाषा में–'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

५–ब्रह्मवीर्य्यात्मक–अग्रजन्मा–ब्रह्ममुखरूप–हैमवती–उमाशक्तिसमन्वित–हैमाण्डलक्षण–गायत्रीमात्रिकवेदाण्डरूप यशोऽण्ड का स्वरूप–दिग्दर्शन

यही हिरण्यगर्भाग्नितत्त्व (किंवा अग्नितत्त्व) ज्ञानशक्तिमय 'ब्रह्मवीर्य्य' का प्रवर्त्तक बनता है। अतएव चातुर्वर्ण्यात्मक सर्गों में ब्राह्मणवर्ण–'अग्रजन्मा' कहलाया है। जो अर्थ 'अग्निजन्मा' का है, वही अर्थ 'अग्रजन्मा' का है। 'मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म' इत्यादि वही की शातपथी श्रुति इसी प्राथम्य के कारण इस गायत्राग्निरूप ब्रह्माग्नि को त्रयीमूर्त्ति प्रजापति का 'मुख' कह रही है, इसी आधार पर–'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि वचन समन्वित हुआ है। अग्रता-प्रमुखता-प्राथम्य–अग्नित्व–वेदत्व–ब्रह्मत्व–ब्राह्मणत्व-आदि आदि भाव इसी अन्तर्गर्भित गायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व के महिमामय विवर्त्त हैं, जिनका-'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यसन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है। पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र के गर्भ में, किंवा अन्तर्गर्भ * में प्रतिष्ठित यह हिरण्याग्नि ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेद का स्वरूप–परिचय है, जिससे हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड का सम्बन्ध बतलाया गया है। जोकि यह वेदाण्ड (पारमेष्ठ्य रेतोऽण्ड के अन्तर्गर्भ में प्रतिष्ठित गायत्राग्निरूप हिरण्यमयाण्डात्मक यशोऽण्ड) ही राजर्षि की भाषा में 'हैमाण्ड' कहलाया है, जिस के साथ कि केनोपनिषत् की सुप्रसिद्धा हैमवती उमा का सम्बन्ध माना गया है। हिरण्यगर्भरूप गायत्र–पुरुष की शक्ति ही वह 'हैमवतीउमा है,' जिस के आधार पर रोदसी–त्रैलोक्य के अग्नि–वायु–इन्द्र–रूप प्राकृत–देवों का स्वरूप प्रतिष्ठित है, जिस इस प्राकृत–रहस्य का केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। हिरण्मयाण्डरूप इसी हैमाण्ड, अग्न्यण्ड, किंवा गायत्रीमात्रिक वेदाण्डरूप यशोऽण्ड को लक्ष्य बना कर भगवान् मनुने कहा है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमं प्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥

—मनुः १।६।

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः–इति–यो गर्भोऽन्तरासीत्।

६–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–मण्डलानुगता वेदसंस्थानत्रयी, एवं वेदात्मक तीनों कालों के अव्यक्तकाल, व्यक्ताव्यक्तकाल, व्यक्तकाल–रूपों का समन्वय—

ब्रह्मनिःश्वसित[1] अपौरुषेयवेद, ब्रह्मस्वेदवेद[2], गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद[3], इन तीन वेदतत्त्वों से ही क्रमशः–स्वायम्भुव[1]–पारमेष्ठ्य[2]–सौर[3]–जगत् का क्रमिक सम्बन्ध माना गया है। ये तीनों विवर्त्त क्रमशः अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त–व्यक्त–भावापन्न बनते हुए अमूर्त्त–मूर्त्तामूर्त्त, एवं मूर्त्त रूप हैं, और ये ही हैं तीनों एक ही कालतत्त्व के तीन विवर्त्त। ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय त्रयीब्रह्म–(त्रयीवेदात्मक प्रतिष्ठाब्रह्म)–रूपात्मक अव्यक्त स्वयम्भू ही अव्यक्त–अमूर्त्त–काल है। ब्रह्मस्वेदवेदात्मक–अथर्वब्रह्म–(सुब्रह्म)–रूपात्मक व्यक्ताव्यक्तात्मक परमेष्ठी ही व्यक्ताव्यक्त–मूर्त्तामूर्त्तकाल है। एवं गायत्रीमात्रिक पौरुषेय–त्रयीब्रह्म–(त्रयीवेदात्मक प्रथमजवेद)–रूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही व्यक्त–मूर्त्त–काल है। स्वायम्भुव अव्यक्तकाल ही वह अनुपाख्य–महाकाल है, जिसे सर्वथा 'अचिन्त्यकाल' माना है ऋषिप्रज्ञाने, जिसका कि राजर्षि–'*आसीदिदं तमोभूतम्' इत्यादिरूप से यशोगान किया है।

७–अचिन्त्य अनुपाख्यकाल, चिन्त्याचिन्त्य अनिरुक्तकाल, चिन्त्य निरुक्तकाल, एवं–'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' का तात्त्विक समन्वय—

पारमेष्ठ्य व्यक्ताव्यक्तकाल ही अनिरुक्ततमोरूप वह करालकाल है, जिसे 'चिन्त्याचिन्त्य' माना है ऋषिप्रज्ञाने। अपनी भृग्वङ्गिरोरूपता से जहाँ यह अचिन्त्य है सलिलरूप विशुद्ध ऋतभावापेक्षया, वहाँ अपनी भृग्वङ्गिरोमयता से चिन्त्य है यही सौरसंस्थानुगामी बनता हुआ अपने सत्यभाव की अपेक्षा से। अनुपाख्यतमोरूप महाकालात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेद जब–'सोऽनया त्रय्या–विद्यया सहापः प्राविशत्' के अनुसार एकांश से अनिरुक्ततमोरूप करालकालात्मक–ब्रह्मस्वेद के (आपोमय परमेष्ठी के) गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस प्राथमिकी गर्भावस्था में मानों गर्भीभूत वह अनुपाख्यतम (स्वायम्भुववेद) इस अनिरुक्त तम (पारमेष्ठ्य–वेद) में ही सुगुप्त–गूढ बन जाता है। दोनों मिलकर पारमेष्ठ्यसलिल–भावापन्न–पारमेष्ठ्य–ऋतरूप से एकाकार (आपोमय) ही बन जाते हैं। और यही है वह स्थिति, जिस का सौरब्रह्माण्ड से पूर्व की अवस्था से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस का–'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे–अप्रकेतं–सलिलं सर्वमा इदम्' (ऋक्सं०) इत्यादि मन्त्र से संस्मरण हुआ है–।

---

* आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु १।५।)॥

— तमः–(अनुपाख्यतमोरूपः स्वयम्भूः– महाकालोऽव्यक्तः)। तमसा (अनिरुक्ततमोरूपेण–करालकालात्मकेनाव्यक्तव्यक्तमूर्त्तिना परमेष्ठिना) अग्रे (सौरब्रह्माण्डोदयात्पूर्वं) गूढं प्रच्छन्नम् -सर्वमापोमयमेव जगत्तदा–इति सलिलं सर्वमा इदम्।

८—अनुपाख्यतमोरूप 'महाकाल', अनिरुक्ततमोरूप 'करालकाल', निरुक्तज्योतिर्म्मय 'कुटिलकाल', एवं कुटिलकालात्मक व्यक्त-सौर-'कालाश्व' की 'रोहितकालता' का संस्मरण—

अनुपाख्यतमोरूप महाकाल (स्वयम्भू), एवं अनिरुक्ततमोरूप करालकाल (परमेष्ठी), इन दोनों की महिमा से (दाम्पत्य से) ही आगे चल कर तीसरा व्यक्त—मूर्त्त—कुटिलकालात्मक सौरकाल—अभिव्यक्त होता है, जिस का—'अथ—यो गर्भोऽन्तरासीत्'० इत्यादि पूर्वोपात्त श्रुतिसन्दर्भ से सङ्केत हुआ है। यही तीसरा गायत्रीयात्रिक पौरुषेय व्यक्तवेदात्मक वह व्यक्तकालात्मक काल है, जिसे सङ्केतभाषा में—'रोहितकाल' कहा गया है। गायत्राग्निरूपा रोहितता (लोहितता) ही इस व्यक्त सौरकाल का रोहितकालत्व है, जिस के तात्त्विक स्वरूप—समन्वय के लिए तो अथर्ववेद के 'रोहितकालप्रकरण' का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय करना चाहिए, जिस के कतिपय मन्त्रमात्र यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

> १—रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
> रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥
> २—रोहितो लोको अभवद् रोहितोत्पतद् दिवम्।
> रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सञ्चरन् ॥
> ३—सर्वा दिशः सञ्चरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः।
> दिवं समुद्राद्भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥
>
> —अथर्वसंहिता १३ काण्ड।२ अनुवाक।३९—४०—४१—मन्त्र।

कालाः—मूर्त्तयः
- १—ब्रह्मनिःश्वसतापौरुषेयवेदमूर्त्तिरव्यक्तः स्वयम्भूः-अनुपाख्यतमोरूपः-ऋजुकालात्मकः-'महाकालः'
- २—ब्रह्मस्वेदाथर्वमूर्त्तिर्व्यक्ताव्यक्तः—परमेष्ठी——अनिरुक्ततमोरूपः—ऋतकालात्मकः—'करालकालः'
- ३—गायत्रीमात्रिकपौरुषेयवेदमूर्त्तिरव्यक्तः-सूर्य्यः——हिरण्यरूपः———कुटिलकालात्मकः-'रोहितकालः'

९—श्वेतवराह के द्वारा 'कालाश्व' की आपोमयी हिरण्मयता में परिणति, एवं 'ऋते भूमि रियं श्रिता' का समन्वय—

उक्त तीनों कालविवर्त्तों में से तीसरे रोहितकालात्मक—व्यक्तभावापन्न—गायत्राग्निलक्षण—सौरकाल को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने—'योऽगर्भोऽन्तरासीत्—सोऽग्निमसृज्यत'० इत्यादि रूप से सौर हिरण्मयाण्ड का स्वरूप-विश्लेषण किया है। स्मरण रखिए ! यह उस अवस्था का चित्रण है, जिस में अभी सूर्य्य का वैसा भौतिक-मूर्त्त—रूप अभिव्यक्त नहीं हो पाया है, जैसाकि हम आज देख रहे हैं। अपितु यह तो उस आरम्भावस्था का चित्रण है, जिस में सूर्य्य के मूर्त्तपिण्डनिर्म्माण की प्रक्रिया का आरम्भ हो रहा है आङ्गिरस अग्निपुञ्जों के

माध्यम से। केन्द्रशक्तिरूप–गायत्राग्निलक्षण प्राणाग्नि 'श्वेतवराह' नामक सौर मातरिश्वाप्राण से केन्द्र में क्रम–क्रमश घनीभूत होता जा रहा है दशात्मिका भूतमात्राओं के (तन्मात्राओं के) चितिसम्बन्ध से। केन्द्राग्नि के आधार पर मातरिश्वाप्राणवायु के द्वारा सब से पहिले एक पार्थिवमण्डल का आविर्भाव होता है, जोकि सौरपरिधिमण्डल 'हिरण्मयाण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। यह अण्डता 'आपोभाव' पर ही अवलम्बित है, यह भी विशेषरूप से स्मरणीय, एवं सभी भौतिक सर्गों में नितान्त अवधेय दृष्टिकोण है। 'ऋते भूमिरियं श्रिता' का 'ऋत' 'आप' तत्त्व है, 'भूमि' पिण्डभाव है। प्रत्येक सत्यपिण्ड ऋत–आप को परिश्रित बना कर ही स्वस्वरूप से अवस्थित रहा करता है, जिस परिश्रिति का माध्यम बनता है 'मातरिश्वा' नामक, 'वराह' रूपेण प्रसिद्ध प्राणवायु ही। पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरारूप, एवं भृग्वङ्गिरोमय-अप्तत्त्व के बिना किसी भी अण्ड का, अथवा तो पिण्ड का स्वरूपाविर्भाव सम्भव ही नहीं है।

१०–अम्भः-मरीचिः-श्रद्धा-मर-लक्षण चतुर्विध अप्तत्त्व, तदनुगत चतुर्विध 'अण्डवृत्त', एवं तदतीत 'वृत्तौजा' स्वयम्भू—

पूर्वपरिच्छेदों में परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डानुबन्धों से जब अण्ड चार हैं, तो अवश्य ही चारों अण्डों का स्वरूपाविर्भावक अप्तत्त्व ही होगा–'आपो वै परिश्रित' इस परिभाषा के अनुसार। अतएव पारमेष्ठ्य रसोऽण्ड, सौर यशोऽण्ड, चान्द्र पोषाण्ड, एवं पार्थिव अन्नाण्ड, इन चारों अण्डभावों के स्वरूप-सम्पादन के लिए अवश्य ही चारों ही संस्थानों में 'अप्' तत्त्व का समन्वय स्वतः सिद्ध हो जायगा। वे ही चारों अप् तत्त्व क्रमशः 'अम्भ-मरीचि-श्रद्धा-मर' नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—(देखिए–ऐतरेयोपनिषत्)। अङ्गिरागर्भित-भृगुरूप पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही-'अम्भ' है, इसी से पारमेष्ठ्य रसोऽण्ड का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। भृगुगर्भित–अङ्गिरामय सौर अप्तत्त्व ही–'मरीचि' है, यही सौर यशोऽण्ड, किंवा हिरण्मयाण्ड का आविर्भावक है। अङ्गिरागर्भित भृगुमय चान्द्र अप्तत्त्व ही 'श्रद्धा' है, इसीसे पोषाण्ड अनुप्राणित है। एवं भृगुगर्भित अङ्गिरोमय पार्थिव अप्तत्त्व ही-'मर' (मूर्च्छित अप्तत्त्व) है, इसीसे अन्नाण्ड अनुप्राणित है। यों चारों ही अण्ड विभिन्नप्रकृतिक चार अप्तत्त्वों से चतुर्विध आण्डभावों के स्वरूपाविर्भावक बने हुए हैं। प्राक्-मूर्त्ति स्वयम्भू में क्योंकि 'अप्'तत्त्व का अभाव है। क्योंकि अप्तत्त्व तो इसके यजुर्मय वाग्भाग से आगे चलकर दूसरी मैथुनी–सृष्टिधारा में ही आविर्भूत होता है। अतएव स्वयम्भू अप्तत्त्व से पृथक्-अतीत रहता हुआ आण्डवृत्त से बहिर्भूत ही है। अतएव इसे 'वृत्तौजा' ही कहा गया है।

११–हिरण्यगर्भप्रजापति के–'अश्रुभाव' की 'अश्व' स्वरूप में परिणति—

'अग्नेरापः' इस सामान्य अनुगम के अनुसार सर्वत्र अप्तत्त्व का उद्गम–उपक्रम स्थान अग्नि ही बना हुआ है। स्वायम्भुवाग्नि ही पारमेष्ठ्य 'अम्भ' नामक 'अप्' तत्त्व का उद्गमस्थान है, जिसे ब्रह्मा का स्वेद (पसीना) कहा गया है। अब दूसरा स्थान आता है अप्तत्त्व का सौरमण्डल में। सौरमण्डल में, किंवा

* जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदताम्॥

हिरण्मय मण्डल में अन्तर्गर्भस्थ गायत्राग्निरूप प्राणाग्नि (अङ्गिरोऽग्नि) के संघर्ष से ही अपतत्त्व उत्पन्न होता है, और यही इस गर्भस्थ-अग्निप्रजापति के 'अश्रु' कहलाए हैं। गायत्राग्नि के 'अश्रु'रूप, अतएव अग्निप्रकृतिक इसी अपतत्त्व का नाम है-'मरीचि', एवं इस मरीचि नामक आग्नेय-तेजोमय-अपतत्त्व से ही स्वरूप-निर्म्माण होता है उस सौर आण्डवृत्त का, जिसे पूर्व में हमने 'हिरण्मयाण्ड'-'हैमाण्ड' आदि नामों से व्यवहृत किया है। मरीचि आपः से कृतरूप हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण ही भृगुगर्भित-अङ्गिराप्राणमूर्त्ति गायत्राग्निप्राणलक्षण हृद्य प्रजापति (सौरपुरुष-पुरुषप्रजापति) 'हिरण्यगर्भप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। सौर हिरण्यगर्भप्रजापति के इसी मरीचि नामक अपतत्त्व को लक्ष्य बना कर पूर्वश्रुति ने कहा है कि-'यदश्रु संक्षरितमासीत्-सोऽश्रुरभवत्'। यह अश्रुतत्त्व (मरीचि नामक-सौर वह अपतत्त्व, जिससे सूर्य्यपिण्डाविर्भाव से पूर्व ही 'हिरण्मयाण्ड' का निर्म्माण होजाता है) ही वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में-'अश्व' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसाकि उसी पूर्व श्रुति के-'अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्' इस अन्तिम वाक्यसन्दर्भ से स्पष्ट है।

१२-'कालो अश्वो वहति'-मन्त्रभाग का समन्वय-संस्पर्श—

'कालो अश्वो वहति' इत्यादि प्रथम मन्त्र के अर्थ-समन्वय की अक्षम्या धृष्टता प्रक्रान्त है। इस प्रथम मन्त्रचरण के 'काल' शब्द से, एवं 'अश्व' शब्द से क्या अभिप्रेत है ?, प्रश्न के समन्वय के लिए ही काल के तीन विवर्त्तों का, तथा तृतीय-सौरकाल के मरीचिरूप अश्व का दिग्दर्शन अबतक व्यक्त किया जा सका है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, स्वयम्भूरूप अव्यक्त महाकाल से समन्वित, परमेष्ठीरूप व्यक्ताव्यक्त करालकाल से अनुप्राणित सौर व्यक्त मूर्त्तकाल ही यहाँ 'काल' शब्द से परिगृहीत है, एवं इसका मरीचि-आपोमय हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड ही 'अश्व' शब्द से संगृहीत है। सौरकेन्द्रात्मक वेदमूर्त्ति प्रजापति काल है, एवं इसका महिमामण्डलात्मक तेजोमय-मरीच्यापोमय-बहिर्म्मण्डल ही 'अश्व' स्वरूप है। केन्द्र ही महिमारूप में परिणत है, काल ही अश्वरूप में परिणत है। केन्द्र, और महिमा, दोनों तत्त्वदृष्ट्या अभिन्न हैं। अतएव महाकाल-करालकाल-समन्वित इस सौरकाल को ही अब हम-रोहितकालवत्-'कालाश्व' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इसी कालाश्व ने, अर्थात् सौरब्रह्माण्ड ने विश्वभार का वहन कर रक्खा है। और 'कालो अश्वो वहति' का यही समन्वय-संस्पर्श है।

१३-अश्वस्वरूप-दिग्दर्शनपूर्वक-'कालाश्व'का संस्मरण—

समन्वय-संस्पर्श इसलिए कि, काल के महिमामण्डल से अनुप्राणित 'अश्व' का स्वरूप तबतक गतार्थ बन ही नहीं सकता, जबतक कि इस 'कालाश्व' से सम्बद्धा सुप्रसिद्धा उस 'अश्वमेधविद्या' का स्वरूप-समन्वय नहीं कर लिया जाता, जिसका-'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादिरूप से रहस्यात्मिका पारिभाषिकी भाषा से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। यही कालाश्व आगे चल कर उस 'क्रान्ति' भाव की मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिस के माध्यम से ही सौरत्रिलोकी का आविर्भाव हुआ है। सौरत्रिलोकी ही आगे चल कर सौरसम्वत्सर का माप-दण्ड बनती है, जिस की इयत्ता का संग्राहक वृत्त ही-'क्रान्तिवृत्त' कहलाया है। हिरण्मयाण्डरूप-लोकत्रयात्मक यह क्रान्तिवृत्त ही, तदवच्छिन्न सौर अग्नि ही वह 'अश्व' है, जिस का प्रतिष्ठाप्राण 'मधु' कहलाया है, एवं जिस 'मधु' के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्धा अत्यन्त ही दुरधिगम्या 'मधुविद्या'

का वितान हुआ है। मधुप्राणमय-हिरण्मयाण्डमूर्ति-क्रान्तिवृत्तात्मक अश्व की क्रान्तिमूला अमुक परिभाषाओं के समन्वय के लिए तो इसी निबन्ध के 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीय खण्ड में उपवर्णिता अश्वमूला क्रान्तिविद्या के संस्मरणों को ही लक्ष्य बनाना चाहिए, जिन उन संस्मरण-सन्दर्भों का इस वाक्य-सन्दर्भ से ही संग्रह कर लिया जाता है कि- 'अग्नि-वायु-आदित्य-प्राण-समन्वित, सम्वत्सर-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-अहोरात्रादि-प्रवर्त्तक, सहस्रधा-सहस्र-रश्मि-समाप्लुत, बृहत्-वैराज-रैवत-सामात्मक, ज्योति -गौ -आयु -सनोतात्रयी के द्वारा ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम-प्रवर्त्तक, सप्ताहोरात्र-वृत्तात्मक सप्तछन्दोरूप सप्ताश्व से सञ्चालित, पारमेष्ठ्य सोमशुक्र से सवीर्य्य,अपने अमृत प्राण-के प्राधान्य से सदा ही जीवनीय भाव से युक्त-इत्थंभूत, क्रान्तिवृत्त से परिच्छिन्न-गायत्रीमात्रिकपौरुषेय वेदात्मक-सौरप्रजापति का नाम ही-'अश्व' है"। इसी अश्वने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वहन कर रक्खा है-'कालो अश्वो वहति'।

१४-'कालाश्व' का स्वरूप-समन्वय—

जब कि सौर 'कालाश्व' क्रान्तिवृत्त से परिच्छिन्न है, तो यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कैसे वहन कर सकेगा ?' प्रश्न का उस दशा में कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जब कि हम इस सीमित भी सौरकाल के साथ उन असीमित पारमेष्ठ्य 'करालकाल,' तथा स्वायम्भुव 'महाकाल'-वितत्ता के साथ रहने वाली अभिन्नता को लक्ष्य बना लेते हैं। यही व्यक्त कालाश्व जहाँ अपने सौर-व्यक्तरूप से व्यक्त सौर-चान्द्र-पार्थिव-ब्रह्माण्डों का वहन कर रहा है, वहाँ यही अपने-व्यक्ताव्यक्त पारमेष्ठ्य-करालकालरूप से पारमेष्ठ्य ब्रह्माण्ड का विवर्त्त प्रमाणित हो रहा है। एवं यही अपने अव्यक्त -स्वायम्भुव- महाकालरूप से स्वायम्भुव विवर्त्त का भी सञ्चालक बना हुआ है। यों विश्वकेन्द्रस्थ सौर कालाश्व अपने महिमारूप-अश्वकाल-करालकाल-महाकाल, इन तीन विवर्त्तों से पञ्चपुण्डीरात्मक सम्पूर्ण विश्व का वाहन प्रमाणित हो रहा है। इसी सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए ऋषिने कहा है-'कालो अश्वो वहति'।

१५-कालाश्व के-'सप्तरश्मि' विशेषण का संस्मरण, एवं कालानुबन्धी असंख्य-सप्त सप्तक—

जैसा है यह कालाश्व ?, 'सप्तरश्मि'। यह शब्द अनुगमात्मक है। अतएव विश्व में यत्र-तत्र व्याप्त यच्चयावत् सप्तकों का यह 'सप्तरश्मि' शब्द संग्राहक बन रहा है। भूत-भौतिकी मूर्त्तसृष्टि का मूलबीज माना गया है वह 'ऋषिप्राण', जिसके अवान्तर योगज पितर-असुर-गन्धर्व-देव-पशु-आदि भेदों का पूर्वपरिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। ऋषिप्राण की एकर्षि-द्वयर्षि-त्र्यर्षि-सप्तर्षि-नवर्षि-दशर्षि-आदि आदि अनेक वर्ग-जातियाँ हैं, जिनमें अग्नि-सोममूलक विश्वोपादानापेक्षया सर्गसमतुलन में 'सप्तर्षिप्राण' को ही प्रमुख मूल-बीज माना गया है। इसी सप्तर्षिप्राणानुबन्ध से सम्पूर्ण अग्निविवर्त्त 'सप्तचितिक' बने हुए हैं जैसा कि-'सप्तचितिकोऽग्नि' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। स्वयम्भू ब्रह्माग्नि है, परमेष्ठी सुताग्नि है, सूर्य्य देवाग्नि है, चन्द्रमा सौम्याग्नि है, भूपिण्ड भूताग्नि है। और ये पाँचों ही विश्वाग्नियाँ समष्टिरूप से भी सप्तचितिक हैं, एवं व्यष्टिरूप से (प्रत्येक) भी सप्तपर्वा हैं। सप्त लोक, सप्त पाताल, सप्त समुद्र, सप्त नदियाँ सप्त पर्वत, सप्त व्याहृति, सप्त छन्द, सप्त मन्वन्तर, सप्त आदित्य, सप्त स्वर, सप्त वर्ण (रंग),

सप्त मरुद्गण, सप्त मेघ, सप्त होता, सप्त अहोरात्र, सप्त नाडीवृत्त, सप्त ग्रह, सप्त ऋत्विक्, सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोम, सप्त देश, सप्त साकञ्जप्राण, सप्त आध्यात्मिकप्राण, आदि आदि रूप से जितनें भी सप्तक श्रुतोपश्रुत–वर्णितोपवर्णित हैं, उन सब का मूल 'सप्तर्षिप्राण' रूप स्वायम्भुव मौलिक ऋषिप्राण ही बना हुआ है, जिसकी–'चत्त्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से 'सप्तपुरुष' रूप से चित्यभाव में परिणति हो रही है। अतएव स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक अपुरुषविध मूलपुरुष–'सप्तपुरुष-पुरुषप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"प्राणा वा ऋषयः। त इद्धाः सप्त नानापुरुषानसृज्यन्त। तान् सप्तपुरुषान् (प्राणान्) एकं पुरुषमकुर्वन्-यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ-(इति चत्त्वार आत्मा-मुख्यप्राणा इति यावत्) पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः। प्रतिष्ठैक आसीत्। स यः स पुरुषः-प्रजापतिरभवत् (सप्तर्षिप्राणमूर्त्तिः)–अयमेव सः–योऽयमग्निश्चीयते"

—शत० ६।१।१।१ से ६ पर्य्यन्त

१६–सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सप्तावयव-प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं स्वयम्भू प्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय—

किसी भी भौतिक पदार्थ को लक्ष्य बना लीजिए, उस में आपको मध्य–पार्श्व–मूल–ये तीन पर्व उपलब्ध होंगे। एक वृक्ष में भी तीनों हैं, तो वृक्ष के एक पत्ते में भी तीनो है। जिस प्राण से पत्ता तना हुआ रहता है, वही 'पुच्छप्रतिष्ठाप्राण' है। दोनों पार्श्व दो पक्षप्राण हैं। मध्यस्थ मेरुदण्डप्राण चत्त्वारः–आत्मरूप मध्य प्राण है। इन सात चितियों से ही भूतपदार्थों का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्योंकि इन सात भूताग्नि-चितियों का मूल सात चान्द्रचितियां हैं, इन का मूल सात सौर चितियाँ है, इनका मूल सात पारमेष्ठ्य–चितियाँ हैं, और इन का, किंवा सब का सर्वमूल स्वायम्भुव ऋषिप्राण अपने मूलबीज से सप्त चितिरूप पुरुषप्रजापति बना हुआ है। अतएव सप्तप्राण ही कालपुरुष का वह छन्द (ढाँचा–साँचा) है, जिस से छन्दित यच्चयावत् पदार्थ सप्तावयव बने हुए हैं।

१७–परमेष्ठी-प्रजापति की सप्तरश्मिता का तात्त्विक-समन्वय—

इन असंख्य सप्तक विवर्त्तों में से प्रकृत में हमें कालानुबन्धी तीन सप्तकों का ही सौर कालाश्व के माध्यम से समन्वय कर लेना है। स्वायम्भुव अव्यक्त महाकाल के सात ऋषिप्राण ही उस महकाल की सात रश्मियाँ हैं। पारमेष्ठ्य व्यक्ताव्यक्त करालकाल के सात पारमेष्ठ्यप्राण (तीन भृगु, तीन अङ्गिरा, सातवाँ अत्रि) ही उस करालकाल की सात रश्मियाँ है, एवं सौर–व्यक्त–कालाश्वरूप क्रान्तिवृत्त के गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती–मूलक सात पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न सौर सप्त देवप्राण) हीं इसकी सात रश्मियाँ है। यों यह कालाश्व अपने तीनो कालभावो से सप्त–सप्त–सप्त–प्राणात्मक बनता हुआ इन त्रिसप्तकों से 'सप्तरश्मि' बन रहा है, जिन इन तीन सप्तकों के समन्वय से ही क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर-काल के ३ लोक, ५ ऋतुएँ, १२ मास, एवं सम्वत्सरात्मक १ सूर्य्य, इस रूप से २१ पर्व हो जाते हैं (देखिए–

तै० स० ७।३।१२०।५) । इसीप्रकार इस सौर सम्वत्सरचक्र में अन्यान्य भी कितने ही सप्त पर्व समन्वित हैं, जिन का मूल सप्तर्षिप्राण ही बना हुआ है * ।

१८-हिरण्यगर्भ सौरप्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय—

सप्तर्षि-प्राणानुबन्ध से सप्तरश्मि बने हुए स्वायम्भुव-अव्यक्त-महाकाल से, एवं भार्गवाङ्गिरोऽत्रि-नामक सप्त पारमेष्ठ्य-प्राणानुबन्ध से सप्तरश्मि बने हुए पारमेष्ठ्य-व्यक्ताव्यक्त-करालकाल से अविनाभूत (नित्य-समन्वित) अपने सप्तछन्द-सप्ताहोरात्रवृत्त सप्तादित्य-सप्तदिग्विवर्त-आदि आदि अनेक सप्तकों से सप्तरश्मि प्रमाणित होने वाले सौर-व्यक्त-कालाश्व के, दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्तात्मक-अश्वमूर्त्ति सौर-सम्वत्सर के मापदण्डात्मक-कालात्मक-सम्वत्सरचक्र का क्या स्वरूप है ?, यह भी दो शब्दों में समन्वित कर लेना चाहिए । क्योंकि अग्न्यात्मक-सर्वसिद्ध-कालाश्वरूप सम्वत्सरप्रजापति का स्वरूप सौरकालात्मक-सम्वत्सरचक्र से ही मानवप्रजा के लिए बोधगम्य बना करता है ।

१९-सौरसम्वत्सरचक्रानुबन्धी मैत्र-वारुण कपालों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ज्योतिश्चक्रात्मक खगोल ही इस सम्वत्सरचक्र का परिमाणदण्ड माना जायगा, जिसमें वृत्तांश की मर्य्यादानुसार ३६० अंश माने जायँगे । इन तीन सौ साठ (३६०) अंशों को सर्वप्रथम खगोल के दृश्य-अदृश्य-रूप दो अण्डकटाहों में विभक्त किया जायगा, जिन दोनों विभागों की विभाजिका रेखा माना जायगा ध्रुवप्रोतवृत्त । उत्तरध्रुव से आरम्भ कर दक्षिणध्रुव पर्य्यन्त जो दक्षिणोत्तरवृत्त बनेंगे, उन्हें ही ध्रुवप्रोतवृत्त कहा जायगा, एवं ये ३६० होंगे, साथ ही समानान्तरान्वित भी । इन ३६० अहोरात्रवृत्तों में से जो ध्रुवप्रोतवृत्त मध्याह्न का स्पर्श करता हुआ मध्यरात्रि से स्पर्श करेगा, वह अद्यतनलक्षण अहःकाल का, तथा अनद्यतनलक्षण रात्रिकाल का विभाजक माना जायगा । लोकप्रसिद्ध रात के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्य्यन्त का काल अद्यतनरूप अह (दिन) कहलाएगा, एवं दिन के बारह बजे से रात्रि के १२ बजे पर्य्यन्त का काल अनद्यतनरूपा रात्रि (रात) कहलाएगी । अद्यतनरूप अहः को 'आज' कहा जायगा, अनद्यतनरूपा रात्रि को 'कल' माना जायगा । ये ही दोनों अर्द्धवृत्त दो अण्डकपाल कहलाए हैं, जो क्रमशः मैत्रकपाल, एवं वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन इन दोनों मैत्रावरुण-कपालों के सन्धिरूप पूर्वोक्त मध्यस्थ ध्रुवप्रोतवृत्तात्मक उर्वशीवृत्त के माध्यम से ही वसिष्ठ-अगस्त्य-मत्स्य-नामक तीन योगज प्राणों की उत्पत्ति मानी गई है, जिसके लिए पुराणशास्त्र में सुप्रसिद्ध 'मैत्रावरुणाख्यान' नामक अमदाख्यान प्रवृत्त हुआ है । इति स्थिति खगोलस्य ।

---

* (१)-सः सप्तसिन्धूनदधात् पृथिव्या, यः सप्त लोकानकृणोद्, दिशश्च ॥

—तै० आ० ३।८।३।८।

(२)-सप्त दिशो नाना सूर्य्याः सप्त होतार ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त ।

—ऋक्सं० ९।११४।३।

(३)-सात दिशाओं के अधिपति निम्न लिखित सात आदित्यप्राण हैं—

१-आरोग, २-भ्राज, ३-पटर, ४-पतङ्ग, ५-स्वर्णर, ६-ज्योतिषीमान्, ७-विभास ।

—तै० आ० १।७।१। —इत्यादि

२०–मैत्रावरुणकपालानुगत ध्रुवप्रोतवृत्त, एवं खगोलीय--स्थिति का समन्वय—

मित्रकपाल को हम दृश्यार्द्धाकाश कहेंगे, जिसके मध्य में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, एवं वरुणकपाल को अदृश्यार्द्धाकाश कहेंगे, जिसके मध्य में सौरेन्द्रप्रतिद्वन्द्वी वरुणराजा प्रतिष्ठित हैं। दोनों कपालार्द्धों में ३६० अंशो के १८०–१८० अंश विभक्त हो रहे हैं। इन दोनो में से मैत्र–दृश्य--१८० अंशात्मक-सूर्य्यानुगत–अहरनुगत--अर्द्धकपालात्मक–अर्द्धखगोल को मूल मान कर ही हमें सम्वत्सरचक्र के कालात्मक स्वरूप का अन्वेषण करना है। अहोरात्रविभाजिका–ध्रुवप्रोतरेखा के उत्तरध्रुव से दक्षिणध्रुव–पर्य्यन्त १८० अंश व्याप्त हैं अर्द्ध खगोल के। इन १८० अंशों में से उत्तर ध्रुव से दक्षिण की ओर, तथा दक्षिण ध्रुव से उत्तर की ओर ठीक मध्य में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, जिन से उत्तरध्रुव भी ९० अंश पर है, एवं दक्षिणध्रुव भी ९० अंश पर है।

२१–त्रिकेन्द्रात्मक सम्वत्सरवृत्त, एवं–'एको अश्वो वहति सप्तनामा' का संस्मरण—

दृश्यार्द्धखगोल के मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तरध्रुव--पर्य्यन्त व्याप्त ९० अंशों में से २४ (चौबीस) अंश, एवमेव सूर्य्य मे दक्षिणध्रुव--पर्य्यन्त व्याप्त ९० अंशों में से २४ अंश, इन दोनों चतुर्विंशतियों की समन्वितावस्था से युक्त खगोलखण्ड ही क्रान्तिवृत्त का परिमाणदण्ड होगा, जिसका अर्थ होगा २४ अंश के व्यासार्द्ध से कृतरूप ४८ अंशात्मक–परिसर। सूर्य्य से उत्तर के २४ वें, तथा दक्षिण के २४ वें अंश का स्पर्श करता हुआ जो दीर्घवृत्त (त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त) बनेगा, जिसे कि त्रिकेन्द्रानुबन्ध से 'आण्डवृत्त' कहा जायगा, वही 'क्रान्तिवृत्त' कहलाएगा, जिस पर भूपिण्ड सम्वत्सरगति का अनुगामी बना रहता है। इस क्रान्तिवृत्त का नाम ही 'सम्वत्सरवृत्त' है, एवं यही वह 'अश्व' है, जिसकी इस सम्वत्सरचक्र में सर्वतः व्याप्ति हो रही है। कैसा है यह 'अश्व' ?। ऐसा है यह एक ही क्रान्तिवृत्तात्मक अश्व, जिसके सात नामविवर्त्त हो रहे हैं। 'एको अश्वो वहति सप्त नामा (ऋक्सं० १।१६४।२।)। क्या स्वरूप है उन सात नामविवर्त्तों का ?, प्रश्न का उत्तर मन्त्रोपात्त–'सप्तरश्मिः' पद पर ही निर्भर है।

२२–कुटिलकालात्मक सम्वत्सरप्रजापति के सप्त अहोरात्रात्मक अश्ववृत्त, एवं 'यः-सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्' मन्त्र का संस्मरण—

मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तर की ओर क्रमशः १२ वें, ८ वें, तथा ४ थे अंश पर तीन पूर्वापरवृत्त बनते हैं, जो अंशह्रसीयता से उत्तरोत्तर छोटे है। एवमेव सूर्य्य से दक्षिण की ओर क्रमशः १२–८–४–अंशों पर भी तीन पूर्वापरवृत्त बन जाते हैं। एकवृत्त स्वयं वहाँ बनता है–जहाँ सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं। यों एक ही क्रान्तिवृत्ताश्व के सात (७) पूर्वापरवृत्त हो जाते है, जिनमें सूर्य्य की प्रतिष्ठारूप मध्यवृत्त सब से बड़ा है। अतएव यह 'बृहत्' नाम से प्रसिद्ध है। इसी बृहद्वृत्त के सम्बन्ध से तत्केन्द्र में प्रतिष्ठित (सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति) 'बृहत्' कहलाने लग गया है—'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'। एवं सौरसाम भी इसी अनुबन्ध से –'बृहत्साम' नाम से प्रसिद्ध होगया है। बृहल्लक्षण (क्योंकि वृत्त का मध्यवृत्त पार्श्ववृत्तापेक्षया सब से बड़ा ही होगा) बृहद्वृत्त ही 'बृहतीछन्द' है, तदुत्तर के १२–८–४ वाले तीनों पूर्वापरवृत्त क्रमशः पङ्क्ति-त्रिष्टुप्–जगती–छन्दो नामों से, एवं बृहती से दक्षिण के तीनों वृत्त अनुष्टुप्-उष्णिक्-गायत्री-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही सात छन्द, किंवा सात अश्व, किंवा एक ही क्रान्तिवृत्ताश्व के सात नाम, किंवा सौर सप्तचितिक प्राणों के सप्त संस्थान हैं। क्रान्तिवृत्ताश्वरूप

इस कालात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र का संग्रह करने के लिए ही श्रुति ने-कालरूप अश्व को-'सप्तरश्मिः' कह दिया है। सप्ताहोरात्रात्मक-सप्तप्राणचितिरूप-क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-इसी सौर-कालाश्वपुरुष को इसी सप्ताहोरात्रानुबन्ध से अन्यत्र भी 'सप्तरश्मि' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र-वर्णन से स्पष्ट है—

> यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
> यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥
>
> —ऋक्सं० २।१२।१२।

२३–कालाश्वरूप कालवृषभ-महादेव, एवं 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः' मन्त्र का संस्मरण—

त्रैलोक्यप्रजा के लिए अपने सप्त रसात्मक सप्त समुद्रों के दधि-मधु-घृत-अमृतादि रसों का वर्षण करने के कारण ही यज्ञमूर्ति-सौरसम्वत्सरप्रजापति 'कालाश्व' की भाँति कालवृषभ (महादेव) नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि पूर्वश्रुति के-'*यः सप्तरश्मिर्वृषभ*' *इत्यादि से स्पष्ट है। कैसा है यह वृषभ?* तो सुनिए! पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरूप अथर्वतत्त्व, एवं सूर्य के गायत्रीमात्रिक त्रयीवेद के क्रमशः ऋक्-यजु-साम-नामक तत्त्व, ये चारों वेद उस महावृषभ के मानो चार शृङ्ग (सींग) ही हैं, जिनके द्वारा होने वाले निग्रहन-व्यापार से ही सम्पूर्ण सर्ग व्यवस्थित हुए हैं यथास्थान। सौरमहिमामण्डल में ही सर्वाहिम सौरसम्वत्सरात्मक यज्ञ-प्रजापतिरूप यह वृषभ पृथिव्यनुगत प्रातःसवन, अन्तरिक्षानुगत माध्यन्दिनसवन, एवं द्युलोकानुगत-सायसवन-रूप से तीन प्रक्रमरूप पदों में प्रतिष्ठित है। ये ही तीनों सवनात्मक प्रक्रमपद मानो उस वृषभ के तीन पाद (चरण) हैं। इस सम्वत्सरप्रजापति की प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्राएँ पदार्थनिर्माण में निरन्तर *विस्रस्त होती रहती हैं, साथ ही यह इनके विस्रस्त भागों को लेकर अपने विस्रस्त भाग की पूर्ति भी करता रहता* है। विस्रस्त भाग ही प्रवर्ग्य कहलाया है, एवं स्वरूपसमाता भाग ही ब्रह्मौदन कहलाया है। आदानविसर्गानुबन्धी इन दोनों ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्यभावों के धारावाहिक चङ्क्रमण से ही सम्वत्सरप्रजापति अपने यज्ञस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव-प्रतिष्ठात्मक-जीवनीपरमात्मक इन दोनों को उस वृषभ के दो मस्तक कहे जा सकते हैं। एवं विविध सप्तक विवर्तों के प्रवर्त्तक, मूलभूत सप्तर्षिप्राणनिबन्धन-सप्त दिव्यप्राणात्मक सप्त अहोरात्रवृत्तों के माध्यम से ही क्योंकि आदान-विसर्गात्मक यज्ञकर्म्म प्रक्रान्त रहता है सौरसम्वत्सरप्रजापतिरूप वृषभ का, अतएव कर्म्मसाधकत्वात् इन सात वृत्तों को अवश्य ही इस वृषभ के सात हाथ माना जा सकता है। समहिम चन्द्रमा, समहिम भूपिण्ड, एवं समहिम सूर्य्य, तीनों ही इसी सम्वत्सरप्रजापति के महिमामण्डल में अन्तर्भुत हैं। इन तीन सौर-चान्द्र-पार्थिव-वृत्तों से-सम्वत्सरों से ही क्रान्तिवृत्तात्मक महासम्वत्सरपुरुष का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, जैसाकि इसकी दीर्घवृत्तता से पूर्व में भी यत्र तत्र स्पष्ट किया जा चुका है। इन तीनों केन्द्रों से आबद्ध ही है यह महासम्वत्सर। त्रिकेन्द्रात्मक इसी बन्धनसूत्र से यह सर्वथा अपनी सीमा से सम्यादित बना हुआ है। इसी त्रिकेन्द्रबन्धन से कहा जा सकता है कि, यह वृषभ मानो तीन स्थानों से बँधा हुआ है। इसप्रकार चतुर्वेदात्मक चार शृङ्गों से, त्रिसवनात्मक (सवनात्मक) तीन पादों से, *ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्यरूप दो* शिरोभावों से, एवं सप्ताहोरात्र-वृत्तात्मक सात हाथों से कृतरूप यह सम्वत्सरवृषभ (कालाश्व) त्रिकेन्द्रप्रतिष्ठासूत्रों से आबद्ध होता हुआ अपने

प्रचण्डतेज से सम्पूर्ण विश्व में व्यक्त तथा व्याप्त होरहा है लोकसाक्षी-जगच्चक्षु बनता हुआ। इसका अनाहत-नादात्मक प्रचण्ड अग्निघोष ही इसका गर्ज्जन-तर्ज्जन है। कालाश्व की इसी वृषभरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

> चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥
>
> —ऋक्सं० ४।-८।३।

२४-कालवृषभमूर्त्ति महादेव के महिमावर्णनात्मक अथर्ववेद के सात मन्त्रों का अक्षरार्थ संस्मरण----

और फिर कैसा है यह वृषभमूर्त्ति-सौरसम्वत्सरात्मक-व्यक्त कालाश्व ?, उत्तर है—(१) यही वह कालाश्वरूप सम्वत्सरप्रजापति, किंवा तदुपलक्षित तत्प्रतीकरूप सूर्य्य है, जिसने द्यावापृथिवीरूप रोदसी त्रैलोक्य-उत्पन्न किया है। सम्पूर्ण दिशाएँ इसी को आधार मान कर व्यवस्थित हैं। जो भूरादि उर्वियों को प्रकाशित करता है। (२)-जिससे ऋतधर्म्मा-ऋतुप्रवर्त्तक प्राणाग्नि-प्राणसोमवायु निकलते रहते हैं, जिससे सप्तरसों का विनिर्गमन होता रहता है, (३)-जो मृत्यु का प्रवर्त्तक, एवं जीवन का आधार है, जिससे सम्पूर्ण भूत जीवनीया प्राणशक्ति प्राप्त करते हैं, (४)-जो अपने प्राण के प्राणनधर्म्म से द्यावापृथिवी का तर्पण करता रहता है, अपान के अपाननधर्म्म से रसों के रसत्त्व का संरक्षण करता रहता है, (५)-जिसमें विराट्मूर्त्ति स्वयं हिरण्यगर्भ सौर विराट्, परमेष्ठी प्रजापति, अग्नि वैश्वानर प्रतिष्ठित है, पङ्क्तिछन्दोमय पांक्त यज्ञ के माध्यम से जिसमें स्वयं सूर्य्यविराट्, परमेष्ठी, सम्वत्सरप्रजापति, प्राणाग्नि, योगज-वैश्वानर-ये पाँचों विवर्त्त पंक्तिछन्दोऽनुगत पांक्तयज्ञ के माध्यम से प्रतिष्ठित हैं, जिसने 'पर' (अव्यय) के प्रतिनिधिरूप स्वायम्भुव अव्यक्तकाल के प्राण को (ऋषितत्त्व को), एवं परमस्थानीय पारमेष्ठ्य तेज (अङ्गिराप्राण) को अपने में प्रतिष्ठित कर लिया है, (६)- जिनमें भूः-भुवादि ६ उर्वियाँ (प्रतिष्ठाभूमियाँ), एव पाँच प्रमुख दिशाएँ प्रतिष्ठित हैं, अम्भः-मरीचः-श्रद्धा-आपः-नामक चारो अप्तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, जिसमें यज्ञ के यज्ञप्रवर्त्तक ब्रह्मेन्द्रविष्णु नामक तीन हृदयाक्षर प्रतिष्ठित हैं, (७)-जो अपने पार्थिवरूप से अन्नभोक्ता बन रहा है, चान्द्ररूप से अन्नपति बन रहा है, पारमेष्ठ्यरूप से ब्रह्मणस्पति बना हुआ है, जो भूत-और भविष्यत् का अधिपति बनता हुआ भुवन (लोक) रूप वर्त्तमान का भी साक्षी बन रहा है, इत्यादि इत्यादि रूप से जो महामहिमशाली प्रमाणित हो रहा है। ऐसे कालाश्वमूर्त्ति-कालरूप, एवं क्रोधाविष्ट-गर्ज्जन-तर्ज्जन करते रहने वाले गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेदात्मक महावृषभलक्षण सम्वत्सरप्रजापति को जानने-पहिचानने वाले वेदवित् ब्राह्मण को जो उत्पीड़ित करता है, वह इस ब्राह्मण की मूलप्रतिष्ठारूप उस क्रोधमूर्त्ति प्रजापति को ही उत्तेजित करता है। निश्चयेन उत्तेजित हो पड़ने वाला वह कालपुरुष ब्राह्मणद्वेषियों को अपने क्रोधपाश में हीं आबद्ध कर लिया करता है—"तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति। उद्वेपय रोहित। प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रतिमुञ्च पाशान्"।

—देखिए ! अथर्वसंहिता १३ काण्ड। २ अनुवाक, १ से ७ मन्त्रपर्य्यन्त।

२५-कालाश्व के 'सहस्राक्ष' विशेषण का संस्मरण—

'सप्त सूर्य्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त' [अथर्व १३।२।८]-इत्यादिरूपेण अन्यत्र उपवर्णित सप्ताहोरात्ररूप छन्दोमय अश्वों से अश्वरूप में परिणत रहने वाले कालाश्व के इस तयोपवर्णित 'सप्तरश्मि' विशेषण के अनन्तर दूसरा 'सहस्राक्ष' विशेषण हमारे सम्मुख उपस्थित होरहा है ।

२६-सृष्टिविद्यात्मिका 'साहस्री', एवं साहस्री-सृष्टिविद्या के तीन विवर्त्त—

वैदिक सृष्टिविज्ञान सृष्टि-स्थिति-नृष्टि-भेद से तीन प्रक्रमो में निरूपित हुआ है महर्षियों के द्वारा, जो तीनों सृष्टिविद्याएँ इस प्रक्रमत्रयी के भेद से क्रमशः सृष्टिमूला सृष्टिविद्या, स्थितिमूला सृष्टिविद्या, एवं नृष्टिमूला सृष्टिविद्या-इन नामों से समन्वित हैं विज्ञानजगत् में । प्राणमूर्त्ति परोरजा स्वयम्भू मे ही सृष्टि का आरम्भ होता है, वाङ्मूर्त्ति सूर्य्य मे ही सृष्टि की स्वरूपस्थिति हो रही है, एवं अन्नादमयी पृथिवी मे ही सृष्टि का दृष्टिक्रम उपशान्त होता है । विश्वेश्वरगर्भाभूत स्वयम्भू से पृथिवी-पर्य्यन्त व्याप्त पञ्चपर्वा विश्व का ही नाम महाविराट्पुरुष है, जिसका मस्तक है स्वयम्भू, हृदय है सूर्य्य, एवं पाद है पृथिवी । इसी प्रतीस्ता से उक्त तीनों सर्गविद्याओं को शिरोमूलक सर्ग-हृदयमूलक सर्ग-पादमूलक सर्ग-इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है ।

२७-'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' का समन्वय—

मसृष्टिमूला सृष्टि का, एवं सत्स्वरूपात्मक सृष्ट पदार्थों का स्वरूप है-प्रज्ञा-प्राण-भूत-नामक तीन मात्राओं की समन्वितावस्था । सहजभाषानुसार-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी के पुञ्ज का ही नाम सृष्टि है, जिस इस पुञ्ज की प्रत्येक कला ज्ञान-क्रिया-अर्थ-युक्त मन-प्राण-वाङ्मय-सृष्टिसाक्षी विश्वेश्वरप्रजापति की इन मन-प्राण-वाक्-कलाओं के त्रिवृद्भाव से त्र्यात्मक-त्र्यात्मक बन रही है, जैसाकि-'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' इत्यादि व्याससूत्र की आधारभूता-'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इत्यादि छान्दोग्य-श्रुति में प्रमाणित है ।

२८-मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की शक्तित्रयी के तीन विवर्त्त—

मन प्राणवाङ्मय-मन की ज्ञानक्रियार्थमयी ज्ञानशक्ति ही स्वयम्भू की शक्ति है । प्राणवाङ्मनोमय-प्राण की क्रियार्थज्ञानमयी क्रियाशक्ति ही सूर्य्य की शक्ति है । एवं वाक्प्राणमनोमयी-वाक् की अर्थक्रियाज्ञान-मयी अर्थशक्ति ही पृथिवी की शक्ति है । त्र्यात्मक ज्ञान ही त्रिवृन्मनोमयी त्रिवृता प्रज्ञामात्रा है, यही स्वयम्भू की स्वरूप-व्याख्या है । त्र्यात्मिका क्रियाशक्ति ही त्रिवृत्प्राणमयी त्रिवृता प्राणमात्रा है, यही सूर्य्य की स्वरूप-व्याख्या है । एवं त्र्यात्मिका अर्थशक्ति ही त्रिवृद्वाङ्मयी त्रिवृता भूतमात्रा है, एवं यही पृथिवी की स्वरूप-व्याख्या है ।

२९-पञ्चपर्वात्मिका-त्रिसंस्थानात्मिका सृष्टिविद्या का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त निवेदन का निष्कर्ष यह निकला कि-क्रिया-अर्थ-शक्ति गर्भिता ज्ञानशक्ति ही सृष्टि का उपक्रम बनती है, ज्ञानार्थशक्तिगर्भिता क्रियाशक्ति ही सृष्टि की स्थिति का उपक्रम बनती है, और ज्ञानक्रियाशक्तिगर्भिता

अर्थशक्ति ही सृष्टि की दृष्टि (अवलोकन) का उपक्रम बनती है । निर्म्माणक्रम में प्राथम्य ज्ञानशक्ति का है, निर्म्मित वस्तु की स्वरूपस्थिति में प्राथम्य क्रियाशक्ति का है, एवं निर्म्मित वस्तु के दर्शन में प्राथम्य अर्थशक्ति का है । इसी आधार पर सृष्टिविद्या के सृष्टि-स्थिति-दृष्टि-भेद से तीन प्रक्रम व्यवस्थित हुए हैं । पञ्चपर्वात्मिका सृष्टिविद्या में स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी तो क्रमशः शिरः-हृदय-पाद-मूल बने हुए हैं । शेष रहजाते हैं परमेष्ठी, और चन्द्रमा, नामक दो पर्व । इन में परमेष्ठी का अन्तर्भाव स्वयम्भू में है, तो चन्द्रमा का अन्तर्भाव पृथिवी में है । यों स्वयम्भू परमेष्ठीरूप शिरोभाग, एकाकी सूर्य्यरूप हृदय, चन्द्रमा तथा पृथिवीरूप पादभाग, रूप से पाँच पर्वों के तीन ही प्रमुख पर्व होजाते हैं । सम्पूर्ण सृष्टि का यही स्वरूप-दिग्दर्शन है ।

३०-रथचक्र के 'अक्ष' की स्वरूप-परिभाषा—

शीर्ष शीर्ष ही कहलाया है, पाद पाद ही कहलाया है, किन्तु हृदयभाव अमुक-विशेष-कारणों से 'अक्ष' नाम से व्यवहृत हुआ है सृष्टि की मूर्त्त-व्याख्याओं में । रथचक्र (पहिए) का जो मध्यवर्त्ती अवार-पारीण लौहदण्ड होता है, उसे व्यवहार में 'अक्ष' (धुरा) कहा गया है । सच्छिद्र काष्ठवृत्त कहलाया है रथनेमि, एवं इसी में अक्ष प्रोत रहता है । अक्ष के आधार पर रथनेमि प्रतिष्ठित है, एवं रथोनेमि के बहिः प्रान्तीय परिगणित छिद्रों में प्रोत लम्बायमान काष्ठदण्ड ही 'अरा' है । इस रथदृष्टान्त से यही तात्पर्य्य निकलता है कि, सम्पूर्ण रथचक्र की प्रतिष्ठा लौहमय-अवापारपारीण अक्षदण्ड ही है ।

३१-रथ का एक चक्र, और उस के 'अक्ष' की सहस्रता, एवं सहस्राक्ष-शब्दार्थ-समन्वय-

क्रान्तिवृत्त 'रथस्यैकं चक्रम्' के अनुसार एक रथचक्र (पहिया) है । 'सहस्रधा महिमानः सहस्रं' रूप से सहस्रभाव में परिणता ज्योतिर्गौरायुमयी सौररश्मियाँ ही रथ के आरे हैं, मध्यस्थ बृहतीछन्द ही रथनेमि है, एवं क्रान्तिवृत्त का केन्द्रस्थ हृ-द्-य-मूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति ही इस रथ का अक्ष है, जो सहस्ररश्मि के सम्बन्ध से 'सहस्राक्ष' कहलाया है । सौर सम्वत्सरप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टिविद्या पूर्वकथनानुसार 'हृदयमूला' है, हृदय का नाम ही क्योंकि 'अक्ष' है-प्रतीकविधि से (रथदृष्टान्तसमतुलन से) । यह अक्षरूप हृदय क्योंकि सहस्ररश्मियों की आधारभूमि है । अतएव विश्व के हृदयस्थानीय-व्यक्तकालमूर्त्ति-इस सप्तरश्मि कालाश्व को ऋषिने 'सहस्राक्षः' कहना अन्वर्थ मान लिया है ।

३२-अक्ष, और चक्षु, एवं चक्षुर्भावसंग्राहक 'सहस्राक्ष' शब्द—

'अक्ष' का दूसरा नाम है-'चक्षु' । विज्ञानगर्भित प्रज्ञान चक्षु (प्रज्ञानेत्रो लोकः), एवं इन्द्रप्राणगर्भित लोकप्रसिद्ध इन्द्रिय-चक्षु (चक्षुरिन्द्रिय) के भेद से चक्षुरूप अक्ष भी दो भावों में विभक्त है । 'सहस्राक्षः' शब्द इन दोनों चक्षुर्भावों का भी संग्राहक बना हुआ है । विज्ञानगर्भित प्रज्ञान का नाम है मन, एवं-'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं-जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' के अनुसार यह प्रज्ञानमन हृदयमय है । इसी को विज्ञानचक्षु-प्रज्ञानचक्षु भी कहते हैं, जोकि विज्ञानचक्षु 'विज्ञानदृष्टि' रूपा सूक्ष्मदृष्टि कहलाई है । चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में भी यह विज्ञान-प्रज्ञान-चक्षु यथापूर्व विद्यमान रहता है । अतएव अन्धमानव लोक में 'प्रज्ञाचक्षु' कहलाया है । सौरकाल अपने हृदयभाव से विज्ञानाक्ष बना हुआ है । इसलिए भी इसे सहस्राक्ष कहा जा सकता है । एवं सौर इन्द्रप्राण ही चक्षुरिन्द्रिय का उत्पादक बनता है । अतएव सौरकाल को प्रजा की चक्षुरिन्द्रियों के सर्वस्व

बने रहने के कारण भी सहस्राक्ष कहा जा सकता है। चक्षु से अक्ष (धुरा) का समन्वय सम्भव नहीं था, जब कि अक्ष अक्ष (धुरे) का भी सग्राहक है, एव उभयविध चक्षु का भी सग्राहक है। अब प्रश्न शेष रह जाता है– 'सहस्र' शब्द का, जिस के समन्वय के लिए तो वषट्कारमूला साहस्रीविद्या का ही स्वाध्याय करना चाहिए ।

३३–साहस्रीविद्यामूलक 'सहस्र' शब्द, एवं–'सहस्रशीर्षः–सहस्राक्षः–सहस्रपात्' मन्त्र का सस्मरण—

प्रत्येक वस्तुभाव में हृदय से मण्डल-पर्यन्त सहस्ररश्मियाँ व्याप्त हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में (छन्दोरसवितानवेदत्रयी–स्वरूप–प्रसङ्गों में) स्पष्ट किया जाचुका है। केवल सौरकाल में ही साहस्रीभाव नहीं हैं। अपितु स्वयम्भू, और पृथिवी में भी प्राणरश्मिया के सम्बन्ध से साहस्रीभाव यथावत् व्यवस्थित हैं। अतएव शिर स्थानीय स्वयम्भू, एव पादस्थानीया पृथिवी के लिए भी क्रमश सहस्रशीर्ष –सहस्रपात विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। स्वयम्भू यदि सहस्रशीर्ष है, तो पृथिवी सहस्रपात् है। तदपेक्षया सूर्य्य अवश्य ही सहस्राक्ष है, एव यही इस की सहस्राक्षता है। इसप्रकार स्थितिमूला सृष्टिविद्या के आधारभूत कालात्मवमूर्त्ति–सप्तरश्मि–सौरसम्वत्सर–प्रजापति का हृदयभावानुगत, विज्ञान–प्रज्ञान–चक्षुर्भावानुगत, इन्द्रियचक्षुर्भावानुगत अक्षत्त्व, एव प्राण–साहस्री से सम्बद्ध सहस्रत्त्व, अतएव सहस्राक्षत्त्व सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो जाता है। परिलेख के माध्यम से तीनों सृष्टिविद्याओं के आधार से ही इस 'सहस्राक्ष' रूपा सापेक्ष–उपाधि का समन्वय करना चाहिए।

सहस्रशीर्ष —
१–मन –ज्ञानम्–प्रज्ञा
२–प्राण -क्रिया—प्राण
३–वाक्—अर्थ —भूतम्
(ज्ञानात्मक–मन —ज्ञानशक्ति —) स्वयम्भुविवर्त्तम्–सृष्टे सृष्टिभाव (सृष्टिमूला–सृष्टिविद्या)

सहस्राक्ष
१–प्राण -क्रिया–प्राण
२–मन —ज्ञानम्–प्रज्ञा
३–वाक्–अर्थ —भूतम्
(क्रियात्मक –प्राण —क्रियाशक्ति —) सूर्य्यविवर्त्तम्–सृष्टे. स्थितिभाव (स्थितिमूला–सृष्टिविद्या)

सहस्रपात्
१–वाक्—अर्थ –भूतम्
२–प्राण -क्रिया—प्राणः
३–मन –ज्ञानम् प्रज्ञा
(अर्थात्मिका–वाक् —अर्थशक्ति —) पृथिवी-विवर्त्तम्–सृष्टेर्दृष्टिभाव (दृष्टिमूला सृष्टिविद्या)

३४–अक्षदण्ड से समतुलित 'अश्व', अन्तश्चक्षुः से समतुलित अक्ष, एवं सहस्राक्षमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न–कालाश्वलक्षण–अक्षरप्रजापति—

अक्षदण्ड से समतुलित अक्षभाव, विज्ञानगर्भित–प्रज्ञान–मनोरूप अन्तश्चक्षु से समतुलित अक्षभाव, एवं लोकचक्षुरनुगत–इन्द्रप्राणात्मक–चक्षुरिन्द्रियात्मक नेत्र से समतुलित अक्षभाव, इन तीन अक्षभावों का संग्राहक विश्वकेन्द्रस्थ, हृदयरूप यह कालाश्वमूर्त्ति सौरसम्वत्सर–प्रजापति इसी हृदयभाव के कारण क्षरधिया भी 'सहस्राक्षः' बना हुआ है। 'अक्षरमिति त्र्यक्षरं–वागित्येकमक्षरम्' इस श्रुति के अनुसार 'वाक्तत्त्व' जहाँ अन्नादात्मक अग्निरक्षर के सम्बन्ध से एकाक्षर है, वहाँ अक्षरतत्त्व अपने 'हृ'-रूप विष्णु,-'द' रूप इन्द्र, एवं 'यम्' रूप–ब्रह्मा–इन तीन अक्षरों के सम्बन्ध से त्र्यक्षर बना हुआ है, जैसाकि-'एका-मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' इत्यादि से स्पष्ट है। 'हृ–द–य' ही 'हृदयम्' की स्वरूप–परिभाषा है, जो इस अक्षरत्रयी से त्र्यक्षरात्मक अक्षर बन रहा है। 'अक्ष' शब्द हृदयात्मक इस 'अक्षरधर्म्म' का भी संग्राहक बन रहा है। अतएव सहस्रप्राणरश्मिभावों का इस अक्षररूप अक्ष से भी समन्वय हो जाता है, जैसाकि–'सहस्राक्षरे परमे व्योमन्' इत्यादि अन्य वचन से प्रमाणित है। तदित्थं–मन्त्रोपात्त 'सहस्राक्षः' विशेषण अपने अनुगमधर्म्म से कालाश्वप्रजापति के हृदयरूप हृद्य 'अक्षर' का भी संग्राहक बन रहा है, इत्यलमतिपल्लवितेन सहस्राक्षेतिवृत्तेन।

१–अक्षदण्डेन समतुलितः—अक्षः–इति सहस्राक्षः–प्रतिष्ठा क्रान्तिवृत्तस्य

२–विज्ञानचक्षुषा समतुलितः-अक्षः-इति सहस्राक्षः–प्रतिष्ठा विज्ञानात्मनः

३–चक्षुरिन्द्रियेण समतुलितः-अक्षः–इति सहस्राक्षः–प्रतिष्ठा चक्षुरिन्द्रियस्य

४–हृदयाक्षरेण समतुलितः—अक्षः–इति सहस्राक्षः–प्रतिष्ठा केन्द्रभावस्य

३५–कालाश्व के 'अजर' विशेषण का संस्मरण—

अब क्रमप्राप्त–'अजरः' विशेषण हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। 'ब्रह्म' रूप–आत्मक्षर की नित्य–महिमा के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही यहाँ व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति सौरसम्वत्सर प्रजापति के लिए–'अजरः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिसका अक्षरार्थ है–जो कभी जरावस्था (वृद्धावस्था) से जीर्ण–शीर्ण–नहीं होता। अपितु जो सदा नवीन–युवा–अजर–ही बना रहता है।

३६–व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययब्रह्म के महिमारूप अव्यक्त, व्यक्त–नामक दो काल-विवर्त्त—

इदमत्रावधेयम्। सनातन अव्ययतत्त्व 'व्यक्ताव्यक्तातीत' कहलाया है, यही 'पुरुषोत्तम' * नाम से प्रसिद्ध है गीताशास्त्र में। 'अक्षर' नामक मध्यमपुरुष (पराकृति) 'अव्यक्त' कहलाया है ÷, एवं 'क्षर'

---

* यस्मात्–क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५।१८।)

÷ अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम्॥ (गीता ८।२१।)।

नामक प्रथमपुरुष (अपराप्रकृति) 'व्यक्त' कहलाया है । इन तीन पुरुषों की समष्टि ही त्रिपुरुषात्मक वह षोडशीपुरुष है, जिसका 'अश्वत्थवृक्ष' रूप से यशोगान हुआ है । इस अश्वत्थप्रजापति के अव्यय-अक्षर-क्षर-निबन्धन तीन पुरुषपर्वों में से व्यक्ताव्यक्तातीत अव्ययपुरुष के परा-अपरा-प्रकृति-लक्षण अक्षर-क्षर-भाव ही प्रकृत में अव्यक्त-व्यक्त-कालरूप से परिगृहीत हैं । अव्यक्त अमूर्त काल अव्यक्त अक्षर है, एवं व्यक्त-मूर्त-काल-क्षर है । विश्व में स्वयम्भू प्रजापति अव्यक्ताक्षरकाल-स्थानीय है, एवं परमेष्ठी-गर्भित मर्त्य व्यक्तक्षरकाल-स्थानीय है ।

३७-क्षरभूतनिबन्धना 'जरावस्था' का तात्त्विक-स्वरूप-परिचय—

व्यक्त क्षर का सहजधर्म्म है निरन्तर-परिवर्तित होते रहना । परिवर्तनधर्म्म के कारण ही व्यक्त क्षर को-'क्षर' (क्षरणधर्म्मा-विस्रंसनधर्म्मा) कहा गया है । जिसप्रकार लौह से जँग का क्षरण होता रहता है, एवमेव क्षर से विकारभावों का क्षरण होता रहता है । क्षर से सञ्चरित इन मर्त्य विकारों की समष्टि से ही विनाशी भूत-भौतिक-पदार्थों का स्वरूप-निर्म्माण होता है । इन विकारात्मक-मर्त्य-पदार्थों के परिवर्त्तनरूप क्षरण से ही अस्ति-जायते-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति-लक्षण ६ प्रकार के भावविकार समन्वित होते रहते हैं, जिन्हें 'अवस्था' कहा जाता है । इन में पाँचवी अवस्था ही 'जरावस्था' कहलाई है, जिसमें बल-ग्रन्थियाँ शिथिल होजाती हैं, भूतबन्धन श्लथ होजाते हैं । अतएव भूतसन्दोह इस जरा-अवस्था में जर्जर विच्छिन्न बन जाते हैं । बलग्रन्थिदार्ढ्यमूला घनता (दृढ़ता) उच्छिन्न होजाती है, जिस का प्रत्यक्ष उदाहरण अशीति-वर्षात्मक जराजीर्णशीर्ण भौतिक शरीर बना हुआ है । 'अपक्षीयते' लक्षण इस जरावस्था का अन्तिम परिणाम (अन्तिम अवस्था) माना गया है-'नश्यति', इसे ही कहा गया है-'मृत्यु', जिसका अर्थ है श्लथ-विकारों का श्लथभाव की चरमावस्था में पहुँचते ही स्वप्रभव व्यक्त क्षर में लीन होते हुए प्रत्यक्षदृष्ट भूत-व्यक्त की अपेक्षा 'अव्यक्त' भाव में परिणत होजाना । अवश्य ही विकारसमष्टिरूप व्यक्त क्षर अक्षरदृष्ट्या व्यक्त ही है । किन्तु स्वयं व्यक्त वैकारिक भूतों की दृष्टि से तो व्यक्त क्षर भी अव्यक्त ही माना जायगा। 'अव्यक्तनिधनान्येव' इत्यादिरूप से भगवान् ने निधनावस्था के आधारभूत व्यक्त क्षर को इसी दृष्टि से 'अव्यक्त' कह दिया है । इसप्रकार अक्षरदृष्ट्या व्यक्त बने हुए, किन्तु विकारभूत-जगत् की दृष्टि से अव्यक्त बने हुए इस क्षर में विकारभूतों का लीन होजाना, किंवा बलग्रन्थि-बन्धनविमोक से स्थूलभूतों का सूक्ष्मभूतात्मक क्षरभाव में परिणत होजाना ही भूतमृत्यु कहलाई है, एवं यही ६ ठा 'नश्यति' लक्षण भावविकार माना गया है । इस भावविकार की पूर्वावस्था-रूपा-'अपक्षीयते' अवस्था ही 'जरावस्था' है ।

३८-जायस्व म्रियस्व मूला जन्ममृत्युपरम्परा का सनातनचक्र—

उपादानकारणानुगता कार्य्यकारण-परम्पराओं में हम देखते हैं कि, जब कारण कार्य्यरूप में परिणत होजाता है, तो कारण का स्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है । लौह से किट्ट-मल-जँग उत्पन्न होता है । अतएव लौह कारण है, जँग कार्य्य (विकार) है लौह का । निश्चय ही ऐसा समय आता है, जबकि सम्पूर्ण लौह कालान्तर में जँगरूप में परिणत होता हुआ अपना स्वरूप ही खो बैठता है । इसप्रकार उत्पन्न होने वाले, दिग्-देश-प्रदेशात्मक यच्चयावत्-भूतभौतिक-वैकारिक पदार्थों की कार्य्यकारणता (विकारों की ही पारस्परिक-कार्य्यकारणता) कार्य्यानन्तर कारण के मूलोच्छेद का ही निमित्त बनती रहती है । यही इन का जरात्व है,

यही इन का विनाशित्त्व है, जिस से श्रुति ने वैकारिक-भूतों को-'उच्छित्तिधर्म्मा' कहा है। कारण से कार्य्य की उत्पत्ति (विकार से विकारान्य की उत्पत्ति), कालान्तर में कारण का मूलोच्छेद, तो कालान्तर में इसी अजस्र-परिवर्त्तनावस्था से कार्य्य का भी जरात्त्व, एवं अन्ततोगत्त्वा इस कार्य्य का भी मूलोच्छेद, इसी-'जायस्व-म्रियस्व' मूला जन्म-मृत्यु-परम्परा के सनातनचक्र का नाम है-"वैकारिक-कार्य्यकारण-भावात्मक भौतिक जगत्"।

३६-स्वस्वरूपेण अजर-अमर-मृत्युदेवता, एवं तदभिन्न कालाश्व—

बाल-युवा-प्रौढ़-वृद्ध-जरा-मृत्यु-आदि भेदेन विभिन्नावस्थाओं से समन्विता यह उच्छित्ति-परम्परा कालाश्व की सीमा से ही सीमित रहती है। कालचक्र ही इस परम्परा का साक्षी बना रहता है। कालचक्र ही आश्रयभूमि है इस परम्परा की। काल से ही इन अवस्थाओं का उदय होता है, काल में हीं ये अवस्थाएँ विलीन होतीं रहती हैं। कालानुगता 'जायते' अवस्था ही 'उत्पत्ति' है, तदनुगता 'वर्द्धते' अवस्था ही 'स्थिति' है, एव कालानुगता 'अपक्षीयते' अवस्था ही '**संहार**' है। तात्पर्य्य यही है कि, व्यक्त क्षर से ही विकार उत्पन्न होते हैं, व्यक्त क्षर के आधार पर ही विकार प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं व्यक्त क्षर में हीं विकार विलीन होजाते हैं। यहीं, इसी दृष्टिविन्दु पर लौह-जँग के दृष्टान्त का समन्वय करना है। लौह से ही जँग उत्पन्न हुआ है-ठीक। किन्तु लौह से उत्पन्न जँग लौह पर ही प्रतिष्ठित रहे, यह कोई आवश्यक नही है। लौहपर रह भी सकता है, रहता भी है अमुक अवधि पर्य्यन्त। किन्तु जँग को लौह से प्रयासपूर्वक पृथक् भी किया जासकता है, स्वयं भी क्षरणधर्म्म से जँग कालान्तर में लौह से पृथक् हो ही जाता है। एवमेव जँग कभी लौह में विलीन नहीं होता। अपितु स्वयं लौह ही सर्वात्मना कालान्तर में जँगरूप में परिणत होता हुआ अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर लेता है। क्या व्यक्त-क्षर, तथा व्यक्ततम विकारमात्र के साथ ऐसा ही कार्य्य-कारणभाव है?। नेति होवाच। विकार-विकारों की कार्य्यकारणता में ही कारण, कार्य्य-दोनों के स्वरूपोच्छेद का अवसर आता रहता है। किन्तु क्षर और विकार की कार्य्यकारणता में कदापि मूलकारण का उच्छेद सम्भव ही नहीं है, जिस इस स्थिति का लोकव्यवहारभाषा में यों अभिनय होता रहता है कि-"**काल सब को खा जाता है, किन्तु काल को कोई नहीं खा सकता, 'मृत्यु' सब का अवसान कर देती है, सब को मार देती है। किन्तु मृत्यु स्वयं अजर-अमर है**"।

४०-अक्षरप्रजापति की महिमामयी नित्या सनातना अक्षरात्मिका क्षरसृष्टि, एवं-'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणः' मन्त्र का संस्मरण—

क्षर से उसी प्रकार विकारों का क्षरण-विस्रंसन-होता रहता है, जैसेकि लौह से जँग निकलता रहता है। लौह समाप्त होजाता है एक दिन। किन्तु क्षर का कभी अवसान नही है, भले ही इस से कितने ही विकारो का क्षरण क्यों न हो जाय। असंख्य-अनन्त-प्रभूत-विकार-परम्पराओं के निरन्तर-विनिर्गत-होते रहने पर भी 'अक्षिति' रूप उस क्षरब्रह्म का स्वरूप वैसा, उसी पूर्वस्वरूप से अखण्ड बना रहता है, जैसाकि-स्वरूप विकारोत्पत्ति-विकारसर्ज्जन-क्षरण से पूर्व रहता है। विकारोत्पत्ति से पूर्व वह विशाल हो लौहवत्, एवं विकारोत्पत्ति के अनन्तर उस का आकार छोटा हो गया हो प्रभूत जँगयुक्त लौहवत्, ऐसा वर्द्धन, किंवा कनीयस्त्व उस नित्य महिमामय 'क्षरब्रह्म' में सर्वथा अनुपपन्न है, जैसाकि-'**एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न**

कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान' इत्यादि से स्पष्ट है। किञ्च बीजाङ्कुरोदाहरण से भी इस वचन का समन्वय सम्भव है। अङ्कुर-शाखा-प्रशाखा-पल्लव-आदि आदि सर्जन-कर्मों से जिस प्रकार वृक्षबीज का स्वरूप विशाल बन जाता है, एवं इस कर्म्मावरोध से पुनः बीज अपने छोटे स्वरूप में आजाता है, वैसा कार्य्यकारण-भाव नहीं है उस क्षरब्रह्म में। सुविशाल ससारमहीरुह का बीज अवश्य है वह 'क्षरब्रह्म'। किन्तु ससारवृक्षरूप-विकारलक्षण-विश्वकर्म्म की उत्पत्ति से पूर्व उस क्षरबीज का आकार वृक्षबीजवत् छोटा था, इस विश्वकर्म्म से उसकी आयतनवृद्धि होगई, एव ससार के न रहने पर वह छोटा हो जायगा, इत्यादि वैकारिक-भूतकल्पनाओं का वहाँ प्रवेश भी निषिद्ध है। क्योंकि वह स्वय महिमामय है अपने नाम से। उस का महिमामण्डल सर्वात्मना सदा समान है। सासारिक भौतिक-ह्रास-वृद्धि-भावों से उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। यही नहीं, यदि इसी के माध्यम से वृक्षबीज को लक्ष्य बनाया जाता है, तो वृक्षबीज की कारणता भी उसी नित्यब्रह्म से समतुलित है। और इसी समतुलन से कहा जासकता है कि-महदक्षर से समन्वित क्षरबीज के गर्भ में ही सम्पूर्ण-सुविशाल वटवृक्ष पहिले से ही विद्यमान है, जो भूतसम्पर्क से अभिव्यक्तमात्र हो पड़ता है। यही नहीं, तत्वत तो इस अनन्त-महिमाविवर्त्त के माध्यम से-'आत्मैवेदं सर्वम्'-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पर ही पर्य्यवसान कर लेना है आत्मनिष्ठ मानव को, जिसके सभी कार्य्य-कारणवाद नित्य-महिमा से ही समन्वित हैं।

४१-प्रजापति के सापेक्ष अमृत-मृत्यु-भाव, एवं 'तस्मान्मृत्युर्न म्रियते' का तात्त्विक समन्वय—

व्यक्ताव्यक्तातीत अव्यय से समन्वित अव्यक्त अक्षर के अर्द्ध भागात्मक व्यक्त क्षरब्रह्म का ही नाम नित्यमहिमामय वह 'कारणब्रह्म' है, जिसका 'अश्वकाल' रूप से कालसूक्त में उपक्रम हुआ है—'कालो अश्वो वहति' इत्यादि मन्त्र के द्वारा। वैकारिक-जगत् की नित्यनभूमि यही कालाश्व है, जिसे व्यक्तक्षरानुबन्ध से ही 'व्यक्तकाल' कहा गया है। यही सुप्रसिद्ध 'मृत्यु' तत्त्व है, जो वैकारिक भूतों की जरावस्था का प्रवर्त्तक बनता हुआ स्वय 'अजर' ही है, अमर ही है। क्यों ?, इसलिए कि यह अजर-अमर-अपने अमृताक्षर से नित्य सश्लिष्ट है। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' के अनुसार षोडशीप्रजापति के अर्द्धभागमें समतुलित पराप्रकृतिरूप अव्यक्त अक्षर अमृत है अविपरिणामी बना रहता हुआ, तो अर्द्धभाग में समतुलित अपराप्रकृतिरूप व्यक्तक्षर मृत्यु है विपरिणामी बनता हुआ। इसका यह विपरिणाम अविपरिणामी अमृताक्षर से अभिन्न है। अतएव विपरिणामित्वेन क्षर (मर्त्य-मृत्यु) बना रहता हुआ भी यह अविपरिणामी अक्षर की प्रतिष्ठा से अमृत ही बना रहता है। सुनते हैं-जो एकबार भी अमृत से सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह जरामरण से रहित हो जाया करता है, अजर-अमर-बन जाया करता है। क्षरात्मक जो मृत्युतत्त्व सदा ही जिस अमृताक्षर से नित्य सश्लिष्ट रहता हो, भला उसकी अजरता अमरता में कैसे सन्देह हो सकता है ?। 'तस्मान्मृत्युर्न म्रियते'। इसीलिए मृत्यु नहीं मरती। अतएव मृत्यु स्वय अमृत है-अजर है, जिस इस अजर-अमर-मृत्युरूप-सौर सम्वत्सरात्मक कालाश्व से मृत्यु उनकी होती है, जो भूतभौतिक पदार्थनिकारानुबन्धी-दिग्-देश-प्रदेश-भावों के परिणामों के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हुए अपने मूलभूत अविपरिणामी अमृताक्षर के स्वरूपानुग्रह से वञ्चित बने रहते हैं। सौरसम्वत्सर ही 'मृत्यु' * है दिग्दिशप्रदेशानुबन्धों की

*-एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यां-आयुः-क्षिणोति अथ म्रियन्ते— —शत० १०।४।३।१

प्रवृत्ति से। एवं यही अमृत है दिग्देशप्रदेशानुबन्धों की वियुक्ति से। अमृत–मृत्यु–दोनों के नियन्ता बन रहे हैं सौर सम्वत्सरप्रजापति, जैसा कि—'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं–मर्त्यञ्च' (यजुःसंहिता) इत्यादि यजुःश्रुति से स्पष्ट है।

४२–मृत्युपाशात्मक यमपाश का संस्मरण, एवं मृत्युदेवता की सर्वव्याप्ति का समन्वय—

दिग्–देश–प्रदेशात्मक–परिच्छिन्न–भाव ही विकारबलों की ग्रन्थि के प्रवर्त्तक बनते हैं। यही ग्रन्थि–बन्धन वह वारुणपाश है, जिसे वैज्ञानिकोंनें 'मृत्युपाश', किंवा 'यमपाश' कहा है। इस पाश के प्रवर्त्तक बनते हैं मानस–शारीरिक–आसक्तिभाव। भूतानुगता कामार्थासक्ति ही मृत्युपाश की प्रवर्त्तिका मानी गई है, जिसके मूलप्रवर्त्तक हैं–सोम, और पूषा। सोमात्मक चन्द्रमा, एवं पूषात्मिका पृथिवी ही मानव के मन, और शरीर के उत्पादक माने गए हैं। चान्द्रमन पार्थिव शरीर के माध्यम से कामासक्ति का, तथा पार्थिव शरीर चान्द्रमन के माध्यम से अर्थासक्ति का प्रवर्त्तक बन जाता है। इसी आसक्ति से बलग्रन्थि दृढ बन जाती है। इसी ग्रन्थिबन्धन से कामार्थासक्त मानव अपने हृदयस्थ अमृतात्मानुग्रह से वञ्चित होता हुआ अनात्म्य भूतभौतिक स्थावर–जङ्गम–प्राकृत–पदार्थों की श्रेणिमें आता हुआ 'जायस्व–म्रियस्व' की चक्रधारा में तरङ्गायित बना रह जाता है। दिग्देश–बन्धन ही मृत्युबन्धन है, जिसके साक्षी चान्द्र–पार्थिव–विवर्त्त बने हुए हैं मनः–शरीरानुगता कामार्थासक्ति के माध्यम से, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। अतएव–'तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। मृत्युरूप-सौरसम्वत्सर का आदित्यप्राण अपने अमृताक्षर की प्रतिष्ठा से अमृतात्मक है। अतएव इसकी मृत्युरूपता (मृत्युधर्म्म) का प्रभाव स्वयं उस पर नहीं होता। प्रभाव होता है इस मृत्यु का उन चान्द्र–पार्थिव–विवर्त्तों पर, जो दिग्–देशानुबन्धों से परिच्छिन्न बनते हुए अपरिच्छिन्न अमृताक्षरानुग्रह से वञ्चित बने रहते हैं। अतएव पूर्वोक्त षड्भावविकार, दिग्देशानुबन्धी मृत्युपाश बन्धन, आदि आदि सभी सादि–सान्तभाव आदित्यमण्डल से नीचे नीचे चान्द्री-पार्थिवी–सृष्टियों में ही प्रक्रान्त रहते हैं। अतएव सौर प्राणदेवता अजर-अमर हैं, दिक्-देशानुबन्धों से असंस्पृष्ट हैं। देश-दिक्-के, और खण्ड-काल के व्यवधान कोई प्रभाव नहीं डाल सकते सौर प्राणदेवताओं पर, जैसाकि श्रौत–देवताविज्ञानादि प्रकरणों में विस्तार से निरूपित हैं।

४३–मृत्युबन्धन–विमोकोपाय, एवं कालनिबन्धना अजरता का समन्वय—

सौर आदित्यप्राण ही धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यभावान्विता विद्याबुद्धि की अधिष्ठात्री है सविताप्राण के माध्यम से *। सौर व्यक्तकालात्मक अमृतप्राणमय विज्ञानात्मा ही मानवीय बुद्धि का स्वरूप–व्यवस्थापक है। इसी विज्ञानबुद्धि से अमृतात्मस्वरूपदर्शन होता है मानव को–'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'। इसी स्वरूपदर्शन से मानव मृत्युबन्धन से विनिर्मुक्त होता है–'तमेव विदित्वा–अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'। चान्द्रपार्थिवी–मनःशरीरासक्ति जहाँ मृत्युपाशप्रवर्त्तिका है, वहाँ सौरी बुद्धि मृत्युपाशनिवर्त्तिका है, यही निष्कर्ष है। इसप्रकार अध्यात्म-अधिदैवत-दोनों दृष्टियों से व्यक्तकालात्मक-क्षरब्रह्म की, किंवा

* 'धियो यो नः प्रचोदयात्'।

क्षरात्मक-व्यक्तकाल की, अथवा तो व्यक्तकालमूर्त्ति संवत्सरात्मक-प्रजापति की अव्यक्त-अमृताक्षर-निबन्धना, किंवा अव्यक्त-अमृत-कालनिबन्धना अजरता भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। शेष रह जाती है अधिभूत-निबन्धना अजरता, अमरता, जिसका भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए।

४४-सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूला अजरता का समन्वय, धूमकेतु के द्वारा सूर्य्य का आविर्भाव, एवं 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' का स्वरूप-दिग्दर्शन-

अधिभूत से तात्पर्य है हमारा प्रत्यक्ष दृष्ट-'सूर्य्य' से, जो भूत-भौतिक चान्द्र-पार्थिव-मर्त्य-पदार्थों की भांति ही षड्भावविकारों से समन्वित रहता हुआ इन मर्त्यभावों के समतुलन में प्रत्यक्ष में कोई भी विशेषता रखता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा। किन्तु-'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इस सूत्रानुसार वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि, अमृत-प्राणात्मक-आत्मक्षर-निबन्धन कालसूर्य्य के विकारभूत से भूतपदार्थवत् ही मर्त्याग्निचिति में कृतरूप इस कालसूर्य्य की ही भूताभिव्यक्तिरूप प्रत्यक्षदृष्ट भूतसूर्य्य (सूर्यपिण्ड) भी धाता के सनातन सृष्टिचक्रानुबन्ध से अजर-अमर ही बना हुआ है। ऐसा समय कभी नहीं आया, कभी नहीं आसकता, कभी नहीं ही आएगा, जबकि सूर्य्य का अभाव होजाय ब्रह्माण्ड में। भातिदृष्ट्या यद्यपि सूर्य भी उत्पन्न होता है अमुक पुण्याह के उपक्रम में, अमुक दिव्यसहस्रयुग-पर्य्यन्त उत्पन्न सूर्य्य प्रतिष्ठित भी रहता है, एवं अमुक पुण्याह के अवसान में गत्युपक्रम में सूर्य्य का निधन भी हो जायगा। और इस कालक्रमानुबन्धी-गणनक्रमानुपात से भूतसूर्य्य के साथ भी यद्यपि उत्पत्ति-स्थिति-संहारात्मक अन्यान्य चान्द्र-पार्थिव-भूतभौतिक-पदार्थों की भांति षड्भाव-विकारों का सम्बन्ध समन्वित रहेगा। तथापि भूतसूर्य्य का अभाव कभी न होगा ब्रह्माण्ड में। भातिमूलक प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यब्रह्माण्ड की भाँति महान् अलातचक्रात्मक अपने ऋतभावापन्न अतएव असीम-अनन्त-भृगुगर्भित अङ्गिराग्निपुञ्जों-धूमकेतुओं-के प्रचण्डतमरूपेण धौ(?)यमान-चक्रभ्रम्यमाण-बने रहने से उन सहस्र-सहस्र-ऋताग्निविस्फुलिङ्गों में सर्वाङ्गीणभावापन्न एक धूमकेतु क्रम-क्रमशः-चितिमानानुगत बनता हुआ नवीन सूर्य्यपिण्ड का सर्ज्जक भी बनता जारहा है, जो वर्त्तमान सूर्य्य के अवसानकाल के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इस वर्त्तमान सूर्य्य का स्थान ग्रहण कर लेगा। और यह सनातनचक्र शाश्वतीभ्य समाभ्य-सदा-सदा के लिए ही अनवच्छिन्नरूपेण-धारावाहिकरूपेण सतत प्रक्रान्त ही रहेगा। इसी आधार पर-'याथातथ्यतोऽर्थान्-व्यदधात्-शाश्वतीभ्य समाभ्य'-'धाता-यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं, जिस श्रौत दृष्टिकोण के आधार पर ही प्राधानिकों का 'सत्कार्य्यवाद' सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिस का निष्कर्षार्थ यही है कि-"जिस वस्तु की सत्ता है, अभिव्यक्ति है, उस का कभी अभाव नहीं होता। एवं जिस का अभाव है, अनभिव्यक्ति है, उस की सत्तोपलब्धि नहीं होती" जिस इस रहस्य के अन्तस्तल का स्पर्श तो ऋषिदृष्टि ही कर सकती है-

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
>
> —गीता २।१६।

४५-कालाश्व के अभिव्यक्तिरूप दिग्-देश-भाव—

अमूर्त्त-अक्षरकाल की अभिव्यक्ति का ही नाम तो मूर्त्त-व्यक्त-क्षर-काल (कालाश्व) है। इस व्यक्तकाल की अभिव्यक्ति का नाम ही तो दिक् है, दिक् की अभिव्यक्ति ही तो देश कहलाई है, देशाभिव्यक्ति का

नाम ही तो प्रदेशाभिव्यक्ति है। और यों अव्यक्तामूर्त्ताक्षरानन्तभावात्मक कालात्मक (कालप्रतीक से गृहीत) अनन्तब्रह्म ही तो इस विश्वमहिमारूप में परिणत हुआ है, जिस इस महिमाभाव के समन्वय करने में अस-मर्थ दार्शनिकोंने ही नितान्त भ्रान्त जगन्मिथ्यात्त्ववाद का आविर्भाव कर डालने की महती भ्रान्ति कर डाली है, जबकि अनन्तब्रह्म का विवर्त्त भूत विश्व भी अनन्त-सत्य ही प्रमाणित हो रहा है अपनी अनन्तकालमूला तथाकथिता शाश्वत-सृष्टिधारा के चन्द्रङ्‌क्रमण से।

४६-'अजर' शब्द का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं 'युवानं सन्तं पलितो जगार' का संस्मरण-

इसी अजरता से तो वह काल चिरपुरातन बना रहता हुआ भी चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है-'नवो नवो भवति जायमानः'। वह पुराणपुरुष पुरातन है, पुराना है, तो नित्य नवीन भी है, युवा भी है, जिस में जरात्त्व-वार्द्धक्य-विनाश-आदि असद्भावों का प्रवेश भी निषिद्ध है, जिस इस नितनूतन अजर कालपुरुष को ऋषिप्रज्ञा-'युवानं सन्तं पलितो जगार' रूप से अपना उपास्य बनाए रहती है। एवं यही अधिभूतात्मक वह अजरत्त्व--समन्वय है कालाश्व का, जिस के समन्वय के लिए तो भूतासक्ति का परित्याग ही अनिवार्य्य माना है ऋषि ने। 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' ही इस भूतानुबन्धिनी अजरता-अमरता का महान् उदर्क है।

४७-कालाश्व के 'भूरिरेता' विशेषण का संस्मरण, एवं कालाग्नि की अन्नादता, तन्नि-न्धन परिपाकधर्म्म, और तद्द्वारा विश्वस्वरूप-संरक्षण—

अब केवल-'भूरिरेताः' विशेषण शेष रह जाता है। अक्षरार्थ-समन्वय विस्तृत होता जारहा है केवल एक ही मन्त्रका। अतः अब व्याख्या-विस्तार में न जाकर इस विशेषण का परिगणित वाक्यों में दिग्दर्शनमात्र ही करा दिया जाता है। कालाश्व कालाग्निरूप है, एवं अग्नि का सहज धर्म्म माना गया है--'अन्नादभाव'। उदाहरण के लिए-भूपिण्ड के अग्नि, अन्तरिक्ष के वायु, एवं द्युलोक के आदित्य, इन तीन प्राणरूप मूलाग्नियों के संघर्ष से उत्पन्न योगज-तापधर्म्मा वैश्वानराग्नि की सर्वाङ्गशरीर में व्याप्ति है केशलोम, एवं नखाग्र भागों को छोड़ कर--(आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः)। यह वैश्वानराग्नि ही जाठराग्निरूप से भुक्त चतुर्विध * खाद्य-चोष्य-लेह्य-पेय-अन्नों का परिपाक कर इनके रसभाग की चिति से अपनी विस्रस्ता भूतमात्राओं का पुनः सन्धान करता रहता है, और इसी का नाम है शारीरिक-'अधिभूतयज्ञ', जिसे गीता के शब्दों में-'अधि-यज्ञ' ÷ भी कहा जासकता है। जबतक अग्नि को अन्नाहुति प्राप्त होती रहती है, तबतक अग्निचिति सुरक्षित

*-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
—गीता १५।१४।

÷-अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
—गीता ८।४।

रहती है। यदि अन्नाहुतिक्रम अवरुद्ध कर दिया जाता है, तो सर्वप्रथम अग्नि शरीरस्थित-प्रवर्ग्यभूत-दोषा-मलों को खाने लगता है। इस प्रवर्ग्य के निःशेष बन जाने पर वही अग्नि मज्जौदनभूत अस्थिमांसरक्तादि को खाने लगता है। जब सभी भाग निःशेष हो जाते हैं, तो इस अन्नाहुति की निःशेषता से वैश्वानराग्नि उत्क्रान्त होजाता है, एवं तत्क्षण अधिभूतयश उपशान्त होजाता है सदा के लिए।

४८-कालाग्नि के स्वरूप-संरक्षक-प्रभूत वीर्य्य का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन पारमेष्ठ्य-भूरिधर्म्मा-सोमात्मक रेत—

कालाग्निमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति (कालाश्व) की भूतमात्राएँ सृष्टिनिर्माण में निरन्तर विस्रस्त (खर्च) होती रहती हैं, और अपने उष्टरूपों के प्रवर्ग्यभागों को ले ले कर प्रजापति अपने इस विस्रस्त भाग का पुनः पुनः सन्धान भी करते रहते हैं। किन्तु इस स्वल्पसधान से सम्वत्सराग्नि जैसे महान सर्य्याग्निर्हव का सर्वथा सन्तर्पण कदापि सम्भव नहीं है। मौरमण्डलसीमामें भुक्त सृष्टिप्रवर्ग्य तो उस महान् सौर अग्नि की प्रचण्ड बुभुक्षा शान्त करने में-'शकाय वा स्यात्-लवणाय वा स्यात्' से अधिक कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, उस महान् धूमभाग्नि में तो किसी महान् ही अन्न की आहुति होती रहती होगी, एवं उस प्रभूतान्नाहुति से ही सौरकालाग्नि के विस्रस्त भाग का पुनः सधान होता रहता होगा। वही महान् अन्न पारमेष्ठ्य वह सोम है, जो महान् कोशरूप से महदक्षरमूर्ति पारमेष्ठ्य मण्डल में सरस्वान् नामक समुद्र में प्रतिष्ठित है। वह पारमेष्ठ्य दाह्य सोम इस सौर दाहक-कृष्णाग्नि में निरन्तर आहुत होता रहता है। दाहक-दाह्य के इस अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से ही सौरसंस्था ज्योतिर्म्मयी बन रही है-'अजनयत्सूर्य्ये-ज्योतिरिन्दुः'-'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार* सौर अग्नि कृष्णवर्ण है, एवं पारमेष्ठ्य सोम की तो कृष्णता स्पष्ट ही है। या प्रकाश न पारमेष्ठ्य सोम में है, न सौर कृष्णाग्नि में। दोनों दाह्य-दाहक तत्त्वों के समन्वय से ही प्रकाश उसी प्रकार व्यक्त हो जाता है, जैसेकि दाह्य आज्यसोम (घृत) की आहुति से दाह्य भूताग्नि (अङ्गाराग्नि) प्रज्वलित हो पड़ता है। स्पष्ट ही यह प्रकाशपुञ्ज प्रमाणित कर रहा है कि, सौर अन्नादाग्नि में तृतीय-द्युलोकस्थ पारमेष्ठ्य सोम सौर गायत्रतेन से अपहृत होता हुआ निरन्तर आहुत होता रहता है। यह सोमाहुति ही सौर कालाश्व की अजरता का मूल है, यही सहस्राक्षता की आधारभूमि है, और यही है सहस्ररश्मि की प्रतिष्ठा। अतएव इस विशेषण को अन्त में स्थान दिया है ऋषि ने।

---

* (१)—महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः॥
—ऋक्सं० ९।९७।४१।

(२)—त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥
—ऋक्सं० १।९१।२२।

(३)—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
—ऋक्सं० १।३५।२।

४६–'भूरिरेता' विशेषण का तात्त्विक समन्वय, एवं सप्तरश्मि-सहस्राक्ष-अजर-भूरिरेता-कालाश्व का संस्मरण—

पारमेष्ठ्य भार्गवसोम आङ्गिरस अग्निगर्भित है, यह पूर्व के पारिभाषिक-परिच्छेदों में स्पष्ट किया जाचुका है। यों सोम भृग्वङ्गिरोमय (तदनुबन्धेनैव अत्रिमय भी) बन रहा है। भृग्वङ्गिरोऽत्रि की समष्टि का नाम ही है वह 'शुक्र' तत्त्व, जिसके वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-आपः-वाक्-रूप ६ अमृत-मर्त्य-विवर्तों का पूर्व में हीं दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इसी षट्पर्वा–सौम्य–पारमेष्ठ्य–शुक्र का नाम है–आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–सत्त्व–रजस्तमो-गुणात्मक षड्भावापन्न वह 'महान्', जिस 'वीध्रगुणक' महान् में ही चिदात्मा गर्भ धारण कर अंशभाव से चेतनसर्ग के प्रवर्त्तक बन रहे हैं। 'महत्तत् सोमो महिषश्चकार' (ऋक्सं०) श्रुति पारमेष्ठ्य सोम के इसी 'महान्' भाव की ओर सङ्केत कर रही है। इसी 'महत्ता' को 'भूरिरेता' का 'भूरि' शब्द अत्र अभिव्यक्त कर रहा है। वैसे पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र की अनन्तता भी इस 'भूरि' धर्म्म की संग्राहिका बन ही रही है। "इस-प्रकार अनेक सप्तकों को स्वसीमा में भुक्त रखने वाले क्रान्तिवृत्तीय सप्ताश्वरूप सप्त अहोरात्रवृत्तों से 'सप्तरश्मिः' बने हुए, चतुर्विध अक्षभावों से 'सहस्राक्षः' बने हुए, नवभावानुबन्ध से 'अजरः'-बने हुए, एवं पारमेष्ठ्य महान् सोमरेत से 'भूरिरेताः' बने हुए ऐसे सौर सम्वत्सरात्मक व्यक्तकालाश्व ने हीं विश्व का वहन कर रक्खा है", यही मन्त्रपूर्वार्द्ध का संक्षिप्त स्वरूपार्थ–समन्वय है, जिस इस अथर्ववेदीय स्वरूपार्थ का ही सृष्टिविद्या के परपारदर्शी विद्वान् महामहर्षि दीर्घतमा ने अपने सुप्रसिद्ध अस्यवामीयसूक्त के निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्टीकरण किया है, जिस स्पष्टीकरण के लिए तो–'रहस्यविद्यात्मक–कतिपय सूक्त' नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए। प्रज्ञाशील पाठकों के बुद्धिविलास के लिए प्रकृत में कालसम्बन्धी कतिपय मन्त्रमात्र ही उद्धृत हो रहे हैं।

अस्यवामीयसूक्तानुगतं–कालाश्वविवर्त्तं सौरसम्वत्सरचक्रात्मकम्

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रं, एको अश्वो वहति सप्तनामा * ।।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ।। १ ।।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त सप्त ।। २ ।।

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य (परमेष्ठिनः) ।।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।३।।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ।। ४ ।।

---

*–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः (इति–एको अश्वो वहति सप्तनामा) ।
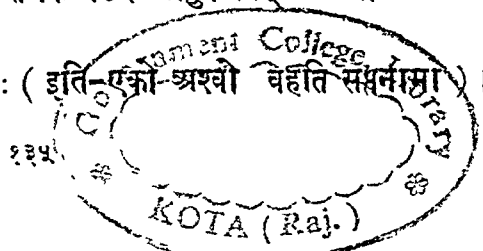
५२-कारणरूप अहोरात्रादि से कार्य्यरूप अहोरात्रादि का आविर्भाव, एवं काल से काल की प्रवृत्ति का समन्वय—

'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से भी इसी सनातन-चक्रधारा की ओर सङ्केत किया है वेदमहर्षि ने, जैसाकि पूर्व में मन्त्रोपात्त 'अजर' विशेषणार्थसमन्वय में स्पष्ट किया जाचुका है। व्यक्त विश्व में अह-रात्रि-अन्तरिक्षादि जितने भी नाम सुने जाते हैं, उन सब के मूलबीज 'सत्कार्य्यवाद'-सिद्धान्तानुसार कारण-ब्रह्मात्मक अव्यक्तकाल में सुरक्षित हैं। अतएव कहा जासकता है कि, कार्य्यरूप अहोरात्रि-अन्तरिक्षादि की उत्पत्ति कारणरूप अहोरात्रादि से ही हुई है। 'दिन से दिन, रात से रात, अन्तरिक्ष से अन्तरिक्ष, भूमि से भूमि, यज्ञ से यज्ञ उत्पन्न हुए हैं', यह दुरधिगम्या भाषा अव्यक्तमूलक व्यक्त के महिमात्मक विवर्त की शरण में आते ही बोधगम्या बन जाती है, जिसका इत्थंभूत पारिभाषिक समन्वय आज तो हमारे लिए दुरधिगम्य ही बना हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए कारण-कार्य्याभेदमूलिका निम्न लिखित अथर्ववेदीया सूक्ति को, जिसका सर्वस्वरूपसमन्वय तो स्वतन्त्र चिन्तन-स्वाध्याय का ही विषय माना जायगा।

स वा एष अह्नोऽजायत—तस्मात् (अस्मात्) अहरजायत।
स वै रात्र्या अजायत—तस्मात् रात्रिरजायत।
स वा अन्तरिक्षादजायत—तस्मात् अन्तरिक्षमजायत।
स वै वायोरजायत —तस्माद् वायुरजायत।
स वै दिवोऽजायत —तस्माद् द्यौरध्यजायत।
स वै दिग्भ्योऽजायत—तस्माद् दिशोऽजायत।
स वै भूमेरजायत —तस्माद् भूमिरजायत।
स वा अग्नेरजायत —तस्मात् अग्निरजायत।
स वा अद्भ्योऽजायत—तस्मात् आपोऽजायन्त।
स वा ऋग्भ्योऽजायत—तस्मात् ऋचोऽजायन्त।
स वै यज्ञादजायन्त—तस्माद् यज्ञोऽजायत।

स यज्ञः, तस्य यज्ञः। स यज्ञस्य शिरस्कृतम्।
स स्तनयति, स विद्योतते, स उ अश्मानमस्यति।
पापाय वा, भद्राय वा, पुरुषायासुराय वा।

—अथर्वसंहिता १३।४।४ सूक्त

५३–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' इत्यादि उत्तर-मन्त्रभाग का संस्मरण, एवं 'कवि' शब्द का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

प्रासङ्गिकमेतत्। प्रकृतमनुसरामः। प्रक्रान्त प्रथम मन्त्र का उत्तरार्द्ध है–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः–तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा', जिसका अर्थसमन्वय स्पष्ट है। पूर्वोपवर्णित (मन्त्रपूर्वार्द्धोपवर्णित) तथाविध कालाश्व पर बुद्धिमान् कवि आरोहण करते हैं। ऐसे उस कालाश्व का चङ्क्रमण-स्थान सम्पूर्ण पदार्थ बने हुए हैं, किंवा सातों भुवन बने हुए हैं। 'कवयः', और 'भृगवः' दोनों शब्दों का कुछ विशेष अर्थ है। वैसे लोकभाषा में तो प्रज्ञाशील का नाम 'कवि' है, एवं बुद्धिमान् का नाम 'विपश्चित्' है, सो ठीक ही है। प्रश्न है दोनों शब्दों के सृष्टिमूलक तात्त्विक समन्वय का, जिसका उत्तर हमें 'आरोहन्ति' इस क्रियापद से प्राप्त हो रहा है। व्यक्तकालात्मक सौर सम्वत्सर पर आरोहण कौन कर सकता है ?, यह प्रश्न है, जिसका–'कौन कर सकेगा ?' इस रूप से भी अभिनय किया जासकता है। **भार्गवप्राण का नाम है कवि, एवं आङ्गिरसप्राण का नाम है विपश्चित्।** भृगु, और अङ्गिरा–दोनों पारमेष्ठय तत्त्व हैं, जैसाकि पूर्व में यत्रतत्र विस्तार से बतलाया जाचुका है। अङ्गिरागर्भित भृगु का नाम है सौम्य परमेष्ठी, एवं भृगुगर्भित अङ्गिरा का नाम है आग्नेय सूर्य्य, जिसका तात्पर्य्य यही है कि–परमेष्ठी में भृगु की प्रधानता रहती है, एवं सूर्य्य में अङ्गिरा का प्राधान्य है। इस दृष्टि से अब यह कहा जासकता है कि, परमेष्ठी 'कवि' है, जिसका आविर्भाव पुराणशास्त्रने ब्रह्मा के (स्वयम्भू के) हृदय (त्रयीवेद) से माना है ※। **'उशना भार्गवः कविः'** इत्यादि प्रसिद्ध ही है। एवं सूर्य्य विपश्चित् है। कवि (परमेष्ठी) अपने बाह्य–व्यक्त भार्गवरूप से जहाँ कवि है, वहाँ अपने गर्भित अङ्गिरारूप से यही कवि (परमेष्ठी) विपश्चित् भी बन रहा है। एवमेव विपश्चित् (सूर्य्य) अपने बाह्य–व्यक्त आङ्गिरसरूप से जहाँ विपश्चित् है, वहाँ अपने गर्भित भार्गवरूप से यही विपश्चित् कवि भी बन रहा है। एवं इस दृष्टि से दोनों ही द्वयात्मक बनते हुए दोनों अभिधाओं से समन्वित हो रहे हैं।

५४–मन्त्रोपात्त 'विपश्चितः' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

'आपः–परमेष्ठी'–'आपो–भृग्वङ्गिरोरूपम्' से जैसे परमेष्ठी के कवि–विपश्चित्–भाव समन्वित हैं, तथैव आपो भृग्वङ्गिरोमय रूप आपः से ही कृतरूप सूर्य्य का कवि-विपश्चिद् भाव 'यज्ञो वै बृहत्-(सूर्य्यः)–विपश्चित्' (शत० २।५।३।१२।)–'असौ वा आदित्यः कविः' (शत० ६।७।२।४।) इत्यादि रूप से प्रमाणित है। वैसे परमेष्ठी प्रधानरूप से 'कवि' ही है भृगुप्राधान्येन, एवं सूर्य्य प्रधानरूप से ÷ विपश्चित्

※ ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः।
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वान् शुक्रः कविसुतो ग्रहः॥
—महाभारत १।६६।४२।

÷–यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
—ऋक्सं० ३।६२।६।

प्रजापति वैं बृहत्–विपश्चित् (शत० ६।३।१।१६।)
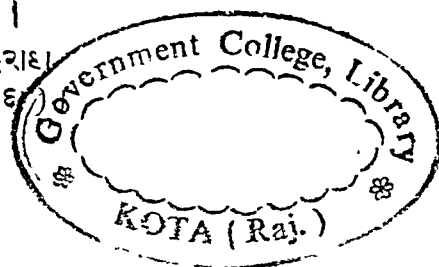
ही है अङ्गिराप्राधान्येन । सत्यभावानुगता ऋजुव्यवस्था का व्यवस्थापक सत्यधर्म्मा अङ्गिरा ही चिकित्वान् कहलाया है । नियतव्यवस्थिति, सत्यधर्म्मव्यवस्थिति ही चिकित्वधर्म्म है, जिस से युक्तभाव ही विपश्चित् कहलाया है, जिसका अर्थ लोक में–'सदसद्विवेकशील'–'नीरक्षीरविवेकी' इत्यादि किया जाता है । विपश्चित् ही क्योंकि चिकित्वान् होता है, अतएव विपश्चिदरूप सूर्य्य का 'चिकित्वान्' रूप से भी श्रुति ने यशोगान किया है * ।

५५–'कवि' भावानुगता श्रद्धा, 'विपश्चिद्' भावानुगत विश्वास, एवं श्रद्धा–विश्वास–शब्दों का तात्त्विक–स्वरूप समन्वय —

उक्त विवेचन से प्रकृत में हमें यही निवेदन करना है कि, पारमेष्ठ्य भार्गवतत्त्व के प्रमुख 'कवि' भाव का, तथा गौण विपश्चिद् भाव का सौरमण्डल में समन्वय हुआ है, जिस इस सौरसमन्वय में कविभाव गौण है, एवं विपश्चिद्भाव प्रमुख है । यह तो हुआ कवि, और विपश्चित्–का तत्त्वार्थ । अब इसके आचारात्मक पक्ष का समन्वय कीजिए आत्मिक शब्दों के द्वारा । श्रद्धा, और विश्वास, दोनों शब्द प्रसिद्ध हैं । **मानसिक स्नेहगुण का नाम श्रद्धा है, बौद्धिक तेजोगुण का नाम विश्वास है** । स्नेहगुण भार्गव तत्त्व है, सौम्य तत्त्व है । तेजोगुण आङ्गिरस तत्त्व है, आग्नेय तत्त्व है । रोदसीब्रह्माण्ड नामक व्यक्त त्रैलोक्य में सूर्य्य तेजोगुणक है, चन्द्रमा स्नेहगुणक है, जिन इन दोनों तेज स्नेहगुणों से युक्त समन्वित सौर–चान्द्र–तत्त्वों से ही अध्यात्मजगत् में 'विज्ञानात्मा' नाम की 'बुद्धि' तथा 'प्रज्ञानात्मा' नामक 'मन', आविर्भूत है । स्पष्ट ही श्रद्धा चान्द्रमन का स्नेहगुण बन रही है, एवं विश्वास सौरीबुद्धि का तेजोगुण बन रहा है । ये ही आध्यात्मिक विपश्चित्, और 'कवि' हैं । सत्यनिर्णयात्मभाव विपश्चिद्भाव है, यह सौरी बुद्धि का धर्म्म है, इसी से विश्वास का उदय होता है, जो कालान्तर में आस्थामयी निष्ठा के रूप में परिणत होजाता है । विपश्चिद्भावान्विता बुद्धि के विश्वास को अपने स्नेहगुण से अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से दृढमूल बनाने वाला तत्त्व ही 'श्रद्धा' है । 'श्रत्' सत्य भाव है, उसे धारण करने वाला स्नेहगुणक सौम्यतत्त्व ही 'श्रत्' का धारण करने से 'श्रद्धा' है । श्रद्धारस ही विश्वास को सत्यनिष्ठा प्रदान करता है । श्रद्धाविहीन रूक्ष–(तेजोगुणक) बौद्धिक विश्वास तो कालान्तर में अभिनिवेशरूप में ही परिणत होजाता है, जिसे 'दुराग्रह' कहा गया है । श्रद्धावञ्चिता बुद्धि कदापि सत्यनिर्णय नहीं कर सकती । अतएव ऐसी बुद्धि से विपश्चिद्भाव (निर्णयात्मिका निष्ठा) सर्वथैव विदूर रह जाता है । एवमेव विपश्चित्व से शून्या केवल श्रद्धा भी कालान्तर में मानसिक–भावुकता के रूप में परिणत होती हुई अभिनिवेश की ही जननी बन जाती है । श्रद्धा यदि प्रकृति है, तो विश्वास पुरुष है । पुरुष से वञ्चिता प्रकृति, तथा प्रकृति से वञ्चित पुरुष, दोनों ही विश्रामक हैं । श्रद्धारूपिणी शक्ति, एवं विश्वासरूप शिव, इस शिवशक्ति-

---

*–चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥
आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥
—अथर्वसंहिता १३।२।२।३०–४२ मन्त्र

समन्वय से ही मानव अभ्युदय–निःश्रेयस् का अनुवर्त्मा बन पाता है । यही दाम्पत्य तत्त्व मानव के स्वरूपबोध की मूलप्रतिष्ठा माना गया है ।

५६–श्रद्धा--विश्वासात्मक कवि–विपश्चिद्रूप पारमेष्ठ्य महानात्मा, तत्पुत्र कालाश्व, एवं 'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' का तात्त्विक समन्वय—

श्रद्धा-विश्वासात्मक कवि-विपश्चिद्-रूप का ही नाम है वह महानात्मा, जिसके गर्भ में सूर्य्य, किंवा कालाश्व प्रतिष्ठित है । इस महानात्मा में हीं अव्ययात्मब्रह्म स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं-'**तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**' * । अव्ययात्मब्रह्म ही वह अनन्तब्रह्म है, जिसका प्रतीक माना गया है अव्यक्त-अनन्तकाल, किंवा करालकाल (पारमेष्ठय) से समन्वित स्वायम्भुव महाकाल । अतएव अपने अव्यक्त–अक्षररूप से अमूर्त्तकाल–रूप में, तथा व्यक्त क्षररूप से मूर्त्तकालरूप में परिणत होने से प्रकृत्या कालात्मक बना रहता हुआ भी व्यक्ताव्यक्तातीत अव्ययब्रह्म अपने पौरुषरूप से कालातीत ही प्रमाणित है । यों वह इस काल पर **आरोहण** ही किए हुए है । मानवप्रजा में किस श्रेणि के मानव काल पर आरोहण कर सकेंगे !, अब इस पूर्वप्रश्न का समन्वय कर लीजिए आप अपनी प्रज्ञा से ही । कविरूप भार्गव–सौम्य–श्रद्धातत्त्व, विपश्चिद्रूप आङ्गिरस-आग्नेय-विश्वास तत्त्व, दोनों जब भी मानव के प्रज्ञानयुक्त विज्ञानक्षेत्र में (मनोयुक्ता बुद्धि में) समरूपेण समन्वित हो जायँगे, तत्क्षण महद्गर्भित अव्ययात्मब्रह्म स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हो पड़ेंगे । इस आत्मस्वरूपोदय से प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन के संरक्षणपूर्वक अव्ययब्रह्मपुरुषमूलक समदर्शन उदित हो पड़ेगा । और इस सम–दर्शनावस्था में मानव प्रकृत्या प्रारब्धभोगपर्य्यन्त कालसीमा में व्यवस्थापूर्वक-आचारनिष्ठापूर्वक-समस्त प्राकृ–तिक उत्तरदायित्वों का वहन करता हुआ भी कालातीत बना रहेगा, यही इसकी विदेहमुक्ति–जीवन्मुक्ति मानी जायगी । और ऐसे श्रद्धालु–बुद्धिनिष्ठ–लोकप्रकृतिसिद्धाचारपरायण–मानवश्रेष्ठ को ही कवि, और विपश्चित् कहा जायगा, एवं यही कालारूढ–कालातीत महामानव कहलाएगा, जिसके लिए भगवती श्रुतिने कहा है-'**तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः**', इत्यलमतिपल्लवितेन ।

५७–मध्यम धाममूर्त्ति कालाश्वप्रजापति की परम--अवमधामता, ब्रह्माण्डबन्धनत्रयी का प्रवर्त्तकत्त्व, एवं तद्द्वारा सप्तचक्रात्मक भुवनों का स्थितिस्थापकत्त्व—

पूर्व–परिच्छेदों में एक स्थान पर-'चत्त्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः०'-इत्यादि अनुगमन्त्र के अक्षरार्थ-का समन्वय करते हुए 'त्रिधा बद्धः' इस अनुगमवाक्य से सौर 'क्रान्तिवृत्त' के गर्भ में अवस्थित तदनुगत पार्थिव-वार्षिक परिभ्रमणाधारभूत क्रान्तिवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, भौम अक्षवृत्त, इन तीन वृत्तों के त्रिकेन्द्रों से ही काला–श्वरूप सौर सम्वत्सर प्रजापति को त्रिधा बद्ध बतलाया गया है (देखिए पृ० सं० १२३।) ' अब एक अन्य दृष्टिकोण से-'त्रिधा बद्धः' का समन्वय किया जारहा है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के माध्यम से । सौरकालाश्व 'महस्राक्षः' है, जो सहस्राक्षता सहस्रशीर्षः-सहस्रपात्-दोनों के समन्वय से ही गतार्थ बन सकती है । सहस्रशीर्ष स्वयम्भूविवर्त्त, सहस्रपात्

---

*–मम योनिर्म्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
—गीता १४।३।

पार्थिव विवर्त, दोनों का नियामक विश्वमध्यस्थ-विश्वकेन्द्ररूप सहस्राक्ष मौर विवर्त अवश्य ही ऊर्ध्व के अमृतप्रधान भावों का, एवं अधोऽवस्थित चान्द्र-पार्थिव मर्त्यभावों का, दोनों का यथास्थान सन्निवेश सुरक्षित रखता हुआ सर्वमूर्त्ति-सर्वकर्म्मा बन रहा है। अतएव श्रुति ने इसे 'विश्वकर्म्मा' * नाम से भी व्यवहृत किया है। परमेष्ठ्यनुगत स्वयम्भू-विवर्त्त इसी का 'परमधाम' है (अक्षरधाम है), सचन्द्र पार्थिव विवर्त्त इसी का 'अवम-धाम' (अक्षरधाम-क्षरधाम) है। एवं यह स्वयं 'मध्यमधाम' है। यो-'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' रूपेण अमृत-परमधाम, मर्त्य अवमधाम, एवं इन दोनों का संग्राहक बनते हुए मध्यमधाममूर्त्ति कालाश्वप्रजापति अवश्यमेव विश्वमूर्त्ति-विश्वकर्म्मा प्रमाणित हैं-'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'। परमधामात्मक परमेष्ठ्यनुगत स्वयम्भू का एक स्वतन्त्र केन्द्र, अवमधामात्मक सचन्द्र भूपिण्ड का एक स्वतन्त्र केन्द्र, एवं स्वयं सौरमण्डल का एक स्वतन्त्र केन्द्र, इन तीन वृत्तकेन्द्रों से आबद्ध रहता हुआ मध्यस्थ कालाश्वमूर्त्ति महान् वृषभ अवश्यमेव इस ब्रह्माण्डबन्धन-त्रयी (केन्द्रत्रयीबन्धन) से भी 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' इस अनुगमभाव को प्रमाणित कर रहा है, जिसे आधार बना कर ही अब हमें मन्त्र के-'तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा' इस शेषांश का समन्वय कर लेना है।

५८-कालाश्वप्रजापति विश्वकर्म्मा के त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूप महाविश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रथम हृद्बन्धनरूप स्वयम्भू 'स्व' भाग है, द्वितीय हृद्बन्धनरूप मध्यमधामात्मक सूर्य 'भुव' भाग है, एवं तृतीय हृद्बन्धनरूप अवमधामात्मक भूपिण्ड-'भू' है। ये ही सौर प्रजापति की तीन महाव्याहृतियाँ हैं, जिनका 'ओं भूर्भुवः स्वः' इत्यादि गायत्रीमन्त्र के माध्यम से भारतवर्ष का द्विजाति... [illegible] (प्रति-दिन) संस्मरण कर लेना (सन्ध्या के माध्यम से) अपना अनिवार्य्य कर्त्तव्य मानता है।

'महाव्याहृति' शब्द ही यह प्रतिध्वनित कर रहा है कि, अवश्य ही इसके गर्भ में अन्य व्याहृतियाँ भी समाविष्ट होंगी, जिनकी अपेक्षा से ही उसे महाव्याहृति कहा होगा। ओमित्येतत्। हाँ, वस्तुस्थिति ऐसी ही है। भू नाम की प्रथमा महाव्याहृति भी भू-भुव-स्व-रूप से त्रेधा विभक्त है, 'भुव' भी त्रेधा विभक्त है, एवं 'स्व' भी त्रेधा विभक्त है। यों तीन की ९ व्याहृतियाँ हो जातीं हैं, जिनमें २ व्याहृतियाँ अन्तर्गर्भित हैं। व्यक्त हैं ७ सात ही व्याहृतियाँ, जिनके ऋषि (प्रतिष्ठाप्राण) ये ही कालाश्वमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति माने गए हैं-'सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिःऋषिः'। तीन तीन अवान्तर व्याहृतियों में एक एक 'महाव्याहृति' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, यही वक्तव्य है।

भूमूला व्याहृतित्रयी का नाम है रोदसी त्रिलोकी, भुवर्मूला व्याहृति का नाम है क्रन्दसी त्रिलोकी, एवं स्वर्मूला व्याहृति का नाम है संयती त्रिलोकी। तीन त्रिलोकियों से पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ ९ होजाते

*या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
—ऋक् स० १०।८१।५।

हैं। पृथिवी का पारिभाषिक नाम है 'माता', द्यौः का नाम है–'पिता'। इस दृष्टि से तीन माता (तीन पृथिवियाँ), तीन पिता (तीन द्युलोक), एवं तीन ही अन्तरिक्ष हो जाते हैं, जिस इस त्रैलोक्य–त्रिकोक्यात्मिका 'लोकविद्या' का संग्रह करते हुए महर्षि दीर्घतमा ने कहा है—

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वामिन्वाम्॥
—ऋक्सं० १।१६४।१०।

रोदसीत्रैलोक्य का द्युलोक क्रन्दसीत्रैलोक्य का भूः बन जाता है, एवं क्रन्दसीत्रैलोक्य का द्युलोक संयतीत्रैलोक्य का भूः बन जाता है। अतएव ९ के सात ही लोक शेष रह जाते हैं, जो मानो सात विभिन्न चक्र ही हैं कालप्रजापति के। ये ही सातो चक्र क्रमशः भूः–भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः–सत्यम्–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं सप्तलोकों से प्रजापति विश्वकर्म्मा की 'सप्तवितस्तिकाय' रूप से स्तुति हुई है पुराणपुरुष के द्वारा *। ये ही चक्रात्मक वे सात भुवन हैं, जिनमें व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति प्रजापति व्याप्त हो रहे हैं अपने परम-मध्यम–अवम–धामरूपों से। इस समष्टिव्याप्ति के साथ साथ ही सम्वत्सरकाल व्यष्टिरूप प्रत्येक भूत–भौतिक–भुवनों–पदार्थों में भी दिग्–देश–प्रदेश–रूप से व्याप्त हो रहे हैं। इसी उभयव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर महर्षिने अनुगमभावमाध्यम से ही यह कहा है कि–'तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा'। निम्नलिखित परिलेख से यह भुवनव्याप्ति सर्वात्मना गतार्थ बन जाती है।

———*———

* क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्त्वम्॥
—श्रीमद्भागवते

भुवन	आत्मा	धाम	
१–सत्यभुवनम्—सत्य स्वयम्भूः	स्वयम्भू (आकाशात्मा)	परमधाम (अमृतम्) ३	त्रिधाममूर्त्ति कालात्मा–सम्वत्सरप्रजापतिः
२–तपोभुवनम्– स्वायम्भुवान्तरिक्षम्			
३–जनद्भुवनम्—ऋत परमेष्ठी	परमेष्ठी (वाय्वात्मा)		
४–महर्भुवनम्—सौरान्तरिक्षम्			
५–स्वर्भुवनम्—सत्य.—सूर्य्य –	सूर्य्य (तेज आत्मा)	मध्यमधाम (अमृतमृत्युमयम्) २	
६–भुवर्भुवनम्–ऋत-सोम (चन्द्र.)	चन्द्रमा (जलात्मा)	अवमधाम (मर्त्यम) १	
७–भूर्भुवनम्—सत्य —–भूपिण्ड	(भूपिण्ड' पृथिव्यात्मा		

५९–'काल' शब्द -निर्वचनपूर्वक काल के तात्त्विक–स्वरूप का समन्वय—

मूलसूत्रात्मक प्रथममन्त्र के प्राय सभी शब्दों के समन्वय का यथामति प्रयास हुआ। अब केवल दो शब्द ऐसे शेष रह जाते हैं, जिनके समन्वय के बिना अर्थसमन्वय अकृत्स्न बना रह जाता है। अतएव संक्षेप से उन दोनों काल, और अश्व–शब्दों को भी लक्ष्यारूढ बना लेना प्रासङ्गिक बन जाता है। 'काल' शब्द का निर्वचन करते हुए आरम्भ में ही यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, संख्यान, और शब्द, इन दो भावों के सूचक 'कल्' धातु से ही 'काल' शब्द का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। (कल संख्याने, शब्दे च–देखिए पृ० सं० ३)। कल्यते–इति काल , कालयति सर्वान्-भावान्-य स काल ' ही कालशब्द का शाब्दिक निर्वचन है, जो 'छन्द' का ही स्वरूप-संग्राहक बन रहा है। संख्यान से ही कलाविभाग उत्पन्न हुए हैं, जिन कलाविभागों से ही स्वय प्रजापति भी षोडशकलायुक्त बने हुए हैं। काल ही इस कलाभावात्मक संख्यान (परिगणन) का प्रवर्त्तक है। किंवा संख्यात्मक कलन–परिगणन से ही प्राजापत्यावयव 'काल' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। दूसरा शब्दभाव मन.प्राणगर्भित वाक्तत्त्व का संग्राहक बन रहा है, जिसे 'शब्दतन्मात्रा' कहा है सांख्यने, जो गुणभूत का आदि बना हुआ है, एव जिसे तत्त्वभाषा में अव्ययाक्षरगर्भित 'आत्मक्षर' कहा गया है। वाङ्मय इस आत्मक्षर का ही नाम शब्दतन्मात्रा है, जो भूतसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है, जो भूतसर्ग दिक्–देश–प्रदेशात्मक है। भूतसर्गाधारभूत, शब्दतन्मात्रालक्षण आत्मक्षर ही अपने व्यक्तभाव से 'व्यक्तकाल' कहलाया है, जबकि तदभिन्न अमृताक्षर अपने अव्यक्तभाव से 'व्यक्तकाल' कहलाया है। अव्यक्ताक्षरकाल ब्रह्मानि स्त-मिता वाक् है, एव व्यक्त-क्षरकाल गायत्रीमात्रिका-वाक् है। वह वाक् परा है, यह वाक् अपरा है। यों वाक्त्वेन अक्षर भी शब्दभाव से समन्वित हो रहा है। अतएव इसे भी संख्यान, एव शब्दभावानुबन्ध से 'काल' कहा जासकता है। इसीलिए (अक्षर-क्षरानुबन्ध से ही) काल के अव्यक्त–व्यक्त–दो विवर्त्त–होजाते हैं। अव्यक्ताक्षरमूर्त्ति स्वायम्भुव-प्राण ही अव्यक्तकाल है, जो कलाभावों का भी प्रवर्त्तक है, एव वाक्परिमाणात्मक छन्दोभाव की भी प्रतिष्ठाभूमि है। व्यक्तक्षरमूर्त्ति सौर प्राण ही व्यक्तकाल है, जो भोगकालानुबन्ध से कलाभावों का भी प्रवर्त्तक है, एव वाक्–परिमाणात्मक छन्दोभावों की भी प्रतिष्ठाभूमि है। दोनों कालविवर्त्तों के कलाभावों, एव वाक्–परिमाणों के स्वरूप में अन्तर है, यह ध्यान रख कर ही कालस्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

६०–कालशब्द के चिरन्तन–इतिवृत्त पर एक दृष्टि—

आत्मन्वी (शरीरी) प्रजापति में **आत्मा**, और **विश्व**, ये दो प्रमुख विवर्त्त हैं। परात्परभिन्न अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोड़शीपुरुष का नाम है आत्मा, एवं तद्गर्भित स्वयम्भु-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-समष्टिरूप ब्रह्माण्ड का नाम है विश्व। दोनों की समष्टि ही **आत्मन्वीप्रजापति (शरीरविशिष्ट आत्मा, विश्वविशिष्ट विश्वेश्वर)** है। इन दोनों प्राजापत्य विवर्त्तों को हम अव्यक्त–व्यक्त–कह सकते हैं, उसीप्रकार–जैसेकि-मानवीय-अध्यात्मसंस्था में आत्मा अव्यक्त–अप्रकट–है अपनी सुसूक्ष्मता से, एवं पञ्चमहाभूतात्मक शरीर व्यक्त है–प्रकट है अपनी स्थूलता से। अव्यक्त आत्मा मनःप्राणवाग्रूप है, तो व्यक्त विश्व मनःप्राणवाङ्मय है वैसे ही, जैसेकि परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं सूर्य्य भृग्वङ्गिरोमय है। इन दोनों हीं प्राजापत्य विवर्त्तों में संख्यानात्मक कलाभाव भी है, एवं वाक्परिमाणात्मक छन्दोभाव भी है। स्थूलदृष्ट्या आत्मा के कलाभाव जहाँ अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर–रूप से तीन हैं, वहाँ सूक्ष्मदृष्ट्या १६ हैं। एवमेव स्थूलदृष्ट्या विश्व के कलाभाव जहाँ स्वयम्भू-परमेष्ठ्यादि रूप से पाँच हैं, वहाँ सूक्ष्मदृष्ट्या माया–जाया–धारादि–बलकोशों की अपेक्षा से विश्व के भी १६ ही कलाविवर्त्त हैं। षोडशकल ही आत्मा है, षोडशकल ही उसका विश्व है। और इसी आधार पर–'**षोडशकलं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगम व्यवस्थित हुआ है। षोडशी आत्मा का कलनभाव अव्यक्तकालात्मक है, एवं षोडशकल विश्व का कलनभाव व्यक्तकालात्मक है। अव्यक्तकाल का वाक्परिमाणात्मक छन्द '**महामाया**' नाम से प्रसिद्ध है, एवं व्यक्तकाल का छन्द '**योगमाया**' नाम से प्रसिद्ध है। यह छन्द ही शब्दपरिमाण (वाक्परिमाणात्मिका आकृति) है। यों संख्यान, और शब्दपरिमाण से व्यक्ताव्यक्तविवर्त्तों का नियामक बना रहने वाला वेदप्राणात्मक अक्षरक्षरात्मक मौलिक तत्त्व ही (प्रकृतितत्त्व ही) 'काल' शब्द का वह समस्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसे महर्षि ने 'अश्व' शब्द से समन्वित किया है।

६१–'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोस्येहाभवत्पुनः' का समन्वय—

एकांशानुगत आनन्त्य ही इस 'अश्व' शब्द का नैदानिक समन्वय है, जिसका–'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, **पादोऽस्येहाभवत्पुनः**' इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। सुप्रसिद्ध अश्व (घोड़ा) नामक पशु जब भी प्रकृतिस्थ बन कर खड़ा रहता है, इसके तीन पाद तो सर्वात्मना भूतल से संस्पृष्ट रहते हैं, एवं एक पाद असंस्पृष्ट रहता हुआ विकम्पित–एजत्–(गतिप्राणयुक्त) रहता है। चार पैर वाले इस घोड़े का एक पैर अधिकरूपेण पृथिवी से उठा हुआ ही रहता है। यों अश्व के तीन अंश स्थितिमान् हैं, एकांश गतिमान है। इसी नैदानिक-साम्य से काल को इस 'अश्व' के नाम से समन्वित कर दिया है ऋषि ने।

६२–'महान्', और 'एकांश' रूप 'यत्किञ्चिद् भाग का तात्त्विक समन्वय—

परात्परब्रह्म को चतुष्पाद मान लीजिए वृत्तमर्य्यादा से। प्रत्येकवृत्त ३६० अंशात्मक बनता हुआ ९०–९०–९०–९०–भेद से चतुर्भुज बन रहा है, और यही वृत्तौजा स्वयम्भू की सृष्टि की चतुर्भुजता है। इस दृष्टि से समष्टि-व्यष्टि-रूपेण सभी चतुष्पाद बने हुए हैं। इसी आधार पर '**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगम व्यवस्थित हुआ है। इसी नैदानिक–मान्यता से यदि परात्पर को भी चतुष्पाद मान लिया जाता है, तो इसका एकांश ही अव्ययपुरुष है। न तो चार पाद का अर्थ यहाँ चार विभाग हैं, न एकांश का अर्थ एक चतुर्थांश है। अपितु चार पाद का अर्थ है महतोमहीयान्–अनन्तभाव, एवं एकांश का अर्थ है–अणोरणीयान्।

महान्, और यत्किञ्चित् ही चतुष्पाव, एवं एकांश का तात्विक समन्वय है। दोनों ही विवर्त्त अनन्त हैं। जो महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है। महतोमहीयान् परात्पर के समतुलन में इसका एकांशरूप अव्ययपुरुष अणोरणीयान् बनता हुआ भी अपने इस एकांश से ही उस परात्परानन्त्य के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। जो कुछ भी परात्पर में है, वह सबकुछ अव्यय में भी है। किंवा जैसा परात्पर है, वैसा ही अव्यय भी है। किंवा जो वह (परात्पर) है, वही यह (अव्यय) है-एतद्वैतत्। अतएव 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि रूप से श्रुति ने अव्ययात्मक पुरुष को भी 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर दिया है।

६३-अनन्तब्रह्म की एकांशता के माध्यम से अनन्तभावात्मिका पूर्णा अभिव्यक्ति, एवं तत्समन्वय—

इस पूर्णा-अनन्ता अभिव्यक्ति से ही अव्यय भी अब परात्परवत् चतुष्पाद ही माना जायगा, जिसका एकांश होगा पराप्रकृतिरूप अक्षरतत्त्व। यहाँ भी एकांश का वही समन्वय होगा। अनन्त-चतुष्पाद-अव्यय का एकांशरूप अणोरणीयान्रूप यह अक्षर भी उस अनन्त के सम्पूर्णस्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव पराप्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'पुरुष' (अव्यय) उपाधि उपलब्ध हागई है, जैसाकि-'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इत्यादि मूलक 'त्रिपुरुषात्मक-पुरुषविज्ञान' से स्पष्ट है। यहाँ यह अवधेय है कि, अव्यय का एकांशरूप-अणोरणीयान्धर्म्मा यत्किञ्चित्-भावरूप अक्षर ही वह अमूर्त्त-अव्यक्त-अनन्त-काल है, जिसकी प्रतीकता से हम उस शाश्वतब्रह्मरूप अनन्तब्रह्म की अनन्तता का अनुमान लगा रहे हैं दृष्टान्तविधि से, जो अनन्तब्रह्म परात्परपुरुषात्मक है। परात्पराभिन्न अव्ययब्रह्म, किंवा अव्ययाभिन्न परात्पर ही शाश्वत-अनन्तब्रह्म हैं, जिसके समतुलन में पराप्रकृतिरूप अव्यक्त-अनन्तकाल एकांशमात्र ही है, ... ल्विदंश ही है, जोकि शाश्वतब्रह्मदृष्ट्या यत्किञ्चित्-एकांश भी अव्यक्तकालात्मक अक्षर उस पुरुष के समग्र स्वरूप को उसी प्रकार अभिव्यक्त कर रहा है, जैसेकि एकांशरूप अव्यय अनन्त परात्पर के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव जो कुछ अव्यय में है, वह सबकुछ अक्षरात्मक अव्यक्तकाल में भी है। किंवा जैसा अव्यय है, वैसा ही अव्यक्तकालात्मक अक्षर है। किंवा जो वह (अव्यय) है, वही यह (अक्षर) है। तभी तो अव्यय-पुरुषावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने अपने अव्ययभाव का अक्षरात्मक अव्यक्तकाल से अभेद मानते हुए स्वयं को (अव्यय को) कालरूप से ही व्यक्त कर दिया है *।

६४-अनन्त अव्ययपुरुष के एकांश से आविर्भूत, अनन्ताक्षरकाल के एकांशरूप, रोहितकालात्मक व्यक्त कालाक्षर की अनन्तता का समन्वय—

अव्ययपुरुष की पूर्णा-अनन्ता अभिव्यक्ति से अव्ययवत् यह कालाक्षर भी चतुष्पाद ही बन रहा है, जिसका एकांश है अपराप्रकृतिरूप व्यक्तधर्म्मा आत्मक्षरात्मक क्षर। यही कहलाया है व्यक्तकाल, जिसे 'कालाश्व'-

---

* कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
—गीता ११।३२।

'रोहितकाल'–'सम्वत्सर' इत्यादि विविध नामो से व्यवहृत किया गया है। अक्षररूप अनन्त अमूर्त्त–चतुष्पाद्–महाकालात्मक काल का एकांश बनने वाला यह व्यक्तकालात्मक क्षर भी उस अनन्त–अव्यक्त–अक्षरकाल की पूर्णा-अनन्तता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। जो कुछ भी अनन्त कालाक्षर में है, वह सब कुछ इस एकांशरूप व्यक्त कालक्षर में भी विद्यमान है। किंवा जैसा अक्षरकाल है, वैसा ही क्षरकाल है। किंवा जो वह (अक्षर) है, वही यह (क्षर) है। और इस व्यक्तकालात्मक क्षरब्रह्म पर पूर्वोक्त आत्मन्वी–प्रजापति के षोडशकल आत्मभाव की सीमा समाप्त मानली है वैज्ञानिकोंनें।

६५–आवरणात्मक 'अञ्जन', तदनुबन्धी 'साञ्जनविवर्त्त', एवं दिग्देशकालातीत 'निरञ्जनपुरुष' का साञ्जनाधारत्व—

सीमा का अर्थ आत्मा का अवसान नहीं है। अपितु सीमा का अर्थ है यहाँ–भौतिक विश्व के आवरणधर्म्म का पार्थक्य। भौतिक आवरण का मूल 'अञ्जन' नामक परिग्रह बनता है, जिससे आवरणात्मक भूत की अभिव्यक्ति होती है, एवं जिस भूताञ्जनात्मक भौतिक आवरण से वह **निरञ्जनपुरुष** दिक्-देशात्मक-विश्वरूप में परिणत होता हुआ 'साञ्जन' कहलाने लग पड़ता है। साञ्जनता विश्वरूप शरीर का धर्म्म है, निरञ्जनता विश्वात्मरूप आत्मा का धर्म्म है। दिक्–देश–प्रदेशात्मक–आकारभाव (मूर्त्त–भूतभाव) व्यक्तकालात्मक क्षर से अनन्तरभावी हैं। अतएव परात्पराभिन्न अव्यय से आरम्भ कर व्यक्तकाल पर्य्यन्त सम्पूर्ण अनन्त विवर्त्त 'निराकार'–'निरञ्जन'–'अमूर्त्त' ही माना जायगा, माना गया है। व्यक्तकालात्मक क्षर की अभिव्यक्तिरूप दिग्भाव से ही भूताकार का उपक्रम होता है, जो दिगात्मक भूताकार ही आगे चलकर प्रत्यक्ष भूतात्मक देशरूप से अभिव्यक्त होता हुआ प्रत्यक्षतम प्रदेशभाव में परिणत हो जाता है। क्योंकि व्यक्तकाल–पर्य्यन्त आकारभाव अनभिव्यक्त हैं। अतएव दिङ्मूलभूत व्यक्तकाल (क्षर), तन्मूलभूत अव्यक्तकाल (अक्षर), एवं तन्मूलभूत कालातीत अनन्तब्रह्म (परात्पराभिन्न अव्यय), सभी विवर्त्त केवल सत्तासिद्ध बनते हुए मानवीया भाति (प्रतीति) से पराःपरावत ही प्रमाणित हो रहे हैं।

६६–सत्तासिद्ध अनन्तकाल के स्वरूपलक्षण का अभाव, अनन्तकाल की दुर्बोध्यता, व्यक्तकाल के द्वारा तदनुमान, एवं अनन्ताव्यक्तकाल के द्वारा कालातीत निरञ्जन-पुरुष की अनन्तता का प्रतीकविधि से अनुमानमात्र—

अतएव काल का कोई स्वरूपलक्षण (भौतिक लक्षण) नही किया जासकता। सत्तासिद्धता ही कालस्वरूप की वह दुरधिगम्यता है, जिसका दिग्देशप्रदेशमाध्यम से अनुमानमात्र ही लगाया जा सकता है। जबकि काल ही दुरधिगम्य है, तो कालातीत अव्ययब्रह्म की दुरधिगम्यता, उस * सत्तामात्र की अगोचरता की दुर्विज्ञेयता, (परात्परदृष्ट्या अविज्ञेयता) का तो कहना ही क्या है। अतएव जिन दिग्देशकालात्मक–भौतिक–वैकारिक–स्थाणुपुरुषादि गोचर-दृष्टान्तों के अध्यासमाध्यम से दार्शनिकोंनें उस अगोचर–दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म के

---

* प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥

विवर्त्तवाद का समन्वय करने की चेष्टा की है, वह दार्शनिकों का विशुद्ध प्रौढिवादमात्र ही माना जायगा, जैसाकि पूर्व के-'अध्याम' स्वरूपनिरूपण-प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है। दिग्देशादि मूर्त्त दृष्टान्तों से अधिक से अधिक व्यक्तकालाश्वरूप काल की अनन्तता के विवर्त्त का तो फिर भी यथाकथञ्चित् अनुमान लगाया जासकता है। किन्तु कालातीत का अनुमान तो कदापि सम्भव नहीं है इन भतदृष्टान्तों से। हाँ व्यक्त-कालाभिन्न अनन्त अव्यक्तकाल अवश्य ही उस कालातीत का नैदानिक-प्रतीक माना जा सकता है, जिस इस प्रतीकभाव के समन्वय के लिए ही तो कालमीमांसा उपक्रान्त हुई है।

६७-'अश्वत्थ' शब्द का निर्वचन, एवं अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-रूप षोडशीब्रह्म का संस्मरण—

अनन्त-परात्पर का एकांशरूप 'परात्परपुरुष' लक्षण कालातीत कालसाक्षी अव्यय, परा-लगमित चतुष्पात्-ब्रह्म (अव्यय) का एकांशरूप अव्यक्तकालात्मक अक्षर, अव्ययाभिमित चतु-ष्पात्-ब्रह्म (अक्षर) का एकांशरूप व्यक्तकालात्मक क्षर, इन तीनों अनन्त विवर्त्तों की समष्टि का नाम ही है-'विश्वात्मा, जिसका प्रकृत अथर्वसूक्तने तीसरे कालाश्वरूप सम्वत्सर के माध्यम से ही स्वयं काल के अनन्त विवर्त्तों का, एवं काल के ही सादिसान्त दिग्देशविवर्त्तों का स्वरूप अभिव्यक्त किया है। अव्यय-अक्षर-क्षर-तीनों ही चतुष्पात् है। इनमें से प्रत्येक के तीन तीन पाद अविचाली हैं, एवं एक एक पाद एकांश-प्रवर्ग्य-रूप से विचाली हैं। यही अश्वपशु की स्थिति है। इसी नैदानिकभाव से हम अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप आत्मा को 'अश्व' कह सकते हैं समष्टिरूप से, जो अश्वरूपता ही 'अश्वश्चत-तिष्ठति' मूल से सुप्रसिद्ध उस-'अश्वत्थविद्या की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है, जिसका विस्तारभिया यत्र दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। अव्यय-रूप 'अमृतम्', अक्षररूप 'ब्रह्म', क्षररूप 'शुक्रम्' की समष्टिरूप षोडशीपुरुष ही वह अश्वत्थवृक्ष (ब्रह्माश्वत्थ) है, जिसका ऊर्ध्व (केन्द्र) भाग ही मूल है, परिधिभाग ही शाखा-प्रशाखाएँ है, एवं दिग्रूप छन्दोभाव ही पत्ते हैं, 'यस्त वेद, स वेदवित्' *।

६८-'अश्व'-शब्दचिरन्तनेतिवृत्तनिबन्धन 'कालाश्व' से अनुमेय 'अश्वत्थ-ब्रह्म' की कालाश्वत्थरूपता का समन्वय—

व्यष्टिरूप से अव्ययाश्व-अक्षराश्व-क्षराश्व-ये तीन भी अश्व माने जासकते हैं-अश्वत्थमूर्त्ति उक्त षोडशीपुरुष के। क्योंकि तीनों उसी चतुष्पात्-एकांश-भाव से समन्वित हैं। अव्ययाश्व 'कालातीताश्व' है, अक्षराश्व 'अव्यक्तकालाश्व' है, एवं क्षराश्व 'व्यक्तकालाश्व' है। कालातीताश्व (अव्ययब्रह्म) का प्रतीक अव्यक्तकालाश्व (अक्षरब्रह्म) बन रहा है, एवं अव्यक्तकालाश्व का प्रतीक व्यक्तकालाश्व (क्षरब्रह्म) बन रहा है। जब पञ्चपर्वा विश्व में हम इन अश्वों की प्रतीकता का अन्वेषण करने चलते हैं, तो-स्वयम्भू को अमुक सीमा-पर्य्यन्त कालातीताश्व (अव्यय) का प्रतीक कहा जा सकता है, परमेष्ठी को अव्यक्तकालाश्व (अक्षर) का, एवं सूर्य्य को व्यक्तकालाश्व (क्षर) का प्रतीक माना जा सकता है। इस प्रतीक-समतुलन से विश्व में स्वयम्भू कालातीत बन रहा है, परमेष्ठी अव्यक्तकाल बन रहा है, एवं सूर्य्य व्यक्तकाल बन रहा है। तीनों अश्वों में

---

*-ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
—गीता १५।१।

कालातीत अव्ययाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप स्वयम्भू-रूप-अश्व तो अपनी अश्वता से दुर्विज्ञेय ही प्रमाणित हो रहे हैं। इनकी अश्वता एकप्रकार से अविज्ञेया ही बनी हुई है मानवप्रज्ञा के लिए। शेष रह जाते हैं अव्यक्त का अश्वरूप अक्षर, एवं व्यक्त कालाश्वरूप क्षर। इनको परमेष्ठी, और सूर्य्य-प्रतीक माध्यम से अनुमानगम्य (परमेष्ठिदृष्टया), एवं प्रत्यक्षगम्य (सूर्य्यदृष्टया) भी मान लिया जाता है। अतएव अब तीन अश्वों में से अव्यक्तकालाश्वमूर्त्ति 'परमेष्ठी', व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति सूर्य्य, ये दो ही अश्व मानवप्रज्ञा के आधार बने रह जाते हैं। अतएव 'अश्व' शब्द का इतिवृत्त वेदशास्त्र में आपोमय परमेष्ठी, तथा वाङ्मय सूर्य्य, इन दो प्रतीकों से ही सम्बद्ध मान लिया गया है। प्रकृत में कुछ एक वचनमात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनके माध्यम से प्रज्ञाशील पाठकों को स्वयं ही आपोमय पारमेष्ठ्य, तथा वाङ्मय सौर-अश्वों का समन्वय कर लेना चाहिये।

पारमेष्ठ्य-अश्वः—

१-वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेप। तदश्वयत्। ततोऽश्वः-समभवत्। तत्-यत्-श्वयथात्-समभवत्, तस्मादश्वो नाम।

—शतपथ ४।२।१।११।

२-अथ यदश्रु (आपः) संक्षरितमासीत्, सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्।

—शत० ६।१।१।११।

३-अद्भ्यो वा अग्रे अश्वः सम्बभूव। सोऽद्भ्यः सम्भवन्न सर्वः समभवत्। असर्वो हि वै समभवत्। तस्मात् (अश्वप्राणप्रधानोऽयं लोकविश्रुतोऽश्वः-पशुरपि) न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठति। एकैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति।

—शत०।५।१।४।५।

सौर-अश्वः—

१-असौ वा आदित्योऽश्वः। (तै० ब्रा० ३।६।२३।२)।

२-अथ योऽसौ (सूर्य्यः) तपति, एषोऽश्वः। (ऐ० ब्रा० ६।३५।)।

३-सौर्य्यो वा अश्वः। (गोपथ० उ० ३।१६।)।

४-एष वा अश्वमेधः, य एष (सूर्य्यः) तपति। (शत० १०।६।५।८।)।

५-ते (आदित्याः) अश्वं श्वेतं दक्षिणां निन्युरेतमेव-य एष (सूर्य्यः) तपति। (कौ० ब्रा० ३०।६।)।

—※—

६६-कालातीत अव्ययाश्वत्थ, एवं अनन्तकालात्मक अक्षरकालाश्व से अनुग्रहीत व्यक्त-कालाश्वमूर्त्ति रोहितकाल के कुछ एक अथर्ववेदीय-संस्मरण—

अव्ययात्मक कालातीताश्व, एवं तत्प्रतीकरूप कालातीताश्व स्वयम्भू हमारे लिए दुर्विज्ञेयत्त्वेन परात्परवत् अविज्ञेय ही हैं। अक्षरात्मक अव्यक्तकालाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप परमेष्ठी हमारे लिए अनुमानगम्य

ही हैं, जबकि व्यक्तचरात्मक—व्यक्तकालाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप सौरसम्वत्सराश्व ही हमारे लिए बोधगम्य माने जासकते हैं पारिभाषिक तत्त्वसमन्वय के माध्यम से। अतएव कालस्वरूप का, तथा तद्द्वारा अनन्तब्रह्म का स्वरूप-दिग्दर्शन कराने वाले अथर्वसूक्तने सम्वत्सरात्मक—सौर-अश्वरूप-व्यक्तकाल को ही माध्यम माना है, जिसके महिमामय विवर्त्तों में कालाश्व के मूलभूत अमृतविवर्त्तों (अव्यक्त—कालाश्व, कालातीत अश्व-विवर्त्तों) का भी अनुमानविधया समन्वय हो जाता है, एवं तूलभूत मर्त्यविवर्त्तों (पार्थिव—चान्द्र—विवर्त्तों) का भी स्वरूप समन्वित होजाता है। सप्तरश्मि—सहस्राक्ष—विशेषण कालाश्व के इसी सम्वत्सरानुबन्धी व्यक्तस्वरूप का समर्थन कर रहे हैं। यही कालाश्व (सौर—अश्व) 'रोहित' नाम से प्रसिद्ध हुआ है अथर्व में ही, जिस के कतिपय सम्मरण सर्वात्मना अवधेय हैं प्रकान्त कालप्रसङ्ग में—

१—रोहितो द्यावापृथिवी जजान, तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽजएकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन॥
२-रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्, तेन स्वस्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि, तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्॥
३-ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥
४-यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव।
यो विष्टम्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधिसृष्टीः सृजन्ते॥
५-दिवञ्च रोह, पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह।
प्रजां च रोह, अमृतं च रोह, रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व॥
६-ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्य्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः॥
७-यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि मृज्महे॥

—अथर्वसंहिता १३।१।१ सूक्त।

७०—व्यक्त—रोहित—कालाश्व की अनन्तता का समन्वय, एवं—'पुरुष एवेदं सर्वं—यद् भूतं—यच्च भाव्यम्' का संस्मरण—

'रोहित' नाम से प्रसिद्ध, सौरसम्वत्सरात्मक, क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न, सप्तरश्मि—सहस्राक्ष—अजर—भूरिरेता—व्यक्तकालाश्व ही अब हमारे लिए अनन्त-काल बन रहा है अपनी पूर्णाभिव्यक्ति से। अवश्य ही अव्यक्त—अजर-कालापेक्षया यह व्यक्त काल उसका एकांश ही है। किन्तु आत्मानुगता अभिन्नता से यह एकांशरूप भी व्यक्त—सम्वत्सरकाल अपने मूलभूत अनन्त—अव्यक्त काल की परिपूर्णता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर

रहा है। इस परिपूर्णता के कारण ही अत्र हम इसे भी 'चतुष्पाद्ब्रह्म' ही कहेंगे, जिसके एकांश से ही दिग्देशप्रदेशात्मिका–चान्द्री–पार्थिवी–मर्त्या–भूतभौतिकी संसृष्टिलक्षणा मैथुनीसृष्टि अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि–'तस्माद् देवा अधिसृष्टीः सृजन्ते' इत्यादि पूर्व मन्त्र (४) से स्पष्ट है। सौरकालानुबन्धी ज्योतिर्मय प्राणों का ही नाम 'देवदेवता' है, ये ही मूर्त्त-भूत सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं–'देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः' (मनुः-३।२०१)। समष्ट्यात्मक चान्द्र–पार्थिव–सर्ग, एवं इस पार्थिव–चान्द्र–सर्ग के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्ट्यात्मक अनन्त (असंख्य) सर्ग, दोनों ही सर्ग एकांश–स्थानीय बनते हुए उसी पूर्वनियमानुबन्ध से त्रिपाद्रूप सम्वत्सर के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए तदभिन्न ही प्रमाणित हो रहे हैं। तभी तो इन दिक्–देशात्मक मर्त्य पदार्थों को भी कालात्मक ही मान लिया है शास्त्र ने। विश्व का छोटे से छोटा, एवं बड़े से बड़ा पदार्थ, सभी पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ उन कालांशों के एकांशस्थान हैं। अतएव सभी कालात्मक हैं, काल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं। प्रदेशात्मक पदार्थ अभिन्न हैं मूलभूत देशभाव से। देशात्मक पदार्थ अभिन्न हैं मूलभूत दिग्भाव से। दिगात्मक भाव अभिन्न हैं मूलभूत व्यक्त–सौर काल से। यह सौरकाल अभिन्न है मूलभूत अव्यक्ताक्षरकाल से। एवं यह अभिन्न है स्वमूलभूत, किंवा सर्वमूलभूत, कालातीत अव्ययपुरुष से। कालातीत अव्यय ही अक्षरप्रकृतिरूप से अव्यक्तकाल बना है, यही क्षरभाव से व्यक्तकाल बना है, यही छन्दः-रस–वितान–भावों से दिक्–देश–प्रदेश–रूप में परिणत हुआ है। यों मूलाव्ययपुरुष ही कालमाध्यम से सर्वरूप में परिणत हो रहा है–'पुरुष एवेदं सर्वं–यद् भूतं, यच्च भाव्यम्'। इसी पुरुषमहिमा (अव्ययमहिमा) का दिग्दर्शन कराते हुए अव्ययेश्वरने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्, किञ्चिदस्ति धनञ्जय!।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
—गीता

एतावानस्य महिमा। अतो ज्यायाँश्च पूरुषः ॥
—यजुः

७१–मन्त्रोपात्त–'वहति', और 'आरोहन्ति' क्रियापदों का तात्त्विक समन्वय–

अत्र मन्त्र के वहति, और आरोहन्ति, ये दो क्रियापद और शेष रह जाते हैं, जिन का समन्वय किए बिना मन्त्र का आचारात्मक पक्ष सर्वथा ही अपूर्ण बना रह जाता है। तत्त्वदृष्टि, एवं आचारनिष्ठा, दोनों के समन्वय से ही मानव की अभीष्टसिद्धि मानी है ऋषिप्रज्ञाने। समझ लेना 'तत्त्वदृष्टि' है, एवं उस समझ को कार्य्यरूप में परिणत कर लेना 'आचारनिष्ठा' है। जहाँतक तत्त्वदृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँतक तो हम अपने आप को असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं। क्योंकि हमारी आस्था है कि–बिना ऋषिदृष्टि के तत्त्वसमन्वय सम्भव ही नहीं है। मन्त्र का तत्त्वार्थ तो मन्त्रमहर्षि की प्रज्ञा में हीं सुगुप्त माना जायगा, जिस के प्रति हम तो अपनी तत्त्वशून्या श्रद्धामात्र से अपनी कण्डूमात्र ही शान्त कर रहे हैं तत्त्वदृष्टि के व्याज से। अतएव हमारे

जैसे प्राकृत-लोकमानवों के लिए तो आदेशात्मक वह आचारधर्म्म ही अनुगमनीय है, जिस का बुद्धिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह आचारधर्म्म ही मन्त्र की आदेशात्मिका व्याख्या कहलाई है, जिस मन्त्रव्याख्या-ग्रन्थ का नाम ही-'ब्राह्मणग्रन्थ', तदनुगत 'आरण्यकग्रन्थ', एवं तदनुगत 'उपनिषद्ग्रन्थ' हैं। मन्त्रात्मक वेद का नाम है 'ज्ञातव्यवेद', जिसका सम्बन्ध है-'तत्त्वदृष्टि' से। एवं-ब्राह्मणात्मक (ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदात्मक) वेद का नाम है-'कर्त्तव्यवेद', जिस का सम्बन्ध है आचारधर्म्म से। कर्त्तव्यकर्मनिष्ठा ही आचारनिष्ठा है, जिसे 'क्रिया' कहा गया है। ज्ञातव्यवेदात्मिका मन्त्रसंहिताने क्रियापदों से क्रियारूप इस कर्त्तव्यनिष्ठा का ही सुसूक्ष्म सङ्केत कर दिया है, जिस के विस्तार का नाम ही ब्राह्मणवेद है। मन्त्रोपात्त 'वहति'-'आरोहन्ति' ये क्रियापद तटस्थरूप से ब्राह्मणभाग-प्रतिपादिता कर्म्मनिष्ठा का ही सूक्ष्म सङ्केत कर रहे हैं, जिस इस सङ्केत-स्पष्टीकरण से पूर्व ब्राह्मणभागोक्त 'सम्वत्सरकाल' का स्वरूप अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना अनिवार्य्य होगा।

७२-व्यक्त-कालाश्व की अर्काश्वमेधता का समन्वय—

व्यक्तकालात्मक-'रोहित' नामक-कालाश्व का नाम ही सौरसम्वत्सर है, जो अपने सर्वव्याप्ति-लक्षण, एवं एकांशेन एकलक्षण विस्पन्दनभाव से-'अश्व' उपाधि को चरितार्थ कर रहा है, एवं दिग्-देश-प्रदेशात्मक खण्ड-खण्डभावों का सख्यानव्यवस्थापूर्वक नाकपरिमाणात्मक छन्दोभाव-(सीमाभाव) बनता हुआ-'काल' उपाधि को चरितार्थ कर रहा है। कालात्मक सम्वत्सर के इस 'अश्व' रूप त्रैलोक्य-व्याप्तिभाव से ही 'अश्वमेध' का आविर्भाव हुआ है, जिस से समन्वित कालाश्व का एक पारिभाषिक नाम हो गया है-'अर्काश्वमेध'। इसी 'अर्काश्वमेध' के आधार पर सम्वत्सरकाल का वह स्वरूप व्यवस्थित है, जिस का भगवान् याज्ञवल्क्यने बड़ी ही रहस्यपूर्णा भाषा में स्पष्टीकरण किया है। सौर प्राण का नाम ही अर्क है, सौर अपान का नाम ही अश्वमेध है, दोनों की समन्विता-व्यवस्था का नाम ही 'अर्काश्वमेध' है, जैसाकि-'प्राणापानौ वा एतौ देवाना-यदर्काश्वमेधौ' (तै० ब्रा० ३।६।२१।३।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

७३-प्राणन-अपानन, एवं ओज-बल-शब्दार्थ-समन्वय—

प्राणन इन्द्र का धर्म्म है, जो आङ्गिरस भाव है। अपानन वरुण का धर्म्म है, जो भार्गव-भाव है। यह कहा जा चुका है कि, परमेष्ठी भृगुप्रधान है, सूर्य्य अङ्गिराप्रधान है। सौरमण्डलस्थ परमेष्ठी आप्य प्राण का ही नाम 'वरुण', एवं सौरमण्डलस्थ सौर ज्योतिर्म्मय प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है। इन्द्रप्राण ओजमय है, वरुणप्राण बलमय है। प्राणप्रधाना शक्ति 'ओज' कहलाई है, भूतप्रधाना शक्ति 'बल' कहलाई है। उदाहरण के लिए-हाथी में बल अधिक है सिंह की अपेक्षा, किन्तु ओज न्यून है। उधर सिंह में ओज अधिक है हाथी की अपेक्षा, किन्तु बल न्यून है। दोनों में ओज विशेष शक्तिशाली माना गया है। सौर आङ्गिरस-ऐन्द्रप्राण ही 'अर्क' है, तत्प्राणप्राधान्य से ही सूर्य्य 'अर्क' * नाम से भी प्रसिद्ध है। एवं बलरूप-पारमेष्ठ्य-भार्गव-वारुणप्राण ही अश्व का मेध भाग है। ऐन्द्रप्राण प्राण है, वारुणप्राण अपान है। यों तत्-

---

* आदित्योवा अर्कः (श० १०।६।२।६।)। अर्कश्चक्षुस्तदसौ सूर्य्यः (तै०ब्रा० १।१।७।-१।)। स वा एष एवार्कः, य एष (सूर्य्यः) तपति (शत० १०।४।१।२३।)। प्राणो वा अर्कः (शत० १०।६।२।६।८।)।

रूप ओज-बल भी अर्काश्वमेध के स्वरूप-संग्राहक बने हुए हैं-'ओजो बलं वा एतौ देवानां-यदर्काश्वमेधौ' (तै०ब्रा० ३।९।२१।३)।

७४-अर्चंश्चरति, और अर्क्यविद्या—

'अर्चंश्चरति' ही 'अर्क' शब्द का तात्त्विक समन्वय है, जो गतिधर्म्मा प्राण का सहज स्वरूप माना गया है, जिसका कि पूर्वपरिच्छेदों में गति-आगति, रूप से अनेकधा दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रत्येक गति पीछे हटती हुई ही अग्रगामिनी बनती है, और यही गतिमात्र का स्वभाव है, भले ही वह शुद्ध प्राणगति हो, अथवा तो प्राणगर्भिता भूतगति हो। पीछे हटना ही अपानन है, इसी से गतिमान् वस्तु में बल का आधान-संग्रह-आगमन-होता है, एवं इसी का नाम है 'अर्चन्'-(संग्रह-ग्रहण-लेना)। आगे बढ़ना ही प्राणन है, इस से बल क्षीण होता है, इसी का नाम है 'चरति' (त्याग-देना)। 'अर्चन्-चरति' का अर्थ है आदानपूर्वक विसर्ग, और यही 'अर्क' शब्द का तत्त्वार्थ है, यही सौरप्राणगति का प्राणापानत्त्व है, जिस के लिए-'अस्य प्राणदपानती-व्यख्यन् महिषो दिवम्' (यजुःसंहिता) इत्यादि कहा गया है। प्राणनापानन-मूर्त्ति सौर गतिप्राण (गत्यागत्यात्मक प्राण) ही 'अर्क' है, यही वक्तव्य है, जिसे मध्यस्थ बना कर ही हमें 'अर्क्यविद्या' मूलक 'सम्वत्सरकाल' का स्वरूप-दर्शनमात्र कर लेना है।

७५-व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति 'अर्कपुरुष', तत्प्रचण्ड परिभ्रमण, सौम्य आपः के द्वारा तच्छान्ति, एवं कालाश्व का 'कम्' भाव—

उस स्थिति की कल्पना कर लीजिए, जिस में न तो सूर्य्य था, न चन्द्रमा था, न पृथिवी ही थी। अर्थात् दिग्-देश-प्रदेशरूप से आज जिस पिण्डात्मक सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-आदि का हम अवलोकन कर रहे हैं, किसी समय इनमें से कोई भी मूर्त्ति मूर्त्त-भूत-पिण्ड-रूप से-व्यक्त नही थी। था केवल व्यक्तकालात्मक वह अर्कपुरुष (कालरूप प्राणाग्नि), जो उसी प्रकार प्रचण्डवेग से इतस्ततः अनुधावन कर रहा था, जैसे कि चिरकाल से आहार न मिलने से अत्यन्त ही क्रुद्ध कालरूप विषधर भुजङ्ग बुभुक्षा से परवश बनता हुआ प्रचण्डरूप से इतस्ततः सर्पण करता रहता है फण को ऊर्ध्व वितत किए हुए। स्वयम्भू का अवतार हो गया था, तत्परमाकाश के गर्भ में आपोमय भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी आविर्भूत होगए थे। 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध इस पारमेष्ठ्य महासमुद्र के गर्भ मे-'यो गर्भोऽन्तरासीन्-तदग्निरभवत्' (शत० ६।१।१।१०) रूपेण पारमेष्ठ्य भृगु को गर्भ में रखने वाला ऋतभावापन्न अङ्गिरा-अग्नि व्यक्त होपड़ा था, जो स्वायम्भुव गति-प्राणात्मक यजुरग्नि का ही द्वितीयावतार था। सर्वत्र यह ऋताग्निप्राण अन्नसोमरूप अशीति (अन्न) के आहरण के लिए इतस्ततः प्रचण्डवेग से दोलायमान था, जोकि अमृतसोम की आहुति से पूर्वावस्था में शुद्ध 'मृत्युरूप' ही प्रमाणित हो रहा था। अशनाया (अन्नेच्छारूपा बुभुक्षा-भूख) ही वह मृत्युभाव था, जिसने उस अमृतप्राण को भी संक्षोभरूप मृत्युभाव में परिणत कर रक्खा था। यही कालाश्वरूप-प्राणदपानल्लक्षण-ऋताग्निपुञ्जरूप सम्वत्सर की वह पूर्वावस्था थी, जो प्रतिक्षण सत्यपिण्डाभिमुखा बनती हुई भी अपनी इस पूर्वावस्था से व्यवस्थित-सीमाचक्र से अनभिव्यक्त ही थी। आगे चलकर इसी अशनायामूलक (मृत्युमूलक) अर्चञ्श्चरन्-लक्षण-प्राणाग्नि के प्राणदपानत्-व्यापार से अग्निप्राण आपोरूप में परिणत हो जाता है, जोकि आपः पारमेष्ठ्य भृगु का ही प्रथमावतार है। इस सौम्य आपः से उस प्राणाग्निने अपना मृत्युभाव (अशनाया)

शान्त किया, एवं इस आपोरूप अन्न से ही सन्तुष्ट हुए रुद्राग्निरूप कालाग्नि उसी प्रकार—जैसेकि हमारा शारीराग्निरूप रुद्र बुभुक्षावस्था में उग्र हो पड़ता है, एवं अन्नाहुति से वह शान्त हो जाता है। सन्तुष्टिरूप सुखसाधक होने से ही यह आपोरूप-सोमान्न उस अर्काग्नि का 'कम' बना। 'कम्' का प्रतीक यह अन्न ही-'स्वम' कहलाया—'तस्यैतदन्न स्वम्'। एवं इसी से वह अर्क (कालाग्नि) 'अर्क्यम' रूप में परिणत हो गया। यही अर्क्यावस्था 'सम्वत्सर' की उपक्रमभूमि बनी, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

नैवेह किञ्चनाग्रऽआसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत-आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते वै मे कमभूत्-इति तदेवार्क्यस्य अर्कत्वम्।

७६–सम्वत्सरमूला अग्निचयनविद्या से अनुप्राणित कालाश्वमूर्त्ति सौर ब्रह्माण्ड, एवं 'तद्यदपां शर आसीत्' मूला सृष्टिविद्या का संस्मरण—

सम्वत्सरमण्डल का पूर्वरूप वही सौर पानी बना, जिसे 'मरीचि' कहा गया है, एवं जिस से सौराग्नि की प्रचण्डता उपशान्त बनी हुई है। अभी व्यक्तरूप से सम्वत्सर का उदय नहीं हुआ है। अपितु इन मरीचय -आप' में सम्वत्सर की रूपरेखामात्र ही व्यक्त हुई है। इस आपोरूप सोम की आहुति से गर्मस्थ कालाग्नि चितिमात्र में परिणत होता गया। इस चिति से सञ्चित प्राणाग्नि ही उत्तरोत्तर घनता में आता हुआ कालान्तर में मूर्त्त–पिण्डरूप में परिणत होगया, यही 'पृथिवी' भाव कहलाया कालाग्नि का, जिसका अर्थ है—'पिण्डभाव'। परिमण्डलात्मक मार्गव आप ही प्राणाग्नि के संयोग से घन बनता हुआ सघात में आकर पिण्डरूप में परिणत हो गया, जो पिण्डभाव ही आगे चलकर प्राण के वितानात्मक सहस्र–धर्म्म से त्रेधा विभक्त बनता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य रूप से त्रिसंस्थ बन कर पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-रूपेण त्रैलोक्य-संस्थान में परिणत हो गया, और यहाँ आकर रूपरेखात्मक सम्वत्सर सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ, जिस इस स्थिति के यथावत्-समन्वय के लिए तो हमें सुप्रसिद्धा 'अग्नि–चयनविद्या' की ही शरण में जाना चाहिए। प्रकृत में तो तत्-अक्षरार्थ के लिए भी ग्रन्थकलेवर असमर्थ बन चुका है। वह शेषवचनमात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है एकमात्र इस कामना से कि, प्रकृतिसिद्ध विशुद्ध वैज्ञानिक तत्त्वों से समन्विता भारतीय-सृष्टिविद्या को पुनः राष्ट्र की प्रज्ञा स्मृतिपथ पर आरूढ कर, एवं उसके आचारपक्ष के माध्यम से-'तमारोहन्ति कवयो विपश्चित.' को चरितार्थ कर सकें।

तद्यत्-अपां-शर आसीत् (घनभावः)-तत्समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स मनसा वाचे मिथुनं समभवत्। स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः सम्वत्सर आस। तमेतावन्तं कालमबिभः-यावान्त्सं-वत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। ततोऽश्वः समभवत्। तन्मेध्यमभूत्। एष वा अश्वमेधः- य एष तपति।

—शत० १०।६।५ ब्राह्मण।

७७–आचारनिष्ठा के द्वारा कालाश्व की साम्वत्सरिक-त्रैलोक्य में परिणति, एवं 'आरोहन्ति' मूलक आचारपक्ष का समन्वय—

कालाश्व की आचारनिष्ठा, किंवा कर्त्तव्यनिष्ठा का परिणाम हुआ इस की सम्वत्सररूप में परिणति, एवं तद्द्वारा त्रैलोक्यमहिमाभाव में परिणति, सर्वत्र यशःख्यापन, सर्वत्र आधिपत्य, एवं मर्त्य-भौतिक विश्व का सर्ज्जन करते हुए, इस का सर्वात्मना भोग करते हुए भी भूतासक्ति से असंस्पृष्ट बने रहना। 'आरोहन्ति' क्रियापद इसी आचारफल की ओर सङ्केत कर रहा है, जिस सङ्केत के स्पष्टीकरण के लिए तो लोकभाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा। मन्त्र के प्रारम्भ के–'कालो अश्वो वहति' वाक्य पर ध्यान दीजिए। कालरूप अश्व वहन कर रहा है ?, प्रश्न का कोई समाधान प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा हमे उपलब्ध नहीं हो रहा। यह प्रश्न उस दशा में विशेषरूप से हमारे लिए समस्या बन जाता है, जबकि वही श्रुतिवचन अपने उत्तर वाक्य में–**'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः'** (कवि और विपश्चित्–विद्वान् उस पर चढ़ रहे हैं) का 'आरोहन्ति' क्रियापद आरोहक का भी निर्देश कर रहा है। **'आरोहन्ति तं कालाश्वं कवयो विपश्चितः'** वत्–'कालाश्वो वहति,–अमुक–पदार्थ-विवर्त्त-वस्तुजातं'-आदि रूप से कुछ भी तो समन्वय होना चाहिए था-'वहति' क्रियापद का भी। समन्वय कीजिए इस महती समस्या का। समस्या–समाधान के लिए एक श्रौत-वचन आप के सम्मुख रक्खा जाता है-

> **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
> **यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।**
>
> —मुण्डकोपनिषत् १।१।७।

७८–'उपादानकारणा' नुबन्धी–कार्य्यकारण के विविध महिमा–विवर्त्त, एवं ऊर्णनाभि–पृथिवी–मानवशरीर के भेद से त्रिविध उपादानभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन–

कारण–कार्य्य–का स्वरूप–सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है उक्त वचन से, जो सम्बन्ध मुख्यरूप–से १३ विवर्त्तों में विभक्त माना है छान्दोग्य ने। उन १३ हों कार्य्यकारणों में से एक सम्बन्ध है–उपादानसम्बन्ध'। जिस वस्तु की मात्राओं से जिस अन्य वस्तु का नवीनरूप में जन्म होता है, जन्मदाता वही कारण 'उपादान-कारण' कहलाया है, एवं तत्कारण से उत्पन्न कार्य्य ही औपादानिक–कार्य्य माना गया है। मकड़ी अपनी हीं भूतमात्राओं से तन्तुजालरूप कार्य्य उत्पन्न करती है, जो कार्य्य मकड़ी के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। पृथिवी की भूतमात्राओं से ही ओषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, एवं पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित रहतीं हैं। ओषधि–वनस्पति–भोक्ता मानव के ओषधि–वनस्पति-रूप भूतमात्राभागों से ही इसके केश–लोम (केश वनस्पतिमात्रा से, एवं लोम ओषधिमात्रा से) उत्पन्न होते हैं, जो उत्पन्न होकर मानवशरीर पर ही प्रतिष्ठित रहते है। इन तीनों कार्य्यकारणों में भी सुसूक्ष्म भेद है। तभी तो तीन उदाहरण दिए हैं श्रुति ने। तीनों में उपादानकारण ही कार्य्य की प्रतिष्ठा बना हुआ है, और एतावन्मात्र–भाव से तीनों उदाहरण समानधर्म्मा बने हुए हैं। उपादानकारणता में ही वैसा भी विवर्त्त है, जो कार्य्य को अपने प्रवर्ग्य भाग से उत्पन्न कर कार्य्य से तटस्थ बन जाता है, कार्य्य की सत्ता पृथक् हो जाती है। माता के प्रवर्ग्यभूत शोणित, तथा पिता के प्रवर्ग्यभूत शुक्ररूप उपादानकारण से उत्पन्न पुत्रादि कार्य्य अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व स्थापित करता हुआ स्वयं भी अन्य

कार्यों के प्रति कारण बन जाता है, जबकि मकड़ी से उत्पन्न जाल पुनः नवीन जाल नहीं बना सकता। पृथिवी से उत्पन्न ओषधि-वनस्पतियाँ नवीन ओषधि-वनस्पतियाँ, एवं पुरुषशरीर से उत्पन्न केश-लोम नवीन केश-लोम उत्पन्न नहीं कर सकते। यों औपादानिक-कार्य्यकारण-भावों में भी अनेक सूक्ष्म-अवान्तर भेद हो जाते हैं, जिनके समन्वय का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। यहाँ तो उस उपादानकारण-भाव को ही लक्ष्य बना लेना है, जिसमें उत्पन्न कार्य्य जिस पर ही प्रतिष्ठित रहता है, एवं उर्णानाभि-पृथिवी-मानवशरीर-तीनों उपादान कारणों में उत्पन्न तन्तुजाल-ओषधि-वनस्पति-केशलोम-रूप कार्य्य स्व-स्व-कारणों पर ही प्रतिष्ठित हैं। 'अक्षर' नामक अव्यक्त काल से 'क्षर' नामक व्यक्तकालात्मरूप सम्वत्सरकाल से प्रादुर्भूत मर्त्य विश्व के साथ ऐसा ही औपादानिक-कार्य्यकारणभाव समन्वित है, एवं-उक्त वचन ने इसी का स्पष्टीकरण-समर्थन किया है। अक्षराविभिन्न-क्षरात्मक सम्वत्सरकाल से उत्पन्न विश्व सम्वत्सरकाल पर ही प्रतिष्ठित है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

७९-कालाश्व से आविर्भूत कालिक-पदार्थों की कालाश्वरूपता का समन्वय, एवं काल से काल का वहन—

या काल में उत्पन्न विश्व का स्वयं काल ने ही उसी प्रकार वहन कर रक्खा है, जैसेकि मकड़ी से उत्पन्न जाल का मकड़ी ने, पृथिवी से उत्पन्न ओषधियों का पृथिवी ने, तथा पुरुषशरीर से उत्पन्न केशलोमों का पुरुषशरीर ने वहन कर रक्खा है अपने ही क्रोड में। प्रकृति का नाम ही 'क्षराक्षरकाल' है। अतएव यह कहा जासकता है कि, प्रकृति से उत्पन्ना कृति (कार्य्य) प्रकृति पर ही प्रतिष्ठित है। प्रकृति से उत्पन्न प्राकृत पदार्थ प्रकृति के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् प्राकृत पदार्थों का नियन्त्रण-नियमन-जीवनव्यवस्थापन-आदि आदि सभी कुछ प्रकृति से ही सञ्चालित है। प्रकृति से उत्पन्न प्राकृत पदार्थ अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखते। अतएव प्राकृत पदार्थ स्वतन्त्र व्यक्तित्वमूलक स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में असमर्थ हैं। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ षड्भावविकारानुगत बनते हुए अन्ततोगत्वा प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। काल से उत्पन्न कालिक पदार्थों का काल में ही विलयन हो जाता है। इसलिए विलयन हो जाता है कि, काल से उत्पन्न पदार्थ अपनी पदार्थदशा में भी 'काल' से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

८०-कालाश्व से अभिव्यक्त कालात्मक भावों की दिग्देशकालरूपता का समन्वय—

काल ही अभिव्यक्तिदशा में दिक् बना है, दिक् की अभिव्यक्ति ही देश है, एवं देशाभिव्यक्ति ही प्रदेश है। तदित्थं-काल ही बलग्रन्थितारतम्य से दिक्-देश-प्रदेश-रूप पदार्थरूप में परिणत हो रहा है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। सम्वत्सरकाल के चक्र से आवेष्टित सम्पूर्ण भूत-भौतिक-मर्त्य-चान्द्र-पार्थिव-पदार्थ (जो कि चतुर्दशविध-भूतसर्ग-कहलाए हैं) कदापि सम्वत्सरसीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। सम्वत्सर में ही उत्पन्न होते हैं, सम्वत्सर में ही जीवित रहते हैं, सम्वत्सर पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, और अन्ततोगत्वा सम्वत्सर में ही ये विलीन हो जाते हैं। नान्यः पन्था विद्यते। जबकि काल से उत्पन्न सभी भूत-भौतिक-पदार्थ काल की अभिव्यक्तियाँ मात्र बनते हुए कालात्मक ही हैं, जबकि काल ही इनकी प्रतिष्ठाभूमि है, तो काल के 'तन्त्र' से इन्हें कदापि बहिर्भूत नहीं माना जासकता। काल को छोड़ कर इनके किसी अन्य व्यक्तित्व को स्वीकृत नहीं किया जासकता। अधिक से अधिक यही कह दिया जासकता है इस कालिक प्रतिष्ठा

के लिए कि–'कालात्मा ने कालात्मक पदार्थों को स्वकाल–धरातल पर प्रतिष्ठित कर रक्खा है अपने तन्त्र की नियति मर्य्यादा, नियन्त्रण से।

८१–'कं वहति ?', प्रश्न का मूलोच्छेद, एवं-'कालो अश्वो वहति' का रहस्यपूर्ण समन्वय–

क्या ऐसा कहना काल के महान् स्वरूप के अनुरूप होगा ?, नहीं। इसलिए नहीं कि, कहाँ वह महतोमहीयान् काल, और कहाँ ये खण्ड–खण्ड–मात्रापन्न कालिक पदार्थ। प्रतिष्ठा–आधारभूमि अवश्य ही इनकी काल ही है। किन्तु काल के लिए इनका भार सर्वथा निर्भार ही बन रहा है–'नेमवग्लापयन्ति'। धरातल ने एक पिपीलिका का वहन कर रक्खा है, तो क्या इस पिपीलिका (चिऊँटी) को इसके नामोच्चारण का गौरव दिया जायगा ?, नहीं। गौरव उसे दिया जाता है, प्रतिष्ठित उस पदार्थ का नामग्रहण किया जाता है, जिसे अपने ऊपर उठाने वाला भार से म्लान हो जाता है। अतएव लोक में भी वस्त्र-उष्णीष-घटिका-आदि पदार्थों का नामोल्लेख नहीं होता, जबकि वहन करता है इन परिग्रहों का मानवशरीर ही। किन्तु यही जब अपनी शक्ति से समतुलित, किंवा अधिक-पाषाणादि भार का वहन-करने लगता है, तो इस सभारता में पाषाणादि के नाम भी व्यवहृत होने लगते हैं, जिसक लिए–'पत्थर ढोहता हूँ–बोझ उठा रहा हूँ' इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध हैं। स्वशक्तिसमतुलन में सर्वथा निर्भार बने हुए परिग्रहों का कदापि नामोल्लेख नहीं होता। इसके लिए तो 'वहति' मात्र का सम्मान ही पर्य्याप्त है। एवं इसी दृष्टि से कालिक पदार्थों का नामोल्लेख नहीं हुआ 'वहति' के साथ। 'काल ने काल को उठा रक्खा है' कहना कुछ अर्थ नहीं रखता। 'काल ने स्वसमतुलन में पिपीलिका समतुलित चन्द्र–पार्थिवादि भौतिक पदार्थों को उठा रक्खा है', यह कथन काल की गरिमा-महिमा के अनुरूप नहीं बनता। अतएव श्रुति ने कालप्रकृति से उत्पन्न, कालसीमा में भुक्त, काल से ही नियन्त्रित कालात्मक पदार्थों का नाम न लेकर केवल–'कालो अश्वो वहति' कह देना ही पर्य्याप्त मान लिया है। दिग्–देश–प्रदेशात्मक–मर्त्य–पदार्थों का वहन भी क्या काल के लिए कोई वहन है ?, काल की इसी अनन्तविभूतिशालिता को अभिव्यक्त करने के लिए ही ऋषि ने 'कं वहति ?,' प्रश्न का मूलोच्छेद ही कर डाला है निरुपाधिक 'वहति' क्रियापद से।

८२–कालपेक्षया गरिमा-महिमामय गुरुतम–भारात्मक तत्त्व का काल पर आरोहण—

क्या ऐसा भी कोई तत्त्व है, जिसका भार काल के लिए भी गौरवास्पद बन रहा हो ?, यह एक नवीन प्रश्न स्वतः ही आविर्भूत हो जाता है निरुपाधिक–'वहति' पद से। व्यक्तकालात्मक सम्वत्सरकाल अवश्य ही स्वसीमागर्भित दिग्देशप्रदेशात्मक मर्त्य–साम्वत्सरिक–पदार्थों के लिए अनन्त है, महतोमहीयान् है। किन्तु अपने मूलभूत स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–महाकालात्मक–अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्तकाल का तो यह भी एकांशमात्र (यत्किञ्चित्) अंश ही है। क्या उस मूलभूत अनन्ताव्यक्तकाल को इस व्यक्तकाल के समतुलन में सम्मान दिया जायगा ?। नहीं। इसलिए नहीं कि, वह काल और यह काल तो एक ही प्रजापति के 'अक्षर–क्षरात्मक' विवर्त्त बनते हुए 'प्रकृति' से अधिक कुछ भी नहीं है। जो स्थान भौतिक–मर्त्य–प्राकृत–पदार्थों का तत्प्रकृतिभूत सम्वत्सरव्यक्तकाल के समतुलन में था, वही स्थान इस व्यक्तकाल का तत्प्रकृतिभूत अव्यक्त–अनन्त–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्यकाल के समतुलन में माना जायगा। अतएव च अन्ततोगत्वा उक्त प्रश्न के समाधान के लिए तो किसी वैसे ही तत्त्व का अन्वेषण करना पड़ेगा, जो अपने कालात्मक–प्रकृतिभाव

(निरर्थरूप महिमाभाव) से कालात्मक भी बन रहा हो, एवं स्वस्वरूप से कालातीत बनता हुआ काल पर आरूढ भी हो। अवश्य ही कालातीत, प्रकृत्यतीत वह तत्त्व इस अनन्तकाल से भी कहीं अनन्तानन्त ही होगा, जो कालवत् कभी दिग्देशभावानुबन्धी न बनता हुआ दिक्-देश काल-तीनों से ही अनवच्छिन्न ही होगा। अवश्य ही कालातीत उस अनवच्छिन्न निरवानन्त-निरपेक्षानन्त अचिन्त्य-तत्त्व के भार को ही कालभार के समतुलन में कहीं-अधिकतम महतोमहीयान्-गरिमा-महिमामय माना जायगा। और कहा जा सकेगा उसे ही आधार बना कर यह कि-'यह काल पर आरूढ है'।

८३-'अश्वो मानवं वहति', एवं 'अश्वमारोहति मानवः' इन दोनों विभिन्न वाक्यों का तात्पर्यार्थ-समन्वय—

जो अर्थ 'वहति' का है, वही अर्थ-'आरोहति' का है। उदाहरण से स्थिति का समन्वय कीजिए। घोडे ने आदमी को अपने ऊपर पर चढा रक्खा है, एवं घोडे पर आदमी चढा हुआ है, दोनों वाक्यों का फलितार्थ समान है। दोनों ही स्थानों में घोडा वाहन बना हुआ है आदमी का। किन्तु दोनों स्थितियों में पारतन्त्र्य-स्वातन्त्र्य-मूलक महान अन्तर है। 'घोडे ने चढा रक्खा है' (अश्वो वहति)' वाक्य में घोडा स्वतन्त्र है, मनुष्य परतन्त्र है। एवं-'मानव घोडे पर चढा हुआ है (अश्वमारोहति) वाक्य में मानव स्वतन्त्र है, घोडा परतन्त्र है। वहनकर्म्म उभयत्र समान है। किन्तु पूर्ववहन में अश्वस्वातन्त्र्य-मूला वहनक्रिया है-'वहति', एवं उत्तरवहन में मानवस्वातन्त्र्यमूला आरोहण क्रिया है 'आरोहति'। इसी उदाहरण-माध्यम से अब हमें वहति, और आरोहति, का समन्वय देखना है।

८४-"अव्ययात्मा आरोहति काल, मर्त्यपदार्थाश्च-वहति कालः"-वाक्यों का समन्वय—

सम्वत्सरकालचक्रसीमा में आबद्ध-सीमित-प्राकृत-मर्त्य-पदार्थ काल पर प्रतिष्ठित हैं, किन्तु यहाँ काल स्वतन्त्र है, पदार्थ परतन्त्र हैं। अतएव पदार्थ स्वतन्त्र-सत्ता से असंस्पृष्ट हैं। एवमेव सम्वत्सरकालचक्र मे भुक्त रहता हुआ अनन्त-अचिन्त्य-क्षराक्षरातीत-अतएव कालातीत अव्ययात्मब्रह्म नामक अश्वत्थपुरुष भी काल पर ही प्रतिष्ठित (आरूढ) है। किन्तु यहाँ यह पुरुष स्वतन्त्र है, एवं तदपेक्षया तदेकांशरूप काल परतन्त्र है। अतएव 'अव्ययात्मा-आरोहति कालम्', एवं 'मर्त्यपदार्थान्-वहति कालः' यही समन्वय अनुरूप माना जायगा।

८५-ईश्वरीय नित्य विश्वविवर्त्त के कवि, और विपश्चित का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्राकृत-मर्त्य-पदार्थों का वहनभाव यथाकथञ्चित् समझ में आरहा है। किन्तु उस अप्राकृत-कालातीत, अतएव मर्त्य विश्व से अतीत सूक्ष्मतम अचिन्त्य पुरुषाव्यय के तथाकथित कालारोहणकर्म्म को मानवप्रज्ञा कैसे समझे समझावे ?, इस प्रश्न का उत्तर वही अनन्ताव्यक्तकाल होगा। कालप्रतीकानन्त्य से ही वह निरपेक्षानन्त-पुरुष अन्तर्जगत् में अभिव्यक्त हुआ करता है पूर्णस्वरूप से। क्या अर्थ है कालप्रतीकता का ?, प्रश्न का समाधान है-'कवय', और 'विपश्चित'। पारमेष्ठ्य भार्गवतत्त्व 'कवय' है, पारमेष्ठ्य आङ्गिरस (वह तत्त्व-जो सोमरूप में परिणत हो रहा है) 'विपश्चितः' है। भृग्वङ्गिरोमय कवि-और विपश्चित्-पारमेष्ठ्य-सौरसमन्वयात्मक तत्त्व का नाम ही है-'महद्ब्रह्म', जिसका-'कविर्म्मनीषी परिभूः-स्वयम्भूः' इत्यादि ईशोपनिष-

च्छ, ति से स्पष्टीकरण हुआ है । यही महदक्षर-क्षरानुगत वह ब्रह्म है, जिसे हमने 'काल' कहा है । यही प्रतीक बना हुआ है उस अनन्त का । किस अनन्तपुरुष का ? । उस अनन्तपुरुष का–जो इस महदक्षररूपा कालात्मिका प्रकृति से समन्वित होता हुआ नानाभाव में परिणत होरहा है । जो इस पुरुष का विश्वनिरुपाधिक–सर्वनिरपेक्ष–विशुद्ध विश्वातीत–स्वरूप है । निरपेक्ष एकत्वनिबन्धन वह विश्वातीत–एकभावापन्न अनन्त तो कालप्रतीक के लिए भी दुरधिगम्य, किंवा अगम्य ही बना हुआ है * । कालप्रतीक के द्वारा गम्य बनता है उस अगम्य का वह गम्य विवर्त्त ही, जो नानाभावनिबन्धिनी–महदक्षररूपा–कालप्रकृति के गर्भ में आकर प्रकृतिनानात्व से नानाभावापन्न बन जाता है । महदक्षरब्रह्म में गर्भीभूत, नानाभावापन्न ÷ चिदंश ही (उस एक का एकांश ही) कालप्रतीक के माध्यम से गम्य बनता है । इस नानात्वको सूचित करने के लिए ही ऋषि ने 'कविः-विपश्चित्'–न कहकर 'कवयः-विपश्चितः' यह बहुवचनान्त प्रयोग किया है, जिसके समन्वय के लिए अभी थोड़ा ओर भी अवधानपूर्वक ज्ञातव्य–मन्तव्य है ।

८६–स्वतन्त्र पुरुषार्थ से वञ्चित प्राकृत विश्व के जड़-चेतन-पदार्थ, एवं इनका कालाश्वके द्वारा वहन—

भृगवङ्गिरोरूप अव्यक्ताक्षरकाल से समन्वित भृग्वङ्गिरोमय व्यक्त क्षरकाल से अनुप्राणित लोक भूतलोक, जीवलोक × भाव से दो भावों में विभक्त है । सुप्रसिद्ध चतुर्दशविध भूतसर्ग ही भूतलोक है, जिसके स्थावर–जङ्गम–(अचर–चर)–नामक दो प्रमुख वर्ग माने गए हैं, जो लोकभाषा में 'जड़-चेतन' नाम से प्रसिद्ध हैं । क्षरगर्भित अक्षर चेतनभूत की आधारभूमि है, एवं अक्षरगर्भित क्षर जड़भूत की आधारभूमि है । क्षराक्षर–दोनो हीं प्रकृतिभावमात्र है । अतएव तद्रूप जड़–चेतनोभयविध चतुर्दशधा विभक्त सर्ग को प्राकृतसर्ग ही कहा जायगा, जिसका कालात्मक सम्वत्सर ने वहन कर रक्खा है, एवं जिसके लिए 'वहति' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है । **नात्र भूतलोकात्मके भूतसर्गे पुरुषात्मनः स्वस्वरूपेण-अभिव्यक्तिः** । पाषाण-लोष्टादि जड़सर्ग, एवं कृमि-कीटादि चेतनसर्ग, ये यच्चयावत्सर्ग-प्राकृतसर्ग हैं, जिनमें कालप्रतीक के द्वारा अनुमेय अनन्ताव्ययात्मा स्वस्वरूपतः अभिव्यक्त नहीं है । अतएव प्राकृतसर्गानुबन्धी जड़–चेतन–सर्ग स्वतन्त्र पुरुषार्थ में नितान्त असमर्थ ही बने रहते हैं ।

---

* सं विदन्ति न यं वेदाः (कालपुरुषः), विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—श्रुति

÷ अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।
—वेदान्तसूत्र २।२।१७।४३।

× ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता) ।

८७–स्वतन्त्रपुरुषार्थी मानव, एवं तद्द्वारा कालाश्व पर आरोहण—

अब दूसरे 'जीवलोक' विवर्त्त को लक्ष्य बनाइए। सम्वत्सरचक्रसीमा में प्रतिष्ठित 'मानवसर्ग' का नाम ही 'जीवलोक' है, जिसमें अव्ययात्मा अपने पूर्णस्वरूप से अभिव्यक्त है अंशरूपेण। प्रकृतिभेद-निबन्धन नानात्व ही मानवनानात्व का मूलाधार है। तदनुबन्धेनैव वह पुरुषात्मा अंशरूपेण नानारूपेण (नाना-मानवप्रकृतिरूपेण) अभिव्यक्त हो रहा है मानवसर्ग में। प्रत्येक मानव स्व स्व प्रकृत्यनुबन्धी-(महदक्षर-अनुबन्धी) चितपुरुषाभिव्यक्तित्त्व से परिपूर्ण है। अपने नानाभावनिबन्धन मन-शरीर-बुद्धिरूप प्राकृत-भावों से जहाँ मानव मर्त्यलोक का ही एक चेतनप्राणी बनता हुआ सम्वत्सरकाल से नियन्त्रित है, वहाँ अपने अव्ययात्मरूप से वही मानव अप्राकृत-(प्रकृत्यतीत-अतएव कालातीत-अतएव परिपूर्ण) बना रहता हुआ सम्वत्सरकालचक्र पर आरूढ है। प्रकृत्या मानव सम्वत्सरचक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि परतन्त्र है अन्यान्य मर्त्य-प्राकृत-भूतभौतिक-पदार्थों की भांति, तो पौरुषेण (अव्ययात्मना) वही मानव सम्वत्सर-चक्र का * द्रष्टामात्र बनता हुआ अप्राकृत-स्वतन्त्र-पुरुष (अव्ययात्मनिष्ठ) है। ऐसा अव्ययात्मनिष्ठ-स्वस्वरूपबोधनिष्ठ-आत्मबुद्धिनिष्ठ-अप्राकृत मानव ही काल पर आरूढ रहा करता है, जबकि स्वरूपात्मबोध-विमुख वही मानव प्राकृत मर्त्यभूतमय एक सामान्य 'प्राकृत-जीव' मात्र प्रमाणित होता हुआ काल के द्वारा सञ्चालित-नियन्त्रित ही प्रमाणित हो जाता है।

८८–'कवयो विपश्चित-तमारोहन्ति' का तात्त्विक-समन्वय—

मानव के आत्मस्वरूपबोध का माध्यम बनता है वह पारमेष्ठ्य महदक्षरब्रह्म, जो अध्यात्मसंस्था में-'बुद्धेरात्मा महान् परः' (कठ) के अनुसार बुद्धि से पर अवस्थित है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है, यही अव्ययचित् की गर्भभूमि है-'तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' (गीता)। बुद्धिरूप सौर सम्वत्सर से ऊर्ध्वस्थित अक्षरकालात्मक पारमेष्ठ्य महान् (भृग्वङ्गिरोरूप महान्) ही आत्मबोधनिष्ठा का माध्यम बनता है, जिस इत्थम्भूत महान् के बोध से ही मानव कवि, और विपश्चित् बनता है। महदक्षरान्वित भार्गव-कवित्व, एवं महदक्षरान्वित आङ्गिरस-सौरभावानुगत-विपश्चिद्भाव ही मानव के प्राकृतभाव को प्राकृतिक-सम्वत्सरकाल-चक्र से ऊपर उठाता हुआ इसे सम्वत्सर पर आरूढ कर देता है। और यही-'कवयो विपश्चित-तमारोहन्ति' वाक्य से सम्बन्ध रखने वाली आरोहणक्रिया का रहस्यात्मक समन्वय है, जिसमें मानव अपने आत्म-स्वरूप से पूर्णरूपेण अभिव्यक्त रहता हुआ भी लोकसंग्रहात्मक सम्वत्सरकालानुबन्धी महान्-प्राकृत-उत्तरदायित्व को भी सर्वथा निर्माणरूप से व्यवस्थित बनाए रखता है, और यही मानव का वह महान् आचार है, जो महानात्ममूलक अक्षरब्रह्म की मध्यस्थता से ही गतार्थ बना करता है, जिस गतार्थता का निम्नलिखित कति-पय शास्त्रसूत्रों के माध्यम से भी समन्वय किया जा सकता है।

---

* यस्मादर्वाक्सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥
—शतपथब्रा० १४।७।२।२०।

८९–'कालो वहति', एवं 'तमारोहन्ति' मूलक कतिपय लोकसूत्र—

(१) १–सम्वत्सरात्मक कालाश्व कालिक-प्राकृतिक पदार्थों का वहन करता है।
२–अप्राकृत-बुद्धिनिष्ठ-पुरुषमानव कालाश्व पर आरोहण करते हैं।

---

(२) १–स्वविकारभूत प्राकृत पदार्थों का प्रकृति (काल) वहन कर रही है।
२–विकारानुगत प्राकृत पदार्थों की अध्यक्षा प्रकृति (काल) पर पुरुष आरोहण कर रहा है।

---

(३) १–प्राकृत पदार्थ कालाधीन है।
२–अप्राकृत मानव के काल आधीन है।

---

(४) १–प्राकृत पदार्थों का काल ही सञ्चालन-नियन्त्रण कर रहा है।
२–पुरुष मानव के द्वारा ही-काल का सञ्चालन-नियन्त्रण होरहा है।

---

(५) १–मानवेतर समस्त प्राकृतिक पदार्थ कालप्रकृति से नियन्त्रित रहते हुए परतन्त्र हैं।
२–अप्राकृत पुरुषमानव काल का नियन्ता बनता हुआ स्वतन्त्र है।

---

(६) १–काल के द्वारा सञ्चालित पदार्थ कालावच्छिन्न है।
२–कालसञ्चालक मानव कालातीत है।

---

(७) १–समय हमारी प्रकृति का निर्म्माता है।
२–आत्मनिष्ठा हमारी प्रकृति का निर्म्माण करती है।

---

(८) १–समय हमारा निर्म्माता है।
२–हम समय के निर्म्माता हैं।

---

(९) १–सब काम समय पर ही होते हैं।
२–सब कामों के लिए सदा ही समय है।

---

(१०) १–हम समयानुसार चल रहे हैं।
२–समय हमारे अनुसार चल रहा है।

---

(११) १–राष्ट्र को समयानुसार चलना चाहिए।
२–राष्ट्रस्वरूप के अनुरूप समय को चलाना चाहिए।

---

(१२) १–काल सत्ताधीश का कारण है।
२–सत्ताधीश काल का कारण है।

---

(१३) १–मानव युगधर्म्म के आधीन है।
२–युगधर्म्म मानव के आधीन है।

(१४) १–युगधर्म्म मानव का निर्म्माता है।
२–मानव युगधर्म्म का निर्म्माता है।

६०–अथर्ववेदीय–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि प्रथम-मन्त्रार्थ का उपराम—

सम्वत्सरकालारोहणमूलक, 'आरोहन्ति' क्रियापद से सङ्केतिता आचारनिष्ठा–कर्त्तव्यनिष्ठा का महिमामय स्वरूप क्या है?, प्रश्न का उत्तर तो आचारप्रतिपादक ब्राह्मणवेद से, तदुपबृंहक–स्मृति–पुराणादि–शास्त्रों से ही ज्ञातव्य है–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गीता), जिसका निबन्ध के पूर्व खण्ड में–'मानवकर्त्तव्यमीमांसा' नामक स्वतन्त्र स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रतिज्ञात अथर्वसूक्त के प्रस्तुत प्रथममन्त्रार्थ के समन्वय में जो कुछ निवेदन किया गया है, वह केवल स्वान्त सुखायैव है। लक्ष्यसिद्धि तो शास्त्रादेशानुगत आचारात्मक धर्म्म–कर्म्म के अनुगमन से ही सम्भव है, जिस अनुगति को वर्त्तमान भारतराष्ट्र अपनी काल्पनिक–धर्म्मनिरपेक्षता के व्यामोहन से विस्मृत करता हुआ राष्ट्र की 'स्वतन्त्रता' को 'स्व' तन्त्रता से उत्तरोत्तर अभिभूत ही करता जारहा है, इति नु महद् विस्मयपदम्। कालचक्र के इस उपक्रम मन्त्र से, एवं तत्प्रवर्त्तक–द्रष्टा–मन्त्रमहर्षि से यही कामना है कि, वे कालात्मक–युगधर्म्मों के कालिक-तात्कालिक–महान् व्यामोहनों में आसक्त भारतराष्ट्र को शीघ्र से शीघ्र उन्मुक्त करने का अनुग्रह करें। इसी मङ्गलकामना का सम्मरण करते हुए अब क्रमप्राप्त दूसरे * मन्त्र की ओर नैष्ठिक पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

इति–प्रथममन्त्रार्थसङ्गतिः

१

---

* प्रतिज्ञाता अथर्वसूक्तद्वयी में १५ (पन्द्रह) मन्त्र हैं, जिनका आदिभूत प्रथम मन्त्र–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि है। पृष्ठ सं० ११० से आरम्भ कर पृ० सं० १६२ पर्य्यन्त के ५३ (त्रेपन) पृष्ठों में केवल इस प्रथम मन्त्र के अक्षरार्थसमन्वय की ही चेष्टा हुई है। अभी १४ (चौदह) मन्त्र और शेष हैं। प्रक्रान्त क्रम के आधार पर ही यदि चेष्टा की जाय, तो इन शेष मन्त्रों के अक्षरार्थसमन्वय में ही दो स्वतन्त्र खण्ड लिपिबद्ध हो सकते हैं। सङ्कल्प है चार खण्डों में ही इस सामयिक निबन्ध को विश्रान्त कर देने का, जिनमें से यह क्रमप्राप्त चतुर्थखण्ड है, जिसके चार स्तम्भों में से अभी–'दिग्देश–कालस्वरूप-मीमांसा' नामक प्रथम (पूर्वखण्डानुगत स्तम्भक्रमप्राप्त ग्यारहवाँ) स्तम्भ ही चल रहा है। अभी प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड में ही तीन स्तम्भ और समाविष्ट होने वाले हैं। अतएव सूक्तानुगता व्याख्या का यह पारिभाषिक-समन्वयार्थ यहीं उपरत कर दिया जाता है। १५ मन्त्रों में प्रथम मन्त्र मूलमन्त्र है, जिसमें ऋषि ने अपने रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से कालपुरुष के सम्पूर्ण इतिवृत्त की ओर सङ्केत करा दिया है। शेष

२–द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

८१–'सप्त चक्रान् वहति काल एषः' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वय—

२–सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स इयते प्रथमो नु देवः ॥

प्रथममन्त्रोपवर्णित कालाश्वरूप क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–सम्वत्सर–लक्षण यह काल सात चक्रों का वहन कर रहा है। इस कालचक्र के सात ही नाभिस्थान हैं। इस कालचक्र का अक्ष अमृत [मृत्युधर्म्म से असंस्पृष्ट] है। इत्थंभूत काल ने सम्पूर्ण भुवनों को गतिभावात्मक बना रक्खा है, गतिरूप से सम्पूर्ण–भुवनों को स्वकालसीमा में समन्वित कर रक्खा है, सब में व्याप्त हो रहा है सप्त चक्रमाध्यम से। यही वह प्रथम 'काल' नामक पहिला देव है [इस व्यक्त विश्व में], जो अपने गतिधर्म्म से सब का आधार बना हुआ है। सब में गतिरूप से व्याप्त हो रहा है सब का संवरण करते हुए।

८२–कालाश्व के द्वारा धृत सम्वत्सरमण्डलवर्त्ती सात चक्रों का स्वरूप–परिचय—

'कालो अश्वः–कं वहति' ?, प्रश्न का उत्तर है–'सप्तचक्रान् वहति काल एषः'। काल ने सात चक्रों को अपने ऊपर उठा रक्खा है। एवं इन सात चक्रों के माध्यम से अपने स्वरूप के साथ साथ अपने से उत्पन्न सम्पूर्ण साम्वत्सरिक भूत–भौतिक पदार्थों को भी उठा रक्खा है। सप्तचक्रात्मकता ही सम्वत्सरकाल

चौदहों मन्त्र तो इस–'कालो अश्वो वहति' मन्त्र के तूलरूप ही बने हुए हैं। प्रथम मन्त्र के पारिभाषिक समन्वय के अनन्तर शेष चौदहों मन्त्रों का अक्षरार्थ-समन्वय स्वतः ही गतार्थ बन जाता है, जबकि मन्त्रार्थानुगता यह गतार्थता अस्मच्छ्रदश प्राकृतिक–मानवों के भावुकतापूर्ण उद्गारों से ही अनुप्राणिता मानी जायगी। मन्त्रात्मक वेदशास्त्र के अर्थसमन्वय में कदापि प्राकृत–मानव समर्थ नहीं बन सकता। एवं सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव इसी दृष्टि से महाभाग कौत्स ने-'अनर्थका हि मन्त्राः' (मन्त्रों का कोई अर्थ नही होता, नहीं हो-सकता मानव की लोकप्रज्ञा के द्वारा, किंवा बुद्धिवाद के द्वारा) ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं। **'मनसा पृच्छतेदु–मनसा वि ब्रवीमी वः'** इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति भी मन्त्ररहस्य का मानव के मननात्मक अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध मान रही है। अतएव **'मननान् मन्त्र'** भी मन्त्र शब्द का एक निर्वचन हुआ है। अहरहः मन्त्रवेद का पारायण, तन्माध्यम से स्वाध्यायनिष्ठापूर्वक अपने अन्तर्जगत् में मनन–निधिध्यासन ही वेदार्थ-समन्वय का अन्यतम राजमार्ग है, जिस इस आनन्त्य को कदापि लिपि के द्वारा, किंवा वैखरी–वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जासकता। अतएव मन्त्रभाग के सम्बन्ध में हमारी तो यह न केवल मान्यता ही है, अपितु दृढ आस्था है कि, मन्त्रों की भाष्य, टीका, व्याख्या–वैखरी–वाणी–लिपि से सम्भव ही नहीं है। इस ऋषिदृष्टि (मन्त्र) की व्याख्या तो ऋषि ही कर सकते हैं, जो ऋषिव्याख्या ब्राह्मणवेद (ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्) नाम से प्रसिद्ध है, जिस व्याख्या के द्वारा ही द्विजातिमानव की कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा सुरक्षित है। कालप्रसङ्गाकर्षणमात्र से कालप्रेरणया ही प्रसङ्गवश ही कालसूक्तात्मक अथर्वमन्त्र हमारे दृष्टिमात्र के उपास्य बन गए, एवं इस दृष्टिव्यामोहन से ही इनके अर्थसमन्वय की धृष्टता जागरूक हो पड़ी, जो शेष चौदह मन्त्रों के संस्मरण के साथ दो शब्दों में विश्रान्त करली जाती है।

को सर्वरहनशक्ति प्रदान कर रही है। क्रान्तिवृत्तात्मक एक चक्र ही वह सम्वत्सरकाल है, जिस पर भूपिण्ड स्वात्परिभ्रमण करता हुआ परिभ्रममाण है। इस क्रान्तिचक्र का परिसर चतुर्विंशत्यंशों [२८ अंशों] के व्यासार्द्ध से निष्पन्न होता हुआ दक्षिणोत्तरपार्श्वों से ४८ अ शात्मक बन रहा है, जिसमें सात पूर्वापरवृत्त क्रमश १२-८-४-४-८-१२-इस अनुपात से षड्भावों में परिणत हो रहे हैं, जिनका षडरे' [ऋक् स० १।१६४।१२] में संग्रह हुआ है। मध्यस्थ वृत्त ही सातवाँ पूर्वापरवृत्त है। यों सात पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं एक ही सम्वत्सरचक्र में, जो स्थितिक्रमानुसार क्रमानुपात से केन्द्रस्थ मध्यवृत्त से दक्षिण, तथा उत्तर में समान-अन्तरानुगामी बने रहते हुए भी दृष्टिक्रमानुसार दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमश उत्तरोत्तर बड़े प्रमाणित हैं, तो उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमश उत्तरोत्तर छोटे प्रमाणित हैं। इन आपेक्षिक छोटे बड़े सात अहोरात्रवृत्तों से ही सातों के मध्य के बृहद्वृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित [क्रान्तिवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित] सूर्य्य के साथ महान परिसररूप एकचक्रात्मक क्रान्तिवृत्त पर [सूर्य्य के चारों ओर] परिभ्रमण करने वाले भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति से अनुप्राणित अहोरात्र [दिनरात] छोटे-बड़े होते रहते हैं। अहोरात्रों के व्यवस्थापक, एवं इनके छोटे-बड़े-परिमाणों के व्यवस्थापक क्योंकि ये सात पूर्वापरवृत्त ही बनते हैं। अतएव इन्हें-**'अहोरात्रवृत्त'** नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। ये ही सप्तवृत्त सात चक्र हैं, जो छन्द परिभाषा में गायत्र्यादि **'सप्त-छन्द'** कहलाए हैं-**'सप्त वै देवच्छन्दांसि'**। क्रान्तिवृत्तात्मक महा छन्द के ही ये सातों वृत्त महिमात्मक विवर्त्त हैं। क्रान्तिवृत्तात्मक परिमाणात्मक-सीमात्मक-महाछन्द ही वह एक अश्व है, जिसका नमन-[गतिप्राणानुबन्धी अवान्तर विस्तार] सात विवर्त्तों में हुआ है। इस नमनभाव से ही सप्तछन्दोवृत्त उस एक ही क्रान्तिछन्द के **'सप्तनाम'** कहलाए हैं-**'एको अश्वो वहति सप्तनामा'**।

'क्रान्ति' शब्द का सहज अर्थ है **'विदूरभावानुगत सङ्क्रमण'**। भूपिण्ड महान् वृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रमण करता हुआ आनुपातिकी विदूरता से सौरप्राण से सङ्क्रमण-सगमन-करता रहता है। अतएव परिभ्रमणवृत्त 'क्रान्तिवृत्त' कहलाने लग पड़ा है। सूर्य्य और भूपिण्ड की विदूरता [दूरी], एवं उस विदूरतापूर्वक सौर पार्थिव-प्राणों का परस्पर सङ्क्रमण ही क्रान्तिवृत्त के 'क्रान्ति' शब्द का पारिभाषिक समन्वय है। गायत्रीछन्द नाम से प्रसिद्ध कर्कवृत्तात्मक दक्षिणस्थ अन्तिम बिन्दु पर जब भूपिण्ड पहुँच जाता है, तो यह सूर्य्य से अत्यन्त ही विदूर हो जाता है। एवमेव जगतीछन्द नाम से प्रसिद्ध मकरवृत्तात्मक उत्तरस्थ अन्तिम बिन्दु पर आगत भूपिण्ड भी अत्यन्त विदूर हो जाता है सूर्य्य से। अतएव इन दोनों दक्षिणोत्तर-क्रान्तियों [दूरियों] को-**'परमक्रान्ति'** [आत्यन्तिक विदूरता, अन्तिम दूरी] कह दिया जाता है। परिभ्रममाण भूपिण्ड जब विश्वद्वृत्त नामक मध्यके बृहतीछन्दोवृत्त की कक्षा पर आजाता है [जिस बृहतीछन्द के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है], तो विदूरता समाप्त हो जाती है। भूपिण्ड सौर धरातल के अत्यन्त ही सन्निकट आजाता है। क्रान्ति [दूरी] का पतन [अवसान] हो जाता है। अतएव यह काल 'क्रान्तिपात' कहलाया है, जो वार्षिक गति में दक्षिणोत्तर-परिभ्रमण के भेद से दोबार आता है, जो कि **'शरत्सम्पात'**, एवं **'वसन्तसम्पात'** नाम से प्रसिद्ध है, जिन इन दोनों अहोरात्रों का कालपरिमाण समतुलित माना गया है [दिनरात बराबर होते हैं इन दोनों विषुवसम्पात-बिन्दुओं पर]। समष्ट्यात्मक सम्वत्सरकाल के इन क्रान्ति, **परमक्रान्ति**, **क्रान्तिपात**-आदि भावों के प्रवर्त्तक सप्त पूर्वापरवृत्तात्मक ये सप्त चक्र ही बने हुए हैं।

९३–सम्वत्सरमूला सप्तावयवा अग्निचिति से अनुप्राणित कालाश्व के चक्रों का स्वरूप-समन्वय

उक्त सातों व्यष्ट्यात्मक अहोरात्रवृत्त अपने अपने स्वरूप से स्वतन्त्र वृत्त हैं। अतएव प्रत्येक की अपनी अपनी स्वतन्त्र नाभि (केन्द्र) है। यों सात चक्रवृत्तों–पूर्वापरवृत्तात्मक अहोरात्रवृत्तों के सात ही केन्द्र हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है?, कैसे होता है?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तो सौरमण्डलप्रतिष्ठात्मक-तत्त्वात्मक वह पौरुषेय गायत्रीमात्रिकवेद ही है, जो अपने मूलाधारभूत स्वायम्भुव–ऋषिप्राणात्मक ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय तत्त्ववेद से अभिन्न बनता हुआ सप्तभावापन्न ही बना रहता है। सप्तर्षिप्राणात्मक स्वायम्भुव यजुःप्राण ही नभ्यप्राण है, जो 'मध्यत ऐन्ध' निवचन से 'इन्द्र' कहलाया है। यही आगे चलकर सप्तचिति-रूप से सप्त विवर्त्तों में परिणत हो जाता है। यों आरम्भ में एक ही यजुःप्राण का सप्तधा वितान, आगे चल कर प्रत्येक में सप्त–सप्त–चिति का आधान। यही प्रत्येक की पुरुषता–पुररूपता–ग्रामरूपता–समूहरूपता–संघातरूपता। अतएव सप्त–सप्त–प्राणचितिरूप सात प्राण (निहिताः सप्त सप्त) सात 'पुरुष' कहलाए हैं, जिन इन सप्तपुरुषात्मक पुरुषोंकी समष्टि से ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक उस प्रजापति का स्वरूप आविर्भूत है, जो सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है–'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।५।)। सप्तावयवा इस *प्रजापतिपुरुषप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हृत्–यजुःप्राण* के तप से ही 'जू' रूप वाग्भाग से परमेष्ठी का, परमेष्ठी-गर्भित– इसी सप्तपुरुषप्रजापति (ऋषिप्राणसप्तकमूर्त्ति) से सौर विवर्त्त का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि पूर्व-परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूर्यकेन्द्रस्थ गायत्रीमात्रिक सावित्राग्निलक्षण यजुःप्राण उसी स्वायम्भुव ब्रह्मःनिश्वसित ब्रह्माग्निलक्षण यजुःप्राण का महिमारूप है। अतएव तद्वत् यह भी प्राण सप्त–पुरुषपुरुषात्मक ही बन रहा है। यही सम्वत्सरमूला सप्ताग्निचिति का मूलाधार बन रहा है। इसी के सप्तभाव से क्रान्तिवृत्तात्मक एक ही सम्वत्सरचक्र में सात अवान्तर पूर्वापरवृत्त आविर्भूत हो जाते हैं, जिनका मूल कालाश्व का अर्कप्राणाग्निरूप, पूर्वमन्त्रोपवर्णित 'सप्तरश्मिः' भाव ही बन रहा है।

९४–'यः सप्त चक्रान् वहति काल एषः' का तात्त्विक समन्वय—

'अमृतं न्वक्षः' वाक्य इसी सप्तपुरुषपुरुषात्मक हृत् प्रजापति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सौरसम्वत्सर अपने विस्रंसनात्मक क्षरणधर्म्म से जहाँ क्षरात्मक है, मृत्युरूप है, वहाँ सम्वत्सरकेन्द्र-वर्त्ती (सूर्य्यकेन्द्रवर्त्ती) अक्षभाव (हृदयरूप यजुःप्राण) अपने 'अक्षिति' रूप अक्षरभाव से 'अमृत' बन रहा है, जिस इस हृदयाक्षररूप केन्द्रस्थ अमृतप्रजापति के सप्तप्राणभावों से ही अहोरात्रात्मक सात अवान्तर चक्र आविर्भूत हुए हैं, एवं यही अक्षररूप हृत्भाव सप्तवितानात्मक सप्त वृत्तों के स्वतन्त्र सात नाभिभावों की प्रवृत्ति का कारण बन रहा है। प्रथम मन्त्र के 'सप्तरश्मिः-' की ही व्याख्या 'सप्तचक्रान्' है, एवं 'सहस्राक्षः' की ही व्याख्या 'अमृतं न्वक्षः' है। और–'यः सप्त चक्रान् वहति काल एषः–सप्तास्य नाभीः-अमृतं न्वक्षः' इस मन्त्रभाग का यही समन्वय–दिग्दर्शन है।

९५–तेजोरसमूर्त्ति अग्नि, अर्णवसमुद्र, एवं अवग्निमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति—

अत्र–'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्' वाक्य को लक्ष्य बनाइए। सम्वत्सरकाल की सीमा में प्रतिष्ठित स्थावर–जङ्गम–यच्चयावत् भूतभौतिक पदार्थों के प्रत्यक्षदृष्ट–धामच्छद्–भूतपिण्डों का मूलोपादान माना गया

है–'अप्तत्त्व', जैसाकि–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप -पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि पञ्चाग्निविद्या-प्रकरण से स्पष्ट है। अप्तत्त्व ही अप्-वायु-तेज–के उत्तरोत्तर संघात से क्रमश आप -फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय -हिरण्य–इन आठ पारस्परिक घनताओं में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा भूपिण्ड–भूत-पिण्ड-रूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि–'अद्भ्य पृथिवी' इत्यादि तैत्तिरीय वचन स स्पष्ट है। सौर-सम्वत्सराग्नि से सर्वप्रथम 'मरीचि' नामक 'आप' उत्पन्न होते हैं, जो * 'तेजो रसो निरवर्त्ततााग्नि' के अनुसार वैसा प्रचण्ड–प्रदीप्त–अग्निमय पानी ही माना गया है, जो कालान्तर में भूतपिण्डरूप भूपिण्ड में परिणत हुआ है। पिण्डाविर्भाव से पहिले तो सम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र तेजोरसाग्निमय आप ही व्याप्त था, जिस आपोमय सौरसमुद्र को–'अर्णव' कहा गया है। अर्णवसमुद्र का आपोभाव ही भूतपिण्डरूप से क्योंकि सम्वत्सर को अभिव्यक्त करता है। अतएव सम्वत्सरमण्डलवर्त्ती इस अर्णवसमुद्र को सम्वत्सर का (व्यक्तभाव का) कारण मान लिया है ऋषिने, जैसाकि–'समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरोऽजायत' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। पिण्डाविर्भाव से पहिले, एव आप की सहज तरलावस्था से पश्चात्, दोनों की मध्यावस्था में विद्यमान घनीभूत उस तेजोमय आण्डवृत्तात्मक आप का ही पारिभाषिक नाम है–'कूर्म्म'। इस मध्यावस्था का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान याज्ञवल्क्य ने कहा है—

> सोऽकामयत–'आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयम्' इति। तां संक्लिश्य–अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्। सेयं सर्वा आप एवानुव्यैत्। तदिदं–एकमेवरूपं समदृश्यत–आप एव। —शत० ६।१।१।१२।

६६–सप्तचितिक-सम्वत्सरमूर्त्ति–कालाश्व की त्रैलोक्यव्याप्ति—

तदित्थ-क्योंकि भूतपिण्ड का आरम्भक सौर आप, ही है। अतएव भूतमात्र को हम 'आपोमय' कह सकते हैं। भूतपिण्ड के स्वरूप समर्पक इसी सौर मरीचि–आप का एक साङ्केतिक नाम है–'भुवनम्', जिसके आधार पर भुवन शब्द पानी का भी पर्याय बन गया है लोकभाषा में, जैसाकि-'जीवन भुवन वनम्' इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है। भूतपदार्थमात्र भुवनमूलक ही हैं (आपोमूलक ही हैं)। अतएव इन साम्वत्सरिक भूतपदार्थों को हम अवश्य ही 'भुवनानि' कह सकते हैं। सौरसम्वत्सरमध्यवर्त्ती सावित्राग्नि से उत्पन्न मरीचि नामक भुवनों–आपोभावों–से उत्पन्न सम्पूर्ण भुवनों–(भूतभौतिक पदार्थों) के साथ भुवन के माध्यम से-(आपो-माध्यम से) सम्वत्सर उसीप्रकार घुल-मिल रहा है, जैसे कि 'सर' नामक स्थूल पानी के माध्यम से वैश्वा-नराग्निरूप भूताग्नि आपोमय चूर्ण (चून) में परिपाकरूप से अन्तर्यामसम्बन्ध से घुलमिल जाता है। भूतों का परिपाक होता है सम्वत्सराग्नि से–'पचतीति वार्त्ता'। यह परिपाक ही सम्वत्सर का अञ्जन है भूतों के साथ, जिसका माध्यम बनते हैं मरीचि–आप, यही निष्कर्ष है। इस समञ्जनलक्षण अन्तर्यामसम्बन्ध का ही यह परिणाम है कि, सम्वत्सर के यचयावत पदार्थ सप्तपुरुषपुरुषात्मिका सुपर्णचिति से समन्वित रहते हुए सम्वत्सर की प्रतिमा ही बने हुए हैं। सब में समष्टि–व्यष्टि–रूप से 'चत्वार'-आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छ प्रतिष्ठा'

---

* तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः (शत० १०।६।५।२)।

रूप से सप्तचितिक सम्वत्सर व्याप्त हो रहा है, जिस व्याप्ति के यथावत् समन्वय के लिए तो **'चयनविद्या'** का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

९७-सप्तलोकभुवनात्मक-पारावतपृष्ठात्मक-विश्व में कालाश्व की व्याप्ति—

श्रुति के 'विश्वा' (विश्वानि) शब्द का 'सप्त' भी अर्थ है, एवं 'सर्वाणि' भी अर्थ है। सप्त-रश्मिरूप अमृताक्षरमूर्त्ति कालाश्व की सप्तचितियों से अनुप्राणित भूरादि सत्यान्त सात लोक भी संगृहीत हैं, जैसाकि प्रथममन्त्रार्थप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। सातों लोकभुवनों का सम्वत्सर में जैसे भोग रहा है, तथैव सम्वत्सर के प्रत्येक पदार्थ में भी सातों लोकभुवन उसी अनुपात से समन्वित हैं, जिस समन्वय का **'पारावतपृष्ट'** मूला **'छन्दोमास्तोमविद्या'** से सम्बन्ध माना गया है। अभिन्नसत्तात्मक-कार्य्यकारणमूलक विश्व के सम्बन्ध में यह जानकर हमें कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, जो स्वरूप, जो पर्व-संस्थान-लोक-आदि विभाग महान् मे है, एक अणु में भी वे सभी विभाग सर्वात्मना उसी क्रमानुपात से सुसमन्वित है-**'यदमुत्र--तदन्विह'**। उस पूर्ण का प्रत्येक अंश में पूर्णरूपेणैव सममञ्जन हो रहा है। इसी समव्याप्ति को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है कि, **वह काल सम्पूर्ण भुवनों में व्याप्त होरहा है-'स इमा विश्वा भुव-नान्यञ्जत्'**।

९८-रिरिचान सम्वत्सरप्रजापतिरूप कालाश्व के प्रवर्ग्यरूप ऋतभाग से रोदसी-त्रैलोक्य की स्वरूप-निष्पत्ति—

सममञ्जनलक्षणा तथोक्ता व्याप्ति का आधार बनता है सम्वत्सर का वह प्रवर्ग्यभाग, जिसके पृथक् होकर भूतनिर्म्माण में समन्वित होजाने से प्रजापति अपने आपको कुछ समय के लिए तो **'रिरिचान' (रिक्त)** ही अनुभूत करने लगते हैं उसी प्रकार, जैसेकि अपनी प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्राओं को स्वकर्म्मनिष्ठा में विस्रस्त (खर्च) कर देने वाला मानव अपने आपको रिक्त अनुभूत करने लगता है। केन्द्रीय सत्य से आबद्ध (अमृ-ताक्षर से आबद्ध) सम्वत्सर प्रजापति, एवं ऐसे सत्यप्रजापति की सीमा में इसके ब्रह्मौदनरूप से प्रतिष्ठित अग्नीषोमभाव ही 'सत्य' भाव हैं, जिनसे सम्वत्सरशरीर की स्वरूपरक्षा हो रही है। ब्रह्मौदनभूत इन सत्याग्नि-सोमों से, किंवा 'सत्यसम्वत्सर' से कदापि भूत-भौतिक-पदार्थों का निर्म्माण नहीं होता। इनका निर्म्माण होता है सम्वत्सर के उन अग्नि-सोम-भावों से, जो ब्रह्मौदन की सीमा से प्रवर्ग्यरूपेण केन्द्रीय सत्यबन्धन से पृथक् होकर 'ऋत' रूप में परिणत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सत्यसम्वत्सर पदार्थों का प्रजनयिता नहीं है। अपितु ऋतसम्वत्सर से ही साम्वत्सरिक प्रजावर्ग का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। इस ऋतभाव के कारण ही भूतभौतिकी प्रजा 'अनात्मभावात्मिका' बन रही है, जिसमें केन्द्रात्मक आत्मस्वरूप की स्वतन्त्राभिव्यक्ति नहीं है। अतएव इस ऋत-प्राकृतिक-भूतभौतिक-सर्ग को-**'पशुसर्ग'** ही माना है श्रुति ने-**'यदपश्यत्-तस्मादेते पशवः'** (शतपथ० ६।२।१।१।)।

९९-ऋताग्निसोममूलक ऋतुभाव, तद्रूप सम्वत्सर, एवं सम्वत्सर की ऋत-सत्यता का समन्वय—

सत्यसम्वत्सराग्निसोममूर्त्ति कालप्रजापति के ऋत-प्रवर्ग्य-भागों का ही नाम है ऋताग्नि, एवं ऋत-सोम, जिन इन दक्षिण-उत्तर-दिगनुबन्धी ऋताग्निसोमो के समन्वय से एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है,

जोकि ऋतमूलक बनता हुआ 'ऋतु' नाम से प्रसिद्ध है। ऋताग्नि के उद्ग्राभ (चढाव) से वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नामक तीन आग्नेय-ऋतुओं का, तथा ऋताग्नि के ही निग्राभ (उतार) से शरत्-हेमन्त-शिशिर-नामक तीन सौम्य-ऋतुओं का आविर्भाव होजाता है। इन ६ ऋतुओं का मध्यस्थ-अग्नि-सोमोभयात्मक-अग्निसोम-समभावात्मक सातवाँ वह ऋतुभाव है, जिसका सम्वत्सरकेन्द्र से सम्बन्ध है। अतएव जिसे 'ऋतसत्य' रूप 'ऋतु' कह सकते हैं। सत्यसम्वत्सरानुबन्ध से यह जहाँ सत्य है, वहाँ अपने प्रातिस्विक 'ऋत' भाव से ऋत, अतएव 'ऋतसत्यत्त्व' है, यही सातवी ऋतु है। सप्तचितिक सम्वत्सराग्नि की सप्त अग्नि-चितियानें जैसे सात अहोरात्र वृत्तों को जन्म दिया है, तथैव उसी सप्ताग्निचिति ने ऋताग्निसोममयी इन सात ऋतुओं को जन्म दिया है, इसी दृष्टि से श्रुति ने कहा है—

सप्ताग्नेः। सप्तचितिकोऽग्निः। सप्तर्तवः सम्वत्सरः। सम्वत्सरोऽग्निः। यावानग्नि-र्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतद्रेतोभूतं सिञ्चति।

—शत० ६।६।१।१४।

१००-सप्तर्षि-सप्त ग्राम्यपशु-सप्ततन्तु-सप्त शीर्षण्यप्राण-सप्तछन्द-सप्त मरुद्गण-आदि भेदभिन्न सप्तकों का स्मरण, एवं पशुभाग से सृष्टिस्वरूपव्यवस्था—

सप्तकपालोपासन-प्रकरण में श्रुति ने सप्तर्षिप्राणमूला सप्ताग्निचिति के आधार पर ही सप्ततन्तु, सप्त ग्राम्यपशु, सप्तर्षि, सप्तशीर्षण्यप्राण, सप्तछन्द, सप्तमरुद्गण, आदि अनेक साम्वत्सरिक-सप्तकों का स्वरूप विश्लेषण किया है यज्ञप्रक्रिया के माध्यम से (देखिए-शत० ६।३।१। ब्राह्मण)। ऋतुरूप ऋताग्निसोम की समष्टि ही सप्ततन्तुरूप वह 'ऋतसम्वत्सर' है, जिसे ऋतभावानुबन्ध से हम 'प्रवर्ग्य' ही कहेंगे। इसी प्रवर्ग्य-ऋतसम्वत्सर-से भूतभौतिक पदार्थों का स्वरूप निर्माण प्रक्रान्त है शाश्वतीभ्य समाभ्य। किस माध्यम से सत्यसम्वत्सरकाल सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त होता है?, प्रश्न का उत्तर यही सप्ततन्तुसमष्टिरूप-ऋत-प्रवर्ग्यात्मक सम्वत्सर है, जो अपने इस अनात्म्य-मरणधर्मा ऋत पशुभाग से ही पशुरूप मर्त्य भूतों का सर्जन कर इनसे समन्वित हो रहा है।

१०१-'पुरुषो वै यज्ञः' का समन्वय-

क्या मानव का भी ऐसा ही स्वरूप है?। नहीं। मानव की प्रकृति का अवश्य ही ऐसा ही स्वरूप माना जायगा, एवं प्रकृति-स्थानीय शरीर-मन, तथा लोकबुद्धि, इन तीन विवर्त्तों को तो ऋतप्रवर्ग्य से ही समुत्पन्न कहा जायगा। किन्तु मानव का 'आत्मभाव' तो सत्यसम्वत्सर का ही प्रतिमान माना जायगा, और 'मानव' अभिधा का समन्वय प्रधानरूप से इस सत्यसम्वत्सर से ही समतुलित माना जायगा। प्रमाणों की प्रचुरता में भी प्रमाणजिज्ञासुओं के लिए प्रमाण इसलिए अप्रमाण ही बने रहेंगे कि, उन प्रमाणवचनों की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ आज विलुप्तप्राय हैं। उदाहरण के लिए इसी प्रमाण को लीजिए कि—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः-यदेनं पुरुषस्तनुते। एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते। तस्मात् पुरुषो यज्ञः।

—(शत० १।३।२।१।)।

१०२-सम्वत्सररूप आधिदैविक यज्ञ, एवं पुरुषरूप आध्यात्मिक यज्ञ का अक्षरात्मक समतुलन--

"यह पुरुष (मानव) यज्ञ है, यज्ञस्वरूप है । कारण ?, कारण यही कि-इस पुरुष को पुरुष ही वितत करता है । यह पुरुष (मानव) अपने स्वरूप से वितायमान होता हुआ उसी परिमाण से वितत होता है, जिस परिमाण से कि इस का वितानकर्त्ता पुरुष वितत है । वितान-कर्त्ता पुरुष वितत है । वितानकर्त्ता उस पुरुष के परिमाण से वितत होने के कारण हीं यह पुरुष यज्ञ कहलाया है", इत्यादि वाक्य-सन्दर्भ-मात्र से तबतक हम कुछ भी तो अर्थसमन्वय नहीं कर सकते, जबतक कि इस पुरुष का (मानव का), इसके उत्पादक पुरुष (प्रजापति-सम्वत्सरयज्ञ) का, उसकी, और इसकी यज्ञरूपता का पारिभाषिक समन्वय नही कर लिया जाता । अतएव 'यह मानव उस सत्यसम्वत्सर का प्रतिमान है, सर्वात्मना प्रतिमूर्त्ति है' इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रमाणवचनों के प्रकृति-प्रत्ययादि से समन्वित षष्ठयर्थ-पञ्चम्यर्थ-युक्त प्रमाण से तबतक हम क्या प्रामाणनिष्ठा प्राप्त कर लेंगे, जबतक कि प्रमाणवचन के पारिभाषिक वैज्ञानिक तत्त्वों से परिचित नहीं हो जायँगे । उदाहरण के लिए इसी वचन को लीजिए कि—

"पुरुषो वै सम्वत्सरः । 'पुरुष' इत्येकं, 'सम्वत्सर' इत्येकम् । अत्र तत्समम् । द्वे वै सम्वत्सरस्याहोरात्रे, द्वाविमौ पुरुषे प्राणौ । अत्र तत्समम् । त्रय ऋतवः सम्वत्सरस्य, त्रय इमे पुरुषे प्राणाः । अत्र तत्समम् । चतुरक्षरो वै सम्वत्सरः, चतुरक्षरोऽयं यजमानः । अत्र तत्समम् । पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य, पञ्चेमे पुरुषे प्राणाः । अत्र तत्समम्"-इत्यादि ।

— शा० १२।३।२ ब्राह्मण ।

अक्षरार्थ यही है कि-यह पुरुष सम्वत्सर है । पुरुष के साथ इसलिए सम्वत्सर की समानता है कि, 'पुरुष' यह एक है, 'सम्वत्सर' यह एक है । इस दृष्टि से दोनो समतुलित हैं । सम्वत्सर के अहः-रात्रि रूप से दो पर्व हैं, तो पुरुष में भी दो प्राण हैं । सम्वत्सर की तीन ऋतु हैं, तो पुरुष में तीन प्राण हैं । सम्वत्सर चार अक्षर वाला है, तो (पुरुषरूप) यजमान भी चार अक्षर वाला है । सम्वत्सर की पाँच ऋतुएँ हैं, तो पुरुष में ये पाँच प्राण हैं । सम्वत्सर की छह ऋतु हैं, तो पुरुष में ६ प्राण हैं । सम्वत्सर की ७ ऋतु हैं, तो पुरुष में सात प्राण हैं । सम्वत्सर के १२ मास हैं, तो पुरुष में १२ प्राण हैं । सम्वत्सर के १३ मास हैं, तो पुरुष में भी १३ प्राण हैं । सम्वत्सर के २४ अर्द्धमास (पक्ष) हैं, तो पुरुष के भी २४ पक्ष (पर्व) हैं । सम्वत्सर के २६ पक्ष हैं, तो पुरुष के भी २६ ही पर्व हैं । सम्वत्सर की यदि ३६० अहः-रात्रियाँ हैं, तो पुरुष की भी ३६० ही अस्थियाँ (हड्डियाँ) हैं । सम्वत्सर के यदि ३६० अहः हैं, तो पुरुष के भी ३६० ही मज्जापर्व हैं । सम्वत्सर के यदि ७२० अहोरात्र हैं, तो पुरुष के भी अस्थि-मज्जा-मिला कर ७२० ही पर्व हैं । और आगे चलिए-सम्वत्सर के १०८०० (दशहहजार आठसौ) मुहूर्त्त हैं । इन मुहूर्त्तों से पन्द्रहगुणित 'क्षिप्र' हैं । क्षिप्रों से पन्द्रहगुणित "एतर्हि" हैं । इन से पन्द्रह गुणित 'इदानि' हैं । इन से पन्द्रह गुणित 'प्राण' हैं । जितने प्राण हैं, उतने ही 'अन' हैं । जितने 'अनाः' हैं, उतने ही 'निमेष' हैं । जितने निमेष हैं, पुरुषशरीर में उतने हीं लोमगर्त्त (रोमकूप) हैं । जितने लोमगर्त्त हैं, उतने ही 'स्वेदायन' हैं । और जितने स्वेदायन हैं, उतने

ही वषाविन्दुरूप 'स्तोक' हैं। यही मानव के श्वासप्रश्वासात्मक प्राणनापानन का मापदण्ड है, जैसाकि श्रुतिने समन्वय का उपसंहार करते हुए सर्वान्त में कहा है—

शतं शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं, तद्वदन्ति ।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्व प्राणिति, चाप चानिति ॥

'पुरुष एक है, तो सम्वत्सर भी एक है' केवल इस प्रथम-समत्व का ही पारिभाषिक समन्वय करलीजिए। इसी से परिभाषाज्ञानवञ्चित-प्रमाणभक्तों का प्रमाणजिज्ञासा-व्यामोहन उपशान्त हो जायगा एकान्ततः। स्थूलदृष्ट्या-प्रकृतिदृष्ट्या, किंवा भूतविज्ञानदृष्ट्या तो पुरुष (मानवसंस्था) में भी असंख्य-भूत-भौतिक-पदार्थों-द्रव्यों का समावेश हो रहा है, एवं ज्योतिश्चक्रात्मक खगोललक्षण-सौरसम्वत्सरमण्डल में भी ग्रहोपग्रह-नक्षत्र-अग्नि-वायु-आदित्य-देव-यक्ष-गन्धर्व-आदि आदि रूपेण असंख्य पदार्थ समन्वित हो रहे हैं। अनेक खण्ड-खण्डों की समष्टि का ही नाम जब पुरुष है, एवं अनेक पदार्थों के समन्वय का नाम ही जब सम्वत्सर है, तो इन्हें 'एक' अभिधा से कैसे, और क्यों व्यवहृत किया गया?, प्रश्न का उत्तर प्रकृत्याधारभूत पुरुषब्रह्म (अव्ययात्मब्रह्म) पर ही अवलम्बित है, जो अपने अखण्ड-निरवच्छिन्न-दिग्देशकालातीत-स्वरूप से 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। इस एक-अद्वितीय-अविभक्त-समब्रह्म के आधार पर ही नानात्वनिबन्धना प्रकृति नाना-भावापन्ना विकृति के रूप से अभिव्यक्त होती है। विकृति नानाभावापन्न विकार-रूप में, विकार नानाभावापन्न वैकारिक-पञ्चीकृत भावों के रूप में, वैकारिक भाव नानाभावापन्न महाभूतरूप में, एवं महाभूत असंख्य-भावापन्न भूत-भौतिक-पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। या उस एक 'रसपुरुष' प्रतिष्ठा के आधार पर प्रति-ष्ठिता नानाभावापन्ना प्रकृति ही नानाभावों में नानारूपों से अभिव्यक्त हो रही है, जो कि प्रकृतिमूलक नाना-त्व उस एक का ही महिमा-मय वैभव (विवर्त्त) माना गया है, जैसाकि-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र से प्रमाणित है, जो कि प्रमाणसमन्त्र सुप्रसिद्ध 'एकेश्वरवाद' की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस के पारिभाषिक-तात्त्विक-समन्वय करने में असमर्थ जडप्रकृतिवादियोंनें यह भ्रान्त कल्पना कर डाली है कि, "संहिताकाल में आर्य्य एकेश्वर से अपरिचित रहते हुए बहुदेवताभक्ति के ही अनुगामी बने हुए थे। इन्हें एकेश्वरवाद का बोध तो बहुत आगे जाकर उपनिषत्काल में हीं हुआ है"। पुरुषात्मस्वरूपबोध के स्पर्श से भी वञ्चित उन प्रकृतिवादपरायणों की उक्त मान्यता का भावुकतासंलग्न-माध्यम-मात्र से समादर कर लिया जासकता है। किन्तु जो भारतीय तत्त्वविशोधक (रिसर्चस्कॉलर) महानुभाव अन्त-र्राष्ट्रीय-ख्यातिरूपा लोकैषणा के महान् व्यामोहन में आसक्त होकर प्रतीच्य प्रकृतिवाद का ही अन्धानुकरण करते हुए उक्त प्रतीच्य-मान्यता को 'आस्था' प्रदान करने लग पड़े हैं, अवश्य ही वे भारतीय प्रज्ञा की दृष्टि में तो महान् प्रत्यवाय के ही पात्र माने जाऐंगे।

१०३-अखण्ड-अव्ययपुरुष के द्वारा ब्रह्ममहिमा की सर्वव्याप्ति—

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, प्रकृतिस्थ पर अवस्थित अव्ययपुरुष ही वह 'पुरुष' है, जो निरपेक्ष एकत्व से समन्वित रहता हुआ 'एक' ही है। इस 'एकपुरुष' की पूर्णाभिव्यक्ति तो एकमात्र 'मानव' में हीं हुई है। अत-एव मानव ही 'पुरुष' (अव्यय) उपाधि का अधिकारी बन रहा है। यही मानव की तुलना वह श्रेष्ठता है,

जिसे प्रकृतिवादव्यामोहन से विस्मृत कर देने वाले मानव ने आज अपने आप को प्रकृतिमात्रांश मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है प्राकृतिक भूत-पर्वों के नानात्त्व के माध्यम से । मानव की प्रकृति **'नाना'** भावापन्ना अवश्य है, किन्तु स्वयं मानव अपने आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से तो **एक ही है, पुरुष ही (अव्यय–पुरुष ही) है।**

क्या प्रकृतिभावों में भी इस एकत्त्व का सम्मान किसी प्राकृत–विवर्त्त को उपलब्ध हुआ है ?, यह प्रश्न है, जिसका समाधान कालात्मक सम्वत्सर ही बन रहा है ।

१०४–अखण्डपुरुष के आधार पर खण्ड--खण्डात्मक प्राकृत–भावों का वितान, एवं कालपुरुष के द्वारा प्राकृत--खण्डों का नियन्त्रण—

सम्वत्सर का स्वरूप उस अनन्तपुरुष का प्रतीक बनता हुआ तदभिन्न है । अतएव इस सत्यसम्वत्सर को **'प्रजापति' 'पुरुष'** आदि उपाधियाँ प्राप्त होगईं हैं । यही सम्वत्सरात्मक सत्यकाल पुरुषनिबन्धन एकत्त्वधर्म्म से **'कालपुरु '** नाम से प्रसिद्ध हो गया है, जो अपने इस पुरुषभाव से अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त बनता हुआ कालातीत (प्रकृत्यतीत) ही प्रमाणित हो रहा है । जिस प्राकृतिक विवर्त्त का यह वहन कर रहा है, वह दिग्–देश–प्रदेशात्मक–अनेकभावापन्न सम्वत्सर ही **'ऋतसम्वत्सर'** कहलाया है, जिस के मानव की प्रकृति की भाँति ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–अहोपग्रहादि अनेक अवयव माने गए हैं । अवयवसमष्टि का नाम कदापि अवयवी नहीं है, जैसा कि अनात्मवादी प्राकृत **'मानवाभास'** मानते रहते हैं । अखण्ड है वह अवयवी, जिस की अखण्डसत्ता पर खण्डखण्डात्मक प्राकृतिक अनेक अवयव प्रतिष्ठित रहा करते हैं । अखण्ड पुरुष के आधार पर ही खण्डप्रकृति प्रतिष्ठित है । अखण्ड कालपुरुषात्मक सत्यसम्वत्सर पर ही खण्डकालात्मक ऋत–सम्वत्सर प्रतिष्ठित है । पुरुष (मानव) के खण्डात्मक प्रकृतिभावों के आधारभूत 'पुरुष' (अव्यय) को ही ब्राह्मणश्रुति ने **'एकपुरुष'** कहा है । एवं काल के खण्डात्मक ऋतसम्वत्सररूप प्राकृत भावों के आधारभूत 'सत्यसम्वत्सर'लक्षण कालपुरुष को ही श्रुतिने–**'एकसम्वत्सर'** कहा है । एवं यही–**'पुरुष' इत्येकं, 'सम्वत्सर' इत्येकम्'** इस प्रारम्भिक वचन का पारिभाषिक समन्वय है । तदनन्तर जितने भी मानवीय, तथा साम्वत्सरिक-पर्वों के समत्त्व का श्रुतिने प्रतिपादन किया है, वे सम्पूर्ण समत्त्व तो मानव की नानाभावापन्ना प्रकृति के, तथा सत्य-सम्वत्सर के प्रकृतिरूप नानाभावापन्न ऋतसम्वत्सर के पर्व-विभागों से ही सम्बद्ध हैं, जिन का भारतीय प्रकृतिविज्ञान के आधार पर ही सम–समन्वय किया जा सकता है । प्रकृतिविज्ञान की **विकृति–विकार–वैकारिक–महाभूत–भूतभौतिक**–इन सोपानपरम्पराओं के अन्तिम विवर्त्तस्थानीय भूतभौतिक वर्त्तमान–जड़–भूतविज्ञान के द्वारा तो श्रुति के प्रकृतिविज्ञान की परिभाषाओं का भी समन्वय दुर्बोध्य ही माना जायगा भूतविज्ञानवादियो के लिए ।

१०५–कालानुबन्धी सापेक्ष पुरुष–प्रकृति द्वन्द्व, अनन्ताव्यय के प्रति अनन्तकाल की प्रतीकता, एवं तत्समन्वय –

सत्यसम्वत्सरात्मक काल **'पुरुष'** है, एवं ऋतसम्वत्सरात्मक काल **'प्रकृति'** है । मानवसंस्था के **'पुरुष' [अव्यय] भाव'** से सत्य सम्वत्सरात्मक **'कालपुरुष'** समतुलित है, एवं मानव के **'प्रकृतिभाव'** से **[शरीर–संस्थान से]** ऋतसम्वत्सरात्मिका **'कालप्रकृति'** समतुलिता है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है, जिस से एक अद्भुत

दृष्टिकोण की ओर भी स्वत ही हमारा ध्यान आकर्षित हो पड़ता है। सत्यसम्वत्सररूप 'अनन्तकालपुरुष' उस 'अनन्त अव्ययपुरुष' का दृष्टान्तविधि से प्रतीकमात्र है। इस की पुरुषविधता 'प्रतीक' भाव पर ही परिसमाप्त है। क्योंकि दृष्टान्त को कभी सिद्धान्त बनने का सद्भाग्य उपलब्ध नहीं होता। अतएव प्रतीकविधिमात्र से 'प्रतीकपुरुष' कोटि में आता हुआ भी कालपुरुष अन्ततोगत्वा है–'प्रकृति' ही-अपने पराप्रकृतिरूप अक्षरभाव से [सत्यसम्वत्सररूप से], एवं अपराप्रकृतिरूप क्षरभाव से [ऋतसम्वत्सररूप में], जबकि पुरुष [मानव] अपने अव्ययात्मभाव से उस अव्यय से सर्वात्मना अभिन्न रहता हुआ साक्षाद्रूपेणैव 'पुरुष' प्रमाणित हो रहा है। कालवत् [सम्वत्सरवत्] इस का 'पुरुष' भाव प्रतीकमात्र न हो कर साक्षात् पुरुषभाव ही है। तभी तो समस्त ब्रह्माण्ड म एकमात्र मानवपुरुष को ही उस षोडशीप्रजापतिरूप अव्ययेश्वर के सन्निकट बतलाया गया है, जैसाकि–'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'–'योऽसावादित्ये पुरुषः–सोऽहम्'–'योऽसौ–सोऽहं'–'अहं ब्रह्मास्मि'–'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है।

१०६–अनन्तबोध मे प्रतीकता का असामर्थ्य, एवं मानव के द्वारा ही तदभिन्न अनन्तन्तब्रह्म का समतुलन-समन्वय–

अतएव मानव ही अपने आत्मान्ययपुरुषमूलक पुरुषार्थ से उस अव्ययेश्वरवत् 'कालातीत' बन सकता है, नकि उसी अव्ययेश्वर का प्रतीकपुरुषात्मक कालपुरुष कालातीत नहीं माना गया। अतएव सम्वत्सरपुरुष, तथा मानवपुरुष, दोनों के साम्य प्रतिपादन में मानवपुरुष को श्रुतिने उद्देश्यकोटि में रक्खा है, एवं कालात्मक सम्वत्सरपुरुष को विधेयकोटि मे रक्खा है। पुरुषोद्देश्येनैव सम्वत्सरसाम्य का विधान हुआ है। अर्थात्–पुरुष के माध्यम से ही सम्वत्सर की समता का समन्वय हुआ है।

१०७–'पुरुषो वै सम्वत्सरः' श्रुतिमूलक पुरुषप्राधान्य का समन्वय—

'पुरुषो वै सम्वत्सरः' वचन इसी पुरुषप्रधानता, एवं सम्वत्सरगौणता का समर्थक बन रहा है। आगे चल कर भी–'पुरुष'–इत्येकं,–'सम्वत्सर' इत्येकम्। अत्र तत्समम्' इस रूप से पुरुष को प्रथम स्थान मिला है, एवं सम्वत्सर को द्वितीय स्थान। पुरुष से सम्वत्सर समतुलित है, न कि सम्वत्सर से पुरुष समतुलित। मानव तो अपने हृदयस्थ अव्ययपुरुष से वही स्थान रखता है, जो स्थान विश्वाधिष्ठाता अव्ययेश्वर पुरुष का है। वही काल बना है, तो मानवीय–अव्यय भी यही भाषा बोल सकता है। बोली है ऐसी ही अद्वैतभाषाभिसा पुरुषभाषा ब्रह्मवित् ब्रह्ममूर्त्ति * इस महर्षिमानवने, जैसाकि–'अहं मनुरभवम्–अहं–सूर्य्य इवाजनि' इत्यादि से स्पष्ट है। और तत्त्वदृष्ट्या तो पुरुष, तथा सम्वत्सर का साम्य भी प्रतीकात्मक ही माना जायगा। अन्यथा सम्वत्सर तो उस आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ से सर्वथा अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित रह जाता है। अपने अव्ययपुरुषरूप से तो मानव सम्वत्सरचक्र से ऊपर उठा हुआ ब्रह्मवत् साम्वत्सरिक–परिवर्त्तनों का द्रष्टामात्र ही बना रहता है, जैसाकि–'यस्मादर्वाक्– सम्वत्सर–अहोभि परिवर्त्तते' इत्यादि रूप मे पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है–[देखिए पृ० सं० १६२]।

---

*–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। (श्रुति)

१०८--सत्यसम्वत्सर--ऋतसम्वत्सर--रूपेण सम्वत्सरद्वयी का दिग्दर्शन, एवं प्रकृति--विशिष्ट पुरुष के साथ सम्वत्सरद्वयी का समतुलन---

अब दूसरा स्थान आता है उस पुरुष [मानव] का, जो प्राणिति--अपानिति च--रूप से श्वास--प्रश्वास लेते रहने वाला वैसा प्राकृत--प्राणीमात्र ही है, जैसे कि अन्य स्थिर--चर--जीव प्राणन अपान करते हुए अपने आयुःकाल का उपभोग करते रहते हैं। ऐसा पुरुषभाव ही प्रकृतिभाव है, ऐसा मानव ही प्राकृत--मानव है, जिस का इस प्रकृतिभावानुबन्ध से ही सांख्यशास्त्र ने चतुर्दशविध--भूतसर्गों में अन्तर्भाव कर लिया है (अपने आत्माव्ययपुरुष से भूतातीत बने रहने वाले भी) इस का। तात्पर्य्य यही है कि, मानव के आत्मा--व्ययपुरुषातिरिक्त बुद्धि--मनः-शरीर--ये तीनों पर्व ही मानव की सत्त्व--रजः--तमो--गुणात्मिका--अहङ्कृति--प्रकृति--आकृति--रूपा वह प्रकृति है, जिस इस त्रिभावापन्ना प्रकृति से ही मानवपुरुष प्रकृतिविशिष्ट पुरुष बन रहा है। इन मानवीय तीनों प्रकृतिभावो की समष्टि ही मानव का प्राकृतरूप है, जिस अनुबन्ध से इसे 'प्राकृतपुरुष' कहा जायगा। एवमेव कालपुरुषरूप पुरुषसम्वत्सर--सत्यसम्वत्सर [अनन्त--अमूर्त्त--अव्यक्त काल] का व्यक्तरूप--ऋतसम्वत्सर ही 'प्राकृतसम्वत्सर' कहलाएगा। एवं जैसे माननीय पुरुष से उस सत्यसम्वत्स--रात्मक कालपुरुष का प्रतीकविधि से साम्य--समतुलन हुआ था, तथैव अब इन दोनों के दोनों प्राकृतभावों का भी समतुलन होना हीं चाहिए। और इस प्राकृत समतुलन के सम्बन्ध में भी एक विशेष दृष्टिकोण का समन्वय कर लेना चाहिए तत्प्रतिपादक श्रौत--अक्षरों के माध्यम से ही।

१०९--ऋतसम्वत्सरात्मक कालाश्व की प्राकृतभावों के प्रति प्रभव--प्रतिष्ठा--परायणता--का समन्वय---

सम्वत्सरकालानुबन्धी--दिग्--देश--प्रदेशात्मक प्राकृतिक विवर्त्तों में मानवप्रकृति का स्थान गौण--एवं द्वितीय--माना जायगा, जबकि पुरुषानुगत समन्वय मे मानवपुरुष का स्थान प्रमुख--एवं प्रथम माना गया था। ऋतसम्वत्सरात्मक--क्रान्तिवृत्तात्मक--कालाश्वरूप--व्यक्त--सम्वत्सर ही प्राकृत सम्वत्सर है, जिस में असंख्य--भावों का समावेश है, जिन का कि सौर[१]-- चान्द्र[२]-- पार्थिव[३]-- इन तीन वर्गों में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है। इन तीनों के मूल प्राकृतिक उक्थ [कोश] ही क्रमशः सूर्य्य[१]-- चन्द्रमा[२]--भूपिण्ड[३] है। इन तीनों मूल--उक्थ विम्बोंकी तीन प्रकृतियाँ ही [एक प्रकृति के तीन विवर्त्त ही] क्रमशः अहङ्कृति[१]--आकृति[२]--प्रकृति[३]--नामों मे प्रसिद्ध हैं. जो क्रमशः सत्त्व[१]-- रज[२]--स्तमो[३]--गुणप्रधाना बनीं हुई हैं। इन तीनों सूर्य्य--चन्द्रमा--भू--नामक महान् साम्वत्सरिक--कोशों से प्रवर्ग्य-रूपेण विनिर्गत--विस्रस्त होते रहने वाले सौर--चान्द्र--पार्थिव--प्राणों से चतुरशीति-लक्ष [८४०००००चौरासीलाख] जीवयोनिवर्ग प्रादुर्भूत होते रहते हैं गुणत्रय के तारम्य से। "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं तत्' [गीता] इत्याद्यनुसार समस्त भूतभौतिक प्रपञ्च, इन प्रपञ्चों के सौर बुद्धिभाव--चान्द्र मनोभाव--एवं भौम शरीरभाव-रूप प्रकृतिभाव, इन त्रिगुणात्मक प्राकृत भावों से ही उत्पन्न होते रहते हैं, एवं अन्त में इन्ही में विलीन हो जाते हैं। यों ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्त कालाश्व ही इन प्रकृतिभावों का प्रभव-प्रतिष्ठा--परायण--स्थान--बन रहा है। इस महान् सम्वत्सरचक्र के समतुलन में चौ--

रामीलाख योनियां में से एक मानवयोनि के प्राकृत स्वरूप की क्या–कितनी–कैसी–इयत्ता होगी ?, प्रश्न का उत्थान भी असंगत है। उस महाप्राकृत सम्वत्सर के समतुलन में तो सभी भूतभौतिक–पदार्थ–सर्वथा अंश–अंशतर–अंशतम– प्रत्यंशतम ही प्रमाणित हो रहे हैं। ऐसी दशा में इन के साथ उस का साम्य–विचार भी आपातरमणीय ही तो माना जायगा।

११०–प्राकृत अहिमाविगर्त्त का श्रद्धापूर्वक सम्मान—

किन्तु मानव को तो ऋषि ने इस आपातरमणीयता के क्षेत्र से बहिर्भूत ही मान लिया है। तो क्या मानव का प्राकृत स्वरूप (बुद्धिमन शरीरभावत्रयी) भी कालसम्वत्सररूपा–सौर–चान्द्र–पार्थिवी महाप्रकृति के समतुलन में (इसके पुरुषभाववत्) प्राथम्य–एवं प्रभुत्वता रख रहा है। नेति होवाच। प्राकृत जगत् में तो सर्वात्मना प्रकृति का ही सम्मान किया जायगा, जिस प्रकृतिसम्मान की उपेक्षा कर जगन्मिथ्यात्ववादी–ब्रह्मवादी वेदान्तीने अपना, और अपने साथ साथ सम्पूर्ण विश्व का भी अहित ही कर लिया है। समझा ही नहीं है उसने विवर्त्तरूपा प्रकृति के सृष्टिसर्गात्मिक स्वरूप को। आलम्यालम। महतीय विडम्बना अध्यासवादा–भक्तानां दार्शनिकानाम्। आस्तां तावत्।

१११–सम्वत्सर के दो अहोरात्रों के साथ मानव के दो प्राणों का समतुलन, एवं आश्चर्य्यमयी ऋषिदृष्टि के प्रति प्रणतभावेन नमो नमः—

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि–प्राकृत–समतुलन में प्रकृति का सम्मान करते हुए ऋषि ने ऋत–सम्वत्सर को प्रथम स्थान दिया, एवं मानवप्रकृति को द्वितीय स्थान। साथ ही एकमात्र मानव से ही इस साम्य का समतुलन करते हुए ऋषिने सङ्केतरूप से ही यह भी प्रमाणित कर दिया कि,—अन्यान्य प्राकृत–पदार्थ जहाँ प्रकृति के (ऋतसम्वत्सर के) प्रत्यंशमात्र हैं, वहाँ मानव का प्राकृत–स्वरूप तो सर्वात्मना तदभिन्न बनता हुआ प्रकृति का साक्षात् उसी प्रकार प्रतिमान की बना हुआ है, जैसे कि मानव का पुरुषभाव (आत्म–भाव) साक्षाद्रूप से अव्ययेश्वर का प्रतीक नहीं, अपितु प्रतिमान ही बन रहा है। सम्वत्सर में जैसा जो कुछ अथ से इति पर्य्यन्त व्याप्त है, व्यवस्थित है, मानवसर्ग में, मानव के प्राकृतभाव में वह सब कुछ उसी रूप से व्याप्त है, व्यवस्थित है। या मानव इतर प्राकृत–पदार्थों के समतुलन में कालप्रकृति से भी नेदिष्ठतम ही प्रमाणित हो रहा है। सममुच पुरुषभावेनापि परिपूर्ण है मानव, एवं प्रकृतिभावत्वेनापि परिपूर्ण ही है मानव। अतएव ऋषिने एकमात्र मानव के साथ ही (मानव के प्राकृत-स्वरूप के साथ ही) प्राकृत-सम्वत्सर को समन्वित माना है सम्वत्सर को प्रधानता देते हुए, प्रकृति का सम्मान करते हुए। अतएव पुरुषरूपता के समसमतुलन में जहाँ ऋषि ने—'पुरुष'इत्येक,–'सम्वत्सर' 'इत्येक' रूप से पुरुष को प्रधान, और सम्वत्सर को गौण माना था, वहाँ प्रकृतिरूपता के समतुलन में' द्वे वै सम्वत्सरस्य–अहोरात्रे, द्वाविमौ पुरुषे (प्राकृत–पुरुषे, पुरुषस्य प्रकृतिभावे वा) प्राणौ–अत्र तत्समम्' इत्यादि रूप से प्राकृत सम्वत्सर को प्रथम, एवं प्राकृत मानव को द्वितीय स्थान प्रदान किया है, इत्यहो आश्चर्य्यमयी ऋषिदृष्टिर्गहनगभीरतरसम्राद्दिश, इति–नमः–परम–ऋषिभ्य, नमः–परम–ऋषिभ्य प्रणतभावेन साञ्जलिबन्धम्।

११२–क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–कालाश्वरूप–ऋतसम्वत्सरात्मक– भूतपति से अनुप्राणित अण्डकटाहों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ग्रन्थखण्डमर्य्यादा की दृष्टि से सम्भवतः हम पुनः–विस्तारानुगामी बनते जा रहे हैं। अतएव ब्राह्मणोक्त साम्य के पारिभाषिक–समन्वय को यहीं उपसंहृत कर दिया जाता है। विशेष जिज्ञासुओं को महर्षि स्वैदायन की सुप्रसिद्ध अनतिप्रश्नात्मिका–असमाधेया प्रश्नावली से सम्बन्ध रखने वाले 'सम्वत्सर यज्ञरहस्य' के ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रकृत में केवल एक दो साम्यों का अन्यभावानुबन्धों से दिग्दर्शनमात्र ही कराता हुआ द्वितीय मन्त्रार्थ उपरत हो रहा है।

क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–कालाश्वरूप–ऋतसम्वत्सरात्मक-भूतपति–सम्वत्सर * का वृत्तभाव ही क्रान्ति–वृत्तात्मक वह 'अण्ड' है (त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त है), जिसके सूर्य्य–चन्द्र–भेद से दो 'कटाह' बन रहे हैं, जो कि पुराणभाषा में 'अण्डकटाह', एवं स्मृतिभाषा में 'शकल' नाम से प्रसिद्ध है ÷। इन दोनों सौर–चान्द्र–कटाहो के दाम्पत्यभाव से ही सर्वप्रथम 'द्यावापृथिवी' युग्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। सौरप्राणावच्छिन्न अर्द्ध अण्डकटाह ही द्युलोक है, एवं चान्द्रप्राणावच्छिन्न अर्द्ध अण्डकटाह ही पृथिवी है [जो सुप्रसिद्ध भूपिण्ड से पृथक् तत्त्व है]। सौरप्राण आङ्गिरस अग्नि है, तद्रूप द्युलोक ही 'पिता' है। चान्द्रप्राण भार्गवसोम है, तद्रूप पृथिवीलोक ही 'माता' है—'द्योष्पितः पृथिवि मातः' [ऋक्संहिता]। इसप्रकार क्रान्तिवृत्त–रूप ब्रह्माण्ड के दो अण्डकटाह ही सौर–चान्द्र–अग्नि–सोम–भावों से द्यु–पृथिवी–रूपेण पिता–माता–रूप उस दम्पतीभाव में परिणत हो रहे है, जिनके इस ऋताग्नि–ऋतसोमात्मक–दाम्पत्यभाव से ही सम्पूर्ण भूत–भौतिक–सर्गों का आविर्भाव हो रहा है यथापूर्व, जैसा कि–'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्–दिवं च पृथिवीं, चान्तरिक्षमथो स्वः' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है।

११३–सौर अर्द्धाण्डकटाह, चान्द्र अर्द्धाण्डकटाह, तदनुगत प्राकृतिक आधिदैविक दाम्पत्य, एवं तत्प्रसूतिरूप अर्द्धवृगलात्मक मानव–मानवी–रूप दाम्पत्य—

सौर अर्द्ध आकाश ही सम्वत्सर का 'अहः' भाग है, एवं चान्द्र अर्द्ध आकाश ही सम्वत्सर का 'रात्रि' भाग है। अहः आग्नेय है, सौर है, ऐन्द्र है। रात्रि सौम्या है, चान्द्री है, वारुणी है। 'अहोरात्राणि विदधत्' से इस सौर अर्द्धाकाश, तथा चान्द्र अर्द्धाकाश की ओर ही सङ्केत हुआ है। अहोरूप सौर अर्द्धाकाश दृश्यार्द्धाकाश, है, इसी से मानव का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। रात्रिरूप चान्द्र अर्द्धाकाश अदृश्यार्द्धाकाश है, इसी से मानवी का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। यों मानव, और मानवी क्रमशः सौर अण्डकटाह, एवं चान्द्र अण्डकटाह के प्रतिमान बने हुए हैं। दोनो के समन्वितरूप का ही नाम आध्यात्मिक–प्राकृत–सम्वत्सर है, जिसका द्युलोक मानव है, पृथिवीलोक मानवी है। अर्द्ध सौराकाशरूप मानव, तथा अर्द्ध चान्द्राकाशरूपा मानवी, दोनों के समन्वयात्मक द्यावापृथिव्य परिपूर्ण स्वरूप का ही नाम परिपूर्ण मानव है, जैसाकि–'सोऽयमाकाशः पत्न्या-

---

*–यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः (शत० ६।१।३।८)।

÷ ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे (मनुः)।

पूर्य्यते' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव, और मानवी क्योंकि अर्द्ध-अर्द्ध-अण्डकटाह-स्वरूप हैं। अतएव इनका एक पारिभाषिक नाम रख दिया है-'अर्द्धवृगल'। एक नींबू की दो समान फाँकें, एक चणों की दो समान दालें, ही इस अर्द्धवृगलता का समन्वय है। एक सम्वत्सर के दो शकल-दो खण्ड ही सम्वत्सर के द्यावा-पृथिवीरूप दो अर्द्धवृगल हैं, जिन इन दोनों अर्द्धवृगलों से मानव-मानवीरूप अर्द्धार्द्धभाग समतुलित हैं। और यों 'मानव-मानवी' रूप से मानवस्वरूप उस द्यावापृथिवीरूप-ऋताग्नि-ऋतसोमात्मक-क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-ऋतसम्वत्सरलक्षण प्राकृतिक सम्वत्सर से सर्वात्मना समतुलित हो रहा है, जैसाकि समतुलन मानवेतर अन्य किसी भूतभौतिकसर्ग के साथ अभिव्यक्त नहीं है।

११४-मानव-मानवी के समसाम्मुख्य से विष्वद्वृत्तीय पूर्ण सम्वत्सरमण्डल का संग्रह, एवं सम्वत्सर के ४८ अंशों के साथ मानव-मानवी के ४८ पर्शुओं (फँसलियों) का समतुलन—

क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सर का क्रान्तिवृत्त एक, तो मानव-मानवी का सम्मिलितरूप से पूर्णाण्डरूप वृत्त भी एक ही। क्रान्तिवृत्त का परिसर २४ अंश के व्यासार्द्ध से निष्पन्न हुआ है, जिस से पूरा परिसर ४८ अंशात्मक बन रहा है। ४८ अंशात्मक क्रान्तिवृत्तीय परिसर के २४ अंशों की अभिव्यक्ति तो मानव में होती है अर्द्धाण्डकटाह के माध्यम से, एवं २४ अंश ही अभिव्यक्त होते हैं अर्द्धाण्डकटाह के माध्यम से मानवी में। ये ही २४-२४-पर्शु (फँसलियाँ) हैं। क्रान्तिवृत्तीय अर्द्धभाग के २४ अंश ही मानव के २४ पर्शुओं के निर्माता हैं, एवं अर्द्धभाग के २४ अंश ही मानवी की २४ फँसलियों के निर्माता हैं। दोनों के सङ्कलन से ४८ फँसलियाँ हो जाती हैं, और यही क्रान्तिवृत्तीय परिसर के ४८ अंशों के साथ मानवसंस्था का समतुलन है। क्रान्तिवृत्तीय सात पृष्ठपरवृत्तों में से मध्य का वृत्त ही 'बृहतीछन्द' है, जिसे व्यवहारभाषा में-'विष्वद्वृत्त' कहा गया है। इसी से मानव मानवी के मेरुदण्ड का निर्माण हुआ है। मानव-मानवी के समसाम्मुख्यरूप दाम्पत्यभाव में दोनों के मेरुदण्ड मिल कर एक परिपूर्ण (पूरा) विष्वद्वृत्त बन जाता है। जिसप्रकार मध्यस्थ विष्वद्वृत्त से दक्षिणोत्तर पर्शुस्थानीय २४ अंश आबद्ध हैं उस सम्वत्सर में, ठीक उसी प्रकार से अंशस्थानीय २४ पर्शु विष्वद्वृत्तस्थानीय मेरुदण्ड से आबद्ध हैं। पर्शु संलग्न हैं मेरुदण्ड से वर्तुलवत् बनते हुए क्रान्तिवृत्तीया पार्थिवगति से सम्बन्ध रखने वाली दक्षिणोत्तर की परमक्रान्तियों से। इसप्रकार मानव मानवीरूप मानवीय दाम्पत्यसर्ग सर्वात्मना क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर से समतुलित है। यही अपने भूतभौतिक-मानवादि-स्तम्बान्त-सर्ग के साथ सम्वत्सरकाल का वह अञ्जनभाव (व्याप्तिभाव) है, जिसे लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है-'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्ज्यत'-(प्रतिमानरूपेण मानवसर्गे, अंशरूपेण च इतरसर्गेषु)।

११५-अक्षरप्रधान सत्यसम्वत्सर, क्षरप्रधान ऋतसम्वत्सर, एवं सत्यगर्भित ऋतसम्वत्सर की कालात्मता का समन्वय—

काल के दो स्वरूप उपस्थित हुए पूर्वसन्दर्भापेक्षया हमारे सम्मुख, जिन्हें क्रमशः सत्यसम्वत्सर, एवं ऋतसम्वत्सर नामों से व्यवहृत किया गया है। दोनों क्रमश अक्षर-क्षर-प्रधान बनते हुए अमृत-मृत्यु-रूप हैं। प्राण 'अमृत' तत्व है। यही अक्षर है, एवं तद्रूप सत्यसम्वत्सर ही 'अमृत-सम्वत्सर'-है-'प्राणो वै

सम्वत्सरः' (ताण्ड्यब्रा, ५।१०।३) । भूत 'मृत्यु' तत्त्व है, यही–'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार क्षर है, तद्रूप ऋतसम्वत्सर ही 'मृत्यु–सम्वत्सर' है–'एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः' (शत० १०।४।३।१)। अक्षरामृतरूप सत्यसम्वत्सर का नाम है अमूर्त्त अव्यक्त-काल, एवं क्षरमृत्युरूप ऋतसम्वत्सर का नाम है मूर्त्त-व्यक्त–काल । अथर्ववेदीय–कालसूक्त में दोनों को एकरूप मानते हुए दोनों का 'कालाश्व' नाम से संग्रह हुआ है । कालाश्व का पूर्वरूप (अव्यक्ताक्षररूप) ही सत्यसम्वत्सर है, एवं कालाश्व का उत्तररूप (व्यक्तक्षररूप) ही ऋतसम्वत्सर है । सत्यसम्वत्सर मानव के सत्यधर्म्मा 'अव्ययपुरुष' से समतुलित है, तो मानव का ऋतधर्म्मा प्राकृतात्मक प्राकृतिक स्वरूप ऋतसम्वत्सर से समतुलित है । यों पुरुष–प्रकृति भावानुबन्ध से दोनों सम्वत्सर मानवसंस्था में समन्वित हो रहे हैं, एवं यही सम्वत्सर की अञ्जनरूपा व्याप्ति का संक्षिप्त निदर्शन है । अब इस दिशा में केवल यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न यही शेष रह जाता है कि–सत्य–ऋत–भावापन्न, अव्यक्त–व्यक्त–मूर्त्ति–अमूर्त्त–मूर्त्त–इस कालाश्व को 'सम्वत्सर' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?, किंवा कालाश्वप्रजापति 'सम्वत्सर' नाम से कैसे प्रसिद्ध होगए ? । इसी शेषप्रश्न का समाधान करता हुआ द्वितीय मन्त्र का यह शेषांश हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है कि–'कालः स ईयते प्रथमो नु देवः' ।

११६--कालाश्व की यजुःप्राणात्मिका गति, एवं 'कालः स इयते प्रथमो नु देवः' भाग का समन्वय—

मन्त्रभाग का 'ईयते' यह क्रियापद ही कालाश्व के 'सम्वत्सर' नाम का समन्वय कर रहा है । गत्यर्थक 'इण्' धातु से कर्म्म में 'यक्' प्रत्यय के द्वारा ही–'ईयते' क्रियापद सम्पन्न हुआ है । अव्यक्ताक्षरप्राण ही वह यजुःप्राण है, जिसे हमने पूर्वपरिच्छेदों में 'गति' तत्त्व कहा है, एवं तत्रैव जिसके आगति–गति–स्थिति–भावों का स्वरूप–विश्लेषण हुआ है । ऋक्सामरूप वयोनाध (छन्द) पर आरूढ वयोरूप गतिधर्म्मा यजुःप्राण ही अपने स्वायम्भुवरूप से अव्यक्तकाल कहलाया है, एवं यही अपने सौररूप से व्यक्त कालाश्व कहलाया है । प्राण का अव्यक्तभाव ही प्राणप्रधान अक्षरभाव है, एवं प्राण का व्यक्तभाव ही भूतप्रधान क्षरभाव है । इन दोनों अमृत-मर्त्य-भावों की समन्वितावस्थाका नाम ही 'कालप्रजापति' है, जिसका अर्द्ध भाग अमृतप्राणाक्षरात्मक है, तो अर्द्ध भाग मृत्यु–क्षरात्मक है * । अमृतमृत्युरूप कालाश्व की मूलप्रतिष्ठारूप विशुद्ध–निरपेक्ष-स्थितिरूप वह अव्ययब्रह्म है, जिसका यह कालाश्व प्रतीकविधि से दृष्टान्त बन रहा है । वही अनन्ताव्ययब्रह्म 'समब्रह्म' कहलाया है सर्वत्र समरूपेण समवस्थित रहने के कारण । इस 'सम' का संग्राहक ही 'सम्' उपसर्ग माना गया है, जिसका अर्थ है-'एकीभाव' (समित्येकीभावे) । प्रकृतिमूलक नानाभावों, भेदभावों को एकरूप में परिणत किए रहना उसी समब्रह्म का धर्म्म है । अतएव प्राणगतिरूप कालाश्व इसी 'सम्' रूप 'समाव्यय' से एक 'वत्सर' बन रहा है, जो इस 'सम्' के सम्बन्ध से ही आगे चल कर–'सम्वत्सर' रूप में परिणत होगया है । अव्ययब्रह्माधारेण एकत्वभाव में परिणत नानाभावानुबन्धी गतिरूप प्राकृतिक विवर्त्त ही–'सम्वत्सर' शब्द का पारिभाषिक समन्वय है ।

---

* अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्–अर्द्धममृतम् ।

११७–कालाग्नि की सम्वत्सरता का समन्वय, एवं 'सम्वत्सर' शब्द का निर्वचन—

'सम'–एकत्र वसन्–सन्–स्मरति–गच्छति' ही 'सम्वत्सर' शब्द का एक निर्वचनार्थ है। जिसका तात्पर्य यही है कि, किसी एक धरातल पर प्रतिष्ठित–सीमित–रहता हुआ गतिशील प्राण ही सम्वत्सर है। और यही प्राणप्रधान–अक्षरात्मक–सत्यसम्वत्सर का निर्वचन है, जबकि भूतप्रधान–भूतपति–क्षरात्मक–ऋत–सम्वत्सर का निर्वचन उक्त निर्वचन से सर्वथा विभिन्न ही माना गया है। इस द्वितीय निर्वचन में 'सम्वत्सर' शब्द का वास्तविक रूप है–'सर्वत्सर', जो परोक्षभाषादृष्टि से–'सम्वत्सर' कहलाने लग पड़ा है। 'सर्वतः–त्सरति–गच्छति' ही 'सर्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ है। क्रान्तिवृत्त का वृत्तत्व 'छद्मगति' से ही सम्पन्न हुआ है (त्सरति–छद्मगतिभावेन सम्पन्ना भवति–त्सर–छद्मगतौ)। 'कुटिलगति' का नाम ही छद्मगति है, एवं यही 'त्सरति' है।

११८–सम्वत्सराधिपत्य के लिए देवासुरों की प्रतिद्वन्द्विता, एवं तत्र देवताओं का विजय, तथा असुरों का पराभव—

तात्पर्य यही है कि–वृत्त की प्रतिबिन्दु कुटिल बनी रहती है। यह कौटिल्य ही वृत्त का स्वरूप निष्पादक बना रहता है। सूर्य्य सम्वत्सरमण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। यह अपने सहजाकर्षण से स्वप्रवर्ग्यभूत भूपिण्ड को केन्द्र की ओर आकर्षित करता रहता है। इसी सौरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड गतिशील बन जाता है। सौर प्राण ही इन्द्र कहलाया है। इन्द्रप्राणरश्मियों के प्राणनरूप आघात से उसी प्रकार भूपिण्ड गतिशील बन जाता है, जैसे कि पदाघात से कन्दुक (गेंद) घूमती हुई गतिशीला बन जाती है *। प्रश्न होता है कि, सौरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड स्वस्थान से सूर्य्य की ओर गतिशील रहता हुआ सूर्य्यकेन्द्र में ही क्या नहीं विलीन हो जाता ?। इस प्रश्न का समाधान है प्राणाकर्षण। जिसप्रकार सौरप्राण भूपिण्ड को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है, तथैव स्वयं भूपिण्ड भी अपने प्राणाकर्षण से सूर्य्य को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। इस समानाकर्षण का नाम ही वह देवासुरप्रतिद्वन्द्विता है, जिसमें प्रतिद्वन्द्वी बने हुए सौरप्राणरूप देवदेवता, तथा पार्थिव तमोरूप (समानुगत) असुर–'अस्माकमेवेदं खलु–भुवनम्–अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' रूप से भूपिण्ड को स्वाधिकार में रखने की प्रतिस्पर्द्धा करते रहते हैं। पार्थिव स्वात्मपरिभ्रमणापेक्षया आंशिक सफलता भी मिलती है असुरों को भूपिण्ड पर स्वस्वाधिकार–प्रतिष्ठित कर लेने में। किन्तु अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विजय सौरदेवताओं को ही उपलब्ध होता है। सम्वत्सरमण्डलापेक्षया असुर पराभूत ही हो जाते हैं। सम्वत्सरमाध्यम से भूपिण्ड सूर्य्यमण्डलाभिगामी ही बना रहता है। भूपिण्ड के सूर्य्यप्रतिदिक् का तमोमय अर्द्धभाग भले ही असुरों की सम्पत्ति बन रहा हो। किन्तु सूर्य्यानुगत–ज्योतिर्म्मय–अर्द्धभूपिण्ड, एवं सूर्य्यसम्मुखावस्थित इस अर्द्धभूपिण्ड से सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्त–वितानभावात्मक पृथिवीमण्डल पर तो सौरदेवप्राणों का ही असपत्न साम्राज्य रहता है। देवदूत 'अग्नि' के द्वारा इस अदिति पृथिवी पर सौर देवताओं का आधिपत्य हो जाता है, जबकि असुरदूत 'सहरक्षा' नामक आसुराग्नि अपने दौत्यकर्म में असफल ही बने

११५ रहे हैं। (देखिए–शतपथब्रा० ।१।४।१।२४।)

*—

यत् इन्द्रमवर्द्धयत्–यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि। (ऋक्संहिता ८।१४।५)।

है। प्राण अमृत'

११६–सौर–पार्थिव–आकर्षणमूला–गति की सर्वत्सरता का समन्वय, एवं तन्मूलक 'सर्वत्सर' रूप 'सम्वत्सर'—

उक्त आकर्षण की प्रतिस्पर्द्धा से प्रकृत में यही बतलाना है कि, समानाकर्षण से न तो सूर्य्य ही भूपिण्ड से संलग्न होपाता, एवं न भूपिण्ड ही सूर्य्य से संलग्न होता। अपितु नियत स्थान पर ही व्यवस्थित होता हुआ भूपिण्ड सूर्य्याभिमुख बना रहता है। समानाकर्षणमूला दो गतियाँ 'स्थिति' भाव की जननी बन जाया करतीं हैं। समानबलशाली दो मल्लों के द्वारा अपनी अपनी ओर आकर्षित किए जाने वाली रज्जु स्थिर होजाया करती है। यदि सूर्य्य, और भूपिण्ड में समानाकर्षण है, तो सूर्य्यवत् भूपिण्ड को भी स्थिर हो जाना चाहिए था। किन्तु ऐसा है नहीं। स्थिर सूर्य्य के चारों ओर नियत–अन्तर से भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है। ऐसा क्यों ?, प्रश्न का उत्तर है समानाकर्षणानुगता सौरप्राणगति की बलवत्ता। 'आकर्षण'–त्वेन दोनों गतियाँ समाना हैं। किन्तु सूर्य्य का आकर्षण कहीं प्रबल–प्रबलतर–प्रबलतम है भूपिण्डप्राणाकर्षण के समतुलन में। अतएव दोनों आकर्षणों में बलवत्तम सौर आकर्षण का ही विजय होजाता है। भूपिण्ड को सूर्य्याभिमुख बनते हुए गतिशील बन जाना पड़ना है उसी प्रकार, जैसेकि अपनी अपेक्षा से कहीं बलवत्तम प्रमाणित पारमेष्ठ्य आकर्षण से (भूपिण्डापेक्षया स्थिर बने हुए) सूर्य्य को भी परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाते रहना पड़ता है। किंवा जैसेकि सूर्य्यापेक्षया स्थिर भी परमेष्ठी को स्वापेक्षया बलवत्तम स्वयम्भू के चारों ओर घूमते रहना पड़ता है। इस प्राकृतिक परिभ्रमण-मर्य्यादा से तो एकमात्र स्वयम्भू ही अतीत माने गए हैं–'ऊर्ध्वस्तस्थौ' *।

सौरप्राबल्य से भूपिण्ड गतिमान् बन गया, चल पड़ा। किस ओर चल पड़ा भूपिण्ड ?, अब यह प्रश्न उपस्थित होपड़ा। प्रत्यक्षदृष्ट्या तो यही समझ में आ रहा है कि. अपने सत्यभावापन्न ऋजुधर्म्म से गति भी ऋजुपथ का ही अनुसरण करती है। किसी पिण्ड को कराघात से जब हम गति प्रदान करेंगे (फेंकेंगे), तो वह कराघातानुगता ऋजुदिशा में (सीधा) ही तो गतिशील बनेगा। इसी सामान्य नियमानुबन्ध से गति–मान् भूपिण्ड को भी ऋजुभाव का ही अनुसरण करना चाहिए था। किन्तु ऐसा होता नहीं। होता यह है कि-जिस बिन्दु पर भूपिण्ड प्रतिष्ठित है, वह ऋजुभाव से यद्यपि जाना चाहता है सीधा ही, किन्तु सौर-केन्द्राकर्षण से भूपिण्ड की यह बिन्दुगति ऋजुभाव को छोड़कर छद्मगतिरूप में परिणत हो जाती है, कुटिलगतिरूप में परिणत होजाती है। कुटिलबिन्दु से पुनः–ऋजुभाव की अनुगति का प्रयास, तो पुनः उसी हृदयाकर्षण से उत्तरबिन्दुगति की कुटिलभाव में परिणति। इस धारावाहिक–बिन्दु–बिन्दु–कौटिल्य का परिणाम यह होता है कि, कुटिलभावानुगता ऋजुगतिसमष्टि से वृत्तभाव आविर्भूत हो पड़ता है। प्रतिबिन्दु की कुटिताओं की समष्टि का नाम ही वृत्तात्मक मण्डल है, यही निष्कर्ष है। और यही सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त की–'सर्वतः–त्सरति' (सब ओर से, प्रति बिन्दु–बिन्दु–रूपेण–कुटिल–गतिमान्) रूप 'सर्वत्सर' मात्र है, एवं यही क्रान्तिवृत्तात्मक ऋत–व्यक्त–नामक दूसरे मर्त्यसम्वत्सर के तत्त्वसम्मत 'सर्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ-समन्वय है।

---

*–तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥
—ऋक्सं० १।१६४।१०।

१२०-द्वितीय मन्त्रार्थोपराम—

उक्त सर्वत्सरता का परिणाम क्या होता है ?, दूसरे शब्दों में आकर्षण-विकर्षण-मूलक इस पार्थिव-परिभ्रमण का लाभ क्या है ?, उपयोगिता क्या है ?, प्रश्न का समाधान भी 'सम्वत्सर' शब्द के गर्भ में ही निहित है। कुटिलपरिभ्रमणात्मक सर्वत्सरभाव से ही क्रान्तिवृत्तीया सम्पूर्ण भूतमात्राएँ प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सर-मण्डल से पृथक् होकर भूत-भौतिक-पदार्थों के निर्म्माण में उपयुक्त होती रहती हैं। यदि यह छन्नगति न होती, तो सम्वत्सरमात्राओं का विस्रसन-क्षरण-असम्भव था। क्षरण के अभाव में क्षरभूतपदार्थों का निर्म्माण असम्भव था। यह गतिभाव ही विस्रसन के माध्यम से भूतसर्ग का जन्मदाता बन रहा है, एवं यही सर्वत्सररूपा नियमित गति की महती उपयोगिता है। इस सर्जात्मक क्षरण से भी इस भूतसम्वत्सर को-'सर्वत्सर' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। इसी निर्वचन-रहस्य का समष्टिरूप से संग्रह करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—

स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत। अथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम-इवास, तां रात्रिमकुरुत। तेऽअहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः-'सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षि' इति-स 'सर्वत्सरो'ऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्, यत्-'सम्वत्सर' इति।

—शत० ११।१।६।११,१२,।

इति द्वितीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

२

—*—

(३)-तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

१२१-'पूर्णः कुम्भोऽधिकाले-आहितः' इत्यादि तृतीय मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

३--पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्काल तमाहुः परमे व्योमन्॥

'उस काल के आधार पर ही (काले-अधि, काल में ही) पूर्णकुम्भ प्रतिष्ठित है, जिस पूर्णकुम्भ को हम सन्तगण (मन्त्रद्रष्टा-सत्तात्मकोपासक महर्षि) अनेकरूप से देखते रहते हैं। (अनेकरूपा में प्रतीयमान) यह पूर्णकुम्भ ही इन सम्पूर्ण भुवनों-लोकों का आत्मा (प्रभवात्मिका आभ्यन्तरप्रतिष्ठा) बना हुआ है। (जिस काल में भूतप्रतिष्ठारूप पूर्णकुम्भ प्रतिष्ठित-आहित है) उस काल को (वैज्ञानिक) महर्षि-"परमेव्योमन् (परमाकाश) कहा करते हैं (जिसका कोई मापदण्ड नहीं है)" इत्याद्यक्षरार्थात्मक प्रकृत

तृतीय मन्त्र के द्वारा कालपुरुष के अव्यक्त–व्यक्त–नामक उन्हीं दोनों विवर्त्तों का एक अन्य दृष्टिकोण से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिन दोनों विवर्त्तों का द्वितीय मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में सत्यसम्वत्सरात्मक–अमूर्त्त–अव्यक्त–काल, तथा ऋतसम्वत्सरात्मक-मूर्त्त-व्यक्त-काल रूप से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। 'कालः काले आहितः' (काल काल में हीं प्रतिष्ठित है) इस सूत्र के माध्यम से ही हमें प्रस्तुत तृतीय-मन्त्रार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए।

१२२–महाविश्व में पूर्णकुम्भ का अन्वेषण--प्रयास, एवं तदनुबन्धेनैव कूर्म्मप्राणी, तथा कूर्म्मप्रजापति का दृष्ट्यनुबन्धी–संस्मरण—

मन्त्रार्थसमन्वय के लिए सर्वप्रथम हमें उस 'पूर्णकुम्भ' के स्वरूप का अन्वेषण कर लेना है, जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय का विषय बना करता है, किंवा अन्यान्य भूतादि पदार्थों की भाँति जिस पूर्णकुम्भ को हम अनेक रूपों मे विभक्त देखा करते हैं। किसी निरावरण प्रान्त में जाकर स्वस्थतापूर्वक-प्रकृतिस्थ बन खड़े हो जाइए, एवं जिस भूपृष्ठबिन्दु पर आप खड़े हों, वहाँ से खड़े खड़े ही अपने चारों ओर के निरावरण प्रान्त पर दृष्टि डालिए। क्या देखेंगे आप इस दृष्टिनिपेक्ष के द्वारा ?। उत्तर स्वयं आप ही यह देदेंगे कि–"चारों ओर सर्वथा वर्त्तुल (गोलाकार) पार्थिव धरातल, एवं वर्त्तुल पार्थिव धरातल के वर्त्तुलान्त परिधिमण्डल से सलग्न एक तने हुए वर्त्तुल ही छाते के आकार का आकाशमण्डल ही हम देख रहे हैं"। मस्तकोर्ध्वभागीय आकाशवृत्त, दूसरे शब्दों मे तने हुए छाते, किंवा गुम्बारे की भाँति, किंवा अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्न शिरःकपाल * की भाँति चारों ओर उत्तरोत्तर अधोऽधः नत होता हुआ पार्थिव वर्त्तुल क्षितिज से संलग्न खगोलीयवृत्त, और तत्संलग्न सपाट पार्थिव–वर्त्तुल-धरातल, ऐसे प्रत्यक्षदृष्ट आकार से समतुलित कोई प्राणी क्या आपने कभी इस धरातल पर देखा है ?। आप कहेंगे, देखा है, और अनेक बार देखा है। वही दृष्ट–श्रुत–वर्णितोपवर्णित प्राणीविशेष 'कूर्म्म' (कछुआ) नाम से प्रसिद्ध है आपके लोकव्यवहार में। कूर्म्म का ऊपर का वेष्टन ऊर्ध्व आकाशवृत्त से समतुलित है, एवं कूर्म्म का भूसंलग्न अधोभाग सपाट पार्थिवधरातल से समतुलित है। निरावरणप्रान्तीय पूर्वोक्त दृश्य से यों कूर्म्मप्राणी सर्वात्मना समतुलित है। कठोर कमठपृष्ठ ही मानो ऊर्ध्वाकाश है, एवं कोमल कमठाधोभाग ही मानो पार्थिव धरातल है।

१२३–अग्निचयनमूला कूर्म्मचिति, तत्प्रतीकमाध्यमेन कश्यपप्रजापति का संस्मरण, एवं प्राणात्मक कश्यप, तथा प्राणीरूप कूर्म्म के आकारों का समतुलन—

कूर्म्म का अन्वर्थ नाम है 'कश्यप'। क्योंकि यह अपने कशभागों से ही पानी पीता है–(कशाभ्यां पिबतीति कश्यपः)। इस प्राणी का कश्यप नाम वर्णविपर्य्ययरूप से ऋतसम्वत्सरप्रजापति के साथ सम्बद्ध होगया है। अतएव वह 'कश्यपप्रजापति' कहलाने लग गया है। क्या वह कशों से पानी पीता है ?। नहीं,

*--अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
—शतपथब्रा० १४।५।२।२५।

अपितु उसकी कश्यपना तो वर्णविपर्य्ययमूला पश्यकता से अनुप्राणिता है-'कश्यप कस्मात्-पश्यको भवति'। कश्यप (कछुए) के रूप में परिणत होकर ही वह अपने विश्व का पश्यक बन रहा है। अतएव पश्यकरूप उस कश्यपाकार को 'कश्यप प्रजापति' कह दिया जाता है। यही क्योंकि अपने भूत-भौतिक-मर्त्य-प्रजासर्ग का कर्त्ता है। अतएव 'यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः' इस निर्वचन के आधार पर उस पश्यक का नाम 'कूर्म्मप्रजापति' भी होगया है, जिसका पुराणशास्त्रने-'कूर्म्मावतार' रूप से विशद निरूपण किया है। जिसप्रकार कश्यपप्राणी का कश्यप नाम पश्यकधर्म्मत्वेन उस 'कर्तृधर्म्मा कूर्म्म प्रजापति' से समन्वित होगया है, तथैव उस 'कूर्म्म' का नाम इस कश्यपप्राणी के साथ समन्वित होगया है। यों कश्यप (कछुआ) 'कूर्म्म' नाम से, तथा कूर्म्म (प्रजापति) 'कश्यप' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। इस प्रसिद्धि का मूल है-प्राण, और प्राणी की प्राणनिबन्धना समानता। योंतो सभी प्राणी कूर्म्मप्रजापति के प्राण से ही सम्भूत हैं। किन्तु कूर्म्मप्रजापति के साम्वत्सरिक प्राण का आपोमय-अब्गर्भित-मूल-कूर्म्मप्राण कश्यपप्राणी में क्योंकि अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रधान बना रहता है। अतएव इस कश्यपप्राणी को उस आपोमय-पूर्वनिर्दिष्ट छन्दोमय आकार से आकारित-छन्दित-कूर्म्मप्राण का प्रतिमान मान लिया है। जिसप्रकार वह कूर्म्मप्राण चारों ओर से अर्णव-समुद्र से वेष्टित रहता है, तथैव तत्प्राणप्रधान यह कश्यपप्राणी भी अब्गर्भ में ही सञ्चरण करता रहता है। अतएव सम्वत्सराग्निचिति में उस आपोमय-अब्गर्भित कूर्म्मप्राण के संग्रह के लिए कश्यपप्राणी का भी समावेश होता है, जैसाकि-'स कूर्म्ममुपदधाति। अवका उपरिष्टात्, अवका अधस्तात्' (शतपथ) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राणों, एवं तद्रूप विभिन्न प्राणियों के इसी साम्य से भारतीय तत्त्वविज्ञानकाण्ड में नामकरण व्यवस्थित हुआ है। अश्व-गौ-वृषभ-महिष-उष्ट्र-रासभ-मयूर-कोकिल-आदि आदि जो भी प्राणी-नाम सुने जाते हैं, वस्तुतः ये सब प्राकृतिक प्राणों के ही नाम हैं। प्राण-नाम से ही प्राणी-नाम प्रसिद्ध हुए हैं। एवं प्राणधर्म्मानुबन्ध से ही वैदिकी-'प्राणीविद्या' (जन्तुविद्या-जन्तुशास्त्र) व्यवस्थित हुई है। इसी प्राणसाम्य से प्रकृत में हमने प्राकृतिक कूर्म्मप्राण की प्रतिकृतिरूप कश्यपप्राणी का दिग्दर्शन करा दिया है उस कूर्म्मप्राण के प्रत्यक्षदृष्ट आकारविशेष के समतुलन-माध्यम से।

१२४-पारमेष्ठ्य विष्णुभगवान् के कूर्म्मावतार का समन्वय—

हाँ, तो अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना चाहिए कि, इस कश्यपप्राणी के आकार से समतुलित पूर्वप्रदर्शित शिरस्त्राणप्रान्तीय द्रव्य का ही नाम 'कूर्म्मप्रजापति' है, जिस में दधि-घृत-मधु-ये तीन रस समाविष्ट हैं, और सत्यसम्वत्सराग्नि से विनिर्गत द्रवभावापन्न प्रवर्ग्यात्मक आपोमय रसाग्नि ही कूर्म्म की स्वरूपव्याख्या है, जिसका-'तस्यै य पराङ् रसोऽत्यचरत्, स कूर्म्मोऽभवत्' (शत० ६।१।१।१२) इत्यादिरूप से निरूपण हुआ है। सत्यसम्वत्सरप्रजापति के प्रथमावतार-स्थानीय ऋतसम्वत्सरप्रजापति का नाम ही 'कूर्म्मवतार' है, जिसे 'आपोमय अग्न्यवतार' कहा जायगा। सत्यसम्वत्सर आग्नेय प्राणात्मक है। अतएव उस में आप्यप्राणात्मक आसुरभाव का प्रवेश निषिद्ध माना गया है, जबकि उसी सत्यसम्वत्सर के 'मरीचि' नामक आप समुद्र (अर्णवसमुद्र) के गर्भ में ऋताग्नि-ऋतसोम से समन्वित ऋतसम्वत्सर आपोभाव से देवासुरप्रतिद्वन्द्विता की क्रीडास्थली बन रहा है, जैसाकि पूर्व के 'सर्वत्सरात्मक' सम्व सर-नामनिर्वचन प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। आपोमय अर्णवसमुद्र का गर्भीभूत, अतएव आपोभाव से चारों ओर से

परिवेष्टित ऋताग्नि ऋतसोमात्मक-त्रैलोक्यरसमूर्त्ति ऋतसम्वत्सर ही 'कूर्म्म' है । अतएव इसे आपोमय-रसाग्निसोममूर्त्ति (ऋताग्निसोममूर्त्ति) भी कहा जासकता है । इसी साम्वत्सरिक कूर्म्म को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

रसो वै कूर्म्मः । यो वै स एषां लोकानां-अप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्म्मः । यावानु वै रसः, तावानात्मा । स एष इमऽएव लोकाः ।

—शत० ७।५।१।१।

१२५-स्तौम्य--पार्थिव--उख्या--रूपा कूर्म्मत्रिलोकी, एवं तदाधारभूता रोदसीत्रिलोकी-

ऋताग्निसोमरसात्मक इस कूर्म्मप्रजापति की व्याप्ति पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक उस त्रैलोक्य में है, जो पार्थिवी स्तौम्यत्रिलोकी कहलाई है । सत्याग्नि-सत्यसोमात्मक (सूर्य्य-चन्द्रमात्मक) सत्यसम्वत्सर भी त्रैलोक्यात्मक है, एवं ऋतसम्वत्सरात्मक कूर्म्म भी त्रैलोक्यात्मक है । किन्तु दोनों त्रिलोकियों के स्वरूप में महान् विभेद है । सत्यसम्वत्सर की त्रिलोकी में सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-रूप तीन लोक हैं, जबकि ऋतसम्वत्सर में भूपिण्ड से संलग्ना महिमा पृथिवी के (जो महिमापृथिवी अपने रथन्तरसाम से सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्ता मानी गई है) त्रिवृत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१)-नामक तीन पार्थिव-स्तौम्य लोक हैं, जिसे स्तौम्यत्रिलोकी-पार्थिवत्रिलोकी--उख्यात्रिलोकी-कूर्म्मत्रिलोकी-इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है । उधर वह सत्यसम्वत्सरत्रिलोकी-'रोदसीत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है ।

१२६-कूर्म्मरूप कश्यपप्रजापति से काश्यपी-प्रजा की प्रवृत्ति, एवं तदाधारभूत श्रौतसन्दर्भ का समन्वय—

पार्थिव-त्रिलोकी (पार्थिव-महिमामण्डलात्मक स्तोमानुबन्धी त्रैलोक्य) के पृथिवी का घनरस ही दधि है, अन्तरिक्ष का तरलरस ही घृत है, एवं द्युलोक का विरलरस ही मधु है । यों तीनो लोक तीनों रसों से समाप्लुत हैं । कूर्म्मप्रजापति इन तीन रसों की समाप्लुतावस्था ही है । इन्हीं त्रैलोक्य-कूर्म्मरसों से प्राणियों के घन-तरल-विरल-रसभावों का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है । ऊपर ऊर्ध्वकपाल, नीचे समानधरातलात्मक अधः कपाल, दोनों कपालों का मध्यविवर, ये ही द्यौः-अन्तरिक्ष-पृथिवी-नामक तीन लोक हैं कूर्म्मप्रजापति के, जो अपने एक ही रस से लोकभेद से घन-तरल-विरल-अवस्थाओं में आते हुए त्रिरसात्मक बने हुए हैं । इस आकाररूप-छन्दोरूप-में परिणत होकर ही कूर्म्मप्रजापतिरूप ऋतसम्वत्सर पार्थिवप्रजा का सर्जन करते है । इस प्रजासर्गकर्तृत्व से ही इन्हें-'कूर्म्म' कहा जाता है । ये ही प्रजा के द्रष्टा-स्रष्टा बनते हुए 'पश्यक' हैं । पश्यकत्वेनैव इन्हें (वर्णविपर्य्य से) 'कश्यप' भी कहा गया है । सम्पूर्ण प्रजा इसीसे उत्पन्न हैं । अतएव लोक में [उस विज्ञानयुगात्मक पूर्वलोक में-अतीत युग में] यह लोकव्यवहार प्रसिद्ध है [था] कि-'सम्पूर्ण प्रजाएँ काश्यपी ही तो हैं, * । कूर्म्मप्रजापति के इसी स्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

---

*-इसी परम्परा के आधार पर राजस्थान में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि-'जिसका कोई गोत (गोत्र) नहीं, उसका कश्यपगोत (कश्यपगोत्र)" ।

तस्य यदधरं कपालं–अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित–इव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरं–सा द्यौः। तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः। अथ यदन्तरा–तदन्तरिक्षम्। स एष इमऽएव लोकाः। तमभ्यनक्ति–दध्ना, मधुना, घृतेन। दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स यत्कूर्म्मो नाम–(तदुच्यते)। एतद्वै रूप कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत, अकरोत्तत्। तत्–यत्–अकरोत्, तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः–सर्वाः प्रजाः काश्यप्य' इति।

—शत० ७।५।१।२ से ५ वीं कण्डिकापर्यन्त

१२७–खगोलीय–भूगोलीय स्वस्वस्तिक–अधःस्वस्तिक भावों का समन्वय, तदनुबन्धी जन्मलग्न, एवं एककाल में सम्पूर्ण विश्व में एक ही प्राणी की प्रसूति का दिग्-दर्शन—

जो त्रैलोक्यविभाग, एवं देवविभाग सत्यसम्वत्सर में हैं, वे ही लोकादि विभाग 'कूर्म्म' रूप ऋतसम्वत्सर में हैं। अन्तर केवल अक्षर–क्षरात्मक अमृत–मृत्युभावों का है। सत्यसम्वत्सर अक्षरप्रधान बनता हुआ जहाँ अक्षुण्ण है, अमृत है, वहाँ ऋतसम्वत्सर क्षरप्रधान बनता हुआ विस्रस्त – है, मृत्यु है। अन्य सभी भावों में यह उसकी प्रतिमा ही बना हुआ है, जिस इस प्रतिमाभूत, कूर्म्मरूप ऋतसम्वत्सर का 'प्रतिमान' ही माना गया है मानवसर्ग। आकारसाम्यानुगत सर्वसाम्य 'प्रतिमासाम्य' है, एवं तत्त्वानुगत आंशिक साम्य 'प्रतिमान-साम्य' है। उस सम्वत्सर के प्रतिमारूप इस सम्वत्सर के प्रतिमान का नाम ही मानवसर्ग है। प्रत्येक मानव क्योंकि स्व–स्व–गुणाभिव्यक्तित्व से परिपूर्ण है। अतएव प्रत्येक परिपूर्ण मानव का स्रष्टा कूर्म्मप्रजापति भी पृथक् पृथक् है। मानव के शिरोऽन्त स्थानीय ब्रह्मरन्ध्र में आबद्ध आकाशवृत्तीय केन्द्र का नाम है–'स्वस्वस्तिक', एवं मूलग्रन्थ्यनुगत भूत्तीय केन्द्र का नाम है–'अध स्वस्तिक'। इन दोनों ऊर्ध्वाध –द्यावापृथिव्य स्वस्तिक–केन्द्रों के आधार पर ही गर्भस्थ मानव के नाभिकेन्द्र में सलग्न स्वतन्त्र कूर्म्मत्रिलोकी का आविर्भाव हो जाता है, जिसकी इत्यादि त्रयी में ही मानव का स्वरूप–निर्माण होता है, जिस इस फलितज्योतिर्मानानुगत सुसूक्ष्म रहस्य के लिए तो–'लग्नविद्या' का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

जैसाकि–मन्त्रार्थ का उपक्रम करते हुए कहा गया था, निरावरणप्रान्त में जहाँ भी मानव खड़ा होता है, वहीं के स्वस्वस्तिक–अध स्वस्तिक के आधार पर मानवकेन्द्र के माध्यम से जो कूर्म्माकार बनेगा, वही इस मानव का अपना कूर्म्मत्रैलोक्य कहलाएगा। इसी प्रातिस्विक लग्न का नाम जन्मकाल होगा, यही खगोलीय ग्रहोपग्रहों का व्यवस्थापक होगा, यही 'समय' कहलाएगा, जो प्रत्येक मानव का पृथक् पृथक् ही होगा ग्रहनक्षत्रों

---

१. प्रजापतेर्हि प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रंसुः। स वै सम्वत्सर एव।

—शत० १।६।३।३५।

के केन्द्रानुगत स्वातन्त्र्य से। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि-"एक समय में सम्पूर्ण विश्व में एक ही–वही-मानव उत्पन्न होता है"। प्रत्येक मानव का उत्पत्तिकाल कूर्म्मत्रैलोक्य के भेद से सर्वथा पृथक् पृथक् ही रहेगा। जबकि मानव में प्रतिव्यक्ति स्वतन्त्र केन्द्र रहेगा, वहाँ मानवेतर प्राणियों का केन्द्र एक ही होगा प्राकृतिक कूर्म्मप्रजापति। अतएव वहाँ वैकारिकी कालमीमांसा का कोई सम्बन्ध नही माना जायगा। अतएव च मानवेतर प्राणियों के साथ फलादेश का कोई समन्वय नहीं होगा। अपितु इन का भाग्य तो सर्वात्मना उस महाकालचक्रात्मक महाकूर्म्म से ही आबद्ध रहेगा, जबकि स्वतन्त्र केन्द्रत्वेन स्वतन्त्र कूर्म्मत्रैलोक्यनिर्म्माता मानव स्वतन्त्र पुरुषार्थ में सक्षम बनता हुआ अपना भाग्यनिर्म्माता बन सकेगा। केन्द्रविच्युत मावन ही तो अपने इस कूर्म्मरूप से अपरिचित रहते हुए इतर प्राणियों की भाँति भाग्यवशवर्त्ती (प्रकृतिवशवर्त्ती) बने रहते हैं।

१२८--'पूर्णकुम्भ' का तात्त्विक--स्वरूप--परिचय—

कालाश्वमूर्त्ति सत्यसम्वत्सरप्रजापति स्रष्टा हैं, विश्वकर्म्मा हैं रोदसीत्रैलोक्य–गर्भिता प्रजा के। अपने इस प्रजननात्मक सृष्टिधर्म्म का प्रथम उपयोग कहाँ किया ?, सर्वप्रथम क्या उत्पन्न किया सत्यप्रजापति ने ?, यह प्रश्न है, जिसका समाधान पूर्व के प्रतिमाभाव से हो जाता है। यदि शास्त्रीय 'प्रजापति' शब्द से, एवं इस से प्रसूत 'प्रतिमा' शब्द से समाधान–समन्वय–सम्भव नहीं है, तो उस दशा में लौकिक प्रजापति, एवं इनके लौकिक प्रतिमानसर्ग–की ओर ही लोकमानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा। सुप्रसिद्ध घटनिर्म्माता मानव ही–लोक में 'प्रजापति' कहलाया है *, जिसे प्रान्तीयभाषा में–'कुम्हार' कहा गया है। घट का ही दूसरा नाम–'कुम्भ' है। अतएव यह 'कुम्भकार' भी कहलाया है संस्कृतभाषा में। जिस आकार से घट का यह मृद्भाग से अलातचक्र के आधार पर निर्म्माण करता है, वह घटाकार व्यक्त घट से पूर्व ही कुम्भकार के मनोधरातल में प्रतिष्ठित रहता है। मृद्भाग से यह अपने मानसिक घट को ही व्यक्तरूप प्रदान कर देता है। यह व्यक्तघट ठीक वैसा ही आकर लिए होता है, जैसा आकार कुम्भकार के मानसिक अव्यक्तघट का होता है। यह घट नष्ट होजाता है, विध्वस्त होता रहता है। किन्तु वह प्राणात्मक सांस्कारिक मूलघट कभी नष्ट नहीं होता। अतएव वह यदि सत्यघट है, पूर्णघट है, भराघट है, तो यह ऋतघट है, अपूर्णघट है, रिक्तघट है। यों प्रजापतिरूप सत्यघट की यह ऋतघट प्रतिमा ही बना हुआ है ÷। जैसा आकार इस पार्थिव–मृण्मय घट का है, ठीक वैसा ही आकार उस साम्वत्सरिक–'घट' का है, जो सत्यसम्वत्सर का प्रथम निर्म्माण माना गया है। प्रथमनिर्मितत्वनैव वह

---

*—घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

—महिम्नस्तोत्रे

÷ इसी पूर्णता की कामना से भारतीय प्रत्येक शास्त्रीय–आचार में, एवं लौकिक सांस्कृतिक आयोजनों में जलपरिपूर्ण घट का संस्थापन अनिवार्य्य माना गया है। एवं उस प्राजापत्य पूर्णघट की प्रतीकता से इस परिपूर्ण-वारुणघट का भी पूजन होता है। पूर्णघट का साम्मुख्य भी इसी आधार पर 'शकुनवसन्तराज' में माङ्गलिक शकुन मान लिया गया है।

'घट' उस सत्यप्रजापति की 'प्रतिमा' कहलाया है। मृण्मय घटवत वह प्रतिमात्मक घट क्षरणधर्म से विस्रस्त होता रहता है। अतएव उसे भी रिक्त-अपूर्ण-घट-कहना चाहिए था। किन्तु नहीं कहा जाता उसे-रिक्त-अपूर्ण-घट। इसलिए नहीं कहा जाता कि, सत्यसम्वत्सर का कार्य्यकारणभाव महिमात्मक बनता हुआ नित्य है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूपेण अक्षरात्मक सत्यप्रजापति क्षरात्मक ऋतघट को उत्पन्न कर प्रतिष्ठारूप से तद्गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतएव यह क्षरघट क्षरित-विस्रस्त होता हुआ भी अपने रूप से अक्षर-अमृत-पूर्ण-ही बना रहता है। अतएव सत्यसम्वत्सरप्रजापति के प्रतिमाभूत घट को तो — 'पूर्णघट', किंवा-'पूर्णकुम्भ' ही कहा जायगा, जो कि प्रथमकार्य्यरूप, एवं प्रार्थिवप्रजा का कारणरूप पूर्णघट स्वाधारभूत-स्वजनिता-पिता-सम्वत्सर अव्यक्त काल में ही समर्पित रहता है।

१२९-अग्निचयनानुबन्धी 'उखासम्भरण' कर्म्म, तदनुगता उख्या त्रिलोकी, एवं तद्रूप आग्नेय साम्वत्सरिक उख्यकुम्भ—

चयनयज्ञ में एक कर्म-'उखासम्भरण' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका स्वरूप यही है कि, एक उखा [मृण्मय घट] में अरणिमन्थन से प्रसूत अग्नि प्रतिष्ठित किया जाता है, एवं इसे एक वर्षपर्य्यन्त सुरक्षित रक्खा जाता है। तदनन्तर इष्टका के द्वारा विनिर्मित पञ्चचितिक-वेदिस्थान में स्थित उत्तरवेदि के आहवनीय में इस साम्वत्सरिक उख्याग्नि को प्रतिष्ठित कर इस में आहुति दी जाती है। सम्वत्सरपर्य्यन्त उखा नामक मृण्मयघट में अग्नि को स्थापित किए रहना ही 'उखासम्भरण' कर्म है, जिस का मूल वही पूर्वोक्त पूर्णघट बन रहा है। त्रैलोक्यरूप सम्वत्सर ही तथोपवर्णित कुम्भाकार से घट है, जिस में सम्वत्सर पर्य्यन्त सम्वत्सराग्नि स्थापित रहता है। अनन्तर इसी की 'चिति' से पार्थिवसर्ग का निर्म्माण होता है। यही उख्यघट कर्म-त्रैलोक्य के सम्बन्ध से 'उख्यात्रिलोकी' कहलाई है, जैसाकि-'इमे वै लोका उखा' [शत० ६।५।१।१७।] इत्यादि से स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य-आदित्य-प्राणत्रयीरूपा ऋतसोमगर्भिता अग्नि-त्रयी इस त्रैलोक्यरूपा उखा में सम्वत्सर परिमाण से सम्भृत है, यही प्राकृतिक उखा-सम्भरण है, जो अध्यात्मसंस्था में भी इसी रूप से समतुलित है। उदरगुहा पृथिवी है, उरोगुहा अन्तरिक्ष है, कण्ठगुहा द्युलोक है, समष्टित्रयीरूप मृण्मय-भौतिक शरीर ही * त्रैलोक्यरूपा उखा [घट] है, जिस में अग्निमूर्त्ति वैश्वानर, वायु-मूर्त्ति तैजस, तथा आदित्यमूर्त्ति प्राज्ञरूप कुम्भरस परिपूर्ण है। यह मानवीय उखा उस दैवी उखा का ही प्रतिमान है, जो कि दैवी उखा उस दिव्य सम्वत्सर की प्रतिमा बनी हुई है। शब्द है वास्तव में-'उत्खा'।

— साम्वत्सरिक-प्राजापत्यसर्ग की सभी प्रक्रियाएँ घटनिर्माता प्रजापति-कुम्भकार के घटनिर्माणकर्म्म में सर्वात्मना समाविष्ट हैं। इसी क्रियासाम्य से वह प्रजापतिशब्द इस कुम्भकार के साथ भी समन्वित हो गया है, जिस साम्य का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में द्रष्टव्य है।

*-अतएव सन्तभाषा में शरीर 'घट' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जबकि इस अमृतरसपरिपूर्ण भी घट को [मानवशरीर को] भावुकतावश सन्तोंने- 'माटी की काया' कह कर इस की ब्रह्मपुरता की अवहेलना ही कर डाली है।

सत्यप्रजापति के तपने त्रैलोक्यरसो को मानो खोद–खोद कर ही इस पार्थिव त्रैलोक्यरस का स्वरूप–सम्पादन किया है कूर्म्मरूप से । अतएव इसे 'खननात्' 'उत्खा' कहना अन्वर्थ बन रहा है। यही 'उत्खा' शब्द परोक्षभाषा में–'उखा' कहलाने लग पड़ा है ÷।

१३०–आग्नेय पूर्णकुम्भ, सौम्य पूर्णकुम्भ, एवं दोनों कुम्भों की क्रमशः आङ्गिरस–भार्गव--रसों से सम्पूर्णता—

उक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि, सत्यसम्वत्सर से प्रवर्ग्यरूपेण प्रथम आविर्भूत ऋत–सम्वत्सर का ही नाम 'कूर्म्म' है, तदवच्छिन्ना पार्थिव–त्रिलोकी ही 'पूर्णकुम्भ' है, जिस में दधि–घृत–मधुरूप त्रैलोक्यरस परिपूर्ण हैं। रसपरिपूर्णता से ही यह कुम्भ–'पूर्णकुम्भ' कहलाया है, और यही है क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न व्यक्त–मूर्त्त कालात्मक वह पूर्णकुम्भ, जो कि अपने प्रतिष्ठारूप उस सत्यसम्वत्सरात्मक–अव्यक्त–अमूर्त्त काल मे प्रतिष्ठित रहता हुआ तदभिन्न प्रमाणित हो रहा है।

अब एक दूसरे दृष्टिकोण से क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर की पूर्णकुम्भता का समन्वय कर लीजिये। पूर्णकुम्भात्मक क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर को हमने–'ऋत' कहा है, जिसका अर्थ है ऋताग्नि, और ऋतसोम। उख्या–त्रिलोकी, किंवा कूर्म्मत्रिलोकीरूप वही पूर्णकुम्भ **आग्नेय कुम्भ** है, एवं यही त्रैलोक्मात्मक पूर्णकुम्भ ऋत–सोम की दृष्टिसे **'सौम्य कुम्भ'** है। आग्नेय कुम्भ का पारिभाषिक नाम 'उखा' है, एवं सौम्य कुम्भ का पारिभाषिक नाम **'द्रोण'** है। दोनों ही कुम्भ है, दोनों हीं कलश हैं। एक उख्यकुम्भ, किंवा उख्यकलश है, तो एक द्रोणकुम्भ, किंवा द्रोणकलश है। अग्निदृष्ट्या वही ऋतसम्वत्सर उख्यकुम्भ है, एवं सोमदृष्ट्या वही सम्वत्सर द्रोणकुम्भ है। जिसप्रकार इस त्रैलोक्यकुम्भ में त्रैलोक्य का शवसोनपात् अग्निरस (ऋताग्नि) परिपूर्ण है, तथैव इसी त्रैलोक्यकुम्भ में त्रिलोकी से अतीत चतुर्थ–पारमेष्ठ्य-लोकीय सोमरस भी (ऋतसोम भी) परिपूर्ण है।

१३१–सौम्य-मधुकलश की वारुणकुम्भता का समन्वय—

यह 'पूर्णकुम्भ' शब्द इन दोनों अग्नि–सोम–कलशो का, किंवा ऋताग्नि–ऋतसोमात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सर का संग्राहक बन रहा है। ये दोनों कुम्भ, किंवा एक ही कुम्भ के दोनों महिमाविवर्त्त ही क्रमशः साम्वत्सरिक अहः, एवं रात्रि के स्वरूपाधिष्ठाता बने हुए हैं। आग्नेय पूर्णकुम्भ अहः का, तथा सौम्यकुम्भ रात्रि का प्रवर्त्तक बनता है। अहोरात्रयुक्त दोनों आग्नेय–सौम्य–कुम्भ मिलकर एक दाम्पत्यकुम्भ है, जिस अग्नीषोमात्मक पूर्णकुम्भ से ही प्रजासर्ग प्रवृत्त है। दोनों में प्रजनशक्ति रात्र्यनुगत सौम्य कुम्भ में ही है। अग्नी सोमाहुति से ही प्रजोत्पत्ति हुई है। सोम ही उत्पादक शुक्र है। अतएव प्रजननधर्म्मानुगत गार्हस्थ्य–जीवन से

÷--एतद्वै देवा एतेन कर्म्मणा--एतया-आवृता (पद्धत्या) इमाँल्लोकान्-उदखनन्। यदुदखनन्--तस्मात्--'उत्खा'। 'उत्खा' ह वै तं--'उखा' इत्याचक्षते परोक्षम्"।

——शत० ६।७।१।२३।

अनुप्राणित आचारधर्म्मों में सौम्यकलश को ही प्रधानता दी गई है–'वरुणस्योत्तम्भनमसि०' * इत्यादि रूप से। 'त्वमपोऽजनयत' के अनुसार आप तत्त्व सोम का ही प्रतिरूप है। इस सोमसम्पति के संग्रह के लिए ही माङ्गलिक-आचार-कलशों को जल से पूर्ण कर दिया जाता है, इति नु आचारधर्मानुगत किमपि प्रासङ्गिकमेव।

१३२–उभय-कुम्भों का भारतीय सांस्कृतिक-प्रजा के सांस्कृतिक आचारों में प्रतीकविधि से संग्रह—

और हाँ–प्रजापति (कुम्भकार–कुम्हार) का घट तो आग्नेयघट का ही प्रतीक है, जो उत्थानमरण-कर्म्मानुपात से एक सम्वत्सर से सीमित रहता है। आग्नेय-अलाव (हाव) में अपरिपक्व मृण्मय घटों की चिति होती है। इस अलावाग्नि से इन कच्चे घटों का परिपाक होजाता है, तभी कुम्भकार की घटनिर्म्माण–प्रक्रिया सर्वात्मना सम्पन्न होती है। उधर वह आपोमय–कूर्म्मरूप त्रैलोक्यात्मक–ऋतमम्वत्सर घट भी अपरिपक्व ही रहता है अपने आपोभाव से तबतक, जबतक कि सम्वत्सराग्नि उसे परिपक्व नहीं बना देता। सम्वत्सरपर्य्यन्त सम्भृत अग्नि ही उस 'उग्ग' रूप घट को परिपक्व करता है। यही अवस्था आध्यात्मिक घट की है। गर्भस्थ शिशु आपोमय कूर्म्म की अपरिपक्वावस्थामात्र है, जो मातृगर्भाशय में एक सम्वत्सर (चान्द्रसम्वत्सर) पर्य्यन्त अग्निचिति से रुद्रात्मक बनता हुआ ही एवयामरुत् की प्रेरणा से परिपक्वावस्था में भूमिस्थ बनता है। मानव-मानवी के दाम्पत्य को दृढमूल बनाने वाला सम्स्कार-विशेष ही धार्मिक–परिणय-सम्बन्ध (विवाहसंस्कार) कहलाया है, जो उग्रघट की भाँति सम्वत्सरात्मकरूप से प्रजातन्तुवितान की ही मूलप्रतिष्ठा बनता है। अतएव विवाह–कर्म्म में विवाह से पूर्व वर–कन्या–पक्ष के दोनों ही नारीवर्गों के द्वारा प्रजापति (कुम्हार) के चक्र का पूजन होता है, जो प्रान्तीयभाषा में–'चाकपूजना' (चक्रपूजन) कहलाया है। मङ्गलगान करती हुई सौभाग्यवतीं कुल–नारियाँ कुम्भकार के घर जातीं हैं, वहाँ प्रजापति का पूजन होता है, धराधारभूत अलातचक्र का पूजन होता है, माङ्गलिक घटों का पूजन–शृङ्गार होता है। अनन्तर अमुक सङ्ख्याक घट श्रद्धापूर्वक इन स्त्रियों के द्वारा ही लाए जाते हैं विवाहमण्डप में, एवं इन्हें मातृकास्थान में रख दिया जाता है, जहाँ से एक वर्ष पर्य्यन्त सुरक्षितरूपेण रख दिए जाते हैं। और यह घटस्थापनकर्म्म सम्वत्सराग्नि से परिपूर्ण उग्रघट का ही प्रतीक बन रहा है। इसप्रकार भारतीय आचारपद्धतियों में जलपूर्ण सौम्यघट, एवं सम्वत्सराग्निपूर्ण आग्नेयघट, दोनों ही प्रकार के घटों का प्रतीकरूप से संग्रह हो रहा है, जो कि भारतीय सांस्कृतिक जनजीवन के 'प्रकृतिवद्वि-कृति–कर्त्तव्या' इस महान् आचारसूत्र का ही महिमामय विवर्त्त है।

---

*–वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य-ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥
—यजुःसंहिता ४।३६।

१३३–अग्निरस–प्रधान उख्यकुम्भरूप कूर्म्मप्रजापति के प्राणभेद से असंख्य–अनन्त विवर्त्त, एवं–'तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तं' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय—

'यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकं–अग्निकर्म्मैव तत्सर्वम्' इत्यादि के अनुसार दृष्टि [प्रत्यक्ष] का आधार आग्नेय प्राण ही माना गया है। अतएव आग्नेय ग्रह: के स्वरूप-सम्पादक आग्नेय उख्य–घट को ही हम दृष्टि का विषय मानेंगे। तभी तो अर्थसमन्वयारम्भ में ही हमने निरावरणप्रान्त में उपस्थित मानव के द्वारा कूर्म्मप्रजापति का साक्षात्कार प्रमाणित किया है। आग्नेय उख्यघटरूपा कूर्म्मत्रिलोकी ही वह पूर्णकुम्भ है, जिस का पूर्वोक्तरूप से हम अपने चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते रहते हैं। साथ ही यह आग्नेयघटरूप पूर्णकुम्भ स्वस्वस्तिक–अधःस्वस्तिकरूप से प्रत्येक मानव का भिन्न भिन्न है, यह भी पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव मानवानुपात से अनन्त विवर्त्त हो जाते हैं इन आग्नेय उन परिपूर्ण कुम्भों के, जिन को अग्नित्त्वेन हम कूर्म्मत्रैलोक्यरूप से देखा करते हैं। यह भी संस्मरणीय है कि–ये पूर्णाग्नेय कुम्भ भी दो भावों में विभक्त हो रहे हैं। मानव के गर्भकाल से सम्बन्ध रखने वाला कुम्भ [कूर्म्मत्रैलोक्य] पृथक् वस्तुतत्त्व है, जिस से मानव का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। और यह प्रजनयिता कूर्म्मत्रैलोक्यरूप ऋताग्निसम्वत्सर तो यावज्जीवन इसी का साक्षी बना रहता है। साथ ही मानव इस अपने प्रजनयिता कुम्भ को देख भी नहीं सकता महान् कूर्म्म से पृथक् करके। मानव देखता है उस कुम्भ को, जो इन के चक्षुरिन्द्रिय से तत्काल इस के मानसपटल में आता है। यह दृष्ट कुम्भ बदलता रहता है मानव के स्थान–भेद से। बहुधा परिवर्त्तमान इसी कुम्भ के कारण कूर्म्माकाश बदलते रहते हैं, एवं तत्सहैव भाषा–वेश–संस्कारादि में भी उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं। कूर्म्मसम्वत्सररूप इन दार्ष्टिविषयक परिवर्त्तनीय कुम्भों को लक्ष्य बना कर ही ऋषि ने 'बहुधा' शब्द का प्रयोग किया है तृतीय मन्त्र में, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। तदित्थं अग्निप्रधान उख्यघटात्मक कूर्म्म के अनेक विवर्त्त हो जाते हैं।

१३४–मध्यरेखात्मिका उर्वशी से अनुप्राणित मैत्रावरुणग्रह, तद्द्रतः–प्रतिष्ठारूप 'द्रोण-कलश', एवं ऋग्वेदीय मैत्रावरुणाख्यान पर एक दृष्टि—

शेष रह जाता है रात्रिस्वरूप–प्रवर्त्तक वह सौम्य घट, जो अपने रात्रिभाव के कारण दृष्टिका विषय नहीं बनता। वही सौम्य घट 'द्रोणकलश' कहलाया है, जो क्रान्तिवृत्तीया स्थिति से अनुमेय ही बनता है, एवं जो ध्रुवप्रोतवृत्त के माध्यम से एकविध ही बना रहता है। अवश्य ही यह उस से अभिन्न है। अतएव उख्यरूप कूर्म्माग्नेय घट की अपेक्षा से तो इसे भी परिवर्त्तनीय ही माना जायगा। किन्तु स्वयं यह अपने प्रातिस्विकरूप से तो एकरूप ही बना रहता है, अपरिवर्त्तनीय ही बना रहता है। इसी सौम्यघट के माध्यम से 'मैत्रावरुणग्रह' व्यवस्थित हो रहा है। रात्रि के १२ बजे से दिन के बारह बजे पर्य्यन्त के अर्द्धभाग को काटता हुआ जो दक्षिणोत्तर-ध्रुवानुगत एक दक्षिणोत्तरवृत्त बनेगा, उसे ही 'उर्वशी' नामक ध्रुवप्रोतवृत्त कहा जायगा, यही रेखा इस द्रोणकलश का मुखस्थान माना जायगा, जिस पर मित्र, और वरुण, दोनों प्राणों का सङ्गम हो रहा है। अद्यतनावच्छिन्न [रात के १२ से दिन के १२ पर्य्यन्त] अर्द्ध–खगोल मित्रकपाल है, जिस में इन्द्रात्मक मैत्रप्राण की प्रधानता है। एवं अनद्यतन [दिन के बारह से रात के १२

पर्य्यन्त] अर्द्धगोल वरुणाकपाल है, जिस में वरुणात्मक वारुणप्राण की प्रधानता है। तथोक्त मध्यस्थ-[इन-दोनों पूर्व-पश्चिम,-मैत्र-वारुण-कपालों का विभाजक] उर्वशी नामक ध्रुवप्रोतवृत्त ही वैसा स्थान है, जिस में दोनों प्राण समन्वित हैं। इन दोनों प्राणों का ऊर्वशीप्राण से सगमन होता है। इसी में इसी वृत्त पर वसिष्ठ-मत्स्य-अगस्त्य-नामक तीन योगजप्राण आविर्भूत होते हैं, जिस इस प्राणसृष्टि के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही पुराणशास्त्र ने 'मैत्रावरुणाख्यान' नामक 'असदाख्यान' का संग्रह किया है वैदिक असदाख्यान के आधार पर ही। 'अमुक यज्ञ में मित्रावरुण उपस्थित हुए। वहाँ उर्वशी अप्सरा भी विद्यमान थी। सोमरससे परिपूर्ण द्रोणकलश एक ओर प्रतिष्ठित था। उर्वशी को देख कर मित्रावरुण का रेत स्खलन हो गया। वह कुछ तो द्रोणकलश में पड गया, कुछ कलश के प्रान्तभागों में। इसी मैत्रावरुणशुक्र से वसिष्ठादि उत्पन्न हुए'' इत्यादि रूप से उपगीयमान जिस पौराणिक आख्यान को सुन कर आज की नवीनप्रज्ञा संक्षुब्ध हो पडती है, वह सक्षोभ उस समय सर्वथा निर्मूल हो जाता है, जबकि हम पौराणिक-आख्यानों की भाषा का पारिभाषिक समन्वय जान लेते हैं। हाँ, जो नवीन वेदभक्त इन पौराणिक आख्यानों के आधार पर अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ते हैं—उन वेदभक्तों का अनुरञ्जन तो ब्रह्मा के द्वारा भी इसलिए सम्भव नहीं है कि, जैसे वे पुराण की परिभाषाओं से अपरिचित हैं, तथैव वेद के अक्षरदर्शनमात्र से भी वे अधिकांश में परा पराङ्मुख ही बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता, तो वे कदापि पौराणिक उन मैत्रावरुणादि आख्यानों की असदालोचना में प्रवृत्त होने का साहस न करते, जो आख्यान इसीरूप से सूत्ररूप से उन के मान्य संहितावेद में भी ज्यों के त्यों समाविष्ट हैं। लक्ष्य-बनाने का अनुग्रह करें वे वेदभक्त इन वचनों को, एवं तदनन्तर ही पुराणस्पर्श का उपक्रम करें।

१-त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः॥
२-विद्युतो ज्योतिः परिसञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥
३-उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥
४-स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः॥
५-सत्रे ह जातावपिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

—ऋक् सं० ७।३३।६। से १३ मन्त्र पर्य्यन्त

६-अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्त्तस्व हृदयं तप्यते मे॥

—ऋक् सं० १०।९५।१७।

१२५–ऋग्वेदोपवर्णित–पूर्णकुम्भात्मक–मङ्गलकलशों का मान्त्रिक–संस्मरण—

मैत्रावरुणप्राणसंगमनस्थानरूप याम्योत्तरवृत्तात्मक उर्वशीवृत्त ही सोमरस से परिपूर्ण उस 'द्रोणकलश' का स्वरूप-परिचय है, जिस सोममात्रा से ही उख्यकुम्भात्मक आग्नेय सम्वत्सररूप 'उख्यकलश' से प्रजासर्ग प्रवृत्त है। उख्यकुम्भ से समन्वित इसी सोमरसपरिपूर्ण पूर्णकुम्भ का निम्नलिखित ऋङ्मन्त्रों से यत्रतत्र अपेक्षाभेद से स्पष्टीकरण हुआ है, जिनके अर्थसमन्वय के लिए तो स्वतन्त्र–निबन्ध ही अपेक्षित होगा—

१–धृपत्–पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि॥
—ऋक्सं० ६।४७।६।

२–इन्द्राविष्णू हविषा वावृधानाग्राद्वाना नमसा रातहव्या।
घृतासुती द्रविणं धत्तमस्मे समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः॥
—ऋक्सं० ६।६९।६।

३–सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कलशे अक्षरत्।
मधुमाँ अस्तु वायवे। (ऋक्सं० ९।६३।३।)।

४–प्र सोमो अति धारया पवमानो असिष्यदत्।
अभि द्रोणान्यासदम् (ऋक्सं० ९।३०।४।)।

५–अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया।
वाजं गोमन्तमक्षरन् (ऋक्सं० ९।३३।२।)।

६–स देवः कविनेषितो भिद्रोणानि धावति।
इन्दुरिन्द्राय महना (ऋक्सं० ९।३७।६।)।

७–अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
सीदञ्छ्येनो न योनिमा (ऋक्सं० ९।६५।१९।)।

८–आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्॥
—ऋक्सं० ३।३२।१५।

१३६–'पूर्णः कुम्भः काले–अधि आहितः' का तात्त्विक समन्वय—

उक्त विवेचन के आधार पर अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, सत्याग्निसोममय सम्वत्सरात्मक अव्यक्त–अनन्त–अमूर्त–काल (अक्षरकाल) के आधार पर प्रतिष्ठित ऋताग्निसोममय–क्रान्तिवृत्त–

निकमन-व्यक्त-मूर्त्त-काल (क्षरकाल) के ही अग्निकुम्भ, सोमकुम्भ-नामक दो महिमा-विवर्त्त हैं अहोरात्ररूपेण, किंवा प्राणनापानरूपेण। दोनों कुम्भों की समष्टि ही ऋताग्नि-ऋतसोम से परिपूर्ण 'पूर्ण-कुम्भ' है, जो यह ऋताग्निसोममय-प्रजासर्जक ऋतसम्वत्सरात्मक-व्यक्तकालमूर्त्ति पूर्णकुम्भ अपने प्रतिष्ठाभूत उस अक्षरकालात्मक सत्यसम्वत्सरकालरूप अव्यक्तकाल में ही गर्भीभूत है। सौरसम्वत्सर-त्रिलोकी के गर्भ में ही यह पार्थिवी सौम्यत्रिलोकी प्रतिष्ठित है, जिसे हम कुम्भरूप से मानवदृष्टिभेद से अनेक विवर्त्तों-अनेक कुम्भों में देख सकते हैं। सत्यब्रह्मोपासक आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही प्रकृति के इस रहस्यपूर्ण पूर्णकुम्भात्मक सम्वत्सरचक्र का कुम्भरूपेण दर्शन कर सकते हैं। जो जडभूतवादी इस पूर्णकुम्भात्मक सम्वत्सर के व्यक्ततम-भूतभौतिक विवर्त्त को ही सर्वस्व मान बैठते हैं, उनके लिए तो प्राणात्मक पूर्णकुम्भ अदृष्ट-अश्रुत-ही बना रहता है। सत्योपासक सन्त ही * उसे देखने में समर्थ बनते हैं। यही-'पूर्ण-कुम्भ-काले-अधि-आहित, तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्त.' इस तृतीय मन्त्राद्ध' का अक्षरार्थमात्र-समन्वय है।

१३७-अव्यक्त सत्यकालरूप उत्पीडक-वृषापुरुष से उत्पीडित व्यक्त-ऋतकालरूपा योषा स्त्री, एवं 'कालं कालेन पीडयन्' इत्यादि मनुवचन का समन्वय—

पूर्णकुम्भात्मक, कुम्भरूपेण प्रत्यक्षदृष्ट काल ही ऋतसम्वत्सरकाल है, जो रोदसीत्रैलोक्यात्मक अव्यक्त-सौरकाल में आहित है। इस दृष्टि से अब काल के ही दो अव्यक्त-व्यक्त-विवर्त्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। 'काल कालेन पीडयन' इत्यादि स्मृतिवचन का 'कालेन' से सङ्केतित तृतीयान्त काल अव्यक्त-सत्यकाल है, एवं 'कालम्' से सङ्केतित द्वितीयान्त काल व्यक्त ऋतकाल है, जिसे 'पूर्णकुम्भ' कहा गया है। ऋताग्नि-ऋतसोम आपोभावात्मक हैं अपने ऋतधर्म से। अपनी इस ऋतता से ही यह प्रगर्भ बन कर प्रजा का उपादान बनता है। 'सलिलरूप-अप्सु प्राविध्यन्' रूप सङ्क्लेदन ही इस ऋतकाल का उत्पीडन है, जो उस सत्य-अव्यक्तकाल की सीमा में ही प्रक्रान्त है। अतएव उस अव्यक्तकाल को इस व्यक्तकाल का उत्पीडक मान लिया है राजर्षि ने-इसके ऋतात्मक क्लेदनधर्म्म से। मानवदाम्पत्य में सत्याग्निप्रधान पुरुष यदि सत्याव्यक्तकाल का प्रतिनिधि-(प्रतिरूप) है, तो ऋतसोमप्रधाना स्त्री ऋतव्यक्तकाल का प्रातिनिध्य कर रही है। पुरुषकाल के द्वारा स्त्रीकाल उत्पीडित होकर ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। इसप्रकार प्रजासर्ग में भी स्त्रीपुम्भाव से 'काल कालेन पीडयन' का समन्वय सर्वात्मना समन्वित हो रहा है, जिस इस उत्पीडन का यथार्थ समन्वय तो मानव को अपने प्रजाक्षेत्र में ही करते रहना चाहिए। 'वृषा (पुरुष) योषा (स्त्रियं) अनुधावति' ही 'कालेन-काल-पीडयन' है। और यही प्रजोत्पत्ति का बीज है।

---

* असन्नेव स भवति, 'असद्' ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद 'सन्त' मेनं ततो विदुः ॥
—तैत्तिरीयोपनिषत् २।६।१।

१३८–प्रत्यक्–पराक्–शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय, कालपुरुष की विश्वसापेक्षा 'प्रत्यग्रूपता' का निदर्शन, एवं–'स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यक्' मन्त्रभाग की सङ्गति—

काल में (सत्यसम्वत्सर में) प्रतिष्ठित पूर्णकुम्भात्मक (ऋतसम्वत्सररूप) काल उत्पीड़ित होकर करता क्या है ?, मन्त्रोत्तरार्द्ध इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। यही उत्पीड़ित ऋतकाल सम्पूर्ण (विश्वा–विश्वानि–सर्वाणि) भुवनो-भूतभौतिक–पदार्थों का अपने प्रवर्ग्यभाग से दाम्पत्यविधिपूर्वक सर्जन कर–'तत्सृष्ट्वा' विधि से सृष्टा प्रजाओं का 'प्रत्यगात्मा' बन जाता है उसीप्रकार, जैसेकि सत्यकाल से आवि–र्भूत ऋतकाल में प्रविष्ट सत्यकाल इस ऋतकाल का प्रत्यगात्मा बन रहा है। एक ही आत्मभाव के केन्द्र, और बहिः–रूप से प्रत्यक्–पराक्–भेदेन दो विवर्त्त होजाते हैं। केन्द्रस्थ वही आत्मभाव 'प्रत्यक्' कह–लाया है, एवं पिण्डस्थ वही आत्मभाव 'पराक्' कहलाया है। प्रजाओं का शरीरात्मक बहिःसंस्थान उसी ऋतसम्वत्सर का परागभाव है, एवं प्रजाओं का हृदयस्थ अन्तःसंस्थान उसी ऋतसम्वत्सर का प्रत्यग्भाव है। यों प्रजा के हृदयस्थ आत्मभाव, एवं पिण्डात्मक शरीरभाव–रूपेण वह सम्वत्सर इन दो भावों का प्रवर्त्तक बन जाता है। इन दोनों में शरीरात्मक–परागभाव प्रजा का अपना स्वरूप बन जाता है, जबकि प्रजा का हृदयस्थ प्रत्यग्भाव उस सम्वत्सर का ही प्रतिरूप बना रहता है अपने सृष्ट में प्रविष्टरूप से। अतएव प्रजासृष्टि की दृष्टि से उस सर्ज्जक सम्वत्सरकाल को प्रजाभूतों का प्रत्यगात्मा * ही कहा जायगा। 'स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्' इस वाक्यसन्दर्भ के 'प्रत्यक्' का यही समन्वय है। "वह इन सम्पूर्ण–भूत–भौतिक–पदार्थों का प्रत्यक् (हृत्प्रतिष्ठा) ही बना हुआ है" यही तात्पर्य्यार्थ है।

१३९–'कालं तमाहुः परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्रभाग का समन्वय, एवं प्रक्रान्त तृतीय मन्त्रार्थ का उपराम—

अव्यक्त–अक्षर–कालात्मक–सत्यसम्वत्सरकाल[1], व्यक्त–क्षर–कालात्मक ऋतसम्वत्सरकाल[2], एवं व्यक्ततम विकारक्षरात्मक भूतभौतिकसर्गों के हृदयों में प्रतिष्ठित प्रजासर्गाधारभूत प्रत्यक्काल[3], तीनो हीं काल–विवर्त्त वस्तुतः उस एक ही परमाकाशात्मक स्वायम्भुव काल के विवर्त्तमात्र हैं। वही सत्यकाल है, वही ऋत–काल है, एवं वही प्रत्यक्काल है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ही तो उसकी महिमा का समन्वय है। मन्त्रोपसंहार करते हुए ऋषि ने–'कालं तमाहुः परमे व्योमन्' इस अन्तिम वाक्य–सन्दर्भ से कालपुरुष की इसी परमाकाशात्मिका महामहिमा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

इति तृतीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

३

——*——

*–पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥
—कठोपनिषत् २।४।१।

(४) चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ)

१४०–'स एव सं भुवनान्याभरत्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय—

४–स एव स भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

अब सर्वथा सक्षेप से ही यहाँ से मन्त्रार्थसमन्वय-प्रक्रान्त हो रहा है विस्तारभिया। पूर्वोक्त तीनों मन्त्रों के समन्वय-प्रसङ्ग में कालानुबन्धिनी जिन परिभाषाओं का, तथा कालसूक्त से पूर्व के परिच्छेदों में काल, एवं इसके विवर्त्तरूप दिक्-देश-प्रदेश-भावों की जिन परिभाषाओं का दिग्दर्शन हुआ है, हमारी ऐसी आस्था है कि, यदि अवधानपूर्वक उन परिभाषाओं को लक्ष्यारूढ बना लिया गया, तो इन शेष मन्त्रों का अर्थसमन्वय स्वत ही गतार्थ बन जायगा। इसलिए भी अब विस्तारक्रम अनपेक्षित मान लिया गया है। प्रकृत चतुर्थ मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि-"वह काल ही भुवनों (भूतभौतिक पदार्थों) का भरण-पोषण करता है, वह काल ही इन पदार्थों के चारों ओर वेष्टित हो रहा है। इसप्रकार अपने इस भरणधर्म्म से, तथा वेष्टनधर्म्म से यह काल इन पदार्थों का पिता रहता हुआ भी इनका 'पुत्र' बन रहा है। इस सर्वव्याप्ति, एवं सर्वरूपता के कारण ही यह कहा जायगा कि, काल से बड़ा उत्कृष्ट और कोई दूसरा तेजस्वी-वर्चस्वी तत्त्व नहीं है (इन भूत-भौतिक-पदार्थों के लिए)"।

१४१–मन्त्रोपात्त प्रत्यक्-आभरत्-पर्य्यैत्-शब्दों के द्वारा दिक्-देश-प्रदेश-भावों का संग्रह—

तृतीय मन्त्र का 'प्रत्यक्' शब्द (स इमा विश्वा भुवनानि-प्रत्यङ्), एवं प्रस्तुत चतुर्थ मन्त्र के-आभरत्, तथा पर्य्यैति, रूप क्रियापद क्रमश काल के दिक्-देश-प्रदेश-नामक तीन सुप्रसिद्ध विवर्त्तों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ छन्द-रस-वितानम्-लक्षण साम्वत्सरिक और गायत्रीमात्रिक पारमेष्ठ्य (व्यक्तकाल) में ही क्रमश मूर्त्ति-पिण्ड-महिमा-इन तीन भावों, संस्थानों में परिणत हो रहा है, जिन इन तीनों संस्थानों का पूर्वके पारिभाषिक परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। छन्दोमयी मूर्त्ति ही पदार्थ का हृद्य आत्मा है, रसमय पिण्ड ही पदार्थ का 'पदम्' है, एवं वितान-मयी महिमा ही पदार्थ का 'पुन पदम्' है। आत्मा पदार्थ की हृद्या मूलप्रतिष्ठा है, 'पदम्' पदार्थ का स्पृश्यभाव है, एवं 'पुन.पदम्' पदार्थ का दृश्यभाव है। मूलप्रतिष्ठाभाव ही दिग्भाव है, स्पृश्यभाव ही देशभाव है, एवं दृश्यभाव ही प्रदेश-भाव है। यों छन्द-रस-वितान-वेदात्मक मूर्त्ति-पिण्ड-महिमा-रूप-आत्मा-पद-पुन पद-लक्षण प्रतिष्ठा-स्पृश्य-दृश्य-भावत्रयी ही दिक्-देश-प्रदेश-त्रयी बन रही है प्रत्येक पदार्थ की।

१४२–दिक्-देश-प्रदेश-लक्षण मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-भावों की छन्दो-रस-वितान-वेदता, एवं काल की सर्वव्याप्ति—

पदार्थ से पदार्थान्तर के सबन्ध बने हुए दिक्-देश-प्रदेशात्मक मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-भाव उस ऋताग्नि-सोममय-छन्द-रस-वितान-वेदमूर्त्ति-गायत्रीमात्रिकभावापन्न ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल के ही विवर्त्त बन रहे

हैं। ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्त काल ही हृद्य–आत्मरूप दिग्भाव में, दिग्भाव ही वस्तुपिण्डात्मक देशभाव में, एवं देशभाव ही वस्तुमण्डलात्मक प्रदेशभाव में परिणत हो रहा है। यों काल ही सर्वप्रथम दिग्रूप से अभिव्यक्त होता हुआ दिङ्माध्यमेन देशभाव का, एवं देशमाध्यमेन प्रदेशभाव का प्रवर्त्तक बन रहा है। दूसरे शब्दों में–काल ही अपनी छन्दोरूपा प्रतिष्ठा से दिक् बन रहा है। काल ही अपने रसरूप से देश बन रहा है। एवं काल ही अपने वितानरूप से प्रदेश बन रहा है। वेदात्मक व्यक्तकाल का छन्दोवेद ही पदार्थ का दिग्भाव है, यही हृद्य आत्मा है। इस का रसवेद ही पदार्थ का देशभाव है, यही वस्तुपिण्डात्मक 'पदम्' है। इसका वितानवेद ही पदार्थ का प्रदेशभाव है, एवं यही वस्तुमण्डलात्मक 'पुनःपदम्' है।

१४३–काल के प्रत्यग्रूप से ही मूर्त्तिरूप 'आभरत्' लक्षण 'पदम्' भाव का आविर्भाव, एवं दिक्–देश–प्रदेश-भावों का समन्वय—

पदार्थ का दिग्रूप-मूर्त्तिरूप–हृद–आत्मभाव ही काल का 'प्रत्यक्' रूप है। पदार्थ का देशरूप–पिण्डरूप–पदभाव ही काल का 'आभरत' रूप है। एवं पदार्थ का प्रदेशरूप–महिमात्मक मण्डलरूप पुनः–पदभाव ही काल का 'पर्य्येति' रूप है। छन्दोरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ का दिग्रूप–प्रत्यगात्मा बना हुआ है, रसरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ को रसप्रदान करता हुआ पदार्थ का देशरूप भरणात्मक–पोषणात्मक–स्वरूप बना हुआ है, एवं वितानरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ के चारों ओर महिमारूप से व्याप्त होता हुआ पदार्थ का प्रदेशरूप बना हुआ है। इन तीनो में से दिग्रूप मूर्त्तिभाव ही काल का छन्दोरूप है, देशरूप पिण्डभाव ही काल का रसरूप है, एवं प्रदेशरूप मण्डलभाव ही काल का वितानरूप है। इन तीनों में दिग्भावात्मक प्रत्यक्काल क्योंकि काल के सन्निकटतम है। अतएव काल के इस छन्दोरूप दिग्भावात्मक प्रत्यग्भाव का कालस्वरूप में ही अन्तर्भाव मा लिया है वैज्ञानिकों ने। अतएव उस प्रथम दिग्रूप प्रत्यक्–विवर्त्त का कालस्वरूप–संग्राहक तृतीय मन्त्र में ही–'स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्' रूप से संग्रह कर लिया गया है। अब शेष रह जाते हैं पिण्ड–मण्डलानुगत देश–प्रदेशरूप दो विवर्त्त।

१४४–'भुवनान्याभरत्', एवं 'भुवनानि पर्य्येत्' का तात्त्विक समन्वय—

पारिशेष्यात् प्रकृत चतुर्थ मन्त्र 'आभरत्' और 'पर्य्येत्'-रूपसे काल के इन शेषभूत देश और प्रदेश रूप पिण्ड–मण्डल–नामक दो विवर्त्तों को ही लक्ष्य बना रहा है। वस्तुपिण्डात्मक देश ऋताग्निसोमरस से भृत हैं, स्वरूपतः पुष्ट हैं। वस्तुमण्डलात्मक प्रदेश अपने वितानभाव से–महिमामण्डलरूप से इस पिण्ड–वस्तु के चारों ओर व्याप्त है। रसभरण के द्वारा वस्तु को पिण्डरूपता–देशरूपता प्रदान करता है काल अपने रसवेद से। एवं वितानप्रसार के द्वारा वस्तु को मण्डलरूपता–प्रदेशरूपता–प्रदान करता है काल अपने वितान-वेद से। यों काल ही दिग्रूप से वस्तु का प्रत्यगात्मा बनता हुआ देशरूप से सम्भर्त्ता, एवं प्रदेशरूप से परिमण्डल प्रमाणित हो रहा है। वही प्रत्यक् (दिक्) है, वही आभरत् (देश), है, और वही है पर्य्येत् (वही है प्रदेश)। **'स एव सम्भुवनान्याभरत (देशरूपेण पिण्डरूपेण वा), 'स एव भुवनानि पर्य्येत् (प्रदेशरूपेण-मण्डलरूपेण वा)'** * इस पूर्वार्द्ध का यही निष्कर्षार्थ–है।

---

* वस्तुपिण्डं आभरत् रसवेदमाध्यमेन। वस्तुमण्डलं पर्य्येत्–वितानवेदमाध्यमेन। वस्तुपिण्डं एव देशः। वस्तुमण्डलमेव प्रदेशः। इति सर्वं सुस्थम्।

१४५–ऋतसम्वत्सरमूर्त्ति व्यक्तकालप्रजापति से आविर्भूत दिक्–देश–प्रदेश–भाव, एवं तदनुबन्धी पितापुत्रीय- सम्बन्ध का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ऐसा क्या, और कैसे हो पड़ा ?। ऋतसम्वत्सरमूर्ति व्यक्तकालप्रजापति पूर्वोक्त तीन (दिक्–देश–प्रदेश–लक्षण मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल)–रूपो मे क्या, और कैसे परिणत होगए ?, यह प्रश्न है । मन्त्रोत्तरार्द्ध 'पिता पुत्रीय-सम्बन्ध' के माध्यम से इसी प्रश्न का रहस्यात्मक समाधान कर रहा है । सम्वत्सरप्रजापति छन्दारूप मनोभाव से काममय है, रसरूप प्राणभाव से तपोमय है, एवं वितानरूप वाग्भाव से श्रममय है। ज्ञानमय काम (इच्छा), क्रियामय तप, तथा अर्थमय श्रम, इन तीनो से समन्वित मन प्राणवाङ्मय, छन्दोरसवितानात्मक ऋतसम्वत्सरप्रजापति ही भूतभौतिक पदार्थों के उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण 'आत्मा' हैं, प्रत्यग्भावस्थानीय है । इन से ही भूतसर्ग उत्पन्न हुआ है इनकी इन तीनो मात्राओं के विस्रसन से ही । छन्दोरसवितानरूपेण विकल बन हुए सम्वत्सरात्मा मे सम्वत्सर के ही विस्रस्तरूप प्रवर्ग्यभाव से उत्पन्न पुत्रस्थानीय प्रजासर्ग में अवश्य ही वही सन्धानक्रम होना ही चाहिए, जो स्रष्टा प्रजापति म है । इसी आधार पर तो 'आत्मा वै जायते पुत्र ' सिद्धान्त स्थापित हुआ है । ऋतसम्वत्सरप्रजापति उपादानकारण है पार्थिवप्रजा के । उपादानात्मक कार्य्यकारणभाव में–'कारणगुणा कार्य्यगुणानारभन्ते' नियमानुसार कारण ही कार्य्यरूप में परिणित हुआ करता है । अतएव उपादानकारण के धर्म्म ही कार्य्य में समाविष्ट हो जाते हैं । स्रष्टा–स्थानीय कारण पिता है, तो सृष्टिस्थानीय कार्य्य पुत्र है । पितारूप कारण ही पुत्ररूप कार्य्य बना है, बनता है । जबकि उस सम्वत्सरकालपिता म छन्द –रस–वितान–रूप तीन कारण हैं, तो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दात्मक * साम्वत्सरिक भूत-भौतिक पदार्थों में भी समष्टि-व्यष्टि रूप से उन्हीं तीनो धर्म्मों का समन्वय स्वत सिद्ध बन जाता है । 'पितामन–अभवत पुत्र एषाम' का यही सक्षिप्तार्थ-समन्वय है ।

१४६–चतुर्थ-मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

दिग्-देश-प्रदेशात्मक, नाम रूप-कर्म्ममय-यच्चयावत् भूत-भौतिक पदार्थों की अपेक्षा उस पिता-काला-प्रजापति–सम्वत्सरप्रजापति से अधिक और कोई भी तो तेजस्वी नहीं है । उसी के वर्च् से – सम्पूर्ण भूत वर्चस्वी बने रहते हैं । प्रत्येक भूत की जीवनात्मिका स्वरूपसत्ता ही उस भूत का तेज है, वर्च है । यह वर्च उस परमतेजस्वी–वर्चस्वी प्रजापति-सम्वत्सरकाल पर ही अवलम्बित है । काल में (अव्यक्तमत्यसम्वत्सर में) प्रतिष्ठित

---

* शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥

—मनु

÷ सम्वत्सर एव वर्चो द्राविंशः । सम्वत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमः ।

—शत० ८।४।१।१६।

काल (व्यक्त—ऋतसम्वत्सर) का जबतक इन कालिक पदार्थों पर अनुग्रह रहता है, तभी तक ये वर्चस्वी बने रहते हैं। जिस क्षण भी काल का निग्रह उपस्थित हो जाता है, तत्क्षण ही भूतपदार्थों का वर्चस्व शदरभ्रवत् विलीन हो जाता है–'तस्माद्धै नान्यत् परमस्ति तेजः'।

—इति- चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयः

४

——*——

(५)—पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (पञ्चममन्त्रार्थ)

१४७–'कालोऽमूं दिवमजनयत्'–इत्यादि पञ्चम मन्त्र का अक्षरार्थ—

५–कालोऽमूं दिवमजनयत्, काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते॥

"काल ने उस द्युलोक को उत्पन्न किया है, और फिर काल ने (हीं) इन पृथिवियों को (उत्पन्न किया है)। काल में ही भूत और भविष्यत् (प्रतिष्ठित् हैं, एवं काल में हीं) इषित (अपेक्षित-ऐच्छिक-वर्त्तमान) प्रतिष्ठित है" इत्यक्षरार्थात्मक मन्त्र ने सम्वत्सरानुबन्धी आधिदैविकसर्ग को ही अपना लक्ष्य बनाया है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्रादि निमेषान्त, ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल जिस अव्यक्त—सत्यसम्वत्सरात्मक—रोदसीत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है, उस अव्यक्त—सम्वत्सरकाल में क्योंकि सौरसंस्थात्मक अधिदैवत-विवर्त्त, चान्द्रसंस्थात्मक अध्यात्मविवर्त्त, एवं भूपिण्डसंस्थात्मक आधिभौतिकविवर्त्त, ये तीन विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं, अतएव तत्प्रतिमाभूत ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल में भी दैविक-आत्मिक-भौतिक-इन तीनों सर्गों का समन्वित बने रहना स्वतः एव प्रमाणित हो जाता है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव पृथ्वीलोक, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव अन्तरिक्षलोक, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक के भेद से स्तोमात्मिका महापृथिवी के इन तीन पार्थिव विवर्त्तों को ही स्तौम्यत्रिलोकी कहा गया है विज्ञानभाषा में, जो ये तीनों पृथिवीरूप ही पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्युलोक उस सत्य सम्वत्सरात्मक अव्यक्तकाल के क्रमशः भौम—चान्द्र—सौररूप पृथिवी अन्तरिक्ष—द्यौः—लोकों के प्रतिमान बने हुए हैं। व्यक्तकालात्मक क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न इस स्तौम्यत्रैलोक्यात्मक प्रतिमाप्रजापति के पार्थिव तीनों लोक ही क्रमशः पार्थिव (पृथिवीमण्डल में भुक्त) अधिदैवत—अध्यात्म—अधिभूत—सर्गों के आविर्भावक बने हुए है।

१४८–'प्राण'-लक्षण अधिदैवतसर्ग, 'प्राणी'-लक्षण अध्यात्मसर्ग, एवं 'भूत'-लक्षण अधिभूतसर्ग नाम की प्राजापत्या सर्गत्रयी का स्वरूप--दिग्दर्शन—

प्राण—प्राणी—भूत—भेद से प्राजापत्यसर्ग तीन विभागों में विभक्त है। प्राणसर्ग ही 'अधिदैवतम्' है, प्राणीसर्ग ही 'अध्यात्मम्' है, एवं भूतसर्ग ही 'अधिभूतम्' है। लोष्ट—पाषाणादि—जड़—अचेतन—भूतभौतिक पदार्थ ही भूतसर्गात्मक 'अधिभूतम्' सर्ग है। कृमि—कीट—पक्षी—पशु—प्राकृतमानव—भेद से पञ्चधा विभक्त 'जीव' नामक चेतनपदार्थ ही प्राणीसर्गात्मक 'अध्यात्मम्' सर्ग है। त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवी—

लोक से अभिन्न अग्निप्राणप्रमुख आठ वसुप्राण, पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष से अभिन्न वायुप्राणप्रमुख ग्यारह रुद्रप्राण, एकविंशस्तोमरूप द्युलोक से अभिन्न आदित्यप्राणप्रमुख बारह आदित्यप्राण, आग्नेय प्राणों एवं रुद्रप्राणों के मध्य का एक सान्ध्यप्राण, तथा रुद्रप्राणों, एवं आदित्यप्राणों के मध्य का एक सान्ध्य प्राण, ये दो सान्ध्य नासत्य दस्र नामक अश्विनीप्राण, सम्भूय त्रैलोक्यात्मक ये तैंतीस पार्थिव-त्रैलोक्य प्राण ही प्राणसर्गात्मक 'अधिदैवतम्' सर्ग है। भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-नामक तीनों सापेक्षकाल भी अपनी प्रत्यक्ष कालावयवता से व्यक्तकालात्मक बनते हुए प्राणरूप ही बने हुए हैं। अतएव इन तीनों सापेक्ष कालों का भी प्राणसर्गात्मक 'अधिदैवतसर्ग' में ही अन्तर्भाव हो रहा है। यों लोकाभिन्न ३३ प्राणदेवता, अग्न्यनुगत वर्त्तमानकाल, वाय्वनुगत भूतकाल, एवं आदित्यानुगत भविष्यत्काल, इन तत्त्वसमष्टि का नाम ही प्राणसर्ग है, और यही अधिदैवतसर्ग है उस ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकालप्रजापति का उसके मूलभूत अव्यक्तकाल के रोदसी त्रैलोक्य के सौररूप-अधिदैवत-द्युलोकीय प्राणों का विवर्त्तात्मक ही। इस सर्ग में दिग्देशप्रदेशात्मक भूतधर्मों का अभाव है। अतएव भूतानुबन्धी दिग्देशादिभाव अधिदैवतसर्गात्मक प्राणदेवसर्गों के सञ्चरण-गमन-स्थिति-आदि में किसी भी प्रकार से प्रतिबन्धक नहीं बनते। इस मन्त्र से पूर्व के-'स एव स भुवनान्याभरत्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र में जहाँ इसकाल के आधिभौतिक सर्ग का निरूपण हुआ है, वहाँ प्रस्तुत 'कालोमू दिवमजनयत्' इत्यादि पञ्चम मन्त्र से, तथा-'कालो भूतिमसृजत' इत्यादि षष्ठ मन्त्र से (दो मन्त्रों से) प्राणविध अधिदैवतसर्ग का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

१४६-पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

वह काल अपने प्राणरूप से ही द्युलोक में परिणत हुआ। कालरूप से ही त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूप तीन * पृथिवीलोकों के रूप में परिणत हुआ। एवं कालरूप से ही भूतभविष्यत्-वर्त्तमानरूप में परिणत हो रहा है। यों छन्दोरूप त्रैलोक्यछन्द से छन्दित-अतएव छन्दों से अभिन्न ३३ प्राणदेवता, तीन सापेक्ष-काल, सबकुछ प्राणप्रधान बनते हुए स्वयं सम्वत्सर के ही प्राणात्मक अधिदैवतस्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं। एवं यही प्रकृत मन्त्र का संक्षिप्त अक्षरार्थमात्र-समन्वय है।

इति—पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयः

५

—※—

* यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां, मध्यमस्यां, परमस्यां उत स्थ. (ऋक्सं०)।
तिस्रो वाऽइमाः पृथिव्यः। इयमहैका, द्वे अस्याः परे। (शत० ५।१।५।२१)।

(६)-षष्ठ-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (षष्ठमन्त्रार्थ)

१५०-'कालो भूतिमसृजत' इत्यादि षष्ठ मन्त्र का अक्षरार्थ—

६-कालो भूतिमसृजत, काले तपति सूर्य्यः ।
काले विश्वा भूतानि, काले चक्षुर्वि पश्यति ॥

"कालने भूति उत्पन्न की, काल में सूर्य्य तप रहा है, काल में ही सम्पूर्ण भूत हैं, काल में ही चक्षु [विषयों को] देखता है" इत्यक्षरार्थक मन्त्र भी कालानुगता 'प्राणविभूति' का दिग्दर्शन कराता हुआ काल के अधिदैवतसर्ग का ही स्पष्टीकरण कर रहा है अपनी स्वयंसिद्धा प्राणभाषा में। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् ।

१५१-प्राणमहिमात्मक ऐश्वर्य्य, तदनुबन्धी 'श्रीभाव', तदभिन्न अक्षरभाव, एवं भूतानुगत क्षररूप लक्ष्मीभाव, तथा कालप्रजापति के अमृत-मृत्यु-विवर्त्त—

प्राणसर्ग को हमने पूर्वमन्त्रार्थप्रकरण में सम्वत्सरप्रजापति का 'अधिदैवतसर्ग' कहा है। प्राण ही इस ईशिता-[ईश्वर] प्रजापति का वैसा महान् ऐश्वर्य्य है, जिस ऐश्वर्य्य के महिमा-मण्डल में सम्पूर्ण त्रैलोक्य, एवं त्रैलोक्यानुगता देव-भूत-प्रजा प्रतिष्ठित है। पिण्डभाव का जहाँ 'लक्ष्मी' से सम्बन्ध है, वहाँ महिमाभाव का 'श्रीः' से सम्बन्ध माना गया है। यही लक्ष्मी, और श्री के स्वरूप में महान् भेद है। लक्ष्मी के न रहने पर भी श्री रह सकती है, किन्तु श्री के बिना लक्ष्मी की स्थिरता असम्भव है। अतएव दोनों में श्री का स्थान प्रमुख मान लिया गया है। जो विभेद अमृत, और मृत्यु में है, वही विभेद श्री और लक्ष्मी में है। श्री अविनाशी अक्षरभाव है, एवं लक्ष्मी विनाशी-क्षर-भाव है। भूतपिण्ड क्षरप्रधान बनता हुआ विनश्यत् है, एवं यही भूतमयी लक्ष्मी का स्वरूप-परिचय है। भूतमहिमा अक्षरप्रधाना बनती हुई अविनाशिनी है, एवं यही प्राणमयी श्री का स्वरूप-परिचय है। भूतलक्ष्मीरूप मर्त्यभाव सप्त-पुरुषपुरुषात्मक भूतचितिरूप है, तो प्राण-श्रीरूप अमृतभाव इन सात चित्य पुरुषों के मन्थन से ऊर्ध्व विनिर्गत रस है।

१५२-शरीरसंस्थानुगत चित्य-चितेनिधेय-भाव, एवं सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति के श्रीरूप 'भूति' भाव का ऊर्ध्व वितान—

आप के शरीरसंस्थान में हीं दोनों भावों का साक्षात्कार कर लीजिए। सम्पूर्ण शरीर को शिरोभाग, कबन्धभाग,-रूप से दो भागों में विभक्त मान कर अब-दोनों के स्वरूप पर दृष्टि डालिए। मूलग्रन्थि से कण्ठपर्य्यन्त का उदर-उरु- आदि प्रदेश [जिसे आप 'धड़' कहते हैं] चार पुरुषचितियों की समष्टि है, यही 'चत्वारः आत्मा' है। दहिना हाथ, दहिना पैर, दोनों की समष्टि द्विपुरुषचितिरूप 'दक्षिणः पक्षः' है, बायाँ हाथ, बायाँ पैर, दोनों की समष्टि 'उत्तरः पक्षः' है। चत्वारः आत्मा की [धड़ की] मूलप्रतिष्ठा रूप त्रिकास्थिभाग [जिस के तने रहने से शरीरयष्टि तनी रहती है, जिस के मूर्च्छित होजाने से कमर झुक जाती है वार्द्धक्य में सहजरूप से, एवं युवा-प्रौढावस्था में भी प्रचण्ड सत्रानुष्ठान-बैठक-से] ही सातवी पुरुष-

चिति है, यही 'पुच्छप्रतिष्ठा' है। इसप्रकार चतुर्भागात्मक मध्याङ्ग [धड़], द्विभागात्मक दक्षिणोत्तर पक्ष, एवं एक भागात्मक पुच्छप्रतिष्ठा-रूपेण सात चित्याग्निपुरुषों की समन्वितावस्था का नाम ही है-कबन्ध। क्या शिरोभाग में मर्त्यचिति नहीं है ? । है, और अवश्य है। किन्तु शिरोमण्डलस्थ ज्ञानेन्द्रियवर्ग को निकाल देने पर यदि शिरोभाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो शिरोभाग उसी प्रकार-निश्चेष्ट-मर्त्यपिण्ड ही बना रह जाता है, जैसाकि कबन्ध। अतएव ऐसे इन्द्रियशून्य मस्तक का तो कबन्ध में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे ज्ञान-शून्य व्यक्ति के लिए तो लोक में भी यही प्रसिद्ध है कि-'अरे इस के तो माथा ही नहीं है'। शिर का शिरस्त्व तो ज्ञानेन्द्रियप्राण पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव शिरोभाग से तद्गत अमृतप्राण ही सगृहीत हुआ है।

१५३-अमृत-मर्त्यों का अन्तरान्तरीभाव, एवं पशुमस्तक की श्रीलक्षणा भूति का समन्वय—

क्या यह अमृतप्राण शिरोऽतिरिक्त कबन्ध नामक मर्त्यभाग से पृथक् रहने वाला कोई आगन्तुक प्राण है, जो बाहिर से आकार शिरोरूप में परिणत होता है ?, नेति होवाच। ऐसा नहीं है। अपितु-'नामृत मृत्युभिर्विना'-अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'-'अन्तर मृत्योरमृत, मृत्यावमृतऽमाहितम्'-'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इत्यादि वचनानुसार अमृत-मृत्यु-[प्राण-भूत] दोनों अविनाभूत हैं। जिस कबन्धभाग को मृत्युचितिरूप मर्त्यपिण्ड कहा गया है, उस का आधार अमृतप्राण ही है। इसी के आधार पर तो यह मर्त्यपिण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित-सुरक्षित है। सप्तपुरुषात्मक इस कबन्धरूप सप्तचितिलक्षण पिण्ड का ही, सातों पुरुषों का अमृतप्राणात्मक रस भाग ही ऊर्ध्व वितत हो कर शिरोरूप-अमृतप्राणभाग में अभिव्यक्त हो जाता है। श्रीरूप प्राण के ऊर्ध्वसमुद्गीरण से ही क्योंकि इस ऊर्ध्व भाग का स्वरूपाभिभाव हुआ है। अतएव इस अमृत श्रीप्राण से ही यह ऊर्ध्व भाग 'शिर' कहलाया है, अतएव तन्त्रशास्त्र ने पशु के मस्तकभाग को-'श्री' नाम से व्यवहृत किया है।

१५४-प्राणोपासक भारतवर्ष की सांस्कृतिक-लिपि के आरम्भ के-'श्री' रूप भूतिभाव, एवं वर्त्तमान स्वतन्त्र भारत में तदुपेक्षा—

प्राणोपासक भारतवर्ष इस प्राणरूप श्रीभाव के सग्रह के लिए अपने यच्चयावत् लौकिक-शास्त्रीय-आचार-आयोजना में पत्रादि में सर्वप्रथम 'श्री' का सस्मरण-लेखन अनिवार्य्य मानता है। भारतीय संस्कृति के तत्वमूलक आचारधर्म से पराङ्मुख, स्वयं अपने आपको निरपेक्ष घोषित कर बैठने वाले आज के स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के स्वतन्त्र राष्ट्रीय ? मानवों ने जड़-भूतलक्ष्मी के विमोहन में आकर अपने सभी आचारा-योजनों में से 'श्री' का बहिष्कार कर अपने आप को शुद्ध मर्त्य-प्राणविहीन जड़पिण्डरूप में ही परिणत कर लिया है जडभूतवादी श्रीविहीन केवल भूतलक्ष्मी-लोलुप-प्रतीच्य-राष्ट्रों से सदा काल उपलब्ध होती रहने वाली अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिमूला-लोकलिप्सा-लोकैषणा के आकर्षण-व्यामोहन से ही।

१५५-श्रीलक्षणा भूति का स्वरूप-परिचायक श्रौत-सन्दर्भ—

हाँ, तो आपने यह देखा, और समझा भी कि, आप के भौतिक-शरीरसंस्थान में कबन्ध, और शिरः-रूप से मर्त्य भूत, एवं अमृत प्राण-दोनों भाव समन्वित हैं। इन दोनों में कबन्धभाग सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यपिण्ड है, एवं शिरोभाग अमृतप्राणात्मिका श्रीः है, जिस की विद्यमानता में कबन्धरूपा चिति ही लक्ष्म-भावानुगता 'लक्ष्मी' की परिचायिका बनी रहती है। आपके इन्ही दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है-

त एतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्-यदूर्ध्वं, नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ्-नाभेस्तौ द्वौ। पक्षः पुरुषः (दक्षिणः), पक्षः पुरुषः (उत्तरः)। प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ या-एतेषां सप्तानां पुरुषाणां 'श्रीः', यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्, तदस्य 'शिरो'ऽभवत्। यत्श्रियं समुदौहन्-तस्मात्-शिरः। अथ यत्प्राणा अश्रयन्त, तस्माद् प्राणाः श्रियः। अथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त-तस्माद् शरीरम्। स एष पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः सः पुरुषः प्रजापतिरभवत्, अयमेव सः-योऽयमग्निश्चीयते। स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषोऽह्ययं पुरुषः-यच्चत्वार आत्मा, त्रयः पक्ष- पुच्छानि।

—शत० ६।१।१। प्रथमब्राह्मण

१५६--महासुपर्णरूप सम्वत्सर का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं साम्वत्सरिक कालपुरुषानुगत श्रीरूप भूतिभाव—

क्या आप यह जानते हैं कि, आप का शारीरिक-संस्थान ऐसा क्यो, एवं कैसे व्यवस्थित हुआ ?। अवश्य जानते होंगे। तो लीजिए ! अन्यान्य अत्यावश्यक-लोककर्म्मों में व्यासक्त बने रहने के कारण विस्मृत हो जाने वाले, किन्तु आप के स्वरूपान्तर्गत (प्रजान्तर्गत) उस तथ्य का हम अपनी ओर से ही सम्वत्सर के माध्यम से ही स्मरणमात्र करा देते हैं आप को। आप जिस सम्वत्सर के प्रतिमान हैं, वह क्रान्तिवृत्तीय-व्यक्तकालात्मक ऋतसम्वत्सर अपना यही संस्थानक्रम रखता है। क्रान्तिवृत्तात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सरमण्डल ही व्यक्त-कालात्मक आधिदैविक पुरुष है। यही इस की कबन्धात्मिका शरीरसंस्था है। सप्त अहोरात्र-वृत्तात्मक परि-मण्डल ही इस सम्वत्सरशरीर का स्वरूप-परिचय है। ऐसे सप्ताहोरात्रवृत्तशरीरी इस सम्वत्सर का मध्य-स्थ बृहद्वृत्तात्मक बृहतीछन्दो नामक विषुवान् (विष्वद्वृत्त) ही **'चत्त्वार आत्मा'** लक्षण मध्यभाग (धड़) है, षण्मासात्मक उत्तरायणभागसे अनुगता वृत्तत्रयसमष्टि (१२-८-४-अंशात्मिका **जगती-त्रिष्टुप्-पङ्क्ति-छन्दो-वृत्तसमष्टि**) ही **उत्तरपक्ष** है, षण्मासात्मक दक्षिणायनभाग से अनुगता वृत्तत्रयसमष्टि (१२-८-४-अंशात्मिका **अनुष्टुप्-उष्णिक्-गायत्री-छन्दोवृत्तसमष्टि**) ही **दक्षिणपक्ष** है, एवं त्रिवृत्स्तोमात्मक पृथिवीलोक का उपक्रम-स्थानीय भूपिण्ड ही इस की **पुच्छप्रतिष्ठा** है। इन सात मर्त्य-चित्य-पुरुषों की समष्टि ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक वह **'महासुपर्ण'** है, जिसे सम्वत्सर कहा गया है। इन सातों में अवस्थित श्रीरूप अमृतप्राण ही ऊर्ध्वभाग में आदित्यरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ इस कबन्धात्मक सम्वत्सरमर्त्यशरीर का प्राणश्रीरूप शिरोभाग है, जिस आदित्यप्राण के प्रतीक स्कम्भरथ प्रत्यक्षदृष्ट भगवान् सूर्य्यनारायण ही इस सम्वत्सरशरीरी महासुपर्ण के

'श्री' स्वरूप है, जिस की विद्यमानता में ही सम्वत्सरप्रजापति महिमारूप से अभिव्यक्त हो रहे हैं। यदि आदित्यप्राणात्मक सूर्य्य न रहे, तो सम्वत्सर की वही दशा हो जाय, जो दशा अमृतेन्द्रियप्राणशून्य शवशरीर की हो जाया करती है। अतएव अमृतरूप इस प्राण को ही सम्वत्सर की 'श्री', किंवा सम्वत्सर का महिमात्मक 'ऐश्वर्य्य' कहा जायगा। सम्वत्सर के तथाकथित स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुतिने कहा है–

(१)–अथ ह वा ऽएष महासुपर्ण एव-यत्सम्वत्सरः। तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् पटुपरिष्टात्–सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्। यत्र वा आत्मा, तत्पक्षौ। यत्र वा पक्षौ, तदात्मा। न वा ऽआत्मा पक्षादतिरिच्यते, नात्मानं पक्षावतिरिच्येते। एवमु हैतदपरेषां चैव, परेषां च भवति।

—शत० १२।२।३।७।

(२)–प्राण आदित्यः (ताण्ड्यब्रा० १६।१३।२)। अथैष वाव यशः, य एष (आदित्य) तपति (शत० १४।१।१२२)। श्रीर्वैस्वरः (शत० ११।४।२।१०)। स्वरहदेवाः सूर्य्यः (शत ११-१।२।२)।

१५७–श्रीरूपा विभूति, तद्रूप महिमामण्डल, तदात्मक सामवेद, एवं–अमृत मर्त्य–चितियों का समन्वय—

भूतानुगता लक्ष्मी जहाँ भूतपिण्ड में ही आबद्ध रहती है, वहाँ प्राणानुगता श्री भूतलक्ष्मी को स्थिर–प्रतिष्ठा प्रदान करती हुई स्वयं भूतपिण्ड से बाहिर मण्डलरूप में परिव्याप्त हो जाती है। वितान ही प्राण का स्वरूपधर्म है, एवं श्री प्राणरूप ही वैतानिक स्वरूप है। महिमामण्डलरूप साममण्डल का नाम ही वितानमण्डल है। तभी तो वितान को साम कहा गया है। इस प्राणवितान से ही तो आदित्य को 'साम' कहा गया है। इसीलिए तो महिमारूप विभूतिभाव–ऐश्वर्य्यभाव–के सम्बन्ध में–भगवानने तीनों वेदों में से वितानरूप साम का ही संग्रह किया है–'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (विभूतिरूपेण–वितानरूपेण')। यथयावत भूतभौतिक–पदार्थों में उसी तथाकथित चितिसम्थान–क्रमानुपात से भूतचिति, एवं प्राणवितान, दोनों मर्त्य–अमृत–भावों का समन्वय हो रहा है।

१५८–'दैवतानि च, भूतानि च' मूलक प्राजापत्य विवर्त्त, एवं भूतविस्तारात्मिका-कालानुगता ऐश्वर्य्यलक्षणा भूति का समन्वय—

इनमें भूतचितिभाग ही भूतानि है, एवं प्राणवितान ही दैवतानि है। 'दैवतानि च भूतानि च' की समन्वितावस्था का नाम ही पदार्थ का स्वरूप परिचय है। भूत की प्रतिष्ठा बनता हुआ, भूतकेन्द्र में अणोरणीयान्रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ प्राण अपने वितानभाव से (रश्मिप्रसारात्मक–अर्चश्चरन्–लक्षण–प्राणाधान-व्यापार से) बहिर्धा वितत होता हुआ, भूतपिण्ड को गर्भस्थ बनाता हुआ अपना एक स्वतन्त्र महिमामण्डल बना लेता है, जो कि मण्डल श्रीमण्डल-यशोमण्डल-विभूतिमण्डल वितानमण्डल-साममण्डल ऐश्वर्य्यमण्डल-

प्राणमण्डल, आदि आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जासकता है, जो कि मण्डलविद्या ही-'वषट्कारविद्या' कहलाई है। भूतकेन्द्र से चल कर भूतपिण्ड से बहिर्द्धा अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि प्राणमण्डलात्मक श्रीभाव व्याप्त रहता है। अतएव श्री का 'वहिर्द्धेव वै श्रीः' (जै० उप० ब्रा० १।४।६) यह लक्षण मान लिया है श्रुतिने। तदित्थं इस भूतपिण्ड का आधारभूत, एवं भूतपिण्ड को गर्भ में रखने वाला भूतानुगत (भूतपिण्डाधारेण वितत) प्राण-मण्डल ही भूताधारेण वितत होने से 'भूति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूत का विस्तार ही भूति है। पिण्ड की मण्डलरूपता ही पिण्ड का विभूतिभाव है। पद्य का गानात्मक विस्तार ही पद्य की विभूति, किंवा भूति है *। जबतक भूति है, तभी तक भूत है। भूति के उत्क्रान्त होते ही भूत 'शव' भाव में परिणत होता हुआ विलीन हो जाता है उसीप्रकार, जैसे कि श्रीविहीना लक्ष्मी की आसक्ति भूतसम्पत्तिमात्रासक्त एक लक्ष्मीभक्त को श्रीविहीन बनाए रहती है।

१५६-श्रीसमन्विता लक्ष्मी की विभूतिपरायणता, एवं 'भूतिश्री' से वञ्चिता जड़भावापन्ना लक्ष्मी का काल के द्वारा निगरण—

श्री से समन्विता लक्ष्मी जहाँ अपने भूतमात्र से दान-भोगानुगता बनी रहती है, वहाँ श्री से वञ्चिता लक्ष्मी का निश्चित परिणाम नाश ही माना गया है ÷। अपने विनाश के साथ साथ ऐसी श्रीविहीना (दानभोग-वञ्चिता) भूतलक्ष्मी सम्पत्तिसंग्राहक को भी सर्वथैव श्रीविहीन-प्राणहीन-ओज-तेज-हीन-शवशरीरी ही बनाए रहती है, जिस इत्थंभूत श्रीविहीन-भूतलक्ष्मीपङ्कनिमग्न के दर्शनमात्र से भी प्राणवान् मानव उद्विग्न हो पड़ते हैं। प्राणवान् मानव ही क्या, ऐसे श्रीविहीन-अर्थगृध्नु-भूतलिप्सु-अर्थलोलुपों से तो जड़-चेतन-सभी उद्विग्न हो पड़ते हैं अपने अपने भूतिरूप प्राणों के अभिभूत हो जाने से। पदार्थ स्व स्व प्राणों से भूतिमान् है। किन्तु भूतिशून्य तथाविध शवशरीरी-प्राणहीन-वित्तासक्त के सान्निध्य में जाकर तो इन संसर्गियों का प्राण भी एकबार तो सहसा कुण्ठित ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रने तो 'कृपण'-वित्तलोलुप-श्रीविहीन-भूतपिण्डमात्र व्यक्ति के नामग्रहण को भी अमाङ्गलिक मान लिया है। इति नु प्रासङ्गिकम्। क्कव्याश यही है कि, भूतपिण्ड का प्राणमण्डल ही 'भूति' कहलाई है। और यों भूत-प्राण-भेद से प्रत्येक पदार्थ 'भूत' और 'भूति' रूप बना हुआ है।

१६०-सम्वत्सरात्मक कालपुरुष के द्वारा ही भूतपदार्थों में मण्डलरूप 'भूति' का वितान, एवं 'सम्भूतिं च विनाशं च' का समन्वय—

प्रश्न यह है कि भूतों में (पदार्थों में) मण्डलात्मिका-यशःश्रीरूपा यह भूति आई कहाँ से ?। प्रश्न इसलिए हो पड़ा कि, स्वयं भूत तो मर्त्य-क्षर-परमाणुओं का संघातमात्र है, पुद्गलमात्र है, जिसमें मण्डल-रूप में परिणत होने की क्षमता ही नहीं है। दिग्देशात्मक धामच्छद भूतपिण्ड तो अपने भौतिक-तन्मित-

---

* विभूतिर्भूतिरैश्वर्य्यमणिमादिकमष्टधा (अमरः)

÷—दानं-भोगो--नाश--स्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति, न भुङ्क्ते--तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

तावान् स्वरूप से ही स्वरूपवान् बन रहा है। मण्डलरूपा भूति भूत के स्वय के दिक्–देश–भावमात्रानुबन्ध से सर्वथा अनुपना है। इसी प्रश्न का आधिदैविक–प्राणविवर्त्त के माध्यम से समाधान करते हुए ऋषिने कहा है कि–'कालो भूतिमसृजत'। दिग्देशात्मक भूतो (भूतपिण्डो) मे भूतिरूप प्राणमण्डल का आविर्भाव 'काल' से ही हुआ है। काल दिग्देश से अतीत रहने वाला अयामच्छन्द प्राणतत्त्व है, जिसके वलभन्त्य-नुगत भाव ही दिग्देशरूप से भूति के आधार पर भूतपिण्ड के सर्जक बन रहे हैं। दिग्देशात्मक भूत से अतीत, किन्तु आधारभूत-भूतपति–प्राणमूर्त्ति सम्वत्सरकाल ही भूतों मे मण्डलरूपा भूति को अभिव्यक्त कर रहा है। कालात्मक प्राण के अन्तर्हित होते ही भूत भूतिरहित बनता हुआ निष्प्राण बन जाया करता है। सर्गकाल में वह सम्वत्सरकाल ही भूता को भूतिरूपा सम्भूति प्रदान करता है, एव प्रतिसर्गकाल में वही काल भूता को 'विनाश' प्रदान कर देता है। दोनो का आधारबिन्दु सर्ग–संहाराधिष्ठाता सम्वत्सरकाल ही बना हुआ है। जो मानव काल के इस–'काल सृजति भूतानि, काल संहरते प्रजा' के सम्भूति–विनाश-चक्र की अभिन्नता जान लेता है, निश्चयेन वह कालभय से अतिमुक्त हो जाता है–

> सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
> विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
>
> —ईशोपनिषत् *

१६१–प्राणमण्डलात्मिका कालमयी 'भूति' की साक्षात्कारानुगता दुर्बोध्यता, एवं तदपेक्षया स्थूल उदाहरणों का अनुगमन—

"भूतपिण्डात्मक पदार्थो का प्राणमण्डल ही 'भूति' तत्त्व है, जो कि प्राणात्मक काल की ही विवर्त्तरूपा (महिमारूपा) सृष्टि है" इस निष्कर्ष से अनुप्राणिता 'भूति' को, प्राणमण्डल को अस्मच्छ्रेण प्राकृत मानव कैसे अपनी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित करें ?, दूसरे शब्दों में हम कैसे उस भूतिमण्डल का स्वरूप हृदयङ्गम करें, ? जबकि भूतपिण्डात्मक पदार्थों की भूतियों का (प्राणमण्डलो का) हमें साक्षात्कार नहीं हो रहा ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही मन्त्र का शेषभाग प्रवृत्त हुआ है। विज्ञानदृष्ट्या तो मानव की दृष्टि का (प्रत्यक्ष का) आधार भूतिरूप प्राणमण्डल ही बना करता है। जिस भूतपिण्ड को मानव देखना मानता है, वस्तुत वह तो स्पृश्यमात्र है, जैसाकि देश–प्रदेश–भावो के स्वरूप–परिचय–प्रसङ्ग मे पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। प्राणात्मक भूतिमण्डल ही आलोक के माध्यम से दृष्टि का विषय बना करता है। किन्तु सहसा स्थूलदृष्ट्या स्पृश्यपिण्ड–दृश्यमण्डल–का यह विवेक हृदयङ्गम नहीं होता। अतएव ऋषि प्रत्यक्षोदाहरणो से, भौतिक उदाहरणों से, भूतपिण्डात्मक स्थूल उदाहरणो से ही अनुग्रह कर 'भूति' के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

१६२–भूतपिण्ड–सूर्य्यपिण्ड, एवं चक्षुरिन्द्रिय–रूपा उदाहरणत्रयी—

यद्यपि उदाहरण तीन हैं, एव तीनो ही भूतात्मक हैं। किन्तु तीनों भौतिक उदाहरण अपने अपने प्रातिस्विक विवर्त्तों मे क्रमश अधिदैवत-अधिभूत-अध्यात्म–भावों के संग्राहक बने हुए हैं। प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यपिण्ड,

* इस मन्त्र का वैज्ञानिकार्थसमन्वय तदुपनिषद्भाष्य मे द्रष्टव्य है।

पार्थिव लोष्ट पाषाणादि भूतपिण्ड, एवं मानव का चक्षुरिन्द्रिय, तीनों ही विवर्त्त भूतपिण्डात्मक बनते हुए जहाँ भौतिक उदाहरण हैं, वहाँ तीनों क्रमशः आधिदैविक (सूर्य्य), आधिभौतिक (भूत), एवं आध्यात्मिक (चक्षु), इन तीन प्राजापत्य–विवर्तों के भी संग्राहक बन रहे हैं। इस दृष्टि को आधार बना कर ही हमें उदाहरणत्रयी का समन्वय करना चाहिए।

१६३–काल, और भूति का जन्य--जनक--भावसम्बन्ध, निरुपाधिका भूति, और सोपा--धिका भूति, एवं भूतात्मिका भूति का समन्वय—

स्वयं 'भूतितत्त्व' दिग्देशादि से युक्त भूतपदार्थों के समतुलन मे इन भूतों से पृथक् अपना अस्तित्त्व रखने वाला कालात्मक विवर्त्त है, जिसका जन्यभाव जनक काल पर ही विश्रान्त है। **'कालो भूतिमसृजत'** का भूति तत्त्व वह प्राथमिक भूतितत्त्व है. जो आगे चलकर कालसीमा में व्यक्त–अभिव्यक्त–होने वाले भूतपिण्डों को भूतिभाव प्रदान करने वाला है। जो स्थान काल का है, वही स्थान 'भूति' का है। काल की पूर्वावस्था 'काल' है, तो काल की उत्तरावस्था 'भूति' है। यही जन्य–जनक–भाव है दोनों मे, जो भूतानुबन्धी मूर्त्त कार्य्यकारण-भावात्मक जन्य–जनक–भावो से पृथक् तत्त्व है। भूतानुगता भूति जहाँ भूतपदार्थों की कालसीमा में भुक्त है, वहाँ भूतातीता भूति काल से समन्विता रहती हुई कालात्मिका ही बन रही है। कालात्मिका भूति, किंवा भूत्यात्मक काल, दोनों का एक ही अर्थ है–जिसका 'कालः' इस प्रथमान्त पद से सङ्केत हुआ है। काल से अभिव्यक्त विश्व में वही कालात्मिका भूति दिग्देशोपाधि का रूप धारण कर लेती है। दिग्देशोपाधि में परिणत होजाने वाली भूतात्मिका भूति अब काल से अभिन्न न रह कर भूतों से अभिन्न बन जाती है। अत–एव इस सोपाधिक–भूति को 'कालः' से समन्वित न कर उसीप्रकार **'काले'** से ही समन्वित माना जायगा, जैसे कि भूत्यनुगत दिग्देशात्मक भौतिक पदार्थ 'काले' से ही समन्वित रहते हैं। निरुपाधिका–भूतातीता भूति कालात्मिका बनती हुई 'कालः' ही है, जबकि सोपाधिका–भूतानुगता–भूति भूतात्मिका बनती हुई **'काले'** एव (काल में ही) प्रतिष्ठिता है। भूतिभाव के जो तीन उदाहरण अत्र उपस्थित हुए हैं, तीनो ही भूतात्मिका भूति के उदाहरण हैं। अतएव ऋषिने इन तीनों के साथ–'काले' इस सप्तम्यन्त पद का ही सन्निवेश अनुरूप माना है।

१६४–'काले तपति सूर्य्यः'-मन्त्रभागानुगता सूर्य्यपिण्डानुगता 'भूति' का समन्वय—

पहिला उदाहरण 'सूर्य्य' है। आधिदैविक–मण्डल का महान् प्रतीक सूर्य्यबिम्ब प्रत्यक्षदृष्ट्या भूतपिण्ड बना रहता हुआ भी किस प्रकार अपने प्राणात्मक रश्मिप्रसार से त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है, इस प्रत्यक्षदृष्टा स्थिति में अन्य प्रमाण अनपेक्षित है। सर्वथा विभूतिशाली–भूतिशाली–बने हुए भगवान् सूर्य्यनारायण अपने भूतपिण्डरूप से ही ऐसे वर्चस्वी–तेजस्वी–ओजस्वी–प्रदीप्ततम–प्राणवान्-प्रमाणित हो रहे हैं कि, जिनपर किसी भी भूतवादी की दृष्टि क्षणमात्र भी तो नही ठहर सकती। सम्पूर्ण त्रैलोक्य का सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य भूतात्मिका इस **'सूर्य्यभूति'** पर ही अवलम्बित है। पार्थिवपरिभ्रमणानुबन्ध से जब (रात्रि में) सूर्य्य का दर्शन अवरुद्ध हो जाता है *, तो क्या दशा हो जाती है लोकैश्वर्य्य की ?, प्रश्न का समाधान सर्वविदित है। लोकचक्षुरूप

---

* नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥
--पुराण

सूर्य सचमुच त्रैलोक्य की भूति ही बने हुए हैं अपने प्राणप्रतपन कर्म्म से, जोकि प्राणप्रतपनकर्म्म मार्गवाङ्गिरम-अग्नीषोमीय-तपोरूप-प्राणदपानत्-व्यापारलक्षण ही माना गया है विज्ञानभाषा में, एवं जिस प्राणदपानलक्षण 'तप.कर्म्म' की ओर सङ्केत किया है ऋषिने-'तपति' क्रियापद से। यही लोकभूति का आधिदैविक प्राण मूर्ति सूर्य्यभूतात्मक प्रथम भौतिक उदाहरण है, जिसका-'काले तपति सूर्य्य' (भूतरूपेण)-इस वाक्य मे सग्रह हुआ है।

१६५-अहरागम, रात्र्यागम-निबन्धन सौर-पारमेष्ठ्यभाव, एवं आधिभौतिक-विवर्त्तानुगता भूति का उदाहरण—

अब दूसरे आधिभौतिक-भावापन्न-भौतिक उदाहरण को लक्ष्य बनाइए। जो पदार्थ, जो भूत काल की सीमा में विलीन हो गए, जो कि विलयनभाव इन व्यक्त भूतों की अव्यक्तावस्था कहलाई है, निधनावस्था मानी गई है *, उन अव्यक्त-भूतों की अव्यक्ता भूति का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। प्रसङ्ग प्रक्रान्त है उन व्यक्त भूतों का, जो व्यक्त सौर विभूतिकाल में सर्वात्मना स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हुए हमें प्रतीत होरहे हैं। सम्भूत्यात्मक भूत ही यहाँ भूति के उदाहरण बन रहे हैं। "भूत स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं, विद्यमान् हैं, किया है"- यही इन भूतों की 'भूति' का प्रत्यक्षीकरण है। काल के ही अह, रात्रि-भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। अह काल व्यक्तकाल माना गया है, जिसके साक्षी सूर्य्य हैं। एवं रात्रिकाल 'अव्यक्तकाल' माना गया है, जिसके साक्षी परमेष्ठी हैं। सौर (ऐन्द्र, तथा आग्नेय) अह काल ही 'अहरागम' कहलाया है, एवं पारमेष्ठ्य (वारुण, तथा सौम्य) रात्रिकाल ही— 'रात्र्यागम' कहलाया है, जिन इन मन्वन्तरानुबन्धी दोनों कालविवर्त्तों का आरम्भ के गणनानन्त्यकाल-प्रसङ्ग-में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। सूर्य्यसत्तात्मक पुण्याहकाल ही 'सृष्टि-काल' है, एवं परमेष्ठिसत्तात्मक रात्रिकाल ही 'लयकाल' है।

१६६-चतुर्विंशति-होरात्मक अहोरात्रकाल के अनुपात से भौतिकी 'भूति' के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष-तारतम्य का समन्वय—

महतोमहीयान् दोनों कालविवर्त्तों का हम मानव के चतुर्विंशति-होरात्मक अहोरात्रकाल में भी साक्षात्कार कर रहे हैं। पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाले सूर्य्य के दर्शन-अदर्शन-रूप कालविभागों से अह (दिन)-रात्रि (रात) का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। दिन में सभी भूतपदार्थ भूतिरूप से हमारे लिए अभिव्यक्त हो पड़ते हैं, जबकि रात में ये सभी भूतपदार्थ अपने भूतिरूप से अन्तर्मुख बनते हुए अभिव्यक्ति से पृथक् ही हो जाते हैं। ज्योतिर्म्मय (आलोकमय) अह में जो भूतभूति हमें प्रतीत होती रहती है, तमोमयी रात्रि में वही भूतभूति प्रतीति से पराङ्मुख बन जाती है। भूत तो अह कालवत् रात्रि में भी विद्यमान है। फिर रात्रि में ये

---

* अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

— अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥

प्रतीत क्यों नही होती हमें ? । यदि 'भूत' ही भूतप्रत्यक्ष का कारण होता, तो अहःकालवत् रात्रिकाल में भी इनकी प्रतीति होनी चाहिए थी । नही होती प्रतीति । हाँ—हाथों से स्पर्श अवश्य किया जासकता है रात्रि में भी इन भूतो का । कृत्रिम आलोकों से भी प्रत्यक्ष सम्भव है । किन्तु ये सब आलोक तो परम्परया सौर अहः-कालात्मक ज्योतिर्भाव के ही प्रवर्ग्यरूप हैं । रात्रि में हीं क्यों, अहःकाल में भी गुहानिहित भूत प्रत्यक्ष के कारण नही बनते । अतएव स्पष्ट है कि, अहःकालसाक्षी सौर भूतिभाव ही इन भूतों की 'प्राणभूति' को अभिव्यक्त कर प्रतिफलन के द्वारा इस भूति को प्रत्यक्ष—प्रत्यय की अनुगामिनी बना देता है ।

१६७—'तपति' रूपा 'आलोकभूति', एवं 'काले तपति' का समन्वय—

क्या प्रत्यक्षानुभूता भूतभूति केवल सौर प्रकाशमात्र ही है ? । नही । यदि ऐसा होता, तो तद्भूतपदार्थ के न रहने पर भी तद्भूत की भूति का प्रत्यक्ष सम्भव बन जाता । अतएव मानना पड़ेगा कि, स्वयं भूत भी प्रातिस्विकरूप से अपनी प्राणविभूति रख रहा है । आलोकभूति का इस भूतभूति के साथ सामातिमान (उभय-मण्डलातिमान) होता है । भूतभूतिमण्डल आलोकभूतिमण्डल से समन्वित होता है । यही प्रतिफलित होकर भूतभूति के प्रत्यक्ष का कारण बनता है, जिसमें दोनों भूतियाँ समन्वित हैं । तभी तो सर्वप्रथम 'काले तपति सूर्य्यः' रूप से ऋषिने 'तपति' रूपा आलोकभूति का स्पष्टीकरण किया है, जिसके माध्यम से ही भूतभूतियों का साक्षात्कार सम्भव है ।

१६८—'काले ह विश्वा भूतानि' मूला भूतात्मिका भूति—

इसप्रकार आलोकभूतात्मक सौरकालरूप भूतिकाल में ही भूतों का भूतिमण्डल अवस्थित है स्व—स्वरूप से । 'भूत प्रतीत हो रहे हैं' यह वाक्य ही भूतों की भूति का परिचायक बन रहा है । क्योंकि स्पृश्यभावापन्न भूपिण्ड की प्रतीति नही होती । प्रतीति होती है उस दृश्यभावात्मक प्राणमण्डलरूप भूतिभाव की ही, जिस भूतिमण्डलात्मक दृश्यमण्डल के गर्भ में भूतपिण्डात्मक स्पृश्यभूत प्रतिष्ठित है । तदित्थं—सौरकालात्मक पुण्याहकाल में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण भूत भूतप्रतीतिरूपेण 'भूति' भाव से सदा ही समन्वित रहते हैं । इस दूसरे भौतिक—उदाहरण को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है—**'काले ह विश्वा भूतानि'—सौरकालात्मके पुण्याहकाले एव सम्पूर्णभूतानि प्रतीयन्ते, इति सैषा प्रतीतिः, तद्भानं, सा—भातिरेव भूतिर्भू—तानाम्** ।

१६९—अध्यात्ममूला 'भूति' के उदाहरण का समन्वय—

अब तीसरे अध्यात्ममूलक भौतिक—उदाहरण को लक्ष्य बनाइए । आधिदैविक सम्वत्सरमण्डल में जो स्थान आदित्य का, एवं तत्प्रतिमारूप सूर्य्य का है, मानव की अध्यात्मसंस्था में वही स्थान 'चक्षुः' (चक्षुरि—न्द्रिय) का है, जिसके माध्यम से ही मानव, (किंवा सम्पूर्ण प्राणी) भूतजगत् का दर्शन—साक्षात्कार करने

में समर्थ बनता है *। सर्वाङ्गशरीर यदि भूतपिण्ड है, तो चक्षुरिन्द्रियात्मक आध्यात्मिक भूतभाग इस भूतपिण्ड की 'श्री' है, जिस श्री के विनिर्गमन से, 'इति' मात्र से मानव की 'इतिश्री' (अवसान) हो जाया करती है। चक्षु ही मानव की प्राणरूपा विभूति का एकमात्र परिचायक है। 'आँख मिचना' ही मानव के भूत-सम्थान की परिसमाप्ति है। अतएव मुमूर्षु मानव की प्राणात्मिका चेतना का अनुमान तद्वन्धुगण, एवं वैद्यगण चक्षु के माध्यम से ही लगाया करते हैं।

१७०–चक्षुःप्राणात्मिका 'श्री' का स्वरूप-समन्वय, एवं विभूतिमय चक्षुर्मण्डल के त्रिवृत्स्वरूप का दिग्दर्शन—

चक्षु प्राण वास्तव में मानव की श्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है। यही इसके आध्यात्मिक 'यश श्रीभाव' का एकमात्र परिचायक है। इसके बिना मानवीय-शरीर भूतपिण्डमात्र है, शवमात्र है। क्या प्रज्ञाचक्षु (अन्ध) मानव में 'श्री' नहीं रहती, जबकि इसकी चक्षुरिन्द्रिय विलुप्त है?। नेति होवाच। श्रीरूप चाक्षुषप्राण तो अवश्य है। किन्तु तद्ग्राहिका चक्षु रूपा भूतमात्रा का विकास अवरुद्ध होगया है। उस दशा में वह भूतिरूपा चाक्षुषी श्री मानवीय प्रज्ञा (मानस) में ही आश्रय ग्रहण कर लेती है। अतएव अन्धमानव को-'प्रज्ञाचक्षु' कहा गया है। भूतमात्रा सूक्ष्मभूत है, जिसमें प्राणमात्रारूप अवामच्छद तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। प्रज्ञामात्रा से अभिन्ना 'प्राणमात्रा –, तत्र प्रतिष्ठिता सूक्ष्मा [2]भूतमात्रा, एवं तदाधारभूत चक्षुर्गोलकरूप [3]स्थूलभूत, इन तीनों के समन्वय से ही 'चक्षु' का सर्वाङ्गीण स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव चक्षु को 'त्रिवृत्' माना गया है- 'त्रिवृद्धि चक्षु' (कौ० ब्रा० ३।५।)। स्थूलभूतात्मक स्थूलचक्षु के शिथिल होजाने से भी बाह्य विषयदर्शन अवरुद्ध होजाता है। इस शैथिल्य की ही चिकित्सा सम्भव है, जिसे 'नेत्रचिकित्सा कहा जाता है।

१७१–चक्षुरनुगत अश्विनी-प्राण, एवं-'चक्षुर्विपश्यति' का समन्वय—

मूलविज्ञानमूला वर्त्तमान चिकित्सा केवल इसीकी चिकित्सा कर सकती है, जबकि भारतीया प्राणचिकित्सा प्राणशैथिल्य की भी चिकित्सा में सफल है (थी)। प्रज्ञात्मक प्राण ही वास्तविक चक्षु (चक्षु-

---

* आदित्यो वा उद्गाता-अधिदैवं, चक्षुरध्यात्मम्। (गोपथब्रा०पू० ४।३।)। चक्षुरादित्यः-(शत० ३।२।२।१३)। अथ यत्तचक्षुरासीत् (प्रजापतेः सम्वत्सरस्य), स आदित्योऽभवत्। (जै० उप० २।२।३।)। चक्षोः सूर्य्योऽजायत, प्रजापतेरिन्द्रभागात्-सूर्य्याभिव्यक्ति–यजु स० ३१।१२।)। चक्षुरेवोद्गाता (अध्यात्मम्) (गो० पू० २।१०।)। असौश्चक्षुः-तदसौ सूर्यः (तै० १।१।७।२।)।

— स होवाच-(इन्द्रः)-प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व। अथो खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा-इदं शरीरं परिगृह्य-उत्थापयति। तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत। यो वै प्राणः-सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा-स प्राणः। सहह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिः, एतद्विज्ञानम्।

—कौषीतक्युपनिषत् ३।३।

रिन्द्रिय) है, जिस चाक्षुष प्राणविशेष का नाम है–'अश्विनी'। अश्विनीकुमारप्राण ही चक्षुःप्राणरूप में परिणत हुआ है, जिस इस आश्विनप्राण की मरीचिका (कालीमिर्च) में प्रधानता मानी गई है। अतएव मरीचिका को चक्षुःप्राणोत्तेजिका माना है शास्त्र ने। स्थूलभूतात्मक नेत्र स्फीत भले ही रहें, यदि यह नेत्रप्राण मूर्च्छित होकर प्रज्ञा में विलीन होजाता है, तब भी चाक्षुष–प्रत्यक्ष–सम्भव नही है। प्रज्ञात्मक प्राणचक्षु भी है, स्थूल–भूतात्मक नेत्र भी है। यदि भूतमात्रात्मक अक्षभाव शिथिल है, तब भी प्रत्यक्षव्यापार अवरुद्ध है। तदित्थं प्रज्ञाऽभिन्न प्राणमात्रात्मक चक्षु, तदनुगत भूतमात्रात्मक अक्ष, एवं तदनुगत स्थूलभूतात्मक नेत्र, तीनों की प्रकृतिस्थता में ही चक्षुर्विपश्यति। तीनों में से किसी एक के भी शिथिल होजाने से, विकृत होजाने से, मूर्च्छित होजाने से, किंवा उत्क्रान्त होजाने से चक्षुर्न विपश्यति। साथ ही तीनो की प्रकृतिस्थतानुगता विद्यमानता में भी तीनों में से किसी भी एक के तटस्थ बन जाने से, अन्यभावानुगत बन जाने से भी **पश्यन्नपि न पश्यति**। विविध प्रत्यक्षों के द्वारा भूतों की भूति का साक्षात् करते रहने वाला चक्षु सचमुच ही प्राणिजगल्लक्षण अध्यात्मजगत् की 'भूति' ही बना हुआ है।

१७२-षष्ठमन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

चक्षुर्लक्षणा भूति का प्राणीजगत् की दृष्टि से तो महत्त्व सार्वजनीन है ही। एतदतिरिक्त जड़जगत् से अनुप्राणित कतिपय अचेतन–जड़–भूतों में भी जब केवल जड़रूप से भी 'चक्षु' के प्रतीकमात्र का, किंवा प्रती–कात्मक चक्षु के आकारमात्र का सन्निवेश करा दिया जाता है, तो वह जड़भूत भी चेतनप्राणी की भाँति विकसित हो पड़ता है अपने मर्त्य भी भौतिक प्रतिमान से। काँस्य–पित्तलादि से निर्म्मिता धातुप्रतिमाओं में, पाषाणप्रतिमाओं में, तथा तूलिका–माध्यमेन-विविध–रङ्गरञ्जिता चित्रप्रतिकृतियों में जबतक 'चक्षु' की प्रति–कृति समन्वित नही कर दी जाती, तबतक ये सभी प्रतिमान निर्जीव से, निष्प्राण से, शवशरीर से ही प्रतीत होते रहते हैं। कृष्णबिन्द्वाकाराकारिता चक्षुःप्रतिकृति के सन्निविष्ट होते ही प्रतिमा–चित्रादि मानो सजीव ही हो पड़ते हैं। जब केवल चक्षुका प्रतीक भी यों जड़भूतों में भी भूतिरूप ऐश्वर्य्य उद्दीप्त कर देता है, तो फिर प्राणीसर्गानुबन्धी प्राणवान् चक्षु के भूति–भाव के सम्बन्ध में तो कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। इसी आध्यात्मिक,–किन्तु भूतानुबन्धी भूतिविवर्त्त को लक्ष्य बनाकर ही ऋषि ने कहा है–**'काले चक्षुर्विपश्यति'** **(सौरकालात्मके पुण्याहकाले–एव चक्षुर्भूतान् विपश्यति–स्वानुगतादित्यभागेन भूतिरूपेण, सैषा चाक्षुषी भूतिः प्रजापतेः सम्वत्सरस्य)**।

१–कालो भूतिमसृजत—भूतातीता कालात्मिका भूतिर्निरुपाधिका

२–काले तपति सूर्य्यः—भूतात्मिका सौरभूतिः –अधिदैवतानुगता–भूतिः

३–काले विश्वानि भूतानि-भूतात्मिका–भूतभूतिः–अधिभूतानुगता–-भूतिः

४–काले चक्षुर्विपश्यति–-भूतात्मिका–प्राणिभूतिः-अध्यात्मानुगता–-भूतिः

सस्मरणीय है कि, 'भूति' शब्द श्री–यशोरूप 'प्राण' का ही सग्राहक है। चतुष्पर्वा भूति का निरूपक प्रकृत मन्त्र इस 'प्राणभूति' को लक्ष्य बनाता हुआ तत्पूर्व के-'कालोऽमूं दिवमजनयत्' इत्यादि पञ्चम मन्त्रवत् सम्वत्सरकाल के आधिदैविक–विवर्त्त को ही लक्ष्य बना रहा है, जैसाकि अर्थसमन्वयारम्भ में ही स्पष्ट किया जाचुका है। और यही इस षष्ठ मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वयमात्र है।

इति षष्ठ-मन्त्रार्थसमन्वयः

६

---

[७]–सप्तममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [सप्तममन्त्रार्थ]

१७३–'काले मनः, काले प्राणः' इत्यादि सप्तम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय,-एवं अर्द्ध-चेतन, तथा चेतनलक्षण द्विविध प्राणियों का स्वरूप-परिचय—

७-काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नदन्ति–आगतेन प्रजा इमाः ॥

"काल में मन (है), काल में प्राण (है), काल में नाम समाहित (एकीभावरूप से आहित-प्रतिष्ठित) है। आगत (वर्त्तमान) काल से ये सम्पूर्ण प्रजाएँ (अन्त सज्ञ, तथा ससज्ञ नामक प्राणी) हर्षित बनी रहती हैं, सुसमृद्ध बनी रहती हैं" इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत मन्त्र काल के आध्यात्मिक विवर्त्त को ही लक्ष्य बना रहा है, जबकि पञ्चम–षष्ठ–मन्त्रोंने आधिदैविक विवर्त्त को, तथा चतुर्थ मन्त्रने आधिभौतिक विवर्त्त को लक्ष्य बनाया है। जैसे प्राणजगत् का नाम आधिदैविक है, भूतजगत् का नाम आधिभौतिक है, तथैव प्राणीजगत् की सामान्य अभिधा है–'आध्यात्मिक'। अध्यात्मविवर्त्तरूप प्राणीजगत् (जिसे लोकभाषा में चेतनजगत्–कहा गया है) अर्द्धचेतनात्मक एकेन्द्रिय प्राणीसर्ग, एवं चेतनात्मक सर्वेन्द्रिय प्राणीसर्ग, भेद से दो भागों में विभक्त है। ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्मादि वे पदार्थ, जो बीजरूप से भूगर्भ में निक्षिप्त होकर जल-सिञ्चनधर्म्म से कालपरिपाक के द्वारा क्रमशः अङ्कुरित होते हुए कालान्तर में ओषधि–वनौषधि–वनस्पति-वृक्षादिरूप में परिणत होजाते हैं अपने पार्थिवमूल में आबद्ध बने रहते हुए ही, उन्हें ही 'मूलजीव' कहा गया है, एवं केवल एक त्वगिन्द्रिय के विकास के कारण ही इन्हें एकेन्द्रिय, वैश्वानर, तथा तैजस के समन्वय के कारण द्व्यात्मक, एवं चेतना के अन्तःप्रतिष्ठित रहने के कारण अन्त सज्ञ नाम से व्यवहृत किया गया है–'अन्त सज्ञा भवन्त्येते सुख–दुःख–समन्विताः'। यही अर्द्धचेतनात्मक प्राणीसर्ग का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१७४–ससंज्ञ-प्राकृत--जीवों का स्वरूप–परिचय, एवं अध्यात्मजगत् का स्वरूप-समन्वय--

दूसरा चेतनात्मक प्राणीसर्ग है, जिसके कृमि–कीट–पक्षी–पशु–प्राकृतमानव (मनोवशवर्त्ती-चान्द्रमानव) भेद से अवान्तर पाँच विवर्त्त माने गए हैं। जलचरप्राणियों का कृमि–कीट–पक्षी–पशु–इन

चारों प्राणियों में ही अन्तर्भाव होजाता है। इनमें क्योंकि अर्थशक्तिप्रधान पार्थिव **वैश्वानर**, क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरिक्ष्य **तैजस**, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य **प्राज्ञ**, तीनों लोकप्राण समाविष्ट रहते हैं, अतएव इन्हें–'त्र्यात्मकजीव' कहा गया है। चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण इन्हें '**संसज्ञ**' कहा गया है। एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों की अभिव्यक्ति के कारण इन्हें–'**सर्वेन्द्रियजीव**' मान लिया गया है। इन उभयविध (अर्द्धचेतन–चेतन)–जीवों की समष्टि ही प्राणीसर्ग है, यही 'अध्यात्मजगत्' है, एवं मन्त्र इसी जगत् के साथ काल का महिमात्मक सम्बन्ध प्रमाणित कर रहा है।

१७५--ईश्वर--जीव--जगत्--शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय, एवं 'परावर' अक्षर का महिमामय विवर्त्त—

अर्द्धचेतन-चेतनोभयविध प्राणीसर्ग का नाम जीवसर्ग है, इस दृष्टिकोण में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि–अर्द्धचेतन–चेतनसर्गद्वयी को 'प्राणीसर्ग', एवं 'जीवसर्ग' नाम से क्यो, किस आधार पर व्यवहृत किया गया ?, एवं क्यो इस उभयविध सर्ग को 'अध्यात्मम्' कहा गया ?। प्रश्नोत्थान का मूलकारण यही है कि, जीव में एक ओर इसके शरीर से सम्बद्ध भूत भी इसमें विद्यमान है, तो दूसरी ओर–'**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**' लक्षण भूतातीत 'अव्यय' भी साक्षी रूप से प्राणीसर्गात्मक जीवसर्ग का आधार बना हुआ है। जबकि यह जीवभाव मनोघन अव्यय, तथा वाङ्मय क्षरात्मक भूत, दोनो से भी समन्वित है, तो फिर इसे केवल 'प्राणी' ही क्यों कहा गया ? एवं इस प्राणी की 'जीवसंज्ञा' क्यों हुई ?। इन सब आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर वह '**सेतुतत्त्व**' है, जिसे '**अक्षर**' कहा गया है, जिसके इस ओर वाङ्मय क्षर है, उस ओर मनोघन अव्यय है, एवं दोनों के मध्य में प्राणमय अक्षर प्रतिष्ठित है। क्षरात्मक वाङ्मय भूत ही विश्व का भौतिक स्वरूप है, जिसका तट क्योंकि अक्षर ही बन रहा है, अतएव इसे 'सेतु' (तट) कहना अन्वर्थ है *। यह सेतुरूप अक्षर प्राणात्मक बनता हुआ 'गति' स्वरूप है, अतएव क्रियामय है। मध्यस्थ होने से इसका परस्थानीय मनोघन-ज्ञानमूर्त्ति-अव्यय से भी सम्बन्ध है, एवं अवरस्थानीय-वाङ्मय-अर्थमूर्त्ति क्षर से भी सम्बन्ध है। अव्ययदृष्ट्या '**पर**' बने हुए, एवं क्षर-दृष्ट्या '**अवर**' बने हुए, अतएव ÷ '**परावर**' बने हुए इस मध्यस्थ प्राणात्मक अक्षर के 'पर' अव्यय, एवं 'अवर' क्षर–दोनों के मनो–वाग्–भावों–धर्म्मों का भी समावेश हो जाता है। इसप्रकार स्वस्वरूप से प्राणप्रधान बना रहने वाला भी मध्यस्थ अक्षर अव्यय के मन से मनोमय, क्षर की वाक्–से वाङ्मय, एवं स्व के प्राणप्राधान्य से प्राणमय बनता हुआ **मनःप्राणवाङ्मय** प्रमाणित होरहा है। मनःप्राणवाङ्मय, प्राणप्रधान, अतएव प्राणमूर्त्ति यही अक्षर (पराप्रकृति) जीव है। जिसप्रकार

---

* यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥
—कठोपनिषत् ३।२।

÷ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे 'परावरे'॥
—मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

मनोघन अव्यय 'ईश्वर' है ×, वाङ्मय क्षर भूतमय 'जगत्' है +, एवमेव मन प्राणवाङ्मय-प्राण-प्रधान, अतएव प्राणमूर्त्ति, अव्यय की पराप्रकृतिरूप 'परावर' नामक 'अक्षर' ही 'जीव' कहलाया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अपरेयम् (सैषा क्षरात्मिका-अपराप्रकृतिः)
· ··इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां (१) महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
—गीता

१७६-मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षरात्मा, एवं उसकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियाँ—

प्राणमूर्त्ति अक्षर ही क्योंकि जीवसर्ग का अधिष्ठाता बनता है, दूसरे शब्दों में प्राणात्मक अक्षर ही जीव का जीवत्व है । अतएव जीवसर्ग को इस प्राणमूर्त्ति अक्षर के प्राधान्य से 'प्राणीसर्ग' कह दिया जाता है, जब कि प्राणात्मक यह अक्षर मध्यस्थता के अनुसार बन रहा है मन प्राणवाङ्मय ही । अव्ययप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'ईश्वर' है, यही 'अधिदैवतम्' है । अक्षरप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'जीव' है, यही 'अध्यात्मम्' है । एवं क्षरप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'जगत्' है, और यही-'अधिभूतम्' है-'आत्मा उ एक सन्नेतत्त्रय, त्रय सदेकमयमात्मा' । क्योंकि प्राणीसर्ग अक्षरप्रधान है, अक्षर ही क्योंकि अध्यात्मम् है । अतएव जीवसर्गात्मक प्राणिसर्ग को अवश्य ही 'अध्यात्मम्' कहा जा सकता है, कहा गया है । व्यवहार अक्षरप्राण की प्रधानता से जीव के लिए 'प्राणी' ही होगा । किन्तु इस जीवात्मक प्राणी के प्राणाक्षर को माना जायगा मन प्राणवाङ्मय ही । अतएव 'अध्यात्मम्' मानापन्न प्राणात्मक प्राणी रूप आत्मा (जीव) का लक्षण माना गया है-'स वा एष आत्मा वाङ्मय', प्राणमयो मनोमय', जिसका अर्थ है-'ज्ञान-क्रिया र्थ-शक्तिमय' । इसी विश्लेषण को आधार बना कर हमें प्रकृत मन्त्र का समन्वय करना चाहिए ।

१७७-प्राणीजगत् का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मनोमय अक्षर द्युलोकीय प्राज्ञ का, प्राणमय अक्षर अन्तरिक्षलोकीय तैजस का, एवं वाङ्मय अक्षर पृथिवीलोकीय वैश्वानर का सम्राहक बन रहा है । अतएव अब जीवरूप 'प्राणी' की अध्यात्मसंस्था के लिए

× यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।
—गीता

+ क्षरः सर्वाणि भूतानि (गीता) ।

१-"अक्षरधियां त्ववरोधः-सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" ।
—व्याससूत्र ३।३।३३।

यह कहा जासकेगा कि–"मनोमय अक्षरानुगृहीत ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञ, प्राणमय अक्षरानुगृहीत क्रियाशक्तिमय तैजस, तथा वाङ्मयाक्षरानुगृहीत अर्थशक्तिमय वैश्यानर, इन तीनों की समन्वितावस्थारूप, मनःप्राणवाङ्मय–अक्षरप्राणप्रधान–प्राण ही 'प्राणी' का समस्त स्वरूपेतिवृत्त है"। कालपुरुष का स्वरूप अभिव्यक्त करते हुए हमने इसे अव्यक्त प्राणरूप ही कहा है। वह और जीव, दोनों इस अव्यक्ताक्षरप्राण के समतुलन से उसी प्रकार समतुलित हैं, जैसे कि सम्वत्सर, और पुरुष समतुलित हैं। कालात्मक प्राण में, तथा जीवात्मक प्राणी में अन्तर यही है कि, वह जहाँ क्षरभूतों का प्रवर्त्तक रहता हुआ भी 'भूतानांपतिः' है, वहाँ यह प्राणी स्थूलभूतों से समन्वित है व्यक्त ऐहिक जीवन में, एवं सूक्ष्मभूतों से समन्वित है साम्परायिक–गति (प्रेतगतिरूपा लोकान्तरगति) में *। इस भूतासञ्जन से प्राणी उसका अंश कहलाया है ÷, जब कि वह कालसम्वत्सरात्मक प्राण भूतों को स्वाधिकार में रखता हुआ इनका वशी (पति) बन रहा है। ऐसे प्राणात्मक-काल के आधार पर प्राणीरूप जीवात्मक यह 'अध्यात्म' विवर्त्त प्रतिष्ठित है, जिसके वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप-अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तिमय-वाक्-प्राण-मन-नाम के प्राणाक्षर-प्रधान (प्रकृतिप्रधान) तीन अवान्तर विवर्त्त माने गए हैं। प्राणी का ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञात्मक **मन** भी कालात्मक सम्वत्सरप्राण में हीं प्रतिष्ठित हैं। प्राणी का क्रियाशक्तिमय-तैजसात्मक **प्राण** भी उसके प्राण में ही प्रतिष्ठित है। एवं प्राणी का अर्थशक्तिमय-वैश्वानरात्मक-वाग्रूप **नाम** भाग भी उसके प्राण में ही प्रतिष्ठित है। और यही पुनः किञ्चिदिव कुछ और भी जान लेना है।

१७८–ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी महासुपर्ण, एवं जीवभावानुबन्धी देवसत्यात्मक भोक्ता सुपर्ण, तथा दोनों का सख्यभाव—

जिस काल में प्राणियों के मन, प्राण, नाम (वाक्)–भाव प्रतिष्ठित हैं, उस काल को हमनें प्राणात्मक कहा है। आधारात्मक वह प्राण क्या केवल प्राणरूप ही है, अथवा तो उसमें भी प्राणीवत् त्र्यात्मकता है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके उत्तर में–'ओमित्येतत्' ही कहा जायगा। अवश्य ही उसका प्राण त्रिवृत् है, तभी तो यह प्राणी त्रिवृत् बनता हुआ वैश्वानरादिरूप से त्र्यात्मक बन पाया है। यह प्राणी उसी का तो (काल का ही तो) प्रतिमान है। कारणात्मक जनक काल के कारणभाव ही तो कार्य्यात्मक जन्य प्राणी में आनुपूर्वी से अवतरित हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि-षष्ठ-मन्त्रार्थ-समन्वय में कालात्मक सम्वत्सर के अमृत-मृत्यु-भाव का चितिरूप से समन्वय करते हुए हमने सम्वत्सर को सप्तचितिरूप 'महासुपर्ण' कहा था (देखिए पृ० सं० २०२ के श्रुतिवचन)। 'सुपर्ण' शब्द के साथ सम्बद्ध 'महा' शब्द अपने सहजसिद्ध सापेक्षभाव से किसी 'अवर' भाव का भी संग्राहक बन रहा है, जिस छोटे सुपर्ण की अपेक्षा से ही सम्वत्सरकाल को 'महासुपर्ण' कहना अन्वर्थ बन सकता है। यदि प्राणलक्षण सम्वत्सरकाल महासुपर्ण (बड़ा सुपर्ण) है, तो तदंश-तत्प्रतिमानरूप प्राणीलक्षण जीव अवश्य ही 'अवरसुपर्ण' (छोटा सुपर्ण) है।

---

* तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्ब्रूह्येतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित्।
स प्राह जीवः करणावसादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः॥

÷ अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।
—व्याससूत्र २।३।४३।

१७६–साक्षी महासुपर्ण के, एवं भोक्ता अवरसुपर्ण के सायुज्यभाव का समन्वय—

उस महासुपर्ण का अक्षरात्मक प्राण अवरसुपर्णरूप जीवाक्षरप्राण की भाँति उन्हीं तीनों अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक मन–प्राण–वाग् भावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमय बनता हुआ त्र्यात्मक ही है। प्रधानता अक्षरक्रिया उसमें भी प्राण की ही है। प्राणी उसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, वह भूताधीन नहीं है, अपितु भूत उसके आधीन हैं। अवरसुपर्णात्मक प्राण इसलिए प्राणी (प्राणवान) कहलाने लगता है कि, इसका प्राण भूताधीन बना रहता है। इस एक भेद के अतिरिक्त प्राणात्मक-अक्षरसम्वत्सर से यह प्राणीरूप अक्षरात्मक जीव अन्यान्य सभी पर्व-संस्थाना में सर्वात्मना समतुलित है। प्राणात्मकता ही उसका आधारत्व है, एवं प्राणित्व ही इसका आधेयत्व है। यदि इसके भी भूत को पृथक् कर लिया जाता है-ज्ञान–कर्म्मो–पासना–योगादि प्रकारों से, तो फिर यह आधेय भी तदाधाररूप में ही परिणत हो जाता है, जिस परिणति को ही वैज्ञानिक–'सायुज्य' नाम की 'अपरामुक्ति' कहा करते हैं।

१८०–साक्षी महासुपर्ण के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

पूर्व परिच्छेदों में हमने अव्ययानुगत–स्वयम्भू को सहस्रशीर्षः कहा है, विश्वम-यस्थ–केन्द्रस्थ–अक्षरानुगत सूर्य को सहस्राक्ष कहा है, एवं विश्वान्तर्भूत क्षरानुगत भूपिण्ड को सहस्रपात् कहा है। अब इसी विभूतित्रयी की पार्थिव-ऋत-सम्वत्सररूप कालपुरुष के साथ समन्वित कीजिए-'तत्सृष्ट्वा' नियमानुरोधेन। भ्रान्तिवृत्तीय कालसम्वत्सर का द्युलोकीय(२१)आदित्यप्राण ज्ञानप्रधान बनता हुआ सहस्रशीर्ष है, अन्तरिक्ष-लोकीय(१५)वायव्यप्राण क्रियाप्रधान बनता हुआ सहस्राक्ष है, एवं पृथिवीलोकीय(६)आग्नेयप्राण अर्थप्रधान बनता हुआ सहस्रपात् है। सहस्रपात्–वाङ्मय–अर्थशक्तिमय–अग्निप्रधान–क्षरानुगत–पार्थिव उसी अक्षर-प्राण का नाम है 'विराट्'। सहस्राक्ष–प्राणमय–क्रियाशक्तिमय-वायुप्रधान–अक्षरानुगत–आन्तरिक्ष्य उसी अक्षरप्राण का नाम है 'हिरण्यगर्भ'। एवं सहस्रशीर्ष–मनोमय–ज्ञानशक्तिमय–आदित्यप्रधान–अव्ययानुगत–दिव्य-उसी अक्षरप्राण का नाम है 'सर्वज्ञ'।

१८१–भोक्ता सुपर्ण के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं नर-नारायण का संस्मरण—

इसप्रकार उस त्रिलोकीरूप–प्राणदेवतात्रयी (अग्नि–वायु–आदित्यत्रयी) से कृतरूप–मन.प्राणवाङ्–मय–ज्ञानक्रियार्थशक्तिमय-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्मूर्ति सम्वत्सरकालात्मक अक्षरप्राण का नाम ही महासुपर्ण है, जिसके * [1]सर्वज्ञप्राण का अंश [1]प्राज्ञ है, [2]हिरण्यगर्भप्राण का अंश [2]तैजस है, एवं [3]विराट्प्राण का अंश [3]वैश्वानर है। सर्वज्ञानुगत प्राज्ञ, हिरण्यगर्भानुगत तैजस, विराडनुगत वैश्वानर, इन तीनों अंशभावों की समष्टि का नाम ही है अवरसुपर्ण। अवरसुपर्ण जीव है, महासुपर्ण इस जीव का ईश्वर है। जीव का कर्त्ता–धर्त्ता–विधत्ता सब कुछ वही महासुपर्ण है। यह भूताज्ञनधर्म्म से भोक्ता सुपर्ण है, वह भूताधिपत्य

---

* य सर्वज्ञ सर्वविद्-यस्य ज्ञानमयं तप।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नञ्च-जायते॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

करता हुआ साक्षीसुपर्ण है। दोनों अंशी-अंशरूप से, कारण-कार्य्यरूप से पृथक् रहते हुए भी साथ रहने वाले (सयुक्-जोड़ले) सखा हैं, अभिन्न हैं। वह अर्णवसमुद्र में इतस्ततः विचरण करने वाला नारायण है, तो यह उसी नारायण से सान्निध्य रखता हुआ तदाधारभूत नर है। दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं 'नरनारायण' नामक ऋषितत्त्व है, जिसका पञ्चरात्रयज्ञ-प्रक्रिया में विस्तार से स्वरूप विश्लेषण हुआ है। इन्हीं दोनों सुपर्णों को लक्ष्य बना कर मन्त्रश्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोऽरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्-अन्यो अभिचाकशीति ॥

—ऋक्सं० १।१६४।२०।

१—सहस्रशीर्षः-सर्वज्ञः——आदित्यप्राणः—मनोमयः—ज्ञानशक्तिमयः—अव्ययानुगतोऽक्षरप्राणः

२—सहस्राक्षः--हिरण्यगर्भः-वायव्यप्राणः--प्राणमयः--क्रियाशक्तिमयः-अक्षरानुगतोऽक्षरप्राणः

३—सहस्रपात्-विराट्——आग्नेयप्राणः—वाङ्मयः—अर्थशक्तिमयः—क्षरानुगतोऽक्षरप्राणः

———※———

१—अव्ययानुगतोऽक्षरप्राणः-मनोमयकालः-प्राणिना-मनोऽधिष्ठाता	स एव 'महासुपर्णः'
२—अक्षरानुगतोऽक्षरप्राणः—प्राणमयकालः-प्राणिनां-प्राणाधिष्ठाता	
—क्षरानुगतोऽक्षरप्राणः—वाङ्मयकालः-प्राणिनां-नाम्नामधिष्ठाता	

———※———

१—सर्वज्ञानुगतः—प्राज्ञः—मनोमयः प्राणः-तदिदं मन एव—तच्च सर्वज्ञप्राणात्मके काले प्रतिष्ठितम्

२—हिरण्यगर्भानुगतः-तैजसः-प्राणमयः प्राणः-सोऽयं प्राण एव-तच्च हिरण्यगर्भप्राणात्मके काले प्रतिष्ठितम्

३—विराडनुगतः—वैश्वानरः—वाङ्मयः प्राणः-तदिदं नामैव-तच्च विराट्प्राणात्मके काले निहितम्

—"इति-काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्"—

—इत्याहुर्म्महर्षयः

१८२—'काले नाम समाहितम्' के 'समाहितम्' पद का पारिभाषिक-दृष्टिकोण—

अन्यदपि किञ्चित्। ऋषि ने—'काले मनः, काले प्राणः—काले नाम समाहितम्' कहते हुए मन, और प्राण के साथ तो किसी प्रतिष्ठा की सूचिका क्रिया का समावेश नही किया, जबकि-'काले नाम समाहितम्' रूप से तीसरे अर्थशक्तिमय वाङ्मय नाम के साथ 'समाहितम्' का समन्वय आवश्यक मान लिया। ऐसा क्यों ?। यदि नाम के साथ 'समाहितम्' है, तो मन के साथ भी—'काले मनः प्रतिष्ठितम्—काले प्राणः प्रतिष्ठितः'--इत्यादिरूप से कुछ तो भी कहना चाहिए था ऋषि को। नही कहा। क्यों ?। इस क्यों ? के समाधान का अन्वेषण हमें अपनी श्रद्धात्मिका ऋतुप्रज्ञा से ही ढूँढ निकाल लेना है।

१८३-मन-प्राण--भावों की अक्षररूपता, तथा वाग्भाव की क्षररूपता, एवं वागनुबन्धी नामविवर्त्तात्मक भौतिक जगत्--

यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सम्वत्सरप्रजापति का ज्ञानमय मन, तद्रूप प्राणी का मन, सम्वत्सर का क्रियामय प्राण, तथा प्राणी का प्राण, दोनों क्रमशः अव्यय--अक्षरात्मक हैं, जबकि सम्वत्सर का अर्थशक्तिमय वाक्तत्त्व, तथा प्राणी का वाङ्मय नामतत्त्व, दोनों क्षरात्मक हैं। सम्वत्सरप्राणात्मक काल अव्य-यगर्भित अक्षरकाल है। क्षर भी इसमें है, किन्तु वशवर्त्ती बन कर। अतएव सम्वत्सरकाल का मौलिक स्वरूप उसके अव्ययात्मक मनोमय-अक्षर, एवं अक्षरात्मक प्राणमय अक्षर, इन दो भावों पर ही मुख्यरूप से विश्रान्त है। इधर प्राणियों का मन, तथा प्राण भी अक्षरात्मक ही बना हुआ है, जबकि वाङ्मय नाम ही क्षरात्मक बनता हुआ भौतिक विवर्त्त है। निष्कर्षतः प्राणी का ज्ञानमय मन, तथा क्रियामय-प्राण, दोनों अक्षरकालात्मक सम्व-त्सरकाल से सर्वात्मना अभिन्न ही प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि वाङ्मय तीसरा नामविवर्त्त दिग्देशभावों के समन्वय से स्थूल भूतविवर्त्त में आता हुआ अपने इस क्षरभूतधर्म से, किंवा दिग्देशात्मक धामच्छद-पदार्थधर्म से उस प्राणात्मक काल से पृथग्वत् बन रहा है।

१८४-'काले मनः-काले प्राण' मन्त्रभाग का रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-समन्वय--

यह ठीक है कि, प्राणी के मन, और प्राण-दोनों सुसूक्ष्म अक्षरविवर्त्त भी काल से अभिन्न हैं। अत-एव इन कालरूप ही (अक्षरप्राणप्रधान ही) मन--प्राणों को 'काल में' प्रतिष्ठित बतलाना असङ्गत ही बन जाता है-क्षरभूत की पार्थक्यापेक्षा में। तदपि प्राणी का मन प्राणरूप अक्षरात्मक-कालस्वरूप अंशात्मक है, साथ ही क्षरभूताधीन भी। अतएव इस कालात्मक भी मन प्राणद्वन्द्व को काल में । बस। 'काले' से अधिक अब और कुछ भी नहीं कहा जायगा इन कालाभिन्न, अतएव कालरूप ही मन--प्राण-विवर्त्तों के लिए। अंशमर्य्यादया इन्हें-अंशरूपकाल मान कर उस अंशी को परमकालत्वेन इनका क्या ?, का कोई समाधान नहीं हो सकता। 'काल में मन, काल में प्राण'-बस, अलम्। इतना ही कह देना पर्य्याप्त है इन मन'-प्राणों के लिए। मन--प्राण की इसी कालात्मकता की सङ्केतविधि से समझाने के लिए ही ऋषि ने केवल-'काले मन काले प्राण'- कह कर ही किसी भी क्रियापदादि का समावेश किए बिना ही इस प्रसङ्ग को समाप्त कर दिया है। मन, और प्राण की कालात्मकता से यह अवश्य कहा जासकता था कि-'काले मनो-रूप काल प्रतिष्ठित, काले प्राणमय काल' प्रतिष्ठित'। किन्तु ऐसा कहना तो-'काले-काल (मन) प्रतिष्ठित, काले काल (प्राण) प्रतिष्ठित' इस रूप का होता, जो कि तथाभूत रूप सर्वथा ही अशुद्ध माना गया है शब्दार्थमर्य्यादा में। काल में कालत्व तो रहता है, किन्तु-'सामान्ये सामान्याभाव' नियमानुसार काल में काल का रहना सर्वथा अनुपपन्न है। इन्हीं सब कारणों से ऋषि ने अंशमर्य्यादा का रक्षण करते हुए जहाँ-'काले' कह दिया, वहाँ काल से इन मन--प्राणों की अभिन्नता के अनुबन्ध से 'मन'-'प्राण' इस रूप से नामोच्चारण मात्र करके ही 'काले' इस सप्तम्यन्त पद की अपेक्षा को उपरत कर दिया।

१८५–'मध्यत ऐन्ध' रूप इन्द्रतत्त्व,–एवं मानव के लिए हिततम इन्द्रदेवता—

अब शेष रह गया जरात्मक वाग् विवर्त्त । प्राणों को जहाँ 'हित' माना है श्रुति ने, वहाँ वाक् को 'उपहिता' कहा है, जिस हितोपहित प्रसङ्ग का प्रकृत में हमें विश्लेषण नहीं करना है * । वाङ्मय भूत प्राण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । प्राणसत्ता ही वाङ्मयी भूतसत्ता का आधार है । भला इस से बड़ा हितैषी इस वाङ्मय भूत का और कौन होगा ? । इस प्रतिष्ठात्मिका हितैषिता के अनुबन्ध से ही प्राण को 'हित' कहना अन्वर्थ बनता है । मध्यस्थ यह प्राणतत्त्व ही 'यन्मध्यत–ऐन्ध' निर्वचन से 'इन्द्र' है, एवं भूतहितात्मक इस इन्द्रप्राण को जान लेने से अधिक मानव के लिए और कोई दूसरा विशिष्ट 'हित' नहीं माना जासकता, जैसाकि-'**एतदेवाहं (इन्द्रः) मनुष्याय हिततमं मन्ये, यन्मां विजानीयात्**' (कौषीतक्युपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है ।

१८६–'उपाहितम्', और 'समाहितम्' का समन्वय—

वाङ्मय भूत क्योंकि इस 'हित' नामक मध्यस्थ प्राण के समीप–प्राणाधार पर प्रतिष्ठित रहता है । अतएव इस 'उप' भाव से अवश्य ही वाङ्मय भूतविवर्त्त को 'उपहित' कहा जासकता है,जिस इस उपहितता-आधेयता–के लिए ही श्रुति ने–'**काले नाम समाहितम्**' यह कहा है । '**उपाहितम्**' ही 'समाहितम्' का अर्थ है । काम 'आहितम्' से भी चल सकता था । क्योंकि आधाराधेयभाव का समर्थन 'आहितम्' से भी हो रहा है । 'उप' से भी काम चल सकता था । तभी तो वाक् को 'उपहित' कहा गया है । तदनुबन्धनैव यहाँ भी 'उपाहितम्' भी कहा जासकता था । किन्तु नहीं कहा गया । अपितु 'आहितम्' के पीछे 'सम्' उपसर्ग और लगाया गया । शरीर पर वस्त्र उपाहित हैं, आहित हैं । भूतल पर प्रासादादि उपाहित हैं, आहित हैं । स्थाली में तण्डुलादि उपाहित हैं, आहित हैं । इन सभी स्थलों में आधाराधेयभाव है । सर्वत्र आधार की सत्ता भिन्न है, आधेय की सत्ता भिन्न है । किन्तु वाङ्मय भूत, और तत्कारणभूत वाङ्मय काल का कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है । अपितु यहाँ तो वह वाङ्मय काल ही इन वाङ्मय भूतों में (दिग्देशरूप से) परिणत हुआ है । यही अभिन्नसत्तानुबन्धी एकसत्तात्मक कार्य्यकारणभाव है । कारण को पृथक् कर देने से कार्य्यरूप वाग्विवर्त्त का अस्तित्व ही नहीं रहता । इसी एकीभाव को लक्ष्य बना कर, इसी अभिन्नसत्ताभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने 'आहितम्' के साथ 'सम्' रूप एकीभावार्थक उपसर्ग का समन्वय अनिवार्य्य मान लिया है । वाङ्मय भूत-विवर्त्त आहित है दिग्देशानुबन्ध से, एवं समाहित हैं अभिन्नसत्तानुबन्ध से । यही वाङ्मय भूतों की सम्-(अभिन्नसत्तानिबन्धना) आहितता (आधेयता) है, यही 'समाहितता' है, और यही है–**काले नाम समाहितम्**' का निष्कर्ष ।

---

*–तदाहुः–किं 'हितम्', किं–'उपहितम्' इति ? । प्राण एव हितम्, वागुपहितम् । प्राणे हीयं वाक्–उपेव हिता । प्राणस्त्वेव हितम् । अङ्गान्युपहितम् । प्राणे हीमानि अ-ङ्गानि-उपेव हितानि । (शत० ६।१।२।१५) । प्राणो वै हितम् । प्राणो हि सर्वेभ्यो हितः ॥ (शत० ६।१।२।१५) ।

१८७—मनःप्राणवाङ्मय कालप्रजापति, और उसके महिमामय रूप-कर्म्म नाम-विवर्त्त—

पूर्व में हमने अर्थशक्तिप्रधान तृतीय आत्मविवर्त्त को—'स वा एष आत्मा वाङ्मय' इत्यादि रूप से 'वाङ्मय' कहा है। मन, और प्राण विवर्त्त के साथ—'नाम्' विवर्त्त का ही सहज समन्वय है। ऐसी स्थिति में तो ऋषि को—काले मन., काले प्राण '—की अनुरूपता के संरक्षण के लिए 'काले नाम समाहितम्' के स्थान में—'काले वाक् समाहिता' ही कहना चाहिए था। ऐसा न कह कर ऋषि ने 'नाम' का निर्देश किस अभिप्राय से किया ?, यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न और शेष रह जाता है। दो शब्दों में इस शेष प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। मन, प्राण, वाक्, तीनों अपने अमृतभाग से 'आत्मा' कहलाए हैं, जिन इन तीनों के मर्त्यरूप क्रमश 'रूप–कर्म्म–नाम' माने गए हैं। रूप (वर्णरूप, और आकाररूप, दोनों रूपविवर्त्त—आकाररूप, और रंग) मन का मर्त्यभाग है, कर्म्म प्राण का मर्त्य भाग है, एवं नाम वाक् का मर्त्य भाग है। मन प्राण-वाङ्मय अमृतात्मा 'आत्मा' है पदार्थ का, एवं नामरूपकर्म्ममय पिण्डमात्र 'शरीर' है पदार्थ का। मन प्राण-वाङ्मयी सत्ता से समन्वित नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक पदार्थ का नाम ही है दिग्देशात्मक मर्त्यप्रपञ्च, जो अपने मर्त्य धर्म्म से सदा परिवर्तित होता रहता है। पदार्थ का **मन प्राणवाङ्मय अस्तित्व कभी नहीं बदलता, बदलते हैं पदार्थ के नाम–रूप–कर्म्म।** (शत० १४।४।८)।

१८८—अमृतप्रजापति की मर्त्या सृष्टि, एवं उसका वाक्प्रधानत्व—

यह ठीक है कि—रूप–कर्म्म–नाम–तीनों क्रमश मन–प्राण–वाक्–रूप तीन अमृत पर्वों के मर्त्य विवर्त्त हैं। किन्तु इन तीनों मर्त्य पर्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है वाङ्मय नामविवर्त्त ही। मन, और प्राण अपने कालिक अक्षरभाव से जहाँ दिग्देशबन्धन से असंस्पृष्ट है, वहाँ वाग्भाग ही अपने क्षरभाव से दिग्-देशबन्धन से संस्पृष्ट बनता हुआ मन के रूप का, तथा प्राण के कर्म्म का भी सग्राहक बन जाता है, जो कि रूप, तथा कर्म्म भी मर्त्यक्षरानुबन्ध से वागनुगत नाम के ही सजातीय बने हुए हैं। अतएव वाङ्मय 'नाम' से जहाँ तन्मूलभूत 'वाक्' नामक अमृतपर्व का सग्रह हो जाता है, वहाँ इस 'नाम' भाग में ही तत्समानधर्म्मा मर्त्य मानसिक रूप, एवं प्राणानुबन्धी मर्त्य कर्म्म, दोनों का भी सग्रह हो जाता है।

१८९—अमृतभावों के द्वारा मर्त्यभावों का संग्रह—

यों वाङ्मय 'नाम' मन–प्राण के पूरक 'वाक्' भाग के साथ साथ मन–प्राण–वाक् के रूप–कर्म्म-नाम—नामक तीनों मर्त्यभावों का भी सग्राहक प्रमाणित हो रहा है। अतएव ऋषि ने न तो 'वाक्' का नामनिर्देश किया, न मन प्राण के रूप–कर्म्म–भावों का निर्देश किया। अपितु निर्देश किया उस 'नाम' भाव का, जिस से मन प्राणानुबन्धी 'वाग्भाव' भी सगृहीत हो जाता है, एवं मन प्राणवाङ्मय आत्मा के रूप–कर्म्म–नाम-लक्षण मर्त्यभावों का भी सग्रह गतार्थ बन जाता है। यही तो प्राणी की स्वरूपव्याख्या है। प्राणी में **आत्मा, और शरीर**, ये दो ही तो विवर्त्त हैं। प्राणी का आत्मा मन प्राणवाङ्मय है, तो शरीर वाङ्माध्यमेन नाम-रूप–कर्म्मात्मक है। यह सर्वात्मना अवधेय है कि, यद्यपि प्रकृतिसिद्ध क्रम मन–प्राण–वाक्–रूप से **रूप–कर्म्म–नाम**–ही है। किन्तु लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है **नाम–रूप–कर्म्म**-यह क्रम। वाग्विवर्त्त रूप नाम का प्राथम्य ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, क्षरात्मक वाग्भाव ही अपने 'नाम' विवर्त्त के द्वारा क्षरात्मक मनोभाग के रूपभाग को, एवं अक्षरात्मक प्राणभाग के कर्म्मभाग को व्यक्तरूप प्रदान कर रहा है।

१६०–'काले वाक् समाहिता' का प्रतिनिधि–'काले नाम समाहितम्' वाक्य, और तत्समन्वय—

इसी सृष्टि-अनुबन्ध-क्रम को लक्ष्य में रखकर ऋषिने 'काले वाक् समाहिता' न कहकर 'काले नाम समाहितम्' कहा है। 'वाक्' के कहने से प्राणी का आत्मभावमात्र (मनःप्राणवाङ्मय आत्मभावमात्र) ही संगृहीत हो जाता। किन्तु नामरूपकर्म्मात्मक शरीरभाव का संग्रह नहीं होता। रूप, अथवा तो कर्म्म, इन दोनों में से किसी एक का निर्देश भी लक्ष्यपूर्त्ति नहीं कर सकता था। क्योंकि रूप–कर्म्म–नाम–तीनों में ... वाङ्मय नाम ही सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है मर्त्यपरम्परा में। अतएव एकमात्र 'नाम' विवर्त्त ही ऐसा था ..., जिससे आत्मा की शेषभूता 'वाक्' कला के संग्रह के साथ साथ आत्मा के मर्त्य–शरीरविवर्त्त का भी संग्रह गतार्थ बन जाता है, इत्यलमतिपल्लवितेन।

१६१–कालपुरुष के अतीत-आगत-अनागत-नामक-तीन महिमाभावों का संस्मरण—

अत्र–'कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः' इस मन्त्रोत्तरार्द्ध को लक्ष्य बनाइए। काल के आधार पर प्रतिष्ठिता, मनःप्राणवाग्गर्भितरूप-नामों की समष्टिरूपा ये पार्थिवप्रजाएँ 'आगतकाल' से ही सुसमृद्धा हैं, हर्षिता है, (होती रहती हैं) ... सापेक्ष 'आगतेन' पद स्वतः ही अतीत (भूत), और 'अनागत' (भविष्यत्) इन दोनो कालो की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सरकाल के–'भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान' नामक तीनों अतीत–आगत–अनागत–ये विवर्त्त सर्वसामान्य में सिद्ध हैं, जिन इन तीनों कालोंका आरम्भ के कालगणन-प्रसङ्ग में यत्र तत्र अनेकधा दिग्दर्शन कराया जाचुका है। कालसीमा में प्रतिष्ठित प्रजासर्ग (प्राणीसर्ग) की जन्म–स्थिति–भङ्ग (उत्पत्ति–स्थिति–विनाश) नाम की तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध है। इन तीनों ही अवस्थाओं का काल ही प्रवर्त्तक बन रहा है। काल में ही प्रजा जन्म लेती है, काल से ही प्रजा स्थित रहती है, एवं अन्ततोगत्वा काल में ही प्रजा का विनाश, किंवा विलयन हो जाता है। जन्मप्रवर्त्तक वही काल 'अतीतकालात्मक भूतकाल' कहलाया है, स्थितिप्रवर्त्तक वही काल आगतकालात्मक भवत्काल (वर्त्तमानकाल) कहलाया है, एवं विलयनप्रवर्त्तक वही काल अनागत–कालात्मक भविष्यत्काल कहलाया है।

१६२–अतीत-अनागत-रूप भूत-भविष्यत्-कालविवर्त्तों की दिग्देशकाल-निरपेक्षता, एवं आगतकालरूप वर्त्तमान कालविवर्त्त की दिग्देशसापेक्षता—

तीनों में आरम्भ का भूतकाल (अतीतकाल), तथा अन्त का भविष्यत्–काल (अनागतकाल), ये दोनों तो दिग्देशानुबन्धों से निरपेक्ष बने रहते हुए अपने कालस्वरूप से समानधर्म्मा बने रहते हैं। अतएव इन दोनों का 'काले' इस एक सप्तम्यन्तपद से ही संग्रह कर लिया गया है। दिग्देशात्मिका प्रजा इस काल में प्रतिष्ठितमात्र है अपने जन्मभाव से, एवं निधनभाव से। प्रजा की आयतनवृद्धि–समृद्धि–परिवर्त्तन–आदि–में कदापि न तो भूतकाल ही निमित्त बनता, न भविष्यत् ही। आयतनवृद्धि–समृद्धि–परिवर्त्तन–आदि भाव ही प्रजा की स्वरूप-स्थिति के मूलबीज माने गए हैं। इनमें निमित्त वही बन सकता है, जो प्रजाओं के दिग्देशादि अनुबन्धों का प्रवर्त्तक–नियन्ता–प्रेरक–बनता रहे। वह है एकमात्र वर्त्तमानकाल, जिसे 'आगतकाल' भी कहा गया है,

एव राजर्षिमनु के शब्दों में जो आगतकाल 'भवत्काल' भी कहलाया है *। दिग्देशानुबन्धिनी समृद्धि के, तन्मूला स्थिति के निमित्त बने रहने से ही 'आगत' (वर्त्तमान) काल को ऋषिने 'कालेन' इस तृतीयान्तपद से समन्वित किया है।

१९३--काल का अधिष्ठातृत्व, निमित्तत्व, आरम्भणत्व, एवं तीनों के समन्वय से कालिक 'विश्वकार्य्य' की स्वरूपस्थिति—

इदमत्रावधेयम्। भूत का अर्थ है-जो व्यतीत हो चुका, भविष्यत् का अर्थ है-जो कभी होने वाला है, एवं भवत् का अर्थ है-जो हो रहा है। काल एक, और उसके विवर्त्त ये तीन। एक ही काल के इन तीन विवर्त्तों का समन्वय कालमीमांसा में मुक्त मानव की लोकप्रज्ञा के लिए सचमुच ही सर्वथा दुर्गमगम्य ही बना हुआ है। आधार भी काल (काले) है, निमित्त भी काल (कालेन) है, और आरम्भ भी काल (काल) ही है, ये तीनों ही व्यवहारस्थूल के लिए समादरणीय बने हुए हैं। अधिष्ठान, निमित्त, आरम्भण; तीन कारणों के समन्वय से ही वैज्ञानिकोंने कार्य्य की स्वरूपनिष्पत्ति मानी है —।

१९४-घटनिर्म्माता कुम्भकार की घटनिर्म्माणप्रक्रिया, एवं तत्र कारणत्रयी का समन्वय—

कुम्भनिर्म्माता लोकप्रजापति (कुम्भकार) की घटनिर्म्माणप्रक्रिया पर दृष्टि डालिए। घटात्मक कार्य्य की निष्पत्ति के लिए इस प्राजापत्य कर्म्म में तीनों कारण समन्वित हो रहे हैं। अपने प्रत्यङ्ग अवयव से, बिन्दु-बिन्दु से प्रचण्डतम वेग से गतिमान् बना रहने वाला एजल्लक्षण (कम्पनलक्षण), किन्तु अपनी समष्टि से, अवयवीरूप से केन्द्रावच्छेदेन सर्वथा स्थितिमान बना रहने वाला अनेजल्लक्षण (कम्पनरहित), एवंविध अनेजदेजल्लक्षण × मृत्पिण्ड का आधारभूत अलातचक्र (कुम्हार का चाक) बना हुआ है घटनिर्म्माणप्रक्रिया में अधिष्ठानकारण (आलम्बनकारण, आधारभूत कारण)। अधिष्ठातृकारणात्मक चक्र के अमुक नियत प्रान्त-भाग में नियत छिद्र में प्रविष्ट काष्ठदण्ड के द्वारा इस चक्र को परिभ्रममाण करता हुआ, चक्रमध्यस्थ मृत्-पिण्ड को घटाकार प्रदान करने वाला कुम्भकार ही निमित्तकारण है, एवं घटरूप में परिणत होने रहने

---

* भूतं-भवद्-भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। (मनु)।

— किंस्विदासीदधिष्ठानं, आरम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥
—ऋक्सं० १०।८१।२

× अनेजदेकं मनसो जवीयः-नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो अन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ (ईशोपनिषत्)।

वाला मृत्पिण्ड ही आरम्भणकारण (उपादानकारण) है *। इन तीनों कारणो के सहसमन्वय से ही 'घट-कार्य्य' अभिव्यक्त हुआ है। इसी कारणत्रयी का अन्वेषण अब हमें काल के क्षेत्र में करना है।

१९५-कालपुरुष के द्वारा कारणत्रयी से विनिर्म्मित पूर्णकुम्भात्मक घट—

सृष्टि का स्वरूप तो कार्य्यात्मक है। कुम्भकार के सृष्टि कर्म्म में जो स्थान मृण्मय घट का है, वही स्थान यहाँ उस 'पूर्णकुम्भ' (पूर्णघट) का है, जिसके आग्नेय उख्यघट, तथा सौम्य-द्रोणकलश, दोनों का स्वरूप पूर्व के-'पूर्णः कुम्भः-अधि-काले-आहितः' [तृतीय मन्त्र] इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। पुरुष, और प्रकृति, इन दोनों विवर्त्तों का नाम ही क्रमशः कालातीततत्त्व, एवं कालतत्त्व है। पुरुष कालातीत है, यही अनन्तब्रह्म है, यही 'अव्ययपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। गुण-विकार-सृष्टि-भावों की अपेक्षा से यह अव्यय सर्वथा तटस्थ है। गुण-विकारात्मिका सृष्टि का नाम ही कालिक सृष्टि है, जिसके कार्य्य-कारण-भावों के साथ कालातीत उस अनन्ताव्ययपुरुष का कोई सम्बन्ध नही है। न वह कारण बनता, न कार्य्य ÷। अतएव उक्त कारणत्रयी की अपेक्षा से उस कालातीत 'पुरुष' नामक अव्यय को तो हम तटस्थ ही मान लेते हैं। शेष रह जाती है उस कालातीत पुरुष की कालात्मिका प्रकृति।

१९६-कालात्मिका प्रकृति के विभूति-योग-बन्ध नामक तीन सम्बन्ध, एवं कारणत्रयी का समन्वय—

कालात्मिका 'प्रकृति' ही 'कृति' (कार्य्य) का क्यों कि 'प्र' भाव (पूर्वभाव-कारणभाव) है। अतएव इसे ही कार्य्य के प्रति कारणता समर्पित की जायगी। 'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' इस दार्शनिक भाषा से भी प्रकृति की कारणता का यथाकथञ्चित् अनुमान लगाया जा सकता है, जबकि आपोभाव से ही निर्म्मित पुष्करपलाश (कमलपत्र) कभी असङ्ग पुरुष की असङ्गता का दृष्टान्त नही बन सकता। उस का दृष्टान्त तो एकमात्र तत्प्रतीकभूत 'काल' ही बन सकता है। हाँ, तो 'प्रकृति' कालात्मिका है, किंवा 'काल' का ही नाम 'प्रकृति' है। इस 'प्रकृतिकाल' के, किंवा 'कालप्रकृति' के माध्यम से ही हमें अब कारणत्रयी का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है-कालातीत अव्यय पुरुष को सर्वथा तटस्थ मानते हुए ही। एक ही प्रकृति के तीन विवर्त्त हो जाते हैं प्राकृत बलों के पारस्परिक तीन विभिन्न सम्बन्धानुबन्धों से, जो बलसम्बन्ध विभूति-योग, एवं बन्ध-नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों ही क्रमशः सहचर-संशर-ग्रन्थि-इन नामों से भी प्रसिद्ध है। रसाधार (अव्ययाधार) पर व्यवस्थित प्रकृतिरूप बलो का सहचरभाव ही विभूतिलक्षणा प्रकृति है, बलों का संशरभाव ही योगलक्षणा प्रकृति है, एवं बलों का ग्रन्थिभाव ही बन्धलक्षणा प्रकृति है। बन्धनाभाव, किन्तु साहचर्य्य-

---

* वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—उपनिषत्

÷ न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥

—उपनिषत्

यही सहचरसम्बन्धात्मक 'विभूतिसम्बन्ध' है। दृढबन्धन का अभाव, किन्तु सामान्य-शिथिल बन्धन की प्रवृत्ति, यही समवायबन्धनात्मक 'योगसम्बन्ध' है। एवं दृढबन्धन की प्रवृत्ति, और यही ग्रन्थिबन्धनात्मक 'बन्ध-सम्बन्ध' । इसप्रकार प्रकृतिरूप कालिक बला के इन तीन सम्बन्धानुबन्धों से एक ही प्रकृति के विभूति-प्रकृति, योगप्रकृति-बन्धप्रकृति, ये तीन महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें कारणत्रयी का समन्वय करना है।

१६७-काल, और मृत्यु-शब्दों की अभिन्नार्थता का समन्वय—

यह स्मरण रहे कि, अव्ययपुरुषानुबन्धी रसभाव जहाँ 'अमृत' कहलाया है, वहाँ प्रकृत्यनुबन्धी बल-भाव 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सदैकरसतानुगता अपरिवर्त्तनीयता ही 'अमृतरस' का तटस्थ लक्षण है, एवं अनेकबलानुगता परिवर्त्तनीयता ही 'मृत्युबल' का स्वरूप लक्षण है। 'अमृत'-रसानुबन्धिनी नित्या शान्ति ही रसामृत का दिग्दर्शन है, एवं 'मृत्यु'-बलानुबन्धिनी नित्या अशान्ति ही बलमृत्यु का स्वरूप परिचय है। यही प्रकृति का स्वरूप है, यही काल का कालत्व है। अतएव काल, और मृत्यु, दोनों लोकव्यवहार में अभिन्नार्थक ही बन हुए हैं।

१६८-रसानुबन्धी अभिन्नता एकता-समता-आदि भावों का, तथा बलानुबन्धी भिन्नता-अनेकता-विषमता-आदि भावों का समन्वय,- तथा समदर्शनानुगता विषमता-

अभिन्नता-एकता-समता-साम्य-शान्ति-अपरिवर्त्तन-अमृत-आदि भाव सर्वत्र रसानुबन्धी माने जायँगे, एवं भिन्नता-अनेकता-विषमता-वैषम्य-अशान्ति-परिवर्त्तन-मृत्यु-आदि भाव बला-नुबन्धी कहे जायँगे। पुरुषानुगता नित्या शान्ति ही 'समदर्शन' की मूलप्रतिष्ठा रहेगी, एवं प्रकृत्यनुगता नित्या-शान्ति ही विषमवर्त्तन की अधिष्ठात्री मानी जायगी। विषमवर्त्तन से पृथग्भूत समदर्शन विषमदर्शन में परिणत होता हुआ सर्वविनाश का प्रवर्त्तक बन जायगा, तो समदर्शन से पृथग्भूत समवर्त्तन गुणत्रयी की साम्यावस्था में आता हुआ महाप्रलय का प्रवर्त्तक बन जायगा। अतएव समदर्शनपूर्वक विषमवर्त्तन का अनुगमन ही पुरुष-मूला शान्ति का, तथा प्रकृतिमूला समृद्धि का एकमात्र राजमार्ग माना है ऋषिप्रजाने, जिस इस रहस्यात्मक राजपथ के सुसूक्ष्म समन्वय को विस्मृत कर बैठने वाले प्राकृत मानव ने आज विषमवर्त्तनात्मिका प्रकृति को समवर्त्तनरूप में परिणत करते हुए महाप्रलय का ही सूत्रपात कर लिया है। रसानुबन्धी अमृतभाव, एवं बलानुबन्धी मृत्युभाव, किंवा पुरुष-प्रकृति-भावों की समन्वितावस्था का नाम ही* 'अहम्' लक्षण 'मानव' है। अतएव मानव की जीवन- व्यवस्था का एकमात्र महान् सूत्र माना जायगा-'समदर्शनत्वे सति विषमवर्त्तनत्वम्'-इति नु प्रासङ्गिकमेव।

---

* अमृतं चैव, मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।
—गीता

१९९-अमृतानुगता विभूतिप्रकृति, अमृतमृत्युनिबन्धना योगप्रकृति, मृत्युनिबन्धना बन्धप्रकृति, एवं प्रकृतिका त्रिगुणात्मक विस्तार—

पुनः प्रकृतमनुसरामः। विभूतिसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है–'अमृतम्'। बलों की सह-चरावस्था के कारण विभूतिरूपा बनी हुई इस प्रकृति का अमृतरसात्मक अव्यय से पार्थक्य नही होने पाता। एतावता ही प्रकृति के इस विभूतिरूप को–'अमृतम्' (सापेक्ष-अमृतभाव) कह दिया जाता है। योगसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है–'अमृतमृत्यू'। बल बन्धनानुगत बन गए, यह तो इस का मृत्युभाव हुआ, एवं अभी बलों का ग्रन्थिबन्धन नही हुआ, यही इसका रसानुगत अमृतभाव रहा। अतएव इसे–'अमृतमृत्यू' कहना अन्वर्थ बन गया। बन्धसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है–'मृत्यु'। यहाँ क्योंकि बल ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध में परिणत होते हुए मर्त्यभूतो के प्रवर्त्तक बनने लग पड़े। अतएव रस–भाव अन्तर्लीन होगया इन में। अतएव च यहाँ केवल बल ही व्यक्त रह गए। और इसीलिए बन्धसम्बन्धावच्छिन्ना वही प्रकृति 'मृत्यु' कहलाने लग पड़ी। और यों कालरूपा एक ही प्रकृति बलसम्बन्धों के तारतम्य से अमृता-प्रकृति, अमृतमृत्यू,-प्रकृति, मृत्युप्रकृति–इन तीन महिमाभावों में परिणत हो गई, जो दर्शनभाषा में क्रमशः सत्त्वप्रकृति[1]– रजःप्रकृति[2]–तमःप्रकृति[3], इन नामो से प्रसिद्ध हुई, एवं विज्ञानभाषा में जिन इन तीनों कालप्रकृतियों के स्वयम्भुगर्भित परमेष्ठी[1], परमेष्ठिगर्भित सूर्य्य[2], सौरप्राणगर्भित-चन्द्रानुगत भूपिण्ड[3], ये तीन मर्त्य प्रतीक कहलाए हैं–'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्' (गीता)।

२००-अक्षरानुगत विभूतिभाव, आत्मक्षरानुगत योगभाव, एवं विकारक्षरानुगत बन्ध-भाव का समन्वय —

विभूतिसम्बन्धावच्छिन्ना–सत्त्वगुणान्विता–अमृताप्रकृति का नाम ही हैं–'अक्षर'[1], जिसे कालातीत अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' कहा गया है। योगसम्बन्धावच्छिन्ना–रजो–गुणान्विता अमृतमृत्युप्रकृति का नाम ही है–आत्मक्षर[2], जिसे अव्ययपुरुष की–'अपराप्रकृति' कहा गया है। एवं बन्धसम्बन्धावच्छिन्ना तमो-गुणान्विता मृत्युप्रकृति का नाम ही है--'विकारक्षर', जो दर्शनभाषा में–'विकृति' नाम से प्रसिद्ध है। जिस के कि रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द– नाम के पाँच तन्मात्रा–वर्ग 'गुणभूत' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन के कि–अणुभूत–रेणुभूत–महाभूत-आदि प्रक्रमों से अन्ततोगत्त्वा प्रजारूप सत्त्वभूतों का आविर्भाव हुआ है, जो कि सत्त्वभूत ही 'कार्य्यजगत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२०१–प्रकृतित्रयीरूपा कालत्रयी, एवं तदनुबन्धिनी कारणत्रयी का समन्वय—

अमृताक्षररूपा प्रकृति 'प्रकृति' ही है। अमृत-मृत्यु-रूप-आत्मक्षरलक्षणा प्रकृति अक्षरापेक्षया विकृति, एवं विकृत्यपेक्षया प्रकृति बनी रहती हुई 'प्रकृतिविकृति' है। एवं मृत्युलक्षणा–विकारक्षररूपा प्रकृति आत्म-क्षरापेक्षया 'विकृति' है, तो वैकारिक कार्य्यभूतों की दृष्टि से यही प्रकृति भी है। अतएव इसे 'विकृति-प्रकृति' कहा जा सकता है। प्रकृतिलक्षणा प्रकृति, प्रकृतिविकृतिलक्षणा प्रकृति, एवं विकृतिप्रकृति-

लक्षणा प्रकृति-ये तीन प्राकृत विवर्त्त ही क्रमश 'अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षर' नामक तीन विवर्त्त हैं। और ये ही हैं तीनों विवर्त्त वैकारिक-कार्य्यजगत् के अधिष्ठान-निमित्त-एवं-उपादानकारण। अक्षर अधिष्ठानकारण है, आत्मक्षर निमित्तकारण है, एवं विकारक्षर उपादानकारण है। इन तीनों कारणों के सहसमन्वय में ही वैकारिक मर्त्य-कार्य्यजगत् का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इस कारणत्रयी को अवधानपूर्वक लक्ष्य-बना लेने के अनन्तर ही हम मन्त्र के-'काले'-'और 'कालेन' इन दोनों पदों का समन्वय कर सकेंगे। अतएव कालप्रकृति की इस कारणत्रयी का प्रसङ्ग यहां अनिवार्य्य बन गया है।

१-अमृतम्—विभूतिलक्षणा-प्रकृति-अक्षर (प्रकृति)—अधिष्ठानकारणम् २-अमृतमृत्यू—योगलक्षणा-प्रकृति-आत्मक्षर (प्रकृतिविकृति)—निमित्तकारणम्	अमृतविवर्त्तम् १
३-मृत्यु—बन्धलक्षणा-प्रकृति-विकारक्षर (विकृतिप्रकृति)—उपादानकारणम् *-मर्त्यम्—बन्धनलक्षणम्-वैकारिकम्-कार्य्यजगत्	मृत्युविवर्त्तम् २

२०२-'काले-कालेन-कालः-कालरूपेण परिणतो भवति' वाक्य का तात्त्विक समन्वय—

'काले कालेन काल कालरूपेण परिणतो भवति', किंवा 'काले-एव, कालेनैव, काल एव, कालरूपेण परिणतो भवति', इस वाक्य का अर्थ होगा-"अक्षरे-आत्मक्षरेण-विकारक्षर एव वैकारिकजगद्रूपेण परिणतो भवति" यह। सचमुच कालाधार पर काल से काल ही यों कालरूप में परिणत हो रहा है, 'इति नु काल एवेद सर्वम्'। अक्षर ही वह स्थिति-गतिमत-अनेजदेजत्-महान् अलातचक्र है, जिसके आधार पर विश्वरूप घट सम्भूत है-"तथाऽऽक्षरात सम्भवतीह-विश्वम। तथाऽऽक्षराद्विविधा सोम्य! भावा प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति"। इस अक्षरात्मक कालचक्ररूप अधिष्ठानकारणलक्षण-आलम्बनकारण * के आधार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षररूप निमित्तकारण के द्वारा विकारक्षररूप उपादानद्रव्य से वैकारिकक्षररूप कार्य्यजगत् अभिव्यक्त हुआ है।

२०३-कालानुबन्धी भूत-भवत्-भविष्यत्-भावों का अन्वेषण—

यो इस मर्त्य-कार्य्य-जगद्रूप वैकारिक-भूतसर्ग का उपादानकारण विकारक्षररूप मृत्युभाव बन रहा है, निमित्तकारण आत्मक्षररूप अमृतमृत्यु-भाव बन रहा है, एवं अधिष्ठानकारण अक्षररूप अमृतभाव बन रहा है। एक ही प्रकृतिकाल, उसी के '[1]अमृताधिष्ठान-[2]अमृतमृत्युर्निमित्त-[3]मृत्यु-उपादान-नामक

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत्॥

—कठोपनिषत्

[1]अक्षर–[2]आत्मक्षर–[3]विकाराक्षर-नामक तीन प्राकृत विवर्त्त, एवं इन तीनों के समन्वय से ही वैकारिक–कार्य्यजगत् की स्वरूपाभिव्यक्ति, जिसे कहा गया है इस त्रिमूर्त्ति कालप्रजापति की 'प्रजा'। कालात्मक प्रजापति (अक्षरात्मक्षरविकारक्षररूपा प्रकृति) ही इस प्रजा की (वैकारिक भूतप्रपञ्च की) जन्म–स्थिति–भङ्ग–रूपा अवस्थात्रयी का कारण प्रमाणित हो रहे हैं। और इसी दृष्टिबिन्दु के आधार पर अब हमें काल के **भूत–भवत्–भविष्यत्**–नामक तीनों लोकप्रसिद्ध भावों का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है।

२०४–कालाक्षर से 'ब्रह्म' का आविर्भाव—

अक्षर एकभावापन्न है एकत्वनिबन्धन अमृताव्यय के सान्निध्य से। तभी तो इसे **'अमृतम्'–'अक्षरः'** इत्यादि कहना अन्वर्थ बनता है। एकत्त्वधर्म्मावच्छिन्न इस अमृताक्षर पर प्रतिष्ठित आत्मक्षर (अपराप्रकृति) अक्षरधिया जहाँ अमृत है, एक है,वहाँ क्षररूप बलानन्त्य से मृत्युभावात्मक बनता हुआ यह अनेक भावानुगत-'बहु' भाव में भी परिणत हो रहा है। 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता) इत्यादि वचन से गीता ने जिस 'ब्रह्म' को अक्षर से समुद्भूत बतलाया है, वह पारिभाषिक यहाँ का (गीता का) 'ब्रह्म' 'आत्मक्षर' ही है, जो कि बलनानात्त्व से 'बहुब्रह्म' बन रहा है।

२०५–अव्यक्त–अमूर्त्तकाल का स्वरूप–दिग्दर्शन —

इस 'बहुब्रह्म' से युक्त एकाक्षर ही **'महदक्षर'** नाम से व्यवहृत हुआ है विज्ञानभाषा में। इस विवेचन से निवेदन हमें यही करना है कि, अमृतरूप अक्षर, तथा अमृत–मृत्युरूप–आत्मक्षर, इन दोनों की समन्वितावस्था को हम 'अमृतम्' ही कहेंगे, इसे ही 'महदक्षर' कहेंगे, यही **'अव्यक्ताक्षर'** कहलाएगा, एवं यही माना जायगा **'अव्यक्त–अमूर्त्तकाल'**। इस मान्यता का अर्थ यही होगा कि, अमृतरूप अक्षर की अधिष्ठानकारणता, तथा अमृत–मृत्यु–रूप–आत्मक्षर की निमित्तकारणता, इन दोनों कारणताओं का अब अक्षरनिबन्धना अधिष्ठानकारणता में हीं अन्तर्भाव मान लिया जायगा। एवं अब निमित्तकारण बनेगा मृत्युरूप वह तीसरा विकारक्षर, जिसे पूर्व में हमने उपादानकारण कहा है।

२०६–काल की दुर्बोध्यता, एवं 'मनसा पृच्छतेदु' का समन्वय—

इसीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि–जिस कार्य्यजगत् को हमने विकारक्षररूप उपादानकारण से उत्पन्न बतलाया था, उस कार्य्यजगत् से पूर्व के, तथा विकारक्षरात्मक गुणभूत से उत्तर के, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित–पञ्चीकृत **[1]विश्वसृट्–[2]पञ्चजन–[3]पुरञ्जन**–नामक–**[1]अणुभूत–[2]रेणुभूत–[3]महाभूत**–इन तीनों की समष्टि को ही अब कार्य्यजगत् का उपादानकारण माना जायगा। बलसम्बन्ध की दुर्बोध्यता से सुसूक्ष्म कारण प्रसङ्ग दुर्बोध्य अवश्य है। किन्तु काल की त्रैकालिकता के समन्वय के लिए इस दुर्बोध्यता की उपासना किए बिना काम नही चल सकता। लिपि के माध्यम से कदापि इस दुर्बोध्यता का यथावत् समन्वय सम्भव नहीं है। क्योंकि, लिपि तो प्रतीकमात्र है उस सूक्ष्मतत्त्व की। अतएव तत्समन्वय के लिए तो प्रज्ञाशीलों को अपने आभ्यन्तर प्रज्ञाजगत् की ही शरण में आना चाहिए–**'मनसा पृच्छतेदु–मनसा विब्रवीमि वः'**। अमृताक्षर, एवं अमृतमृत्युरूप–आत्मक्षर, दोनों अपनी सुसूक्ष्मा कारणता से अव्यक्त ही बने रहते हैं। अतएव दोनो की समष्टि का–**'अव्यक्त महदक्षर'** रूप से एकत्र संग्रह हो गया है। तीसरा विकारक्षर भी अपने गुणभूतात्मक

पञ्चतन्मात्रा-भाव से सुसूक्ष्म बनता हुआ अव्यक्त ही है । अतएव दूसरा भी अन्तर्भाव होना तो चाहिए था महदक्षर में ही। तथापि भौतिक रूप-रसादि के माध्यम से अनुमानगम्य बना रहने वाला विकाराक्षर व्यक्तकोटि में ही सन्निविष्ट हो गया है । अतएव इसे व्यक्त मान लिया गया है । किन्तु 'उपादान' इसे इसलिए स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया कि, विकार को उत्पन्न करता हुआ भी यह स्व मात्राभाव से अविकृत ही रहता है । विकृतावस्था तो उसकी होती है, जो कार्य्यरूप में परिणत होता है, जिसे कि-अणु-रेणु-गर्भित-महाभूत कहा गया है । अतएव उसे ही उपादान कहा गया है लोकव्यवहार में । सभी भूतपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक ही तो माने जा रहे हैं । इस दृष्टि से गुणभूतात्मक-विकाराक्षर-अवश्य ही निमित्तकारण बन रहा है, जिस इस व्यक्तदृष्टि से पूर्वोपात्त वाक्यार्थ के स्थान में-'काले कालेनैव काल एव कालरूपेण-परिणतो भवति' वाक्य का समन्वय होगा इस रूप से कि-अक्षराभिन्ने-आत्मक्षरे विकाराक्षरेण-अणुरेणुगर्भित महाभूतमेव भूतभौतिकरूपेण परिणत भवति" । तालिकारूपेण लक्ष्य बनाइए इस दृष्टिकोण को, एवं तदनन्तर काल के भूत-भविष्यदादि विवर्तों की दुर्बोध्यता का समन्वय कीजिए ।

२०७-सत्य-ऋत-कालात्मक दोनों अव्यक्तकालों की महदक्षरकालात्मक अव्यक्तकाल से अभिन्नता का समन्वय—

प्रकृत सूक्त 'सम्वत्सर' रूप से ही कालतत्त्व की स्वरूपव्याख्या में प्रवृत्त है । अतएव उक्त कारणत्रयी को अब हमें सम्वत्सर के माध्यम से ही समन्वित कर लेना पड़ेगा, एवं तभी काले, और कालेन, का यथावत् समन्वय

सम्भव बन सकेगा। पूर्व में सत्यसम्वत्सर, एवं ऋतसम्वत्सर–भेद से दो सम्वत्सर–विवर्त्तों का स्वरूप समन्वित हुआ है। उन्ही दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य बनाइए। अव्यक्त–अमूर्त्त–सम्वत्सर को ही सत्यसम्वत्सर माना गया है, एवं व्यक्त–मूर्त्त–सम्वत्सर ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न ऋतसम्वत्सर माना गया है। 'ऋतं सत्ये ऽधायि'–एवं–'सत्यं ऋतेऽधायि' नियमानुसार दोनों 'सामातिमान'–नामक सुप्रसिद्ध सामसम्बन्ध से एक दूसरे के उपोद्बलक बने हुए हैं। सत्यसम्वत्सर प्रवर्ग्यरूप से ऋतसम्वत्सर के प्रति अनुधावन कर रहा है, एवं ऋतसम्वत्सर अपने प्रवर्ग्यभागों को सत्यसम्वत्सर में विलीन करता हुआ तत्प्रति अनुधावित है। सत्यसम्वत्सर का साक्षी **परमेष्ठी** है, तो ऋतसम्वत्सर का साक्षी सूर्य्य है। परमेष्ठी सूर्य्यातीत बनता हुआ अव्यक्त है, तो सूर्य्य अपने ज्योतिर्भाव से व्यक्त है। अव्यक्त परमेष्ठी से समन्वित सत्यसम्वत्सर भी अव्यक्त है, तो व्यक्त सूर्य्य से समन्वित क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न ऋतसम्वत्सर भी व्यक्त है। यों दोनों सम्वत्सर क्रमशः अक्षराभिन्न आत्मस्वरूप महदक्षर के, तथा तद्गर्भित विकारक्षर के ही संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं।

२०८–'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि' मूलक महदक्षर का महिमा–विवर्त्त—

निवेदन किया गया है कि, अक्षराभिन्न आत्मक्षर का प्रतिनिधि परमेष्ठी है, जो सूर्य्य से ऊर्ध्व अवस्थित होता हुआ–'अव्यक्त' है। अतएव इसे पारमेष्ठ्य तत्त्व कह सकते हैं। यही महदक्षररूप। (बहुब्रह्मरूप क्षर, एवं अक्षररूप) वह अव्यक्ततत्त्व है, जिसे कालभाषा में **अव्यक्त-अमूर्त्तकाल** कहा जायगा, एवं यज्ञभाषा में **'सत्यसम्वत्सर'** माना जायगा। भूत, और भविष्यत्, दोनों हीं भाव आद्यन्त के अव्यक्तभाव ही बन रहे हैं। जो हो चुका, वह भी अव्यक्त ही है, जो होने वाला है–वह भी अव्यक्त ही है। इसप्रकार अतीत, तथा अनागत (भूत, और भविष्यत्) दोनों भाव अव्यक्तधर्म्मा ही बने हुए हैं। वस्तुतस्तु जो भूत है, वही भविष्यत् है, एवं जो भविष्यत् है, वही भूत है। मध्य के व्यक्त-भवल्लक्षण-वर्त्तमान के कारण हीं वह एक ही तत्त्व 'भूत-भविष्यत्' इन दो नाममात्रों से व्यवहृत होने लग पड़ा है। वस्तुगत्या अथ से इतिपर्य्यन्त, अवारपारीण अखण्ड धरातलात्मक उस एक ही तत्त्व का नाम वर्त्तमान के उपक्रमात्मक जन्मानुबन्ध से जहाँ 'भूत' है, वहाँ उसी का नाम उपसंहारात्मक निधनानुबन्ध से 'भविष्यत्' है। तभी तो अव्यक्त की भूतावस्था को पदार्थों के **जन्म** की, तथा अव्यक्त की भविष्यदवस्था को पदार्थों के **निधनात्मक** 'भङ्ग' की प्रवर्त्तिका मान लिया गया है, जबकि मध्यस्थ व्यक्त विकारक्षरात्मक वर्त्तमानकाल पदार्थों की 'स्थिति' अवस्था का कारण बन रहा है। अक्षराभिन्न–आत्मक्षर, किंवा–आत्मक्षराभिन्न अक्षररूप पारमेष्ठ्य अव्यक्त–**'महदक्षर'** ही यों अवारपारीणरूप से भूत-भविष्यल्लक्षण बन रहा है, किंवा अवारूपोपक्रम से भूतरूप, तथा पारीणरूपोपसंहार से भविष्यद्रूप प्रमाणित हो रहा है। और यही अव्यक्त–अमूर्त्त–सत्यसम्वत्सरकाल का स्वरूपेतिवृत्त है, जिस की महदक्षरात्मिका–बहुब्रह्मात्मिका (क्षरात्मिका) भूत–भविष्यत्ता को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि–

> **भूतं–भविष्यत्–प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्।**
> **महद्ब्रह्मैकमक्षरम्॥**

२०९–पारमेष्ठ्यमण्डलानुगत भूत–भविष्यत्काल की स्वरूप–परिभाषा—

ऋतसत्यसूत्रात्मक अव्यक्त स्वयम्भू के ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेय–वेदतत्त्व का यजुर्म्मय वाग् भाग ही रात्रिरूप (अव्यक्तरूप) पारमेष्ठ्य–महदक्षररूप में परिणत हुआ है, जैसाकि–'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्त-

पसोऽध्यजायत-ततो रात्र्यजायत' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। व्यक्त-निरुक्तरात्मक ऋतसम्वत्सर ही सौर-सम्वत्सर है, जो कि 'अह' (पुण्याह) रूप बनता हुआ वर्त्तमानकालात्मक व्यक्त-सृष्टिकाल है। परमेष्ठीरूपा अव्यक्ता रात्रि मे ही इस अह रूप व्यक्त ऋतसम्वत्सर का व्यक्तीभावात्मक जन्म हुआ है, एव दिव्यमहस्रयुग-चतुष्टयी के भोगानन्तर यह अह रूप व्यक्त-वर्त्तमान काल उसी रात्रिरूप महदक्षरात्मक-पारमेष्ठ्य-रात्रिकालात्मक-अव्यक्तकाल में विलीन हो जायगा। व्यक्त के आविर्भाव की अपेक्षा से वही अव्यक्त-महदक्षरकाल 'भूतकाल' बन रहा है, एव व्यक्त के विलयनभाव की अपेक्षा से वही अव्यक्त 'भविष्यत्काल' प्रमाणित है। वर्त्तमानकालात्मक सभी भूत अव्यक्तादि बनते हुए अन्ततोगत्वा अव्यक्तनिधन ही तो हैं। अतएव अवश्य ही उस सत्यसम्वत्सरात्मक महदक्षरात्मक चरमूर्त्ति-पारमेष्ठ्य रात्रिरूप काल को 'भूतभविष्यत्काल' कहा जासकता है, कहा गया है।

२१०-अहोरात्रनिबन्धना कालत्रयी, एवं तत्समर्थक श्रौत-सन्दर्भ—

प्रजापति ने अपनी महज्जिह्वा सर्वव्याप्ति के माध्यम से हमारे अहोरात्र में भी कालपुरुष के भूतादि तीनों विवर्त्तों को अहोरात्र (दिनरात) के माध्यम से समन्वय कर रक्खा है। रात्रि अव्यक्तकाल का प्रतिमान है, तो सौर प्रकाशात्मक अह व्यक्त-वर्त्तमानकाल का प्रतिमान है। सौम्या रात्रि पारमेष्ठ्य अव्यक्त महदक्षर का प्रतीक है, तो आग्नेय-सौर अह सौर व्यक्त काल का प्रतीक है। जिसप्रकार पुण्याहरूप सौर अव्यक्त कालात्मक सृष्टिकाल अन्ततोगत्वा रात्रिरूप परमेष्ठी में विलीन हो जाता है, तथैव प्रति अहोरात्र में व्यक्त सूर्य्य अव्यक्ता रात्रि के गर्भ में लीन होजाता है। प्रात पुन नवीन सूर्य्य व्यक्त होता है। यह नित्यसर्ग, तथा नित्य-प्रलय-क्रम अनवरत प्रक्रान्त है। रात्रि भूतभविष्यत्काल है, तो अह वर्त्तमानकाल है। इसी दैनदिनीया अहोरात्रीया-कालत्रयी से उस महा अहोरात्रीया परमेष्ठि-सूर्य्यानुगता सत्य-ऋत-सम्वत्सरात्मिका महाकालत्रयी का भी मानवप्रज्ञा अशत अनुमान तो लगा ही सकती है, जिस इस आनुमानिकी दृष्टि का समर्थन करते हुए ही श्रुति ने कहा है—

सूर्य्यो ह वा ऽग्निहोत्रम्। अथ यदस्तमेति, तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति। अथ यद्रात्रिः-तिर एवैतत् करोति। स यथा-अहिस्त्वचो निर्मुच्येत्, एवं रात्रेः पाप्मनो निर्मुच्यते। (शत० २।३।१।१, से ६ पर्य्यन्त)। अथ यदस्तमे ति-आदित्यः-एतामेव तद्रजता कुशीमनु (रात्रिमनु) संविशति। (तै० ब्रा० १।४।१०।७।)।

१११-आगतकाल से प्रजा की समृद्धि—

सौर व्यक्तकालात्मक-पुण्याहरूप-ऋतसम्वत्सर अपने ऋत अग्नि, एव ऋत सोम के विस्रंत-प्रवर्ग्य भागों से ही प्रजा की स्थिति का कारण बन रहा है। अतएव इस वर्त्तमानकालात्मक ऋतसम्वत्सरकाल को ही हम प्रजा की समृद्धि का कारण मानेंगे, जबकि अव्यक्त सत्यसम्वत्सरकाल अपने भूत-भविष्यल्लक्षण महदक्षरात्मक आत्मस्वरूप से इन प्रजाओं के मन-प्राणों का, तथा वाङ्मय नामविवर्त्तों का आधारमात्र ही बना रहता

*-अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।
—गीता

है । भूतभविष्यद्रूप अव्यक्तकाल में प्रतिष्ठिता मनःप्राणवाङ्मयी प्रजा की समृद्धि का निमित्त तो ऋतसम्वत्सरात्मक–वर्त्तमानरूप–व्यक्तकाल ही बनता है । अव्यक्त–सत्य–अमूर्त्तकाल के इसी अधिष्ठानात्मक प्रतिष्ठाभाव को, आधारत्व को लक्ष्य बना कर जहाँ ऋषि ने–'काले मनः–काले प्राणः, काले नाम समाहितम्' कहा है, वहाँ व्यक्त–ऋत–मूर्त्त–सम्वत्सरकाल के इसी निमित्तात्मक भाव को लक्ष्य बना कर ऋषि ने–'कालेन-आगतेन इमाः–प्रजाः–नन्दन्ति' यह कहा है । 'काले' का अर्थ है–'भूत-भविष्यल्लक्षणे अमूर्त्ते–अव्यक्त काले', तो 'कालेन' का अर्थ है–'वर्त्तमानलक्षणेन विकारक्षरात्मकेन निमित्तकारणभूतेन मूर्त्तेन–ऋतसम्वत्सरकालेन' ।

२१२–कालानुगता समृद्धि का स्वरूप-समन्वय, एवं सप्तम-मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

'नन्दन्ति' क्रियापद उस 'नद्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जो 'समृद्धि' का वाचक बन रहा है–(टुनदि समृद्धौ) । क्या अर्थ है 'समृद्धि' का ?, इस प्रश्न की अपेक्षा को 'शान्ति' शब्द ही गतार्थ बना रहा है । पुरुषानुगत आनन्द जहाँ 'शान्ति' कहलाया है, वहाँ प्रकृत्यनुबन्धी सुख 'समृद्धि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । कालातीत–अनन्त–अव्ययात्मानुगता वह शान्ति, जो वृक्षवत् स्तब्धभावापन्ना है, जिसमें यत्किंचित् कम्पन उपशान्त है, वही शान्तानन्द 'आत्मानन्द' कहलाया है, जिस में न अहाहा है, न ओ हो हो है । किसी भी प्राकृतिक (बौद्धिक-मानसिक,एवं शारीरिक) उल्लाल से, भावभङ्गिमा से, मुद्राविशेषों से कोई भी सम्बन्ध न रखने वाली आत्मप्रसादात्मिका स्वस्वरूपस्थितिलक्षणा स्वस्थता का नाम ही 'शान्ति' है, जिसके उदित होने पर मानव प्रकृतिस्थ बनता हुआ बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त कर लेता है । ठीक इसके विपरीत बाह्य वैकारिक–ऐन्द्रियक-विषयों की भूतमात्राओं के आगमन से होने वाली पुष्टि का प्रवर्त्तक भूतसुख ही वह समृद्धिभाव है, जिसमें विकम्पन प्रक्रान्त रहता है । जो विकम्पन ही 'हर्ष' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें मानवप्रकृति का (बुद्धि-मनः-शरीर का) पर्व–पर्व, अङ्ग–प्रत्यङ्ग थिरकने लगता है । यह स्फुरण ही मानव की प्रकृति को प्रकृतिस्वरूप में सुरक्षित रखता है उस दशा में, जब की यह समृद्धिरूप स्फुरण उस शान्तिरूपा आत्मस्वस्थता से नियन्त्रित बना रहता है । तद्वञ्चिता यही समृद्धि, यही सुख, यही भूतागमन (मानवप्रकृति के तात्कालिक पोषण का कारण बनता हुआ भी) मानव की प्रकृति को अन्तन्तोगत्वा दुःखार्णव में ही निमग्न कर दिया करता है । अतएव धर्म्मानुगता (आत्मधर्म्मानुगता–समदर्शनान्विता) भूतसमृद्धि ही यहाँ वास्तविक समृद्धि मानी गई है । महदक्षरात्मक अमूर्त्तकाल में (काले) समाहिता मनः-प्राण–नाम–मयी प्रजा ही आगत-कालात्मक-व्यक्तकाल से (कालेन) समृद्धि की अनुगामिनी बना करती है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है । 'काले' की उपेक्षा करने वाली 'कालेन' की समृद्धि तो समृद्धि न रह कर सर्वविनाश की ही जननी बन जाया करती है । प्राथम्य 'काले' का है । तदन्तर 'कालेन' समन्विता समृद्धि है । अमूर्त्त के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला मूर्त्त ही समृद्धि का पात्र बना करता है । स्वस्वरूपात्मक समदर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित प्राकृतिक-भोग ही मानव की वैय्यक्तिकी-पारिवारिकी-सामाजिकी, तथा राष्ट्रीय-समृद्धि का कारण बनते हुए विश्व-समृद्धि के संग्राहक प्रमाणित होते रहते हैं । इसी सम्पूर्ण–कालतथ्य को लक्ष्य में रखते हुए मन्त्र का यह उत्तरार्द्धभाग समन्वित हो रहा है कि–'कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः' ।

इति-सप्तममन्त्रार्थसमन्वयः

७

(८)–अष्टममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (अष्टममन्त्रार्थ)

८–काले तपः काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ॥
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥१॥
९–तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥२॥
१०–कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥३॥

२१३–अष्टम-नवम दशम-मन्त्रार्थों के अक्षरार्थों का संस्मरण, एवं तदाधारेण अष्टम मन्त्रार्थोपक्रम—

"काल में तप प्रतिष्ठित है, काल में 'ज्येष्ठ' प्रतिष्ठित है, काल में ब्रह्म सम्यक् रूप से आहित-प्रतिष्ठित है। निश्चयेन (वह) काल सम्पूर्ण प्रपञ्च का ईश्वर (अधिपति) है, जो कि (सर्वेश्वर काल प्रजापति का (भी) पिता था (८)। उस (काल) से (ही यह सबकुछ) प्रेरित-प्रेषित-इच्छायुक्त है, उस काल से (ही यह सबकुछ) उत्पन्न हुआ है। निश्चयेन (उ) वह काल उस (काल) में (ही) प्रतिष्ठित है। काल ही 'ब्रह्म' रूप में परिणत होकर परमेष्ठी को धारण किए हुए है (९)। काल ने प्रजा उत्पन्न की है, काल ने (ही) सर्वप्रथम प्रजापति को व्यक्त किया है। स्वयम्भू (और) कश्यप (भी) काल से ही उत्पन्न हैं। काल से (ही) तप उत्पन्न हुआ है" (१०)–इत्यक्षरार्थक इन तीनों (८–९–१०) मन्त्रों की समष्टि से कालपुरुष के अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-नामक तीनों विवर्तों का समष्टिरूप से ऋषि ने स्पष्टीकरण किया है। मन्त्रत्रयी में उद्धृत तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म, पिता, प्रजापति, ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजा, स्वयम्भू, कश्यप, तप,' इन शब्दों की, तथा काले, काल, कालेन (तेन), कालात्, इन सप्तम्यन्त-प्रथमान्त-तृतीयान्त,-एवं पञ्चम्यन्त कालभावों के तत्त्वानुगत चिरन्तन इतिवृत्त (वैज्ञानिक-उपपत्ति) की यथार्थता में प्रकृतिपाशाबद्धा हमारी मानस-प्रज्ञा सर्वथा ही पराभूता है। अतएव हम असमर्थ हैं इन इतिवृत्तों के समन्वय में। अतएव च जिसप्रकार अबतक के सात (७) मन्त्रों के अक्षरार्थसमन्वय में हमने एकमात्र अपने स्वाध्यायपथानुगमन की तुष्टि के लिए जो कुछ निवेदन कर देने की धृष्टता कर डाली है, उसी स्वकाङ्क्षाशान्तिमात्र के लिए इस समष्ट्यात्मक सन्दर्भ के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देने की धृष्टता करली जाती है।

२१४–वेदार्थानुबन्धिनी परिभाषाओं की कालव्यवच्छेदानुगता दुरधिगम्यता—

अत्यन्त ही दुरधिगम्या बन चुकीं हैं सहस्राब्दियों के कालव्यवच्छेद से वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यपूर्णा परम्परानुगता परिभाषाएँ। अतएव वेदार्थ में प्रवृत्त मादृश प्राकृत-प्रज्ञावान अपनी कल्पना के आधार पर ही इस ऋषिशास्त्र के सम्बन्ध में अपने कामचार का नग्न परिचय दे डालता है। अतएव च सर्वथा रहस्यपूर्णा, प्रकृतिसिद्धा, नित्यविज्ञानतत्त्वों के कालानुगत, गणितशास्त्र के माध्यम से सम्बद्धा इस

अपराविद्या (वेदविद्या) का ज्ञान-विज्ञानात्मक पारिभाषिक मौलिक स्वरूप तथाविध काममय व्याख्याताओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से सर्वथा अन्तर्मुख ही प्रमाणित हो गया है ।

२१५-मतवादाभिनिविष्टा वेदव्याख्याओं से वेद के मौलिक स्वरूप की अन्तर्मुखता—

वैदिक-परिभाषाओं के समन्वय के माध्य से वेदशब्दों का जो अर्थसमन्वय हुआ है,वह तो उन काममयी व्याख्याओं से बन गया है गौण, एवं काल्पनिक वेदव्याख्याएँ बन गई हैं प्रधान, उसीप्रकार, जैसे कि पुराण-पुरुषभगवान् व्यास के द्वारा निर्म्मित वेदान्तसूत्र, भगवान् जैमिनि-प्रणीत पूर्वमीमांसासूत्र, भगवान् कणाद-विरचित वैशेषिकसूत्र, आदि आदि आर्ष-सूत्रग्रन्थ तो अपनी सूत्रार्थमर्य्यादा से अन्तर्निहित हो गए हैं, एवं तत्स्थान में अपना अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले, परस्पस्पर-अन्त्यन्त विरुद्ध-साम्प्रदायिक व्याख्याग्रन्थ ही आज बन गए हैं प्रधान । शङ्करभाष्य का नाम आज वेदान्त है, शाबरभाष्य ही आज पूर्वमीमांसा कहलाने लग पड़ा है । सूत्रोपस्कार, सूत्रविवृति,आदि ही वैशेषिकदर्शन की ख्याति प्राप्त कर बैठे हैं । और इसीप्रकार पारिभाषिक-वैज्ञानिक समन्वय से सर्वथा ही पराःपरावत सायणादि भाष्य ही आज वेदार्थ के महान् ! कोष प्रमाणित किए जा रहे हैं । ऐसी स्थिति में उन अभिनव वेदव्याख्याताओं की कथा तो दूर से ही हमारे लिए प्रणम्य ही बन जाती है, जिन्होंने तो वेद जैसे ज्ञानविज्ञानशास्त्र को भी सर्वथा आपणव्यवसायानुगत बनाते हुए इसे आज लोकानुरञ्जक-क्रीड़ा-कौशल पर ही ला खड़ा किया है । न्यूनतम त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्ता इसप्रकार की व्यक्तित्वविमोहनमूला भ्रान्तियों की विद्यमानता में वर्त्तमान मानवप्रज्ञा वेदाथ के ज्ञान-विज्ञानात्मक समन्वय के लिए किस पथ का अनुगमन करे ?, इस प्रश्न का समाधान तो स्वयं वैदिकी परिभाषाओ का (वेदशब्दों के निर्वचन-माध्यम से) समन्वय ही माना जायगा । परम्परा के अभिभूत हो जाने से यह सम्भव ही नहीं, अपितु निश्चित है कि, पारिभाषिक-समन्वयात्मक इत्थंभूत अर्थदृष्टियों में भी स्खलन होगा ही, रहेगा ही ।

२१६-मतवादनिरपेक्षा-आस्था-श्रद्धात्मिका ऋजुता, एवं वेदार्थानुग्रह की मङ्गलकामना-

तदपि राष्ट्र के चिन्तनशील विद्वानों की श्रद्धा-आस्था-परिपूर्णा-स्वाध्यायनिष्ठा की चिरकालिक प्रक्रान्ति से कालान्तर में अवश्य ही विलुप्तप्राय उस ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्य का पारस्परिक समन्वय सर्वात्मना सुसम्पन्न बन ही जायगा, जिसके माध्यम से भारतराष्ट्र अपनी आचारात्मिका उस कर्त्तव्यनिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लेने में समर्थ बन जायगा, निश्चयेन समर्थ बन ही जायगा, जिस कर्त्तव्यनिष्ठा से ऐहलौकिक अभ्युदय (समृद्धि), एवं पारलौकिक निःश्रेयस् (शान्ति), दोनों लक्ष्य संसिद्ध हो जाया करते है । एकमात्र इसी कामना से किसी भी साम्प्रदायिक व्याख्या के व्यामोहन में न पड़ कर स्वयं वेद के अक्षरों को ही उपास्य मानकर, पारिभाषिक-निगमानुगमवचनों के माध्यम से ही यह समन्वय-धृष्टता उपक्रान्त हो पड़ी है, जिस इस अनधिकारचेष्टा के लिए तत्त्वज्ञ विद्वानों की दृष्टि में तो हम क्षम्य ही बने रहेंगे ।

२१७-पारिभाषिक अनुगम-निगम-भावों का शब्दार्थ-समन्वय, एवं अष्टम मन्त्र का 'अनुगम-मन्त्रत्त्व'—

हाँ, तो समष्टिरूपा मन्त्रत्रयी के प्रथम मन्त्ररूप, तथा क्रमप्राप्त अष्टम मन्त्रस्थानीय-'काले तपः काले ज्येष्ठम्' इस मन्त्र को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाइए । जैसा स्वरूप सप्तम मन्त्र का है, ठीक वैसा ही स्वरूप

इस अष्टम मन्त्र का है। सप्तम मन्त्र के मन–प्राण–नाम–इन तीन पदों के स्थान में यहाँ क्रमशः तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–ये तीन पद समाविष्ट हैं। मन्त्र अनुगमभावापन्न है। जहाँ विशेषता व्यक्त नहीं की जाती, अपितु तत्समानधर्म्मा सभी विवर्त्त जहाँ संग्राह्य बने रहते हैं, वही श्रुतिवचन 'अनुगमवचन' कहलाया है। एवं नियतार्थ के सूचक वचन ही 'निगमवचन' कहलाए हैं। अग्नि–वरुण–इन्द्र–सविता–आदि शब्द नियत प्राणविशेषों से सम्बन्ध रखते हुए निगमशब्द मान जायँगे। एवं प्रजापति–विश्वकर्म्मा–ब्रह्म–तप–ज्येष्ठ–स्वयम्भू–आदि शब्द तत्तच्छब्दवाच्य सम्पूर्ण अर्थों के संग्राहक बनते हुए अनुगमशब्द कहलाएँगे। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इसे अनुगमवचन कहा जायगा, तो 'अग्निः सर्वा देवता' को निगमवचन माना जायगा। तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–ये तीनों शब्द अनेक भावों के संग्राहक बनते हुए क्योंकि अनुगमशब्द हैं। अतएव इन शब्दों से समन्वित–'काले तपः–काले ज्येष्ठं–काले ब्रह्म समाहितम्' इत्यादि मन्त्र को अनुगममन्त्र ही माना जायगा। एवं इस अनुगमभावानुबन्धन से–'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'–'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा'–'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' 'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि अनुगमवचनों की भाँति–प्रकृत मन्त्रार्थ का भी अनेक स्थलों में समन्वय होगा। जिन कतिपय स्थलविशेषों के साथ इस मन्त्रार्थ का अब हम समन्वय करना है, उन स्थलविशेषों को लक्ष्यारूढ बनाने के लिए सर्वप्रथम हमें मन्त्र के अत्यन्त रहस्यपूर्ण–'यः पितासीत् प्रजापतेः' इस अन्तिम (चतुर्थ) चरण को ही अवधानपूर्वक उपास्य बनाना पड़ेगा।

२१८–प्रजापति के पिता 'काल' का संस्मरण, एवं मन्त्रार्थजिज्ञासा—

'जो काल प्रजापति का भी पिता है' इस वाक्य का 'प्रजापति' कौन है ?, एवं इस 'प्रजापति' का पिता 'काल' कौन है ?, जबतक इन प्रश्नों का समन्वय नहीं कर लिया जाता, तबतक "काल में तप है, काल में ज्येष्ठ है, काल में ब्रह्म समाहित है, काल सम्पूर्ण प्रपञ्च का ईश्वर है" इस शेषांश का कथमपि समन्वय सम्भव नहीं है।

२१९–ज्ञानविज्ञान-समन्वयमूर्त्ति प्रजापति, एवं ज्ञान-विज्ञान-शब्द-परिभाषा—

कालसीमा में 'प्रजापति' नामक तत्त्वविशेष से समुद्भूत यह स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च ज्ञानप्रजापति, एवं विज्ञानप्रजापति, इन दो महिमाभावों में परिणत रहता है। प्रजापति से समुद्भूत 'प्रपञ्च' भी 'प्रजापति' ही है, और प्रपञ्चात्मक यह प्रजापति ज्ञान, विज्ञान–भेद से दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है। *'ब्रह्म से ही यह सबकुछ बना है, अतएव यह सबकुछ ब्रह्म ही है' इस वाक्य के द्वारा प्रजापति के ज्ञान–विज्ञा*नात्मक दोनों विवर्त्त परिगृहीत हैं। किसी एक तत्त्व का अनेक भावों में परिणत हो जाना ही उस तत्त्व का *'विज्ञानत्त्व'* है। एवं अनेक भावों का एक तत्त्व में परिणत हो जाना ही उस तत्त्व का 'ज्ञानत्त्व' है। 'एकं ज्ञानं ज्ञानम्'–'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' ही ज्ञान, तथा विज्ञान-शब्दों का पारिभाषिक समन्वय है। 'ब्रह्म से ही यह सबकुछ बना है' वाक्यांश का अर्थ है–'एक ही अनेकरूप से परिणत हो रहा है'–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'। यही उस का 'विज्ञानस्वरूप' है। 'अतएव यह सबकुछ ब्रह्म ही है' इस वाक्यांश का अर्थ है–'ये सब अनेक भाव अन्ततोगत्वा एक ब्रह्म ही हैं'। *यही उस का* 'ज्ञानस्वरूप' है। प्रथम-वाक्यांश में एकत्व उद्देश्य है, अनेकत्व विधेय है, तो द्वितीय वाक्यांश में अनेकत्व उद्देश्य है, एवं एकत्व विधेय है। क्या तात्पर्य ?। तात्पर्य यही है कि, 'एक से अनेक बन जाना, अनेक से एक बन जाना' वाक्य में 'विज्ञान', एवं 'ज्ञान', ये दोनों भाव समाविष्ट हैं।

२२०-वेदितव्या-विद्याद्वयी, एवं उस के पराविद्या, अपराविद्या-नामक दो विवर्त्त—

दार्शनिकी भावुकभाषा में यों कहा जा सकता है कि-'उस एक से अनेक भावापन्न विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या का नाम हीं 'विज्ञानविद्या' है, एवं 'ये अनेक उस एक में कैसे परिणत हो जाते हैं ?' इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या ही 'ज्ञानविद्या' है। ज्ञानविद्या ही प्रतिसञ्चरविद्या है, प्रतिसर्गविद्या है, प्रतिसृष्टिविद्या है, लयविद्या है, समवलयविद्या है, मुक्तिविद्या है, पराविद्या है, अक्षरविद्या है। एवं विज्ञानविद्या ही सञ्चरविद्या है, सर्गविद्या है, सृष्टिविद्या है, बन्धनविद्या है, अपराविद्या है, क्षरविद्या है। इन दोनों विद्याओं को ही श्रुति ने 'वेदितव्या-विद्या' कहा है *। मूल उदाहरणों से समन्वय कीजिए इन दोनों महिमा-विवर्त्तों का।

२२१-ज्ञानानुगता 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति का, एवं विज्ञानानुगता 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' श्रुति का समन्वय, तथा 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' का संस्मरण—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति यदि ज्ञानमहिमा का उदाहरण है, तो-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' श्रुति विज्ञानमहिमा का उदाहरण है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति 'सर्व' (विश्व) को उद्देश्य मान रही है, एवं 'ब्रह्म' को विधेय। सर्वत्त्वोद्देश्येन ब्रह्म का विधान हो रहा है। सब को 'ब्रह्म' बतलाया जा रहा है, एवं यही ज्ञानोदाहरण है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' श्रुति 'ब्रह्म' को उद्देश्य मान रही है, एवं 'सर्वम्' को विधेय। ब्रह्मोद्देश्येन सर्व का विधान हो रहा है। 'ब्रह्म' को 'सबकुछ, बतलाया जारहा है। और यही विज्ञानोदाहरण है। सृष्टिकामना से वही अपने मनःप्राणवाग्भावों से काम-तपः-श्रम-मय बनता हुआ विश्वभाव में परिणत हो रहा है, एवं मुक्तिकामना से वही अपने आनन्दविज्ञानमनोभावों से अप्राण-अमना-बनता हुआ ब्रह्मभाव में परिणत हो रहा है÷। वही यह बना है, और यही वह बन जाता है। किंवा वही यह है, और यही वह है। ज्ञान ही विज्ञान है सञ्चरावस्था में, एवं विज्ञान ही ज्ञान है प्रतिसञ्चरावस्था में। ब्रह्म ही विश्व है विज्ञानधारापेक्षया, एवं विश्व ही ब्रह्म है ज्ञानधारापेक्षया। उधर से इधर आना ही 'विज्ञान' है, एवं इधर से उधर जाना हीं ज्ञान है। ब्रह्म के 'उधर' और 'इधर' के इन ज्ञान-विज्ञानरूप दो महिमाभावों के अतिरिक्त और कुछ भी तो ज्ञातव्य नहीं बच रहता। इन दोनों की विज्ञता से ब्रह्म का सम्पूर्ण महिमा-स्वरूप ज्ञात (ज्ञानापेक्षया), तथा विज्ञात (विज्ञानापेक्षया) बन जाता है, जिस इस उभय-महिमाभाव को लक्ष्य बना कर ही भगवान्ने कहा है—

> ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
>
> —गीता *

---

*—द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च (श्रुतिः)।

÷—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः-अक्षरात्परतः परः। (श्रुतिः)।

*—विस्तार के लिए देखिए-'भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

२२२–प्रजापतिमूलक ज्ञान-विज्ञान-भावों का समन्वय—

समन्वय हमें उस 'प्रजापति' शब्द का करना है, जिस का पिता 'कालपुरुष' बतलाया जा रहा है। ज्ञान–विज्ञान–माला के प्रवर्त्तक उन दो वचनों को ही इह समन्वय के लिए लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जो वचन 'प्रजापति' अभिधा से सम्बन्ध रख रहे होंगे।। 'सर्वमु ह्येवेद प्रजापति' (शत० ५।१।१।४।) यह वचन जहाँ प्रजापति की ज्ञानमहिमा का संग्रह कर रहा है, वहाँ–'प्रजापतिस्त्वेवेद सर्व-यदिद किञ्च' (शतपथ) यह वचन इसी की विज्ञानमहिमा का सग्राहक बन रहा है। 'यह सब कुछ नाना भाव यह एक ही प्रजापति है, (सर्वमु ह्येवेद प्रजापति) के द्वारा अनेकत्त्वोद्देश्येन एकत्व विहित है। एव–'प्रजापति ही यह सब कुछ है' (प्रजापतिस्त्वेवेद सर्वम') के द्वारा एकत्त्वोद्देश्येन अनेकत्व विहित है।

२२३–ज्ञानप्रधान प्रजापति का आत्मत्त्व, एवं विज्ञानप्रधान प्रजापति का विश्वत्त्व, तथा दोनों विवर्त्तों से अनुप्राणित आत्मन्वी प्रजापति--

ऐसा है वह प्रजापति, जो यों अपनी ज्ञान-विज्ञान-नाम की इन दो महिमाओं से विश्वात्मा (ज्ञानात्मा) भी बना हुआ है, एव विश्व (विज्ञानात्मा) भी बन रहा है। वही ज्ञानभाव से एकरूपत्वेन आत्मा है, एव वही विज्ञानभाव से अनेकरूपत्वेन 'विश्व' है। आत्मा, और विश्व, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही–'आत्मन्वी' है। शरीरविशिष्ट आत्मा, किंवा आत्मविशिष्ट शरीर–तत्त्व का नाम ही 'आत्मन्वी' है। अतएव अवश्य ही 'प्रजापति' को आत्मन्वी कहा जासकता है, जैसाकि स्वयं इस के नाम से ही स्पष्ट है। 'प्रजापति' शब्द में 'प्रजा', और 'पति' ये दो विवर्त्त हैं। विज्ञानात्मक विश्व ही 'प्रजा' है, एव ज्ञानात्मक 'आत्मा' ही इस प्रजास्थानीय विश्व का 'पति' है। दोनों की समष्टि (प्रजा और पति की समष्टि) ही 'प्रजापति' है। ज्ञानविज्ञानमहिमामय आत्मन्वी प्रजापति की इसी सर्वव्याप्ति का उक्त दोनों ब्राह्मण–वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है, जिस का निम्नलिखित मन्त्रश्रुति के द्वारा यों यशोगान हुआ है–

> यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
> प्रजापतिः प्रजया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥
>
> —यजु संहिता ८।३६।
>
> प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
> यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
>
> —यजु स० २३।६५।

२२४–त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति का संस्मरण—

"सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट यह प्रजापति अपनी प्रजा से समन्वित रहता हुआ तीन ज्योतिर्विवर्त्तों से परिष्वक्त है अन्तर्य्यामसम्बन्ध से। अतएव वह 'षोडशी' (षोडश कलात्मक) बन रहा है" इसप्रकार के अनुगमात्मक स्वरूप से समन्वित त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति को उपास्य बना कर ही हमें–'य पितासीत्-प्रजापते' का समन्वय करना चाहिए। जिस प्रजापति का स्वरूप–'यस्मान्न

जातः परो अन्यो अस्ति' के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च का संग्राहक बन रहा हो, उस सर्वस्वरूपात्मक सर्वात्मक प्रजापति का पिता कौन होगा ?, प्रश्न सचमुच ही कालगर्भिता प्रजा के लिए तो दुरधिगम्य ही प्रमाणित होगा। इस दुरधिगम्यता का एकमात्र आधारबिन्दु तो कालातीत वह 'परात्परब्रह्म' ही माना जायगा, जिस के गर्भ में काल का वही स्वरूप है, जो कि स्वरूप अनन्त समुद्र में एक बुद्बुद (बुल बुले) का है।

२२५–अनन्त परात्परब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश से अभिव्यक्त कालपुरुष, एवं 'पितासन्नभवत् पुत्र एषाम्' का अक्षरार्थ–समन्वय—

अनन्त परात्पर ही अपने उस एक बुद्बुद रूप कालबिन्दु से कालपुरुष, तथा यज्ञपुरुष-रूप, से दो महिमाभावों का प्रेरक बनता हुआ। दोनो में पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध स्थापित कर देता है। बुद्बुदरूप कालपुरुष ही अपने बाह्य आकार से तो कालपुरुष बन जाता है, एवं आकार से आकारित आभ्यन्तर वस्तुरूप यज्ञपुरुष बन जाता है। उसी का बाह्याकाररूप कालपुरुष 'पिता' है, एवं आभ्यन्तर वस्तुरूप 'प्रजापति' है। यों वही अपने छन्दोमय आकाररूप से पिता बन रहा है, एवं छन्दितरूप से पुत्र बन रहा है, जैसाकि–"पिता सन्न--भवन् पुत्र एषां--तस्माद् वै नान्यद् परमस्ति तेजः,' इत्यादि रूप से पूर्वमन्त्रार्थ–समन्वय में भी सङ्केत किया जा चुका है (देखिए चतुर्थ मन्त्रार्थ समन्वय प्रकरण)। पिता कालपुरुष है, पुत्र यज्ञपुरुष है, यही प्रजापति है। और ये दोनों पितापुत्र (काल, और प्रजापति) उस एक ही अनन्त–कालातीत-सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर परमेश्वर की एक बिन्दु के ही प्रसून हैं, जो बिन्दु 'एकांश' कहलाई है उस अनन्त परात्पर की।

२२६–ब्रह्म की एकांशता का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय,–एवं मायामय मायी काल–यज्ञात्मक प्रजापति—

क्या स्वरूप है उस एकांशरूपा (यत्किञ्चिद्रूपा) बिन्दु का ?, प्रश्न का उत्तर है रसानुगता बलभावात्मिका 'माया'। छन्दोरूप आकाररूप मायाबल से अमित भी मित बन जाता है, अमायी (परात्पर) भी अपने उस एकांशरूप मायाबल से तदवच्छिन्न रसबलरूपेण मायी बन जाता है। मायापुर से अतीत परात्पर भी अपने मायिक बिन्दुमात्रांश से 'पुरुष' बन जाता है। मायापुर स्वयं कालपुरुष है, तो मायापुर से सीमित परात्परांश 'यज्ञपुरुष' है। मायाबलात्मक–छन्दोभावात्मक, सीमाभावात्मक वही अचिन्त्य तत्त्व यदि कालपुरुषात्मक 'काल' है, तो इस काल से सीमित, कालात्मक मायाबल के समन्वय से ही कृतरूप यज्ञपुरुष 'प्रजापति' है, यही षोडशीपुरुष है, एवं यही षोडशकल आत्मन्वी ज्ञानविज्ञानात्मक 'प्रजापति' है।

२२७–महतो महीयान्, एवं अणोरणीयान् मायावृत्त की अभिन्नता—

काल को अव्यक्त–अमूर्त–कहा गया है। एवं पूर्व–प्रकरणो में इसे महदक्षर कहा गया है। अक्षर को प्राणरूप माना गया है, इसी अक्षर को 'प्रकृति' कहा गया है। साथ ही में इस प्रकृतिरूप प्राणप्रधान अक्षर को हृद्य माना गया है। पूर्व में हृदयाक्षररूप प्रकृति को 'काल' बतलाना, एवं यहाँ सीमाभावप्रवर्त्तक सीमात्मक बाह्याकार को 'काल' बतलाना क्या परस्पर समन्वित है ?। अवश्य। महिमामण्डल ही महतोमहीयान् महाछन्द है, यही मायावृत्त है, एवं इस महिमामण्डल का सुसूक्ष्म केन्द्रीय अणुच्छन्द ही 'हृदयम्' (केन्द्र) है, जोकि अणोरणीयान् कहलाया है। अणोरणीयान् केन्द्रबिन्दु, तथा महतोमहीयान् महावृत्त, दोनों एक ही

वस्तुतत्त्व है विज्ञानजगत् में। केन्द्रस्थ केन्द्रात्मक हृदयाक्षरप्राण महिमामावृत्तात्मक अश्वत्थवृत्तरूप में परिणत हो रहा है, जिस महिमात्मक अश्वत्थवृत्त का केन्द्रीय-स्वरूप ही हृदयाक्षर है। अतएव हृदयावच्छिन्ना हृदयरूपा प्रकृति को, तथा महिमावच्छिन्ना अक्षरप्रकृति को, दोनों को सर्वथा अभिन्न ही माना जायगा।

२२८-मायारूपा प्रकृति, एवं मायी महेश्वर—

अतएव हृदयाक्षररूपा प्रकृति, तथा महिमाक्षररूपा माया, दोनों को 'माया तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम्' (षोडशीपुरुषात्मक प्रजापति) इत्यादि रूप से अभिन्न ही मान लिया गया है। महिमामण्डलात्मिका माया का अवाररूप ही 'हृदय' है, पारीणरूप ही 'महिमा' है। उपक्रमरूप ही 'हृदय' है, एवं उपसंहाररूप ही 'महिमा' है। यों उपक्रमोपसंहार से एक ही प्रकृत्यक्षर अवारपारीणभावानुक्रम से मायारूप महाछन्द, एवं केन्द्ररूप सूक्ष्मछन्द बनता हुआ अभिन्न है। अतएव पूर्वपरिच्छेदों में हृदयावच्छिन्न महदक्षर को 'काल' कहना, और यहाँ महामहिमा-मण्डलरूप मायावृत्त को 'काल' कहना निर्विरोध समन्वित हो रहा है।

२२९-मायावृत्तानुगत जाया-धारा-आपः-अम्भस्-आदि-विभिन्न बलकोशों का संस्मरण, एवं षोडशकलबलानुगता षोडशी माया, तथा तदभिन्न षोडशीपुरुष—

युक्त चैतत्। असीम का कोई पुररूप मण्डलभाव नहीं। अतएव असीम-अमायी-अपुर का कोई नियत केन्द्र नहीं। मायातीत (कालातीत) परात्पर परमेश्वर असीम है। अतएव उसमें नियत केन्द्र का अभाव है। मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही, मायापुर के अभिव्यक्त होते ही तदंशभूत मायासीमित परात्परपुरुष में केन्द्र का आविर्भाव होजाता है। मायावृत्त, और मायाकेन्द्र, दोनों एक ही छन्द के दो महिमास्वरूप हैं। अतएव वृत्तात्मक महिमाछन्द, एवं केन्द्रात्मक अणुच्छन्द, दोनों ही एक वस्तुतत्त्व हैं। और यही 'काल' का, किंवा अक्षरप्रकृति का मौलिकस्वरूप-समन्वय है, जिससे सीमित परात्पर ही 'प्रजापति' (यज्ञपुरुष) कहलाया है। परात्परांशभूत मायी प्रजापति इसी मायामय काल के गर्भ में मायाबलानुगत जाया-धारा-आप-अम्भ-यक्ष-आदि आदि पञ्चदशविध कोशात्मक बलों से षोडशकल बन रहा है। मायासहित बलकोश सोलह हैं, ये ही इस मायारूप महाकाल की १६ बलकलाएँ हैं। इस बलकलाभाव से ही वह वृत्त कलनात 'काल' बन रहा है। बलकलावच्छेदेन कलनात 'काल' बने हुए उस अक्षरप्रकृतिरूप मायाबल के गर्भ में ही आत्मबलानुगत १६ बलकोशों से ही कृतरूप मायी प्रजापतिपुरुष 'षोडशकल' बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिसका-'षोडशकल वा इदं सर्वम्' इस अनुगमनवचन से स्पष्टीकरण हुआ है। यों काल पिता बन रहा है षोडशीप्रजापति का, जिसके अनुगमात्मक तीन ज्योतिर्विवर्त्तों का-'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' से स्पष्टीकरण हुआ है।

२३०-षोडशीप्रजापति की तीन ज्योतियों का दिग्दर्शन-

कौनसी है प्रजापति की वे तीन ज्योतियाँ ?, प्रश्न का उत्तर प्रजापति के 'षोडशी' नाम में ही गर्भित है। प्रजापति की १६ कलाओं का स्वरूपबोध ही इसके तीनों ज्योतिर्विवर्त्तों का आधारबिन्दु बन रहा है। पञ्चकल अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष (पराप्रकृति), एवं पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष (अपराप्रकृति), रूपेण तीनों पुरुषों की १५ पन्द्रह कलाएँ, एवं इनका पूरक अस्नभावात्मक सोलहवां सर्वाधारभूत निराधार परात्पर, ये ही १६ कलाभाव हैं, जिनसे त्रिपुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति षोडशकल बन रहे हैं।

२३१–त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का सर्वाधारत्व, एवं विराट्प्रजापति, तथा अधिपुरुष का स्वरूप–समन्वय–

यह संस्मरणीय है कि, विश्वसर्ग का मूल जहाँ सप्तपुरुषपुरुषात्मक मृत्युभावात्मक चित्यप्रजापति है, वहाँ आत्मसर्ग की आधारभूमि सर्वत्र यह त्रिपुरुषपुरुषात्मक अमृतभावापन्न चितेनिधेय प्रजापति ही बनता है। त्रिपुरुषपुरुषात्मक अमृतभाव (आत्मभाव), एवं सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यभाव (शरीरभाव), इन दोनों के, ३ और ७ के समन्वितरूप का (आत्मा और शरीर के समन्वितरूप का) ही नाम है 'विराट्–प्रजापति'–'ततो विराडजायत' (यजुः)। 'विराजो अधि पूरुषः'–इसी आधिदैविक विराट्प्रजापति से आध्यात्मिक पुरुष–(मानव)–प्रजापति का आविर्भाव हुआ है प्रतिमारूपेण। प्रजापति भगवान् हैं, तो यह पुरुष भगवान् की ही मूर्त्त–प्रतिमा है। इस मूर्त्ति (मानव) के माध्यम से ही उस अमूर्त्त भगवान् की उपासना व्यवस्थित हुई है। विना मूर्त्ति के, प्रतिमा के अमूर्त्त की, प्रतिमाभाव-विरहित भगवान् की उपासना तो कथमपि सम्भव नहीं है। प्रतिमाछन्द ही उस अप्रतिम की उपासना का एकमात्र माध्यम है, जिसके आधार पर ही सनातनप्रजा की मूर्त्तिपूजा, तथा तदनुबन्धी भगवान् के मानुषावतार व्यवस्थित हुए हैं, जिस इस सूक्ष्मतम रहस्य का समन्वय करने में असमर्थ प्राकृत मानव ही प्रतिमापूजनात्मक इस महान् वैज्ञानिकपथ से वञ्चित होते रहते हैं।

२३२ स्वर्ज्योति-परर्ज्योति-रूपज्योति–भाव, एवं ज्योतिषां ज्योतिः—

ज्ञानज्योति, कर्मज्योति, भूतज्योति, भेद से ज्योति के तीन विवर्त्त माने गए हैं, जो विज्ञान-भाषा में क्रमशः स्वर्ज्योति, परर्ज्योति, रूपज्योति, कहलाए हैं। पञ्चकल अव्ययपुरुष स्वर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान–ज्योति है, पञ्चकल अक्षरपुरुष परर्ज्योतिर्लक्षण कर्मज्योति है, एवं पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष रूपज्योतिर्लक्षण भूतज्योति है। सर्वान्त का, किंवा सर्वादि का निष्कलकलात्मक परात्पर इन तीनों पुरुषज्योतियों का आधार बनता हुआ "ज्योतिषां– (अव्ययाक्षरात्मक्षरपुरुषाणां) ज्योतिः (प्रकाशकः)" है। अपनी ज्ञान–क्रिया–अर्थ-रूपा तीनों ज्योतियों से समन्वित तीनों पुरुषभावों की १५ कलाओं, तथा परात्परकला से षोडश–कल बने रहने वाले त्रिज्योतिर्मय षोडशीप्रजापति का यही स्वरूप-दिग्दर्शन है, जो मायारूप महाछन्दोमय काल में ही प्रतिष्ठित है।

२३३–त्रिज्योतिर्मय षोडशीप्रजापति के तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म-नामक तीन महिमा-विवर्त्त, एवं-'काले तपः-काले ज्येष्ठं-काले ब्रह्म समाहितम्' का अक्षरार्थसमन्वय—

इस षोडशीप्रजापति का ज्ञानज्योतिर्मय अव्ययभाग ही 'तप' * है, इसी का कर्मज्योतिर्मय अक्षरभाग ही ज्येष्ठं है, एवं भूतज्योतिर्मय आत्मक्षरभाग ही 'ब्रह्म' है। षोडशीप्रजापति के, विश्वात्मा के तपः–ज्येष्ठ-ब्रह्म–रूप अव्यय, अक्षर, क्षर, नामक तीनों प्राजापत्य विवर्त्त ही इस प्रजापति के क्रमशः मनः–प्राण–वाङ्मय नाम–ये तीन विवर्त्त हैं। अव्यय मनोविवर्त्त है, अक्षर प्राणविवर्त्त है, एवं क्षर वाग्विवर्त्तात्मक नामविवर्त्त है। मन, और प्राणरूप अव्ययाक्षर–नामक दोनों विवर्त्त असङ्ग हैं। अतएव ये छन्दोरूप असङ्गकाल के स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान लिए जाते हैं। तीसरा वाग्रूप नाम ही दिग्देशानुबन्ध में परिणत होकर धामच्छद्–सर्गों का उपादान बनता है। अतएव तद्रूप 'ब्रह्म' के साथ ही 'समाहितम्' का सन्निवेश अन्वर्थ बनता है। जबकि मनः–प्राण–स्थानीय–अव्ययरूप तप, तथा अक्षररूप ज्येष्ठम्, इन

* यस्य ज्ञानमयं तपः। (उपनिषत्)।

दोनो तत्त्वों के साथ (इनकी अमूर्त्तभावप्रधानता से) कोई विशेषण समन्वित नहीं होसकता। अपितु इनके लिए तो–'काले तप –काले ज्येष्ठम्' यही कह देना पर्य्याप्त होता है। पूर्व के सप्तम मन्त्रार्थ–समन्वय में स्पष्ट किया जाचुका है इन मन प्राणभावों का असद्भाव। यही प्रस्तुत अनुगममन्त्र का अनुगमात्मक एक अर्थसमन्वय है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है।

त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी—

अव्ययाक्षरक्षरात्मक–तुरीय –निष्कलकलात्मक –परात्पर–एकः

स एषस्त्रिपुरुषपुरुषात्मक -प्रजापति पुत्र — कालपुरुषस्य

१–आनन्द
२–विज्ञानम्
३–मन
४–प्राण
५–वाक्

पञ्चकलोऽव्ययपुरुष ज्ञानात्मा मन

काले-तप (अव्ययः-इति यावत्)
पुरुष (ज्ञानज्योति)-तपोमूर्त्ति (१)
–स्वर्ज्योतिर्वा–

१–ब्रह्मा
२–विष्णुः
३–इन्द्र.
४–सोम
५–अग्नि

पञ्चकलोऽक्षरपुरुष कर्मात्मा प्राण.

काले ज्येष्ठं-(अक्षर -इति यावत्)
पराप्रकृति (कर्म्मज्योति.) ज्येष्ठमूर्त्ति (२)
–परज्योतिर्वा–

१–प्राण
२–आप
३–वाक्
४–अन्नम
५–अन्नाद

पञ्चकलः क्षरपुरुष भूतात्मा वाक्

काले ब्रह्म (क्षर -इति यावत्)
अपराप्रकृति. (भूतज्योति)ब्रह्ममूर्त्ति (३)
–रूपज्योतिर्वा–

कालपुरुषे-गर्भित –त्रिपुरुषपुरुषात्मक-–यज्ञपुरुषः

महिमारूपेण–हृदयरूपेण च–अवारपारीणः–मायाहृत्तात्मक –कालपुरुष –सोऽय काल एव पिता प्रजापते –

इति–

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पिताऽसीत् प्रजापतेः॥

२३४–अव्ययमनोऽनुबन्धी 'तपः', अक्षरप्राणानुबन्धी 'ज्येष्ठम्', एवं–क्षरवागनुबन्धी–'ब्रह्म' का तात्त्विक–समन्वय—

ज्ञानशक्तिमय 'मन' ही 'तपः' की स्वरूप-परिभाषा है, क्रियाशक्तिमय 'प्राण' ही 'ज्येष्ठं' का स्वरूप–परिचय है, एवं अर्थशक्तिमयी 'वाक्' ही 'ब्रह्म' की मौलिक-परिभाषा है। तीनों की समष्टि ही विश्वकारणभूत 'प्रजापति' की स्वरूप-परिभाषा है। ज्ञानशक्ति से समन्वित मनोमय वे ही प्रजापति सृष्टि के अधिष्ठानात्मक कारण (आलम्बनकारण) हैं, क्रियाशक्ति से समन्वित प्राणमय वे ही प्रजापति सृष्टि के 'निमित्तकारण' (असमवायिकारण) हैं, एवं अर्थशक्ति से समन्वित वाङ्मय वे ही प्रजापति सृष्टि के 'आरम्भणकारण' (समवायि–कारणात्मक उपादानकारण) हैं। इस परिभाषा की दृष्टि से प्रजापति का मनोरूप (आत्मदृष्ट्या), किंवा मनोमय (विश्वदृष्ट्या) 'तपः' ही सृष्टि का आलम्बनकारण है। प्रजापति का प्राणरूप, किंवा प्राणमय 'ज्येष्ठम्' ही सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं प्रजापति का वागरूप, किंवा वाङ्मय 'ब्रह्म' ही सृष्टि का उपादान-कारण है। क्योंकि षोडशीप्रजापति के [1]अव्यय–[2]अक्षर–[3]आत्मक्षर–नामक तीनों ज्योतिर्विवर्त्त क्रमशः सृष्टि के [1]आलम्बन–[2]निमित्त–[3]उपादान–कारण हैं। साथ ही तीनों क्योंकि [1]ज्ञान–[2]क्रिया–[3]अर्थ–शक्तिरूप, किंवा शक्तिमय बनते हुए [1]मनः–[2]प्राण–[3]वागरूप, किंवा मनःप्राणवाङ्मय हैं। अतएव इन अव्ययादि को इस परिभाषा से अवश्य ही क्रमशः [1]तपः–[2]ज्येष्ठम्[3]–ब्रह्म-कहा जासकता है अनुगममर्य्यादा-नुबन्ध से।

१–मनः–ज्ञानमयम्–तदेव तपः (आलम्बनम्)–तद्रूपोऽव्ययः–तप एव

२–प्राणः-क्रियामयः–तदेव ज्येष्ठम् (निमित्तम्)–तद्रूपोऽक्षरः—ज्येष्ठमेव

३–वाक्–अर्थमयी—तदेव ब्रह्म (उपादानम्)–तद्रूपः क्षर—ब्रह्मैव

———※———

२३५–तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–शब्दों के परिभाषिक अर्थों का समन्वय—

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक् सं० १०।१२९।४)–'तपसस्तन्महिना जायतैकम्' (ऋक्० १०।१२९।३)–'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' (ऋक्० १०।१९०।१)–इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार मनोमयी अध्यवसायनिष्ठा का ही नाम है–'तप' अध्यात्मभाषा में, एवं मनोमय सत्यभावापन्न दृढतम सृष्टिसंकल्प का ही नाम है 'तप' अधिदैवतभाषा में। यों मानसिक–धर्म्म ही 'तप' प्रमाणित हो रहा है, जिस का सृष्टिधाराओं में शत–सहस्र–रूपेण वितान हो रहा है। प्राणात्मक यजुः ही पारिभाषिक 'ज्येष्ठं ब्रह्म' है *। एवं तदनुबन्ध से ही क्रियाशक्तिरूप 'प्राण' का यजुर्भावत्वेन 'ज्येष्ठ' भाव

---

*प्राण एव यजुः। तदेत्–ज्येष्ठं ब्रह्म। न ह्येतस्मात् किञ्चन ज्यायोऽस्ति (शत० १०।–३।५।४। १०)–यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च (शत० १४।६।२।१)।

प्रमाणित है। एवमेव बृहत्त्वात्-अर्थशक्तिमय वाक्तत्त्व ही 'ब्रह्म' है, जैसा कि-'सा या सा वाक्- ब्रह्मैव तत्' (जै० उप० २।१३।२।)-'ब्रह्म वै वाच परम व्योम' (तै० ब्रा० ३।६।५।५।)-'वागिति-एतदेषा नाम्ना ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति' (शत० १४।४।४।१।)-'वाग्वै ब्रह्म'' (शत० २।१।४।-।१०।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। अतएव प्रजापति का अर्थशक्तिमय वाग्भाग अवश्य ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। मन -प्राण-वाक्-के इन्हीं विभूतिरूप तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म-विवर्तो का प्रकृत अष्टम-मन्त्र में दिग्दर्शन हुआ है, जैसाकि एतत्पूर्व के-काले मन ०' इत्यादि सप्तम मन्त्र की अनुरूपता से भी प्रमाणित है। अध्यात्म की व्यक्तभाषा में जो मन, प्राण, नाम भाव हैं, अधिदैवत की अव्यक्तभाषा में वे ही 'तप -ज्येष्ठ -ब्रह्म हैं। जो अर्थ यहाँ (अध्यात्म में) 'काले मन ' का है, वही यहाँ (अधिदैवत में) 'काले-तप ' का है। जो समन्वय यहाँ-'काले प्राण ' का है, वही समन्वय वहाँ 'काले ज्येष्ठम्' का है। एवं जो समन्वय यहाँ-'काले नाम समाहितम' का है, वही समन्वय वहाँ 'काले ब्रह्म समाहितम' का है, इति सर्वं सुस्थम्।

१-काले मन —इति (१)-काले तप —सैषा मनोविभूति प्रजापते

२-काले प्राण —इति (२)-काले ज्येष्ठम्-सैषा प्राणविभूतिः प्रजापते

३-काले नाम—इति (३)-काले ब्रह्म—सैषा वाग्विभूति· प्रजापते

—— *——

२३६-समष्ट्यात्मक प्रजापति के त्रिवृद्भावमूलक व्यष्टिरूप, एवं तदनुबन्धी 'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म' भावों का संस्मरण—

सहस्रवल्शेश्वर-महामायावच्छिन्न-(महाकालावच्छिन्न) परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोडशीप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली मन प्राणवाङ्मयी तपोज्येष्ठब्रह्मविभूतित्रयी का समष्ट्यात्मक दिग्दर्शन पूर्व की तालिका-माध्यम से कराया गया। अब इसी प्रजापति की व्यष्टियों के आधार पर व्यवस्थित अवान्तर ६ 'विभूतित्रयी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है, जिसका मूलाधार मन·-प्राण-वाग्-भावों का त्रिवृद्भाव ही बना हुआ है। मन -प्राण-वाक्-तीनों प्राजापत्य तत्त्व-इस त्रिवृद्भावानुबन्ध से (प्रत्येक) मन -प्राण-वाङ्-मय बने हुए हैं। फलत -मनोमय अव्यय भी मन.प्राणवाङ्मय है, किन्तु ये तीनों हैं मन·-प्रधान ही। प्राणमय अक्षर भी मन प्राणवाङ्मय है, किन्तु हैं ये तीनों प्राणप्रधान ही। तथैव वाङ्मय क्षर भी मन.प्राणवाङ्मय ही है, किन्तु हैं ये तीनों वाक्प्रधान ही। अतएव त्र्यात्मक-त्र्यात्मक भी इन तीनों मन.-प्राणवाग्भावों को 'त्र्यात्मकत्वात्तु' * न्याय से उसीप्रकार माना जायगा तीनों-त्रिवृद्रूपा को क्रमशः मनः-प्राण-वाग-विवर्त ही, जैसेकि शरीर के तेज·-आप.-अग्नि-रूप से त्रिवृद्भावापन्न रहते हुए भी अपां भूयस्त्वात् माना गया है शरीर को 'आपोमय' ही, जैसाकि-'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उप०) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

*-त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्। ता एव ह्युपपत्तेः।
—व्याससूत्र ३।१।२, ४,।

२३७–त्रिवृन्मनोरूप अव्ययब्रह्म से अनुप्राणित 'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी' का समन्वय—

हाँ, तो अब तथाकथित त्रिवृद्भाव के आधार पर ही षोड़शीप्रजापति के मनः–प्राण–वाग्रूप अव्यय-अक्षर–क्षर–के अवान्तर तीन–तीन त्र्यात्मक विवर्त्तों का समन्वय कीजिए अपनी आर्षप्रज्ञा के माध्यम से। सर्वप्रथम त्रिवृन्मनःप्रधान अव्यय को ही लक्ष्य बनाइए। **आनन्द**, एवं **विज्ञान**, इन दो अव्ययकलाओं का रस-चितिलक्षण–अन्तश्चितिरूप एक विभाग है, यही **मनोमय मन** है, यही **मानस तपः** है। मध्यस्थ **मन** नाम की अव्ययकला का एक विभाग है, जिसमें रसबल दोनों सम हैं–(उभयात्मकं मनः) । यही **मनोमय-प्राण** है, यही **प्राणानुबन्धी ज्येष्ठ** है। अन्त की प्राण, और वाक्, इन दो अव्ययकलाओं का बलचितिलक्षण-बहिश्चितिरूप एक विभाग है, यही मनोमयी वाक् है, यही **वाचिक ब्रह्म** है। इसप्रकार तपोरूप मनोमय केवल अव्यय में भी **आनन्दविज्ञानरूप मन, मनोरूप प्राण**, एवं **प्राणवाग्रूपा वाक्**-भेद से तपः–ज्येष्ठम्-ब्रह्म-ये तीनों विभूतियाँ समन्वित होजातीं हैं।

२३८–विभिन्नदृष्टया अव्ययब्रह्मानुगता–'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी' का समन्वय—

अब इसी अव्ययसंस्थान में दूसरी दृष्टि से त्रिवृद्भाव का समन्वय कीजिए। **आनन्द–विज्ञान–मन**, इन तीन का एक विभाग माना जायगा, एवं **मनः-प्राण-वाक्**-का एक विभाग माना जायगा। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय मुमुक्षा का अधिष्ठाता बनता हुआ बलग्रन्थिविमोक के माध्यम से जहाँ मुक्तिप्रवर्त्तक है, वहाँ वही अव्यय अपने मनःप्राणवाङ्मय भाग से सिसृक्षा का अधिष्ठाता बनता, हुआ बलग्रन्थिप्रवृत्ति के माध्यम से सृष्टिसाक्षी बना हुआ है। मुक्तिसाक्षी अव्यय भी त्र्यात्मक है, जिसका आनन्दभाग मन है, विज्ञानभाग प्राण है, मनोभाग (अन्तर्भाव) वाक् है, एवं ये ही क्रमशः तपः–ज्येष्ठम्-ब्रह्म हैं। तथैव सृष्टिसाक्षी अव्यय भी त्र्यात्मक है, जिसका मनोभाग (बहिर्म्मन) मन है, प्राणभाग प्राण है, वाक्-भाग वाक् है, एवं ये ही क्रमशः तपः-ज्येष्ठम्–ब्रह्म हैं। यों मनोमय केवल एक ही अव्यय-संस्थान में **समष्टि-अव्यय, मुक्तिसाक्षी अव्यय, सृष्टिसाक्षी अव्यय**, रूपेण तीन विवर्त्त होजाते हैं तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी के, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

२३६–त्रिवृत्प्राणरूप अक्षरब्रह्म से अनुप्राणिता 'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी' का समन्वय—

अब क्रमप्राप्त अक्षर को लक्ष्य बनाइए। जो तीन सस्थान त्रिवृत–मनोमय पञ्चकल अव्यय के हैं, ठीक वे ही तीन सस्थान त्रिवृत्प्राणमय पञ्चकल अक्षर के हैं। ब्रह्मा, एव विष्णु, इन दो हृदयाक्षरों का एक विभाग है, यही प्राणात्मक मन है, यही है तप। इन्द्र का एक विभाग है, यही प्राणात्मक प्राण है, यही है ज्येष्ठम्। सोम, एव अग्नि का एक विभाग है, यही प्राणात्मिका वाक् है, यही है ब्रह्म। और यही है समष्ट्यात्मक पञ्चकल अक्षर से अनुप्राणिता, त्रिवृत्प्राणात्मिका मन प्राणवाङ्मयी तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन। व्यष्टिदृष्टि से ब्रह्मा मनोमय तप है, विष्णु प्राणमय ज्येष्ठ है, एव अमृतेन्द्र वाङ्मय ब्रह्म है, यही व्यष्ट्यात्मक प्रथम समन्वय है। बलेन्द्र मनोमय तप है, सोम प्राणमय ज्येष्ठ है, एव अग्नि वाङ्मय ब्रह्म है। यही व्यष्ट्यात्मक द्वितीय समन्वय है। इसप्रकार मनोमय–त्रिवृन्मनोमूर्ति मन.प्राणवाङ्मय अव्यय की भांति प्राणमय–त्रिवृत्प्राणमूर्ति [illegible] प्राणवाङ्मय अक्षर के भी एक समष्टि, तथा दो व्यष्टि–भेद से तीन सस्थान निष्पन्न हो जाते हैं, जैसाकि—परि[illegible] मे स्पष्ट है।

२४०—त्रिवृत्—वाग्रूप क्षरब्रह्म से अनुप्राणिता 'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी' का समन्वय—

अब सर्वान्त के 'आत्मक्षर' नामक विवर्त्त की संस्थात्रयी का समन्वय कीजिए। प्राणः[1], एवं आपः[2], इन दो आत्मक्षरों का एक विभाग है, यही वागात्मक मन है, यही तपः है। वाक्[3] नामक आत्मक्षर का एक विभाग है, यही वागात्मक प्राण है, यही ज्येष्ठम् है। अन्नं[4] एव अन्नादः[5], नामक इन दो आत्मक्षरों का एक विभाग है, यही वागात्मिका वाक् है, यही ब्रह्म है। और यही है समष्ट्यात्मक-पञ्चकल-त्रिवृत्-वाङ्मय क्षर के त्रिवृत्-वाङ्मय क्षर की त्रिवृद्भावापन्ना तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का समन्वय। व्यष्टिदृष्टि से प्राण मनोमय तपः है, आपः प्राणमय ज्येष्ठ है, अमृतावाक् वाङ्मय ब्रह्म है, एवं यही व्यष्ट्यात्मक द्वितीय समन्वय है। मर्त्यावाक् मनोमय तपः है, अन्नं प्राणमय ज्येष्ठं है, अन्नादः वाङ्मय ब्रह्म है, एवं यही व्यष्ट्यात्मक तृतीय समन्वय है। तदित्थं-वाङ्मय त्रिवृत्—वाङ्मूर्त्ति मनःप्राणवाङ्मय आत्मक्षर के भी एक समष्टि, एवं दो व्यष्टि, रूप से तीन संस्थान बन जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३–आत्मक्षरानुगतसंस्थाविभागाः

(क)–समष्टिभावपरिलेखः—

(ख)–व्यष्ट्यात्मकपरिलेखौ—

(२)– { १–प्राण –मन –तप· ; २–आप –प्राण –ज्येष्ठम् ; ३–वाक्—वाक्—ब्रह्म } –पृष्ठ्यात्मा

(३)– { १–वाक्— मन·–तप· ; २–अन्नम्—प्राण.–ज्येष्ठम् ; ३–अन्नादः–वाक्—ब्रह्म } –भूतात्मा

—•—

२४१-तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावानुबन्धी-दशविध-विलक्षण महिमाभाव, एवं तदभिन्न कालपुरुष की विलक्षणता—

परात्पराभिन्न अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर-रूप षोडशीप्रजापति का एक महान् संस्थाविभाग, एवं अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-भावों के प्रत्येक के समष्टि-व्यष्टयात्मक तीन तीन विभागानुपात से सम्भूय ६ विभाग, यों केवल प्रजापतिरूप विश्वात्मा के मन:प्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से १० दश संस्थाविभाग हो जाते हैं, जो दश-संख्या प्रजापति के दशाक्षर विराट्छन्द का ही समर्थन-संग्रह कर रही है। बड़ा ही विलक्षण है यह संस्थाविभाग, जिस के विभिन्न विभागों से सम्बद्ध मन:-प्राण-वाक्-पर्व, तथा तद्रूप तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म-पर्व नामतः एक से प्रतीत होते हुए भी विज्ञानदृष्टया सर्वथा पृथक् पृथक् तत्त्व ही प्रमाणित हो रहे हैं। इन सब तत्त्वों का [नामसाम्यभ्रम से परित्राण करते हुए ही] वैदिक-विज्ञान का पारिभाषिक समन्वय गतार्थ बन सकता है।

२४२-परमात्मनामभ्रान्तिमूलक शब्द-साम्य से पारिभाषिक वेदार्थ की अन्तर्मुखता—

'सब परमात्मा के नाम हैं' कहने सुनने मात्र से कभी इस तत्त्ववाद का समन्वय सम्भव नहीं है, जैसा कि परमात्मभक्त वेदभाष्यकारोंनें काल, तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म-आदि के पारिभाषिक-समन्वय को विस्मृत कर सबको 'परमात्मा' के वाचक मानते हुए वैदिक-सृष्टिविज्ञान को एकान्ततः अभिभूत ही कर दिया है। अवश्य ही सभी परमात्मा के नाम हैं, अतएव सभी परमात्मस्वरूप हैं। आत्मनिष्ठ कोई भी आस्तिक इस सर्वव्यापक-सर्वरूप-परमात्मभाव का विरोध नहीं करेगा। अवश्य ही आत्ममूलक समदर्शन से सभी आत्मरूप हैं, जैसाकि हमनें स्वयं 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूप से पूर्व में स्वीकार किया है। किन्तु इसी समब्रह्मरूप परमात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित प्रकृतिमूलक विभिन्न तत्त्व तो परस्पर एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं। वही काल है, वही तप है, वही ज्येष्ठ है, वही ब्रह्म है, और यों वही सबकुछ है। किन्तु काल कदापि तप नहीं है, तप कदापि ज्येष्ट नहीं है, ज्येष्ठ कदापि ब्रह्म नहीं है।

२४३-गुणभूतात्मक प्राकृतिक तत्त्वों के व्यवच्छेदाधार पर ही पारिभाषिक अर्थों का समन्वय, एवं तदाधारेणैव 'काले तपः' इत्यादि मन्त्रार्थ-स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन गुणभूत पृथक् पृथक् प्राकृतिक-तत्त्वों के पारस्परिक पार्थक्य ही इनकी स्वरूप-व्याख्या है, जिसे न जान कर 'हारे का हरि नाम' न्यायमूला भावुकता से एक 'परमात्मा' का नाम लेकर समस्त तत्त्ववाद का निगरण कर जाना कदापि न्यायसङ्गत नहीं कहा जासकता। इस तत्त्वनिगरण से ही तो ज्ञानविज्ञानसिद्ध, ऐहिक-आमुष्मिक-सर्वार्थसाधक भी वेदशास्त्र आज केवल पारायणात्मक पुण्यपाठ का ही माध्यम बना रह गया है। यदि ये सब परमात्मा के ही नाम, किंवा पर्य्याय होते, तो फिर महान् वेदशास्त्र का आविर्भाव ही नहीं होता। फिर तो कालसूक्त की भी आवश्यकता न होती। क्या इन विभिन्न शब्दों-नामों से महर्षियोंनें आज के सङ्कीर्त्तन की भाँति 'हरे राम हरेराम राधेश्याम सीताराम' की मणिमाला का ही पुनः पुनः आम्रेडन किया है ?, मुकुलितनयन बनकर स्वयं प्रज्ञाशीलों को ही इस वेदार्थसमस्या का समन्वय करना चाहिए। तदैव महती सम्भूतिः। अन्यथा, महती विनष्टिः तो तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता है ही। जहाँ भाष्यकार 'परमात्मा' का

नामोच्चारण कर इन दुरधिगम्य वेदमन्त्रों का क्षणमात्र में समन्वय कर डालते हैं, वहाँ हमारी स्वल्पमति तो मन्त्र के एक एक शब्द से,एक एक अक्षर के पारिभाषिक समन्वय के अनुमानमात्र से विकम्पित हो पड़ती है। अत्यन्त ही भयत्रस्त बन जाते हैं हम वेदमन्त्रों को सम्मुख आया देखकर। और अन्ततोगत्वा श्रुतिदृष्टि से एकान्तत पराङ्मुख इस प्राकृत मानव को तो इस अचिन्त्य–मन्त्रार्थ–समन्वय का वास्तविक उत्तरदायित्व मन्त्रद्रष्टा महर्षि की प्रज्ञा पर ही छोड़ देना पड़ता है नमः–परम–ऋषिभ्य –का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए ही। इसी संस्मरण के आधार पर अब पुन तथोक्त दशविध समन्वय का समष्ट्यात्मक परिलेख के माध्यम से सन्दर्भ सङ्गति के लिए संग्रह कर लिया जाता है, जिस इस संग्रह के माध्यम से प्रस्तुत मन्त्र का यही समन्वय गतार्थ बनता है कि––

माहामायात्मके–छन्दोमये–महावृत्तरूपे महाकाले एव––

तपोरूपः–मनोमयः–अव्ययः–प्रतिष्ठितः

ज्येष्ठरूपः-प्राणमयः–अक्षरः–प्रतिष्ठितः

ब्रह्मरूपः––वाङ्मयः-आत्मक्षरः–प्रतिष्ठितः।

सर्वप्रतिष्ठात्वेनैव स एष काल एव महामायामयः–त्रिपुरुषपुरुषात्मकस्य ईश्वरस्य–यज्ञप्रजापतेराविर्भावभूमिः। यश्चैष काल एव तद्द्वारेण षोडशी-प्रजापतेः पिता-उद्भवकर्त्ता। यतो हि महामायावृत्तात्मके–महाकाले–एव रसानुगत-बलचितिपरम्परया प्रजापतेः स्वरूप–निष्पत्तिरिति–अनुगमो भवति––

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्

कालो ह सर्वस्येश्वरः, यः पितासीत् प्रजापतेः।

––इति सर्वमेव सुस्थम

परमे व्योमन् । * सर्वबलविशिष्टरसैकघनः-परात्परः-मायातीतः-कालातीतः-सर्वातीतः

* महामायात्मकं छन्दोवृत्तमेव—'कालः' तस्मिन्नेव सर्वं समाहितं——

	१	१	१—मनः—तपः—अव्ययः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-अक्षरः ३—वाक्—ब्रह्म——आत्मक्षरः	षोडशीप्रजापतिः		स वा एष आत्मा वाङ्मयः—प्राणमयो—मनोमयः			त्रीणि ज्योतींषि	
काले—मनः	१	२	१—मनः—तपः—आनन्दः—विज्ञानम् २—प्राणः-ज्येष्ठम्—अन्तर्म्मनः ३—वाक्—ब्रह्म—प्राणः—वाक्	सर्वमूर्त्तिरव्ययः	सर्वसाक्षी सर्वात्मा	मनः—प्राण—वाङ्मयोऽव्ययः—मनोऽनुगतः	इति-एतत्सर्वं-मन एव (मनः)	इत्येतत्सर्वं 'तप' एव	स्वयंज्योतिर्लक्षणं तदिदं ज्ञानज्योतिः	काले तपः
	२	३	१—मनः—तपः—आनन्दः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-विज्ञानम् ३—वाक्—ब्रह्म—अन्तर्म्मनः	त्रिमूर्त्तिरव्ययः	मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा					
	३	४	१—मनः—तपः—बहिर्म्मनः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-प्राणः ३—वाक्—ब्रह्म—वाक्	त्रिमूर्त्तिरव्ययः	सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मा					
काले प्राणः	१	५	१—मनः-तपः—ब्रह्मा—विष्णुः २—प्राणः-ज्येष्ठम्—अमृतेन्द्रः ३—वाक्—ब्रह्म—सोमः-अग्निः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	भूतभावनः	मनःप्राणवाङ्मयोऽक्षरः—प्राणानुगतः	इति-एतत्सर्वं प्राण एव (प्राणः)	इत्येतत्सर्वं-'ज्येष्ठ' मेव	परज्योतिर्लक्षणं तदिदं कर्मज्योतिः	काले ज्येष्ठं
	२	६	१—मनः—तपः—ब्रह्मा २—प्राणः-ज्येष्ठम्—विष्णुः ३—वाक्—ब्रह्म—अमृतेन्द्रः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	अन्तर्यामी					
	३	७	१—मनः—तपः—बलेन्द्रः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-सोमः ३—वाक्—ब्रह्म—अग्निः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	सूत्रात्मा					
काले नाम समाहितम्	१	८	१—मनः—तपः—प्राणः—आपः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-अमृतावाक् ३—वाक्—ब्रह्म—अन्न—अन्नादः	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	भूतपतिः	मनःप्राणवाङ्मयः—आत्मक्षरः—वागनुगतः	इति-एतत्सर्वं वागेव (वाक्)	इत्येतत्सर्वं-ब्रह्मैव	रूपज्योतिर्लक्षणं तदिदं भूतज्योतिः	काले ब्रह्म समाहितम्
	२	९	१—मनः—तपः—प्राणः २—प्राणः-ज्येष्ठम्-आपः ३—वाक्—ब्रह्म—अमृतावाक्	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	पृष्ठ्यात्मा					
	३	१०	१—मनः—तपः—मर्त्यावाक् २—प्राणः-ज्येष्ठम्-अन्नम् ३—वाक्—ब्रह्म—अन्नादः	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	भूतात्मा					

यस्मात् जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी

(सोऽयं प्रजापतिर्यज्ञपुरुषः-कालपुरुषे प्रतिष्ठितः)

२४४–सापेक्ष प्रजापति की सापेक्षता के पूरक विश्वभुवन, एवं- 'य आविवेश भुवनानि-विश्वा' का समन्वय—

'य आविवेश भुवनानि विश्वा'–(जो षोडशी प्रजापति सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट हो रहा है), इस वाक्य से सम्बन्ध रखने वाले 'विश्वा भुवनानि' (सर्वाणि लोकानि) ही सापेक्ष प्रजापति के शरीरभाव के पूरक बने हुए हैं। प्रजापति, और प्रजापति के लोक, दोनों की समष्टि ही क्रमशः आत्मा–तथा शरीर की समष्टिरूप 'आत्मन्वीभाव' है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। पृष्ठ संख्या २३८ की समष्टि–तालिका से जिस तथ्य का स्वरूप व्यक्त हुआ है, वह तो प्रजापतिरूप 'आत्मभाव' ही है, जो लोकरूप शरीर में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से प्रविष्ट माना गया है। तभी तो विश्वानुप्रविष्ट भुवनप्रविष्ट प्रजापति विश्वचर, प्रविष्टब्रह्म, विश्वात्मा, विश्वेश्वर, विश्वकर्म्मा, विश्वपति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। 'तप.-ज्येष्ठम्-ब्रह्म'–नामक जिन १० सस्थान विभागों का अनुगमविधि से अबतक यशोगान हुआ है, वे इस विश्व' को विश्वानुप्रविष्ट 'प्रजापति' रूप 'आत्मा' से ही अनुप्राणित हैं।

२४५–विश्वभुवनानुगता तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–त्रयी की दिग्दर्शन-जिज्ञासा—

अभी इस आत्मप्रजापति का शरीरस्थानीय भुवन तो शेष ही बन रहा है, जिसके सम्बन्ध से भी तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–भावों का समन्वय अपेक्षित ही माना जायगा। प्रविष्ट प्रजापति ही एकांश से सृष्टरूप में, विश्व–भुवनरूप में परिणत होता है। अतएव सृष्ट में प्रविष्ट के धर्म्मों का यथापूर्व समन्वय स्वतः सिद्ध बन जाता है। जबकि प्रविष्ट आत्मप्रजापति में तपोज्येष्ठब्रह्मभाव विद्यमान हैं मन प्राणवाक् के त्रिवृद्भावानुबन्ध से, तो अवश्य ही इस प्रविष्ट के सृष्टरूप विश्वा भुवनानि में भी उसी त्रिवृद्भाव के कारण तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का उपभोग होना ही चाहिए। दो शब्दों में क्रमप्राप्त विश्वानुबन्धी इन तीनों का दिग्दर्शन भी अनिवार्य बन जाता है।

२४६–षोडशी आत्मन्वी प्रजापति के विश्वभुवनों की पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शात्मकता का दिग्दर्शन—

परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–समष्टिरूप चतुष्पात्–षोडशीप्रजापति ही वह 'अश्वत्थवृक्ष' है, जिसकी विश्वात्मिका सहस्र शाखाएँ मानी हुई हैं। हजार टहनियाँ ही इस अश्वत्थवृक्ष के हजार विश्व हैं, भुवन हैं, जिनसे प्रजापति 'सहस्रवल्शेश्वर' बने हुए हैं, जो कि सहस्रवल्शाएँ ही इनके–'सहस्राक्ष-भूरिरेता' धर्म्मों की परिचायिकाएँ बन रही हैं। इनकी प्रत्येक शाखा अपने अपने पाँच पाँच पुण्डीरों–पर्वों–अवयवों–विभागों से–'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस इस प्रत्येक वल्शा में जहाँ 'पुण्डीर–लोक' पाँच हैं, वहाँ 'भुवनलोक' सात हैं। यों प्रत्येक शाखा पुण्डीरदृष्ट्या पञ्चपर्वा, तथा भुवनदृष्ट्या सप्त-पर्वा बन रही है। अतएव उसका प्रत्येक शाखालोक पञ्चावयव भी है, सप्तावयव भी है। यज्ञानुबन्ध से उसका शरीर पञ्चावयव है, तो लोकानुबन्ध से वही 'सप्तवितस्तिकाय' है। ऐसे पञ्चपर्वा, किंवा सप्तपर्वा शाखाविभागों की साहस्री (पूर्णता) से ही उस अश्वत्थमूर्त्ति षोडशी–प्रजापति–आत्मा के शरीर का स्वरूप अभिव्यक्त

२४७–पञ्चपर्वा प्रकृति के पञ्चविध विश्वपुरों का निदर्शन, एवं कालात्मक कारणब्रह्म का संस्मरण—

प्रजापति का परात्पराभिन्न–अव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षर नाम नामक चतुर्थ–अन्तिम–पर्व ही प्राजापत्य विश्वभुवनों का उपादानात्मक आरम्भण बनता है, जिसकी प्राणः–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादः–ये पाँच कलाएँ प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों ही आत्मक्षरकलाएँ अपने मूल अव्यक्त–अविकृतरूप–(अव्याकृतरूप) से जहाँ अक्षरकलाएं हैं (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि-कलाएं हैं), वहाँ ये ही व्यक्त–विकाररूप–[व्याकृतरूप] में आकर आत्मक्षररूपता के माध्यम से विकारक्षरात्मिका बन जाती हैं, एवं इसी अवस्था में इनका नाम होता है गुणभूत, जो 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गुणभूतरूप विकारक्षरों की समष्टि का पारिभाषिक नाम है–'विश्वसृट्'। इनके पञ्चीकरण से अभिव्यक्त अणुभूतों का पारिभाषिक नाम है 'पञ्चजन', एवं इनके पञ्चीकरण से उत्पन्न रेणुभूतों का नाम है 'पुरञ्जन', जो क्रमशः 'वेदाः–लोकाः–देवाः–पशवः–भूतानि' इन नामों से प्रसिद्ध है। प्राणात्मक वेदपुरञ्जन ही स्वयम्भूपुर का, आपोमय लोकपुरञ्जन ही परमेष्ठीपुर का, वाङ्मय देवपुरञ्जन ही सूर्य्यपुर का, अन्नमय पशुपुरञ्जन ही चन्द्रपुर का, एवं अन्नादमय भूतपुरञ्जन ही भूपुर का स्वरूप–प्रवर्त्तक बनता है, जो ये पुर केवल आण्डवृत्तात्मक ही माने गए हैं, जिनमें बहुत आगे चलकर सम्वत्सरमूलक सर्ग में ही पिण्डात्मक सूर्य्यादि अभिव्यक्त होते हैं। यही पञ्चपर्वा विश्व का स्वरूप–दिग्दर्शन है। निम्नलिखित श्वेताश्वतरवचन त्रिवृद्भावापन्न–मनःप्राणवाङ्मय–षोडशी–प्रजापति के परात्पराव्ययाक्षरगर्भित 'आत्मक्षर' रूप 'ब्रह्म' [उपादानकारण] के विवर्त्तभूत पञ्चपर्वा इसी प्राकृतिक विश्व का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिन इन वचनों का तात्त्विक समन्वय तो तदुपनिषद्विज्ञानभाष्य में ही द्रष्टव्य है।

किं कारणं ब्रह्म (क्षरब्रह्म), कुतः स्म जाताः, जीवाम केन, क्व च सम्प्रतिष्ठाः ॥
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥
'कालः'–'स्वभावो'-'नियति'-'र्यदृच्छा'-'भूतानि'-'योनिः'-'पुरुष' इति चिन्त्याः ॥
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
तमेकनेमिं, त्रिवृतं, षोडशान्तं, शतार्द्धारं, विंशतिप्रत्यराभिः ॥
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं, पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ॥
पञ्चावर्त्तां, पञ्चदुःखौघवेगां, पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १ अ०।१ से ५ मत्र पर्य्यन्त।

सैव प्रकृतिः–पञ्चकलाव्ययानुबन्धेन—पञ्चस्रोतोऽम्बुलक्षणा।

सैव प्रकृतिः–पञ्चकलाक्षरानुबन्धेन—पञ्चयोन्युग्रवक्रलक्षणा।

सैव प्रकृति –पञ्चकलात्मक्षरानुबन्धेन–पञ्चप्राणोर्म्मिलक्षणा।
सैव प्रकृति –पञ्चकलपञ्चजनानुबन्धेन-पञ्चबुद्धयादिलक्षणा।
सैव प्रकृति –पञ्चकलपुरञ्जनानुबन्धेन–पञ्चावर्त्त लक्षणा।
सैव प्रकृति –पञ्चकलपुरानुबन्धेन––––पञ्चदुग्धौघलक्षणा।

तामेतां–पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वां विश्वप्रकृतिमधीमः।

२४८–पञ्चपर्वात्मक–सप्तभुवनात्मक विश्व, एवं तन्निबन्धना तपो- ज्येष्ठ–ब्रह्म–त्रयी–का समन्वय—

ब्रह्मरूप आत्मक्षरात्मक एकाश से समद्भूत पञ्चपर्वा विश्व भूः-भुवः-स्वः मह -जनन-तप -सत्यम्–रूप से सात भुवनों म परिणित हो रहा है, जैसा कि-पूर्वमन्त्रार्थ–समन्वय-प्रसङ्गों में यत्र तत्र, एव विशेषत पृष्ठ सं० १४१ से १४८ पर्य्यन्त के परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। सप्तभुवनात्मक पञ्चपर्वात्मक ऐसे सहस्र विश्व भुवनों में से हमारी इयत्ता की परिसमाप्ति केवल एक प्राजापत्या वत्सा से ही अनुप्राणिता है। अतएव ६६६ सप्तभुवनात्मक पञ्चपर्वात्मक विश्व हम से अतीत ही बन रहे हैं। अतएव च हम अपने त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप केवल एक विश्व के अनुबन्ध से ही ज्ञानगर्भित प्राकृतिक विज्ञानकाण्ड का समन्वय उपलब्ध कर सकेंगे। विश्वोत्पादनभूत क्षरब्रह्म, एव पुरात्मक वैकारिक विश्व, इन दोनों के मध्य म पञ्चजन नामक अणुभूत, तथा पुरञ्जन नामक रेणुभूत, ये दो सस्थान और हैं। इन दोना में से पञ्चजनात्मक अणुभूतों का तो गुणभूतात्मक आत्मक्षरब्रह्म ही में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। एव पुरञ्जनात्मक रेणुभूतों का महाभूतात्मक पुरभावों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव आत्मक्षर के अनन्तर स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पञ्चपुरात्मक सप्तभुवनात्मक विश्व का ही स्थान शेष रह जाता है। एव अब इस पञ्चपर्वा विश्व की दृष्टि से ही हम तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–रूप मन-प्राणवाग्भावों का समन्वय कर लेना है।

२४९–भूः–भुवः–स्वः–लक्षणा महाव्याहृतियों से अनुप्राणिता तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी का समन्वय—

स्मरण कीजिए पूर्व के–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि.' इत्यादि प्रथम मन्त्रार्थ–समन्वय का, जिसमें भूः-भुवः-स्वः–नाम की तीन महाव्याहृतियों से अनुप्राणित रोदसी[1]–क्रन्दसी[2] संयती[3]–इन तीन त्रैलोक्यों का दिग्दर्शन कराते हुए इनके सप्तव्याहृतिरूप सात लोकों (भुवनों) का स्पष्टीकरण हुआ था तत्रैव तालिका–रूपेण (देखिए पृ० सं० १४३ की तालिकाद्वयी)। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए उस तालिका को, जिसका लोकत्रयात्मक स्वर्लोक ही मनोमय 'तपोलोक'[1] है, लोकत्रयात्मक भुवर्लोक ही प्राणमय 'ज्येष्ठलोक'[2] है, एव लोकत्रयात्मक भूलोक ही वाङ्मय 'ब्रह्मलोक'[3] है। ये ही प्राजापत्य एक विश्व के परम[1]–मध्यम[2]–अवम[3] नामक तीन धाम है। (देखिए पृ० सं० १४२)। यही समष्टयात्मक प्रथम सस्थान विभाग है तपोज्येष्ठब्रह्म-भावों का, जिसका तालिकारूपेण यों समन्वय किया जा सकता है–
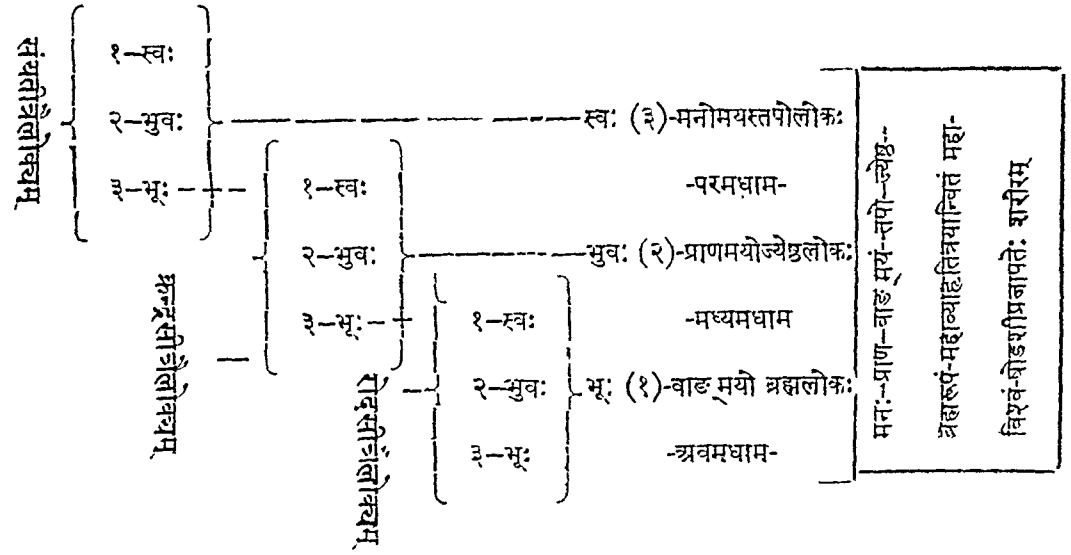
३५०—परम- मध्यम--अवम—रूप त्रिधामों से अनुप्राणिता तपो—ज्येष्ठ--ब्रह्म-त्रयी का समन्वय—

मनोमय स्वर्लोक, प्राणमय भुवर्लोक, एवं वाङ्मय भूलोक, महाव्याहृत्यात्मक ये तीनों हीं लोक मनः-प्राण-वाग-भावों के त्रिवृत्करण से प्रत्येक तीन तीन व्याहृतियों में परिणत हो रहे हैं। अतएव महा-व्याहृत्यात्मक तीन महालोकों के ९ अवान्तर लोक होजाते हैं। फलतः तपो—ज्येष्ठ—ब्रह्म-भावों के भी नव (९) ही अवान्तर विवर्त्त सम्पन्न हो जाते हैं, जैसाकि नीचे लिखे परिलेख से स्पष्ट है—

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः षोडशीप्रजापतिरेवात्र आधारत्वेन कालः-तत्रैव तपः, तत्रैव ज्येष्ठं, तत्रैव च ब्रह्म समाहितम्
स्व –द्यौरा १
१–स्वः–द्यौ.——स्वयम्भूः——मनोमय–मन –तपः
२–भुव अन्तरिक्षम्-सूत्रात्मा——मनोमय.-प्राण -ज्येष्ठम्
३–भू –पृथिवी—बृहस्पतिः——मनोमयी–वाक्–ब्रह्म
परमधाम
संयतीत्रिलोकी
–मन एव (तपः)
भुव –अन्तरिक्ष या २
१–स्वः–द्यौ ——परमेष्ठी——प्राणमय—मनः—तप
२–भुव -अन्तरिक्षम् ब्रह्मणस्पतिः–प्राणमय –प्राण-ज्येष्ठम्
३–भू –पृथिवी—बृहस्पतिः——प्राणमयी–वाक्—ब्रह्म
मध्यमधाम
क्रन्दसीत्रिलोकी
प्राण एव (ज्येष्ठम्)
भू –पृथिवी या ३
१–स्वः–द्यौ ——सूर्य्य ———वाङ्मय–मन —तप
२–भुवः-अन्तरिक्षम्-चन्द्रमा ——वाङ्मय -प्राण –ज्येष्ठम्
३–भू –पृथिवी—भूपिण्ड ——वाङ्मयी–वाक्–ब्रह्म
अवमधाम
रोदसीत्रिलोकी
वागेव (ब्रह्म)
कालवृत्तमिदं निखिलाधारभूतम्
कालमृत्तमिदं—विश्वाधारभूतम्
कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

तथा च-परात्परान्ययाक्षरात्मक्षररूपे-महामायावच्छिन्ने-महेश्वरे-कालरूपे एव त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूपस्य-परसमध्यमावमधामलक्षणस्य--पञ्चपुण्डीर--प्राजापत्यवल्शात्मकस्य-सप्तभुवनात्मकस्य परमधामानुगतं तपः, मध्यमधामानुगतं ज्येष्ठं, तथा अवमधामानुगतं ब्रह्म समाहितम् , इति षोडशी-प्रजापतिर्विश्वेश्वरः कालात्मा एव विश्वस्य प्रतिष्ठाभूमिः। आतश्च-अनुगमो भवति—

कालो तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

यह अवधेय है कि, उत्तर–उत्तर के संस्थान की अपेक्षा पूर्व पूर्व के संस्थान सर्वत्र कालात्मक हैं, एवं पूर्व–पूर्व-संस्थानापेक्षया उत्तरोत्तरसंस्थान सर्वत्र तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म--भावात्मक हैं। अपने मानसजगत् में इसी अनुपात से प्रस्तुत अनुगममन्त्र का यथासंस्थान समन्वय कर लेना चाहिए।

२५१–प्राणमय स्वयम्भू--ब्रह्म का तपोभाव, एवं तप से सुब्रह्मरूप अथर्व परमेष्ठी का प्रादुर्भाव—

त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप, सप्तभुवनात्मक महाविश्व में समन्वित तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–भावों के अतिरिक्त अब इसी विश्व के पाँच पर्वों की दृष्टि से भी इन तीनों कालविभूतियों का समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। वे पाँचों पर्व क्रमशः स्वयम्भूः–परमेष्ठी–सूर्य्यः–चन्द्रमाः–भूः–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदमूर्ति, सप्तर्षिप्राणसम्बन्ध से सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापतिरूप में परिणत स्वयम्भू ही 'ब्रह्मा' हैं, जो 'ज्ञानमय तप' से सतत तपश्चर्य्या करते रहते हैं। इसी तप से स्वयम्भू के द्वारा परमेष्ठ्यादि इतर चारों भूतपर्व आविर्भूत हुए हैं। 'मैं अपने जैसा ही दूसरा प्रतिमान उत्पन्न करूँ' इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ब्रह्म ने तप किया। इस तपन–सन्तपन से इस ब्रह्म के ललाट पर स्वेदकण (पसीना) आविर्भूत होगए। यह स्वेद ही इसका सलिलात्मक–'सरित्-इरारस' रूप-द्रुत-भाग 'आपोमय' सुब्रह्म कहलाया, यही वह अथर्व नामक चतुर्थ वेद कहलाया, जिसका–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' इत्यादिरूप से पूर्व के पारिभाषिक–परिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। वेदमूर्त्ति स्वयम्भू का यजुर्म्मय वाग्भाग ही आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत हुआ, यही तात्पर्य्य है। स्वेदवेदात्मक यही परमेष्ठी 'अथर्व' नामक 'सुवेद' है, 'सुब्रह्म' है, जो ब्रह्मस्वयम्भू का ज्येष्ठपुत्र बन रहा है। 'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह आपः–प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत' के अनुसार अथर्वसुब्रह्म को उत्पन्न कर त्रयीब्रह्म इसके गर्भ में प्रविष्ट होगया। इसी सत्याग्निगर्भ से यह अथर्वसुब्रह्म आपोमयाण्डरूप में परिणत होगया। और यों स्वयम्भूब्रह्म के, किंवा ब्रह्मा के इस ज्ञानमय तप से सर्वप्रथम आपोमय, अथर्वमूर्त्ति परमेष्ठी का ही आविर्भाव होगया, जिसका गोपथश्रुति में यों यशोगान हुआ है—

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव । तदैक्षत-हन्ताहं मदेव मन्मात्रं-द्वितीयं देवं निर्म्ममे-इति । तदभ्यतपत, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमजायत, तेनानन्दत् । तदब्रवीत्--'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् सुवेदो-ऽभवत् ।(गोपथब्रा० पू० १।१।)

२५२-ब्रह्म के तप से आविर्भूत सुब्रह्माथर्व की ज्येष्ठरूपता—

स्वयम्भूब्रह्म से आविर्भूत सुवेदमूर्त्ति * अथर्वब्रह्म ही क्योंकि भौतिक-सर्गधाराओं में सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ । अतएव यह सौम्य-अथर्व-आपोमय-परमेष्ठी ही स्वयम्भू प्रजापति के-'ज्येष्ठपुत्र' कहलाए, जिन में तत्सृष्ट्वा न्याय से सर्वप्रतिष्ठारूपा स्वायम्भुवी त्रयीविद्या 'त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्' रूपेण गर्भी-भूत होरही है । इसी प्राथमिक सृष्टिधाराक्रम को लक्ष्य बना कर उपनिषत् ने कहा है—

> ब्रह्मा देवाना प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
> स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

२५३-अथर्वब्रह्म की 'ज्येष्ठ' उपाधि का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

आपोमय अथर्वपरमेष्ठी सोमप्रधान है। प्रजापति स्वयम्भू की परमेष्ठी, इन्द्र (सूर्य्य), सोम (चन्द्रमा), अग्नि (पृथ्वी) इन चारों सन्ततियों में सर्वज्येष्ठ है प्रथम आविर्भूत होने के कारण परमेष्ठी अथर्वा ही । अतएव अवश्य ही इस ब्राह्मणस्पत्य सोममूर्त्ति परमेष्ठी अथर्व को ज्येष्ठपुत्र कहा जासकता है । अतएव च मन्त्र-वेदने अथर्वात्मक पारमेष्ठ्य सोम को यत्रतत्र 'ज्येष्ठम्' उपाधि ही से समन्वित किया है + । पारमेष्ठ्य सोमात्मक अथर्व-सुब्रह्म की महत्ता ही इसकी 'ज्येष्ठता' का बीज है । पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति ऋत परमेष्ठी ही चिदात्मा की गर्भग्रहणानुगता योनि बनता है । पारमेष्ठ्य महदक्षर ही भूतभविष्यन्लक्षण यह प्रकृतिभाव है, जिसे पूर्वप-रिच्छेदों में हमने गुणत्रयात्मक, एवं आकृतिप्रकृतिअहङ्कृतिभावात्मक कहा है ।

---

*-अप एव ससर्जादौ (मनु) ।

+—तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥
—ऋक्सं० ७।९७।३ ।

इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठ-अमर्त्यं-मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥
इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सह ॥
—ऋक्सं० १।८४। ४, ५,

२५४–ज्येष्ठ अथर्व की महत्ता, एवं श्रेष्ठता का समन्वय –

पञ्चपुण्डीरात्मकविश्व में सृष्टिदृष्टि से यद्यपि परमाकाशरूप स्वयम्भू से बड़ा कोई नहीं है। अतएव उसे ही वस्तुगत्या महान्, किंवा ज्येष्ठ कहना चाहिए था, कहा गया भी है सृष्टिदृष्ट्या। किन्तु स्थितिमूला सृष्टिविद्या की दृष्टि से तो यह परमेष्ठी ही स्वयम्भू की भी अपेक्षा भी 'महान्' बन रहा है। क्योंकि महतो–महीयान् भी त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म 'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' रूप से इस मण्डल में गर्भीभूत है। विश्वाध्यक्ष स्वयं षोडशीपुरुष से तो अधिक महान् और कौन होगा ?। वह भी 'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' रूप से एकांश से इसी पारमेष्ठ्य सौम्य–वीज–तत्त्व में गर्भ धारण करता है–'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'!

२५५–'पिता सन्नभवत् पुत्र एषाम्' का समन्वय—

इन्हीं सब कारणों से 'महान्'–'ज्येष्ठ' जैसी उपाधियों का सम्मान स्वयम्भू के प्रथम पुत्ररूप इस परमेष्ठी को ही प्राप्त हो रहा है। पिता से उत्पन्न पुत्र पिता को गर्भ मे लेकर स्वयं पिता का भी पिता बन रहा है, जैसाकि–'यस्ता विजानात्–स पितुष्पितासत्' (ऋक्सं० १।१६४।१६।)–'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' (ऋक्सं० १।८९।९)–'पितासन्नभवत् पुत्र एषाम्' (अथर्वसं० १९।६।५३) 'यः पितासीत् प्रजापतेः' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है।

२५६–स्वायम्भुव तप से आविर्भूत अथर्व ज्येष्ठ के द्वारा तद्गर्भ में भृग्वङ्गिरोमय हिरण्मयाण्डवृत्त का आविर्भाव––

हाँ, तो स्वयम्भूब्रह्म के तप से ज्येष्ठ (महान्) रूप आपोमय–सोममूर्त्ति–भृग्वङ्गिरोरूप–अथर्व परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ, जो कि अपनी इस प्रथमा आपोमयी-आण्डावस्था में सर्वथा ऋत ही था, वनतानुगत पिण्डभावों से असंस्पृष्ट ही था। उस प्रारम्भिक दशा में तो–'सर्वमापोमयं जगत्'–'न तर्हि पृथिव्यास–न द्यौरास'–काल्यालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास' यही स्थिति थी। द्रवभावापन्न इस इरात्मक ऋत रस के कारण ही यह आपोमय परमेष्ठी सूर्य्याविर्भाव से पहिले 'सरिर' रूपेण–'सलिल' ही बना हुआ था। 'ऋतमेव परमेष्ठी' ही उस दशा का मौलिक स्वरूप था, जिसका-'आपो-वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत० ११।१।६।१।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है। स्वयम्भू के तप से आविर्भूत सलिलमूर्त्ति ज्येष्ठभावात्मक इस आपोमयाण्ड के गर्भ में हीं इसी भृग्वङ्गिरोमय ऋततत्त्व की भृगुगर्भिता अङ्गिराचिति से एक नवीन अग्निमय अण्डवृत्त आविर्भूत हुआ, और वही 'हिरण्मयाण्ड' कहलाया, जिसके कि गर्भ में सृष्टिधारानुपात से बहुत आगे चल कर प्रत्यक्षदृष्ट मूर्त्त सूर्य्यपिण्ड का स्वरूपाविर्भाव हुआ है अग्निचयन के द्वारा। इसी हिरण्मयाण्ड को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

ताः (आपः) अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सरः (सौरसंस्थानम्) आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला, तावत्–पर्य्यप्लवत।

—शत० ११।६।१।१।

२५७-सरस्वान् समुद्र में हिरण्मयाण्ड का पर्य्यप्लवन, एवं हिरण्मयाण्डगर्भ में 'प्रथमजब्रह्म' नामक व्यक्त 'ब्रह्म' तत्त्व का आविर्भाव—

एक महासमुद्र में वायुगर्भित बुद्बुद जिसप्रकार इतस्ततः वस्तुलचड क्रमण के द्वारा लुढ़कता फिरता है, ठीक यही स्थिति आरम्भ में उस महान्-ज्येष्ठ-परमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में भृगुगर्भित आङ्गिरोमूर्ति उस हिरण्मयाण्ड की रही होगी। उसी का-'पर्य्यप्लवत्' से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी हिरण्मयाण्ड के गर्भ में कालान्तर में-'यो गर्भोऽन्तरासीत्-तदग्निरभवत्' रूपेण अङ्गिरोऽग्नि की चिति हुई। यही चित्याग्निपिण्ड चिति की परिपक्वता में आते ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोक प्रदान करता हुआ अपनी प्राणदपानलक्षणा सहस्रा-सहस्रिमान-महन्-रूपा रश्मियों से अभिव्यक्त होपड़ा, जिसे मूर्त्तसूर्य्य (पिण्डसूर्य्य) कहा जा रहा है। इस पिण्डसूर्य्य का आधारभूत हिरण्मय प्राण ही वह अमृतसूर्य्य है, जिसके आधार पर ही इस मर्त्याग्नि की चिति हुई है। चितेनिधेयरूप हिरण्मय प्राण ही वह सत्यधर्म्म है, जिस के साक्षात्कार के लिए पार्थिव पूषाप्राण को माध्यम बनाना पड़ता है, जैसाकि उपनिषदों की सुप्रसिद्धा 'चाक्षुषपुरुषविद्या' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। मूर्त्त सूर्य्यपिण्ड को स्वाधार पर प्रतिष्ठित रखने वाला हिरण्मयप्राणरूप अमृतसूर्य्य ही उस आपोमयाण्ड के गर्भ में, ज्येष्ठ अथर्व के गर्भ में आविर्भूत वह गायत्रीमात्रिक नामक वेदतत्त्व है, जिसे 'प्रथमजब्रह्म' कहा गया है। स्वयम्भू, और परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम यही उभयात्मक विराट्-हिरण्यगर्भप्राणात्मक सूर्य्य आविर्भूत हुआ है। यही प्रथमा व्यक्तसन्तति है उस दम्पती की-'विराजमग्रजत्प्रभुः'। 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि मन्त्रश्रुति इसी हिरण्यगर्भ का यशोगान कर रही है।

२५८-विराट्प्रजापतिरूप सौर ब्रह्म का व्यक्तजगदाधारत्व—

त्रयनिःश्वसित-अपौरुषेय वेदमूर्त्ति तपोमय स्वयम्भू से ब्रह्मस्नेहवेदात्मक ज्येष्ठभावापन्न-(महद्भावापन्न) अथर्व-मूर्त्ति परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। इस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में त्रयीवेदात्मक ही (गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेदात्मक ही) हिरण्मयाण्डानुगत सौरसंस्थान का आविर्भाव हुआ, और यही तीसरा विश्वपर्व 'ब्रह्म' कहलाया। 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' रूपेण व्यक्त-भूत-सर्ग का सर्जक, उपादान सब क्योंकि यही सौरसंस्थान बनता है-जैसाकि-'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'-'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है। उपादानकारण का ही पारिभाषिक नाम क्योंकि 'सर्गभावत्वेन' 'ब्रह्म' है। अतएव अवश्य ही तपोगर्भित (स्वयम्भुगर्भित), ज्येष्ठरूप आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में आविर्भूत अमृतप्राणात्मक मर्त्य चित्याग्निमय वेदात्मक सूर्य्य को 'ब्रह्म' उपाधि से विभूषित किया जा सकता है, किया है श्रुतिने निम्नलिखित रूप से—

> सोऽकामयत-'आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय' इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। ततो 'ब्रह्म' एव प्रथमसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुः-'ब्रह्म' अस्य सर्वस्य (भूतसर्गस्य) प्रथमजम्। मुखं ह्येतदग्नेः-यत्-'ब्रह्म'।
>
> -शत० ६।१।१।१०।

२५९-अमृतत्रयी-लक्षणा तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी—

षोडशी प्रजापति में जो स्थान तपोमूर्त्ति मनोमय अव्यय का है, इस पञ्चपर्वा विश्व में वही स्थान तपोमय, अतएव मनोमूर्त्ति स्वयम्भू का है। वहाँ जो स्थान ज्येष्ठमूर्त्ति प्राणमय अक्षर का है, यहाँ वही स्थान

ज्येष्ठपुत्ररूप प्राणमूर्त्ति (ऋतमूर्त्ति) महदक्षरात्मक–भूतभविष्दधिष्ठाता परमेष्ठी का है। एवं वहाँ जो स्थान ब्रह्ममूर्त्ति वाङ्मय क्षर का है, वही स्थान यहाँ त्रयीब्रह्मरूप–वाङ्मय सूर्य्य का है। उस के तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्मरूप अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक–मनः–प्राण–वाग्–भाव ही विश्व में क्रमशः स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य (अमृतहिरण्मयप्राणरूप सूर्य्य) इन नामों से प्रसिद्ध है।

२६०--प्रतिमाप्रजापति--चतुष्टयी का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं पारमेष्ठ्य--प्राजापत्या--सर्ग-का समन्वय—

आगे चलिए। सौरसंस्थानात्मक हिरण्मयाण्ड ही आगे चल कर गर्भचिति से मर्त्यपिण्डात्मक व्यक्त–सूर्यरूप में परिणत होता है, जिस का आधारभूत हिरण्मयामृत–प्राण 'इन्द्र' कहलाया है। इसी से आगे चल कर सम्वत्सरात्मक–रोदसी त्रैलोक्य का आविर्भाव होता है, जिस के गर्भ में मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रपिण्ड, भूपिण्ड, ये तीनों विश्वपर्व प्रतिष्ठित हैं। सूर्य्यपर्व का तो उस ऊपर के अमृतेन्द्ररूप अमृत हिरण्यसूर्य्य में ही अन्तर्भाव है। अतएव शेष रह जाते हैं मुख्यरूप से सोममय चन्द्रमा, तथा अग्निमय भूपिण्ड। सोममय चन्द्रमा सोमाथर्वरूप परमेष्ठी का प्रवर्ग्यरूप अथर्व ही है, जिस की वाक् इसी सुब्रह्माथर्व के सम्बन्ध से–'सुब्रह्मण्या' कहलाई है। एवं अग्निमय भूपिण्ड सौरसावित्राग्नि का ही, ब्रह्मरूप गायत्रीमात्रिक वेद का ही प्रवर्ग्यभाग है। यह संस्मरणीय है कि, परमेष्ठी का अत्रिप्राण प्रवर्ग्यरूप से सर्वप्रथम भूपिण्ड का ब्रह्मौदन बन कर इसे धामच्छदता प्रदान करता है। यही भौम (पारमेष्ठ्य) अत्रितत्त्व पुनः पार्थिव परिभ्रमण से प्रवर्ग्य बनता है। यही प्रवर्ग्य पारमेष्ठ्य अत्रिसोम चन्द्रमा–का जनक बनता है। अतएव चन्द्रमा पुराणशास्त्र में 'अत्रिपुत्र' नाम से प्रसिद्ध है *। अतएव च पारमेष्ठ्य सोम का प्रवर्ग्य भी सौम्य–चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह बन रहा है, जबकि स्वयं पृथिवी (भूपिण्ड) सौर सावित्राग्नि के प्रवर्ग्य से विनिर्म्मिता होती हुई सूर्य्य का उपग्रह मानी गई है। तदित्थं वही स्वयम्भू अपने ज्ञानमय तप के प्रभाव से–'मदेव मन्मात्रं–निर्म्ममे' (मैं मेरे जैसा ही, मेरी स्वरूपमात्रा–इयत्ता के अनुरूप ही सन्तति उत्पन्न करूँ) इस कामना से क्रमशः परमेष्ठी–इन्द्र–[सूर्य्य]–सोम [चन्द्रमा]–अग्नि [भूपिण्ड], इन चार सन्ततियों का जन्मदाता

---

*–पिता सोमस्य वै विप्रा ! जज्ञेऽत्रिर्भगवानृपिः ॥
काष्ठकुडयशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
'सुदुश्चरं' नाम तपो येन तप्तं महत्पुरा ॥
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिपस्य ह ॥
सोमत्त्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः (चन्द्रः) ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्त्वं भावितात्मनः ॥
नेत्राभ्यामस्रवत्सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
—इत्यादि–ब्रह्माण्डपुराणे

बन रहा है। जैसा स्वरूप स्वयम्भू का है, वैसा ही मण्डलात्मक, आत्मा-पद-पुत्र पद-लक्षण स्वरूप इन चारों परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नामक विश्वपर्वों का है। अतएव ये चारों प्राजापत्य सर्ग उस पर-मप्रजापति [स्वयम्भू] के 'प्रतिमाप्रजापतिसर्ग' ही कहलाए हैं, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है।

स ऐक्षत प्रजापतिः-(स्वयम्भूः)-'इमं वा ऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि-यत् सम्ब-त्सरमिति (मण्डलात्मकं वृत्तमिति)। ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्निः-इन्द्रः-सोमः-परमेष्ठी-प्राजापत्यः॥

—शत० ११।१।६।१३,१,४,

२६१-दर्शपूर्णमासानुगत स्वायम्भुव 'कामप्र' यज्ञ, तन्मूलक 'सर्वहुत' यज्ञ, एवं स्वयम्भू-ब्रह्म की तपश्चर्य्या—

स्वय स्वयम्भू, तज्ज्येष्ठपुत्र परमेष्ठी, तत्कनिष्ठ सूर्य्य, तत्कनिष्ठ चन्द्रमा (हृष्ट्यपेक्षया), सर्वकनिष्ठ भूपिण्ड, इन पाँचों प्रजापुत्रों के क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद -ये पाँच चरमाव ही मूलाधार हैं, जैसाकि दर्शपूर्णमासरहस्यात्मक सुप्रसिद्ध-'कामप्र' नाम की यज्ञविद्या के-"स प्राणोऽभवत्" (स्वयम्भू),-स आपोऽभवत् (परमेष्ठी), स वागभवत (सूर्य्य)-"अन्नाद एवान्यतरोऽभवत् (भूपिण्ड), अन्नमन्यतर. (चन्द्रमा)। ता वा एता पञ्च देवता एतेन कामप्रेण यज्ञेन-अयजन्त" (शत० ११।१।६ ब्राह्मण) इस महान् रहस्यपूर्ण सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है। यही 'कामप्र' (कामपूरक) यज्ञ अन्यत्र 'सर्वमेधयज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि 'विश्वदानियज्ञ'-'विश्वजिद्यज्ञ'-'सर्वहुतयज्ञ' आदि नामों से भी उपवर्णित है। सुनते हैं-स्वयम्भू ब्रह्मने घोरघोरतमा तपश्चर्य्या की, तपश्चर्य्या के बल पर इन्होंने अपने आप को प्राणादि पञ्चभावों में परिणत भी कर लिया।

२६२-तपोभाव से अनन्तभावकी अनुपलब्धि, एवं आनन्त्य की प्राप्ति के लिए स्वयम्भू का ससृष्टि मे अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश—

इस पञ्चावयवता से विश्वस्वरूप भी अभिव्यक्त हो गया। किन्तु इस तपोभाव से स्वयम्भू प्रजापति को अनन्तभावात्मिका वह 'सर्वता' उपलब्ध न होसकी, जिस सर्वता-पूर्णता के लिए इन्होंनें तपश्चर्य्या की थी। अतएव अन्ततोगत्वा प्रजापति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, केवल तप से ही काम नहीं चल सकता। केवल तप ही तबतक आनन्त्यरूपा परिपूर्णता का कारण प्रमाणित नहीं हो सकता, जबतक कि तप से उत्पन्न पदार्थों के साथ स्वय का, तथा स्वय के साथ पदार्थों का अन्तर्य्यामसम्बन्ध नहीं हो जाता। तप से उत्पन्न वस्तु में उत्पादक के आत्मा का प्रवेश अनिवार्य्य है, तो उत्पन्न पदार्थों का प्रवेश उत्पादक में भी अनिवार्य्य है।

२६३-सृष्टि में प्रविष्ट हुए बिना स्रष्टा की अपूर्णता-रिक्तता, एवं-'तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्' का आचारात्मक समन्वय—

ऐसा पारस्परिक आदानविसर्गात्मक आहुति-आहुतिग्राहक-सम्बन्ध हुए बिना तपश्चर्य्या उसीप्रकार व्यर्थ ही चली जाती है, जैसे कि मानव मानवों का श्रम-परिश्रम-तप -अध्यवसाय-स्वाध्याय-अर्थोपार्ज्जन-आदि

आदि समस्त पौरुष तत्फलों-सर्गों से तटस्थ बन जाने मात्र से सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित होता रहता है। सृष्ट का स्रष्टा में, एवं स्रष्टा का सृष्ट में प्रवेश ही तप की परिपूर्णता है। इस पारस्परिक अन्तर्य्याम-समन्वय के अभाव से ही तो निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से श्रम-परिश्रम करने वाले भी तो भारतराष्ट्र के प्रवर्ग्यों का अन्य नैष्ठिक ही भोग करते चले जा रहे हैं, और यह स्वयं प्रवर्ग्य की आहुति से कल्पित-भावुकतापूर्ण-उदारता के आवेश में आकर, भावुकतापूर्ण आतिथ्यविमोहन में आकर 'परोपकारी' ही बनता आ रहा है।

२६४-सृष्टि से तटस्थ प्रजापति की शून्यता, एवं प्रजापति का उद्बोधन—

वही स्थिति आरम्भ में प्रजापति की हुई होगी। स्वयम्भू के महान् तप से आविर्भूत परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-उसीप्रकार स्वतन्त्र ही होंगे आरम्भावस्था में, जैसे कि आज के भारतीय भावुक हिन्दूमानव का स्वयम्भुस्थानीय अव्यक्तात्मा, स्वविभूतिरूप परमेष्ठिस्थानीय **महानात्मा (सत्त्व)**, सूर्य्यस्थानीय **विज्ञानात्मा (बुद्धि)**, चन्द्रस्थानीय **प्रज्ञानात्मा (मन)**, एवं भूस्थानीय **भूतात्मा (शरीर)**, चारों हीं इस की स्वदर्शनात्मिका आत्मनिष्ठा (स्वायम्भुवी निष्ठा) से पृथक् होकर परदर्शनमूलक बाह्य क्षेत्रों में हीं विभक्त-उपयुक्त हो रहे हैं। फलस्वरूप इस अपरिपूर्णता से तप-श्रम-परिश्रम करता हुआ भी भारतीय-भावुक हिन्दूमानव अपने इन प्रवर्ग्यभावों से सब का पालन-पोषण-भरण-सम्भरण करता हुआ भी स्वस्वरूप से उत्तरोत्तर हीन हीं प्रमाणित होता जा रहा है।

२६५-त्याग-तपस्या-बलिदान-भावों का आचारात्मक दृष्टिकोण—

स्वयम्भू प्रजापति की भी वही दशा हो जाती, यदि वे भी इस भ्रान्त भावुक भारतीय हिन्दूमानव की भाँति कोरे तप, त्याग-बलिदान के ही गुणगान करते रहते तो। किन्तु अपने तप-त्याग-बलिदानात्मक-प्रवर्ग्य भागों से परमेष्ठ्यादि विभूतियों को उत्पन्न करते ही प्रजापति तत्काल इस निर्णय पर पहुँच ही तो गए कि,-केवल इस तप से ही आनन्त्य, किंवा सर्वता-परिपूर्णता सम्भव नहीं है। तत्काल तप-त्याग-बलिदानादि का व्यामोहन समाप्त कर प्रजापति ने इन सबको अपनी आत्मसीमा में आहुत-प्रतिष्ठित कर लिया, एवं स्वयं इन के अणु अणु में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट हो गए। यही प्रक्रिया सर्वहुतयज्ञात्मक **सर्वमेधयज्ञ** कहलाया। इसी से प्रजापति पाँच न रह कर एक ही विश्वमूर्त्ति परमप्रजापतिरूप में परिणत होगए। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> ब्रह्म वै स्वयम्भु-तपोऽतप्यत। तदैक्षत-'न वै तपस्यानन्त्यमस्ति'। हन्त-'अहं भूतेषु-आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। तत्सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि-सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं-पर्य्यैत्। स वा एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा वै विराट्। विराड् कृत्स्नमन्नम्।
>
> —शत० १३।७।१।१,२,।

२६६–मर्त्या विश्वत्रयी, एवं तदनुप्राणिता-'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्मत्रयी' का स्वरूप-समन्वय, तथा अष्टम मन्त्रार्थ का संस्मरण—

उक्त विवेचन के माध्यम से पञ्चपर्वा विश्व के सम्बन्ध में हमें तीन पृथक्-पृथक्-संस्था-विभागों की ओर स्वत ही आकर्षित होजाना पड़ा, उसी प्रकार, जैसे कि षोडशीप्रजापति के पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, इन तीन विवर्त्तों में प्रत्येक में एक तो समष्ट्यात्मक संस्थाविभाग, एव दो व्यष्ट्यात्मक संस्थाविभाग, या सम्भूय तीन तीन अवान्तर संस्थाविभाग सम्पन्न होजाते हैं [देखिए पृ०सं० २४७ की तालिका]। [1]स्वयम्भू-और [2]परमेष्ठी, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही मनोमय अमृतलक्षण 'तप' है। मध्यस्थ अमृतमृत्युरूप [3]सूर्य्य का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही प्राणमय 'ज्येष्ठ' है। सर्वान्त के [4]चन्द्रमा, और [5]भूपिण्ड, इन दोनों का एक स्वतन्त्र मृत्युप्रधान विभाग है। यही वाङ्मय 'ब्रह्म' है। इसप्रकार स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्त पञ्चपर्वा एक विश्व में समष्टिरूप से तप ज्येष्ठ-ब्रह्म नामक तीनों मन-प्राण-वाग्-मात्रा का अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर प्रतीकत्वेन उपभोग हो रहा है। अब व्यष्ट्यात्मक दोनों संस्थाविभागों का समन्वय कीजिए। स्वयम्भू तप है, परमेष्ठी ज्येष्ठ है, अमृतप्राणरूप हिरण्मयसूर्य्य [अमृत-सूर्य्य] ही ब्रह्म है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। यही व्यष्ट्यात्मक दूसरा विभाग है। मर्त्यसूर्य्यपिण्ड अब तप स्थानीय है, मर्त्यचन्द्रमा ज्येष्ठ स्थानीय है, एव मर्त्यभूपिण्ड ब्रह्म स्थानीय है। यही तीसरा विभाग है। इसप्रकार दृष्टिकोणभेद से पञ्चपर्वा एक ही विश्व में तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म भावों के तीन विवर्त्त होजाते हैं। ये तीनों ही विवर्त्त, एव तीनों विवर्त्तों के तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म भाव षोडशीप्रजापतिरूप महेश्वरात्मक काल में ही प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षररूप:-षोडशीप्रजापतिर्म्महेश्वरो महाकाल:-तत्रैव कालवृक्षो तप:-ज्येष्ठं-ब्रह्म-समाहितम्-

कालवृक्षमिदं विश्वाधारभूतम्

१	१–प्राणमय: स्वयम्भू: [ब्रह्मा] २–आपोमय: परमेष्ठी [प्राजापत्य:]	-मन:–तप: [अव्ययप्रतीकौ]	-समष्टि: [१]
२	३–वाङ्मय: सूर्य्य: [इन्द्र:]	-प्राण:-ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतीक:]	
३	४–अन्नमयश्चन्द्रमा: [सोम:] ५–अन्नादमयो भूपिण्ड: [अग्नि:]	-वाक्–ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतीकौ]	

१–स्वयम्भू:—मन:—तप: [अव्ययप्रतिनिधि:] २–परमेष्ठी—प्राण:–ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतिनिधि:] ३–अमृतसूर्य्य:-वाक्—ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतिनिधि:]	-व्यष्टि: [२]

१–मर्त्यसूर्य्य:—मन:—तप: [अव्ययप्रतिनिधि:] २–मर्त्यचन्द्रमा:-प्राण:-ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतिनिधि:] ३–मर्त्यभूपिण्ड:-वाक–ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतिनिधि:]	-व्यष्टि: [३]

कालवृक्षमिदं विश्वाधारभूतम्

कालवृक्षमिदं विश्वाधारभूतम्

तदित्थं-त्रिपुरुषपुरुषात्मके-महाकाले प्रजापतौ-एव समष्टि-व्यष्टि-रूपेण-विश्वपर्वाण्य-धिष्ठितानि प्रतिष्ठितानि-समाहितानि--तपः--ज्येष्ठं ब्रह्म-रूपाणीति--अनुगमो भवति--

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।
इति-साधु सगच्छते--

२६७--तपोज्येष्ठब्रह्म-समन्वित महामायी षोडशी-प्रजापति, एवं उसके काल-यज्ञ-रूप की महिमा--विवर्त--

महामायावृत्तात्मक महाकाल से सीमित अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मक मन-प्राणवाङ्मय-तपोज्येष्ठब्रह्म समन्वित षोडशीप्रजापति मायी महेश्वर के ही पञ्चपर्वा विश्व से सम्बद्ध मन प्राणवाङ्मय तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों का विचार प्रक्रान्त है। इस विश्व की दृष्टि से हमने षोडशीप्रजापति को ही 'काल' कहा है, जबकि स्वयं इस षोडशीप्रजापति की दृष्टि से इसके सीमाबलात्मक महामायावृत्त को 'काल' कहा गया था। वहाँ यज्ञपुरुष यह षोडशीप्रजापति था, कालपुरुष महामायावृत्त था। अब यहां [विश्वदृष्ट्या] वहाँ का यज्ञपुरुष सर्व षोडशी-प्रजापति कालपुरुष है, तो स्वयं पञ्चपर्वा विश्व सर्वहुतयज्ञात्मक सर्वमेध नामक यज्ञपुरुष बन रहा है। इस दृष्टि से पूर्व पूर्व भाव कालपुरुष बनता जाता है, एवं उत्तरोत्तरभाव यज्ञपुरुष प्रमाणित होता जाता है। सर्वादिभूत महतोमहीयान महामायावृत्तात्मक कालपुरुष, तथा सर्वान्तभूत हृदयरूप अणोरणीयान् महामायावृत्तात्मक कालपुरुष, इस आद्यन्त के अवारपारीण, महिमा-अणिमामय-महाकाल के गर्भ में प्रतिष्ठित सभी आत्म-विश्व-विवर्त पारस्परिक पूर्वोत्तरभावों के अनुबन्ध से काल भी हैं, यज्ञ भी हैं, जो कालात्मक, तथा यज्ञात्मक सभी वृत्तमध्यस्थ विवर्त आद्यन्त के महाकाल की दृष्टि से यज्ञात्मक ही बन रहे हैं।

२६८--'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' मूलक काल से काल की उत्पत्ति का समन्वय--

अतएव महाकालसीमा में भुक्त-प्रतिष्ठित बड़े-छोटे सभी सापेक्ष काल-यज्ञ-विवर्त यज्ञात्मक ही प्रमाणित होरहे है। इसी सापेक्षस्थिति का-'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' [यजुसंहिता] इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसका अर्थसमन्वय यही है कि-'महामायात्मके महाकाले प्रतिष्ठितेन पूर्वभागात्मककालेन उत्तरभागात्मकयज्ञमेव अयजन्त देवा'। 'यज्ञेन' काल है, एवं 'यज्ञ' यज्ञ है, क्योंकि पूर्वकाल का व्यक्तोत्तररूप होने से तत्त्वतः काल के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। अतएव 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' का इस कालव्याप्ति-दृष्टि से यह भी समन्वय सम्भव है कि-'कालेन कालमयजन्त', जिसका अर्थसमन्वय होगा-'आधारभूतेन पूर्वयज्ञेन आधेयभूत-उत्तरयज्ञमयजन्त'। इन उभयविध सापेक्षकाल-भावों, किंवा सापेक्ष यज्ञभावों [आत्मयज्ञ, तथा विश्वयज्ञभावों] का आधारभूत महतोमहीयान्-अणोरणीयान-महामायावृत्तात्मक वह निरपेक्ष महाकाल तो अपनी इस निरपेक्षता से परात्परवत कालातीत ही बना रहता है। कालातीतरूप महाकाल, और कालातीत परात्पर वस्तुतः एक ही वस्तुतत्त्व है, जिसका 'इदमित्थमेव' रूपेण समन्वय कर लेने में मानवप्रज्ञा को तो कुण्ठित ही माना जायगा। उस कालातीत-महामायामय महाकाल में प्रतिष्ठित सापेक्षकाल [पूर्वभावात्मक आत्मभाव] को ही उत्पादककाल कहा गया है, एवं उत्तर-

भावात्मक विश्वरूप-यज्ञ को उत्पीड़ित काल माना गया है। आत्मप्रेरणा से, मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति से उत्पीड़ित चरात्मक विश्व ही संघर्षमूला स्वस्वरूपस्थिति का कारण बन रहा है।

२६९–'काल' से-'यज्ञ' का उत्पीड़न, एवं काल में प्रतिष्ठित तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों का स्वरूप-समन्वय–

राजर्षि मनु ने '**कालं कालेन पीड़यन्**' इत्यादि आर्षवचन का-'**यज्ञं कालेन पीड़यन्**'-किंवा-'**पूर्वयज्ञेन कालात्मकेनात्मरूपेण-उत्तरयज्ञं-कालात्मकं विश्वरूपं पीड़यन्**' यही अर्थसमन्वय है। प्रेरककाल, एवं प्रेरितकाल, दोनों यज्ञात्मक हैं, सापेक्षकालात्मक हैं, दोनो ही प्राकृतभाव हैं, विश्वानुबन्धी हैं, क्षोभमय हैं, जबकि इन सब सापेक्षभावों का आधारभूत निरपेक्ष कालातीत [अपेक्षातीत] महामायात्मक महाकाल परात्परवत् सर्वथा शान्त-अद्वय-संघर्ष-क्षोभरहित ही बना हुआ है–**तस्मै कालात्मने नमः, तदाधारप्रतिष्ठिताय सापेक्षकालपुरुषाय, यज्ञपुरुषाय च कालरूपायैव नमोनमः। इति नु सर्व काल एव। काले प्रतिष्ठितं तपः–ज्येष्ठं–ब्रह्म–सर्वमपि काल एव। काले एव एते कालभावाः प्रतिष्ठिताः, इति काल एव काल–प्रतिष्ठा, इति–'तदु तस्मिन प्रतिष्ठितम्'।**

२७०–मायात्मक वृत्तभाव का स्वरूप--परिचय, तदनुबन्धी विविध बलभाव, तदभिन्न लेखात्मक पुरभाव, एवं वृत्तों से आवृत 'विश्ववृत्त' का समन्वय—

उक्त निवेदन से प्रकृत में हमें यही कहना था कि, निरपेक्ष काल का पारिभाषिक नाम जहाँ '**महामाया**' है, वहाँ सर्ग–प्रतिसर्गानुबन्धी सापेक्ष–काल का पारिभाषिक नाम है–'**योगमाया**', जिसका– '**इन्द्रो मायाभिः पुररूप इयते**' (ऋक्संहिता) इत्यादि से यशोगान हुआ है। निरपेक्षकालात्मिका महामाया निरपेक्ष एकत्वमूला बनती हुई जहाँ एक ही है, अद्वितीय ही है, वहाँ सापेक्षकालात्मिका योगमाया अपेक्षानन्त्य से अनन्त असंख्य है। अतएव श्रुतिने '**मायाभिः**' कहा है इसके लिए। इसी सापेक्षा योगमाया से पुररूप आकृतिभावों का धारावाहिकरूप से उदय होता रहता है, जिस धारावाहिकता का मूल योगमायानुबन्धी '**धाराबल**' ही माना गया है, जो '**आपः–जायाः–धाराः**' रूप से गोपथारम्भ में हीं विस्तार से व्याख्यात है। '**लेखा हि पुरम्**' के अनुसार रेखात्मक वृत्त का नाम ही रेखा–लेखा–रूप पुरभाव (सीमाभाव) है, और यही लेखात्मक वृत्तपुर सापेक्षभावापन्ना योगमाया है, जो अपनी धाराबलानुगता परम्परा से अन्ततोगत्वा 'पुर' रूप में परिणत हो रही है। समष्टि–व्यष्ट्यात्मक पदार्थों का स्वरूप इस 'पुरभाव' से अतिरिक्त और कुछ भी तो नही है। जिसे लोक में आकृति–आकार–सीमा–कहा जाता है, वही छन्द है, वृत्त है, रेखा है, लेखा है। महावृत्त में छोटा वृत्त, तद्गर्भ में पुनः-छोटावृत्त, इसप्रकार कदलीस्तम्भात्मक पुर की भाँति–**ज्यों कदली के पात में पात, पात में पात**' रूपेण * धारावाहिक वृत्तपरम्पराओं, मायावृत्तपरम्पराओं से ही तो आकृतिमूलक वस्त्वाकार आविर्भूत है। यही वृत्तकाल है. जो पूर्वरूप से काल है, उत्तररूप से यज्ञ है। काल

---

*-ज्यों पण्डित की बात में बात, बात में बात। (व्यवच्छेदो हि पाण्डित्यम्, इति हि निष्कर्षः)।

भी पुर (वृत्त) ही है, यन भी पुर ही है। 'वृत्तं वृत्तो वृत सन्' ही विश्व पदार्थों की स्वरूप-परिभाषा है। यही काल की कालात्मिकानुबन्धिनी यज्ञशरीरात्मिका सर्वव्याप्ति है, जिसका साक्षी माना गया है केन्द्रावच्छिन्न महदक्षरप्राण, एवं मध्यस्थ इन्द्र। इसी को लक्ष्य बना कर-'इन्द्रो-मायाभिः पुरुरूप ईयते' का समन्वय हुआ है।

२७१-महामायानुगता योगमाया, तदनुबन्धी मोह, एवं मोहाविष्ट महेश्वरात्मा—

हाँ, तो अनाद्यनन्तन महामायारूप कालातीत महाकाल से युक्त सापेक्ष अवान्तर-सीमित-वृत्त का नाम ही 'योगमाया' है, जिससे सीमित है, कृतरूप है सापेक्ष प्रजापति (विश्वविशिष्ट आत्मन्वी प्रजापति)। महामाया जहाँ सर्वेश्वर की सीमा है, वहाँ योगमाया विश्वेश्वर की सीमा बन रही है। सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का अधिष्ठाता महामायी महेश्वर है, एवं एक वल्शात्मक एक विश्व का अधिष्ठाता योगमायी विश्वेश्वर है। सहजभाषा में-सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का अधिष्ठाता महाषोडशी महामायी है, एवं एक वल्शात्मक पञ्च-पुण्डीर विश्व का अधिष्ठाता विश्वषोडशी योगमायी है। महामायी महेश्वर महामायात्मक महाकाल से अनुप्राणित रहता हुआ जहाँ कालात्मक है, वहाँ योगमायी स्वायम्भुव विश्वेश्वर योगमायात्मक यज्ञरूप काल से अनुप्राणित रहता हुआ यज्ञात्मक है। यज्ञ ही विष्णु है, यही 'हरि' तत्त्व है, यही योगमायामय है, जिस इस विष्णुमाया-हरिमायारूपा-योगमाया के उदित होने से ही यज्ञात्मक-साञ्जन-सावरण-परिग्रहात्मक विश्व का मूर्तरूप अभिव्यक्त हो पड़ता है, जो कि मूर्तभाव उस उमत्त ममेश्वरात्मा का आवरक बनता हुआ 'मोह' नाम से प्रसिद्ध है—

> "योगमाया हरेश्चैतत्-तया संमोह्यते जगत्।
> ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
> बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति (योगमायारूपेण)" ॥

२७२-महाकालात्मक महामायावृत्त, कालात्मक योगमायावृत्त, एवं तदनुगत कालिक विश्व—

निरपेक्षा महामाया के ही सापेक्ष विवर्त का नाम योगमाया है। अतएव मोहप्रवर्त्तिका योगमाया (विश्वमाया) को 'महामाया' भी कहा जा सकता है। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का महाकाल महामायावृत्त है, तो एक वल्शात्मक स्वायम्भुव विश्व का महाकाल योगमायावृत्त है। महामाया-वृत्त से सीमित महामायी-महेश्वर षोडशी है, तो योगमायावृत्त से सीमित विश्वेश्वर षोडशी है। वह महामायी महेश्वरषोडशी ही यहाँ आकर योगमायानुबन्ध से इस पञ्चपुण्डीर विश्व का आधार बन गया है, एतावता ही हमने 'षोडशीप्रजापति' को इस विश्व का आधारभूत 'काल' मान लिया है, जो मान्यता 'योगमाया' त्मक सापेक्षकालानुबन्ध से सर्वथा समन्वित है। उस महाषोडशी का आधार काल महामाया है, एवं इस विश्व का आधार काल उस महामायी षोडशी का ही योगमायात्मक स्वरूप है, इस सुसूक्ष्म समन्वय को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें विश्वानुबन्धी आधारकाल का समन्वय करना चाहिए अपने प्रज्ञाक्षेत्र में ही।

२७३-समष्ट्यात्मक कालिक विश्व के पञ्चधा विभक्त व्यष्टिभाव—

योगमायी कालात्मक विश्वेश्वर षोडशी उस महामायी महाकालात्मक (किन्तु तत्संस्था-दृष्टि से यज्ञात्मक ही) महेश्वर का ही एकांशरूप है। अतएव वही मनःप्राणवाङ्मय-अव्ययाक्षरात्मक्षरसंस्थान इस विश्वेश्वर षोडशी में यथावत् समन्वित है समष्टिरूप से। इसी समष्टि की **स्वयम्भूः-परमेष्ठी-सूर्य्यः-चन्द्रमाः-भूः-**रूप पाँच व्यष्टियाँ हैं। फलतः उस समष्टि के आगे चल कर ये पाँच व्यष्टिविवर्त्त होजाते हैं उसी क्रमानुपात से, जिस क्रमानुपात का **'मनोता'** रूप से वेदशास्त्र में समन्वय हुआ है। पूर्व में जिन तीन समष्टि-व्यष्टि भावों का (१ समष्टि, २ व्यष्टियों का) दिग्दर्शन कराया गया है [देखिए पृ० सं० २६१ की तालिका], उस से प्रस्तुत दिग्दर्शन सर्वथा विभिन्न दृष्टिकोण से ही अनुप्राणित माना जायगा। उसी का मनोतानुबन्ध से दो शब्दों में अत्र सस्मरण कर लिया जाता है।

२७४-ब्रह्ममाया-विष्णुमाया-शिवमाया-त्रयी का तात्त्विक स्वरूप-परिचय—

स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्डपर्य्यन्त योगमायावच्छिन्न एक विश्व है। इस दृष्टि से एक योगमाया है। इसी दृष्टि से एक ही योगमायी षोडशी विश्वेश्वर उपभुक्त है इस एक योगमायी विश्व में, जिसके स्वयम्भू-परमेष्ठी का एकयुग्म मनोमय-अव्यय से, सूर्य्य प्राणमय अक्षर से, एवं चन्द्र-भूपिण्ड-युग्म वाङ्मय क्षर से समन्वित है। इसी दृष्टि से दो व्यष्टिरूप भी समन्वित है स्वयम्भू (अव्यय -परमेष्ठी (अक्षर)-अमृतसूर्य्य (क्षर) रूपेण, एवं मर्त्यसूर्य्य (अव्यय), चन्द्रमा (अक्षर), भूपिण्ड (क्षर) रूप से। इन पूर्वप्रदर्शित तीन विवर्त्तों के अतिरिक्त दूसरे मनोता-दृष्टिकोण से एक ही योगमाया-विवर्त्त के अक्षरप्रकृति के पाँच अक्षरों के अनुबन्ध से पाँच योगमाया-विवर्त्त सम्पन्न हो रहे हैं, जो पाँचो प्रकृतिपर्व, किंवा एक ही प्रकृति के पाँच पर्व अपना अपना स्वतन्त्र संस्थान रख रहे हैं अपने अपने **आत्मा-पदं-पुनःपदम्**-रूप मनोताभावों से। ये पाँचों योगमायाएँ ही क्रमशः **ब्रह्ममाया**[1] (**स्वायम्भुवी योगमाया**), **विष्णुमाया**[2] (**पारमेष्ठ्या योगमाया**), **इन्द्रमाया**[3] (**सौरी योगमाया**), **सोममाया**[4] (**चान्द्री योगमाया**), **अग्निमाया**[5] (**पार्थिवी योगमाया**), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्द्र-सोम-अग्नि-तीनों की समष्टि का नाम ही त्रिनेत्र (सूर्य्य-चन्द्र-अग्निरूप त्रिनेत्र) मूर्त्ति शिव है। अतएव पुराणने इन्द्र-सोम-अग्नि (सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी)-इन तीनों मायाओं की समष्टि को **'शिवमाया'** नाम से व्यवहृत कर लिया है। वैदिक पञ्चाक्षरमूलक पञ्चदेवतावाद, किंवा पञ्चमायावाद * ही पौराणिक त्रिदेवतावाद, किंवा त्रिशक्तिवाद है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१-स्वायम्भुवी—ब्रह्ममाया—ब्रह्माणी (ब्रह्माक्षरः) }—ब्रह्ममाया (१)

२-पारमेष्ठ्या—विष्णुमाया-वैष्णवी (विष्णवक्षरः) }—विष्णुमाया (२)

---

*-**पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः** (श्वेताश्वतर)

३–सौरी———इन्द्रमाया–इन्द्राणी (इन्द्राक्षर)
४–चान्द्री———सोममाया–हैमवती उमा (सोमाक्षर) —शिवमाया (३)
५–पार्थिवी———अग्निमाया–रुद्राणी (अग्न्यक्षर)

२७५-मायात्रयी से अनुप्राणित पञ्चपर्वा विश्व के मनोता-विवर्त, एवं–'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति का तात्त्विक समन्वय—

उक्त पांचों विश्वपर्व (प्रत्येक) मनोतानुबन्ध से त्र्यात्मक बनते हुए मनःप्राणवाङ्मय हैं। अतएव प्रत्येक पर्व मन प्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापति की महिमा से समन्वित होता हुआ तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–रूप बन रहा है। प्रत्येक का आधारकाल योगमायात्मक छन्द है। और इसप्रकार इन पांच व्यष्टियों की दृष्टि से पांच सम्स्थान बन रहे हैं तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–मायी के। **'तिस्रो वै देवाना मनोता । तासु हि तेषा मनांस्योतानि'** [ऐतरेयब्रा० २।१०] के अनुसार जिन प्राणात्मक तत्त्वों के आधार पर जिन पदार्थों के मनस्तन्त्र [मन-प्राणवाक्तन्त्र] परस्पर समन्वित रहते हैं, जिनके माध्यम से ही तत्पदार्थ के मनोभाव स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं, उन मन प्राणवाग्भावों के अभिव्यञ्जक तत्त्वों को ही **'मनोता'** कहा गया है। मन त्रिवृत है, अतएव मनःप्राणवाङ्मय है। मनोता भी मन–प्राण–वाग्–भेद से तीन ही होजाते हैं। तीनों मनोता क्रमशः मन–प्राण–वाङ्मय–बनते हुए तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्मात्मक बने हुए हैं। तीनों का आधार स्व स्व पर्वानुगत योगमायात्मक–योगमायावच्छिन्न मनःप्राणवाङ्मय पर्वेश्वर षोडशी ही बन रहा है, जो इन पांचों प्राकृतभावों के अनुबन्ध से क्रमशः **स्वायम्भुव–सत्यात्मा षोडशी, पारमेष्ठ्य ऋतात्मा षोडशी, सौर देवात्मा षोडशी, (इन्द्रात्मा षोडशी), चान्द्र–देवयोन्यात्मा षोडशी, पार्थिव भूतात्मा षोडशी,** इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। प्रकृत में केवल तालिका के माध्यम से इन पञ्चव्यष्टिविवर्तों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिनके रहस्यात्मक समन्वय के लिए तो छान्दोग्यश्रुति के इस रहस्यपूर्ण वचन का ही चिन्तन–मनन करना चाहिए—

> **यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।**
> **यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥**

—छान्दोग्य–उपनिषत् २।२१।४।

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्ति –'सत्यात्मा'–उपेश्वरषोडशी ब्रह्ममायी–काल –तत्र तपो–ज्येष्ठं ब्रह्म च समाहितम्

स्तोमाः	१–वेदाः	स्वायम्भुवी मनोतात्रयी	मन —तप —अव्ययानुगतम्	(सत्यात्मा-अधिदैवतम)	[illegible]
	२–सूत्रम्		प्राण —ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम	स्वयम्भू —ब्रह्मा(१)	
	३–नियतिः		वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्	(अव्यक्तात्मा-अध्यात्मम्)	

[illegible]

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः—'ऋतात्मा'—उपेश्वरषोडशी—विष्णुमायी—कालः—तत्र तपो ज्येष्ठं ब्रह्म च समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्

१—भृगुः
२—अङ्गिरा
३—अत्रिः

पारमेष्ठ्या मनोतात्रयी

मनः—तपः—अव्ययानुगतम्
प्राणः—ज्येष्ठम्—अक्षरानुगतम्
वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्

(ऋतात्मा—अधिदैवतम्)
परमेष्ठी | विष्णुः (२)
(महानामा—अध्यात्मम्)

स्तौऽयमिदम्

कालवृत्तमिदं—योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः—'देवात्मा'—उपेश्वरषोडशी—इन्द्रमायी—कालः—तत्र तपो ज्येष्ठं—ब्रह्म च समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्

१—वायुः
२—ज्योतिः
३—गौः

सौरी मनोतात्रयी

मनः—तपः—अव्ययानुगतम्
प्राणः—ज्येष्ठम्—अक्षरानुगतम्
वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्

(देवात्मा—अधिदैवतम्)
सूर्य्यः | इन्द्रः (३)
(विज्ञानात्मा—अध्यात्मम्)

यशोऽयमिदम्

कालवृत्तमिदं—योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः—'देवयोन्यात्मा'—उपेश्वरषोडशी—सोममायी—कालः—तत्र तपो—ज्येष्ठं—ब्रह्म च—समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्

१—श्रद्धा
२—यशः
३—रेस

चान्द्री मनोतात्रयी

मनः—तपः—अव्ययानुगतम्
प्राणः—ज्येष्ठम्—अक्षरानुगतम्
वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्

[देवयोन्यात्मा—अधिदैवतम्]
चन्द्रमाः— | सोमः [४]
[प्रज्ञानात्मा—अध्यात्मम्]

पोषोऽयमिदम्

कालवृत्तमिदं—योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः—'भूतात्मा'—उपेश्वरषोडशी—अग्निमायी—कालः—तत्र तपो—ज्येष्ठं—ब्रह्म च समहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्

१—द्यौः
२—गौः
३—वाक्

पार्थिवी मनोतात्रयी

मनः—तपः—अव्ययानुगतम्
प्राणः—ज्येष्ठम्—अक्षरानुगतम्
वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्

भूतात्मा—अधिदैवतम्
भूपिण्डः | अग्निः [५]
[शरीरम्—अध्यात्मम्]

श्रवस्वाऽयमिदम्

कालवृत्तमिदं—योगमायात्मकम्

२७६-अष्टम मन्त्रानुगत तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप-विभिन्न विवर्तों का संस्मरण—

मन्त्रानुगता तत्त्वमीमांसा उपरत हुई व्यष्टयात्मक-पञ्चपर्वा-मनोतात्रयीरूप-पाँच सस्थानविभागों के निदर्शन के साथ। अब उस आचारमीमांसा की ओर कालप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिस आचार का 'वर्त्तमानकालात्मक 'आगतकाल' से ही सम्बन्ध माना गया है, जब कि तत्त्वमीमांसा के मुख्य आधारबिन्दु अतीतात्मक भूतकाल, तथा अनागतात्मक भविष्यत्काल ही बने रहते हैं। महामाया से आरम्भ कर पञ्चयोगमाया-विवर्त्तों में से सर्वान्त के भूपिण्डात्मक विवर्त्त पर्यन्त काल के, तथा तत् प्रतिष्ठित तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी के जितने भी विवर्त्त यथाक्रम-यथास्थान अबतक समन्वित हुए हैं, वे सभी कालविवर्त्त हमारी (मानव की) आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से तटस्थ-परोक्ष बने रहते हुए केवल ज्ञानव्य ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनका मानव की आचारात्मिका-वर्त्तमानकालानुगता-कर्त्तव्यनिष्ठा में साक्षात्-रूप से कोई उपयोग नहीं है। अतएव इस वर्त्तमान-आचारपद्धति की अपेक्षा तो अबतक निरूपित सभी कालविवर्त्त भूतकाल, अथवा तो भविष्यत्काल में ही अन्तर्भूत हो रहे हैं।

२७७-पञ्चविध उपेश्वरकाल, तदनुगता तपो-ब्रह्म-ज्येष्ठ-त्रयी, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मिका जिज्ञासा—

बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव अवधानपूर्वक समझने जैसी। महामायावच्छिन्न-महामायी-सहस्रवल्शाधिष्ठाता महेश्वर से सम्बन्ध रखने वाला **महेश्वरकाल**, पञ्चपुण्डीरा एकप्राजापत्यावल्शा के अन्यतम-समष्टि योगमायावच्छिन्न योगमायी-एकवल्शाधिष्ठाता-विश्वेश्वर से सम्बन्ध रखने वाला **विश्वेश्वरकाल**, तथा एकवल्शेश्वर के एक योगमायावृत्त में समाविष्ट ब्रह्ममायादि पाँच व्यष्टिमायात्मिका योगमायाओं से अवच्छिन्न-पञ्चधा विभक्त-उपेश्वरों से सम्बन्ध रखने वाले **स्वयम्भूकाल-परमेष्ठीकाल-सूर्यकाल-चन्द्रकाल-भूकाल**, ये पाँच उपेश्वरकाल, इनमें से कोई सा भी काल, एवं कालावच्छिन्ना तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-विभूतियाँ मानवीय ऐहिक-वर्त्तमान जीवन का साक्षात्रूप से कोई उपकार-अपकार नहीं कर रहीं। अतएव आचारात्मक कर्त्तव्य की दृष्टि से तो अबतक के सभी कालविवर्त्त, तथा तदवच्छिन्न कालिक विवर्त्त सर्वथा भूत-भविष्यत्-काल ही प्रमाणित हो रहे हैं। मानव के वर्त्तमान जीवन की तुष्टि-पुष्टि-शुद्धि, और समृद्धि का तो एकमात्र 'आगतकालात्मक वर्त्तमानकाल' से ही सम्बन्ध है। वर्त्तमानकालात्मक आगतकाल से ही अस्मदादि पार्थिव-प्रजाएँ-'नन्दन्ति', जैसा कि पूर्व के-"कालेन सर्वा नन्दन्ति-आगतेन प्रजा इमाः" इत्यादि सातवें मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। तत्य चैतत्।

२७८-अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष-भेदभिन्न 'समय' नामक आचारात्मक काल की उपयोगिता के माध्यम से तत्त्वात्मक तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप काल के सम्बन्ध में उपयोगितावादी मानव के ऊहापोह—

सत्य चैतत्। जिसे हम अपनी सहज-व्यवहारभाषा में 'समय' कहा करते हैं, जिस समय का परिग्रहण हम 'वर्ष' (वत्स) रूप से करते रहते हैं, जिस वर्ष के उत्तरायण-दक्षिणायन नामक दो अयन पर्व, वसन्तादि षड्ऋतुपर्व, चैत्र-वैशाखादि द्वादश मासपर्व, शुक्ल-कृष्णादि २४ पक्षपर्व, ३६० अह पर्व, ३६० ही

रात्रिपर्व,प्रत्येक अहोरात्र में २४-२४ होरापर्व, मूहूर्त्त-घटिका-क्षण-निमेष आदि आदि पर्व व्यवस्थित-प्रतिष्ठित हैं, जो इत्थंभूत कालिक पर्व ही तिथि-नक्षत्र-वार-दिक्-देश-प्रदेश-आदि आदि सहयोगियों से समन्वित होकर भारतीय आस्तिक-आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठों की सांस्कृतिक-आचारपद्धतियों का, संस्कृतिक-आयोजनों का, संस्कार-धर्म्म-व्रत-यज्ञ-आदि शास्त्रीय कर्त्तव्यनिष्ठाओं का, तथा समाज-राजनीति- आदि लोकाचारों का नियामक-व्यवस्थापक बनता रहता है, अनेकपर्वात्मक सुप्रसिद्ध 'समय' नामक यह वर्षात्मक 'काल' ही हमारे लिए **'वर्त्तमानकाल'** है, यही **'आगतकाल'** है, एवं इसका यथाकाल उपयोग करके ही हम सुसमृद्ध बने रहते हैं, बने रह सकते हैं। जो इस वर्षात्मक ऋतुकाल की उपेक्षा कर केवल अनन्त-आत्मा, अनन्तकाल की घोषणाओं में, तत्-तत्त्वमीमांसाओं की आचारशून्या-दार्शनिक-मीमांसाओं में ही निमग्न बने रहते हैं, आगत-काल से वञ्चित ऐसे तत्त्वमीमांसक ब्रह्मवादी दार्शनिक मानव, तथा कालातिक्रम करते रहने वाले कालभ्रान्त, अतएव दिग्-देश-भ्रान्त दीर्घसूत्री कालद्वेषी लौकिक मानव, दोनों ही वर्ग उभयतोभ्रष्ट ही प्रमाणित हैं।

२७९–तत्त्वकालात्मिका स्वस्थता, एवं आचारकालात्मिका-प्रकृतिस्थता के माध्यम से ऊहापोहों की काल्पनिकता का निराकरण-प्रयास—

वार्षिक-आगतकाल से व्यवस्थिता, नियमिता कालिक व्यवस्था ही मानव के आचारधर्म्म को, इसकी आत्मिक लौकिक-कर्त्तव्यनिष्ठाओं को सुव्यवस्थित बनाती है। इस कालिक-कर्त्तव्यव्यवस्था से ही मानव की कालात्मिका प्रकृति स्वस्वरूप से स्थित बनती है, जिस 'प्रकृतिस्थिति' को ही **'प्रकृतिस्थता'** कहा गया है। यही कालिकी प्रकृतिस्थता मानव को कालान्तर में अनन्तात्ममूला **'स्वस्थता'** प्रदान कर देती है। यों एक-मात्र इस सम्वत्सरकाल की उपासना से, सम्वत्सरकाल की सदुपयोगिता से ही मानव प्रकृतिस्थ बनता हुआ स्वस्थ प्रमाणित हो जाता है, एवं यही इसका जन्मसाफल्य है। कालातीता अनन्तता का एकमात्र माध्यम यह सम्वत्सर काल ही है। जो इस आगतकाल की उपासना नियमपूर्वक करता रहता है,दूसरे शब्दों में जो समय पर समय से समयमर्य्यादया पूर्ण लाभ उठता रहता है, निश्चयेन वह लोकसमृद्धि से तो सुसमन्वित हो ही जाता है। साथ ही वह इसी कालानुबन्धिनी शास्त्रीया आचारनिष्ठा से परम्परया अलौकिक-शान्ति का भी दायादभोक्ता बन जाता है।

२८०–आचारशून्या दार्शनिकता से मानव का अभिभव, एवं तन्निरोधार्थ तपो–ब्रह्म–त्रयी–रूप तत्त्वात्मक काल के आचारपक्ष का समन्वयोपक्रम—

ठीक इसके विपरीत केवल अनन्तात्मचर्व्वणामें व्यामुग्ध बने रहने वाला जो दार्शनिक इस वर्त्तमान-कालात्मक सम्वत्सरकाल की, तद्रूप शास्त्रीय-वर्णाश्रमाचारसिद्ध स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म की अवहेलना कर बैठता है, वैसा आचारशून्य-कर्म्मशून्य * दार्शनिक मानव, तथा सर्वसमृद्धिमूलभूत सम्वत्सरकाल को निद्रा तन्द्रा-भय-क्रोध-आलस्य-दीर्घसूत्रता-कलह-ईर्ष्या-द्वेष-मान-मद-मोह-पिशुनता-आदि अविद्याभावों में ग्रहग्रस्त रहता हुआ उपेक्षित मानता रहता है, वैसा अकर्म्मण्य-भाग्यहीन-कर्म्महीन-भग्नकपाली (करमफूटा)

* राजस्थानी भाषा के अनुसार 'करमफूटा'–'हियाफूटा' (कर्म्मशून्य, हृदयानुगत प्रेरणाबल से वञ्चित)।

प्राकृत मानव, दोनों ही मानवश्रेणियाँ अनन्तकालात्मिका महाप्रलयरूपा महाविराट् के ही समादरणीय, एवं सुसम्मानित अतिथि बन जाते हैं । अतएव केवल तत्त्वमीमांसात्मक महामायात्मक महाकाल से आरम्भ कर भूतकालपर्यन्त के भूत-भविष्यल्लक्षण सभी कालविवर्त्त, तथा कालिक विवर्त्त हमारी कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से तो केवल दूरत प्रणम्य ही बने रहेंगे, बने ही रहते हैं । अतएव यह आवश्यक है कि, हम अपने व्यावहारिक-उपयोगी सम्वत्सरकाल के माध्यम से ही व्यावहारिक ही, आचारात्मक ही काले प्रतिष्ठित समाहित तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म भावों की उपासना में ही प्रवृत्त रहें । इसी दृष्टि से दो शब्दों में काल के, तथा कालप्रतिष्ठित-समाहित तपोज्येष्ठब्रह्म-विभूतियों के व्यावहारिक-आचारात्मक स्वरूप का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन अब उपस्थित कर दिया जाता है ।

२८१–समदर्शनमूलक ऐकात्म्यवाद-सिद्धान्त, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर ईश्वर इन पाँच विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर–, ये पांचों ही शब्द आस्तिक जगत् में सुप्रसिद्ध हैं । एवं समदर्शनमूलक ऐकात्म्यवादसिद्धान्त की दृष्टि से ये सभी शब्द परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय भी माने जा सकते हैं, माने गए हैं । किन्तु प्रकृतिमूलक-नानाभेदभिन्न-विभिन्न-वर्त्तन (व्यवहार-आचरण-कर्त्तव्य) की दृष्टि से परमेश्वर-महेश्वरादि किसी भी शब्द को किसी का भी पर्य्याय नहीं माना जा सकता । अपितु सभी शब्द स्व-स्व-प्राकृतिकी–परिभाषाओं के भेद से सर्वथा विभिन्न–विभिन्न भावों के वाच्यार्थों के ही वाचक बने हुए हैं । सर्वबलविशिष्ट रसैकघन–मायातीत–विश्वातीत–वाङ्मनस-पथातीत-लोकातीत सर्वातीत तत्त्व का नाम ही 'परमेश्वर' है, जिसकी न उपासना होती, न ज्ञान होता । फिर कर्म्म की तो चर्चा ही व्यर्थ है तत्सम्बन्ध में । सहस्रवल्शाधिष्ठाता-अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-अमृत ब्रह्म-शुक्र-समष्टिरूप-सहस्रविश्वाधिष्ठाता-अश्वत्थरूपात्मा-महामायावच्छिन्न-महामायी तत्त्व ही 'महेश्वर' है । इस महेश्वर के एक सहस्र विश्वों में से पञ्चपर्वा केवल एक विश्व के अवारपारीण अयन, 'विश्वकर्म्मा–भौवन' इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध, अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-वल्शेश्वरात्मक-एक शाखात्मक-योगमायावच्छिन्न-योगमायी तत्त्व ही-'विश्वेश्वर' है । इस योगमायी एकवल्शेश्वर-विश्वेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित शाखात्मक एक विश्व के पाँच पुण्डीर (पोर–पर्व) भेद से पञ्चधा विभक्त-पञ्चब्रह्मपुरों के भेद से पञ्चविवर्त्तात्मक-व्यष्टिरूपा पाँच योगमायाओं से सीमित, अव्ययाक्षरात्मक क्षरमूर्त्ति, व्यष्टियोगमायावच्छिन्न, उस एकवल्शेश्वर से सन्निहित रहने से–'उप' (समीप) उपाधि से समलङ्कृत, क्रमश सत्यात्मा–ऋतात्मा–दैवात्मा–देवयोन्यात्मा–भूतात्मा–इन नामों से अधिदैवत में प्रसिद्ध, तथा अव्यक्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा-(बुद्धि)–प्रज्ञानात्मा (मन)-शरीर-इन नामों से अध्यात्म में सुप्रसिद्ध तत्त्व ही 'उपेश्वर' है । परमेश्वर से आरम्भ कर पञ्चोपेश्वरविवर्त्त के सर्वान्त के 'भू' रूप उपेश्वर विवर्त्तान्त के कालविवर्त्तों का ही अबतक के सम्था-विभागों से समन्वय हुआ है । दूसरे शब्दों में–कालातीत परमेश्वर के आधार पर प्रतिष्ठित-महाकालात्मक-महामायी महेश्वरकाल, योगमायी विश्वेश्वरकाल, एवं पुण्डीरयोगमायी-पञ्चोपेश्वरकाल, इन तीन ही भूत भविष्यल्लक्षण कालविवर्त्तों का यशोगान हुआ है अबतक । अब केवल 'ईश्वर' नामक एक कालविवर्त्त ही शेष रह जाता है, जिसके अनन्तर ही जीवात्मक प्रजासर्ग उपक्रान्त हो जाता है, एवं जिस जीवाधारभूत उस पारिभाषिक ईश्वरकालात्मक वर्त्तमानकाल की दृष्टि से अबतक-'काले तप -काले ज्येष्ठ-काले ब्रह्म-समाहितम्' इत्यादि मन्त्र का समन्वय नहीं हो पाया है । तदेव-श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ॥

२८२–'त्रिः सत्या वै देवाः' मूलक आत्मसत्य–ब्रह्मसत्य–देवसत्य, तदनुबन्धी पुरुष-सत्य–प्रकृतिसत्य–विकृतिसत्य, एवं 'सत्यस्य सत्यम्' रूप तुरीयब्रह्म—

वेदशास्त्र का एक प्रसिद्ध अनुगम है–'त्रिः सत्या वै देवाः', जिसका अक्षरार्थ है 'देवता तीन सत्य भावों से समन्वित रहा करते हैं'। अनुगमभावानुबन्धी ये तीन सत्य अनेक (असंख्य) भावों में विभक्त हैं, जिनमें से प्रकृत में सर्वमूलभूत एक त्रिःसत्यविवर्त्त की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है प्रस्तुत कालमीमांसा–प्रसङ्ग में। 'आत्मसत्य–ब्रह्मसत्य–देवसत्य' भेद से प्राजापत्य सत्य तीन विवर्त्त-भावों में परिणत हो रहा है, जिसे क्रमशः पुरुषसत्य–प्रकृतिसत्य–विकृतिसत्य–इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। पूर्वोक्त परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–इन पाँचों विवर्त्तों को लक्ष्य बना कर इन तीनों सत्यों का समन्वय कीजिए। विश्वातीत परात्पर परमेश्वर सर्वातीत बनता हुआ सापेक्षा त्रित्व-मर्य्यादा से भी सर्वथैव असंस्पृष्ट है। अतएव उसे 'तुरीयब्रह्म' ही कहा गया है। वह मायातीत–कालातीत–दिक्कालाद्यनवच्छिन्न-परमेश्वर क्योंकि इन सापेक्ष तीनो सत्यों का भी तटस्थ मूलाधार है। अतएव केवल समझने के लिए उस 'अनाम' का भी नाम रख लिया जाता है–'सत्यस्य सत्यम् *'। अतएव त्रिसत्यसीमा से उस सत्यस्य सत्यमूर्त्ति कालातीत परात्पर परमेश्वर को तो हम पृथक् कर देते हैं। अब शेष रह जाते हैं–'महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर' नामक चार विवर्त्त। इनमें महेश्वर, तथा विश्वेश्वर, इन दोनों की समष्टि का नाम है– 'आत्मसत्य', एवं पञ्चोपेश्वरात्मक उपेश्वर का नाम है 'ब्रह्मसत्य', एवं शेषभूत 'ईश्वर' का ही नाम है-'देवसत्य'। यदि परात्पर परमेश्वर अविज्ञेय होने से ज्ञानकर्म्मोपासना से अतीत है, तो-महेश्वर-विश्वेश्वरात्मक आत्मसत्य भी अपनी दुर्विज्ञेयता से अविज्ञेयवत् ही प्रमाणित होता हुआ ज्ञानकर्म्मोपास्तित्रयी से तटस्थवत् ही माना जायगा।

२८३–देवसत्यात्मक 'ईश्वर' विवर्त्त का कालिक-कर्त्तव्यनिष्ठाधारत्त्व—

अधिक से अधिक इस दुर्विज्ञेय के सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसामात्र ही सम्भव बन सकेगी। आचारात्मक ज्ञान-कर्म्म-उपासना–काण्ड तो तटस्थ ही बने रहेंगे यहाँ भी परात्पर परमेश्वरवत्। दूसरा विवर्त्त है-ब्रह्मसत्यात्मक उपेश्वर का। अवश्य ही आत्मसत्यापेक्षया ब्रह्मसत्यात्मक उपेश्वर विवर्त्त विज्ञेय है। किन्तु इसकी विज्ञेयता भी केवल 'विज्ञेयता' पर ही परिसमाप्त है। भूतरूपा विकृति को मध्यस्थ बनाए बिना क्योंकि कर्त्तव्यात्मक ज्ञानकर्म्मोपास्ति-भावों का अनुगमन असम्भव है। इस विकृतिरूप भूत में क्योंकि यह विज्ञेय भी उपेश्वर तटस्थ है। अतएव इसे भी आत्मसत्यवत् ज्ञानकर्म्मोपासनात्मिका आचारनिष्ठा (कर्त्तव्यनिष्ठा) से पृथक् ही मान लिया जायगा। और अब शेष रह जायगी ईश्वरशरणागति, जिस 'ईश्वर' का नाम ही 'देवसत्य' नामक तृतीय सत्य है, जिस के गर्भ में ब्रह्मसत्यानुगत आत्मसत्य भी सुप्रतिष्ठित है। यही देवसत्यात्मक 'ईश्वर' विवर्त्त हमारी कालिक–कर्त्तव्यनिष्ठाओं का एकमात्र अवलम्ब है।

---

* सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते–तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति।

उपनिषत्॥

२८४–परात्परादि-उपेश्वरान्त प्रजापति विवर्त्त, एवं ईश्वरविवर्त्त के सम्बन्ध में जिज्ञासा–

कालातीत परात्पर से भारतीय तत्त्ववाद उपक्रान्त होता है, एवं पञ्च उपेश्वरों के मध्यान्त के भूपिण्ड नामक पाँचवें उपेश्वर पर यह तत्त्ववाद उपसंहृत होता * है। स्वयं परात्पर परमेश्वर विवर्त्त है, तदभिन्न महामायावच्छिन्न षोडशीप्रजापति महेश्वरविवर्त्त है, तदभिन्न योगमायावच्छिन्न एकत्रिंशोश्वराधिष्ठाता षोडशीप्रजापति विश्वेश्वरविवर्त्त है। तदाधारेण प्रतिष्ठित–व्यक्त स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–नामक पाँचों उपेश्वरों की समष्टि उपेश्वरविवर्त्त हैं, जिनके पाँचवें 'भूपिण्ड' नामक उपेश्वर पर्व पर परात्परोपक्रान्ता सृष्टिधारा उपसंहृत है। नातोऽन्यत्किञ्चिदस्ति। इन चार विवर्त्तों के अतिरिक्त अब कोई पाचवाँ विवर्त्त शेष प्रतीत नहीं हो रहा इस सृष्टिस्वरूपमीमांसा की दृष्टि से। फिर 'ईश्वर' नामक देवसत्यरूप पाँचवाँ विवर्त्त कहाँ से, कैसे, क्या आ गया?, यह प्रश्न मादृश स्थूलमति-मानवों के लिए तो एक अप्रमापेय प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है। अवारपारीण–सर्वत्र ढूँढन पर भी 'परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर' रूप परात्परादि भूपिण्डान्त ब्रह्मविवर्त्त से अतिरिक्त पाँचवाँ 'ईश्वर' अनुपलब्ध है प्राकृत दृष्टि के लिए। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, 'पाँचवा 'ईश्वर' नामक विवर्त्त तो हमें ढूँढने से भी यहाँ नहीं मिल रहा"। यदि सचमुच नावेदीत, तो महती विनष्टि।

२८५–पञ्चपर्वात्मक कालमहिमामण्डल में ही ईश्वरविवर्त्त के स्वरूपान्वेषण का प्रयास, एवं तत्सफलता से ही मानव-स्वरूप की सम्भूति—

कैसे त्राण पाया जाय इस महती विनष्टि से?, समस्या का एकमात्र निदान है–'इह चेदवेदीत्–अथ सत्यमस्ति'। परन्तु कहाँ?। कहाँ ढूँढे उसे?। उत्तर वही सर्वान्त का उपेश्वरात्मक भौतिक भूपिण्ड होगा, उसके व्यष्ट्यात्मक भूत भौतिक पदार्थ होंगें। इस भूतपिण्ड को, इसके व्यष्ट्यात्मक भूतों को माध्यम बना कर ही हम उस गुहानिहित, देवसत्यमूर्त्ति, जीवसर्ग के सर्वस्वभूत 'ईश्वर' नाम के पाँचवें विवर्त्त को ढूँढ निकालनें में सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो सफलता प्राप्त कर ही लेंगे। मर्त्य भूतपिण्ड ही हमें तदनुगत अमृत ईश्वर के दर्शन करायेंगे, निश्चयेन करायेंगे। यदि हम भूत पर भूतरूप से ही परिसमाप्त होगए, भूत के प्रत्यक्षदृष्ट–मर्त्य–क्षरभाव पर ही हमने विश्राम कर लिया, तो इस भूतपुर में प्रतिष्ठित देवभावात्मक अमृते-

---

* दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार चन्द्रमा का स्थान भूपिण्ड से ऊपर माना गया है। इसी दृष्टि से भूपिण्ड को पाँचवाँ पर्व (अन्तिम–समाप्ति–पर्व) मान लिया गया है। किन्तु, सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार चन्द्रमा का स्थान भूपिण्ड के अन्त में ही आता है। इस दृष्टि से (सृष्टिक्रम से) भूपिण्ड का चौथा स्थान, तथा चन्द्रमा का पाँचवाँ अन्तिम स्थान आता है। इस अन्तिम स्थान की अपेक्षा से ही चान्द्रसाम 'निधनसाम' (अवसानात्मक अन्तिमसाम) कहलाया है। अतएव जैसे प्रथम पर्व के ब्रह्मा 'स्वयम्भू' नाम से द्वितीय पर्व के ब्रह्मा 'परमेष्ठी' नाम से, तृतीय सूर्य्यपर्व के ब्रह्मा 'हिरण्यगर्भ' नाम से, चतुर्थ पिण्ड के ब्रह्मा 'पद्मभू' नाम से व्यवहृत हुए हैं, वैसे पञ्चम चन्द्रपर्व के ब्रह्मा 'निधन' कहलाए हैं। सृष्टिक्रमानुसार सचमुच चन्द्रमा पर सृष्टिधारा का अवसान है। तभी तो चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। प्रकृत में हमने सृष्टिक्रम न मानकर दृष्टिक्रम की अपेक्षा से ही चन्द्रमा को चतुर्थ स्थानीय, एवं तदपेक्षया भूपिण्ड को सृष्टि का अन्तिम स्थान बतला दिया है।

श्वेर के सम्पर्क से असंस्पृष्ट रहते हुए स्वयं भी केवल जड़भूत ही बने रह जायँगे। और अपने सम्पूर्ण आत्माभिव्यक्तित्व को यों भूत पर ही परिसमाप्त कर बैठना तो मानव की 'जीवित-मृत्यु' ही कहलाएगी, जिस से परित्राण का उपाय बतलाते हुए ही श्रुतिने कहा है—

इह चेदवेदीत्--अथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीत्--महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

—केनोपनिषत् १।१३।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

—उपनिषत्

२८६-'राई के ओट पहाड़' लोकसूक्ति का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तन्माध्यम से ईश्वरस्वरूप-साक्षात्कारसाफल्य—

हाँ, तो अब आपको मानव के जीवभाव के सर्वस्वभूत उस 'ईश्वर' को इन्ही भूतों में से ढूँढ निकाल लेना है, जो स्थूलदृष्ट्या, किंवा धारावाहिकी सृष्टिपरम्परा की दृष्टि से अभीतक अश्रुत-अदृष्ट ही बना हुआ है। उस 'ईश्वर' को खोज निकाल लेना है, जो जीव का निग्रह भी कर सकता है, एवं जीव पर अनुग्रह भी कर सकता है, जबकि परमेश्वरादि-उपेश्वरान्त ब्रह्मविवर्त्त निग्राहनुग्रह-भावों से सर्वथा ही तटस्थ बने रहते हैं। उस-'ईश्वर' का जीव को अन्वेषण कर ही लेना है, जिसका अनुध्यान करता हुआ जीव अपने ज्ञानात्मक आचरण (ज्ञानयोग) से अपनी ज्ञानमात्रा को 'वर्चतेजोमयी' बना सकता है, अपने उपासनात्मक आचरण (भक्तियोग) से अपनी प्राणमात्रा को 'भ्राजतेजोमयी' बना सकता है, एवं अपने कर्म्मात्मक आचरण से अपनी भूतमात्रा को 'सुम्नानुगत द्युम्नतेजोमयी' बना सकता है। अवश्य ही उस ईश्वर के साथ जीव को अविलम्ब सान्निध्य प्राप्त कर ही लेना है, जिसके सान्निध्य से जीव का बुद्धिविवर्त्त तपोमय बन जाता है, मनोविवर्त्त ज्येष्ठभावापन्न (महान्) बन जाता है, एवं शरीरविवर्त्त ब्रह्मभावापन्न (प्रजननशक्तियुत) बन जाता है। अनिवार्य्यरूपेण अपने सयुक्सखा उस ईश्वर का सर्वात्मना नही, तो अंशतः तो बोध प्राप्त कर ही लेना है जीव को, जिसकी शक्तित्रयी के अनुग्रहात्मक प्रवाह से जीव की ज्ञान-क्रिया-अर्थ--शक्तियाँ सशक्त बनतीं हुई सुव्यवस्थित हो जाती हैं। और 'राई के ओट पहाड़' सूक्ति को चरितार्थ करने वाला तथाविध ईश्वर है वह 'सम्वत्सरकाल', जिसका प्रस्तुत कालसूक्त में आरम्भ से ही अनेक दृष्टियों से यशोगान किया जा रहा है। वह सम्वत्सरकाल ही जीव का भाग्यविधाता, जीव के लिए कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ वह ईश्वर है, जो अपनी साम्वत्सरिकी ईशानियों * से जीव का शास्ता बनता हुआ सम्पूर्ण भूतविवर्त्त का वहन कर रहा

*** स एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।**
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

—श्वे० उप० ३।१

है, जैसाकि–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि' इत्यादि प्रारम्भ के प्रतिज्ञासूत्र से ही प्रमाणित है। और यही पुनः बात कुछ सोचने–समझने जैसी उपस्थित हो पड़ी है।

२८७–सम्वत्सरकालात्मक–'समय', एवं तदनुबन्धी ईश्वर–स्वरूप का दिग्दर्शन—

सत्ता, और भाति रूप से कालात्मक सम्वत्सर के दो विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। दोनों मात्रया जहाँ दो हैं, वहाँ सत्तया दोनों एक ही हैं। 'यदि स्यात्-उपलभ्येत'–'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादि के अनुसार जो 'है,' वही तो उपलब्ध होता है, प्राप्त होता है। प्रतीति ही तो प्राप्ति की परिचायिका है। प्रतीति का नाम ही तो 'भाति' (भान) है, जो कि 'अस्ति' रूपा सत्ता का ही व्यक्तरूप है। जो होगा, रहेगा, है, रहता है, विद्यमान है, उसी की तो प्रतीति होती है। सूर्य–चन्द्रमा–भू–अद्–नक्षत्रादि 'हैं,' सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, तभी तो ये उपलब्ध हो रहे हैं। अतएव कहा जायगा, और माना जायगा कि, सत्ता ही उपलब्ध होकर 'भाति' कहलाने लगती है। अव्यक्ता सत्ता का व्यक्तरूप ही 'भाति' है। अतएव सत्तात्मक काल की अभिव्यक्ति का नाम ही भात्यात्मक काल है। जिसे हम 'समय' कहते हैं, जिस के प्रात–मध्याह्न–साय–रात्रि–दिन–मास–अयन–पक्ष–वर्ष–युग–आदि–आदि–भेद माने जाते हैं, जो आज–कल–परसों–आदि व्यवहार से अभिनीयमान है, इन सब प्रतीतिभावों का नाम ही भातिसिद्ध काल है, जो एतन्नामक ही किसी सत्तासिद्ध कालतत्त्व की ही व्यक्त अभिव्यक्तियाँ हैं। 'वर्ष' नामक सत्तासिद्ध काल का भोगकाल ही भातिसिद्ध वर्ष है। एवमेव अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–आदि नामक सत्तासिद्ध पदार्थों का भोगकालात्मक, अतएव एतन्नामों से ही लोकव्यवहार में प्रसिद्ध 'समय' ही भातिसिद्ध काल है। गणनानुगत काल ही भातिसिद्धकाल है, एवं जिन सत्तासिद्ध पदार्थों का गणन–सङ्ख्यान– होता है, वे सत्तासिद्ध पदार्थ ही सत्तासिद्ध काल है। 'काल है', यही सत्तासिद्धकाल का स्वरूप–परिचय है। 'काल की समय रूप से प्रतीति हो रही है'–यही भातिसिद्ध काल का स्वरूप–परिचय है। और दोनों विवर्तों की समष्टि का नाम ही है–'सम्वत्सरकाल', एवं इसी का नाम है–पारिभाषिक 'ईश्वर'।

२८८–ईश्वर के मूलभाव के सम्बन्ध में एक धृष्टतापूर्ण प्रश्न, एवं द्रोणकलशानुगत उदय–कलश का माङ्गलिक–संस्मरण—

एक धृष्टतापूर्ण प्रश्न। चान्द्र सम्वत्सरकालावधि में (दशमासात्मक चान्द्रकाल में) होने वाली अग्नि–चिति से स्व भौतिक–पिण्ड का स्वरूप सम्पन्न करने वाला कर्मफलभोक्ता औपपातिक जीवात्मा पूर्णगर्भ सम्पन्नानन्तर सूतिष्ठ बनता है, और यही मानव की उत्पत्ति,–जन्म कहलाता है। इस जन्मजात शिशु का ही नाम 'जीव' है, जिस का स्वरूपभूत स्वरूप इस के माता पिता के दाम्पत्य से ही निष्पन्न हुआ है। पिता के शुक्र, तथा माता के शोणित–रूप वीर्य–रजोभावों के दाम्पत्य से ही गर्भ के द्वारा मानवजीव व्यक्त हुआ है भूतल पर। मानवजीव ही क्या, भूतल के जीवमात्र रयि–प्राणात्मक–मातृ–पितृरूप दाम्पत्यभाव के आधार पर ही अभिव्यक्त हुए हैं। लोकभाषानुसार–प्रत्येक जीव की कोई न कोई 'मा' भी अवश्य है, और 'बाप' भी अवश्य है। धृष्टता के लिए पुनः पुनः –क्षमा–याञ्चा–ईश्वर भी तो उस महामायी महेश्वर के समतुलन में एक 'जीव' ही तो है, व्यक्त होने वाला वस्तुभाव ही तो है जीवतत्त्व। तो क्या 'ईश्वर' रूप इस 'महान् जीव' के सम्बन्ध में इस के 'माता–पिता' के स्वरूप–परिज्ञान की जिज्ञासा नहीं की जासकती? यदि हमारा मन उपासनाकाण्डानुगत

है, तो ऐसे प्रश्न का संस्मरण भी अक्षम्य अपराध है। किन्तु विज्ञानकाण्डानुगत उसी मन के लिए अवश्य ही ऐसे प्रश्न करने का सहज उत्तरदायित्व सुलभ ही मान लिया जायगा। 'जीवमात्र के मातृपितृ-स्थानीय ईश्वर के माता-पिता-कौन ?' प्रश्न का उपासनात्मक उत्तर होगा-'यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं, कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति' यह । एवं इसी प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर होगा………… । ठहरिए। हमारे जैसा प्राकृत जीव कदापि अब इस से अधिक धृष्टता नहीं कर सकता 'ईश्वर' के मूलभाव के सम्बन्ध में। अतएव माङ्गलिक 'द्रोणकलशानुगत उक्थ्यकलश का संस्मरणमात्र कर के ही इस अक्षम्य-धृष्टता-प्रसङ्ग को उपरत किया जा रहा है।

२८६-पुण्डीरविद्यानुगता रोदसीत्रिलोकी, तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तदनुगत द्यावा-पृथिव्य दाम्पत्यभाव, एवं ईश्वर के मातृपितृयुग्म का माङ्गलिक-संस्मरण--

'पूर्णः कुम्भोऽधि काले-आहितः' इत्यादि तृतीय-मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में हमने द्रोणकलशात्मक सौम्यकलश को गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले जिस उक्थ्यकलशात्मक आग्नेय कलश का दिग्दर्शन कराया था, उसी का माङ्गलिक स्मरण कर लीजिए। अवश्य ही ईश्वरानुगता तज्जिज्ञासा स्वतः एव उपशान्त हो जायगी। 'कश्यपप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध 'कूर्म्म' का ही नाम द्रोणानुगत उक्थ्यकलश है, यही पूर्ण-कुम्भ है, जो अव्यक्तकालात्मक पारमेष्ठ्यकाल में आहित, समाहित है। इस कूर्म्म का स्वरूप भी तत्रैव तृतीय प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, जिस का निष्कर्षार्थ है-'सौरमण्डल'। वह सौरमण्डल, जिस में सूर्य्यरूपा द्यौः, चन्द्ररूप अन्तरिक्ष, तथा भूपिण्डरूपा पृथिवी' ये तीन लोक प्रतिष्ठित हैं, जो कि सौरलोकत्रयी 'रोदसी-त्रिलोकी'-'कूर्म्मत्रिलोकी'-'उक्थ्यत्रिलोकी' आदि नामों से प्रसिद्ध है। पुण्डीरविद्यापेक्षया यों कहा जा सकता है कि, स्वयम्भूरादि भूपिण्डान्त पाँच उपेश्वरभावों में तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-स्थानीय सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-नामक तीन उपेश्वरों की समष्टि का नाम ही कूर्म्मत्रिलोकी है, यही पूर्णकुम्भात्मक 'कश्यपप्रजापति' है, जिस का प्रधान आधारस्तम्भ माना गया है सूर्य्य। अतएव इसे सौरत्रिलोकी कहना अन्वर्थ बन रहा है। सूर्य्य-रूपा द्यौः ही इस कूर्म्म का पितृभाव है, भूपिण्डरूपा पृथिवी ही इस कूर्म्म का मातृभाव है, एवं द्यौः-तथा पृथिवी (सूर्य्य, तथा भूपिण्ड) दोनों का मध्यस्थ चान्द्र अन्तरिक्ष ही 'आ' भाव है, यही 'द्यावापृथिवी' रूप कूर्म्म का स्वरूप-परिचय है। 'द्यौष्पिता-पृथिविमातः' इत्यादि मन्त्र इसी कूर्म्मत्रिलोकीरूप दाम्पत्य की ओर सङ्केत कर रहा है। और यही मातृपितृरूप (पृथिविसूर्य्यरूप) कूर्म्म (सौरसंस्थान) हमारे पारिभाषिक 'ईश्वर' के माता-पिता हैं। ईश्वर का पिता है सूर्य्य, माता है भूपिण्ड। सूर्य्य, एवं भूपिण्ड के दाम्पत्य से विस्रस्त कूर्म्मप्रजापतिरूप दाम्पत्य (शुक्र-शोणित) से ही 'ईश्वर' गर्भरूप में परिणत हुआ है। उसी कालिक-वार्षिक अवधि के अनन्तर वह गर्भस्थ ईश्वर जीववत्-अभिव्यक्त हुआ है। और इसी को हमने यहाँ सत्ता-मात्यात्मक-'सम्वत्सरकाल' कहा है। और यही है 'ईश्वर' के मूलभावों का माङ्गलिक-संस्मरणेतिवृत्त।

२६०-सत्तासिद्ध सम्वत्सरकाल से भातिसिद्ध वर्षात्मक 'समय' का आविर्भाव, एवं सम्वत्सर-कालात्मक 'ईश्वर' का स्वरूप-समन्वय—

सूर्य्य को केन्द्र बना कर भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूमने लगा, घूम रहा है आज भी, जिस परिभ्रममाण भूपिण्ड के चारों ओर चन्द्रमा भी अपने दक्षवृत्त पर घूम रहा है *। इस परिभ्रमण से सौर सावित्राग्नितेज, तथा पार्थिव गायत्राग्नितेज, दोनों स्व स्व पिण्डों से विस्रस्त-स्खलित-च्युत-होकर दोनों पिण्डों के मध्याकाश में अपना स्वतन्त्र संस्थान-बना लेते हैं, जिस इस स्वतन्त्र संस्थान का नाम ही है-सत्तासिद्ध 'सम्वत्सरकाल', जिस की आगे चल कर 'समय' नामक भातिसिद्ध संवत्सरकालरूप में अभिव्यक्ति होती है। थोड़ा और ठहरिए। जीवसर्ग की सृष्टिप्रक्रिया को विस्मृत न कीजिए। माता का प्रयुक्त शोणित (रज), तथा पिता का विस्रस्त शुक्र (वीर्य्य) क्या स्वतन्त्राकाश में सञ्चित हो कर जीवस्वरूप में परिणत होता है ?। नेति होवाच। अपितु पिता का विस्रस्त शुक्र माता के गर्भाशयाकाश में ही सिक्त होता है, एवं मातृसीमा-में ही पिता के इस प्रवर्ग्यभूत सिक्त रेत, तथा माता के विस्रस्त रज के सम्मिश्रण से (मातृगर्भाकाश में ही) गर्भचिति होती है, जो सप्त मासानन्तर व्यक्त हो कर भूपिण्ड बना करती है। ठीक यही क्रम यहाँ समझिए। माता है पृथिवी, पिता है सूर्य्य। सौर सावित्राग्नितेज शुक्र है, पार्थिव गायत्राग्नितेज शोणित है। शोणितरूप गायत्रतेज माता पृथिवी के गर्भाशयाकाश में ही रहता है, इसी में सौर प्रवर्ग्य शुक्रतेज आहुत होता है। मातृगर्भाकाशरूप पार्थिव मण्डल में ही सौर पार्थिव-दोनों तेजों की चिति होती है। और इसी गर्भाशय में सम्वत्सरकालपुरुषात्मक 'ईश्वर' जन्म लेते हैं जीवजन्मक्रमवत्। इसी पार्थिवगर्भ को कहा गया है 'सम्वत्सरकालात्मक-ईश्वर'।

२६१-मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, एवं 'पितुर्म्माता गरीयसी' मूला मातृशरणागति के द्वारा तत्पुत्र ईश्वर-स्वरूप-समन्वय में साफल्य—

क्या स्थिति का सर्वात्मना समन्वय हो गया ?। अभी नहीं। तो फिर अब आप को 'मातृदेवो भव' इस आदेश का ही अनुगमन करना पड़ेगा। 'पितृदेवो भव' की अपेक्षा 'मातृदेवो-भव' का इसीलिए तो विशेष महत्त्व माना है भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने। 'पितुर्म्माता गरीयसी' ही यहाँ का आराध्य मन्त्र है। जिस माता के गर्भ में सौर-पार्थिव-तेजोभावों के सम्मिश्रण से (यागात्मक अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से) ईश्वर गर्भावस्था में आया है, गर्भावस्था में आकर व्यक्तरूप से जन्म लेकर भी जो ईश्वर उस मातृगर्भाकाश में ही प्रतिष्ठित रहता है यावच्चन्द्रदिवाकरौ, उस मातृशक्ति का स्वरूप ही अब हमें ईश्वरात्मक सम्वत्सरकाल के, किंवा सम्वत्सरकालात्मक ईश्वर के स्वरूप के दर्शन कराएगा, निश्चयेन कराएगा। मा को ही आप समझना पड़ेगा,

---

* सोमः (चन्द्रमाः)-पूषा च (पृथिवी च) चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता। (सामसंहिता पृ० २।२।)।
कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव। (ऋक्संहिता १।१८५।१।)।

मा को ही बेटा समझना पड़ेगा । और यों अपनी सारी समझ मातृचरणों में ही अर्पित कर देनी पड़ेगी, तभी माता के लाडले 'ईश्वरपुत्र' के दर्शन उपलब्ध हो सकेंगे ।

२९२--उपेश्वरान्तिम पर्वस्थानीय भूपिण्ड, एवं तदाधोरण वितायमाना 'अप्रथयत्' रूपा पृथिवी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भूपिण्ड के केन्द्रानुगत विष्कम्भ (व्यास) को लक्ष्य बनाइए, एवं सूर्य्यपर दृष्टि डालिए इस मातृस्वरूप के समन्वय के लिए । भूपिण्डव्यास के दक्षिणोत्तर-विन्दुओ का स्पर्श कराते हुए व्यास के उत्तरोत्तर-छोटे होते हुए मापदण्ड से ही सूय्य की ओर दो रेखाएँ ऊपर लेजाइए । व्यास के उत्तरोत्तर छोटे होते जाने से निश्चय ही व्यासपार्श्वद्वयानुगता दोनों रेखाएँ अन्ततोगत्वा मिल जायँगी । कहाँ मिल जायँगी ?, प्रश्न का उत्तर होगा-**'रथन्तरसाम'** । सूर्य्य ही 'देवरथ' कहलाया है-**'आदित्यो वै देवरथः'** । इस रथरूप सूर्य्य का भी तरण कर जाती है यह अन्तिम पार्श्वद्वयविन्दु । अतएव इसे-**'रथन्तरसाम'** कहा गया है । भूपिण्ड के केन्द्रानुगत व्यास से संलग्ना पार्श्वद्वयरेखाएँ सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तरण करती हुई अन्ततोगत्वा पुनः विन्दुरूप में परिणत हो रही है । यही मातापृथिवी का स्वरूप है, जो पृथिवीमाता सूर्य्यपिण्ड तथा, भूपिण्ड-दोनो से पृथक्, किन्तु दोनो के मध्य में दोनो के प्रवर्ग्यप्राणो से कृतरूपा है । रोदसी त्रिलो की (कूर्म्म त्रिलोकी) की पृथिवी 'भूपिण्ड' रूना थी, और यह मातापृथिवी 'अप्रथयत्' रूपा वह पृथिवी है, जिस का उभयप्राण (सौर-भौम प्राण) समन्वय से भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य से ऊपर तक वितान हो रहा है । सौरत्रिलोकीरूप कूर्म्मसंस्थान का द्युलोक सूर्य्य है, पृथिवीलोक भूपिण्ड है, जबकि इस मातापृथिवी का स्वरूप इन दोनों द्यावापृथिवियों (सूर्य्य-भूपिण्डों) के मध्याकाश में स्वतन्त्ररूप से प्रतिष्ठित है । भूपिण्ड और पृथिवी के इस सर्वथा विभक्त स्वरूप का समन्वय कर के ही हमें 'ईश्वर' दर्शन में प्रवृत्त होना चाहिए । भूपिण्ड भूपिण्ड है, यह उपेश्वर का अन्तिम पर्वोपेश्वर है, जबकि पृथिवी भूमहिमा है, जोकि पिण्डात्मक उपेश्वर से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है ।

२९३-ज्योतिर्म्मयी देवमाता-अदितिपृथिवी, तमोमयी दैत्यमाता दितिपृथिवी, एवं तद्वृषादेवता कश्यपप्रजापति—

जिसप्रकार सूर्य्यसम्मुखीन पार्थिव प्राण सूर्य्य से कुछ ऊपर पर्य्यन्त व्याप्त है, ठीक उसी प्रकार उसी आकार की उसी व्यास के दक्षिणोत्तर पार्श्वविन्दुओ का स्पर्श करती हुई दो रेखाएँ उसी अनुपात से सूर्य्यविरुद्धदिक् में अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाती है । दोनों ही पृथिवियाँ हैं । किंवा एक ही पृथिवी के सूर्य्यानुगत, सूर्य्यप्रतिदिक् रूपेण दो विवर्त्त है । सूर्य्यसम्मुखा पृथिवी में जहाँ सौर ज्योतिर्म्मय प्राण अविच्छिन्नरूप से समाप्लुत है, वहाँ सूर्य्यविरुद्ध दिगनुगता पृथिवी में सौरतेज विच्छिन्न हो रहा है । अतएव सूर्य्यानुगता वही पृथिवी **ज्योतिर्म्मयी** है, एव विरुद्धदिगनुगता वही पृथिवी **तमोमयी** है । प्रकाश की अविच्छिन्नता-अखण्डता से ही सूर्य्यानुगत पार्थिवमण्डल कहलाया है-**'अदितिपृथिवी'**, एवं प्रकाशविच्छित्ति से सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत वही पार्थिवमण्डल कहलाया है-**'दितिपृथिवी'** । पृथिवी ही अदिति है, यही दिति है, किन्तु स्वरूपभेद से । अदितिपृथिवी सूर्य्यानुगता है, दितिपृथिवी विरुद्ध दिगनुगता है । अदितिपृथिवी **देवमाता** है, दितिपृथिवी **दैत्यमाता**, किंवा **असुरमाता** है । अदिति के गर्भ में त्रयस्त्रिंशत् (३३) देवप्राण-

समष्टिरूप 'ईश्वर' नामक 'देवसत्य' जन्म लेता है, एवं दिति के गर्भ में तदन्तर्गत (९९) असुरप्राणात्मक 'वृत्र' नामक 'असुरऋत' जन्म लेता है। दोनों ही पार्थिव विवर्त अन्ततोगत्वा हैं कूर्म्मत्रिलोकीरूप कश्यपप्रजापति के ही नियन्त्रण में। अदिति, दिति, दोनों ही कश्यप की पत्नियां हैं, जिन के साथ होने वाले दाम्पत्य से ही देवासुरविभूतियों का आविर्भाव हुआ है। इसी देवासुरसर्गविज्ञान का पुराणशास्त्र के सुप्रसिद्ध 'कश्यपप्रजापति-चरित्र' के द्वारा विस्तार से यशोगान हुआ है।

२६४-भूपिण्ड के अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि-रूप दो विवर्त, एवं तदनुगत भूपिण्ड, तथा भूमण्डल—

प्रकृत में लक्ष्य है सूर्य्यानुगता ज्योतिर्म्मयी अदितिपृथिवी। अतः इसी को लक्ष्य बनाकर हम लक्ष्मीभूत ईश्वरस्वरूप का अन्वेषण कर लेना है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्यबिन्दु-पर्य्यन्त व्याप्त ज्योतिर्म्मय-पार्थिवप्राण-मण्डल का नाम ही है 'अदितिपृथिवी', जो प्राणात्मक महिमामण्डल के सम्बन्ध से ही-'मही' कहलाई है-'इयं वा अदितिर्म्मही' (यजु॰ स॰ ११।५६-शत॰ ६।५।१।१०)। इस में सौर सावित्राग्नि तेज भी प्रवर्ग्यरूपेण-शुक्रात्मना समाविष्ट है, तो भौम गायत्राग्नितेज भी प्रवर्ग्यरूपेण शाणितात्मना समाविष्ट है। अतएव यह अदितिपृथिवी सावित्री भी कहलाई है, गायत्री भी कहलाई है, जैसाकि-'पृथिवी सावित्री' (गोप॰पू॰ १।३३)-'या वै सा गायत्री-आसीत्-इयं वै सा पृथिवी' (शत॰ १।४।१।३४) इत्यादि में स्पष्ट है। 'इयं वै पृथिवी रथन्तरम्' (ए॰ ब्रा॰ ८।१)-'इयं वै देवी-अदिति-विश्वरूपी' (तै॰ ब्रा॰ १।७।६।७)-वचन भी इसी का यशोगान कर रहे हैं। भूपिण्ड को ही यज्ञपरिभाषा में कहा गया है 'अन्तर्वेदि', जो अपने परिमित-सिमित-वामच्छद भूतधर्म्म से परिमित-सीमित है, जबकि यज्ञपरिभाषा में-'बहिर्वेदि' नाम से प्रसिद्ध भूमण्डलरूपा अदिति-पृथिवी अपने अपरिमित-असीमित-अधामच्छद प्राणधर्म्म से अपरिमित-असीमित बन रही है। इन दोनों पिण्ड-अण्ड-रूप-भू-पृथिवी-विवर्त्तों को लक्ष्य बनाकर ही श्रुति ने कहा है—

> तस्याः पृथिव्या एतत् (भूपिण्डात्मकं) परिमितं रूपं-यदन्तर्वेदिः। अथ एष भूमाऽपरिमितः-यो बहिर्वेदिः। (गो॰ ब्रा॰ ८।७)।

२६५-ईश्वर की जन्मभूमि अदितिरूपा स्तोम्यत्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्त पार्थिव-आग्नेय प्राण—

हमने यह देखा, और समझा कि, सूर्य्योपेश्वर, तथा भूपिण्डोपेश्वर, दोनों के मध्याकाश में सौर सावित्र-भौम गायत्र-तेजों से कृतरूपा ज्योतिर्म्मयी पृथिवी ही वह अदिति है, जिस में सौर-भौम-अग्नि-समन्वयात्मक पार्थिव आग्नेय प्राण परिपूर्ण है, व्याप्त है। यही पार्थिव आग्नेय प्राण सुसूक्ष्मा पार्थिव-भूतमात्राओं की सुप्रसिद्धा घन-तरल-विरला-अवस्थाओं के भेद से इस अदितिमण्डल में क्रमशः अपने तीन संस्थान बनाता हुआ तीन पार्थिवलोकों का विभाजक प्रमाणित हो रहा है। यही सुप्रसिद्धा वह 'अदिति-त्रिलोकी' है, जो स्तोमसम्बन्ध से-'स्तोम्यत्रिलोकी' कहलाई है। उपेश्वरात्मक-सूर्य्य-चन्द्र भूपिण्ड-रूपा सौरत्रिलोकी रोदसी-त्रिलोकी थी, यह स्तोम्यत्रिलोकी अदितित्रिलोकीरूपा केवल पार्थिव-त्रिलोकी है, जिसमें ईश्वर का जन्म होने वाला है।

२९६–त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–स्तोमावच्छिन्न पार्थिव तीन स्तौम्यलोक, तत्र प्रतिष्ठित अग्नि–वायु–आदित्य–प्राण, एवं तीनों प्राणदेवताओं का तानूनप्त्र—

अदिति के त्रिवृत्स्तोम का नाम पृथिवी है, पञ्चदशस्तोम का नाम अन्तरिक्ष है, एकविंशस्तोम का नाम द्युलोक है, जिन इन तीनों में क्रमशः घनावस्थापन्न अग्नि, तरलावस्थापन्न अग्नि, विरलावस्थापन्न अग्नि प्रतिष्ठित है एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त, किंवा इस से भी कुछ ऊपर तक, रथन्तरसाम पर्य्यन्त। एक ही पार्थिव प्राणाग्नि की उक्त तीनों घन–तरल–विरल–अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि–वायु–इन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। इन तीनों प्राणाग्नियों का आगे चल कर तानूनप्त्र होता है। तीनों का एक एक को आधार बना कर शेष दोनों का एक एक में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से समाविष्ट होकर प्रत्येक को त्र्यात्मक–त्र्यात्मक–बना देने वाली वैज्ञानिक–प्रक्रिया का नाम ही है–'तानूनप्त्र'।

२९७–प्राणदेवत्रयी के तानूनप्त्र से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिप्रधान सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–भावों का आविर्भाव, तीनों की त्र्यात्मकता, एवं अदितिमाता–अदिति-पिता से कृतरूप 'ईश्वरपुत्र' का स्वरूप–समन्वय—

इस मे अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही अग्निप्रधान तत्त्व, अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही वायुप्रधान तत्त्व, तथा अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही आदित्यप्रधान तत्त्व, ये तीन सांयौगिक–यागात्मक–अपूर्व–भाव उत्पन्न हो जाते है। त्रिमूर्त्ति अग्निप्रधान तत्त्व का नाम है–'विराट्', त्रिमूर्त्ति वायुप्रधान तत्त्व का नाम है-'हिरण्यगर्भ', एवं त्रिमूर्त्ति इन्द्रप्रधान, किंवा आदित्य–प्रधान तत्त्व का नाम है–'सर्वज्ञ'। विराट् अग्नि, हिरण्यगर्भ वायु, इन्द्र सर्वज्ञ, तीनो क्रमशः त्रिवृत्–पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्युलोक को अपना अपना प्रधान आधार बनाते हुए अपने अपने अग्नि–वायु–इन्द्रात्मक त्र्यात्मक–त्र्यात्मकरूपो से (प्रत्येक) तीनों पार्थिवत्रैलोक्य में व्याप्त होते हुए त्रिमूर्त्तिरूप एकमूर्त्ति ही बन रहे है–'**नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने**'। त्रिमूर्त्ति विराट्–अग्नि का लोक ही अदिति–पृथिवी का पृथिवीलोक है। इस अपने त्रिवृद्रूप से अदिति '**माता**' भी कही जासकती है। त्रिमूर्त्ति सर्वज्ञेन्द्र का लोक ही अदितिपृथिवी का द्युलोक है। इस अपने त्रिवृद्रूप से अदिति '**पिता**' भी कही जा सकती है। मध्यस्थ त्रिमूर्त्ति–हिरण्यगर्भ का मध्यस्थ लोक ही अन्तरिक्षलोक है। यही अदितिमाता, अदितिपिता के सम्मिश्रण से व्यक्त **अदितिपुत्र** कहा जा सकता है। जो कुछ पार्थिव सम्वत्सर में उत्पन्न हो चुका है, हो रहा है, होता रहेगा, सब अदिति ही अदिति है। इसी के प्रवर्ग्यरूपों से पार्थिवजगत् का सर्वस्व-स्वरूप अवस्थित है। माता अदिति की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बना कर ऋषिने कहा है—

> **अदितिर्द्यावापृथिवी ऋतं महदिन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत्।**
> **देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून्रुद्रान्त्सवितारं सुदंससम्॥**
>
> —ऋक्सं० १०।६६।४।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव * ।
ता देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः । (सोमबन्धवः) ।
--ऋक्सं० १०।७२।५।

२६८-गायत्र वसुदेवता, त्रैष्टुभ रुद्रदेवता, जागत आदित्यदेवता, एवं अदिति के गर्भ में सम्भूत देवदेवताओं का स्वरूप-समन्वय—

'ता देवा अन्वजायन्त'-'विश्वेदेवा अदिति ' इत्यादि के अनुसार सुप्रसिद्ध त्रयस्त्रिंशत (३३) यज्ञिय-देवता भी इसी अदितित्रिलोकी में समन्वित हैं। विराडग्नि की घनावस्थानुगता घनता-तारतम्यावस्थाएँ अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से द्व्याठ हैं, ये ही अग्निप्रमुख आठ पार्थिव वसुदेवता हैं। हिरण्यगर्भवायु की तरलावस्थानुगता तरलता-तारतम्यावस्थाएँ एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द के सम्बन्ध से ११ हैं, ये ही वायुप्रमुख ग्यारह आन्तरिक्ष्य रुद्रदेवता हैं। सर्वज्ञेन्द्र की विरलावस्थानुगता विरलता-तारम्यावस्थाएँ द्वादशाक्षर जगती-छन्द के सम्बन्ध से द्वादश हैं, ये ही इन्द्रप्रधान, किंवा आदित्यप्रधान बारह दिव्य आदित्यदेवता हैं। दो सान्ध्य नासत्य-दस्र-नामक अश्विनी प्राण हैं। सम्भूय तीन सम्स्थानों की ३३ प्राणदेवविभूतियाँ हो जातीं हैं, जिनका अग्नि-वायु-आदित्य-त्रयी में, एवं सवान्त में अग्नि में ही अन्तर्भाव हो जाता है—'अग्निः सर्वा देवता'-"अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयन्ताम्'। यों अदिति के गर्भ में ही ये ३३ मां अग्निप्राणात्मक आग्नेय देव-देवता प्रतिष्ठित हैं। अन्तरिक्ष में व्याप्त द्रोणकलशस्थ अमृतसोम को अपना बन्धु बनाते हुए-'भद्रा अमृतबन्धव -देवा -ता अदिति-अनु-अजायन्त' इत्याद्यनुसार ये 'देवदेवता' अदितिगर्भ से ही सम्भूत हैं ×।

२६६-विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति-ईश्वरस्वरूप का दिग्दर्शन—

हाँ, तो अब यह सर्वात्मना प्रमाणित हो गया कि, सूर्य्यपिण्ड, तथा भूपिण्ड-नामक इन दोनों उपेश्वरों के मध्य में भूपिण्ड से-सूर्य्यपिण्ड-सलग्ना प्राणमयी महापृथिवी की व्याप्ति है, इसीका नाम 'अदितिपृथिवी' है, इसी में ६-१५-२१-स्तोमभेद से पृ० अन्त -द्यौ -नामक तीन लोक (पार्थिवलोक) प्रतिष्ठित हैं। तीनों के तीन अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन शवमोनपात्-अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) देवता हैं। तीनों की व्यात्मकता से व्यात्मक बने हुए विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-नामक तीन तादृगात्रदेवता हैं। तीनों की विभूतियाँ गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-छन्दोऽनुगता अष्ट वसुगण, एकादश रुद्रगण, द्वादश आदित्यगण, द्वौ अश्विनी-रूपेण त्रयस्त्रिंशत यज्ञियदेवता हैं। इस सम्पूर्णविभूतिपुञ्ज का नाम है अदिति, तद्रूप ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय-

---

* दक्षप्रजापति की कन्या अदिति से देवसृष्टि-कश्यप के द्वारा (पुराणसमन्वय)
अदितिर्द्यौ, रदितिरन्तरिक्षं, अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः ।
विश्वेदेवाः अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वाम् ॥
—ऋक्सं० १।८६।१०।

× अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।
आदित्या (१२)-वसवो (८)-रुद्रा (११)-अश्विनौ च (२)-परन्तप ! ।
—वाल्मीकिरामायणे

मनःप्राणवाङ्मय-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-की समष्टिरूप पार्थिव-अदितिगर्भ का नाम ही है **पार्थिव सम्वत्सरकाल**, एवं यही है हमारा आराध्य पार्थिव–आदितेय–पारिभाषिक–**'ईश्वर'**, जिसका महासुपर्णात्मक–**'साक्षीसुपर्ण'** रूप से **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०'** इत्यादि मन्त्र के द्वारा यशोवर्णन हुआ है।
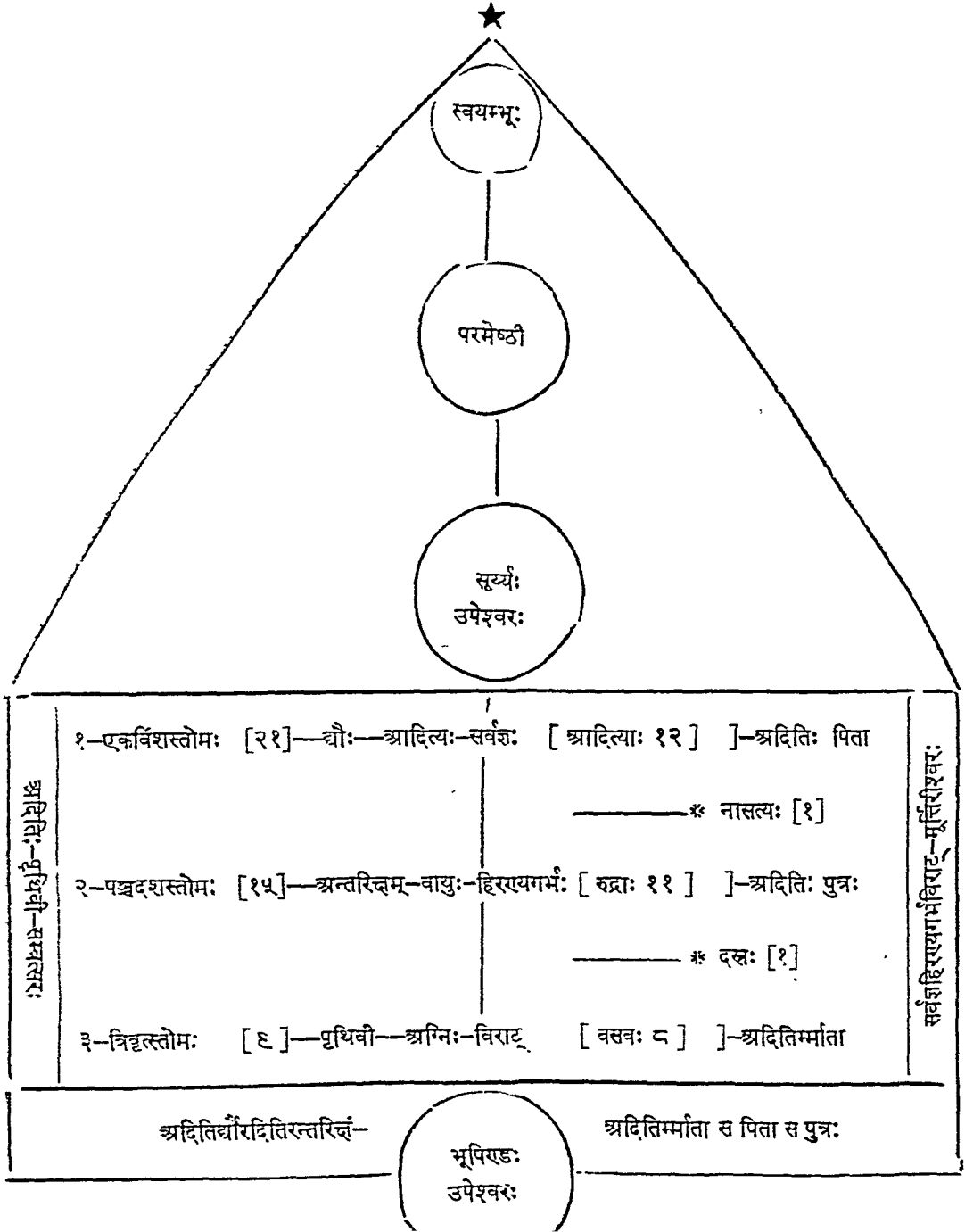
३००-पिप्पल-स्वादभोक्ता जीव, जीव का साक्षी ईश्वर, दोनों की सुपर्णता, एवं दोनों का समानवृक्षानुगतित्व—

जीव कर्मभोक्ता कहलाया है, ईश्वर तो कर्मसाक्षी माना गया है। भोक्ता है जीव, साक्षी है-ईश्वर। साक्षी है महासुपर्णात्मक-सम्वत्सरमूर्त्ति ईश्वर, भोक्ता है सुपर्णात्मक-सम्वत्सरप्रतिमारूप मानव। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'। दो पक्षी हैं शोभन पँखवाले। पक्षी बैठते हैं वृक्ष पर। वृक्ष पर नहीं, अपितु वृक्ष की शाखा पर। शाखा पर भी नहीं, अपितु शाखा के अग्रभाग पर। पक्षी भी एक नहीं, दो दो। इस से अधिक अनुरूप समन्वय और क्या होगा सम्वत्सरसुपर्णात्मक साक्षी ईश्वर का, तथा तत्-प्रतिमारूप भोक्ता जीव का ?। वृक्ष होता है जङ्गल में, महावन में, जिसका ओर छोर अननुमेय ही बना रहता है। अन्वेषण कीजिए !

३०१-'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' लक्षण अश्वत्थवृक्ष का दिग्दर्शन, एवं अश्वत्थ-वृक्ष की सहस्र शाखाएँ—

वह वन कौन सा होगा ?, 'ब्रह्म वनम्'। मायातीत परात्पर **परमेश्वर** नामक प्रथम विवर्त्त ही वह **'वनब्रह्म'**, किंवा 'ब्रह्मवन' होगा, जिसका कोई मापदण्ड ही नहीं है। इस महावन (परमेश्वर) के किसी यत्-किञ्चित् प्रदेश में उसी परात्परवन के अंशरूप अव्ययाक्षरात्मकात्ममूर्त्ति-सहस्रवल्शेश्वर-महामायावच्छिन्न महामायी **'महेश्वर'** नामक दूसरे विवर्त्त का नाम ही वह 'ब्रह्मवृक्ष' होगा-'ब्रह्म स वृक्ष आसीत्', जिसे 'अश्वत्थ-वृक्ष' कहा गया है। इस वृक्ष के पञ्च-पञ्च-पर्वात्मक, योगमायावच्छिन्न-सहस्र (१०००) वल्शविश्वेश्वरात्मक-योगमायी 'विश्वेश्वर' विवर्त्त ही इस वृक्ष की सहस्र शाखाएँ होंगी। विश्वेश्वररूपा इन सहस्र-शाखाओं में से किसी एक ही पञ्चपर्वा शाखा के विश्वेश्वर से हमारा सम्बन्ध माना जायगा, जिसके पाँच पर्व क्रमश स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नाम से प्रसिद्ध हैं। पञ्चोपेश्वरात्मक इस विश्वेश्वररूपा एक शाखा का अन्तिम-अग्रभाग माना जायगा पाँचवाँ 'भूपिण्ड' नामक उपेश्वरपर्व। भूपिण्ड के आधार पर ही त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप सम्वत्सरात्मक साक्षी ईश्वरसुपर्ण, एवं तदंशभूत भोक्ता सुपर्ण नामक दोनों शोभन पक्षी पल्लवित रहे होंगे। इन दोनों अभिन्न मित्रों में परस्पर यही शिक्षा प्रक्रान्त होगी महासुपर्ण की ओर से कि-सावधान ! तुम (जीवसुपर्ण) सौम्य हो। अतएव तुम भावुकतावश इस द्वन्द्वात्मक विश्व में जिस किसी को मित्र बना बैठने की भ्रान्ति कर सकते हो। जानते हो इस भूल का क्या कुपरिणाम, किंवा दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा तुम्हें ?। नहीं जानते, तो सुनो !

३०२-लोकमैत्री की नितान्त भावुकता, एवं मानवीय जीव के वास्तविक मित्र की नैष्ठिकी मैत्री का स्वरूप-दिग्दर्शन—

महासुपर्णात्मक सम्वत्सरेश्वररूप काल ही जीव का एकमात्र हितैषी मित्र है, जिसकी साक्षी में (काल-मर्यादा में) व्यवस्थित रहता हुआ मानवरूप सामान्य सुपर्ण (छोटा पक्षी) अपने को सशक्त-कर्त्तव्यनिष्ठ बनाए रहता है। लोकमित्र करते यही हैं कि, मानव को इसके अभिन्न मित्र महासुपर्णरूप सम्वत्सरकालमित्र के अनुग्रह से तो कर देते हैं वञ्चित, एवं अपनी कालस्खलिता अकर्मण्यता के वारुणपाश में कर लेते हैं

भावुक मानव को आबद्ध। वैसे ईश्वरनिष्ठ सन्मित्र महत्सौभाग्य से ही उपलब्ध होते हैं मानव को, जो इसे कालमर्य्यादानुगामी बनाते हुए कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए ही प्रेरित करते रहते हैं। भूतासक्ति के आविष्कारक, असन्मित्रात्मक मित्राधमलक्षण मित्र, तत्त्वतः शत्रु ही ये साथी सङ्गी व्यसन–दुर्व्यसन–शिक्षक नराधम स्वयं तो उस कालमित्र से पराङ्मुख बने रहते हुए उत्पथानुगामी बने ही रहते हैं। इसके साथ साथ ही ये अपने भावुक भोग्य-मित्र को भी उसके अभिन्न सखा सुपर्णकाल से पराङ्मुख कर देते हैं। लक्ष्यहीनभावानुगता मैत्री में कालक्षय के अतिरिक्त और कोई भी तो पुरुषार्थ नहीं है। निरर्थक गप्प मारते रहना, शरीरानुगत दुर्व्यसनों का सर्जन करते रहना, सदा सभी कार्य्यों में कालातिक्रम करते रहना ही ऐसी मैत्री के प्रसून हैं। अतएव नैष्ठिक महापुरुषों का इस दिशा में यही उद्बोधन सूत्र है कि-'**भायला (मित्र) वही, जो दोष सिखावे। अतएव भले आदमी भायला नहीं बनाया करते**'। महासुपर्णात्मक 'सम्वत्सरकाल' से बड़ा हितैषी मानव का और कोई दूसरा मित्र नहीं है, जो मानो सदा निरन्तर अपने इस अवर सखा मानव को सतर्क ही करता रहता है, चौकसी ही करता रहता है इसकी सुहृद्भाव से–'**अनश्नन्–अन्यः–अभिचाकशीति**'। अतएव '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**' रूप से श्रुति ने इन दोनों की मैत्री का हीं समर्थन किया है। **अन्या वाचो विमुञ्चथ। अमृतस्यैष सेतुः**'।

२०३–सहस्रशीर्षः-सहस्राक्षः-सहस्रपात्-लक्षण महान् ईश्वरमित्र के सहस्रात्मक-महिमा-भाव का यशोवर्णन—

कैसा है वह आदितेय सम्वत्सरेश्वर?। वह अपने ज्ञानशक्तिमय–आदित्यप्रधान मनोमय सर्वज्ञरूप से **सहस्रशीर्षः** है। अपने क्रियाशक्तिमय–वायुप्रधान–प्राणमय–हिरण्यगर्भरूप से **सहस्राक्षः** है। एवं अपने अर्थशक्तिमय, अग्निप्रधान वाङ्मय–विराट्–रूप से–**सहस्रपात्** है। ऐसा यह सम्वत्सरकालात्मक सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराण्मूर्त्ति–पार्थिवेश्वर, अदितिगर्भजन्मा पुरुषप्रजापति भूपिण्ड पर विराट्मूलरूप पादभाग से खड़ा होता हुआ सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्त है। यही इस ईश्वरपुरुष के विराट्स्वरूप के तटस्थ दर्शन हैं, जिसके साक्षाद्दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था इसी के अनन्य सखा महाभाग्यशाली अर्जुन को आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व, जिसके व्यक्त–मूर्त्त–रूप पर दृष्टिनिक्षेप करते ही भावुक अर्जुन विपकम्पित हो पड़े थे, एवं तत्–क्षण उनका भावुकतापूर्ण बुद्धिवादात्मक दम्भ विगलित हो पड़ा था। **नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमो नमः**। एवं "**नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः**" उस महाशक्ति अदिति माता के लिए, जिसने ऐसे विराट् को भी प्रादेशमित बना कर अपने गर्भाशय में बलात् सुरक्षित कर रक्खा है। तभी तो इस गर्भस्थ शिशु की भारत के भावुक भक्त 'बालमुकुन्द' रूपसे आराधना करते हुए अपना सभी कुछ धन्य, कृतकृत्य प्रमाणित करते रहते हैं *। सुप्रसिद्ध पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय के आचार्य्योंनें तो भगवान् की, इस 'बालकृष्ण'–'शिशुकृष्ण'–'नन्दनन्दनकृष्ण' की उपासना करते हुए ही परमपद प्राप्त किया है। एवं स्वयं मन्त्रश्रुति ने भी महतोमहीयान् भी इस सहस्रशीर्ष–सहस्राक्ष–सहस्रपात्–सर्वज्ञहिरण्यगर्भविराट्मूर्त्ति

---

* **करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।**
वटस्य पत्रस्य पुटे शयन्तं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥
—रहस्यपूर्णा–आर्षसूक्तिः

ईश्वर को 'सार्द्धदशाङ्गुलमित' (साढ़े दस अंगुलात्मक एक प्रादेशमित, जो गर्भस्थ शिशु का परिमाण माना गया है) ही माना है, जिस इस वेदसिद्ध विज्ञानस्वरूप के आधार पर ही भगवान् की बालमुकुन्दात्मिका उपासना प्रक्रान्त रही है इस ज्ञानविज्ञानसमन्वित, आचारनिष्ठ परमधन्य भारतराष्ट्र में—

सहस्रशीर्षः पुरुषः-सहस्राक्षः-सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
—यजुःसंहिता

२०४–साक्षी ईश्वर से अभिन्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति मानव, मानव की आचार-निष्ठा, एवं तदाधारभूत ईश्वरीय-साम्वत्सरिक-कालपुरुष—

'अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव, यत्सम्वत्सर' (शत० १२।२।३।७)–'स एष सम्वत्सरप्रजापतिः षोडशकलः'-(शत० १४।४।३।२२)–'सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः (सर्वज्ञ इति यावत्–शत० १०।२।४।३)–'सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः (विराट्–इति यावत्–शत० १।५।१।१६)–प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः' (शत० ६।२।२।५)–'स वै सम्वत्सर एव प्रजापतिः' (शत० ११।१।३।३५)–'य स भूतानां पतिः–सम्वत्सर सः' इत्यादि निगमानुगतवचन सम्वत्सरकालात्मक इसी ईश्वरप्रजापति के महासुपर्णात्मक–पारिमाणिक पार्थिव स्वरूप का संग्रह कर रहे हैं। जैसा स्वरूप इस सम्वत्सरात्मक ईश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप तत्प्रतिमारूप पुरुष [जीव, मानव] का है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, सम्वत्सरमूर्त्ति महासुपर्णात्मक ईश्वर उस मूलभूत उपेश्वर–विश्वेश्वर, तन्मूलभूत महेश्वर, एवं सर्वमूलभूत परमेश्वर की अभिन्नसत्ता का ही व्यक्तभाव होता हुआ जहाँ क्लेश–कर्म्म–कर्मविपाक–आशयादि–पाप्माओं से असंस्पृष्ट है *, वहाँ मानवीय जीव प्रकृतिव्यामोहन से अपने उस अभिन्न सत्ता को विस्मृत करता हुआ इन सब क्लेशों–पाप्माओं से समन्वित हो पड़ता है। तत्परित्राण का एकमात्र उपाय है–वैश्वानर तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति–जीव का अपनी इन तीनों निर्बल शक्तियों में उस सबल विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–ईश्वरपुरुष की शक्तियों का प्रवाह प्रक्रान्त कर देना, जिस प्रक्रान्ति के आचारसूत्र ही कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–योग नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव परमेश्वरादि ईश्वरान्त पाँचों विवर्त्तों में एकमात्र पाँचवें सम्वत्सरात्मक ईश्वरविवर्त्त' को ही हम मानवीय आचारनिष्ठा से अनुप्राणित मानेंगे। और इसी दृष्टि से एकमात्र यह ईश्वर ही, सम्वत्सरकाल ही मानव की ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों का संरक्षक–प्रवर्त्तक–अभिवर्द्धक माना जायगा। एवं यही प्रस्तुत मन्त्र का आचारात्मक अन्तिम समन्वय होगा, जिसके लिए ही हमें ईश्वरस्वरूप के संस्मरण की धृष्टता कर लेनी पड़ी है।

---

* क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष 'ईश्वर'।
—पातञ्जलयोगसूत्र

३८५–मानवीया आचारनिष्ठा के सर्वाधारभूत सम्वत्सरकालमूर्त्ति ईश्वरप्रजापति का माङ्गलिक स्वरूप-समन्वय, तदनुबन्धिनी तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी का संस्मरण, एवं अष्टम मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम—

विराट्–हिरण्यगर्भ–गर्भित, सर्वज्ञमूर्त्ति, मनोमय, ज्ञानशक्तिघन, आदित्यप्रमुख, पार्थिव एकविंशस्तो–मानुगत, द्युलोकानुगत, अव्ययप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस ज्ञानयोग का आधार बन रहा है, जिस ज्ञानयोगात्मक आचार का केन्द्रबिन्दु वैश्वानर-तैजस-गर्भित, प्राज्ञमूर्त्ति, तथाविध-तथाभूत-सम्वत्सरप्रति–मात्मक वही साम्वत्सरिक जीव ही बना करता है। विराट्-सर्वज्ञ-गर्भित, हिरण्यगर्भमूर्त्ति, प्राणमय, क्रियाशक्ति-घन, वायुप्रमुख, पार्थिव पञ्चदश स्तोमानुगत, अन्तरिक्षलोकानुगत, अक्षरप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस भक्तियोग का आधार बन रहा है, जिस भक्तियोगात्मक आचरणबिन्दु का केन्द्रबिन्दु वैश्वानर–प्राज्ञ--गर्भित, तैजसमूर्त्ति, तथाविध-तथाभूत-सम्वत्सरप्रतिमात्मक वही साम्वत्सरिक जीव ही बना करता है। एवमेव सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भित, विराट-मूर्त्ति, वाङ्मय, अर्थशक्तिप्रधान, अग्निप्रमुख, पार्थिव त्रिवृत्स्तोमानुगत, पृथिवी-लोकानुगत, आत्मक्षरप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस कर्म्मयोग का आधार बन रहा है, जिस कर्म्मयोगात्मक आचरणबिन्दु का केन्द्रबिन्दु प्राज्ञ-तैजस-गर्भित, वैश्वानरमूर्त्ति, तथाविध तथाभूत-सम्वत्सर-प्रतिमात्मक वही साम्वत्सरिक-जीव ही बना करता है। तदित्थं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति मानव [जीव] की प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-पर्वानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा यच्चयावत् आचारनिष्ठाओं का साक्षी, प्रेरक, नियन्ता विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति सम्वत्सरकालात्मक ईश्वरप्रजापति ही प्रमाणित हो रहा है। ईश्वरप्रजापति का सर्वज्ञात्मक कालविवर्त्त ही ईश्वर के ज्ञानमय 'तपः' की प्रतिष्ठा है, उसका हिरण्यगर्भात्मक कालविवर्त्त ही ईश्वर के क्रियामय 'ज्येष्ठम्' की प्रतिष्ठा है, एवं उसके विराडात्मक कालविवर्त्त में ही ईश्वर का अर्थमय 'ब्रह्म' प्रतिष्ठित है। वही काल सर्वज्ञत्त्वेन तपोमूर्त्ति है, वही काल हिरण्यगर्भत्त्वेन 'ज्येष्ठम्' है, एवं वही काल विराट्त्त्वेन 'ब्रह्म' है। तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म भी कालात्मक ही है। अतएव कहा जा सकता है कि-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-काल में कालरूप ही तपो-ज्येष्ठं-ब्रह्म-विवर्त्त प्रतिष्ठित है। वही अपने में अपने रूप से ही प्रतिष्ठित समाहित है–'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्'। यही प्रस्तुत मन्त्र का सुपर्णेश्वरानुगत, आचारभावानुबन्धी अन्तिम समन्वय है, जिसके साथ ही प्रक्रान्त अष्टम मन्त्रार्थसमन्वय उपरत हो रहा है। अत्यन्त अवधानपूर्वक ही मन्त्र के पारिभाषिक तथ्यों का अपने प्रज्ञाक्षेत्र में सदा ही चिन्तन करते रहना चाहिए, तभी इस ऋषि-दृष्टि का स्वल्पतम अनुग्रह प्राप्त हो सकेगा।

तदिदमदितिमण्डलमेव–पार्थिवसम्वत्सरचक्रं–कालात्मकम्

सर्वज्ञमूर्त्तिरादित्यः–एव–'तपः'—तच्च काले–प्रतिष्ठितम्

हिरण्यगर्भमूर्त्तिर्वायुरेव—'ज्येष्ठम्'–तच्च काले–प्रतिष्ठितम्

विराट्—मूर्त्तिरग्निरेव—'ब्रह्म'—तच्च काले–समाहितम्

तत्रैव तपोज्येष्ठब्रह्म–समाहितम्

तदिदं कालवृत्तमेव–सम्वत्सरात्मकं–महादुपर्यैश्वर–रूपम्

इत्येतदेवाभिप्रेत्य-अनुगमो भवति—

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेण
मातासीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेण
पुत्र आसीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेणेति—

अदितिर्माता, स पिता, स पुत्रः–इतिनु रहस्यम्
इति-अष्टममन्त्रार्थसमन्वयः—

८

—*—

(९)–नवममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (नवममन्त्रार्थ)

३०९–'तेनेषितं, तेन जातम्' इत्यादि नवम मन्त्रात्तरार्थ-समन्वय, एवं ब्रह्म के ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य–भावों का संस्मरण—

अत्र क्रमप्राप्त इस नवममन्त्र की ओर ही कालोपासकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

(९)-तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

"काल से (सबकुछ) इषित (कामित) है, काल से (सबकुछ) उत्पन्न है । निश्चयेन उस काल में वह काल (ही) प्रतिष्ठित है । काल ही 'ब्रह्म' रूप में परिणत हो परमेष्ठी को धारण

किए हुए हैं"-इत्यन्तरार्थक प्रस्तुत नवम मन्त्र के विस्तारक्रम की ओर न जाकर दो शब्दों में ही हमें मन्त्रार्थ-समन्वय का प्रयासमात्र कर लेना है। जिस सम्वत्सरप्रजापति का पूर्व के अष्टम मन्त्रार्थ-समन्वय में दिग्दर्शन कराया गया है, उसकी मनोमयी तपोमूला कामना से, प्राणमय ज्येष्ठमूल तप से, एवं वाङ्मय ब्रह्ममूल श्रम से ही सम्पूर्ण साम्वत्सरिक पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, एवं सम्वत्सर से उत्पन्न वे सभी साम्वत्सरिक स्थावर-जङ्गम-(जड-चेतन) पदार्थ सम्वत्सर में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रजापति का विस्रस्त रूप 'प्रवर्ग्य' भाग (उच्छिष्ट) जहाँ प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण है (उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्), वहाँ उसी प्रजापति का अविस्रस्तरूप ब्रह्मौदनभाग प्रजाओं की स्थापनात्मिका प्रतिष्ठा-(आधार) बन रहा है।

३०७-प्रजापति से उत्पन्न प्रजा के जन्म-स्थिति-भङ्ग-भावों का धारावाहिक क्रम, एवं-'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का समन्वय—

या प्रजापति से ही प्रजाएँ उत्पन्न हैं, एवं प्रजापति में ही प्रजाएँ प्रतिष्ठित हैं, साथ ही प्रजापति में ही इन प्रजाओं का अन्ततोगत्वा विलयन हो जाया करता है। यही प्रजापति का, एवं प्रजा के जन्म-स्थिति-भङ्ग-रूप धारावाहिक क्रम का चिरन्तन इतिवृत्त है, जो शाश्वतीभ्य समाभ्य-सदा सदा के लिए-'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूपेण यथावत् प्रक्रान्त है। इस क्रम का न कोई आदि है, न अन्त है। इसलिए इस क्रम का कोई आद्यन्त नहीं है कि, अपने क्रान्तिवृत्तात्मक सीमितभाव से आद्यन्तवत् प्रतीत होने वाला भी सम्वत्सरप्रजापति अपने मूलभूत, उपेश्वर विवर्त्त के सर्वान्त के भूपिण्ड से सलग्न महिमामय उस अनन्त प्राणमण्डलात्मक अदितिमण्डल में ही समर्पित है, जिसका प्राणधर्मत्वेन कोई ओरछोर है ही नहीं। यदि इस अदितिमण्डलात्मक पार्थिवमण्डल को भी सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-मूर्त्ति सम्वत्सर प्रजापति से अभिन्न मानते हुए, उसे भी सादिसान्त मान लिया जाय, तो फिर अदितिमण्डल के पार्थिव त्रैलोक्य के मूलभूत उस अनन्त सौरब्रह्माण्ड की अनन्ता को लक्ष्य बना लेना पडेगा, जिस अनन्तभावापन्न सौरब्रह्माण्ड का कोई आद्यन्त प्रतीत नहीं हो रहा है। मानलेते हैं-अमुक मन्वन्तरकालानुगता दिव्यसहस्रयुगान्विता गणनकालसमन्विता परिगणना से सौरब्रह्माण्ड को भी थोडी देर के लिए सादिसान्त ही। तो फिर तन्मूलभूत, महासमुद्रात्मक, सरस्वान्-समुद्रात्मक आपोमय-भृग्वङ्गिरोरूप महदक्षरमूर्त्ति महान्-ज्येष्ठ-उस परमेष्ठी प्रजापति की अनन्तता को हमें लक्ष्य बना लेना पडेगा, जिस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में अनन्त सौरब्रह्माण्ड अपना वैसा ही सादि-सान्त-स्वरूप रख रहा है, जैसेकि नि सीमवत् प्रतीत पार्थिव समुद्र में सादिसान्त एक बुद्बुद अपनी इयत्ता रख रहा है। सुनते हैं-आपोमय अनन्त परमेष्ठी बुद्बुदाकाराकारित अपने गर्भस्थ सौरब्रह्माण्ड की अपेक्षा से अनाद्यनन्त बने रहते हुए भी 'सृष्टि'-भावनिबन्धना-'अप एव ससर्जादौ' लक्षणा उत्पत्ति-सयोग-आविर्भाव-आदि मर्यादाओं से समन्वित रहते हुए-'सयोगा विप्रयोगान्ता, पतनान्ता समुच्छ्रया' न्याय से सादिसान्त ही प्रमाणित हो रहे हैं अन्ततोगत्वा। तो इस अननुमेया सादिसान्तता को अभ्युपगमवाद से थोडी देर के लिए मान कर हमें उस परमाकाशरूप स्वयम्भूब्रह्म की ओर लक्ष्य देना पडेगा, जिस परमाकाशात्मक नभस्वान् समुद्र के समतुलन में सरस्वान् अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र का भी वही (बुद्बुदसमतुलित) स्थान है, जो स्थान अनन्त परमेष्ठी में सूर्य्य का है, किंवा जो स्थान अनन्त सौरब्रह्माण्ड में अदितिमण्डलात्मक एक सम्वत्सर का है।

पाँचों पुण्डीरों में सर्वापेक्षया अनाद्यनन्त-असीम-भी प्रमाणित परमाकाशात्मक स्वयम्भू को भी यदि-'प्रादुरासीत्तमोनुदः'-'स एव स्वयमुद्बभौ'-'अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्'-इत्यादि रूप से किसी अचिन्त्या, सर्वथैव अगम्या सादि-सान्तता से समन्वित मान लेने की महती धृष्टता कर बैठेगी मानवप्रज्ञा, तो उसे हम उस पुण्डीराध्यक्ष योगमायामय-'विश्वेश्वर' के आनन्त्य की ओर ही आकर्षित कर लेंगे, जिस विश्वातीता विश्वस्वरूपाधिष्ठात्री विश्वेश्वरानन्तता से प्राजापत्य धारावाहिक क्रम की अनाद्यनन्तता का समर्थन सम्भव बन जायगा। यदि इस पर भी प्रज्ञाक्षोभ शान्त न होगा, तो फिर महामायामय सहस्रवल्शेश्वरमूर्त्ति महेश्वर की दुर्विज्ञेया अनन्तता की शरण में ले चलना पड़ेगा इस प्रज्ञा को। यदि अत्रापि यह मानवप्रज्ञा निरुपाधिक-निरपेक्ष अनन्तभाव में परिणत न हो सकी, तो अन्ततोगत्त्वा विश्वातीत-मायातीत-वनब्रह्मात्मक-निरपेक्ष-निरुपाधिक-माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरणादि परिग्रहों से असंस्पृष्ट उस परात्पर-परमेश्वर पर ही प्रज्ञा का प्रज्ञात्त्व सदा सदा के लिए परिसमाप्त कर दिया जायगा, जिस परात्परानन्त्य के संस्मरण मात्र से भी यह मानवप्रज्ञा अपना सम्पूर्ण प्रज्ञात्त्व विस्मृत कर अन्ततोगत्त्वा अपने ये ही उद्गार अभिव्यक्त करने लग पड़ती है कि—

२०८—अनाद्यनन्त-महामहिमामय-प्रजापति के आनन्त्य से अभिभूता मानवप्रज्ञा के सहज-आर्ष-उद्गार, एवं 'न विजानामि यदि वेदमस्मि' इत्यादि मन्त्रों का संस्मरण—

"न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद।
न तं विदाथ-य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
माति प्राक्षीः। मूर्द्धा ते विपतिष्यति"-इत्युपनिषत्।

२०९—सम्वत्सरप्रजापति से समन्विता सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, तन्मूलक असमाधेय प्रश्न, एवं मानवप्रज्ञा की कुण्ठितता—

धारावाहिकरूपेण प्रक्रान्ता, सम्वत्सरप्रजापति से समन्विता सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता का सोपान-परम्परया अन्वेषण करते करते मानवप्रज्ञा अन्ततोगत्त्वा विश्वातीत-सर्वातीत परात्पर-परमेश्वर की निरुपाधिका-निरपेक्षा-अनाद्यनन्तता के संस्मरणमात्र से सर्वात्मना विगलित तो अवश्य हो गई। अवश्य ही अपने प्रज्ञादम्भ के इस विगलन से प्रज्ञा को सृष्टिधाराक्रम की अनाद्यनन्तता पर आस्था भी कर लेनी पड़ी परात्परानन्तता से अभिभूत बन कर। किन्तु इसी अनन्तबिन्दु पर सहसा अनन्तभावानुगता इस प्रज्ञा में सर्वथा एक वैसा नवीन प्रश्न जागरूक हो ही तो पड़ा, जो प्रश्न भी सृष्टि के अन्यान्य दुरधिगम्य अनतिप्रश्नात्मक असमाधेय-प्रश्नों के समतुलन में अपना कम महत्त्व नहीं रख रहा।

३१०-प्रजापति के आनन्त्य की दुरधिगम्यता का स्पष्टीकरण, संसृष्टिरूपा सृष्टि, तदाधारभूता क्रिया, तन्मूलक सृष्टिकर्म्म, एवं-'क्रिया-कर्म्म' का समन्वय—

दुरधिगम्य प्रश्न का स्वरूप स्पष्ट है। 'मान लेना',-'न मान लेना'-न मानते हुए भी मान लेना,-'मान कर भी कुछ नहीं समझना'-'जान कर भी कुछ नहीं जानना' इसप्रकार के-'नो न वेदेति वेद-च'-'यस्यामन तस्य मतम्-मत यस्य-न वेद स'-इत्यादि नीहारप्रावृतात्मिका स्थिति से अनुप्राणिता परात्पर-परमेश्वर की अनन्तता ने प्रश्न यही जागरूक कर दिया कि-यदि ब्रह्म अनाद्यनन्त है, सर्वपरिग्रहनिरपेक्ष है, असीम है, अत्यन्तापिनद्ध है, तो फिर ऐसे अनन्त-अखण्ड-असीम ब्रह्म से कदापि 'सृष्टिप्रवृत्ति' नही मानी जासकती। क्योंकि सृष्टि का स्वरूप है—'संसृष्टि'। 'ससृष्टि' का अर्थ है अनेक भावों-पदार्थों-वस्तुतत्त्वों का परस्पर एक बिन्दु पर अन्तर्य्यामात्मक यागसम्बन्ध से मिलकर अपूर्व स्वरूप में आजाना। यह यागसम्बन्ध एकप्रकार का वह 'सृष्टिकर्म्म' है, जिससे ससृष्टिपूर्वक अपूर्व सृष्टिभाव आविर्भूत होते रहते है। 'कर्म' ही 'क्रिया' का स्वरूप-परिचायक माना गया है। साध्यदशा में वही कर्म्म 'क्रिया' है, सिद्धदशा में वही क्रिया 'कर्म्म' है। इसी अभिन्नता के आधार पर-'क्रिया-कर्म्म' नामक एक अपूर्वशब्द व्यवस्थित हो गया है, जो कारणविशेष से प्रेतपितृकर्म्म में ही निरूढ हो गया है। लोककर्म्म जहाँ केवल 'क्रिया', तथा केवल 'कर्म्म' नाम से व्यवहृत होते है, वहाँ सूक्ष्मभूतानुबन्धी आतिवाहिक-प्राणशरीरानुबन्धी प्रेतपितृकर्म्म 'क्रियाकर्म्म' नाम से ही लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हो पड़ा है, जिसका अस्मत्प्रान्तीया भाषा में रूप है-'किरिया-करम' (क्रिया-कर्म्म)।

३११-कामना-कृति-कर्म्म-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्मूलक-'कृतम्' भाव का समन्वय—

कर्म्म (सिद्धावस्थापन्न पदार्थस्वरूप कर्म्म) जिस क्रिया (साध्यावस्थापन्न कर्म्म) से सम्पन्न होता है, उसका मूल माना गया है कामना, इच्छा। बिना इच्छा, किंवा कामना के कदापि 'क्रिया' प्रवृत्त नही होती *। कामना ही क्रिया का मूल है। एव इस इच्छात्मिका कामना (जीवकामना), किंवा कामात्मिका इच्छा (ईश्वरेच्छा) का मूल है 'ज्ञान'। सापेक्ष-सोपाधिक सीमित काममय वह ज्ञान, जो कि ज्ञान काममय तप की आधारभूमि माना गया है। ज्ञान के द्वारा इच्छा, इच्छा के द्वारा प्राणव्यवहाररूपा (अन्तर्व्यापाररूपा) 'कृति' (यत्न-चेष्टा) लक्षणा क्रिया, तद्द्वारा 'कर्म्म' की स्वरूप-निष्पत्ति। एव इच्छा-कृति (साध्य कर्म्मरूपा क्रिया), तथा कर्म्म [साध्यकर्म्मरूप कर्म्म], इन तीनों के एकत्र समन्वय से ही 'कृतम' रूप वस्तुभाव आविर्भूत होता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

> ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।
> कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म, तदेतत्-'कृत' मुच्यते॥
>
> —प्रसिद्धसूक्ति

---

*-अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्, तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥
—मनु २।४।

३१२–मनःप्राणवाङ्मय इच्छा-तपः-श्रम-भावों का समन्वय—

ज्ञानशक्तिमय मन ही इच्छा का उक्थ है, मन से ही इच्छा का उदय माना गया है। क्रियाशक्ति-मय प्राण ही क्रिया का उक्थ है, प्राणव्यापार का नाम ही 'कृति' रूपा क्रिया है। एवं अर्थशक्तिमयी वाक् ही कर्म्म का उक्थ है, वाग्व्यापार [भूतव्यापार] का नाम ही 'कर्म्म' है। मनोमयी ज्ञानजन्या 'इच्छा' ही **'काम'** नाम से, प्राणमयी क्रिया ही **'तपः'** नाम से, एवं वाङ्मय कर्म्म ही **'श्रम'** नाम से व्यवहृत हुए हैं सृष्टिप्रतिपादक श्रौत सन्दर्भों में, जैसा कि–**"सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत**--(**प्राणेन**), **सोऽश्राम्यन्** (वाचा)"–इत्यादि से प्रमाणित है। काममय मन प्रतिष्ठित माना गया है–'हृदय' में (केन्द्र–गर्भ में)। **'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** (यजुःसंहिता) के अनुसार हृदयात्मक केन्द्र में ही 'मन' नामक काममय तत्त्व प्रतिष्ठित माना गया है। केन्द्र होता है सीमितभाव मे। सीमित वस्तु-मूर्त्ति में ही केन्द्र–विष्कम्भ–परिणाह–आदि धर्म्म रहा करते हैं।

३१३–परात्परानुगता असीमा अनन्तता का समन्वय, एवं आनन्त्य-समन्वय की अविज्ञेयता, तथा–'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' इत्यादि का संस्मरण—

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें असीम परात्पर परमेश्वर की अनन्तता को लक्ष्य बना लेना है। यदि परात्पर परमेश्वर निरपेक्षरूपेण अनन्त–असीम है, तो निश्चयेन उसका कोई केन्द्र नहीं हो सकता। क्योंकि केन्द्र सीमित सादिसान्त–मूर्त्ति में ही अभिव्यक्त हुआ करता है। जब उस अनन्त का कोई केन्द्र ही नहीं, तो 'मन' का प्रश्न भी स्वतः ही निराकृत है। केन्द्राभाव में मन का अभाव, मन के अभाव में कामना का अभाव, कामना के अभाव में क्रिया की अनुपपति, क्रिया की अनुपपत्ति में कर्म्म का अभाव, एवं कर्म्म के अभाव में क्रिया-कर्म्म–मूला संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का अभाव। यों असीम अनाद्यनन्त परात्पर पर-मेश्वर के सम्बन्ध में संसृष्टिमूला सृष्टि ही जब अनुपन्न है, तो सृष्टिधारा की अनन्तता का अन्वेषण करते हुए सोपानपरम्परा के माध्यम से यदि मानव–प्रज्ञा अन्ततोगत्वा परात्परानन्तता पर पहुँच भी गई, तो एतावता ही प्रज्ञा ने कौनसा पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया? । प्रज्ञा गई थी सृष्टिधारा की अनन्तता की खोज करने, वह अनन्तता येनकेनरूपेण अनुमेया भी बनी परात्पर के माध्यम से। जिस सृष्टिधारा की अनन्तता के समर्थन करने के लिए अनन्तता खोजी गई थी, अनन्तता के लक्ष्य में आते ही उस निरपेक्षा अनन्तता ने सृष्टि-स्वरूप–प्रवृत्ति पर ही सहसा भयावह आक्रमण कर डाला। मानवप्रज्ञा की कौन कहे। स्वयं ऋषिप्रज्ञा भी इस अनन्त क्षेत्र में आकर इसी असमाधेया प्रश्नपरम्परा की अनुगामिनी बन जाती है, जैसा कि उसके इन दुरधि-गम्य, किन्तु सहजरूपेण सर्वथैव सुगम उद्गारों से स्पष्ट है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे, यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक्सं० १२९।६,७ मन्त्र

३१४–अप्राप्त की प्राप्ति से अनुप्राणित कामभाव, एवं अनन्तब्रह्म की अकामता, तथा तन्मूला निष्क्रियता का समन्वय—

युक्तं चैतत्। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना का उदय हुआ करता है। जो वस्तु हमें अप्राप्त है, अनुपलब्ध है, उसकी अभावपूर्ति के लिए ही तो इच्छा का उद्गम होता है। सीमित प्रज्ञा के लिए अनेक पदार्थ अनुपलब्ध हैं। अतएव सीमित प्रज्ञा उन अनुपलब्धों की उपलब्धि के लिए इच्छा किया करती है। किन्तु जो व्यापक है, असीम है, उसके लिए तो कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। सबकुछ पहिले से ही वहां विद्यमान है, किंवा वह सबकुछ पहिले से ही बना रहता है। ऐसे आप्तकाम को तो 'अकाम' ही माना जायगा। एवं गार्गी के–'अकामस्य क्रिया काचिन्-दृश्यते नेह कर्हिचिन्' कथनानुसार ऐसे आप्तकाम-मूर्त्ति 'अकाम' अनन्त–असीम–परात्पर का कभी क्रियागामी नहीं माना जायगा, जो कि काममयी क्रिया ही ससृष्टिमूला सृष्टि का आधार मानी गई है।

३१५–'तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' इत्यादि–मन्त्रभागार्थ–समन्वयप्रयास–

यदि परात्पर असीम है काममय क्रियाभावानुबन्ध से, तो इस सादिसान्त सकाम–सक्रिय परात्पर से अभिव्यक्ता सृष्टिधारा अनाद्यनन्ता नहीं हो सकती। यदि परात्पर की अनाद्यनन्तता से सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता का समर्थन किया जाता है, तो अनन्त–अकाम–निष्क्रिय–परात्पर से काममूला–क्रियान्विता सृष्टि की प्रवृत्ति ही असम्भव प्रमाणित हो जाती है। "सम्वत्सरप्रजापतिमूला सृष्टि अनाद्यनन्ता भी रहे, और इसकी सादिसान्तभावानुगता कामनाप्रवृत्ति का भी समन्वय सम्भव बन जाय," तभी सबकुछ व्यवस्थित बन सकता है। इसी व्यवस्थासूत्र का अपनी रहस्यपूर्णा संक्षिप्ततमा प्राणमयी अपौरुषेया पराभाषा में सङ्केत करते हुए ऋषिने कहा है–'तेनेषितम्, तेन जातम्। तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्'।

३१६–अनन्त-अचिन्त्य-ब्रह्म की अचिन्त्यता का समन्वय—

"परात्पर-परमेश्वर अनन्त है?, अथवा सादिसान्त?। अकाम है?, अथवा सकाम?। आप्तकाम है?, अथवा लोककाम?" इत्यादि प्रश्नविमर्शों का मानव की सादिसान्ता 'प्राकृतप्रज्ञा' से कोई सम्पर्क नहीं है। क्योंकि सत्त्व सत्त्वमूला मानवप्रज्ञा प्रकृति की सीमा में अन्तर्भुक्ता वैसी प्राकृत प्रज्ञा ही है, जो प्रकृति के पर के अप्राकृत भावों का चिन्तन कर ही नहीं सकती। अतएव प्रकृति से परे के अनाद्यनन्त अप्राकृत विवर्त्त 'अचिन्त्य' ही बने रहते हैं चिन्तनशीला, अतएव चिन्त्या मानव की प्राकृत प्रज्ञा के लिए–'प्रकृतिभ्य–पर यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्' *। ऋषिप्रज्ञा भी प्रकृति से समन्विता प्रज्ञा ही तो है। अतएव उसके लिए भी,

---

*–अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
—प्राचीनसूक्ति

उसकी चिन्तनरूपा ÷ श्रुति के लिए भी जब वह अचिन्त्य है, अप्रतर्क्य है, अप्रज्ञात है, अलक्षण है, तो फिर अस्मदादि यथाजात प्राकृत मानवों की वैकारिकी प्रज्ञाभासरूपा प्रज्ञा की क्या कथा है उसके सम्बन्ध में ? ।

३१७–'नत्वहं तेषु, ते मयि' का समन्वय, एवं ब्रह्म की अनन्तता—

ऋषिप्रज्ञा के द्वारा दृष्टा प्रकृतिरूपा शब्दश्रुति की बात भी छोड़िए । पञ्चपुण्डीरात्मक ब्रह्मारूप विश्व की मूलप्रकृति, तत्त्वात्मक ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदमूर्त्ति, परमाकाशात्मक अव्यक्त स्वयम्भू तो उस विश्वातीत अनन्त परात्पर के सन्निकटतम है । किन्तु स्वयम्भुरूपा यह परमाकाशात्मिका विश्वाध्यक्षा मूलप्रकृति भी तो उसके प्रकृत्यतीत आनन्त्य का मापदण्ड नही बन सकती । ये उस में अवश्य हैं । किन्तु वह तो इन में (इन्हीं में) नहीं है । व्याप्य ही व्यापक में रह सकता है, रहता है । किन्तु व्यापक को तो व्याप्य अपने में सीमित नही कर सकता–'नत्वहं तेषु, ते मयि' ।

३१८–परमाकाशात्मक स्वयम्भू ब्रह्म के द्वारा भी अविज्ञेय अनन्तब्रह्म—

अनन्त परात्पर के विदित नही किस अंश–प्रत्यंश–प्रत्यंशतर–प्रत्यंशतम–भाग में मूलप्रकृतिरूप अव्यक्त स्वयम्भू परमेव्योमन् विराजमान हैं । भला ये भी अपने उस अनन्त आधार की इयत्ता, स्वरूप का उपवर्णन कैसे कर सकते है ? । यह तो हमारी अपनी सीमिता प्रज्ञा की वैखरी भाषामात्र है । हमारे लिए तो मूलप्रकृतिरूप–अव्यक्त स्वयम्भुलक्षण परमेव्योमन् ही जब अनन्त, अतएव अचिन्त्य ही बन रहा है, तो हम उसके लिए भी किस आधार पर यह कहने का साहस, किंवा दुःसाहस कर सकते हैं कि,-'वह परमाकाशात्मिका स्वायम्भुवी मूलप्रकृति भी उस प्रकृत्यतीत अनन्त को नहीं जानती' । संकोचपूर्वक डरते डरते अपनी उस मूलप्रकृति से इस धृष्टता के लिए क्षमा-याञ्चा करते हुए अधिक से अधिक हम नहीं, किन्तु ऋषि-प्रज्ञा भी केवल यही कह सकती है कि–'जो इस पुण्डीर विश्व का परमाकाशात्मक स्वयम्भू नामक अव्यक्तलक्षण मूलप्रकृतिभाव है, कह नहीं सकते, वह भी उसे-जानता है, अथवा नहीं जानता-"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद" ।

÷—सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—श्रुतिः

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो–
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः–
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥
—महिम्नस्तोत्रे

३१९–स्वायम्भुवी मूलप्रकृति का स्वरूपचिन्तन, प्रश्नपरम्परा की समाधानभूमि प्रकृति, एवं तन्माध्यम से ही दुरधिगम्या अचिन्त्यता के सम्बन्ध में प्रश्नोदय—

विश्वाध्यक्ष–परमाकाशरूप–अव्यक्त स्वयम्भू ही मूलप्रकृति है। यह उस प्रकृत्यतीत को जानता है, अथवा नहीं जानता ?, इस प्रश्न से तो हमारा (मानवप्रजा का) कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जाने तो ठीक है, न जाने तो ठीक है। किन्तु हमें जो कुछ जानना, और करना है, तत्सम्बन्ध की सम्पूर्ण समस्याओं की, प्रश्नपरम्पराओं की समाधानभूमि हमारे लिए तो यह परमाकाशात्मिका प्रकृतिदेवी अवश्य ही बन रही है। इसी की उपासना से हम उस दुरधिगम्य प्रश्न का भी तटस्थ समाधान तो प्राप्त कर ही सकते हैं, जिस तथोक्त प्रश्न का परात्पर की अनन्तता के प्रसङ्ग में सहसा गलग्रहरूपेण आविर्भाव हो पड़ा है।

३२०–असीम–व्यापक–अतएव अकेन्द्र अनन्तब्रह्म, एवं उसकी अमना–अप्राण–अवाक्-रूपता का दिग्दर्शन—

कल्पना कर सकते हैं कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर परमेश्वर अनन्त है, असीम है, व्यापक है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, अतएव अकेन्द्र है, अतएव अमना है, अतएव अप्राण है, अतएव अवाक् है, अतएव सृष्टि के सामान्य अनुबन्धरूप काम–तप–श्रम–धर्मों से असंस्पृष्ट है। अतएव रसैकघन ऐसे अकाम परात्पर में कदापि सृष्टिकामना का उदय नहीं हो सकता। और यह कहा भी किसने है कि, अनन्तरसैकघन परात्पर परमेश्वर से सृष्टि होती है ?।

३२१–सादि–सान्त सम्वत्सरप्रजापति, तन्मूला व्यक्तसृष्टि, एवं सृष्टिधारा का सादि-सान्तत्व—

हम तो सम्वत्सरप्रजापति से सृष्टिप्रवृत्ति बतला रहे हैं। सादिसान्त है सम्वत्सरप्रजापति, अतएव सादिसान्ता है सम्वत्सरप्रसूता सृष्टि। सादिसान्त सम्वत्सर के गर्भ में सम्वत्सर की निरन्तरता प्रवर्ग्यमात्राओं से उत्पन्न–प्रसूत–जड–चेतन–प्रजारूपा सृष्टि को कौन अनाद्यनन्त कह रहा है ?। सभी तो 'जायस्व–म्रियस्व' रूप से परिवर्त्तनशील हैं—'जातस्य हि ध्रुवो–मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'। जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य ही नष्ट होगा। अतएव न सम्वत्सर अनादि अनन्त है, नापि तत्प्रवृत्तिरूपा सृष्टि ही अनाद्यनन्ता है। हाँ–'सृष्टिधारा' अवश्य ही अनाद्यनन्ता है। क्योंकि सृष्टिधारा का मूलभूत सम्वत्सरचक्र अनाद्यनन्त ही है। सम्वत्सर, और सम्वत्सरचक्र, एवं सृष्टि, तथा सृष्टिधारा, इस द्वन्द्व का समन्वय कर लेने के अनन्तर सभी प्रश्न स्वत: ही निराकृत हो जाते हैं। सम्वत्सर, और सृष्टि, दोनों सादि–सान्त हैं। एवं सम्वत्सरचक्र, और सृष्टिधारा, दोनों अनाद्यनन्त हैं।

३२२–सम्वत्सरचक्र के 'चक्र' शब्द से, सृष्टिधारा के 'धारा' शब्द से आनन्त्योपलब्धि का प्रयास, एवं अनन्त बलों के माध्यम से अनन्त रस का संस्मरण—

नहीं समझे ?, कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ असीमित प्रज्ञा को। उपलब्धौ यत्न: क्रियताम्!! 'चक्र' और 'धारा', इन दोनों शब्दों की सबला शक्ति से ही तो परिचय प्राप्त कर लेना है इस उपलब्धि के लिए।

और चक्रात्मिका इस 'धारा' की सबला शक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें उस विश्वातीत अनन्त परात्पर की ही शरण में चले चलना है बिना संकोच के। 'सर्वबलविशिष्टरसैकघनता' ही परात्परता है, यही है इसकी अनन्तता, जिसमें अनन्तबल, और अनन्तरस, नामक दोनो आनन्त्य समन्वित हैं। बलों का आनन्त्य संख्यानन्त्यानुगत है, तो रस का आनन्त्य दिग्देशकालानवच्छिन्नता-लक्षण आनन्त्य है।

३२३–संख्यात्मक 'कलनभाव', एवं संख्यातीत निष्कलभाव—

असंख्य हैं बल, जिनकी गणना ही असम्भव है। अगणितगणन से समन्वित संख्यानन्त्य ही बलों की अनन्तता है, जबकि प्रत्येक बल स्वरूपतः दिग्देश–काल से सादिसान्त हैं। उधर एक ही–अद्वितीय ही–ब्रह्म रूप ही है वह रस *, जो गणनसंख्यापेक्षया निरपेक्ष एकत्व से समन्वित रहता हुआ, दिग्देशकालभावों से असंस्पृष्ट प्रमाणित होता हुआ स्वस्वरूपतः अनन्त है। अनन्तता रस, और बल, इन दोनों ही भावों में हैं–**अतएव सर्वमिदं परात्परविवर्त्त–अनन्तमेव**। हाँ, अनन्तता अवश्य ही दोनो की पृथक् पृथक् स्वरूप रख रही है। बलों की अनन्तता संख्यात्मक 'कलन' भाव से अनुप्राणित है, तो रस की अनन्तता संख्यातीत 'अकलरूप'–'निष्कल' भाव से अनुप्राणिता है। एक 'सकल' रूप से 'सम्पूर्ण' है, तो एक 'निष्कल' रूप से परिपूर्ण है।

३२४–व्यवहारभाषानुगत 'सकल' शब्द की पूर्णता, तदनुबन्धी सकल (खण्डात्मक–अपूर्ण) बल, एवं तदाधारभूत निष्कल–अनन्त रसब्रह्म—

अतएव व्यवहारभाषा में 'सकल' शब्द भी अनन्तता का संग्राहक बन गया है, जैसाकि–'सकल-ब्रह्माण्डाधिनायक'–आदि व्यवहारों से स्पष्ट है। सकल (कलनात्मिका कलाओं से युक्त) बलतत्त्व (प्रत्येक) अपने अपने स्वरूप से एक एक स्वतन्त्र केन्द्र है, अणोरणीयान् केन्द्रबिन्दुस्वरूप है, तो निष्कल रसतत्त्व का कोई नियत केन्द्र नहीं है। 'निष्कल रस'-दृष्ट्या वही अनन्त परात्पर (दिग्देशकालानवच्छिन्न परात्पर) अकेन्द्र, अतएव अमनस्क, अतएव अकाम, अतएव निष्क्रिय, अतएव सृष्टिधर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्ट है, तो 'सकलबल'–दृष्ट्या वही अनन्त परात्पर (कलनात्मक संख्यानन्त्य से–बलानन्त्य से अनन्तभावापन्न परात्पर) अपनी प्रत्येक बलबिन्दु से, बिन्दु बिन्दु से सकेन्द्र है, अतएव समनस्क है, अतएव सक्रिय है, अतएव च सृष्टिधर्म्म से सर्वात्मना संस्पृष्ट है। परात्पर का कोई केन्द्र नहीं अनन्त-रसदृष्ट्या ! अतएव परात्पर से कदापि सादिसान्ता सृष्टि की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। साथ ही परात्पर की प्रत्येक बलबिन्दु केन्द्र ही केन्द्र है। अतएव परात्पर से ही, इसके विशेषबलात्मक धाराबल से ही सृष्टि, और अनाद्यनन्ता सृष्टिधारा की प्रवृत्ति सततरूपेण प्रक्रान्ता है।

३२५–कलनभावात्मक कलारूप काल, एवं तदनुबन्धी कालरूप बलभावों के कोशात्मक महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण—

अनन्त–असंख्य–गणनात्मक–कलन–भावों के कारण ही इस परात्परबल का पारिभाषिक नाम रक्खा जायगा–'कलनात्मकत्वेन–'कालः'। 'कल संख्याने, शब्दे च' रूपा धातुमर्य्यादा भी काल के इस गण–

*–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किञ्चन।

—श्रुतिः

नामक मध्यातनभाव का ही समर्थन कर रही है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। कलना-त्मक कालरूप यह परात्परबल गणनासंख्या से अनन्त (असंख्य) बनता हुआ भी अपनी कोशमर्य्यादा से १६ श्रेणिविभागों में ही विभक्त माना गया है, जो १६ महान्बल 'षोडशबलकोश' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन का अन्य निबन्धों में यत्रतत्र यथाप्रसङ्ग सक्षेप, तथा विस्तार से स्पष्टीकरण हो चुका है। इन सोलह कोशबलों में भी १५ कोशबलों का एक विभाग है, सर्वादिभूत एक बलकोश का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं यही 'मायाबलकोश' कहलाया है, जिस की सीमा में शेष १५ ही कोशबल प्रतिष्ठित हैं। या 'मायाबलकोश' के ग्रहण से १६ ही कोशबल परिगृहीत बन जाते हैं। इन सोलह बलकोशों में (प्रत्येक बल-कोश में) अगणित असंख्य-अनन्त-बल गर्भीभूत हैं। इन अनन्त-असंख्य-अगणित बलों को स्व स्व कोशों में गर्भीभूत रखने वाले मायादि सोलह बलकोशों की समष्टि ही 'मायाकोश' नामक एक ही महान् बल-कोश है। और रससमुद्ररूप उस अनन्त परात्परधरातल पर ऐसे ऐसे षोडश-बलकोशात्मक 'मायाकोश' रूप बलकोश भी अगणित-असंख्य-अनन्त हीं हैं बुद्बुदभावों से समतुलित। अनन्त असंख्य बलों से युक्त षोडशबलकोशात्मक अनन्त-असंख्य 'मायाकोश' नामक एक एक महाबल (अनन्तबल) 'मायी महेश्वर' नामक एक एक प्रजापतिब्रह्म की अभिव्यक्ति का कारण बन रहा है। और यों अनन्त है इस अनन्त परात्पर के अनन्तबलकोशात्मक महामायाबलकोशों का विस्तार, जो कि बलात्मक विस्तार बलकलानुबन्धी कलनात्मक 'कालविस्तार' ही माना गया है।

३२६-सुषुप्ति-जाग्रत-निर्गच्छन्-रूपा बलानुबन्धिनी अवस्थात्रयी, चक्रबलानुगत धारा-बल, एवं ब्रह्म की कालातीतता का समन्वय—

यह सर्वात्मना अवधेय है कि, बल की सुषुप्त्यवस्था, जाग्रदवस्था, निर्गच्छदवस्था, रूपेण तीन अवस्थाएँ मानी हैं वैज्ञानिकों ने। रस में अपीत बल सुषुप्त है, यही बल की 'अव्यक्तावस्था' है। रसाधारेण गतिशील बन जाने वाला बल ही जाग्रत है, यही बल की जाग्रदवस्था है। अन्ततोगत्वा व्यक्तबल पुन रस में अन्तर्लीन हो जाता है, यही इस बल की निर्गच्छदवस्था है, एवं यही अव्यक्तावस्था है। उपक्रम में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त, पुन अन्त में अव्यक्त, यही वह धारावाहिक चङ्क्रमण है बलों का, जिस धारावाहिक चक्रबल का ही नाम है-'धाराबल', जो मायाबल के अनन्तर मायासीमा में हीं जागरूक होता है। मायाबल की सुषु-प्ति सम्पूर्ण बलों की सुषुप्ति है। यही बलमात्र की अव्यक्तावस्था है। ऐसी अवस्था में बलों का रहना न रहने के ही समान है। इस प्रथमावस्था का नाम हीं है-"सर्वबलविशिष्टरसैकघनपरात्पर"। 'रसैकघनता' का अर्थ है-'सर्वबलाव्यक्तावस्थात्मक रसैकघन परात्पर"। अतएव कलनात्मक-कालभाव के (परात्पर में) विद्यमान रहने पर भी इन बलों की अव्यक्तावस्थारूपा सुषुप्ति के कारण परात्पर को शुद्ध रसरूप ही मान लिया गया है—। अतएव उसे (रसैकघनतानुबन्ध से ही) 'कालातीत' कह दिया गया है, जब कि कालात्मक अव्यक्तबीज परात्पर में भी विद्यमान तो है ही।

— रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा-आनन्दी भवति।

—उपनिषत्

३२७-कालपुरुषानुगत काममय सृष्टिबीज का संस्मरण—

कलनात्मक-मायाबलरूप-उस अव्यक्तावस्थापन्न-कालबीज का व्यक्तीभाव हुआ तद्गर्भित धाराबल के द्वारा। यही व्यक्तबल 'माया' कहलाया। मायाबलात्मक कालबल का नाम हीं हुआ 'प्रकृति' *। इस मायाप्रकृति की मायामयी व्यक्ता बलसीमा से सीमितवत् बन जाने वाला बिन्दुमात्र परात्परांश ही बलदृष्ट्या सीमित 'पुरुष' कहलाने लग पड़ा, एवं इसी का नाम हुआ 'मायी महेश्वर'। मायावृत्तात्मक इस प्रकृतिरूप कालवृत्त (छन्दोवृत्त-सीमावृत्त) से ही मायामय परात्पर-पुरुष में केन्द्रभाव, अतएव मनोभाव अभिव्यक्त हो पड़ा, जिस की 'एकोऽहं वहु स्याम् प्रजायेय' रूपा कामना का नाम ही हुआ 'सृष्टिबीज', जिस का निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋक् सं० १०।१२६।४।

३२८-कामरेत की स्वरूप-महिमा का अनन्त-विस्तार, तद्द्वारा सर्वप्रपञ्चोद्भव, तत्रैव सर्वं प्रतिष्ठितं, एवं नवम-मन्त्रार्थ संस्मरण—

महामायी षोडशीपुरुषात्मक सहस्रबल्शेश्वर का हृदयस्थ भाव ही काममय मन है, जिसका परात्पर के सद्भावरूप रस के आधार पर उसी के असद्भावरूप बल में ग्रन्थिबन्धन होता है हृत्प्रदेश में। एवं सदसत्-रसबलात्मक हृदयावच्छिन्न यह मनोमय 'काम' ही सम्पूर्ण सृष्टियों का 'रेत' (मूलबीज) बनता है मार्गवाङ्गिरसाग्नि-सोम-रूप कवियों की प्रज्ञा के माध्यम से (पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप प्राणमूर्त्ति महदक्षर के माध्यम से क्षरसमन्वयपूर्वक)। महेश्वरप्रजापति की मूलकामना आगे चल कर एकबल्शेश्वरात्मक योगमायावच्छिन्न विश्वेश्वर में, तद्द्वारा पञ्चोपेश्वरों में, तद्द्वारा अदितिमण्डलात्मक सम्वत्सरचक्र में प्रतिष्ठित ईश्वर-प्रजापति (सम्वत्सरप्रजापति) में प्रतिष्ठित होती है। इसी मनोमयी कामना से तत्तद्विवर्त्तों के सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतर-सूक्ष्म-स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-प्राण-भूतादि पदार्थ अभिव्यक्त-उत्पन्न होते रहते हैं। ये सब 'इषित', और 'जात' विवर्त्त, एवं इच्छापूर्वक उत्पन्न सृष्टियाँ यद्यपि महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-नामक प्रजापतियों की ही इच्छाएँ, तथा सृष्टियाँ हैं। तथापि इन प्रजापतियों की इच्छा का मूलाधार तत्त्वतः सीमाभावात्मक वह 'मायाबल' ही है, जो कलनात् 'कालः' बन रहा है। उस मायावृत्तात्मक कालसीमावृत्त से ही केन्द्रभाव उदित है, तत्रैव मनोमयी इच्छा व्यक्त है। स्वयं वृत्त 'मायाबलात्मक काल है, तो तदनुगत हृदयबल भी बलत्त्वेन 'काल' ही है। तो तत्र प्रतिष्ठित 'बलचिति' रूप मन भी कलात्मक बलानुबन्ध से काल ही है। तो मनोमयी इच्छा भी बलप्राणात्मिका बनती हुई कालरूपा ही है। तो इस इच्छा से उपादान बनने वाला क्षर भी व्यक्तबलात्मकत्त्वेन काल ही है। तो क्षरकाल से उत्पन्न सृष्ट पदार्थ भी बलों की संसृष्टिमात्र बनते हुए कलाधर्म्मत्त्वेन 'काल' ही तो हैं। इसप्रकार महाकालात्मक सर्वाधारभूत मायाकाल से आरम्भ कर तद्गर्भीभूत पञ्चकल अव्यय, उसका मन, मन की इच्छा, इच्छामय पञ्चकल अक्षर, तदभिन्न पञ्चकल क्षर, क्षर

---

* **मायां तु प्रकृतिं-विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम्।**

से उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्त, सबकुछ कालात्मक ही (बलात्मक ही–प्रकृत्यात्मक ही) तो हैं। काल ही अपने मूलरूप से सीमाबद्ध बनाता हुआ पुरुषसम्बन्धमाध्यमेन इच्छा का प्रवर्त्तक है, तो यही इच्छारूप काल आगे जाकर बलचित्यात्मक क्षरकाल के रूप से–'क्षर सर्वाणि भूतानि' न्यायेन सृष्ट–उत्पन्न–जात–भावों में परिणत हो रहा है। या रसावारेण चक्रधारारूपेण सनातन बना रहने वाला कालचक्र ही इच्छापूर्वक सबकुछ बना रहा है कालरूपात्मक ही। वही अपने वृत्तरूप से आधार है, तो वृत्त से वृत्त बलचितिरूप से वस्तुस्वरूप में परिणत होता हुआ आधेय भी प्रमाणित हो रहा है। वही छन्द कालरूप से स्रष्टा है, एवं छन्दितकालरूप में सृष्टि है। वही 'वयोनाध'रूप से 'काल' है, तो वही 'वयो' रूप से कालिक पदार्थ है। वह (छन्दित्रय) अपने रूप में (छन्दोरूप में) ही प्रतिष्ठित है। और निश्चयेन वही, मूलभूता महामायारूपा मूलकालप्रकृति ही पार्थिव अदितिमण्डलात्मक सम्वत्सरचक्र में परिणत हो रही है, एवं वही सम्वत्सरमूला प्रजा के रूप में परिणत हो रही है। बलात्मक–प्रकृतिरूप–काल के इसी व्यष्टिगर्भित समष्टिरूप को लक्ष्य बनाते हुए ऋषि ने कहा है—

"तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्"।

३२९–कालकामना से उत्पन्ना सृष्टि की स्वरूप-जिज्ञासा, एवं तत्समाधानाधारभूता रसात्मिका भावसृष्टि का स्वरूप-समन्वय—

कालप्रजापति से इषित, तथा जात सृष्टिविवर्त्त का क्या स्वरूप है?, अब इसी सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। काल की इच्छा से जाता–उत्पन्ना–सृष्टि का क्या स्वरूप?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं–'कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम्'। बलात्मिका, किंवा बलकोशात्मिका प्रकृति ही 'काल' की स्वरूप-व्याख्या है, जो प्रकृतिरूप काल अपने प्राणात्मक व्यक्त–मूलभूत महामायात्मक महाछन्दोरूप से सर्वप्रथम उस 'मायी महेश्वर' विवर्त्तरूप में परिणत होता है, जो महेश्वर त्रिपुरुषपुरुषात्मक 'षोडशी प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। इसके परात्पराभिन्न पञ्चकल अव्यय, अव्ययाभिन्न पञ्चकल अक्षर, एवं अक्षराभिन्न पञ्चकल आत्मक्षर, नामक तीन मन–प्राण–वाग्–रूप विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनों विवर्त्तों के द्वारा होने वाली बलात्मिका सृष्टियाँ ही 'कालसृष्टि' कहलाई हैं। अव्ययानुगता कालसृष्टि में बल गौण बना रहता है, एवं रस प्रधान। अतएव अव्ययात्मसृष्टिरूपा बलसृष्टि (कालसृष्टि) '[1] रससृष्टि' कहलाएगी। एवं बलत्वेन 'प्रकृतिसृष्टि' मानते हुए भी रसप्रधानतया कहा जायगा इसे 'पुरुषसृष्टि' ही। यही प्रथमा सृष्टि अव्ययमनोरूपा 'भावसृष्टि' कहलाई है, जिसमें दिग्देश का अभाव है।

३३०–कालप्रकृत्यनुबन्धिनी परा गुणसृष्टि, एवं अपरा विकारसृष्टि का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धिनी विभूति योग-याग-भावत्रयी—

दूसरी अक्षरासमष्टिरूपा बलात्मिका कालसृष्टि में रस–बल दोनों समभावापन्न हैं। अतएव इसे–[2]'रसबलसृष्टि' माना जायगा, इसे ही 'पराप्रकृतिसृष्टि' कहा जायगा, एवं इसे ही 'गुणसृष्टि' माना जायगा। तीसरी आत्मक्षरात्मिका बलसृष्टि बलप्रधाना सृष्टि है। अतएव इसे '[3]बलसृष्टि' माना जायगा, इसे

ही 'अपराप्रकृतिसृष्टि' कहा जायगा, एवं इसे ही 'विकारसृष्टि' माना जायगा। अव्ययानुगता रससृष्टि, अक्षरानुगता रसबलसृष्टि, एवं क्षरानुगता बलसृष्टि, तीनों एक ही बल के रस के साथ होने वाले विभूति-योग-याग-नामक तीन विभिन्न सम्बन्धों के ही विभिन्न तीन परिणाम माने जायँगे।

३३१-सृष्टित्रयी से अनुप्राणित त्रयोदशविध (१३) त्रयी-(३)-विवर्त्तों का समन्वय-दिग्दर्शन—

विभूतिसम्बन्धावच्छिन्ना बलसृष्टि ही 'रससृष्टि' होगी, योगसम्बन्धावच्छिन्ना सृष्टि ही 'रसबलसृष्टि' होगी, एवं योगसम्बन्धावच्छिन्ना सृष्टि ही 'बलसृष्टि' होगी। रससृष्टि दिग्देश से असंस्पृष्टा मानी जायगी, रसबलसृष्टि देश से असंस्पृष्टा कही जायगी, एवं बलसृष्टि को देशप्रदेशात्मिका सृष्टि कहा जायगा। तीनों को क्रमशः मनःसृष्टि-प्राणसृष्टि-वाक्सृष्टि भी कहा जासकेगा। तथैव ये ही तीनों ज्ञानसर्ग-क्रियासर्ग-भूतसर्ग, नाम से भी व्यवहृत होंगे। एवं दृष्टिकोणभेद से इन्हीं तीनों को कालसर्ग-दिक्सर्ग-देशसर्ग-भी कहा जासकेगा। ये ही तीनों सृष्टिविवर्त्त पुरुषसर्ग-प्रकृतिसर्ग-विकृतिसर्ग भी माने जासकेंगे। इन्हीं के भावसर्ग-गुणसर्ग-विकारसर्ग-ये नामान्तर भी हो सकेंगे। अन्ततोगत्वा इन्हीं तीनों को ब्रह्मसृष्टि-यज्ञसृष्टि-मैथुनीसृष्टि-भी कहा जासकेगा, जिनके व्यावहारिक नामविवर्त्त होंगे—ऋषिसृष्टि-देवसृष्टि-पितृसृष्टि, ये। तीनों में अव्ययसृष्टि के भावात्मक सभी विवर्त्त रसप्रधानतया विभूति-सम्बन्धत्वेन 'असृष्टिभाव' ही कहे जायँगे। एवं इस दृष्टि से 'सृष्टि' शब्द की मर्य्यादा से केवल उत्तर की दोनों सृष्टियों को ही (गुणसृष्टि, विकारसृष्टिरूपा अक्षर-क्षरात्मिका प्रकृतिसृष्टियों को ही) 'सृष्टि' कहा जायगा, जिनमें अक्षरमूला गुणसृष्टि को कहा जायगा अमूर्त्त-अव्यक्त-काल की अमूर्त्तसृष्टि, एवं क्षरमूला विकारसृष्टि को कहा जायगा मूर्त्त-व्यक्त-काल की 'मूर्त्तसृष्टि'। अमूर्त्तसृष्टि प्राणप्रधाना बनती हुई देशभावों से असंस्पृष्टा रहेगी, मूर्त्तसृष्टि धामच्छद-भूतप्रधाना बनती हुई दिग्देशकाल से संस्पृष्टा रहेगी। यों-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-मूर्त्तं च, अमूर्त्तञ्च, सच्च-त्यच्च' रूपेण सत्-त्यम्-रूप (सत्यंरूप) कालब्रह्म की अमूर्त्ता गुणसृष्टि, तथा मूर्त्ता विकारसृष्टि, ये दो सृष्टियाँ हीं-'सृष्टि' शब्द की मुख्यरूप से अधिकारिणी मानलीं जायँगी, और यही कालसृष्टि का अथ से इतिपर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त होगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

(१) विभूतिसर्गः	(२) योगसर्गः	(३) यागसर्गः
रससृष्टि.	रसबलसृष्टि.	बलसृष्टि
पुरुषसृष्टि·	पराप्रकृतिसृष्टि	अपराप्रकृतिसृष्टि
अव्ययसृष्टि	अक्षरसृष्टि	क्षरसृष्टि.
मन सृष्टि	प्राणसृष्टि	वाक्सृष्टि.
ज्ञानसर्ग	क्रियासर्ग	भूतसर्ग
कालसर्ग	दिक्सर्ग	देशसर्ग.
ब्रह्मसृष्टि	यज्ञसृष्टि	मैथुनीसृष्टि.
भावसर्ग·	गुणसर्ग	विकारसर्ग·
पुरुषसर्ग	प्रकृतिसर्ग·	विकृतिसर्ग.
ऋषिसर्ग	देवसर्ग	पितृसर्गः
तदेव कालब्रह्म–	सच्च	त्यच्च
	अमूर्त्तञ्च	मूर्त्तञ्च

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे–मूर्त्तञ्च, अमूर्त्तञ्च

अव्ययसृष्टिः—	महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
	मद्भावा मानसा जाता येषां लोक, इमाः प्रजाः ॥ (गीता १०।६।) ।
भावसर्गः—	भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः (गीता० १०।५।) ।

अक्षराक्षरात्मिका प्रकृतिसृष्टिः	प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
गुण-विकार-सर्गौ	विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
	—गीता० १३।१६।

३३२—अमूर्त्त मूर्त्त—सृष्टियों के उपक्रम—स्थान की जिज्ञासा, तत्समाधान—परक 'ब्रह्म', तथा 'परमेष्ठी' भाव की स्वरूप—महिमा का यशोवर्णन, एवं नगम मन्त्रार्थ—समन्वयोपराम—

अब काल के विश्वसर्ग में हमें यह अन्वेषण करना है कि, काल की प्रकृतिमूला (अक्षर—क्षरमूला) अमूर्त्त—मूर्त्त—सृष्टियों का उपक्रम—स्थान कौनसा है ? । जहांतक अव्ययात्मिका भावसृष्टि-मानसीसृष्टि का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में तो अन्वेषण व्यर्थ है, उसीप्रकार, जैसेकि दिक्—देश से पृथग्भूत, अव्यक्तावस्था में परिणत अमूर्त्त काल के सम्बन्ध में अन्वेषणात्मक प्रश्न सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित हो जाता है । अतएव अन्वेष्टव्यकोटि में अब अमूर्त्ता गुणसृष्टि, तथा मूर्त्ता विकारसृष्टि, ये दो विवर्त्त ही शेष रह जाते हैं, जिन के महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु महान् प्रतिमाभाव ऋषिप्राणमूर्त्ति अव्यक्त स्वयम्भू, तथा व्यक्ताव्यक्त आपोमय परमेष्ठी ही बन रहे हैं । आकाशात्मा स्वयम्भू ही पञ्चतन्मात्रारूप गुणभूतों का मूलप्रवर्त्तक है, तथा वाय्वात्मा परमेष्ठी ही पञ्चमहाभूतात्मक विकारभूतों का मूलप्रवर्त्तक है । 'ब्रह्म' नामक ÷ स्वयम्भू, तथा 'सुब्रह्म' नामक परमेष्ठी ही विश्व की यच्चयावत् अमूर्त्त—मूर्त्त—रूप—गुण—विकार—सृष्टियों के सर्वस्व बने हुए हैं । योगमायावच्छिन्न योगमायारूप कालवृत्त ही 'बलयोगसम्बन्ध' से सर्वप्रथम ब्रह्मस्वयम्भूरूप में परिणत होता हुआ गुणसर्गात्मिका अमूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है, एवं वही कालवृत्त 'बलयोगसम्बन्ध' से सुब्रह्म परमेष्ठीरूप में परिणत होता हुआ विकारसर्गात्मिका मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है । यों भावसर्गात्मक, छन्दःपुरुषरूप※—अव्यय—पुरुषात्मक वृत्तात्मक—मायाबललक्षण कालपुरुष ही ब्रह्मरूप से (स्वयम्भुरूप से) गुणात्मक अमूर्त्तसर्गरूप दिक्सर्ग,

÷ ब्रह्म वै स्वयम्भू—अभ्यानर्षत् ।

※ छन्दःपुरुषमिति यमवोचामः—(ऐतरेय आरण्यक) ।

तया परमेष्ठीरूप से विकारात्मक मूर्त्तसर्गरूप देशसर्ग–रूप में परिणत हो रहा है। दोनों में अमूर्त्त गुणसर्गात्मक स्वयम्भू ब्रह्म ही क्योंकि अपने यजुर्मय वाग्भाग से द्रुत होकर आपोमय परमेष्ठीरूप में परिणत हुआ है। परमेष्ठी को अपने वाग्भाग से उत्पन्न कर–'त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्-तत आण्ड समवर्त्तत' रूपेण प्रतिष्ठारूप से यही ब्रह्मस्वयम्भु परमेष्ठी की आधाररूपा प्रतिष्ठा बन रहा है। सहजभाषानुसार–'ब्रह्म वै प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।७) रूपेण ब्रह्म स्वयम्भूरूप अमूर्त्तभाव ही परमेष्ठीरूप मूर्त्त को धारण किए हुए है। अतएव इसी उभयविध कालसर्ग को (गुण–विकार–सर्ग को, अमूर्त्त–मूर्त्तसर्ग को), लक्ष्य बना कर ऋषिने कहा है—

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

इति--नवममन्त्रार्थसमन्वयः

९

(१०)–दशममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [दशममन्त्रार्थ]

३३३–'कालः प्रजा असृजत' इत्यादि दशम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय—

(१०) कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः, कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत ॥

"कालने प्रजा उत्पन्न की। सर्वप्रथम काल ने ही प्रजापति को उत्पन्न किया। काल से ही स्वयम्भु अभिव्यक्त हुए, काल से ही कश्यप व्यक्त हुए, (एव) काल से ही तप उत्पन्न हुआ"– इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत दशम मन्त्र के द्वारा काल के त्रिविध अमूर्त्त–मूर्त्त–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य उन अव्यक्ताव्यक्त (गुण–विकार) सर्गों का ही समष्टिरूप से संस्मरण किया है महर्षिने अपनी स्वयसिद्धा सहजा रहस्यपूर्णा परावाक् के माध्यम से, जिसका दो शब्दों में संस्मरण कर हम भी अपनी वैखरी वाणी को सत्यभावानुगता बनाने की अक्षम्या धृष्टता कर लेते हैं।

३३४–छन्दोमूर्त्ति महाकालपुरुष के दो प्रमुख सर्ग, एवं तदनुगत प्रजापति, और प्रजा–शब्दद्वयी का संस्मरण—

नवम मन्त्रार्थ–समन्वयोपसंहार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, महामायाबलात्मक छन्दोमूर्त्ति महाकालपुरुष के स्वयम्भू, और परमेष्ठी नामक दो ही प्रमुख सर्ग हैं, जिन्हें क्रमशः अमूर्त्त–मूर्त्त–सर्ग कहा गया है। स्वयम्भू, और परमेष्ठी, ये दोनों ही शब्द लोकसामान्यजगत् के लिए आरम्भ में थोड़े नवीन से, अतएव दुर्बोध्य से बने रहते हैं। अतएव उन्हीं के स्थान में ऋषि लोकप्रचलित प्रजापति, और प्रजा, इन दो व्यावहारिक शब्दों के माध्यम से काल के अमूर्त्त–मूर्त्त–सर्गों को व्यक्त कर रहे हैं।

३३५–मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति, रूपकर्म्मनाममयी शरीरप्रजा, एवं अमृत-मृत्यु-भावों का समन्वय—

'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' के अनुसार जो कुछ भी हमें प्रतीत हो रहा है, समष्ट्या–व्यष्ट्या–वह सब 'प्रजापति' ही है, जिसके 'आत्मा', और 'शरीर' नामक पर्व सुप्रसिद्ध हैं। शरीर से समन्वित

आत्मा का नाम हीं आत्मा है, एवं आत्मविशिष्ट शरीर का नाम हीं 'शरीर' है। आत्मा (शरीर से समन्वित–आत्मन्वीरूप आत्मा) ही 'प्रजापति' है, जो मनःप्राणवाङ्मय है, वही 'अमृतम्' है। एवं शरीर (आत्मविशिष्ट आत्मन्वीरूप शरीर) ही 'प्रजा' है, जो रूपकर्म्मनाममयी है, वही 'मर्त्यम्' है। अमृत–प्रजापति अक्षर–प्रधान है, मर्त्या प्रजा क्षर–प्रधाना है। अमृताक्षररूप प्रजापति ही उस काल की प्रथमा (अग्रे) अमृतासृष्टि हैं, यही गुणात्मिका (सगुणात्मलक्षणा) अमूर्त्तसृष्टि है। एवं मर्त्यक्षररूपा प्रजा ही उस काल की द्वितीया मर्त्यासृष्टि है, यही विकारात्मिका मूर्त्तसृष्टि है। प्रजापतिरूप अमृताक्षरात्मा, तथा प्रजा–रूप मर्त्यक्षरशरीर, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है–'अहम्' नामक (मूर्त्तामूर्त्त–समन्वित) सर्ग, जैसाकि–'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' इत्यादि से स्पष्ट है।

३३६–'काल· प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' मन्त्रपूर्वार्द्ध का संस्मरण–समन्वय–

हम (मानव) अपनी अध्यात्मसंस्था के लिए जिस–'अहमस्मि' ('मैं हूँ') इस प्रत्यभिज्ञा का अनुगमन करते रहते हैं, इस एक ही 'अहम्' में आत्मा और शरीर, अमृत और मर्त्य, अमूर्त्त और मूर्त्त, गुण–और विकार, एवं प्रजापति, तथा प्रजा दोनों ही समाविष्ट हैं। प्रजापति (आत्मा) भी प्रजा (शरीर) से समन्वित हैं, एवं प्रजा (शरीर) भी प्रजापति (आत्मा) से समन्वित है। मनःप्राणवाङ्मय आत्म–प्रजापति, एव नामरूपकर्म्ममयी–शरीरप्रजा, दोनों हीं क्रमशः अव्यक्त स्वायम्भुवसर्ग, तथा व्यक्त पारमेष्ठ्यसर्ग हैं, जिनका मन्त्रपूर्वार्द्ध में महर्षि ने 'प्रजापति', और 'प्रजा', इन दो व्यावहारिक–लोकप्रचलित शब्दों के माध्यम से ही संग्रह करलिया है। और–'कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' का यही अक्षरार्थ–समन्वय है।

३३७–प्रजापति से आविर्भूता चतुर्विधा प्रजा का नाम–स्मरण—

अभी स्थिति का तत्त्वदृष्ट्या सर्वात्मना समन्वय नहीं हुआ। अतएव ऋषि को आगे चलकर कहना पड़ा कि–"स्वयम्भूः, कश्यपः कालात्,–तपः कालादजायत'। समन्वय कीजिए इस मन्त्रार्द्ध का भी अपनी सहजा आस्थाश्रद्धापरिपूर्णा सत्त्वप्रज्ञा से ही। मनःप्राणवाङ्मय अव्यक्त स्वयम्भू ही प्रकृत मन्त्र का वह 'प्रजा–पति' नामक अव्यक्त तत्त्व है, जिस की प्रजा परमेष्ठी, इन्द्रात्मक सूर्य्य, सोमात्मक चन्द्रमा, तथा अग्न्यात्मक भूपिण्ड, ये चार मानीं गईं हैं। अतएव ये चारों अव्यक्त स्वयम्भू प्रजापति के 'अधिदेवता' (महिमामयसर्ग) माने गए हैं, जैसाकि–अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्यः)–सोमः (चन्द्रमाः), परमेष्ठी प्राजापत्यः' (शत० कामप्रब्राह्मणश्रुति० ११।१।६।१३–१४ कण्डिकाएँ) इत्यादि कामप्रयज्ञश्रुति से स्पष्ट है।

३३८–प्रजाचतुष्टयी का सौर सम्वत्सरात्मक कूर्म्मप्रजापति के स्वरूप में अन्तर्भाव, एवं सौर सम्वत्सरात्मक कश्यप के द्वारा परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–भू–नामक चतुर्विध स्वायम्भुव अधिदेवताओं का संग्रह—

इन चारों प्रजाओं का सौरसंस्थानरूप उस 'कूर्म्मप्रजापति' में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जिनका पूर्व के–'पूर्णः कुम्भोऽधि काले आहितः' इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ–समन्वय–प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। 'अवका अधस्तात्, अवका उपरिष्टात्। आपो वा अवकाः (आपः परमेष्ठी सलिलमेव)'

इत्यादि कूर्म्मचितिब्राह्मणश्रुत्यनुसार कूर्म्मस्वरूप में आपोमय परमेष्ठी तत्त्वरूप आसमन्तात् व्याप्त 'अवका[1]', तथा इस अवकारूप पारमेष्ठ्य समुद्र मे पतित समाप्लुत सूर्य्य[2]–चन्द्र[3]–भूपिण्ड[4] रूप द्यौ–अन्तरिक्ष–पृथिवी रूप त्रैलोक्य, इन चार सत्त्वों की समन्वितावस्था का नाम ही है सौरसम्वत्सरात्मक–उच्याम्निलोकीरूप 'कूर्म्मप्रजापति', जिसे सर्वपश्यकत्त्वेन 'कश्यप' भी कहा गया है, जैसाकि तत्रैव तृतीय प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। यों सौरसम्वत्सरात्मक कश्यप परमेष्ठी[1]–सूर्य्य[2] (इन्द्र)–चन्द्र[3] (सोम)–भूपिण्ड[4] (अग्नि) इन चारों स्वायम्भुव अधिदेवताओं का सग्राहक बन रहे हैं।

३३९–अव्यक्त स्वयम्भू प्रजापति, व्यक्त कश्यप प्रजापति, एवं अव्यक्ताधार पर प्रतिष्ठित व्यक्त प्रजापति की दधि-घृत-मधु–अमृत–रूपता का तात्त्विक-प्राणात्मक-समन्वय—

दधि, घृत, मधु, अमृत, इन चार रसों की समन्वितावस्था का नाम ही कश्यपात्मक 'कूर्म्मप्रजापति' है। भूपिण्डानुगत घनाग्निरस ही 'दधि' है–'दधि हैतास्य लोकस्य रूपम्'। चान्द्र–अन्तरिक्षानुगत तरल–वायुरस ही 'घृत' है–'घृतमन्तरिक्षस्य'। सूर्य्यानुगत विरलादित्यरस ही 'मधु' है–'मध्वमुष्य'। एवं 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' के अनुसार आपोलोक (भृग्वङ्गिरोमय सोमलोक) नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठ्यनुगत ब्राह्मणस्पत्य सोमरस ही 'अमृतम्' है। इन चारों रसों से ही, सोम–आदित्य–वायु–अग्नि–रसात्मक–चारों लोकों से ही क्योंकि 'कूर्म्म' रूप कश्यप का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, अतएव कश्यप को रसात्मक भी मान लिया है श्रुति ने, जैसाकि–"ता सलिलस्य–अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै य पराङ् रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत्' (शत० ६।१।१।१२)–'रसो वै कूर्म्मः। यो वै स एषां लोकानां–अप्सु प्रविद्धानां पराङ्–रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्म्मः। दधि हैतास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुष्य' (शत० ७।५।१।१ से ७ पर्य्यन्त) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है। चतुर्लोकात्मक (परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–भूलोकात्मक) इस व्यक्त कूर्म्म का महान् प्रतीक व्यक्त सूर्य्य ही बन रहा है। अतएव श्रुतिने–'स य स कूर्म्म –असौ स आदित्य' इत्यादिरूप से आदित्य-प्राणघन सूर्य्यरूप से ही 'कश्यप' का स्वरूप सग्रह कर लिया है। यो व्यक्तसूर्य्य ही परमेष्ठी–इन्द्र–सोम–अग्नि, इन चारों अधिदेवताओं का सग्राहक बन रहा है। यही 'कश्यप' का समष्ट्यात्मक अर्थ है, जिस से अतिरिक्त अब विश्व में केवल 'स्वयम्भू' ही शेष रहजाते हैं। स्वयम्भू अव्यक्त मात्रों के प्रतिनिधि हैं, तो कश्यप व्यक्तमात्रा के प्रतिनिधि हैं। अव्यक्त स्वयम्भू 'प्रजापति' हैं, तो व्यक्त कश्यप उस प्रजापति की 'प्रजा' है।

३४०–आपोमय समुद्रगर्भ में प्रतिष्ठित कश्यप-प्रजापति, एवं प्रजामूलक कश्यप के 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' वचन का समन्वय—

दधिरूप भूलोक, घृतरूप चान्द्रान्तरिक्षलोक, मधुरूप सौर–द्युलोक, इन तीन लोकों से ही वस्तुतः कश्यप का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जो तीनों लोक सौरसंस्थान में ही अन्तर्भुक्त माने गए हैं। चौथा आपोमय परमेष्ठी भी 'अपां गम्भन्त्सीद' के अनुसार यद्यपि कश्यपसंस्था का अनुगामी बन रहा है। तथापि तत्त्वतः परमेष्ठी तो स्वायम्भुव ब्रह्म से समन्वित हो कर इस कश्यप का उत्पादक ही बन रहा है। अतएव परमेष्ठी प्राजापत्य का तो स्वयम्भू विवर्त्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है। स्वयम्भूब्रह्म, परमेष्ठी–सुब्रह्म, इन दोनों के

दाम्पत्य से ही तो त्रिलोकी-लक्षण विराट् सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है, जिसे ही यहाँ 'कश्यप' कहा गया है। अतएव 'प्रजा' शब्द का प्रमुख अधिकारी उस सौर-कश्यप संस्थान को ही माना जायगा, जिसमें सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-ये तीन पर्व ही प्रमुख बन रहे है। अतएव 'सर्वा: प्रजा: काश्यप्य:' निगम प्रसिद्ध हुआ है।

३४१-देव-पितर-मानव-प्रजात्रयी का 'सौरसम्वत्सरप्रजा' में अन्तर्भाव, एवं काल की अभिव्यक्तिरूप स्वयम्भू, तथा कश्यप का स्वरूप-समन्वय—

सौरप्राणात्मिका प्रजा ही 'देवा:' है, चान्द्रप्राणात्मिका प्रजा ही 'पितर:' है, एवं पार्थिव-प्राणात्मिका प्रजा ही 'मानवा:' है। अतएव भूलोक 'मनुष्यलोक' कहलाया है, चन्द्रलोक 'पितरलोक' कहलाया है, एवं सूर्य्यलोक 'देवलोक' कहलाया है। ये तीनों ही उस स्वयम्भू-परमेष्ठी-समन्वितरूप प्रजापति की प्रजा हैं, जो प्रजापति के ('ब्रह्मरूप स्वयम्भू पति, तथा सुब्रह्मरूप परमेष्ठी पत्नी, इन दोनो के) दाम्पत्यरूप से आविर्भूत व्यक्त कश्यप प्रजापति के माध्यम से ही प्रसूत हैं। तदित्थं-अत्र अव्यक्तभाव में **स्वयम्भू-परमेष्ठी**, इन दो का संग्रह, तथा व्यक्तभाव में कश्यपावयवरूप **सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड**-इन तीन का संग्रह स्वत: ही संसिद्ध बन जाता है। उन दोनों का संग्रह **'स्वयम्भू'** नाम से अन्वर्थ है, तो इन तीनों का संग्रह **'कश्यप'** नाम से अन्वर्थ है। यो अमूर्त्त-मूर्त्त-भावापन्न पाँच विश्वसर्गों के दो अमूर्त्त, तीन मूर्त्त-भावों के अन्ततोगत्त्वा दो ही प्रमुख विवर्त्त शेष रह जाते हैं, जिन्हें अवश्य ही **स्वयम्भू:, कश्यप:** नामो से व्यवहृत किया जा सकता है।

३४२-अव्यक्त स्वयम्भू का प्रजापतित्त्व, व्यक्त कश्यप का प्रजात्त्व, एवं दोनों स्वरूपों का कालानुगतत्त्व—

स्वयम्भू आत्मरूप प्रजापति है, तो कश्यप शरीररूप प्रजा है। इसप्रकार मन्त्रपूर्वार्द्ध में जिस अव्यक्त आत्मविवर्त्त, तथा व्यक्त शरीरविवर्त्त के लिए ऋषिने 'काल: प्रजा-असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' यह कहा है, इन्ही दोनों भावों के लिए मन्त्रोद्धरार्द्ध में-'स्वयम्भू:, कश्यप: कालात्' यह कहा गया है। स्वयम्भू प्रजापतिरूप आत्मा है, तो कश्यप प्रजारूप शरीर है। आत्मा मन:प्राणवाङ्मय अमूर्त्त-भाव है, एवं शरीर नामरूपकर्म्ममय मूर्त्तभाव है। अमूर्त्तभाव का उपक्रमबिन्दु ब्रह्मस्वयम्भू है, एवं मूर्त्तभाव का उपक्रमबिन्दु सुब्रह्म परमेष्ठी है। **'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति'** इत्यादि छान्दोग्यश्रुति के अनुसार अप्तत्त्व ही प्रजारूप शरीर की उपक्रमबिन्दु बनता है। शरीर पारमेष्ठ्य-आपोमय है, यह मूर्त्त है, तो आत्मा प्राणमय है, यह अमूर्त्त है। अमूर्त्तप्राण का प्रतिनिधि ब्रह्म (स्वयम्भू) है, तो मूर्त्त आप: का प्रतिनिधि परमेष्ठी है। **'कालो ह ब्रह्म भूत्त्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम्'** इत्यादिरूप से नवम मन्त्र से ब्रह्म, और परमेष्ठी-रूप से जिस अमूर्त्त-मूर्त्त-सर्ग का ऋषिने सङ्केत किया है, प्रस्तुत दशम मन्त्र उसी सङ्केत की प्रजापति, प्रजा रूप से, एवं स्वयम्भू-कश्यप-रूप से व्याख्यामात्र ही है। वहाँ का ब्रह्म यहाँ का 'प्रजापति' है, वहाँ का परमेष्ठी यहाँ की प्रजा है। वहाँ का ब्रह्म यहाँ का स्वयम्भू है, वहाँ का परमेष्ठी यहाँ का कश्यप है। ब्रह्म-प्रजापति-स्वयम्भू-तीनों शब्द अमूर्त्त का संग्रह कर रहे हैं, आत्मभाव का समर्थन कर रहे हैं, तो **परमेष्ठी-प्रजा-कश्यप**-ये तीनों शब्द मूर्त्त का संग्रह कर रहे हैं, शरीरभाव का समर्थन कर रहे हैं।

३४३-शरीरत्रयी से समन्वित शरीरभाव, एवं आत्मत्रयी से समन्वित आत्मभाव, तथा तदनुबन्धी प्राजापत्य-संस्थानों का समन्वय—

'शरीर' के कारण-सूक्ष्म-स्थूल-नामक तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं, जैसे कि आत्मा के भी मन-प्राण-वाक्-रूप तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। त्रिपर्वा आत्मा क्योंकि अव्यक्त है, अमूर्त है, अतएव इसका साक्षात्कार नहीं हो रहा। किन्तु त्रिपर्वा शरीर तो क्योंकि व्यक्त है, मूर्त है। अतएव ब्रह्माण्डाधिष्ठाता प्रजापति की शरीरत्रयी का तो हम सबको साक्षात्कार हो ही रहा है। सौरसंस्थान ही उसका कारणशरीर है, जिसका सूर्यप्रतीकरूपेण साक्षात्कार हो रहा है। चान्द्रसंस्थान ही उसका सूक्ष्मशरीर है, जिसका चन्द्रप्रतीकरूपेण दर्शन कर रहे हैं। भौमसंस्थान ही उसका स्थूलशरीर है, जो तो हमारा आधार ही बन रहा है। प्रजापति के उस अव्यक्त स्वायम्भुवरूप (स्वयम्भू-परमेष्ठ्युभयरूप) से मानव के अव्यक्त-मन-प्राणवाङ्मय आत्मभाव का समन्वय है, जो अव्यक्तत्वेन दृष्टि का विषय नहीं बनता। प्रजापति के व्यक्त सूर्यरूप कारणशरीर से मानव की बुद्धि का, व्यक्त चन्द्रमारूप सूक्ष्मशरीर से मानव के मन का, तथा व्यक्त भूपिण्डरूप स्थूलशरीर से मानव के शरीर का निर्माण हुआ है। तीनों ही व्यक्त हैं। पार्थिव शरीर स्थूलशरीर है, चान्द्र मन सूक्ष्मशरीर है, सौरी बुद्धि कारणशरीर है। एवं तीनों शरीरों-प्रजाओं का आधारभूत अव्यक्त आत्मा ही चौथा स्वायम्भुव तत्त्व है। जैसा स्वरूप उस विश्वेश्वर का है, वैसा ही स्वरूप इसका है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'। सचमुच पुरुष (मानव) प्रजापति के समीपतम ही बना हुआ है। 'अमूर्त्त स्वयम्भू प्रजापति, तथा मूर्त्त कश्यपप्रजा, इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही अमूर्त्त-मूर्त्त-सर्ग है, जिसका प्रवर्त्तक कालपुरुष ही बन रहा है। 'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि' इस प्रतिज्ञासूत्र से उपक्रान्त कालपुरुष का स्वरूप यों अमूर्त्त-मूर्त्त-सर्ग-त्रयी पर ही उपसंहृत हो रहा है-'स्वयम्भू-कश्यप कालात्' इस सूक्त वाक्यान्त से।

३४४-अव्यक्त-व्यक्त-भावों की सर्वव्याप्ति, तन्निबन्धन प्राकृत-कालवैभव, एवं स्वयम्भू-कश्यप-तपः भावों का ससमरण—

सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रजापतिरूप अव्यक्तभाव (आत्मभाव), एवं प्रजारूप व्यक्तभाव (शरीरभाव), इन दो ही विवर्त्तों से समन्वित है, जो दोनों ही विवर्त्त कालात्मक माने गए हैं। काल के अव्यक्तरूप का ही नाम अव्यक्ता-अक्षरप्रकृति है, जिस से आत्मसर्ग उपक्रान्त है। एवं काल के व्यक्तरूप का ही नाम व्यक्ता क्षरप्रकृति (विकृति) है, जिससे शरीरसर्ग उपक्रान्त है। सम्पूर्ण सर्ग प्राकृत हैं, कालात्मक हैं। और व्यक्त-अव्यक्त से अतीत, अतएव कालातीत अव्यय तो केवल भावात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनको आधार बना कर ही तो ऋषिप्रज्ञा से कालसूक्त स्वत ही अभिव्यक्त हुआ है। भावात्मक, कालातीत-पुरुषाव्यय से नित्यसश्लिष्टा अक्षराक्षरप्रकृति ही 'काल' की स्वरूप व्याख्या है। एवं अव्यक्त स्वयम्भू, व्यक्त कश्यप, तथा इन से अभिव्यक्त व्यक्तभावों को भूतभौतिकसर्ग के प्रति अभिमुख बनाने वाला प्राणव्यापारात्मक तप, इन तीनों कालिक विवर्त्तों की समष्टि से ही सम्पूर्ण कालिक पदार्थ स्व स्व स्वरूप से व्यवस्थित हैं।

३४५–मन्त्रोपात्त 'तपः' का स्वरूप–समन्वय, एवं दशम-मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम—

सृष्टि का आधार, सृष्टिनिर्म्माता, सृष्टिनिर्म्माण के साधन, इन तीनों के एकत्र समन्वय से ही 'सृष्टि' का प्रवाह धारावाहिकरूपेण शाश्वतीभ्यः समाभ्यः प्रक्रान्त रहता है। स्वयम्भू ही सृष्टि के आधार हैं, कश्यप ही सृष्टिनिर्म्माता हैं, एवं प्राणदपानल्लक्षण सौर कश्यप का आभ्यन्तर व्यापार ही 'तप' है। अव्यक्त स्वयम्भुरूपा प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित व्यक्त कश्यपरूप सूर्य्यनारायण ही अपने प्राणदपानल्लक्षण महान् 'तप' से सम्वत्सर की मूर्त्तामूर्त-सृष्टियों के सर्वस्व–प्रमाणित हो रहे हैं। उस महाकाल का प्रत्यक्ष निदर्शन यही कालात्मक, स्वयम्भुगर्भित–तपोमूर्त्ति–सौरसंस्थान हैं, जिसके माध्यम से ही मन्वन्तरानुगता अनन्तकालव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। 'तप' शब्द तपन लक्षण, 'तपति' रूप काल के महान् प्रतीकरूप भगवान् सूर्य्यनारायण के माङ्गलिक संस्मरण–दर्शन का ही संग्राहक बन रहा है। एवं 'तपः कालादजायत' इत्यादिरूपेण इसी व्यक्तकालात्मक तपोमूर्त्ति सूर्य्य पर 'कालो अश्वो वहति' इस प्रतिज्ञासूत्र को महर्षि विश्रान्त कर रहे हैं।

इति-दशममन्त्रार्थसमन्वयः

——— १० ———

३४६–अथर्ववेदीय १६ काण्डान्तर्गत-षष्ठानुवाकानुगत-कालस्वरूपसूक्तात्मक 'कालसूक्त' से अनुप्राणित १० मन्त्रों के तात्त्विक–प्रकरण–विभागों का समन्वय—

अथर्वसंहिता के एकोनविंश (१६) काण्ड के षष्ठ अनुवाक का अष्टम सूक्त, तथा नवम सूक्त, इन दो सूक्तों के द्वारा मन्त्रद्रष्टा महर्षि ने काल की जो स्वरूप–व्याख्या की है, उसी का यहाँ संस्मरणमात्र हुआ है, जिन इन दोनों सूक्तों की समष्टि को हम एक ही 'कालसूक्त' मानलेते हैं। क्योंकि दोनों में 'कालो अश्वो वहति' इस 'अथ' से–'कालेयमथर्वाङ्गिरादेवः' इस 'इति' पर्य्यन्त काल की ही स्वरूप–व्याख्या हुई है। अथ से इति पर्य्यन्त एकमात्र काल के ही स्वरूप-व्याख्याता दोनों सूक्तों का एक सूक्त अभिव्यक्त न कर ऋषि ने दो विभिन्न सूक्त क्यों अभिव्यक्त किए ?, प्रश्न का यही समन्वय प्रतीत होरहा है कि, ऋषिप्रज्ञा ने काल, और कालमहिमा रूप से काल को दो विभक्त दृष्टियों से समन्वित करना अनुरूप मान लिया है। काल, और कालसर्ग, दोनों विवर्त्तों को पृथक् पृथक् रूप से अभिव्यक्त करने के लिए ही इन अष्टम–नवम–सूक्तों का आविर्भाव हुआ है। महामायावृत्तात्मक अव्यक्त महाकाल से आरम्भ कर तपोमूर्त्ति व्यक्तभावापन्न सौरकाल पर्य्यन्त–सम्पूर्ण विवर्त्त ही काल की स्वरूप-व्याख्या है। अष्टम सूक्त में उस अव्यक्त महाकाल से आरम्भ कर व्यक्त तपोकाल–सूर्य्यात्मक कश्यप पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले काल के तात्त्विक स्वरूप का समष्टि-व्यष्टि-रूप से दिग्दर्शन कराया गया है। एवं नवम सूक्त में इस सूर्य्यकाल के माध्यम से सौरसम्वत्सरकाल की सीमा में अभिव्यक्त होने वाले कालात्मक महिमाभावों का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। दूसरे शब्दों में–अष्टम सूक्त ने काल के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया हैं, एवं नवम सूक्त ने काल से महिमारूपेण अभिव्यक्त होती रहने वाली कालसृष्टियों का स्वरूप अभिव्यक्त किया है। अतएव इन दोनों सूक्तों का हम क्रमशः कालसूक्त, कालमहिमासूक्त, यह नामकरण कर सकते हैं, जिन इन दोनों सूक्तों में से अबतक दश (१०)मन्त्र–समष्टिरूप 'कालसूक्त' की ही आराधना का प्रयास हुआ है, जिसका समन्वय विषय–विभाग–मर्य्यादा से ही अन्वेष्टव्य है। यहाँ एक तालिका उद्धृत कर दी जाती है, जिसके माध्यम से दश-मन्त्रात्मक कालसूक्त के अक्षरार्थ-समन्वय का राजपथ अमुक सीमापर्य्यन्त प्रशस्त बन सकता है। यह कह देने, और मान लेने में तो हमें यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं करना चाहिए

कि, पारम्परिक–परिभाषाबोध के विलुप्तप्राय हो जाने से आज हमारी लोकप्रज्ञा इस ऋषिवाणी के तात्त्विक–समन्वय में सर्वथा कुण्ठित ही प्रमाणित हो चुकी है। अतएव 'इदमित्थमेव' रूपेण कहने सुनने जैसी कोई भी धारणा वेदार्थ के सम्बन्ध में आज कोई भी महत्त्व नहीं रख रही। यह सबकुछ सर्वात्मना अनुभव करते हुए भी, 'हर निरपराधः परिकर' न्याय से ही ऐसा साहस, किंवा दुस्साहस हो पड़ा है, जिसके बल पर ही दिग्देश-कालमीमांसात्मक प्रस्तुत प्रकरण में कालसूक्त के अक्षरार्थसमन्वयमात्र की धृष्टता हो पड़ी है, जिस का निम्न-लिखित तालिका के माध्यम से ही समन्वय करना चाहिए।

कालसूक्तमिदम्

	मन्त्र		निरूपण
१	१–कालो अश्वो वहति॰ (प्रथममन्त्र)	(१)	कालपुरुषानुगत प्रतिज्ञासूत्र सत्यसम्वत्सरात्मकम्
२	२–सप्त चक्रान् वहति काल एष॰	(१)	—ऋतसम्वत्सरात्मककालस्वरूपनिरूपणम्
	३–पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितः॰	(२)	
३	४–स एव स भुवनान्याभरत॰	(१)	—आधिभौतिककालस्वरूपनिरूपणम्
४	५–कालोमू दिवमजनयत्॰	(१)	—आधिदैविककालस्वरूपनिरूपणम्
	६–कालो भूतिमसृजत॰	(२)	
५	७–काले मन , काले प्राणः॰	(१)	—आध्यात्मिककालस्वरूपनिरूपणम्
६	८–काले तप , काले ज्येष्ठम्॰	(१)	—समष्ट्यात्मककालस्वरूपनिरूपणम्
	९–तेनेषित, तेन जातम्॰	(२)	
	१०–कालः प्रजा असृजत॰	(३)	

इति–षट्–प्रकरणात्मकं–दशमन्त्रानुगतं–कालस्वरूपनिरूपणात्मकं
अष्टम–कालसूक्तम्

श्रीः

अथ–कालमहिमात्मक–कालसूक्त (नवम) पञ्च–मन्त्रात्मक

(१)–नवमसूक्तानुगत–प्रथममन्त्रार्थसमन्वय-प्रकरण (प्रथममन्त्रार्थ)

(पूर्वतोऽनुवृत्त ११ वाँ मन्त्र)

१–(११)–

३४७–'कालादापः समभवन्' इत्यादि प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं काल, तथा कालिक पदार्थों का संस्मरण—

[११]-* १–कालादापः समभवन्, कालाद् ब्रह्म, तपो, दिशः ।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले नि विशते पुनः ॥ *

"काल से आपः उत्पन्न हुए हैं, काल से ब्रह्म उत्पन्न हुआ है, काल से तप उत्पन्न हुआ है, काल से दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं, काल से ही सूर्य्य उदित हुआ है, काल में ही सूर्य्य पुनः प्रवेश

---

*–खण्डचतुष्टयात्मक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध का यह चतुर्थखण्ड प्रक्रान्त है, जिसमें चार स्तम्भों का समावेश संकल्पित है । इन चारों स्तम्भों में पहिला यह 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथम (एवं पूर्व क्रमप्राप्त एकादश–ग्यारहवाँ)–स्तम्भ ही प्रक्रान्त है । अभी शेष तीन स्तम्भ प्रतीक्षानुगामी बन रहे हैं, जब कि प्रासङ्गिक अष्टमकालसूक्त ही बहुविस्तृत होगया है अपनी दुर्बोध्या–परिभाषाओं के कारण । अतएव अब इस स्तम्भ को अविलम्ब उपरत कर देना हीं श्रेयःपन्था प्रतीत हो रहा है । प्रसङ्ग–सम्बन्धेन समुपस्थित–'कालादापः समभवन्'० इत्यादि कालमहिमात्मक नवमसूक्त में समाविष्ट "आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः–वातः–पृथिवी–द्यौः–भूतं–भव्यं–पुत्रः–ऋचः–यजुः-यज्ञं-गन्धर्वाप्सरसः–अथर्वाङ्गिरा–इमच–लोकं–परमंच लोकं–पुण्यांश्च लोकान्–विधृतीश्च पुण्याः"–इत्यादि सभी शब्द अपने अपने रहस्यपूर्ण, विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धी ज्ञानविज्ञानात्मक–समन्वयों से अनुप्राणित हैं, जिनका पारिभाषिक बोध के अभाव में तो अक्षरार्थ भी सम्भव नहीं है । प्रत्येक शब्द अपने पारिभाषिक समन्वय के लिए विस्तृत शब्देतिहास की अपेक्षा रख रहा है, जिस का आंशिक अनुमान पाठकों को पूर्वोपात्त अष्टम सूक्त के समन्वय से होगया होगा । प्रस्तुत नवम सूक्त के पारिभाषिक शब्दों में से अनेक शब्दों का पारिभाषिक समन्वय अष्टम सूक्त-समन्वय से गतार्थ बन रहा है, जिस गतार्थता का अनुरूप समन्वय–भार अब विस्तारभिया हम पाठकों की सत्त्वप्रज्ञा पर ही छोड़ देते हैं । यहाँ केवल–'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' न्याय से अक्षरार्थाभासमात्र ही इस नवम सूक्त का व्यक्त कर दिया जाता है । आशा है ग्रन्थमर्य्यादानुगता हमारी इस विवशता के लिए पाठक क्षमा करेंगे ।

कर जाता है," यह है इस प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ, जिसके अर्थसमन्वय का उत्तरदायित्व ग्रन्थविस्तारभिया हम कालप्रेमी पाठकों की सत्प्रज्ञा पर ही छोड़ते हुए प्रसङ्ग-समन्वय-मात्रापेक्षया यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त समझ रहे हैं कि, प्रस्तुत सूक्त का उपक्रमस्थान परमाकाशरूप स्वयम्भू ही है, जिसे हमने महामाया-वृत्तात्मक महाकाल का अमूर्त्तसर्ग बतलाया है अष्टम सूक्त के दशम मन्त्रार्थ-समन्वय में । एवं उपसंहारस्थान भूपिण्ड ही है, जिसे पञ्चपर्वा विश्व का अन्तिम पुण्डीर माना गया है । स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्ता पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यसंस्था ही षोडशीप्रजापति-स्वरूपसमर्पक महामायावृत्तरूप उस महाछन्द का विभूति-महिमारूप विवर्त्त है, जो अपने अव्यक्तभाव से काल, तथा व्यक्तभाव से कालिक पदार्थ, इन दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है ।

३४८–अथर्ववेदीय नवम सूक्तार्थ के सम्बन्ध में कतिपय पारिभाषिक सङ्केत

स्वायम्भुव-परमाकाशात्मक काल योगमायावृत्तात्मक है, जो पञ्चपुण्डीराध्यक्ष योगमायी विश्वेश्वर की सीमा बना हुआ है, जब कि महामायावृत्तात्मक महाकाल सहस्रपुण्डीराध्यक्ष-अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति महामायी महेश्वर की सीमा माना गया है । अष्टम (आठवें) कालसूक्त में जहां महामायावृत्तात्मक महाकाल से आरम्भ कर सवान्त के अदितिमण्डलात्मक पार्थिवसम्वत्सरचक्रकाल-पर्य्यन्त के यच्चयावत् अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवतादि कालविवर्त्तों का समष्टि, और व्यष्टिरूप से 'कालत्वेन' निरूपण हुआ है, वहां प्रस्तुत नवम कालसूक्त में केवल योगमायात्मक उस एकपञ्चेश्वरकालात्मक (एकशाखात्मक) एक विश्वकाल का ही महिमारूप से सग्रह हुआ है, जिसका उपक्रमस्थान तो अव्यक्त अमूर्त्त स्वयम्भूकाल है, एवं उपसंहारस्थान पार्थिव सम्वत्सरकाल है, जो क्रान्तिवृत्तरूप से सभी के लिए अपनी वर्ष-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-अहोरात्र-मुहूर्त्त-घटिका-क्षण-पल-निमेष-आदि कलाओं से व्यक्त (व्यावहारिक) बना हुआ है । इस दृष्टिकोण को अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें प्रस्तुत नवम सूक्त का अक्षरार्थ-समन्वय करना चाहिए ।

३४९–महामायात्मक 'प्राणकाल' के आधार पर प्रतिष्ठित योगमायात्मक 'भौतिककाल', दोनों कालों की अक्षर-क्षर-निबन्धना अमृत-मृत्यु-रूपता, एवं उभयात्मक प्रजापति—

योगमायात्मक 'विश्वकाल' 'भूतकाल' है, जबकि महामायात्मक सर्वकाल 'प्राणकाल' माना गया है । 'प्राण' 'अक्षर' का स्वरूपधर्म्म है, प्रकृति का सहजधर्म्म है, जबकि 'भूत' क्षर का स्वरूपधर्म्म माना गया है, सहजधर्म्म माना गया है । दोनों में दोनों समाविष्ट हैं । अतएव प्राणात्मक अक्षरकाल भी भूतकालगर्भित है, एवं भूतात्मक क्षरकाल भी प्राणकालगर्भित है । क्योंकि उसी प्रकृति का रसानुबन्धी अमृतभाव प्राणात्मक अक्षर कहलाया है, एवं उसी प्रकृति का बलानुबन्धी मृत्युभाव भूतात्मक क्षर कहलाया है । 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यत'-'अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम्'-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इत्यादि के अनुसार वही प्राणापेक्षया अक्षर है, एवं वही भूतापेक्षया क्षर है ।

३५०–प्राणकालनिबन्धन अमूर्त्त-पदार्थोंकी केवल कालरूपता, तथा दिग्देशातीतता, एवं भूतकालनिबन्धन मूर्त्त-पदार्थों की दिग्देशकालरूपता—

अक्षरकाल महामायावृत्तात्मक महाकाल है, यही भूतकालगर्भित प्राणकाल है। क्षरकाल योगमाया-वृत्तात्मक योगकाल है, यही प्राणकालगर्भित भूतकाल है। महामायावृत्तात्मक प्राणरूप महाकाल प्राणविभूति का प्रवर्त्तक माना गया है, देवविभूति का सग्राहक माना गया है। एव योगमायावृत्तात्मक भूतरूप योगकाल भूतप्रपञ्च का प्रवर्त्तक माना गया है, भूतसर्गों का संग्राहक माना गया है। महाकालात्मक अक्षररूप प्राणकाल की प्राणात्मिका देवविभूतियाँ केवल कालानुबन्धिनी बनती हुई जहाँ अमूर्त्ता हैं, दिग्-देश-प्रदेशादि मूर्त्तभावों से असंस्पृष्टा हैं, वहाँ क्षररूप भूतकाल की भूतात्मिका भूतसृष्टियाँ काल के साथ साथ दिग्देशप्रदेशानुबन्धिनी बनती हुई मूर्त्ता हैं।

३५१–अक्षरप्राण-प्रधान अमूर्त्तकाल की दिव्यकालता, क्षरभूतप्रधान मूर्त्तकाल की मानुषकालता, एवं भूत–भविष्यद्रूप दिव्यकाल, तथा वर्त्तमानरूप मानुषकाल–

अक्षरप्राणप्रधान महाकाल दिव्यकाल है, क्षरभूतप्रधान योगकाल मानुषकाल है। दिव्यकाल प्रजापतिकाल है, मानुषकाल 'प्रजाकाल' है। प्रजापतिकाल अपने महदक्षररूप से भूतभविष्यत्काल है, प्रजा–काल अपने भूतक्षररूप से भवत्काल (वर्त्तमानकाल) है। भूतभविष्यत्कालात्मक महदक्षररूप प्राणप्रधान महा-काल ही–'काल' रूप 'काल' है, एवं भवदात्मक-भूतक्षररूप–भूतप्रधान योगकाल–ही 'महिमा' रूप–'महि–माकाल' है। अष्टम सूक्त का मुख्य लक्ष्य जहाँ कालरूप 'काल' (महामायावच्छिन्न अक्षरात्मक प्राणकाल) था, वहाँ इस नवम सूक्त का मुख्य लक्ष्य विभूतिरूप 'महिमाकाल' है, जिन इन कतिपय पारिभाषिक दृष्टि–कोणो को लक्ष्याधार बना कर ही हमें नवम कालसूक्त के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए।

३५२–दिव्यकालगर्भित–मूर्त्त–भूतकाल के महिमात्मक–प्रजापति–परमेष्ठी–इन्द्र–सोम-अग्नि–नामक पाँच अधिदैवत विवर्त्त, तन्निबन्धन पञ्चपुर, तदनुगत पञ्च महा-भूत, एवं सर्वरसमयी पृथिवी—

महिमाकालात्मक भूतकाल (व्यक्त–विश्वकाल) के पुण्डीरात्मक पाँच विवर्त्त–'ता वा एताः पञ्च–प्रजापतेरधिदेवताः' (शत० ११।१।६।१४।) के अनुसार क्रमशः प्रजापति, परमेष्ठी, इन्द्र, सोम, अग्नि,' इन तात्त्विक नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन के पुण्डीरात्मक–पुरात्मक रूप स्वयम्भू (प्रजापति), परमेष्ठी (प्राजापत्य), सूर्य्य (इन्द्र), चन्द्रमा (सोम), पृथिवी (अग्नि) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भूतदृष्ट्या ये ही पाँचों पुर क्रमशः आकाश–वायु–तेज–जल–मृत्–इन नामों से व्यवहारजगत् में प्रसिद्ध हैं। इन पाँचो भूतो का आदिभूत (प्रथमभूत) स्वयम्भू प्रजापतिरूप 'आकाशभूत' है, एवं अन्तभूत भूपिण्डरूप 'पृथिवीभूत' (मृद्–भूत) है। अतएव इसे सर्वभूतरसमयी मान लिया गया है। इन पाँचों भूतों को ही हम 'महिमाकाल', किंवा 'कालमहिमा' कहेंगे, जिस का उपक्रमात्मक सर्वादि–भूतकाल 'स्वयम्भूकाल' (आकाशकाल) ही प्रमाणित हो रहा है।

३५३–कालात्-कालेन-काले-कालः- इत्यादि 'काल' शब्दों का आकाशभूतमय स्वयम्भू-प्रजापति पर पर्य्यवसान—

प्रस्तुत सूक्त में प्रयुक्त कालात्–कालेन–काले–काल –इत्यादि जितने भी 'काल' शब्द प्रयुक्त हैं, सब का पर्य्यवसान एकमात्र आकाशभूतमय स्वयम्भू प्रजापति पर ही माना जायगा। क्योंकि व्यक्तभावापन्न पञ्च-पर्वा विश्व में यही स्वयम्भूकाल प्रथमा 'अभिव्यक्ति' है, जो विश्वाभावरूप 'अनुपाख्यतम' को छिन्न भिन्न करता हुआ स्वयं ही अपनी आकाशमहिमा से अभिव्यक्त हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित स्मार्त्तवचन से प्रमाणित है–

> ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥
> महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥१॥
> योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
> सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥२॥
> —मनु १।६।७,।

३५४-महाभूतादि-वृत्तौजा-ब्रह्माण्डाध्यक्ष-सर्वतः पाणिपाद-सर्वतोऽक्षिशिरोमुख-'प्रजापति' का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अतएव अग्राह्य, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय, अचिन्त्य यह महामायावृत्तात्मक महाकाल ही स्वयं ही (अपनी सहजेच्छारूपा कामना से ही) योगमायारूपेण अभिव्यक्त हो पड़ा इस सम्पूर्ण विश्व को व्यक्तभाव में परिणत करता हुआ। यही अपने आकाशरूप से महाभूतों का आदि बनता हुआ–'महाभूतादि' कहलाया। साथ ही अपने प्रातिस्विकरूप से–दीर्घवृत्तात्मक (त्रिकेन्द्रात्मक अण्डवृत्तात्मक) भाव से पृथक् रहता हुआ एककेन्द्रात्मक ही बना रहा। अतएव यह सर्वतः समानशक्ति-प्रसार का आधार बनता हुआ 'वृत्तौजा' ही कहलाया, जब कि इस वृत्त की सीमा में प्रतिष्ठित अन्य सभी वृत्त त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त-भाव में परिणत रहते हुए आण्डवृत्त ही प्रमाणित हैं। यह स्वयं आण्ड नहीं है (दीर्घवृत्त नहीं है), अपितु ब्रह्माण्डों का अध्यक्ष है, वृत्तौजा है, अतएव 'सर्वतः पाणिपादं तत्–सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' ही है। दीर्घ-वृत्त में जहाँ शक्तिप्रसार असमभावापन्न बना रहता है, वहाँ वर्तुलता से केन्द्रशक्ति सर्वथा समानरूप से ही परिवृत्त–पर्य्यन्त व्याप्त रहती है। और यहीं–'सर्वतः पाणिपादादि' मूलक 'वृत्तौजा' का तात्त्विक समन्वय है। इसी सर्वता के कारण यह विश्व का एक अवयव (पुण्डीर) बना रहता हुआ भी 'प्रजापति' प्रमाणित हो रहा है, जब कि तद्गर्भीभूत शेष भाग इस की प्रजाकोटि में ही प्रविष्ट हैं।

३५५–'भूतादि' की प्राणात्मकता, स्वयंगतिशील प्राण, एवं–'स्वयमुद्बभौ' वाक्य का समन्वय—

अवश्य ही स्वयम्भू प्रजापति आकाशात्मा बनते हुए भूतात्मा हैं। तभी तो इन की भूतादिः अभिधा अन्वर्थ बनती है। तथापि इन का अपना प्रातिस्विक-मौलिक-शेष चतुर्भूतनिरपेक्ष स्वरूप तो प्राणात्मक ही माना

जायगा। एवं इस प्राणवत्ता से ही इन्हें 'काल' कहा जायगा। अपने प्राणधर्म्म से ही स्वयम्भू विश्वाभि-व्यक्ति के प्रवर्त्तक बनते हुए भी स्वस्वरूपेण 'अव्यक्त' ही माने जायँगे, एवं इस प्राणमयी अव्यक्तता से ही इन के सम्बन्ध में–'अव्यक्तो-ऽव्यञ्जयन्निदम्' कहना अन्वर्थ बनेगा। तभी इन का–'स्वयमुद्भवौ' मूलक–'स्वयं भवतीति' निर्वचनात्मक 'स्वयम्भूः' नाम चरितार्थ होसकेगा। क्योंकि अन्य प्रेरणा से तो भूत ही अभिव्यक्त होता है। भूत स्वयं गतिशील नहीं है। प्राण की प्रेरणा से ही, प्राणसञ्चरण से ही भूतसञ्च-रण–भूतोद्भव हुआ करता है। अतः क्षरात्मक भूत ही–'परतः उद्भूत' तत्त्व है। यदि स्वयम्भूरूप आकाश-भूत ऐसा क्षरभूत ही होता, तो कदापि इस में 'स्वयं भवति'–स्वयमुद्भवौ' रूपा स्वप्रेरणात्मिका गति होती ही नहीं।

३५६--स्वायम्भुव प्राण का ऋषित्व, ऋक्सामगर्भित यजुःपुरुष, अपौरुषेय त्रयीवेदतत्त्व, सप्तचितिपुरुष, एवं उस की कालरूपता का समन्वय—

अतएव इस भूतादि को प्राणमूर्त्ति ही माना जायगा, जो कि स्वायम्भुव प्राण हीं 'ऋषि' कहलाया है, जिस ऋषिप्राण से ही सप्तर्षिप्राणात्मक सप्तपुरुषपुरुषप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। यही मनो-वाग्गर्भित वह प्राणपुरुष है, जो ऋक्सामगर्भित यजुःपुरुष कहलाया है, जिसे ही ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय-वेद कहा है, जिस वेदतत्त्व का पूर्व के परिच्छेदों में विस्तार से यशोगान हो चुका है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक इस स्वयम्भू-प्रजापतिरूप काल का प्रथम महिमाविवर्त्त यही 'अपौरुषेयत्रयीवेदतत्त्व' है। यही इस की महि-मारूपा वह स्वप्रतिष्ठा है, जिस पर प्रतिष्ठित हो कर स्वयम्भूकाल व्यक्तभावों के सर्ज्जक बनने वाले हैं। त्रयी-वेदमूर्त्ति–प्राणात्मक–सप्तचितिरूप–महाभूतादि–वृत्तौजा–सर्वप्रतिष्ठारूप–इत्थंभूत स्वयम्भूप्रजापति ही वह 'काल' है, जिस का मन्त्र के–'कालात्' से संग्रह हुआ है, एवं जिस इस योगमायात्मक स्वयम्भूकाल का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान हुआ है—

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत–भूयान्त्स्यां, प्रजायेय, इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठा-ऽभवत्। प्रतिष्ठा ह्येषा-यद् ब्रह्म [स्वयम्भूर्वेदात्मा]।

—शत० ६।१।१।८।

३५७-ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय-वेदतत्त्वमूर्ति-स्वयम्भूकाल, और उस के ऋक्सामापीत आकाश-वायुरूप-वाक्-प्राणात्मक जू-यत्-भाव, तथा काल का यजुर्भाव—

प्रतिष्ठाब्रह्म–(ब्रह्मनिःश्वसितवेद)-मूर्त्ति स्वयम्भूकाल की 'भूयान्त्स्यां प्रजायेय' इस कामना से सर्व-प्रथम क्या उत्पन्न हुआ ?, किंवा क्या अभिव्यक्त हुआ ?, प्रश्न का उत्तर इस के त्रयीवेद के ऋक्सामावच्छिन्न 'यजुःप्राण' पर ही अवलम्बित है। यह अवधेय है कि, यजुः का यत् भाग प्राण है, एवं जू भाग वाक् है, अर्थात् भूत है। 'यत्' रूप प्राणभाग से स्वयम्भू प्राणात्मा है, तो 'जू' रूप वाग्भाग से यही भूतात्मा–भूतादि है। 'जू' ही भूताकाश है। तभी तो स्वयम्भू को पञ्चमहाभूतश्रेणि में समाविष्ट मान लेना अन्वर्थ बनता है।

३५८–स्वयम्भूरूप काल की तपश्चर्य्या, एवं तपोमूर्ति कालपुरुष से आपोरूप परमेष्ठी का आविर्भाव, तथा 'कालादापः समभवन्' मन्त्राक्षरार्थ का समन्वय—

प्राणमय वही स्वयम्भू तपोमूर्त्ति है, वाङ्मय (जूराकाशमय) वही स्वयम्भू अपने इस प्राणतप का प्रयोगक्षेत्र है। यों प्राणव्यापाररूप तप से ही यह वाग्रूप जू-लक्षण भूताकाश द्रुत हो पड़ता है। इसी द्रुता वाक् का नाम (जूरूपा यजुर्वाक् का नाम) है–'आप'। यों उस प्राणमूर्त्ति (यजु प्राणमूर्त्ति) स्वयम्भूकाल से इसी के भूतमूर्त्ति (यजुर्वाङ्मूर्त्ति) स्वयम्भूवागाकाशद्रव्योपादान से सर्वप्रथम जो 'द्रव' तत्त्व (ऋततत्त्व) प्रादुर्भूत होता है, उसी का नाम है-'आप', जिस इस प्रथमा स्वायम्भुवी कालसृष्टि को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है–'कालादापः समभवन्' (स्वयम्भुप्रजापतेः–प्राणात्मकस्य वाग्भागेन सर्वप्रथममाप एव समभवन्)। निम्नलिखित श्रुति-स्मृति-वचन इस प्रथमा आपःसृष्टिरूपा कालमहिमा का ही यशोवर्णन कर रहे हैं-

'तस्यां-वेद-प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत-स्वयम्भूः। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सा-असृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्, तस्मादापः। यदवृणोत्-तस्माद्वाः (वारि)।

—शत० ६।१।१।६। (३१३ वें पृष्ठ की श्रुति से अग्रिम श्रुति)।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
'अप' एव ससर्जादौ ·· · ·· ॥

—मनु १।८।

३५९–स्वयम्भू प्रजापति के तपः–सन्तपन से तल्ललाट से स्वेदधाराओं का प्रादुर्भाव, एवं गोपथश्रुतिवचन का समन्वय—

प्राणप्रकृति स्वयम्भू से दूसरी अप्प्रकृति का ही आविर्भाव हुआ। यही आपोमण्डल 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ (देखिए–शत० ११।१।६।१४)। स्वयम्भू प्रजापति की प्रथम सन्तान होने से ही यह 'प्राजापत्य' कहलाया, जैसाकि–'परमेष्ठी प्राजापत्य' इत्यादि मे तत्रैव स्पष्ट है। स्वयम्भू जहाँ सत्यरूप (सर्वेन्द्र) होने से एकरूप था, वहाँ यह परमेष्ठी अपने ऋतरूप से (अहृदयभावात्मक–सरिरलक्षण–सलिलभाव से–आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास–शतपथ० ६।१।१।६।१।) नानाभावात्मक ही बन गया। इस नानात्व से ही इसे 'अप्' न कह कर ऋषिने 'आप' कहा है, 'समभवत्' न कह कर 'समभवन्' कहा है, जिस इस नहुत्वरूप ऋतधर्म्म का गोपथब्राह्मण में "तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा इदं सर्वं धारयिष्यामि, जनयिष्यामि, आप्स्यामि, इति धारा-जाया-अभवन्' (गो० पू० १।२) इत्यादिरूप से समर्थन हुआ है *।

* सत्याग्निप्रधान पुरुष स्वयम्भू की प्रतिमा है, एवं ऋतसोमप्रधाना स्त्री परमेष्ठी की प्रतिमा है। अतएव ऋतप्रधाना ऋतरूपा नारी 'अनृता' कहलाई है। इस आपोरूप–सोमरूप–ऋतधर्म्म से ही यह गर्भ धारण करती हुई पारमेष्ठ्य धाराधर्म्म से, सन्तानप्रजनत्वेन जायाधर्म्म से, एवं तृशान्तिधर्म्मत्वेन-'आपोधर्म्म' से

३६०-पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व की आपः रूपता का समन्वय, एवं आपोमय 'परमेष्ठी' का नामनिर्वचन—

ऋतात्मक बहुत्व (नानात्त्व) के अतिरिक्त एक अन्य कारण से भी यह पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व-'आपः' का अधिकारी बन रहा है। पारमेष्ठ्य आपः सौरमण्डल में भुक्त होकर अग्निप्रकृतिक बन जाता है, चन्द्रमण्डल में आकर यही स्नेहगुणक बन जाता है, एवं भूमण्डल में आकर यही मूर्च्छित-पेय-पानी के रूप में परिणत हो जाता है। यों एक ही अप्तत्त्व परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भूः- इन चार संस्थानो के भेद से चार स्वरूप धारण कर लेता है, जो कि चारों अन्विवर्त्त क्रमशः अम्भः-मरीचिः-श्रद्धाः-मरः-इन नामों से प्रसिद्ध हैं-(देखिए-ऐतरेयोपनिषत् १।१।)। लोक, लोकगर्भस्था प्रजा, इन सब प्रजननभावों के मूलोपादान ये ही चतुर्विध-'आपः' हैं, जैसाकि-'सर्वमापोमयं जगत्' से स्पष्ट है ÷। इसी सर्वव्याप्ति के आधार पर आपोमय परमेष्ठी ही 'पितर' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। सर्वरूपत्त्वात् ही यह 'आपः' है, एवं सूर्य्यादपि परमस्थान में आविर्भूत-प्रतिष्ठित--रहने के कारण-परमेष्ठी है, जैसाकि-"अहमेवेदं सर्वं-स्याम्-इति-स आपोऽभवत (कालः स्वयम्भूः)। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् 'परमेष्ठी' नाम" (शत० ११।१।६।१६।) इत्यादि से प्रमाणित है।

३६१-स्वयम्भूकाल से अप्तत्त्व के द्वारा क्रमशः 'ब्रह्म-तपः-दिशः-तत्त्वों का आविर्भाव-

कालस्वयम्भू के प्राणमय तप से वागाकाशरूप उपादानद्रव्य के द्वारा सर्वप्रथम आविर्भूत पारमेष्ठ्य-'आपः' के अनन्तर क्या हुआ ?, क्या आविर्भूत हुआ ?, यह क्रमिक प्रश्न उपस्थित हुआ, जिसका समाधान करते हुए ही आगे चलकर ऋषि कहते हैं—'कालाद् ब्रह्म, तपो, दिशः'। 'आपः' के अनन्तर इस आपोद्रव्योपादन के माध्यम से उसी आपोमय स्वयम्भूकाल से क्रमशः ब्रह्म-तपः-दिशः-रूप तीन महिमाभाव आविर्भूत हुए।

समन्विता बनी रहती है। तभी तो पुत्रजन्मानन्तर राजपत्तनप्रान्त में पुत्रजननी जाया को पितृप्राणप्रतीकभूत पीतवस्त्र (पीले) से सम्मानित कर इस के द्वारा आपःपरमेष्ठी के साक्षात् प्रतीकभूत पितृप्राणमय कूप का पूजन कराया जाता है, जो कि कर्म्म प्रान्तीयभाषा में-'जलवापूजन' (जलपूजन-पितृपूजन-आपः परमेष्ठी का पूजन) कहलाया है। आपःरूप यह प्रजननधर्म्म क्योंकि 'बहुत्व' धर्म्म से समन्वित है। अतएव परमसांस्कृतिक परमधन्य राजस्थानप्रान्त पुत्रवती इस कुलवधु को इस आपोमूलक 'बहुत्त्व' धर्म्मानुबन्ध से-'बहु' जैसे आर्ष सम्बोधन से ही व्यवहृत करता है। स्वयं प्रजापति स्वयम्भू इस 'बहु' भाव को कामना में प्रतिष्ठित कर के ही-बहु स्याम्-प्रजायेय' रूपेण-'बहु' (परमेष्ठी) बन कर ही प्रजा की जननी बन रहे हैं।

÷—अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥
—महाभारते

२६२–यजुर्म्मयी प्राणगति से तेजोमय आङ्गिरस तत्त्व का, तथा यजुर्म्मयी वाक्स्थिति से स्नेहमय भार्गवतत्त्व का आविर्भाव, उभयधर्म्मात्मक आपोमय परमेष्ठी, एवं मूर्त्त जगत् की प्राथमिक-स्थिति का समन्वय—

ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेदमूर्त्ति कालात्मक स्वयम्भू प्रजापति के गतिप्रकृतिक यजु प्राण (यत्) से, स्थितिप्रकृतिक यजुर्भूत (जूराकाश) रूप उपादान के माध्यम से 'आप' रूप जो ऋततत्त्व प्रादुर्भूत हुआ, उसमें भी उत्पादक स्वयम्भू के गतिशील प्राण, तथा स्थितिशील भूत,ये दोनों धर्म्म समाविष्ट हो गए, जो दोनों धर्म्म हीं क्रमशः तेज-स्नेह कहलाए। यजुःप्राणगति का व्यक्तीभाव ही तेजोमयी-आप बना, एवं यजुर्वाक्स्थिति का व्यक्तीभाव ही स्नेहमयी आप बना। ये ही दोनों ऋत–आप क्रमशः अङ्गिराधारा, भृगुधारा, नाम से प्रसिद्ध हुई। तेजोगुणक अङ्गिरा, स्नेहगुणक भृगु, भेद से यों 'आप' परमेष्ठी भी यत्-जू (गति-स्थिति) मूर्ति स्वयम्भू की भाँति उभयधर्म्मात्मक बन गए। एवंरूप आपः को उत्पन्न कर वे स्वयम्भू प्रजापति अपनी त्रयीविद्या के साथ इस भृग्वङ्गिरोरूप आप में प्रविष्ट हो गए। इस सत्य के प्रवेश से वे ऋत आप अण्ड-वृत्तरूप में परिणत हो गए। यही पहिला 'पारमेष्ठ्यब्रह्माण्ड' (स्वयम्भू ब्रह्म का परमेष्ठीरूप अण्ड) कहलाया। इसी प्राथमिक स्थिति को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—

> आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
> सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
> अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥
> —गोपथब्रा० पू० ।३९।।

२६३–ऋत भृगु के आधार पर ऋत अङ्गिरा की सञ्चिति, एवं सञ्चिति के द्वारा आपः परमेष्ठी में ऋत-सत्य का आविर्भाव—

आपोमय भृग्वङ्गिरोरूप (स्नेहतेजोधर्म्मा) परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित स्वायम्भुव वेदमूर्ति अपौरुषेय ब्रह्मवेद की कामना से, इसके तप–श्रम से भृगुरूप सौम्य आप के आधार पर अङ्गिरारूप आग्नेय-आपः की चिति हुई। ऋत भृगु के आधार पर ऋत अङ्गिरा सञ्चित हुआ। इस सञ्चिति से घनताभाव का उदय हुआ। भृग्वङ्गिरोरूप आप इस चिति से भृगुगर्भित अङ्गिरोमय बन गया एकांश से। भृग्वङ्गिरोरूप आपः ऋत बना रहा, एवं भृग्वङ्गिरोमय–सञ्चित आप (भृगुगर्भित अङ्गिरोन्वितरूप आप) 'सत्य' बन गया स्वयम्भुवत्।

२६४–भृग्वङ्गिरोमय सत्यबीज की 'ब्रह्म'–रूपता, एवं गायत्रीमात्रिक पौरुषेय-वेदात्मक 'प्रथमजब्रह्म'—

यही भृग्वङ्गिरोमय सत्यबीज 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका आविर्भाव भृगु–अङ्गिरोरूप आप–परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेदमूर्ति–स्वयम्भू-पुरुष की कामना से, एवं तप–श्रम से

भृग्वङ्गिरोमयरूपा अग्निचिति से ही हुआ है। स्वयम्भू–पुरुष से भृग्वङ्गिरोमय चितिभाव से बीजरूपेण आविर्भूत होने से ही यह अपूर्व बीजभावात्मक 'ब्रह्म'–'पौरुपेयवेद' कहलाया, जिसका पारिभाषिक नाम है 'गायत्रीमात्रिक-पौरुपेय-वेद'। स्मरण रहे, स्वायम्भुव वेद भी 'ब्रह्म' था, और परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न यह भृग्वङ्गिरोऽन्वितरूप पारमेष्ठ्य वेद भी 'ब्रह्म' है। किन्तु वह 'प्रतिष्ठाब्रह्म' था, और यह 'प्रथमजब्रह्म' है।

३६५–ब्रह्मनिःश्वसित स्वायम्भुव अपौरुषेय कालवेद, गायत्रीमात्रिक पौरुषेय-कालिकवेद, एवं दोनों वेदों का त्रयीवेदत्व—

वह अपौरुपेय ब्रह्मनिःश्वसित स्थितिगतिप्रकृतिक वेद था, यह पौरुपेय गायत्रीमात्रिक-स्नेहतेजः-प्रकृतिक वेद है। दोनों के स्वरूप में महान् मौलिक भेद है। वह अव्यक्त वेदात्मक कालवेद है, यह व्यक्तवेदात्मक कालिकवेद है। 'त्रयीविद्यात्व' दोनो में समानधर्म्म है। किन्तु स्वरूपतः दोनों सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं। प्रतिष्ठावेदात्मक त्रयीवेद पिता है परमेष्ठी का, जब कि यह प्रथमजवेदात्मक त्रयीवेद परमेष्ठी का पुत्र है, अर्थात् स्वयम्भू का पौत्र है।

३६६-बीजात्मक प्रथमजब्रह्म का संस्मरण—

यही वह पारमेष्ठ्य बीज है, जो आगे चलकर चितिकर्म्म की परिसमाप्ति पर हिरण्मयाण्डगर्भ में 'सूर्य्य' रूप में परिणत होता है। 'अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत्' इस शेष वाक्य (देखिए पृष्ठसं० ३१४ का मनुवचन , का बीज यही भृग्वङ्गिरोमय गायत्रीमात्रिक-'त्रयीब्रह्म' (प्रथमजब्रह्म) है।

३६७–हिरण्यगर्भमूर्त्ति-गायत्रीमात्रिक-वेदात्मक सूर्य्यनारायण, एवं 'कं स्विद् गर्भं दध्र आपः' का समन्वय—

भृग्वङ्गिरोरूप आपः के गर्भ में प्रविष्ट होकर इस आपः को आण्डरूप में परिणत कर इसके प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरोमय आपः को चितिरूप में परिणत कर देने वाला स्वयम्भूकाल ही इस बीजभावात्मक प्रथमज–त्रयीब्रह्म का उत्पादक बन रहा है। निर्म्माण-साधन (उपादान) भृग्वङ्गिरोमयीं–आपः हैं, निर्म्माता भृगु–अङ्गिरोरूप आपः–के गर्भ में प्रविष्ट स्वयम्भूकाल है । यही 'आपः' के अनन्तर होने वाला दूसरा काल–महिमाविवर्त्त है, जिसे ब्राह्मणश्रुति ने–'प्रथमजब्रह्म' कहा है, मनु ने 'बीज' कहा है, एवं ऋक्संहिता ने–'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः' इत्यादिरूप से–'गर्भ' कहा है। गर्भावस्था का यही बीजात्मक डिम्भ तो आगे चलकर सूर्य्यरूप से अभिव्यक्त होता है। 'ब्रह्म' नाम की इसी कालमहिमा को, काल के इसी द्वितीय महिमा–विवर्त्त को लक्ष्य बनाकर परम्परानुगता वही श्रुति कहती है—

सः (कालात्मकः स्वयम्भूः)-अकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया (प्रतिष्ठात्मिकया) त्रय्या विद्यया सह-आपः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत। तदभ्यमृशत्–अस्तु इति। भूयोऽस्तु–इत्येव तदब्रवीत् । ततो 'ब्रह्म' एव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। अपि हि पुरुषात् (स्वयम्भुपुरुषात्) ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेव।

—शत० ६।१।१।१० (३१४ वें पृष्ठ की श्रुति की अग्रिम-श्रुति)।

३६८–हैमाण्डमूर्त्ति 'ब्रह्म' का स्वरूप-समन्वय, एवं 'कालाद्ब्रह्म' मन्त्रभागार्थ-समन्वय–

'तदभ्यमृशात्–अस्तु इति' वचन यही स्पष्ट कर रहा है कि, यह 'ब्रह्म' उत्पन्न हुआ है–आपोद्रव्य से ही। भृग्वङ्गिरोरूप आप' के प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरोमय मञ्चितिभावापन्न सत्यधर्म्मा आप.से ही इस बीजात्मक 'ब्रह्म' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। आमोमय अण्ड के गर्भ में साक्षीरूप से प्रतिष्ठित स्वयम्भू-कालात्मक प्रतिष्ठा-ब्रह्म तो इसका स्पर्शमात्र ही किए रहता है। यह भी यथार्थ है कि, बिना इसके स्पर्श के यह कालिक हिरण्मयाण्ड परिपक्व भी नहीं हो सकता। अतएव माना जायगा इसे कालमहिमात्मक ही-भृग्वङ्गिरोमयी आप. के माध्यम से। अतएव श्रुति ने पहिले 'कालादाप समभवन्' कहा, एव तदनन्तर ही–'कालाद्ब्रह्म', यह कहा। हिरण्मयाण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट व्यक्त सूर्य्यनारायण का प्राथमिक–मूलरूप–बीजरूप ही यह 'ब्रह्म' है, जो परमेष्ठी के गर्भ में भृग्वङ्गिरा के प्रवर्ग्यरूप से सम्पन्न हुआ है, एव जिस भृग्वङ्गिरोमय बीज की व्यक्तावस्था का नाम ही आगे चल कर 'सूर्य्य' होने वाला है। भृगुगर्भित इसी आङ्गिरस अग्निमय हिरण्मयाण्डरूप पारमेष्ठ्य 'बीजब्रह्म' को लक्ष्य बनाकर राजर्षि आगे चलकर कहते हैं—

> तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥
> तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥१॥
>
> आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥
> ता यदस्यायनं पूर्वं तेन 'नारायणः' स्मृतः ॥२॥
>
> यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ॥३॥
> तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके–ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
>
> —मनु १।९,१०,११,।

३६९–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म के तप', और दिशः का स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्थिति–गति–प्रकृतिक, यजुर्मूर्त्ति–कालात्मक–स्वयम्भू के सस्पर्श–प्रतिष्ठान–से नित्यसमन्वित, भृग्वङ्गिरोरूप-आप' परमेष्ठी के गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित, भृग्वङ्गिरोमयी-आप से कृतरूप हिरण्मयाण्ड-लक्षण, सदसदात्मक वह 'ब्रह्म' ही आगे की सम्पूर्ण व्यक्त-सृष्टियों का सूर्य्यमाध्यमेन सर्जक बनने वाला है–स्वयम्भूकाल की साक्षी में। उन व्यक्तसृष्टिपरम्पराओं के अगणित विभिन्न कार्य्य–कारण–भावों के आधार-भूत दो ही कारण प्रमुख माने हैं ऋषिने, जो क्रमश तप , और दिश नाम से प्रसिद्ध हैं। सृष्टरूप देश प्रदेशात्मक हैं, कार्य्यरूप हैं। इन देशात्मक कार्य्यरूप सृष्ट–पदार्थों का मूल दिक् , और तप ही बनता है, जिन इन दोनों मूलकारणों का उक्तबीजात्मक–भृग्वङ्गिरोमयी आप. की चितिरूप 'ब्रह्म' ही बन रहा है। दूसरे शब्दों में–ब्रह्म की प्रथमा महिमा का नाम ही 'तप' है, और द्वितीया महिमा का नाम ही 'दिश.' है।

३७०–भृगुगर्भिता आङ्गिराचिति से प्रादुर्भूत आङ्गिरस-व्यापारलक्षण तपः का प्रादुर्भाव, एवं 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' श्रुति का समन्वय—

बीजात्मक हिरण्मय–'ब्रह्म' का स्वरूप है–'भृगुगर्भिता अङ्गिरा–चिति' । दाह्य भार्गव सोम से समन्वित दाहक आङ्गिरस अग्निपुञ्ज का नाम हीं है–'ब्रह्म', जो अपने दुर्द्धर्ष–प्रचण्डतम–उग्रतम–ओज से तपोमूर्त्ति बन रहा है । भृगुगर्भित अङ्गिराप्राण का अर्चन्–चरति-लक्षण प्राणव्यापार ही–'तपः' की स्वरूप-परिभाषा है । स्वयम्भू भी तपस्वी हैं । किन्तु उनका तप ज्ञानमय है–'यस्य ज्ञानमयं तपः', जिस में सृष्टि-निबन्धना उग्रता नहीं है । यह उग्रता तो भृगुसमन्वित अङ्गिरा में ही अभिव्यक्त होती है । गायत्रीमात्रिक-पौरुषेयवेदमूर्त्ति–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म 'गायत्री' रूप है, जो गायत्रीतत्त्व–'एति च प्रेति च' रूप से प्रचण्ड संघर्ष का अनुगमन करती हुई पारमेष्ठ्य सोम का अपहरण करने में समर्थ बन रही हैं । 'परमया जूत्या बल्बलीति' लक्षण भृगुगर्भित यह आङ्गिरस--गायत्रतेज ही 'तपः' है, जिस तप को श्रुति ने–'तेजिष्ठतेज' कहा है, जैसाकि–"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् । एतद्वै तेजिष्ठं तेजः–यद् भृग्वङ्गिरसाम्" (शत० १।२।१।१३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है ।

३७१–सूर्य्योत्पत्ति से पूर्वा स्थिति का दिग्दर्शन, एवं सौरब्रह्माण्डनिर्म्माता 'आङ्गिरस-तप' की प्रचण्डतमा उग्रता का यशोवर्णन*—

सृष्टिप्रक्रिया की उस स्थिति को लक्ष्य बनाइए, जबकि सूर्य्य तो उत्पन्न नही हुआ था, किन्तु सूर्य्य के उपादानद्रव्य आपोमय परमेष्ठी-समुद्र में प्रचण्डतम–लम्बलम्बायमान भृगुसोमसमन्वित–दाह्यद्रव्यसमन्वित–अङ्गिराग्निपुञ्ज–दाहकद्रव्यपुञ्ज–प्रचण्डरूप से प्राणदपादनत्–व्यापार करते हुए, परस्पर संघर्ष करते हुए, इसी संघर्ष से परस्पर चित–संचित–होते हुए परमया जूत्या (प्रचण्डवेग से) बल्बलीति-धोधूयमान-बंभ्रम्य-माणावृत्ति से इतस्ततः सञ्चरण कर रहे थे । कैसा होगा प्रजापति का वह प्रचण्ड तप, जिसके प्रत्यंश से, यत्-

*–आपः–वायुः–सोम–रूपा भृगुत्रयी, अग्निः–यमः–आदित्यः–रूपा अङ्गिरात्रयी, अनुष्णाशीत–धामच्छद्–अत्रि, इन तीनों भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–नामक आपोमय पारमेष्ठ्य–ब्रह्माण्डानुगत प्राणों के विभूति, योग, तथा याग–सम्बन्ध–तारतम्य से अनुप्राणिता सलिलरूपा शान्ततमा भार्गवीसृष्टि, प्रचण्डतमा आङ्गिरसीसृष्टि, एवं धामच्छदा आत्रेयीसृष्टि–विवर्तों का जो वैज्ञानिक स्वरूप वेदशास्त्र में उपवर्णित है, जिसका अत्र संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जारहा है, उसी श्रौत–सृष्टिविज्ञान का वेदशास्त्रोपबृंहक इतिहास–पुराणशास्त्र में ज्यों का त्यों स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय महाभारतीय–वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

भारद्वाज उवाच–कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ ॥
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥१॥
भृगुरुवाच——ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ! ब्रह्मर्षीणां समागमे ॥
लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥२॥

किञ्चिदंश से प्रवर्ग्यरूपेण अभिव्यक्त हो पड़ने वाला तपोमूर्ति सूर्य भी हमारे लिए असह्य बन गया है।। क्षणमात्र भी जिस तपोमूर्ति सूर्य पर दृष्टिनिक्षेप सम्भव नहीं है, ऐसा प्रचण्डसूर्य जिस महान् हिरण्मयाण्ड-

---

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः ॥
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥३॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागतम् ॥
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥४॥
पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम् ॥
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥५॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ॥
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥६॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥
तच्चाम्भसा पूर्य्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥७॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ॥
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥८॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ॥
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥९॥
तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ॥
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥१०॥
अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम् ॥
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥११॥
तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः ॥
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥१२॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥१३॥

—महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्मपर्व-भृगु-भारद्वाजसंवाद-
१८३ अध्याय।

रूप महान् तेज:पुञ्ज का एक यत्किञ्चित् अंश ही होगा, स्वयं वह कैसा प्रचण्ड तपोमूर्त्ति होगा ?, प्रश्न तो हमारे लिए दुरधिगम्य ही माना जायगा । तभी तो उस लोक की संज्ञा ही–'तपोलोक' होगई है, जो स्वयम्भूरूप सत्यलोक, तथा परमेष्ठीरूप जनल्लोक, दोनों के मध्य का लोक माना गया है । यह मध्यस्थ तपोलोक सचमुच स्वयम्भू, तथा आप:–परमेष्ठी–दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हिरण्यमूर्त्ति–भृग्वङ्गिरोमय–ब्रह्म का ही प्राणदपानत्–व्यापारलक्षण स्वरूप है । अतएव इसे ब्रह्म के अनन्तर ही अभिव्यक्त माना है स्वयम्भू–काल से ऋषि ने ।

महर्षि भारद्वाज ब्रह्मर्षिप्रवर भृगु से प्रश्न करते हैं कि–सरित्–इरा–रस–रूप 'सरिर', जिसका प्रत्यक्ष व्यावहारिकरूप 'सलिल' है, कैसे उत्पन्न हुआ ?। अर्थात्–'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथ११।१।६।१।) इत्यादि शातपथीश्रुति के द्वारा उपवर्णित स्थूल पानियों का मौलिक तत्त्वरूप पारमेष्ठ्य सलिलतत्त्व कैसे प्रादुर्भूत हुआ ? । उसी पारमेष्ठ्य–ऋतसमुद्रात्मक–सलिल के गर्भ में (अङ्गिरारूप) अग्नि, तथा वायु (मरुत्वान् नामक वराहवायु) कैसे उत्पन्न हुआ ?। एवं (धामच्छद-स्थानावरोधक-अत्रि-प्राणात्मक–घनताप्रवर्त्तक) मेदिनीतत्त्व कैसे प्रादुर्भूत हुआ ? । महान् संशय है इस मूलसर्ग के सम्बन्ध में । तात्पर्य्य–सलिलरूप स्नेहगुणक **भृगु**, अग्निरूप तेजोगुणक **अङ्गिरा**, पिण्डस्वरूपसम्पादक **'मातरिश्वा'** नामक 'वराह' प्राणवायु, एवं घनताप्रवर्त्तक अत्रिप्राणात्मक अनुष्णाशीत **मेदिनीतत्त्व** कैसे, कहाँ प्रादुर्भूत हुआ ? ॥ १ ॥

महर्षि भरद्वाज के तथोक्त प्रश्न करने पर ब्रह्मर्षि भृगु समाधान करते हैं कि,–हे ब्रह्मन् । ब्राह्मणश्रेष्ठ भरद्वाज !) दिव्ययुगात्मक ब्रह्मकल्पात्मक अनन्तकाल की साक्षी में पुरा (सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डादि इस वर्त्तमाना-व्यक्ता–मूर्त्ता–भूतभौतिककी सृष्टि से पूर्व) ब्रह्मर्षियो के समागमकाल में लोकोत्पत्ति के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होगया । इस सन्देह की निवृत्ति के लिए वे ब्रह्मर्षिगण ध्यानावस्थित ही बन गए सौ (१००) दिव्यवर्ष–पर्य्यन्त । स्वायम्भुव ऋषिप्राण ही स्वयम्भूब्रह्मानुबन्ध से 'ब्रह्मर्षिगण' है । इन्हीं ऋषिप्राणों की समन्वित-अवस्था का नाम है ब्रह्मनि:श्वसित–अपौरुषेयवेदात्मक मौलिक–तत्त्ववेद, जिसका प्रस्तुत कालखण्ड में अनेकधा संस्मरण हो चुका है । ये ही स्वायम्भुव ब्रह्मर्षिप्राण सलिल–अग्नि–वाय्वादि–रूप आप्य-पारमेष्ठ्य–मूर्त्तसर्ग के मूलप्रवर्त्तक बनते है । २–३–श्लोकद्वयी से इसी स्वायम्भुव–तत्त्व की ओर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है ॥ २, ३, ॥

ब्रह्मर्षियोंने ध्यानावस्था में (कालपरिकानन्तर) अपने कानो में ब्रह्ममयी वह वाणी सुनी, जो दिव्या सरस्वती (वाणी) नभोमण्डल से अभिव्यक्त हुई (थी) । तात्पर्य्य–आकाशात्मा स्वयम्भू ब्रह्म के यत्–रूप प्राणव्यापार से जूरूप वाग्भाग ही द्रुत होकर आपोमय–भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी-रूप में अभिव्यक्त हुआ, जिसकी भृगुगर्भिता अङ्गिराधारा ही **'सरस्वतीवाक्'** कहलाई, एवं अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा ही **'आम्भृणीवाक्'** कहलाई, जैसाकि निबन्ध में यत्र तत्र अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । **'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप: प्राविशत्'** के अनुसार ब्रह्मर्षिप्राणमूर्त्ति स्वयम्भू अपने यजुर्मय 'जू' भाग से आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर तद्-गर्भ में प्रविष्ट होगए । स्वयं अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म जहाँ **'कालात्मक'** थे, वहाँ तदुत्पन्न सौम्य परमेष्ठी ही **'दिगात्मक'** हैं । **'दिश: श्रोत्रे'** के अनुसार यही विश्वेश्वर का श्रोत्रस्थान है । अत्रैव, श्रोत्रात्मक-(दिक्सोमात्मक)

३७२–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म का प्रचण्ड तपोरूप से महान् सरस्वान् समुद्र में प्रचण्डवेग से परिभ्रमण, परिभ्रममाण अग्निपुञ्ज से तद्गर्भ में अङ्गिराचिति की घनता का उदय, व्यक्त सूर्य्य का आविर्भाव, एवं तन्मूलक 'दिशः' भाव—

स्वायम्भुवी कालप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित बीजात्मक भृग्वङ्गिरोमय 'ब्रह्म' ने तप को अग्रणी बना कर स्वजन्मक्षेत्र भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में तपोबल से प्रचण्डरूपेण इतस्ततः अनुधावन करना आरम्भ कर दिया। इस तपोऽनुष्ठान का अन्ततोगत्वा परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था। भृगु की

परमेष्ठी में ही भार्गवी सरस्वती वाक् अभिव्यक्त हुई है। इसी सहज तात्त्विक स्थिति को लक्ष्य में रख कर–'तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्' इत्यादि कहा गया है ॥४॥

क्या स्वरूप था नमोवाणीरूपा उस सरस्वतीवाक् का ?, पञ्चम श्लोक इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। जिस अनन्त–स्वायम्भुव–आकाश में आज सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि अगणित मूर्त-व्यक्त-भाव अभिव्यक्त हैं, पारमेष्ठ्य–सर्गावस्था में ऐसा कुछ भी नहीं था। अपितु एतत्पूर्वावस्था में तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल निश्चल–अनिस्पन्दित–अचल ही था। सुषुप्ति में जो स्थिति मानवचेतना की रहती है, वैसी सी ही स्थिति थी पुरा ॥५॥ जिस प्रारम्भिक स्थिति का राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
> अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
>
> —मनु

(तथाविधा नमोवाणीरूपा–स्वायम्भुवी–सरस्वती–वाक् से ही–मानो) सलिलरूप परमेष्ठी अभिव्यक्त हुए, जो तम के गर्भ में दूसरे तम ही थे। इस पारमेष्ठ्य सलिल के उत्पीड़न से ही, संघर्ष से ही आण्डवृत्तसम्पादक 'मातरिश्वा' नामक वराह वायु अभिव्यक्त हुआ। स्वयम्भू 'अनुपाख्यतमो' रूप थे, एवं सलिलमूर्त्ति पारमेष्ठी 'अनिरुक्ततमो' रूप हैं। अनुपाख्यतम के गर्भ में ही अनिरुक्ततम अभिव्यक्त हुआ, जिस इस अनिरुक्ततमने उस अनुपाख्यतम को मानो अपने में 'गूलह्' (प्रच्छन्न) ही कर लिया, जैसाकि "तम आसीत् (अनुपाख्यतम आसीत्) तमसा (अनिरुक्तेन पारमेष्ठ्यतमसा) गूलह्मग्रे' (ऋक्-संहिता)" इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है, जिसका प्रत्यक्षानुवाद ही किया है भगवान् व्यासने–'तमसो-ऽपर तम' इस वाक्य से ॥६॥

निदर्शनमात्र है। शेष श्लोकों की सङ्गति प्रज्ञाशीलों को स्वप्रज्ञाद्वेन में ही समन्वित कर लेनी चाहिए। इस महाभागतीय-निदर्शन से स्पष्ट है कि, इतिहासपुराणशास्त्र सचमुच ही सुसूक्ष्म वैदिक तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या ही है, जिसे पारिभाषिक बोधाभाव से विस्मृत कर इस 'आर्य्यसर्वस्व–शास्त्र' (इतिहासपुराणशास्त्र) की बुद्धिवादी अभिनिविष्ट विद्वानोंने उपेक्षा कर अपना, और अपने साथ साथ भावुक–प्रजा का सांस्कृतिक अधःपतन ही कर लिया है।

अङ्गिरा में ज्यों ज्यों आहुति होती गई, त्यों त्यों अङ्गिरा अधिकाधिक प्रदीप्त बनता गया। अङ्गिरा ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रदीप्त होता गया, त्यों त्यों अग्निपुञ्ज उत्तरोत्तर घन बनता गया। अग्निपुञ्ज ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर घन बनता गया, त्यों त्यों तद्गर्भीभूत भृगुतत्त्व इस अग्निपुञ्ज की सीमा बनता गया। यों अङ्गिराचिति वस्तुभाव में परिणत होती गई, तो तदाधारभूत भृगुभाव इस वस्तुभाव का छन्द (आकार–आकृति–सीमा) बनता गया। भृगुरूपेण वही आपः आकारसीमारूप परिश्रित(घेरा) बनता गया, एवं अङ्गिरारूपेण वही आपः आकारित वस्तुरूप कालिक पदार्थ बनता गया। पदार्थ कहलाया व्यक्तसूर्य्य, एवं पदार्थ की सीमा कहलाई– 'दिशाएँ'।

३७३–दिक् के द्वारा व्यक्त देश का परिग्रहण, भार्गव आपः की परिश्रितता, परिश्रित-भाव की छन्दोरूपता, तद्रूप दिग्भाव, एवं 'ब्रह्म–तपो–दिशः' का समष्टयात्मक समन्वय—

सूर्य्य गौण है, अतएव उसका नामोल्लेख व्यर्थ है। प्रमुख तो दिग्भाव ही है, जिसके द्वारा व्यक्त देशभाव स्वतः ही परिगृहीत है। भृगुरूप आपः ही परिश्रित है, यही वस्तु का छन्द बनता है। छन्द का ही नाम सीमा है, एवं सीमा का ही नाम 'दिशः' है। भृगुभावात्मिका आपः दिशः है, तो अङ्गिराभावात्मिका आपः- 'तपः' है। तपोरूप अङ्गिरा तेजोभावानुबन्ध से गतिप्रकृतिक है, जबकि दिग्रूप भृगु स्नेहभावानुबन्ध से स्थिति-प्रकृतिक है। अतएव दोनों में प्राथम्य तपोरूप अङ्गिरा का ही माना जायगा। आङ्गिरस तप से ही भार्गव दिग्भाव का आविर्भाव होता है। दिग्भावानन्तर ही आङ्गिरस तप पिण्डरूप में परिणत होकर सूर्य्यरूप–देश (पदार्थ) रूप में परिणत होता है। तदित्थं-गायत्रीमात्रिक वेदरूप 'ब्रह्म' के माध्यम से ही कालप्रजापति अङ्गिरारूपेण तपोरूप में, तथा भृगुरूपेण दिग्रूप में परिणत हो रहे हैं। ब्रह्म भृग्वङ्गिरोमय है, तप भृगुगर्भित-अङ्गिरामय है, दिक् अङ्गिरा–गर्भित–भृगुमय है। एक ही पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूपा–आपः के आधार पर प्रतिष्ठित भृग्वङ्गिरोमयी आपः यों तीन महिमाभावों में परिणत हो रहा है। वही आपः भृग्वङ्गिरोरूपता से– 'आपः' है। वही आपः भृग्वङ्गिरोमयता से 'ब्रह्म' है। वही आपः भृगुगर्भित–अङ्गिरात्वेन 'तपः' है। एवं वही आपः अङ्गिरागर्भित भृगुत्वेन 'दिशः' है। और सर्वान्त में आपः–ब्रह्म–तपः-दिशः–ये चारों ही योगमायात्मक विवर्त्त स्वयम्भूकाल के ही महिमात्मक विवर्त्त हैं।

३७४–'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' रूपा लोकचतुष्टयी का समन्वय—

लोकविद्याप्रसङ्ग में 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' रूप से चार लोक माने गए हैं। भूलोक पृथिवी है, चन्द्रलोक अन्तरिक्ष है, सूर्य्यलोक द्यौः है, एवं सूर्य्यलोक को भी अपनी सीमा में रखने वाला चतुर्थ लोक ही दिक्–लोक माना गया है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' के अनुसार दिग्लोकात्मक चतुर्थ लोक ही 'आपोलोक' कहलाया है। यह 'आपः' पारमेष्ठ्य वह भृगु–(सोम) तत्त्व ही है, जिसका गायत्री के द्वारा अपहरण होता रहता है। पारमेष्ठ्य भार्गव आपः तो बनता रहता है दिशः, एवं पारमेष्ठ्य आङ्गिरस आपः बनता है चितिरूपेण सौरसम्वत्सर, जिसमें सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–रूप तीनों लोक प्रतिष्ठित हैं।

३७५–चतुर्थलोकीय दिक्सोम, तदभिन्न श्रोत्रेन्द्रिय, एवं 'ता इमा दिशोऽभवन्' का समन्वय—

दिक् के सम्बन्ध से ही इस पारमेष्ठ्य सोम को–'दिक्सोम' कहा गया है, जबकि चान्द्रसोम भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध है। सायतन-पिण्डात्मक-सोम ही भास्वरसोम है, जिस से मानव के इन्द्रियमन का निर्म्माण होता है। एवं निरायतन–श्रृतात्मक-पारमेष्ठ्य सोम का नाम ही दिक्सोम है, जिस से मानव की श्रोत्रेन्द्रिय का विकास हुआ है, जैसाकि–'मनश्चन्द्रे ण लीयते',–एवं–'दिशो मे श्रोत्रे स्थिता' इत्यादि से स्पष्ट है। मानवसंस्थान में जो स्थान श्रोत्र का है, उस अधिदैवत विराट्संस्थान में वही स्थान पारमेष्ठ्य श्रुतसोम का है। अतएव उसे हम उस का 'श्रोत्र' कह सकते हैं। उस का वह श्रोत्र (श्रुतसोम-ब्रह्मणस्पतिसोम) ही दिग्रूप में (वस्तुपिण्ड की सीमारूप में) परिणत होता है, जैसाकि–'अथ यत्–तत्–श्रोत्रमासीत्–ता इमा दिशोऽभवन' (जै० उप० २।२।४) इत्यादि से स्पष्ट है।

३७६–'दिशो वै परिभूश्छन्दः' लक्षणा छन्दोमयी दिक्—

प्रत्येक वस्तुपिण्ड सीमाभावात्मक है। एवं इस का सीमात्मक परिणाह ही इस का छन्द है, जिससे छन्दित होकर वस्तु का स्वरूप सुरक्षित है। सीमात्मक छन्द दिक्सोममय ही है। अतएव छन्द को ही दिक् मान लिया गया है, किंवा दिक् ही छन्द बन रहा है। छन्दोरूप दिग्भाव से सीमित–छन्दित पदार्थ ही 'देश' है। 'छन्दांसि–वै दिश' (शत० ८।३।१।१२)–दिशो वै परिभूश्छन्द' (यजु सं० १५।४।) 'दिश परिधय' (तै० ब्रा० २।१।५।२।)–'आपो वै परिश्रित' (शत० ६।४।३।६) इत्यादि वचन परिश्रितरूप–छन्दोमय–दिक्सोमात्मक–इसी दिग्भाव का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

३७७–अन्तर्गर्भमूर्त्ति 'पूर्वब्रह्म', उस का प्रचण्ड 'तप', एवं–'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि शातपथीश्रुति का तात्त्विक-समन्वय—

'तस्मात्–पुरुषात्–ब्रह्म–एव पूर्वमसृज्यत' इत्यादि श्रुति से अनुप्राणित 'ब्रह्म' भृग्वङ्गिरोमय तत्त्व है, यह स्पष्ट किया जाचुका है। इस ब्रह्म के गर्भ, और अन्तर्गर्भ, रूप से दो विवर्त्त बन रहे हैं। ब्रह्म का स्नेहगुणक भृगुभाग 'गर्भब्रह्म' है, एवं तेजोगुणक अङ्गिराभाग 'अन्तर्गर्भब्रह्म' है। अन्तर्गर्भब्रह्मरूप अङ्गिरा-मूर्त्तिब्रह्म की अभिव्यक्ति का नाम ही अग्रभावापन्न 'प्राणन' है, जो अपानभावात्मक भृगु से समन्वित है। प्राणनरूप अग्रभाव ही इस का तपोरूप स्वरूपधर्म्म है जो अपने इस प्राणनात्मक अग्रधर्म्म से–'अग्रि' कहलाया है। अन्तर्गर्भरूप अङ्गिराब्रह्म की प्राणनावस्था का नाम ही–'तपः' है, जो कि अग्रभावात्मक तप 'अग्रि' भाव से–'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध होगया है। अग्रिरूप अग्नि प्राणव्यापारावस्था ही है उस अन्तर्गर्भरूप अङ्गिराब्रह्म की। इसी आग्नेय प्राणव्यापार को यहाँ 'तप' कहा गया है। अतएव 'तपो वा अग्नि' (शत० ३।४।३।२।)–'तपो मे, तेजो मे, अन्नं मे, वाक् मे। तन्मे त्वयि–अग्नौ'–(जै० उप० ३।२०।१६।)–'तेजोऽसि तपसि श्रितम, समुद्रस्य प्रतिष्ठा' (तै० ब्रा० ३।११।१।३।)–'ब्रह्म तपसि प्राणाग्नौ–प्रतिष्ठितम' (ऐ० ब्रा० ३।६।) इत्यादिरूप से तेजोगुणक अङ्गिराग्नि को ही 'तपो' मूर्त्ति
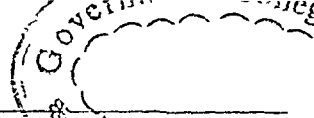
प्रमाणित किया गया है। शतपथ ने पूर्वोक्त क्रमधारानुपात से ब्रह्म के द्वारा जिस प्राणाग्नि का आविर्भाव बतलाया है, उसी को अथर्वमन्त्रने–'तप' कहा है। यहाँ का 'तप', और शातपथीश्रुति का अग्रभावात्मक प्राणाग्नि, दोनों अभिन्नार्थक हैं। तपोरूप इसी अन्तर्गर्भरूप प्राणाग्नि को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—

अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् (अङ्गिरात्मकस्तेजोभाग आसीत्), सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्निः। अग्निर्ह वै तं–'अग्नि' इत्याचक्षते–परोक्षम्– (तपो वा अग्निः–शत० ३।४।३।२)

—शत० ६।१।१।११–(३१७ वें पृष्ठ की श्रुति की अग्रिम–श्रुति)।

३७८–स्नेहगुणक भृगु की अश्रुरूपता, उस की 'अश्वरूपता', एवं–'अथ यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्,–स कूर्म्मोऽभवत्' इत्यादि वाजिश्रुति का समन्वय–

इस तपोरूप–आङ्गिरस–प्राणाग्निरूप अन्तर्गर्भ के प्रचण्डरूप से उद्दीप्त हो जाने पर गर्भरूप स्नेहगुणक भृगुभाव 'अश्रु' रूप में परिणत हो जाता है, जो अश्रुरूप ही परोक्षभाषा में–'अश्व' कहलाया है। सौर-सम्वत्सर के सीमावृत्त का नाम ही 'अश्व' है, जिसके सम्बन्ध से छन्दोरूप वृत्तात्मक काल भी 'अश्व' कहलाने लग गया है, जैसाकि–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वय–प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। तपोरूप अग्नि के चारो ओर सम्वत्सरवेलारूप से परिव्याप्त दिक्सोमात्मक–आपोमय परिश्रितमण्डल का नाम ही संक्षरित–'अश्रु' रूप (पारमेष्ठ्य आपः रूप) 'अश्व' है। शतपथ का 'अश्रु' रूप अश्व ही अथर्व का 'दिशः' तत्त्व है, जिस का उसी पारम्परिक क्रमधारा से इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है कि,–"अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते–परोक्षम्"। (शत० ६।१।१।११।)। यह वही अश्रुरसात्मक आपोमय–दिङ्मय अश्वरस है, जिस से तपोमूर्ति आङ्गिरस–अग्नि अन्तर्गर्भ बन रहा है। यही अन्तर्गर्भरूप प्राणाग्निरस इस अश्रुरस से सीमित बनता हुआ आगे चल कर उस कूर्म्मत्रिलोकीरूप में परिणत होता है, जिसका उसी क्रमानुपात से श्रुति ने–"अथ यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत्" (शत० ६।१।१।१२) इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है।

३७९–कालप्रजापति से आविर्भूत आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः–रूप चार तत्त्व, एवं इन का तात्त्विक–समन्वय–

यों 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (६।१।१।१) से आरम्भ कर १२ वीं कण्डिका पर्य्यन्त के श्रौत-सन्दर्भ के द्वारा प्रतिपादित त्रयीवेदात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (कालात्मक स्वयम्भू), इस के वाग्भाग से उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी, आपोमय परमेष्ठी के भृगु–अङ्गिरोमय गायत्रीमात्रिकवेदात्मक 'ब्रह्म', अङ्गिरोऽग्नि–भृगुसोमरूप अश्व, इन चारों क्रमिक कालधाराओं का ही प्रस्तुत मन्त्र में कालः–आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः–रूप से उपवर्णन हुआ है। मन्त्र का 'कालात्' स्वयम्भूरूप सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है। मन्त्र का 'आपः' वाग्भाग से उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी है। मन्त्र का 'ब्रह्म' भृग्वङ्गिरोमय पौरुषेय त्रयीवेद है, मन्त्र का

'तप.' भृगुगर्भित अङ्गिराप्राणाग्नि है, एव मन्त्र का 'दिश' अङ्गिरागर्भित-अश्व रूप 'अश्व' है। तथा-मन्त्रोत्तरार्द्ध का 'सूर्य्य' शतपथीश्रुति का रसात्मक 'कूर्म्म' है, जिस इस मन्त्रवर्णन का तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणसन्दर्भ के आधार पर ही क्रमिक समन्वय गतार्थ बन रहा है। मन्त्रव्याख्यारूप ब्राह्मणसन्दर्भ के पारिभाषिक समन्वय के बिना तो मन्त्र के कालात्-आप.-ब्रह्म-तप-दिश-सूर्य्य. (स्वयम्भू-परमेष्ठी-भृग्वङ्गिरा-अङ्गिरोऽग्नि-भृग्वश्व-कूर्म्म) ये पारिभाषिक शब्द सर्वथा पूजार्ह ही बने रह जाते हैं, जिनके पारायणानुगत पौन पुन्य से भी पुण्यसंस्कार तो विगत तीन सहस्रवर्षों से प्रक्रान्त है ही, जिस उपक्रान्ति का महान् श्रेय पारायण-महत्त्वप्रतिपादकमात्र सायणभाष्यादि को ही कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान समर्पित है।

२८०-कालमूला सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, एवं प्रथम-(१-१२)-मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम—

काल से आप का प्रादुर्भाव हुआ, आपोगर्भ में आपोद्रव्य से ब्रह्म आविर्भूत हुआ, तप आविर्भूत हुआ, दिशाएँ प्रादुर्भूत हुईं। यों परम्परया आप-ब्रह्म-तप-दिश.-भावानन्तर सर्वान्त में यही ब्रह्म तपोरूपेण दिङ्मण्डलवेला में कालान्तर में चिति की परिपूर्णता से-व्यक्तसूर्य्यपिण्डरूप में आविर्भूत होगया। अमुक कालावधिपर्य्यन्त यह व्यक्तसूर्य्य उसी अव्यक्त स्वायम्भुव काल में व्यक्तरूप से प्रतिष्ठित रहेगा अपने वर्त्तमानकालात्मक-सहस्रदिव्ययुगात्मक पुण्याहकाल में। अन्ततोगत्वा बलग्रन्थिमूला चिति के शिथिल हो जाने पर यह पुनः अपने उसी अव्यक्तभाव में आता हुआ उसी अव्यक्त स्वयम्भू-काल में विलीन हो जाता है। इसके विलयन के साथ साथ ही उसी तपोमूर्त्ति अग्नि-पुञ्ज से नवीन सूर्य्य आविर्भूत हो जाता है। और यों उस सनातन-कालचक्र का यह सनातन-आविर्भाव-तिरोभावात्मक-क्रम सदा सदा के लिए यों ही प्रक्रान्त होता रहेगा, प्रक्रान्त है ही, जिस इस सनातन उदयास्तक्रम (सूर्य्योत्पत्ति-सूर्य्यविलयन-क्रम) को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—'कालेनोदेति-सूर्य्य, काले निविशते पुन'। इसी मन्त्रवर्णन के आधार पर निम्न-लिखित स्मार्त्त वचन प्रतिष्ठित हैं—

> एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
> आत्मन्यन्तर्दधे भूयः काल कालेन पीडयन् ॥१॥
> यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥
> यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥२॥
> एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ॥
> संजीवयति चाजस्रं, प्रमापयति चाव्ययः ॥३॥
> मन्वन्तराण्यसंख्यानि, सर्गः-संहार एव च ॥४॥
> क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥४॥
>
> —मनुः १ अध्याये

कालात्—सप्तर्षिप्राणात्मक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-स्वयम्भुप्रजापतेः।
आपः——भृग्वङ्गिरोरूपाः-आपः समभवन्।
ब्रह्म——गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्तिः-भृग्वङ्गिरोमयं ब्रह्म।
तपः——भृगुगर्भितः-अङ्गिराप्राणाग्निः-चितिरूपः।
दिशः——अङ्गिरागर्भितः-भृगुसोमः-अश्रुरूपोऽश्वरूपो वा।
सूर्य्यः—त्रैलोक्यव्याप्तः-प्राणाग्निरसरूपः-व्यक्तपिण्डः।

इति-प्रथममन्त्रार्थसमन्वयः

१-(११)

——*——

(१२)-(२)-द्वितीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

३८१-'कालेन वातः पवते' इत्यादि द्वितीय (१२)-(२)मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं कालात्मिका सौर-त्रैलोक्यविभूति का संस्मरण—

(१२)-(२)-कालेन वातः पवते, कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता॥

"काल से (ही) वायु वह रहा है, काल से (ही) पृथिवी मही चल रही है। काल में (हीं) मही द्यौ प्रतिष्ठिता है" इत्यक्षरार्थक द्वितीय मन्त्र सौरत्रिलोकीरूपा कालविभूति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। काल से आपोमय परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। पारमेष्ठ्य आपः के भृग्वङ्गिरो-मय-भावों से कालसाक्षी में ही गायत्रीमात्रिक वेदरूप ब्रह्म का आविर्भाव हुआ, इसी आपः के भृगुगर्भित अङ्गिरा से अग्निप्राणरूप तपः का आविर्भाव हुआ, इसी आपः के अङ्गिरागर्भित भृगु से सौम्यभावरूप छन्दोमय दिग्भाव का आविर्भाव हुआ। ब्रह्म-तपः-दिक्-की समन्वितावस्थारूप भृग्वङ्गिरोमय आपः ही चितिभाव में आकर अन्ततोगत्वा सूर्य्यरूप में परिणत होगया। और यों स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर सूर्य्य पर्य्यन्त 'स्वयम्भूः-आपः-ब्रह्म-तपः-दिशः-सूर्य्यः-इन ६ कालमहिमाओं का आविर्भाव होगया। अत्र आगे जो भी मूर्त्तभाव उत्पन्न होंगे, उन सबका मूलप्रवर्त्तक काल-स्वयम्भु-आपः-ब्रह्म-तपो-दिशः-गर्भित सौरकाल ही बनेगा, जिसे 'व्यक्तकाल' कहा गया है, एवं जो सौरकाल ही सम्वत्सरकाल में परिणत होता हुआ साम्वत्सरिक-प्रजासर्ग का उत्पादक बनता है। 'कालेन वातः पवते' इत्यादि द्वितीय मन्त्र सौरकाल के लोकत्रयात्मक-पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यौः-रूप सम्वत्सरस्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, जिस इस सौरसम्वत्सर में समहिम सूर्य्य, समहिम चन्द्रमा, समहिम भूपिण्ड, नक्षत्र, ग्रह, आदि सभी साम्वत्सरिक पर्व यथास्थान यथाकाल प्रतिष्ठित हैं। प्रथम मन्त्र के 'कालात्' का अर्थ-'स्वयम्भूकालात्' था, प्रथम मन्त्र के 'कालेनोदेति सूर्य्यः' के 'कालेन' का अर्थ-'परमेष्ठिकालेन' था, 'काले' का अर्थ भी 'परमेष्ठिकाले' ही था। किन्तु इस द्वितीय मन्त्र के 'कालेन-काले'-का अर्थ 'सौरकालेन', 'सौरकाले' ही होगा। क्योंकि व्यक्त सौरकाल ही सम्वत्सर-त्रिलोकीरूपा उस रोदसी-त्रिलोकी का जनक बन रहा है, जिस रोदसी-त्रिलोकी में सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-ग्रह-नक्षत्रादि प्रतिष्ठित हैं। इस व्यवच्छेद-दृष्टि को आधार बना कर ही हमें द्वितीय मन्त्र का अर्थसमन्वय करना चाहिए।

३८२–सृष्टि, तथा दृष्टिमूला सृष्टिविद्याओं का पार्थक्य, अव्यक्तभावानुगता सृष्टिमूला सृष्टिविद्या का, एवं व्यक्तभावानुगता दृष्टिमूला सृष्टिविद्या का पारिभाषिक विपर्य्यय—

सम्वत्सरमूला सृष्टिविद्या का समन्वय हुआ है दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या के माध्यम से, जिसमें पृथिवी[1]–अन्तरिक्ष[2]–द्यौ[3]–दिश[4] यह क्रम है, जबकि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या में दिश[1]–द्यौ[2]–अन्तरिक्ष[3]–पृथिवी[4] यह क्रम माना गया है। कालात् आप, ब्रह्म–तप –दिश –यह क्रम सृष्टिमूलक ही माना जायगा, जिसका मन्त्रश्रुति में दिग्दर्शन कराया गया है। अव्यक्तभावात्मिका अव्यक्तसृष्टियों में जहाँ सृष्टिमूला सृष्टि-विद्या को प्रधानता दी जाती है, वहाँ व्यक्तमूला व्यक्तसृष्टियों में दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के माध्यम से ही सर्गधाराएँ व्यवस्थित की जाती हैं।

३८३–अव्यक्त–स्वायम्भुव जगत् का–'दिशः–द्यौः–अन्तरिक्ष–पृथिवी'–रूप सृष्टिमूलक समन्वय, एवं व्यक्त सौरजगत् का 'पृथिवी–अन्तरिक्षं–द्यौः–दिशः' रूप दृष्टि-मूलक समन्वय—

कारण स्पष्ट है। व्यक्तजगत में पहिले स्थूल पर ही दृष्टि जाती है, तदनन्तर तन्माध्यम से सूक्ष्मभावों की ओर। किन्तु अव्यक्त में तो मूल अव्यक्त ही उपक्रम बना रहता है। अतएव अव्यक्त स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर दिश पर्य्यन्त तो सृष्टिमूलक अव्यक्तादि–अव्यक्तान्त ही क्रम रहा। किन्तु व्यक्त सूर्य्य पर आते ही यह क्रम बदल गया। अर्थात् सूर्य्यरूप व्यक्तभाव के व्यक्तसर्गों के समन्वय में प्रवृत्त होते ही भूपिण्ड उपक्रम बन जायगा, एवं दिश –उपसंहार बन जायगा। फलतः –दिश –के आगे सृष्टिमूलक सूर्य्य–अन्तरिक्ष–पृथिवी–यह क्रम न होकर पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ –दिश –यह क्रम हो जायगा। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसीलिए साम्वत्सरिक–व्यक्तसर्गविद्याप्रकरणात्मक चयनयज्ञप्रकरण में इस दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के माध्यम से ही अस्त्र–एडादि चारों भावों का समन्वय किया है, जिस समन्वय के लिए तो अत्यन्त गहना–गम्भीरा–रहस्यात्मिका उस 'अग्निरहस्यविद्या' का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिसमें हमारा तो चञ्चुप्रवेश भी नहीं है। अत्यल्पश्रवण-मात्रमाध्यम से तत्सम्बन्ध में हम तो में यही निवेदन कर सकते हैं कि—

३८४–दृष्टिविद्यामूलक पार्थिव अस्त्रएड, आन्तरिक्ष्य पोपाएड, सौर यशोऽएड, पार-मेष्ठ्य रेतोऽएड, नामक चतुर्विध आण्डों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं द्वितीय (१२) मन्त्रार्थ समन्वयोपराम—

व्यक्तजगत् में सर्वप्रथम उस भूपिण्ड पर ही हमारी दृष्टि जाती है, जिसे स्वयम्भूकालप्रजापति का 'अस्त्रएड' माना गया है, एवं जिसका स्वरूपनिर्माण 'मर' नामक क्षारभावापन्न–अर्णवसमुद्र से ही हुआ है। आप्-वायु-सौर-तेज इन तीनों के अन्तर्य्यामात्मक यागसम्बन्ध से 'मर' नामक आप ही क्रमशः आप (घन-आप)–फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य रूपेण अष्टावयव बनता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत होता है। यही अग्निलोक है, जिसका महिमालोक ही अदितिपृथिवी कहलाई है, जोकि पृथिवी 'अप्रथयत्'-रूप से

महिमान्विता बनती हुई–"**मही**" नाम से प्रसिद्ध हुई है। '**अद्भ्यः पृथिवी**' के अनुसार 'मर' नामक आपः से उत्पन्न भूपिण्ड के केन्द्र में गायत्राग्नि ही प्रतिष्ठित है, जिसके सम्बन्ध से ही यह पृथिवी '**गायत्री**' कहलाई है। इस मही पृथिवी के महिमा-विवर्त **अग्निः–अश्वः–अजः–पृथिवी–अस्त्वण्डम्**, इन पाँच भावों में परिणत है। तदनन्तर अन्तरिक्ष का स्थान आता है दृष्टिविद्या के अनुसार। इसके महिमाविवर्त्त क्रमशः **वायुः-वयांसि-मरीचयः–अन्तरिक्षं–पोपाण्डम्** इन पाँच भावों में परिणत है। तदनन्तर द्यु लोक का स्थान आता है, जिसके पाँच महिमा-विवर्त्त क्रमशः **आदित्यः–अश्मापृश्निः, रश्मयः–द्यौः–यशोऽण्डम्**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं सर्वान्त में दिग्लोक का स्थान आता है, जिसके पाँच महिमा-विवर्त्त क्रमशः **चन्द्रमा***, **नक्षत्राणि, अवान्तरदिशः, दिशः, रेतोऽण्डम्**' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **महीपृथिवी**, महिमामय उक्त **अन्तरिक्ष (चन्द्रपिण्ड सहित), महिमामयी मही द्यौः**, एवं **आपोमयी दिक्**, इन चारों साम्वत्सरिक कालाण्डभावों की समष्टि का नाम ही है-'**सौरब्रह्माण्ड**', जिसका ऋषि ने यहाँ **महीपृथिवी-महीद्यौः-व्रातः**-इन तीन लोकों से संग्रह कर लिया है। व्यक्त सौरब्रह्माण्ड की दृष्टि से ये तीन लोक ही व्यक्त हैं, जबकि चौथा दिग्लोक अव्यक्त ही बन रहा है। अतएव उसका ऋषि ने प्रथम मन्त्र के–'**कालाद् ब्रह्म–तपो-दिशः**' इत्यादि वाक्य से ग्रहण कर लिया है। अब व्यक्त सौरब्रह्माण्ड में तीन लोक ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रकृत द्वितीय मन्त्र ने इसी त्रैलोक्य-महिमा को अपना लक्ष्य बनाया है। शतपथब्राह्मण–षष्ठकाण्ड के १ अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में तथाकथित चारों सौरब्रह्माण्डविभूतिरूप इन सम्वत्सरमहिमाओं का क्रमशः विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसके आधार पर ही यहाँ आगे की तालिका उद्धृत हो रही है।

---

*–भास्वरसोमात्मक पिण्डरूप चन्द्रमा सूर्य्य तथा भूपिण्ड के मध्य में है, जबकि दिक्सोमात्मक आप्य–चन्द्रमा का स्थान सूर्य्य से ऊपर ही माना गया है। सोम का सामान्य नाम 'इन्दु' भी है, जो दाहक अग्नि के सम्बन्ध से चन्द्रिकामय बनता हुआ (प्रज्ज्वलित होता हुआ ज्योतिर्म्मय बन जाता है। इसी ज्योतिर्म्मय-भाव से सोम का सामान्य नाम 'चन्द्रमा' भी होगया है। दृष्टिक्रमधारा में प्रत्यक्षदृष्ट 'चन्द्रमा' जहाँ सूर्य्य–भूपिण्ड–दोनों के अन्तरालवर्त्ती अन्तरिक्षलोक में अन्तर्भूत है, वहाँ सूर्य्य से परस्थानरूप तृतीय–द्युलोक में प्रतिष्ठित दिक्सोमात्मक पारमेष्ठ्य–आपोमय–'ब्रह्मणस्पति' नामक चन्द्रमा दृष्टिपथ से अतीत है। आण्डसृष्टिक्रम में दिक्सोमरूप इसी चन्द्रमा का ग्रहण हुआ है, जैसाकि तदनुगत श्रौतसन्दर्भ से प्रमाणित हैं। नक्षत्राधिपति चन्द्रमा यही पारमेष्ठ्य चन्द्रमा है, जोकि सूर्य्य से ऊपर है। अतएव वही 'उडुपति' कहलाया है, जिसका पारमेष्ठ्य कृष्णतत्त्व से सम्बन्ध है, जोकि महारास के अनुगामी बने हुए हैं। सूर्य्य से अत्यन्त विदूर हैं नक्षत्र कक्षाएँ, जिनका आधिपत्य पारमेष्ठ्य चन्द्र ही कर सकते हैं, न कि भूपिण्ड का उपग्रहभूत प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा। वेदशास्त्र का सर्वात्मना अनुसरण करने वाले पुराणशास्त्रने भी इसी वैदिक–सृष्टिक्रम को माना है। अतएव पुराण ने भी 'चन्द्रमा' का स्थान सूर्य्य से ऊपर ही बतलाया है। वेदशास्त्र के अक्षरमात्र पर दृष्टिनिक्षेप करने से भी पराङ्मुख जो अर्वाचीन वेदभक्त वेदोद्धारक स्वामिपथानुगामी महाशय पुराण की इत्थंभूता जनश्रुतियों के आधार पर पुराण को गप्प–मानने मनवाने का महान् पातक करते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत-शिरष्क नहीं बन जाते, उन '**महाशय**'–महानुभावों से प्रार्थना की जायगी कि, अपनी भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए उन्हें एकबार वेदाक्षरों पर तो दृष्टिपातानुग्रह कर ही लेना चाहिए।

दृष्टिपथानुगतं–सौरब्रह्माण्डम्—

(१) १–आत्मण्डम्	२–पोषाण्डम्	३–यशोऽण्डम्	४–रेतोऽण्डम्
(२) १–अग्नि	२–वायु	३–आदित्य	४–चन्द्रमा
(३) १–अश्वः	२–वयांसि	३–अश्मापृश्निः	४–नक्षत्राणि
(४) १–अजः	२–मरीचय	३–रश्मय	४–अवान्तरदिश
(५) १–पृथिवी	२–अन्तरिक्षम्	३–द्यौ	४–दिश

सौरब्रह्माण्डात्मके–व्यक्तसौरकाले–सम्वत्सरे–एव—

पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः-दिशः-प्रतिष्ठिताः-आहिताः।
अग्निः-वायुः-आदित्यः-चन्द्रमाः वा ।
अश्वः-वयांसि-अश्मापृश्निः-नक्षत्राणि वा ।
अजः-मरीचय-रश्मय-अवान्तरदिशो वा ।

इत्यभिप्रेत्यैवाह महर्षिः—

कालेन—वातः पवते-सौरव्यक्तकालेन-अन्तरिक्षलोकानुगतो वातः पवते ।

कालेन—पृथिवी-मही सौरव्यक्तकालाधारेण-पृथिवी परिभ्रमति ।

द्यौर्म्मही-काले-आहिता-सौरकाले एव कालात्मिका द्यौर्म्मही आहिता ।

इति—द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयः

२

(१३)-(३)-अथ तृतीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

३८५-'कालो ह भूतं-भव्यं च' इत्यादि तृतीय (१३) मन्त्राक्षरार्थसमन्वय, एवं 'पार्थिव सम्वत्सर' का संस्मरण—

(१३)-(३)-कालो ह भूतं, भव्यं च, पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत ॥

"(भूत-भौतिकी-पार्थिवी सृष्टि से) पहिले (पुरा) कालात्मक पुत्रने भूत, और भविष्यत् उत्पन्न किया। काल से (ही) ऋचाएँ उत्पन्न हुईं, (एवं) काल से (ही) यजुः उत्पन्न हुआ"-इत्यक्षरार्थक अनुगममन्त्र उस 'पार्थिवसम्वत्सर' का ही स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है, जिसका केवल 'भूपिण्ड' से सम्बन्ध है, एवं जिस पार्थिव सम्वत्सर का अष्टम सूक्त के-'काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्' इत्यादि अष्टम मन्त्र के सर्वान्त के अदितिमण्डलात्मक पार्थिव विवर्त्त के विश्लेषण-प्रसङ्ग में स्पष्टीकरण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० २८६ की समष्टयात्मिका तालिका)।

३८६-स्वयम्भू-काल से आविर्भूत दशकल-विराट्काल का स्वरूप-समन्वय, एवं दोनों कालों का 'आत्मा वै जायते पुत्रः' मूलक पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध—

सौरसम्वत्सरकाल ही उस स्वयम्भू-परमेष्ठी-रूप दम्पती की प्रथमा सन्तति है, जिसे 'विराट्पुत्र' कहा गया है। सुब्रह्मसोमात्मक परमेष्ठी 'पत्नी' (वहु) है, ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू पति है। ब्रह्माग्नि ऋक्-यत्-जू-साम-रूप से चतुष्कल है, सुब्रह्मसोम आपः वायुः-सोमः-अग्निः-यमः-आदित्यः-भेद से षट्कल है। इन चार, तथा छह की समष्टि ही दशकल वह मूलप्रजापति (दम्पती-पतिपत्नी) है, जिससे दशावयव (अग्नीषोमात्मक) विराट् सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है, जो यह विराट्पुत्र उस प्रजापति का आत्मप्रतिमान ही बन रहा है-'आत्मा वै जायते पुत्रः'-'पिता वै जायते पुत्रः' के अनुसार। स्वायम्भुव प्राजापत्य हृदय की प्रतिमूर्त्ति इस पञ्चपर्वात्मक-पञ्चपुण्डीर विश्व में सूर्य्य ही है, जिसके उस ओर परमेष्ठी-स्वयम्भू है, इस ओर चन्द्रमा-भूपिण्ड हैं। विश्वमध्यस्थता ही इसकी केन्द्रता है, जैसाकि-'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'-'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'-'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'-'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता'-'विमान एष दिवो मध्य आस्ते आ पप्रिवान् रोदसी०'-इत्यादि वचनों से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है।

३८७-'पिता सन्नभवत्-पुत्र एषाम्' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं विराट्पुरुष का संस्मरण—

तथाविधा प्राजापत्य-केन्द्रता ही इस विराट्सूर्य्य की 'पुत्रता' है। पिता का पुत्र पिता का हृदय ही है, आत्मा ही है। अतएव 'हृदय', और 'पुत्र' परस्पर अभिन्नार्थक बन गए हैं। इसी आधार पर-'पुत्रो वै हृदयम्' (तै० आ० २।२।७।४।) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित है। सूर्य्यनारायण तत्त्वतः पुत्र भी हैं उस

स्वयम्भूकाल के, एवं स्थितिभाव से 'हृदय' भी हैं विश्व के। अतएव इनका तत्पुत्रत्व, एवं स्वस्थित्यनुगत हृदयत्त्व, दोनों धर्म्म अन्वर्थ हैं। स्वयम्भुगर्भित परमेष्ठी ही महद्दत्तरूप वह अव्यक्तकालप्रजापति है, जिसके गर्भ में ही-'क स्विद्गर्भं दध्र आप '-'तासु बीजमवासृजत'-इत्यादिरूप से गर्भरूप (हृदयरूप) सूर्य्यनारायण अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव अवश्य ही इन्हें उस अव्यक्तकालपिता का व्यक्तपुत्रकाल कह सकते हैं। अमूर्त्त-अव्यक्त-स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-'महद्दत्तरकाल' यदि पिता है, तो यह मूर्त्त-व्यक्त-सौर-'सरकाल' पुत्र है। 'पितासत्रभरत्-पुत्र ण्पाम्-भुवनानां-सौरलोकानाम' इत्यादि अष्टम-सूक्तीय चतुर्थ मन्त्रार्थ-समन्वय में स्पष्ट ही उस काल के पुत्रभाव का सर्वात्मना समर्थन हो रहा है। पिता ही पुत्र बना है, अव्यक्त ही व्यक्ता-वस्था में आया है। स्वायम्भुव पितृकाल ही सौरपुत्रकाल में परिणत हुआ है, जिसका स्वरूप रोदसीत्रैलोक्या-त्मक सौरसम्वत्सरात्मक-माना गया है, जिसका कि प्रक्रान्त नवम सूक्त के-"कालेन वात' पवते, कालेन पृथिवी मही०' इत्यादि द्वितीय मन्त्रार्थ-समन्वयप्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है।

३८८-पुत्रकालात्मक व्यक्त सौरकाल के पौरुषस्वरूप की जिज्ञासा, एवं-'अश्वो न देववाहनः' श्रुति का संस्मरण—

पितृकालात्मक-अव्यक्त-स्वायम्भुवपारमेष्ठ्य-काल से पुत्ररूपेण आविर्भूत इस पुत्रकालात्मक व्यक्त-सौरकाल ने किया क्या ?,-'कालो ह भूत भव्य च'० इत्यादि तृतीय मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। राजस्थान में एक महत्त्वपूर्ण लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि-"मानपिता-सुत घोडो, घणों नहीं तो थोडो थोडो'। माता, और पिता के दाम्पत्य से उत्पन्न पुत्र मातापिता के महान गार्हस्थ्य-उत्तरदायित्त्व का वहन करने वाला वैसा वाहन [अश्व-घोडा] ही है, जो सर्वात्मना नहीं, तो अमुक सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही उस भार का अश्ववत् वहन करता रहता है-'अश्वो न देववाहन '।

३८९-लोकसूक्ति का समन्वय, एवं पिता स्वयम्भू के धर्म्मों से समतुलित पुत्र सौर-काल का संस्मरण—

यही उक्त सूक्ति का अर्थसमन्वय है, जो-'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि ' का ही अक्षरशः अनु-वदन है। *मातृपितृगत्ना सप्तपुरुषात्मिका सपिण्डता का प्रतिमान पुत्रावर भी इस सप्तात्मिका सपिण्डता के भार* का वहन करने वाला व्यक्तकालाश्व ही है। तथैव सप्तरश्मिमूर्त्ति उस अव्यक्तकाल का पुत्ररूप यह व्यक्त सौर-अश्वकाल भी सप्ताहोरात्रवृत्त्या से सप्तरश्मि ही बन रहा है। जैसा स्वरूप उस पिता का है, वैसा ही स्वरूप इस पुत्र का है। वह कालपिता [महद्दत्तरूप अव्यक्तब्रह्म] यदि-'भूत-भविष्यत्प्रस्तौमि महद्-ब्रह्मैकमक्षरम् , बहु ब्रह्मैकमक्षरम्' रूप से भूत, और भव्य का अधिष्ठाता है, तो *तत्पुत्रस्थानीय* यह सौर व्यक्तकाल भी उसी भूत-भव्य धर्म का जनयिता बन रहा है। महिमामण्डलात्मक वृत्तसीमा के परिमाण *में* अन्तर हो सकता है दृष्टि-अपेक्षामात्र से। वह कालमण्डल बड़ा हो सकता है, यह तदपेक्षया छोटा प्रतीत हो सकता है [यद्यपि छोटा है नहीं]। किन्तु स्वरूपतः जैसा वह है, वैसा ही यह है-'घणों नहीं, तो थोडो-थोडो'।

३९०–त्रिकालात्मिका सृष्टिकालव्यवस्था का दिग्दर्शन—

कालपिता-महदक्षररूप स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य से अनुप्राणित 'भूतम्' का अर्थ है-'अतीतम्', एवं 'भविष्यत्' का अर्थ है-'अनागतम्', जिस तथाविध भूत-भविष्यदात्मक कालपिता का वर्त्तमानरूप 'आगतम्' (भवत्) रूप पुत्रकालात्मक सूर्य्य ही बन रहा है, जिसे वर्त्तमानकालात्मक 'पुण्याहकाल' कहा गया है, एवं जिसके माध्यम से ही मन्वन्तरानुगता गणनात्मिका 'सृष्टिकालव्यवस्था' समन्वित हुई है।

३९१–भवल्लक्षण वर्त्तमानकाल का भूत–भविष्यल्लक्षण अतीत–अनागत–कालों में अन्तर्भाव—

उस भूत-भविष्यत्-काल से [स्वयम्भुगर्भित पारमेष्ठ्य महदक्षरमूर्त्ति अव्यक्तकालपिता से] ही इस वर्त्तमानकालात्मक-कालपुत्ररूप-व्यक्त-सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है। अवश्य ही इस व्यक्त-बाह्य-धर्म्म से पुत्रसूर्य्य वर्त्तमानकालात्मक ही बन रहा है। किन्तु इसके मूल में तो बीजरूप से कालपिता के भूत-भविष्यत्-दोनों भाव ही प्रमुख बने हुए हैं। अतएव व्यक्तदृष्ट्या वर्त्तमानकालात्मक प्रतीत होता हुआ भी सूर्य्य अव्यक्तदृष्ट्या तो भूत-भविष्यत्-भावमय ही प्रमाणित है, किंवा त्रिकालात्मक ही प्रमाणित है। वस्तुगत्या तो 'वर्त्तमान' नामक भवत्काल भूत, और भविष्यत् में ही अन्तर्भूत है। क्षण क्षण में धारावाहिकरूप से प्रक्रान्त अव्यक्त (भूत)–व्यक्त (वर्त्तमान)–अव्यक्त (भविष्यत्)–के चक्र में मध्यस्थ क्षणात्मक व्यक्त कभी भी तो अङ्गुलि-निर्देश की प्रतीक्षा नहीं करता।

३९२–वर्त्तमानकाल की भूत–भव्यता, एवं–'कालो ह भूतं भव्यञ्च' मन्त्रभाग का संस्मरण—

'यह वर्त्तमान है' कहने के साथ ही तो 'यह' वाला वर्त्तमान विदित नहीं, किस भूताव्यक्तक्षण में परिणत होगया। अतएव वस्तुगत्या मध्यस्थ व्यक्तभावापन्न वर्त्तमान क्षण भी-'तन्मध्य' न्याय से भूत, अथवा तो भविष्यत्, दोनों अव्यक्तक्षणों में से किसी न किसी एक क्षण में अवश्य ही लीन रहता है। तभी तो काल के मौलिक स्वरूप–प्रसङ्ग में-'भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि' यही कहा गया है। और तभी तो प्रस्तुत मन्त्र में भी-'कालो ह भूतं, भव्यंच' रूपेण भूत, और भव्य का ही संग्रह हुआ है। मन्त्रोपात्त 'च' [चकार] कदापि वर्त्तमान का संग्राहक नहीं है, जैसाकि महाभाग भाष्यकारोंने माना है। अपितु यह चकार तो 'और' भाव का ही संग्राहक है। 'भूत और भव्य' के लिए ही 'भूतं–भव्यं च' प्रयुक्त है। 'भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' में चकार नहीं है, तो क्या यहाँ 'वर्त्तमान' उपेक्षित है ?। नहीं अपितु 'वर्त्तमान तो इन दोनों की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है, जिसके लिए किसी भी च, किंवा नच-तुच-की कोई आवश्यकता नहीं है।

३९३–'भूतं'–और 'भव्यं' शब्दों के तात्त्विक वाच्यार्थों का समन्वय—

और फिर वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, यहाँ का भूतं, और भव्यं शब्द भातिसिद्ध कालभावों से साक्षात् सम्बन्ध रख भी नहीं रहा। कल–आज–कल–आदि लक्षण भातिकाल-भावों के लिए ही –भूत–

वर्त्तमान-भविष्यत्-शब्द प्रयुक्त हुए हैं। न तो महदक्षरकालात्मक कालपिता के भूत-भविष्यत्-का यह अर्थ है, न क्षरकालात्मक कालपुत्र के-"भूत'-भव्य च' का ही यह अर्थ। अपितु इन दोनों ही शब्दों का सत्तासिद्धात्मक पारिभाषिक अर्थ है- 'द्यावापृथिवी'। पृथिवीलोक का पारिभाषिक नाम है-'भूतम्', एवं द्युलोक का पारिभाषिक नाम है-'भव्यम्', जो कि दोनों ही आग्नेय-आदित्य-प्राणघनलोक सत्तासिद्ध लोक हैं, जिनका कल-आज वाले भातिभावों से कोई सम्पर्क नहीं है। ससीम-परिमित-धामच्छद-भूततत्त्व का नाम है-'भूतम्', एवं असीम-अपरिमित अधामच्छद प्राणतत्त्व का नाम है-'भव्यम्'। 'भूतम्' रूप परिमित भूत से जहाँ वस्तु के मूर्त्तपिण्ड का निर्माण होता है, वहाँ 'भव्यम्' रूप अपरिमित प्राण वस्तु के अपरिमित-प्राणमण्डलात्मक महिमामण्डल का स्वरूप-व्यवस्थापक बनता है। 'भूतम्' ही 'भूतपिण्ड' है, एवं 'भव्यम्' ही 'प्राणमण्डलम्' है। यही यहाँ के 'भूत-भव्य च' का सत्तासिद्ध समन्वय है, जहाँ 'च' कार के मर्दनोपमर्दन की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रह जाती भातिसिद्धकालप्रेमी व्याख्याताओं की भाँति।

३६४-भूतम्,-और लक्ष्मीभाव, भव्यम्,-और श्रीभाव, तथा भूत-भव्यात्मक-पारमेष्ठ्यविष्णुरूप महदक्षरकाल की श्री-लक्ष्मी-नाम की दो पत्नियाँ--

न केवल शास्त्रीय-तत्त्वमर्य्यादा में ही, अपितु तदनुगता, तदाधारेणैव सुप्रतिष्ठिता भारतीया सांस्कृतिकी लोकमर्य्यादा (लोकव्यवहार) में भी भूत-भव्य-शब्दों का सत्तासिद्ध समन्वय ही सर्वप्रसिद्ध है। 'भव्यानुगत भूतमेव भव्यम्', 'भव्यशून्य-केवल-भूत-तु-भूतमेव-गतमेव' इस लौकिक वाक्य का समन्वय कीजिए। प्राणशक्ति का नाम ही 'भव्यम्' है, जिसका देवनाम है-'श्री'। स्थूलभूत का नाम ही 'भूतम्' है, जिसका देवनाम है-'लक्ष्मी'। 'लक्ष्मी' 'भूतम्' है, 'श्री' 'भव्यम्' है। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०' इत्यादि के अनुसार दोनों ही पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं। स्वयम्भुगर्भित-पारमेष्ठतत्त्व का नाम ही तो 'विष्णु' है, और यही तो 'भूत भविष्यत्प्रस्तोमि' लक्षण महदक्षरात्मक सत्तासिद्ध काल है। गर्भीभूत स्वायम्भुवप्राण 'भव्यम्' रूप 'भविष्यत' है, एवं गर्भधारक आपोमय पारमेष्ठ्य 'भूतम्' रूप 'भूतम्' है। स्वायम्भुव प्राण (भव्य), और पारमेष्ठ्यभूत (भूताप), दोनों की समष्टि ही 'महदक्षरविष्णु' है, जिसका प्राणभाग 'भव्यश्रीभाव' है, एवं 'भूतभाव भूतलक्ष्मीभाव' है।

३६५-प्राणश्री, तथा भूतलक्ष्मी का स्वरूप-दिग्दर्शन, तदनुगत भूत-भव्य--भाव, एवं भव्य-भूतायोजनात्मक लोकव्यवहार का समन्वय—

भूत जबतक प्राणवान् रहता है, तभीतक वह भूत स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। प्राण से समन्वित भूत ही 'भूतसत्ता' का प्रतीक है। जब भूत इस प्राणबन्धन से पृथक् होजाता है, भव्यभाव हट जाता है भूत से, तो ऐसा निष्प्राण अभव्यभूत नष्ट होकर 'अतीत' रूप भूतभाव में ही परिणत होजाता है। प्राण ही श्री है, भूत ही लक्ष्मी है। अतएव भव्य ही श्री है, भूत ही लक्ष्मी है। भूतलक्ष्मी तभीतक भव्या बनी रहती है, जबतक कि इसके साथ भव्या श्री समन्वित रहती है। श्रीविहीना-(भव्यविहीना) लक्ष्मी (भूत) तो सचमुच भूतप्रेतवत्-भयावहा ही बन जाती है। अतएव प्राणश्रीविहीन-निष्प्राण-लौकिक-आयोजन-परिग्रहों-के लिए-लोकव्यवहार में-'भूतों का सा डेरा' (भूतप्रेतों की आवासभूमि) यह वाक्य प्रचलित है। वे ही

आयोजन 'भव्य आयोजन' कहलाए हैं, जिनके भूतपरिग्रह प्राणवान् रहते हैं। इसप्रकार भव्यभूतायोजनात्मक लोकव्यवहार भी स्पष्ट ही भव्यं, तथा भूतं–के सत्तासिद्धरूपों को ही लक्ष्य बना रहा है।

२६६–'कालो ह भूतं भव्यं च' मन्त्रभाग का तात्विक-समन्वय—

सर्वथा प्रस्तुत मन्त्र का 'भूत' भूतपिण्डात्मक 'भूलोक' का संग्राहक है, एवं 'भव्यं' प्राणमहिमात्मक **'भूमहिमा'** का संग्राहक है। भूलोकात्मक 'भूतं' परिमित है, सीमित है, मर्त्य है विपरिणामी है, एवं भूमहिमात्मक 'भव्यं' अपरिमित है, अमृत है, अविपरिणामी है। मर्त्य–भूतात्मक 'भूतं' से व्यक्तकालपुत्र (सौरकाल) अदितिपृथिवी को अभिव्यक्त करते हैं, एवं अमृत–प्राणात्मक 'भव्यं' से ये ही अदिति के द्युलोक को अभिव्यक्त करते हैं। इसप्रकार सौर व्यक्तकाल के भूतं–भव्यं–रूप भूत, और प्राण से भूतं-भव्यं–रूपा द्यावापृथिवी का ही आविर्भाव हो जाता है, जिस इस तथ्य को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है–**'कालो ह भूतं, भव्यं च पुत्रोऽजनयत्पुरा'**। 'भूतं' रूप भूत, तथा 'भव्यं' रूप प्राण, दोनों तो सौरकालपुत्र में तत्पितारूप परमेष्ठिकाल से ही समागत हैं।

२६७–पृथिवीलोक की भूतता, एवं द्युलोक की भविष्यत्ता का स्वरूप–समन्वय –

अतएव सौरकालस्वरूपसमर्पक भूतं–भव्यं–लक्षण-भूत–प्राण के उत्पादन का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ये दोनों स्वरूप-निर्म्मापक तो स्वयं 'कालपुत्र' शब्द से ही गतार्थ बन रहे हैं। भूत-प्राणात्मक, किंवा भूत–भव्यात्मक यह कालपुत्र जिन भूत–भव्य–नामक–अन्य अपूर्व दो भावों को उत्पन्न करता है, वे तो सौर–काल से अतिरिक्त ही भूत–भव्य होने चाहिएँ। वे ही अदितिपृथिवी के द्यावापृथिवी हैं, जो सूर्य्य, और भूपिण्ड, दोनों के गर्भ में सर्वथा नवीनरूप से जन्म लेते हैं, जिस भूता पृथिवी, तथा भव्या द्यौः में देवसत्यात्मक ईश्वरविवर्त्त आविर्भूत होता है (देखिए २८६ वां पृष्ठ)। पृथिवी 'भूतं' है, द्यौः–'भव्यम्' है। एव ये दोनों परिमित–अपरिमित–भावों के संग्राहक हैं, इस तथ्य की प्रामाणिकता का समन्वय हमें वेदशास्त्र के पारिभाषिक-तत्त्वानुशीलन के द्वारा ही कर लेना चाहिए। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। "परिमितं वै भूतम्, अपरिमितं भव्यम्"**–(ऐत० ब्रा० ४।६।)–**"अयं वै-पृथिवी–लोको–भूतम्"** । (तै० ब्रा० ३।८।१८।५।)–**"असौ–द्युलोकः –भविष्यत्"** (तै० ब्रा० ३।८।१८।६।) इत्यादि वचन ही तथाविध पारिभाषिक अनुशीलन के आधार बन सकेंगे *।

२६८–'सत्यं वा ऋतम्, ऋतमिति सत्यम्' मूलक ऋत-सत्य-भावों का संस्मरण—

सम्वत्सरकालात्मक सौरमण्डल 'सत्यमण्डल' है, जैसाकि–'तद्यत्–तत्सत्यं-,असो स आदित्यः। **सत्यमेष–य एष तपति'** (शत० १४।१।२।२२।) इत्यादि से प्रमाणित है। 'कालो ह भूतं–भव्यं च' इत्यादि

---

*–श्रीसायणाचार्य्यने 'कालः' का 'कालेन' अर्थ करते हुए जो विलक्षण अर्थसमन्वय किया है, सचमुच वह परिभाषा की दृष्टि से तो प्रणम्य ही माना जायगा। जिस सूक्त में अपेक्षित–कालः–कालेन–कालात्–काले-आदि सभी विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं, वह यहाँ 'कालेन' के अर्थ में–'कालः' क्यों कह रहा है ?, प्रश्न का उत्तर उन्हीं भाष्यकारों से पूँछना चाहिए।

मन्त्र का 'काल' यही सत्यसूर्य्यकालात्मक 'सौरसम्वत्सर' है, जिसका प्रवर्ग्य भूत-प्राणात्मक भूत-भव्य-भाग ही 'ऋत' कहलाया है। अग्नीदनमूर्त्ति सत्यकाल ही प्रवर्ग्यरूप ऋतकालरूप में परिणत हुआ है। अतएव सत्य को इस ऋतप्रजननधर्म्मानुबन्ध से 'ऋत' भी कह दिया जाता है-"सत्यं वा ऋतम्" (शत० ७।३।१।२३।)-'ऋतमिति-(यजु स० १२।१४।)-सत्यमित्येतत्' (शत० ६।७।३।११)।

३९९-सत्य-ऋतानुगत-सत्य-ऋत-सम्वत्सर, एवं दोनों सम्वत्सरों के गायत्रीमात्रिक, तथा यज्ञमात्रिक नामक दो तत्त्ववेद—

सत्यसम्वत्सर ही तो प्रवर्ग्यरूप से ऋतसम्वत्सररूप में परिणत हुआ है। सत्यसम्वत्सर ही सौरसम्वत्सर है, ऋतसम्वत्सर ही पार्थिवसम्वत्सर है। सत्यसम्वत्सर का सत्यवेद 'गायत्रीमात्रिक-पौरुषेय' वह वेदतत्त्व है, जिसके-'मण्डल-अर्चि-पुरुष' (शत० १०।५।२।१) ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। एवं ऋतसम्वत्सर का ऋतवेद 'यज्ञमात्रिक' नामक वह वेद है, जिस ऋतात्मक (किन्तु सत्यगर्भित) यज्ञमात्रिकवेद से ही उस सत्यवेद की महिमा का वितान हुआ है, जैसाकि-'ते देवा अब्रुवन्-'यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' इत्यादि से प्रमाणित है।

४००-सौर-पार्थिव तत्त्ववेदों का सुसूक्ष्म-स्वरूपभेद, एवं तन्निबन्धन सौर-पार्थिव त्रैलोक्य-

सौर सम्वत्सर के भूत-भव्य-रूप भूत-प्राणों-के प्रवर्ग्य-भागों से क्रमशः पार्थिव सम्वत्सररूप पृथिवी-भूत, द्यौ भव्य-का आविर्भाव हुआ, एवं सौरसम्वत्सर के गायत्रीमात्रिक-सत्यवेद के प्रवर्ग्यभागों से पार्थिवसम्वत्सर के यज्ञमात्रिकवेद का आविर्भाव हुआ। अन्तर दोनों वेदों में यही रहा कि, पार्थिव-त्रिलोकी के त्रिवृत्स्तोम-स्थानीय पृथिवीलोक में ऋग्वेद प्रतिष्ठित हुआ, पञ्चदशस्तोम-स्थानीय अन्तरिक्षलोक में यजुर्वेद प्रतिष्ठित हुआ। किन्तु एकविंशस्तोम-स्थानीय पार्थिव-द्युलोक, तथा २१ वें अहर्गण पर ही स्थित सामात्मक सूर्य्य, दोनों अभिन्न बन गए *। सामात्मक सूर्य्य ही तो भूत-भव्यात्मक वह काल है, जिसके प्रवर्ग्य भूत-भव्य-भावों से ऋतसम्वत्सर का, तथा ऋतसम्वत्सरात्मिका वेदत्रयी का स्वरूपनिर्माण हुआ है।

४०१-'कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत' का संस्मरण—

वेदत्रयी का नहीं, अपितु 'वेदद्वयी' का, ऋग्यजुर्मात्र का। क्योंकि तीसरा यहाँ का साम तो उस एकविंशस्थ सत्यसूर्य्यात्मक साम से अभिन्न ही प्रमाणित है। इसी साम-साम्यदृष्टि से ऋषि ने सौरसम्वत्सरमूर्त्ति कालपुत्र से केवल ऋक्, तथा यजु की ही उत्पत्ति-बतलाई है, जैसाकि-"कालादृच समभवन्, यजुः कालादजायत' इत्यादि में स्पष्ट है। 'सामात्मकात् सौरकालात्-भूतपृथिविमाध्यमेन ऋच समभवन्, भूत-भव्यान्तर्गतान्तरिक्षमाध्यमेन यजुरजायत। भव्यद्युलोकात्मकं साम तु कालात्मकमेवेति"-ही उक्त वाक्य का तात्त्विक समन्वय है।

---

*-एकविंशो वा इत आदित्यः-सूर्य्यः (शत ५।५।३।४)। भूपिण्डतः २१ अहर्गणे एव सूर्य्यः प्रतिष्ठितः-इति यावत्।

४०२–'कालो ह भूतं–भव्यं च' इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ समन्वयोपराम—

ऋतसम्वत्सरात्मक पार्थिव त्रैलोक्य ही 'अदिति–त्रिलोकी' है, जिसे पूर्वसूक्त के दशम मन्त्र में 'कूर्म्म–त्रिलोकी' कहा है (देखिए पृ० सं० ३०३ से ३०५ पर्य्यन्त)। यह वही उख्या पार्थिव-त्रिलोकी है, जिस का –'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः' इत्यादि रूप से अष्टम–मन्त्रार्थ-समन्वय में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। सौर-सत्यसम्वत्सर-त्रिलोकी का स्वरूप प्रक्रान्त सूक्त के–'कालेन वातः पवते' इत्यादि द्वितीय मन्त्र से स्पष्ट हुआ है। एवं पार्थिव–सम्वत्सर–त्रिलोकी–रूपा अदिति–त्रिलोकी का, एवं दनु-गता यज्ञमात्रिक–वेदत्रयी के (वेदद्वयी के) स्वरूप का प्रकृत–"कालो ह भूतं भव्यं च०" इत्यादि तृतीय मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। निम्नलिखित तालिका से प्रस्तुत सूक्त के तीनों मन्त्रों से स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमा-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण गतार्थ बन रहा है। प्रथम मन्त्र स्वायम्भुव काल का, द्वितीय मन्त्र सौर–सम्वत्सरकाल का, तथा तृतीय मन्त्र पार्थिव-सम्वत्सरकाल का ही निरूपण कर रहा है।

१–स्वयम्भुकालः ————'कालादापः समभवन्०' (प्रथममन्त्र)		
२–सौरसत्यसम्वत्सरकालः–––'कालेन वातः पवते०' (द्वितीयमन्त्र)		–कालमहिमात्रयी
३–पार्थिवऋतसम्वत्सरकालः–'कालो ह भूतं भव्यं च०' (तृतीयमन्त्र)		

———*———

सत्यस्य-सत्यम्

- कालात्—इति स्वयम्भू. } स्पर्धी
- आप —इति परमेष्ठी
- ब्रह्म—इति वेदत्रयी
- तप'—इति अङ्गिरोऽग्निः
- दिश —इति भृगु सोम. } कन्दसीत्रिलोकी

—स्वयम्भूः (सत्यस्यसत्यकालमहिमा)

—"कालादापः—समभवन्"—[१]

सत्यम्

- कालेन—इति सौरप्राण
- वात —इति अन्तरिक्षम्
- पृथिवी—इति पृथिवी
- द्यौः—इति द्यौ. } रोदसीत्रिलोकी

—सूर्य्य (सौरसम्वत्सर -सत्यकालमहिमा)

—"कालेन वातः पवते"—[२]

ऋतम्

- काल'—इति पार्थिवसम्वत्सरः
- भूत—इति त्रिवृत्पृथिवी
- भव्य—इति एकविंश-द्यौ'
- ऋच —इति त्रिवृत्-ऋक्
- यजु'—इति पञ्चदश-यजु' } क्रन्दसीत्रिलोकी

—पृथिवी-(पार्थिवसम्वत्सर -ऋतकालमहिमा)—

—"कालो ह भूतं भव्यं च"[३]

त्रिविधोऽयम्——कालमहिमा

इति—तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयः

३

——*——

(१४)-(४)—अथ-चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ]

४०३-ऋत-चान्द्र-सोमानुबन्धी ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञ, एवं चान्द्रसम्वत्सरयज्ञ से चतुर्दशविध भूतसर्ग का प्रादुर्भाव—

(१४)-(४)--कालो यज्ञं समैरयत्, देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥

दश—मन्त्रात्मक अष्टम कालसूक्त में, तथा पञ्चमन्त्रात्मक प्रक्रान्त प्रस्तुत नवम कालसूक्त में प्रतिपादित तृतीय मन्त्रान्त—प्रकरण में अबतक जितने भी काल, तथा कालिक विवर्त्त निरूपित हुए हैं, उन में कालिक विश्व के सुप्रसिद्ध पर्व उस सोममय 'चन्द्रमा' का कहीं भी सङ्केत नही हुआ है, जो अपने ऋतसोमधर्म्म से उस 'ऋतुसम्वत्सर' की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस सौम्य ऋतुसम्वत्सरात्मक अग्नीषोमात्मक 'यज्ञ' से ही उस चतुर्दशविध प्रजासर्ग का आविर्भाव हुआ है, जो सांख्यपरिभाषा में—'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिन चान्द्र १४ चौदह भूतसर्गों में 'नर' नामक मानवसर्ग (प्राकृत चान्द्र—मानव सर्ग) ही सर्वापेक्षया प्रमुख बना हुआ है ।

४०४-ऋतुकाल से यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति, चान्द्र-यज्ञकालानुगत सौम्य-गन्धर्व्वाप्सरा-प्राण, एवं देवदेवताओं की अक्षय्यनिधि—

चान्द्र सोम का महिमात्मक स्वरूप ही ऋतसम्वत्सर है । चन्द्रमा ही ऋतसम्वत्सररूप 'ऋतुकाल' में परिणत होकर यज्ञ का जनक बनता है, यही चान्द्रकाल अपने ऋतुयज्ञ के द्वारा पार्थिव प्राणदेवताओं के लिए कभी क्षीण न होने वाले हविर्द्रव्य की व्यवस्था करता है, इसी चान्द्र ऋतुकाल में गन्धर्वाप्सराप्राण प्रतिष्ठित हैं, एवं इसी में चौदह-प्रकार के लोक प्रतिष्ठित हैं । चान्द्रकक्षानुगत पार्थिवसम्वत्सर ही वह 'यज्ञ' है, जिस में अग्निप्रधान ३३ यज्ञियदेवता प्रतिष्ठित हैं, एवं अत्रैव इन यज्ञिय देवताओं का अक्षित (कभी क्षीण न होने वाला) हविर्द्रव्य प्रतिष्ठित है । गन्धर्व्व प्रतिष्ठित हैं, अप्सराएँ प्रतिष्ठित हैं । एवं चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक चतुर्दश लोक प्रतिष्ठित हैं । प्रस्तुत चतुर्थ मन्त्र—अपने "कालने ही यज्ञ को प्रेरित किया है, कालने ही देवताओं के लिए कभी क्षीण न होने वाले भाग को व्यवस्थित-नियत किया है । काल में हीं गन्धर्वाप्सराएँ प्रतिष्ठित हैं । एवं काल में हीं लोक प्रतिष्ठित हैं" इस अक्षरार्थ के माध्यम से इसी चान्द्रसम्वत्सरकाल की महिमा का रहस्यपूर्णा अर्थगभीरा पारिभाषिकी रहस्यभाषा में सङ्केत कर रहा है, जिस का समन्वय आर्षमानवों की सहज—सत्त्वप्रज्ञा से ही समन्वित माना जायगा ।

४०५-सौर-चान्द्र-पार्थिव--सम्वत्सरचक्रत्रयी का संस्मरण, एवं साम्वत्सरिक-काल-चक्रायित त्रैलोक्य—

सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-सुप्रसिद्ध इन तीन व्यक्त भावों से क्रमशः सौरसम्वत्सर, चान्द्रसम्वत्सर, पार्थिवसम्वत्सर, नामक तीन सम्वत्सर पृथक् पृथक् व्यवस्थित बने हुए हैं । ये तीनों 'सम्वत्सर' पृथक् पृथक्

हैं अपने अपने महिमात्मक साममण्डलों में। पिण्ड का अण्डवृत्त ही 'सम्वत्सर' कहलाया है। यदि पुण्डीरात्मिका 'पर्व' की मर्य्यादा से स्वयम्भू, तथा परमेष्ठी, इन दोनों को भी पिण्ड (पुण्डीर) मान लिया जाता है (मान लिया गया है), तो इन के साथ भी 'सम्वत्सर' शब्द का सम्बन्ध समन्वित हो जाता है। यों पाँच पुण्डीरों के पाँच ही 'सम्वत्सर' हो जाते हैं। सम्वत्सरात्मक कालचक्र से सभी चक्रायित हैं। तभी तो "कालो ह सर्वस्येश्वर, य पितासीत्प्रजापते" (अष्टमसूक्त–नवममन्त्र) यह वचन चरितार्थ होता है।

४०६–पिण्डानुगता प्राणमहिमा की विश्वरूपता, एवं 'वैश्वरूप्य' समन्वय—

पिण्ड की प्राणमयी महिमा का नाम ही 'सम्वत्सर' है, जिसे विज्ञान–परिभाषा में–'वैश्वरूप्य' कहा गया है। प्रत्येक वस्तु में भूतात्मक पिण्ड, एवं प्राणात्मक मण्डल, दो दो भाव समाविष्ट हैं। स्पृश्यभावानुगत धामच्छद भूतपिण्ड 'विश्व' है, एवं दृश्यभावानुगत-अधामच्छद-प्राणमण्डल 'वैश्वरूप्य' है। विश्व, और वैश्वरूप्य, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'वस्तुस्वरूप' है। इस सहज परिभाषा के अनुसार यदि स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ये पाँच 'वस्तुपिण्ड' हैं, पाँच 'विश्व' हैं, तो इन के प्राणमण्डलात्मक पाँच ही 'वैश्वरूप्य' होने चाहिएँ।

४०७–पञ्चरात्रयज्ञमूलक 'नारायणपुरुष' का संस्मरण —

पाँचों पिण्ड–विश्वों के पाँचों ही वैश्वरूप्य–प्राणमण्डलों को अवश्य ही 'सम्वत्सरमण्डल' कहा जा सकता है, और इस दृष्टि से सम्वत्सरमूला विश्वविद्या को 'पञ्चसम्वत्सरविद्या' माना जा सकता है। इसी आधार पर वेदशास्त्र की (ब्राह्मणग्रन्थों की) वह सुप्रसिद्धा 'पञ्चरात्रयज्ञविद्या' प्रतिष्ठित है, जिस का 'नारायणपुरुष' से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस के आधार पर ही भारतीय उपासनाकाण्ड का सुप्रसिद्ध–'नारदपाञ्चरात्र' विवर्त्त प्रतिष्ठित है। तदित्थ–पाँचों विश्वपुण्डीरों के पाँच वैश्वरूप्यों (प्राणमण्डलों) से पाँच सम्वत्सर हो जाते हैं, जिन्हें क्रमश स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सर–नामों से व्यवहृत नहीं किया जा सकता, तो समझा तो जा ही सकता है।

४०८–पञ्चपर्वा महान् विश्व के पञ्चविध वैश्वरूप्यों का समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। सम्वत्सररूप प्राणमण्डल का व्यक्तभाव इन पाँचों सम्वत्सरों में केवल मध्यस्थ सौर सम्वत्सर में ही उपलब्ध है। शेष चारों के सम्वत्सर सर्वात्मना अभिव्यक्त नहीं हैं। अपिच चारों का मण्डलस्वरूप सौरमण्डल पर ही अवलम्बित है। सौरसम्वत्सरकालात्मक पुण्याहकाल ही सृष्टिकाल है। जबतक सृष्टिकाल है, तभीतक पाँचों पुण्डीर व्यवस्थित हैं। सूर्य्य के विलयनानन्तर तो सभी कुछ अव्यक्तभाव में विलीन हो जाता है–'तदा सर्वं निमीलति' के अनुसार। इसी सर्गप्रमुखता के कारण पाँचों में 'सम्वत्सर' का प्रमुख सम्मान सूर्य्य के वैश्वरूप्य (प्राणमण्डल) को ही मिला है। अतएव श्रुतिने चारों के वैश्वरूप्यों के पृथक् ही नाम व्यवस्थित कर दिए हैं, जिन के नाममात्र का संस्मरण कर लेना ही पर्य्याप्त होगा। स्वायम्भुव वैश्वरूप्यात्मक प्राणमण्डलात्मक सम्वत्सर का पारिभाषिक नाम है–'परमाकाश'। एवमेव पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य कहलाया है–'महासमुद्र'। सौर वैश्वरूप का नाम है–'सम्वत्सर'। चान्द्र वैश्वरूप्य

कहलाया है–'नक्षत्रम्' । एवं पार्थिव वैश्वरूप्य कहलाया है--'आन्दम्' । वैश्वरूप्य-सम्वत्सर--मण्डल-महिमा--साम--वषट्कार--साहस्री--आदि शब्द प्रायः समानार्थक हैं । अतएव इन पाँचों वैश्वरूप्यों को 'सम्वत्सर' भी कहा जा सकता है, मण्डल–महिमा--सामादि भी कहा जा सकता है ।

१–स्वयम्भूः–विश्वम्—'परमाकाशः' वैश्वरूप्यम्—स्वायम्भुवसम्वत्सरः--कालः

२–परमेष्ठी—विश्वम्—'महासमुद्रः'--वैश्वरूप्यम्—पारमेष्ठ्यसम्वत्सरः–कालः

३–सूर्य्यः—-विश्वम्—'सम्वत्सरः'--वैश्वरूप्यम्—सौरसम्वत्सरः——कालः

४–चन्द्रमाः—विश्वम्—'नक्षत्रम्'—वैश्वरूप्यम्—-चान्द्रसम्वत्सरः—-कालः

५–पृथिवी—-विश्वम्—'आन्दम्'—-वैश्वरूप्यम्—पार्थिवसम्वत्सरः——कालः

४०९--'वृत्त' शब्द की स्वरूप–परिभाषा, एवं पार्थिव अक्षवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, सौर क्रान्तिवृत्त, पारमेष्ठ्य अयनवृत्त, तथा स्वायम्भुव गतिवृत्त, नामक पाँच वृत्तों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

'सम्वत्सर' प्राणगतिमूलक तत्त्व है, जिस प्राणगति से ही वैश्वरूप्यात्मक परिमण्डल का आविर्भाव होता है, एवं सर्वतः त्सरणशील प्राणगतिमण्डलात्मक वह परिमण्डल ही 'सर्वतः–त्सरति–गच्छति' निर्वचन से 'सर्वत्सरः' कहलाया है, जिसे कि परोक्षभाषा में–'सम्वत्सरः' कह दिया जाता है । पाँचों मण्डलों की प्राणगति से जो पाँच 'वृत्त' बनते हैं, किंवा जिन पाँचों वृत्तों के मापदण्ड से पाँचों की पाँचों प्राणगतियाँ स्वरूपतः–गतितः–व्यवस्थित होती हुईं मण्डलकाल में, वैश्वरूप्य में परिणत रहतीं हैं, वे 'वृत्त' ही परिमण्डलात्मक 'सम्वत्सर' के नियामक बनते हैं, जिन इन पाँचों के पाँच वृत्तों के साङ्केतिक नाम हैं क्रमशः–अक्ष–दक्ष–क्रान्ति–अयन--गमन–वृत्त । अक्षवृत्त पार्थिव 'आन्द' रूप सम्वत्सर का उपक्रमस्थान है, दक्षवृत्त चान्द्र 'नक्षत्र' रूप सम्वत्सर का, क्रान्तिवृत्त सौर 'सम्वत्सर' रूप सम्वत्सर का, अयनवृत्त पारमेष्ठ्य 'महासमुद्र' नामक सम्वत्सर का, एवं गमनवृत्त (वृत्तौजाः) स्वायम्भुव 'परमाकाश' नामक सम्वत्सर का उपक्रमस्थान बन रहा है । इन पाँचों सम्वत्सरमण्डलों में से स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य, नामक दोनों सम्वत्सर 'अव्यक्त–सम्वत्सर' हैं, सौरसम्वत्सर 'व्यक्तसम्वत्सर' है, एवं चान्द्र-पार्थिव-नामक दोनों सम्वत्सर स्वस्वरूप से अव्यक्त, तथा सौरज्योतिः के सम्बन्ध से व्यक्तसम्वत्सर, अतएव 'व्यक्ताव्यक्तसम्वत्सर' है । 'सम्वत्सर' शब्द की इस विश्वव्याप्ति को आधार बना कर ही हमें प्रस्तुत नवम–'कालमहिमासूक्त' का अक्षरार्थ--समन्वय करना चाहिए ।

४१०--पाँच विश्वविवर्त्तों का चार विवर्त्तों में अन्तर्भाव, एवं चतुर्विध सम्वत्सरों का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

स्वयम्भू–परमेष्ठी–दोनों अपने अव्यक्तधर्म्म से समतुलित हैं, एकरूप हैं, जिस एकरूपता का 'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' से स्पष्टीकरण हो रहा है । अतएव इन दोनों सम्वत्सरों की

समष्टि को हम एक-'अव्यक्तसम्वत्सर' नाम से ही व्यवहृत कर सकेंगे। इसे 'स्वायम्भुसम्वत्सर' भी कहा जा सकेगा, 'पारमेष्ठ्यसम्वत्सर' भी माना जासकेगा। 'स्वायम्भुव-अव्यक्तकाल' भी कहा जासकेगा, 'पारमेष्ठ्य-अव्यक्तकाल' भी माना जासकेगा। एवं इसी को 'भूत भविष्यत् प्रस्तौमि' लक्षण 'महदक्षरकाल' कहा जायगा। इसप्रकार इन दोनों की एक 'अव्यक्त' रूपता से दोनों मिलकर एक ही 'काल' रह जायगा। फलतः पाँच सम्वत्सरों के स्थान में अब चार ही सम्वत्सर शेष रह जायँगे। इन चारों सम्वत्सरकालमहिमाओं का ही प्रस्तुत नवम सूक्त के चार मन्त्रों से क्रमशः सङ्केत हुआ है, जिन चारों का पर्य्यवसान ऋषिने माना है अथर्वाङ्गिरस पारमेष्ठ्य तत्त्व पर ही, जिस 'अवधानभाव' के लिए ही पञ्चम मन्त्र उपस्थित हुआ है, जैसाकि तन्मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में ही स्पष्ट हो जायगा। लक्ष्य बनाइए इस परिलेख को, एवं तन्माध्यम से ही नवम सूक्त के चारों मन्त्रार्थों का समन्वयानुग्रह कीजिए!

१-स्वायम्भुवसम्वत्सरः-परमाकाश -(अव्यक्तः) २-पारमेष्ठ्यसम्वत्सरः-महासमुद्रः-(अव्यक्त)	-१-अव्यक्तकालः सर्वाधार	कालादापः समभवन्० (प्रथममन्त्र)
३-सौरसम्वत्सर ——सम्वत्सर –(व्यक्तः)	-२-सूर्य्यकालः सौरसम्वत्सर	-कालेन वातः पवते० (द्वितीय)
४-पार्थिवसम्वत्सर ——क्रान्दम्—(व्यक्ताव्यक्त)	-३-पृथिविकाल. पार्थिवसम्वत्सरः	-कालो ह भूतं भव्यं च० (तृतीय)
५-*चान्द्रसम्वत्सरः—नक्षत्रम्—(व्यक्ताव्यक्तः)	-४-चन्द्रकालः चान्द्रसम्वत्सर.	-कालो यज्ञ समैरयत्० (चतुर्थ)

——*——

१-स्वायम्भुवसम्वत्सर-कालात्—'आप' समभवन्'—सैषा-अव्यक्तकालविभूतिः

२-सौरसम्वत्सर ——कालेन—'वातः पवते'——सैषा-सौरसम्वत्सरकालविभूतिः

३-पार्थिवसम्वत्सर——कालो-ह 'भूत भव्य च'——सैषा-पार्थिवसम्वत्सरकालविभूति.

४-चान्द्रसम्वत्सर——कालो—'यज्ञ समैरयत्'——सैषा-चान्द्रसम्वत्सरकालविभूति

——*——

* दृष्टिक्रम में जहाँ पृथिवी अन्त में है, वहाँ सृष्टिक्रम में चन्द्रमा का ही अन्तिम स्थान है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है टिप्पणियों के द्वारा।

४११-अदितिसम्वत्सरात्मक पार्थिवसम्वत्सर, एवं उस के अधिष्ठात्री देवता—

पार्थिव-सम्वत्सरकालविभूति-निरूपणात्मक पूर्व के-'कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्-पुरा' इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ-समन्वय का उपसंहार करते हुए हमने इस पार्थिव-वसम्वत्सर को 'ऋतसम्वत्सर' बतलाया है (देखिए पृ० सं० ३३८ की त्रिकालात्मिका-तालिका)। इसी को 'अदितिसम्वत्सर' कहा गया है, जिसका पार्थिव-स्तोम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध है। इसी पार्थिव-सम्वत्सरकाल में अग्नि-वायु-आदित्य-नामक त्रिदेवसमष्टिरूप वह देवसत्यात्मा प्रतिष्ठित है, जिस के आदित्यप्रधान सर्वज्ञ, वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, अग्नि-प्रधान विराट्-नामक सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-विवर्त्तों का पूर्व-परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है-अष्टमसूक्त के अष्टम-मन्त्रार्थ समन्वय-प्रकरण में (देखिए पृ० सं० २८३ से २८६ पर्य्यन्त)।

४१२-नामसाम्यमूला भ्रान्ति से वेदार्थ की अन्तर्मुखता, एवं विभक्त-व्यवच्छेदात्मक-पारिभाषिक-दृष्टिकोण का पुनः पुनः संस्मरण—

पुनः पुनः यह संस्मरण इस लिए प्रासङ्गिक बन रहा है कि, नामसाम्यमाध्यम से इन दुरधिगम्य-कालविवर्त्तों के व्यवच्छेदात्मक समन्वय में भ्रान्ति हो जाने की सम्भावना है। इसी भ्रान्ति ने तो सर्वत्र काल को 'परमात्मा' का पर्य्याय बना डाला है। तभी तो सृष्टिव्यवस्था-क्रमानुबन्धी पारिभाषिक तत्त्व-समन्वय से वञ्चित हो गए हैं परमात्मभक्त वे भाष्यकार, जो 'काल' को 'परमात्मा' परक लगा कर यच्चयावत् सर्गमर्य्यादाओं को जलाञ्जलि ही समर्पित कर बैठे हैं। नामसाम्यमूलक इस भय से आत्मपरित्राण करने के लिए ही हमें पुनः पुनः उन विभक्त दृष्टिकोणों का संस्मरण कर ही लेना पड़ता है केवल स्वान्तःसुखायैव। हमें 'समझाने' जैसी भ्रान्ति नहीं है। हाँ, स्वयं समझने का मोह अवश्य ही है, जो अन्ततोगत्वा रहेगा तो 'मोह' रूप से ही शेष। क्योंकि हमारी प्राकृत-लोकदृष्टि कदापि उस मोहातीत तत्त्व का सम्यग्बोध प्राप्त नहीं कर सकती। तदपि मोहात्मक प्रयास को तो उपासनामर्य्यादया माध्यम बनाना ही पड़ रहा है।

४१३-'कालो यज्ञं समैरयत्' मूलक ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञमूर्त्ति चान्द्र सम्वत्सर का स्वरूप-दिग्दर्शन—

हाँ, तो पार्थिव-सम्वत्सरकाल को 'ऋतकाल' इस आधार पर कहा गया था कि, जिस भूपिण्ड के आधार पर पार्थिव-सम्वत्सर का वितान होता है, वह भूपिण्ड सत्यसम्वत्सर-कालात्मक सूर्य्य का ही प्रवर्ग्यरूप उपग्रह भाग है। प्रवर्ग्य को ही ऋत कहा जाता है। एतावता ही भूपिण्ड, एवं तदनुगत पार्थिव-सम्वत्सर को 'ऋत' कह दिया गया है। वस्तुगत्या सूर्य्यवत् भूपिण्ड भी सहृदय-सशरीरी बनता हुआ 'सत्य' ही प्रमाणित है। अतएव भूपिण्डगर्भस्थ अग्नि के वितानरूप पार्थिव-अदितिसम्वत्सरकाल को भी सत्यकाल ही कहा जायगा। और यहाँ आकर स्वतः ही यह प्रश्न होगा कि-यदि 'पार्थिवसम्वत्सर' भी सत्य ही है, तो फिर 'ऋतसम्वत्सर' कौनसा है ?। प्रकृत-'कालो यज्ञं समैरयत्' यह चतुर्थ मन्त्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए प्रवृत्त हो रहा है, जिस का निष्कर्ष है-दर्शवृत्तात्मक-'चान्द्रसम्वत्सर'। यह चान्द्रसम्वत्सर, अपने ऋतात्मक ऋतुभाव से यज्ञ का जनक है, स्वानुगता सोमाहुति से यज्ञिय देवाओं का अक्षित जीवनीय भाग है, सौम्य-

प्राणात्मक-गन्धर्वों, तथा आप्यवारुणप्राणात्मिका अप्सराओं की आत्मभूमि है, एवं चतुर्दशविध-भूतसर्गात्मक-लोकों (जीवों) का जनक है।

४१४-सौम्य चन्द्रमा का देवसत्यपक्ष—

क्या अर्थ है चान्द्र सम्वत्सर का ?। क्या चन्द्रमा का अर्थ 'ऋत' भाव है, जिस के अनुबन्ध से चान्द्र सम्वत्सर को-'ऋतसम्वत्सर' कह दिया जाता है ?। प्रश्न का 'हाँ' भी उत्तर होगा, 'ना' भी उत्तर होगा। 'ना' इसलिए कि, दक्षवृत्त पर भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण पिण्डात्मक चन्द्रमा भी सहृदय-सशरीर-बनता हुआ 'सत्य' ही है, जैसाकि-'एतद्वै देवसत्य-यच्चन्द्रमा' (शाङ्खायनब्रा० ३।१।) इत्यादि से प्रमाणित है। इसप्रकार सूर्य्य, तथा भूपिण्डवत् सहृदय-सशरीरी बनता हुआ पिण्डात्मक प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा भी सत्यात्मक ही है। ऐसी अवस्था में कदापि चान्द्र सम्वत्सर को भी 'ऋतसम्वत्सर' नहीं कहा जासकता। 'हाँ' इसलिए कि-चान्द्रसोम आपूर्य्यमाण-अपक्षीयमाण-धर्म्मों से अशरीरी अहृदय भी बनता रहता है, बन रहा है।

४१५-ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य-मूलक सत्य-ऋत-तत्त्वों का स्वरूप-समन्वय, एवं 'ऋत' शब्द का स्वरूप-लक्षण—

अतएव 'अहृदय-अशरीरं ऋतम्' परिभाषा के अनुसार चान्द्र सोम को-'ऋत' भी कहा जा सकता है। और इस दृष्टि से चान्द्र सम्वत्सर को 'ऋतसम्वत्सर' भी माना जासकता है। तब तो सभी को सत्य, एवं सभी को ऋत कहने में भी कोई आपत्ति नहीं होगी ?। अवश्य ही कोई आपत्ति नहीं है। सत्यमूर्त्ति स्वयम्भू के तप से उत्पन्न तत्त्व सत्य भी हैं अपने ब्रह्मौदनरूप-केन्द्र-भाव से, एवं ऋत भी हैं अपने प्रवर्ग्यरूप अहृदयभाव से, जैसाकि-'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। 'ऋत सत्येऽधायि, सत्य ऋतेऽधायि' इत्यादि श्रुति भी दोनों की द्विरूपता का ही समर्थन कर रही है। 'सत्यं वा ऋतम्'-'ऋतमिति सत्यम्' वचन भी यही स्थिति व्यक्त कर रहा है, जिसका समन्वय ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्य-रूपेण स्पष्ट है।

४१६-ऋतमूर्त्ति-महद्ब्रह्मात्मक परमेष्ठी का संस्मरण—

यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी 'अग्नि' के साथ 'सत्य' को, तथा 'सोम' के साथ 'ऋत' को ही प्रधानरूप से अनुप्राणित माना जायगा। पिण्डभाव का एकमात्र आधार 'अग्निचिति' ही है, जिस चितिधर्म्म का सोम में अभाव है। अग्नि में आहुत सोम से अग्नि की चिति नहीं होती। अपितु अग्नि से समन्वित अग्नि ही चिति के द्वारा पिण्डभाव में परिणत होता है। चन्द्रमा की पिण्डरूपता भी (सत्यरूपता भी) अग्नि-चितिमूला ही है। स्वयं चान्द्रसोम तो अपने प्रातिस्विक धर्म्म से उसीप्रकार ऋत ही है, जैसे कि परमेष्ठी अपने प्रातिस्विकरूप से ऋत ही है-'ऋतमेव परमेष्ठी' (गो० ब्रा० पू०)।

४१७-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-सत्यविवर्त्त, एवं त्रिसत्यात्मक देवदेवता—

उक्त स्थिति के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पञ्चपर्वा विश्व में तीन सत्य हैं, दो ऋत हैं अपने सत्याग्नि-ऋतसोम-धर्म्मों से। ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू प्रथमसत्य है, देवाग्निरूप सूर्य्य

द्वितीयसत्य है, एवं भूताग्निरूप भूपिण्ड तृतीयसत्य है। देवप्राण अग्निप्रधान हैं। ये तीन सत्याग्नियों में विभक्त हैं-क्रमशः ऋषिदेवता, देवदेवता, भूतदेवता, इन भेदों से। ऋषिदेवता स्वयम्भूसत्य को, देवदेवता सूर्य्यसत्य को, एवं भूतदेवता भूसत्य को मुख्यरूप से आधार बनाते हुए तीनों सत्यों से समन्वित हैं, जैसाकि–'त्रिः सत्या वै देवाः' इस अनुगमवचन से स्पष्ट है।

४१८–पञ्चपर्वात्मक विश्व से अनुप्राणिता सत्यत्रयी, एवं ऋतद्वयी, तथा ऋतसम्वत्सर का अन्नत्व—

स्वयम्भू, एवं सूर्य्य–का मध्यस्थ परमेष्ठी सूर्य्य, एवं भूपिण्ड का मध्यस्थ चन्द्रमा, ये दोनों ऋतपर्व हैं, जो उभयतः अग्नि से परिगृहीत हैं। अतएव चान्द्रसम्वत्सर को ही मुख्यरूप से 'ऋतसम्वत्सर' कहना अन्वर्थ बनता है, जबकि पार्थिवसम्वत्सर तो सत्याग्निप्रधान बनता हुआ सत्यसम्वत्सर ही प्रमाणित हो रहा है। ऋतभावापन्न अग्नि हो, अथवा तो सोम, किंवा और कोई तत्त्व हो। ऋत होने मात्र से उसे 'सोम' ही कह–दिया जायगा। क्योंकि 'एष वै सोमोऽन्नम्' रूप से ऋतसोम ही 'अन्न' बनता है। ऋतभावापन्न प्रवर्ग्य अग्नि (बिखरा हुआ अग्नि) भी अन्नाद न रह कर अन्य पदार्थों का पोषक–बनता हुआ अन्न ही बनता है। अतएव इस केन्द्रविच्युत प्रवर्ग्याग्नि को भी 'ऋताग्नि' ही कहा जाता है, जिसका अर्थ है–सोमात्मक अग्नि। चान्द्र पिण्ड अग्न्यात्मक सोमपिण्ड ही है। अतएव पिण्डत्वेन इसे सत्य कहते हुए भी सोम की प्रधानता से कहा जायगा इसे 'ऋत' ही। तभी तो–'एष वै सोमो राजा–देवानामन्नं–यच्चन्द्रमाः' इत्यादि रूप से इसे 'अन्नम्' (ऋतम्) कहना अन्वर्थ बनता है। इहीं सब कारणों से हम अब उस चान्द्रसम्वत्सर–मण्डल को ही 'ऋतसम्वत्सर' कहेंगे, जिसमें ऋतसोम, एवं ऋतावस्थापन्न (अतएव सोमात्मक–अहृदय–अशरीरी ही) ऋताग्नि, दोनों प्रतिष्ठित हैं। ऋताग्निसोम के समन्वय से ही 'ऋतसम्वत्सर' का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं यहीं थोड़ा और भी स्पष्टीकरण कर लेना है।

४१९–सावित्राग्निसत्य-गायत्राग्निसत्य, एवं वृत्रसत्य, तथा 'वृत्र' का स्वरूप-दिग्दर्शन–

'पिण्डात्मक सत्य' की परिभाषा से सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–तीनों ही 'सत्य' है। तीनों में सूर्य्य, और भूपिण्ड, ये दोनों तो क्रमशः सावित्राग्निसत्य, एवं गायत्राग्निसत्य हैं, तथा चन्द्रमा वृत्रसत्य है (चन्द्रमा वै वृत्रः–सर्वं वृत्या शिष्ये)। तीनों परिभ्रममाण हैं। अक्षवृत्त पर स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूम रहा है क्रान्तिवृत्त के आधार पर, तो अक्षवृत्त-परिभ्रमण से वञ्चित चन्द्रमा एकतः ही दक्ष–वृत्ताधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूम रहा है। एवं स्वकेन्द्रानुगत बृहतीवृत्तात्मक स्वाक्षपर परिभ्रममाण सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर घूम रहा है अयनवृत्ताधार पर।

४२०–पञ्चर्तुमूर्त्ति–ऋतधर्म्मा–चान्द्र सम्वत्सर की पञ्चरात्रता का समन्वय—

इस परिभ्रमणमूला गति के प्राणत्–अपानत्–धर्म्म का ही यह परिणाम होता है कि, सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा–तीनों के सत्याग्नि-सत्यसोम एकांशेन स्व स्व सत्यभावों से विस्रस्त होकर-विशकलित होकर-पिण्डसत्यों से पृथक् होकर इतस्ततः इन्हीं सत्यपिण्डों के परिभ्रमणवृत्तों के कक्षावृत्तों में दोलायमान बने रहते हैं, जिन विस्रस्तरूपों का हम उष्णवायु–शीतवायु–रूप भूत–वायु के माध्यम से अनुमान लगा सकते हैं। सौर–

पार्थिव–विशकलित भूताग्नि से ही भूतवायु उष्ण होजाता है, एवं चान्द्र विशकलित भूतसोम से ही भूतवायु शीत होजाता है। वायव्याग्नि–वायव्यसोम ही ऋताग्नि, और ऋतसोम हैं। ऋतत्वेन यह ऋताग्नि भी सोम ही है, और ऋतसोम तो उभयथा सोम है ही। इसप्रकार उन तीनों सत्यपिण्डों से विनिर्गत तीनों के प्रवर्ग्यांश,-विशकलित–विस्रस्त–मार्गा का नाम ही 'ऋत' तत्त्व है। इस 'ऋत' सम्बन्ध से ही ऋतात्मक सोमसम्वत्सर (ऋताग्नि–ऋतसोमात्मक–सौम्य चान्द्रसम्वत्सर) 'ऋतसम्वत्सर' बन जाता है, बन रहा है, जो अपने पञ्चर्तुसम्बन्ध से 'पाङ्क्त' (पञ्चावयव) यज्ञ बनता हुआ अपनी उस 'पञ्चरात्रता' को ही अभिव्यक्त कर रहा है, जिसका आरम्भ में स्मरण किया जाचुका है।

४२१–सौर ऋताग्नि, पार्थिव ऋताग्नि, एवं चान्द्र ऋताग्नि के सह समन्वय से चान्द्र-सम्वत्सर की स्वरूप-निष्पत्ति—

'ऋतसम्वत्सर' का स्वरूप 'ऋतु' पर अवलम्बित है, 'ऋतु' का स्वरूप 'ऋताग्नि–ऋतसोम'–के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध पर अवलम्बित है, ऋताग्नि सौर, तथा भौम अग्नियों का प्रवर्ग्यरूप है, एवं ऋतसोम चान्द्रसोम का प्रवर्ग्यरूप है। अतएव कहा जासकता है कि, ऋतुरूप 'ऋतसम्वत्सर' में सौर ऋताग्नि, पार्थिव ऋताग्नि, एवं चान्द्र ऋत-सोम, तीनों का समन्वय है। इस 'ऋत' भावानुबन्ध से यद्यपि सौर-पार्थिव-चान्द्र-तीनों हीं सम्वत्सरों को–'ऋतसम्वत्सर' भी कहा जा सकता है, कहा गया है तीनों सम्वत्सरचक्रों के सामाति-मानसम्बन्ध से। तदपि ऋतानुबन्धी ऋतुभाव का आधार क्योंकि विचक्षण चन्द्रमा (सोम) ही बनता है।

४२२–चन्द्रमा की विचक्षणता, एवं विचक्षण चन्द्रमा के सहज 'ऋतुधर्म्म' का दिग्-दर्शन—

अतएव प्रधानरूपेण तीनों में से–चान्द्र सम्वत्सर ही 'ऋतसम्वत्सर' अभिधा का प्रमुख पात्र बन रहा है, बनना ही चाहिए। जबतक सौर–पार्थिव ऋताग्नियों का चान्द्र ऋतसोम से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक 'ऋतु' का स्वरूप ही अभिव्यक्त नहीं होता। एवं बिना ऋतुस्वरूपोदय के 'ऋतसम्वत्सर' की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। अतएव अन्ततोगत्वा ऋतुरूप 'ऋतसम्वत्सर' का सम्मान एकमात्र उस चान्द्रसम्वत्सर को ही मिलता है, जिस चान्द्र ऋतुभाव से समन्विता ऋतुमती नारी ही चान्द्रसम्वत्सरसम्मिता कालमर्य्यादा में हीं प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। सौम्य-ऋत-चन्द्रमा-के इसी ऋतु–धर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कौषीतकिने कहा है—

"विचक्षणात्–ऋतवो रेत आभृतम्। तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभरध्वम्। तेन म-त्येन, तेन तपसा ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि" (कौ० उप० १।२।) "असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" (शाङ्खायनब्रा० ४।४।)।

४२३–सुपर्ण-पक्षीरूप चन्द्रमा, उसका अर्णवसमुद्र में अनुधावन, एवं चन्द्रमा की अप्-गर्भिता-पञ्चरात्ररूपा-नारायणपुरुषता का समन्वय—

'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार ऋतसोमात्मक चन्द्रमा अपने ऋतसम्वत्सरात्मक सुपर्ण–पक्षी–के रूप से पार्थिव–अर्णवसमुद्र में इतस्तत परिभ्रममाण है। यही वह

पञ्चरात्ररूप-अवग्र्भित 'नारायण' है, जिससे 'प्रजा' रूप 'नर' भाव (नर, और नारीरूप दाम्पत्यलक्षण चतुर्दशविध प्रजासर्ग) का आविर्भाव हुआ है। 'नर' शब्द यद्यपि आज लोकव्यवहार में प्राकृत 'चान्द्रमानव' में हीं निरूढ होरहा है। किन्तु तत्त्वत: 'नर' शब्द 'प्रजा' का ही संग्राहक है।

४२४-चान्द्रसम्वत्सर से प्रसूत चतुर्दशविध प्रजासर्ग से अनुप्राणित 'नर', और 'नारी' भाव—

पशु-पक्षी-कृमि-कीट-मनुष्य-यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-आदि आदि भेदभिन्न ओषधि-वनस्पत्यन्त चौदहों भूतसर्गों (चान्द्रसर्गों का) का ही नाम 'प्रजा' हैं, एवं सब में पुं-स्त्री-भावात्मक 'नर-नारी' रूप 'नर' भाव समाविष्ट है। नर का ही पूर्वरूप 'नर' है, एव नर का ही उत्तररूप 'नारी' है। **'अर्द्धेन-पुरुषोऽभवत्-अर्द्धेन-नारी, तस्यां स विराजमसृजत्प्रभु:'** इत्यादिरूप से वही अपने अर्द्ध-अर्द्ध-ऋताग्नि-ऋतसोम-रूप शकलों-अण्ड-कटाहों से नर-और नारीरूप दम्पतीभाव में परिणत हो रहा है। यही 'नर' रूपा 'प्रजा' की स्वरूप-व्याख्या है, जो 'नारायण' रूप पाञ्चरात्र ऋत-चान्द्रसम्वत्सर की ही सृष्टि मानी गई है। नारायण ही नर बना है, प्रजापति ही प्रजा बना है। **'प्रजा वै नर:'** (ऐ० ब्रा० २।४।) ही 'नर:' का तात्त्विक स्वरूप है।

४२५-सम्वत्सरत्रयी का पारस्परिक अतिमानसम्बन्ध, एवं तत्सम्बन्ध के द्वारा तीनों सम्वत्सरप्राणों की अभिन्नता का समन्वय—

अब दो शब्दों में अर्णवसमुद्रविहारी इस नारायणाख्य चान्द्रसम्वत्सर की यज्ञरूपता का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। इस दिग्दर्शन से पूर्व यह अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए कि, **सौरसम्वत्सर, चान्द्रसम्वत्सर, पार्थिवसम्वत्सर,** तीनों सम्वत्सर अपने अपने सामों के 'अतिमान' सम्बन्ध से एक दूसरे से समन्वित होते हुए एकाकार ही बने हुए हैं। अतएव 'सम्वत्सर' से सम्बन्ध रखने वाली पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिश:-रूपा चतुर्लोकव्यवस्था तीनों ही सम्वत्सरों में अभिन्न बन जाती है इसी सामातिमानमूला अभिन्नता से। सौरचतुर्लोकी, चान्द्रचतुर्लोकी, पार्थिवचतुर्लोकी, किंवा सौर-चान्द्र-पार्थिव-त्रिलोकी, तीनों विवर्त्त समष्टिरूप से ही संगृहीत हैं व्यवहारभाषा में, जबकि तत्तत्सम्वत्सरलोकानुगत तत्तत्-विशेष सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सर-प्राणनिबन्धन-विशेष सृष्टिप्रक्रियाओं के भेद से तत्तल्लोकभाव सर्वथा विभक्तरूपेणैव व्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हैं। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव अस्मच्छ्दृश लोकमानवों के लिए तो अत्यन्त ही दुरूह है यह प्राणात्मक-सर्गसंस्थान, जिसके यथावत् समन्वय के लिए तो यज्ञविज्ञानमूला सृष्टिविद्या का परीक्षणात्मक-आचारात्मक-व्यावहारिक-स्वरूप ही शरणीकरणीय होगा, जिसकी सम्भावना आज की उस राष्ट्रीया-मनोवृत्ति से परा:परावत ही प्रमाणित हो रही है, जिसकी दृष्टि में **'भारतीय शास्त्र'**, तन्मूला **'संस्कृति'**,तन्मूलक **'सांस्कृतिक-आचार'**, तथा तन्मूलक **'सांस्कृतिक-आयोजन'** तो बन रहे हैं सर्वथा निरपेक्ष, और ……
……आलप्यालमेव।

४२६-चान्द्रसम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप वायव्य ऋतधर्म्मा अग्नि-सोम, एवं ऋताग्निसोम के द्वारा पाँच ऋतुओं का आविर्भाव—

सौर-पार्थिव-सत्यसम्वत्सरकालों से प्रवर्ग्यरूपेण विनिर्गत वायव्य ऋताग्निने सम्वत्सरमण्डल के दक्षिणार्द्ध को अपना प्रधान आवास बनाते हुए उत्तरार्द्ध की ओर गमन आरम्भ कर दिया, एवं चान्द्र सत्य-

सम्वत्सरकाल से प्रवर्ग्यरूपेण विनिर्गत वायव्य ऋतसोम ने सम्वत्सरमण्डल के उत्तरार्द्ध को अपना आवास बनाते हुए दक्षिणार्द्ध की ओर गमन आरम्भ कर दिया। दक्षिण से चलकर उत्तर की ओर गतिशील बनता हुआ ऋताग्नि उत्तर से चलकर दक्षिण की ओर आते हुए ऋतसोम से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से समन्वित हुआ। इन दोनों के सम्मिश्रणरूप 'याग' (चितिसम्बन्धात्मक ग्रन्थिबन्धन) से जो तीसरा अग्नीषोमात्मक भाव आविर्भूत हुआ, उसीका नाम हुआ 'ऋतु', जो अग्निसोम के सम्बन्ध-तारतम्य से क्रमशः [1]वसन्त-[2]ग्रीष्म-[3]वर्षा-[4]शरत्-[5]हेमन्तशिशिर * इन पाँच महिमाभावों में परिणत होगया। ऋताग्निसोममयी एक ही ऋतु के ये पाँच महिमाविवर्त्त होगए। ये पाँचों ऋतुरूप पार्थिव-अदिति-सम्वत्सरकक्षा से समतुलित होते हुए उसी क्रमानुपात से व्यवस्थित बन गए सम्वत्सरमण्डल में।

४२७-त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-नामक स्तोम, एवं तदनुबन्धी वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर-नामक पञ्चर्त्तु-भाव—

भूकेन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव त्रिवृत् स्तोम पर्यन्त वसन्तऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिवृत् से आरम्भ कर पञ्चदश स्तोम पर्यन्त ग्रीष्मऋतु प्रतिष्ठित हुआ। पञ्चदश से आरम्भ कर एकविंश स्तोम पर्यन्त वर्षाऋतु प्रतिष्ठित हुआ। एकविंश से आरम्भ कर त्रिणव (२७) स्तोम पर्यन्त शरद्‌ऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिणव से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्त हेमन्तशिशिर-नामक ऋतुयुग्म प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों में ६-१५-२१-में व्याप्त वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नामक तीन ऋतुभाव ऋताग्निप्रधान रहे, एवं २७-३३-में व्याप्त शरत् और हेमन्त शिशिर-नामक दो ऋतुभाव ऋतसोम प्रधान रहे।

४२८-अग्न्याधारभूत ऋतसोम की सर्वव्याप्ति का समन्वय-

यह अवधेय है कि, ऋताग्नि, और ऋतसोम, दोनों में ऋतसोम आधार है, एवं ऋताग्नि आधेय है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर अदितिरूप पार्थिव सम्वत्सर के ३३ वें अहर्गण पर्यन्त अवारपारीणरूप से ऋतसोम परिव्याप्त है आधाररूप से, जैसाकि-'समाततन्थोर्वन्तरिक्षम्' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। उरु-विशाल-अन्तरिक्षाकाश में अवारपारीणरूप से-एकरस रूप से परिव्याप्त आधाररूप ऋतसोमधरातल पर ऋताग्नि का ही वसन्त से शिशिरपर्यन्त उद्‌ग्राम (चढाव)-निग्राम हो रहा है।

४२९-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नाम की ऋतुत्रयी का वाच्यार्थसमन्वय, एवं देवर्त्तुत्रयी-

आरम्भ के त्रिवृत्स्तोमरूप पार्थिव पृथिवीलोक में ऋताग्नि जन्म ले लेता है, सोम पर अग्नि बस जाता है। फलतः सोम गर्भित हो जाता है, अग्नि व्यक्त हो पड़ता है अपने इस उद्‌ग्राम से। यही पहिला आग्नेय-वसन्तर्त्तु है। अग्नि और प्रवृद्ध होजाता है पञ्चदशस्तोमात्मक पार्थिव अन्तरिक्षलोक में। यही अधिकाभिव्यक्तिरूपा दूसरी ऋताग्नि-अवस्था है, जिसका नाम है-अतिशय सोमसंग्रहण के कारण-'ग्रीष्म'। आगे चलकर एकविंशस्तोमात्मक पार्थिव द्युलोक में ऋताग्नि अपने उद्‌ग्राम के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है, यही ऋताग्नि के उद्‌ग्राम की तीसरी अन्तिम 'उरु' अवस्था है, जिसे 'वर्षा' कहा गया है। यों वसन्त-

* पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य। हेमन्त-शिशिरयोः समासेन। (श्रुति.)।

ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन अग्नीषोममय ऋतुभावों में सोम गर्भ में लीन रहता है, अग्नि अभिव्यक्त रहता है, अतएव 'ते देवा ऋतवः' । अग्निप्रधाना है ये तीनों ऋतुएँ ।

४३०–शरत्–हेमन्त–शिशिर–नाम की ऋतुत्रयी का वाच्यार्थ–समन्वय, एवं–'ऋतं नात्येति किञ्चन' मूलक ऋत–सोम की सर्वव्याप्ति–

आगे चलकर अग्नि का निग्राभ होने लग जाता है । अग्निबल शिथिल होने लगता है । अग्नि की इस शीर्णावस्था से स्वतःसिद्ध सोम उभर आता है । यही सौम्या 'शरद्ऋतु' है, जो त्रिणवस्तोमात्मक चतुर्थ–लोकार्द्ध में प्रतिष्ठित है । अन्ततोगत्वा त्रयस्त्रिंशस्तोमात्मक शेष चतुर्थलोकार्द्ध में तो अग्नि सर्वथा ही स्व ओज-वीर्य्य से हीन होजाता है, आत्यन्तिकरूपेण पुनः–पुनः–अतिशयेन–शीर्ण होजाता है, एवं सोम सर्वात्मना अपने मूलाधाररूप से व्यक्त हो पड़ता है । अतएव यह अन्तिम ऋतु ऋताग्नि की हीनता से हेमन्त, एवं ऋताग्नि की आत्यन्तिक शीर्णता से शिशिर कहलाने लगता है । तदित्थं–सम्वत्सर के उपक्रम से अन्तलक व्याप्त, ऋतसोमधरातल पर परिवर्त्तनरूपेण व्याप्त ऋताग्नि की पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं, जिन इन पाँचो ऋताग्न्यवस्थाओं में तीन अवस्थाओं में तो सोम ऋताग्नि से अभिभूत रहता है, एवं दो अवस्थाओं में अग्नि सोम से अभिभूत रहता है । सर्वथा आधारत्वेन पाँचो में सोम एकरस ही है । अतएव अग्नीषोममयी भी यह ऋतुसमष्टि 'ऋतसोमप्रधाना' ही मानी गई है । अतएव च अग्नीषोमात्मक भी इस चान्द्रसम्वत्सर को सोमसम्वत्सरात्मक ऋतसम्वत्सर ही माना जायगा,–'ऋतं नात्येति किञ्चन' । सचमुच 'ऋत' का कोई भी तो अतिक्रमण नही कर सकता ।

४३१–ऋतसम्वत्सरयज्ञ, एवं उसके पाँच अहः, एवं यज्ञकर्म्म के स्वरूप–निर्म्मापक विभिन्न-साधन-परिग्रह—

'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' ही 'यज्ञः' का स्वरूपलक्षण है । ऋताग्नि में आहुत ऋत सोम से आविर्भूत अपूर्व भाव ही 'यज्ञ' है । एवं इस परिभाषा के अनुसार पञ्चर्त्तु की समष्टिरूप इस ऋताग्नि–सोममय अपूर्व 'सम्वत्सरभाव' को अवश्य ही 'यज्ञ' कहा जा सकता है, जिस इस ऋतसम्वत्सरयज्ञ के **अग्निष्टोम-उक्थ्यस्तोम-अतिरात्रस्तोम–उक्थ्यस्तोम-अग्निष्टोम**-ये पाँच 'अहः' माने गए हैं, जिनके सम्बन्ध से ही नारायणरूप वह ऋतसम्वत्सरयज्ञ 'पञ्चरात्रयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यज्ञकर्म्म का स्वरूपनिर्म्माण वेदि, ऋत्विक्, यजमान, हविर्द्रव्य, आदि आदि अनेक कारणों–साधनों-के समन्वय से ही होता है ।

४३२–वितानयज्ञात्मक आतानयज्ञ, हविर्यज्ञ, दक्षिणाग्नि, आहवनीआग्नि, आदि का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं-'अग्निभ्रातरः'—

भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता महापृथिवी ही वह 'महावेदि' है, जिस पर यह ऋतसम्वत्सरयज्ञ परिव्याप्त है, वितत है । इसी वितानभाव से यह यज्ञ 'आतानयज्ञ' कहलाया है । 'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः' *, 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' (शतपथ ३।७।२।१।) इत्यादि लक्षण यह

---

* इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।३५। (अस्यवामीयसूक्ते)

(महिमामण्डलरूपा चतुर्लोमालिका मही) पृथिवी ही महावेदि है, जिसका भूपिण्ड 'हविर्वेदि' कहलाया है, जिसके आधार पर 'इष्टि' रूप प्राक्सौमिकयज्ञ हुआ करता है। महावेदि का त्रिवृत्स्थानीय पार्थिव-पृथिवी लोक ही गार्हपत्याग्निकुण्ड है, पञ्चदशस्थानीय पार्थिव अन्तरिक्षलोक ही दक्षिणाग्निकुण्ड है, एवं एकविंश-स्थानीय पार्थिव द्युलोक ही आहवनीयाग्निकुण्ड है, जिन इन तीनों अग्निकुण्डों में क्रमशः अष्ट-वसुगण-समन्वित गार्हपत्याग्निरूप अग्नि, एकादशरुद्रगणसमन्वित अन्वाहार्य्यपचनाग्निरूप वायु, द्वादश-आदित्यगण-समन्वित आहवनीयाग्निरूप आदित्य नामक तीन प्राणाग्नियाँ जागरूक हैं, जो क्रमशः 'अग्निभ्रातरः' नाम से प्रसिद्ध हैं।

४३३—आहुतिद्रव्य, चतुर्विध आर्त्विक, शस्त्र–ग्रह–स्तोत्र–ब्राह्म–लक्षण कर्म्म, एवं तदनुगता विभिन्न यज्ञविभूतियों का नाम–संस्मरण—

चतुर्थलोकीय सोम ही आहुतिद्रव्य है। आग्नेय ऋक्-तत्त्व, वायव्य यजु-तत्त्व, आदित्य साम-तत्त्व, सौम्य अथर्व-तत्त्व, ही यज्ञसाधक वेदमन्त्र हैं। पार्थिव 'भर्ग' तेज, आन्तरिक्ष्य 'महः'-तेज, दिव्य 'यशः'-तेज, चतुर्थलोकीय 'सर्व'–तेज–नामक चार तेजोभावों से समन्वित अग्नि–वायु–आदित्य–चन्द्रमा (सोम) ही इस सम्वत्सरयज्ञ के क्रमशः ऋग्वेदी होता, यजुर्वेदी अध्वर्य्यु, सामवेदी उद्गाता, अथर्ववेदी ब्रह्मा हैं। ऋग्वेदी होता अग्नि हौत्रकर्म्माध्यक्ष है, जो 'शस्त्रकर्म्म' कहलाया है। यजुर्वेदी अध्वर्यु वायु आध्वर्य्यवकर्म्माध्यक्ष है, जो 'ग्रहकर्म्म' कहलाया है। सामवेदी उद्गाता आदित्य औद्गात्रकर्म्माध्यक्ष है, जो-'स्तोत्रकर्म्म' कहलाया है। चतुर्थवेदी ब्रह्मा चन्द्रमा * ब्रह्मकर्म्माध्यक्ष है, जो-'विरिष्टसन्धानकर्म्म' कहलाया है। भर्ग-ऋक्-पृथिवी-होता-अग्नि-हौत्र-शस्त्र-आदि की समष्टिरूप प्रथम पर्व गायत्रीछन्द से छन्दित हैं। महः-यजु-अन्तरिक्ष-अध्वर्य्यु-वायु-आध्वर्य्यव-ग्रह-आदि की समष्टिरूप द्वितीय पर्व त्रिष्टुपछन्द से छन्दित हैं। यशः-साम-द्यौ-उद्गाता आदित्य-औद्गात्र-स्तोत्र-आदि की समष्टिरूप तृतीय पर्व जगतीछन्द से छन्दित हैं। सर्वम्-अथर्व-दिशः-ब्रह्मा-चन्द्रमा-ब्राह्म-विरिष्टसधान-आदि की समष्टिरूप चतुर्थ पर्व प्राजापत्य अनुष्टुप्-छन्द से छन्दित हैं।

४३४—गायत्रसम्वत्सरात्मक 'श्येन' की सुपर्णता, एवं गायत्रयज्ञ के तीन सवनों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रथम पर्वात्मक गायत्र नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है-'श्येन'। द्वितीय पर्वात्मक त्रैष्टुभ नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है–'सुपर्ण'। एवं तृतीयपर्वात्मक जागत नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है-'ऋभु'। गायत्र-श्येन-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन 'प्रातःसवन' है। त्रैष्टुभ-सुपर्ण-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन 'माध्यन्दिनसवन' है, एवं जागत-ऋभु-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन 'सायसवन' है। पृथिव्यन्तरिक्षत्रीरूप-सवनत्रया-त्मक-श्येन सुपर्ण-ऋभु-मूर्त्ति-सुपर्ण ही वह पाञ्चरात्र–नारायणरूप ऋत-चान्द्र-सम्वत्सर है, जो चतुर्थ लोकात्मक

---

* ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु (यजुःसं०)। चन्द्रमा वै 'ब्रह्मा' कृष्णः। (शतपथब्रा०)।

अर्णवसमुद्र में एक शोभन-पत्नी की भाँति इतस्ततः विचरण करता हुआ अपने इस समस्त स्वरूप से 'नर' रूप प्रजासर्ग का प्रवर्त्तक बना हुआ है ।

४३५-सत्यसम्वत्सरकालात्मक प्रजापति के द्वारा गायत्रसम्वत्सरकाकालात्मक नारायण-यज्ञ की स्वरूप–महिमा का वितान, एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ—

किसने इसे प्रजासर्ग के लिए प्रेरित किया ?, कैसे इसमें तथाविध पर्वविभाग आविर्भूत होगए ?, और क्यों इसने त्रिषवणात्मक-त्र्यक्षरमूर्त्ति यज्ञ को उत्पन्न किया ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान वह 'प्रजापति' ही है, जिसे हमने सौर-पार्थिव समष्टिरूप 'सत्यसम्वत्सरकाल' कहा है । जो सस्थानविभाग, जो यज्ञक्रम, जो सवनक्रम-उसमें है, उसकी प्रेरणा से, उसीके प्रवर्ग्यरूप से कृतरूप इस नारायण-पुरुषात्मक 'ऋतसम्वत्सर' नामक 'चान्द्रसम्वत्सर' में भी वही संस्थाविभाग, वही यज्ञक्रम आविर्भूत हो गया है । मानो उस प्रजापति ने हीं इसे 'यजस्व'–रूपा प्रेरणा दी है, जिस इस रहस्य को लक्ष्य में रख कर ही भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

(१)–पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच-यजस्व-यजस्वेति । स होवाच-यजस्व-यजस्व-इति वाव त्वं (प्रजापतिः) मां-आत्थ-त्रिरयक्षि,-वसवः प्रातसवनेनागू, रुद्रा माध्यन्दिनसवनेन, आदित्यास्तृतीयसवनेन । अथ मम यज्ञवास्त्वेव । स होवाच-यजस्वैवाहं वै ते तद्वक्ष्यामि -यथा त ऽउक्थानि मणिरिव सूत्रे-ओतानि भविष्यन्ति, सूत्रमिव वा मणौ-इति * ।

(२)–प्रातःसवने बहिष्पवमाने उद्गातारमन्वारभसै-'श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा' । अथ माध्यन्दिने पवमाने-'सुपर्णोऽसि त्रिष्टुप्छन्दा' । अथ तृतीयसवने आर्भवे पवमाने–'ऋभुरसि जगच्छन्दा' ।

(३)-मयि भर्गः, मयि महः, मयि यशः, मयि सर्वम् । अयं वै (९) लोको भर्गः । अन्तरिक्षलोको महः । (१५)। द्यौर्यशः (२१) । येऽन्ये(२७-३३-४८) लोकास्तत्सर्वम् । अग्निर्वै भर्गः, वायुर्महः, आदित्यो यशः, ये अन्ये देवाः (साध्याः)–तत्सर्वम् । वाग्वै भर्गः, प्राणो महः, चक्षुर्यशः, येऽन्ये-प्राणास्तत्सर्वम् ।

—शतपथ १२।३।४। १ कण्डिका से १० कण्डिका–पर्य्यन्त

---

*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता

४३६-ऋतसम्वत्सरात्मक नारायणपुरुष की कामना, तद्द्वारा दृष्ट 'पुरुषमेध' नामक-पाञ्चरात्रयज्ञ का संस्मरण, यज्ञ के द्वारा नारायण की सर्वभूतव्याप्ति, तदनुबन्धी 'चान्द्रनारायण' विवर्त्त, एवं तत्स्वरूप-समन्वयात्मिका विविध तालिकाएँ—

सत्यसम्वत्सर-प्रजापति की प्रेरणा से तथाकथितरूपेण सम्वत्सर-स्वरूप में परिणत ऋत-पुरुषनारायणने यह कामना की कि, मैं सम्पूर्ण भूतों का अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) बन जाऊँ, मैं ही सम्पूर्ण भूता-प्रजाओं के रूप में परिणत होजाऊँ। अपनी इस कामना से, भूत-प्रजाकामना से प्रेरित होकर ही नारायण ने 'पुरुषमेध' नामक पञ्चरात्र-यज्ञकर्म्म को देखा। देख कर उस का संग्रह किया, उस से अपने ही मेध का यजन किया। इस स्वमेधात्मक यजन से वह पुरुषनारायण सम्पूर्ण भूतरूपों में परिणत हो गया, एवं सम्पूर्ण भूतरूपों में परिणत हो कर वही इस पञ्चरात्रयज्ञस्वरूप से सम्पूर्ण भूतों का अधिष्टाता बन गया। इस के पाँचों पञ्चरात्र क्रमशः अग्निष्टोमादि पूर्वोक्त पाँच अह हो हैं, जिन से क्रमशः पूर्वोक्तरूपेण पाँचों ऋतुएँ अनुप्राणित हैं। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए इन कतिपय वचनों को, एवं तन्मूला तालिकाओं को। अवश्य ही तद्द्वारा ऋतसम्वत्सरात्मक 'चान्द्रनारायण' का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो जायगा।

(१)-पुरुषो ह नारायणो अकामयत-अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्वं स्याम्-इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं-अपश्यत्, तमाहरत्, तेन अयजत, तेनेष्ट्वा-अत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वमभवत्।

(२)-ता वा एताः-चतस्रो दशतो भवन्ति। इममेव लोकं प्रथमया दशता- आप्नुवन्, अन्तरिक्षं द्वितीयया, दिवं तृतीयया, दिशश्चतुर्थ्या। एतावद्वा इदं सर्वं-यावदिमे च लोकाः, दिशश्च। सर्वं पुरुषमेधः।

(३) स वा ऽएष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। पाङ्क्तो यज्ञः। पाङ्क्तः पशुः। पञ्चर्त्तवः सम्वत्सर। यत्किञ्च पञ्चविधमधिदैवतं-अध्यात्मं, तदेनेन सर्वमाप्नोति।

(४)-तस्य-अग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति (१)। अथोक्थ्यः (२)। अथातिरात्रः (३)। अथोक्थ्यः (४)। अथाग्निष्टोमः। (५) स वा एष उभयतो ज्योतिः, उभयत उक्थ्यः। यतमध्यः पञ्चरात्रो भवति।

(५)-तस्यायमेव लोकः प्रथममहः-अयमस्य लोको वसन्त ऋतुः। द्वितीयमहः-तदस्य ग्रीष्म ऋतुः। तृतीयमहः चतुर्थमहः-पञ्चममहः वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिरयोः समासेन।

—शत० १३।५।५।१,२,७,१० कण्डिका।

अयममत्र संग्रहः—समष्टिरूपेण—नितान्तमवधेयः—(चतुष्टयं वा इदं सर्वम्-इत्याहुः) *

(१)—कालादापः समभवन्०

त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूपः — सत्यचितित्रिकात्मकः-कालः

- १—स्वयम्भूः, २—परमेष्ठी —(१)—द्यौः—स्वः—ब्रह्माग्निः
- ३—सूर्य्यः —(२)—अन्तरिक्षं-भुवः-देवाग्निः
- १—चन्द्रमाः, २—भूपिण्डः —(३)—पृथिवी—भूः—भूताग्निः

—स्वायम्भुवसम्वत्सरकालः —सत्यस्यसत्यम्—

स्वयम्भूगर्भितः-परमेष्ठी

(२)—कालेन वातः पवते०

गेहत्रिलोकी-रूपः-कालः

- १—रेतोऽण्डम्—दिशः——परिश्रितमण्डलम् (चन्द्रमाः)
- २—यशोऽण्डम्—द्यौः——सूर्य्यपिण्डः (आदित्यः)
- ३—पोपाण्डम्—अन्तरिक्षम्-मध्यप्रदेशः (वायुः)
- ४—अम्भ्वण्डम्—पृथिवी——भूपिण्डः (अग्निः)

सौरसम्वत्सरकालः -सत्यम्-

स्वयम्भूपरमेष्ठिगर्भितः सूर्य्यः

(३)—कालो ह भूतं भव्यं च—

कालः — पार्थिवसत्यत्रिलोकीरूपः

- १—त्रयस्त्रिंशस्तोमः—पार्थिवः, २—त्रिणवस्तोमः—पार्थिवः —दिशः (४)
- ३—एकविंशस्तोमः—पार्थिवः-सत्यादित्यः (३)
- ४—पञ्चदशस्तोमः—पार्थिवः-सत्यवायुः (२)
- ५—त्रिवृत्स्तोमः—पार्थिवः-सत्याग्निः (१)

—पार्थिवसम्वत्सरकालः —ऋतानुगतं—सत्यमेव—

स्वयम्भूपरमेष्ठिसूर्य्यगर्भिता महापृथिवी

(४) कालो यज्ञं समैरयत्०

चान्द्रसौम्यत्रिलोकीरूपः-कालः

- १—दिक्सोमः—ऋतम् | ऋतमेव (३३) —दिश्यः
- २—भास्वरसोमः—ऋतम् | ऋतमेव (२७) —दिश्यः
- ३-ज्योतिर्म्मयःसोमः-ऋतम् | ऋतादित्यः (२१)-दिव्यः
- ४—वायव्यसोमः—ऋतम् | ऋतवायुः (१५) आन्तरिक्ष्यः
- ५—आग्नेयसोमः—ऋतम् | ऋताग्निः (९)-पार्थिवः

—चान्द्रसम्वत्सरकालः —ऋताग्निसोममयं—ऋतमेव

सर्वगर्भितश्चन्द्रमाः-इति चन्द्रमा वै सर्वम् *

महाभूतादि-वृत्तौजा — स्वयम्भू स यम्यसत्यम् — प्रादुरासीत्तमोनुदः

सोऽयं सूर्य्य स	स एष प्रजापतिः (सूर्य्य)	स एष पुरुषो नारायणः	द्यौः [१]
सेयं सप्तधा महापृथिवी—अन्तरिक्षमेव भूयः	१—दिक्सोमलोक —आप [३३]	—ऋतमेवाप —— ऋतसोमएव-आप	अन्तरिक्ष [२]
	२—भास्वरसोमलोक —दिश. [२७]	—ऋतमेव-दिश'—ऋतसोमएव-सोम	
	३—सर्वज्ञादित्यलोक —द्यौ [२१]	—ऋतसोमगर्भित —ऋताग्निरेव—आदित्य	
	४—हिरण्यगर्भवायुलोक -अन्तरिक्षम्[१५]	—ऋतसोमगर्भित —ऋताग्निरेव—वायु.	
	५—विराडग्निलोक.——पृथिवी [६]	—ऋतसोमगर्भित —ऋताग्निरेव—अग्नि	
	सत्याग्नीषोमौ———पार्थिवौ	—ऋताग्नीषोमौ—चान्द्रौ	
सोऽयं भूपिण्डः भूः	पार्थिवसम्वत्सर'—सत्यसम्वत्सरो वा (भूपिण्ड)	चान्द्रसम्वत्सर.—ऋतसम्वत्सरो वा	पृथिवी [३]
	——तत स्वयम्भूर्भगवान्-अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्——		

रोदसीत्रिलोकी—सौरसत्यसम्वत्सरप्रजापतिः

चान्द्र—ऋतसम्वत्सरानुगताः—तत्र भुक्ताः—पार्थिवसम्वत्सरप्रजापतिशरीरप्रतिष्ठिताः—विभूतिमात्राः—पूर्वोक्तश्रौतसन्दर्भसिद्धाः

पार्थिवसम्वत्सरप्रजापतिः—प्रतिष्ठा				
१—दिक्सोमलोकात्मकः-पार्थिवत्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)	अग्निष्टोमः—पञ्चममहः—	हेमन्तशिशिरऋतू-ऋताग्नीषोमौ	—चन्द्रमाः-	सर्वतेजोमयः-इति सर्वम्—
२—भास्वरसोमलोकात्मकः-पार्थिवत्रिणवस्तोमः (२७)	उक्थ्यस्तोमः-चतुर्थमहः—	शरदृतुः-ऋताग्नीषोमौ		
३—सर्वज्ञादित्यलोकात्मकः-पार्थिवएकविंशस्तोमः (२१)	अतिरात्रस्तोमः-तृतीयमहः-	वर्षाऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]—आदित्यश्चान्द्रः-	यशस्तेजोमयः-इति यशः—
४—हिरण्यगर्भवायुलोकात्मकः-पार्थिवपञ्चदशस्तोमः (१५)	उक्थ्यस्तोमः-द्वितीयमहः—	ग्रीष्मऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]—वायुश्चान्द्रः-	महस्तेजोमयः-इति महः—
५—विराडग्निलोकात्मकः-पार्थिवत्रिवृत्स्तोमः (९)	अग्निष्टोमः-प्रथममहः—	वसन्तऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]—अग्निश्चान्द्रः-	भर्गतेजोमयः-इति-भर्गः—
वेदिः—पृथिवी	पञ्चरात्रसमष्टिः	ऋतवः	देवाः	तेजांसि

—इति-सर्वम्-दिशः-	अथर्वः-	चन्द्रमा-ब्रह्मा—	तत्कर्म्म-ब्राह्मम्-	विशिष्टसन्धानम्	(अनुष्टुप्छन्दः)	सुपर्णप्रतिष्ठा	(सवनप्रतिष्ठा)-	—साध्या देवाः
—इति-यशः-द्यौः—	साम—	आदित्यः-उद्गाता	तत्कर्म्म-औद्गात्रम्-	—स्तोत्रम्	(जगतीछन्दः)-	ऋभुसुपर्णः	(सायंसवनम्)—	—आदित्या देवाः
-इति-महः-अन्तरिक्षम्	यजुः—	वायुः-अध्वर्युः—	तत्कर्म्म-आध्वर्यवम्--	—ग्रहः	(त्रिष्टुप्छन्दः)-	सुपर्णसुपर्णः	(माध्यन्दिनंसवनम्)-	—रुद्रा देवाः
—इति-भर्गः-पृथिवी—	ऋक्—	अग्निः—होता—	तत्कर्म्म-हौत्रम्—	—शस्त्रम्	(गायत्रीछन्दः)-	श्येनसुपर्णः	(प्रातःसवनम्)—	—वसवो देवाः
लोकाः	वेदाः	ऋत्विजः	यज्ञकर्म्माणि	कर्म्मभावाः	छन्दांसि	चितयः	(सवनानि)—	गणदेवाः

४३७-सत्यस्यसत्यं-सत्यं-ऋतसत्य-ऋतं-रूप चतुर्विध सम्वत्सरों का समष्ट्यात्मक दिग्दर्शन, एवं तद्द्वारा प्रज्ञाशीलों के अनुरञ्जन का प्रयास—

स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, इन चार अभिधाओं के माध्यम से तालिकारूपेण जिन स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-चान्द्र-नामक सत्यस्यसत्य-सत्य-ऋतसत्य-ऋत-रूप चार सम्वत्सरविवर्तों का, कालमहिमाविवर्तों का दिग्दर्शन कराया गया है, सृष्टिसर्ग की ज्ञानविज्ञानात्मिका-परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण अवश्य ही वह सबकुछ आज के भावुक मानवों को केवल वाग्विजृम्भण ही प्रतीत होगा। और ऐसा नितान्त भावुक मानव विगत तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली अपनी भावुकता के वारणपाश में आबद्ध होने से, साथ ही चिर अभ्यस्त जगन्मिथ्यात्व के महान् व्यामोहन से सब को काल्पनिक मानता हुआ कालानुबन्धी सृष्टिसौन्दर्य्य से पराङ्मुख ही बना रहेगा। अतएव ऐसे भावुकों की दृष्टि में यदि यह कालमहिमा केवल वाग्विजृम्भण ही प्रमाणित हो, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। यह प्रयास तो उन प्रज्ञाशीलों के अनुरञ्जन से ही अनुप्राणित माना जायगा, जो तत्त्वसमन्वय के आधार पर ही मानव की आचारनिष्ठाओं के समन्वय-प्रयास में जागरूक हैं।

४३८-कालपुरुष के कालातीत, तथा कालात्मक स्वरूपों का संस्मरण, एवं तन्माध्यम से विषमवर्त्तनात्मक कालिक-आचरण के द्वारा समदर्शनधिया मानव की पुरुषार्थसंसिद्धि का दिग्दर्शन—

तथाविध आवरण मानवश्रेष्ठों के सम्मुख ही मानव के कालातीत, तथा कालिक दोनों स्वरूप इसलिए रख दिए जायँगे कि, वे इन के समतुलन के माध्यम से भारतराष्ट्र की उस महत्त्वपूर्ण जीवनपद्धति को पुनः भारतराष्ट्र में प्रतिष्ठित करें, जिस जीवनपद्धति में मानव के कालातीत-अप्राकृत-आत्ममूलक समदर्शन के आधार पर ही मानव के कालिक-प्राकृत-शरीरमूलक-विषमवर्त्तन की व्यवस्था हुई है। समदर्शन के माध्यम से कालातीत बने रहते हुए विषमवर्त्तन के द्वारा कालमर्य्यादा की उपासना करते रहना ही भारतीय आर्य-मानव की जीवनपद्धति मानी गई है, जो विभक्त तत्त्ववाद की उद्धुरता से आज सर्वात्मना अभिभूत ही प्रमाणित हो रही है। अनन्तर जिन चार सम्वत्सरकालों का तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया गया है, उन चारों का मानव के कालिक स्वरूप के साथ ही सम्बन्ध है, जिसके यथावत् समन्वय के द्वारा मानव का कालातीत स्वरूप स्वतः ही लक्ष्य में आजाता है। काल ही कालातीत का सग्राहक बन जाता है। काल के द्वारा मानव अपने कालातीत अनन्त स्वरूप को समझे, उस आनन्त्य पर प्रतिष्ठित होकर ही तदनुगत समदर्शन के द्वारा अपने प्रकृतिसिद्ध-कालिक-विषमवर्त्तनात्मक स्वधर्म्म में निष्ठापूर्वक आरूढ बना रहे, एकमात्र इसी उद्देश्य से श्रुति ने दो सूक्तों में कालातीत के प्रतीकभूत काल के स्वरूप का (अष्टम सूक्त में), तथा कालमहिमा का (नवम सूक्त में) यशोगान किया है।

४३९-अनिर्वचनीय कालातीत तत्त्व, निर्वचनीय कालतत्त्व, एवं-'कालो ह विश्वा भूतानि' का समन्वय—

कालातीत स्वरूप अनिर्वचनीय है, जबकि कालिक स्वरूप अपने व्यक्त-महिमाभावों से शब्द के द्वारा निर्वचनीय बन रहा है। आधिदैविक-कालमहिमा के माध्यम से श्रुति ने आध्यात्मिक (मानवीय)

कालमहिमा का भी सर्वात्मना समन्वय कर दिया है, जैसाकि कालसूक्त के-'काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम् । कालो-ह विश्वा भूतानि । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन इमा प्रजाः' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है । समन्वय कीजिए अपनी सत्त्वप्रज्ञा से उक्त चारों कालविवर्त्तों का मानव की अध्यात्मसंस्था के साथ ।

४४०-मानवीय-कालिक-अध्यात्मसंस्था के कालिक-पर्वों का पारम्परिक-समन्वय-दिग्दर्शन—

प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड ही मानव के कालिक स्वरूप (प्राकृत स्वरूप) का उपक्रम स्थान है । क्योंकि इस स्थूलशरीरात्मक शरीर से ही मानवस्वरूप का परिचय आरम्भ होता है । वैज्ञानिकोंनें हमें बतलाया है कि, इस प्रत्यक्षदृष्ट-स्पृष्ट-भौतिक **शरीर** से परे **इन्द्रियवर्ग** प्रतिष्ठित है, इन्द्रियों से परे **'मन'** प्रतिष्ठित है, मन से परे **बुद्धि** प्रतिष्ठित है, बुद्धि से परे **महान्** प्रतिष्ठित है, महान् से परे **अव्यक्त** प्रतिष्ठित है । और यहाँ आकर मानव का कालिक स्वरूप विश्रान्त है । **शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-** इन छह पर्वों की समष्टि का नाम ही है मानव का प्राकृत वह कालिक स्वरूप, जिस कालिकस्वरूप से समन्वित होकर ही मानवीय वह कालिक जीव कालचक्र का अनुगामी बना रहता है, जो कालिक जीव इन ६ ओं कालिक-पर्वों से एक पृथक् ही प्राकृत तत्त्व है । ६ ओं कालिक तत्त्व जहाँ क्षरकालप्रधान हैं, वहाँ वह कालिक जीव अक्षरकालप्रधान बना हुआ है । इसप्रकार अत्र मानव के कालिक स्वरूप में सात कालिक पर्व होजाते हैं । सप्तपर्वसमष्टिरूप कालिक मानव के अन्तिम 'अव्यक्त' नामक कालिक पर्व से परे जो कोई 'पुरुष' नामक अनन्ताव्यय तत्त्व है, वही मानव का कालातीत स्वरूप माना गया है, जैसाकि निम्न लिखित कठश्रुति से प्रमाणित है—

> **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥**
> **मनस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥**
> **महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥**
> **पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥**
>
> —कठोपनिषत्

४४१-आध्यात्मिक सात पर्व, एवं इन सातों के मूलप्रवर्त्तक आधिदैविक सात विवर्त्त—

मानव में उक्त पारम्परिक सात पर्व कहाँ से, कैसे, क्यों आगए ?, इस प्रश्न का एकमात्र समाधान वही पूर्वोक्ता कालमहिमाचतुष्ट्यी है, जिसका क्रम है-स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा-यह । पहिला **'स्वायम्भुवसम्वत्सर'** है, जिसके प्रमुख विभूतिभाव हैं—**स्वयम्भू**, और **परमेष्ठी** । इन में भी स्वयम्भू प्रथम पर्व है, परमेष्ठी द्वितीय पर्व है । पृ० सं० ३५३ की तालिका में आप देखेंगे कि, परमेष्ठी के गर्भ में सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-ये तीनों भी समाविष्ट हैं । इसप्रकार स्वायम्भुव सम्वत्सर पञ्चपर्वात्मकरूपेण सर्वात्मक बन रहा है, जिन में उत्तर के तीन पर्व द्वितीय परमेष्ठी के गर्भ में अन्तर्भूत हैं । स्वयम्भू के प्रवर्ग्य भाग से मानव के 'अव्यक्त' पर्व का आविर्भाव हुआ है । परमेष्ठी के प्रवर्ग्यांश से मानव के उस **'महान्'** पर्व की अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें परमेष्ठी के गर्भीभूत सौर-चान्द्र-भौम-प्रवर्ग्यात्मक अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-रूप तीनों बीजभाव प्रतिष्ठित हैं । पारमेष्ठ्य महान् का अहङ्कृतिबीज सौर है, प्रकृतिबीज चान्द्र है, आकृतिबीज भौम है, जो ये तीनों पारमेष्ठ्य बीज मूर्त्तरूप में परिणत होते हैं सौर सम्वत्सर में आकर ही । इसप्रकार बीज-

त्रयात्मक-सौर-चान्द्र-भौम-भावगर्भित-परमेष्ठी ही मानव का दूसरा 'महान्' पर्व है। और यहीं स्वायम्भुव सम्वत्सर-कालविवर्त्त परिसमाप्त है।

४४२-आध्यात्मिक सात पर्व, इन सातों के मूलप्रवर्त्तक आधिदैविक सात विवर्त्त, एवं तालिका-माध्यम से दोनों सप्तकों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब क्रमप्राप्त दूसरा वह सौरसम्वत्सरकाल हमारे सम्मुख आता है, जिसके उसी समष्टि-तालिका में सूर्य्य-चान्द्र-अन्तरिक्ष-भूपिण्ड-नामक तीन व्यक्त विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन में से क्रमशः सत्य सूर्यविवर्त्त मानव के बुद्धिपर्व का, आन्तरिक्ष्य सत्य चन्द्रपर्व मानव के 'सर्वेन्द्रिय' नामक प्रज्ञान-मन का, तथा सत्यभूपिण्ड मानव के स्थूलशरीर का निर्म्मापक बनता है। यहीं उस महान् के बीजरूप अहङ्कृत्यादि तीनों भाव व्यक्त-मूर्त्तभाव में परिणत होते हैं। सौरी बुद्धि ही मानव का कारणशरीर है, चान्द्र मन ही मानव का सूक्ष्मशरीर है, भौम शरीर ही मानव का स्थूलशरीर है। यों इस सौरसत्यसम्वत्सर के इन तीनों सत्यपर्वों से क्रमशः मानव के बुद्धि-मन-शरीर-नामक तीन कालिकपर्व अभिव्यक्त हो रहे हैं। अब शेष रह जाते हैं जीव, एवं इन्द्रियवर्ग-नामक दो पर्व।

तीसरे पार्थिवसम्वत्सर को लक्ष्य बनाइए, जिसके सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-रूप से तीन पर्व बतलाए गए हैं-स्तोमभेद से। इसी को पूर्व-परिच्छेदों में महासुपर्णात्मक साक्षी ईश्वर कहा गया है। पार्थिव सम्वत्सर के सोमगर्भित एकविंशस्थ सर्वज्ञादित्यांश का नाम ही प्राज्ञ है, पञ्चदशस्तोमस्थ हिरण्यगर्भांश का नाम हीं तैजस है, त्रिवृत्स्तोमस्थ विराडंश का नाम हीं वैश्वानर है। प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-रूप तीनों पार्थिव प्रवर्ग्यांशों की समन्वितावस्था का नाम हीं है-मानवीय-'जीव', जो उस आधिदैविक-पार्थिवसम्वत्सर-रूप साक्षी ईश्वर का ही अंश है-'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। तदित्थं-पार्थिवसम्वत्सरकालांश ही बन रहा है मानव में-'जीव'।

अब उधर तो शेष रह जाता है चान्द्रसम्वत्सर, एवं इधर शेष रह जाता है-इन्द्रियवर्ग। चान्द्र-सम्वत्सर के दिक्सोम-भास्वरसोम-ऋतादित्य-ऋतवायु-ऋताग्नि-ये पांच पर्व बतलाए गए हैं—पृ० सं० ३५३ की ही तालिका के अन्त में। ये पांचों ऋताग्निसोमपर्व चान्द्रसम्वत्सर की ही ऋतविभूतियां हैं। इन में से क्रमशः त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगत ऋतदिक्सोम के प्रवर्ग्यांश से श्रोत्रेन्द्रिय का, त्रिणवस्तोमानुगत ऋतभास्वर-सोम के प्रवर्ग्यांश से इन्द्रियमन का, एकविंशस्तोमानुगत ऋतादित्यभाग से चक्षुरिन्द्रिय का, पञ्चदश-स्तोमानुगत ऋतवायुभाग से प्राणेन्द्रिय का, एवं त्रिवृत्स्तोमानुगत ऋताग्निभाग से वागिन्द्रिय का आविर्भाव हुआ है। तदित्थं दिक्-भास्वर-आदित्य-वायु-अग्नि-नामक पांचो चान्द्र ऋतप्राणों से मानव के श्रोत्र-मन-चक्षु-प्राण-वाक्-नामक पांच इन्द्रियप्राणों का विकास ससिद्ध है। और यहां आकर सम्वत्सरचतुष्टयी से अनुप्राणिता कालमहिमा सर्वात्मना अवभृथस्नान कर लेती है। चार सम्वत्सरकालों से यों मानव के सात कालिक पर्व अभिव्यक्त हैं। यही मानव के कालिक-स्वरूप का सङ्क्षिप्ततम निदर्शन है, यही उस 'अधिदैवतम्' के साथ इस 'अध्यात्मम्' का समतुलन है। इसी समतुलन से कालिक मानव कालो-पासना के अनुग्रह से अपने कालातीत अनन्त स्वरूप के दर्शन में सफलता प्राप्त कर सकता है। परिलेख-माध्यम से चारों सम्वत्सरकालमहिमाओं के साथ मानव के सप्तपर्वा कालिक-प्राकृत-स्वरूप का समतुलन कीजिए, एवं तद्द्वारा कालातीत पुरुष को लक्ष्य बना कर अपने कालातीत स्वरूप के साथ सायुज्य प्राप्त करते हुए 'जीवन्मुक्ति' रूपा 'विदेहमुक्ति' के दायाद-भोक्ता बनिए।

पूर्णमदः
पूर्णमिदम्
१—स्वयम्भूः
२—परमेष्ठी
३—सूर्य्यः
४—चन्द्रमाः
५—भूपिण्डः
१—अव्यक्तः
२—महान्
३—अहंकृतिबीजः
४—प्रकृतिबीजः
५—आकृतिबीजः
अव्यक्तः (१)
महान् (२)
स्वायम्भुवमानवः
१—रेतोऽण्डम्
२—यशोण्डम्
३—पोषाण्डम्
४—अस्त्वण्डम्
१—अर्द्धेन्द्रवृत्तम्
२—बुद्धिः
३—मनः
४—शरीरम्
बुद्धिः (३)
मनः (४)
शरीरम् (५)
सौरमानवः
१—दिशः
२—सत्यादित्यः सर्वज्ञः
३—सत्यवायुर्हिरण्यगर्भः
४—सत्याग्निर्विराट्
१—महिमा
२—प्राज्ञः
३—तैजसः
४—वैश्वानरः
जीवः
विषयानुगतः(६)
पार्थिवमानवः
१—दिक्सोमः
२—भास्वरसोमः
३—ऋतादित्यः
४—ऋतवायुः
५—ऋताग्निः
१—श्रोत्रम्
२—मनः
३—चक्षुः
४—प्राणः
५—वाक्
इन्द्रियाणि (७)
चान्द्रमानवः
इति नु-अधिदैवतम्
इति नु-अध्यात्मम्

४४३-चान्द्रकालानुगत गन्धर्व, एवं अप्सरातत्त्व का स्वरूप-परिचय, तथा गन्धर्वाप्सराओं की यशोमहिमा का उपवर्णन—

'कालो यज्ञ समैरत्-देवेभ्यो भागमक्षितम्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र को हम पञ्चरात्रमूर्त्ति-नारायण-पुरुषात्मक-ऋताग्नि-ऋतसोममय-चान्द्रसम्वत्सरकाल का प्रतिपादक क्यों मान रहे हैं ?, किस आधार पर मान रहे हैं ?, प्रश्न का उत्तर मन्त्र के-'देवेभ्यो भागमक्षितम्' के-'अक्षितम्' पद, तथा मन्त्रोत्तरार्द्ध के 'काले गन्धर्वाप्सरस' इस वाक्य पर ही अवलम्बित है। चान्द्रसम्वत्सर के त्रयस्त्रिंशस्तोमात्मक प्रदेश में आपोमय दिक्सोम प्रतिष्ठित है, एव त्रिणवस्तोमात्मक प्रदेश में भास्वरसोम प्रतिष्ठित है। दिक्सोम का नाम है-'आप', एव भास्वरसोम का नाम है-'सोम'। वरुणानुगत वही सोम 'आप' है, इन्द्रानुगत (आदित्यानुगत) वही आप 'सोम' है। आप्यप्राण का नाम है 'अप्सुसरणधर्म्म' से 'अप्सरा', एव सौम्यप्राण का नाम है गन्धानुगत गन्धर्व। यों अप्सराप्राण, तथा गन्धर्वप्राण, नामक दोनों प्राण चान्द्र ऋत सोमात्मक ही बन रहे हैं, जो मानवीय अध्यात्मजगत् में क्रमश शरीर, और मन को अपना प्रधान आवासस्थान बनाते हैं। शरीर आपोमय बनता हुआ वारुण है, मन सोममय बनता हुआ ऐन्द्र है। ऐन्द्र मन के साथ इन्द्रप्रिय सोमात्मक 'गन्धर्व' का सम्बन्ध है, तो वारुण शरीर के साथ वरुणप्रिय आपोरूपात्मिका अप्सरा का सम्बन्ध है। गन्धर्व मन है, तो अप्सरा शरीर है। मानसभाव गन्धर्वप्राणप्रधान है, तो शरीरभाव अप्सराप्राणप्रधान है। गन्धभाव गन्धर्वानुगत है, तो रूपभाव अप्सरानुगत है। 'सोमो गन्धाय' (ताण्ड्यब्रा० १।३।६।)-'सोम इव गन्धेन भूयासम्'-(मन्त्र ब्रा० २।८।१४।)-'गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु-गन्धर्वेषु' (जै उप० ३।२५।४)-'गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' (शत० ६।९।१।४)-'रूपमिति गन्धर्वा-उपासते' (शत० १०।५।२।२०)-'योषित्कामा वै गन्धर्वा' (ए ब्रा० १।२७)-'मनो गन्धर्व' (शत० ६।४।१।१२)-चन्द्रमा गन्धर्व' (शत० ६।४।१।६।)-'किं नु तेऽस्मासु-अप्सरस्सु-रति-ह्यासो मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे' (जै उप० ३।२५।८) इत्यादि वचन चान्द्र-गन्धर्व, अप्सरा-प्राणों का ही यशोगान कर रहे हैं। अतएव अवश्य ही हम प्रस्तुत मन्त्र को चान्द्र-सम्वत्सरकाल का निरूपक मान रहे हैं।

४४४-गन्धर्वाप्सराप्रणमय चान्द्रसोम से अनुप्राणिता सौरप्राणाग्नि-देवदेवताओं की 'अक्षिति' का स्वरूप समन्वय—

चान्द्रसम्वत्सर ऋतभावापन्न है, ऋताग्नि-ऋतसोममय बनता हुआ ऋतुरूप है। इस ऋतुभाव के कारण ही तो यह चान्द्रसम्वत्सर ऋत बन रहा है। ऋतसोमाहुति से निष्पन्न अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही यह पञ्चर्तु समष्टिरूप-पञ्चरात्र-यज्ञ है, जिसकी इस चान्द्रनारायणपुरुष को प्रजापति से-'पुरुष ह वै नारायण प्रजापतिरुवाच-यजस्व' इत्यादि प्रेरणा उपलब्ध हुई है। 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनुसार आपोमय अर्णवसमुद्र में विचरण करने वाला श्येन-सुपर्ण-ऋभु-रूप-नारायण चन्द्रमा ही तो है। 'तस्य वसन्त अयमेव लोको वसन्त' इत्यादि पूर्व श्रुतिवचनानुसार यही तो ऋतुमूर्त्ति बनता हुआ ऋताग्निसोम-मय है। यही तो प्रजात्मक उन लोकभावों का अधिष्ठाता है, जो प्रजालोकसर्ग चान्द्रसर्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। इस चान्द्रसोम से ही तो प्राणाग्निदेवता अक्षितभावापन्न बन रहे हैं, जिस इस 'अक्षितम्' का विस्पष्ट शब्दों में नारायणाख्य चान्द्रसम्वत्सर से ही ब्राह्मणश्रुतिने सम्बन्ध बतलाया है। देखिए !

तद्विद्यात्-सर्वांल्लोकानात्मन्नधिपि, सर्वेषु लोकेष्वात्मानमधां, सर्वान् देवानात्मन्नधिपि, सर्वेषु देवेष्वात्मानमधां, सर्वान् वेदानात्मन्नधिपि, सर्वेषु वेदेष्वात्मानमधा, सर्वान् प्राणानात्मन्नधिपि, सर्वेषु प्राणेष्वात्मानमधाम्। अक्षिता वै लोकाः, अक्षिता देवाः, अक्षिता वेदाः, अक्षिताः प्राणाः, अक्षितं सर्वम्। अक्षिताद्ध वाऽअक्षितमुपसंक्रामति। अप पुनर्मृत्युं जयति, सर्वमायुरेति, य एवमेतद्वेद। —शतपथ १२।३।४।११।

४४५-चन्द्रमा की सर्वात्मकता का समन्वय—

नारायणाख्य 'पुरुष' के सम्बन्ध से ही यह ऋतचान्द्रसम्वत्सरयज 'पञ्चरात्र' 'पुरुषमेधयज्ञक्रतु' कहलाया है (शत० १३।६।१।१।)। इस चान्द्रऋतकाल को 'सम्वत्सर' किम आधार पर कह दिया गया ?, प्रश्न का समाधान भी उसी श्रौत-सन्दर्भ से अनुप्राणित है, जिसके द्वारा इस चान्द्री यज्ञविभूति का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। देखिए !

एवमिमं च लोकाः, सम्वत्सरश्चात्मा च पुरुषमेधमभिसम्पद्यते। सर्वं वा इमे लोकाः। सर्वं सम्वत्सरः। सर्वमात्मा। सर्वं पुरुषमेधः। 'चन्द्रमा एव सर्वम्' (गो० ब्रा० पू० ५।१५।)-(शत० १३।६।१।११)।

४४६-अधिदैवत-ऋत-चान्द्र-सम्वत्सर के साथ आध्यात्मिक ऋत मनोमय-सम्वत्सर का समतुलन—

अब केवल शेष प्रश्न रह जाता है—अधिदेवत के साथ अध्यातम के समतुलन का। जैसा स्वरूप उस काल का है, वैसा ही इस कालिक मानव का है, इस समतुलन के सम्बन्ध में अब अधिक विस्तार का समय नहीं है। प्रकृत में केवल एक वचन ही उद्धृत कर यह मन्त्रार्थसमन्वय उपसंहृत हो रहा है, जिसके द्वारा स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-सम्वत्सर-त्रयी-गर्भित-ऋतुमूर्त्ति चान्द्रसम्वत्सररूप अधिदैवतविवर्त्त के साथ मानवीय अध्यात्म का समतुलन हुआ है। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

"....पञ्चममहर्द्यौरस्य शिशिरऋतुः। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। प्रतिष्ठा-एव-अस्य (पुरुषस्य--मानवस्य) प्रथममहः। प्रतिष्ठा उ अस्य वसन्त ऋतुः। यदूर्ध्वं प्रतिष्ठायाः, अवाचीनं मध्यात्-तद्द्वितीयमहः। तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुः। मध्यमेवास्य मध्यममहः। मध्यमस्य वर्षाशरदावृतू। यदूर्ध्वं मध्यात्-अवाचीनं शीर्ष्णः-तच्चतुर्थमहः। तद्वस्य हेमन्त ऋतुः। शिर एवास्य पञ्चममहः। शिरोऽस्य शिशिरऋतुः।

—शत० १३।६।१।११।

इति—कालः—ऋताग्निऋतसोममूर्त्तिश्चान्द्रऋतसम्वत्सरकाले—एव पञ्चर्त्तु—समष्टि—रूप—पाङ्क्त-पञ्चरात्र-पुरुषमेधाख्य-यज्ञं समैरयत्। साम्वत्सरिकप्राणदेवेभ्यश्च अचित—अक्षीणं (ऋतमिति यावत्) सोममयमाहुतिद्रव्यं—अकल्पयत्। तस्मिन्नेतस्मिन्—चान्द्रऋतसम्वत्सरकाले—एव सौम्य—आप्य—प्राणमयः—गन्धर्वाप्सरसः—प्रतिष्ठिताः। चान्द्रसम्वत्सरकाले—एव ब्राह्म-दैव्य-प्राजापत्य-ऐन्द्र-गन्धर्व—पिशाच—यक्ष-राक्षस-मानव-पशु-पक्षी—कीट—कृमि—स्तम्भ—भेदभिन्नाः— चतुर्दशविधाः —प्रजाः-तदभिन्ना लोकाश्च प्रतिष्ठिताः — इति—

कालो यज्ञं समैरयत्,-देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिता॥

इति—चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयः

४

---

[१५]—[५]—अथ पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [पञ्चममन्त्रार्थ]

४४७—'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः' इत्यादि पञ्चम (१५) मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय, एवं अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा का पावन-संस्मरण—

(१५)—(५)—कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवोथर्वाचाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं, परमं च लोकं, पुण्यांश्च लोकान्, विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥

"यह अथर्वाङ्गिरादेव', एवं अथर्व, दोनों काल में ही प्रतिष्ठित हैं। इस लोक को, और उस लोक को, पुण्यलोकों को, पुण्यभावात्मिका विधृतियों को, (किंबहुना) सम्पूर्ण लोकों को ब्रह्म के द्वारा जीत कर वह परमकालदेव ही गतिशील बन रहा है" इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत पञ्चम मन्त्र अष्टम, तथा नवम, दोनों कालसूक्तों में क्रमशः प्रतिपादित काल, तथा कालमहिमा—इन दोनों कालविवर्तों का समष्टिरूप से निरूपण करता हुआ काल की सर्वजगद्व्याप्ति का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। मन्त्र में प्रधानरूप से ज्ञातव्य 'अथर्वाङ्गिरादेव', और 'अथर्वा' ये दो ही पारिभाषिक तत्त्व हैं।

४४८—वेदभाष्यकारों की दृष्टि में अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा तत्त्वों का परमात्मभक्तिमूलक समन्वय, एवं वेदार्थ की अन्तर्मुखता —

यदि परमात्मभक्त भाष्यकार के पथ का अनुसरण कर लिया जाता है, तो वेदार्थ—समन्वय—कर्त्ता सर्व—श्रीसायणाचार्य के—"अशरीरया वाचा स्वसृष्टास्वेव अप्सु—अर्वाङ्—अभिमुख—एव परमात्मानं अन्वि-

च्छेति अभिहितः परमात्मा अथर्व शब्द वाच्य इति बहुधा प्रपञ्चितम्" ("अशरीररूपा वाक् से अपने आप से ही उत्पन्न पानियाँ में अभिमुख बने हुए इस परमात्मा को ढूँढो-इस रूप से कहा गया 'परमात्मा' ही अथर्व शब्द का वाच्यार्थ है, यह हमने अनेक स्थानों पर स्पष्ट कर दिया है"(देखिए-सायणभाष्य) इस मन्तव्य के अनुसार तो कुछ भी ज्ञातव्य—विज्ञातव्य नहीं रह जाता।

४४९–परमात्मनामसाम्यमूला भ्रान्ति के निग्रह से काल–अथर्वाङ्गिरा-अथर्वा-आदि प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-नित्य-तत्त्वों के पारिभाषिक समन्वय का आत्यन्तिक अभाव, एवं वेदभाष्यकारों का महतोमहीयान् वाग्विजृम्भण—

अशरीरा वाक् से उत्पन्न पानियो में प्रयासपूर्वक ढूँढा जाने वाला परमात्मा ही भाष्यकार की दृष्टि में अथर्वाङ्गिरादेव है, इसी के लिए पुनः उसी मन्त्र में 'अथर्व' कहा है। इन दो भावों के लिए प्रयुक्त—'अधि–तिष्ठतः' यह द्वित्वभावापन्न क्रियापद भी एकभाव पर ही परिसमाप्त है भाष्यकार की दृष्टि में। और ऐसा अथर्वरूप परमात्मा काल में प्रतिष्ठित है सायणीया दृष्टि में। एवं इन्हीं भाष्यकारों की दृष्टि में कालशब्द का वाच्यार्थ भी –'परमात्मा' ही है, जैसा कि आप ही के–'कालः–कालरूपः–परमात्मा–भूतिमसृजत' (अष्टमसूक्त–७ मन्त्रव्याख्या) इत्यादि उद्गारों से स्पष्ट है। "परमात्मा में परमात्मा प्रतिष्ठित नहीं है, अपितु प्रतिष्ठित हैं, दो परमात्मा प्रतिष्ठित हैं (अधिष्ठितः) उस एक परमात्मा में। किंवा दोनों मिल कर (अथ–र्वाङ्गिरा, और अथर्व–मिल कर) एक ही परमात्मा अधिष्ठितः नहीं, अपितु–'सोऽयमथर्वा अथर्ववेद स्रष्टा देवश्च–(अर्थात्–परमात्मा च)–काले–स्वजनके–अधितिष्ठति'। अथर्व-परमात्मा अपने पिता काल में प्रतिष्ठित है–अथर्वाङ्गिरा, और अथर्वा नामक दो परमात्मरूपों से" इत्यादि सन्दर्भमूलक इत्थंभूत भाष्यसमन्वय की अस्तिभावमूला 'परमात्मभक्ति' का प्रत्येक आस्तिक को हृदय से अभिनन्दन ही करना चाहिए।

४५०–सर्वश्री सायणादि भाष्यकारों के प्रति श्रद्धाशीला प्रजा का श्रद्धार्पण, एवं ज्ञान–विज्ञानात्मक आचारप्रधान वेदशास्त्र का भाष्यानुग्रह–परम्पराओं से केवल अर्चनीय--प्रतिमात्त्व, तथा तद्द्वारा भारतवैभव की अन्तर्मुखता—

जब इन्द्र-मित्र-वरुण-यम-मृत्यु-सब वही है, जब कि–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'–'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' इत्यादि वेदान्त-सिद्धान्त जागरूक है, तो काल को, अथर्वाङ्गिरा को, अथर्व को, किंवा सम्पूर्ण चर–अचर–पदार्थों को भी यदि भाष्यकार परमात्मा के पर्य्याय मान लेंगे, तब भी यहाँ की परमात्मभक्त आस्तिक प्रजा कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाएगी। और इस समदर्शनमूला परमात्मदृष्टि से श्रीसायणाचार्य्य के इस तथाकथित अर्थसमन्वय का भी सर्वात्मना समादर ही कर लिया जायगा। एवं इस समादर के साथ साथ ही परमात्मा के विविध नामों का सङ्कीर्त्तनमात्र करने वाले इस वेदशास्त्र को हम अर्चनीया प्रतिमा बना कर प्रतिमावत् किसी मन्दिर में ही विराजमान कर देंगे। ऐसा ही तो कुछ घटित–विघटित हो रहा है—आज तीन सहस्र वर्षों से, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती खल्वियं विडम्बना ज्ञानविज्ञानात्मकस्यास्य भगवतो वेदपुरुषस्येति–आलप्यालमेव। वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः। तिष्ठन्तु 'हुं'

वर्त्ताम् । फिर तो उन सुविख्यात स्वामिमहाभाग का भी कोई अपराध नहीं मानना चाहिए आर्य-सनातन जगत् को, जिन्होंने सम्पूर्ण वैदिक तत्त्वों को एकमात्र परमात्मा के ही वाचक मानते हुए प्रकृतिसिद्ध-विज्ञानसिद्ध बहुदेवतातत्त्वों का मूलोच्छेद करते हुए वेदशास्त्र के आचारपक्ष को सर्वथैव अन्तर्मुख बना दिया है।'काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नरा'।

४५१–'कालादापः समभवन्', एवं 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः' का समतुलन, आपः, तथा अथर्वाङ्गिरादेवः शब्दों का पारिभाषिक–समन्वय—

'कालादाप समभवन्' इत्यादि प्रथम मन्त्र में 'कालात्' का जो अर्थ हुआ है, प्रकृत पञ्चम मन्त्र के 'काले' का वही अर्थ है। एवमेव वहाँ 'आप.' का जो अर्थ हुआ है, यहाँ के–'अथर्वाङ्गिरा' का भी वही अर्थ है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' (गो० ब्रा० पू०) इत्यादि अथर्वब्राह्मणश्रुति से प्रतिपादित, स्वायम्भुव ब्रह्मनि श्वसित-अपौरुषेय-त्रयीवेद के ऋक्सामरूप वयोनाव (छन्द) से छन्दित यत्-जू (गति-स्थिति) प्रकृतिक यज्जूरूप यजुः के 'जू' रूप वाग्भाग से यद्रूप प्राणव्यापार के द्रुतभाव से उत्पन्न स्नेह-तेजो-गुणक ऋततत्त्व का नाम ही 'आप' है, जिसका स्नेहगुणक तत्त्व ही भृगु है, तेजोगुणक तत्त्व ही अङ्गिरा है, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'आप' है, और इसी का नाम है-'ऋतमेव परमेष्ठी'। तेजोमय अङ्गिरा से तप्त-सतप्त स्नेहगुणक 'आप.' ही इस भर्जनरूप परिपाक से 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध हुआ *, जिसकी घनावस्था 'आप', तरलावस्था 'वायु', एवं विरलावस्था 'सोम' नाम से प्रसिद्ध हुई। घनावस्थापन्न आप्य-भृगु ही वरुणपुत्र कहलाए (भृगुर्वै वारुणिः), ये ही असुरसृष्टि के मूलप्रवर्त्तक बने। तरलावस्थापन्न वायव्य भृगु ही गन्धर्वसृष्टि के प्रवर्तक बने, एवं विरलावस्थापन्न सौम्य भृगु ही पितृसर्ग के प्रवर्तक बने। यों आपोमय परमेष्ठी–मण्डल में ही स्नेहगुणक-परिपक्व-आपोरूप-भृगु की इन आप-वायु-सोम ÷ अवस्थाओं से क्रमशः असुर-गन्धर्व-पितर-,ये तीन सृष्टिधाराएँ प्रक्रान्त हो पड़ी।

४५२–आपः तत्त्व की भृगु–अङ्गिरा–अवस्थाओं का स्वरूप–समन्वय, एवं–'आपो-भृग्वङ्गिरोरूपम्', तथा 'आपो भृग्वङ्गिरोमयम्' वाक्यों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

तेजोगुणक अङ्गिरा के समन्वय से आरम्भ में आप परिपक्व होकर 'भृगु' बन गया, एवं यही भृगु आगे चलकर तेजोगुणमयी आपोधाराओं का अभिव्यञ्जक बनता हुआ 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध हो गया। स्नेहतेजोभयगुणक उस एक ही पारमेष्ठ्य 'आप' तत्त्व की तेजोगुणगर्भिता स्नेहगुणावस्था 'भृगु' कहलाई, एवं

---

* अथेतरा पेयाः स्वाद्व्य शान्ताः (आपः)। तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्,-तदभृज्यत ('भ्रस्ज' पाके)। यदभृज्ज्यत, तस्माद् भृगुः समभवत्। तद्भृगोर्भृगुत्वम्।
—गोपथब्राह्मण १।३।

÷ आपो वायुः-सोमः-इत्येते भृगवः। (गोपथब्राह्मण-पू० २।८। (६)।)

इसी आपः की स्नेहगुणगर्भिता तेजोगुणावस्था 'अङ्गिरा' कहलाई। दूसरे शब्दों में-अङ्गिरागर्भित भृगु ही 'भृगु' कहलाया, एवं भृगुगर्भित अङ्गिरा ही 'अङ्गिरा' कहलाया। यों स्नेह-तेजोगुणक आपः के परस्पर के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व भृग्वङ्गिरोरूप बन गया, भृग्वङ्गिरोमय बन गया। शुद्ध स्नेहगुणक निष्कैवल्य आपः, एवं शुद्ध तेजोगुणक निष्कैवल्य आपः भृग्वङ्गिरोरूप-आपः हैं, एवं स्नेहगर्भित तेजोरूप आपः (भृगु-गर्भित अङ्गिरा), तथा तेजोगर्भित स्नेहरूप आपः (अङ्गिरागर्भित भृगु) भृग्वङ्गिरोमय आपः हैं। इन्हीं दोनों विभक्त-अवस्थाभेदों को लक्ष्य बना कर श्रुति ने-'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्-आपो भृग्वङ्गिरोमयम्' यह कहा है। 'रूपता' शुद्धावस्था की सूचिका है, 'मयता'-यागावस्था की सूचिका है।

४५३-स्नेहगुणक भृगु की संकोचावस्था का, एवं तेजोगुणक अङ्गिरा की विकासावस्था का समन्वय—

संघर्षावस्थापन्न भृगु की उत्तरावस्था का नाम हीं अङ्गिरा है ×, एवं संघर्षावस्थापन्न अङ्गिरा की पूर्वावस्था का नाम हीं भृगु है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है। भृग्वङ्गिरोमय, किन्तु भृगुप्रधान आपः ही भृगु है, एवं भृग्वङ्गिरोमय, किन्तु अङ्गिराप्रधान आपः ही अङ्गिरा है। स्नेहतत्त्व संकोचशील है, तेजोभाव विकासशील है। संकोच का संकोचत्त्व विकासधर्म्म के सहयोग-समन्वय पर अवलम्बित है, तो विकास का विकासत्त्व संकोचधर्म्म के सहयोग पर अवलम्बित है। परिधि से चलकर केन्द्र को लक्ष्य बनाए रहने वाला आगतिभाव ही संकोच है, एवं केन्द्र से चल कर परधि को लक्ष्य बनाने वाला गतिभाव ही 'विकास' है। विकास की चरमावस्था का नाम ही संकोच है, संकोच की चरमावस्था का नाम हीं विकास है। स्नेहगुणक भृगुतत्त्व संकोचधर्म्मा है, तेजोगुणक अङ्गिरातत्त्व विकासधर्म्मा है।

४५४-केन्द्रानुयोगिक, परिधिप्रतियोगिक भृगु, एवं परिध्यनुयोगिक, केन्द्रप्रतियोगिक अङ्गिरा की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन—

तत्त्व एक ही आपः है, जो केन्द्रानुयोगिक-परिधिप्रतियोगिक बनता हुआ संकोचभाव में आकर 'भृगु' कहलाने लगता है। एवं वही परिध्यनुयोगिक-केन्द्रप्रतियोगिक बनता हुआ विकासभाव में आकर 'अङ्गिरा' कहलाने लगता है। यों आपः की केन्द्रानुगामिनी पूर्वावस्था ही भृगु है, तो परिध्यनुगामिनी उत्तरावस्था ही अङ्गिरा है। केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त व्याप्त अङ्गिरा, तथा परिधि से केन्द्र पर्य्यन्त व्याप्त भृगु, दोनों परस्पर ओतप्रोत हैं समानधरातलानुबन्ध से। अतएव श्रुति ने अङ्गिरा के सन्तपन से भृगु का आविर्भाव बतलाया है, एवं भृगु के सन्तपन से अङ्गिरा की अभिव्यक्ति बतलाई है, जैसा कि-ताभ्यः-अद्भ्यः-सन्तप्ताभ्यः

× तं वरुणं-मृत्युं (वरुणमयं वारुणिं भृगुं) अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य-सन्तप्तस्य-सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतं-अङ्गरसं सन्तं-'अङ्गिरा' इत्याचक्षते।

—गो० ब्रा० पू० १।७।

(अङ्गिरा-द्वारा) यद्रेत-आसीत्-तदभृज्यत, तस्माद् भृगुः। तस्य (भृगोर्वरुणस्य) सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। सोऽङ्गरसोऽभवत्। त वा एतं-अङ्गरस सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते परोक्षेण' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ से प्रमाणित है।

४५५-भृगु का प्राथम्य, अङ्गिरा का उत्तरभावित्व, आपः तत्त्व की 'मरिरता', तन्मूला 'सलिलता', एवं 'स भृगु' सृष्ट्वा अन्तरधीयत' इत्यादि गोपथवचन का समन्वय-

आपोमय परमेष्ठी मे सर्वप्रथम सौम्य-स्नेहगुणक भृगु का ही आविर्भाव हुआ, तदनन्तर अङ्गिरा का। एव हि श्रूयते कि, आपोमय परमेष्ठी प्रजापति ने अपने आङ्गिरस तप-सन्तपन से अपने ही एकांशभूत आप को परिपक्व कर उसे भृगुरूप में परिणत कर दिया। इस भृगु को उत्पन्न कर वे आप -परमेष्ठी-प्रजापति अन्तर्लीन होगए, परोक्ष बन गए अपने इस सृष्ट भृगुरूप मे। सरित्-इरा-(रस)-रूपत्वेन 'सलिल' (ऋत) बने हुए आपोमय परमेष्ठी से उत्पन्न ऋताप प्रधान भृगु की दृष्टि से तो ये अन्तर्लीन हीं माने जायँगे। अङ्गिरारूप सृष्ट भाग अवश्य ही परमेष्ठी प्रजापति का वैसा है, जिस की अपेक्षा से परमेष्ठी परोक्ष नही बनते, अन्तर्लीन नही बनते। क्योंकि ऋत बनते हुए भी अङ्गिरा अपने आग्नेय सत्य की अभिमुखता से आप की विशुद्ध अपरूपता से पृथक्कृत व्यक्त हो जाते हैं, जबकि आपोरूप भृगु सर्वथा आपोरूप बनते हुए आप परमेष्ठी से अभिन्न ही बने रहते हैं। अतएव भृगु की दृष्टि से तत्स्रष्टा आपोमय परमेष्ठी प्रजापति की व्यक्ता अभिव्यक्ति सुदुर्लभा ही मानी जायगी। इसी तथ्य की लक्ष्य में रखते हुए श्रुतिने भृगु के आविर्भावानन्तर ही आपोमय प्रजापतिस्वरूप के लिए यह कह दिया कि-"स भृगु सृष्ट्वा -अन्तरधीयत'।

४५६-पारमेष्ठ्य छन्दोमय दिङ्मण्डल, उस की प्राची-प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-रूपा चार दिशाएँ, एवं चारों पारमेष्ठ्य दिग्भावों के साथ क्रमशः वायु-पवमान-वात-मातरिश्वा-नामक चतुर्विध वायव्य प्राणों का समन्वय--

आगे चल कर पुत्र भृगु ने अन्तर्लीन अपने इस मूलप्रतिष्ठात्मक पिता प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया। पारमेष्ठ्य आप से उत्पन्न भृगु आप[1] -वायु[2]-सोमात्मक[3] थे, जिन इन तीन भार्गवरूपों से ही पारमेष्ठ्य-समुद्र में क्रमश मातरिश्वा-वायु-पवमान-नामक तीन प्रकार के ऋतधर्मा वायव्य प्राण (प्राणवायु) अभिव्यक्त हो जाते हैं। चौथा आङ्गिरस प्राणवायु है, जो 'वात आवात भेषजम्' के अनुसार 'वात' नाम से प्रसिद्ध है। इन त्रिविध भार्गव वायव्य प्राणों का, तथा एकविध आङ्गिरस वायव्य प्राण का, चारों का पारमेष्ठ्य-छन्दोमय-दिङ्मण्डल की दिशाओं से क्रमिक सम्बन्ध मान लिया गया है। घनावस्थापन्न भृगु 'आप' के साथ 'मातरिश्वा' नामक पुरस्वरूप-समर्पक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे दक्षिणदिशा से अनुप्राणित माना गया है। तरलावस्थापन्न भृगु 'वायु' के साथ 'वायु' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे प्राचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है। विरलावस्थापन्न 'भृगुसोम' के साथ 'पवमान' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे 'प्रतीचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है। अङ्गिरावायु के साथ 'वात' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है। एवं इसे उदीचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है। और यों भृग्वङ्गिरानुबन्धी

वायव्य ऋत प्राण इन चार विवर्त्तों में विभक्त होते हुए चारों दिशाओं में (सम्पूर्ण पारमेष्ठय समुद्र में) व्याप्त हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१—भृगुः—आपः (भृगोर्घनावस्था)——मातरिश्वावायुः——दक्षिणां दिशमेजत्

२—भृगुः—वायुः (भृगोस्तरलावस्था)—वायुरेव वायुः——प्राङेजत्

३—भृगुः—सोमः (भृगोर्विरलावस्था)—पवमानवायुः——प्रतीचीं दिशमेजत्

४—अङ्गिरा-ःवायुः (अङ्गिरसस्तरलावस्था)-वातवायुः——उदीचीं दिशमेजत्

४५७—वात-मातरिश्वादि के सहयोगी भृगु के द्वारा अङ्गिरा के सहयोग से स्वपिता परमेष्ठी प्रजापति का अन्वेषण, तत्कर्म्म में भृगु का उपहास, एवं अन्वेषण-कर्म्म में भृगु को उद्बोधन-छत्रप्रदान—

सुनते हैं-पिता परमेष्ठी से प्रसूत—उत्पन्न भृगु ने अङ्गिरावायु के सहयोग से, तथा स्वानुगत मातरिश्वा-वायु—पवमान—नामक प्राणवायुविवर्त्तों के माध्यम से अपने उस पिता परमेष्ठी प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया, जो इस मृगु को उत्पन्न कर अन्तर्लीन होगए थे। भृगु ने मातरिश्वा के माध्यम से प्रजापति को दक्षिण में ढूँढा, नही मिले प्रजापति। भृगु ने वायु के द्वारा पूर्व में ढूँढा, नहीं मिले प्रजापति। भृगु ने पवमान के द्वारा पश्चिम में ढूँढा, किन्तु तत्रापि नही मिले प्रजापति। और यों आपः—वायुः—सोम—मय भृगु अपने हीं विभूतिरूप मातरिश्वा—वायुः—पवमान नामक तीनो स्वानुगत प्राणों से क्रमशः दक्षिण-पूर्व-पश्चिम-तीनों दिशाओं में प्रयास करके भी अन्तर्लीन परमेष्ठी प्रजापति को ढूँढने में समर्थ न हो सके, न हो सके। अब केवल एक ही प्रयास शेष रह गया भृगु की सीमा में। और वह अन्तिम प्रयास था आङ्गिरस—'वात' नामक तेजोमय—वायव्यप्राण। उसी को अपने अन्वेषणकर्म्म में मध्यस्थ बनाया अन्ततोगत्वा भृगु ने। इसे मध्यस्थ बना कर भृगु ने उत्तरदिशा में ही प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया। आङ्गिरस—'वात' नामक प्राणवायु ने यों भगु को अन्वेषण में अस्त—व्यस्त—सन्त्रस्त देख कर मन्दहासपूर्वक ही मानो यही कहा कि—"भृगो! अब और कहाँ ढूँढ रहे हो प्रजापति को। अरे! उसे तो यहीं ढूँढो। वह यहीं (मेरे सह-योगसे—आङ्गिरसप्राण के सहयोग से) इसी उत्तरदिशा में तुम्हें मिल जायगा।"—"वात वातेति। तमब्रवीत्—'अन्वविन्दामहे' इति। अथ-अर्वाङ्-एनमेतास्वेवाप्सु—अन्विच्छ (भृगो!)"।

४५८—केन्द्रानुगत परमेष्ठी-प्रजापति, एवं इनकी स्वायम्भुव—त्रयीमूर्त्ति-अव्यक्तप्रजापति से अभिन्नता—

अन्तर्लीन होते हुए पारमेष्ठ्य प्रजापति उस केन्द्र में ही तो अन्तर्लीन हुए हैं, जहाँ ब्रह्माग्निरूपा त्रयी-विद्या प्रतिष्ठित है, जो कि—सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशन्' इत्यादिरूप से आपोमय परमेष्ठी

के गर्भ में ही प्रतिष्ठित माना गया है। यही वह गर्भस्थ प्रजापति है, जिस से पारमेष्ठ्य आपोमय प्राणप्रजापति भी आवद्ध हैं। 'आप' इनका शरीर भाग है, आप्यप्राण इनका आत्मभाग है। एवं यह उस केन्द्रस्थ तर्यीनृत्त प्रजापति से अभिन्न है। एवं यही पिता परमेष्ठी की अन्तर्लीनता है।

४५६–परिधि की पारिभाषिकी दक्षिणता, केन्द्र की पारिभाषिकी उत्तरता, एवं 'सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः' का पारिभाषिक समन्वय—

विज्ञानभाषा में परिधि का नाम है दक्षिण, एवं केन्द्र का नाम है–'उत्तर'। 'सर्वस्मादिन्द्र उत्तर'–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख' इत्यादि के 'उत्तर'–और–ऊर्ध्व–शब्द केन्द्र के ही संग्राहक हैं। भृगुप्राण परिधि से केन्द्र की ओर आरहा है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया गया है। भला इसे केन्द्रस्थ प्राजापत्यप्राण का पता तब-तक लग ही कैसे सकता है, जबतक कि यह किसी केन्द्रानुयोगी प्राण को मध्यस्थ बनाकर केन्द्र में न चला जाय ?। वैसा प्राण आङ्गिरस-'वात' नामक प्राण ही है, जो केन्द्र से ही चलता है। उस प्राण के मध्यस्थ बनते ही उस प्राण की उत्तरदिशारूप हृदयबिन्दु का पता लग जाना स्वाभाविक ही है। इसी सहज स्थिति का ऋषिने स्पष्टीकरण किया है गोपथब्राह्मण में।

४६०–भृगु के द्वारा पिता प्रजापति की–'अथ-अर्वाक्' रूपा उपलब्धि, एवं 'अथर्वा' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय—

उत्तरस्थ (केन्द्रस्थ), अङ्गिराप्राणानुगत–परमेष्ठी प्राणप्रजापति का यो भृगु अन्वेषण कर तदनुग्रह से समन्वित हो जाते हैं। 'अथ-अर्वाक्' रूपेण क्योंकि यहीं, उत्तर में हीं, केन्द्र में हीं प्राणप्रजापति उपलब्ध होजाते हैं भृगु को, अतएव 'अथ–अर्वाक्' भावानुबन्ध से वैज्ञानिकोंने इस केन्द्रीय आप्यप्राण को 'अथर्वा' (अथ–अर्वाक्–इति–अथर्वा) नाम से व्यवहृत कर दिया है। इसी स्थिति का श्रुति ने अपनी परिभाषिकी रहस्यपूर्ण भाषा में–"स भृगु सृष्ट्वा अन्तरधीयत। "स भृगु –सृष्ट प्राडेजत्०" इत्यादि से आरम्भ कर–"तत्-यत् अब्रवीत् अथ-अर्वाङ्-एन प्रजापतिप्राणमापोमय-एतास्वप्सु (आपोमयपरमेष्ठिमण्डले) अन्विच्छ, तत्–'अथर्वा' अभवत्। तदथर्वणोऽथर्वत्त्वम्" इत्यादि पर्य्यन्त के सन्दर्भ से स्पष्टीकरण किया है, जिसका यथार्थ समन्वय तो ऋषिप्रज्ञा से ही अनुप्राणित माना जायगा।

४६१–उक्थ–अर्क–अशीति–रूप प्रजापति की सर्वव्याप्ति, एवं उसकी पशुपति–पाश–पशुरूपता का समन्वय—

उक्थ अर्क-अशीति-भेद से केन्द्रस्थ प्रजापति त्रिधर्म्मावच्छिन्न बन कर ही शरीररूप स्वपुर में अवार-पारीणरूप से व्याप्त होते हैं। केन्द्रावच्छिन्न केन्द्रात्मक मूलप्रतिष्ठारूप ही प्रजापति का 'उक्थ' रूप है। इस मूलबिम्बात्मक हृत्य उक्थ से विनिर्गता, सम्पूर्ण पुर में प्राणदपानत्–रूप से रश्मिमानेन परिव्याप्ता प्राणरश्मियां का नाम ही 'अर्क' है। इस अर्कात्मक प्राणमण्डल–रश्मिमण्डल में सोमरूप से अन्तर्भुक्त सम्पूर्ण भूत भौतिक-भाव ही 'अशीति' (अन्न) है। उक्थरूप पशुपति है, अर्करूप पाश है, अशीतिरूप पशु है।

४६२-उक्थभावापन्न अथर्वप्रजापति का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

उदाहरण के लिए आपोमय--परमेष्ठी प्रजापति को ही लीजिए। ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीमूर्त्ति ब्रह्माग्नि से समन्वित हृदयस्थ आप्यप्राणमूर्त्ति प्रजापति ही 'उक्थरूप' है इस परमेष्ठी प्रजापति का। इस उक्थरूप प्राणप्रजापति से विनिर्गता आपोमयी प्राणरश्मियाँ हीं इसका 'अर्करूप' है, जिसे 'परमेष्ठीमण्डल' कहा जाता है। इस आपोमय--अर्कप्राणात्मक पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रतिष्ठित सौर--चान्द्र--पार्थिवादि यच्चयावत् विवर्त्त ही इस की अशीतियाँ (भोग्य अन्न) हैं, जिनसे ही उक्थरूप पारमेष्ठ्य प्रजापति आप्यायित (परिपुष्ट) हैं--'अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते'। परमेष्ठी प्रजापति का यह उक्थरूप मूलभाव ही 'अथर्वाप्रजापति' है *।

४६३-अथर्वप्रजापति के अर्क, और अशीतियाँ, एवं महिमात्रयी से समन्वित पारमेष्ठ्य 'आपः' तत्त्व—

इस अथर्वाप्रजापतिरूप हृदयस्थ उक्थरूप से विनिर्गता आपोमयीं प्राणरश्मियाँ हीं इसके अर्क हैं, जिनके लिए--'आपो वा अर्कः' (शत० १०।६।५।२।) यह कया गया है। अर्करूप यह 'आपः' ही 'भृग्वङ्गिरा' है। एवं भृग्वङ्गिरारूप इन प्राणार्कों के ही प्रवर्ग्य--भागों से उत्पन्न भृग्वङ्गिरोमय सौर--चान्द्र--पार्थिवादि--सम्पूर्ण सृष्ट विवर्त ही इस 'उक्थ अथर्वा' की अशीतियाँ हैं। तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि, उसी पारमेष्ठ्य आपोरूप तत्त्व का केन्द्रस्थ उक्थमूलरूप 'अथर्वाप्रजापति' है, मण्डलस्थ अर्करूप भृग्वङ्गिरोरूप पाश है, मण्डल-भुक्त भृग्वङ्गिरोमय यच्चयावत् पदार्थ अशीतिरूप पशु है। यों एक ही अथर्वा केन्द्र--मण्डल--मण्डलभुक्त-पदार्थ--इन तीन संस्थानों के भेद से अथर्वा--आपः, भृग्वङ्गिरोरूप--आपः,--भृग्वङ्गिरोमयी--आपः--इन तीन महिमाभावों में परिणत होरहा है। मूलस्थ आप्यप्राणरूप अथर्वा ही भृगु--अङ्गिरारूप बना है। अतएव इसे भृग्वङ्गिरा, तथा अथर्वाङ्गिरा, दोनों नामों से व्यवहृत किया जासकता है। अतएव अथर्वाङ्गिरसः,--तथा भृग्वङ्गिरोरूपम्--रूपेण दोनों ही व्यवहार प्रसिद्ध हैं।

४६४-'कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवः' मन्त्रभाग के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय—

आप्यप्राण आप्य है, सौम्य है। यही क्योंकि 'अथर्वा' है। उधर अर्करूप भृगु, तथा--अङ्गिरा--दोनों आपोभावों में 'भृगु' अधिक सन्निकट है आप्यप्राणात्मक अथर्वा के--ऋत-समानधर्म्मत्त्वेन। अतएव मूल का 'अथर्वा' शब्द 'भृग्वङ्गिरा' के 'भृगु' के साथ तो समन्वित हो जाता है, किन्तु सत्याभिमुख अङ्गिरा के साथ नहीं। अतएव 'भृग्वङ्गिरा' के स्थान में--'अथर्वाङ्गिरा' तो बोला जासकता है, किन्तु--'भृग्वथर्वा' नहीं। तात्पर्य्य यही है कि, केन्द्रस्थ आप्यप्राणरूप अथर्वा का अर्करूप ही 'भृगु' है। अतएव भृगु ने ही तो इस

---

*--एवमेवास्य सर्वं आत्मा समभवत्। तमथर्वाणं ब्रह्मा (स्वयम्भूः--त्रयीमूर्त्तिः) अब्रवीत्-'प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व' इति, तस्मात् प्रजापतिरभवत्-अथर्वा। तत्प्रजापतेः प्रजापतित्त्वम्। अथर्वा वै प्रजापतिः।

—गोपथ पू० १।४।

अथवा को ढूँढ निकाला है अङ्गिरा-प्राणात्मक 'वात' के माध्यम से। अतएव अथर्वोपाधि 'भृगु' को ही प्राप्त होजाती है। और यों अन्नरूप आपोमय पारमेष्ठ्य 'भृग्वङ्गिरादेव' ही 'अथर्वाङ्गिरादेव' बन जाता है। 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेव' के अथर्वाङ्गिरा देव' का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है।

४६५–प्रजापति के 'मेद' से उत्पन्न अथर्वाङ्गिरा, एवं आपोमय परमेष्ठी प्रजापति के पयः-आज्यम्-सोमः-मेदः-नामक तत्त्वों का पारिभाषिक-समन्वय—

प्रजापति के 'मेद' से अभिव्यक्त आपोमयरूप का ही नाम-'अथर्वाङ्गिरस' है। कथमिति चेत्? श्रूयताम्। आपोमय परमेष्ठी ही 'अथर्वा' है 'अर्वाक्' भाव से, जबकि एतदपेक्षया 'प्राणमय स्वयम्भू' को 'पराक्' ही माना जायगा। वह पराक् है, तो (अथ) यह अर्वाक् है। इस 'अथ-अर्वाक्' (तो-अर्वाक्) भाव से ही तो परमेष्ठी प्रजापति 'अथार्वाक्' रूपेण 'अथर्वा' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। यह अर्वाग्रूप उस पराक्-स्वयम्भू की ऋक्सामावच्छिन्ना यजुर्वाक् का ही तो सलिल (द्रुत) रूप है, जिस इस यजुर्वाक् से इस अर्वाग्रूप अथर्वा परमेष्ठी को उत्पन्न कर यह त्रयीमूर्त्ति-पराक्-स्वयम्भू इस अथर्वा-परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठा-रूप से प्रविष्ट हो रहा है। इस स्वयम्भुप्रवेश से यह अथर्वा चतुर्वेदात्मक बन जाता है, जो कि पारमेष्ठ्य चतुर्वेदतत्त्व इस आपोमय परमेष्ठी के क्रमशः पयः (दूध)-आज्यम् (घी)-सोमः, (स्नेह-चिकनाई)-मेदः-(पुष्टिद्रव्य) इन नामों से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठ्य ऋक् ही 'पयः' है, यजु ही 'आज्यम्' है, साम ही सोम है, एवं अथर्वाङ्गिरारूप-'अथर्वा' नामक चतुर्थवेद ही 'मेद' है। यों उस प्रविष्टा त्रयी से, एवं स्व अथर्व से परमेष्ठी प्रजापति चतुर्वेदमूर्त्ति बन रहे हैं। तभी तो 'अथर्वाब्रह्मा' को चतुर्वेदात्मक माना गया है यज्ञकाण्ड में।

४६६–अथर्व-परमेष्ठी की चतुर्वेदता, तथा ज्येष्ठपुत्रता का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में श्रौतसन्दर्भ—

सचमुच यह स्वायम्भुव त्रयीवेद इस अथर्वा में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित होता है। स्वयम्भू ब्रह्मा के प्रथम-पुत्र, अतएव ज्येष्ठपुत्र इस परमेष्ठी अथर्वा में ही त्रयीवेद प्रतिष्ठित होता है सर्वप्रथम, जिसका अथर्वा-परमेष्ठी के माध्यम से ही आगे चलकर सौरमण्डल में गायत्रीमात्रिक-वेदत्रयी के रूप में व्यक्तीभाव हुआ है। अथर्व-परमेष्ठी की इसी चतुर्वेदता का, ब्रह्मा की ज्येष्ठपुत्रता का, एवं इसके त्रयीवेदानुगतत्त्व का निम्नलिखित वचनों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

(१)-१-पय आहुतयो ह वाऽएता देवानां-यदृचः-(ऋग्वेद एव पयः-पारमेष्ठ्यम्)।
२-आज्याहुतयो ह वा ऽएता देवानां-यद्यजूंषि (यजुर्वेद एव आज्यम्),,।
३-सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानां-यत्सामानि (सामवेद एव सोमः),,।
४-मेदाहुतयो ह वा ऽएता देवानां-यदथर्वाङ्गिरसः (अथर्ववेद एव मेदः),,।
इति चतुर्वेदमूर्त्तिः-परमेष्ठी अथर्वा (शत० ११।५।६।४,५,६,७, कण्डिकाएँ)।

(२)—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठां-अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१,२,।

(३)—स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरे ऽस्यमहतो-भूतस्य निःश्वसितमेतत्, यत्—ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्वाङ्गिरसः।
—शत० १४।४।४।१०।

४६७-आपोमय परमेष्ठी की आर्द्रता, तन्मूला आर्द्रेन्धनता, तद्विनिर्गत धूम, एवं धूमभाव का त्रयीवेदत्व-समन्वय—

आर्द्र है आपोमय परमेष्ठी। प्रज्वलित आर्द्र ईंधन है अङ्गिरा। इनसे विनिर्गत धूम ही ऋक्-यजुः-साम अथर्वाङ्गिरा नामक वे निःश्वास हैं उन स्वयम्भू ब्रह्मा के, जो उनके स्वयं के स्वयम्भू-मण्डलात्मक परमाकाश में व्यक्तरूप में परिणित रहते हुए इस आर्द्र-काष्ठाग्निरूप परमेष्ठी में ही अभिव्यक्त हुए हैं। परमेष्ठी ही वह 'महान्भूत' है, जिससे ये वेदनिःश्वास निकलते हैं। महान् है यह परमेष्ठी, अथर्वा है यह परमेष्ठी, जिस इस महान्-भूतरूप अथर्वपरमेष्ठी से ही यह ब्रह्मनिःश्वसिता वेदचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है ×। श्रुति के—'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य०' का 'महान्भूत' यही परमेष्ठी अथर्वा है, जैसा कि—"बुद्धेः' (सूर्य्यात्) आत्मा 'महान्' (परमेष्ठी) परः। महतः 'परमव्यक्तम्' (स्वयम्भूः)' इत्यादि से स्पष्ट है। 'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' श्रुति भी आपोमय परमेष्ठी में हीं तीनों स्वायम्भुव वेदो का विलयन मानती हुई इसे ही चतुर्वेदात्मक प्रमाणित कर रही है। *।

×-एवा 'महान्' बृहद्दिवो अथर्वावोचत् (ऋक् सं० १०।१२०।८।)।

*—प्रचण्ड तेजोमय-भृग्वङ्गिरोमय-सहस्रांशु भगवान् सूर्य्यनारायण की प्राणदपानलक्षणा लौह-अभ्रि-समतुलिता-सुक्ष्मातिसूक्ष्माग्रभागान्विता-ज्योतिर्म्मयी प्राणरश्मियाँ हीं अपने प्राणदपानद्-व्यापार से उस पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र के अन्तस्तल में प्रवेश कर उस पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप वेदसमुद्र में से उसके वेद-तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहीं है। इस सम्बंन्ध से ही तो सूर्य्यनारायण गायत्रीमात्रिक-वेदमूर्त्ति बने हुए हैं-'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'। घन पदार्थों में लौह अभ्रि (कुश) का सरलता से प्रवेश सम्भव है। क्योंकि घनपदार्थ भी घनावयव हैं, तो लौहमयी अभ्रि भी घनावयवा है। घनद्रव्य को कुरेदा जा सकता है घन-अभ्रि से अञ्जसा। किन्तु उस सलिलभावापन्न-तरल-आपोमय समुद्र में अभ्रि के द्वारा अप्-गर्भस्थ तत्त्व को खोज निकालना, कुरेद लेना अत्यन्त ही दुस्तर कर्म्म है। पानी में प्रविष्ट लौहदण्ड किसे कैसे खोजे?, क्या कुरेदे?। किन्तु सौररश्मियाँ ऐसी अभ्रियाँ है, जो अपनी सुसूक्ष्मा प्राणशक्ति से प्राणरूप उस वेदतत्त्व को कुरेद कुरेद कर निकाल ही तो लेती हैं, जो प्राणात्मक वेद पारमेष्ठ्य समुद्र में आपोरूप में परिणित हो कर सर्वथा

४६८-आपोमय परमेष्ठी की पुष्कररूपता, तदनुगत पुरभाव, पुष्करक्षेत्र में विराजमान ब्रह्मा, एवं ब्रह्मा के द्वारा प्रजापालन, तथा 'प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व' श्रुति का समन्वय—

'आपो वै पुष्करम्' । इसलिए आपोमय परमेष्ठी का नाम 'पुष्कर' है कि, इस आपः से ही 'पुर' रूपा 'दिक्' का आविर्भाव होता है, दिक्-सीमा ही 'पुररूप' में परिणित होती है । इस 'पुर-कर' धर्म्म से ही पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व 'पुष्कर' कहलाया है, जिसके गर्भ में चतुर्वेदमूर्त्ति अथर्वा ब्रह्मा प्रतिष्ठित है । क्या कर रहे हैं इस 'पुष्करक्षेत्र' में विराजमान अथर्वा ब्रह्मा ? । वही कर रहे हैं, जो इनके जनक स्वयम्भूप्रजापति ने किया था । 'प्रजा सृष्ट्वा पालयस्व' ही आदेश मिला था इन्हें स्वयम्भूपिता से ।

४६९-भृगुधरातल पर अङ्गिरा का मन्थन, मन्थन से आविर्भूत सौर-सावित्राग्नि, तत्राहुत पारमेष्ठ्य सोम, तद्द्वारा 'यज्ञपथ' का स्वरूप-निर्म्माण, एवं मन्त्र-ब्राह्मणात्मक श्रौत-सन्दर्भ—

इस प्रजासृष्टि के लिए अथर्वा ब्रह्मा अपने भृगुधरातल पर अङ्गिरा का मन्थन करने लग पड़ते हैं । इस अङ्गिरारूप आर्द्र-इन्धन के मन्थन से जो व्यक्तभाव निर्गत होता है, उसी अग्रजन्मा आङ्गिरस-व्यक्तभाव का नाम है-अग्नि, सौराग्नि, जिसमें भार्गव सोम की आहुत करते रहते हैं अथर्वा ब्रह्मा । अग्नि में यों सोम की आहुति होने से इस अग्नीषोमात्मक-'यज्ञपथ' से सर्वप्रथम व्यक्त सूर्य्यनारायण हीं प्रादुर्भूत हो पड़ते हैं । यों अथर्वा के द्वारा ही भृग्वङ्गिरोमयी 'आप' के मन्थन-आहुति-रूप-यज्ञकर्म्म से सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वरूप

अप्राप्त ही बन रहा है स्थूल-माध्यमों से । एवमेव अपने स्थूल-भूत-कर्म्म से, मानसिक-शारीरिक-प्रयासों से कदापि उस वेदतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है । अपितु यह कर्म्म तो सूर्य्यप्रतिमारूपा बुद्धि के सत्त्वानुगत सुतीक्ष्ण-अग्नि-रूप-प्राणदपानलक्षण-महान् तप पर ही अवलम्बित है, जिसके द्वारा ही सत्त्वबुद्धिनिष्ठ देवमानव उन सौर देवप्राणों की भाँति उसे कुरेद निकालने में समर्थ बनते हैं, जहाँ-जिस परमेष्ठी में कि वह सर्वस्वसाधक 'निर्पण' (धरोहररूप वेदतत्त्व) प्रतिष्ठित है पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिराओं के द्वारा । इसी तथ्य का भगवती श्रुतिने इस प्राणवती ओजस्वती-वीर्य्यवती भाषा में पूर्वोक्त अधिदैवत-तत्त्व के साथ अध्यात्मतत्त्व का समन्वय करते हुए यों यशोगान किया है कि—

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि, अपां त्वायने सादयामि, अर्णवे त्वा सदने सादयामि, समुद्रे त्वा सदने सादयामि-इति । मनो वै समुद्रः । मनसा-उ-वै समुद्राद्वाचा देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन् । तदेष श्लोकः-अभ्युक्तः-

ये समुद्रान्निरखनन्-देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो ऽअद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुः ॥

—शतपथब्रा० ७।५।२।४६-५२

निर्म्माण हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इन मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों को। एवं अपनी सुतीक्ष्णा अभि से इनका स्वयं ही समन्वय कीजिए।

(१)-यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥
—ऋक्संहिता १।८३।५।

(२)-त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥
—ऋक्सं० ६।१६।१३।

(३)-अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे॥
—ऋक्सं० १०।२१।५।

(४)-प्राणो वा अथर्वा। प्राणो वा ऽएतमग्रे निरमन्थत्। तत्-योऽसावग्रेऽग्निरसृज्यत-सोऽग्निः। आपो वै पुष्करम्। प्राणोऽथर्वा। प्राणो वा ऽएतमग्रे अद्भ्यो निरमन्थत्-विश्वस्य मूर्ध्नः।
—शत० ६।४।२।१,२ कण्डिका।

४७०—अथर्ववेद, और अथर्व का स्वरूप-परिचय, तन्मूलक अथर्वाङ्गिरा, और भृग्वङ्गिरा, तदनुगत पितरप्राण, एवं पितरप्राणमूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय अथर्वा से चन्द्रमा का आविर्भाव—

वेदत्रयी-गर्भित आपोमय वेदतत्त्व का ही नाम 'अथर्वा' है, यह पूर्वसन्दर्भ से स्पष्ट होजाता है। अग्निवेद ही त्रयीवेद है, सोमवेद ही चतुर्थवेद है। त्रयीवेद 'ऋग्यजुःसाम' है, चतुर्थवेद 'अथर्ववेद' है, तन्मूर्त्ति आपः परमेष्ठी ही अथर्वा है। त्रिवेदगर्भित-चतुर्थवेदमूर्त्ति, अतएव चतुर्वेदमूर्त्ति परमेष्ठी-गर्भस्थ इस प्राणात्मक अथर्वा प्रजापति उक्थ के अर्करूप आपोभाव ही भृग्वङ्गिरा हैं, जिनके अथर्वाङ्गिरा-भृग्वङ्गिरा-दोनो ही विवर्त्त समन्वित हैं। पारमेष्ठ्य अङ्गिरा से समन्वित आङ्गिरस प्राण, एवं पारमेष्ठ्य भृगु से समन्वित अथर्वाणः-भृगुप्राण, दोनो हीं पारमेष्ठ्य 'पितरप्राण' कहलाए हैं, जिन में भार्गव पितर 'अन्नपितर' कहलाए हैं अपने सोमधर्म्म से, एवं आङ्गिरस पितर 'अन्नादपितर' कहलाए हैं अपने अग्निधर्म्म से *। सोमाग्निभाव से सौम्य-आग्नेय-पितरों के प्रवर्त्तक, वायुभाव से गन्धर्वों

* अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥
—ऋक्सं० १०।१४।६।

के प्रवर्त्तक, एव वारुण आपोभाग से असुरों के प्रवर्त्तक, तदित्थं सर्वप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य द्रव अथर्वा से अभिन्न पारमेष्ठ्य 'भृग्वङ्गिरा' का नाम ही है-'अथर्वाङ्गिरा', जिसका दूसरा अवतार होता है- रोदसीत्रिलोकी के अन्तरिक्ष मे चन्द्रमा के रूप मे।

४७१-सौरदेवयज्ञाधिष्ठाता पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा नामक ब्रह्मा, पार्थिवदेवयज्ञाधिष्ठाता चान्द्र अथर्वा नामक ब्रह्मा, एवं 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' इत्यादि यजुःश्रुति का समन्वय—

सौर-देवयज्ञ के ब्रह्मा यदि पारमेष्ठ्य 'अथर्वाङ्गिरारूप अथर्वा' हैं, तो चान्द्र-पार्थिव-भूतयज्ञ के ब्रह्मा केवल चान्द्र 'अथर्वा' हैं। 'ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु' के अनुसार 'चन्द्रमा' ही कृष्ण ब्रह्मा हैं-(चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण -शतपथ०)। और यह चन्द्रमा है केवल अथर्वमूर्त्ति, सोममूर्त्ति। 'अथर्वाङ्गिरा' रूप अथर्वा यदि आपामय पारमेष्ठ्य-सरस्वान्-समुद्र में आपोरूप से परिभ्रममाण है, तो अथर्वारूप यह चन्द्रमा अर्णवसमुद्र में चड्क्रममाण है।

४७२-आधिदैविक-यज्ञाधिष्ठाता चन्द्रमा ब्रह्मा, एवं आध्यात्मिक-यज्ञाधिष्ठाता मनो-ब्रह्मा—

वह यदि स्वायम्भुवी त्रयी से चतुर्वेदात्मक है, तो यह अपने पार्थिव-चान्द्र-ऋतसम्वत्सर के चारों लोकों के चारों वेदों से चतुर्वेदात्मक बन रहा है। वह आपोमूर्त्ति ब्रह्मा है, तो यह भी आपोमूर्त्ति ब्रह्मा ही है, जैसाकि-"चन्द्रमा ह्याप' (तै० ब्रा० १।७।६।३।)-'असौ वै चन्द्र' प्रजापति' (शत० ६।२।२।१६।)- 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा-अधिदैव,-मनोऽध्यात्मम्' (गोपथ० पू० ४।२।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। दोनों में अन्तर केवल 'अङ्गिरा' धर्म्म का है।

४७३-पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा का, तथा चान्द्र अथर्वा का कालाश्रयत्व—

पारमेष्ठ्य अथर्वा जहाँ अङ्गिरा से भी समन्वित है, वहाँ यह चान्द्र अथर्वा अङ्गिरा से पृथक् रहने वाला केवल भार्गव सोमपिण्डात्मक 'अथर्वा' ही है। अतएव उस अथर्वा को जहाँ 'अथर्वाङ्गिरादेव' कहा जायगा, वहाँ इस चान्द्र अथर्वा को 'अथर्वा पितर' ही * माना जायगा। इस केवल सोमरूपता से ही तो चन्द्रमा को 'अन्न' मान लिया है श्रुति ने —। इस एक अन्तर के अतिरिक्त परमेष्ठी अथर्वा, तथा चन्द्रमा अथर्वा, दोनों का स्वरूप सर्वात्मना समतुलित है। तभी तो-'सत्त्वादधि महानात्मा' (सत्त्वान्-मनस - अधि-महानात्मा-परमेष्ठी) कहना अन्वर्थ बनता है। इस एक अन्तर को व्यक्त-सूचित करने के लिए ही ऋषि ने पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप अथर्वा को 'अथर्वाङ्गिरादेव' कहा है, एव केवल चान्द्र-भृगु-अथर्वा को 'अथर्वा' कहा है। ये दोनों ही अथर्वा उस काल मे ही प्रतिष्ठित हैं। 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवो-

*-विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति।

—-एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः।

ऽथर्वाचाधितिष्ठतः'। अर्थात् परमेष्ठी, और चन्द्रमा, दोनों स्वायम्भुव-परमाकाशरूप काल में हीं प्रतिष्ठित हैं।

४७४-अथर्वाङ्गिरा, एवं अथर्वा के आश्रयभूत स्वायम्भुव परमाकाशात्मक अव्यक्त काल के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न—

क्या परमेष्ठी (अथर्वाङ्गिरादेव), एवं चन्द्रमा (अथर्वा), इन दो के अतिरिक्त उस स्वायम्भुव परमाकाशात्मक काल में और कोई दूसरा प्रतिष्ठित नही है ?, प्रश्न का समन्वय कीजिए आप अपनी पारिभाषिकी सत्त्वप्रज्ञा से ही। अष्टम, तथा नवम, इन दोनों कालसूक्तों के द्वारा महर्षि काल, और कालमहिमा, इन दो विवर्त्तों का ही सर्वात्मना स्पष्टीकरण कर रहे हैं। दश-मन्त्रात्मक अष्टम-कालसूक्त से ऋषि ने 'काल' की स्वरूप-व्याख्या उपस्थित की। एवं प्रक्रान्त-नवम सूक्त के आरम्भ के चार मन्त्रों से क्रमशः स्वायम्भुव-कालमहिमा (तदनुगत पारमेष्ठ्यकालमहिमा)-सौरसम्वत्सरकालमहिमा-पार्थिवसम्वत्सरकालमहिमा-चान्द्रसम्वत्सरकालमहिमा-इन चार कालमहिमाओं का स्वरूप-निरूपित हुआ। और यों अष्टम सूक्त के-'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि प्रथम (१) मन्त्र से आरम्भ कर नवमसूक्त के-'कालो यज्ञं-समैरयत्०' इत्यादि चतुर्थ (४) मन्त्रपर्य्यन्त-१४ मन्त्रों से महर्षि के द्वारा काल, और कालमहिमा का अथ से इति पर्य्यन्त जब निरूपण हो चुका, तो अब वह कौनसी समस्या शेष रह गई काल के काल, और कालिक-भावों के सम्बन्ध में, जिस के लिए ऋषिदृष्टि में-'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः०' इत्यादि रूप से एक अपूर्व मन्त्र का दर्शन करना आवश्यक बना ?, इस प्रश्न का जो समाधान है, वही समाधान तथाकथित उस प्रश्न का है कि-"क्या काल में पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव के, तथा चान्द्र अथर्वा के अतिरिक्त और कोई अधिष्ठित प्रतिष्ठित नहीं है ?"।

४७५-यज्ञसृष्टि-लोकसृष्टि-प्रजासृष्टि-मैथुनीसृष्टि-आदि सृष्टियों के उपक्रम-स्थानीय पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव, एवं उपसंहार-स्थानीय चान्द्र अथर्वा—

आरम्भ में हीं निवेदन किया जा चुका है कि, यह पन्द्रहवाँ (किंवा सूक्तानुसार पाचवाँ) मन्त्र समष्टि-रूप से सिंहावलोकन-दृष्ट्या काल, और कालमहिमा, दोनों विवर्त्तों का अथ से इति पर्य्यन्त दिग्दर्शन करा रहा है। विश्वानुबन्धी योगमायावच्छिन्न काल का स्वरूप है-'स्वयम्भूरूप परमाकाशकाल'। इस काल से अभिव्यक्त काल के जितने भीं महिमामय कालिक विवर्त्त हैं, सब का आदिभूत विवर्त्त परमेष्ठी है, एवं अन्तभूत विवर्त्त चन्द्रमा है। मैथुनीसृष्टि का नाम, अग्नीषोमात्मिका यज्ञसृष्टि का नाम ही लोकसृष्टि, है, जिस 'लोक-सृष्टि' में लोक, और लोकी प्रजावर्ग-दोनों समन्वित हैं *। यही स्वयम्भूकाल की कालमहिमारूपा कालिक-सृष्टि है। इस कालिकसृष्टि-मैथुनीसृष्टि-यज्ञसृष्टि-लोकसृष्टि-प्रजासृष्टि-का उपक्रमस्थान (आदिस्थान) है परमेष्ठीरूप अथर्वाङ्गिरादेव, एवं उपसंहारस्थान (अन्तिम-निधन स्थान) है चन्द्रमारूप अथर्वा। उप-

---

*-'लोकस्तु भुवने-जने'-के अनुसार लोकशब्द भुवनात्मक 'लोक', तथा 'जन' ('प्रजा')-दोनों का संग्राहक है।

क्रमोपसहार-स्थानीय इन परमेष्ठी-चन्द्रमा-रूप दोनों अथर्वाग्रों के सग्रह से सम्पूर्ण कालिकसृष्टि सगृहीत हो जाती है। यों 'काले' इस सप्तम्यन्त पद से जहाँ कालस्वरूप सगृहीत हो जाता है, वहाँ '-अथर्वाङ्गिरादेवः-अथर्वा चाधितिष्ठत' इस वाक्य में सम्पूर्ण कालमहिमा परिगृहीत हो रही है। इसी समष्ट्यात्मक-काल, तथा कालमहिमा को लक्ष्य बनाते हुए ऋषिने कहा है—

"कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः, अथर्वा चाधिष्ठत." ।

४७६-प्राजापत्या वल्शा की अमृत-मृत्यु-लोकता का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन अमृतमूर्त्ति अविपरिणामी अक्षर, मृत्युमूर्त्ति परिणामी क्षर, एवं तन्मूलक-'इमं च लोकं, परमं च लोकम्' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब दो शब्दों में मन्त्र के उत्तरभाग का भी समन्वय कर लीजिए, जो पूर्वभाग का ही स्पष्टीकरण है। पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा-से कृतरूप-सम्पन्न-निष्पन्न इस महाविश्व को हम मृत्युलोक, अमृतलोक-इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। जिस लोक में परिवर्त्तनशील-भूतयोनि-विपरिणामी-विश्व सन-विशकलनशील 'क्षर' की प्रधानता रहेगी, उसे ही 'मृत्युलोक' कहा जायगा। एव जिस लोक में अपरि-वर्त्तनीय-भूतभावन-अविपरिणामी-विश्व सनाधारभूत-'अक्षर' की प्रधानता रहेगी, उसे ही 'अमृत-लोक' माना जायगा। क्षरानुगत भूतप्रधान लोक ही मृत्युलोक होगा, एव अक्षरानुगत प्राणप्रधान लोक ही अमृतलोक होगा। चान्द्र प्राणी जहाँ भूतलोकात्मक मृत्युलोक-चक्र में चङ्क्रमण करता रहेगा, वहाँ प्राणवान्-प्राणरूप सौर मानव प्राणलोकात्मक अमृतलोक का अधिकारी बना रहेगा। क्षरात्मक भूत जहाँ अपनी धाम-च्छदा मूर्त्या-दृश्या-मर्य्यादा से अङ्गुलि-निर्देश का लक्ष्य बनता हुआ-'इमम्' लोक कहलाएगा, वहाँ अक्षरप्राण अपनी अधामच्छदता से अनिरुक्त 'परमम्' लोक कहलाएगा। सहजभाषा-में क्षरलोक ही 'इम-लोकम्' माना जायगा, एव अक्षरलोक ही 'परमलोक' कहा जायगा। अतएव अक्षर का पारिभाषिक नाम व्यवहारभाषा में-'परमब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो गया है * । अतएव तत्प्रधान अमृतलोक को अवश्य ही 'परमलोक' ('अक्षरलोक') कहा जा सकता है

४७७-महदक्षरब्रह्म का संस्मरण, तद्रूप 'बृहद्दिव' महान् अथर्वा, एवं 'एप वै मृत्यु-र्यत्सम्वत्सरः' श्रुति का समन्वय—

पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरदेव का ही आध्यात्मिक नाम है 'महानात्मा', जिस में चिदात्मपुरुष लक्षण अव्ययात्मा चिदंशरूप (जीवरूप) से अभिव्यक्त हुआ करते हैं। भूत, तथा भविष्यत्-के अधिष्ठाता इस महा-नात्मा का नाम ही है-'महदक्षरब्रह्म',जैसाकि-'भूत भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' इत्यादि रूप से पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। इसप्रकार महदक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरदेव ही 'महान-देव' प्रमाणित हो रहे हैं अपने इस महदक्षरधर्म्म से, जैसा कि-'एत्रा महान् बृहद्दिवो अथर्वा' (ऋक्स०-

---

*-अक्षरं ब्रह्म परमम्। (गीता)

१०।१२०।६।) इत्यादि से भी स्पष्ट है । इसी परम-अक्षर-भाव से अथर्वाङ्गिरादेव परमलोकात्मक-अमृत-लोक प्रमाणित हो रहे हैं । ठीक इस के विपरीत इसी अथर्वाङ्गिरा के केवल अथर्वाभृगु के प्रवर्ग्यभूत अथर्वा चन्द्रमा अपनी क्षरप्रधानता से मृत्युधर्म्मा प्रमाणित हो रहे हैं । अतएव क्षरप्रधान चान्द्रसम्वत्सर के अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा नामक चारो ही सौम्य-लोकविवर्त्त 'मृत्यु' कहलाए हैं, जैसा कि–'अथैत एव मृत्यवो-यदग्निर्वायु-रादित्यश्चन्द्रमाः । ते ह पुरुषं जायमानमेव मृत्युपाशैरभिदधति' (जै० उप० ४।६।)–'एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः-चान्द्रः' (शत० १०।४।३।१।) इत्यादि से स्पष्ट है।

४७८–अपुनर्म्मार-कामप्र- अशोकमहिम–नामक लोकों का संस्मरण, एवं-अमृत–मृत्यु-लोकों का स्वरूप-समन्वय—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, पञ्चपर्वा विश्व में 'स्वयम्भू' तथा 'परमेष्ठी', इन दो लोकों का एक अमृत-लोक विभाग है, जो कि वैदिक परिभाषा में–'अपुनर्मार' लोक कहलाया है, जिस का परमेष्ठी-विवर्त्त 'काम-प्रलोक' कहलाया है, एवं स्वयम्भू विवर्त्त 'अशोकमहिम' कहलाया है * । इस ओर के चन्द्रमा, तथा भूपिण्ड, इन दो लोकों का एक मृत्युलोक–विभाग है । द्विपर्वात्मक, किंवा द्विलोकात्मक अमृतलोक विश्वम-ध्यस्थ सूर्य्य से परस्तात् (ऊपर) है, एवं द्विपर्व–द्विलोकात्मक मृत्युलोक सूर्य्य से अवस्तात् (नीचे) है । स्वयं सूर्य्य अपने अक्षरात्मक अमृतप्राणधर्म्म से परस्तात् बनता हुआ अमृतलोक है, तो यही अपने क्षरात्मक मर्त्य-क्षरधर्म्म से अवस्तात् बनता हुआ मृत्युलोक भी है । उस ओर की अमृतलोकद्वयी का, तथा इस ओर की मृत्युलोकद्वयी का अपनी मध्यस्थिति से नियमन रखता हुआ मध्यस्थ सूर्य्य अमृत भी है, मृत्यु भी है, जैसा कि–'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से प्रमाणित है ।

४७९–अमृता लोकत्रयी, और मर्त्या लोकत्रयी, एवं-' इमं च लोकं–परमं च लोकम्' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्त्विक–समन्वय—

अमृत सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्यभूत सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड तीनों मर्त्यलोक हैं, जैसा कि–'तद्यत्–किञ्चार्वाचीनमादित्यात् (अमृतसूर्य्यात्)–सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' इत्यादि से स्पष्ट है। एवं इस मृत्युसंस्थान से ऊपर के अमृतसूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू-इन तीनो की समष्टि ही 'अमृतलोक' है । यो अमृत–मृत्यु–नामक इम–परमं–रूप दो लोको के तीन तीन अवान्तर लोक बन रहे हैं । अमृता-लोकत्रयी का प्रधान–मध्यस्थ भाव मध्यस्थ परमेष्ठीरूप अथर्वाङ्गिरादेव है, तो मर्त्या लोकत्रयी का प्रधान–मध्यस्थ–भाव मध्यस्थ चन्द्रमारूप अथर्वा है । यो अपनी मध्यस्थता से दोनो अथर्वातत्त्व अमृतलोकत्रयीरूप 'परमलोक' तथा मर्त्यलोकत्रयीरूप 'इमंलोक' के संग्राहक बन रहे हैं । जिसप्रकार अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा काल में प्रतिष्ठित हैं, तथैव इन दोनो के द्वारा परिगृहीत अमृत–मर्त्यलोक भी काल में ही प्रतिष्ठित हैं इन दोनो मध्यस्थो के माध्यम से । 'इमं च लोकं,-परमं च लोकम' इस मन्त्रभाग का यही अक्षरार्थ-समन्वय है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

---

*–यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः-पदास्पदम् ॥ (स्वयम्भूः) ।
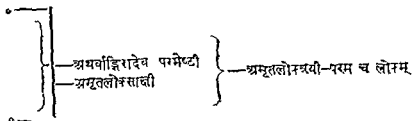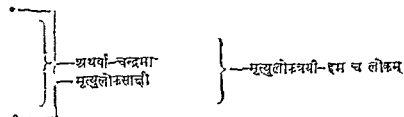
४८०–कालमहिमा से समन्वित काल-दिक्-देश-प्रदेश-भावों का संस्मरण, एवं कालानुबन्धिनी लोक-लोकी-लोकव्यवधान-त्रयी का दिग्दर्शन—

दिक्-देश-प्रदेशात्मक भूत-भौतिक- विवर्त्तों का नाम ही है कालमहिमा। काल की अभिव्यक्ति दिग्रूप में, दिक् की अभिव्यक्ति देशरूप में, एव देश की अभिव्यक्ति प्रदेशरूप में हुआ करती है। और यों काल ही इन तीनों कालिक भावों में परिणत हो जाता है। कालिक दिग्भाव, तदनुगत देशभाव, एव तदनुगत प्रदेशभाव, ये तीन विवर्त हो जाते हैं कालमहिमा के, जो क्रमश लोक, लोकी, लोकव्यवधान- इन तीन भावों से अनुप्राणित माने जासकते हैं। तीनों ही लोक हैं, तीनों ही लोकी हैं, तीनों ही लोकव्यवधान हैं। अतएव लोक शब्द तीनों विवर्तों का सग्राहक बन रहा है। भुवनात्मक लोक दिग्रूप है, प्रजात्मक लोक देशरूप हैं, एव व्यवधानात्मक लोक प्रदेशरूप हैं। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव समझने जैसी है।

४८१–दिगनुगत छन्द, देशानुगत देवता, प्रदेशानुगत पशु-भावों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं-'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' इत्यादि श्रुति का संस्मरण—

दिक्-देश-प्रदेश, इन तीन कालविवर्त्तों से क्रमश छन्द, देवता, पशु–इन तीन भावों का उद्गम होता है। सीमाभाव का नाम ही छन्द है। सीमित उस तत्त्व का नाम ही देवता है, जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप सुरक्षित रहता है। एव सीमित (छन्दित) वस्तुभाव का वह भाग ही पशु है, जो पदार्थों से निकसत-विशकलित होता रहता है, जिस विशकलन से वस्तुस्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। छन्दोमय दिग्भाव ही उस पदार्थ का लोक, किंवा 'पुर' है, जिसमें वह पदार्थ प्रतिष्ठित रहता है। एव यह छन्दोमहिमारूपा 'दिक्'

महिमा उस पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव की ही महिमा है। पारमेष्ठ्य आपोमय अथर्वा, किंवा अथर्वारूप आपः ही अपने 'पुष्कर' रूप 'पुष्कर' भाव से छन्दोरूप 'दिक्' भाव का प्रवर्त्तक बनता है, जैसा कि 'छन्दांसि वै दिशः' (शत० ८।३।१।१२)–'रसो वै छन्दांसि' (शत० ७।३।१।३।७) 'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' (तै० ब्रा० ३।२।६।३)–इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौः–दिशः के 'दिशः' का अर्थ 'आपः' ही है, एवं यही छन्दोमय पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव हैं। इस छन्दोमय–आपोमय–दिङ्मय–पुरभाव का नाम हीं 'लोक' रूप लोक है, जिसे 'भुवनानि' कहा गया है। सम्पूर्ण लोक-(भुवन) आपोमय ही हैं, छन्दोमय ही हैं, दिङ्मय ही हैं, पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरामय ही हैं।

४८२–लोकछन्दों में प्रतिष्ठित लोकीरूप 'जन' शब्द की स्वरूप–परिभाषा—

तथाविध लोकरूप छन्दोरूप दिग्भाव से छन्दित सीमित अभिव्यक्त वस्तुभाव ही 'देशभाव' है, मूर्त्तभाव है। यह व्यक्त मूर्त्त–भाव व्यक्त–मूर्त्त–सूर्य्यनारायण पर ही अवलम्बित है। लोक में प्रतिष्ठित देश ही लोकी प्रजा है, जिसे 'जन' कहा गया है, सन्तति माना गया है प्रजापति की–(प्रजा स्यात् सन्ततौ जने)। 'नूनं जनाः-सूर्य्येण प्रसूताः-अयन्नर्थः कृण्वन्नपांसि' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार सूर्य्य के द्वारा ही आपो धरातल पर जनरूपा प्रजासृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है, जिस प्रजासृष्टि के अनेक वर्गभेद हैं। देशात्मक यह प्रजासर्ग ही जनरूप लोक है, जो भुवनरूप लोकों में प्रतिष्ठित है। अतएव भुवन, और भुवन–प्रतिष्ठ जन, दोनों के साथ 'लोक' शब्द का सम्बन्ध हो गया है, जैसा कि–'लोकस्तु भुवने जने' इत्यादि से स्पष्ट है।

४८३–प्रदेशानुगत-'यदपश्यत्' लक्षण 'पशु' शब्द की स्वरूप-परिभाषा—

भुवनात्मक लोक ही 'दिक्' है, इसका मूल आपोमय परमेष्ठी है। जनात्मक लोक ही 'देश' है, इसका मूल वाङ्मय सूर्य्य है। और अब शेष रह जाता है पशुरूप प्रदेशभाव। प्रजात्मक जड़–चेतन–पदार्थों में जो एकप्रकार का व्यवधान–पार्थक्य–विभेद–प्रतीत होता रहता है, उसीका नाम है 'प्रदेश'। प्रदेश ही पदार्थों के पार्थक्य की मूलप्रतिष्ठा बना रहता है। पदार्थों से विस्रस्त–विशकलित होने वाला प्रवर्ग्य भाग ही पदार्थों के परिवर्त्तनभावों का बीज है। यह प्रवर्ग्यात्मक परिवर्त्तन हीं पदार्थों का वह पशु भाग है, जो प्रदेशरूप से हमारी दृष्टि का विषय बना करता है। इस 'अपश्यत्' धर्म्म से ही परिवर्त्तन-शील-प्रदेशात्मक-इस पशु को-'पशु' कहा गया है–(यदपश्यत, तस्मात् पशुः-शत० ६।१ २।१)। प्रदेश–प्रवर्ग्य–परिवर्त्तन–पशु–आदि अंशतः समानार्थक शब्द हैं।

४८४–चन्द्रमानुगत 'पशुभाव', तन्मूलक प्रदेशात्मक प्रान्तभाव, एवं तन्मूला प्रदेशात्मिका प्रान्तीयता —

यह पशुभाव 'चन्द्रमा' से ही सम्बन्ध रखता है। अध्यात्म में भी सौरी बुद्धि जहाँ देशात्मक पदार्थ को पकड़ती है, वहाँ चान्द्र मन प्रदेश का ही संग्राहक बनता है। देशभाव अनन्त है, प्रदेशभाव सादिसान्त है, जिसे व्यवहारभाषा में 'प्रान्त' कहा गया है। देश राष्ट्र है, विश्व है। प्रदेश अवयव है देश के, राष्ट्र के, विश्व के। मानवीया बुद्धि जहाँ विश्वानुबन्धिनी राष्ट्रीयता का अनुगमन करती है, वहाँ मानवीय मन देशावयभूत

प्रान्त का ही अनुगामी बना रहता है, जिसे व्यवहारभाषा में 'प्रान्तीयता' कहा गया है। देशस्वरूपसम्ग्राहिका प्रान्तीयता जहाँ समादरणीया है, वहाँ देशस्वरूपविघातिका प्रान्तीयता सर्वथैव त्याज्या है। तथैव प्रान्तीयता की उपेक्षा करने वाली राष्ट्रीयता का भी कोई अर्थ नहीं है। सर्वथा देश, और प्रदेश, बुद्धि, और मन, इन दोनों का महानरूप दिग्धरातल पर सामञ्जस्य रखने से ही मानव का कालात्मक प्राकृत स्वरूप सुव्यवस्थित रह सकता है।

४८५-पशुभाव के माध्यम से प्रजा के पार्थक्यबोध का समन्वय—

वक्तव्यांश केवल यही है कि, प्रदेशात्मक भाव ही पदार्थ का पशुभाव है। एवं चन्द्रमा ही इसकी आधारभूमि है। इसप्रकार आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, ये तीन विश्वपर्व क्रमशः दिक्-देश-प्रदेश-रूप छन्द-देवता-पशु-इन तीन कालमहिमाओं के प्रवर्त्तक बने रहते हैं। दिग्भाव ही लोक है, देशभाव ही समाहिमा प्रजा है, पशुभाव ही इनका पार्थक्यबोध है। दिग्रूप लोक है, देशरूपा-प्रजा 'पुण्यलोका' है, प्रदेशरूप पार्थक्यबोध ही विधृति है। इन तीनों का ही मन्त्रोद्धरार्द्ध में संग्रह हुआ है।

४८६-इमं परमं लोक-पुण्यलोक, पुण्या विधृति, त्रयी का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्माध्यम से सम्पूर्ण कालिक-विवर्त्त का संग्रह—

'सर्वे देवा पुण्या' (शत० ४।५।४।१)-'पुण्य पुण्येन कर्म्मणा' (शत० १३।५।४।३) इत्यादि वचन प्रजारूप जन को ही 'पुण्यलोक' बतला रहे हैं। व्यवच्छेदात्मक उस प्रदेश का ही नाम विधृति है, जो पदार्थों को परस्पर विभिन्न करती है, विभिन्नरूपेण प्रतीत कराती है (देखिए-शत० १०।५।२।६)। लोक, लोकी, और लोक-लोकी का व्यवधान, एवं लोकियों का पारस्परिक प्रदेशात्मक व्यवधान, तीनों के लिए ही यहाँ क्रमशः इमं[1] च लोकं परमं च लोकं-पुण्यांश्च[2] लोकान्, विधृतीश्च[3] पुण्याः' ये तीन वाक्य प्रयुक्त हुए हैं, जिन तीनों से क्रमशः पारमेष्ठ्य दिग्भाव[1], सौर देशभाव[2], एवं चान्द्र प्रदेशभाव[3], ये तीन छन्द-देव पशु[3]-नामक कालमहिमाविवर्त्त ही परिगृहीत हैं। नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति। इन तीन विवर्त्तों में सम्पूर्ण कालिकभाव अथ से इति पर्य्यन्त समाविष्ट हैं। इन्हीं तीनों का संग्रह करते हुए ऋषिने कहा है—

(१)-इमं च लोकं, परमं च लोकम्—पारमेष्ठ्य-दिग्भाव	(छन्दांसि)	—लोकः
(२)-पुण्यांश्च लोकान्————सौरदेशभावान्	(देवा)	—प्रजाः
(३)-विधृतीश्च पुण्या————चान्द्रप्रदेशभावान्	(पशव)	—व्यक्तित्वाभिव्यक्तिः

४८७-पञ्चम [१५] मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

लोकात्मक (दिगात्मक) लोकों का, प्रजात्मक (देशात्मक) लोकों को, एवं अभिव्यक्तिभावात्मक लोकों-प्रदेशों को, इन सब लोकभावों को, दिग्देशप्रदेश-विवर्त्तों को परमाकाशात्मक, ब्रह्मनि श्वसितवेदमूर्त्ति

अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म के द्वारा अपने अधिकार में (स्वायम्भुवी परमाकाशसीमा में) प्रतिष्ठित कर वह महद्-क्षरमूर्त्ति, अतएव 'परमदेव' (अक्षरदेव) नाम से प्रसिद्ध कालपुरुष ही अनाद्यनन्तरूप से अलातचक्रवत्-अनेजत्-अविकम्पित-रूप से ही एजत्-गतिशील बन रहा है, जिस इस महान् कालचक्र से कोई भी कालिक-पदार्थ पृथक् नहीं है। इसी माङ्गलिक संस्मरण के साथ अष्टम सूक्त के-'कालः स ईयते प्रथमो नु देवः' इस अन्तिम मन्त्र के द्वारा महर्षि सूक्त को विश्रान्त कर रहे हैं। और इस महामाङ्गलिकी विश्रान्ति का संस्मरण करते हुए ही हम इसी प्रसङ्ग से भारतराष्ट्र की वैदिकसंस्कृति के व्यक्त-मूर्त्त-स्वरूप-इतिहासपुराणशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित कालमहिमा का भी यशोगान कर लेते हैं, जिसका प्रत्येक अक्षर श्रौत-कालस्वरूप से सर्वात्मना समतुलित है।

° सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स इयते परमो नु देवः

इति-पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयः—

५

———*———

पञ्च-मन्त्रात्मक-अथर्ववेदीय-नवमसूक्त-अत्र-उपरत

———*———

४८८-इदमत्र माङ्गलिकसंस्मरणं-आर्य्यसर्वस्वानुगतम्—
(पुराण-स्मृति-इतिहासानुगत-श्रुत्यार्थानुसारी-कालस्वरूपेतिवृत्त-समन्वय)

१—परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज !
अव्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे, कालस्तथा परम् ॥

—विष्णुपुराणे १।२।१।

२—कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च ।
वर्त्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम् ॥

३—कालः कलयते लोकं, कालः कलयते जगत् ।
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥

४—कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षि-सिद्ध-किन्नराः ।
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः ॥

५—सर्ग पालन-महर्त्ता स कालः सर्वत मम ।
कालेन कल्यते विश्व तेन कालोऽभिधीयते ॥

६—येनोत्पत्तिश्च जायेत, येन वै कल्यते कला ।
सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारक ॥

७—य कर्म्माणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्त्तमानके ।
सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेय काल स्यात् प्रतिपालक ॥

८—येन मृत्युवश याति कृतं येन लयं व्रजेत् ।
महर्त्ता सोऽपि विज्ञेय काल स्यात्कलनापरः ॥

९—काल सृजति भूतानि, काल सहरते प्रजा ।
काल स्वपिति, जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रम ॥

१०—काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुरपन्नगा ।
नरेन्द्रा॰, सर्वजीवाश्च, काले सर्व्वं विनश्यति ॥

११—त्रिकालात्परतो ज्ञेय आगन्तुर्गतचेष्टकः ।
तथा वर्षाहिमोष्णाख्यास्त्रय काला इमे मता ॥

१२—तथा त्रयोऽन्ये ऽपि ज्ञेया उद्यन्-मध्या-स्तरूपिणः ।
सूक्ष्मोऽपि सर्वग स वै व्यक्ताद्व्यक्ततर शुभ ॥

—हारीत

१३—अनादिनिधन कालो रुद्र सङ्कर्षण स्मृत ।
कलनात्सर्वभूताना स काल परिकीर्त्तित ॥

—तिथ्यादितत्त्वम्

१४—गन्ता गतिमता काल, काल कलयति प्रजा ।
कालेनाभ्याहता सर्वे कालो हि बलवत्तर ॥

१५—कालः कर्त्ता विकर्त्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
कालो न परिहार्य्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रम ॥

१६—अहोरात्राश्च मासाश्च क्षणान् काष्ठालवान् कला. ।
सम्पीडयति य कालो वृद्धि वार्धुपिको यथा ॥

१७—इदमद्य करिष्यामि, श्वः कर्त्तास्मीति वादिनम् ।
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ॥

१८—इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः, कथं मृतः ।
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ॥

१९—नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्य्यमेव च ।
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ॥

२०—उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ।
जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुविः ॥

२१—सर्वे कालात्मकाः, सर्वं कालात्मकं जगत् ।
प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः ॥

२२—तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः ॥

२३—अग्निः खं पृथिवी पर्जन्यो वसवो दितिः ।
सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नगौ ॥
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ।

२४—कालः सर्वं समादत्ते, कालः सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र ! पौरुषम् ॥

२५—न तु विक्रमकालोऽयं, शान्तिकालोऽयमागतः ।
कालः स्थापयते सर्वं, कालः पचति वै तथा ॥

२६—नाहं कर्त्ता, न चैव त्वं, नान्यः कर्त्ता शचीपते !
पर्य्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र ! यदृच्छया ॥

२७—मास-मासार्द्धवश्मान-महोरात्राणि संवृतम् ।
ऋतुद्वारं वायुमुखं—आयुर्वेदविदो जनाः ॥

२८—आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया ।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्य्येष्यामि च पञ्चधा ॥

२६—गभीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णव यथा ।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥

३०—सत्त्वे पुल्लिङ्गमाविश्य निर्लिङ्गमपि तत्स्वयम् ।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥

३१—भूताना तु विपर्य्यासं कुरुते भगवानिति ।
न ह्येतावद् भवेद गम्य न यस्मात् प्रभवेत्पुनः ॥

३२—गतिं हि सर्वभूताना-मगत्वा क्व गमिष्यति ।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥

३३—तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानु पश्यन्ति पञ्चधा ।
आहुश्चैनं केचिदग्नि केचिदाहु प्रजापतिम् ॥

३४—ऋतून्-मासार्द्धमासांश्च-दिवसांश्च क्षणांस्तथा ।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरं ॥

३५—मुहूर्त्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा ।
न कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥

—महाभारते

तस्मात्—"कालः स इयते परमो नु देवः"

अथर्ववेदीय–कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मक
द्वितीय–प्रकरण–उपरत

२

श्रीः

इति-दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
'अथर्ववेदीय-कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वय' नामकं
द्वितीयप्रकरणं-उपरतम्

२

श्रीः

अथ–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
(दिक्–देश–काला–नुबन्धी)
'आचारप्रकरण'–नामकं
तृतीयप्रकरणम्
३

श्री:

दिग्देशकालानुबन्धी-आचारात्मक तृतीय-प्रकरण

ॐ

१- मूलकालात्मक-प्रथमदेवात्मक-परमदेवरूप-'अक्षरकाल' का संस्मरण, तदनुबन्धी व्यक्त-'क्षरकाल', तन्निबन्धना दिग्देशकालत्रयी, एवं परावरकाल, तथा अवर-कालात्मक कालभावों के सम्बन्ध में उपनिषच्छ्रुति—

कालस्वरूप-निरूपक दश मन्त्रात्मक अष्टम सूक्त, तथा कालमहिमा-निरूपक पञ्च मन्त्रात्मक नवम सूक्त, इन दो अथर्ववेदीय सूक्तों के माध्यम से काल, और कालमहिमारूप दिग्-देश-प्रदेश-भावों का पूर्व में जो यशो-वर्णन हुआ है, उस के आधार पर अत्र हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि,—गतिधर्म्मा प्राणमूर्त्ति वह 'अक्षर' ही मूलकाल है, जो अपनी पारिभाषिकी अभिधा से 'परमदेव' कहलाया है। तत्त्वज्ञ विद्वानों को यह विदित ही है कि, व्यक्त, तथा अव्यक्त से अतीत, कालातीत अव्यय के लिए 'पर' शब्द नियत *

---

* (१)-परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
—गीता ८।२०।

(२)-त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः 'परमव्ययम्' ॥
—गीता ७।१३।

(३)-स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्
—गीता ८।१०।

(४)-पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
—गीता ८।२२।

(५)-'परं' भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।
—गीता ७।२४ इत्यादि

है, अव्यक्त अक्षर के लिए 'परम' शब्द नियत — है। एवं व्यक्त क्षर के लिए 'अवर' शब्द नियत × है। इसी दृष्टि से अक्षरतत्त्व 'परावर' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। 'पर' नामक अव्यय की अपेक्षा 'अवर', तथा 'अवर' नामक क्षर की अपेक्षा 'पर' बने रहने वाले मध्यस्थ अक्षर को 'परावर' कहना सर्वथा ही अन्वर्थ प्रमाणित है। एवमेव इस परावर, परम अक्षर से समुद्भूत 'अवर' नामक क्षर का एक पारिभाषिक नाम 'ब्रह्म' भी है, जैसा कि–'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता) इत्यादि से स्पष्ट है। मध्यस्थ 'परावर' नामक परम अक्षर क्योंकि ऊर्ध्वस्थित–परागवस्थित उस 'पर' अव्ययधर्म्म से भी समन्वित है। अतएव प्रणवमूर्त्ति यह त्रिमूर्त्ति मध्यस्थ अक्षर 'पर' भी है, 'ब्रह्म' भी है। अर्थात् मध्यस्थ परावर अक्षर के ग्रहण से पर अव्यय, तथा क्षरब्रह्म, इन दोनों का भी ग्रहण हो जाता है। इसी पारिभाषिक तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

> एतद्ध्येवाक्षरं–'ब्रह्म'–(क्षरधर्म्मान्वितमिति यावत्)।
> एतद्ध्येवाक्षरं–'परम्'- (अव्ययधर्म्मान्वितमिति यावत्)।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत् ॥
>
> —कठोपनिषत् १।२।१६।
>
> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

२–'सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा, कालः स ईयते परमो नु देवः' इत्यादि अथर्ववेदीया कालमहिमा का सिंहावलोकन—

अव्ययपुरुष की पराप्रकृति ही परावर अक्षर की स्वरूप–व्याख्या है। एवं पराप्रकृतिरूप यह गतिशील, 'गतिबल' रूप अक्षर ही 'काल' की स्वरूप–व्याख्या है। इस की प्राणात्मिका गति–निरपेक्षा चलागति के सम्बन्ध से ही इस के लिए 'ईयते' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। एवं इस की अक्षररूपा प्रधानता से ही इसे 'परमदेव' कहा है। अपने 'पर' अनुगत अव्ययधर्म्म से परकाल (अव्ययकाल) बनता हुआ, अपने 'अवर' अनुगत क्षरधर्म्म से अवरकाल (क्षरकाल) बनता हुआ परावरकालात्मक यह 'परमकाल' ही (त्रिमूर्त्ति अक्षरकाल ही)

— (१)-अक्षरं ब्रह्म परमम्।
—गीता ८।३।

(२)-त्वमक्षरं 'परमं' वेदितव्यम्।
—गीता ११।१८।

× (१)-अवरो वै किल मेतिहोवाच प्रतर्दनः
—कौ० उप.३।१।

(२)-आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।
—श्वेता० उप० ५।८।

अपने गतिधर्म्म से कालमहिमारूपेण दिक्–देश–प्रदेश–भावों में परिणत होता हुआ सब का विजेता प्रमाणित हो रहा है। काल के इस दिक्–देश–प्रदेश–कालात्मक–सर्वरूपत्व का सर्वान्त में दिग्दर्शन कराते हुए ही ऋषि ने इन शब्दों में 'कालविवर्त्त' को उपसंहृत किया है दोनों कालसूक्तों के अन्त में कि—

'सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा–कालः स ईयते परमो नु देवः'

तदिदं कालसूक्तस्य सिंहावलोकनमेव।

३–कालधर्म्मों से सर्वथैव असंस्पृष्ट, कालातीत अव्ययब्रह्म से समतुलित, अव्ययनिष्ठ कालातीत मानव, एवं तदभिन्न शाश्वतब्रह्मरूप 'मनु' तत्त्व, तथा तदेकांश में चतुष्पर्वा काल का अवस्थान—

उक्त सिंहावलोकन–दृष्टिमाध्यम से अब हमें तालिकारूपेण उस अनुगमवचन का भी समन्वय कर लेना चाहिए, जिस–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम के अनुसार उक्त 'परमकालदेव' चार भावों में विभक्त हो कर 'सर्वम्' बन रहा है। परमकालात्मक इस अक्षरकाल के लक्षीभूत चारों विवर्त्तों के समन्वय से पहिले निष्ठानुगत आत्मसंवित्पूर्वक इस प्रत्यय को दृढमूल बन लेना चाहिए कि, "अपराप्रकृतिरूप क्षर, तथा पराप्रकृतिरूप अक्षर से परे अवस्थित 'पर' नामक विशुद्ध–निष्कल–निर्द्वन्द्व–निर्गुण–लोकातीत, अतएव कालातीत निष्कैवल्य अव्यय का इस कालविवर्त्तचतुष्टयी से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अपने रूप से विशुद्ध कालातीत ही है। अतएव अक्षरानुगत कर्तृत्वधर्म्म से, तथा क्षरानुगत लोकासञ्जनधर्म्म से वह कालातीत अव्यय सर्वथैव असंस्पृष्ट है *। क्षराक्षररूपा काल–सीमाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट वह उत्तमपुरुषात्मक 'पुरुषाव्यय' कालातीत बनता हुआ सर्वातीत ही है ÷। और कालातीत इसी पुरुषोत्तम अव्ययात्मा का नाम है कालातीत मानव। वही 'अहं' तत्त्व है, वही अव्ययात्मस्वरूप शाश्वतब्रह्म है, और वही है वह 'मनुः', जो क्षर–अक्षरानुगता खण्ड–प्रलय–महाप्रलयादि धाराओं के अभिव्यक्त हो जाने पर ज्यों का त्यों अक्षुण्ण ही बना रहता है। मन्वन्तरमूलक चतुर्विध, किंवा सर्वविध कालविवर्त्त उसी कालातीत शाश्वतब्रह्मरूप मनुमूर्त्ति निरपेक्ष अव्ययपुरुष के एकांश में (यत्किञ्चिदंश में) ही प्रतिष्ठित हैं"।

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते।
—गीता

÷ यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
—गीता

४–कालात्मक अव्यय की अक्षररूपता, महामायावृत्तात्मक महाकाल, तद्रूप मायी महाकालेश्वरात्मक महेश्वर, केन्द्रानुगत मायावृत, केन्द्राक्षर की परावरता, एवं अक्षरकालात्मक परमकाल के चतुर्विध कालिक विवर्त्तों का समन्वय—

एवमति पूर्वप्रतिपादित कालस्वरूप–निरूपण में हमने यत्रतत्र जिस अव्यय के साथ भी महाकाल शब्द का समन्वय अभिव्यक्त किया है, वह अव्यय सर्वत्र अक्षररूप ही माना जायगा। अव्ययानुगत महामायावृत्त ही महाकाल की स्वरूप–व्याख्या है। इस महामायी महेश्वराव्यय का मायावृत्तत्व केन्द्र पर ही अवलम्बित है। केन्द्रस्थ हृदयाक्षर ही परावर अक्षर है। अतएव यही इस मायी महेश्वराव्यय का अभिव्यञ्जक बन रहा है। अतएव कालानुगता सृष्टिधारा में उपास्–प्रयुक्त–'अव्यय' शब्द सर्वथा कालसापेक्ष (अक्षरसापेक्ष) बनता हुआ अक्षरात्मक ही प्रमाणित होगा। मायामय कालिक विश्व की अव्ययविभूति अक्षरात्मिका ही मानी जायगी। अतएव कालसीमा (अक्षरसीमा) में अन्तर्भुक्त सापेक्ष अव्यय-अक्षर–आत्मक्षर–विकारक्षर–पञ्चजन–पुरञ्जन–पुर–महाभूत–भूतभौतिक–आदि आदि सभी विवर्त्त अक्षरात्मक ही, परमकालात्मक ही माने जायँगे, एवं इसी दृष्टि से हमें तात्त्विकरूपेण अक्षरमूर्ति इस परमकाल के चार कालिक विवर्त्तों का समन्वय करना पड़ेगा।

५–कालातीत अव्यय के एकांश से अनुगृहीत अक्षरकाल की 'परकालता', स्वानुगता परावरकालता, क्षरानुगता अवरकालता, एवं तदनुबन्धिनी सर्गता—

परमकालात्मक अक्षरकाल (बलकाल) कालातीत अव्यय के एकांश से (रसभाग से) अनुगृहीत बनता हुआ 'परकाल' (अव्ययकाल) बन रहा है–'एतद्ध्येवाक्षरं परम' (अव्ययरसांशेनाक्षरमेव–'अव्यय'–इति यावत्)। यही परमकालात्मक अक्षरकाल अपने प्रातिस्विकरूप से 'परावरकाल' (अक्षरकाल) प्रमाणित हो रहा है। परमकालात्मक यही अक्षरकाल अर्वाक्–अवस्थित क्षरांश से समन्वित बनता हुआ अवरकालात्मक (क्षरकालात्मक) ब्रह्मकाल बन रहा है–"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म' (क्षरांशेनाक्षरमेव 'क्षरब्रह्म'–इति यावत्)। क्योंकि यों परमकालात्मक अक्षर पराव्ययांश से, तथा अवराक्षर से समन्वित बनता हुआ पर–परावर–अवरात्मक प्रमाणित होता हुआ सर्वमूर्त्ति बन रहा है।

६–पर–परावर–अवरात्मक–सर्वमूर्त्ति अक्षरकाल की उपासना से हृद्ग्रन्थिविमोक, अक्षरकालानुगता सिसृक्षा–मुमुक्षा, एवं परमकालात्मक अक्षरकाल के द्वारा सर्ग, तथा प्रलय की प्रवृत्ति—

अतएव इस कालात्मक परमाक्षर की उपासना से यच्चयावत् कालिक इच्छानिवर्त्त ससिद्ध हो जाते हैं,–'यो यदिच्छति, तस्य तत्' । दो ही तो इच्छाएँ हैं इस परमकाल की, जो सिसृक्षा, और मुमुक्षा नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊर्ध्व–अवस्थित पराव्ययरूपता से यही अक्षर मुमुक्षा (बलग्रन्थिविमोकेच्छा) के द्वारा संहार–कामना का प्रवर्त्तक बनता है, तो अधोऽवस्थित अवराक्षररूपता से यही अक्षर सिसृक्षा (बलग्रन्थिबन्धनेच्छा) के द्वारा सृष्टिकामना का प्रवर्त्तक बन रहा है। यों अपनी इन दो इच्छाओं से परमकालात्मक अक्षरकाल

सृजति सर्वम् (क्षररूपेण सिसृक्षया), एवं संहरति सर्वम्–(अव्ययरूपेण-मुमुक्षया)। 'सर्वं कालेन सृज्यन्ते च पुनः पुनः । अर्थात् अव्ययात्मकः-अक्षरकाल एव मुमुक्षया सर्वं संहरति-यदिदं किञ्च, एवं क्षरात्मकः–अक्षरकाल एव सिसृक्षया सर्वं सृजति–यदिदं किञ्च ।

७-ज्ञानमय मनःकाल, क्रियामय प्राणकाल, अर्थमय वाक्काल, एवं उसी पर, उसी से, उसी की सर्वरूप-परिणति का समन्वय—

अव्ययात्मक–अक्षरकाल का ही नाम है–ज्ञानमय **मनःकाल,** अक्षरकाल का ही नाम है–क्रियामय प्राणकाल, एवं क्षरात्मक अक्षरकाल का ही नाम है **अर्थमय वाक्काल** । मनःप्राणवाङ्मय, ज्ञानक्रियार्थ–शक्तिमूर्त्ति, अव्ययाक्षरक्षररूप यही परमाक्षरकाल अपने अव्ययात्मक मनःकाल से 'आधारकाल' बन रहा है, अपने अक्षरात्मक प्राणकाल से 'स्रष्टाकाल' बन रहा है, एवं अपने क्षरात्मक वाक्काल से सृष्टिकाल बन रहा है । वही सृष्टि का आधारकाल है अव्ययात्मक-मनोऽनुबन्ध-स्वरूप से । वही सृष्टि का 'स्रष्टाकाल' है अक्षरा–त्मक प्राणानुबन्ध-स्वरूप से । एवं वही 'सृष्टिकाल' है क्षरात्मक वागनुबन्धस्वरूप से। उसी पर, उसी से, उसीका सबकुछ बना है, बनता रहेगा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

८–अव्ययात्मक अक्षर पर स्वात्मक अक्षर से क्षरात्मक अक्षर की ही सर्वरूप में परि-णति, एवं सर्वरूपता के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

अवधानपूर्वक–'उसी पर–उसी से–उसी का–सबकुछ बना–है' इस वाक्य को लक्ष्य बनाइए । **'उसी पर',** का अर्थ है-**'अव्ययात्मक अक्षर पर ही'** । **'उसीसे'** का अर्थ है-**'अक्षरात्मक अक्षर से ही'**। **'उसी का'** अर्थ है-**'अक्षरात्मक अक्षर का ही'** । परमकालात्मक अक्षर के तीनों विवर्त्त तो इन तीनों वाक्यां-शों पर ही परिसमाप्त होगए । तो अब चौथे–**'सबकुछ बना–है'** इस वाक्यांश को समन्वित होने का क्षेत्र ही कहाँ मिला ? । समन्वय कीजिए समस्या का । अथर्ववेदीय अष्टमसूक्त के–**"काले मनः, काले-प्राणः, काले नाम समाहितम्'** इत्यादि सप्तम मन्त्र के **'काले नाम समाहितम्'** इस वाक्य से ही प्रस्तुत समस्या का समन्वय सम्भव है । **'काल में मन है, प्राण है, और काल में नाम प्रतिष्ठित है'** इस वाक्य में सहज क्रमानुसार तो **'काल में वाक् प्रतिष्ठिता है'** यही होना चाहिए था । क्योंकि मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की प्राणकला के अनन्तर 'वाक्कला' का ही स्थान आता है । फिर ऋषिने 'वाक्' का नामोल्लेख न कर–**'काले नाम समा-हितम्'** यह किस आधार पर कहा ? ।

९–क्षरात्मक वाङ्मय अक्षर की नित्यमहिमारूपता, अमृताक्षर से विस्रस्त भाव की विकाररूपता, एवं मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल से विनिर्गत विकारभावों की-'रूप-कर्म्म-नामता का समन्वय—

श्रूयताम् ! अव्ययरूप मनोमय अक्षर का अमृतत्त्व, तथा अक्षररूप प्राणमय अक्षर का अमृतत्त्व तो प्रसिद्ध है ही । तीसरा क्षरात्मक वाङ्मय अक्षर भी अपने अविनाशी परिणामी भाव से नित्यमहिमारूप

बनता हुआ अमृतप्रधान ही प्रमाणित हो रहा है *। अतएव मन-प्राण-वाङ्मय अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप-पर-परावर-अवर-मूर्त्ति-त्रिमूर्त्ति अक्षर सर्वात्मना 'अमृतम्' ही बन रहा है। इस अमृताक्षर से विनिर्गत विस्रस्त-विशकलित-मृत्युरूप विकार ही-'विकारक्षर' नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर के मनोरूप से विनिर्गत विकार का नाम है 'रूप', अक्षर के प्राणरूप से विनिःसृत विकार का नाम है-'कर्म्म', एवं अक्षर के वाग्रूप से विस्रस्त विकार का नाम है-'नाम'। 'वाक्' तत्त्व अक्षर का अक्षरात्मक अन्तिम पर्व है, तो 'नाम' विकारत्रयी का अन्तिम पर्व है।

१०—अ-उ-अच्-भावापन्ना वाक्, एवं वाक् की सर्वरूपता का समन्वय—

'वाक्' उस तत्त्व का नाम है, जिसके गर्भ में 'अ'-और 'उ' बैठे हुए हैं। अकार 'मन' का वाचक है अपने कण्ठताल्वादि असङ्गभाव से, एवं उकार 'प्राण' का वाचक है अपने-सङ्कुचित ओष्ठोच्चारणभाव से। क्रम है-'अ-उ-अच्' यह, किन्तु अक्षरप्राण ही प्रधान है तीनों अक्षर-विवर्तों में। अतएव मन-प्राण-वाक्-के स्थान में प्राण-मन-वाक्-यह क्रम हो जाता है, जिसका अर्थ होता है-अक्षर-अव्यय-क्षर। तीनों के वाचक अक्षर हैं क्रमशः 'उ-अ-अच्'। उकार का वकार यणादेश हो जाता है-'व्-अ-अच्' यह स्थिति हो जाती है। दार्शत्वेन यही स्थिति 'वाच्' रूप में परिणत होती हुई-'वाक्' बन जाती है।

११—प्राण-मनो-गर्भित क्षरतत्त्व की वाग्रूपता, वाङ्मय नामविवर्त्त, एवं वाङ्मय नामविवर्त्त से मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल का परिग्रहण, तथा 'काले नाम समाहितम्' का तात्त्विक-समन्वय—

प्राण-मनो-गर्भित क्षरतत्त्व का नाम ही 'वाक्' है। जो तत्त्व (क्षर) स्वस्वरूपाभिव्यक्ति के लिए प्राण, तथा मन की अपेक्षा रखता है, वही तत्त्व उ-अ-का अञ्चन करता हुआ 'वाच्', किंवा 'वाक्' है। और यों केवल 'वाक्' शब्द मन प्राणवाग्रूप तीनों अक्षरविवर्त्तों का सङ्ग्राहक बन रहा है। अतएव वाक् के विकारभूत 'नाम' को मनोविकारभूत 'रूप' का, तथा प्राणविकारभूत 'कर्म्म'-का भी सङ्ग्राहक मान लिया गया है। 'वाक्' से यदि अक्षरत्रयी के मन प्राणवाक्-नामक तीनों अमृतरूप परिगृहीत हैं, तो 'नाम' से अक्षरत्रयी के रूप-कर्म्म-नाम-नामक तीनों मर्त्यरूप परिगृहीत हैं। इसी सर्वसंग्रहता के लिए (प्रजापति अक्षर के मर्त्यरूपों का संग्रह करने के लिए) ऋषिने 'काले वाक् समाहिता' न कह कर 'काले नाम समाहितम्' कह दिया है, जो यह नाम स्वानुगत रूप-कर्म्म-नामक दोनों मर्त्यभावों का तो सङ्ग्राहक है ही। साथ ही यही 'नाम' स्वोक्थभूता 'वाक्' का भी संग्रह कर लेता है। और-'काले मन काले प्राण.' के अनन्तर पठित 'काले नाम समाहितम्' का अर्थ होता है-'काले वाक् समाहिता, रूप समाहित, कर्म्म समाहित, नाम च समाहितम्' यह।

---

* एष नित्यो महिमा ब्रह्मणः (क्षरस्य), न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
—उपनिषत्

१२-अव्यय पर अक्षर से क्षर के द्वारा विकार की सर्वरूप में परिणति, सैषा स्थितिः—

'सबकुछ बना', का सबकुछ विकारक्षररूप–नामरूपकर्मसमष्टिलक्षण मर्त्य–विवर्त्त ही है। अतएव उसीपर–उसी से–उसी का–सबकुछ बना–है, वाक्य में अव्यय–अक्षर–क्षर–विकार–चारों कालविवर्त्त समाविष्ट हो जाते हैं। आरम्भ के तीन पर्व अमृताक्षरत्रयी है, एवं अन्त का 'सबकुछ' नामरूपकर्म्मात्मक विकारजगत् है। अक्षरप्रजापति के अर्द्धभाग में मानो मनः–प्राण–वाक्–रूप तीन अमृतपर्व प्रतिष्ठित हैं, एवं अर्द्धभाग में मानो–रूप–कर्म्म–नाम–नामक तीन मर्त्य पर्व प्रतिष्ठित हैं। अतएव प्रजापति-कालात्मक-अक्षर का लक्षण हुआ है–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो–मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'–'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन!'। सैषा स्थितिः।

१३-काल पर, काल से, काल के द्वारा, काल की ही सर्वरूप में परिणति, एवं अक्षरात्मक काल के चतुर्विध महिमा-विवर्त्तों का तालिका-माध्यम से तात्त्विक-समन्वय—

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। [1]'काल पर ही सबकुछ बना है, [2]काल से ही सबकुछ बना है, [3]काल ही सबकुछ बना है, [4]एवं काल ही सबकुछ है" ये चारो वाक्यविवर्त्त क्रमशः [1]अव्ययात्मक अक्षरकाल (मनःकाल), [2]अक्षरात्मक अक्षरकाल (प्राणकाल), [3]क्षरात्मक अक्षरकाल, (वाक्काल), [4]विकारात्मक क्षरकाल (नामरूपकर्म्मकाल) विवर्त्तों के ही संग्राहक हैं, जिस विवर्त्तचतुष्टयी का-'काले-कालात्-कालेन-काल-प्रसूतिः'–'काले-एव-कालादेव-कालेनैव-कालस्यैव प्रादुर्भावः' इस सूत्रद्वयी पर पर्य्यवसान माना जासकता है। अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नही है। इस विवर्त्तचतुष्टयी के समन्वय के लिए यहाँ एक ऐसी पारिभाषिकी तालिका उद्धृत करदी जाती है, जिसके द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से 'परमकालदेव' के इन चारों कालविवर्त्तों का यथास्थान समन्वय सम्भव बन सकता है कालोपासक विद्वानों के लिए।

काले	कालः	कालमेव	सृजति
अव्यये	अक्षरः	क्षरमेव	सृजति
पराक्षरे	परमाक्षरः	अवराक्षरमेव	सृजति
अनन्ते	अमूर्त्तः	मूर्त्तमेव	सृजति
भावे	गुणः	विकारमेव	सृजति
प्रकृतौ	प्रकृतिः	विकृतिमेव	सृजति
मनसि	प्राणः	वाचमेव	सृजति
काले	दिक्	देशमेव	सृजति

प्रकारान्तरेण–चतुष्टयं वा इदं सर्वम्–
अनन्तस्याव्ययपुरुषस्य–एकांशरूपा कालविभूतिः—

१ काले	२ कालेन	३ कालात्	३ कालोत्पत्ति.	
अव्यये	अक्षरेण	क्षरात्	विकारोत्पत्ति	(२)
मनसि	प्राणेन	वाचा	नामोत्पत्ति	(३)
भूतेश्वरे	भूतभावनेन	भूतयोन्या	भूतोत्पत्तिः	(४)
काले	दिग्भ्य	देशेन	प्रदेशोत्पत्ति	(५)
अधिष्ठानम	अधिष्ठाता	अधिष्ठितम्	प्रतिष्ठितम्	(६)
प्रारम्भ	आरम्भक	आरम्भणम्	आरब्धम्	(७)
सृष्ट्याधार	स्रष्टा	सृष्टि	सृष्टम्	(८)
साक्षी	निमित्तम्	उपादानम्	उत्पन्नम्	(९)
तदिदं कालविवर्त्तम्	तदिदं दिग्विवर्त्तम्	तदिदं देशविवर्त्तम्	तदिदं प्रदेशविवर्त्तम्	
तत्प्रतीक स्वयम्भूः	तत्प्रतीक परमेष्ठी	तत्प्रतीक सूर्य्यः	तत्प्रतीक चन्द्रमा (भूपिण्डश्च)	
सैषा अनन्तकालविभूति	सैषा अमूर्तकालविभूति	सैषा मूर्त्तकालविभूति	सैषा मूर्त्तिकालविभूति	
तदित्थ काले-एव	तदित्थ कालेनैव	तदित्थ कालादेव	तदित्थ कालर्य्येवोत्पत्ति	

कालः स ईयते प्रथमो नु देवः–इति नु सर्वं–काल एव परमदेवः–ईयते सोऽयंपरमकालः–निरपेक्षाव्ययेऽनन्ते एकांश एवेति–अनन्तोऽपि कालः–एकांश एव तस्य कालातीतस्य निष्कलाव्ययस्य, इति मुकुलितनयनैरेवाकलयनीयम् ।

१४–वैदिक परिभाषाओं का महाकोश 'गीताशास्त्र', एवं श्रौती काल-चतुष्टयी का गीताशास्त्र के द्वारा स्वरूप-समन्वय—

वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक तत्त्वों का सारभूत महान् कोश भारतीय पौरुषेय–शास्त्रोंमें एकमात्र गीताशास्त्र ही है, जिसमें वैदिक तत्त्ववाद का सङ्केतरूपेण सर्वात्मना सग्रह हो गया है। उदाहरण के लिए 'कालतत्त्व' को ही लीजिए। जिन चार कालविवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन चारों का ही गीताशास्त्र ने भी दिग्दर्शन करा दिया है। स्वायम्भुव-मनोमय-अव्ययानुगत अक्षरकाल ही काल का प्रथम विवर्त्त है, जिसके द्वारा बलग्रन्थिविमोकात्मक संहार ही होता है मुमुक्षा से। पारमेष्ठ्य–प्राणमय–अक्षरानुगत अक्षरकाल ही काल का दूसरा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक विश्व का स्वरूपसंरक्षण (स्थिति) होता है। सौर–वाङ्मय–क्षरानुगत अक्षरकाल ही काल का तीसरा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक विश्व की उत्पत्ति (सर्ज्जन) होती है। एवं चान्द्रसम्वत्सरात्मक–उत्तरायणदक्षिणायनात्मक–नामरूपकर्म्ममय–विकार–क्षरानुगत क्षरकाल ही काल का चौथा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक-उत्पन्न-विश्व प्रदेशात्मक कलनभावों से समन्वित रहता है। अव्ययात्मक अक्षरकाल रसप्रधानता से संहार का ही अधिष्टाता है मुमुक्षा के द्वारा, जिसका–'कालोऽस्मि लोक-क्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्त्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः' (गीता ११।३३।) से स्पष्टरूपेण संग्रह हुआ है। अस्मच्छब्दानुगत अव्यय ही इस संहारकाल का सूचक बन रहा है। स्थितिभावप्रवर्त्तक अक्षरात्मक काल का समर्थन–'अहमेवाक्षयः कालः' (गीता १०।३३।) से हो रहा है। सर्ज्जनभावप्रवर्त्तक क्षरात्मक काल का समर्थन–'कालः कलयतामस्मि' (गीता १०।३०) से हो रहा है। एवं नामरूपकर्म्मलक्षण कलाभावों से समन्वित, अतएव कलनात्मक-क्रमसिद्ध-चौथे विकारकालात्मक क्षरकाल का समर्थन–'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः'–'शुक्लकृष्णे गती ह्येते०' इत्यादि वचनों से हुआ है। इसप्रकार गीताशास्त्रने चारों कालविवर्त्तों का संग्रह कर लिया है।

१५–कालातीत अनन्ताव्यय के एकांश से अभिव्यक्त अनन्तकाल की अनन्तता के माध्यम से कालातीत की अनन्तता का आंशिक-अनुमान—

उक्त चारों ही कालविवर्त्त जिस कालातीत निष्कल-निर्विशेष-निर्गुण-निरञ्जन-लोकातीत-सर्वातीत-सर्वव्यापक अनन्त-अव्यय-ब्रह्म के एकांश में, यत्किञ्चिदंश में महिमारूप से गर्भीभूत हैं, उस कालातीत अनन्ताव्यय-ब्रह्म की अनन्तता का यत्किञ्चिदाभास तदपेक्षया सर्वथा सादिसान्त प्रमाणित प्रतीकभूत काल के माध्यम से भलीभाँति सम्भव है। जो काल मानव की कालिक बुद्धि से सर्वात्मना अनाद्यनन्त बना हुआ है, मानव की क्रम–व्यवस्था (काल–दिक्) अनुगता जो कालिक बुद्धि काल के जिस आनन्त्य का अनुमानमात्र कर थक थक जाती है, मानव का बौद्धिक-प्राकृत-स्वरूप काल के जिस यत्किञ्चित्-अंश में यत्किञ्चित्-रूप से (महासमुद्र में अवस्थित एक बुद्बुद्रूप से) क्रमरूपेण (कालरूपेण) व्यवस्थित (दिग्भावसमन्वित) है, ऐसे प्राकृत मानव के लिए, बुद्धिमान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक मानव के लिए काल के चारों विवर्त्त, किंवा विवर्त्तचतुष्टयात्मक काल सर्वथैव अनाद्यनन्त प्रमाणित हो रहा है अपनी प्रकृतिमूला (अक्षरमूला) अनाद्यनन्तता से। अवश्य ही अपनी क्रम-व्यवस्था-मूला दार्शनिकबुद्धि के मापदण्ड से, तदनुगता दिग्देशप्रदेशात्मिका क्रमव्यवस्था से, एवं तन्मूलक प्रकृतिविज्ञान के माध्यम से प्राकृत मानव को सर्वात्मना यह मान ही लेना पड़ेगा कि,–सच मुच काल अनन्त है, अनादि है, अतएव मानवबुद्धि के लिए एकान्ततः अपरिमेय है।

१६–बुद्धिवादात्मिका दार्शनिक-प्रतिभा पर, तथा बुद्धिदम्भात्मिका वैज्ञानिक-साधना पर कालातीत के यत्किञ्चित् से आघात से दिग्देशकालाभिनिविष्ट- वर्गद्वयी का निःसीम विकम्पन—

कालक्रम-व्यवस्था-वादी ऐसे बुद्धिवादी कालोपासक कालिक प्राकृत-दार्शनिक-वैज्ञानिक-मानव के सम्मुख जब यह दृष्टिकोण रक्खा जाता है कि,–'मानव का जो इत्थंभूत कालिक-प्राकृत-स्वरूप-(बुद्धि-मन -शरीर-भाव) जिस अनाद्यनन्त काल के अणुमात्र-प्रदेश में विन्दुरूपेण व्यवस्थित है, वह अनाद्यनन्त महाकाल, उसके महतोमहीयान चारों कालमहिमाभिवर्त्त किसी निरपेक्ष कालातीत अचिन्त्य अनन्तब्रह्म के यत्किञ्चिद्देश में उसीप्रकार एक विन्दुमात्र से अधिक और कोई महत्त्व नहीं रख रहे, जैसे कि इस को अनाद्यनन्तता के समतुलन में इसकी अपेक्षया विन्दुमात्र बने हुए बुद्धिमान प्राकृत मानव का कोई महत्त्व नहीं है', तो इसे अवनतशिरस्क बनकर इस कालमहत्त्व के सम्मुख अपने बुद्धिवाद की तिलाञ्जलि दे ही तो देना पड़ता है। प्रकृतिविजय के सुख–स्वप्न–धूलिधूसरित हो जाते हैं आचारशून्य बुद्धिवादी दार्शनिक के, तथा काल–कर्म–दिग्–व्यवस्था–के वारुणपाश में आबद्ध, अपने चमत्कारपूर्ण वैज्ञानिक–गाथों में अहोरात्र संलग्न-आत्मबोधशून्य बुद्धिदम्भी वैज्ञानिक के, जब कि इसकी बुद्धिवादात्मिका दार्शनिक-प्रतिभा पर, तथा बुद्धिदम्भात्मिका वैज्ञानिक-साधना पर कालपुरुष का यत्किञ्चित् सा भी आघात–लग पड़ता है, तो।

१७–शत-शत-प्राकृत-पीढ़ियों से सञ्चित बौद्धिक-कालिक-दैशिक-भूत भौतिक विस्तारों का कालातीत के माध्यम से अनन्तकाल के द्वारा क्षणमात्र में विलयन, एवं दिग्देशकालभ्रान्त मानव का हाहाकार—

अपनी अनेक प्राकृत–मानव–पीढ़ियों की क्रम–व्यवस्थानुगता–भावना–परम्पराओं के द्वारा अत्यन्त श्रम–परिश्रम–अध्यवसाय–पूर्वक–सञ्चित प्राकृत-मानव के सम्पूर्ण प्राकृत कोश, सम्पूर्ण दार्शनिक तथ्य, सम्पूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार सम्पूर्ण अनुरूप कला-कौशल-शिल्प-आदि आदि यच्चयावत् बुद्धिवैभव काल की एक यत्किञ्चित् सी अँगड़ाई से क्षणमात्र में ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाया करते हैं। और निश्चयेन काल के इन कतिपयक्षणों में प्राकृत मानवों का शारीरिक बलदम्भ, मानसिक वीर्य्यदम्भ, बौद्धिक पराक्रमदम्भ, ओज-तेज-भ्राज-द्युम्न-आदि आदि सभी कुछ तो सर्वात्मना धूलिधूसरित हो जाते हैं, जिस इत्थंभूता कालकवलिता-वस्था में मानव हाहाकार ही कर उठता है।

१८–कालक्रमव्यवस्थाकौशलानुगामिनी प्राकृत–जीवनपद्धति का करुणक्रन्दनात्मक समस्त इतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से मानव की सहज–प्रज्ञा में जिज्ञासात्मक अनेक प्रश्नों का आविर्भाव–तिरोभाव—

और मानव का यह करुणक्रन्दन इस के बुद्धिवादात्मक–बुद्धिदम्भात्मक ज्ञानविज्ञानात्मक प्रसूता के साथ उस कालसमुद्र में ही विलीन हो जाता है। यही है क्रम–व्यवस्थाशील, अतएव लोक में बुद्धिमान्, दार्श-

निक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, कुशल, चतुर, मेधावी, योग्य प्राकृत मानवों की कालानुबन्धिनी क्रमव्यवस्था-कौशलानुगामिनी जीवनपद्धति का वह सम्पूर्ण इतिवृत्त, जिस इस इतिवृत्त के अनुग्रह से ही कालान्तर में इसके सम्मुख स्वतः ही यह जिज्ञासात्मक प्रश्न खड़े हो ही तो जाते हैं कि,–'क्या मानव के समस्त पौरुष का एतावन्मात्र, यही इतिवृत्त है ? । क्या मानव मरने के लिए ही उत्पन्न हुआ है ? । क्या मानव एक वैसा छोटा यन्त्र (पुर्जा) मात्र ही है, जो किसी बड़े महायन्त्र की सं्गति से आबद्ध होता हुआ, अमुक स्थान–काल सीमा से सीमित बनता हुआ सर्वथा परतन्त्रता–पूर्वक ही चलता रहता है ? । एवं जीर्ण शीर्ण होजाने पर उस महायन्त्र की सीमा से बाहिर निकाल ही तो फैंक दिया जाता है ? ।

१९–प्राकृत-बुद्धि, दार्शनिक-दृष्टि, वैज्ञानिक-मस्तिष्क–युक्त दिग्देशकालभ्रान्त मानव के जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधानान्वेषण -प्रयास—

क्या मानव की प्राकृत-बुद्धि, दार्शनिक-दृष्टि, तथा वैज्ञानिक मस्तिष्क मानव के तथाकथित जिज्ञासात्मक प्रश्नो का समाधान करसकेंगे ? । आचारनिष्ठा से पराङ्मुख किसी भी देश के दार्शनिक ने क्या आजतक उक्त प्रश्नो का समन्वय किया है ? । क्या किसी भी भूतविज्ञानवादी ने मानव की इन आवश्यकतमा महती समस्याओं, जिज्ञासाओं, आकुलताओं के निराकरण के लिए अपनी विज्ञानशालाओं में आजतक कोई परीक्षण–चिन्तन–किया है ? । अन्वेषण कीजिए ! इन तीन वर्गों की मनोवृत्तियों का, इसी के आधार पर उक्त प्रश्न समाहित बन जायगा ।

२०–लोकशिक्षा–शिक्षित–'प्राकृत–बुद्धियुक्त–मानव' की स्वरूप–परिभाषा, तद्द्वारा 'मानवजिज्ञासा' के भावुकता–संरक्षक भ्रान्तिसिद्ध समाधान, एवं जिज्ञासु के असन्तोष की वृद्धि—

युगधर्म्मानुगता–सामयिकी लोकशिक्षा से शिक्षित–दीक्षित, तद्युग के वर्त्तमान–वैय्यक्तिक–सामाजिक–राजनैतिक–वातावरणों का पूर्ण परिज्ञाता, तदनुसारेणैव अपनी जीवनपद्धति को कालक्रम–व्यवस्थानुसार यन्त्रवत् एक साँचे में ढाल लेने वाले लोकपटु–लोकचतुर–बुद्धिमान्–प्राकृत मानव की बुद्धि ही 'प्राकृतबुद्धि' कहलाएगी, जिसके प्राकृत–जीवन का प्रत्येक क्षण बुद्धिकौशलपूर्वक तद्युग की कालिक स्थिति-परिस्थितियो के अनुसार सर्वथा प्रकृत्यनुगत ही प्रमाणित होता रहेगा । ऐसे बुद्धिमान् लोकचतुर से जब प्रश्नसमाधान की जिज्ञासा की जायगी, तो प्रथम तो वह आपकी जिज्ञासा सुनेगा ही नही । क्योंकि इस प्राकृतबुद्धि के कोश में निश्चित–कार्य्यक्रम के अतिरिक्त, सहजभाषा के अनुसार वर्त्तमान के अतिरिक्त भूत, और भविष्यत् से सम्बन्ध रखने वाली तथाविधा निरर्थक–जिज्ञासाओं के श्रवण के लिए व्यर्थ का समय ही नही है । यदि आपने बलपूर्वक जिज्ञासा से अवगत करा भी दिया इस बुद्धिमान् को, तो अपने लोकसम्मत शिष्टाचार के संरक्षणमात्र-व्याज से यह इतना भर अवश्य समाधान कर देगा कि–"हाँ ठीक तो है । जिज्ञासाएँ बड़ी सुन्दर हैं । अवश्य ही इनका समाधान होना ही चाहिए । अवश्य ही आप–हम–सब को मिल कर कभी न कभी इन समस्याओं पर विचार तो कर ही लेना होगा । तो हाँ, अच्छा, आज तो समय बहुत होगया । फिर किसी दिन.........अच्छा, नमस्कार ....! नमस्कार.............. !!

जिज्ञासु मानव सन्तुष्ट होजायगा बुद्धिमान्–लोकचतुर-मानवों के इसी समाधान से। और स्वयं ही यह समाधान कर लेगा अपने अन्तर्जगत् में इनके लिए कि,–क्या करें! बेचारों के कोश में समय ही नहीं है। लोकभार से उत्पीडित इनको समय ही नहीं मिल रहा। यदि समय मिलता, तो अवश्य ही, इत्यादि इत्यादि।

२१–आचारशून्या तत्त्वशिक्षा के परपारदर्शी–दार्शनिक–दृष्टियुक्त मानव की स्वरूपपरिभाषा, तद्द्वारा दुःखेतिहासविजृम्भणात्मक समाधान का आलोडन–विलोडन, एवं परिणामतः जिज्ञासु की दुःखाभिवृद्धि—

या प्राकृतबुद्धिनिष्ठ–लोकचतुर–लोकमानवों को छोड़कर यह जिज्ञासु अब पहुँचता है उस दार्शनिक की सेवा में, जिसने समस्त आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर अपने आपको कृतकृत्य–धन्य मानते हुए लोकजीवन से तो कर लिया है पृथक्, एवं एकान्त में विराजमान होकर वह सृष्टितत्त्व-विमर्शों में सतत संलग्न हो रहा है। अपने इस बुद्धिपूर्वक तत्त्वविमर्श के आधार पर ही जो दार्शनिक यदा कदा अनुग्रह कर लिपिमाध्यम से, किंवा भाषणमाध्यम से मानवसमाज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है, कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा प्रदान करता रहता है–स्वयं को इन आचारनिष्ठाओं से अतीत प्रमाणित करता हुआ ही। ऐसा दार्शनिक मानवश्रेष्ठ जिज्ञासु की जिज्ञासाओं का समाधान न कर इसकी जिज्ञासा–समस्याओं को ही अपनी दार्शनिकबुद्धि से विस्तृतरूप दे डालने का अनुग्रह कर बैठता है। उदाहरण के लिए–मानव यदि इसके सम्मुख अपने दुःख–शोक–की समस्या रखता है, तो तन्निवृत्त्युपाय से पहिले दार्शनिक महाभाग दुःख–शोक–परितापों की वैसी विस्तृत व्याख्या ही इस निरीह के सम्मुख रखने लग पड़ता है, जिस व्याख्या से यह अबतक सर्वथा अपरिचित ही था। इसे यदि एक दुःख था, तो दार्शनिक इस के सामने तीन तीन दुःख रख देगा। और उन तीनों दुःखों की विराट् व्याख्या के वर्णनोपवर्णन में ही यह अपनी सम्पूर्ण दार्शनिकता समाप्त कर देगा। सबन्त में अधिक से अधिक यह उद्गार अभिव्यक्त कर इस जिज्ञासु को मानों जीवन्मुक्ति का प्रमाणपत्र देता हुआ ही विदा कर देगा कि–"भाई जबतक इन तीनों दुःखों से परित्राण नहीं हो जाता, तबतक सुख शान्ति कैसे मिल सकती है?। और इन तीनों से आत्मत्राण कर लेना कोई साधारण काम नहीं है। देखो न। हम तो स्वयं ही इन दुःखों का स्वरूप ही अबतक यथावत् समन्वित नहीं कर पाए हैं। तत्त्वचिन्तन करो। भावना करो। धैर्य्य रक्खो। सहो। ये सुख दुःख तो यों ही आते जाते ही रहेंगे। इत्यादि इत्यादि"। त्रिविध–ताप,–दुःख–शोक–भावों की दैविक–भौतिक–आत्मिक–परिभाषाओं की सुविशदा–महती व्याख्याओं का बड़े धैर्य्य से श्रवण-मनन-करने वाला जिज्ञासु आरम्भ में तो थोड़ा हतप्रभ बनेगा। अनन्तर शनैः शनैः इस तत्त्वचर्चा के अनुग्रह से दुःख-परम्पराओं के अनुशीलन में प्रवृत्त होजायगा। और अन्ततोगत्वा इन दुःखपरम्पराओं के स्वरूपान्वेषण में ही इसका प्राकृत जीवन समाप्त हो जायगा, और विलीन होजायँगी इसके साथ ही इसकी जिज्ञासात्मिका समस्याएँ भी।

२२- क्रमप्राप्त वैज्ञानिक मस्तिष्क से युक्त मानव की समुपस्थिति, तद्द्वारा भौतिक मानव पर दृष्टिनिपेद, तन्माध्यम से भौतिक समस्याओं का अध्ययन, एवं भूतविज्ञान के बल पर तत्समाधान-प्रयास—

अब वह तीसरा वैज्ञानिक-मस्तिष्क मानव के सम्मुख उपस्थित हुआ, जो न तो सामाजिक-राजनैतिक-प्रपञ्चों से ही कोई सम्बन्ध रखता, न शुष्क तर्कवादात्मिका,केवल वाग्विजृम्भणात्मिका तत्त्वमीमांसाओं में हीं कोई रुचि रखता। अपितु उसके सामने है केवल भौतिक मानव, भौतिक मानव की भौतिक समस्याएँ, एवं इन भौतिक-समस्याओं के निराकरण के लिए अन्यतम साधनभूत भौतिक स्थूलद्रव्य, एवं इन यौगिक स्थूल द्रव्यों के सूक्ष्म भौतिक तत्त्व। वह इन के यागात्मक सम्मिश्रण से कुछ एक वैसे भौतिक पदार्थों के निर्म्माण में हीं सतत जागरूक बना रहता है, जिन से मानव की भौतिक-समस्याओं, आवश्यकताओं का थोड़े से समय में सुख-सुविधा-पूर्वक समाधान होता रहे। मानव को भौतिक श्रम-परिश्रम से अधिकाधिक बचाते हुए, भौतिक-आविष्कारों के द्वारा भौतिक मानव को अनुकूलता प्रदान करते हुए इसके भूतस्वरूप को अधिकाधिक सुखी बनाना ही वैज्ञानिक-मस्तिष्क का एकमात्र महान् पौरुष है। और अवश्य ही प्रत्यक्षमूला भूतसृष्टि के माध्यम से कहने-सुनने के लिए प्राकृत मानवों की अनेक भौतिक-समस्याओं का इस वैज्ञानिक-मस्तिष्क ने समाधान किया भी है।

२३-भौतिक-आविष्कारों से मानव को सुख-सुविधोपलब्धि, तदनुग्रहेणैव जीवनीय-संघर्ष का उपराम, तथा विज्ञान की उपयोगिता—

इन आविष्कारों से अवश्य ही मानव को वैसी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं, विज्ञानाभिवृद्धि के साथ होती जारहीं है, जिनसे मानव आज अपने जीवन के अधिकांश लक्ष्य इन यन्त्रों के द्वारा ही सम्पन्न कर लेता है। और इसका वैसा बहुत सा समय इसके प्राकृत कोश में बचा रह जाता है, जिस समय का इसे किसी युग में संघर्षपूर्वक तत्साधनों के संग्रह में उपयोग करते रहना पड़ता था। यह सब कुछ तो ठीक ठीक ही माना जायगा।

२४-सुख-सुविधा-व्यामोहन से समुत्पन्न भीषण आर्थिक-संघर्ष, एवं सुख-सुविधा के समतुलन में दुःख-असुविधा की अभिवृद्धि—

किन्तु क्या विज्ञानजनिता सुखसुविधा के उपभोग में मानव के सम्मुख एक वैसी महती अर्थविभीषिका खड़ी नही होगई, जिसके समाधान के बिना मानव इच्छा करता हुआ भी इन भूतसुविधाओं से ऐच्छिक लाभ नही उठा पा रहा ?। अथवा तो लोकचातुरी में कुशल भाग्यशाली जिन बुद्धिमानों को इन वैज्ञानिक-विजृम्भणों के उपभोग की पर्य्याप्त सुख-सुविधा उपलब्ध हो गई है, क्या इन अनुकूलताओं के अनुगमन से वे भाग्य-शाली संघर्षजनिता सहज प्रकृतिस्थता से अनुप्राणिता तुष्टि-तृप्ति से वञ्चित नही होगए ?। अथवा तो मानव की अनुकूलता के सर्ज्जक, अतएव परिणामतः मानव की संघर्षशीला प्राणशक्ति को सर्वथा ही कुण्ठित कर देने वालीं इन-सुख-सुविधाओंनें क्या मानव को सर्वथा पङ्गु ही प्रम्माणित नहीं कर दिया ?। अथवा तो इस प्रवृद्ध प्राकृत-भूतविज्ञान का उपयोग मानव अपनी प्रचण्डतमा अर्थलिप्सा की सफलता के लिए निर्म्माण के स्थान में ध्वंस मे हीं नही लेने लग पड़ा ?।

२५–जिज्ञासा के समाधान–प्रयास में नितान्त कुण्ठित वैज्ञानिक मस्तिष्क—

निष्कर्षतः–क्या भूतविज्ञान के आविष्कारक वैज्ञानिक मस्तिष्कने मानव के वर्त्तमान के आधारभूत भूत, और भविष्यत् से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्ता उन जिज्ञासात्मिका समस्याओं का आजतक अणुमात्र भी कोई समाधान प्रस्तुत किया ?। सर्वसाधारण के लिए सुदुर्लभ, अनुकूलताप्रवर्त्तक, अतएव जीवनीय-प्राणसंघर्ष के विघातक इन भौतिक आविष्कारों की प्राप्ति के लिए अत्यन्त मलीमसा पद्धति से पहिले तो अर्थसंग्रह को जीवन का प्रधान कर्त्तव्य मान बैठना, येनकेनाप्युपायेन इस कर्म्म में सफलता प्राप्त कर तद्द्वारा (अर्थ के द्वारा) इन भूतसुविधाओं का संग्रह कर लेना, इन सुविधाओं से यन्त्रवत् ही अपने आपको जडभाववत् सञ्चालित करते रहना, और इसी यान्त्रिक–सुख–सुविधा को मानवजीवन का एकमात्र महान् पौरुष उद्घोषित करते रहना ही यदि मानव की 'मानवता' का मापदण्ड है, तो फिर जिज्ञासात्मिका समस्या का तो कोई भी समाधान नहीं हुआ इस वैज्ञानिक–मस्तिष्क से भी।

२६–दिग्देशकालात्मक 'वर्त्तमान' का 'प्राकृतत्त्व', एवं 'वर्त्तमान' शब्द के चिरन्तन–इतिवृत्त का समन्वय—

तदित्थ-प्राकृत बुद्धिमान् मानव, दार्शनिक मानव, वैज्ञानिक मानव, तीनों ही जिज्ञासु मानव को 'वर्त्त-मान' की सीमा से बाहिर निकालने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होगए। दिक्–देश–कालात्मक 'वर्त्तमान' भाव का नाम ही 'प्राकृतभाव' है, इस का नाम ही है 'प्राकृतिक–वर्त्तमान–जगत्'। परमाक्षर का नाम ही प्रकृति है, जिसके क्षरात्मक निवर्त्त का नाम ही 'दिक्' है। विकारात्मक विवर्त्त का नाम ही देश है, एवं वैकारिक निवर्त्त का नाम ही 'प्रदेश' है। जिसमें कालानुबन्धी दिक्–देश-प्रदेश–भाव अभिव्यक्त रहते हैं, उसी का नाम है–'वर्त्तमान', जिसका इतिहास है–"किसी समय उत्पन्न हो पडना, अमुक समय पर्य्यन्त विद्यमान रहना, अन्तत नष्ट हो जाना"। अपने इस विद्यमानकाल में व्यवस्थित रहते हुए खाते-पीते रहना, और अन्ततोगत्त्वा कालकवलित हो जाना ही 'प्राकृत'–जीवन' का जब समस्त इतिवृत्त है, तो फिर मानव, और मानवेतर पशु–पक्षी–कृमि–कीट–ओषधि–वनस्पत्यादि-अन्यान्य प्राकृत पदार्थों में क्या अन्तर ?।

२७–मानवेतर पश्वादि प्राणियों का दिग्देशकालात्मक वर्त्तमानात्मक जीवनेतिवृत्त, एवं मानव का तदितिवृत्त से आत्यन्तिक पार्थक्य—

मानव के वर्त्तमान प्राकृत जीवन को ही सुखी बनाने के लिए आतुर प्राकृत बुद्धिमान् मानवने, दार्शनिक मानवने, एवं वैज्ञानिक मानवने क्या कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा है ?। यदि नहीं, तो कहना पडेगा कि, मानव केवल दिक्–देश–कालात्मक वर्त्तमान की सीमा में ही सीमित नहीं है, जैसेकि मान-वेतर प्राणी, किंवा 'जडभूत' केवल वर्त्तमान में ही सीमित हैं। "उत्पन्न हो पडना, सुख से–दुःख से, सुविधा-असुविधा से, अनुकूलता–प्रतिकूलता–पूर्वक मानस-शारीरिक-भोगों का अनुगमन करते रहना, और अन्ततोगत्त्वा एक दिन नष्ट हो जाना–अपना कोई भी इतिवृत्त पारम्परिक न बनाते हुए" ही तो दिग्देशकालात्मिका वर्त्तमानाप्रकृति के यन्त्र से सञ्चालित क्षुद्रयन्त्रात्मक उन मानवेतर समस्त प्राणियों का
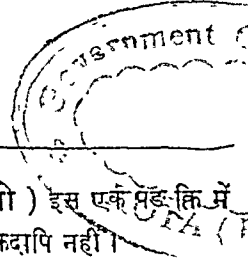
इतिहास है, जिस इतिहास का–"जायस्व–म्रियस्व' (पैदा होओ, और मर जाओ) इस एक पङ्क्ति में हीं समावेश होजाता है। क्या मानव के 'इतिहास' का ऐसा ही स्वरूप है ?। नहीं। कदापि नहीं।

२८–'इति–ह–आस'–निर्वचनात्मक 'इतिहास' शब्द का वाच्यार्थ–समन्वय, एवं प्राकृत जीवन के साथ 'इतिहास' शब्द का असम्बन्ध—

यह तो 'इतिहास' शब्द का ही ग्रीवानिकृन्तन–कर्म्म होगा। 'इति-ह्-आस'-(ऐसा था, अतएव भविष्य में ऐसा होगा) मूलक 'इतिहास' शब्द वर्त्तमान के पूर्वोत्तरभावी तथ्यों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। 'है' (वर्त्तमान)' का नाम इतिहास नहीं है, अपितु 'इति-ह्-आस'-रूप-'ऐसा था, ऐसा होगा' (भूत-भविष्यत्) का नाम ही इतिहास है। पशु-पक्ष्यादि न पहिले थे, न भविष्य में होगे। अपितु वर्त्तमान ही इन का सर्वस्व है। अतएव इनका प्राकृत–जीवन कदापि इतिहास नही कहला सकता।

२९–प्राकृत जीवन की मनःशरीरमात्रपरायणता, एवं मनःशरीरमात्रप्रधान प्राकृत–यथाजात–मानव के मनोविनोदात्मक- शारीरिक–भोगात्मक–विजृम्भणों से असंस्पृष्ट 'मानवेतिहास'—

तात्पर्य्य यह हुआ कि–'मन और शरीर' का नाम ही प्राकृत वर्त्तमान रूप है। पशु-पक्षी-आदि केवल मनः-शरीरात्मक ही हैं। अतएव इनका कोई इतिहास [अतीत–और अनागत] नही है। यदि मानव भी अपने आपको केवल मन–और शरीर का ही पुद्गल मानता है, तो इसका भी कोई इतिहास नहीं है। भाषण–भोजन–गमन–शयन–नर्त्तन–गायन–वादन–आदि आदि यच्चयावत् मानसिक–शारीरिक–प्राकृतिक–वर्त्तमान–कालानुबन्धी तात्कालिक विजृम्भणों को कभी भी इतिहास नहीं माना भारतीय–ऋषिप्रज्ञा ने।

३०–दिग्देशकालातीत अप्राकृत शाश्वत आत्मभाव, तन्निबन्धन मानवेतिहास, एवं मनःशरीरवादी मानवों की आत्मकथाओं का व्यामोहनात्मक विजृम्भण—

इतिहास माना है मानव के अवारपारीण त्रैकालिक उस भूत–भविष्यत् का, जिसे 'आत्मभाव' कहा गया है। आत्मा था, है, रहेगा। अतएव इतिहास इसी का होगा, शरीर और मन का नही। ऐसी स्थिति में मन, और शरीर की तात्कालिकी कथाओ को ही–'आत्मकथा' का नाम दे डालने वाले वर्त्तमान युग के प्राकृत मानव इस 'आत्मकथा' के छल से सर्वथा निरर्थक उस मनः-शरीर–कथा का ही तो विजृम्भण करते रहते हैं, जिसका 'पशुकथा' (पशुप्राणात्मक-मनःशरीरमात्र की कथा) से अधिक और कुछ भी तो महत्त्व नहीं है।

३१–देवभावानुगत इतिहास, एवं सृष्टिभावानुगत पुराण, तथा तद्वञ्चित प्राकृत मानवों की आत्मकथामूला महती भ्रान्ति—

कथा यहाँ देवभाव की ही होती है, एवं इतिहास आत्मभाव से ही अनुप्राणित है। न तो मानव के प्राकृत स्वरूप की कथा ही होती, न इसका इतिहास ही। इसी दृष्टिकोण से हमारे यहाँ भूतजीवनात्मक-

इतिवृत्त की क्रमधारा सर्वथा उपेक्षणीया ही रही है, जबकि आज के युग का समस्त प्रज्ञाशील इस मन-शरीरकथा पर ही विश्रान्त है। इन प्राकृत भावों का साटोप वर्णन ही आज 'इतिहास' जैसी पावन अभिधा से समन्वित माना जारहा है, इति नु महती भ्रान्तिर्प्राकृतमानवस्य।

३२-दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से परिपूर्ण पश्वादि प्राणी, एवं प्रकृति से अपूर्ण मानव, तथा लक्षीभूत प्राणीसर्ग—

मानवेतर पशु-पक्ष्यादि समस्त प्राणी परिपूर्ण हैं अपने वर्त्तमानकालानुबन्धी प्राकृत स्वरूप से, जबकि स्वयं मानव प्रकृत्या अपूर्ण ही प्रमाणित हो रहा है। अवश्य ही मानव रुष्ट हो सकता है इस पर, इस धारणा से। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। मानवेतर प्राणियों का सञ्चालन स्वयं प्रकृति करती है, कर रही है। अतएव इन्हें स्व-स्व- मन शरीर-तन्त्रों की व्यवस्था के लिए स्वयं अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। बात अत्यन्त सूक्ष्म है। जबतक मानव अपने मन शरीर-धरातल से पृथक् होकर इस प्राणीसर्ग को लक्ष्य नहीं बना लेता, तबतक इसे इन प्राणियों के प्राकृत जीवन का साक्षात्कार नहीं होसकता।

३३-संस्कारात्मक 'उक्थ से शून्य प्राणीजगत्, प्रकृति से नियन्त्रिता तज्जीवनपद्धति, प्रकृत्यैव स्वतः प्राप्त तत्प्राकृत ज्ञान, एवं तन्मूला प्राकृत-प्राणियों की प्राकृत-पूर्णता—

प्राणियों में संस्कार से कोई स्वतन्त्र उक्थ नहीं बनता। अपितु इनका सम्पूर्ण कर्म्मकलाप जन्म से ही, प्रकृति के द्वारा ही निर्द्धारित रहता है। जहाँतक, जिस सीमातक इनकी प्रकृति का साम्राज्य है, उस सीमा-पर्य्यन्त ये नि शङ्क हैं। निरातङ्कितमानस बन कर जीवनयापन करते रहते हैं ये उस सीमा में, जब कि अन्य प्राणी अपनी सीमा में रहते हुए इनको खाते भी रहते हैं। छोटे चींटों, अथवा चीटियों की उस धारावाहिक पङ्क्ति पर दृष्टि डालिए, जो अपने नियत बिलस्थान से निकलकर प्रकृति के द्वारा निर्म्मित निश्चित पथ से प्रकृतिप्रेरणा से ही खाद्य-कणों की ओर गमनागमन में तल्लीन रहते हैं। बड़े चींटे, चिड़ियाएँ, और भी कतिपय प्राणी इनका संहार भी करते रहते हैं, खाते भी रहते हैं। किन्तु यह पङ्क्तिप्रवाह प्रभ्रान्त रहता है। यही उदाहरण प्रमाणित कर रहा है कि, इनमें कोई सांस्कारिक ज्ञान नहीं है। अतएव न ये भूत को याद कर सकते, न भविष्यत् की चिन्ता। अपितु दोनों से निश्चिन्त बन कर ये तो वर्त्तमान में ही तल्लीन रहते हैं, और यही इनकी प्राकृत पूर्णता है। अपनी सीमित प्रकृति का अतिक्रमण कदापि नहीं करते, नहीं कर सकते ये प्राकृत प्राणी। यही इनकी पूर्णता है, जिसके लिए इन्हें किसी प्रकार की शिक्षा-अध्ययन-आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इनके मूल-प्राकृत बीज में ही वह सम्पूर्ण अध्ययन प्रकृत्या ही निश्चित रहता है, जिसमें न्यूनाधिक्य का अवसर नहीं है।

३४-कपोत के दृष्टान्त-माध्यम से पूर्णता का समन्वय—

स्वस्थान से शत क्रोश पर गया हुआ, किंवा भेजा गया कपोत पुन अपने उसी नियत स्थान पर लौट आएगा, जब कि मानव कभी कभी दिग्भ्रान्त भी बन जाया करता है। कपोत की स्थानानुगति प्रकृति

पर आलम्बित है, जो कभी कपोत से पृथक् नहीं होती। किन्तु मानव की स्थानानुगति 'संस्कार' पर अवलम्बित है। अतएव संस्कारों के अस्तव्यस्त होते ही मानव दिग्भ्रान्त हो जाता है। अतएव मानव अपने प्राकृत-स्थानों का अतिक्रमण कर बैठता है।

३५—पश्वादि की अपेक्षा से मानव की प्राकृत अपूर्णता, एवं विधि का विचित्र विधान—

न केवल पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि ही। अपितु प्रकृति क ही अवयवभूत, प्रकृति के द्वारा ही सञ्चालित नियन्त्रित प्राणात्मक असुर-देवता-पितर-गन्धर्व-अप्सरा-आदि इतर प्राकृत सर्ग भी स्व-स्व-प्राकृत क्षेत्रों से पूर्ण बने रहते हुए कदापि अपनी प्राकृत-सीमाओं का अतिक्रमण नही करते, जबकि मानव * अतिक्रमण कर जाता है। और यही मानव की प्रकृति-निबन्धना अपूर्णता है, एवं मानवेतर यच्चयावत् प्राकृत *प्राणों, तथा प्राणियों की प्रकृतिनिबन्धना पूर्णता है। और कैसा है यह विधि का विचित्र विधान,* जिसने मानव जैसी श्रेष्ठविभूति को तो बनाया है प्रकृत्या अपूर्ण, एवं मानवापेक्षया कहीं अवरकक्षा में प्रतिष्ठित इतर प्राणियों को बनाया है प्रकृत्या पूर्ण।

३६—दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से सीमित-नियन्त्रित-मनःशरीरमात्र प्राकृत प्राणियों का कामभोगात्मक 'जायस्व-म्रियस्व' मूलक समस्त जीवनेतिवृत्त—

दिक्-देश-कालात्मिका प्रकृति से सीमित, नियन्त्रित, एवं प्रकृति से ही सञ्चालित मानवेतर समस्त प्राणिवर्ग का एकमात्र महान् पौरुष (प्राकृतभाव) है-प्रकृति के क्रोड़ में उत्पन्न होजाना, प्रकृति के द्वारा जब भी, जो भी, जिस समय भी, जैसे भी, मिल जाय, उस से अपने प्राकृत स्वरूप को व्यक्त रखना, नहीं मिलने की दशा में, अथवा तो मात्स्य-न्यायानुसार किसी प्रबल प्राणी से कालग्रास बन जाना, और यों दिक्-देश-*काल-सीमा-में हीं अपना सबकुछ समाप्त कर लेना।*

३७—तत्समानधर्म्मा-आत्मबुद्धिविस्मृत, मनःशरीरमात्रपरायण, कामभोगानुगत, प्रत्यक्षवादी लोकायतिक मानव—

यदि मानव का स्वरूप भी ऐसा ही है, तो उस लोकचतुर प्राकृत-बुद्धिमान् का जीवन भी प्रशस्त ही माना जायगा, जो छल से, बल से, मायाचार से, तस्करवृत्ति से, पिशुनता से, अर्थगृध्नुता से, हिंसा से, परस्वापहरण से, येन केनाप्युपायेन आक्रान्त बन कर अपने प्राकृत मनः-शरीर-स्वरूप का भरण-पोषण करता हुआ कालान्तर में कालकवलित ही होजाता है अपने इसी प्राकृत स्वरूप से। ऐसा लौकिक-प्राकृत-मनःशरीर-धर्म्मा मानव ही 'लोकायतिक' वह मानव कहलाया है, जिस की दृष्टि में इस के वर्त्तमान मनःशीरात्मक भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त मानव की और कोई स्वरूपव्याख्या नही है। अतएव जिस की दृष्टि में शरीर के

---

*-नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैके--अतिक्रामन्ति।

—शतपथब्राह्मणे

भस्मसात् होने के साथ साथ मानव, और उसकी मानवता, मानवधर्म, आदि आदि सभी कुछ समाप्त है इतर प्राणियों की भाँति ।

३८–भस्मान्तशरीरवादी अनात्मवादी-प्राकृत मानव का दिग्देशकालात्मक 'यथार्थवाद', एवं तद्द्वारा 'आदर्श' की उपेक्षा—

ऐसे भस्मान्तशरीरवादी प्राकृत-मानव यदि सुख सुविधा के लिए ऋण कर कर के घृतपान भी कर लेते हैं, तो इसमें भी ये अपना कौशल-चातुरी ही मानते हैं । क्योंकि आत्मानुगत-सांस्कारिक पुण्य का, एवं तदनुबन्धी परलोक का अस्तित्व ही नहीं है (पशुओं की भांति) इन की भी दृष्टि में । अतएव ऐसे महान् ? मानवों की दृष्टि में न जिज्ञासा का महत्त्व, न समाधान का महत्त्व । अपनी इसी प्राकृत-पशुवृत्ति का नाम रख रक्खा है इन्होंने 'यथार्थ' । एवं मानव के कालातीत वास्तविक आत्मस्वरूप को 'आदर्शवाद' मानते हुए उस से विपरीत सर्वतः ये अपना परित्राण ही किए रहते हैं । अतएव इन की दृष्टि में अप्राकृत आदर्शभाव (आत्मभाव) काल्पनिक है, एवं प्राकृत-कल्पित-यथार्थ वास्तविक है ।

३९-यथार्थवादी प्राकृत मानवों के पशुसमतुलित प्राकृत-जीवन की अपेक्षा 'जन्मान्तर' रूप अमृमभाव, एवं तदपेक्षया इन का निःसीम उत्पीडन—

और सचमुच तो ठीक ठीक समन्वित है इन का पशुओं के साथ । अन्तर केवल यही है ऐसे शरीर-धर्मा प्राकृत मानवों, तथा पश्वादि प्राकृत प्राणियों में कि, पश्वादि प्राणी जहाँ शरीरावसान के साथ ही जन्म-मृत्यु-द्वन्द्व से मुक्त होकर अव्यक्ता प्रकृति में विलीन होजाते हैं, वहाँ प्राकृत मानवों को पुनः पुनः यमपाश से आबद्ध होते रहना पड़ता है । क्योंकि इन में प्रकृति से पर अवस्थित वह आत्मभाव भी समन्वित रहता है, जिस से सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों से इनका परित्राण कथमपि सम्भव नहीं है ।

४०–आत्मलोकशून्य मानव की उभयलोकशून्यता का दिग्दर्शन—

या आत्मलोकशून्य लौकायतिक प्राकृत मानव इस लोक में कब-कितना सुख कैसे कैसे जघन्य उपायों से भोगने में समर्थ ? बनते ? हैं ?, इस वर्त्तमानदिशा के अतिरिक्त वहाँ उन प्रचण्डतमा घोरघोरतमा 'यामी' यातनाओं से भी निरतिशयरूपपेण आर्त्त बनते ही रहना पड़ता है निरन्तर, जिन के आंशिक स्वरूप-बोध से भी प्राकृत-मानवों का कल्पित-यथार्थनामूलक व्यामोहन क्षणमात्र में धूलिधूसरित बन सकता है * । सचमुच

— यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

—नास्तिकशिरोमणिर्बृहस्पति

* अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोकः, नास्ति पर-इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

—कठोपनिषत् १।२।५,६, ।

यदि प्राकृत मानव के साथ दुर्भाग्यवश यह सांस्कारिक-'साम्परायभाव' नहीं होता, यदि सचमुच मरणान्त-दशामें इस का पश्वादिवत् सबकुछ निःशेष हो जाता, तो इस से बड़ा उत्कृष्ट पशु संसार में और कोई भी न होता।

४१-'संस्कार' रूप दुर्भाग्य से प्राकृत मानव की 'श्रेष्ठपशुरूपतापरिणति' में महान् प्रतिबन्ध—

किन्तु इस की सांस्कारिताने दुर्भाग्यवश प्राकृतता के क्षेत्र में भी इसे पशुश्रेणि से भी निम्नश्रेणि में ही ला खड़ा किया है। जबकि पशु वधिक के द्वारा एक ही बार निःशेष कर दिया जाता है, किंवा किसीप्रबल पशु से एक ही बार समाप्त कर दिया जाता है, किंवा यथाकाल स्वयं ही एक ही बार में सदा के लिए समाप्त हो कर भवबाधा से, जन्ममृत्युचक्र से मुक्त हो जाता है, वहाँ प्राकृत मानव वर्त्तमान जीवन में भी सबल प्राकृत मानवो के द्वारा अनुदिन पीड़ित-क्षतविक्षत-आर्त्त-बनता रहता है, किंवा प्रबल के द्वारा मार भी दिया जाता है, किंवा शरीर छोड़ भी देता है, तब भी इस के संस्कार इसे पुनः पुनः जन्म-मृत्यु-पाशों का अनुगामी बनाते रहते हैं। इससे बड़ा और क्या दुर्भाग्य होगा इस लोकायतिक-लोकचतुर-प्राकृत-बुद्धिमान् मानव का, जिसने अपनी सम्पूर्ण जीवनपद्धति को प्रकृति के अनुसार चलाने में ही महान् गौरव-मान लिया है। जिस की दृष्टि में दिग्-देश-कालात्मिका क्रमबद्धा प्राकृतिकी व्यवस्था ही मानव के लिए सर्वस्व बनी हुई है।

४२-तत्त्वमीमांसक दार्शनिकों से समतुलित भूतासक्त वैज्ञानिक-मानव-श्रेष्ठों के भूत-मन्थन-द्वारा सुख-सुविधा के नाम पर विश्वसंहारक कालकूट-हालाहल का सर्ज्जन, एवं तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन—

दूसरा विभाग दार्शनिक मानव का आता है, जिस के महान् चिरन्तन इतिहास का निबन्ध के तृतीय-खण्ड में विस्तार से उपबृंहण हो चुका है। तीसरा शेष रह जाता है भूतवैज्ञानिक-विज्ञानधुरीण आज का वह मानवश्रेष्ठ, जिसने प्रकृति के मन्थन-द्वारा प्रकृति के क्रोड़ से उसीप्रकार हालाहल आविर्भूत कर ही तो डाला है सुख-सुविधा-अनुकूलता-आदि नामच्छलों के माध्यम से, जैसे कि समुद्र-मन्थन-द्वारा किसी समय अराल-समुद्र से भौम मानवदेवासुरोंनें हालाहाल विष उत्पन्न कर लिया था, एवं आगे चलकर अपनी इस भूल की उपशान्ति के लिए इन्हें पुनः उसी ज्ञानाधिष्ठाता महान् शिव की शरण लेनी पड़ी थी। एवं सृष्टिस्वरूपसं-रक्षक भगवन् शङ्कर की ज्ञानग्रीवा में हालाहल के निबद्ध हो जाने से ही मानववंश का सन्त्राण हो सका था।

४३-दिग्देशकालातीत महाकाल-कालेश्वर मायी महेश्वर की आत्मग्रीवा में नियन्त्रित हालाहल की उपशान्ति से ही विश्वस्वरूप का संरक्षण, एवं भूतवैज्ञानिक के भूतविज्ञान की जिज्ञासा-समस्या-समाधान में असफलता—

अवश्य ही जबतक इस संहारक विज्ञानहालाहल को ज्ञानात्मक महादेव की ग्रीवा में * निबद्ध नहीं कर दिया जायगा, दूसरे शब्दों में जबतक इस कालक्रम-व्यवस्था-युगत क्षणिक विज्ञान को प्रकृत्यतीत आत्म-

*—ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्

ज्ञानाधर पर प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जायगा, तबतक यह अपने स्वतन्त्र इस वर्त्तमान–प्राकृत–भौतिकरूप से तो प्राकृत मानवों की लोक–वित्तैषणाओं को अनुदिन प्रज्ज्वलित करता हुआ अपनी महाशक्ति का ही प्रसार करता जायगा, एवं इस महाशक्ति को आवृत करने के लिए विज्ञान के आविष्कर्त्ता ये वैज्ञानिक–मस्तिक 'मानव की अनुकूलता, थोडे समय मे सुख–सुविधा' आदि प्रतारणापयों के माध्यम से अनुकूलतावादी प्राकृतमानवों को उत्तरोत्तरअपनी ओर अधिकाधिकरूप से आकर्षित ही करते जायँगे। अतएव च कदापि ऐसा वैज्ञानिक–मस्तिष्क भी मानव की पूर्वकथिता 'क्या खाते–पीते–ऐन्द्रियक–भोग भोगते हुए मर जाना हीं मानव का एकमात्र स्वरूप है ?' इस जिज्ञासा का समाधान–समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होता रहेगा।

४४–प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों को सिद्धान्त मान बैठने वाले दार्शनिक की, लोकचतुर प्राकृत-बुद्धिमान् की, तथा भूतवैज्ञानिक की दिग्देशकालातीत आत्मभाव के प्रति अनास्था, एवं इस वर्गत्रयी के द्वारा मानव की सहज जिज्ञासा से आत्यन्तिक-तटस्थता—

न तो प्राकृत–लौकिक–बुद्धिमान् मानव ही हमारी इस आस्था पर अपने प्रभ्रान्त जीवन में विश्वास करेगा, न वह भूतवैज्ञानिक ही, जिसे अपने अणुवीक्षणयन्त्रों के माध्यम से सृष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार का दम्भ हो गया है। एवं अपने इस यान्त्रिक परीक्षण में इस तत्त्वद्रष्टा ! वैज्ञानिक को यन्त्रलक्षीभूत अणुओं के पर्व–पर्व का विश्लेषण कर लेने पर भी मूलप्रकृति से अतीत कोई वैसा * अचिन्त्य अभौतिक तत्त्व आजतक उपलब्ध ही नहीं हुआ है चर्मचक्षुओं से। फिर भला वह अपने इस प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान की मान्यता के विपरीत, इस भातिसिद्ध जगत् के विपरीत उस शुद्ध सत्तासिद्ध किसी वैसे कालातीत–विश्वातीत तत्त्व के प्रति आस्था कर भी कैसे सकता है ? । अतएव लौकिक, तथा वैज्ञानिक को, और साथ ही प्रतीकात्मक दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठने वाले, अचिन्त्य आत्मतत्त्व को ज्ञानाधिकरण मान बैठने वाले आचारशून्य दार्शनिक को सचमुच हमारी नहीं, अपितु मानवमात्र की सहजसिद्धा अबुद्धिपूर्विका जिज्ञासात्मिका इस समस्या पर अपने जीवनक्षणों में कदापि विश्वास न हो सकेगा कि,–"अपनी मरणवेला मे, अथवा तो प्रकृति के किसी भयानक आघातक्षण मे जीवन वेला मे हीं, अथवा तो जन्मान्तरीय किसी पुण्यसंस्कारोदयक्षणों मे सहसा पूर्वानिचारित रूप से ही यह जिज्ञासा हो ही तो पडती है कि–अरे क्या मैं इसीलिए उत्पन्न हुआ था ? । मैं कहाँ से आया ?, क्या किया मैंने आकर ?, और अब क्या होगा मेरा ?"।

४५–जडविज्ञानरत भी मानवश्रेष्ठों में आत्मानुगता मानवता की क्षणिक अभिव्यक्ति से 'मानव' की कालातीता मानवता के सम्बन्ध में क्षणिक उद्बोधनोदय—

सर्वथा लौकिक, एकान्तत जड़विज्ञानरत भी प्राकृत मानवों के जीवन में अवश्य ही वैसे पुण्यक्षण भी कभी न कभी आते ही है, जिन में उन्हें भी विवश हो कर अपने वर्त्तमान–प्राकृत–भौतिक जीवन के प्रति

---

*–प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।

सहसा स्वतः ही क्षोभ हो पड़ता है। और उन पावन-क्षणों में ये प्रकृतिविमूढ भी मानव अपनी सहजसिद्धा आत्मनिष्ठा के अनुग्रह से सहसा उन समस्याओं के चिन्तन के लिए व्यग्र हो पड़ते हैं, जिस चिन्तनधारा का प्राकृत-पशुजगत् से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। **कैसे यह विश्व बना ?, इस महतो महीयान् विश्व का कारण कौन होगा ?, 'अहं' नामक 'मैं' पदार्थ कहाँ से, कैसे आविर्भूत हो पड़ा ?, आविर्भूत 'अहं' कैसे अमुक अवधिपर्य्यन्त व्यक्तभाव का अनुगामी बना रहता (जीवित रहता) है ?, कहाँ, किस पर हम, और यह विश्व प्रतिष्ठित है ?,** इत्यादि जिज्ञासात्मक प्रश्न (जिसे वैदिक परिभाषा में **'सम्प्रश्न'** कहा गया है) अवश्य ही कभी न कभी सभी श्रेणियों के मानवों में आविर्भूत हो ही तो पड़ते हैं *, और उस स्थिति में प्राकृत मानवों की सम्पूर्ण लोकचातुरी, सम्पूर्ण, विज्ञानगर्व क्षणमात्र में शरदभ्रवत् इन के मानस में ही विलीन हो जाता है ÷। मानव अन्ततोगत्वा मानव ही है। और 'मानव' जैसा मानव कदापि दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृत-व्यवस्थाओं की सीमा में ही अपने इस महतो महीयान् मानवस्वरूप को परिसमाप्त नहीं कर देना चाहता। अपितु वह इस प्रत्यक्षदृष्ट-श्रुत-उपवर्णित-भुक्त-भोग्य-प्राकृत जगत् से ऊपर उठ कर भी कुछ जानना चाहता है, और जानना चाहता है सर्वप्रथम वह अपने इस **'मानवस्वरूप'** को ही।

४६-दिग्देशकालात्मक-प्रकृतिसिद्ध महान् भूतव्यामोहन से मानवतानुबन्धी क्षणिक आत्म-बोधोदय की उत्तर दशा में अन्तर्मुखता, एवं मानव का 'प्रकृतिविजयात्मक'-काल्पनिक व्यामोहन—

किन्तु इसकी इस सहज-स्वरूपबोध-जिज्ञासा में इसका पशुसमतुलित प्राकृत-भौतिक-स्वरूप (मन, और शरीर) ही प्रतिबन्धक बना रहता है। शरीरानुगता भोगासक्ति, एव मनोऽनुगता कामासक्ति, इन दोनों का महान् प्राकृत व्यामोहन ही इसे इसके दिग्देश-कालातीत-नैष्ठिक-पूर्णस्वरूप की जिज्ञासा को पुष्पित-पल्लवित नही होने देता, नही होने देता ×। इस ओर कामभोगपरायणता-मूलक, मनःशरीरानुगत महान् प्राकृत व्यामोहन,

---

*-किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाताः, जीवाम केन, क्व सम्प्रतिष्ठाः ॥
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥
कालः, स्वभावो, नियति, र्यदृच्छा, भूतानि, योनिः पुरुषेति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखः-दुखः-हेतोः ॥२॥
—श्वे० उप० १।१,२,।

÷-सुनते हैं-सुप्रसिद्ध अमेरिकन वैज्ञानिक महाभाग सर्वश्री आइन्स्टीन को अपने मरणकाल से कुछ ही समय पूर्व भौतिकजगत् से परे की किसी अचिन्त्या शक्ति की ओर आकर्षित कर लिया था।

×-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः काम-भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।
—गीता-१६।१६।

और उस ओर की चिन्तन-धारा से सर्वथा ही असम्पर्श, इसी विषमता से मानव अपने अप्राकृत 'मानव' के स्वरूप संस्मरण से भी पराङ्मुख बना रह जाता है। और इसी पराङ्मुखता के निग्रहात्मक अनुग्रह से अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप कल्पित 'मानव-व्यक्तित्व' के संरक्षण के लिए आतुर बने रहने वाले इस प्राकृत बुद्धिमान मेधावी मानवश्रेष्ठ का सम्पूर्ण बुद्धिबल क्रम-व्यवस्थानुगत-काल-दिक्-देश-भावों से अनुप्राणित प्राकृत-भूत-भौतिक-पदार्थों के अन्वेषण-व्यवस्थापन-में ही परिसमाप्त हो जाता है, और इस महान् व्यामोहनात्मक बुद्धिवाद से ही यह मान बैठता है 'प्रकृति पर मानव का विजय', जब कि स्थिति है इससे सर्वथा ही विपरीत।

४७-पुरुषविहीना प्रकृति के सहज क्षोभ की अनन्तता, तद्द्वारा तन्मात्रासक्त प्राकृत मानव पर 'प्रकृति का महान् विजय', एवं कल्पनाविभोर प्राकृत मानव की काल्पनिक-क्षोभपरम्पराएँ—

पुरुषविहीना यह प्रकृति, ज्ञानप्रतिष्ठा-वञ्चित यह भूतविज्ञान तो अपने वैविध्य से विविध-ज्ञानात्मक-बनता हुआ कभी विश्राम ले ही नहीं सकता। नानाविज्ञानभावान्विता नानाप्रकृति तो बुद्धि के शान्ति-स्वस्ति-स्थिति-लक्षण एकत्व को सर्वथा अन्तर्मुख ही बना देती है। और यही प्रकृति का प्राकृत मानव पर विजय है। अनन्त (असंख्य) विस्तार है इस विविध-ज्ञान-लक्षण-'विज्ञानम्' का, एवं तन्मूला प्रकृति का, जिसका अशामक प्राकृत मानव कदापि उसकी इयत्ता का मापदण्ड कर ही नहीं सकता। कभी इसे पार्थिव विवर्त्त अपनी ओर आकर्षित करते हैं, ग्रह-नक्षत्र आकर्षित करते हैं, कभी यह चन्द्रलोक के स्वप्न देखता है, तो कभी नवीन प्रजोत्पत्ति की (तत्त्वसम्मिश्रण के आधार पर) कल्पना में विभोर बना रहता है।

४८-मयासुरादि प्राकृत वैज्ञानिक-मानवों के द्वारा प्रकृति की सीमा में प्राकृत-सुख-स्वप्नों की सफलता, एवं वारुण-असुरों के द्वारा त्रैलोक्य-विजय—

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, इसके ये स्वप्न साकार नहीं होते। हो सकते हैं, निश्चयेन ही सकते हैं। मयासुरादि पूर्व मानवोंने ऐसे स्वप्न साकार किए भी हैं, जिन्होंनें प्रकृतिविज्ञान के आधार पर नवीन चन्द्र-सूर्य्य बना डाले हैं। ब्रह्मास्त्र-वरुणास्त्र-आग्नेयास्त्र-जैसे विश्वविनाशक दिव्यास्त्रों की गुणगाथा से तो महाभारतप्रेमी सुपरिचित हैं हीं। प्रकृति के कालानुबन्धी दिग्देशानुगत निश्चित परिमाणों के बोध, तथा

मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः॥
—गीता ९।१२।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
—गीता ७।२५।

समन्वय-सम्मिश्रण से प्रकृति की सीमा में प्राकृत-मानव सभी स्वप्न पूरे कर सकता है, त्रैलोक्यविजयी बन सकता है। फिर क्या हुआ ? । क्या एतावता ही इसने प्रकृति के अवारपारीण अनाद्यनन्त स्वरूप पर विजय प्राप्त करली ? । क्या इन प्राकृत-विजृम्भणों के मूल्यदान से मानव सहज शान्ति-तुष्टि-समृद्धि का एकांश भी क्रीत कर सकेगा ? । असम्भव। सर्वथा असम्भव। प्रकृति का यह अन्वेषण, यह विजृम्भण तो मानव की एषणाओं को प्रवृद्ध करता हुआ किसी दिन 'महाभारत' का ही पुनरावर्त्तन कर सकता है, जिस भय से आज का विज्ञानजगत् प्रतिक्षण विकम्पित होता जा रहा है अपनी हीं इन विज्ञानविभूतियो ? से। तभी तो हमने निवेदन किया कि, यह सब अकाण्ड-प्राकृत- ताण्डव प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं है, अपितु यह तो उत्तरोत्तर प्रकृति से पराजित ही होना है।

४९-प्रकृति से सर्वात्मना आवृत भूतविज्ञान की प्रकृतिविजय में नितान्त असमर्थता, एवं कालातीत, प्रकृत्यधिष्ठाता अव्ययात्मा से ही सम्भावित 'प्रकृतिविजय'—

प्रकृति को सर्वात्मना आवृत कर लेना हीं प्रकृति पर विजय माना जायगा। विज्ञान जब स्वयं प्रकृति से आवृत है, प्रकृति के स्वल्पतम एकाणु—अंश में सीमित है, तो यह कैसे उस महान् प्राकृत विवर्त्त पर विजय-लाभ कर सकता है ? । प्रकृति को क्रोड़ में रखता है बुद्बुदवत् वह अनन्त अव्ययब्रह्म—'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। वही प्रकृतिविजेता माना गया है, जिसके यत्किञ्चिदंश में हीं प्रकृति विराजमाना है। कालातीत अव्यय-ब्रह्म ही काल—दिक्—देशात्मिका प्रकृति का विजेता है, वही मानव के प्राकृतस्वरूप को नियन्त्रित रख सकता है, वही मानव को प्राकृत व्यामोहनो से बचा सकता है। और वही है मानव का वास्तविक स्वरूप, जिसकी पूर्णाभि-व्यक्ति से ही मानव परिपूर्ण बन रहा है, जिस परिपूर्णता का प्राकृत मानव कदापि साक्षात्कार नही कर सकता, नही कर सकता। अतएव कदापि ऐसे पुरुषवञ्चित प्रकृतिमानव का प्राकृत दुःखों से परित्राण सम्भव ही नहीं है।

५०—चन्द्रलोक में गमनातुर भूतवैज्ञानिक की चान्द्रसुख-कामना, एवं तदनुगता सौरलोक-पारमेष्ठ्य-लोकादि-लौकिक-सुख-समृद्धि-परम्पराओं का श्रौत इतिवृत्त—

क्या प्राकृत मानव चन्द्रलोक में पहुँच कर भी सुखी नही हो जायगा ? । बस, क्या यहीं पर मानव ने अपनी कल्पना समाप्त करली ? । ऐसे असंख्य चन्द्रमाओं को बुद्बुद्वत् स्वमण्डल में प्रतिष्ठित रखने वाले सूर्य्य-संस्थान को उदाहरण बना लीजिए। ऐसे अनन्त-असंख्य-सौरमण्डलों को स्वमहिमामण्डल में अणुवत् गर्भीभूत रखने वाले पारमेष्ठ्य महासमुद्र पर पहुँच जाइए। और यही क्यों—ऐसे असंख्य पारमेष्ठ्य धामों को स्वसीमा में प्रतिष्ठित रखने वाले स्वयम्भू नामक आकाश को ही अपना आवासस्थान बना ही तो डालिए, जिससे बड़ा प्राकृत विश्व में और कोई दूसरा प्राकृत क्षेत्र तो नही है। कहिए ! है न यह आकाशात्मा स्वयम्भू तो आप के स्वप्नस्थानीय चन्द्रमा से कही 'महतो महीयान्' ? । यदि इस परम—महान्—स्वायम्भुव आकाशलोक में पहुँचने मात्र से भी आप की प्राकृत—भूत—सुख कामना पूरी न हो, तो अब आप इस आकाश को उसी प्रकार अपने भौतिक शरीर के चारों ओर वेष्टित कर लीजिए, जैसे कि शीत को निवृत्त करने के लिए आप

अपने शरीर के चारों ओर मसृण (चिक्कण) मृदुतम-केशलोमसमन्वित चर्म्म का (लबादे का) वेष्टन लगा कर सुखी बन जाया करते हैं। बोलिए ! अब तो आप प्राकृत सुख की पराकाष्ठा पर पहुँच गए न।

५१–स्वायम्भुव-परमव्योम-लक्षण परमाकाशलोक, उस का चर्म्मवत् आवेष्टन, 'प्रकृति-सुख' की तदनुगता अन्तिम सीमा, एवं तत्सुखव्यामोहन के सम्बन्ध में श्रुति का मानव को उद्बोधन-प्रदान—

कहाँ चन्द्रलोक, और कहाँ आकाशलोक। और उस पर भी केवल लोक ही नहीं, अपितु आकाशलोक का भी लबादे की भाँति पर्य्यवेष्टन। अब तो कोई भी कल्पना शेष नहीं रह गई प्राकृतिक लोकसुखों की दृष्टि से। क्या इस अन्तिम प्राकृत सुख पर पहुँचने से आप अपने प्राकृत दुःखों को परिसमाप्त करलेंगे ! । असम्भव। प्रकृति की सर्वोच्चभूमिका परमाकाशात्मक स्वायम्भुव आकाश (भूताकाश)। और उस पर पहुँचने पर भी, उसे चर्म्मप्रस्तरवत् अपने शरीर के चारों ओर वेष्टित कर लेने पर भी प्राकृत मानव तबतक कदापि उस आत्मानन्द की तो कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसके संस्पर्श के बिना प्राकृत दुःखों का अन्त सर्वथा असम्भव ही बना रहता है। प्रकृतिजगत् के इसी अन्तिम-आकाश-उदाहरण को लक्ष्य बना कर ही आत्मनिष्ठ ऋषिमानव ने प्राकृतमानव का ध्यान आकाशात्मा उस परमदेव-आत्मदेव की ओर ही आकर्षित किया है, जो कि मानव का अप्राकृत वास्तविक सत्तासिद्ध स्वरूप है, एवं जिसके बिना प्राकृत दुःखों का तो अवसान कदापि सम्भव नहीं है। लक्ष्य बनाइए। उदाहरणसमतुलनात्मिका इस श्रुति को, एवं तन्माध्यम से ही अपने क्षणिक विज्ञानविजृम्भण से अनुप्राणित चन्द्रलोकात्मक-गर्व का परित्याग कर उद्बोधन प्राप्त कीजिए ! 'तमेव विदित्वा-अतिमृत्युमेति, नान्य-पन्था विद्यते-अयनाय'।

> यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
>
> —उपनिषत्

५२–मानव की प्राकृतिक अपूर्णता के तथ्य का दिग्दर्शन—

"मानवेतर पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि प्राकृत प्राणी प्रकृत्या जहाँ परिपूर्ण हैं, वहाँ मानव प्रकृत्या अपूर्ण है" इस पूर्वोक्त वाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए। क्योंकि इसी वाक्य में मानव की स्वरूपजिज्ञासात्मिका महती समस्या भी प्रतिष्ठित है, एवं समस्या का समाधान भी प्रतिष्ठित है। मानव को इसलिए प्रकृत्या अपूर्ण बतलाया जारहा है कि, यह प्रकृति के गर्भ में प्रकृति का यत्किञ्चित् अंशात्मक एकांश बन कर प्रतिष्ठित है। मानवेतर प्राणी भी इस दृष्टि से तो प्रकृत्या अपूर्ण ही माने जायँगे। क्योंकि ये भी प्रकृति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले प्रकृति के एकांशरूप ही हैं। और यों प्रत्यक्षदृष्ट्या मानव, तथा मानवेतर प्राणी, दोनों ही विभाग प्रकृत्या अपूर्ण ही माने जायँगे। फिर किस आधार पर मानव को अपूर्ण, तथा मानवेतर प्राणीवर्ग को पूर्ण कहा गया ?, यह सहज प्रश्न है। प्रश्न का समाधान कीजिए।

५३–पशु-पत्ती-आदि मानवेतर प्राणिजगत् की जन्मसिद्धा प्रकृतिमूला प्राकृतिक-योग्यता का दिग्दर्शन—

पशु–पत्ती–आदि प्राकृत प्राणियों को अपने मनःशरीरमात्रानुबन्धी प्राकृत जीवन की आवश्यकता के लिए जो कुछ आवश्यक–अपेक्षित है, प्रकृति स्वयं ही वह आवश्यक–अपेक्षित अंश इन प्राणियों को इन के जन्म के साथ साथ ही प्रदान कर देती है। साथ ही इन के प्राकृत जीवन का समस्त उत्तरदायित्व प्रकृति स्वयं अपने देश–कालानुबन्ध–स्वरूप से वहन करती रहती है। अतएव ये प्राणी अपने उत्तरदायित्वरूप महान् संघर्षों से बचे रहते है। सिंह–व्याघ्रादि का अपने निवास के लिए गुहा–कन्दराओं का अन्वेषण–निम्र्माण, चिड़ियाओं का प्रजननकाल में घोंसला-निम्र्माण, सुप्रसिद्ध 'बया' नामक पत्ती का विचित्र शिल्पाकृति से समन्वित पञ्जरनिम्र्माण, शीतप्रधान देशों के प्राणियों का प्रचण्ड–शीतकाल में स्थानान्तरित होजाना, शीतसमाप्ति पर पुन: तत्रैव चले जाना, स्व–स्व–प्रजाओं का स्व–स्व–प्रकृत्यनुसार लालन–पालन, प्राप्त-वयस्कता के अनन्तर सब का स्वतन्त्ररूपेण विचरण, आदि आदि यच्चयावत् उत्तरदायित्व प्रकृत्या ही इन प्राकृत प्राणियों में जन्म से ही विद्यमान हैं। कदापि इन के लिए किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का वैसा शिक्षा-कौशल, अभ्यास प्राप्त नही करना पड़ता, जैसाकि मानव को अपने जीवनीय–आचार–व्यवहारादि के लिए स्वयं पहिले तद्विषयो की बुद्धिपूर्विका शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है, सीखना पड़ता है, तब कहीं यह अपने उत्तरदायित्व–निर्वाह में समर्थ बन पाता है।

५४–मानवेतर प्राणियों की एककेन्द्रभूता प्रकृति. एवं मानव की स्वकेन्द्रानुगतता, तथा इतरप्राणियों की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, और मानव की परतन्त्रता—

सम्पूर्ण प्राणियों का केन्द्र जहाँ एक प्रकृति है, वहाँ मानव स्वयं अपना केन्द्र है। अपने केन्द्र से सञ्चालित मानव केन्द्र की प्रेरणा के विना सर्वथा दिग्भ्रान्त बना रहता है, जब कि प्रकृति के केन्द्र से सञ्चालित मानवेतर प्राणी कभी दिग्भ्रान्त नही बनते। मानव प्रात: सूर्य्योदय पूर्व उठने में विलम्ब कर सकता है केन्द्रविच्युत होकर, जब कि काक–चटक-कपोतादि प्राणी नियत समय पर स्वतः ही सूर्य्योदय से पूर्व जागरूक हो पड़ते है। मानवेतर प्राणी प्रकृति की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने प्राकृत स्वरूप के भरण पोषण के लिए प्रकृत्या ही सङ्केतित नियत स्थानविशेषों की ओर (आहारादि के अन्वेषण के लिए) चल पड़ते हैं, जबकि केन्द्रप्रेरणया यथासमय शय्या का परित्याग करने वाले मानव को आहारादि की चिन्ता से पूर्व अनेक चिन्ताओं का अनुगमन करना पड़ता है। यों अनेक प्रत्यत्त दृष्टियों से यह सर्वात्मना प्रमाणित है कि, मानवेतर प्राणी जहाँ प्रकृत्या सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र हैं, यथेच्छाचार–विहार-परायण हैं, वहाँ मानव प्रकृत्या ही परतन्त्र है।

५५–मानवेतर प्राणिजगत् के भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-कालों का केवल वर्त्तमानकाल में अन्तर्भाव, द्वन्द्वात्मक विधि–निषेध से इस की असंस्पृष्टता, एवं प्रकृतिप्रेरणा से ही इस जगत् की तुष्टि-पुष्टि—

प्राणी का भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान–सबकुछ यह वर्त्तमान ही है। न इस के साथ भूत का सम्बन्ध, न भविष्यत् का। अपितु जो कुछ, जैसा कुछ यह जन्म में है, वैसा ही सदा बना रहता है। ऐसे व्यवस्थित हैं

इस के प्राकृत-कार्य्यकलाप, जिन में कभी द्वन्द्वभाव का समावेश होता ही नहीं। अतएव इसका प्राकृत-निर्णय सर्वथा सुनिश्चित बना रहता है। क्या कर्त्तव्य है?, क्या अकर्त्तव्य है?, कब क्या करना चाहिए?, कब क्या नहीं करना चाहिए?, इसप्रकार का द्वन्द्वात्मक विधि-निषेध कदापि प्राकृत प्राणियों को उत्पीडित-क्षुब्ध-नहीं करता। अपितु इन का एक ही, निश्चित ही निर्णय होता है, और इस निर्णय के लिए स्वयं इन को कोई अध्यवसाय-तपोऽनुष्ठान-शिक्षा-व्यासङ्गादि नहीं करना पड़ता। अपितु जिसप्रकार महायन्त्र की प्रेरणा से तत्सम्बद्ध छोटे यन्त्र स्वतः सञ्चालित रहते हैं, तथैव प्रकृति के महायन्त्र से ये प्राकृत प्राणी निर्द्वन्द्वता-पूर्वक, निश्चिन्तता-पूर्वक, विना आयास-प्रयास के, प्रकृति की प्रेरणा-अनुग्रह से स्वतः ही अपने वर्त्तमान में तुष्ट-पुष्ट बने रहते हैं।

५६-प्रकृत्यैव महद्भाग्यशाली--भाग्यवशवर्त्ती--प्राणिजगत् की पूर्णता, एवं भाग्यवाद से वञ्चित प्रकृतिपरवश मानव की अपूर्णता—

निष्कर्षतः-प्राकृत प्राणी के प्राकृत संस्थान में प्राकृत प्राणी की आवश्यकता के लिए जो कुछ ज्ञान-क्रिया-अर्थ-चाहिएँ, वे सब प्राकृत ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रत्येक प्राकृत प्राणी में प्रकृति के द्वारा प्राकृत प्राणी को जन्मतः ही, विना ही प्रयास के उपलब्ध हैं। विधि (प्रकृति) ने इनका सर्वस्व भागधेय इन के प्राकृत-स्वरूप में ही सुरक्षित-व्यवस्थित कर दिया है। और यों प्रकृत्या महाभाग्यशाली ही प्रमाणित हो रहे हैं ये प्राकृत प्राणी। इस निश्चिन्तता का नाम ही इन की 'पूर्णता' है, जबकि मानव इस निश्चिन्तता से वञ्चित रहता हुआ इस प्राकृत-दृष्टि से 'अपूर्ण' ही प्रमाणित हो रहा है। मानव के लिए जो कुछ अपेक्षित-आवश्यक है, वह प्रकृति से ही मानव को स्वतः ही जन्म से ही उपलब्ध नहीं होजाता। इस दृष्टि से यदि इसे भाग्यहीन-अपूर्ण-कह दिया जाय, तब भी कोई क्षति नहीं है। भाग्यवादात्मक निश्चिन्तवाद के महान् भोक्ता तो केवल प्राकृत पश्वादि प्राणी हीं माने जायँगे। जबकि अप्राकृत, किंवा प्रकृत्या अपूर्ण मानव को तो प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रेरणा से, अपने पौरुष से ही काम लेना पड़ेगा।

५७-शिक्षामाध्यम से साध्या मानव की प्राकृत-योग्यता, तदर्थ इस की छन्दोबद्धता, तदनुगता पुरुषार्थपरायणता, एवं पुरुषात्मानुगता पूर्णता से ही मानवीया परिपूर्णता की अभिव्यक्ति—

सबकुछ प्रयासपूर्वक इसे सीखना पड़ेगा, सीख कर तदनुकूल आचरण करना पड़ेगा, अथ से इति पर्यन्त अपने प्राकृत-जीवन को सच्छन्दस्क-मर्य्यादित बनाना पड़ेगा, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मिका स्वैराचारपरायणता का परित्याग कर अपने आपको सर्वात्मना सुव्यवस्थित बनाना पड़ेगा, प्राकृतिक व्यामोहनों से जागरूकता-पूर्वक अपना सन्त्राण करते रहना पड़ेगा, और तब कहीं इस का पुरुषार्थ सफल हो सकेगा। इस प्राकृत सघर्ष-मूलक-महान् उत्तरदायित्व के कारण ही इसे उन उत्तरदायित्व-शून्य-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र--पश्वादि-प्राकृत-प्राणियों के समतुलन में अपूर्ण कहा जायगा। केवल प्रकृति से इस का कोई कार्य्यनिर्वाह न होगा, जैसेकि पशुओं का निर्वाह केवल प्रकृति से ही होजाता है। यही इस की प्राकृत-अपूर्णता होगी। अपितु इसकी यह प्राकृत अपूर्णता तो इसे अपने उस 'पुरुष' भाव (आत्मभाव) से ही दूर करनी पड़ेगी, जो पुरुषभाव मानव की प्रकृति को नियन्त्रित बनाने की क्षमता रखता है। यह पुरुषता ही इस की परिपूर्णता कहलाएगी, एवं यह पौरुष ही इस का पूर्णभाव कहलाएगा, जिस आत्मपौरुष से प्राकृत प्राणी एकान्ततः वञ्चित हैं।

५८–अनन्त-परिपूर्ण-अव्ययात्मपुरुष, तदेकांश में बुद्बुद्वत् समासीना प्रकृति, एवं पुरुषात्मापेक्षया अस्तित्व-विहीन मानवेतरप्राणी, और इनकी प्राकृतिक पूर्णतामूला भातिसिद्धता—

अनन्त-पूर्ण-है पुरुष, जिस के एकांश में प्रकृति बुद्बुद्वत् समासीना है। उस अनन्तपुरुष की अपेक्षा से इस सादिसान्ता प्रकृति का अस्तित्व 'न' के समान हीं माना जायगा। और इस दृष्टि से तो मानवेतर प्राकृत प्राणियों का कोई स्वरूप ही नहीं माना जायगा। पुरुषात्मना प्राकृत प्राणी न केवल अपूर्ण ही कहलाएँगे, अपितु केवल भातिसिद्ध ही माने जायँगे। और इस तथ्य के आधार पर अब यह कहा जायगा कि,–प्राकृत प्राणी जहाँ प्रकृत्या पूर्ण हैं, वहाँ आत्मपुरुष की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये प्राणी सर्वथा ही अपूर्ण, अकिञ्चित्कर, तथा शून्यं–शून्यं हीं हैं।

५९–मानव की पुरुषानुगता पूर्णता, आत्मानुबन्धी 'पूर्ण' शब्द, तदपेक्षया अपूर्णा प्रकृति, एवं प्राकृत विश्व, तथा प्राकृत प्राणियों की अपेक्षा पुरुषात्मनिष्ठ मानव की ही पूर्णता—

उधर मानव केवल प्राकृतभावानुबन्ध से (मनःशरीरानुबन्ध से) जहाँ अपूर्ण है, शून्यं–शून्यं है, वहीं यही अपने पुरुषात्मानुबन्ध से (आत्मबुद्ध्यनुबन्ध से) सर्वात्मना परिपूर्ण ही है। वस्तुतस्तु 'पूर्ण' शब्द एकमात्र पुरुषाव्ययानुगत आत्मभाव में हीं निरूढ़ है। प्रकृति तो सदा ही अपूर्णा है अथ से इति पर्य्यन्त। जो अपरिवर्त्तनीय है, शाश्वत सनातन है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, वही 'पूर्ण' है। अतएव बिना पुरुष के सहयोग के कदापि इस में व्यावहारिक–पूर्णता का भी उदय सम्भव नहीं है। अतएव जो प्रकृत्या पूर्ण, अतएव जो मनसा, शरीरेण च पूर्ण होगा, उसे अपूर्ण ही कहा जायगा, एवं जो पौरुषेण (आत्मना, बुद्ध्या च) पूर्ण होगा, उसे ही पूर्ण कहा जायगा। पश्वादि प्राणी प्रकृत्या पूर्ण होते हुए भी क्योंकि पौरुषेण अपूर्ण ही हैं, अतएव इन्हें अपूर्ण ही कहा जायगा।

६०–अव्ययपुरुषानुगता पूर्णता की अभिव्यक्ति से वञ्चित मानव की पशुरूपता, एवं मनःशरीरमात्रपरायण प्राकृत मानव का शोचनीय-प्राकृत-इतिवृत्त—

मानव क्योंकि पौरुषेण (पुरुषात्मना) प्रकृत्या च उभयथा पूर्ण है, अतएव इसे परिपूर्ण ही कहा जायगा। तात्पर्य्य यही है कि, बिना आत्मपुरुषबोध के मानव पश्वादि प्राणियों की अपेक्षा प्रकृत्या भी जहाँ अपूर्ण है, ऐसे आत्मवञ्चित मानव की अपेक्षा प्राकृत पशु ही पूर्ण हैं, वहाँ आत्मबोधान्वित मानव न केवल पश्वादि की अपेक्षा से ही, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अपेक्षा से आत्मना परिपूर्ण होता हुआ प्रकृत्या भी पूर्ण ही बन जाता है। ऐसी उभयात्मिका परिपूर्णता का महान् अधिष्ठाता मानव प्राकृत–व्यामोहन में आसक्त हो कर प्राकृत पश्वादि प्राणियों की भाँति जब मनःशरीरानुगत काम–भोगों में आसक्त होता हुआ दिग्देशकाल–व्याख्याओं को ही अपना सर्वस्व पौरुष मानने–मनवाने की भ्रान्ति में निमग्न हो जाता है, तो ऐसे बुद्धिवादी प्राकृत–मानव के सम्बन्ध में अवश्य ही ये उद्गार अभिव्यक्त हो पड़ते हैं कि–'अरे ! ऐसे प्राकृत मानवों

की अपेक्षा तो वे पशु-पक्षी ही कहीं श्रेष्ठ हैं, जो अपनी प्राकृत-मर्यादाओं का तो अतिक्रमण नहीं करते'-(न पशव अतिक्रामन्ति, मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति)।

६१-बुद्धिवादात्मक-प्राकृत-अनुभवों से समन्वित मानव का प्राकृत-व्यक्तित्व, तन्निबन्धना अनुभव-परायणता, तदनुगता दिग्देशकालबन्धनता, एवं तथाभूत बौद्धिक-अनुभव से सीमाबन्धनरूपा जड़ता का उदय—

प्राकृत-बुद्धिवादात्मक-अनुभव से लाभ उठाते हुए प्राकृत मानवने अपने मानस-पटल पर प्राकृत संस्कारों का जो महान् भार सञ्चित कर लिया है, वही मानव का व्यक्तित्व बन बैठा है। दिक्-देश-कालानुबन्धिनी-क्रमव्यवस्थाओं से पुष्पित-पल्लविता ये प्राकृत-अनुभूतियाँ ही मानव का वह 'अनुभव' कहलाया है, जिसे मानव अपना व्यक्तित्व मान रहा है, जबकि है यह वस्तुतः मानव का व्यक्तित्व-विमोहन ही। अपने प्राकृत जीवन के एक बड़े भाग को अत्यन्त परिश्रम-श्रम-अध्यवसायपूर्वक-प्राकृत-भूत-भौतिक-पदार्थों के परीक्षण-चिन्तन-आलोडन-विलोडन-आदि में व्यतीत कर देने वाला, चिरकाल की आराधना करने वाला, अपने भौतिक-प्राकृतिक-अन्वेषणा की सफलता के लिए दिक्-विदिक् में, देश-प्रदेशों में अनुधावन करने वाला, यों इन दिक्-देश-कालानुधावनों के द्वारा महान् प्रयास से भूतों की काल-क्रम-व्यवस्था का समन्वय करता हुआ मानव सचमुच ही तो अपने मानस-पटल पर वैसा 'अनुभवपुञ्ज' प्रतिष्ठित कर लेता है, जिसके भार से यह स्वयं ही उत्पीडित हो पड़ता है। इसी उत्पीड़नात्मक महान् अनुभव को यह मान लेता है मानव का व्यक्तित्व। यही व्यक्तित्वभार इस प्राकृत मानव को चिर अभ्यस्त देशकाल की सीमा से बाहिर निकलने ही नहीं देता।

६२-अनुभवपरायण बुद्धिमान् मानव का निःसीम-प्राकृत अभ्यास, तदनुगत दिग्देश-काल-सापेक्ष व्याख्याव्यामोहन, एवं तदनुग्रह से दिग्देशकालातीत अप्राकृत तत्त्व के नामश्रवणमात्र से भी इसका विकम्पन—

इसकी बुद्धि दिग्देशकालानुबन्धों में चिर अभ्यास के कारण इस सीमापर्यन्त प्राकृत बन जाती है कि, यह इस अभ्यास के दृढमूल बन जाने के अनन्तर वैसी कोई बात सुनना भी अनुरूप नहीं मानता, जिसका दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्याख्या से कोई सम्बन्ध न हो। दिक्-देश-कालात्मक-प्राकृत-भूतजगत् को छोड़कर इसकी प्राकृत बुद्धि दिग्देशकालातीत किसी अप्राकृत तत्त्व की कल्पना भी तो नहीं कर सकती। बिना भूत-माध्यम के, बिना इसकी दिग्देशकालात्मिका क्रमव्यवस्थात्मिका बुद्धिगम्या ' व्याख्या के इसका प्राकृत मन, प्राकृत बुद्धि, प्राकृत अनुभव कुछ भी सुनना-देखना अभीप्सित नहीं मानता। यदि कभी इसके सम्मुख यह दृष्टिकोण आकस्मिकरूप से आ भी जाता है कि, 'तुम्हारा यह सम्पूर्ण अनुभव उस दिग्देशकालातीत पुरुष के समतुलन में 'नहीं' के समान है,' तो इस वाक्यश्रवणमात्र से भी यह प्राकृत मानव उद्विग्न हो पड़ता है। क्योंकि यह यत्किञ्चित सा ही आघात इसके महान् परिश्रम के द्वारा सञ्चित अनुभव को धूलिधूसरित करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है।

६३–अनुभवदम्भ के परित्याग से लोकानुबन्धी प्राकृत व्यक्तित्व के मूलोच्छेद की सम्भावना, तद्भय से कालातीत सनातन तत्त्वों पर तर्काक्रमण, एवं बौद्धिक तर्कजाल के द्वारा इसकी आत्मरति से पराङ्मुखता—

यदि मानव अपने इस अनुभवदम्भ को छोड़ देता है, तो इसका कल्पित व्यक्तित्व ही उच्छिन्न हो जाता है, जिस अनुभवात्मक व्यक्तित्व के कारण यह समाज में अपना एक गौरवास्पद स्थान प्रतिष्ठित किए हुए है। अतएव यह अपने व्यक्तित्वविमोहनात्मक इस कल्पित व्यक्तित्व के संरक्षणमात्र के लिए (स्वयं अपने अन्तर्जगत् में मानवसुलभ ऋजुभाव के विद्यमान रहते हुए भी) अपने बुद्धिवादात्मक भौतिक–दिग्देशकालात्मक–परिच्छिन्न–तर्कों से उस तर्कातीत पर आक्रमण आरम्भ कर देता है।

६४–दिग्देशकालाभ्यासानुगता प्रचण्डा तर्कशक्ति, तत्साम्मुख्य में तर्कातीत आत्म-पुरुष की मौनता, तन्मूला विजयभ्रान्ति, एवं तदनुबन्धी मानव का निःसीम दुर्भाग्य—

अवश्य ही दिग्देशकालाभ्यासों से इसकी तर्कशक्ति प्रचण्डतमा बनी रहती है, जिसके समतुलन में उस तर्कातीत को मौन ही होजाना पड़ता है। अवश्य ही इसके तर्कजाल से इसका अन्तरालवर्त्ती अप्राकृत आत्मस्वरूप इससे परोक्ष ही बन जाता है। और दुर्भाग्यवश इस आत्मपरोक्षता को ही यह अपना महान् विजय भी उद्घोषित करने लग पड़ता है। किन्तु इन सब महान् आरम्भों–प्रयासों से भी इसे पुरुषमूला वह आत्मशान्ति तो उपलब्ध नहीं ही होती, जिसके समतुलन में इसकी इस विजयश्री का कुछ भी तो महत्त्व नही है। दिग्देशकालानुबन्धी–प्राकृत–अनुभवात्मक–बुद्धिवादात्मक मानव के इस महान् शत्रु व्यक्तित्व–विमोहनात्मक कल्पित व्यक्तित्व ने ही 'मानव' जैसी महती विभूति (दिग्देशकालातीता अव्ययात्मनिबन्धना परिपूर्णता) से इस मानव को वञ्चित किया है, जिससे बड़ा दुर्भाग्य प्राकृत–मानव का और कुछ भी तो नहीं होसकता।

६५–'बाल्येन तिष्ठासेत्'-उद्बोधन-सूत्र के द्वारा सम्भावित आत्मत्राण, एवं सहज जिज्ञासा-त्मक परिप्रश्न, तथा सम्प्रश्न शब्दों के तात्त्विक बोध का समन्वय—

'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादि महान् उद्बोधनसूत्र के अनुगमन के बिना कदापि मानव इस व्यक्तित्वविमोहन से आत्मत्राण नही कर सकता। एवं इस उद्बोधनसूत्रानुगति का अधिकार प्राप्त है उन जिज्ञासु मानवों को ही, जो आस्था–श्रद्धा–पूर्वक जिज्ञासामात्र करते हैं, कुछ जानना चाहते हैं–जानने के बुद्धिवादात्मक दम्भ से, तथा व्यक्तित्वविमोहन से अपने आपको ऋजुभावपूर्वक असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए। ये प्रश्न नहीं करते, अपितु प्रणतभावपूर्वक आस्था–श्रद्धा के माध्यम से 'सम्प्रश्न' करते हैं, जिसे गीता की परिभाषा में 'परिप्रश्न' कहा है। प्रश्न, और सम्प्रश्नात्मक परिप्रश्न में वही अन्तर है, जोकि तर्कात्मिका 'वादबुद्धि', एवं सत्य–ऋजुभावात्मिका 'सहजबुद्धि' में अन्तर है। अपने अनुभवों के आधार पर अपनी एक निश्चित मान्यता बनाकर उसे सर्वोपरि स्थापित करने के लिए तर्कपूर्वक अपने अनुभूत दिग्देशकालानुबन्धी–

प्रत्यक्षसिद्ध-ऐन्द्रियक-भूतभातिक-भावों के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपनी मान्यताओं की साटोप व्याख्या करते हुए अपने स्वतन्त्र उद्गार अभिव्यक्त करने का नाम जहाँ 'प्रश्न' है, वहाँ अपने अनुभव को समाप्त कर सर्वथा-प्रणतभाव से, अपने आप को अज्ञ मानते हुए महर्षि दीर्घतमा की सुप्रसिद्धा * भाषा का अनुगमन करते हुए जिज्ञासा करना ही 'सम्प्रश्न' है —, एवं इसी का नाम 'परिप्रश्न' है ×।

६६–अनुभवात्मक 'प्रश्न' शब्द की भौतिकता के व्यामोहन से परित्राण का आदेश, तदनुबन्धी कालसूक्त-संस्मरण, एवं तद्द्वारा 'सम्प्रश्न' के माध्यम से मानव का मानवीय-स्वरूप की ओर सहज आकर्षण—

प्रश्न में कुतर्कात्मक भातिक तर्क है, इन्द्रियसापेक्ष तर्क है। ऋषि कहते हैं, सावधान! ऐसे तर्क से बचाओ अपने आप को। कदापि ऐसा भौतिक तर्क तुम्हें स्वरूपबोध न होने देगा +। ऐसे सम्प्रश्न-पथानुगामी, प्रणतभावेन परिप्रश्नपथानुवर्त्ती आस्था-श्रद्धा-शील आरुरुक्षु जिज्ञासुवर्ग के उद्बोधन के लिए ही महर्षिने दो सूक्तों के द्वारा परमदेवात्मक उस प्राकृत-काल का स्वरूप अभिव्यक्त किया है, जिस की सीमा में हीं प्रकृति के सापेक्ष सादि-सान्त व्यक्तकाल, दिक्, देश, प्रदेशादि भाव प्रतिष्ठित हैं। इस कालस्वरूप से, एवं चतुर्विधा कालमहिमा से अवश्य ही जिज्ञासु मानव का कालात्मक भाकृत व्यामोहन उपशान्त हो जाता है। एवं उपशान्ति के साथ साथ ही इस कालप्रतीक के माध्यम से ही काल की अनन्तता के द्वारा मानव का ध्यान कालातीत अपने 'मानव' स्वरूप की ओर अवश्य ही आकर्षित हो जाता है।

---

* अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
—ऋक् सं० १।१६४।

— यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या॥
—ऋक् सं० १०।८२।३।

× तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
—गीता ४।३४।

\+ नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥
—कठोपनिषत् १।२।९।

६७–जिज्ञासात्मक सहज आकर्षण से आत्मबोधनिष्ठ बन जाने वाले मानवश्रेष्ठ की अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसिद्धि, तदनुगत दिग्देशकालमीमांसेतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से ही लोकभावुकता–संरक्षक–आचारात्मक–दिग्देशकालानुबन्धी लौकिक स्वरूप का उपक्रम—

अपने इसी सहजाकर्षण से आत्मबोधनिष्ठ बन जाने वाला कालातीत मानव (आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव) अपने ही विवर्त्तरूप कालात्मक मानव (मनःशरीररूप मानव) स्वरूप से कालक्रमव्यवस्था–पूर्वक प्राकृत–आचार का यथाविधि–यथाकाल–यथादेश–यथादिक्–यथाप्रदेश–अनुगमन करता हुआ अपने इस कालिक–दैशिक–प्राकृत स्वरूप को भी पूर्णरूपेण अभ्युदयपथानुवर्त्मा प्रमाणित कर लेता है, एवं स्वानुगत आत्ममानव–रूपेण परिपूर्ण बनता हुआ निःश्रेयस् का भी अधिकारी बन जाता है। और यही कालसूक्तद्वयी की उक्त मन्त्रार्थसमन्वयसङ्गति से अनुप्राणिता प्रस्तुत–'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे आधार बना कर ही अब दो शब्दों में लोकभावुक मादृश प्राकृत मानवों के मनोऽनुरञ्जनात्मक लोकसंग्रह–संरक्षण के लिए ही दिग्देशकालभावों का लौकिक स्वरूप व्यक्त कर दिया जाता है लोकभाषा में ही। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

६८–भूत–भौतिक–प्रधाना बुद्धिगम्या लोकानुरञ्जनात्मिका आचारभावानुगता–दिग्देशकालानुबन्धिनी लोकव्याख्या, एवं तन्मूलक 'सर्वमिदं प्राकृतिकं–भूत–भौतिकमेव' इत्यादि प्राकृत–सूत्र—

'सर्वमिदं प्राकृतिकं, भूतभौतिकमेव' इस प्राकृत–मूलसूत्र के आधार पर ही दिग्देशकालभावों की बुद्धिगम्या लोकानुरञ्जनात्मिका आचारभावात्मिका वह लोकव्याख्या प्रस्तुत हो रही है, जिसके साथ चिदात्म–लक्षण 'अव्ययात्मा' ('चैतन्य') का, तथा चित्प्रकृतिलक्षण 'अक्षर' ('चेतना') का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु सम्बन्ध है, लोकदृष्टि के साथ विकृतिलक्षणा क्षरभावान्विता उस 'भूतप्रकृति' के साथ, जो इन्द्रिय–स्पृष्ट–दृष्ट–भूत–भौतिक–प्राकृतिक–पदार्थों की स्वरूपाधिष्ठात्री बन रही है, एवं जिस इस भूतप्रकृति के आधार पर ही भौतिक काल–दिक् देश–प्रदेशादि–भाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। भूतप्रकृति–सापेक्ष व्यक्त मूर्त्त–काल ही जब भूतसापेक्ष–मूर्त्तकाल है, तो तदभिन्ना दिक्, एवं तदभिन्न देशात्मक प्रदेश की भूतसापेक्षता में तो कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। मानव की प्राकृत–बुद्धि, भूतानुगता लोकबुद्धि की इन्द्रियसापेक्षा, भूतसापेक्षा–बुद्धिगम्या व्याख्या के आधार ये तीनों भूतसापेक्ष प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत–उपवर्णित काल–दिक्–प्रदेश–भाव ही तो बने हुए हैं।

६९–अप्राकृत–आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव की जिज्ञासाधारभूता 'काल–दिक्–देश–त्रयी', एवं प्राकृत–मनःशरीरभावुक लोकमानव की प्रश्नाधारभूता 'दिक्–देश–काल–त्रयी, तथा दोनों दृष्टिकोणों में महान् अन्तर—

प्राकृत मानव जब भी, जहाँ भी, जो भी कुछ बोलेगा, चिन्तन करेगा, सर्वप्रथम वह दिक् को ही पकड़ेगा, दिशा–बिन्दु के अनन्तर तत्सीमित देश–प्रदेशात्मक–भूत को लक्ष्य बनाएगा, एवं उस दिग्देशात्मक भूत–

पदार्थ को कालक्रमानुपात से ही समन्वित करने का प्रयास करेगा। अतएव अप्राकृत मानव अपने कालातीत पुरुषाव्ययस्वरूप से चलकर जहाँ काल-दिक्-देश-प्रदेश-इस क्रम का अनुगमन करेगा, वहाँ कालात्मक प्राकृत मानव सर्वप्रथम दिक् को लक्ष्य बनाएगा, दिक् के द्वारा देशात्मक भूतप्रदेश (वस्तु) को लक्ष्य बनाएगा, तन्माध्यम से तद्वस्तु की कालमीमांसा करेगा-'कब बनी ?, क्या क्या परिणाम हुए किस किस काल में ?, अमुक वस्तु का कालान्तर में क्या स्वरूप होजायगा ?, इत्यादि रूपेण। यो इस प्राकृत बुद्धिवादी मानव की ज्ञानमीमांसात्मिका (तत्त्वमीमांसात्मिका)-बुद्धिगम्या-व्याख्या में काल-दिक्-देश-यह क्रम न रहकर दिक्-देश-काल-यह क्रम रहेगा। कदापि यह काल के द्वारा दिक्-देशात्मक भूत के साथ मानित्य नहीं करेगा। अपितु यह तो दिग्देशात्मक वस्तुपदार्थ को अपनी भूतेन्द्रिय के सम्मुख रक्खेगा, तभी उसके कालस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होसकेगा, और तभी वह यह बतला सकेगा कि,-'अमुक पदार्थ ईसा से अमुक वर्ष पूर्व का है, अमुक शककाल का है, अमुक गुप्तकाल का है, अमुक इत्याकाल का है, किंवा अमुक लिच्छवियों के गणतन्त्रात्मक मघकाल का है, इत्यादि।

७०-बुद्धिवादी प्राकृत मानव के द्वारा 'भूतेतिहास' की क्रमबद्धा-व्यवस्था, तन्मूलक-'पुरातत्त्ववाद', तदनुगत ध्वंसावशेष, तन्मूला जीवनपद्धति का महान् व्यामोहन, एवं तद्द्वारा प्राकृत-कालयापन—

इसी कालक्रमानुपात से यह बुद्धिवादी भूतपदार्थों के क्रमबद्ध इतिहास व्यवस्थित करेगा, इसी भूतेतिहास को वह 'पुरातत्त्व' कहेगा, एवं इसी के आधार पर यह मानव की प्राकृत-भौतिक-लौकिक-जीवन-पद्धतियों से सम्बन्ध रखने वाली भौतिक सभ्यताओं का कालविनिर्णय करेगा। और यों दिग्देशानुबन्धी इसी गणनकाल के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त यह बुद्धिवादी पुरातत्त्वाभिनिविष्ट कभी मृण्मय लोष्टों को, कभी पुरातन भग्न त्रुटित मृण्मय पात्रखण्डों को, कभी भूगर्भस्थ पाषाण-धातु-निर्मित प्रतिमाओं को, कभी १००-२००-वर्षों की पुरानी चीवर-कन्थाओं को, तो कभी तत्तद्युगानुगता-रजत-सुवर्णादि मुद्राओं को माध्यम बना बना कर, इन्हीं को अपना परमाराध्य मान कर इनके आधार पर ही कालक्रम-व्यवस्था का समन्वय करता हुआ कालयापन करता रहेगा।

७१-दिग्-देश-कालात्मक भौतिक-वित्तों के आनन्त्य से कालिक-दैशिक-व्यामोहनों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, तन्मूलक एषणात्मक इस का ऐतिहासिक दम्भ, तद्द्वारा ऋषिप्रज्ञा पर निर्लज्ज आक्षेप, इत्यलमत्यालमेव—

कदापि इस का दिग्देशानुबन्धी यह कालचङ्क्रमण उपशान्त न होगा। क्योंकि अनन्त हैं-दिग्भाव, अनन्ता दिक् से अनुप्राणित अनन्त हैं देश-प्रदेशात्मक पदार्थ। एवं अनन्त-असंख्य हैं गणनात्मक व्यक्तकाल, जिन का मन्वन्तर के माध्यम से खण्डारम्भ में ही दिग्दर्शन कराया जा चुका है। भूतविज्ञाननिष्ठ आज के पुरातत्त्ववित्-इतिहासमर्मज्ञ इस के क्रमबद्ध (कालक्रमबद्ध) इतिहास का यही सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस का बड़े गर्व-मद-मान से उद्घोष करता हुआ यह कालाभिनिविष्ट भारतीय ऋषिप्रज्ञा की इसप्रकार की हीन आलोचना करता हुआ लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बन जाता कि-"इन भारतीयों का कोई क्रमबद्ध इतिहास रहा

ही नहीं। यदि कभी रहा होगा भी, तो अज्ञतावश, किंवा सभ्यता के पूर्ण विकसित न होने से क्रमबद्धरूपेण लिखा ही नहीं गया। जो कुछ लिखा भी गया, वह ऐसा ऊटपटाँग–अस्तव्यस्त–विचित्र विचित्र कल्पनाओं से समन्वित रहा, जिस का मानवबुद्धि के द्वारा कालक्रमव्यवस्थानुपात से समन्वय ही सम्भव नहीं"। 'आलप्यालम्' के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं कहा जासकता इस अभिमानी पुरातत्त्ववित्–इतिहासमर्म्मज्ञ आज के आलोचक के लिए, जिसने भारतीय–पारिभाषिक शब्दों के अक्षरार्थमात्र–समन्वय से भी अपने आप को एकान्ततः वञ्चित ही रख लिया है। तभी तो–'मुखमस्तीति वक्तव्यं-दशहस्ता हरीतकिः' को अक्षरशः चरितार्थ करता हुआ यह बुद्धिवादी उस ऋषिदृष्टि पर यों अनर्गल आक्रमण करने की धृष्टता कर बैठता है, जिस ऋषिदृष्टि के अक्षरार्थमात्र–समन्वय के लिए भी अभी इसे ऋषिशाला की तो वर्णमातृका का ही सर्वप्रथम अभ्यास करना पड़ेगा।

७२–विनश्वर-प्राकृत-मनःशरीरनिबन्धन-तात्कालिक भूतपदार्थों के साथ-'इति-ह-आस' मूला भूत-भविष्यत्-मर्य्यादा का असंस्पर्श, एवं भारतीय शाश्वत सनातन-इतिहास–बीजों का संस्मरण—

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, यहाँ विनश्वर प्राकृत–भावों के जायस्व–म्रियस्व–रूप परिवर्त्तन को 'इति ह्-आस'–'रूप इतिहास' माना ही नही गया। मन, और शरीर के अतिरिक्त इस मूर्त्त दिग्देशकाल का कोई इतिहास नही, एवं ऐसे मृत्युस्मारकरूप परिचयचिह्नों की समष्टि से सम्बद्ध इतिहास का आत्मनिष्ठ मानव की शाश्वत चैतन्यधारा में कोई उपयोग नही। ऋषिवंश-पितृवंश-देववंशादि-प्राणवंश ही भारतीय शाश्वत इतिहास के मूलबीज हैं, जिन का भूतवंश से कोई सम्बन्ध नही है। क्योंकि मर्त्य–भूत के साथ परम्परानुगत–इतिहास–शब्दानुबन्धी 'वंश' का सम्बन्ध ही नही है। अतएव भूतपदार्थों के माध्यम से, इन भग्नावशेषों के माध्यम से मानवेतिहास के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त होने जैसा 'बालकर्म्म' तो और कोई हो ही नहीं सकता।

७३–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से मानव के चिरन्तन 'आत्मेतिहास' की आराधना, एवं अनन्तकाल के द्वारा अनुमेय अनन्त आत्मभाव—

'काल'–प्रतीक–माध्यम से अवश्य ही मानव के चिरन्तन–आत्मेतिहास की आराधना का प्रयास किया जा सकता है। किन्तु भूतानुबन्धी–भूतसापेक्ष गणनकाल के माध्यम से नहीं। अपितु परमदेवात्मक अव्यक्त–अनन्त–अमूर्त–उस काल के माध्यम से, जिस का मानवबुद्धि अनुमान भी नही लगा सकती। आस्तां तावत्। अभी तो हमें प्राकृत मानव के सापेक्ष–दिक्–देश–काल–भावों के माध्यम से ही इस के प्राकृत भूतविवर्त्त की बुद्धिगम्या व्याख्या का समादर कर लेना है। सम्भव है–लोकभावुकता–संरक्षक इस भूत–वाद के माध्यम से भी हम इस प्राकृत मानव का ध्यान काल के उस अनन्तभाव की ओर आकर्षित कर सकें।

७४–अनन्त दिग्देशकालात्मक अनन्त भौतिक–विश्व का माङ्गलिक-संस्मरण—

हाँ, तो प्राकृत मानव भी यह तो स्वीकार करता ही है कि, यद्यपि–पूर्व–पश्चिमादि के भेद से दिग्भाव दस ही संख्याओं में विभक्त है। तथापि क्योंकि देशात्मक, किंवा प्रदेशात्मक प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भूत दिग्–

भावों से नित्य आक्रान्त है, एवं देशप्रदेशात्मक भूतपदार्थ संख्या से क्योंकि अनन्त हैं। अतएव तदनुबन्धी दशधा विभक्त-दशायतन दिग्भाव भी यों अनन्त भूतों की अनन्त असंख्य-अपेक्षा से अनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। इस दिगानन्त्य से काल भी अनन्तभावों का ही अनुगामी बन रहा है। देशात्मक भौतिक पदार्थ अनन्त, तत्सापेक्ष दिग्भाव भी अनन्त। प्रत्येक भूतपदार्थ का काल पृथक् पृथक्। अतएव काल भी अनन्त-असंख्य ही। अनन्तकालानुगत-अनन्त दिग्भाव से समन्वित इन अनन्त प्रदेशात्मक पदार्थों की समष्टि का नाम ही है-'अनन्तदिग्देशकालात्मक अनन्त भौतिक विश्व'।

७५-व्यष्टिरूप प्रत्येक भौतिक-पदार्थ से अनुप्राणिता दिग्-देश-काल-भावों की अनन्तता का समन्वय, एवं कालविभूतियों की अनाद्यनन्तता —

अब प्रत्येक उस भूत पदार्थ की दृष्टि से अनन्तता का समन्वय कीजिए, जिसमें एक काल, एक दिक्, एवं एक देश समन्वित है। प्रत्येक भूतवस्तु में असंख्य रूप-गुण-भाव समन्वित हैं। महाभूतस्वरूपसम्पादक पञ्चभूतात्मक अनन्त-असंख्य रेणुभूत समाविष्ट हैं प्रत्येक पदार्थ में। प्रत्येक रेणुभूत में तत्स्वरूपसम्पादक अनन्त-असंख्य अणुभूत समाविष्ट हैं। प्रत्येक अणुभूत में अनन्त-असंख्य गुणभूत (पञ्चतन्मात्राएँ) प्रतिष्ठित हैं। तदित्थं-प्रत्येक भूतपदार्थ, दिग्देशात्मक प्रत्येक वस्तुभाव अपने गुण-अणु-रेणु-भूत-महाभूत-भेद से अनन्तभावात्मक ही प्रमाणित हो रहा है। तथैव अमुकामुक परमाकाश-समुद्राकाश-गुणाकाश-अणवाकाश-रेणवाकाश-भूताकाश-महाभूताकाशादि भेद से अनन्ताकाश देश, किंवा प्रदेश भी अनन्त ही बन रहा है। अनन्त है दिक्, अनन्त हैं आकाशात्मक देश-प्रदेश। एवमेव निमेष-क्षण-मुहूर्त्त-अह-रात्रि-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-सम्वत्सर-मानवयुग-पितृयुग-देवयुग-ब्राह्मयुगादि के भेद से गणनात्मक काल भी अनन्त ही है, जिसके परिगणन में अन्ततोगत्वा संख्याओं का प्रक्रमात्मक अभिक्रम ही समाप्त होजाता है। और यों सहसा सर्वथा सादि-सान्त भी प्रतीयमान दिक्-देश-काल अपने इन विभूतिभावों से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहे हैं।

७६-मूर्त-व्यक्त-भौतिक-दिग्देशकालों के व्यष्ट्यात्मक आनन्त्य की सूचीमात्र से पराभूता मानव की लोकप्रज्ञा, एवं तदपेक्षया मानवेतर पश्वादि प्राकृत-प्राणियों की विशेष-योग्यता-शालिता—

मानव की प्रज्ञा थक थक जायगी, किन्तु वह कदापि इस आनन्त्य की सूचीमात्र भी सम्पन्न न कर सकेगी। अतएव अपने इस बुद्धिगम्य प्राकृत भूतजगत् की दृष्टि से भी प्राकृत मानव का ऐसा बुद्धिदम्भ सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित हो जायगा कि,-"उस ने दिग्देशकाल की क्रमव्यवस्था के आधार पर भूतों की इयत्ता जान ली है, पहिचान ली है"। यदि यत्किञ्चित् जान भी लिया है, तो ऐसा यत्किञ्चित् ज्ञान तो पशु-पक्षियों की प्राकृत-बुद्धियों में भी सहजरूप से ही, जन्म से ही व्यवस्थित है, जबकि प्राकृत मानव को इस यत्किञ्चित्ता के लिए भी महान् प्रयास ही करना पड़ता है। यही नहीं, इस दिशा में तो मानवापेक्षया उन प्राकृत प्राणियों का काल-ज्ञान-दिग्ज्ञान-देशज्ञान कहीं अधिक क्रम-व्यवस्थित माना जायगा, जो पहिले से ही शुभाशुभ-घटनाओं को जानकर तदनुपात से अपने अनुरूप दिक्-देश-कालों की व्यवस्था निश्चित कर लेते हैं। यह सत्य है कि,

यदि किसी समुद्रतट–प्रान्तवर्त्ती प्रदेश में ज्वालामुखी का विस्फोटन सम्भावित होता है, तो वहाँ के प्राकृत प्राणी उस प्रदेश को पहिले से ही छोड़ देते हैं, जबकि कालक्रमव्यवस्था का दम्भ करने वाला बुद्धिवादी प्राकृत मानव उस ज्वाला में हीं आहुत होजाता है इसे न जानने के कारण। दिक्–देश–कालानुबन्धिनी सम्पूर्ण–भूतविज्ञानपद्धति का एतावान् ही महत्त्व है, जिस के द्वारा मानव आजतक भी पशुओं के प्राकृत-विज्ञान की भी समता नही कर पाया है।

७७–प्राकृत वैज्ञानिक मानव के 'प्रकृतिविजय' का सम्पूर्ण इतिवृत्त, तदनुगामी विज्ञान-दम्भ, एवं तन्निग्रह से मानव की बुद्धि में भूतजड़ता का उदय –

यही इसके प्राकृत–दिग्देशकालभावों का वह महत्त्व पूर्ण इतिवृत्त है, जिस के बल पर आज यह अपने आपको–'प्रकृतिविजेता' मान बैठा है। यही इस का वह विज्ञानदम्भ है, दिग्देशकालव्यवस्थानुगत वह बुद्धिवाद है, जिसके आवेश में आकर इसने अपने विज्ञानवाद को ही मानवजीवन का चरम–लक्ष्य मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है। इसी भ्रान्ति ने मानव की बुद्धि में, मानव की प्रज्ञा में एक वैसी जड़ता उत्पन्न करदी है, जिस जड़ता से न तो यह चेतनारूप अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त–अक्षरकाल से ही परिचित होने पाता, एवं न कालातीत चिद्रूप–अव्यक्तातीत चिदात्मा का ही संस्मरण कर पाता। इसी वैषम्य के कारण तद्वञ्चित इस विज्ञान से अन्ततोगत्वा मिलता है, मिलेगा सर्वनाश, जिस के द्वारा आज सम्पूर्ण मानवता का ही उच्छेद सम्भव बनता जारहा है इसी की दृष्टि में, जबकि भारतीय ऋषिदृष्टि की तो–'**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' ही सहजनिष्ठा है। न केवल भूतविज्ञानवादी ही, अपितु तथाविध सभी अनात्मवादी-शून्यवादी–क्षणवादी–स्वलक्षणवादी–मानव इसी प्राकृतिक विजृम्भण के अनुग्रह से दुःखं दुःखं उद्गार ही-अभिव्यक्त करते रहे हैं पूर्वयुगों में भी, एवं करते ही रहेंगे आत्मबोधनिष्ठा से पराङ्मुख बने रहते हुए वर्त्तमान, तथा भविष्य में भी।

७८–उपनिषदनुगता अक्षरोपासना, आगमानुगता शक्त्युपासना, कर्म्मकाण्डानुगता यज्ञोपासना, गीतानुगता बुद्धियोगोपासना, आदि आदि प्रकार-माध्यमों से उत्पीड़क–व्यक्त–काल के उपशमनकर्त्ता–पीड़ानिवर्त्तक–व्यक्तकालपीड़क–अनन्तकाल के द्वारा भूतजड़ता से परित्राण—

कैसे मानव का तथाकथित कालव्यामोहन उपशान्त हो ?, कैसे प्राकृत–मानव की प्राकृत बुद्धि दिक्–देश–कालानुगता भौतिक–क्रमव्यवस्था से अपना परित्राण कर बुद्धि से अतीत, अतएव कालातीत अपने अनन्त स्वरूप को प्राप्त करे ?, इत्यादि प्रश्नों की समाधानभूमि कालपुरुष के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। काल ही मानव को इस के कालिक व्यामोहन से उन्मुक्त करने की क्षमता रखता है, काल ही मानव को काल के उत्पीड़न से बाहिर निकाल सकता है, जो काल ही काल को उत्पीड़ित कर तद्द्वारा मानव को (मानव के प्राकृत स्वरूप को) उत्पीड़ित करता रहता है। जो उत्पीड़न का कारण है कालमाध्यम से, वही, अपने हीं माध्यम से इस प्राकृत उत्पीड़न को उपशान्त करने की भी क्षमता रख रहा है, जिस के लिए इस उत्पीड़ककाल के माध्यम से मानव को उस पीड़ानिवर्त्तक काल की ही आराधना में प्रवृत्त होना

पड़ेगा, जिस उस कालोपासना को ही तान्त्रिकोंनें-'शक्त्युपासना' कहा है, वेदशास्त्र में जो उपासना प्रणवात्मिका 'अक्षरोपासना' कहलाई है, कर्म्मनाण्डदृष्ट्या जो उपासना 'यज्ञोपासना' कहलाई है, एवं गीता के शब्दों में जो उपासना अबुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुई है *।

७९-अनन्त कालपुरुषात्मक अक्षर की उपासना का माध्यम व्यक्तकालात्मक क्षरात्मक यज्ञपुरुष, एवं तत्प्रतीकात्मक उपास्य भगवान् सूर्य्यनारायण—

कालपुरुषात्मक अक्षर की (पराप्रकृति की) उपासना का माध्यम क्योंकि यज्ञपुरुषात्मक क्षर (अपराप्रकृति) ही बनता है। अतएव 'स्थूलारुन्धती'-न्याय से यज्ञपुरुष के माध्यम से ही हमें उस पीडानिवर्त्तक कालपुरुषात्मक अक्षर का उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए। जिसे हम प्राकृत मानव 'काल' (समय) कहा करते हैं, वह वस्तुत काल का क्षरात्मक 'यज्ञरूप' ही माना गया है। महाकालपुरुष, और उनकी महाशक्ति काली, दोनों के कालातीत दाम्पत्य से आविर्भूत 'यज्ञपुरुष' का नाम ही वह व्यक्तकाल है, जिसे हम अपनी प्राकृत-लौकिक-भाषा में 'वर्षकाल' कहा करते हैं, जो कि वर्षकाल वैदिक भाषा में-'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी कि भारतीय आस्तिक प्रजा 'सूर्य्य' रूप से आराधना करती रहती है।

८०-यज्ञ-सम्वत्सर-सूर्य्य-वर्ष-काल-समय-आदि शब्दों की समानार्थकता, एवं सौर सम्वत्सरात्मक व्यक्त-मूर्त्त-काल की अनन्तता का समन्वय—

यज्ञ, सम्वत्सर, सूर्य्य, वर्ष, चारों शब्द इस व्यक्त सामान्यधर्म्म से समानार्थक बन हुए हैं। यही प्रदेशात्मक, किंवा दिगात्मक व्यक्त काल है, यही मूर्त्तकाल है, यही सृष्टिकालात्मक 'वर्त्तमानकाल' है, यही-'पुण्याहकाल' है, जो अपने अनन्त पुण्याह स्वरूप को मानव के एक 'वर्ष' से सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। जिसे हम अपनी भाषा में-व्यवहार में वर्ष (बरस) कहते हैं, सूर्य्यात्मक वर्ष इस वर्ष से कहीं महतो महीयान् है। मानव के कई अर्ब-खर्ब-वर्ष मिलकर सूर्य्यरूप एक वर्ष का स्वरूप प्रजा में अनुमेय बनता है। अतएव मानव के ३६५ अहोरात्रात्मक एक वर्ष के अनुपात की दृष्टि से तो सौरसम्वत्सरात्मक एक वर्ष भी सर्वात्मना अनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। सौरसम्वत्सरात्मक एक वर्ष ही एक सृष्टिकाल है, यही है एक ब्राह्म अह काल (ब्रह्मा का एक दिन)। भारतीय प्रजा के समस्त धार्मिक विधि विधान यद्यपि सम्पन्न होते हैं इस के अपने ३६५ अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से (मुहूर्त्त से) ही। तथापि सर्वत्र इनके प्रकारात्मक सङ्कल्प में मूलप्रतिष्ठा बना रहता है वह अनन्त सौरकालात्मक-पुण्याह कालरूप ब्राह्म-दिन लक्षण 'सौरसम्वत्सर' ही, जैसा कि-'श्वेतवराहकल्पे सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे०' इत्यादि सङ्कल्प-सन्दर्भ से स्पष्ट है।

८१-दैवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, मानवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, एवं अव्यक्तकाल-सौरकाल मानवकाल-भेद से काल के तीन महिमा-विवर्त्त—

यों अब दैवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, मानवसम्वत्सरात्मक पार्थिववर्ष-भेद से दो प्रकार के व्यक्तकाल हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। तीसरा वह अव्यक्त अमूर्त्तकाल है, जिसे हमने 'महाकालपुरुष'

*-देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक षष्ठ खण्ड (७०० पृष्ठात्मक)।

कहा है, एवं जिसकी प्रथमा अभिव्यक्ति को ही हमने 'सौरकाल' कहा है। उसके व्यक्तीभाव का नाम सौरकाल, एवं सौरकालके व्यक्तीभाव का नाम मानवकाल, यों अव्यक्तकाल-सौरकाल-मानवकाल भेद से एक ही काल के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इदमत्रावधेयम्—समन्वयदृष्ट्या। सौर-व्यक्तकाल के अभिव्यञ्जक अव्यक्त-कालात्मक महाकाल के ही—'स्वायम्भुव—अव्ययाक्षरात्मक—अनन्तकाल, तथा पारमेष्ठ्य—महदक्षरात्मक—अव्यक्तकाल, भेद से दो महिमा विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें अव्ययानुगत अक्षरात्मक स्वायम्भुव अनन्तकाल की अभिव्यक्ति का नाम ही महदक्षरात्मक—पारमेष्ठ्य—अव्यक्तकाल है, इस अक्षरात्मक अव्यक्तकाल की अभिव्यक्ति का नाम ही क्षरानुगत अक्षरात्मक व्यक्त-मूर्त्त-सौरकाल है, एवं इस सौर—व्यक्त—मूर्त्त—क्षर—काल की अभिव्यक्ति का नाम ही पृथिव्यनुगत-विकारक्षरात्मक—चान्द्र-मूर्त्ति-रूप-व्यक्तकाल है।

८२—वृत्तात्मक 'छन्द', छन्दोरूप 'सम्वत्सर', तद्रूप अनन्त—अमूर्त्त—मूर्त्त—मूर्त्ति-रूप चतुर्विध कालविवर्त्त, एवं कालात्मिका सम्वत्सरचतुष्टयी का -'वसुधानकोशात्मक सम्बन्ध'—

यों अथ से इति पर्य्यन्त काल के चार महिमा—विवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें क्रमशः अनन्त-अमूर्त्त-मूर्त्त-मूर्त्ति- नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, जैसा कि पूर्व में तालिकारूपेण स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० ३९६ की तालिका)। वृत्त का ही नाम वर्षात्मक सम्वत्सर है, वृत्त का ही नाम छन्द है, छन्द ही सम्वत्सर की स्वरूप—परिभाषा है। स्वयम्भू भी वृत्तात्मक है, परमेष्ठी भी वृत्तात्मक है, सूर्य्य भी वृत्तात्मक है, एवं पृथिव्यनुगत चन्द्रमा भी वृत्तात्मक है। अतएव वृत्तात्मक-छन्दोमय-इन चारों ही कालविवर्त्तों को सम्वत्सरवृत्तात्मक वर्ष की अभिधा से समन्वित किया जा सकता है। इन चारों वर्षों में परस्पर दहरोत्तर सम्बन्ध है, जिसे कि 'वसुधानकोशसम्बन्ध' भी कहा गया है।

८३—ब्राह्मकालात्मक अनन्तकाल, पैत्र्यकालात्मक-अमूर्त्तकाल, दैवकालात्मक मूर्त्तकाल, मानवकालात्मक मूर्त्तिकाल-चतुष्टयी के साथ क्रमशः मानव के भूतात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-शरीरात्मा नामक चार पर्वों के साथ समसमन्वय—

चान्द्रसम्वत्सरात्मक मूर्त्तिकालात्मक-चौथा-अन्तिम-सम्वत्सरात्मक वर्ष ३६५ अहोरात्र का है, जिसे ही हम 'मानववर्ष' (मानव आयु का एक वर्ष) कहा करते हैं। ऐसे अर्ब—खर्वादि—अनन्त—असंख्य—मानव-वर्षों की समष्टिरूप सौरसम्वत्सरात्मक—मूर्त्तकालात्मक—ब्राह्म अहर्लक्षण—तीसरा सम्वत्सरात्मक—वर्ष ही—'दैववर्ष' है। ऐसे असंख्य—अगणित—सौर—ब्रह्माण्डरूप मूर्त्तकाल—सम्वत्सरों को स्वमहिमामण्डल में द्रप्सरूप से प्रतिष्ठित रखने वाला गणनातीत—संख्यातीत—अनन्त्य से समन्वित—पारमेष्ठ्य सम्वत्सरात्मक-अमूर्त्तकालात्मक-दूसरा सम्वत्सरात्मक वर्ष ही 'पैत्र्यवर्ष' है एवं अपने अणु अणु में ऐसे ऐसे एक एक पारमेष्ठ्य-ब्रह्माण्डों को, अनन्त-असंख्य-पारमेष्ठ्य-सम्वत्सरवृत्तों को अवग्लापन से असंस्पृष्ट रहते हुए स्व परमाकाशसीमा में अणुवत् गर्भीभूत रखने वाला, मानव की प्राकृत संस्था से सर्वथा ही अतीत-अव्ययानन्त्य से समन्वित-स्वायम्भुव—सम्वत्सरात्मक—अनन्तकालात्मक पहिला सम्वत्सरात्मक वर्ष ही 'ब्राह्मवर्ष' है। [1]स्वयम्भूर्ब्रह्मा, [2]परमेष्ठी पितर, [3]सूर्य्यदेव, [4]चन्द्रमामानव, इन चार भावों से अनुप्राणित, [1]स्वायम्भुव-[2]पारमेष्ठ्य-

¹सौर-²चान्द्र-सम्वत्सरवर्षात्मक, ¹अनन्त-²अमूर्त्त-³मूर्त्त-⁴मूर्त्ति-नामों से समलङ्कृत, ¹ब्राह्मकाल-²पैत्र्यकाल-³दैवकाल-⁴मानवकाल-अभिधाओं से उपश्लोकित ये चारों 'प्राकृतकाल' ही मानव के उस चतुष्पर्वा प्राकृत-स्वरूपमात्र के व्यवस्थापक हैं, जो मानवीय प्राकृत पर्व क्रमशः ¹भूतात्मा-देही-जीवात्मा-²विज्ञानात्मा (बुद्धि)-³प्रज्ञानात्मा-(मन)-⁴शरीर-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

८४-चतुर्विध कालविवर्त्तों में से भूतविज्ञानवादी का लक्षीभूत चतुर्थ भौतिक मूर्त्तिकाल, तन्निबन्धना इसकी कालज्ञता-भ्रान्ति, एवं काल के अनन्त विस्तार के सम्बन्ध में पुराणपुरुष भगवान् व्यास के उद्गार—

प्राकृत मनात्मा स्वायम्भुव ब्राह्मकाल से अनुप्राणित है, प्राकृत विज्ञानात्मा पारमेष्ठ्य पैत्र्यकाल से अनुप्राणित है, प्राकृत प्रज्ञानात्मा सौर दैवकाल से अनुप्राणित है, एवं प्राकृत शरीर चान्द्र-पार्थिव-मानवकाल से अनुप्राणित है। प्राकृत मानव जिस कलनात्मक-क्रमसिद्ध-काल के आधार पर भौतिक विज्ञान की व्यवस्थित करता है, जिस भौतिक विज्ञानगर्व में आकर यह अपने आपको प्रकृतिविजेता मान बैठता है, चान्द्र-कलात्मक-शरीरभूतानुगत-मानववर्षात्मक वह काल तो प्राकृतकाल का भी वैसा सा, उतना सा प्रत्यशतमात्मक यत्किञ्चिदंश ही प्रमाणित हो रहा है इसके ऊर्ध्वस्थित शेष तीनों मूर्त्त-अमूर्त्त-अनन्त-दैव-पैत्र्य-ब्राह्म-कालों के समतुलन में। ऐसी स्थिति में केवल चतुर्थ-चान्द्रसम्वत्सरात्मक-मानवकाल को ही अपना सर्वस्व मानने वाले वैज्ञानिक की प्रकृतिविजय का, किंवा कालविजय का, किंवा दिग्देशकालविजय का क्या, और कितना महत्त्व शेष रह जाता है ?, प्रश्न का उत्तर पुराणपुरुष भगवान् व्यास से ही सुनने का अनुग्रह कीजिए।

> क्वाहं तमो महदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
> क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ।
>
> —श्रीमद्भागवते

८५-परिलेखानुगता चतुर्विध-कालमहिमाओं का संग्रहात्मक समन्वय—

परमाकाशात्मक स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर चन्द्रकाल-पर्य्यन्त व्याप्त, महिमाचतुष्टयी-रूप इस 'विराट्काल' के महतोमहीयान् अचिन्त्य-अप्रत्यक्ष्य-स्वरूप के समतुलन में मानववर्षात्मक-चान्द्रकाल को एक प्रादेशात्मक 'प्रदेशकाल' ही माना जायगा, जिस प्रादेश का मापदण्ड है-सार्द्ध दशाङ्गुलभाव। कहाँ विराट्काल, और कहाँ यह मानव का क्रमसिद्ध-गणनात्मक-प्रादेशमित-प्रदेशात्मक-काल ! । इस प्रदेशात्मक चान्द्रकाल की अपेक्षा मूर्त्त सौरकाल (दिव्यसहस्रयुगात्मक) देशात्मककाल माना जायगा, तदपेक्षया आपोमय-पारमेष्ठ्य-अमूर्त्तकाल को 'दिगात्मककाल' कहा जायगा। सर्वान्त के प्राणमय स्वायम्भुव अनन्तकाल को 'कालात्मककाल' कहा जायगा। यों इन चारों कालों के साथ क्रमशः काल-दिक्-देश-प्रदेश-इन चारों कालविवर्त्तों का सम्बन्ध माना जा सकेगा। परिलेख के द्वारा लक्ष्य बनाइए इस कालमहिमा को, एवं तदाधार पर ही अपनी प्राकृत-मान्यताओं से अनुप्राणित दिग्देशकालभावों के समन्वय का प्रयत्न कीजिए।

कालमहिमाचतुष्टयी-परिलेखः—

१—स्वायम्भुवकालः-अनन्तः (स्वायम्भुववर्षः-ब्राह्मकालः)—कालः (कालकालः—स्वायम्भुवः) ।

२—पारमेष्ठ्यकालः—अमूर्त्तः (पारमेष्ठ्यवर्षः-पैत्र्यकालः)—दिक् (दिक्कालः—पारमेष्ठ्यः) ।

३—सौरकालः——मूर्त्तः (सौरवर्षः——दैवकालः)—देशः (देशकालः—सौरः) ।

४—चान्द्रकालः—मूर्त्तिः (चान्द्रवर्षः—मानवकालः)-प्रदेशः (प्रदेशकालश्चान्द्रः) ।

—*—

प्राकृतकालानुगतः—प्राकृतमानवः—(अक्षरविवर्त्तमिदम्)

१—अव्ययानुगताक्षरकालः—प्राकृत एव—तदनुगतः—भूतात्मा (मानवस्य) स्वायम्भुवः ।

२—अक्षरानुगताक्षरकालः—प्राकृत एव—तदनुगतः—विज्ञानात्मा-(मानवस्य)—पारमेष्ठ्यः ।

३—क्षरानुगताक्षरकालः—प्राकृत एव—तदनुगतः—प्रज्ञानात्मा (मानवस्य)—सौरः ।

*४—विकारानुगतः-क्षरकालः—प्राकृत एव—तदनुगतं—शरीरं (मानवस्य)—चान्द्रपार्थिवम् ।

—*—

८६—अनन्तकाल की पूर्ण अभिव्यक्तिस्वरूप अमूर्त्तकाल, तत्पूर्णाभिव्यक्तिस्वरूप मूर्त्तकाल, तत्पूर्णाभिव्यक्तिस्वरूप मूर्त्तिकाल, एवं—'पुरुष एवेदं सर्वम्' मूलक पुरुषानन्त्य का संस्मरण—

इदमप्यत्र संस्मरणीयं, अविस्मरणीयञ्च । यत्—अव्ययानुगत, अनन्ताक्षरात्मक—ब्राह्मकालात्मक—स्वायम्भुव—कालकालात्मक—सम्वत्सर अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—पारमेष्ठ्यकाल के रूप में । अक्षरानुगत, अमूर्त्ताक्षरात्मक—पैत्र्यकालात्मक—पारमेष्ठ्य—दिक्कालात्मक यह सम्वत्सर अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है सौरकाल के रूप में । क्षरानुगत, मूर्त्त—अक्षरात्मक—सौर—देशकालात्मक—यह सम्वत्सर अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है चान्द्रकालरूप में । एवं विकारक्षरानुगत, मूर्त्ति—क्षरात्मक—चान्द्र—प्रदेशकालात्मक—यह सम्वत्सर अपने अथ से इतिपर्य्यन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है मानवरूप में ।

---

*—मानवेतर—प्राकृतप्राणिनांतु—तस्मिन्नेतस्मिन्—चतुर्थे प्रकृत्यंशभूते प्रदेशात्मके—प्रादेशात्मके वा चान्द्रपार्थिवकाले—एव सर्वात्मना अन्तर्भावः, इति तेषामियत्तायाः परिमाणम् ।

यों उत्तर-उत्तर के कालविवर्त्त अपने पूर्व-पूर्व के कालविवर्त्तों को अभिव्यक्त करते हुए सर्वात्मक ही बन रहे हैं। अतएव मूर्त्तिरूप चन्द्रकाल मूर्त्त-अमूर्त्त-अनन्त भी है, मूर्त्तरूप सौर काल अमूर्त्त-अनन्त भी है। अमूर्त्तरूप पारमेष्ठ्य काल अनन्त भी है। और अनन्त स्वयम्भू तो अनन्त है ही। अतएव प्रदेशात्मक चान्द्रतत्त्व भी अनन्त है, देशात्मक सौरतत्त्व भी अनन्त है, दिगात्मक पारमेष्ठ्य तत्त्व भी अनन्त है। अनन्त स्वायम्भुव काल के विवर्त्तरूप सभी काल, सभी दिग्भाव, सभी देशभाव, सभी प्रदेशभाव अनन्त ही प्रमाणित हो रहे हैं, इति नु यही कालमहिमा कालकालस्यानन्तपुरुषस्य। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं-यच्च भाव्यम्'।

८७-अनन्तकाल की 'काललरूपता', अमूर्त्तकाल की 'दिग्रूपता', मूर्त्तकाल की 'देशरूपता', मूर्त्तिकाल की 'प्रदेशरूपता', एवं कालातीत अनन्तात्मपुरुष के माध्यम में ही चतुर्विध कालविवर्त्तों का समन्वय —

स्वयम्भूरूप अनन्तकाल से आवृत परमेष्ठीरूप अमूर्त्तकाल यदि काल है, तो मूर्त्त-सूर्य्यकाल 'दिक्' है, चन्द्रकाल 'देश' है, चान्द्रावयव 'प्रदेश' है। यदि पारमेष्ठ्य-अमूर्त्तकाल से आवृत सौरकाल 'काल' है, तो चन्द्रकाल दिक् है, चान्द्रावयवरूप अयन-ऋतु-मास-पक्ष-अहोरात्रादि पर्व-देश है, एवं तदनुप्राणित साम्वत्सरिक भूतभौतिक-पदार्थ प्रदेश हैं। यों अन्तरान्तरीभाव-सम्बन्ध से महतोमहीयान् अनन्तकाल-स्वायम्भुवकाल से आरम्भ कर अणोरणीयान्-क्षणकालपर्य्यन्त मध्य के सभी विवर्त्त पारस्परिक अपेक्षा से काल-दिक्-देश-प्रदेशात्मक बनते हुए अन्ततोगत्वा कालात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिस इस कालात्मकता का समन्वय कदापि कालिक-प्राकृत-मानव तो नहीं ही कर सकता अपनी प्रदेशकालावच्छिन्ना चान्द्री बुद्धि (मनोऽवच्छिन्नवर्त्तिनी लोकबुद्धि) से। मानव का कालातीत अप्राकृत निरपेक्ष आत्मभाव ही इस काल का यथावत् समन्वय कर सकता है, किया है कालातीत-ब्रह्मवित् महामहर्षिमानवोंने। नात्र सन्देहलेशावसर।

८८-भूतलक्षण अनन्तकाल, भविष्यल्लक्षण अमूर्त्तकाल, भवल्लक्षण मूर्त्तकाल, अभवल्लक्षण मूर्त्तिकाल, एवं-'भूत भविष्यत्-प्रस्तौमि' मूलक महदक्षरकाल का संस्मरण—

अब भूत-भविष्यत्-भवत्-दृष्टि से कालस्वरूप का समन्वय कीजिए। भूत-भूतभविष्यत्-भवत्-और अभवत्, रूप से उक्त कालमहिमा के ही ये चार विवर्त्त मान लिए जायँगे। महाभूतादिरूप, अतएव 'महद्भय-वज्रमुद्यतम्' रूप, ब्रह्माण्डात्मक महाभूतात्मक-परमाकाशात्मक स्वयम्भू-ब्रह्मकाल ही 'भूतकाल' है, जिसका अर्थ है 'सत्तासिद्धकाल'। जन्य-जनक-मर्य्यादा से अतीत, कार्य्यकारणातीत यह 'भूतकाल' स्वाधारकाल ही माना गया है, जो कलनात्मक-कालभाव से-परिवर्त्तन से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ एकरस ही प्रमाणित है। नात्र दिग्भाव। नास्य दिग्भाव। नापि वा देशभाव। प्रदेशभावस्य तु कथैव का। अपितु कलनात्मका सर्वे अमूर्त्ता-मूर्त्ताकाला, सर्वा दिश, सर्वे देशा, प्रदेशाश्चात्रैवानन्तकाले गर्भीभूता, इति दिग्देशप्रदेशकालातीत —ल्यातीत —सर्वव्याप्त—सोऽयं कालकाल —अनाद्यनन्त —स्थाणु, सर्वसाक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च चेतनालक्षण —परमदेव —इति नु-'सर्वा ल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल —स ईयते परमो नु देव'। त्रिकालातीत भूतकालात्मक अनन्त-स्वयम्भू-काल की यही तटस्थ-स्वरूप-परिभाषा है। अव्ययानुगत, अतएव अव्ययात्मक अक्षरकाल ही यह 'भूतकाल' है, जो -'सर्वमावृत्य तिष्ठति'।

अत्र कालत्रयानुबन्धी भूत--भविष्यत्--काल को लक्ष्य बनाइए । स्वायम्भुव निरपेक्ष 'भूतकाल' के आधार पर प्रतिष्ठित, इसी के यजुर्म्मय वागाकाश के विवर्त्तरूप, अक्षरानुगत--अक्षरात्मक--पारमेष्ठ्य--महदक्षरकाल का नाम ही है--'भूत-भविष्यत्काल', जो अपनी स्वायम्भुवी--अनुगति से सृष्टि का पूर्वभावात्मककाल बनता हुआ जहाँ भूतकालात्मक है, वहाँ यही सृष्टि के उत्तरभावानुबन्ध से भविष्यत्कालात्मक भी बन रहा है। व्यक्त सौरकाल की पूर्वावस्था ही इस का भूतकालत्व है, एव व्यक्तसौरकाल की उत्तरावस्था ही इस का भविष्यत्--कालत्व है, जिन इन दोनों विवर्त्तों के मध्य में ही वर्त्तमानकालात्मक भवत्काल प्रतिष्ठित है । 'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' के अनुसार अमूर्त्त--अव्यक्त--तत्त्व ही 'अक्षर' की परिभाषा है । महदक्षररूप पारमेष्ठ्य अक्षर ही अव्यक्ताक्षर है, जो अव्यक्तादि, व्यक्तमध्य, अव्यक्तान्त--रूप से तीन भावों में परिणत होता हुआ सृष्टि का पूर्वरूप, सृष्टि का मध्यरूप, सृष्टि का उत्तररूप--भेद से तीन कालभावों से समन्वित हो रहा है । उसी महदक्षर की पूर्वा--अव्यक्तावस्था का नाम--'भूत अक्षरकाल' है, उसी महदक्षर की मध्या--व्यक्ता--अवस्था का नाम 'भवत्--अक्षरकाल' है, एवं उसी महदक्षर की उत्तरा--अव्यक्तावस्था का नाम 'भविष्यत्--अक्षरकाल' है । यों उस निरपेक्ष--अनन्त--स्वायम्भुव भूतकाल की साक्षी में यह पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल ही पूर्व--मध्य--अन्त--अवस्था रूपेण त्रिकालात्मक बन रहा है । मध्य का व्यक्तरूप भवत्काल कहने मात्र के लिए व्यक्त है । तत्त्वतः अपने प्रतिक्षण--विलक्षण--भावानुबन्ध से इसका मध्यस्थ व्यक्तक्षण भी अव्यक्तभाव से ही समन्वित रहता है । अतएव महदक्षरकाल को--भूत, तथा भविष्यत्कालात्मक ही मान लिया गया है, जैसाकि--'भूतं--भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' रूपेण स्पष्ट है ।

८६--परिलेखमाध्यमेन भूत-भविष्यत्--भवत्-अभवत्--रूपा कालचतुष्टयी का समष्ट्यात्मक समन्वय--

भूत -भविष्यल्लक्षण--अव्यक्त--अमूर्त्त--पारमेष्ठ्य--महदक्षरकाल के यत्किञ्चिदंशात्मक भृग्वङ्गिरोरूप से अभिव्यक्त--व्यक्त सौरकाल का नाम हीं भवत्काल है, यही वर्त्तमानकाल है । एवं इस सौरकाल के यत्-किञ्चित् प्रवर्ग्यभूत सावित्राग्निकाल से अभिव्यक्त--मूर्त्तिरूप--पार्थिव--चान्द्रकाल का नाम हीं 'अभवत्' काल है, जिस के लिए श्रुति ने--'अभूत्' कहा है । अभूद्वा इयं पृथिवी--(सचन्द्रा) ही इसका भूमित्व है । अभवत्कालता ही 'अभूत्' भाव है, जैसाकि--"अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा । तद्भूमिरभवत् । यदप्रथयत्-सा पृथिव्यभवत्" (शत० ६।१।१।१५) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । तदित्थं--ब्राह्म स्वायम्भुवकाल भूतकाल है, पैत्र्य-पारमेष्ठ्य काल भूतभविष्यत्काल है, दैवसौरकाल भवत्काल है, एवं इन तीनों की समन्वितावस्थारूप चान्द्रपार्थिव मानवकाल अभवत्काल है । 'अभवत्' की प्रतिष्ठा 'भवत्' है, भवत् की प्रतिष्ठा भूतभविष्यत् है, एवं सर्वप्रतिष्ठा है त्रिकालातीत--निरपेक्ष--भूतकाल । और यही इन चारों कालविवर्त्तों का त्रिकालानुबन्धी समन्वय है ।

१--अव्ययात्मकोऽक्षरकालः----स्वायम्भुवः-----त्रिकालातीतो भूतकालः (कालात्मकः)
२--अक्षरात्मको महदक्षरकालः--पारमेष्ठ्यः-----भूत-भविष्यत्कालः (दिगात्मकः)
३--क्षरात्मकोऽक्षरकालः-----सौरः ---- ----भवत्कालः (देशात्मकः)
४--विकारात्मकः क्षरकालः-----चान्द्रः-पार्थिवश्च--अभवत्कालः (प्रदेशात्मकः)

---*---

६०-मर्यादारूप-'सत्यस्य सत्यम्' रूप काल—

अब एक अन्य दृष्टि से कालचतुष्टयी का समन्वय कीजिए, एवं इस दृष्टि से-'सत्य-शिव-सुन्दरम्' का अन्वेषण कीजिए। अनन्ताक्षरमूर्ति स्वायम्भुव-भूतकाल, तथा अमृताक्षरमूर्ति पारमेष्ठ्य भूतभविष्यन्-काल, इन दोनों कालों की समष्टि को अपने सहजसिद्ध अव्यक्तभाव के कारण एक ही 'अव्यक्तकाल' मान लिया जा सकता है, मान लिया गया है दोनों के दाम्पत्यभाव से। भूतकालात्मक स्वयम्भूब्रह्म यदि महाकाल-पुरुष है, तो भूतभविष्यत्कालात्मक पारमेष्ठ्य सुब्रह्म इसी पुरुष की महाशक्ति महाकाली है। इन दोनों की समष्टि ही वह प्रथम दाम्पत्य है, जिससे भवत्कालात्मक व्यक्त सूर्य्यपुत्र का आविर्भाव हुआ है। 'सत्य' सूर्य्य का जन्मदाता, सौरब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता यही महाकाल 'सत्यस्यसत्यम्' काल है, और यही प्रस्तुत दृष्टि-कोण का प्रथम 'मर्यादारकाल' है।

६१-सत्यस्य सत्यात्मक महदक्षरकाल, सत्यात्मक सौर सम्वत्सरकाल, ऋतसत्यात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल, ऋतात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल, तदनुप्राणिता अनन्त-वर्ष-अहः-मास-रूपा कालचतुष्टयी, एवं-'सत्य शिवं सुन्दरम्' का संस्मरण—

इस मर्यादार प्रथमकाल के आधार पर ही सुप्रसिद्ध सत्यसौरसम्वत्सरकाल, ऋतसत्यपार्थिव-सम्वत्सरकाल, तथा ऋतचान्द्रसम्वत्सरकाल, ये तीन क्रमकाल क्रमशः प्रतिष्ठित-आहित-समाहित हैं। सौरकाल उसमें प्रतिष्ठित है, पार्थिवकाल उसमें आहित है, एवं चान्द्रकाल उसमें समाहित है। इन तीनों सम्वत्सरकालों का पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। (देखिए पृ० सं० ३५६ की तालिका)। सत्यस्यसत्यरूप स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सम्वत्सरप्रतिष्ठा-तत्त्व पर प्रतिष्ठित सत्यमूर्ति सौरसम्वत्सर ही ऋतसत्यमूर्ति पार्थिवसम्वत्सर के, तथा ऋतमूर्ति चान्द्रसम्वत्सर के समन्वय से उस प्रजासृष्टि के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिनके अर्द्धभाग में पुरुष प्रतिष्ठित है, एवं अर्द्धभाग में स्त्री प्रतिष्ठित है। सत्यात्मक सूर्य्य ही 'सत्यम्' है, ऋतसत्यात्मक पार्थिवविवर्त्तरूप पुरुष ही 'शिव' है, एवं ऋतात्मक चान्द्रविवर्त्तरूपा स्त्री ही 'सुन्दरम्' है। 'सत्य' रूप सौरसम्वत्सर ही 'वर्ष' है, 'शिव' रूप पार्थिवसम्वत्सर ही ' 'अह ' है, एवं 'सुन्दर' रूप चान्द्र-सम्वत्सर ही 'मास ' है। तीनों सम्वत्सरों का परस्पर अतिमानसम्बन्ध है। अतएव तीनों मिलकर 'सत्य शिव सुन्दरम्' रूप एक सम्वत्सर है। अतएव 'अहर्नामिस्यानात' इत्यादि मीमांसा-सिद्धान्तानुसार वर्ष-मास-अह -तीनों विचालीभाव हैं। जो वर्ष है, वही मास भी है, अह भी है। जो मास है, वही वर्ष भी है, अह भी है। एवं जो अह है, वही वर्ष भी है, मास भी है। हिरण्मय वैश्वरूप्यात्मक सौर सम्वत्सर रूप 'सत्य' का निरूपक शास्त्र ही 'सूर्य्यपुराण' है। इन्द्रवैश्वरूप्यात्मक पार्थिव ऋतसत्यसम्वत्सररूप 'शिव' का निरूपक शास्त्र ही 'शिवपुराण' है। एवं नक्षत्रवैश्वरूप्यात्मक चान्द्रसम्वत्सररूप 'सुन्दर' का निरूपक शास्त्र ही 'शक्तिपुराण' (देवीभागवत-मार्कण्डेयपुराण) है। यों इस दृष्टि से भी सम्वत्सरात्मक महाकाल के चार विवर्त्तों का समन्वय किया जा सकता है।

१–सत्यस्यसत्यसम्वत्सरः–स्वा०पा० (अनन्तभावः)—सर्वप्रतिष्ठा (ब्रह्मपुराणे–प्रपञ्चितम्) ।

२–सत्यसम्वत्सरः——सौरः (वर्षभावः)—सत्यम् (सूर्य्यपुराणे— ,,)।

३–ऋतसत्यसम्वत्सरः-पार्थिवः (अहर्भावः)-शिवम् (शिवपुराणे —,,) ।

४–ऋतसम्वत्सरः——चान्द्रः (मासभावः)-सुन्दरम् (शक्तिपुराणे–,,) ।

——*——

६२–निर्विशेष–निरपेक्ष–अनन्तब्रह्म का प्रतीक सत्यस्य सत्यकाल, तत्प्रतीक सत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतसत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतकाल, एवं काल के सत्यं–शिवं–सुन्दरं–रूप सौर–पार्थिव–चान्द्र–भावों का दिग्दर्शन—

निर्विशेष–निरपेक्ष–अनन्तब्रह्म का प्रतीक माना जायगा अनन्तकालात्मक स्वायम्भुव–सत्यस्य–सत्यरूप सम्वत्सर को। इस का प्रतीक माना जायगा सत्यात्मक सौरसम्वत्सर को। इसका प्रतीक माना जायगा शिवात्मक पार्थिवसम्वत्सर को। एवं इसका प्रतीक माना जायगा सुन्दरात्मक चान्द्रसम्वत्सर को। इस प्रतीकता का अर्थ होगा वह दृष्टान्तविधि, जिस के माध्यम से ही मानवप्रज्ञा अनन्तब्रह्म का अनुमान लगाने में समर्थ बना करती है। और यह दृष्टान्तपरम्परा अनन्तस्वयम्भू–काल पर जाके परिसमाप्त हो जाती है। कदापि यह दृष्टान्त उस अन्तिम अनन्त धरातल पर पहुँच कर भी स्वयं 'सिद्धान्त' नही बनने पाता। यही इस 'कालदृष्टान्त' की विलक्षणता है, जबकि कालातिरिक्त अन्य यच्चयावत् भौतिक दृष्टान्त सिद्धान्त बनते हुए मानव को अनन्तभाव से पराङ्मुख ही प्रमाणित कर देते है। क्योंकि कालातिरिक्त सभी दृष्टान्त सादि–सान्त बने रहते हुए कदापि उस अनन्तब्रह्म के प्रतीक नही बन सकते। अतएव महर्षि ने कालसूक्त के माध्यम से अनन्तब्रह्म की अनन्त महिमा का अनन्तकाल के द्वारा ही यशोगान किया है, जिस इस अनन्तकालदृष्टान्त की उपेक्षा कर, तत्स्थान में अध्यासवादमूलक भौतिक–सादि–सान्त–उदाहरणों को प्रतीक बना कर व्याख्याताओंनें इन दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त प्रमाणित कर दिया है। और यही अन्तोपक्रममूलक दार्शनिकों का वह महान् स्खलन है, जिसके निग्रह से ये इस अन्त के पाशबन्धन से बाहिर निकल ही नहीं पाए है, जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

अनन्तब्रह्मणो निर्विशेषस्य—

१–अनन्तकालः—महदक्षरः–एव–प्रतीकः–दृष्टान्ताधारात्मकः–दृष्टान्तः–सत्यस्य सत्यम्–

२–तस्यानन्तस्य—सौरसम्वत्सरः—प्रतीकः (सत्यम्)

३–तस्य सौरकालस्य-पार्थिवसम्वत्सरः-प्रतीकः (शिवम्)

४–तस्य पा० सं०–चान्द्रसम्वत्सरः–प्रतीकः (सुन्दरम्)

प्रकृतिसर्गे–सर्वश्रेष्ठ–दृष्टान्तस्तु–अनन्तकाल एव ।

९३–दिग्देशकालातीत अनन्तकाल की मनःप्राणवाग्रूपता, मनोमय–अमूर्त्तकालात्मक 'सत्यं' काल, प्राणमय मूर्त्तकालात्मक 'शिवं' काल, एवं वाङ्मय मूर्त्तकालात्मक–'सुन्दरं' काल का स्वरूप–समन्वय—

'काले मन , काले प्राण , काले नाम समाहितम्' इत्यादि अथर्वमन्त्र (अष्टमसूक्त सप्तम मन्त्र) के अनुसार किसी 'काल' नामक तत्व के आधार पर मन, प्राण, और नामोपलक्षिता वाक्, ये तीन भाव प्रतिष्ठित–आहित–समाहित हैं। उक्त कालचतुष्टयी ही इस दृष्टिकोणका अनुरूप समन्वय है। अनन्तकाल ही 'काले' है, सौरसम्वत्सरकाल ही 'मन' है, पार्थिवसम्वत्सरकाल ही 'प्राण' है, एवं चान्द्र–सम्वत्सरकाल ही 'वाक्', किंवा वाङ्मय 'नाम' है। ये तीनो ही क्रमशः सापेक्षभावापन्न काल–दिक्–देश–भाव हैं। सौर–सम्वत्सरकालात्मक मनोभाव ही सापेक्ष मूर्त्तकालात्मक 'काल' है, पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक प्राणभाव ही 'दिक्' है, एवं सापेक्ष चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक वाग्भाव ही 'देश' है। यों सत्यम्सत्यरूप स्वायम्भुव अनन्तकाल के आधार पर ही मन -प्राण–वाङ्मय–काल–दिक्-देश–रूप सापेक्ष कालविवर्त्त प्रतिष्ठित–आहित–समाहित हैं। इन तीनों की समष्टि ही मूर्त्त–व्यक्त–काल है, जिसे प्राकृत–जड़काल–कहा गया है। एव तीनों का आधारभूत अनन्तकाल ही प्रकृतिरूप अमूर्त्त–अव्यक्तकाल है, जिसे 'चेतनकाल' माना गया है। अक्षरकाल चेतनकाल है, क्षरकाल ही अचेतनकाल है। प्राकृत मानव जिसे दिक्–देश–काल–कहते–मानते हैं, वह यह त्रिमूर्त्ति क्षरकाल ही है। एव आत्मनिष्ठ अप्राकृत मानव जिसे काल कहते हैं, वह वही सर्वाधिष्टाता अक्षर-काल है। ब्रह्म का प्रतीक यही अक्षरकाल है, अव्यक्तकाल है, अनन्तकाल है, जबकि विश्व के प्रतीक क्षरकालात्मक काल–दिक्–देश–भाव भी बने रहते हैं। अतएव कदापि इन क्षरात्मक सापेक्ष–भावापन्न–मूर्त्त–दिग्–देश -काल–भावों की प्रतीकता से उस कालातीत निरपेक्ष अनन्तब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं होसकती। उसकी अभिव्यक्ति का तो एकमात्र प्रतीक अमूर्त्त–अनन्तकाल ही माना गया है, जिसमें न तो क्रमात्मक कलनभाव है, न पूर्वादि दिग्भाव है, न देश–भाव। अतएव जबतक मानव की दिग्देशकालानुगता बुद्धि बुद्धिगम्या इस क्रमव्यवस्था को ही प्रधान मानती रहेगी, तबतक कदापि यह अपनी इस बुद्धिगम्या सापेक्ष–व्याख्या से उस कालातीत का स्मरणाधिकार भी प्राप्त नहीं कर सकेगी। क्योंकि वह इन व्याप्य–परिच्छिन्न–धर्मों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है।

१–अनन्ताक्षरकाल.-मन प्राणवाग्रूप -दिग्देशकालातीत.-सर्वाधारभूमि } —अमूर्त्तकालः अक्षरकाल.

२–सौरकाल ——मनोमय —सोऽयं कालः (रूपाधारभूमिः)
३–पार्थिवकाल.——प्राणमय —सेयं दिक् (कर्म्माधारभूमि)
४–चान्द्रकाल·——वाङ्मय —सोऽयं देशः (नामाधारभूमिः)
} —मूर्त्तकालः क्षरकाल.

(१) **जगतामाश्रयः कालः**——अमूर्त्तकालः-प्रकृतिकालः-अक्षरकालः-अनन्तकालः
(२) **जन्यानां जनकः कालः**—मूर्त्तकालः-प्राकृतकालः-क्षरकालः—अन्तकालः

१–सौरकालः—कालात्मकः–कालः (सत्यम्)
२–पार्थिवकालः-दिगात्मकः–कालः (शिवम्) —वर्त्तमानकालः
३–चान्द्रकालः–देशात्मकः–कालः (सुन्दरम्)

—*—

६४–क्रमसिद्धतत्त्वात्मक-'कालभाव', तदनुबन्धी क्रमभाव, एवं तदनुगत क्रमव्यवस्था-सिद्ध दिग्-देश-प्रदेश-भावों का समन्वय—

बुद्धिगम्या वैखरी वाणी के अनुसार 'काल' का अर्थ है–'क्रमसिद्ध तत्त्व', जिसका हम एक–दो–तीन–चार–इत्यादि गणनक्रम से, कल–आज–परसों–तरसों–आदि भावक्रम से, भूत–वर्त्तमान–भविष्यत्–आदि कालक्रम से, युग–वर्ष–अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–होरा–क्षण–निमेष–आदि अवयवक्रम से अपने व्यावहारिक जगत् में संग्रह–अनुगमन–करते रहते हैं। क्रमसिद्ध-कलनभावात्मक, अतएव कलाभावात्मक-अनेक खण्डों-अवयवों की समष्टि का नाम ही क्रमसिद्ध काल है, जिस की उपक्रमभूमि दिक् ही, दिगनुगत देश ही बना हुआ है। दिगनुगत देश, देशात्मक प्रदेश से ही इस क्रमसिद्ध काल का संग्रह–बोध हुआ करता है। देशात्मक प्रदेश ही काल में क्रमव्यवस्था का आधान करता है। यदि दिग्देशात्मक प्रदेशभाव को काल से पृथक् कर दिया जाता है, तो उस अवस्था में काल का क्रमभाव सर्वथैव अव्यक्तभाव में परिणत हो जाता है। एवं उस अवस्था में यही क्रमसिद्ध–मूर्त्तभावापन्न–व्यक्त–सीमित काल अपने स्वाभाविक–अमूर्त्त–अव्यक्त–निःसीम–अनन्तभाव में आजाता है। संख्या-सिद्धा कालगणना, किंवा गणनात्मक काल, मास–वर्ष–युगादि–काल, आदि आदि कलात्मक सम्पूर्ण मूर्त्तकाल–भावों का आधार वह मूर्त्ति ही मानी गई है, जिसका कोई आकार (दिक्) होता है, जिस आकार से सीमित उस वस्तु का कोई नामरूप होता है (देश-प्रदेश होता है)। यदि इन दिग्देशात्मक–सौर–चान्द्र–पार्थिवादि यच्चयावत् पदार्थों को विस्मृत कर दिया जाय, तो उस दशा में क्रमसिद्ध मूर्त्तकाल ही विस्मृति-पथानुगामी बन जाय। अतएव काल का क्रमभाव, संख्यानभाव दिग्देशप्रदेशानुबन्धी ही माना जायगा, माना गया है।

६५–कलनात्मक मूर्त्तकाल के मानसकाल–निमेषकाल–गणनकाल–नामक तीन विवर्त्त, एवं तीनों की सापेक्षता—

दिक्–देश–कालानुबन्धी, अतएव क्रमानुबन्धी कलनात्मक–शब्दात्मक,–तथा परिमाणात्मक इस मूर्त्तकाल को हम इसके तथोक्त काल–दिक्–देश–मनः–प्राण–वाग्–भावों की अपेक्षा से तीन विभिन्न दृष्टियों से समन्वित मान सकते हैं बुद्धिगम्या व्याख्या के माध्यम–द्वारा। सौरसम्वत्सरकालात्मक 'कालरूप' मनोमय काल को ही **'मानसकाल'** कहा जायगा, जिसे मानव अपने **मनस्तन्त्र** से अनुप्राणित कर सकेगा, अतएव इसे

'सकलपकाल' भी कहा जासकेगा। पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक 'दिग्रूप' प्राणमय काल को ही 'प्राणकाल' माना जायगा, जिसे मानव अपने प्राणात्मक निमेष से अनुप्राणित कर सकेगा, अतएव इसे 'निमेषकाल' भी कहा जासकेगा। चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक 'देशप्रदेश' रूप वाङ्मय काल को ही 'वाचिककाल' कहा जायगा, एवं इसे ही लोकप्रसिद्ध 'गणितकाल', किंवा 'गणनकाल' माना जासकेगा। इसप्रकार एक ही मूर्त्त व्यक्त सौरकाल के सूर्य्य–पृथिवी–चन्द्रमा–नामक तीन काल–दिक्–देश–विवर्त्तों के कारण मानमकाल–निमेषकाल–गणनकाल–ये तीन सापेक्षकाल व्यवस्थित बन जायँगे।

९६–मापेक्ष एकत्व से उपक्रान्त परमपराध्यन्ति व्याप्त गणनकाल, तदाधारभूत निमेषकाल, एवं तदाधारभूत मन्वन्तरकालात्मक मानमकाल—

इन तीनों में कलनात्मक काल गणनकाल ही माना जायगा, जिसका सापेक्ष एक (१) संख्या से आरम्भ कर परमपराध्यसंख्या-पर्य्यन्त विस्तार हुआ है। एवं जिस इस गणनकाल के आधार पर ही ज्योतिष-शास्त्र सुप्रतिष्ठित है, एवं जिसका मुख्य आधारस्तम्भ दिग्भावानुगत देशात्मक प्रदेश ही बन रहा है। देश-प्रदेशभाव गौण हैं। मुख्य तो दिग्भाव ही है। अतएव ज्योतिषशास्त्र के मुहूर्त्तगणनप्रसङ्ग में 'दिक्' को ही प्रधानता दी गई है। चान्द्रभावानुगत गणनकाल ही इस शास्त्र का क्योंकि मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अतएव मुहूर्त्तविशोधनात्मक गणनकाल में चान्द्रीस्थिति (तिथि) के अनुकूल प्रतिकूल-भावों को ही प्रमुखता दी जाती है। इन तीनों कालों में से आज के भूतविज्ञानवादी प्राकृत मानव के सम्पूर्ण भूतविज्ञान का प्रमुख आधार यह क्रमसिद्ध-कलनात्मक-गणित-कालात्मक-चान्द्रकाल ही बना हुआ है, जबकि ज्ञानानुगत भारतीय विज्ञान के मौलिक सिद्धान्त गणितकाल के आधार भूत निमेषकाल से भी अतीत मानमकालरूप मन्वन्तरकाल से ही अनुप्राणित माने गए हैं।

९७–'अङ्गिरा मन उत्साहः' रूप मानसकाल, एवं तद्द्वारा निमेषकाल के माध्यम से गणनकाल की व्यवस्था—

अवश्य ही मुहूर्त्त–ग्रहगणित–आदि के लिए गणितकाल का भी उपयोग हुआ है भारतीय विज्ञान-काण्ड में। किन्तु सर्वत्र प्रमुखता रही है मानसकाल की ही। अतएव महर्षि अङ्गिरा ने–'अङ्गिरा मन उत्साह' रूपेण मानस संकल्प को ही मुहूर्त्त मान लिया है। गणितकाल विश्व का व्यवस्थापक नहीं है, अपितु मानसकाल ही निमेषकाल के द्वारा गणितकाल का व्यवस्थापक बना हुआ है। सौरसम्वत्सरकालात्मक मानस–सङ्कल्पकाल ही निमेषकालात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल (दिग्भाव) का अभिव्यञ्जक बनता है, एवं इसके माध्यम से ही वही मानसकाल गणनकालात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल (देश–प्रदेशभाव) का अभिव्यञ्जक बनता है।

९८–मानमकाल से आवृत निमेषकाल, तेन आवृत गणनकाल, एवं भूतविज्ञानवादियों का गणनकाल से गणनातीत काल को आवृत करने का भ्रान्तिरूप प्रयास, तथा तद्द्रोधनात्मक अनन्तकाल—

मानसकाल से निमेषकाल आवृत है, निमेषकाल से गणनकाल आवृत है, जबकि भूतविज्ञानवादी गणनकाल से ही उस गणनातीत तत्त्व को आवृत करने का निरर्थक प्रयास करता आ रहा है। उधर से इधर

आने में हीं तत्त्व का समन्वय सम्भव है। अनन्त से ही अन्त की ओर आया जाता है, जब कि भूतविज्ञान के सभी प्रकार अन्त को उपक्रम बना कर ही आज प्रक्रान्त हो रहे हैं, जिस इस अन्तोपक्रमता का निश्चित परिणाम अन्ततोगत्वा 'सर्वस्वान्त' ही बन जाया करता है। अनेक मिल कर एक नहीं बना करता, अपितु एक के ही अनेक महिमाभाव हुआ करते हैं। अतएव प्रत्येक महिमा अपने अपने रूप से परिपूर्ण हैं। यही उस अनन्त की अनन्त महिमा है, जिसके कारण उसका प्रत्येक अंश अपने अंशी के सम्पूर्ण स्वरूप को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक अंश स्वयं भी अंशी ही प्रमाणित हो रहा है। उस अनन्त पुरुष का अंशभूत प्रत्येक पुरुष स्व स्व आधार से अनन्त ही बना हुआ है। सर्वमिदमानन्त्यमेव।

९९–'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूप अनन्तकाल की अनन्तता के समतुलन में गणनकाल का निःसारत्व—

गणितकाल में कहाँ यह सामर्थ्य है, जो सहस्रधा महिमानः सहस्रं–रूप उस अनन्त का संग्रह कर डाले ?। इसीलिए तो पुनः पुनः हमें यही निवेदन करना पड़ रहा है कि, प्राकृत बुद्धिवादी की गणनक्रमसिद्धा बुद्धिगम्या दिग्देशकालात्मिका व्याख्या का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता उस अनन्त के समन्वय प्रसङ्ग में, जिसके आनन्त्य के समतुलन में गणनकाल की कौन कहे, तदाधारभूत निमेषकाल की, एवं तदाधार भूत मानसकाल की भी कोई स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता नहीं है।

१००–अनन्तात्मब्रह्म के आनन्त्य-संस्पर्श से पराःपरावत, अतएव मानव की सहज शान्ति के विघातक भूतविज्ञानकाण्ड की कुकाण्डता, एवं अनन्तोपासक मानव की तन्निग्रहेण लक्ष्यहीनता—

जिसे अनन्तकाल कहा गया है, जिस महदक्षररूप अनन्तकाल के यत्किञ्चित् प्रदेश में ये मानस–निमेष–गणन-कालात्मक काल-दिक्–देश–भाव–बिन्दुमात्र बने हुए हैं, सर्वाधारभूत वह अनन्त–अक्षरकाल भी जिस अनन्तब्रह्म के एकांशमात्र में (यत्किञ्चिदंशमात्र में) बिन्दुरूपेण अवस्थित है, उस अनन्तानन्त (अनन्तकाल के भी आधारभूत अनन्त ब्रह्म) को गणनकालात्मक-चान्द्रकाल से जानने पहिचानने की धृष्टता करना, इस धृष्टता को कार्य्यरूप में परिणत होता न देखकर अपने गणनकालात्मक भूतविज्ञान को ही मानवस्वरूप का सर्वस्व मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करते जाना, इस विज्ञानभ्रान्ति के चाकचिक्य से मानव को उत्तरोत्तर अशान्त–विकम्पित–प्रमाणित करते रहना हीं यदि इस क्रमसिद्ध विज्ञान का एकमात्र महान् पौरुष है, तब तो एक आस्तिक भारतीय मानव की दृष्टि से तो अकाण्डताण्डवात्मक ऐसा विज्ञानकाण्ड निश्चयेन मानव की सहजशान्ति का महान् विघातक एक कुकाण्ड ही माना जायगा।

१०१–अनन्तकालाधार पर प्रतिष्ठित मूर्त्त–दिग्देशकाल की उपयोगिता का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही भारतीय विज्ञानाकाण्डात्मक यज्ञकाण्ड की व्यवस्थिति—

कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, भारतीय प्रजा भूतविज्ञान से कोई शत्रुता रखती है, किंवा गणनात्मक, दिग्देशकालात्मक भूतविज्ञान को वह मानव के अभ्युदय के लिए कोई प्रतिबन्धक समझती है।

कदापि भारतीय प्रजा का एकमात्र यही पौरुष नहीं है कि, वह विश्वातीत अनन्तब्रह्म की अचिन्त्या-अमत-कर्या-कल्पनामात्र में आत्मविभोर बनी रहती हुई उसी अनन्तब्रह्म के महिमामय विश्व-सौन्दर्य्य से कोई लाभ न उठाते हुए अपने प्राकृत-भौतिक-स्वरूप को उपेक्षित कर लोकगुणों को जलाञ्जलि समर्पित कर अकर्म्मण्य रूपेण हाथ पर हाथ धरे ही बैठी रहे। अपितु अनन्तज्ञानब्रह्म की भाँति उसकी दृष्टि में तो उसी का महिमा-रूप यह प्राकृत भौतिक सत्य-विज्ञान-रूप विश्व भी वैसा ही आराध्य है (था), जिसकी आराधना के लिए ही सम्वत्सरमूलक वह 'यज्ञविज्ञान' आविर्भूत हुआ था इसी आत्मप्रज्ञा के द्वारा, जिस ब्रह्मविद्यामूलक यज्ञ-विज्ञान के आधार पर वैध-यज्ञकर्म्म के वितान से ज्ञानविज्ञाननिष्ठ भारतीय मानव सम्पूर्ण लोकवैभवों का सम्राट्-स्वराट्-विराट्-भोक्ता बनता हुआ ही अनन्तब्रह्मसाधना में सफल होता रहता था।

१०२-अनन्तब्रह्मानुगत भूतविज्ञान की इष्टसाधनता-सर्वकामपूरकता, एवं साम्प्रदायिक-मतवाद-परम्पराओं से तीन सहस्र वर्षों से तद्विज्ञान की अन्तर्मुखता—

अनन्तब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित इसका भूतविज्ञान इसके नियन्त्रण में रहता हुआ सदा इसका इष्टसाधक ही बना रहता था *। इसका सम्पूर्ण यज्ञविज्ञान उस साम्वत्सरिक गणनकाल पर ही प्रतिष्ठित था, जिसका सुप्रसिद्ध 'चयनविज्ञान' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। जिस परमपरार्ध्यसंख्या का आज भूत-विज्ञान में नामस्मरण भी उपलब्ध नहीं हो रहा, उस अन्तिम गणन के माध्यम से तो यहाँ का यज्ञविज्ञान व्यवस्थित हुआ था, जो दुर्भाग्यवश जगन्मिथ्यात्ववादी कल्पित ब्रह्मवादी वेदान्ती की कुदृष्टि से विगत २-३ सहस्र वर्षों से भारतीय प्रजा से अन्तर्हित ही बन चुका है। अवश्य ही विज्ञानदृष्टि, तन्मूलक यज्ञविज्ञान, तन्मूलक पदार्थविज्ञान, तदनुगता विज्ञानपरिभाषाएँ आदि आदि सभी कुछ विस्मृत कर चुका है आज का यह भारतीय मानव।

१०३-विज्ञानाधारभूत-ज्ञानात्मक-शेषभूत-सांस्कृतिक बीजों के अनुग्रह से ज्ञानप्रतिष्ठा-वञ्चित, अतएव क्षणिक भूतविज्ञान की महती विभीषिका से भारतीय मानव का सम्भावित-आत्मत्राण—

तदपि इस के संस्कारिक-पारम्परिक-प्रज्ञाकोश में विज्ञानाधारभूत ज्ञान के वे बीज तो आज भी प्रतिष्ठित हैं ही, जिनके द्वारा यह आज के प्राकृत भूतविज्ञानपाश से तो अपना परित्राण कर ही सकता है अपनी शेषभूता भी ज्ञाननिष्ठा के अनुग्रह से। कदापि इसे आज का यह ब्रह्मप्रतिष्ठावञ्चित, आत्मस्वरूपप्रतिद्वन्द्वी, अतएव मानव के आत्मभाव का विस्मारक, अतएव च सर्वात्मना अशान्तिप्रवर्त्तक, ध्वंससर्ज्जक, प्राकृतबुद्ध्या समन्वित, नास्तिकसार भूतविज्ञान प्रभावित नहीं कर सकता। और यही इस भारतीय मानव का महत्सौभाग्य

---

*-सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

है, जिस के बल पर आज भी यह अपनी आत्मनिष्ठा के बलपर ही अपना लक्ष्य निर्द्धारित करने की क्षमता रख रहा है। एवं इसी क्षमता के बलपर आज की अपनी अवैज्ञानिक दशा, किंवा दुर्द्दशा में भी उन सुदशा–शाली भूतविज्ञानवादियों को ब्रह्मप्रतिष्ठावञ्चित उनके सर्वविनाशक भूतविज्ञान के प्रति उद्बोधन प्रदान कर ही सकता है, जिसे स्वीकार करना, न करना तो उनके सदसद्विवेक से ही अनुप्राणित माना जायगा।

१०४–वर्त्तमान भूतविज्ञान के सङ्गदोष से समुत्पन्ना भारतीय वेदभक्तों की महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा भारतीय वैदिक आर्षविज्ञान के मौलिक-स्वरूप की अन्तर्म्मुखता—

भूतविज्ञानप्रसङ्ग से सम्बद्धा यह प्रासङ्गिक–चर्चा एक विशेष उद्देश्य से ही यहाँ प्रवृत्त हो पड़ी है। वर्त्तमान भूतविज्ञान के सङ्गदोष से इधर कुछ समय से वेदभक्त भारतीय विद्वान् वैदिक शब्दों के जोड़–तोड़ के माध्यम से वेदशास्त्र को भी विज्ञानसिद्ध–प्रमाणित कर देने के लिए आतुर बनते जारहे हैं। और इस 'विज्ञान' की खोज के माध्यम से आज के प्रतीच्य–विज्ञानवादी के सम्मुख वे यह प्रमाणित कर देना चाहते हैं कि, "जिस विज्ञान से वे आज विश्व को चमत्कृत करते जारहे हैं, वह सम्पूर्ण विज्ञान इन के वेदादि शास्त्रों में भी निहित है। अतएव ये भी उनके समानासनों पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं"। कहना न होगा कि, भारतीय विद्वानों का यह विज्ञानाभिनिवेश न केवल निरर्थक ही है, अपितु वेदशास्त्र का मौलिक स्वरूप विकृत ही बनता जारहा है इन भारतीयों की इसप्रकार की परप्रत्ययनेयमूला भावुकता से सम्बन्ध रखने वाली विज्ञान की खोज से।

१०५–विकारात्मक वर्त्तमान विज्ञान से असंस्पृष्ट ज्ञानानुगत भारतीय सृष्टिविज्ञान, तदाधारभूत–'न त्वहं तेषु–ते मयि' सूत्र का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही स्वनिष्ठात्मक स्वस्वरूप का संरक्षण—

वैदिक विज्ञान का आज के भूतविज्ञान से कुछ भी तो साम्य नहीं है। 'न त्वहं तेषु, ते मयि' सिद्धान्तानुसार यह बहुत सम्भव है कि, उनके वर्त्तमान–भूतविज्ञान के अमुक सिद्धान्तों को भारतीय विज्ञान–काण्ड में भी आंशिक प्रश्रय मिल जाता हो यदृच्छतः स्खलनरूप से, घुणाक्षरन्यायेन। किन्तु स्वयं भारतीय विज्ञान अपने महिमामय स्वरूप से तो कदापि उन के आंशिक जड़–भूत–विज्ञान में गर्भीभूत नहीं हो सकता। अतएव वे अवश्य ही अपनी प्रामाणिकता के लिए भारतीय विज्ञान की शरण ले सकते हैं। किन्तु भारतीय वेदविज्ञान को अपनी प्रामाणिकता के लिए उन के तत्त्ववाद की, उनकी दिग्देशकालक्रमव्यवस्थामूला भूत–विज्ञान–पद्धतियों के अनुगमन की न केवल आवश्यकता ही नहीं है, अपितु ऐसा करके तो भारतीय विज्ञान अपना मौलिक स्वरूप भी विस्मृत कर सकता है।

१०६–भारतीय आर्षविज्ञान का मूलाधारभूत अनन्त-अमूर्त-लक्षण--अधामच्छद-प्राणात्मक 'ऋषि' तत्त्व, तत्प्रमातात्कर्त्ता भारतीय मानव की 'वैज्ञानिक--महर्षि' उपाधि का समन्वय, एवं तदुपाधि के सम्बन्ध में अभिनव--विद्वानों का भावुकतापूर्ण स्खलन—

क्योंकि भारतीय यज्ञविज्ञान का मूलाधार जहाँ दिग्देशकालातीत, अमूर्त अनन्त-कालात्मक 'ऋषि' नामक 'प्राण' तत्त्व है, वहाँ प्रतीच्य भूतविज्ञान का मूलाधार दिग्देशकालानुगत-गणनकालोपबृंहित-स्थूल भूत ही बन रहा है। रूपरसगन्धस्पर्शशब्द नामक पञ्चतन्मात्राभावों से अतीत, अधामच्छद सुसूक्ष्म ऋषिप्राण का नाम ही 'देवता' है, तन्मूलक 'देवताविज्ञान' का नाम ही भारतीय विज्ञान है, जिसे ऋषिप्राण-सम्बन्ध से 'ऋषिविज्ञान' भी कहा जा सकता है। इस ऋषिप्राणात्मक नित्यविज्ञान के समन्वयकर्त्ता मानव-महर्षि ही 'वैज्ञानिक–महर्षि' कहलाए हैं। 'ऋषि' शब्द यों अपने प्राणात्मक ऋषिरूप से एकमात्र भारतीय महर्षि मानव में ही निरूढ है। कदापि उस भूतवैज्ञानिक को 'ऋषि' नहीं कहा जासकता, जिसके भूतविज्ञान में 'ऋषिप्राण' का स्मरण भी नहीं हुआ है। 'भूतवैज्ञानिक' ही उपाधि पर्य्याप्त होगी इन वर्त्तमान विज्ञानवादियों के लिए। किन्तु देखते हैं-इन के भूतविज्ञान से प्रभावित, साथ ही भारतीय-'ऋषिविज्ञान' (प्राणविज्ञान) के पारिभाषिक-समन्वय में असमर्थ कतिपय वे भारतीय वर्त्तमान वेदभक्त-जो वेदशास्त्र के साथ वर्त्तमान भूतविज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आतुर हो रहे हैं-"ऋषि वैज्ञानिक थे, तो आज के वैज्ञानिक ऋषि हैं" इसप्रकार के भावुकतापूर्ण उद्गारों से भावुक-जनता को भ्रान्तिपथानुगामिनी ही बनाते जारहे हैं।

१०७–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मूलक 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' लक्षण अनाद्यनन्त दिग्देशकालातीत-ऋषिविज्ञानात्मक-आर्षविज्ञान के साथ दिग्देशकालात्मक-सादि-सान्त वर्त्तमान-भूतविज्ञान का आत्यन्तिक असम्बन्धात्मक-सम्बन्ध—

कदापि कोई भी साम्य नहीं है भारतीय 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' पर प्रतिष्ठित, ऋषिप्राणमूलक-'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' लक्षण भारतीय ऋषिविज्ञान के साथ आज के सादिसान्तभावापन्न-क्षणिक भूतविज्ञानात्मक प्राकृत विज्ञानविजृम्भण का, जिस से मानव के प्राकृत-भूत जीवन को वैसा समुत्तेजन ही मिलता जारहा है, जो समुत्तेजन कालान्तर में मानव को प्राकृत अनुकूलता देता हुआ इसे सर्वपशल्य-मृत्युगह्वर में ही प्रक्षिप्त कर देगा। अतएव कदापि हमें इस समन्वय-व्यामोहन का स्मरण भी नहीं करना चाहिए। इससे वेदविज्ञान का मौलिक स्वरूप तो अन्तर्हित होगा ही, साथ ही हमारी विज्ञानमूला वह आचार-पद्धति भी इस भूतविज्ञानव्यामोहन से शिथिल हो जायगी नित्यविज्ञानसिद्धा जिस आर्षपद्धति से, आर्षधर्म से आजतक भारतीय मानव अपनी आत्मनिष्ठा सुरक्षित रखता आया है।

१०८–त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षता के निग्रह से अन्तर्म्मुखप्रमाणिता भारतीय–ज्ञानविज्ञाननिधि की परीक्षणात्मिका तात्कालिक–अभिव्यक्ति की दुराशा, एवं तथाविध संकटकाल में एकमात्र अनन्यशरण विज्ञानमूलक भारतीय सांस्कृतिक–आचारों का अनुगमन, तथा तन्निष्ठारक्षणाय भूतविज्ञान–विजृम्भण से निष्ठापूर्वक आत्मपरित्राण—

प्रतीच्य भूतविज्ञानसंस्कारों के सम्पर्क में आने वाले, साथ ही उन्हीं प्रतीच्य–जीवनपद्धतियों को विज्ञान–सिद्धा–सर्वोत्कृष्टा पद्धतियाँ मानने मनवाने–जैसे 'अन्तर्राष्ट्रीयख्याति' रूप महान् व्यामोहन में आपादमस्तक–निमज्जित वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र के निग्रह से, विगत अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्ता साम्प्रदायिक दृष्टिनिग्रह से, तथा तद्दृष्टिसमर्थक लोकलिप्सु तद्युग के साम्प्रदायिक विद्वानों की भावुकता से, सर्वोपरि सत्तातन्त्रभक्त आज के प्रतीच्यविचारोच्छिष्टभोगी भारतीय अर्वाचीन विद्वानों की महती कृपा से यह सम्भव है, सम्भव ही क्या, अज्ञातकालावधिपर्य्यन्त तो यह निश्चित ही है कि, भारतीय–प्राच्य–ऋषिदृष्टिकोण के माध्यम से न तो वैदिक तत्त्ववाद का पारिभाषिक अन्वेषण ही अभी सम्भव, एवं न परीक्षण ही सम्भव। ऐसी स्थिति में ऋषि-प्राणमूलक अभ्युदयकर यज्ञविज्ञान का पुनरुद्धार भी दुर्भाग्यवश अभी कालप्रतीक्षा का ही अनुगामी मान लिया जायगा, जबकि आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भी भारतराष्ट्र में सहस्राब्दियों से अन्तर्मुख बने हुए वेदादि शास्त्रों के तत्त्वपूर्ण–पारिभाषिक अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था भी सुदुर्लभा ही प्रमाणित हो रहा है। ऐसी विषमा स्थिति में तो विज्ञानसिद्ध आचारात्मक श्रौत–स्मार्त्त–धर्म्म, एवं तदनुगता सहज जीवनपद्धति का यथाशक्य अनुगमन ही वर्त्तमान भारतीय आस्तिक मानव के लिए एकमात्र अशरणशरणभूमि बना रहना चाहिए। निश्चयेन यह अपने आचारधर्म्मानुष्ठानमात्र से भी आज की विज्ञान की घुड़दौड़ में विजेता ही बना रहेगा इस आचारधर्म्म के अनुग्रह से मानवसुलभ–मानवता, सुख, शान्ति–आदि परिणामों की दृष्टि से। कदापि इसे उस भूतविज्ञान के विजृम्भण का तो स्मरण भी नहीं ही करना चाहिए, जिसका मूल उद्देश्य ही लोकैषणा–त्मिका वितैषणा ही बनी हुई है अथ से इति पर्य्यन्त *।

१०९–प्रकृतानुसरण–दिक्–देश–काल–शब्दार्थों का बुद्धिगम्य, अतएव भावुकता-संरक्षक–समन्वय, एवं तदर्थ उदाहरणविध्यात्मक आम्रवृक्ष का संस्मरण—

प्रकृतमनुसरामः–पापपाशं तरामः। बुद्धिगम्या प्राकृत-व्याख्या के अनुसार 'काल' का अर्थ गणनात्मक-कलनात्मक-क्रमसिद्ध–अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन-आदि पर्वों की समष्टि रूप 'वर्ष' ही है, जिसे वैदिकपरि-भाषा में हम सौर-पार्थिव-सम्वत्सरानुगत चान्द्र-'ऋतसम्वत्सर' नाम से व्यवहृत करेंगे। इस काल का परिचायक है प्रदेशात्मक वह पदार्थ, वह भौतिक–वैकारिक–धामच्छद–द्रव्य, जिस में बाह्याकार, तथा बाह्याकार से आक्रा-न्त भूत पदार्थ, ये दो भाव समन्वित हैं। पदार्थों का बाह्याकार ही पदार्थ का 'दिक्'–भाव है, एवं इस दिग्रूपा बाह्यसीमा से परितः (चारों ओर से) वेष्टित–छन्दित–सीमित–धामच्छद–स्थानावरोधि भौतिक द्रव्य

---

* देखिए–'भारतीय दृष्टिकोण से–'विज्ञान' शब्द का समन्वय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

ही देशात्मक प्रदेश है । दिगा मक देशरूप इस प्रदेश के आधार पर ही पूर्वोक्त कलनात्मक--क्रमसिद्ध-विविध-पर्वात्मक-वर्षकाल अपने कालिक स्वरूप से अभिव्यक्त हो रहा है, जिसके लिए एक आम्रवृक्ष को ही उदाहरण बना लेना पर्य्याप्त होगा ।

११०-सम्वत्सरकालानुबन्धिनी-दिग्देशकालात्मिका ऋतुओं के द्वारा आम्रवृक्ष में बाल-युवा--वृद्ध--अवस्थात्रयी का उपभोग—

आम्रबीज (आम की गुठली) को यथासमय (चैत्र में, अथवा तो आषाढस्य प्रथमदिवसे) भूगर्भ मे न्युप्त कर उस में जलसेक कर दिया जाता है, गर्त को सम बना दिया जाता है । कालान्तर में इसी दिग्देशात्मक बीज के आधार पर ऋतुकालानुपात से अङ्कुर निकल पड़ता है, जिस अङ्कुर का दिक्-देश बीज के दिग्देश से सर्वथा पृथक् ही होता है । यों पुन –पुन'–जलसेक से–अङ्कुरित –अङ्कुर-परम्परा-- कालान्तर में वही आम्रबीज 'आम्रवृक्ष' रूप में परिणत होता हुआ आम्रमञ्जरी–अपरिपक्व आम्रफल [illegible] परिपक्व आम्रफलादि के रूप मे परिणत होता जाता है स्व स्व ऋतुकालों में । अनन्तर इस प्रजननव[illegible] परिसमाप्ति पर ह्रासकाल आरम्भ होता है । फल–पत्ते- झड़ने लगते हैं । होते होते शरत्काल में तो [illegible] ढ्ढटलमात्र ही शेष रह जाता है । शिशिरपर्य्यन्त इसी ह्रासकाल का साम्राज्य रहता है । तदनन्तर वसन्[illegible] आता है । पुन नवीन पत्ते अङ्कुरित होते हैं, पुन वही मञ्जरी, वे ही फल, और वही वितान । य[illegible] सम्वत्सरकालभोग में आम्रवृक्ष अपनी बाल–युवा–वृद्ध–तीनों अवस्थाओं का अनुगामी बन जाता है । सम्वत्सरकाल ही एक सम्वत्सर में अपने पूर्णस्वरूप का उपभोग कर लेता है इस एक ही आम्रवृक्ष में ।

१११-सम्वत्सरकाल के आधार पर एक सम्वत्सरकाल की एक सम्वत्सरकाल में पूर्ण स्वरूपाभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला सम्वत्सरत्रयी, एवं सम्वत्सरकालत्रयी--मूर्ति एक आम्रवृक्ष—

'सम्वत्सरकाल सम्वत्सरकाल मे पूर्णस्वरूप का भोग कर लेता है' वाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए कालस्वरूप-समन्वय के लिए । जबतक दो सम्वत्सरकाल नहीं मान लिए जाते, तबतक इस वाक्य का वाक्यार्थ समन्वित नहीं होसकता । अवश्य ही दो ही सम्वत्सरकाल विद्यमान हैं एक सम्वत्सर में । लीजिए यह तीसरा 'सम्वत्सर' और आगया । "एक सम्वत्सर मे प्रतिष्ठित एक सम्वत्सर एक सम्वत्सर कालावधि में अपना सम्पूर्ण स्वरूप भोग लेता है" इस वाक्य का अब वाक्यार्थ-समन्वय हुआ- 'काले काल कालावधौ सर्व-कृत्स्न-स्वरूपमुपभुङ्क्ते' । 'काले, अर्थात् मानसकाले, काल - अर्थात्-निमेषकाल -कालावधौ-अर्थात्-गणनकालावधौ' यही अर्थ होगा इस वाक्य-समन्वय का । मानसकाल है मनोमय कालात्मक सौरसम्वत्सरकाल, निमेषकाल है प्राणमय-दिगात्मक-पार्थिव-सम्वत्सरकाल, एव गणनकाल है वाङ्मय-देशात्मक-चान्द्रसम्वत्सरकाल । इन तीनों कालों के समन्वितरूप का ही नाम है-'आम्रवृक्ष' ।

११२-कालाधार पर काल की ही कालरूप में परिणति का समन्वय, एवं--'सर्वं कालात्मकमेव'—

कालाधार पर काल ही कालरूप में परिणत हो रहा है । स्वय काल ही कालरूप से आधार बनता है, स्वय यह काल ही अपने एकांश से गतिशील बन कर दिग्भाव में परिणत होता है, एव स्वय यही काल

अपने एकांश से धामच्छद बन कर देशभाव में परिणत होता है । काल ही रसाधार है, काल ही रस है, काल ही रसचिति है । और यों काल ही काल है, काल ही दिक् है, काल ही देशात्मक प्रदेश है । और यही आद्यन्त के कालरूप दिग्देशकालात्मक आम्र-स्वरूप के कालिक स्वरूप का अथ से इति पर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है । 'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' के अनुसार काल में काल से निर्म्मित काल का ही नाम आम्रवृक्ष है । वही आधार है, वही आधेय है, वही आधाता है । सर्वमिदं कालात्मकमेव :

११३–सत्तासिद्धकाल, एवं भातिसिद्धकाल, नाम की कालद्वयी का स्वरूपदिग्दर्शन —

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए इसी बुद्धिगम्या व्याख्या का । एक है सत्तासिद्ध काल, एवं एक है भातिसिद्ध काल । दोनों के नामों में क्योंकि कालसाम्यात् साम्य है । अतएव इन दोनों के पार्थक्यबोध में थोड़ी अड़चन आजाती है । अपिच दोनों क्योंकि अन्तरान्तरीभाव-सम्बन्ध से एक दूसरे में ओतप्रोत हैं । इसलिए भी दोनों को पृथक् पृथक् कर के समझ लेना थोड़ा कठिन हो जाता है । वस्तुरूप काल का नाम है सत्तासिद्धकाल, एवं वस्तुरूप काल की भोगावधिरूप भोगकाल का नाम है भातिसिद्धकाल । जिस कालतत्त्व से दिग्देशकालात्मक पदार्थ का स्वरूप-निर्म्माण होता है, उस का नाम है–सत्तासिद्धकाल । एवं जितनी अवधि-समय-में इस सत्तासिद्धकाल से सत्तात्मक पदार्थ का निर्म्माण होता है, उस अवधि-काल का नाम है–भातिसिद्धकाल । सापेक्ष है यह सत्ता, और सापेक्ष है यह भाति । एक काल वैसा भी है, जो न सापेक्षसत्ता से सम्बन्ध रखता, न सापेक्षभाति से । अपितु जो सर्वथा निरपेक्षकाल है इन दोनो हीं सापेक्षभावों से । वही जगतामाश्रयः–अनन्तकाल है, जिसे हम अभी थोड़ी देर के लिए तटस्थ ही मान लेते हैं ।

११४–सार्थककाल-निरर्थककाल-शब्दों की लोकव्यावहारिकता का समन्वय—

अस्मदादि प्राकृत-लोकमानव कालावधिरूप भातिसिद्ध काल को ही 'काल' नाम से पहिचानते हैं, जबकि हमारे उपयोग में इस भातिसिद्धकाल से समन्वित सत्तासिद्धकाल ही आता है । सत्तासिद्धकाल की उपेक्षा कर देने पर भातिसिद्धकाल का कोई उपयोग शेष नही रह जाता हमारे लिए । उस अवस्था में तो हमें यही मान लेना पड़ता है, कह देना पड़ता है कि, "हमने काल को (भातिसिद्ध–'समय'–नामक काल को) व्यर्थ ही खो दिया । इसी आधार पर निरर्थककाल, सार्थककाल-रूपेण काल के दो विवर्त्त लोकव्यवहार में भी प्रसिद्ध हैं । यदि भातिसिद्धा कालावधि में हमने किसी सत्तासिद्धकाल (लक्ष्य) को सिद्ध कर लिया, तो हमारे लिए प्रकृति से नियत यह भातिसिद्धकाल सार्थककाल (सत्तासिद्धकाल से समन्वित भातिसिद्धकाल) बन गया । यदि इस कालावधि में हमने सत्तासिद्धकालात्मक लक्ष्य सम्पन्न नही किया, तो वही भातिसिद्धकाल हमारे लिए सर्वथा निरर्थककाल (सत्तासिद्धकाल से वञ्चित केवल भातिसिद्धकाल) ही बना रह गया । जिसने अपने भातिसिद्धकाल में सत्तासिद्ध लक्ष्य समाविष्ट कर लिया, उसका भातिसिद्धकाल (जीवनकाल) सफल बन गया, एवं जिसने इस जीवनावधिरूप भातिसिद्धकाल में कोई लक्ष्य पूरा न किया, उसका जीवन-काल निष्फल ही चला गया निर्लक्ष्य पश्वादि प्राकृत-प्राणियों की भाँति ।

११५-भातिसिद्धकाल की सार्थकता का मूलबीज सत्तासिद्ध काल, सत्तात्मक मानवीय व्यक्तित्व, भात्यात्मक पश्वादि-प्राकृतिक-रूप, अमृतपथानुगामी मानव, एवं मृत्युपथारूढ मानवेतर पश्वादि प्राणी—

सत्तासिद्ध काल ही भातिसिद्ध काल की सार्थकता का मूलबीज है, और यही कुछ समझने जैसा सूक्ष्म दृष्टिकोण सुव्यवस्थित है भारतीय दृष्टि से। वहाँतक मानव के प्राकृत स्वरूप का प्रश्न है, वहाँतक तो मानव भी भातिसिद्ध ही प्रमाणित होरहा है। 'सत्ता' ही वह मौलिक प्रतिष्ठा है, जो मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व लक्षण 'व्यक्तित्व' से समन्वित करती है, जिस व्यक्तित्व का मानवेतर प्राकृत प्राणियों में सर्वथा अभाव ही है। "पशु उत्पन्न होते हैं मरने के लिए ही"। 'मरना' ही इनके प्राकृत जीवन का महान्, एवं मुख्य उद्देश्य है, जबकि "मानव अभिव्यक्त होता है अपने प्राकृत स्वरूप से अमर होने के लिए ही"। 'मृत्योर्मा-अमृतं गमय, असतो मा सद्गमय' ही मानव के प्राकृत जीवन का सत्तासिद्ध लक्ष्य है, जिसका आत्मबुद्ध्यनुगत ग्रन्थिबन्धन-विमोकात्मक 'मोक्ष' से ही सम्बन्ध माना गया है।

११६-मुमुक्षानुगत-आत्मबुद्धिसम्मत-आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठ-सत्तोपासक मानव, एवं मिमृक्षानुगत-मनःशरीरभावुक-भात्यनुगत-प्राणिजगत्—

मुक्तिकामना, तदनुगत बन्धनविमोचक आत्मबुद्धिसम्मत आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान ही मानव के चरम लक्ष्य हैं, जबकि प्राकृत पश्वादि प्राणियों के मन शरीरानुबन्धी सम्पूर्ण लक्ष्य केवल इन के प्राकृतस्वरूप के सग्राहक-मात्र बनते हुए कालान्तर में इन्हें 'मृत्युलक्ष्य' पर ही पहुँचा देते हैं। सत्तासिद्ध 'अस्तिब्रह्म' की उपलब्धि का इन आत्मबुद्धिशून्य पश्वादि प्राणियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। चान्द्रसम्वत्सरात्मक भातिसिद्ध सम्वत्सर से कृतरूप प्राकृत प्राणियों के मन शरीरभाव भी भातिसिद्ध ही हैं। एवं ऐसे भातिसिद्ध मनःशरीरभावों के सग्राहक मानसिक काम, शारीरिक-भोगात्मक-प्राकृत लक्ष्य भी भातिसिद्ध ही हैं।

११७-आत्मबुद्धिधर्म्मा अप्राकृत मानव के मनःशरीररूप की प्राकृतता, तद्रूपा इस की भातिसिद्धता, तन्निबन्धन मानसिक काम, शारीरिक अर्थ-समाधक यच्चयावत् लौकिक कर्म्मों का पशुकर्म्मों से समतुलन, तथा तन्निबन्धन मानव के काल की निरर्थकता—

अतएव पश्वादि प्राणी आपन्त के 'भातिसिद्ध' ही प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि मानव अपने चान्द्र-पार्थिव मन.शरीरात्मक प्राकृतरूप से भातिसिद्ध है, वहाँ यही अपने सौर-स्वायम्भुव बुद्धि-आत्मात्मक अप्राकृत स्वरूप से सत्तासिद्ध ही प्रमाणित हो रहा है। मानव के प्राकृत शरीर का लक्ष्य है अर्थ, एवं प्राकृत मन का लक्ष्य है काम। और इन दोनों प्राकृत पर्वों की दृष्टि से तो प्राकृत पश्वादि प्राणियों में, तथा मानव के इस प्राकृत स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं है *। इस दृष्टि से मानव, और मानव के कामार्थरूप लक्ष्य, सभीकुछ

* आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

पशुजगत् की भाँति भातिसिद्ध ही बने हुए हैं, जिनका पशुसृष्टिवत् 'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं है। प्रकृति की प्रेरणा से कामनापूर्वक शारीरिक-मानसिक कर्त्तव्यों में यन्त्रवत् प्रवृत्त रहना, कर्त्तव्यफलरूप भौतिक साधन-परिग्रहों से अपने कामार्थमय मनःशरीर-पर्वों को पशुवत् तुष्ट-पुष्ट-करते रहना, और यों खाते-पीते-हँसते-खेलते-कालानुसार पशु-पश्वादिवत् कुदतके-फुदकते-चहकते--चटकते-नाचते-गाते-एक दिन मृत्युमुख में प्रविष्ट हो जाना यामीयातनाओं का स्वागत करने के लिए, यही ऐसे प्राकृत-मानवों का सम्पूर्ण लक्ष्येतिवृत्त है। ऐसे कामभोगात्मक भातिसिद्ध लक्ष्य तो मानव के भातिसिद्धकाल को कदापि सार्थक नहीं बना सकते, जैसाकि लोकचतुर प्राकृत मानवों नें, तथा भूतविज्ञानधुरीणोंनें आज मान रक्खा है।

११८ लोकचतुर-दिग्देशकालात्मक युगधर्म्मवित् बुद्धिमान्-प्राकृत मानवों के मनः-शरीरनिबन्धन तुष्टि-पुष्ट्यात्मक कर्म्मकौशलों का दुःखपूर्ण-जघन्यतम-मलीमस इतिहास—

लोकचतुर उसे ही सब से बड़ा कौशल मानते हैं कि, वे अपने कर्त्तव्यों से अपने भौतिक-स्वरूप को (मनःशरीर को) सुख-सुविधापूर्वक तुष्ट पुष्ट रखलें। एवमेव भूतविज्ञान का भी "एकमात्र चरम लक्ष्य यही है कि, वह विज्ञानजनित आविष्कारों, यन्त्रों, आदि साधनों से कम से कम समय में अनुकूलतापूर्वक-सुख-सुविधापूर्वक-अधिक से अधिक मात्रा में वैसे मानसिक-शारीरिक भूत-भौतिक-परिग्रह-सञ्चित करने में सफल हो जाय, जिनके सञ्चय के अनन्तर फिर इसके अपने मन और शरीर को चिन्तित उत्पीड़ित न होना पड़े"। लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् मानवों के लोकचातुर्य्यरूप लोककर्त्तव्यात्मक लक्ष्यों से, तथा भूतविज्ञानधुरीण वैज्ञानिकों के भूत-भौतिक-वैज्ञानिक-साधनों से मानवसमाज के मानसिक कामभावों, तथा शारीरिक भोगभावों की किस सीमापर्य्यन्त वर्त्तमान बीसवीं सदी के लोकचतुरयुग में, तथा वैज्ञानिकयुग में तुष्टि-पुष्टि हुई?, प्रश्न के दुःखपूर्ण-जघन्यतम-घोर-घोरपतनात्मक-अशान्त-परिणामों के मलीमस इतिहास के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है।

११९-मनोमूलातुष्टि, एवं शरीरमूला पुष्टि के लिए आतुर विज्ञानजगत् के द्वारा आविष्कृत सुख-सुविधाजनक-कामार्थमय साधनों की कृपा से विकम्पिता आत्म-शान्तिमूला, तथा बुद्धितृप्तिमूला मानवता—

क्योंकि, हम ऐसा अनुभव कर रहे हैं इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपने अन्तर्जगत् में कि,-अपनी कल्पित लोकचातुरी से इसके स्रष्टा-भाग्यविधाता लोकचतुर राष्ट्रीय नेता, तथा अपने प्रवृद्ध भूतविज्ञान के स्रष्टा-द्रष्टा भूतवैज्ञानिक महाभाग, दोनों हीं आज चिन्तित हो पड़े हैं अपने इन दोनों हीं साधनों से उत्पन्न हो पड़ने वालीं विभीषिकाओं से। "एक ओर सम्पूर्ण विश्व के लोकचतुर बुद्धिमान् मानव आज विश्वबन्धुत्त्व-शान्ति-मैत्री-मानवता-सहास्तित्त्व-पञ्चशील-आदि की तुमुल घोषणाओं के साथ मानव को उद्बोधन प्रदान करने के लिए आतुर बनते जारहे हैं, तो दूसरी ओर विश्व के उच्चकोटि के वैज्ञानिक सम्मिलित प्रार्थनापत्रों के साथ इन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रमुख उपभोक्ता अमेरिका-

रूस-इङ्गलैण्ड-जापान-फ्रान्स-आदि प्रतीच्य राष्ट्रों के कर्णधारों से यह आर्त्तनाद अभिव्यक्त करते प्रतीत होरहे हैं कि, इन आविष्कारों का परीक्षण अविलम्ब अवरुद्ध कर देना चाहिए, नहीं तो इनसे मानवता के लिए भयानक सङ्कट उपस्थित हो जायगा"।

१२०-मनःशरीरनिबन्धना भूतासक्ति के द्वारा आविष्कृत भौतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में लोकचतुरों के काल्पनिक सुझाव, तद्द्वारा इनकी निर्म्माणोपयोगिता-भ्रान्ति, एवं इत्थंभूत 'सुझाव' के सम्बन्ध में एक प्रश्न—

कितने एक लोकचतुर, साथ ही भूतविज्ञानभक्त इस सम्बन्ध में यह भी सुझाव रखने का निःसीम अनुग्रह करते आरहे हैं कि, "भूतविज्ञान, और उसके भूतभौतिक आविष्कार तो मानव के लिए अत्यन्त ही मङ्गलप्रद हैं-यदि इनका निर्म्माणकार्य्यों में उपयोग लिया जाय तो। अतएव हमें वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव के रचनात्मक-निर्म्माणात्मक-लक्ष्य ही सम्पन्न करने चाहिएँ, एवं इनके द्वारा होने वाली ध्वंसात्मिका प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए"। कौन हाथ पकड़ रहा है इस मङ्गलमयी विज्ञानमयी प्रवृत्ति के लिए ?। सभी तो आविष्कर्त्ता उच्चकोटि के बुद्धिमान् हैं, सभी तो विश्वबन्धुत्व के महान् समर्थक हैं। सभी तो विज्ञानाविष्कर्त्ताओं को प्रश्रय प्रदान कर रहे हैं। अमुक प्रभूत-साधनशून्य निरीह वैज्ञानिक अपने बल पर तो तथाविध घातक परीक्षण नहीं कर रहा। यह परीक्षण होरहा है उन्हीं के अनुग्रहदान से, जो मानवता के भावी सङ्कट से प्रतिक्षण चिन्तामात्र अभिव्यक्त करते आरहे हैं। ऐसा क्यों ?। क्यों जानते हुए भी, मानते हुए भी इसप्रकार शान्तिसन्देश के वाहक वे ही मानवकल्याणवादी-सहास्तित्ववादी-पञ्चशीलवादी राष्ट्र आज स्वयं ही सर्वसंहारिका परीक्षाप्रणाली के संयोजक बने हुए हैं ?।

१२१-कामभोगात्मिका लोकचातुरी से अनुप्राणित सुझावों की निःसारता, एवं आत्मनिष्ठावञ्चिता तथाविधा लोकचातुरी, तथा ज्ञानप्रतिष्ठा से एकान्ततः वञ्चित कामभोगमूलक तथाविध भूतविज्ञान—

प्रश्न का उत्तर स्पष्टतम है। इत्थंभूता लोकचातुरी का मूल ही कामभोगात्मक है। तथैव तथाविध भूतविज्ञान का आरम्भ ही मन शरीरैषणापोषक प्राकृत-भातिसिद्ध भूतों से ही हुआ है। न लोकचातुरी के मूल में आत्मनिष्ठा प्रतिष्ठित, न विज्ञान के मूल में ज्ञाननिष्ठा प्रतिष्ठित।

१२२-आत्मनिष्ठानुगता लोकचातुरी से अनुप्राणित, विश्वशान्ति का सृष्टिविज्ञानात्मक भारतीय यज्ञविज्ञान, उसकी 'इष्टकामधुक्ता', एवं तथाभूत नित्यविज्ञान के आधारभूत कालातीत तत्त्व से असंस्पृष्ट आज का लोकचतुर वैज्ञानिक मानव, अतएव तद्द्वारा आविष्कृत भूतविजृम्भणों की निर्म्माणात्मिका प्रवृत्तियों में आत्यन्तिक असमर्थता—

जिस लोकचातुरी का आधार आत्मनिष्ठा बन जाती है, कदापि उसके द्वारा मानव की वञ्चना सम्भव ही नहीं। वैसा मानव कदापि कामभोगपरायण बनता ही नहीं। लोक-निरीक्षणाएँ वैसे मानव को आकर्षित करतीं

हीं नहीं। एवमेव जिस भूत के आधार में ज्ञान प्रतिष्ठित हो जाता है, उस भूत से वैसे घातक आविष्कार सम्भव ही नहीं, जिनके लिए आविष्कारानन्तर इसे चिन्ता करनी पड़े। फिर तो इससे वैसा 'यज्ञविज्ञान' ही आविष्कृत होगा, जिसके द्वारा 'इष्टकामधुकृता' के अतिरिक्त अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। किन्तु वह आत्मनिष्ठा, वह ज्ञानधरातल प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका सीमित बुद्धि की पकड़ में आज नहीं आ रहा। यदि प्रयत्नपूर्वक वह इसे पकड़ने का प्रयास करता भी है, तो इनसे इसे अपने बाह्य वातावरण-रूप लोकचातुर्य्य, तथा समस्त विज्ञानदम्भ का वह चोला उतार फैंक देना पड़ता है, जो इसका कल्पित व्यक्तित्त्व बना हुआ है। इन कृत्रिम चोलों को उतार फैंक देने के अनन्तर तो फिर इस निरीह का उस सामान्य अपठित ग्रामीण बन्धु जितना भी व्यक्तित्त्व शेष नहीं रह जाता, जो राम राम जपता हुआ लूखी सूखी खाकर तुष्टिपूर्वक कालयापन करता रहता है। निश्चयेन—जबतक आज के लोकचतुर नेता—महाभाग, एवं विज्ञान—धुरीण वैज्ञानिक अपने इस व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक कल्पित—व्यक्तित्त्व को नहीं छोड़ देते, तबतक इन्हें अपने ही प्राकृत मानव के गर्भ में सुगुप्त अप्राकृत दिग्देशकालातीत उस महान् मानव के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो ही नहीं सकता, जिस स्वरूपबोधात्मक ब्रह्मप्रतिष्ठान के बिना इनकी लोकोत्तरा चातुरी से, लोकचतुर—चाणाक्ष—साम्प्रदायियों के कल्पित शून्यवादात्मक—मानवतावादों से, एवं वैज्ञानिकों के वैज्ञानिक आविष्कारो से तो इनके अपने मनः शरीरात्मक प्राकृतरूप की भी प्रकृतिस्थता इन्हें नहीं प्राप्त होसकती। फिर आत्म-बुद्धि—निबन्धना स्वस्थता की तो कथा ही विदूर है।

१२३—अभ्युपगमवादात्मिका मान्यता से मान्य लोकचातुर्य्य की भूतविज्ञानमूला उपयोगिता के सम्बन्ध में तदुपयोगितावादियों से पशु—समतुलिता-मानवस्थिति के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न,—एवं तत्समाधान—प्रयास—

आलप्यालम्। अभ्युपगमवादात्मक तुष्यद्दुर्जन्यायके माध्यम से, प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि, लोकचातुर्य्यरूप लौकिक कर्त्तव्यो से, तथा वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव को सुख सुविधा मिल जाती है। क्या परिभाषा करते हैं आप इस सुख सुविधा की ?। यही न कि, विभिन्न स्वादयुक्त खाद्य-चर्व्य लेह्य-चोष्य-भोजनद्रव्यों की प्रभूतता, विशिष्ट वस्त्रों का प्राचुर्य्य, मानसिक अनुरञ्जन के लिए नृत्य, गीत, कविता-रस रागादि की सुविधा। कोश में सञ्चित अर्थ। तद्द्वारा सेवक सेविकाओं की असंख्य-संख्यात्मकता, अनुकूल वाहन, उद्यान, भव्य प्रासादादि का आवास—निवास, इत्यादि इत्यादि की सुलभता से प्राप्ति, तद्द्वारा मानस-शारीरिक भावों की तुष्टि—पुष्टि—(जबकि है यह सब कल्पना ही कल्पना)। अलमतिपल्लवितेन। क्या यही मानव का, इसके जीवन का एकमात्र महान् उद्देश्य मान लिया जायगा ?। तब तो प्राकृत पश्वादि प्राणियों में, एवं इसमें कोई भी अन्तर नहीं रहेगा। यदि **'कोई भी अन्तर न रहे'** यही पक्ष उचित मान लेता है यह मानव, तब तो अब इसे और कुछ भी आवेदन निवेदन नहीं करना है। क्योंकि **'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः'** लक्षणा 'नष्ट' उपाधि सुरक्षित हो गई है प्रकृतिरहस्यवेत्ताओं के द्वारा ऐसे आत्मबुद्धिविमूढ़—मनः—शरीरपरायण—पशुसमतुलित प्राकृत मानवों के लिए। ऐसे प्राकृत मानव ही **'मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्'** को अक्षरशः चरितार्थ करते रहते हैं। आत्ममूलक मोक्ष की, तथा बुद्धिमूलक धर्म्म की शाश्वतता से वञ्चित मनोमूलक स्वैराचारपरायणात्मक काम, तथा शरीरमूलिका—अच्छन्दस्का स्वच्छन्दा—आहारपरायणता तो मानव को, एवं इसके

भातिसिद्ध काल को कदापि सत्तासिद्ध नहीं ही बनने देते। यह तो केवल 'कालयापन' ही कहलाया है, जिसका प्राकृत पशु के कालयापन से यत्किञ्चित् भी तो अधिक महत्त्व नहीं है।

१२४–सत्तासिद्ध कालानुगत सार्थक काल की आचारात्मिका स्वरूप-परिभाषा, तदाधारभूत कालातीत–'स्व' लक्षण आत्मपुरुष से अनुगता 'स्वस्थता', एवं कालप्रकृत्यनुगता 'प्रकृतिस्थता' का स्वरूप--समन्वय—

अतएव सत्तासिद्धकाल का अर्थ माना जायगा–"आत्मसम्मत मोक्षकर्म्म, बुद्धिसम्मत धर्म्माचरण, आत्मबुद्धिधर्म्म से नियन्त्रित धर्म्मानुगत काम (दाम्पत्यजीवनात्मक गृहस्थकर्म्म), एवं धर्म्मानुगत अर्थ (श्रम–परिश्रम–पूर्वक अर्जित अर्थ, तथा तत्साधक लौकिक कर्म्म)" यह। आत्मबुद्धिसम्मत मोक्षकर्म्मात्मक कर्म्मों से जहाँ मानव कालातीता स्व-स्वरूपानुगता 'स्वस्थता' प्राप्त करता रहेगा, वहाँ यही स्वस्थता के आधार प्रतिष्ठित धर्म्मसम्मत कामार्थों से प्रकृतिस्थता का भी निरापदरूपेण उपभोक्ता प्रमाणित होता रहेगा। और यों मानव के ये कालातीत अप्राकृत, तथा प्राकृत, दोनों निवर्त्त समदर्शनात्मक विषमवर्त्तन से स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ बने रहते हुए मानव को सर्वात्मना आत्मना स्वस्थ–शान्त, तथा शरीरेण प्रकृतिस्थ–सुखी बनाए रहेंगे। यही इसके भातिसिद्ध शतायु-रूप गणनकालात्मक काल की सार्थकता मानी जायगी। इस समन्वय से विरुद्ध इसके सभी लौकिक वैज्ञानिक विजृम्भण इसके तात्कालिक मन शरीर के लिए सुखाभास बनते हुए भी दुःखात्मक मृत्युप्रवर्त्तक लोकमोहजनक सन्तापात्मक भातिसिद्ध कर्म्म ही मानें जायँगे। और ऐसे भातिसिद्ध कर्म्मकालात्मक लक्ष्यों से समन्वित इसका आयुर्भोगात्मक भातिसिद्ध काल सर्वथा निरर्थक ही माना जायगा। और अवश्य ही बिना किसी संकोच के मादृश ऐसे भातिसिद्धकर्म्मानुगामी लोकव्यासक्त प्राकृत मानव के सम्बन्ध में यह कह दिया जायगा कि, "ऐसे मानव ने तो अपना समय सर्वथा व्यर्थ ही खो दिया पशुवत केवल खाते–पीते रहने में, और अन्ततोगत्वा यामी यातनाओं को भोगने के लिए मर जाने में ही, जब कि इसका मुख्य लक्ष्य था–अपने भातिसिद्ध जीवनकाल को सत्तासिद्ध काल से समन्वित कर इसकी सार्थकता से अपने सहजसिद्ध अमरत्त्व को प्राप्त करना" इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन।

१२५–भातिसिद्ध काल की स्वरूप-परिभाषा, तदनुबन्धी लोकप्रसिद्ध 'समय' शब्द, एवं तदाधारभूत अग्नीषोमात्मक सत्तासिद्ध काल,–तथा तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ–

हाँ, तो भातिसिद्ध काल उस काल का नाम है, जिसे हम अपनी स्थूलभाषा में 'समय' कहा करते हैं, जिसके पल–दिन–पक्ष–मासादि–अवयव हैं। एवं सत्तासिद्ध काल उस काल का नाम है, जो वस्तुस्वरूपात्मक है, जो तत्त्वात्मक है, अक्षरगर्भित क्षरात्मक है, अग्नीषोमात्मक है। अग्नि, और सोम, दोनों ऋतात्मक हैं, जिनके समन्वय से ही 'ऋतु' का स्वरूप–सम्पन्न होता है। दोनों में प्रधानता क्योंकि अग्नि की ही है इसके अन्नादधर्म्म के कारण। अतएव इस सत्तासिद्ध काल को अग्निकाल, किंवा कालाग्नि ही कह दिया जाता है, जब कि है यह अग्नि सोमात्मक ही। अग्नि-सोम की समष्टि का नाम ही है 'यज्ञ'। इस यज्ञ का ही नाम है संवत्सराग्नि (ऋतसोमगर्भित अग्नि)। यही है सत्तासिद्ध संवत्सरकाल, जिसका बृहज्जाबालोपनिषत् में निम्नलिखितरूप से विस्तार से उपवृंहण हुआ है। सुनिए! और स्वयं अपनी आर्षप्रज्ञा से इन वचनों का समन्वय कीजिए!

१–अग्नेरमृतनिष्पत्तिः, अमृतेनाग्निरेधते । (अमृतेन-सोमेन)
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥

२–ऊर्ध्वशक्तिमयं सोम, अधःशक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटिताभ्यां–शश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥

३–अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यं–अमृतं विसृजत्यधः ॥

४–अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात् पावनं भवेत् ॥

५–आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥

६–शिवश्चोर्ध्वमयः शक्ति, रूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥

७–यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च तथोदितम् ।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ॥

८–शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा शक्तिसोमामृतेन यः ।
प्लावयेद् योगमार्गेण सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

—बृ० जा० उ० २ ब्राह्मण

१२६–सौरसम्वत्सरकालात्मक सत्यभाव, पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक शिवभाव, चान्द्र-सम्वत्सरकालात्मक सुन्दरभाव, एवं सत्यकालानुगत कालाग्नि, तथा कालसोम–

सत्यसोमगर्भित–सत्यसावित्राग्निमूर्त्ति–सौरसम्वत्सरकाल ही 'सत्यम्' है, यही 'काले' है । इस सत्य-सौरकालाधार पर प्रतिष्ठित ऋतसोमगर्भित-सत्यगायत्राग्निमूर्त्ति-पार्थिवसम्वत्सरकाल ही 'शिवम्' है, यही 'कालाग्नि' है । एवं इसी के प्रवर्ग्यभाग से कृतरूप–ऋत अग्निगर्भित–ऋतसोममूर्त्ति–चान्द्रसम्वत्सरकाल ही 'सुन्दरम्' है, यही 'कालसोम' है । पार्थिव कालाग्नि, तथा चान्द्र कालसोम–शिव–शक्तिरूप–इन दोनो के दाम्पत्यस्वरूप का नाम ही है वह सत्तासिद्ध काल, जो–सत्यस्यसत्यंरूप अनन्त काल से आवृत 'सत्य' रूप सौरकालाधार पर प्रतिष्ठित होकर भातिसिद्ध कालात्मक गणनकाल के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का सर्जक बना हुआ है । स्मरण कीजिए उस पूर्व वाक्य का, जिसके द्वारा हमने–'काले कलः–कलावधौ कृत्स्नं स्वरूपमुपभुङ्क्ते' यह समन्वय किया था (देखिए पृ० सं० ४४०) । "सत्यकाले शिव–सुन्दर–कालः–गणनकलावधौ"–"सौरसम्वत्सरकाले

पार्थिवसम्वत्सरकालानुगत–चान्द्रसम्वत्सरकाल–भोगावधिरूपे काले" -"मनोमयकाले निमेषात्मकः काल. गणनकालावधौ" इत्यादि अनेक समन्वय किए जासकते हैं उक्त वाक्य के। "सत्यात्मक सौरसम्वत्सरकालाधार पर–सत्तासिद्ध पार्थिवचान्द्रसम्वत्सरकाल भातिसिद्ध गणनकाल में अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है", यही 'सत्य शिव सुन्दरम्' में उपक्रान्त, एवं अन्त विश्रान्त दृष्टिकोण का निष्कर्ष है।

—*—

१२७-दर्शनसम्मता तत्त्वमीमांसानुगता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुगत कालिक परिणामवाद, एवं परिणामवाद की महिमामय विवर्त्त के समतुलन में आत्यन्तिक शिथिलता—

अब दार्शनिक–जगत् में सुप्रसिद्ध 'ज्ञानमीमांसा' नाम की उस 'तत्त्वमीमांसा' के माध्यम से इस बुद्धिगम्या त्रयी (दिक्–देश–काल–त्रयी) का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिस का

सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु जो तत्त्वमीमांसा उन दार्शनिक मानवों की अपनी भाति-प्रतीति-रूपा-मानसकल्पना से ही सम्बन्ध रखती है, एवं जिसके साथ सत्तासिद्ध आचारधर्म्म का संस्पर्श भी नहीं हो पाया है। 'दर्शन' का अर्थ है-'देखना', देखने का अर्थ है-'साक्षात्कार करना', साक्षात्कार करने का अर्थ है-अगोचर को 'गोचर' बना लेना, गोचर बना लेने का अर्थ है—अतीन्द्रिय तत्त्व को इन्द्रियधरातल पर खड़ा करते हुए उसकी मीमांसा में प्रवृत्त होजाना, एवं इस मीमांसा-प्रवृत्ति का नाम ही है-'तत्त्वमीमांसा', और यही है वह दार्शनिक 'ज्ञानमीमांसा', जिसके द्वारा समस्त दार्शनिक उस अदृष्ट-अश्रुत-इन्द्रियातीत-दिग्देशकालानवच्छिन्न-अनन्त-अप्रमेय-आत्मब्रह्म के दृष्टिमूलक दर्शन के लिए आतुर बने रहते हैं। अन्यद्धि आत्मानुशीलनम्, अन्यच्च आत्मदर्शनम्। आत्मानुशीलन अन्य वस्तुतत्त्व है, एवं आत्मदर्शन विभिन्न वस्तुतत्त्व है। आचारसापेक्ष है अनुशीलन, एवं दृष्टिसापेक्ष है दर्शन। अनन्तोपक्रम है अनुशीलन, एवं अन्तोपक्रम है दर्शन। अनन्त को आधार मान कर सृष्टिसर्गानुगामी बनना, सृष्टिस्वरूप का समन्वय करना हीं अनुशीलन है, एवं अन्त को आधार मान कर सृष्टिस्वरूपसमन्वय के लिए प्रवृत्त होना हीं दर्शन है। उधर से अनायासपूर्वक इधर आना हीं अनुशीलन है, एव इधर से उधर जाने का व्यर्थ प्रयास करना ही दर्शन है। अनन्त से चलकर सर्वत्र अनन्तविभूति की ओर ही अनुगमन करना अनुशीलन है, एव अन्त से चलकर अन्त पर ही विश्राम ग्रहण कर लेना दर्शन है। अनन्तात्ममूलकं हि आत्मानुशीलनम्। सादिसान्तमूलकं हि आत्मदर्शनम। व्यापक-अनन्त के गर्भ में व्याप्य-विश्व का महिमारूप से समन्वय करना हीं आत्मानुशीलन है, एवं व्याप्य भौतिक पदार्थों के गर्भ में व्यापक विश्वातीत को देखने-पहिचानने का प्रयास करना ही आत्मदर्शन है। आत्मानुशीलन में सम्पूर्ण विश्व उस अनन्त की महिमा है, विवर्त्त है, जबकि आत्मदर्शन में सम्पूर्ण विश्व उसका परिणाम है, फिर भले ही वह अविकृत परिणाम ही क्यों न हो। अनन्तमूलक तत्त्वाचरण ही आत्मानुशीलन है, जिसमें भातिसिद्ध-सापेक्ष-दिग्देशकालभावों का, तदनुप्राणिता गोचरभावात्मिका क्रमसिद्धा-बुद्धिगम्या व्याख्या के काल्पनिक-दार्शनिक भावों का प्रवेश भी निषिद्ध है। एवं अन्तमूलक तत्त्वमीमांसन ही आत्मदर्शन है, जिसमें भातिसिद्ध-सापेक्ष-दिग्देशकाल-भाव, एवं तदनुप्राणिता-गोचरभावात्मिका-क्रमसिद्धा-बुद्धिगम्या व्याख्या ही प्रधान बनी रहती है। एक के आधार पर अनेकों का महिमारूप से समन्वय करना हीं आत्मानुशीलन है, एवं अनेकों के आधार पर इन अनेकों में ही एक को ढूँढने का प्रयास करना आत्मदर्शन है। और आत्मानुशीलन, तथा आत्मदर्शन, इन दोनों में यही वह महान् अन्तर है, जिसका यथावत् समन्वय किए विना मानव की लोकबुद्धि दर्शनानुगत उस व्यामोहन से कदापि आत्मत्राण नहीं कर सकती, जिस दार्शनिक व्यामोहन ने हीं दार्शनिक, अतएव धर्म्मानुशीलनपराङ्मुख प्रकृतिवादी मानव के मस्तिष्क से दिग्देशकालानुबन्धिनी काल्पनिकी बुद्धिगम्या व्याख्या का आविर्भाव करवा लिया है, इति नु महतीयं विडम्बना दार्शनिक-तत्त्वमीमांसायाः, ज्ञानमीमांसाया वा।

"वाङ्मय भूत ही अन्नमय कोश है। इसके भीतर इससे सूक्ष्म प्राणमय कोश है। इसके भीतर इससे भी सूक्ष्म मनोमय कोश है। इसके भीतर इससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय कोश है। इसके भी भीतर-सबके भीतर सब से सूक्ष्म आनन्दमय कोश है, उसे ही ढूँढना चाहिए, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी का दर्शन करना चाहिए, मनन-चिन्तन-करना चाहिए। वही अमृतात्मा है, और यही है आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार", इसी क्रमदर्शन का नाम आत्मदर्शन

है, जिसे दार्शनिक ज्ञानमीमांसा कहा करता है, जिसका उपक्रम-उत्थान अन्नमयकोशात्मक (भौतिकपदार्थात्मक) दिग्देशकालानुबन्ध से ही हुआ है। मान रहा है दार्शनिक आत्मब्रह्म को दिग्देशकालातीत, किन्तु ढूँढ रहा है उसे वह दिग्देशकालात्मक भूतों के भीतर। न इसके 'भीतर' का ही कुछ अर्थ है, न इसके 'सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम' शब्दों का ही कोई महत्त्व है। वाक्छल के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है इस दार्शनिक-दृष्टि-परम्परा में। ये ही स्थूल से सूक्ष्म को ढूँढने के वे दार्शनिक प्रकार हैं, जिन प्रकारों के अन्वेषण-समन्वय करते रहने में ही दार्शनिक की तत्त्वविजृम्भणात्मिका-दिग्देशकालक्रमानुगता-सम्पूर्ण बुद्धिगम्या व्याख्या समाप्त होजाती है। और परिणाम में अन्त में वह परिणामवादी ही बना रह जाता है, जबकि कार्य्यकारणात्मक-परिणाम का अनन्तब्रह्म के अनन्त विश्व से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। दिग्देशकालात्मक परिणामवाद तो दार्शनिक की विशुद्ध कल्पनामात्र ही है।

१२८-'आत्मानुशीलन' की स्वरूप-परिभाषा, एवं-'न त्वहं तेषु, ते मयि' सिद्धान्त का रहस्यपूर्ण समन्वय—

'न त्वहं तेषु-ते मयि' ही आत्मानुशीलन है, एवं यही अनन्तब्रह्म का महिमात्मक समन्वय है। अनन्तब्रह्म के यत्किञ्चित् अंशरूप प्रकाश के महिमामय विवर्त्त का नाम ही विश्व है। वह बहुत बड़ा है इससे। भला वह इसमें कैसे समा सकता है ?। उसमें यह सबकुछ अवश्य ही समाविष्ट है, उसके भी यत्किञ्चिदंशात्मक प्रकाश में ही। वह अपने अनन्त स्वरूप से इन सादिसान्त भावों में सर्वात्मना समा भी कैसे सकता है ?। यही आत्मानुशीलनात्मक धर्मपथ है। वह 'भूतभृत्' अवश्य है, किन्तु 'भूतस्थ' नहीं है। सम्पूर्ण भूत-भौतिकप्रपञ्च उसीके प्रत्यंश में महिमारूप से समाविष्ट हैं, जबकि-वह भूतसीमा से, दिग्देशकालसीमा से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। मानते हैं, उपनिषदों की भाँति यद्यपि गीता की भाषा भी है तो दार्शनिक ही। तथापि गीता का पारिभाषिक महिमाविवर्त्त अधिकांश में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अनन्तात्मक ब्रह्मसिद्धान्त से ही समतुलित है। 'सर्वमावृत्य तिष्ठति'-'पादोऽस्येहाभवत्पुनः'-'अतो ज्यायांश्च पूरुषः' इत्यादिवत् गीताशास्त्र में भी-'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'-'एकांशेन जगत्सर्वम्'-'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादिरूप से अनन्तमूलक आत्मानुशीलन का ही उपबृंहण हुआ है, एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त भारतीय वाङ्मय विवर्त्त में ऐसा समतुलनात्मक 'साम्यसौभाग्य' एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है, जिसने केवल * 'न त्वहं तेषु-ते मयि'-"मैं उनमें नहीं हूँ, अपितु वे मुझमें हैं-अर्थात् अनन्त के गर्भ में अन्तभाव प्रतिष्ठित हैं, रह सकते हैं। कदापि अन्तभावों में अनन्त का समावेश सम्भव नहीं है"-इस एक ही वाक्य से अनन्तात्मानुशीलन का सम्पूर्ण महिमेतिवृत्त स्पष्ट कर दिया है। आगे चलकर नवम अध्याय में भगवान् ने इसी 'मूलसूत्र' की दो श्लोकों में जो व्याख्या की है, उसके द्वारा तो स्पष्ट ही तथाकथित आत्मानुशीलन-धर्म्म का सर्वात्मना समर्थन हो जाता है। लक्ष्य बनाइए आगे के दोनों श्लोकों को, एवं तदाधारेण आत्मानुशीलन का समन्वय कीजिए !

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु, ते मयि ॥
—गीता ७।१२।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ९।४,५,।

१२९–अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति से ही महिमामय विश्व का वितान, एवं सुप्रसिद्ध व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा जन्म–स्थिति–भङ्ग- कारणभूत कालब्रह्म का स्वरूप–समन्वय—

'अक्षरं ब्रह्म परमम्'–'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' के अनुसार–'कालः स ईयते परमो नु देवः' से उपवर्णिता अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति के द्वारा ही इस महिमामय विश्व का महिमारूप से ही वितान हुआ है, जिसका–'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना' से स्पष्टीकरण हुआ है। कालातीत अनन्त, असमञ्छ–ब्दवाच्य अव्ययब्रह्म अपने एकांशरूप–पराप्रकृतिलक्षण–अव्यक्त अक्षरकालरूप से ही विश्ववितानरूप में परिणत हुआ है। सम्पूर्ण भूतभौतिक-व्यक्त विश्व अव्यक्ताक्षर से समन्वित, अतएव अव्यक्ताक्षरमूर्त्ति अनन्त-अव्यय के इस एकांशरूप अव्यक्ताक्षररूप प्राकृत विवर्त्त पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इस अव्यक्त-माध्यम-दृष्टि से उस अव्यक्ताक्षराधार-सर्वाधार अनन्त ब्रह्म को भी 'भूतभृत्' (भूतविश्व को धारण करने वाला) कह दिया जासकता है। किन्तु साक्षात्–आधारत्त्व तो भूतप्रकृतिरूपा अव्यक्ताक्षरप्रकृति (अमूर्त्त काल) को ही उपलब्ध है। दो प्रकार की है यह आधारभूमि। तटस्थाधारभूमि, समन्वयाधारभूमि, भेद से भूतभृत्ता का दो प्रकार से समन्वय सम्भव है। कारण कार्य्य को उत्पन्न कर प्रतिष्ठारूप से अपने कार्य्य में प्रविष्ट हो जाया करता है, जिसका–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी को 'सृष्टानुप्रविष्टब्रह्म' कहा गया है, जिसके लिए–'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' प्रसिद्ध है। यही 'विश्वचर' ब्रह्म (मूलाक्षरप्रकृति) है। यही विश्वात्मा विश्वेश्वर (कालात्मा–अव्यक्ताक्षर) है। और यही कार्य्यात्मक भूतजगत् के गर्भ में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रहने वाला 'भूतभृत्' विश्वात्मा-है, जिसके लिए–'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते'–'प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इत्यादि प्रसिद्ध है। यही विश्वाधार विश्व की समन्वयाधारभूमि है, यही विजिज्ञास्य वह ब्रह्म (अक्षर) है, जिसके समन्वय से विश्व समन्वित है, एवं जो अपनी कालात्मिका कारणता से विश्व के जन्म–स्थिति–भङ्ग-भावों का प्रवर्त्तक बन रहा है। और यही है शास्त्रयोनिभूत वह ब्रह्म, जिसका प्रकृतिरहस्यविश्लेषणात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। एवं यही है वह भूतभृत्–कालात्मक–परमदेव–मूर्त्ति–विश्वात्मा–विश्वाध्यक्ष–सगुण–प्रकृतिब्रह्म, जिसका–"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा,-तत्तु समन्वयात्–जन्माद्यस्य यतः-शास्त्रयोनित्त्वात्"—इस सुप्रसिद्धा व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

१३०-चरात्मक विश्व के आधारभूत 'भूतभृत्' अक्षरकाल के भी आधारभूत तटस्थ-द्वितीय 'भूतभृत्' का संस्मरण, एवं--'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यादि गीता सिद्धान्त का तात्त्विक समन्वय--

दूसरा है तटस्थ भूतभृत्, और वह है इस अव्यक्त अक्षर से भी अतीत सनातन-अनन्ताव्ययब्रह्म-'परस्तस्मात्तु भावोऽन्य'। यही तटस्थ रूपात्मक भूतभृत् है। साक्षी-चेता-केवलो निर्गुणश्च-रूप यह वैसा भूतभृत् है, जो कभी किसी भी भूत का कारण नहीं बनता। अतएव जिसे भूतगर्भ में प्रवेश की कोई अपेक्षा ही नहीं। अतएव जो गीता के ही शब्दों में-'अज' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सात्त्विक-राजस-तामस-मायापन्न तीन गुणों से समन्विता अज-अव्यय की त्रिगुणात्मिका अव्यक्ताक्षरप्रकृति ही कारणरूप से कार्य्यात्मक-गुणान्वित विश्व में प्रविष्ट रहती है गर्भरूप से। अवश्य ही इस कारणप्रकृति के द्वारा उस निष्कारण को तटस्थ-कारणता भी प्राप्त है। किन्तु कदापि कारणभूता प्रकृति की भाँति वह इन के गर्भ में प्रविष्ट नहीं है। हाँ, सप्रकृतिक ये सम्पूर्ण गुणभाव इस के गर्भ में अवश्य ही प्रविष्ट माने जासकते हैं। इस तटस्थ-कारणता की दृष्टि से ही इस अव्ययब्रह्म को 'भूतभृत्' मान लिया जासकता है। अतएव कह दिया जासकता है कि-सम्पूर्ण भूत उसी अनन्ताव्यय में धृत हैं, प्रतिष्ठित हैं। किन्तु कदापि वह इन में अवस्थित नहीं है। अर्थात् मूलप्रकृतिरूप अव्यक्ताक्षर जैसी गर्भानुगता प्रतिष्ठा का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। और-'मत्स्थानि सर्वभूतानि-न चाहं तेष्ववस्थित' का यही समन्वय है, जो कि-'नत्वहं-तेषु, ते मयि' इस मूलसूत्र की व्याख्यामात्र ही है।

१३१-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' लक्षण कालाक्षरभाषा, तन्माध्यम से ही तद्-भाषा का कालातीताव्यय-भाषात्व, एवं -'न च मत्स्थानि भूतानि-पश्य मे योगमैश्वरम्' वचन का तात्त्विक-समन्वय—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा वस्तुतः अक्षर की भाषा है। क्योंकि-'अक्षरस्य-प्रशासने-गार्गि०' इत्यादि रूपेण अक्षरात्मा ही (कालात्मा ही-प्रकृति ही) भूतपदार्थों के केन्द्र में अन्तर्य्यामी-रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्पूर्ण भूतों को स्तम्भरूप से प्रतिष्ठित रखता है। अतएव वही 'भूतस्थ' माना गया है। भूतस्थ ही 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (सम्पूर्ण भूत मुझ पर ठहरे हुए हैं) यह कह सकता है। अतएव यह उस अव्यक्तातीत-कार्य्यकारणातीत-कालातीत-सर्वातीत अनन्ताव्यय की भाषा हो ही नहीं सकती। हो-सकती है एकमात्र -अव्यक्तमूर्त्तिना। अव्यक्ताक्षर के माध्यम से ही इसे अव्यय की भाषा मान लिया जासकता है, मान लिया गया है। और इसी आधार पर-'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना' यह कह भी दिया गया है। एवं इस अव्यक्ताक्षरके माध्यम से ही उस की-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा भी मान ली जासकती है। किन्तु इस मान्यता के साथ ही प्रयुक्त-'न चाहं-तेष्ववस्थित' इस उपसंहारवाक्य से इस मान्यता का सम्वरण भी होजाता है। अतएव इस विशुद्ध-निर्विशेष-अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से तो अब यह भाषा अक्षर की ही भाषा बनी रह जाती है। 'अव्ययपुरुष' क्या बोलते हैं इस अपने कालातीत निर्विशेष-भाव से?, प्रश्न का उत्तर है-"न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम्"। कदापि अव्ययपुरुष कारणात्मक भूतभृत् नहीं हैं। कदापि यह भूतस्थ नहीं है। कदापि यह भूतों की गर्भात्मिका प्रतिष्ठा नहीं है। अव्यक्तमूर्त्तिना यथाकथञ्चित्

इसे तटस्थरूप से 'भून-भृत्' तो फिर भी कहा जा सकता। किन्तु कदापि इसे 'भूतस्थ' (भूतगर्भ में प्रविष्ट) तो नहीं ही कहा जासकता।

१३२–'भूतात्मक, कालातीताव्ययपुरुष, 'भूतभावन' अव्यक्तकालात्मक अक्षर, तथा 'भूतयोनि' व्यक्तकालात्मक क्षर, एवं गीताश्लोकद्वयी से दार्शनिकों की आधारशून्या सविशेषभावनिबन्धना मान्यता का मूलोच्छेद—

जो भूतभावन होगा, वही भूतस्थ बन सकेगा। भूतों की भावना, किंवा सृष्टिसंकल्प करने वाला ही 'भूत-भावन' कहलाएगा, और वह होगा अव्यक्ताक्षर। अतएव 'भूतभावन' उपाधि का सम्मान इस अक्षरप्रकृति को ही मिलेगा, जैसे कि–'भूतयोनि' का सम्मान उसी भूतातीत अव्यय की अपराप्रकृतिरूप क्षर को मिला हुआ है। भूतभावन स्वयं अव्यय नहीं है, अपितु आत्ममहिमाविवर्त्तरूपा पराप्रकृति है। भूतभावन वह स्वयं नहीं है, उस का यह भूतभावन है–'सामुद्रो हि तरङ्गः-क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'। उस का यह आत्मा है, महिमा है–जो कि भूतभावन है। अतएव भूतभावन अक्षरात्मा ही 'भूतस्थ' है–'भूतभृन्न च भूतस्थोऽव्ययः, ममात्मा भूतभावनः-अक्षर एव भूतस्थः' इसप्रकार इन दो श्लोकों से दार्शनिकों की उस मान्यता का सर्वथा ही मूलोच्छेद हो जाता है, जो प्रकृतिभावात्मक प्राकृत–सविशेष–ब्रह्म (कालात्मक अक्षरब्रह्म) के प्रति-पादक –'तदन्तरस्य सर्वस्य०' इत्यादि वचनों का, एवं–कोशब्रह्मविभूतियों का समन्वय करने में असमर्थ बने रहते हुए इन सीमित–दिग्देशकालात्मक–भूतों की दृष्टि के माध्यम से उस भूतातीत–अगोचर के दर्शन के व्यामोहन से व्यामुग्ध बन अपनी काल्पनिक तत्त्वमीमांसा का विजृम्भण करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्य-माण हैं।

१३३–भूतों के गर्भ में भूतातीत के अन्वेषण के लिए आतुर हमारे दार्शनिक-बन्धु, एवं तदन्वेषणकर्म्म का अन्ततोगत्त्वा शून्यवाद पर विश्राम—

ये ही दार्शनिक महाभाग भूतों के गर्भ में भूतातीत को ढूँढने के लिए अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं का निरर्थक वितान करते रहते हैं। ये ही दार्शनिक–'येयं प्रेते विचिकित्सास्ति०' जैसी भावुकतापूर्णा विचिकित्सा से दिग्भ्रान्त बने रहते हैं। ये ही दार्शनिक शरीर में मन, मन में बुद्धि, एवं बुद्धि में आत्मा को ढूँढा करते हैं दिग्देशकालानुबन्धिनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं के माध्यम से। इस भूतान्वेषणमूला दृष्टि का तो वही अन्तिम परिणाम होता है, जो कदलीस्तम्भ के भीतर किसी तत्त्व को ढूँढने वाले का हुआ करता है। भावुक मानव ऐसी भ्रान्ति कर ले सकता है कि, कदलीस्तम्भ (केलवृक्षस्थूण) के भीतर कहीं, कोई बीज अवश्य होगा। इसी भ्रान्ति से जब यह स्तम्भ के ऊपर के आवरण को हटाता है, तो भीतर भी इसे वैसा ही दूसरा पुट मिलता है। यों देखते देखते अन्ततोगत्त्वा इस देखने का पर्य्यवसान शून्य पर ही हो जाता है।

१३४–शून्यवाद–परिणाममूला प्रज्ञास्तब्धता से अनुप्राणिता जड़ता का 'आत्मशान्ति' नामकरण—

उस अभावात्मक शून्य पर पहुँच कर अपने इस महान् प्रयास से थक कर वह अन्वेषक निराशा में निमग्न हो पड़ता है। और यहीं इसकी सम्पूर्ण क्रियाशक्ति उपशान्त होजाती है। और होपड़ती है–इसी क्षेत्र

में एक नवीन भ्रान्ति । भूतों के पर्व-पर्व के विश्लेषण का प्रचण्ड-प्रयास, केवल तत्त्वमीमांसा के द्वारा अपने बौद्धिक जगत् में ही । इस अथक प्रयास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यभाव, तदनुप्राणिता उपरति, और इसी उपरति का नाम होगया 'आत्मशान्ति' ।

१३५–मोहासक्त आतुर–बालक की निराशा-पूर्णा स्तब्धता, एवं तत्समतुलिता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्य्यवञ्चिता अभावात्मिका–शून्यं–शून्यं- लक्षणा अध्यात्मवादिता—

जैसे अभिलषित-ऐच्छिक-पदार्थों को ढूँढने में व्यस्त एक बालक इतस्ततः अनुधावन करता हुआ मिलने की आशा से कभी हँसता है, न मिलने की दुराशा से कभी रोता है । यों हँसता-रोता-हुआ अन्ततोगत्वा इन संघर्षों से, साथ ही निष्ठाशून्य भावुक अभिभावकों के द्वारा उपलब्ध–भर्त्सन–ताड़नादि–आक्रमणों से थक कर निस्तब्ध–जड़वत्–शून्यवत् बन जाता है, तो उस दशा में बालक भी सम्भवतः यही मान लेता होगा कि, उसे अब ऐच्छिक शान्ति मिल गई । साथ ही अभिभावक तो यह मान ही लेते हैं कि, "अब इस की इच्छा शान्त हो गई, अब यह ज्ञानवान् बन गया, समझदार-सयाना बन गया" । ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की होजाती है, जो भूतों को तो मान बैठता है आरम्भ से ही मलीमस, भवबन्धक । अतएव ढूँढने लग पड़ता है इनके भीतर छिपे हुए किसी वैसे सूक्ष्म तत्त्व को, जिस से इसे त्रिविध दुःखों से सदा के लिए छुटकारा ही मिल जाय । दुःखनिवृत्तिरूप 'अभाव' ही लक्ष्य बनता है इस दार्शनिक का । आनन्द-शान्ति–समृद्धि–ऐश्वर्य्य–आदि सत्तासिद्ध, सत्य शिव सुन्दर रूप विश्ववैभव इसके लक्ष्य नहीं हैं । अपितु इसका लक्ष्य है–दुःखाभाव । दुःख का अभाव हो जाता है, अथवा नहीं ?, यह तो नहीं कहा जासकता । हाँ 'अभाव' यदि कोई पदार्थ है, तो वह अवश्य ही मिल जाता है–इसे । भूतों की उपेक्षा से सम्पूर्ण प्राकृत–अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक–प्रतीक–धर्मों से तो यह आरम्भ में ही वञ्चित होजाता है–भूतों के भीतर छिपे हुए किसी अलौकिक–सूक्ष्म–तत्त्व के प्रलोभन में । दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतोपक्रान्ति से भूतों के गर्भ में तो वह इसे नहीं ही मिलता । भूतसौन्दर्य्य और खो बैठता है इस अपने ही कल्पित अध्यात्म–व्यामोहन में । परिणाम में इस के लिए पारिशेष्यात् शेष रह जाता है–शून्य–शून्यम्–ही ।

१३६–सर्वशून्यात्मक–जड़तालक्षण–कल्पित–'निर्वाणपद', तन्मूलक–कल्पित 'मोक्ष', तन्निग्रह से राष्ट्रीया श्री-समृद्धि की आत्यन्तिक अन्तर्मुखता, एवं तदनुगत शून्य-वादात्मक पुरुषार्थ ?—

इसी शक्तिक्षयरूपा–म्लानभावापन्ना–सर्वशून्यता का नाम रख लेता है यह अपने अन्तिम महान्–व्यामोहन से–'निर्वाणपद' । यही इसके मोक्ष का समस्त इतिवृत्त है । दार्शनिक की शून्यवादात्मिका इसी मोक्षपरम्परा ने आचारनिष्ठ भारतराष्ट्र के समस्त भौतिक–सौन्दर्य्य को सर्वात्मना श्रीविहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है । इसी दार्शनिकवाद से शून्यवादात्मक यह अनात्मवाद आविर्भूत हो पड़ा है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठतया–कल्पित–सत्य–अहिंसा–मानवता–पञ्चशील–संयम–आदि आदि परम्पराओं से सुसमृद्ध भी भारतराष्ट्र विगत २–३–सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर शून्य–शून्य–क्षणिक–क्षणिक–दुःख–दुःख–का ही यशोगान करता आरहा है, और मानता चला आरहा है इसी शून्यवाद को मानव का महान् पुरुषार्थ । उस

मानव का महान् पुरुषार्थ, जो उस विश्वातीत रसैकघन आनन्दघन सर्वमूर्त्ति अव्ययब्रह्म का एकमात्र महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु प्रतिमान है। जो अनन्तब्रह्म अपनी अनन्ता–पूर्णा–अभिव्यक्ति से कदापि किसी भी भूत के गर्भ में प्रविष्ट नहीं हुआ करता, वही पूर्णब्रह्म एकमात्र मानव में ही सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा है यह मानव, जिसने अपने बुद्धिवादात्मक व्यामोहन में आकर, आचारशून्या काल्पनिक दार्शनिकता में पड़ कर अपने इस महान् कालातीत अनन्त स्वरूप को विस्मृत ही कर दिया है। जिस भूतप्रपञ्च के लिए अनन्ताव्ययब्रह्म की 'न त्वहं तेषु, ते मयि' यह भाषा है, वही अनन्ताव्ययब्रह्म अपने पूर्णस्वरूपाभिव्यक्तित्व-रूप परिपूर्ण, प्रतिमानात्मक मानवश्रेष्ठ के लिए क्या भाषा बोलता है ?, प्रश्न का समाधान भी उसी के पूर्णावतार–मानवावतार भगवान् वासुदेव कृष्ण के मुख से सुन लीजिए !

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति, न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्' ॥
—गीता ९।२९।

१३७–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्', एवं–'न त्वहं तेषु–ते मयि' वाक्यों का तात्त्विक समन्वय, तथा दार्शनिक की भूतानुगता आत्मस्वरूपान्वेषणवृत्ति की आत्यन्तिक निरर्थकता—

'न त्वहं तेषु–ते मयि'–और–**'मयि ते, तेषु चाप्यहम्'**, इन दोनों का समतुलनमात्र कर लेने से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है। अक्षरप्रकृतिमूलक–त्रिगुणात्मक–भूतभौतिक पदार्थों में वह नहीं है, जबकि ये सब पदार्थ उसी में हैं महिमारूप से। किन्तु मानव का स्वरूप तो उसी कालातीत अव्ययब्रह्म का प्रतिमान है। वह, और यह तो अभिन्न ही है। अतएव मानवानुबन्ध से यह कहा ही जासकता है कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप मानव उस में है, एवं वह मानव में है। गर्भात्मक समन्वय नहीं है, अपितु विभूतिरूप समन्वय है, जिस के द्वारा स्पष्ट यही करना है भगवान् को कि वह, और मानव (मानव का प्रकृत्यतीत कालातीत अनन्ताव्ययभाव), दोनों एक ही वस्तुतत्त्व है, जिस एकत्वानुगत आनन्त्य की अभिव्यक्ति भक्तियोगात्मक–धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य–ऐश्वर्य्य–लक्षण बुद्धियोग से ही हुआ करती है। **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'** से इस बुद्धियोगात्मक भक्तियोग की ओर ही सङ्केत हुआ है, जिस अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के बिना मानव सदा प्राकृतपाश में आबद्ध रहता हुआ दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्यवस्था के व्यामोहन में आसक्त होकर उसे भूतों के गर्भ में ढूँढने का व्यर्थ का ही प्रयास करता रहता है।

१३८–तथाविधा शून्यवादात्मिका दार्शनिकता के व्यामोहन से 'सन्तपरम्परा' की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–भारतीय–आचारधर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता, और उस के भीषण परिणाम—

इसी भ्रान्ता दार्शनिकताने आगे चल कर इस पुण्यभूमि धार्मिक भारतराष्ट्र में वैसी 'सन्तपरम्परा' अभिव्यक्त कर ही तो दी, जिसने बाहिर के सब द्वार अवरुद्ध कर भीतर के पट खोलने–खुलवाने में ही अपनी

सम्पूर्ण शक्ति समर्पित करदी । बाहिर के पट इस दृढता से बन्द होगए कि, आततायी आक्रान्ताओंने कब इन के उन बाह्य द्वारपटों को तोड़-फोड डाला, कब इन के भीतर के पटों को भी धूलिधूसरित कर डाला ?, इत्यादि दुर्वृत्ता का बोध ही न हो सका इन सन्तो को । ये विचरते रहे अपने किसी अलौकिक तत्त्व के प्राङ्गण में, और इन की इस विचरणवृत्ति का लाभ उठाते रहे आक्रान्ता । वैसा सा ही तो आज भी कुछ घटित विघटित हो रहा है । यह अपनी उसी कल्पिता आचारशून्या-अकर्म्मण्यतानुगता आध्यात्मिकता के काल्पनिक घोष में निमग्न है, तो इस की इस कल्पित मानवता-अहिंसा-दया-करुणा-मूला भावुकता से लाभ उठा कर आक्रान्ता कुनैष्ठिक मैत्री के छल मे इस का सर्वस्व निगरण करते जारहे हैं । आलोचक कहते हैं-हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र धर्म्मनिरपेक्ष बन कर बडी भूल कर रहा है । हम कहते हैं, यह सत्तातन्त्र की भूल नहीं है । अपितु ये तो उस दार्शनिकता के महान् प्रसून हैं, जिनका जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था, एवं जो विगत युगानुगता सन्तपरम्पराओं से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आरहे हैं । आचारसिद्ध धर्म्म का स्थान ग्रहण कर लिया जगन्मिथ्यात्वमूला दार्शनिकता ने, तत्परिणामस्वरूप प्रवृद्ध हो पड़ा शून्यवाद, इस शून्यवाद से जन्म ले पडी अन्न पटविभोग सन्तपरम्परा, और यों अभ्युदय-निःश्रेयसकर धर्म्म का आचारपक्ष सर्वथा ही अभिभूत होगया इन गद्दपरम्पराओं से, जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है । इन्हीं सब आडम्बरों से सन्त्रस्त हमारे सत्तातन्त्र ने धर्म्मनिरपेक्षता की घोषणा कर डाली, और तत्स्थान में उपलब्ध एकमात्र विकल्प प्रतीच्य देशों की भौतिक-जीवनपद्धति ही इस का आदर्श बन गई । यों आज तो सभी कुछ आलप्यालमेव ।

१३६-गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की काल्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं काल्पनिक 'काल' के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अनन्ताव्ययरूप निर्विशेष ब्रह्म के साथ सापेक्ष-दिक्कालदेशभावों का स्वाभाविक सम्पर्क भी नहीं है, उसी को मूतगर्भ में गोचरभाव से देखने-समझने के लिए आतुर बन जाने वाली दार्शनिक-दृष्टि के अनुग्रह से ही भातिसिद्ध दिक्-देश-काल-त्रयी का काल्पनिक आविर्भाव हो पड़ा है, जिस इस तथ्य का समन्वय बुद्धिवादी प्राकृत मानव तो कदापि नहीं करसकेगा । ऐसे बुद्धिवादी से प्रणतभावपूर्वक क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकेगा कि, जिसे वह पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-आदि दिशाएँ कहता-मानता चला आरहा है, क्या भौतिक-सत्तासिद्ध पदार्थों की भाँति वह इन दिशाओं की स्वरूप-व्याख्या कर सकेगा ? । क्या वह बतला सकेगा कि 'दिक्' नामक पदार्थ का यह रूप है, यह कर्म्म है ?, और अमुक स्थानविशेष में अमुक नामरूप-गुणकर्म्म से वह दिग्भाव प्रतिष्ठित है ? । भौतिक द्रव्यों-पदार्थों की भाँति क्या आप इस अपने बौद्धिक, अतएव सर्वथा काल्पनिक दिग्भाव पर कोई परीक्षण कर लेंगे ? । ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो उनके सापेक्ष दिग्भाव की सत्ताशून्यता, एवं भातिरूपता, अतएव काल्पनिकता व्यक्त कर रहे हैं ।

१४०-काल्पनिक कालानुगत काल्पनिक दिक्-देश-भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

यही स्थिति ऐसे काल्पनिक दिग्भाव से समन्वित काल्पनिक-प्रदेशात्मक देशभाव की है । जिसे आप अङ्गुलि से छू कर 'देश', किंवा प्रदेश कहते हैं, वह तो आप के दर्शन का तो विषय नहीं बनसकता ।

क्योंकि आप जिस देश, किंवा प्रदेश को देख रहे हैं, उस से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है सत्तासिद्ध देशप्रदेश, जैसाकि अथर्वसूक्तद्वयी के पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है । जिसे आप छूकर देश बतलाते हैं, वह 'छूना' पृथक् है, एवं 'बतलाना' पृथक् है। छूते हैं आप सत्तासिद्ध देशप्रदेश को, एवं बतलाते हैं आप देखे हुए देश-प्रदेश को। दृष्टि का विषयभूत देशप्रदेश आप के मानस-काल्पनिक-जगत् के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी तो नही है । अन्यो हि स्पृश्यभावः, अन्यो हि दृश्यभावः । आपकी दार्शनिकता तो दृष्टिमूला है । आप तो प्रत्यक्षप्रामाण्यवादी हैं । अतएव आप तो जिसे देखते है, उसे ही मानते है । आप जिस देश-प्रदेश-को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखते हैं, वह तो आप की कल्पना से ही प्रसूत, अतएव आप के मानसजगत् में ही विराजमान भातिसिद्ध वह काल्पनिक देशप्रदेश ही है, जिस का भी काल्पनिक दिग्भाव की भाँति कोई सत्तासिद्ध भौतिक-परीक्षण आप कदापि नही कर सकते । फिर बतलाइए ! आपके कल्पित देश-प्रदेश के प्रत्यक्षाग्रहमूलक प्रामाण्यवाद का क्या महत्त्व रहा ? ।

१४१-भातिसिद्ध-गणनात्मक-काल की स्वरूप-व्याख्या से पराङ्मुखा दार्शनिक-प्रज्ञा—

ठीक यही स्थिति कलनात्मक-क्रमभावात्मक-संख्यासिद्ध, अतएव भातिसिद्ध काल की है । निरपेक्ष एकत्व को छोड़कर सापेक्ष एक संख्या से आरम्भ कर परमपरार्ध्यरूपा जितनी भी सख्याएँ (गणनाएँ) हैं, वे सब केवल आपकी कल्पना के काल्पनिक प्रसूनमात्र ही हैं। मूलभूता एकत्वसंख्या का वैतानिक भाव ही दो-तीन-चार-आदि संख्यानन्त्य है । सर्वत्र-'अयमेकः-अयमेकः' इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राज्य है-"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' । अपिच जिन प्रदेश-देश-भावों के माध्यम से आप कलनात्मक-संख्यासिद्ध-काल का परिगणन करते हैं, वे देशप्रदेश ही जब पूर्वकथनानुसार कल्पित हैं, तो फिर तदाधार पर ही व्यवस्थित क्रमसिद्ध-गणनसिद्ध-काल का क्या महत्त्व शेष रह जाता है ? । मान लेते हैं, आप जिसे 'काल' कहते हैं, वह कोई तत्त्व होगा । किन्तु स्वरूप-व्याख्या तो कीजिए आप अपने इस माने-जाने, और पहिचाने हुए काल की ? । करसकेंगे क्या आप इसकी स्वरूप-व्याख्या ? । असम्भव । जिसप्रकार दूरत्त्व-अपरत्त्व-गुरुत्त्व-आकुञ्चनत्त्व-प्रसारणत्त्व-आकर्षण-विकर्षण-व्यवधान-चोषण-शोषण-आदि आदि कल्पना-प्रसूत असंख्य-सापेक्ष-भावों की कोई सत्तासिद्धा स्वरूप-व्याख्या सम्भव ही नहीं है इनकी भातिसिद्धता के कारण, तथैव इस भातिसिद्ध, अतएव सर्वथा काल्पनिक गणनकालात्मक काल की भी आप कोई स्वरूप-व्याख्या नही ही कर सकेंगे ।

१४२-दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून—

तदित्थं-आपकी बुद्धिगम्या व्याख्या के महतोमहीयान् महत्त्वपूर्ण दिक्-देश-काल-नामक तीनों ही महान् अभ्व, महान् यक्ष सर्वथा काल्पनिक ही प्रमाणित होरहे है, जिनके आधार पर ही लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोककर्त्तव्य-व्यवस्थित करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं । जिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा इन कल्पित दिक्-देश-कालानुबन्धी भूतपदार्थों के माध्यम से इनके गर्भ में ही आत्मदर्शन के लिए आतुर बने रहते हुए दार्शनिक व्यामुग्ध हैं, तो इन्ही कल्पनाप्रसूनों के माध्यम का महान् डिण्डिमघोष करने वाले आज के भूतविज्ञानवादी अपने भातिसिद्ध क्षणिक विज्ञानवादो के गर्व से धरातल को विकम्पित करते जारहे हैं । ऐसे ही लोकचतुर बुद्धिमान्, तत्त्वमीमांसक दार्शनिक, तथा तत्त्वविश्लेषक

वैज्ञानिक बड़े ही दम्भ से यह उद्घोष करते रहते हैं अपने अपने मन्तव्यों की कार्य्यकारणताओं का कि,-*
"जो दिग्देशकाल-व्यवस्थाओं से अनुप्राणित होगा, जो क्रम-व्यवस्था-सम्मत-होगा, अतएव जो बुद्धिगम्य होगा (किंवा बुद्धिवादात्मक होगा), अतएव च जिस की क्रमबद्धा बुद्धिगम्या व्याख्या की जासकेगी, उस प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्व को ही हम मानेंगे, उसी पर श्रद्धा करेंगे, उसी पर आस्था करेंगे। क्योंकि दिग्देशकालातीत-'आत्मब्रह्म' जैसा कोई तत्त्व दिग्देशकाल से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ बुद्धिगम्य नहीं है। अतएव उसे तो केवल 'कल्पना' ही कहा जायगा"।

---

*-भारतीय दर्शनशास्त्र भी इसी सापेक्षवाद का पोषक बना हुआ है। अतएव भारतीय दर्शन भी धर्म्मानुगता आचारनिष्ठा से सर्वथा पराङ्मुख ही प्रमाणित है, जैसा कि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपित है, जिसकी प्रासङ्गिक-सन्दर्भ-सङ्गति का संक्षिप्त इतिवृत्त सुरभारती (संस्कृत) के माध्यम से यों समन्वित हो रहा है कि-"अगोचरस्य गोचरभावे दृष्टिरेव दर्शनम्। दर्शनदृष्ट्या बुद्धौ दिक्-देश-काल-भावाना सदैवाविर्भावः कल्पनामाध्यमेन। सैषा प्रत्ययैरस्त्रयापनिपन्। मानवस्य स्वबुद्धेर्व्याख्यैवास्य दार्शनिक-तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा वा। तस्यैतस्य स्वरूपविमोहनात्मकरूपबौद्धिकव्यक्तित्वविमोहनस्य रक्षार्थमेव-कल्पनयैव दार्शनिकैरेषा कल्पनात्रयी-आविष्कृता, इति महतीयं प्रतारणा मानवबुद्धेः-मानवेनैव। न यत्र मानवस्य कल्पनाबुद्धेः समावेशः, न तत्र मानवस्य मान्यता, श्रद्धा वा, आस्था वा। तार्किकाना-नैय्यायिकाना-ईश्वरसिद्धिव्यामोहन, वैशेषिकाना-विशेषानुगतित्व, क्षणिकभूतविज्ञानवादिनाञ्च विज्ञानदम्भत्त्व, सर्वमपि दिग्देशकालभावे-सर्वथैव काल्पनीकृतरूपमेवेति नास्त्यत्र सन्देहलेशावसर', इति नु सर्वेषामेतेषा दार्शनिकाना वैज्ञानिकानाञ्च स्खलन, महत्स्खलनमेव।

प्राधानिका-कापिलास्तु-अत्र मानवबुद्धिमीमांसाया किञ्चिदिव-असस्पृष्टा-इति महत्सौभाग्य भारतवर्षस्य। नात्र चतुर्विंशतिसंख्यामिताया तत्त्वगणनाया दिग्देशकालभावाना परिगणनम्। अतएव लोकसंग्राहकेन भगवता वासुदेवेन-'यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं-तद्योगैरपि गम्यते' इत्येवरूपेण प्राधानिकाना-लोकसंग्रह-समन्वितः। प्रकृतेः परः पुरुषः साङ्ख्यमते। सोऽयं पुरुषोऽत्र वस्तुगत्या अक्षरपुरुष एव। स तु परप्रकृतिरेवाव्ययपुरुषस्येति साङ्ख्याभिमत-पञ्चविंश पुरुषोऽपि प्रकृतिरेव। तथा च-पुरुषदृष्ट्या तु साङ्ख्यदर्शनस्यापि स्खलनमेव। इन्द्रियगोचरभावो हि दर्शनम्। सर्वमपि प्राकृतविवर्त्तमिन्द्रियगोचरमेव। सर्वेऽपि दार्शनिका-प्रकृतितत्त्वविमर्शपरा एवेति नात्र दर्शनेषु-अनन्तात्मस्वरूपोपलब्धि। सङ्ख्यातीत ज्ञान, सङ्ख्यात सिद्ध ज्ञानमेव साङ्ख्यम्। तत्तु प्राकृतिकमेव, सङ्ख्यासापेक्षत्वात्। तथा च यद्यपि दिग्देशकालात्मिका मानवबुद्धिसापेक्षा व्याख्या नात्र साङ्ख्ये। तथापि-इन्द्रियगोचरत्वात्-स्खलनमेवास्यापि दर्शनस्य-इतरदर्शनवत्, इति सर्वाणि दर्शनानि दर्शनान्येव। तस्माच्च-कर्म्मसन्न्यसनात्तु-कर्म्मयोग एव विशिष्यते, इत्याह भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण —

'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते'

—इति सर्वमेव सुस्थम्।

१४३–काल्पनिक--भातिसिद्ध--'दिग्देशकाल' की सत्तासिद्धता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध 'कालदिग्देश' की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूताश्चर्य्यमयी प्रज्ञा—

कैसा आश्चर्य ! यों मानव ने, प्राकृत मानव ने, भूतासक्त मानव ने अपने कल्पित दिग्देशकाल से अनुप्राणित वाग्विजृम्भण को तो मान लिया है सत्तासिद्ध, एवं जिसकी सत्ता से, सत्ता के एक प्रत्यंशतम से ये भातिसिद्ध भूत अपनी भाति को जीवित रख रहे हैं, वह बन गया है इन बुद्धिवादियों के लिए भातिसिद्ध। यों आत्मनिष्ठ जिसे दिन कह रहे हैं, उसे ये लोकमुग्ध प्राकृत जन रात्रि मानते हैं। एवं आत्मनिष्ठों की दृष्टि में जो रात्रि है, वह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में, जैसे कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक के लिए रात्रि, तथा अन्य प्राणियों की रात्रि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है। सत्तामय ज्योतिर्ब्रह्म को 'तम' मान बैठना, एवं भातिरूप तम को ज्योति कहने लग पड़ना, यही तो आत्मनिष्ट लोकातीत मानव की दृष्टि में, तथा लोकव्यासक्त लोकायतिक मानव की दृष्टि में वह महान् अन्तर है, जिसका भगवान् ने इन शब्दों में अभिनय किया है—

> **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।**
> **यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥**
>
> —गीता

१४४- 'विकृति' (क्षर) की 'प्रकृतिवादिता', प्रकृति (अक्षर) की 'पुरुषवादिता', एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति को प्रकृति मान बैठना, एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना हीं दार्शनिक–व्यामोहन का मूल कारण बना है। दिक्–देश–कालात्मिका–बुद्धिगम्या व्याख्या से इन्हे जो कुछ प्रतीत हुआ, उसे ही इन्होंने 'प्रकृति' मान लिया, इसी का नाम रख लिया इन्होंनें 'प्राकृतजगत्'। इसे आधार बना कर इन्होंनें उसी दिग्देशकाल के माध्यम से तत्त्वमीमांसा का उपक्रम कर डाला। अवश्य ही इस मीमांसा से इन प्राकृत-भूतों के गर्भ में इन्हें सूक्ष्मभाव की उपलब्धि भी हुई। किन्तु जिसकी यह उपलब्धि हुई, वह भी प्रकृति से अतिरिक्त और कुछ भी न निकला। जिस उपलब्धि को यह अन्तर्य्यामी–प्रजापति–भूतात्मा–भूतभावन–कहने लगे, वह सिवाय प्रकृति के और कुछ भी तो नहीं है। यदि आरम्भ में हीं अपनी मान्या प्रकृति के विकृतित्त्व का ये समन्वय कर लेते, तो कदापि अनन्तर उपलब्ध हो पड़ने वाली प्रकृति को ही ये पुरुष मान बैठने की भ्रान्ति न कर बैठते। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि—"**विकृति को प्रकृति मान बैठना, एवं प्रकृति को** पुरुष कह बैठना हीं दार्शनिक-भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है"।

१४५–दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का काल्पनिक केन्द्र ध्यानानुगत काल्पनिक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता प्राकृत--दृष्टि के अनुग्रह से नास्तिकदर्शन का आविर्भाव—

प्रकृति कारण है, यही परमाक्षररूप अमूर्त्त अनन्त कारण है, जो चेतना–लक्षणा है। एवं विकृति कार्य्य है, यही अवर–क्षर–रूप मूर्त्त–सादिसान्त काल है, जिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्देश है, और

रूजो जड है। बस, सम्पूर्ण दार्शनिक-दृष्टि इन जड-चेतन-प्राकृत-वैकृत-विवर्तों में ही परिसमाप्त है। जिसे दार्शनिक 'आत्मा' कहता है, उसे वह चेतन मानता है। किंवा चेतनत्व ही यह आत्मा का लक्षण करता है, उसे ही चेतनपुरुष कहता है, और इसे ही ज्ञानवान् मानता है। एवं जडत्व ही इसकी दृष्टि से प्रकृति का लक्षण है। जब कि वस्तुस्थिति सर्वथा कुछ और ही है। 'चेतन', और 'जड', ये दोनों तो एक ही प्रकृति के पूर्व-उत्तर लक्षण दो विभिन्न भाव हैं। प्रकृति का पूर्वरूप ही 'प्रकृति' है, यही अक्षर है, यही अमूर्त्तकाल है, अविभाज्य चेतनकाल है, जगतामाश्रय काल है, इसी का नाम है 'ज्ञानवान् आत्मा', जो प्राणीसर्ग में 'जीव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है*। यही दार्शनिकों का वह ज्ञानाधिकरण-ज्ञानाश्रय-'आत्मा' है, जिसकी कृपा से ही लोकायतिकों को अनात्मवादात्मक-शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा है। सच पूँछा जाय, तो अनात्मभावात्मक-नास्तिकमत के आविर्भाव का प्रधान श्रेय भारतीय आस्तिक दर्शनों की इस चेतनलक्षणा-दृष्टि को ही समर्पित किया जा सकता है। अपने आपको आस्तिक कहने-कहलवाने वाले भारतीय दार्शनिकों की इत्थंभूता प्राकृत-दृष्टि ने ही लोकायतिकों को जन्म दिया है।

१४६-सत्तासिद्ध-आधिदैविक-आचारात्मक-अनन्तकाल के आश्रय से वञ्चित केवल अध्यात्म-अधिभूतासक्त-भातिसिद्धकाल-व्यासक्त दार्शनिक की कालस्वरूपानभिज्ञता, एवं तदनुगता जडभूतपरायणता—

उस चेतनप्रकृति (अनन्त-अमूर्त्ता कालप्रकृति) का वाय्यात्मक विश्व ही विकृतिरूप है जडभाव, जिसे व्यक्त-क्षरात्मक-व्यक्त-मूर्त्तकाल कहा गया है, और इसी का नाम है भातिसिद्धकाल, जिसकी भातिसिद्धता उस प्रकृतिभूत-सत्तासिद्ध-चेतन-अमूर्त्त-काल पर ही अवलम्बित है, जिससे विकृतिवादी प्राकृत मानव सर्वथा ही अपरिचित है। क्योंकि वह अनन्तकाल इसकी सादिसान्ता-जडभूतनिबन्धना-व्यक्ता दिग्देशकालात्मिका बुद्धि में आ ही नहीं पाता। जब कि यह अक्षरप्रकृतिभूत अनन्तकाल का भी अनुमान नहीं लगा सकता, तो ऐसी स्थिति में वह अनन्तकाल जिस अनन्त अव्ययब्रह्म का एकांशमात्र है, उसकी तो यह कल्पना भी कैसे कर सकता है ?। अपनी सीमित दिग्देशकालमिता प्रज्ञा को तत्र विषये कुण्ठित होता देखकर यह उस ओर से विमुख ही बन जाता है। और इसी वैमुख्य से यह अपने बुद्धिवाद के द्वारा उत्तरोत्तर जडता का ही मर्दन-अर्जन-समर्थन-अनुमोदन-करने लग पड़ता है, एवं सत्तासिद्ध कालाश्रय से वञ्चिता यह दिग्देशकाल-दृष्टि ही मानव को मानव के लोकातीत अनन्त स्वरूप का बोध नहीं होने देती। इसकी इसी महती समस्या के निराकरण के लिए परम कारुणिक महर्षि ने कालसूक्तद्वयी के द्वारा निरपेक्ष उस अनन्तकाल की प्रतीकविधि से इसके सम्मुख रक्खा है, जिस कालदृष्टान्त के माध्यम से अवश्य ही इसका अपना कल्पित दिग्देशकालव्यामोहन उपशान्त हो जाता है स्वत ही। एवं इस उपशान्ति के अनन्तर वह स्वत ही कालानन्त्यप्रतीकता से अपनी अनन्त-प्रतीकता का समन्वय-बोध प्राप्त कर लेता है।

---

*-इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूता महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्। (गीता)।

१४७-निर्विशेषानन्त्य, सविशेषानन्त्य-मूलक शान्तानन्द-समृद्धानन्द, तदनुगत शान्ति-सुख, तदाधारभूत अभ्युदय-निःश्रेयस्-भावों का माङ्गलिक संस्मरण—

प्राकृत-मानव के उद्बोधन-प्रसङ्ग में दो प्रकार से 'आनन्त्य' का समन्वय किया जायगा, जिन्हें क्रमशः **निर्विशेषानन्त्य**, तथा **सविशेषानन्त्य**, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकेगा। अक्षरशालात्मक आनन्त्य को ही **प्राकृतिकानन्त्य** कहा जायगा, जिस की दृष्टि से काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है, एवं देश भी अनन्त है, जिसके कि गर्भ में व्यक्ताक्षरात्मक सादि-सान्त-बुद्धिगम्य दिक्-देश-काल प्रतिष्ठित हैं अणुवत्। यही प्राकृतिकानन्त्य सविशेषानन्त्य है। कालातीत (अनन्ताक्षरकाल से भी अतीत) अव्ययपुरुषानन्त्य को ही **'पौरुषानन्त्य'** कहा जायगा, जिसके एकांश में प्राकृतिकानन्त्य-(अक्षरानन्त्य) प्रतिष्ठित है अणुवत्। यही पौरुषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य है। निर्विशेषानन्त्य का नाम शान्ति है, एवं सविशेषानन्त्य का नाम सुख है। शान्ति का अर्थ है-**'शान्तानन्द'**, एवं सुख का अर्थ है-**'समृद्धानन्द'**। शान्तानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-**'निःश्रेयस्'**, एवं समृद्धानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-'अभ्युदय'।

१४८-धर्म्ममूलक 'भूमासुख' की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी दुःख—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः-स धर्म्मः' के अनुसार धर्म्म ही अभ्युदयरूप 'समृद्धानन्द' का कारण है, एवं धर्म्म ही निःश्रेयस् रूप 'शान्तानन्द' का कारण है। प्रतीकात्मक-आचारात्मक-**'आचरणधर्म्म'** से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है, एवं अप्राकृत-शाश्वत-धर्म्मात्मक **'अनुशीलनधर्म्म'** से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति होता है। प्राकृत मानव को, बुद्धिगम्य-व्याख्यावशवर्त्ती लौकिक-मानव को भी यह तो मान ही लेना पड़ता है कि, **'मानव का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है'**। इस सुखप्राप्ति के लिए ही इस के लौकिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक-आदि-आदि सम्पूर्ण प्राकृतिक विजृम्भण प्रक्रान्त रहते हैं। सुखैषणा-सुखकामना हीं इन सब प्रक्रान्तियों का एकमात्र मूलाधार हैं। सुख की परिभाषा है-**'भूमा'**। **"यो वै भूमा-तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमानमित्युपास्व"** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अल्पता का नाम हीं दुःख है, एवं भूमा का नाम हीं सुख है।

१४९-अनुकूल-प्रतिकूल-वेदनात्मक सुख-दुःख-द्वन्द्व, सुख-दुःख-शब्दों का निर्वचन, एवं तदनुगत आद्यन्त का दुःखी मानव—

विकृतिभावानुगत दिग्देशकालानुबन्धी सभी परिणाम अपने भातिसिद्धभाव से सर्वथा अल्प बने हुए हैं। अतएव इन की आस्था-मान्यता से तो मानव को-**'अनुकूलवेदना'** ही उपलब्ध हो सकती है, जिस का नाम हीं इसने अपनी प्रतारणा के लिए 'सुख' रख लिया है। ऐन्द्रिक-परितृप्ति ही 'सुख' का सुखत्त्व है। विकृतिभावों से इन्द्रियों की कण्डूमात्र तो तात्कालिकरूप से शान्त होसकती है। किन्तु कदापि बिना प्राकृतिक आचार के, आचारधर्म्म के इन इन्द्रियों की, इन 'ख' भावों की 'सु' रूपा परिपूर्णता सम्भव ही नहीं हैं। अतएव ऐसे अनुकूलवेदनात्मक-सुखाभासरूप तात्कालिक-वैकारिक-सुख से तो मानव अपने 'ख' **विवरों** **(इन्द्रिय-विवरों)** को पूर्ण बना लेने में असमर्थ प्रमाणित होता हुआ आद्यन्त का दुःखी ही बना रहता है।

१५०-प्राकृतात्ममूलक--धर्म्मलक्षणात्मक--प्राकृत-सनातनधर्म्म, एवं तन्मूलक सनातन-प्राकृत-सुख—

उक्त लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए तो हमे प्राकृतानन्त्य की ही शरण में आना पड़ेगा। वही इसे 'अभ्युदय' नामक परिपूर्ण-लोकसुख प्रदान कर सकेगा, जिसे लौकिक-वैज्ञानिक-मानवों की भाँति दार्शनिक मानवने भी सूक्ष्मान्वेषण के व्यामोहन से विस्मृत ही कर दिया है। जिस उपाय से यह प्राकृतानन्त्य प्राप्त होता है, उसी का नाम है प्राकृत-आचारधर्म्म, जिसे कि 'प्रतीकधर्म्म' माना गया है, जो कि प्राकृत प्रजापति (अक्षरप्रजापति) के द्वारा ही सृष्ट है, (देखिए। शतपथ १४।४।२।२६।) जो कि अनन्ताव्यय की महिमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

१५१-पुरुषार्थरूप--अप्राकृत--शाश्वतधर्म्म, तन्मूला निर्विशेषानन्तता, एवं तद्द्वारा कल्पित-भ्रान्तियों का मूलोच्छेद—

दूसरा है मानव का पुरुषार्थरूप निर्विशेषानन्त्यरूप निःश्रेयसभाव। अभ्युदय नामक समृद्धानन्द (सुख) मानव का 'प्रकृत्यर्थ' माना गया है, एवं तत्साधक धर्म्म प्राकृतधर्म्म कहलाया है, जबकि निःश्रेयस् का साधक अनुशीलनात्मक अप्राकृत धर्म्म ही 'पुरुषार्थ' कहलाया है। यह धर्म्म स्रष्टा है, सृष्टि नहीं है, जिस के गर्भ में सृष्ट-प्रतीक धर्म्म प्रतिष्ठित है। अव्ययपुरुष ही इस की स्वरूप-परिभाषा है। अतएव यह-'शाश्वतधर्म्म'* नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस इस शाश्वत-स्रष्टा-धर्म्म के आधार पर ही प्राकृत-सनातनधर्म्म प्रतिष्ठित है। प्राकृत सनातनधर्म्म का स्वरूप लक्षणात्मक है, एवं अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अलक्षण है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-आदि के समन्वय-तारतम्य से कृतरूप प्राकृत सनातनधर्म्म का स्वरूप प्रकृत्यनुसार व्यवस्थित है, जबकि इन सब समन्वयों से अतीत अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अपने आप में ही व्यवस्थित है। सम्भवतः क्रमप्राप्त-'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक सङ्कलित अग्रिम खण्ड में इन दोनों ही धर्म्मों के समन्वय में विशेष निवेदन किया जासकेगा। अतएव इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर प्रकृत में यही निवेदन कर देना है कि, निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य, इन दो आनन्त्यों के समन्वय-समतुलन से मानव के अप्राकृत-प्राकृत-दोनों स्वरूपों का भलीभाँति समन्वय-हो जाता है। एवं सदाचारेणैव दिग्देशकालानुगता इस की कल्पित भ्रान्ति का सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है।

१५२-अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य, तदनुगत प्राकृत-धर्म्म, एवं तन्निबन्धन अभ्युदयरूप प्राकृत-सुख—

अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य का नाम ही प्राकृतिकानन्त्य है, यही प्राकृत मानव के 'अभ्युदय' नामक समृद्धानन्द (लोकसुख) की मूलप्रतिष्ठा है। प्राकृत मानव इसी को अपनी प्राकृत दृष्टि से क्योंकि प्राधान्य देता आया है। अतएव सर्वप्रथम कालानन्त्य-माध्यम से हम इसी की ओर प्राकृत मानव का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। मन शरीरधर्म्मा प्राकृत मानव को इस अनन्तकाल का प्रतीक माना जायगा सम्वत्सर के माध्यम से, एवं इसी प्रतीकता के माध्यम से प्राकृत मानव को इस के सविशेषानन्त्यरूप कालानन्त्य का स्मरण कराते हुए तन्माध्यम से ही इस की सीमित-दिग्देशकालभ्रान्ति के निराकरण का उपाय किया जा सकेगा।

---

*-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य' सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता १४।२७।)।

१५३—परमात्परमूर्त्ति-परमकालात्मक-अनन्तकाल, तदभिन्न अश्वत्थमूर्त्ति-महाकालात्मक मायी महेश्वर, तदनुगता महिमामयी विभूति, एवं तत्प्रतिष्ठारूप महाकाल के महतोमहीयान् आनन्त्य का संस्मरण—

महामायी षोडशीप्रजापति का स्वरूपाभिव्यञ्जक, अश्वत्थब्रह्मस्वरूपसम्पादक, महामायावृत्तात्मक—परमात्परमूर्त्ति—पराप्रकृतिमूर्त्ति परमकाल ही वह अनन्तकाल है, जो महामायी—अश्वत्थप्रजापति के स्वरूप से अपना सम्पूर्ण महिमामय स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। जिस महामायी अश्वत्थप्रजापति में एक सहस्र पञ्चपुण्डीरा वल्शाएँ गर्भीभूत हैं, वैसे महतोमहीयान् महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति को तो उस मायावृत्तात्मक अनन्तकाल का एकांश ही माना जायगा। क्योंकि एक ही नहीं है यह मायावृत्त। अपितु उस निर्विशेष—अनन्त—परात्पर—धरातल पर अनन्त—असंख्य—हैं वैसे कालात्मक—मायावृत्त, जो प्रत्येक मायावृत्तात्मक कालवृत्त एक एक अश्वत्थप्रजापति का अभिव्यञ्जक बना हुआ है। कालत्वेन वे सम्पूर्ण मायावृत्त एक ही मायावृत्तात्मक एक ही महाकाल हैं, जिस के एक एक अंश का नाम है—अश्वत्थानुगत एक एक मायावृत्त। ऐसा वह अनन्तानन्त—(अनन्त भावापन्न अनेक मायावृत्तों को स्वसीमा में प्रतिष्ठित रखने वाला अन्तिम अनन्तरूप महतोमहीयान् एक मायावृत्त)—लक्षण महामायावृत्त ही वह महाकाल हैं, जिस के यत्किञ्चिदंशरूप—(एक मायावृत्तरूप—कालवृत्तरूप) में हीं सहस्रवल्शेश्वर अश्वत्थप्रजापति प्रतिष्ठित है।

१५४—असंख्य—अनन्त—अश्वत्थमहेश्वरों की महाकालसमतुलन में एकांशरूपा—यत्—किञ्चिदंशता, एवं—'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' का समन्वय—

विदित नहीं, ऐसे कितने अगणित—असंख्य—अश्वत्थब्रह्म उस महामायावृत्तात्मक कालात्मक अनन्तानन्तकाल के गर्भ में आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं सामुद्र बुद्बुदवत्, जिनमें से केवल एक ही अश्वत्थब्रह्म हमारा लक्ष्य बन रहा है, जिसे हम उस महाकाल का प्रतीक मान रहे हैं। यह ठीक है कि, वह एतावान ही नहीं है। इस एक ही अश्वत्थब्रह्म में उस का आनन्त्य परिसमाप्त नहीं है। यह तो उस का महिमात्मक एकांशमात्र ही है। वह इससे बहुत बड़ा है, बड़े से भी बड़ा है। 'अतो ज्यायांश्च पूरुषः-एतावानस्य महिमा'। तदपि यह तो कहा ही जा सकता है इस प्रतीकभूत एक अश्वत्थब्रह्म के लिए भी कि, वह अनन्तानन्तकाल अपने एकांशरूप—प्रतीकभूत—इस एक अश्वत्थस्वरूप से भी अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त तो कर ही रहा है। जैसा स्वरूप महतोमहीयान् का होता है, अणोरणीयान् का भी वैसा ही, किंवा वही स्वरूप माना गया है विज्ञानजगत् में।

१५५—अणोरणीयान् कालकेन्द्र, तथा महतोमहीयान् कालमहिमा का अभिन्नत्व, एवं एक मायावृत्तात्मक, एकांशरूप अश्वत्थकाल के द्वारा कालातीत के प्रथम आनन्त्य की अभिव्यक्ति का समन्वय—

महिमा, और केन्द्र, दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो महिमा है, वही केन्द्र है। जो केन्द्र है, वही महिमा, है। अतएव दोनों हीं अनन्त हैं। वह अनन्तमहिमाशाली है, तो यह उसका एक केन्द्रबिन्दुमात्र है, और

इस दृष्टि से तो यह उसका एकांश ही है। किन्तु वह इस एकांशरूप द्वयभाव से ही अपने समस्त महिमामय-स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। ध्यान रहे-अनन्तकाल पर बिन्दु-बिन्दु-रूप से प्रतिष्ठित यच्चयावत् मायी अश्वत्थब्रह्म एक दूसरे से विभिन्न हैं। सब अपने अपने रूप से उसी के प्रतीक हैं। और सब-(प्रत्येक) अपने अपने एकांश में भी उस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति प्रमाणित होते हुए अपने अपने रूप में परिपूर्ण ही बने हुए हैं। कोई किसी से छोटा, अथवा तो बड़ा नहीं है। कोई किसी का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। सब स्व-स्व महिमा से परिपूर्ण हैं। प्रत्येक परिपूर्ण है, समष्टि परिपूर्ण है, समष्टि की समष्टि भी परिपूर्ण है। सर्वत्र-सब में-प्रत्येक में यों अनन्तकाल अपनी परिपूर्णता से व्याप्त होरहा है। इसी का नाम है सविशेषानन्त्य, यही है प्राकृतिकानन्त्य, और इसी का एक अनन्त-उदाहरण है एक मायावृत्तात्मक एक अश्वत्थब्रह्म, जो अपनी प्रतीकता में प्रकृतिरूप अनन्तकाल के सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। इतिनु प्रथमानन्त्य-समन्वय।

१५६-अनन्तमहाकाल के प्रथमावतार अनन्ताश्वत्थकाल के द्वितीय-अवताररूप अनन्त-परोरजाकाल का स्वरूप-समन्वय—

आगे चलिए। अनन्तकाल के एकांशरूप-प्रतीकरूप अश्वत्थब्रह्म का नाम होगा-'अनन्ताश्वत्थकाल', जिसे हम अपनी सीमित दृष्टि से उस अनन्तकाल का **प्रथमावतार** कहेंगे (जबकि ऐसे असंख्य अश्वत्थावतार पूर्वकथनानुसार उस अनन्तकाल-धरातल पर इतस्ततः बुद्बुद्वत् विचरण कर रहे होंगे, निश्चयेन कर रहे हैं, अतएव डरते डरते ही हमें इस एक अश्वत्थ के लिए केवल अपनी अपेक्षा से स्तुतिभावानुबन्ध से ही **'प्रथम'** शब्द अभिव्यक्त कर देना पड़ रहा है)। उस अनन्तकाल के एकांश-प्रतीकरूप-अनन्ताश्वत्थकाल के सहस्र महिमा-विवर्त्त हैं, जो **'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। अश्वत्थवृक्ष की हजार शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा में **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भू-चन्द्र**-नामक पांच पांच पुण्डीर हैं। पांचों पुण्डीरों की समष्टिरूपा एक शाखा का नाम ही 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' है, जिसका एक स्वतन्त्र छन्द **है-'योगमाया'**। योगमायावृत्तात्मक यह एक वल्शाकाल ही उस अश्वत्थब्रह्म का एक प्रतीककाल है। और ऐसे सहस्रकाल प्रतिष्ठित हैं सहस्रशाखारूप से उस अनन्ताश्वत्थकाल के गर्भ में। यच्चयावत् शाखाब्रह्म परस्पर विभिन्न हैं, किन्तु सबके लिए वह सहस्रशाख-अश्वत्थ अभिन्न है। अर्थात् वह अपनी प्रत्येक शाखा के माध्यम से शाखारूप में हीं अपना सम्पूर्ण अनन्त स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक शाखा अपने अपने योगमायावृत्त में परिपूर्ण है, अनन्त है। और यही उस अनन्तकाल का **द्वितीयावतार** है, जिसे हम समझने के लिए 'शाखावतार' कह सकते हैं। ९९९ शाखावतारों का हम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है भी, तो वह हमारे आचारात्मक पक्ष से तो सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। ज्ञानीय सम्बन्ध तो सकता है उन के भी साथ, होगा ही, है ही। किन्तु आचारात्मक सम्बन्ध की आधारभूमि तो हमारे लिए वही एक शाखाब्रह्म है, जिस में हम प्रतिष्ठित हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। अतएव उन सब अनन्त प्रतीकों को अपने ज्ञानीय जगत् में अपनी प्रणतियाँ समर्पित करते हुए अब हम इस एक शाखानन्त्य को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, जो अपने इस एकांश से ही उस सहस्रशाखात्मक अनन्ताश्वत्थ की परिपूर्णता का संग्राहक बना हुआ है। इस एक के परिज्ञान से ही वह सर्वात्मना परिज्ञात बन रहा है-**'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**। क्योंकि वह इस एकांशरूपा एक ही वल्शावत् (इतर वल्शाओं की भांति) अपना सम्पूर्ण-परिपूर्ण-

अनन्त-स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। अनन्तकाल का प्रथमावतार सहस्रवल्शेश्वर अनन्तकालात्मक-अश्वत्थब्रह्म, उसी अनन्तकाल का द्वितीयावतार एकवल्शेश्वर-अनन्तकालात्मक-शाखाब्रह्म।

१५७-अव्यक्त स्वयम्भू, एवं व्यक्त स्वयम्भू-रूप से शाखेश्वर अव्यक्तकाल के दो महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय—

और आगे चलिए। यहाँ थोड़ा नामसाम्यमूलक सूक्ष्मचिन्तन अपेक्षित होगा। वैज्ञानिकोंने स्वयम्भू के अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू-रूप से दो महिमाविवर्त्त माने हैं। अव्यक्तस्वयम्भू वह स्वयम्भू है, जो पाँचों विश्वपुण्डीरों (पर्वों) का अवारपारीण एक आत्मा है, एक ईश्वर है। इस का नाम है 'वल्शेश्वर'-'शाखेश्वर'-'विश्वेश्वर'। वल्शेश्वर नामक यह अव्यक्त स्वयम्भू अपने निरतिशय अव्यक्तभाव के कारण अश्वत्थवत् अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनुपाख्यतमोरूप ही बना हुआ है, जो सृष्टिकर्म्म का अश्वत्थवत् तटस्थ साक्षीमात्र ही है। जो केन्द्र अश्वत्थ का है, वही इस अव्यक्त स्वयम्भू का है *। भूतसाक्षीमात्र यह अव्यक्तस्वयम्भू तो अश्वत्थवत् अव्यक्ता प्रकृति की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। यह वह अव्यक्तस्वयम्भू है, जिसके गर्भ में व्यक्तस्वयम्भू प्रतिष्ठित है, जिससे 'प्रकृतिवाद' उपक्रान्त होता है। अव्यक्त-प्रकृतिरूप भूतसाक्षी स्वयम्भू के गर्भ में पुण्डीररूप से व्यक्त-प्रकृतिवादोपक्रमभृत-भूतादि-वृत्तौजा-स्वयम्भू ही दूसरा विवर्त्त है। अव्यक्तस्वयम्भू परोरजा है, विश्वाध्यक्ष है, तो पुण्डीरस्वयम्भू-लक्षण व्यक्तस्वयम्भू रजःप्रवर्त्तक है, विश्वकर्म्मा है।

१५८-द्विविध स्वयम्भू-विवर्त्तों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

वह लोकसाक्षी है, तो यह लोकप्रवर्त्तक--लोकस्रष्टा--विधाता है। वह विश्वेश्वर स्वयम्भू है, तो यह उपेश्वर स्वयम्भू है उपेश्वर पाँच हैं, जबकि विश्वेश्वर एक ही है। स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य-भूः--चन्द्रः-ये पाँच हैं उपेश्वर, जिन का आदिभूत-महाभूतादि-वृत्तौजा पुण्डीर स्वयम्भू ही है। इन पाँचों उपेश्वरों का आधारभूत-साक्षीरूप-अवारपारीण-विश्वेश्वर स्वयम्भू ही अव्यक्त स्वयम्भू है, जिसे हमने अनन्ताश्वत्थ का द्वितीय अवतार बतलाया है। नाम दोनों के स्वयम्भू ही हैं। अतएव नामसाम्य से दोनों के प्रकृतिनिबन्धन-प्रकृतिवादनिबन्धन--पार्थक्य का समन्वय थोड़ा दुर्बोध्य अवश्य बन जाता है, जिस दुर्बोध्यता को राजर्षि ने स्वयम्भू, और ब्रह्मा, इन दो नामभेदों से अंशतः समन्वित कर दिया है। स्वयम्भू दोनो का समान ही नाम है। किन्तु 'ब्रह्मा' पुण्डीरस्वयम्भू का ही नाम है। क्योंकि यही यजनकर्त्ता-सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक-स्रष्टा प्रजापति है, जबकि अव्यक्त स्वयम्भू तो केवल सृष्टिसाक्षी ही है अपने अव्यक्त अनुपाख्यतमोभाव से। निम्नलिखित मानवीय-वचन इन्हीं दोनों स्वयम्भू-विवर्त्तों का यशोगान कर रहे हैं—

---

*-निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतेन--एकस्वरूपेण। एवं सविशेषानन्त्य-प्रसङ्गों में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-तूलभूतेन-एकांशेन। 'उसके एकत्त्व से इन नानाभावों का समन्वय' यह निर्विशेषात्मक प्रकार होगा। एवं 'इस के एकांश के समन्वय से उस की सर्वरूपता का बोध' यह सविशेषात्मक प्रकार होगा। अश्वत्थ के परिज्ञान से वल्शा का ग्रहण, यह निर्विशेष पक्ष माना जायगा। एवं वल्शा के परिज्ञान से अश्वत्थानन्त्य की आराधना, यह सविशेष पक्ष माना जायगा। यहाँ सविशेषता के आधार पर ही समन्वय हो रहा है।

श्लोक	
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ —मनु १।५।	—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ —मनु १।६।	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः—सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः	—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः । यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्य सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ —मनु	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६—अनन्तकाल के तृतीयावतार पुण्डीर—स्वयम्भूकाल का स्वरूप—समन्वय—

अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपक्रमभूमि अव्यक्त स्वयम्भू ही बनता है, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति का नाम है—'व्यक्तस्वयम्भू', जो उस अव्यक्तस्वयम्भू का ही प्रकाश माना गया है। अपने इस व्यक्तस्वयम्भूरूप प्रकाश से वह अव्यक्त—विश्वेश्वर—विश्वसाक्षी- स्वयम्भू अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, जो कि सम्पूर्ण स्वरूप सहस्रशाखानुबन्धन से सहस्र—अव्यक्त-स्वयम्भू-विवर्त्तों में विभक्त हो रहा है।

वह सहस्रात्मक सम्पूर्ण स्वरूप इस एक पुण्डीरस्वयम्भू के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। पुण्डीर–स्वयम्भू के परिज्ञान से अनन्त अव्यक्त स्वयम्भू का सम्पूर्ण स्वरूप विज्ञात बन जाता है। और यही उस अनन्तकाल का तृतीयावतार है।

१६०–अनन्त महाकाल के चतुर्थ अवतार महदक्षरकाल का, एवं पञ्चमावतार चराचर-मूर्त्ति व्यक्त–हिरण्यगर्भकाल का स्वरूप–समन्वय—

अनन्ताश्वत्थकाल का प्रतीक अनन्ताव्यक्त एक शाखात्मक–स्वयम्भूकाल, एवं इसका प्रतीक अनन्त-व्यक्त पुण्डीरस्वयम्भू-काल। आगे चलिए। इस महाभूतादि वृत्तौजा स्वयम्भूकाल के यजुः रूप एकांश से अभि-व्यक्त आपोमय परमेष्ठी ही उस अनन्तकाल का **चतुर्थ अवतार** माना जायगा, जिसके द्वारा अनन्तकाला-त्मक पुण्डीरस्वयम्भू अपने सहस्रपुण्डीरात्मक सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। और यहाँतक वह अनन्तकाल लोकप्रसिद्ध 'सम्वत्सर' मर्य्यादा से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है–**'न ह ततः पुरा सम्वत्सर–आस'** (शतपथब्राह्मण)। लोकप्रसिद्ध–ऋतु–मास–पक्षादि–रूप सम्वत्सरकाल की प्रथम अभिव्यक्ति तो उस सौरमण्डल में ही आकर होती है, जो उस परमेष्ठीकाल के गर्भ में परमेष्ठी का प्रतीक बनकर द्रप्सरूप से प्रतिष्ठित हैं। अनन्तकालात्मक परमेष्ठी अपने सम्पूर्ण आनन्त्य को इस सौरब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। सौरमण्डल का ही नाम है–सौरसम्वत्सर, और यही है दिव्यसहस्रयुगात्मक वह एक वर्षात्मक एक सम्वत्सरकाल, जिसके मानववर्षानुपात से अर्ब खर्बादि गणनकालपर्व मान लिए गए हैं, मन्वन्तरकालगण-नात्मिका जो काल–इयत्ता भी मानव की बुद्धि से अतीता ही प्रमाणित हो रही है। यही वर्षात्मक पुण्याहात्मक सौरसम्वत्सरकाल उस अनन्त परमेष्ठी का एकांशमात्र है। एकांशमात्र भी यह सौरसम्वत्सरकाल परमेष्ठी के माध्यम से क्योंकि अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, अतएव इसे भी उसीका **पञ्चमावतार** मान लिया है वैज्ञानिकोंने।

१६१-अनन्तकाल के षष्ठ अवतार इलान्दकाल का, एवं सप्तम अवतार–'नक्षत्रकाल' का स्वरूप–समन्वय, तथा परिलेख–माध्यम से अनन्तकाल के सात कालावतारों का संकलन—

और आगे चलिए। सौरसम्वत्सरकाल के एकांशरूप प्रवर्ग्यभाग से उपग्रहरूपेण अभिव्यक्त सम्पूर्ण ग्रहमण्डलों से समन्वित–पार्थिवसम्वत्सरकाल इसी सौरकाल का प्रतीक बना हुआ है, जिसके द्वारा सौरकाला-नन्त्य का सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा है। एवं जो यह पार्थिवसम्वत्सरकाल सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ-विराट्मूर्त्ति–साक्षीसुपर्ण–नामक महासुपर्ण की आधारभूमि बना हुआ है, जिस महासुपर्ण के अंशभावों का नाम हीं जीवात्मक भोक्ता सुपर्ण है। इस पार्थिव सम्वत्सरकाल के प्रवर्ग्यरू एकांश से ही उस लोक–प्रजा–जन–विश्रुत चान्द्रसम्वत्सर की अभिव्यक्ति हुई है, जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिवसम्वत्सर–काल यदि उसी अनन्तकाल का **षष्ठ अवतार** है, तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल उसी का **सप्तम अवतार** है। और यहाँ आकर उस अनन्तकालचक्र का एक परिभ्रमणक्रम उपरत होरहा है। अतएव चान्द्रसाम निधनसाम नाम से प्रसिद्ध होगया है। उपरत है **'लोकवितान'** की दृष्टि से। किन्तु **'प्राणवितानदृष्टि'** से तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल ही

अब प्रजाकाल की उपक्रमभूमि बनने वाला है। जिसप्रकार पार्थिवसम्वत्सरकाल सौर अनन्तकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है, तथैव तत्प्रतीकभूत यह चान्द्रसम्वत्सरकाल भी उसी क्रमधारा से पार्थिवसम्वत्सरकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सम्पूर्ण परिपूर्णता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। और मानव की प्राकृत-दृष्टि से हम अब इस लोकप्रसिद्ध चान्द्रसम्वत्सररूप 'एकवर्ष' को ही उस अनाद्यनन्तकाल का प्रतीक मान लेते हैं, जो कि वर्षकाल उसका सातवाँ अवतार बना हुआ है।

१६२-पूर्व-पूर्व-कालविवर्त्तों के सर्व-कृत्स्न-आनन्त्य के अभिव्यञ्जक उत्तर-उत्तर-कालविवर्त्त, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्त्व—

अनन्त-असंख्य-महामायावृत्तात्मक-अनन्तानन्ताकाशमूर्त्ति-कालकालात्मक-परमदेवस्वरूप-प्रकृतिरूप-'अनन्तकाल' अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप सहस्रपुण्डीरावच्छिन्न एक 'अश्वत्थब्रह्म' के रूप में। सहस्र-अतएव अनन्त-पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शाओं से समन्वित, महामायावृत्तात्मक-अनन्ताकाशमूर्त्ति-महाकालात्मक-मायी महेश्वर नामक 'अनन्ताश्वत्थकाल' (प्रथमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप पञ्चपुण्डीरावच्छिन्न-वल्शाध्यन, योगमायावृत्तात्मक-अव्यक्ताकाशमूर्त्ति-परोरजा-साक्षी-कालात्मक योगमायी विश्वेश्वर अव्यक्तस्वयम्भू के रूप में। यह अव्यक्तस्व-

यम्भू–काल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप–चतुःपुण्डीराध्यक्ष–विश्वस्रष्टा–उपयोगमायावृत्तात्मक–व्यक्ताकाशमूर्त्ति–रजःप्रवर्त्तक–स्रष्टा–कालात्मक–व्यक्तस्वयम्भू के रूप में । यह व्यक्तपुण्डीरस्वयम्भूकाल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप–पुण्डीरत्रयाध्यक्ष–विश्वरूप–महदक्षरमूर्त्ति–भूत–भविष्यत्कालात्मक–भृग्वङ्गिरोरूप–परमेष्ठी के रूप में । यह पारमेष्ठ्य काल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–सम्वत्सरवेलात्मक–दिव्यसहस्र–युगानुगत–चतुर्दशमन्वतरात्मक–व्यक्त–सौरसम्वत्सरकाल से रूप में । यह सौरम्वत्सरकाल (पञ्चमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–पार्थिवसमम्वत्सरकाल के रूप में । एवं यह पार्थिवसम्वत्सरकाल (षष्ठ–अवतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–उस चान्द्रसम्वत्सरकाल के रूप में, जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध हैं । असंख्य अनन्त हैं ये वर्षकाल । साथ ही सभी वर्ष सर्वथा पृथक पृथक् हैं । किन्तु प्रत्येक वर्ष शेषभूत उन समस्त अनन्त वर्षों का प्रतीकविधि से प्रातिनिध्य कर रहा है । प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्वत्सरसीमा में उस अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । और यों व्यक्तदृष्ट्या सादिसान्त भी प्रतीयमान वर्षात्मक सम्वत्सरकाल अपने उस आधारभूत अनन्ताव्यक्त–कालानुबन्ध से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है ।

१६३–सर्वबलविशिष्टरसैकघननिर्विशेषानन्त्यरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवर्त्तरूप, सप्तकालविवर्त्तजन्मदाता–अनन्त–अमूर्त्त–महाकाल, उसकी 'बल' रूपता का समन्वय, एवं प्रकृति–स्वरूप–समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य-समन्वय के लिए तो अमूर्त्त–मूर्त्त–शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । जिस अनन्तकाल का यशोगान किया जारहा है, उस से भी अतीत, अतएव कालातीत–अनन्त परात्पररूप निर्विशेष ब्रह्म की सर्वबलविशिष्टरसैकघनता का पूर्व में ÷ अनेकधा ❊ बहुधा-यशोगान किया जाचुका है । बलविशिष्टरसैकघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तकाल है, जिस के सात अवतारों की चर्चा प्रक्रान्त है । 'बल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है, जबकि रस को ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना गया है । बलात्मिका प्रकृति ही अक्षरप्रकृति है, एवं इसी का नाम अनन्तकाल है, जो अपनी इस स्वरूपरक्षा के लिए, बलवत्ता के लिए रस को ही आवृत किए रहता है । **रस से आवृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप है ।**

१६४–रसानुबन्धिनी–प्राकृतिक–कालानन्तता–अमूर्त्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक–कालसादिसान्तता–मूर्त्तता का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता वस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है । क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य) होता हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसान्त ही है । यों एक ही प्रकृति में, किंवा प्रकृतिरूप काल में अनन्तरस,

---

÷–तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त–'मनेकधा' । (गीता० ११।१३।) ।

❊–एकं सद्विप्रा–'बहुधा' वदन्ति । (ऋक्सं० १।१६४।४६।) ।

सादिसान्त बल—दोनों का समन्वय समिद्ध हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त रसभाव ही इसका **अमूर्त्त**—**अनन्त-भाव** है, एवं प्रकृति का यह सादिसान्त बलभाव ही इसका **मूर्त्त-सादिसान्त भाव** है। इसप्रकार इस प्राकृतकालब्रह्म के ही रस-बलानुबन्धेन **अमूर्त्त—मूर्त्त**—ये दो महिमाविवर्त्त हो जाते हैं। अनन्तकाल को उस अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला यदि मान लिया जासकता है, तो इस अभिव्यक्त अनन्तकाल की रसाभिव्यक्ति को **अमूर्त्ताभिव्यक्ति**, एवं बलाभिव्यक्ति **मूर्त्ताभिव्यक्ति** कहा जासकता है, मानलिया जासकता है, जबकि ऐसा मान लेना मान्यता ही है। इस मान्यता की आस्थारूप में परिणति तो उस अनन्तब्रह्म के अन्यतम प्रतीकरूप मानव के द्वारा ही होगी, जैसाकि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा।

१६५–प्रतीकाधार की अमूर्त्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, तथा-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' श्रुति का समन्वय—

जो प्रतीक है, वही मूर्त्त है, एवं जिसका प्रतीक है-वही अमूर्त्त है। जिसका जो प्रतीक है, वह प्रतीक भी तो वही है। *वही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकांशरूप प्रतीक उस ज्यायान् अंशी से अभिन्न ही* तो है। कालप्रतीकता से समन्वय कीजिए इस दृष्टिकोण का। अनन्तकाल का रसभाव 'अमूर्त्त' है, अनन्तकाल का बलभाव 'मूर्त्त' है। यों स्वयं मूलभूत अनन्तकाल ही-'**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च**' रूप से दो महिमाभावों में परिणत होरहा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित आठों ही प्रतीक-विवर्त्तों में-प्रत्येक में-अमूर्त्त-मूर्त्त-दोनों महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तभी तो इनका प्रतीकत्व सुरक्षित रहेगा। और तभी तो यह कहा जासकेगा कि, वह अपने एकांशरूप प्रतीकभाव से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, तो एकांशरूप यह अपनी एकांशता से उस अंशी के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त्त-मूर्त्त, दोनों का संग्रह ही इस समग्रता का कारण बन रहा है।

१६६–सप्तकालविवर्त्तानुगत अमूर्त्त-मूर्त्तभाव, सविशेष कालविवर्त्तों की प्राकृतता, एवं नात्र ऐकान्तिकामृतत्वस्य तु-आशास्ति—

और यों अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त व्याप्त आठों कालविवर्त्तों के प्रत्येक के **अमूर्त्तकाल, मूर्त्तकाल-रूपेण** दो दो विवर्त्त होजाते हैं, जिनके समन्वय में यह अवश्य ही अवधानपूर्वक समन्वय करते जाना चाहिए कि, पूर्व-पूर्व के कालविवर्त्त उत्तर उत्तर के कालविवर्त्त की अपेक्षा से अमूर्त्तकाल बन रहे हैं, एवं उत्तर-उत्तर के काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा मूर्त्तकाल बन रहे हैं। अमूर्त्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त्त अनन्त हैं, यही सविशेषानन्त्य है, प्राकृतिकानन्त्य है। एवं मूर्त्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त्त सादिसान्त हैं, यही सविशेषप्राकृतभाव है, प्राकृतिक अन्त भाव है-नात्र-ऐकान्तिकामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति। सापेक्षानन्तत्व ही इस प्राकृतानन्त्य का एकमात्र महान् उत्कर्ष है, जिसे शास्त्रीय-भाषा में लोकसमृद्धिरूप 'अभ्युदय' कहा गया है।

१६७–कालात्मक-अक्षरप्रजापतिरूप-प्राकृत विवर्त्त के अमूर्त्त-मूर्त्त-भावानुबन्धी-अर्द्ध-अर्द्धात्मक अमृत-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

रसानुबन्धी अनन्तभाव ही अमूर्त्त कहलाएगा सर्वत्र, सभी विवर्त्तों में, एवं छन्द पदार्थ, एवं छन्दित पदार्थ ही इन अमूर्त्त-मूर्त्त-भावों की तात्त्विक परिभाषा होगी। छन्द पदार्थ ही **महिमा**-कहलाएगा, एवं

छन्दित पदार्थ ही मूर्त्ति कहलाएगी। महिमा ही 'पुनःपदम्' होगा, एवं मूर्त्ति ही-'पदम्' होगा। पुनःपदरूप महिमाभाव ही अमृतरसात्मक अमूर्त्त भाव होगा, एवं पदात्मक मूर्त्तिभाव ही मर्त्यबलात्मक मूर्त्तभाव होगा। छन्दोरूप-अमृत-रसात्मक-महिमाभाव ही उसी काल का 'अमूर्त्तकाल' रूप माना जायगा, एवं-छन्दित-मर्त्य-बलात्मक मूर्त्तिभाव ही उसी काल का 'मूर्त्तकाल' रूप माना जायगा। छन्दःकाल का पारिभाषिक नाम होगा 'काल', एवं छन्दित काल का पारिभाषिक नाम होगा दिगनुगत देश। यों अपने रस-बलात्मक अमूर्त्त-मूर्त्त भावों से स्वयं अनन्तकाल ही अमूर्त्तदृष्ट्या अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्तदेशात्मक बना रहेगा, तो यही मूर्त्तदृष्ट्या सादि-सान्त-दिक्-देश-कालात्मक बना रहेगा। अनन्तकालदिग्देशरूप महिमामण्डल ही अमूर्त्तकाल है, यही अक्षरप्रजापति का अमृतरूप है, जिस के गर्भ में ही सादिसान्त दिग्देशकालरूप वस्तुपिण्ड (मूर्त्ति) प्रतिष्ठित है। यही अक्षरप्रजापति का मर्त्यरूप है, एवं-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' का यही रहस्यात्मक समन्वय है।

१६८-'प्र' और-'कृति', 'कृति' की प्रागवस्था का 'प्रकृतित्त्व', एवं 'कृति' की उत्तरावस्था का 'विकृतित्त्व', तथा प्रकृति का अमूर्त्तकालत्त्व, और विकृति का मूर्त्तकालत्त्व—

रसानुबन्धी अमूर्त्तकाल, तथा बलानुबन्धी मूर्त्तकाल, दोनों के समन्वितरूप का नाम हीं है-'प्र-कृति' लक्षणा 'प्रकृति'। 'कृति' नाम है कार्य्यभाव का। इस कार्य्य की प्रथमावस्था-पूर्वावस्था ही वह कारणावस्था है, जिसे 'प्राग्' भाव के कारण 'प्र' कहा गया है। 'प्र' रूप कारणात्मक अव्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का अमूर्त्त अक्षरभाव, एवं 'कृतिरूप' कार्य्यात्मक व्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का मूर्त्त क्षरभाव। अक्षररूप रसभाव क्योंकि क्षररूप बल से अविनाभूत है। अतएव 'प्र' (अक्षर) के साथ भी 'कृति' (क्षर) समन्वित हैं। एवमेव क्षररूप बल भी क्योंकि अक्षररूप 'प्र' (अक्षर) के बिना अनुपपन्न है। अतएव 'कृति' (क्षर) के साथ भी 'प्र' (अक्षर) जुड़ा हुआ है। यों अक्षरप्रधान अमूर्त्तभावात्मक 'प्र' भाव भी 'प्रकृति' बन रहा है, तथा क्षरप्रधान मूर्त्तभावात्मक 'कृति' भाव भी 'प्रकृति' बन रहा है। अव्यक्ता-अक्षरप्रकृति का अर्थ है बलगर्भित रस, किंवा क्षरगर्भित अक्षर। एवं व्यक्ता क्षरप्रकृति का अर्थ है-रसगर्भित बल, किंवा अक्षरगर्भित क्षर। उभयात्मक (रसबलात्मक-अक्षरक्षरात्मक) अक्षर का नाम है अमूर्त्तकाल, एवं उभयात्मक (क्षराक्षरात्मक) क्षर का नाम है मूर्त्तकाल। अमूर्त्तकाल काल है, एवं मूर्त्तकाल दिग्देश है।

१६९-अश्वत्थकालात्मक-अमूर्त्तकाल के 'खस्वस्तिक' रूप सुसूक्ष्म काल-दिग्-देश-भाव, एवं अमूर्त्तकालात्मक अश्वत्थ-परोरजा-स्वयम्भू-महदक्षर-रूपा अनन्त-कालचतुष्टयी के सम्बन्ध में मूर्त्तभावापन्न दिग्-देश-काल-भावों की प्रासङ्गिक-जिज्ञासा—

क्या परिभाषा होगी अश्वत्थब्रह्मात्मक कालविवर्त्त में दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव की ?, जबकि वहाँ दिग्देश का कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत हो रहा। दिग्देश की प्रतीति तो बहुत आगे जाकर पाँचवें सौर-सम्वत्सरकाल में ही हुआ करती है। इस विप्रतिपत्ति का एकमात्र समाधान है 'स्वस्तिकभाव'। अवश्य ही लोकप्रसिद्ध, सर्वानुभूत-दृष्ट-श्रुत-उपवर्णित दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव न तो अश्वत्थब्रह्म में ही है, न तदंशभूत

अव्यक्तस्वयम्भू में ही है, न तदशभूत पुण्डीरस्वयम्भू में ही है, न तदशभूत महदक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य मण्डल में ही है। इस चौथे परमेष्ठी के आपोभावात्मक पुष्करपर्ण से ही दिग्भावात्मिका-मूर्त्तभावापन्ना-छन्दोमयी-मूर्त्ति का उपक्रम होता है। जबकि अनन्तकालात्मतारूप इन चारों अश्वत्थ-अव्यक्त-स्वयम्भू-परमेष्ठी-नामक कालविवर्त्तों में दिग्देशभाव अनुपपन्न हैं भूतदृष्ट्या, तो फिर इनके सहजसिद्ध-मूर्त्त-भावों, किंवा मूर्त्तिभावा का कैसे, क्या समन्वय किया जाय?।

१७०-प्रकृतिनिबन्धन सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूलक-प्रश्न-समाधान का समन्वय—

प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है, अतएव समादरणीय भी। वस्तुत. भूतदृष्ट्या जिसे मूर्त्त, किंवा मूर्त्ति कहा जाता है, उस की अभिव्यक्ति तो सौरमण्डल से ही उपक्रान्त होती है। और इस भूतदृष्टि से तो सौरमण्डल से परस्तात् के सभी कालविवर्त्त अपनी प्राणात्मिका रसप्रधानता से अव्यक्त-अमूर्त्त-प्रधान बनते हुए केवल कालात्मक ही माने जायँगे। मूर्त्यनुगत मृत्युभाव तो सूर्य्य के भूतभाग से ही उपक्रान्त बनता है। यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी इस तथ्य के साथ भी गजनिमीलिका नहीं की जासकती कि, जिस मूर्त्तभाव की, किंवा मूर्त्ताकारभाव की, किंवा मूर्त्ति की सौरसंस्था से उपक्रान्ति होती है, उसका बीज इसकी कारणभूता पारमेष्ठ्या महदक्षरप्रकृति में अवश्य ही होना चाहिए। यदि परमेष्ठी में वह मूर्त्तबीज है, तो स्वयम्भू भी उस से वञ्चित नहीं माना जासकता। फिर तो सर्वाधारभूत उस अनन्तकाल में भी वह मूर्त्तबीज मान ही लेना पड़ेगा, जिसके बिना परमेष्ठी में भी बीजभाव अनुपपन्न है। जो है, उसी की अभिव्यक्ति होती है। जो नहीं है मूलप्रकृति, किंवा मूलकाल में, वह कदापि तूलकालात्मक भूत-व्यक्त-विवर्त्त में नहीं हो सकता। यही तो प्रकृतिमूलक वह सत्कार्य्यवादसिद्धान्त है, जिसका भगवान् ने भी समर्थन किया है *।

१७१-बलचितिरूपा ससृष्टि, चयनानुगता इष्टकाचिति, चित्यात्मक-रासायनिक-सम्मिश्रणरूप-याग, एवं तदाधारभूत केन्द्रबल का समन्वय—

भूतानुगत मूर्त्तभाव, किंवा मूर्त्तिभाव का अर्थ है-अमूर्त्त प्राणात्मक रस के आधार पर मूर्त्तभूतमात्रात्मक बलों की परस्पर-चिति, यागात्मक अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, परस्पर ग्रन्थिबन्धन, चयन। इसी बलचिति का नाम है बलों की 'ससृष्टि'। और यही ससृष्टि इस बलचिति को मूर्त्त, किंवा भूतरूप प्रदान करती है, जिस में दिक्, और तदनुगत देशात्मक प्रदेश अभिव्यक्त रहता है। अवश्य ही इस मूर्त्त, किंवा मूर्त्तिभाव की अभिव्यक्ति-स्वरूपनिष्पत्ति के लिए बलों की चिति अपेक्षित है, जो चयनयज्ञपरिभाषा में-'इष्टकाचिति' कहलाई है, जिसका आधार सप्तचितिक प्रजापति, एव पञ्चचितिक सम्वत्सराग्नि ही माना गया है। बलचिति का अर्थ है-गतिधर्म्मा विरुद्ध अनेक बलों का पारस्परिक सम्मिश्रण। इस सम्मिश्रण का आधार है-कोई वैसा सीमित क्षेत्र, जो इन बलों के गमनागमन का 'सरणि' रूप एक सञ्चारपथ बना रहता है। इस सीमाबद्ध सञ्चारपथ के कारण ही गत्यागतिशील बलों को बाहिर की ओर वितत होने-फैलने के लिए क्योंकि असीम-धरातल

---

*-नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
—गीता ७।२४।।

नहीं मिलता। अतएव इस सीमाक्षेत्रबन्धन से चारों ओर से घिरे हुए बलों को सीमा के केन्द्र में परस्पर संश्लिष्ट हो ही जाना पड़ता है, एवं इसी को 'बलचिति' कहा गया है। परस्पर सम्मिलित हो जाने वाले बलों की इस चिति का नाम मूर्त्त, किंवा मूर्त्ति अवश्य है। किन्तु इस की सूक्ष्ममूर्त्ति तो उस सीमावृत्त को ही माना जायगा, जिसका एक सुनिश्चित केन्द्र होता है। एवं जिस केन्द्रबल की सिसृक्षात्मिका प्रेरणा से ही, केन्द्रबल पर ही गत्यागतिशील बल सञ्चित होते हुए स्थूल मूर्त्तरूप में परिणत हो जाते हैं।

१७२–संक्लेदनात्मक–संघर्ष का जन्मदाता पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूला संसृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्त्ती कालविवर्त्तों का संसृष्टिभावों से पार्थक्य—

मानते हैं–स्वयं अनन्तकाल से आरम्भ कर महदक्षररूप परमेष्ठि-पर्य्यन्त बल चिति-अवस्था में परिणत नहीं हो सकते इन विवर्त्तों के अमूर्त्तप्रधान होने से, एवं परमाकाशात्मक होने से, प्राणात्मक बने रहने से। किन्तु बलचिति का आधारभूत सीमावृत्त, एवं चितिप्रवर्त्तक बल तो तत्रापि विद्यमान हैं हीं। अनन्तकाल महामाया-वृत्तात्मक है। यह वृत्त ही वह सीमाक्षेत्र है, जिस में संशरबन्धनात्मक असंख्य–अनन्त बल इतस्ततः सञ्चरण करते ही रहते हैं। रसानुगता अव्यक्तता की प्रधानता से अवश्य ही इन में चिति नही हो पाती। अतएव इन का मूर्त्तभाव भी अभिव्यक्त नही हो पाता। मन्थनात्मक प्रचण्ड संघर्ष का उपक्रम तो होता है आपोमय परमेष्ठी में ही, जैसाकि–"संक्लिश्य–अप्सु प्राविध्यत्। स पराङ्रसोऽत्यक्षरत्। स कूर्म्मोऽभवत्" इत्यादि से स्पष्ट है। यह संक्लेदनात्मक संघर्ष क्योंकि वहाँ नहीं है। अतएव विद्यमान भी वृत्तसीमा के, विद्यमान भी हृदयबल के, एवं विद्यमान भी बलों के व्यक्तभावात्मिका बलचिति नही होने पाती उसीप्रकार, जैसे कि दुग्ध में, किंवा दधि में विद्यमान भी घृत मन्थनात्मक संघर्ष के बिना व्यक्त नहीं हो पाता। ठीक यही स्थिति उन अव्यक्त–विवर्त्तों में समझ लीजिए।

१७३–'महिमान आसन्' मूला विभूतिसृष्टि, एवं 'रेतोधा आसन्' मूला चित्या सृष्टि, तथा तदनुबन्धी स्वाहा- स्वधा–शब्दों का समन्वय

थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। एवं इस स्पष्टीकरण के लिए–'रेतोधा आसन्–महिमान आसन्' * इस मन्त्रवाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्यारुढ बना लीजिए। इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है–'स्वधा–अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्' यह वाक्य। दोनों वाक्यार्थों के समन्वय से मूर्त्तामूर्त्तविषयक यच्चयावत् सम्प्रश्न(जिज्ञासाएँ) गतार्थ बन जाते हैं। कथमिति चेत्?, श्रूयताम्। अनन्तकाल में जबकि सृष्टि का आधार-भूत सीमावृत्त है, सृष्टिकामना का उक्थरूप हृदयबल विद्यमान है, सृष्टि का आरम्भक (उपादानद्रव्य) बलतत्त्व विद्यमान है, तो सृष्टि की अभिव्यक्ति तो होनी ही चाहिए, फिर वह अनन्तकालविवर्त्त हो, अथवा तो तन्महिमारूप अश्वत्थब्रह्म हो, किंवा अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू-महदक्षररूप-परमेष्ठी, कोई भी क्यों न हो। यहाँ

---

*–तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्–महिमान आसन्–स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्॥
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

अव्यक्तस्वयम्भू-तथा-व्यक्तस्वयम्भू-दोनों को एक स्वयम्भू विवर्त्त मान लेते हैं-साम्यात् । एवं महामाया-वच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म का महामहिम-महामायावृत्तात्मक अनन्तकाल में अन्तर्भाव मान लेते हैं । यों इन पांच विवर्तों के तीन ही प्रमुख विवर्त्त रह जाते हैं । अनन्तकाल, और अनन्त अश्वत्थ, दोनों की समष्टि को हम 'अनन्तकाल' कहेंगे, एवं अनन्तअव्यक्तस्वयम्भू, तथा अनन्तपुण्डीरस्वयम्भू-दोनों को 'अनन्त स्वयम्भू' कहेंगे, एवं तीसरा 'अनन्तपरमेष्ठी' रहेगा । और इस त्रित्व को आधार बना कर ही 'रेतोधा आसन०' इत्यादि के समन्वय का अन्वेषण करना पड़ेगा ।

१७४-कलनभावात्मक कलात्मक काल, तदनुबन्धी षोडशकल अश्वत्थपुरुष की काल-रूपता, तद्विभूतिरूप सृष्टिविवर्त्त, एवं अनन्तकाल, तथा अव्ययाश्वत्थकाल की अभिन्नता—

काल ही कलनभाव का आधार है, जिस कलनभाव को ही-'कला' कहा गया है । अव्ययपुरुष भी पञ्चकल है, अक्षर भी पञ्चकल है, क्षर भी पञ्चकल है । तभी तो अश्वत्थब्रह्म षोडशी (षोडशकल) कहलाया है । कलनात्मक काल का ही नाम 'अक्षरप्रकृति' है । अतएव कलात्मक अव्यय भी तत्वतः अक्षररूप ही है, कलात्मक क्षर भी अक्षररूप ही है, एवं स्वयं की अक्षररूपता तो स्पष्ट ही है । कालातीत निष्कल अनन्ताव्यय-ब्रह्म पृथग् वस्तुतत्त्व है । एवं कलात्मक, अतएव कालात्मक पञ्चकल अव्यय तो अक्षरप्रकृतिरूप ही बन रहा है, और यही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है । तात्पर्य्य यही है कि, जब अक्षरप्रकृतिकाल अव्यय को आधार बना लेता है, तो इसके द्वारा **अव्ययसृष्टि** (अव्ययात्मिका अक्षरसृष्टि) हो पड़ती है । यही कालप्रकृति (अक्षर) जब स्वयं को लक्ष्य बना लेती है, तो इसके द्वारा **अक्षरसृष्टि** हो पड़ती है । अव्ययात्मिका अक्षर-कालसृष्टि का नाम ही है-**अनन्तकाल** (जिस में अनन्तकाल, और अव्ययाश्वत्थषोडशी ब्रह्म, दोनों समन्वित हैं)।

१७५-कलासृष्टि का स्वरूप-परिचय, एवं 'कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' का समन्वय—

अक्षरात्मिका अक्षरकालसृष्टि का ही नाम है-'स्वयम्भूकाल' (*जिस में अव्यक्त स्वयम्भू, एवं* पुण्डीरस्वयम्भू-दोनों समन्वित हैं) । ये दोनों सृष्टियाँ सद्सृष्टियाँ भले ही न हों, किन्तु 'सृष्टि' इनको अवश्य ही कहा जासकता है । अनन्तकाल-धरातलानुगता अव्ययसृष्टि का नाम ही है-'कलासृष्टि', जिस से अनन्ता-व्ययमूर्त्ति अक्षरकाल अश्वत्थषोडशीब्रह्म-रूप में परिणत हो रहा है । यही मानसीसृष्टि है, यही भावसृष्टि है, जिस में सभी महिमामय बने हुए हैं । यहां का सृष्ट्याधारभूत कालवृत्त भी महिमामय है, अत्र प्रतिष्ठित बल भी मायात्मक ही हैं, एवं विश्वचोम्यरूप हृदय भी भावात्मक ही है । जिसे मानसिक चित्र कहा जाता है लोक में, जो मनोदृष्ट्या चित्र है, किन्तु जिसकी अभी लोक में अभिव्यक्ति नहीं हुई है । ऐसी सी ही कुछ स्थिति समझिए उस प्रथम अव्ययात्मक अक्षरमूर्त्ति अनन्तकालधरातल में । इसी प्रथम-**कलासर्गात्मक भावसर्ग** को, अधामच्छदरूप सकल्पसर्ग को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥
—श्वे० उप० ५।१४।

१७६–गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग, तदभिन्न 'प्राणसर्ग', एवं-'गुणांश्च सर्वान् विनि-योजयेद्यः' का समन्वय —

जब कालप्रकृतिरूप अक्षर स्वयं अपने को ही सृष्टि का लक्ष्य बना लेता है, तो इस अक्षरात्मक अक्षरकाल का नाम होता है–अव्यक्तस्वयम्भूकाल । इस की वेदप्राणात्मिका अव्यक्ता अक्षरसृष्टि का नाम ही है–'गुणसर्ग', जो कि गुणसर्ग रूपरसगन्धस्पर्शशब्द नामक 'पञ्चतन्मात्रा–सर्ग' नाम से भी समन्वित हुआ है । स्वयम्भू ब्रह्म वेदात्मा है । यही गुण–भूतात्मक मात्रासर्ग का प्रवर्त्तक है, जो कि 'प्राणसर्ग' नाम से भी प्रसिद्ध है । निम्नलिखित श्रौत–स्मार्त्त वचन इसी उस अक्षरप्रधान गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग की ओर सङ्केत कर रहे हैं, जिसके सीमावृत्त, बल, हृदय, आदि सभी विवर्त्त प्राणात्मक अव्यक्तभाव के कारण महिमामय ही बने हुए हैं । भावसर्ग जहाँ महिमारूप था, वहाँ यह गुणसर्ग भी महिमामय ही बन रहा है ।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
—श्वे उप० ५।५।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति गुण-कर्म्मतः ॥
—मनुः

१७७–मूर्त्तिसृष्टि की आधारभूता रेत-रेतोधा-योनि-त्रयी का दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी विकारसर्ग—

मानस भावविवर्त्त, प्राणात्मक गुणविवर्त्त, ये दोनों हीं महिमाविवर्त्त हैं । इन्ही के लिए 'महिमान आसन्' कहा गया है, जिनमें ग्रन्थिबन्धन का अभाव है । सृष्टि है, किन्तु मनोमयी (भावमयी), और प्राणमयी (गुणमयी) । मैथुनीसृष्टि का नाम हीं मूर्त्तसृष्टि, किंवा मूर्त्तिसृष्टि है, जिसमें 'रेत–रेतोधा-योनि' इन तीनो का समन्वय अपेक्षित है । एवं इस सृष्टि का उपक्रम होता है आपोमय-सोममूर्त्ति परमेष्ठी से ही । पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोभाव ही वह 'शुक्र' (रेत) है, जिसका मातरिश्वा नामक वायव्यप्राणरूप रेतोधा से सावित्राग्निरूप योनि में आधान होता है । और रेतोधा मातरिश्वा* के द्वारा सावित्राग्निरूप योनि में आहुत पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप आपः

*–अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥१॥
स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—ईशोपनिषत्

शुक की आहुति से ही व्यक्तमूर्ति प्रथम-सन्तति भगवान् सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। यही तीसरा 'विकारसर्ग' है। अक्षर जब क्षर का आलम्बन ग्रहण कर लेता है, तो क्षर मय यह अक्षर ही महदक्षर रूप परमेष्ठीकाल कहलाने लगता है। यही रतोधामूला वैकारिकी सृष्टि उपक्रान्त हो जाती है। इसी के लिए 'रतोवा आसन' कहा गया है।

१७८–अनन्ताश्वत्थकाल के प्रमुख तीन महिमाविवर्त्त, विवर्त्तत्रयानुगता भाव-गुण-विकार-सर्गत्रयी, एवं परस्तात्सर्ग-अवस्तात्सर्ग–मूलक 'स्वधा अवस्तात्, प्रयति परस्तात्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय—

यों अव्यय–अक्षर–क्षर–भावानुबन्ध से एक ही अक्षरकाल क्रमशः अनन्ताश्वत्थकाल, अव्यक्त स्वयम्भूकाल-व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठीकाल–भेद से तीन भावों में परिणत हो कर तीनों स्थानों में क्रमशः मनसा-प्राणेन–वाचा-भाव-गुण-विकार-नाम की तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। तीनों में भाव, और गुण–नामक दो महिमासर्ग परस्तात्सर्ग हैं, जिनका केवल बलगतिरूप 'प्रयति' से ही सम्बन्ध है। इनमें चितिरूप बलाधान (रेत के आधान का अभाव है। एवं विकारसर्गात्मक पारमेष्ठ्यसर्ग (स्वय परमेष्ठी नहीं, अपितु परमेष्ठी से सृष्ट सूर्य्य-भू-चन्द्रादि मूर्त्त-व्यक्त सर्ग) रूप 'रेतोधा' सर्ग अवस्तात् सर्ग है, जिनका बलचितिरूप 'स्वधा' से सम्बन्ध है। सञ्चरणमात्रावस्था में केवल बलगतिमात्र है, बलचिति नहीं। अतएव बलों का बलों पर आधान नहीं होता इस महिमासर्गद्वयीरूप परस्तात्सर्ग में–'प्रयति परस्तात्'। किन्तु रेतोधारूपा वसुष्टिलक्षणा विकारसृष्टि तो होती ही तब है, जबकि बलों का बलों पर आधान होजाता है, चिति हो जाती है। यही स्वाधानरूपा-स्वस्मिन्धत्ते-रूपा 'स्वधासृष्टि' है—'स्वधा-अवस्तात्'।

१७९–सर्गत्रयानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूप दिग्दर्शन—

निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ का यही है कि, विकारसृष्टिरूपा मूर्त्त-सृष्टि के बीज का नाम है गुणसृष्टि, एवं गुणसृष्टि के बीज का नाम है भावसृष्टि। उसी अक्षर से अव्ययसाक्षी में भावसृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल परस्पर विभूति-सम्बन्ध से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उसी अक्षर से स्वसाक्षी में गुणसृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल परस्पर 'योगसम्बन्ध' में ही परिणत रहते हैं। एवं उसी अक्षर से क्षरसाक्षी में विकार-सृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल 'ग्रन्थिबन्ध-सम्बन्ध' में ही परिणत रहते हैं। तदित्थं-बलों के विभूति-योग-बन्ध-नामक तीन पारस्परिक सम्बन्धों के कारण ही सृष्टि-सर्ग त्रिधा विभक्त हो रहा है, जिनमें अव्ययानुगत अक्षरसर्गरूप भावसर्ग, स्वानुगतसर्गरूप गुणसर्ग, ये दोनों सर्ग तो अमूर्त्त हैं, एवं क्षरानुगताक्षरसर्गरूप विकार-सर्ग मूर्त्त सर्ग है। बीजाधानकर्तृत्व, बीजस्वरूपनिर्म्मातृत्व, बीजकार्य्यस्वरूपनिष्पत्तित्व, इन तीन पर्वों में विभक्त है सृष्टितत्त्व। बीजाधानकर्तृत्व अव्ययात्मक अक्षर का धर्म्म है–'अहं बीजप्रदः पिता' (गीता)। बीजस्वरूपनिर्म्मातृत्व अक्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है-'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' (गीता)। एवं बीज को बीजाङ्कुरन्यायेन वृक्षरूपात्मक मूर्त्तस्वरूप में निष्पन्न करना क्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है-'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गीता)।

१८०-सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा का समाधान--बीज 'स्वस्तिकभाव', एवं सम्प्रश्न के तात्त्विक समाधान का परिलेख-माध्यमेन समन्वय -

स्थिति का स्पष्टीकरण तो हुआ। किन्तु सम्प्रश्न का अभी सर्वात्मना समाधान न हो सका। मान लिया कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी-कालपर्य्यन्त अव्यय-अक्षरानुगत भाव, तथा गुणभावापन्न 'महिमानः' रूप अव्यक्त-अमूर्त्त-सर्ग ही है। किन्तु बतलाया तो यह गया था कि, आठों ही कालविवर्त्तों में समष्टि, और व्यष्टि, रूप से सर्वत्र अमूर्त्त-मूर्त्त नामक अव्यक्त-व्यक्त-दोनों भाव हैं। अव्यक्तता, एवं तदनुबन्धिनी अमूर्त्तता तो समझ में आती है उन विवर्त्तों में। किन्तु मूर्त्तभाव समझ में नहीं आ रहा। समझ में इसलिए नहीं आ रहा, नहीं आसकता कि, हमारी समझ स्वकल्पनाप्रसूत दिग्देशकालात्मक उस भौतिक मूर्त्तभाव में अभ्यस्ता बन गई है कि, बीजभावापन्न, अतएव मनः प्राणात्मक ही, अतएव च अमूर्त्तभावप्रधान ही सुसूक्ष्म मूर्त्तभाव को स्थूलमूर्त्तभावासक्ता हमारी समझ पकड़ ही नहीं पाती। बुद्धि पकड़े, अथवा न पकड़े, सत्तारूपेण अमूर्त्तात्मक मूर्त्तभाव-बीजरूपेण हैं अवश्य ही उन अव्यक्त-अमूर्त्त विवर्त्तों में, जिनका लोकप्रसिद्ध 'स्वस्तिक' से समन्वय किया जा सकता है। अनन्तकाल भी महामायावृत्तात्मक है, तदवच्छिन्न अनन्ताश्वत्थ-काल भी मायावृत्तात्मक है, अव्यक्तस्वयम्भू भी योगमायात्त्वेन मायावृत्तात्मक है, एव पुण्डीरस्वयम्भू का तो-'वृत्तौजास्त्व' स्पष्ट ही है-आकाशरूपेण। तथैव परमेष्ठी की रेतोऽण्डवृत्तता भी तत्त्वसम्मत है। प्रत्येक वृत्त ९० ९०-के अनुपात से चतुर्भुजात्मक है। यह चतुर्भुजता ही वह छन्द है, जिसे आकार कहा गया है, जो कि आकार ही दिग्रूप सूक्ष्म छन्द माना गया है। इस छन्दोरूप दिक् से, वृत्त से सीमित भावात्मक बल, तथा गुणात्मक बल ही देश का बीजात्मक सूक्ष्मदेश है। "जिसमें चतुष्कोणानुगत-चतुर्भुज-समन्वित हो, चतुर्भुजात्मक जिस इस वृत्त में वयोरूप-वस्तुभावरूप तत्त्व प्रतिष्ठित हो, उसीका नाम तो 'मूर्त्त', किंवा मूर्त्ति है"। पूर्वोक्त सभी कालविवर्त्त वृत्तात्मक हैं, अतएव चतुर्भुज-स्वस्तिकात्मक हैं, और यही इनकी सुसूक्ष्मा दिग्रूपता है। सभी कालवृत्त विभूति, तथा-योगसम्बन्धावच्छिन्न बलभावों से समन्वित हैं अपने अपने भावात्मक, तथा गुणात्मक सर्गों से। और यही इनकी सुसूक्ष्मा बीजात्मिका देशरूपता है। एवं कालात्मकता तो स्वतःसिद्धा है ही। यों मूर्त्ति, किंवा मूर्त्तभावानुबन्धी काल-दिक्-देशरूप तीनों सूक्ष्मभाव विद्यमान ही हैं अनन्तकाल विवर्त्त से आरम्भ कर-परमेष्ठी-पर्य्यन्त। काल-दिक्-देश की समन्वितावस्था का नाम ही अव्यक्ता-अमूर्त्ता-प्रकृति है, एवं दिक्-देश-काल की समन्वितावस्था का नाम ही व्यक्ता-मूर्त्ता-प्रकृति है। अमूर्त्ता प्रकृति भी मूर्त्तभाव से समन्विता है, एवं मूर्त्ता प्रकृति भी अमूर्त्तभाव से समन्विता है। अन्तर स्थितिमात्र में है। अमूर्त्ता प्रकृति के गर्भ में मूर्त्तभाव महिमानः रूप से प्रतिष्ठित हैं, एवं मूर्त्ता प्रकृति के गर्भ में अमूर्त्ता प्रकृति प्रतिष्ठित है बुद्धिगम्या व्याख्या की दृष्टि से। अव्यक्त के मूर्त्तभाव महिमानः हैं, एवं व्यक्त के मूर्त्तभाव रेतोधा हैं। हैं दोनो स्थानों पर दोनों ही। इसप्रकार सभी सम्प्रश्न सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं, जिनका परिलेख के माध्यम से समन्वय किया जा सकता है।

१—अनन्तकाल
२—अश्वत्थकाल.
}—अनन्तकाल —अव्ययानुगतोऽक्षरकाल. (१)—अनन्त·]—भावात्मकः

३—अव्यक्तस्वयम्भुकाल
४—पुण्डीरस्वयम्भुकाल
}—स्वयम्भुकाल —स्वानुगतोऽक्षरकाल: (२)—अव्यक्त·]—गुणात्मक

५—परमेष्ठिकाल·
}—परमेष्ठिकाल —क्षरानुगतोऽक्षरकाल: (३)—अमूर्त:

६—सौरसम्वत्सरकाल·
७—पार्थिवसम्वत्सरकाल·
८—चान्द्रसम्वत्सरकाल
}—अक्षरानुगतो—विकारकाल. (३)——मूर्त·

—विकारात्मक.

—— * ——

काल.

कालमहिमानः—कालावताराः—सप्तैव

१—महामायावृत्तम् (अनन्त) (*)
२—मायावृत्तम् (अश्वत्थ) (७)
}—अव्ययाश्रिता प्रकृतिरक्षर —अनन्त —मनोमय
— ततो—भावसृष्टिर्विभूतिलक्षणा —

३—योगमायावृत्तम् (परोरजा.) (६)
४—उपयोगमायावृत्तम् (पुण्डीर) (५)
}—स्वाश्रिता प्रकृतिरक्षर —अव्यक्तोऽमूर्त —प्राणमय·
— ततो गुणसृष्टिर्योगलक्षणा —

५—ततोऽण्डवृत्तम् (परमेष्ठी) (४)
६—सर्गोऽण्डवृत्तम् (सूर्य्य) (३)
}—क्षराश्रिता प्रकृतिरक्षर.—व्यक्तो मूर्त —वाङ्मय.
— ततो—विकारसृष्टिर्बन्धलक्षणा —

७—पार्थिवाण्डवृत्तम् (भूपिण्डः) (२)
८—अम्भ्यण्डवृत्तम (चन्द्रमा·) (१)

—— * ——
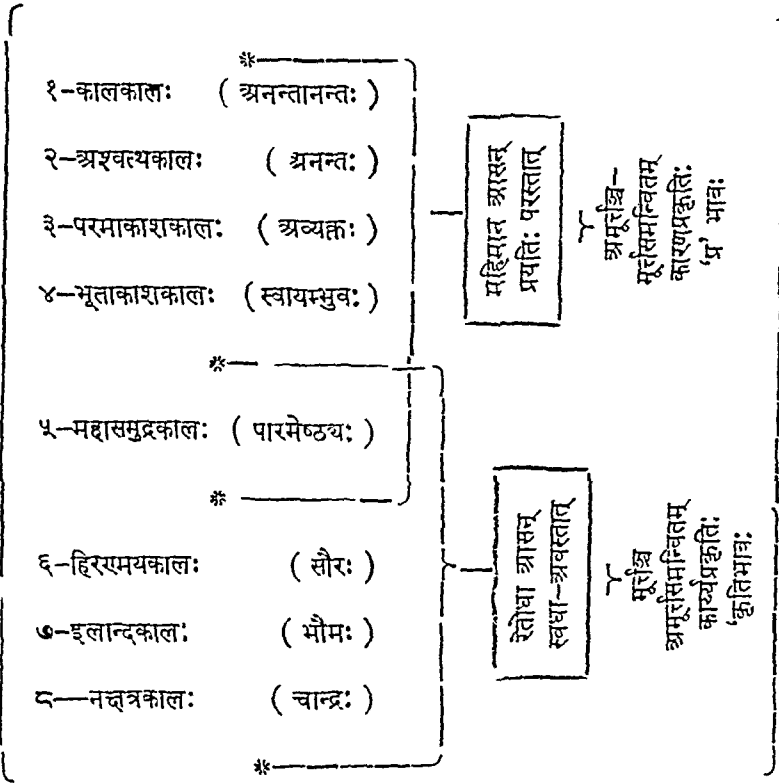
१८१–परस्तात्-कालविवर्त्तों के बीजात्मक मूर्त्तभावों के सम्बन्ध में तत्राभिव्यक्तिरूप एक नवीन सम्प्रश्न—

अब केवल एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न और शेष रह जाता है इस सम्बन्ध में, जिसका दो शब्दों में समन्वय कर यह दिग्देशकालमीमांसा उपरत होरही है। कालाक्षर के तालिकोद्धृत आठ विवर्त्तों में से आरम्भ के पाँच कालविवर्त्तों में जब बीजात्मक भावात्मक, तथा गुणात्मक सुसूक्ष्म–काल–दिग्–देशरूप मूर्त्तभाव विद्यमान हैं, तो वहीं ये बीजांकुरन्यायेन पुष्पित पल्लवित क्यों नही होगए ?। क्यों नही अनन्तकाल से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रात्मक परमेष्ठीकाल–पर्य्यन्त के परस्तात् कालविवर्त्तों में बीजात्मक 'कालदिग्देश' भाव मूर्त्तरूपेण सर्वात्मना अभिव्यक्त होगए ?। क्यो इन परस्तात् कालविवर्त्तों में लोकप्रसिद्ध मूर्त्तभाव अभिव्यक्त नही हुआ ?।

१८२–कालतत्त्व के ऋजु, तथा वक्र-भावों के माध्यम से सम्प्रश्न का समाधान, 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय, एवं–'सीधी–अङ्गुलियों से घी नहीं निकला करता' लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण दिग्दर्शन—

उक्त महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न का उत्तर है–'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्'। (ऋक् सं० १०।१२९।-५।)। दो पारिभाषिक शब्दों को लक्ष्य बनाने से इस सम्प्रश्न का भी समाधान हो जाता है। 'ऋजु', और

'वक्र' दोनों शब्द लोकप्रसिद्ध हैं, जिन का लौकिक भाव 'सरलता-कुटिलता' इन नामों से लोक में प्रसिद्ध हैं। कहते हैं-'सीधी अङ्गुलियो से घी नहीं निकला करता'। जबतक अङ्गुलियो को तिरश्चीन नहीं कर लिया जाता, टेढा-कुटिल-नही बना लिया जाता, तबतक पात्रस्थ घृत पात्र मे बाहिर नही हुआ करता सीधेपन से, ऋजुता से कदापि कार्य्यसिद्धि नही हुआ करती।

१८३-दिग्देशकालात्मक मूर्त्तभावापन्न लक्ष्यों का पूरक कुटिलकाल, एवं ऋजुकाल से मूर्त्तकार्य्यसिद्धि की अन्तर्म्मुखता—

कार्य्यसम्पादन के लिए, व्यक्त-मूर्त्त-भौतिक-स्थूल-कार्य्य-सम्पादन के लिए तो वक्रमार्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा ही कुटिल-काल का कुछ स्वभाव है। सम्भव है काल का ऋजुस्वरूप भी हो। किन्तु मूर्त्त-भूत-स्थूल-जगत् के स्थूल-भौतिक-कार्यों में उस सरल-सीधेसाधे -ऋजु-काल का कोई उपयोग नही। काल का वक्रभाव-कुटिलभाव-टेढापन ही भौतिक-मूर्त्त-कार्य्य की स्वरूपसिद्धि का कारण बनता है, जिस टेढेपन का नाम ही 'परोक्षभाव' है। यदि बात सीधी-सच्ची-ऋजुतापूर्वक कह दी जाती है, तो उस ऋजुपथानुगामी सीधी-सच्ची-कह देने वाले को तो प्राकृत-बुद्धिमान् लोकचतुर मानव 'भोंदू' कह कर उस की उपेक्षा ही कर दिया करते हैं। मूर्त्तजगत् के निर्म्माता कुटिलकाल से निर्मित मूर्त्त प्राकृत मानव ऋजुकालानुबन्धिनी सीधी-सच्ची बातें सुनना ही नहीं चाहते। सुन कर भी उन पर ध्यान ही नही देना चाहते। अपितु उस ऋजुपथ को तो वे सर्वथा उपेक्षित ही मान लेते हैं।

१८४-'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विपः' लक्षण निष्ठासूत्र का आचारात्मक समन्वय—

अतएव आवश्यक हो जाता है कि, लोकतन्त्र में जो कुछ कहा जाय, जो कुछ किया जाय, परोक्षरूप से ही कहा, और किया जाय। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते' *। 'परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षद्विप'। यही तो वह निष्ठासूत्र है, जिस के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही प्रस्तुत लोकनिबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। इस कुटिल ससार में सीधी सची बात का तबतक कोई मूल्याङ्कन हो ही नही सकता, जबतक कि उसे घुमा-फिरा कर-वक्रित-कर-तोड-मरोड कर-घटा-बढा-कर न कह दिया जाय। यही मूर्त्त-भूत-ससार का सहज स्वरूप है, जिस लोकनिष्ठातत्त्व को विस्मृत कर देने के कारण ही सीधी-सची-बातें कहने सुनने वाले निष्ठावञ्चित भारतराष्ट्रने सम्पूर्ण लोकवैभव विलीन ही कर लिया है। इति नु सामयिक-उद्बोधनम्।

१८५-वृत्तौजालक्षण पञ्चविध अनन्तकाल-विवर्त्तों की ऋजुरूपता, तन्मूला 'अवक्रता,' एवं तन्निबन्धन सहज सख्वरूप विभूतिभाव—

बात हमें कहनी यह है कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी-काल पर्य्यन्त-जो भी कालवृत्त हैं, वे सब 'वृत्तौजा' ही बने हुए हैं। यद्यपि परमेष्ठीवृत्त में थोडी वक्रता आ जाती है। किन्तु यदि इसे इस के वि-

*-उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भर्तृहरि।

शुद्ध रूप से देखा जाय, तो यह भी स्वयम्भूवृत्तवत् ऋजुवृत्त ही बना रहता है। वक्रता का उपक्रम अवश्य हो जाता है परमेष्ठीवृत्त में। अतएव इसे 'आण्डवृत्त' मान भी लिया जाता है। तदपि अपने स्वायुम्भुव भावानुबन्ध से परमेष्ठीवृत्त भी 'वृत्तौजाः' ही बना रहता है। सर्वथा वर्त्तुलवृत्तता ही 'वृत्तौजा' पन है, जिस मे सभी प्राण सर्वथा ऋजुरूप से--अकुटिलरूप से--अवक्ररूप से इतस्ततः निर्विरोध स्व--स्व--नियत सरणियों से सञ्चरण करते रहते हैं।

१८६-संघर्षशून्य अवक्रचेता वृत्तौजा कालविवर्त्त, तन्निबन्धना परिपूर्णता, एवं--'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि वचन का समन्वय--

अतएव पूर्णवृत्तता में कदापि संघर्ष का अवसर आता ही नहीं। कोई प्राण किसी प्राण से उत्पीड़ित नही होता। इसलिए उत्पीड़ित नहीं होता कि--वृत्तो की वर्त्तुलता से सभी हृद्यप्राण समशक्ति--बलात्मक ही बने रहते हैं। जो वस्तु परिमण्डलात्मिका होगी, वर्त्तुलवृत्ताकार होगी, उस की केन्द्रशक्तियाँ समानरूप से समानान्तर पर सर्वत्र समभावापन्नरूपेण ही परिव्याप्त रहेगी, एवं इस समानव्याप्ति--का नाम ही सर्वतः--भावात्मिका--परिपूर्णता होगा। अतएव वृत्तौजा विराट्-कालप्रजापति को--'सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख' ही बतलाया गया है *। ऐसा वृत्तौजाभाव अपने महिमामण्डल में स्वयं अपने रूप से ही परिपूर्ण है। जैसा इस का स्वरूप है, वही पर्य्याप्त है इस के लिए। अन्य कोई कामना--वासना--इच्छा--आकांक्षा नहीं है इस वृत्तौजा ऋजुमण्डलमें। अतएव ऋजुमण्डलात्मक--वृत्तौजा--ऋजुकालविवर्त्तों में वह बलग्रन्थिकामना उदित ही नही होती, जिस के द्वारा मूर्त्त--भूत--भाव का स्वरूप--निर्म्माण हुआ करता है। यही तो वह महिमा-मक विवर्त्त है, जिसे समन्वित करने के लिए ही यह मीमांसा प्रस्तुत हुई है। मूर्त्त-भूत-भी इस महिमामय विवर्त्तभाव से समन्वित हो कर ऋजु बन जाया करता है। और उस दशा में सम्पूर्ण कालपीड़न उपशान्त होजाता है।

१८७-पारमेष्ठ्य--कालानुबन्धी आपोमय नारदप्राण की सृष्टिकर्म्म से तटस्थता, एवं देवप्राणमूलक मूर्त्तसर्ग का समन्वय--

ऋजुवृत्तात्मक वर्त्तुलवृत्त क्योंकि स्वयं में परिपूर्ण है। अतएव इस के प्राणात्मक बलभाव परस्पर उत्पीड़नपूर्वक संघर्ष में आते ही नहीं। अतएव परिपूर्णभाव कदापि व्यक्त--मूर्त्त--भूत--सृष्टि का कारण नहीं बना करता ÷। तभी तो पारमेष्ठ्य 'नाराः' नामक अपतत्त्व के आधारभूत 'नारदप्राण--ऋषि' को पुराण ने सन्तानकामुकता से असंस्पृष्ट ही मान लिया है। सभी प्राण प्राणत्वेन मूर्त्तसृष्टि से तबतक तटस्थ ही बने रहते हैं, जबतक कि ये वर्त्तुलवृत्तों से निकल कर वक्रवृत्तों में नही आजाते। प्राण का ऋषिभाव वर्त्तुवृत्तानुबन्धी है, एवं इसी प्राण का 'देवभाव' वक्रितवृत्तानुबन्धी है। ऋषिप्राण से सृष्टि नही होती। सृष्टि होती है देवप्राण से-

---

* सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
--श्रुतिः

÷ न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। (श्रुतिः)।

'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वशः' (मनु)। ऋषिप्राण स्वयम्भू है-परोरजा है, अतएव यह लोकात्मिका भूतसृष्टि से असंस्पृष्ट है। स्वयम्भू-पर्य्यन्त तो निश्चयेन सभी कालवृत्त वर्त्तुलवृत्त ही बने रहते हैं।

१८८-आंशिक वक्रतानुगत पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूलक सम्वत्सरकाल की छद्मगतिरूपा-सर्वत्सरलक्षणा कुटिलता-वक्रता, एवं तद्रूप दीर्घवृत्तात्मक आण्डकाल से मूर्त्तसर्गप्रवृत्ति—

आंशिक वक्रता आती है पारमेष्ठ्यवृत्त में। इस आंशिक वक्रता के आते ही वही कालवृत्त 'अण्डवृत्त' रूप में परिणत हो जाता है-'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह-आप प्राविशत्। तत आण्ड समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१०।)।

इस आण्डवृत्त की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही है-सम्वत्सरचक्र, जिसे हम 'क्रान्तिवृत्त' नाम से जान रहे हैं, पहिचान रहे हैं। सम्वत्सरचक्रात्मक वृत्त वर्त्तुलवृत्त नहीं है। अपितु वक्रित वृत्त है, कुटिल वृत्त है, टेढ़ा वृत्त है। क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य यही कि, त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त का नाम ही क्रान्तिवृत्त है, और इसे ही कहा जाता है 'दीर्घवृत्त', जिस का पूर्व में यत्रतत्र अनेक या-बहुधा यशोवर्णन किया जाचुका है। त्रिकेन्द्रानुगता दीर्घवृत्तता का नाम ही है-आण्डवृत्तता, और इसका मूलरूप अभिव्यक्त होजाता है आपोमय अनन्त समुद्र में ही।

१८९-पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के अण्ड से विनिर्गत अग्निमूर्त्ति महासुपर्ण पक्षी, तत्सहचारी सोममूर्त्ति पक्षी, दोनों पक्षियों का समुद्र में सञ्चरण, एवं तदनुबन्धिनी ऋङ्मन्त्रद्वयी का संस्मरण—

ऐसा एक अण्डा है, जो उस पारमेष्ठ्य समुद्र में सञ्चरण कर रहा है, जो कभी व्यक्त हो पड़ता है, तो कभी उसी समुद्रगर्भ में डुबकी लगा लेता है जलचरजीवों की भाँति। सौर पार्थिव चान्द्र-समष्टिरूप महान् सम्वत्सर ही उस अण्डे में रहने वाला वह महासुपर्णपक्षी है *, जो इस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में आविर्भूत-तिरोभूत-होता रहता है। जिसप्रकार वात्सल्यरसपरिपूर्णा माता अपने शिशु को कभी अपने अञ्चल में छिपा लेती है, तो कभी शिशु अपने बालसुलभ क्रीडा-कौतुक से अञ्चल से बाहिर निकल आता है, एवमेव आग्नेय सूर्य्य, तथा सौम्य चन्द्रात्मक ये 'साम्वत्सरिक शिशु' आपो-जाया-वारा-रूप पारमेष्ठ्य-'अम्बा' समुद्र (मातृसमुद्र) में कभी तो छिप जाते हैं, कभी निकल आते हैं। यों मानो मातृस्थानीय परमेष्ठी मन्वन्तरमूलक अपने इन सम्वत्सर-शिशुओं से क्रीडा ही करते रहते हैं सर्ग-संहार-रूपेण ×। निम्नलिखित मन्त्र इसी रहस्य का अपनी रहस्यपूर्णा

* अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव-यत्सम्वत्सरः। (शत० १२।२।३।७।)।

× मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः-संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥
—मनु १।८०।

पारिभाषिकी भाषा में स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिन का समन्वय अवक्रचेता प्रज्ञाशीलों को स्वयं ही कर लेना चाहिए—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेह्लि, स उ रेह्लि मातरम् ॥

—ऋक् सं० १०।११४।४।

पूर्वापरं चरतो माययेतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥

—ऋक् सं० १०।८५।१८।

१९०—त्रिगुणात्मक महदक्षरकाल, तन्निबन्धन आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव, तन्मूला त्रिकेन्द्रता, तदनुगता विषमता, तन्मूलक संघर्ष, तज्जनिता चिति, एवं चिति-मूलक मूर्त्तजगत् का आविर्भाव—

इदमत्रावधेयम् । पारमेष्ठ्य अक्षरकाल का नाम हमने 'महदक्षर' बतलाया है । यही वह 'महत्प्रकृति' है, जिस में त्रैगुण्य की अभिव्यक्ति होती है । अतएव मूर्त्ता त्रिगुणात्मिका सृष्टि का उपक्रम महत्प्रकृतिरूप इस परमेष्ठी से ही होता है । यही सौरसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'अहङ्कृति' भावात्मिका है, चान्द्रसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'प्रकृति' भावात्मिका है, एवं पार्थिवसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'आकृति' भावात्मिका है । तीनों की समन्वितावस्था का नाम ही है 'मूर्त्ति', किंवा मूर्त्तभाव । सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरत्रयी ही वह त्रिकेन्द्रता है, जिस से आण्डवृत्त त्रिकेन्द्र बन रहा है । यही दीर्घवृत्त की वक्रता का कारण है । इस वक्रता से ही प्राणशक्तियों का समतुलन अन्तर्मुख हो जाता है, एवं विषमता आविर्भूत हो पड़ती है । यही विषमता इन वक्रप्राणों में संघर्ष उत्पन्न कर देती है । इस संघर्ष का नाम ही प्राणपीड़न है । इस पीडन से ही प्राणों की चिति होती है । और इस चिति से ही व्यक्त-भूत-मूर्त्त-मूर्त्ति-रूप सूर्य्य-चन्द्र-भूः-पिण्ड-रूप प्रत्यक्षसिद्ध मूर्त्तजगत्-अभिव्यक्त हो पड़ता है । वक्रता का उपक्रम होजाता है परमेष्ठी में ही, किन्तु इस वक्रता की अभिव्यक्ति होती है सर्वप्रथम सौरसम्वत्सर में ही । अतएव सौर क्रान्तिवृत्त ही 'दीर्घवृत्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे कि विषमता के कारण हीं वक्र 'कुटिलवृत्त' भी कहा जासकता है ।

१९१—सौरसम्वत्सरकाल की वक्रतात्मिका कुटिलता से ही द्रोणकलशानुगत आज्यरूप सोम का द्रवण, तद्द्वारा प्रजास्वरूपनिर्म्माण, एवं 'वक्रता' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

यही सौरकाल भारत की सांस्कृतिक प्रजा में 'वक्रकाल'-'कुटिलकाल' आदि नामों से प्रसिद्ध है । इसी वक्रकाल से पारमेष्ठ्य द्रोणकलश में रक्खा हुआ भृग्वङ्गिरोमय-स्नेहतेजोगुणक आज्य (घृत) मूर्त्तजगत् के स्वरूपनिर्म्माण के लिए बाहिर निकल पड़ता है । और यों कुटिलकालात्मक सूर्य्य ही दीर्घवृत्तानुगता अपनी कुटिल-रश्मिरूपा अङ्गुलियों से पारमेष्ठ्यकलश में से, पूर्णकुम्भ में से (पूर्णः कुम्भोऽधि काले०)

'आज्य' निकालने मे समर्थ बनकर मूर्त्तजगत् का निर्माण करते हैं। सच बात है। कभी सीधी अगुलियों से घी नहीं निकला करता। ऋजुकाल के आधार पर पीडित वक्रकाल ही मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। बिना पीडात्मक सवर्ग के, वेदना के प्रजनन असम्भव है। इसी वक्रता को लक्ष्य में रख कर 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधस्विदासीदुपरि स्विदासीत्' यह कहा गया है, जिसके-'रेतोधा आसन्-महिमान- आसन्-स्वधा अवस्तात्-प्रयति परस्तात्' इस उत्तर वाक्यसन्दर्भ का पूर्व मे समन्वय किया जा चुका है।

१६२-षड्धर्म्मावच्छिन्ना कृतिमूला प्रकृति से अतीत त्रिगुणातीत वृत्ताजाकाल का कालिक सर्ग से असम्पर्श, तत्साक्षी-मात्रत्व, एवं नवीन सम्प्रश्न का सम्यक् समाधान---

निवेदन-निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रथम अनन्तकाल विवर्त्त से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रकालात्मक परमेष्ठी-काल-पर्य्यन्त सभी कालवृत्त 'वृत्ताजा' बनते हुए 'अवक्रवृत्त' हैं, 'ऋजुवृत्त' हैं, 'पूर्णवृत्त' हैं, 'प्राणवृत्त' हैं, 'अपीडितवृत्त' है, 'अमूर्त्तवृत्त' हैं। अतएव इन में प्राकृत-मूर्त्तभावानुगत-त्रैगुण्य अभिव्यक्त नहीं होता, जोकि सत्त्व-रज-तमोनुगत त्रगुण्य ही अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-समन्वय के द्वारा मूर्त्तजगत् की अभिव्यक्ति का कारण बना करता है। प्रकृतिका प्रकृतित्त्व, किंवा 'कृतित्व' (कार्य्यत्व) यह त्रैगुण्य ही है, जिस की ऋजु-कालवृत्ता में अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उन प्राकृत 'ऋजुवृत्तों' की ऋजुता-वर्त्तुलता से ऋजु-अवक्र-अव्यय-नामक वह अजपुरुष ही प्रधान बना रहता है इन ऋजुवृत्तों में, जो कि त्रिगुणातीत माना गया है —। अवक्रचेता अज-अव्यय की अवक्रता से ही तो ये कालवृत्त अवक्र बने हुए हैं। इसीलिए तो-'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि-सहस्राक्ष-अजर-भूरिरेता' इत्यादिरूप से अवक्र अज-अव्यय से समतुलित उस मूलकाल को सहस्राक्ष-अजर-कहा गया है। 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन' (ऋक्सं० १।१६४।४१) इत्यादि मन्त्र भी उसी अवक्र-सहस्राक्षरमूर्त्ति-परमाकाशात्मक-अनन्तकाल का यशोगान कर रहा है। अवक्र-अज-अव्यय * से समतुलित अवक्र-अज-रूप ही वृत्ताजा अनन्तकाल अपनी इस अवक्रा वृत्ताजता से ही मूर्त्तभावजनित प्रमाणित होता हुआ भी अमूर्त्त ही बन रहा है। और यही तथाकथित सम्प्रश्न का संक्षिप्त समाधान है।

— अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता

* पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

१६३–अनन्ताक्षरकाल के अमूर्त्त--मूर्त्त--भूत--नामक तीन महिमाविवर्त्त, तदनुगत काल-दिक्–देश--विवर्त्त, एवं कालद्वयी, कालचतुष्टयी, कालत्रयी--रूपा नवकालात्मिका प्रकृति का काल--दिक्- देश–त्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त निष्कर्ष के माध्यम से ही अब यह तथ्य भी स्वतः ही समन्वित होगया कि, परमदेवरूप अनन्ताक्षरकाल से ही अमूर्त्त–मूर्त्त--भूत–रूप से तीन संस्थान व्यवस्थित हैं । काल--दिक्–देश–नामक तीन प्रमुख विवर्त्त हो जाते हैं **भाव–गुण–विकार**–सर्गत्रयी के अनुबन्ध से । **अक्षरप्रकृति का अव्ययाश्रित--भावात्मक–रूप ही 'काल' है । अक्षरप्रकृति का स्वाश्रित गुणात्मक रूप ही 'दिक्' है । एवं अक्षरप्रकृति का क्षराश्रित विकारात्मक रूप ही 'देश' है ।** अनन्तकालात्मक प्रथम विवर्त्त, एवं अश्वत्थ नामक द्वितीय विवर्त्त–इन दोनों की समष्टि का नाम ही अव्ययाश्रित–'**भावात्मककाल**' नामक 'काल' है । अव्यक्त-स्वयम्भू- पुण्डीरस्वयम्भू–विशुद्ध परमेष्ठी–तथा–अमृतसूर्य्य–इन चारों की समष्टि का नाम हीं स्वाश्रित '**गुणात्मककाल**' नामक 'दिक्' है । एवं मर्त्य सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–इन तीनों की समष्टि का नाम ही क्षराश्रित–'**विकारात्मककाल**' नामक 'देश' है । यों आठो कालविवर्त्त इस समन्वय–दृष्टि से काल–दिक्–देशात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिन में पहिला अनन्तकाल ही प्रमुख काल है, पाँचवाँ परमेष्ठी-काल ही प्रमुख 'दिक्' है, एव ६ ठा सूर्य्य ही प्रमुख 'देश' है । अनन्तकाल ही अपने अनन्त–अश्वत्थ–स्वायम्भुव–रूपों के माध्यम से पारमेष्ठ्य–दिक्–रूप में परिणत हुआ है । यह अनन्त दिग्रूप परमेष्ठी ही चन्द्र-पृथिवी–गर्भित सूर्य्यात्मक अनन्त देशरूप में परिणत हो रहा है । इसप्रकार **अनन्तस्वयम्भू–अनन्तपरमेष्ठी--अनन्तसूर्य्य-**रूपेण एक ही काल इन तीन काल–दिक्–देश–भावों में परिणत हो रहा है । वही स्वयम्भू–रूपेण काल है, वही परमेष्ठी–रूपेण दिक् है, वही सूर्य्य–रूपेण देश है । एवं इस देशात्मक सौरकाल की मूर्त्ता अभिव्यक्ति का नाम हीं दिक्–देश–काल है । देशात्मक सूर्य्य मूर्त्ता दिक् है, देशात्मक पार्थिव विवर्त्त मूर्त्त देश है, एवं देशात्मक (प्रदेशात्मक) चन्द्रमा मूर्त्तकाल है । परस्तात् भावों में काल–दिक्–देश (स्वयम्भू–परमेष्ठी-सूर्य्य–अमृतसूर्य्य)–यह क्रम है, यही अमूर्त्ता कालत्रयी, किंवा काल–दिग्–देश–त्रयी है । अवस्ताद्–भावों में दिक्–देश–काल (सूर्य्य–भूः–चन्द्र) यह क्रम है, यही मूर्त्ता कालत्रयी है, किंवा दिग्देशकालत्रयी है । उपक्रम में अमूर्त्तकालात्मक काल है, उपसंहार में मूर्त्तकालात्मक काल है । दोनों ओर से काल से ही आवृत सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त्त कालात्मक ही है, इति नु—

सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः
तस्माद्धै नान्यत् परमस्ति तेजः
कालं तमाहुः परमे व्योमन्
कालः स ईयते प्रथमो नु देवः

"स वा एष आत्मा–अव्ययकालमूर्त्ति–मनःप्राणवाङ्मय एव"

मनोमयः कालः

- १–अनन्तकालः
- २–अश्वत्थकालः

—भावात्मककालः (अव्ययाश्रितोऽनन्तः)–कालः एव कालः

–अनन्तकालात्मकः–भावकालः–एव—'कालः' (१)

प्राणमयः कालः

- ३–परोरजाकालः
- ४–पुण्डीरकालः
- ५–परमेष्ठिकालः
- ६–अमृतसूर्य्यकालः

—गुणात्मककालः (स्वाश्रितोऽमूर्त्तः)—कालः एव-दिक्–

–अमूर्त्तकालात्मकः–गुणकालः–एव 'दिक्' (२)

वाङ्मयः कालः

- ७–पिण्डसूर्य्यकालः
- ८–पार्थिवकालः
- ९–चन्द्रकालः

—विकारात्मककालः (पराश्रितो मूर्त्तः)—कालः एव देशः

–मूर्त्तकालात्मकः–विकारकालः–एव–'देशः' (३)

इति तु—सर्वं—काल एव, कालात्मकमेव

—*—

प्रकारान्तरेण समन्वयः—
—"यद्व नाम विवर्त्तेते–अहनी चक्रियेव"—
संहारकालः
१–अनन्तकालः
२–अश्वत्थकालः
३–परोरजाकालः
४–पुण्डीरकालः
स्वयम्भूः (कालः)
जगतामाश्रयः–कालः
स्वयम्भूः——कालः [१]–
अमूर्त्तः कालः-अनन्तः
उपक्रमकालः
परमेष्ठी (दिक्)
५–विशुद्धपरमेष्ठिकालः
परमेष्ठी——दिक्
[२]–अमूर्त्ता दिक्-अनन्ता
६–अमृतसूर्य्यकालः
प्राणसूर्य्यः—देशः
[३]–अमूर्त्तो देशः-अनन्तः
अमूर्त्तकालत्रयी–कालदिग्देशत्रयी वा
सूर्य्यः (देशः)
७–मर्त्यसूर्य्यकालः
भूतसूर्य्यदेशः-दिक्
[३]–मूर्त्ता दिक्–सान्ता
८–मर्त्यभूकालः
भूदेशः——देशः
[२]–मूर्त्तो देशः–सान्तः
९–मर्त्यचन्द्रकालः
चन्द्रप्रदेशः—कालः
[१]–मूर्त्तः–कालः–सान्तः
उपसंहारकालः
मूर्त्तकालत्रयी
दिग्देशकालत्रयी वा
सर्गकालः

१६४-कालानुगता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तद्वञ्चित बुद्धिवादी-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दार्शनिक की आचारशून्या तत्त्वमात्रविजृम्भणोपेता काल्पनिक-तुष्टि का नग्न चित्रण—

यह तो हुआ कालपुरुष का तत्त्वात्मक समन्वय, किंवा तत्त्वमीमांसात्मिका आचारमीमांसा का स्वरूप-समन्वय। अब इस तत्त्वसमन्वय के साथ उस आचारमीमांसा का भी समन्वय कर लीजिए, जिसकी महद्भाग्य ऋषिप्रजा को ही उपलब्ध हुआ है। मानव क्या करे कालपुरुष के स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-रूप काल-दिक्-देश-भावों का ज्ञान कर ?, यही आचारात्मक वह सम्प्रश्न है, जिसका दर्शनशास्त्र ने तो स्पर्श भी नहीं किया है। न वहाँ आचारविधि है, न विधि का पूरक निषेध ही है। है केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक तत्त्वमीमांसन, किंवा बुद्धि का उत्पीडन। महिमामय विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक 'धर्म्मसर्ग' (आचारात्मक-'सृष्टिसर्ग') का तो मानो मूलोच्छेद ही कर दिया है तत्त्वमीमांसाभिनिविष्ट 'दर्शनशास्त्र' ने, जोकि आधिदैविक आचार ही इस 'अध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अभ्युदय-निःश्रेयस् 'धर्म' था। 'अधिभूत' को आधार बना कर बौद्धिक-कल्पित दिग्देशकाल-भावों के माध्यम से भूतों के गर्भ में किसी सूक्ष्म-तत्त्वान्वेषण का प्रयास। उन सत्ताशून्य, काल्पनिक, अतएव भातिसिद्ध सूक्ष्मतत्त्वों ? के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म के साथ समन्वय, समतुलन। और इस कल्पना-समतुलन-से ही स्वयं अपनी कल्पना में ही, मनोराज्य में हीं-"वाह-क्या बात है, कैसा अद्भुत समन्वय है, सूक्ष्मतत्त्वों के साथ अध्यात्म का कैसा मेल है-अहाहा-आनन्द आगया-तृप्त होगए" इसप्रकार की काल्पनिक-तुष्टि-तृप्ति का सर्जन करते रहने वाले आचारधर्म्मशून्य दार्शनिकोंने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदात्मक) 'वेदशास्त्र' के द्वारा संसिद्ध, 'स्मृतिशास्त्र' के द्वारा आदिष्ट, एवं 'पुराणशास्त्र' के द्वारा उपबृंहित उस सम्पूर्ण आधिदैविक-आचारधर्म्म को विलुप्त ही कर दिया, जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्राकृतिक आचारधर्म्म से ही मानव को सत्तासिद्धा तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-समृद्धि-मिला करती थी आचारप्रधान आज से तीन सहस्रवर्षों से पूर्व के आर्षयुगों में।

१६५-श्रौत-स्मार्त्त-आधिदैविक-आचारधर्म्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक-आत्म-विमुग्ध केवल अध्यात्मकल्पनारत प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्यं-शून्यं-लक्षण इतिवृत्त—

श्रौत-स्मार्त्त-संस्कार-वर्णाश्रमाचार-आश्रमजीवनपद्धति-देवपूजन-श्राद्धकर्म-उपासना-ब्रह्मद्रवी (गङ्गा) में कायविशोधन-व्रतोपवास-आदि-आदि समस्त आधिदैविक आचार समझ में ही नहीं आए इस तत्त्वमीमांसक की भातिसिद्धा प्रज्ञा के। आधिदैविक सर्ग के आधार पर उसी के प्रकाश से महिमारूप से अभिव्यक्त न तो भूतसौन्दर्य्य ही उसने समझा, एवं न भूतमाध्यमानुगत आधिदैविक आचार ही इसकी समझ में आए। समझ में आया, तो यह आया कि, कुछ भी समझ में न आया। दार्शनिक, अर्थात् जिसका लोक-समाज-परिवार-राष्ट्र-निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल बातों के कुलाबे मिलाकर स्वयं भी दिग्भ्रान्त बने रहना, और दूसरों को भी दिग्भ्रान्त करते रहना ही इसका परम, और एकमात्र पुरुषार्थ, तदुपरि आचारनिष्ठाओं का, तथा आचारनिष्ठ आस्तिक जनों का उपहास, उपेक्षा। तत्समतुलन में अपने कल्पनाभार से ही अपने आपको

सर्वश्रेष्ठ–चिन्तक–समन्वयकर्त्ता–मानने की भ्रान्ति, मनवाने की भावुकता । वाणीमात्र का उत्पीडन, प्रचार-मात्र का व्यामोहन, और इत्थंभूता कल्पित–अध्यात्म–समन्वयमूला–काल्पनिक–दार्शनिकता में ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहते हुए, आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अन्ततोगत्वा निर्लक्ष्य–निरुद्देश्य-रूपेणैव यामीयातनाओं के आतिथ्य के लिए एक दिन **'कीनाशनिकेतन' (यमराजसदन)** का अतिथि बन जाना ही तत्त्वमीमांसक–आचारवञ्चित–चिन्तक–अध्यात्मवादी–सूक्ष्मतत्त्ववादी–लोक–आत्म–विमुग्ध, अत-एव शून्य–शून्य एक दार्शनिक–शिरोमणि का समस्त जीवनेतिवृत्त माना जायगा ।

१६६–श्रद्धा-आस्था-परायण भारतीय सांस्कृतिक-आर्ष मानव की आचारधर्म्मनिष्ठा, एवं तदनुगता सम्प्रश्नात्मिका इसकी जिज्ञासा का समन्वय—

ठीक इसके विपरीत एक धर्म्मिष्ठ आर्ष मानव सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासाओं के माध्यम से अवक्रचेतसा जानने की इच्छामात्र रखता हुआ (विचने) सम्पूर्ण विश्व को, विश्व पदार्थों को, विश्वप्राणियों को उसी अनन्त परमदेवरूप आधिदैविक की महिमा मानता हुआ इस आधिदैविक सर्ग के आधार पर व्यवस्थित श्रौत–स्मार्त्त–आचारधर्म्मों का अनुगमन ही करता रहेगा यथाकाल, यथा सुविधा । और यही इस की जिज्ञा-सानुगता तत्त्वमीमांसा का एकमात्र फल माना जायगा । यदि आचार की उपेक्षा है, तो व्यर्थ है यह सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसन । समझना, समझा देना, घोषणा–प्रचार–करते रहना–कदापि धर्म्म नहीं है । यह तो कोरी दार्शनिकता है, जो आचार को अभिभूत ही कर दिया करती है । करना–कराना–करते रहना ही–यहाँ 'धर्म्म' की एकमात्र परिभाषा है । और इसी परिभाषा के माध्यम से वह महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है एक आचारनिष्ठ–आचारश्रद्ध–मानव के अन्तराल में कि, तथोपवर्णित काल–दिक्–देश–स्वरूप–बोध से मानव करेगा क्या ? ।

१६७–श्रद्धालु की जिज्ञासा का आचारशून्य-तत्त्वमीमांसा-मात्रपरायण बुद्धिमान् मानव के द्वारा स्वरूप–विमोहन, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

क्या इस तत्त्वमीमांसन का यह अर्थ है कि, मानव सम्पूर्ण विश्व को उसका महिमामय विवर्त्त मान-कर कुछ भी न करे ? । यही नहीं, यदि कुछ करता हो, तो वह भी छोड़ बैठे ? । ऐसा ही तो हुआ है-दार्शनिकों के अनुग्रह से विगत शताब्दियों में ही नहीं, अपितु तीन सहस्र वर्षों में । क्योंकि आधिदैविक सर्ग का महिमात्मक स्वरूप ही समन्वित नहीं होसका उन दार्शनिकप्रश्नों से । ज्ञानविज्ञानात्मक प्राजापत्य सृष्टिसर्गात्मक आधिदैविक सर्ग का स्वरूप ही नहीं समझा उन जगन्मिथ्यात्ववादी–अध्यासवादी–स्थूलदृष्टान्तवादी–कल्पितदिग्देशकाल-वादी–दार्शनिकोंनें । सृष्टिसर्गव्याख्याओं से असंस्पृष्ट, अतएव काल्पनिक उनके तत्त्वमीमांसनने तो उन्हें प्रकृत्या क्रियमाण आचारों से भी विमुख कर दिया । और उनकी गतानुगतिकता का कुफल भोगने वाली भावुक भारतीय जनताने भी इसी तत्त्वमीमांसन के व्यामोहन में आकर सम्पूर्ण आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि ही समर्पित करदी, इति नु अब्रह्मण्यम् ! । अब्रह्मण्यम् ! ! महती विडम्बना !!!

१६८–आचारात्मक मानवधर्म्म का शास्त्रीय–स्वरूप–समन्वय—

आत्मानुशीलनपूर्वक आचरधर्म्मों का यथाविधि–यथाशास्त्र अनुगमन ही मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस्–का कारण माना गया है, जिस इस मानवकर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा का–'मानवकर्त्तव्य–

मीमासा' नाम से पूर्व के द्वितीय खण्ड में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत में तो कालादि-दृष्ट्या केवल एक औपामनिक-आचार की ओर ही आचारधर्मजिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है। बिना आधिदैविक विवर्त्त को लक्ष्य बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कदापि आचार-परायण नहीं बन सकता। देवभावना ही इष्टभावना है। एवं इष्टभावना ही आचारधर्मानुगति-आचारधर्मप्रवृत्ति का एकमात्र अवलम्ब है, जिस इष्टदेवभावना का मूल विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही मानी गई है। जिसकी आधि-दैविक-देवभाव में श्रद्धापूर्वक आस्था है, निष्ठा है, वैसा देवभावापन्न मानव ही * आधिदैविक प्राणानुगत आचारधर्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है। इसी आधार पर राजपत्तन में यह लोक-सूक्ति प्रसिद्ध है कि-'इष्ट बिना सब भ्रष्ट'। मानव के कर्त्तव्यकर्मात्मक आचारधर्म का मूलाधारभूत आधिदैविक इष्ट कौन ?। जो इष्ट होगा, वही इस आचारकर्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा, एवं उसे ही धर्म का धर्मत्व, किंवा परमधर्म (अक्षरधर्म) कहा जायगा, एवं उसीका पारिभाषिक नाम होगा वह 'मानवधर्म', जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आज अनेक काल्पनिक व्याख्याएँ प्रादुर्भूत होपड़ी हैं। केवल वाग्विजृम्भणरूपा उन व्याख्याओं का कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टात्मक स्वरूपधर्मात्मक-मूलधर्म से। क्या परिभाषा है आचारधर्माधारभूत मानवधर्म की ?। श्रूयताम्!

> स्वाध्याय ब्रह्मचर्य्यं च-दानं यजनमेव च।
> अकार्पण्यं-अनायासं-दया ऽहिंसा-क्षमादयः॥
> जितेन्द्रियत्वं-शौचञ्च-माङ्गल्यम्-"भक्तिरुच्यते-
> शङ्करे-भास्करे-देव्यां"-धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥
>
> —वामनपुराणे ११ अध्याये —

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वस्त्ययनात्मक माङ्गल्य पर्य्यन्त के आचारात्मक कर्त्तव्य ही आचारधर्म हैं, एवं इनकी मूलप्रतिष्ठारूप-शङ्कर, भास्कर, देवी, इन तीनों देव-भावों की इष्टतालक्षणा उपासना ही इस आचारधर्मात्मक मानवधर्म की मूलप्रतिष्ठा है। शङ्कर-भास्कर-देवी-तीनो में से जबतक किसी एक को इष्ट नहीं मान लिया जाता, कदापि तबतक मानव की मानवता अभिव्यक्त नहीं हो सकती। एवं इस अभिव्यक्ति के बिना मानव के कल्पित आचार कदापि 'मानवधर्म' की सीमा में नहीं आसक्ते, जो इत्थंभूत तथ्य उसी प्रकार आज के अनात्मवादी-शून्यवादी, अतएव अनिष्टवादी-प्राकृत मानव की समझ में आ ही

---

*-यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे, तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
—श्वे० उप० ६।२३।

—'संस्कृति-सभ्यता-शब्देतिहास' नामक (सहस्रपृष्ठात्मक) स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से इन धर्मप्रसङ्गों का दिग्दर्शन हुआ है।

नहीं सकता, जैसे कि इस इष्टत्रयी से अनुप्राणित कालमहिमाविवर्त्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक इष्टात्मक इस आधिदैविकी तथ्यत्रयी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१९९–शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म्म—

सचमुच अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए–(जो आचार्य्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी परोक्ष–उपास्य–पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक–आधिदैविक कालविवर्त्तों में महिमारूप से व्याप्त अगणित देवदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनावें ?,-जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-लाभ करते हुए हम अपने आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए–'आस्थितः स हि धर्म्मात्मा' को सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अन्वर्थ प्रमाणित कर सकें। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने-'शङ्करे-भास्करे -देव्याम्' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न केवल मानव की उपासनाकाण्ड के ही, अपितु ज्ञानकाण्ड–तथा कर्म्मकाण्डों की प्रतिष्ठाभूमि भी यही त्रिदेवता–समष्टि है। क्या ये पृथक् पृथक् तीन देवता हैं ?। नही, ये तो एक ही देवता के तीन महिमा–विवर्त्त हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्म्मानुगता व्याप्ति का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविभूति में अन्तर्भूत है।

२००–देवत्रयी का मूलाधिष्ठातृरूप 'महोदेव', देववाण्यनुगत 'महादेव', उसके विस्मजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है–'महोदेव', जिसका देववाणी में रूप हो गया है–'महादेव'। 'चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः०' इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उस 'महोदेव' रूप देवादिदेव महादेव का तात्त्विक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में-'कालकालं-महाकालं कृपालुम्' रूपेण महता समारम्भेण यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवभक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगों में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव' तत्त्व था, जिसके आधार पर ही परमशैवता परम्परया अक्षुण्णा ही बनी रही है। महाकालात्मक इसी अमूर्त्त महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है, एवं इसीके मूर्त्त–व्यक्त–रूप का नाम है–'सूर्य्य'। यों महादेव ही महाकाल, सूर्य्य, शक्ति-इन तीन भावों में परिणत हो रहे हैं। और इस दिशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१–मूर्त्त-व्यक्त-प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने–'शङ्करे–भास्करे–देव्यां-भक्तिरुच्यते' रूप से वामनपुराण में त्रिमूर्त्ति महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है, उन्ही व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्य–ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवभक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है, जिस प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रसिद्धा सुप्रसिद्धा–'स्कम्भविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भूकेन्द्र से आरम्भ

कर भूकेन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त महतोमहीयान ब्रह्माग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि-मय जो कालाग्नि-पुञ्ज है, उसी का नाम है स्कम्भ, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है-'स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही अपने ब्रह्माग्निरूप से आधार है, यही अपने देवाग्निरूप से स्रष्टा है, एव यही अपने भूताग्निरूप से अव्यक्तों का व्यक्त लिङ्ग (परिचायक) है। यही-लिङ्गात्मक ज्योति पुञ्ज उपासना का माध्यम, किंवा स्वय उपास्य है। यही लिङ्गप्रतीकात्मक महादेव है, जो अपने भूताग्निरूप से देव-ब्रह्म रूपों का लिङ्ग बना हुआ है। लिङ्गाङ्का प्रजा ही शिवतत्त्व है, महाकालतत्त्व है। एव भगाङ्का प्रजा ही शक्तितत्त्व है, महाकालीतत्त्व है। यों शिवशक्तिरूपेण सर्वत्र यही व्याप्त हो रहा है। भला इसके अतिरिक्त-शिवशक्तिरूप मानव-मानवी के और कौन उपास्य होंगे ?। लक्ष्य बनाइए महाभारत के इन तात्त्विक वचनों को, जिनके द्वारा शिव-शक्त्युपासना का निस्पष्ट शब्दों में उद्घोष हो रहा है—

न पद्माङ्का, न चक्राङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजाः।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः॥
—म० अनुशासन पर्व १४ अ० २३३ श्लोक

देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो—
लिङ्गेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नाङ्कितं—
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्मतिः॥
पुल्लिङ्गं सर्वमीशानं, स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्॥
—म० अनु० पर्व १४ अ० २३४-२३५-वें श्लोक

२०२-सोमगर्भित-कालाग्निरूप-महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आचारधर्म्मसंस्थापक मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम—

अवतारपुरुष स्वय भगवान् राम के द्वारा 'रामेश्वर' रूपेण इसी महादेवतत्त्व की उपासना हुई है। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण अक्षय-ऐश्वर्य्य शङ्करप्रसाद से ही अनुप्राणित माना गया है (देखिए म० अनु० १४ अ० ७ श्लोक)। तत्त्वनिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य तो शिवशक्तितत्त्व ही रहा है। मानवातिरिक्त अन्य असुर-राक्षस-गन्धर्वादि-चान्द्री प्रजाओंने भी इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिलाभ किया है। और यों तत्त्वरूपा मानव की उपास्यकोटि में शिवशक्ति से समन्वित आदिदेव महादेव ही प्रमुख बने हुए है, जिन की मूलोपनिषत् है 'सोमगर्भित-'कालाग्नि', जिसका कि अनन्तकालरूप से आरम्भ से ही यशोगान किया जारहा है।

२०३–नित्य शान्त अमूर्त्त–कालाग्निरूप अक्षोभ्यपुरुष, एवं नित्य–अशान्त–मूर्त्त–कालाग्निरूप क्षोभ्यपुरुष, तथा 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय–तस्थुः' इत्यादि उपनिषद्वचनों का समन्वय—

उक्त कालाग्नि की ही अक्षोभ्य–क्षोभ्य–रूप से दो अवस्थाएँ मानी हैं तत्त्वज्ञोंने । नित्यशान्त कालाग्नि अक्षोभ्य है, एवं नित्य अशान्त कालाग्नि क्षोभ्य है । अक्षोभ्य कालाग्नि ही 'अपीड़ितकाल' है, एवं क्षोभ्य कालाग्नि ही 'पीड़ितकाल' है। 'कालं कालेन पीड़यन्' का 'कालेन' अक्षोभ्यकाल हैं, एवं 'कालम्' क्षोभ्यकाल है । 'अग्नि' ही इन दोनों की उपनिषत् (मौलिक स्वरूप) है । इसी का सापेक्ष नाम है–'रुद्र', जिस का शान्त अक्षोभ्य–'काले' रूप विवर्त्त ही साम्बसदाशिव है, एवं जिस का अशान्त–क्षोभ्य–'कालम्' रूप विवर्त्त ही 'घोररुद्र' है । शिवशरीरी कालाग्निरूप ही शिव है, एवं घोरशरीरी कालाग्निरुद्र ही रुद्र है । वही परस्तात्–भाव से शिव है, एवं वही अवस्तात्–भाव से रुद्र है। 'अग्निर्वा रुद्रः-तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवाऽन्या च' । 'या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी०' इत्यदिरूप से रुद्र की इसी विभूति का यशोगान हुआ है । 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः'–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादि औपनिषद–सिद्धान्त भी इसी की महिमा का महत्त्व स्थापित कर रहे हैं ।

२०४–साम्बसदाशिव–पारमेष्ठ्य–आपोमय–शिवतत्त्व, और उस की आस्था–श्रद्धा–परायणा आर्षप्रजा के द्वारा 'श्रावणे' आचारात्मिका उपासना—

पूर्व में जिन कालविवर्त्तों का हमने तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया है, उन में से पहिले अनन्त–कालविवर्त्त से आरम्भ कर आपोमय परमेष्ठी–काल–पर्य्यन्त के पाँचों विवर्त्तों की समष्टि का नाम ही अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त–कालात्मक–अक्षोभ्यकाल है । यही साम्बसदाशिव पारमेष्ठ्य–आपोमय वह शिवतत्त्व है, जिस का उस श्रावणमास में प्रधानरूपेण आराधन कर धन्य बनाती रहती है आर्षप्रजा अपने मानवजीवन को, जिस श्रावणमास में मानव का प्राकृत सम्वत्सरचक्र–पारमेष्ठ्य शिवमण्डल में अन्तर्भुक्त होजाया करता है । अतएव आर्षमानव की आचारपद्धति में श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का प्रमुख काल मान लिया गया है, तत्रापि चान्द्रसोममय चार सोमवार (श्रावण के सोमवार–चन्द्रवार), इत्यहो ! आश्चर्य्यमयी भारतीय–मानवानां–महामहिमशालिनी–आचारपद्धतिः ।

२०५–रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता प्रचण्डकालाग्निमूर्त्ति भगवान् रुद्र, तदनुगत ब्रह्म–वीर्य्यात्मक–'सान्तपनभाव', तत्प्रतीकतिथि–कालरात्रिरूपा महाशिवरात्रि, एवं आर्षप्रजा के द्वारा 'फाल्गुने' आचारात्मिका तदुपासना—

अनन्तकालादि–परमेष्ठिकालान्त–कालविवर्त्तात्मक 'साम्बसदाशिव' नामक अक्षोभ्य-अनन्ताव्यक्तामूर्त्त-परमशिव का ही दूसरा व्यक्त-मूर्त्त-क्षोभ्य-विवर्त्त है 'सौरसम्वत्सरकाल', जिस की महिमा में सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-तीनों प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों लोकों का नाम (सौरत्रैलोक्य का नाम) ही 'रोदसीत्रिलोकी' है, जिस के अधिपति व्यक्तकालाग्निरूप सौररुद्र ही हैं, जो अपने सहज क्षोभ से सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य को क्षुब्ध–पीड़ित–

करते रहते हैं। रोदसी रुद्रपत्नी है। सौररुद्र स्वयं पीड़ित हैं उस अघोम्य शिव से, तो पीड़ित (सोऽरोदीत्-तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्) क्षुब्ध-ये घोम्य रुद्र भगवान् (सौरपुरुष) अपनी पत्नीरूपा रोदसीत्रिलोकी को भी अपने प्राणतपनात्-धर्म्म से पीड़ित करते रहते हैं। और इस पीडनधर्म्म से ही महादेव (महादेव)- 'मर्त्यां आविवेश', 'वृषभो रोरवीति'। व्यक्त-कालात्मक इसी नीललोहित रुद्र का नाम है घोरशरीरी-महादेव, जिन्हें महार का अधिष्ठता माना गया है शुद्धरूप से, एवं सरक्षण-पालन का अधिष्ठाता माना गया है इन्हीं के उस अव्यक्त-अमूर्त्त-साम्बसदाशिवरूप से। 'रुद्री-'रुद्र' आदि नाम से प्रसिद्ध पारायणानुगत उपास्यग्रन्थ (यजु संहिता के ही अमुक अध्याय) में उभयतो नमस्कार से इसी रुद्र की आराधना का यशोगान हुआ है। जिसप्रकार श्रावण में इन का साम्बसदाशिवरूप प्रधान रहता है, तथैव प्रचण्ड ग्रीष्म में इन्हीं का मौरभावानुगत रुद्ररूप प्रधान बना रहता है। यही इन का सान्तपनतेज है, जिसे ब्राह्मणवर्ण के जन्मानुगत ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा माना गया है। ग्रीष्मारम्भ में-फाल्गुन में ही इन रुद्रदेवता का उद्ग्राम (चढाव) आरम्भ हो जाता है, जिसकी प्रतीकभूता कालतिथि ही 'कालरात्रि' नाम से प्रसिद्ध है-आगमशास्त्र में। वास्तव में यह रुद्र अपने विशुद्ध-सोमविरहित-अग्निरूप से काल ही है, जिसे अपनी उपासना के माध्यम से यहाँ की तत्त्वनिष्ठा प्रजा आग्रहपूर्वक 'शिवरात्रि' रूप में परिणत कर देती है-जलाभिषेक के द्वारा। इसप्रकार 'महाकालरात्रि' इस प्रतीकोपासना के माध्यम से 'महाशिवरात्रि' रूप में परिणत हो जाती है, जिस परिणति के प्रकार भारतीय सनातनप्रजा में सर्वात्मना अभिव्यक्त हैं परम्परया। इसप्रकार श्रावण में अपने पारमेष्ठ्य अमूर्त्त-अघोम्य-शिवरूप से, तथा फाल्गुन में अपने घोर-मूर्त्त-घोम्य-रुद्ररूप से कालतत्त्व ही उपास्य बनता रहता है।

२०६-ब्रह्माग्निरूप-अघोम्यकालात्मक साम्बसदाशिव, एवं देवाग्निघोम्यकालात्मक घोररुद्र, तथा तदनुगत भूताग्नि का संस्मरण—

परमशिवात्मक अव्यक्त-अघोम्यकाल जहाँ ब्रह्माग्नि-प्रधान है, वहाँ अवमरुद्रात्मक व्यक्त-घोम्य-सौर-काल देवाग्नि-प्रधान है। और अब शेष रह जाता है भूताग्नि। इसी का नाम है 'पार्थिवशक्तितत्त्व'। चान्द्रकालानुगत पार्थिव भूताग्नितत्त्व ही 'मातृकाल' है, एवं इसकी अपेक्षा से द्युरूप सौर घोम्यकाल ही 'पितृकाल' है। पितृकालात्मक 'द्यु' काल, एवं मातृकालात्मक 'भू'-काल, इन द्यावापृथिव्यरूप पितृ-मातृ-युग्मों से ही चराचर विश्व व्याप्त है, जैसाकि पूर्व के ऐतिह्य वचन से स्पष्ट है।

२०७-पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक निगमशास्त्र, मातृकालात्मक पार्थिवकाल का निरूपक आगमशास्त्र, एवं निगमागममूलक पराविद्या-महाविद्या-विवर्त्त—

पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक शास्त्र ही निगमशास्त्र है, एवं मातृकालात्मक पार्थिवकाल-का निरूपक शास्त्र ही-आगमशास्त्र है। निगमशास्त्रानुगता शिवविद्या ही परमविद्या है, एवं आगमशास्त्रा-नुगता शक्तिविद्या ही महाविद्या है, जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित है।

२०८-शिवतत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन, एवं शिवपरिवार—

प्रकृत में तो इस सन्दर्भ से यही निवेदनीय है कि, अष्टावयव, किंवा नवावयव जिस कालविवर्त्त का पूर्व-कालिकाओं में दिग्दर्शन कराया गया है, वही कालतत्त्व शिव-सूर्य-शक्ति रूप से मानव का उपास्य बना हुआ

है प्रतीकात्मिका निदानविधि के माध्यम से। अनन्तकाल–अश्वत्थ–परोरजा-पुण्डीर–और परमेष्ठी, इन पांच कालविवर्त्तों की समन्वितावस्था का नाम ही साम्बसदाशिवरूप शिवतत्त्व है, यही 'शङ्कर' है, अपने अक्षोभ्यरूप से 'क्षेमकर' है, शान्तिकर है, जिसमें सम्पूर्ण प्राकृत विरोध उपशान्त हैं, जैसाकि प्रतीकात्मक शिवपरिवार से स्पष्ट है। महादेव दिगम्बर, जिन का वाहन वृषभ। महादेवी सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री–सर्वाभूषणा–लङ्करणोपेता, इनका वाहन वृषभविरोधी सिंह। कनिष्ठ पुत्र गणपति का वाहन मूषक, ज्येष्ठपुत्र स्वामि–कार्त्तिकेय का वाहन मूषकशत्रु मयूर। महादेव भूतनाथ के कण्ठ में हालाहल, तो मस्तक पर सुधामयी चन्द्र–कला। महामाया के अन्तःकरण में मोहनिवर्त्तक विद्यातत्त्व, तो हाथ में मोहप्रवर्त्तक मदिरापात्र। और इन परस्परात्यन्त-विरोधी तत्त्वों की विद्यमानता में भी इस महान् परिवार का 'शिवपरिवारत्त्व', इस से बड़ी आचार-शिक्षा भगवान शङ्कर और मातापार्वती की उपासना के अतिरिक्त अन्यत्र कहां उपलब्ध हो सकती है ?।

२०६–'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः' का तात्त्विक समन्वय—

इसी साम्बसदाशिव–अव्यक्त–काल का मूर्त्तरूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही रुद्र है, जिस की उपासना तो अपठित–सहज मानवों में भी परम्परया प्रक्रान्त ही है। उद्यन् सूर्य्यनारायण को श्रद्धापूर्वक दीपदान तो प्रसिद्ध ही है। साथ ही जलाभिषेक के द्वारा भी ये उपास्य बने हुए हैं, जिस से ये इन रुद्रदेव के शिवस्वरूपानुग्रह की कामना अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्रतीकभूता मूर्त्ति पर ही नहीं, मूर्त्ति की अनुपलब्धि में साक्षात् सूर्य्य के प्रति भी यह जलदान परम्परया विहित है सर्वसामान्य में। तीसरा शक्त्युपासन भी प्रसिद्ध ही है। भूत-कालात्मिका मातापृथिवी की उपासना ही शक्त्युपासना है, देवकालात्मक रुद्र की उपासना ही सूर्य्योपासना है, एवं ब्रह्मकालात्मिका शिवोपासना ही शङ्करोपासना है। शङ्कर ब्रह्माग्निकालात्मक–'काल' है, सूर्य्य देवाग्नि-कालात्मिका 'दिक्' है, एवं 'देवी' भूताग्निकालात्मक 'देश' है। यों शङ्कर–सूर्य्य–देवी का उपासक भारतीय मानव कालपुरुष के काल–दिक्–देश–भावों की उपासना करता हुआ तन्माध्यम से ही अपने आचारधर्म्म को व्यवस्थित करता है–'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः'। यही है काल–दिक्–देश–भावात्मक परमदेवात्मक काल के आचारानुगत दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक समन्वय–दिग्दर्शन, जिस की प्रतिष्ठा के बिना, जिस की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म्म सर्वथा धर्म्माभासात्मक अधर्म्म ही बना रह जाता है।

१–अनन्तकालतः–परमेष्ठिकालपर्य्यन्त–ब्रह्माग्निकालः (शङ्करः)–कालः (अमूर्त्तकालः)
२–सूर्य्यकालः –देवाग्निकालः (भास्करः)-दिक् (मूर्त्तकालः)
३–चन्द्रानुगतः–पार्थिवकालः –भूताग्निकालः (देवी)—देशः (मूर्त्तिकालः)

—— * ——

२१०–प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्यात्मक निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रसङ्ग उपक्रान्त हुआ था पूर्व में उस 'आनन्त्य' का, जिसके सविशेषानन्त्य, निर्विशेषानन्त्य–नामक दो विवर्त्त प्रतिज्ञात बने थे। इन्हीं दोनों को तत्र क्रमशः प्राकृतिकानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्य–इन

अभिवार्ता से व्यवहृत किया गया था, एवं इन्हीं दोनों आनन्त्यों के आधार पर मानव के पौरुष-प्राकृत-भावों का प्रतीकविधया समन्वय-उपक्रान्त बना था। वहाँ से आरम्भ कर (४६१ वें पृष्ठ से आरम्भ कर) उक्त उपाम्य-परिलेख पर्य्यन्त (४६५ वें पृष्टपर्य्यन्त) अनेक दृष्टिकोणों से सविशेषानन्त्यरूप प्राकृतिकानन्त्य (विश्वानन्त्य) के समन्वय का ही प्रयास-प्रक्रान्त रहा काल-दिक्-देश-के विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से, जो सविशेषानन्त्य उपक्रान्त हुआ महामाया-वृत्तात्मक अनन्तकाल से, एवं उपसंहृत हुआ योगमायावृत्तात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल पर, जिसे कि लोकभाषा में-'वर्ष' कहा गया है।

२११-'आदि' सामात्मक अनन्तकाल के समग्र स्वरूप का अभिव्यञ्जक 'निधन' सामात्मक सम्वत्सररूप वर्षकाल—

अनन्तकाल जहाँ सृष्टि का उपक्रमबिन्दु है, वहाँ वर्षात्मक सम्वत्सरकाल सृष्टि का उपसंहारबिन्दु है, निधनबिन्दु है। अनन्तकाल **आदिसाम** है, सम्वत्सरकाल **निधनसाम** है। आदिसामात्मक अनन्तकाल अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है निधनसामात्मक एक वर्षकाल के माध्यम से। अतएव इस चान्द्र-सम्वत्सरकालात्मक 'निधनसाम' रूप एवं 'वर्षकाल' को उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है। इस प्रतीकता के कारण ही यह वर्षकालात्मक सम्वत्सरकाल 'सम्वत्सरो वै प्रजापतिः' इत्यादिरूपेण 'प्रजापति' (अक्षरकाल) नाम से सम्मानित हो गया है। जैसा, जो कुछ सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल है ठीक वैसा ही, वही सबकुछ यह एक 'सम्वत्सरकाल' है।

२१२-सम्वत्सरकाल का प्रतिमानरूप प्राकृत मानव, एवं मानव के प्राकृत-आनन्त्य का दिग्दर्शन—

यह 'सम्वत्सर' उस का सर्वात्मना प्रतिमान है, और इस सम्वत्सर का प्रतिमान है सविशेषभावात्मक **'प्राकृतमानव'**। अतएव जैसे प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक बना हुआ है, तथैव इस सम्वत्सरकाल के प्रतिमाभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का वैसा ही प्रतीक माना जायगा, जिस इस कालप्रतीकभूत-सम्वत्सरकालप्रतिमारूप-प्राकृत मानव के द्वारा भी सम्वत्सरकालवत् उस अनन्तकाल का समग्र स्वरूप सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है, और यही प्राकृत मानव का प्राकृतिकानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य है, जिसे कालानन्त्य कहा गया है। अनन्त है वह मूलकाल, अनन्त है उसका प्रतीकभूत एक सम्वत्सरकाल, और अनन्त है इस सम्वत्सरकाल का प्रतिमारूप, तथा उस अनन्तकाल का प्रतीकरूप प्राकृत मानव।

२१३-अंशात्मक सविशेषानन्त्य से अंशीरूप सविशेषानन्त्य का समन्वय—

तदित्थ-कालप्रतीकरूप से प्राकृत मानव भी सम्वत्सरकालवत् अनन्तकाल का पूर्ण प्रतीक बन रहा है। जिसप्रकार एक सम्वत्सरकाल से अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत हो जाता है, तथैव एक *प्राकृत मानव* के प्राकृत स्वरूप में भी उस अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत बन रहा है। सचमुच वह अनन्तकाल अपने अथ से इति पर्य्यन्त के स्वरूप को अपने एकांशभूत प्राकृत मानव के रूप में सर्वात्मना *अभिव्यक्त कर रहा* है। जैसा जो कुछ वह है, वैसा वही सबकुछ यह है। इस एकांशरूप एक सविशेष के परिज्ञान से वह अंशीरूप सविशेषानन्त्य परिज्ञात है, विज्ञात है।

२१४-सम्वत्सर, और प्राकृत मानव का समतुलन, एवं तदनुबन्धी श्रौतसन्दर्भ—

तात्पर्य्य यह हुआ कि, इस भौतिक–व्यक्त–मूर्त्त–जगत् में उस अनन्तकाल के दो ही प्रमुख प्रतीक हैं, एक तो वर्षात्मक सम्वत्सर, एवं एक सम्वत्सर से अभिव्यक्त होने वाला प्राकृत मानव। सम्वत्सर, और मानव के अतिरिक्त अन्य सभी प्राण, और प्राणी अनन्तकाल के सर्वात्मना प्रतीक नहीं बनसकते। क्योंकि सम्वत्सर, तथा प्राकृत मानव के अतिरिक्त अन्य प्राण–प्राणी केवल कालप्रवर्ग्य पर ही व्यवस्थित हैं। इन का समस्त इतिवृत्त सम्वत्सरकाल की सीमा में हीं समाप्त होजाता है, जबकि सम्वत्सर, और तत्समतुलित प्राकृत मानव अत्रैव उपरत न होकर अपने प्रक्रम–अभिक्रमात्मक–व्यूहनों से अनन्तकाल में ही विश्राम ग्रहण करते हैं। अनन्तकाल का प्रथम विवर्त्त वह अनन्ताश्वत्थकाल हैं, जिसे 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है, जो सहस्रवल्शात्मक है। सचमुच एक सम्वत्सर अनन्तकालात्मक उस षोडशीप्रजापति-सहस्रवल्शेश्वर–मायी महेश्वर के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तभी तो इसे उसका प्रतीक मान लिया गया है। तभी तो इस सम्वत्सर के प्रजापति--षोडशकल–षोडशी–सहस्र–इत्यादि नाम प्रसिद्ध होगए हैं, जो कि वस्तुतः उस अनन्त-कालात्मक अश्वत्थ प्रजापति के ही नाम हैं *। जब कि प्राकृत मानव इस सम्वत्सर की पूर्ण प्रतिमा है, सर्वात्मना समतुलित है जब कि सम्वत्सर, और प्राकृत मानव, तो अवश्य ही इसे भी उस अनन्तकाल का सम्वत्सरवत् पूर्ण तीक माना जासकता है, माना गया है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)–पुरुषो वाव सम्वत्सरः। सप्त वै शतानि विंशतिश्च सम्वत्सरस्य-अहानि-च-रात्रयश्च। एतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्च इत्यत्र तत्सम्।

—गो० पू० ५।५।

(२)–षोडशकलो वै पुरुषः (प्राकृतमानवः)। (शत० ११।१।३।२६।)।

(३)–पुरुषो वै सहस्रस्य (सम्वत्सरस्य) प्रतिमा। (शत० ७।५।२।१७।)।

(४)–यद्वेव चतुरक्षरः सम्वत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः। तेनो हैवास्यैष प्रतिमा।

(शत० ११।१।६।१३।)।

२१५–व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट मानव के द्वारा कालानन्त्य–दर्शन का उपक्रम—

एक वर्षात्मक सम्वत्सरकाल से मानव काल के प्राकृतिक–आनन्त्य का अनुमानमात्र कर अपनी उस मान्यता का दम्भ क्षणमात्र में विसर्जित कर सकता है, जिस मान्यता के आधार पर इसने काल को सादि–सान्त मान लिया है। एवं जिस सादि–सान्तता ने ही इसे पशुवत् तात्कालिक–स्वार्थ–व्यामोहनों में आसक्त–व्यासक्त बना दिया है। कदापि वर्त्तमानात्मक वर्षकाल पर ही इसके प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान नहीं है, जिसे यह अपनी बुद्धिगम्या स्थूलतमा भाषा में 'वर्त्तमानकाल' कहा करता है। वर्त्तमान ही

---

*-(१)–**एष वै सम्वत्सर एव प्रजापतिः** (शत० १।६।३।३५)।

(२)–**स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः।** (शत० १४।४।३।२२।)।

(३)–**सम्वत्सरो वै समस्तः सहस्रवान्।** (ऐत० ब्रा० २।४१।)।

मानव की विश्रामभूमि नहीं है। अपितु वह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस ओर 'भूत' है, एव उस ओर 'भविष्यत्' है। भूत, और भविष्यद्-रूपा कालानन्तता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहजाता। फिर तो भूतसस्कारों से असस्पृष्ट, एव भविष्यत् के परिमाणों से असस्पृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है। वर्त्तमानकालता जहाँ प्राकृत पशु का जीवनाधार है, वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है, सस्कारी है, जबकि मानवेतर प्राणी सस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित हैं। भूत-भविष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है, जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके। किन्तु उस की सहज सत्ता पर तो अपने इस मान्य सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही। जब यह देखेगा कि—

२१६–अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारेण कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"वही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से, धारावाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाङ्क परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में", तो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी। और इसका कालगणनात्मक, तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक, एव गगनकाल-दिक्देशात्मक-प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वत ही उपशान्त होजायगा। इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा सविशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी। एव वर्त्तमानकालानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक। कभी सादि-सान्त-काल इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेंगे। कभी तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। और या इस सविशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा मर्य्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुबन्धों के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के वारुणपाशबन्धन से असस्पृष्टा ही प्रमाणित होती रहेगी। कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन, व्यवधान इसे कर्त्तव्यनिष्ठा से, आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है, और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' सिद्धान्त जागरूक बनता है, इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य-सविशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता।

२१७–निःसीमभावापन्न, अत्यन्तपिनद्ध-निर्विशेषानन्त्यलक्षण-अनन्तब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त प्रतिज्ञात उस निर्विशेषान्त्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीजिए, जो बिना 'निःसीम-अनुग्रह' के लक्ष्यारूढ बन ही नहीं सकता। क्योंकि वह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से, तदनुगता वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

सम्बन्ध रखने वाली सविशेषानन्तता तो प्राकृत मानव फिर भी यथाकथंचित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषान्त्य का समन्वयबोध तो अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य बना रहता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा का उद्देश्य कदापि कालानन्त्यलक्षण सविशेषानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषान्त्य ही है, जिसके अनुबन्ध से ही कालानन्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८–कालातीत मानव के वास्तविक-स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त-ब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष-निष्कल–अनन्त परात्पराव्ययब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश में महिमारूपेण गर्भित है, उस आनन्त्य का ही नाम 'निर्विशेषान्त्य' है, और वही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव ने सम्वत्सरकाल को प्रतीक मान लिया। एवं तत्परिभ्रमण–चक्रानन्त्य से इसने अनन्तकालात्मक सविशेषानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी अवक्रा–ऋजुबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष–अनन्तब्रह्म के एकाश में अनन्तकाल अवस्थित है, उसका प्रतीक कौन ?, किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषानन्त्य का संस्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय ?, यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी, और अपने सहज प्राकृतिक अभ्यास के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो दिए कि, "**यदि-समस्त ब्रह्माण्ड में उस अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकात्मक दृष्टान्त बन सकता है तो, वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर वर्षात्मक-चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविवर्त्त बुदबुद्वत् प्रतिष्ठित हैं**"। इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का, तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अथर्ववेद के अष्टम–नवम-सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिनका अक्षरार्थमात्र–समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया ही जा चुका है।

२१९–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्वेद—

कालसूक्तानुगता प्राकृता–प्राकृतानन्त्यानुगता–सविशेषानन्त्यात्मिका–सहज–ऋजुबुद्धि से अब हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम–द्वारा उस निर्विशेषानन्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विशिष्ट अन्य कोई दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावत् ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंनें सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है, तो उपनिषदोंनें अनन्ताक्षरकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

यही ब्राह्मणों, तथा उपनिषदों म महान् विभेद है। ब्राह्मणग्रन्थ आधिदैविक–विज्ञान को माध्यम बना रहे हैं, एव उपनिषत् आधिदैविक-ज्ञान को माध्यम बना रहे है। हैं दोनों हीं कालात्मक विवर्त। आधिदैविक-विज्ञान की प्रतिष्ठाभूमि क्षरकालानुगत अक्षरकालमूर्ति सम्वत्सरकाल है, यही ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य लक्षण है, जबकि ये ही उपसंहार में (शतपथ १४ वें-काण्ड मे) औपनिषद अक्षरकालात्मक ज्ञानप्रधान अनन्तकालब्रह्म को भी प्रतीकरूपेण लक्ष्य बना रहे हैं। एवमेव आधिदैविक-ज्ञानकी प्रतिष्ठाभूमि स्वानुगत अक्षरप्रधान अनन्तकाल है, यही उपनिषद्ग्रन्थों का मुख्यलक्ष्य है, जबकि-'यावतीर्वा यथा वा'-'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूपेण यत्रतत्र संक्षेप से, और विस्तार से क्षरकालात्मक–विज्ञानप्रधान सम्वत्सरकाल का भी उपनिषदों म स्वरूपोपबृंहण हुआ है। सर्वथा मन्त्र–ब्राह्मण-आरण्यक–उपनिषत्–रूप वेदशास्त्र ने यही क्षरकालरूप से (सम्वत्सरकालरूप से), तो यही अक्षरकालरूप से प्राकृतिक–कालात्मक–ज्ञान–विज्ञान-भावों के माध्यम से ही अनन्तविभूति के समन्वय का तटस्थ प्रयास किया है। और यों काल-प्रतीकता के माध्यम से ही निर्विशेषानन्त्य समन्वित हुआ है वेदशास्त्र मे। निम्नलिखित औपनिषद्वचन अक्षर–प्रधान अनन्तकाल की, तथा क्षरप्रधान सम्वत्सरकाल की दृष्टान्तानुगता इसी प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं—

१–तमेकनेमिं त्रिवृत पोडशान्तं शतार्द्धारं विंशति–प्रत्यराभिः।
अष्टकैः–षड्भि-र्विश्वरूपैकपाश त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

२–पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्धयादिमूलाम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

३–संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरञ्च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

४–क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

—श्वे० उप० १ अ०।४,५, ८, १० मन्त्र

२२०–अनन्तकालात्मक प्रतीक के माध्यम से कालातीत अनन्तब्रह्म का सम्भावित–मस्मरण—

जिसप्रकार अपने ३६० अहोरात्रपर्वों से सम्वत्सरकाल अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है, तथैव अपने इस सम्वत्सरकालात्मक वर्षकाल से वह अंशीरूप अनन्तकाल अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तथैव च यह अनन्तकाल अपने इस अनन्तकालरूप से उस अंशीरूप अनन्त निर्विशेष-ब्रह्म का स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है 'आनन्त्य' दृष्टिकोण से। दूसरे शब्दों में–जिसप्रकार अनन्तकाल के एकांशरूप में स्थित भी सम्वत्सरकाल अपने अंशीरूप अनन्तकाल के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, तथैव उस निर्विशेषानन्तब्रह्म के एकांश में स्थित भी अनन्तकाल अपने आधाररूप अनन्तब्रह्म के समग्र स्वरूप को–"अभिव्यक्त कर दे सकता है आनन्त्य-दृष्टिकोण से"।

२२१-संदिग्धा सम्भावना, 'समग्र-स्वरूप' के समग्रभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सन्दिहानवृत्ति की जागरूकता, एवं प्रकृतिविस्तारमात्रानुगता दिग्देशकालस्वरूप-मीमांसा—

'कर दे सकता है' का क्या तात्पर्य्य ? । क्या कर सकने में कुछ सन्देह है ? । जहाँतक 'अनन्त' शब्द का सम्बन्ध है, वहाँतक तो 'करदे सकना' यथार्थ है । आनन्त्य-दृष्टिकोण से तो अवश्य ही उसकी अनन्तता इस अनन्तकाल से अभिव्यक्त मानी जासकती है, मानली गई है-संहितावेदानुगत कालसूक्तों के द्वारा, ब्राह्मणवेदानुगता सम्वत्सरविद्याओं के द्वारा, एवं उपनिषदनुगता त्तराक्षरविद्याओं के द्वारा । किन्तु इस अभिव्यक्ति का 'समग्र' शब्द इस अनन्तकालप्रतीकता में संदिग्ध ही माना जायगा । 'अनन्त स्वरूप को अनन्तकाल अभिव्यक्त कर रहा है', किन्तु अनन्त के 'समग्र' स्वरूप को अनन्तकाल उसप्रकार से कदापि अभिव्यक्त कर ही नहीं सकता, जैसेकि अनन्तकाल का प्रतीकभूत-प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल, किंवा सम्वत्सरप्रतिमानरूप प्राकृतमानव कालात्मक साम्वत्सरिक मानव) अनन्तकाल के समग्र अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है, कर रहा है' । और यो अनन्तकाल उस निर्विशेष के अनन्तमात्रको अपनी अनन्तता से अभिव्यक्त करता हुआ भी उसकी समग्र-अनन्तता का तो संस्पर्श भी नहीं कर पारहा । एवं यही, इसी 'समग्र' शब्द के माध्यम से, तत्पर्य्यायरूप 'परिपूर्ण' शब्द के माध्यम से आज मानव को उस गुह्य-ब्रह्म (गुप्ततम-रहस्य) के साथ अपनी प्रज्ञा का सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना है, जिस सहज गुह्य-सम्बन्ध की ओर मानव प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमें प्रकृतिविस्तारात्मिका दिग्देशकालमीमांसा का आश्रय लेना पड़ रहा है ।

२२२-कृत्स्न, और सर्व-शब्दों का पारिभाषिक तत्त्वार्थ-समन्वय, तदनुबन्धिनी पूर्णता, एवं परिपूर्णता के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूपान्वेषण—

'पूर्ण' का अर्थ है 'कृत्स्न', एवं परिपूर्ण का अर्थ है-'सर्व' * । एक की अशेषता ही 'कृत्स्नता' है, अनेकों की अशेषता ही 'सर्वता' है । आपकी दृष्टि के सम्मुख अगणित-असंख्य पदार्थ रक्खे हुए हैं । इन में से आपने किसी एक पदार्थ को अपने अङ्क में ले लिया । यही 'कृत्स्नग्रहण', किंवा 'पूर्णग्रहण' माना जायगा । क्योंकि आपने उस एक वस्तु को, पूरी वस्तु को उठा लिया । यदि आप पुरोऽवस्थित उन अगणित सब पदार्थों का ग्रहण कर लेते हैं, तो यही 'सर्वग्रहण',-किंवा 'परिपूर्णग्रहण' माना जायगा । क्योंकि आपने परितः-चारों ओर अवस्थित सब पूर्णों को उठा लिया । यही समग्रहण कहलाया है । लोक में 'कृत्स्न' के लिए 'पूरा' शब्द प्रसिद्ध है, एवं 'सर्व' के लिए 'सब' शब्द प्रसिद्ध है । एक की पूर्णता ही 'पूरापन' है, अनेकों की परिपूर्णता ही 'सबपना' है । और यों कृत्स्न, तथा सर्व शब्द सर्वथा विभिन्न अर्थों के ही वाचक बन रहे हैं । इसीलिए तो-"सम्वत्सर एव सर्वः-कृत्स्नः-समस्क्रियत" (शत० १०।४।२।२।२६) इत्यादि रूप से श्रुति में सर्व, और कृत्स्न, दो पृथक् पृथक् शब्द उद्धृत हुए हैं ।

---

*-'एकस्याशेषत्वं--कात्स्न्र्यम्', अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्'-इति हि परिभाषा ।

२२३-अनन्तकालात्मिका घराक्षरप्रकृति की पूर्णतारूपा कृत्स्नता, तदनुगता सम्वत्सर-कालात्मिका अंशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं सम्वत्सरकाल की असमग्रा-अनन्तता का दिग्दर्शन—

अनन्तकालात्मिका अक्षरप्रकृति, एव सम्वत्सरकालात्मिका क्षरप्रकृति अपने अपने एक एक अश म अवश्य ही पूर्ण है, कृत्स्न है। किन्तु कदापि इन प्राकृत कालविवर्त्तों को 'सर्व' शब्द का सम्मान नहीं मिल सकता। क्योंकि एक अनन्तकाल के गर्भ में 'कृत्स्न' रूप अनेक सम्वत्सरकाल प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन अशभूत वर्षात्मक अनेक सम्वत्सरकालों की अपेक्षा से तो अनन्तकालप्रकृति 'सर्व' अवश्य ही मानी है, किन्तु स्वय एक एक सम्वत्सर उस अनन्तकालप्रकृति की दृष्टि से-'सर्व' नहीं कहला सकते। पूर्ण है सम्वत्सर, किन्तु परिपूर्ण नहीं। कृत्स्न है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु सर्व नहीं। अनन्त है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु समग्रानन्त नहीं।

२२४-सम्पूर्ण सम्वत्सरकालों के अधिष्ठानात्मक अनन्तकाल की सम्वत्सरकालापेक्षया समग्रतारूपा अनन्तता, किन्तु कालातीत अनन्त ब्रह्मापेक्षया तदेकांशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं अनन्तकाल की असमग्रा-अनन्तता का दिग्दर्शन—

समग्रानन्त तो अनन्तकाल ही माना जायगा। ठीक यही स्थिति इस समग्रानन्तकालरूप महान्-सर्व-परिपूर्ण भी प्रकृतिकाल की है। एक एक मायावृत्त का ही नाम एक एक अनन्तकाल है। उस अनन्तब्रह्म-धरातल पर ऐसे ऐसे असंख्य-अगणित-मायावृत्तात्मक-अनन्तकाल (अक्षरप्रकृतियां) समुद्र-बुद्बुदवत् इतस्तत दन्द्रम्यमाण हैं। जिसप्रकार अनन्तकालात्मिका प्रकृति की दृष्टि से विकृतिरूप सभी सम्वत्सरकाल अभिन्न हैं, किन्तु परस्पर ये सम्वत्सरकाल एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं। तथैव मायावृत्तात्मक सभी अनन्त-कालविवर्त्त यद्यपि उस अनन्त-निर्विशेषब्रह्म-धरातल की अपेक्षा तो अभिन्न हैं। किन्तु ये परस्पर में तो एक दूसरे से (मायावृत्तभेदानुबन्ध से) सर्वथा पृथक् पृथक् ही हैं। जिसप्रकार प्रत्येक सम्वत्सर उस अनन्त को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करता हुआ भी इतर सम्वत्सरों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। तथैव प्रत्येक अनन्तकाल उस अनन्त के पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त करता हुआ भी स्व से भिन्न अन्य समस्त अनन्तकाल-वृत्तों को अभिव्यक्त करने में तो असमर्थ ही प्रमाणित है। अतएव अनन्तकाल को उस का 'कृत्स्न' प्रतीक ही माना जासकता है, सर्वात्मक प्रतीक नहीं। क्योंकि यह अनन्तकाल अपने एकांशरूप वैय्यक्तिक एकत्व से कृत्स्न ही प्रमाणित है। इन सब कृत्स्नों का परिपूर्णात्मक सर्वरूप तो स्वय वह अनन्तब्रह्म ही हो सकता है। अतएव कदापि अनन्तकाल को उसके समग्ररूप का अभिव्यञ्जक नहीं माना जासकता।

२२५-अनन्तब्रह्म की दृष्टान्तनिधिरूपा प्रतीकनिधि से बहिष्कृत अनन्तकाल, अनन्त-कालानुबन्धी सम्पूर्ण प्रयासों की तदानन्त्य के सम्बन्ध में आत्यन्तिक-व्यर्थता, एवं तत्सम्बन्ध में उद्बोधनात्मक श्रौत-सन्दर्भ—

अतएव च अनन्तकालात्मक अक्षरविवर्त्त भी तत्वतः न तो उसका दृष्टान्त ही बन सकता, नापि प्रतीक ही। सचमुच प्रकृति असमर्थ है उस अनन्त की सर्वरूपता का मापदण्ड करने में। तभी तो उसे

प्रकृति से 'पर' कहा गया है। लीजिए, जिस उद्बोधन के लिए काल को प्रतीकात्मक दृष्टान्त माना गया, जिस कालदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महतासमारम्भेण कालसूक्तों का उपबृंहण किया गया, जिस उपबृंहण को समन्वित करने के लिए सूक्तव्याख्या के पूर्व में, एवं उत्तर में प्राकृतिक-विज्ञानानुबन्धी दिग्देशकाल के अगणित-विवर्त्तों का ऊहापोह प्रक्रान्त रहा, वह सम्पूर्ण श्रम-परिश्रम कृत्स्न, और सर्व-शब्द के एक ही झटके से सर्वथा विगलित ही हो पड़ा, और अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः' के अनुसार हम अपनी उसी प्राकृतिक अवस्था, किंवा दुरवस्था में परिणत होगए। सोचा था, प्रकृति के महतोमहीयान् इस अनन्तकाल-विवर्त्त के माध्यम से तो हम बाजी मार ही लेंगे। चान्द्र सम्वत्सरकाल के समतुलन में हमारी प्राकृतबुद्धि क्रमशः पार्थिवकाल-सौरकाल-पारमेष्ठ्यकाल-पुण्डीरकाल-परोरजात्मक-परमाकाशकाल-अश्वत्थ-काल-रूप उत्तरोत्तर ज्यायान्-महान्-कालसोपानों को पार करती हुई अन्ततोगत्वा परमानन्तरूप-परमदेवरूप-अनन्ताक्षरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विश्राम ग्रहण करती हुई इस व्यक्तित्वविमोहन में अभिनिविष्ट ही होगई थी कि,-वह रहा अनन्तब्रह्म, पा लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उसे। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्या सत्तासिद्धकालानुगता अनन्ताक्षरकालात्मिका भी व्याख्याने अन्ततोगत्वा हमारी प्रवञ्चना कर ही तो डाली। और अन्ततोगत्वा हमें भी उस ऋषिवाक्य पर ही विश्राम कर ही तो लेना पड़ा, जिसका वाचिकरूप-'नेति नेतीति होवाच' से विश्वविश्रुत हो रहा है, एवं जिस विश्वविश्रुति के आधार पर ही उसी ऋषिप्रज्ञा से निम्न लिखित उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े हैं अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्त्तों के अन्वेषणानन्तर ही—

१—न तं विदाथ य इमा जजान-अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

—ऋक्सं० १०।८२।७।

२—न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

—ऋक्सं० १।१६४।३७।

३—यस्यामतं-तस्य मतं, मतं यस्य-न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥

४—सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह॥

—उपनिषत्

५—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥

—ऋक्सं० १।१६४।६।

६—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ।।

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।
—ऋक्सं० १०।१२९।६,७,।

२२६–परमाकाशात्मक अनन्त स्वायम्भुवकाल के लिए भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म, एवं–'योऽस्याध्यक्षः–परमे व्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' का तात्त्विक समन्वय—

लीजिए ! जिस विश्वाध्यक्ष–परमाकाशमूर्त्ति–परमाक्षरमूर्त्ति–अनन्तकाल को प्रतीक मान कर तद्द्वारा हम (मानव) जिस अनन्त को जानने वाले थे अपने महतोमहीयान् तत्त्वविजृम्भण के माध्यम से, ऋषि कहते हैं–"वे विश्वाध्यक्ष–परमाकाशरूप–अनन्तकालदेव भी उसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते, यह कुछ भी नहीं कहा जासकता" । अलमतिपल्लवितेन । जिसके माध्यम से जानना चाहते हैं, वे भी जब हम ज्ञानकोटि में सदिग्ध हैं, तो सबकुछ समाप्त हो गया । सचमुच अनन्तकाल भी अन्ततोगत्वा है तो 'काल' ही । 'प्रकृति' ही तो इस काल की स्वरूप–व्याख्या है । यह ठीक है कि, तत्समतुलन में सर्वथा नगण्य प्राकृत स्वरूप रखने वाली हमारी प्राकृतबुद्धि उसके लिए–"वह भी अपने लिए प्रकृतिभावानुबन्ध से स्व से अतीत–(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, सर्वरूपेण उस आनन्त्य की इयत्ता नहीं ही कर सकता" इस धृष्टतापूर्ण नग्नभाषा में अपना निश्चय प्रकट नहीं कर सकती । तदपि अवरुद्धा वाणी से बुद्धि परोक्षरूपेण यह तो कह ही डालती है कि–'जो इस सम्पूर्ण कालिक विश्व का अध्यक्ष है, परमाकाशरूप वह प्राकृत–अनन्तकाल भी जानता है उसे, अथवा नहीं जानता–यह कुछ भी कह देना कठिन है'–'योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने महतोमहीयान्–ज्ञानविज्ञानात्मक–प्राकृतिक–व्यामोहन को यों क्षणमात्र में विस्मृत कर देने वाली ऋजुभावापन्ना ऋषिप्रज्ञा ही तो उस असम्भव सा, अचिन्त्य भी, प्रकृतिभय पर भी अनन्तब्रह्म से यदि सायुज्य प्राप्त कर–लेती है इसी प्राकृतविमोहनपरित्याग–माध्यम से, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है । सचमुच–'सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद' इस सूत्र के द्वारा ही ऋषिप्रज्ञाने मानव की उस प्राकृतिक–दुरधिगम्या–महती समस्या का समाधान भी कर डाला, जिसके लिए वह कालचक्र के विविध–विवर्त्तों में इतस्ततः भटकता रहता है । क्या समाधान कर डाला ?, प्रश्न तो सदा से सप्रश्न ही बनता चला आरहा है, जिसका कदापि वाणी से समन्वय सम्भव ही नहीं है । इति नु पुनस्तत्रैवावलम्बितोऽयं वेताल –प्राकृतो मानव ।

२२७–अनन्तब्रह्म की प्रतीकता के समन्वय के लिए कालातीत 'ऋपिमानव' के प्रति आत्म-समर्पण, एवं तद्वञ्चित परदर्शनव्यासक्त–कालासक्त–भावुक–मानव की दिग्देश-कालनिबन्धना भ्रान्ति-परम्पराएँ—

अब तो प्राकृत मानव की इस वेतालवृत्ति के समन्वय की आधारभूमि वह लोकातीत मानव ही माना जायगा, जिसे प्रकृति की भाषा में–'कालातीत ऋषिमानव' कहा गया है। स्मरण रहे! अनेक खण्डात्मक प्रस्तुत बृहन्निबन्ध का सर्वात्मक नाम है–'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'। 'भावुकता' से ही इसने अपने प्राकृत–सत्यं, शिवं–सुन्दरं–रूप को (विश्वरूप को) धूलिधूसरित किया है, एवं इसी भावुकता से इसने अपने कालातीत अप्राकृत–अनन्त–गुह्य–स्वरूप से अपने आपको पराङ्मुख बनाया है। सर्वनाशकारिणी इस भावुकता का मौलिक स्वरूप है–'परदर्शन', एवं जिस शक्ति से इस का यह 'परदर्शन', एवं तन्मूला भावुकता पलायित होती है, उसी का नाम है–निष्ठा, जिसका मौलिक स्वरूप है–'स्वदर्शन'। दूसरों को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है, एवं दूसरों के माध्यम से अपने आप को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है, जिनका आधार सर्वत्र बाह्यतन्त्र ही बनता है। परिणाम इस परदर्शनमूला भावुकता का यही होता है कि, जैसा दूसरे समझते हैं, इसे वैसा ही समझ लेना पड़ता है। फलतः इसका अपना स्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है इस परदर्शनमूला–परप्रत्ययनेयभावानुगता भावुकता से, फिर वह 'पर' छोटा हो, अथवा तो बड़ा हो। परधर्म्म तो सदा ही भयावह ही बना रहता है–'परधर्म्मो भयावहः'। इस महान् यत्न से परित्राण प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है स्वदर्शनमूला वह निष्ठा, जिसके आश्रय से ही मानव स्वरूप-बोध प्राप्त किया करता है, जिसका कि–'उद्धरेदात्मना–आत्मानम्'–'नात्मानमवसादयेत्'–इत्यादि से समन्वय हुआ है। सम्वत्सरकाल हो, अथवा तो सोपानपरम्परानुगत अनन्तकाल। सभी 'परकाल' हैं, परभाव हैं, प्राकृतभाव हैं, बाह्यभाव हैं। इन परभावों की प्रतीकता–दृष्टान्त–विधि–के माध्यम से कालातीत अनन्त के अन्वेषण में प्रवृत्त होना तो 'भावुकता' ही मानी जायगी प्रकृतिव्यामुग्ध–परदर्शनातुर–नितान्त भावुक प्राकृत मानव की। ऐसे अनेक शब्द हैं प्राकृतिक–विश्व में, जिन के द्वारा मानव को अनन्तता की भ्रान्ति होसकती है, होती रही है, हो रही है, एवं होती ही रहेगी।

२२८–सम्पूर्ण उत्पातों-समस्याओं का जनक भावुकतापूर्ण 'अनन्त' शब्द, एवं निषेध-भाव से समन्वित सापेक्ष अनन्तशब्द की शिथिलता—

उदाहरण के लिए–'अनन्त' शब्द को ही लीजिए। इस 'अनन्त' शब्दने ही यह सम्पूर्ण उत्पात खड़ा किया है। काल के साथ सम्बद्ध होजाने वाले इस 'अनन्त' शब्द ने ही प्राकृत मानव को दिग्भ्रान्त–उद्भ्रान्त–बना दिया है। 'न अन्तः–अनन्तः' रूप से अपने उपक्रम में ही निषेधार्थक 'न' कार को अपनी आधारभूमि बनाए रखने वाला 'अन्त' ही तो 'अनन्त' की स्वरूप व्याख्या है, जो अनन्त 'अन्त'–सापेक्ष बनता हुआ अपनी सीमाबद्धा दिग्देशकालावच्छिन्नता ही प्रमाणित कर रहा है।

२२९–अनन्त-अक्षर परम-प्रजापति-चेतना-ज्ञान आत्मा, आदि आदि सापेक्ष-शब्दों की भ्रामकता, तदाधारेण समन्वयप्रयासभ्रान्ति, एवं सापेक्ष–शब्दमात्र से अतीत–'तत्तत्त्व'—

अनन्त अक्षर-परम प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा-आदि आदि यच्चयावत् शब्द वस्तुगत्या सापेक्षभावों के ही सूचक, किंवा वाचक बन रहे हैं, जो अपनी इस सापेक्षता के कारण दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के ही सग्राहक बने हुए हैं। वस्तुतः दिग्देशकालातीत उस निरपेक्ष निर्विशेष-पौरुषानन्त्य के लिए कोई शब्द है ही नहीं प्राकृत-कोश में। तभी तो-'स विदन्ति न य वेदाः' कहना अन्वर्थ बनता है। शब्दावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञान है। प्रत्येक शब्द यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही जब निरूढ है, और वह निरपेक्ष अनन्त जब कि इस अवच्छिन्न दृष्टि से सर्वथा अनवच्छिन्न है, तो अवच्छिन्न शब्दों के द्वारा उस अनवच्छिन्न का संग्रह सम्भव ही कैसे है ?। अधिक से अधिक उसका नाम 'अनन्त' अवश्य रक्खा जासकता है, सो भी अपनी प्राकृत बुद्धि के तात्कालिक परितोष के लिए ही। जहाँ, जिसमें सम्पूर्ण वेदशब्दों का अन्त (समाप्ति) हो जाता है, वही वह है। वेदशब्द का, किंवा शब्दात्मक सम्पूर्ण वेद का अन्तस्थान ही वह–'वेदान्तपुरुष' है, जो शब्दमात्र से निरपेक्ष बनता हुआ अपने रूप से स्वतः ही प्रमाणित है। कदापि किसी भी शब्दप्रमाण के द्वारा तदनुगता दिग्देशकालात्मिका व्याख्याओं के द्वारा, इन परदर्शनमूला भावुकताओं के द्वारा उसका स्वरूपबोध सम्भव ही नहीं है। मन प्राणवाङ्मय हमारा प्राकृत आत्मा भी तो उसे नहीं जान सकता। क्योंकि वह असत् है (सद्रूप है), अमना (मनोरन्) है, अप्राण (प्राणापन) है, मन-प्राणवाङ्मय अक्षरात्मा-कालात्मा–से पर है, अतीत है–'अप्राणो ह्यमना शुभ्र –अक्षरात् परतः पर' ही उसका तटस्थ स्वरूप–परिचय है।

२३०–कालनन्तता की बलनिबन्धना सादिसान्तता, प्राकृतधर्म्मात्मिका बलसत्ता, अप्राकृतभावात्मिका रससत्ता, एवं रसात्मक अनन्तब्रह्म, तथा बलात्मक अनन्तकाल का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध—

विशेषभावापन्न बल तो अपने बलत्वेन सदा ही सादि–सान्त ही माना जायगा, फिर भले ही वह छोटा बल हो, अथवा बड़ा बलसंघात हो। मानते हैं–महाकालरूपा बलप्रकृति से प्राकृत विश्व में और कोई दूसरा बड़ा बलसंघात नहीं है। एवं इस निरवद्यया कालात्मक उस विशेष बलसंघात को 'अनन्त' कहा भी जासकता है। तदपि इसकी बलात्मिका सादि–सान्तताने तो इसे तत्त्वतः दिग्देशकालात्मक ही प्रमाणित कर रक्खा है। अतएव निर्विशेषात्मक सहज आनन्त्य तो यहाँ अनुपपन्न ही है। कदापि अनन्त, और काल का समन्वय सम्भव ही नहीं है। अनन्त रस ही है, काल बल ही है। तभी तो भारतीय लोकव्यवहार में इसकेलिए-'काल बली रिपु सबके सिर पर, ज्यों नभचर पर बाज *'इत्यादि रूप से 'बली' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। बलसत्ता जहाँ प्राकृतधर्म्म है, वहाँ रससत्ता ही अप्राकृत अनन्त तत्त्व है, यही वास्तविक अनन्त है। भावात्मक

*–"जो तू यासों उबर्यो चाहे, गहन रामकृष्ण के चरण सुनर–वर'।

गुणात्मक,—अतएव कलात्मक अक्षरकाल हो, अथवा तो विकारात्मक, अतएव कलनात्मक क्षरकाल हो, दोनों हीं कालभाव—(सत्तासिद्ध अक्षरकाल, तथा भातिसिद्ध क्षरकाल) प्रकृति के क्रोड़ में ही समाविष्ट हैं। अक्षर-प्रकृति ही स्वानुगत कलाभाव से अक्षरकाल (महाकाल) कहलाने लगती है, एवं अक्षरप्रकृति ही क्षरानुगत कलनभाव से क्षरकाल (सम्वत्सरकाल) कहलाने लगती है। वह अनन्त तो वैसा अनन्त है, जिसके एकांशरूप अक्षरप्रकृतिभाव के भी एकांश में दोनों कालविवर्त्त समाविष्ट हैं। भला ऐसा काल कैसे 'अनन्त' हो सकता है ?, अतएव कैसे यह उस अनन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक बन सकता है ?। कदापि नहीं।

२३१—सर्वात्मक समग्रभाव से वञ्चित कालिक पदार्थ, एवं दृष्टान्तविधि में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता—

अब क्या किया जाय ?। कैसे उस प्रकृत्यतीत—कालातीत—सर्वातीत—किन्तु सर्वात्मक--महिमामय अनन्त-निर्विशेषरूप रसात्मक ब्रह्म का स्वरूप—बोध प्राप्त किया जाय ?, इस कालात्मक प्राकृत—विश्व में किसे उसका दृष्टान्तात्मक प्रतीक माना जाय ?, जबकि प्राकृत विश्व में सब अभिव्यक्तियाँ कृत्स्नभावापन्ना तो हैं, किन्तु कोई भी सर्वभावापन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रकृत्या कृत्स्न बनते हुए सभी चर—अचर—पदार्थ पूर्ण तो हैं, किन्तु परिपूर्ण कोई भी नही है। क्या प्राकृत—मानव भी परिपूर्ण नही है ?। नहीं। प्रकृत्या मानव अन्य सब मानवों से विभिन्न है।

२३२—प्राकृत मानव की प्रतीकता के सम्बन्ध में ऊहापोह—

इस प्रकृति-भेद के कारण ही प्रत्येक प्राकृत मानव के जाति (योनि)-आयु-भोग * तीनों पृथक्-पृथक् हैं। अतएव प्राकृत मानव भी इतर पदार्थों की भाँति 'कृत्स्न' पूर्ण तो बन रहा है। किन्तु इसे भी सर्व, किंवा—परिपूर्ण नही माना जा सकता। अतएव यह भी अन्य प्राकृत विवर्त्तों की भाँति सविशेष ही बना हुआ है। अतएव विशेषभावात्मक प्राकृतमानव भी उस निर्विशेषानन्त्य का, सामान्यानन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक नही बन सकता, कदापि नहीं बन सकता। यही नहीं, इस प्राकृतिकी कृत्स्नभावात्मिका पूर्णता की दृष्टि से तो प्राकृत मानव की अपेक्षा पशु—पक्षी—आदि इतर प्राणी कहीं अधिक पूर्ण हैं, जबकि प्राकृत मानव तो इन की अपेक्षा भी प्रकृत्या भी अपूर्ण ही है, जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अतएव प्राकृत मानव की प्रतीकता का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। और यही, इसी बिन्दु पर एक प्रासङ्गिक तथ्य हमें और समन्वित कर ही लेना है प्रसङ्गधिया।

२३३—प्राकृत-मानव के साम्वत्सरिक-तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय—

क्या स्वरूप है प्राकृत मानव का ?, प्रश्न का उत्तर है—'षोडशकल—सम्वत्सर'। क्या स्वरूप है—'षोडशकल सम्वत्सर' का ?, प्रश्न का उत्तर है—'षोडशी प्रजापति'। क्या स्वरूप है—'षोडशी प्रजापति' का ?, प्रश्न का उत्तर है—'महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म'। क्या स्वरूप है 'महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म' का ?, प्रश्न का उत्तर है-'योगमायावच्छिन्न वल्शेश्वर'। क्या स्वरूप है 'योगमायावच्छिन्न वल्शेश्वर' का ?, प्रश्न का उत्तर है—"पञ्चपुण्डीराध्यक्ष परोराजा नामक अव्यक्त स्वयम्भू'। क्या स्वरूप है इस 'अव्यक्त-स्वयम्भू' का ?, प्रश्न का उत्तर है—'पुण्डीर स्वयम्भू—व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी—सौरसम्वत्सरमध्यवर्त्ती सूर्य्य,

---

*—जात्यायुर्भोगाः (न्यायदर्शन-गोतमसूत्र)

पार्थिवसम्वत्सरमध्यवर्त्ती भूपिण्ड, चान्द्रसम्वत्सरमध्यवर्त्ती चन्द्रमा-इन पाँच प्राकृत-विश्वपुण्डीरों-पर्वों की समन्वितावस्था'। क्या स्वरूप है इस 'समन्वितावस्था' का ?, प्रश्न का उत्तर है-'स्वायम्भुव अव्यक्त, पारमेष्ठ्य महान्, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, पार्थिव शरीर, इन पाँच पर्वों की प्राकृत समन्वितावस्था'। और मर्यान्त म क्या स्वरूप है इस 'प्राकृत समन्वितावस्था' का ?, प्रश्न का अन्तिम उत्तर है-'प्राकृत मानव'। जिस मानव की प्रकृति में अव्यक्त-महान-बुद्धि-मन-शरीर-ये पाँच प्राकृतिक पर्व समन्वित रहेंगे, उसी मानव को 'प्राकृतमानव' कहा जायगा।

२३४-प्राकृत विश्व, और प्राकृत मानव, प्राकृत मानव का जीवत्त्व, एवं अप्राकृत मानव का आत्मत्त्व, तथा जीवसीमागर्भित-प्राकृत विश्व-

ध्यान दीजिए-'जिस मानव की प्रकृति में ये पाँच पर्व', इस वाक्यांश पर। कौन है वह मानव, जिसके कोश में-क्रोड में-अङ्क में 'प्रकृति' जैसा कोई वैसा तत्त्व विद्यमान है, जिस प्रकृति के ये पाँच प्राकृत-पर्व हैं ?। अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरपर्य्यन्त जितने भी प्राकृतिक-कालविवर्त्त हैं, उन सब का तो संग्रह परोरजामूर्त्ति-पञ्चपुण्डीगाध्यक्ष-अश्वत्थकेन्द्रीभूत-अव्यक्त-स्वयम्भू-से हो ही जाता है। अतएव अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सर-पर्य्यन्त, किंवा चान्द्रसम्वत्सर से आरम्भ कर अश्वत्थब्रह्म-पर्य्यन्त का सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्त्त तो पञ्चपर्वा-स्वायम्भुवी अव्यक्ता प्रकृति से ही परिगृहीत है, जिस इस सम्पूर्ण 'पर्य्यन्त' का नाम ही 'प्राकृतविश्व' विवर्त्त है। 'मानव का विश्व ही मानव की प्रकृति है'। इस अपने प्राकृत विश्व की अपेक्षा से ही मानव 'प्राकृतमानव' कहलाया है। यही वह प्रश्न उपस्थित है कि, जिस मानव का यह पञ्चपर्वा, किंवा अश्वत्थब्रह्मादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सर्वपर्वा प्राकृत विश्व है, इस प्राकृत विश्व को स्वप्रतिष्ठा में धारण करने वाला मानव कौन ?, इसी प्रश्न का उत्तर है-'जीव'। 'जीव' का नाम है-'मानव', एवं इसकी पञ्चपर्वा प्रकृति का नाम है इस जीवमानव का प्राकृतसंसार, प्राकृत विश्व। इस प्राकृत विश्व से नित्य-समन्वित 'जीव' नामक मानव का ही नाम है-'प्राकृतमानव'। जीव स्वयं ही जीव भी है, एवं यही जीव अपने महिमाभाव से पञ्चपर्वा प्रकृति भी बन रहा है। अर्थात् समष्ट्यात्मिका वही प्रकृति 'जीव' है, एवं महिमाव्यष्ट्यात्मिका वही पञ्चपर्वा प्रकृति इस जीव का प्राकृत विश्व है। प्राकृत विश्व में जीव नहीं है, अपितु जीवसीमा में प्राकृत विश्व प्रतिष्ठित है।

२३५-आत्मभाव से असंस्पृष्ट प्राकृत जीव, जीव के अविनश्वर-विनश्वर-विवर्त्त, तथा दोनों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति में, लोकभाषानुसार-प्राकृत शरीर में जीव है ?, अथवा तो जीव में प्राकृत शरीर है ?। अर्थात् शरीर के भीतर जीव है ?, अथवा तो जीव के भीतर शरीर है ?, इस प्राकृत प्रश्न ने आधारशून्य दार्शनिक-मस्तिष्क को निःसीमरूप से उत्पीडित कर रक्खा है इसलिए कि, उसने 'जीव' के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध जोड़ दिया है। सम्भवतः 'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस सम्बन्ध में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। अतएव अत्र इसे तूलरूप न देते हुए अभी हमें यही निवेदन कर देना है कि,-जीव प्राकृत भाव है, एवं आत्मा अप्राकृतभाव है। अतएव आत्मा जीव

नहीं हो सकता, एवं जीव आत्मा नहीं हो सकता, अतएव 'जीवात्मा' शब्द कदापि समन्वित नहीं हो सकता। प्राकृतभाव का नाम जीव है, एवं पुरुषभाव का नाम आत्मा है। दोनों में अहोरात्रका अन्तर है। आत्मा अजर-अमर-अविनाशी है, जबकि जीव जन्म-मृत्यु-चक्र से चक्रायित है। और इस जीव के ही दो विवर्त्त हैं- अविनाशीजीव, एवं नश्वरजीव। जो जीव शरीर को स्वसीमा में भुक्त-गर्भित रखते हैं, वे 'अविनाशी-जीव' हैं, एवं जो जीव शरीर की सीमा में भुक्त-गर्भित-रहते हैं, वे नश्वरजीव हैं, जिस इस तथ्य से दार्शनिक मस्तिक अपने प्राकृत व्यामोहन के कारण सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहा है।

२३६–जीव से जीव का विनिर्गमन, एवं अविनश्वर जीवसर्ग, शरीर से शरीर का विनिर्गमन, एवं नश्वरजीवसर्ग, तथा–'जीव में शरीर', और 'शरीर में जीव' लक्षण पार्थक्य का समन्वय—

जीव से जीव की अभिव्यक्ति, यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। एवं शरीर से शरीर का विनर्गमन यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। 'जीव से जीवाभिव्यक्ति' पक्ष में जीव आधार है, शरीर आधेय है। 'शरीर से शरीरविनिर्गमन' पक्ष में शरीर आधार है, जीव आधेय है। प्रथम पक्ष में-जीव में शरीर है, एवं द्वितीय पक्ष में-शरीर में जीव है। 'जीव में शरीर है', इस प्रथम पक्ष में-शरीर उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं, जीव का कुछ नहीं बदलता, कुछ भी नष्ट नहीं होता। शरीरानुबन्ध से जन्म-मृत्यु-चक्र-का परिभ्रमण अवश्य है। किन्तु जीव स्वस्वरूप से अविनश्वर है। उधर 'शरीर में जीव है', इस द्वितीय पक्ष में शरीर के साथ ही, शरीर की सीमा में हीं, शरीर से ही जीव उत्पन्न होता है, एवं शरीर के साथ ही यह जीव नष्ट होजाता है। शरीर के विनाश के साथ ही इस जीव की जीवनलीला समाप्त होजाती है, एवं ये ही विनश्वर जीव हैं।

२३७–अक्षरानुबन्धी–प्राकृत–मानवजीव, क्षरानुबन्धी प्राकृत इतर जन्तु, एवं प्राणी-जगत् का स्वरूपदिग्-दर्शन—

प्रकृति की भाषा में-शरीर को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रखने वाले जीव का नाम है-'अव्ययगर्भित-क्षरानुगत-'अक्षरजीव'। एवं शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले अक्षरगर्भित क्षरात्मक जीव का नाम है-'क्षरजीव'। अक्षरजीव का नाम है पुरुषानुगता प्रकृति, एवं क्षरजीव का नाम है-प्रकृत्यनुगता विकृति। प्राकृतजीव ही का नाम है प्राकृतमानव, एवं वैकारिक जीव ही का नाम है प्राकृत जन्तु। प्राकृत जीवात्मक मानव शरीर में नहीं है, अपितु शरीर इस प्रकृतिरूप जीव में है। तात्पर्य्य यही है कि, मानव का स्वरूप-परिचायक इसका शरीर नहीं है, अपितु प्रकृति ही इसकी स्वरूपपरिचायिका है। केवल बाह्य-शरीराकारमात्र से मानवीय जीवभाव का स्वरूप समन्वित नहीं हो सकता। ठीक इसके विपरीत मानवेतर समस्त पश्वादि प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों के शरीर में क्योंकि नश्वरजीव प्रतिष्ठित है। अतएव इनमें शरीर ही प्रधान बना रहता है। अतएव केवल शरीराधार-बाह्याकारमात्र से ही पश्वादि प्राणियों का स्वरूप परिज्ञात बन जाता है। तभी तो इस प्राणीजगत् को हमने प्रकृत्या (विकृत्या) पूर्ण कहा है, जबकि इस शरीररूपा प्रकृति (विकृति) की दृष्टि से तो मानव अपूर्ण ही बना रहता है। प्राकृतमानव अपने जीवभाव से अविनाशी है, प्रकृतिभाव से परिवर्त्तनशील है, एवं इस परिवर्त्तन का ही नाम-'जन्म-मृत्यु-चक्र-है-'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि, तव

चार्जुन'। । शरीर बदलते रहते हैं, मानव (जीव) नही बदलता । क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अपितु शरीर मानव (जीव) में हैं। आधार नही बदलता, आधेय बदलते रहते है ।

२३८–प्राकृत-मानवीय--अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक पश्वादि विनश्वर जीवों के प्राकृत--स्वरूपों मे महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर पश्वादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही तात्कालिक ही जीवभाव का वृन्ताङ्कुरन्याय से उद्गम, शरीर के साथ ही इस जीव का मरण, एव शरीरनाश के साथ ही समाप्ति । न पूर्वजन्म, न उत्तरजन्म, न वर्त्तमान में ही स्वरूपाभिव्यक्ति । केवल अशनपानपरायणता । बँधे–नपे–तुले–कालक्रमानुसार काल–प्रेरणया–खाते–पीते–मल–मूत्रादि–विसर्जित करते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक प्रात:–साय–रात–आधीरात-दुपहर–सबके–सबके सम्मुख–शारीरिक–मानसिक–कामभोगों का अनुगमन करते हुए इतस्तत प्रकृतिप्रेरणया शरीर से जीवभार को उठाए हुए दन्द्रम्यमाण बने रहना ही इन प्राणियों का समस्त जीवनेतिवृत्त है, जिनका कोई इतिहास नही है । यही प्राकृत मानवीय जीव, एवं वैकारिक पश्वादि-जीव, इन दोनों में वह महान् अन्तर है, जिस के समन्वय के बिना कालस्वरूप–अविज्ञात ही बना रहजाता है ।

२३९–चान्द्रसम्वत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिजगत्, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय–जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक क्षरात्मक प्राकृतिक जन्तु, और पराप्रकृतिमूलक अक्षरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का वह वैकारिक–विनश्वर–जीवभाव (जो इन के शरीरों के साथ ही तात्कालिकरूप से ही उत्पन्न होता है, एव शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है), इस चान्द्रसम्वत्सरकाल से ही सम्बन्ध रखता है, जो वर्षात्मक-मूर्त-व्यक्ततम-भौतिककाल ही है *। उधर प्राकृत-मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है, जिसे हमने अनन्त–अमूर्त–अव्यक्त-अक्षरकाल कहा है, जोकि अश्वत्थब्रह्म से भी परस्तात् है, जिस के गर्भ में अश्वत्थब्रह्मादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सम्पूर्ण प्राकृत–कालविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं । अनन्ताक्षररूप–परमकाल ही मानव का जीवभाव है । आधिदैविकजगत् में उसका नाम 'अनन्तकालाक्षर' है, एव मानव–संस्था में उसी का नाम–'प्राकृतमानव' है । जो वह है, वही यह है । वह अपने सम्पूर्ण कालिक प्राकृतिक विश्व का अध्यक्ष है, तो यह (मानव) अपने अव्यक्तादि शरीरान्त–सम्पूर्ण कालिक शरीर का अध्यक्ष है । अनन्तकालात्मक अक्षर का नाम ही है उस अनन्ता–व्ययपुरुष की 'पराप्रकृति', इसी का नाम है 'प्राकृत–मानव जीव', इसीने अपने आधिदैविक प्राकृत–'अनन्तकाल' रूप से सम्पूर्ण कालिक विश्व को स्वगर्भ में धारण कर रक्खा है, जैसाकि तदभिन्न मानव नामक प्राकृत जीवने स्वगर्भ में अपने सम्पूर्ण अव्यक्तादि–कालिक

---

* वर्ष में तत्तद्ऋतुविशेषों में तत्तद्विशेष कीट–पतङ्गादि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, जिनका जायस्व–म्रियस्व के अतिरिक्त और कोई इतिहास नहीं होता । सम्पूर्ण प्राणियों का यही इतिहास है, जिसका मूल यह वर्षात्मक सम्वत्सरकाल ही बना रहता है ।

भावों को धारण कर रक्खा है। इसी आधार पर–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां–जीवभूतां–महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त–कालाक्षर का है, अध्यात्म में वैसा ही, वही स्वरूप मानवजीव का है। अधिदैवत में जैसा स्वरूप अश्वत्थादि–चान्द्रसम्वत्सरान्त प्राकृत विश्व का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अव्यक्तादि–शरीरान्त मानवीया पञ्चपर्वा प्रकृति का है। यही मानव, और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है–'प्राकृतमानव' की स्वरूपदिशा का प्राकृतिक समन्वय।

२४०–प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सर–प्रतीकात्मक केवल प्राकृत–जन्तु—

हमने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए ऐसा कुछ कह दिया था कि–'अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्वत्सरकाल है, एवं सम्वत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है, तथैव परम्परया सम्वत्सरांशभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है' (देखिए ! पृ० सं० ४६६, परिच्छेद संख्या २१२)। किन्तु उक्त जीवभाव–समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्वत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से, जिस के माध्यम से एक सम्वत्सर अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्वत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्वत्सरकालात्मक क्षरभाव तो अक्षररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप केवल शरीर में ही अन्तर्भुक्त है। अतएव सम्वत्सर, और मानव, दोनों का जहाँ समतुलन बतलाया है, वहाँ मानव के अस्थि–मज्जादि–शारीरभावों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है, वही स्थान यहाँ वर्षात्मक सम्वत्सर का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्वत्सर का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्वत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता, बन ही नहीं सकता। कहाँ अनन्ताक्षरकाल, और कहाँ चान्द्रसम्वत्सरात्मक वर्षकाल ?। एवमेव कहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और कहाँ व्यक्तकालात्मक चान्द्रसम्वत्सर ?।

२४१–मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता–अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण—

हाँ, मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है, बना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है, तथैव यही सम्वत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है, बना है वेदशास्त्र में। सम्वत्सर से मानव का निर्म्माण नहीं हुआ है, अपितु मानव के एकांश से सम्वत्सरयज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्वत्सर के गर्भ में नहीं है, अपितु मानव के गर्भ में सम्वत्सर है–'यस्मादर्वाक्–सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते'। 'पुरुषो वै यज्ञः'–'पुरुषसम्मितो यज्ञः' (शत० ३।१।४।२३)–'पुरुषो वाव सम्वत्सरः' (गो० पू० ५।१३)–'पुरुषो वै

---

* देखिए गोपथब्राह्मण पू० ५।५।

सम्वत्सर' (शत० १२।२।४।१।)-इत्यादि वचन सम्वत्सर को ही पुरुष का प्रतीक मान रहे हैं। किस पुरुष का ?, प्राकृतपुरुष का, प्राकृत मानव का, यह विशेषरूप से स्मरण रखिए, जिसके माध्यम से ही हमें अनुपद में ही अप्राकृत मानव का अन्वेषण करना है। जिस महतोमहीयान् अनन्तकाल का अरतर यशोगान हुआ है, उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत-इतिहास ही समन्वित हो पाता है। कदापि इस अनन्त-काल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल, और तदभिन्न प्राकृत मानव, दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त थे, जिन्हें दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान बैठने का व्यामोहन हुआ था। किन्तु यह व्यामोहन गतार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों की प्रकृतिता के कारण।

२४२-अप्राकृत-ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,-प्राकृत-मानव की प्राकृत-बुद्धि की कुण्ठितता-विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण—

अब तो केवल वह अप्राकृत-ऋषिमानव ही शेष रह जाता है, जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत-चेष्टा और चली जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त, तथा तदभिन्न प्राकृत मानव विवर्त-इन दोनों को तालिकारूपेण अवधानपूर्वक इसलिए लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से बीजभूता अक्षर-प्रकृति'की कालात्मकता में फिर कोई व्यामोहन शेष न रहजाय। तालिकाचिन्तन के द्वारा अवश्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है, एवं सम्वत्सरकाल पर प्रकृति का उपसंहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत-भावों के अतिरिक्त वैसा एक भी तो दिग्देशकालातीत अप्राकृत भाव नहीं है, जिसे प्रकृत्यतीत-अव्यक्तातीत-अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान लिया जाय। ? बिना प्रतीक-माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी तथ्य की अनुगामी बनने के अभ्यास से असपृष्ट है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तब्रह्म पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान् ? प्राकृत लोकायतिक-चार्वाकादि मानवों ने अपने आप को उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार असम्पृष्ट ही बनाए रक्खा है, जैसे कि प्राकृतिक-वैकारिकसर्ग के पश्वादि प्राणी उस आनन्त्य से पृथक् रहते हुए अपनी काममोगपरायणता में ही सर्वात्मना समाप्त हो जाते हैं, इति नु-आलप्यालमेव। कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यत। किंवा-काले कारुणिक! त्वयैव कृपया तं भावनीया नराः।

प्राकृतमानवस्य--स्वरूपरिलेखः–कालात्मकः–

पूर्णमदः–कृत्स्नमदः	पूर्णमिदम्–	कृत्स्नमिदम्	
१–अनन्तकालः	मानवजीवः	जीवः(*)	प्रकृत्यधिष्ठाता-प्राकृतोऽयं मानवः
२–अश्वत्थः षोडशी	मानवषोडशी		
३–परोरजा–अव्यक्तः	मानवाव्यक्तः	अव्यक्तः (५)	पञ्चपर्वा-प्रकृतिरियं–मानवस्य –जीवमहिमाविवर्त्त-प्रतिष्ठिता-प्रकृतिः– 'जीवे शरीरम् । नतु शरीरे जीवः । इति हि–विवेकः- मानवजीवानुगतः
४–रजप्रवर्त्तकः-स्वयम्भूः	मानवाव्यक्तः		
५–रजोमयः–परमेष्ठी	मानवमहान्	महान् (४)	
६–रजोयोनिः–सूर्य्यः	मानवबुद्धिः	बुद्धिः (३)	
७–रजोमयी–पृथिवी	मानवशरीरम्	शरीरम् (२)	
८–रजोरूपः-चन्द्रमाः	मानवमनः	मनः (१)	
इति नु–अधिदैवतन् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु–अध्यात्मम्–प्रकृत्या -अपूर्णमेव		

२४३–अप्राकृत-मानव की ऋषिमानवता का समन्वय—

उक्त–तालिकानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति–निबन्धन–कालात्मक–वह–'व्यक्तित्व' है, जो इसे उस कालातीत अनन्तब्रह्म के साथ समन्वित नहीं होने देता । और यही इसका प्रकृतिव्या–मोहनात्मक–बुद्धिगम्य–वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है, जो इसे ऐसे प्राकृतिक व्यक्तित्व से असंसृष्ट, अतएव अप्राकृत 'ऋषिमानव' के साथ समन्वित होने हीं नहीं देता, जिस ऋषिमानव के सान्निध्यानुग्रह के बिना न तो इसका प्राकृत–विमोहन ही पलायित होता, एवं न इसे अनन्तब्रह्मानुगत–कालातीत का स्वरूपबोध ही हो-सकता । क्योंकि समस्त प्राकृत विवर्त्तों में एकमात्र अप्राकृत मानव ऋषिमानव ही है, जिसे प्रतीक बना कर ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत ब्रह्म के साथ समन्वित हो सकता है ।

२४४-समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक-शास्त्रीय-आचारों में एकान्तनिष्ठ मानव, और उसकी ऋषिमानवता—

क्या स्वरूप-परिभाषा है उस अप्राकृत-ऋषिमानव की ? । श्रूयताम् ! जो मानव सर्वथा व्यवस्थापूर्वक-दिग्देशकालक्रमपूर्वक-प्राकृतिक-आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता हुआ, इन प्राकृतिक आचारधर्म्मों-कर्त्तव्यकर्म्मों से अपने वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रीय-लोकाभ्युदयों का सञ्चेतक बनता हुआ निःश्रेयस का अनुगामी प्रमाणित हो इन सब विभिन्न आचारधर्म्मों का एक आधार-अवलम्ब बना रहता है, वही मानव अप्राकृत-ऋषिमानव है । समदर्शनानुगता आत्मनिष्ठा के आधार पर प्राकृत विषम-वर्त्तमानात्मक आचारधर्म्मों के द्वारा लोकाभ्युदय को सुरक्षित रखने वाला, इन प्राकृत कर्म्मों में यथाविधि-यथाशास्त्र कर्त्तव्यबुद्धया-एकनिष्ठ बना रहने वाला, किन्तु अपने आत्मभाव से इनके बन्धबन्धन से अपने आपको उन्मुक्त रखने वाला उदासीनवदासीन-कर्त्तव्यनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-ऋषिमानव है ।

२४५-लोक-वित्त-पुत्रैषणात्रयी से असंस्पृष्ट, एवं लोक-वित्त-पुत्र-कामनात्रयी से संस्पृष्ट मानव की ऋषिमानवता—

लोक-वित्त-पुत्रादि एषणाओं (उत्थाप्याकाङ्क्षारूपा-इच्छाओं, जीवानुगता-इच्छाओं) से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहने वाला, किन्तु शास्त्रसिद्धा-लोक-वित्त-पुत्रादि-कामनाओं (उत्थिताकाङ्क्षारूपा कामनाओं, ईश्वरानुगता कामनाओं) से सर्वात्मना सम्पृक्त रहने वाला, इन कामनाओं के द्वारा स्वस्वरूप (प्राकृतिकस्वरूप) सम्बन्धपूर्वक परस्वरूपों (परिवार-समाज-राष्ट्र-विश्व-स्वरूपों) के संरक्षण का परम्परया परोक्षरूपेण निमित्त बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-ऋषिमानव है ।

२४६-परदर्शनमूला लोकभावुकता से असंस्पृष्ट, इष्टदेवानुगता भावुकता से नित्य संस्पृष्ट, आस्था-श्रद्धा-परायण, ऋजुकर्म्मनिष्ठ मानव की ऋषिमानवता—

परप्रकृतिदर्शनमूला भावुकता से एकान्ततः असंस्पृष्ट, स्वप्रकृतिदर्शनमूला कुनिष्ठा से सर्वथैव पराङ्मुख, किन्तु स्वात्ममूला सन्निष्ठा से सदैव समन्वित आस्था-श्रद्धा-शील, ऋजुपथानुवर्त्ती मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-ऋषिमानव है । सम्पूर्ण प्राकृतिक-रहस्यों का साक्षात्कार करने के अनन्तर भी इस प्राकृतिक ज्ञान से अपने आपको (आत्मस्वरूप को) विस्मृत न कर बैठने वाला, सदा ही मानसिक-बौद्धिक-प्राकृतिक-कर्म्मों, व्यक्तित्वविमोहनों से पृथक् बना रहने वाला, 'पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' रूपेण सौम्य बालभाववत् सर्वथा ऋजुभाव में ही परिणत रहने वाला सम्प्रश्नपथानुवर्त्ती मानवश्रेष्ठ ही 'अप्राकृत-ऋषिमानव' है।

२४७-कृत्रिम-विनय-सौजन्य-सौम्या प्रकृति-मन्द-मधुर-वाणी-लोक-परिग्रह-प्रदर्शन-आदि प्रदर्शनों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, दीनता-हीनता-आदि प्रदर्शनों से पराङ्मुख, सहज स्थिति से नित्य समन्वित, उत्तरदायित्वपूर्णा निष्ठा से समलङ्कृत मानव की ऋषिमानवता—

कृत्रिम विनय-प्रदर्शन-सौजन्य-प्रदर्शन-सौम्याकृति-प्रदर्शन-सौम्य-मन्द-मधुर-वाक्-प्रदर्शन-भाषण-प्रदर्शन-लोकपरिग्रहप्रदर्शन-आदि आदि यच्चयावत् प्रदर्शनों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहने वाला, साथ ही

दीनता-हीनता-आदि कुत्सित-प्राकृतभावों से पराङ्मुख, सहज स्थिति से समन्वित, तूष्णींरूपेण शास्त्र-सिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों में यथाकाल-यथामति-यथाशक्ति-कर्त्तव्यमूला उत्तरदायित्व की भावना से एकनिष्ठ बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-ऋषिमानव है।

२४८-प्राकृतिक यच्चयावत् द्वन्द्वभावों से असंस्पृष्ट, अतएव निर्द्वन्द्वरूपेण कर्त्तव्यनिष्ठा-परायण मानव की ऋषिमानवता—

अपनी प्रत्येक समस्या, प्रत्येक कर्म्म, प्रत्येक उपासना, प्रत्येक-प्राकृत ज्ञान, प्रत्येक लौकिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-अनुबन्धों-कर्त्तव्यकर्म्मों में सर्वत्र उपक्रमोपसंहार में अनन्तात्मब्रह्म को ही मूलाधार मानने वाला, अनन्ताधारेणैव-प्राकृत-अन्तभावों का निर्वाह करने वाला, अतएव आद्यन्तरूपेण अनन्तभावानुगत ही बना रहने वाला, अतएव च अन्तभावापन्न-प्राकृत-तात्कालिक हानि-लाभ, यश-अपयश-जन्म-मृत्यु, शोक-मोह, जरा-व्याधि,-मान-अपमान,-सफलता-विफलता,-हर्ष-शोक, आदि आदि किसी भी द्वन्द्व से कभी भी क्षुब्ध-संक्षुब्ध-त्रस्त-सन्त्रस्त न होने वाला, सदैकरसतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहने वाला इत्थंभूत मानव श्रेष्ठ ही-'अप्राकृत-ऋषिमानव' है।

२४९-'योऽस्मि-सोऽस्मि' रूपेण तूष्णीं ईश्वरप्रेरणया कर्त्तव्यनिष्ठ-फलाफला-संस्पृष्ट-जरामर्य्यसत्रानुगामी मानव की 'ऋषिमानवता'—

'मैं जानता हूँ'-इस अतिमान से असंस्पृष्ट रहने वाला, 'मैं कुछ भी नहीं जानता' इस असद्-भाषण से भी पृथक् रहने वाला ÷,ऐसे जानने न जानने-वाले अतिमानात्मक लोकाचारों से पराग् बना रहने वाला, 'योऽस्मि-सोऽस्मि-केनापि देवेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' रूपेण तूष्णीं अपनी प्राकृत-चर्य्या को 'जरामर्य्यसत्र' नामक अग्निहोत्रवत् यावज्जीवन प्रक्रान्त रखने वाला * मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-ऋषिमानव है।

२५०-योगज-दृष्टिपरायण, महर्षि दीर्घतमा के 'विद्वने न विद्वान्' घोष के अनुगामी, आत्मनिष्ठ, सर्वनिष्ठ मानव की-'ऋषिमानवता', एवं तद्योग का तात्त्विक-समन्वय—

और उसका नाम है-ऋषिमानव, जो अपनी आर्षी-योगज-दृष्टि से अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सर-काल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्तों का सर्वात्मना परिज्ञान प्राप्त करता हुआ भी लोकातीत-कालातीत-अनन्त

÷ नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च।
योनस्तद्वेद-तद्वेद, नो न वेदेति वेद च॥

—देखिए! केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य २.२।

* कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥

—देखिए! ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य

ब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा निर्व्याजरूप से यह कह देने, और मान लेने में यत्किञ्चित् भी सकोच नहीं करता कि–"मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उस अप्राकृत-कालातीत-अनन्तात्म-स्वरूप को यत्किञ्चित भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विद्वान् नहीं हूँ। अतएव केवल विनय-प्रदर्शन के लिए ही मेरा ऐसा कहना नहीं है। मैं उसे जानने के लिए ही उन क्रान्तिदर्शी कवियों से प्रणतभाव से यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसमें वे ६ रजोलोक (पाँच प्राकृतिक पर्व, तथा छटा प्राकृतिरूप जीवलोक) प्रतिष्ठित हैं जिस 'अज' (अव्यय) के आधार पर (ऋक् सं० १।१६४। ६ मन्त्र)। इसलिए ऋषिमानव उसे नहीं जानता कि, 'वह' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तब्रह्म की अनन्त-भावना के बिना इसप्रकार का प्राकृतिक व्यामोहन उच्छिन्न हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक–व्यामोहनोच्छेद के अनन्तभावना का उदय ही सम्भव नहीं है। ऋषिमानवश्रेष्ठ की इस अविज्ञेयता में हीं अविज्ञेय भी अनन्तब्रह्म की विज्ञेयता के सूत्र सुरक्षित हैं। बुद्धिगम्या, अतएव दिग्देशकालानुगामिनी भ्रमसिद्धा-प्राकृत-व्याख्या का निर्मोहन उपशान्त होते ही बुद्धि की वक्रता समाप्त हो जाती है। वक्रभावानुगता इस कुटिलता के हटते ही बुद्धि कुटिल-सम्वत्सरकालचक्र से बाहिर निकल आती है। बुद्धि के इसप्रकार सहज-ऋजुभाव में आते ही उस 'अजस्यानकचेतम' का स्वत ही आविर्भाव हो जाता है-'तत्स्वय योगसंसिद्ध'। यह ससिद्धावस्था ही मानव की 'ऋषि'-अवस्था है। ऐसा मानव ही अप्राकृत-ऋषिमानव कहलाया है। और अवश्य ही अपने लोकसग्राहक-प्राकृतिक-शास्त्रीय आचार से प्राकृतमानवकोटि में विद्यमान रहता हुआ भी वह मानव अपने लोकातीत-अवक्रचेता-अनन्त अज-अव्यय के स्वत· प्रकाश से अप्राकृत-अलौकिक-लोकातीत-कालातीत-'ऋषिमानव' ही प्रमाणित है।

२५१ तथाविध ऋषिमानव की कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं-'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि'-'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-समन्वय—

और ऐसे ऋषिमानव को अवश्य ही उस कालातीत-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्तात्मक-प्रतीक माना जा सकता है, माना गया है। न केवल प्रतीक ही, अपितु 'वही' माना जासकता है। सचमुच यों अपनी ऋषिप्रज्ञा (बुद्धिगम्या व्याख्या से असस्पृष्टा-सहज प्रज्ञा) से प्राप्ता उस अनन्तब्रह्मविभूति से समन्वित ऋषिमानव ही 'ब्रह्मवित्' कहलाया है, एव 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि' (छान्दो० उप०) के अनुसार तो आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोचारणकर्म्म से उत्पन्न पावन सस्कार से ही सत्यकाम जाबालि में बुद्धि की ऋजुता प्रादुर्भूत हो पड़ती है, और इस ऋजुता के कारण समभावापन्न ब्रह्म इस की सम-ऋजु-भावात्मिका बुद्धि में स्वत ही आविर्भूत हो पड़ता है। और गोभक्त-गोसेवक-एक प्राकृत-सौम्य (बालबुद्धि) सत्यकाम जैसा प्राकृत मानव भी ब्रह्मवित् बन जाता है। 'ब्रह्मवित्-ब्रह्मैव भवति' रूप से आरम्भ की वह प्रतीकता भी स्वत ही हट जाती है। लौकिक दृष्टान्तात्मक प्रतीक जहाँ दार्ष्टान्तिक-लक्ष्य के अनन्तर हट जाते हैं, वैसा प्रतीकवाद यहाँ नहीं है। अपितु यहाँ तो प्रतीकात्मक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतभाव के आविर्भूत होते ही स्वय सिद्धान्त ही बन जाता है। ऐसा अनुरूप दृष्टान्त तो एकमात्र अप्राकृत-ऋषिमानव ही माना जायगा। और यहीं हमें पुन -एक अवधेय दृष्टिकोण की ओर अनन्त के जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा, जिसके बिना उक्त प्रसङ्ग केवल

'भावुकता' बन कर ही शेष रह जासकता है, जैसाकि जगन्मिथ्यात्ववादमूलक कल्पित ब्रह्मानन्त्यवाद से गत अनेक शताब्दियों से 'अनन्तब्रह्म' शब्द को लेकर ऐसी ही भावुकता-पूर्णा भ्रान्ति चली आ रही है।

२५२-सत्यकाम जाबालि के गोचारण-दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा से वञ्चित 'सन्तवाद' का आविर्भाव—

सत्यकाम जाबालि को गाँएँ चराने मात्र से यदि ब्रह्मदर्शन होगया, और यों गो-सेवा ही यदि ब्रह्म का प्रतीक बन गई, तो फिर ऐसी स्थिति में व्यर्थ है श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत आचारधर्म्म, व्यर्थ हैं शास्त्रीय-कर्त्तव्य कर्म्म। फिर तो केवल आशीर्वाद से ही सब कुछ गतार्थ है। और इसी भ्रान्ति ने तो उस सन्तसम्प्रदायवाद को जन्म दे डाला है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रीय-आचारों को जलाञ्जलि-समर्पित कर केवल 'गुरुकृपा' की 'बलि-वेदि' पर ही प्राकृत मानव के प्राकृत जीवन का बलिदान कर डाला है। 'नास्त्यकृतः कृतेन'-'तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः'-'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः' इत्यादि दार्शनिक-शब्दों के आचारात्मक समन्वय में असमर्थ दार्शनिकों के कल्पित वेदान्तवाद ने ही, इनकी ज्ञानमीमांसात्मिका तत्त्वमीमांसा (तत्त्वविजृम्भणमात्र) ने हीं तो तथाविध सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला है।

२५३-आचारनिष्ठा का प्रथम स्खलन दर्शनजगत् में, तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादानुगत द्वितीय स्खलन, तद्द्वारा प्रवृत्त सन्तवादानुगत तृतीय स्खलन, एवं सन्तमतात्मिका साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-अन्तर्म्मुखता—

आचारात्मिका धर्म्मनिष्ठा सर्वप्रथम विलुप्त हुई है दार्शनिकता में। इस दार्शनिकता से समुत्पन्न शून्यवाद से सन्तस्त्र–विक्षुब्ध हो जाने वाली भावुक जनता ने ही आगे चलकर सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला परमतानुगता–भावनाओं के आकर्षण से, जिन परभावनाओं में केवल 'गुरुकृपा' ही मानव के यच्चयावत् पाप क्षमा कर दिया करती है। बड़े से बड़े गुरुतम अपराध–पापपुञ्ज भी वहाँ के गुरु (पीर–पैगम्बर–पादरी–नबी–आदि) जैसे अपनी कृपाकोर से क्षणमात्र में समाप्त कर देते हैं, ठीक वही भावना दार्शनिकता के द्वारा उत्पन्न थकान से, एवं इन आगता–समागता–परभावनाओं के सम्मिश्रणसङ्ग से आचारनिष्ठ भारतीय प्रजा में भी दृढमूल बन गई, और यों शास्त्रीय आचारनिष्ठा का स्थान सम्प्रदायवाद ने हीं अपहृत कर लिया। परिणाम-स्वरूप राष्ट्रप्रजा का अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक सम्पूर्ण आचारधर्म्म, तदनुगत समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य, एवं आत्मिक समभाव अभिभूत ही होगया।

२५४–नैष्ठिक के 'सत्तासिद्ध भगवान्', भावुक के 'भाव के भूखे भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी माता भागीरथी के स्थान में 'खटोटी' की गङ्गा का काल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, तात्त्विक उपासनाकाण्ड, आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

सत्तासिद्ध ब्रह्म (भगवान्) भी जहाँ केवल भाव (भाति) के ही भूखे प्रमाणित कर दिए गए। **'मन चँगा, तो खटोटी में गङ्गा'** के कल्पित उद्गारों से ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी पावनसलिता माता

जाह्नवी तो बन गई इन के लिए कल्पना, और मन की गङ्गा बन गई प्रधान । किंबहुना–श्रौत–स्मार्त्त संस्कार, इष्टकामधुक् विज्ञानसिद्ध यज्ञकाण्ड, शङ्कर–भास्कर–भगवती–अनुबन्धिनी उपासनाएँ, प्रजातन्तुवितानकर्त्ता श्राद्धकर्म्म, आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार सन्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल ही होगए। तदनुवर्त्ता भावुक प्रजा ने सम्पूर्ण आचार धर्म्मों–कर्म्मों की उपेक्षा कर आंखें मीच कर, कान अवरुद्ध कर, कल्पित वातावरण में ज्योति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुरुकृपा पर ही छोड़ दिया।

२५५–आचारस्खलित भारतराष्ट्र का काल्पनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमतवाद, गुरुदम्भपरम्परा, आदि आदि से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक- चमत्कार-व्यामोहन—

और परिणामत जो भारतराष्ट्र अपने आचारात्मक–कर्त्तव्ययुगों में सम्पूर्ण विश्व का मूर्द्धन्य बना हुआ था, वही अपनी इस आचारशून्या दार्शनिकता से, कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद के विमोहन से, सर्वोपरि व्यक्तित्वविमोहन-मूला सन्तसम्प्रदायात्मिका भावुकता से सभी क्षेत्रों में सर्वात्मना दीन–हीन–दरिद्र–शून्यवत् ही प्रमाणित होगया। शास्त्रीय आचारनिष्ठाओं का स्थान ग्रहण कर लिया उन सन्तों–सिद्धों–साधुओं–पहुँचवानों के प्राकृतिक–चमत्कारों ने, जिन मे प्राकृत–मानव अवश्य ही तत्क्षण के लिए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। किन्तु जो धर्म्मनिष्ठ हैं, शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं, वे कभी चान्द्र–प्राणानुबन्धी इन प्राकृतिक चमत्कारों से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होते।

२५६–आचारधर्म्मात्मिका शास्त्रीय-धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार-धर्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्मृति से भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि का प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्र-काल में सर्वथैव अभिभव—

प्रसिद्ध है कि–महान् शास्त्राचारनिष्ठ मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने वन्यकाल में पितृ–श्राद्ध करते हुए भूगर्भ से निकलने वाले पिता दशरथ के हाथ में पिण्ड समर्पण न कर शास्त्रादेशानुसार जब 'कुश' पर ही पिण्डदान किया, तो तत्काल इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमना बनजाने वाले दशरथ के प्रेतात्मा ने यह नभोवाणी अभिव्यक्त की कि,–"तुमने हमारे हाथ में पिण्डदान न कर शास्त्रविधि के अनुसार कुश पर ही पिण्डदान दिया, इस शास्त्रनिष्ठा से हम सर्वात्मना तृप्त हो गए हैं। तुम्हारा यह कर्म्म सर्वात्मना सफल हो गया है"। एवमेव सुप्रसिद्ध धर्मतत्त्वज्ञ महात्मा भीष्म ने भी अपने पितृ श्रीशान्तनु के श्राद्धकाल में इसी शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन किया था। कदापि वे इस वास्तविक चमत्कार से भी प्रभावित नहीं हुए। और यही आचारधर्म्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता का संरक्षक बनता रहा, जिसे विस्मृत कर सचमुच भारतराष्ट्र ने अपना आत्मिक–लौकिक–सभी वैभव विस्मृत ही कर लिया है। और जो कुछ सांस्कृतिक–आयोजन–रूप से शेष रह गया था, उसे आज के सत्तातन्त्र के द्वारा आविष्कृत, दार्शनिकता–साम्प्रदायिकता–आदि आदि सभी से विलक्षण प्रमाणित होने वाले नट–विट-भाण्ड-गणिकादि से समाकुलित सांस्कृतिक-आयोजनों ने ? तो सर्वथा ही समाप्त कर डाला, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! इत्यहो महतीय विडम्बना

भारतराष्ट्रस्य, तज्जनतन्त्रस्य, तत्सत्तातन्त्रस्य च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रभु--सत्तासमर्थगणतन्त्रीय--प्रजा-तन्त्रात्मकस्य चेत्यालप्यालमेव ।

२५७-शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की कालातीत ब्रह्म के सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थित का समन्वय—

यह ठीक है, और बिल्कुल ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के समतुलन में कालानुबन्धी प्रतीक-धर्म्मात्मक--प्राकृत--आचार--धर्म्म--कर्म्मों की कोई स्वरूपसत्ता नही है । यह भी ठीक ही है कि, इन आचारधर्म्मों में से कोई भी कालिक--दैशिक--अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म्म उस गुणातीत अनन्ताव्ययब्रह्म के प्रतीक नही बनसकते । यह भी सर्वात्मना सुसङ्गत ही है कि, 'सांस्कृतिक--आयोजन' रूप लोकधर्म्मो का प्रतिपादक पुराणशास्त्र, 'सांस्कृतिक--आचार' रूप वर्णाश्रमधर्म्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र, एवं वर्णाश्रमधर्म्ममूला 'संस्कृति' का प्रतिपादक सर्वशास्त्रमूर्द्धन्य--स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय-वेदशास्त्र, आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक--गुणात्मक--भावों के ही प्रतिपादक बनते हुए उस गुणातीत के प्रति कोई भी निमित्तता नहीं रख रहे * । क्योंकि वह गुणातीत गुणात्मक, अतएव कालात्मक शब्द की वाच्यार्थता से सर्वथा ही अतीत, अतएव असंस्पृष्ट ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उस के सम्बन्ध में यह आस्था भी अवश्य ही समादरणीया ही है कि, वह किसी भी प्राकृत धर्म्म, आचार--आदि से कदापि प्राप्तव्य नहीं है । अतएव च--'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के अनुसार वह तो योगजनिता संसिद्धावस्था में काल-पाकर स्वयं ही आविर्भूत--अभिव्यक्त हो पड़ता है । कदापि उस के लिए कार्य्य--कारणात्मक कोई भी प्रयास, कर्म्म, धर्म्म, वाञ्छनीय नहीं है ।

२५८-तद्धारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मस्तिष्क से जगन्मिथ्यात्त्व-कल्पना की प्रवृत्ति, तदनुग्रहेणैव कर्म्मत्यागात्मक कल्पति-त्याग-संन्यास-भावों का काल्पनिक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों, इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अध्यासवादी दार्शनिकों नें, एवं तदनुगामी गतानुगतिक-भावुक-सन्त-सम्प्रदायों नें शास्त्रीय आचारधर्म्मों, वर्णाश्रमसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों, वेदशास्त्र-सिद्ध यज्ञादि कर्म्मों, आदि आदि समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों-धर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर देना हीं उचित ? कर्त्तव्य मान लिया होगा ? । इसी भावना से संसार इन के लिए असार प्रमाणित हो गया होगा ? । अतएव उस 'अकृत' के व्यामोहन में इन्होंनें 'कृत' का परित्याग कर दिया होगा ? । इसीलिए ये अक्रतु (अकर्म्मण्य) बन गए होंगे ? । और इसीलिए इन्होंनें सम्पूर्ण प्राकृत-भावों का 'त्याग' कर दिया होगा ? ।

---

*--त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !—(गीता) ।

२५६-कर्म्मत्यागात्मिका-अध्यासमूला-कल्पित-वेदान्तभावुकता के व्यामोहन का समस्त इतिवृत्त, एवं-'मनुष्या एवैके-अतिक्रामन्ति' श्रुति का संस्मरण-

'होगा' ?, यह इसलिए कहना पड़ रहा है कि, अहोरात्र त्याग-तपस्या-अपरिग्रह की घोषणा में निमग्न भी न तो आजतक किसी दार्शनिक-शिरोमणि को 'अव्यक्त' ही होते देखा, न किसी सन्त को, तदनुगत भावुक-वैरागी को अपने भौतिक-स्वरूप से असंस्पृष्ट ही देखा, सुना। वही शरीर, शरीर के वे ही अशन-पानादि-कर्म, वही मन, वही बुद्धि, वही संसार, उसी में परिभ्रमण, उसी के प्राकृत पदार्थों में इन सब 'वही-वही' नामक प्राकृत-भावों का स्वरूप-रक्षण, आदि से अन्त पर्य्यन्त यों प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से प्राकृत-भावों का समालिङ्गन, और साथ ही में इन सब के प्रति-'मिथ्यादृष्टि', 'असारदृष्टि'-'त्यागोद्घोष'-'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येद्-अकर्म्मणः'। यही कर्म्मत्यागात्मक वेदान्त-व्यामोहन का वह समस्त इतिवृत्त है, जिसने भावुक मानवों को दिग्भ्रान्त-स्वलभ्रान्त-प्रमाणित कर रक्खा है। सम्पूर्ण काम होते हैं इन के भी दिग्-देश-काल-सीमाओं में ही। किन्तु इन के लिए दिक्-देश-काल-के साथ 'मर्य्यादा' नाम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही इन की दिग्-देश-कालातीतता है। क्यों ?, ठीक है न ?। सचमुच ऐसे दिग्देश-कालातीत नवग्रहग्राहात्मक उपदेशक-विवेचकों के अनुग्रह से ही तो आचारनिष्ठापि भारतीया प्रजा अपनी मर्य्यादिता-दिग्देशकालसीमाओं का अतिक्रमण करती हुई-'न पशवः-अतिक्रामन्ति' की भी सीमा का उल्लंघन करने वाले-'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' इस श्रौतवचन को अक्षरशः चरितार्थ करती हुई तथाकथिता अमर्य्यादिता नियमिताचारशून्या स्वैराचार की ही अनुगामिनी बन गई है।

२६०-'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' मूलक 'योग' शब्द के स्वरूप-समन्वय के सम्बन्ध में पारिभाषिक-दिग्दर्शन, एवं 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय-

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के 'योग' के अर्थ का भी क्या समन्वय किया है कभी उन आचारशत्रुओं ने ?। सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारधर्म्म-कर्त्तव्यकर्म्मों के परित्याग का नाम ही क्या 'योग' है ?, जिसके संसिद्ध होने पर अनन्तब्रह्म अभिव्यक्त हो जाया करता है। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' ही एकमात्र 'योग' की परिभाषा है। अवश्य ही आचारात्मक कर्म्म त्रिगुणात्मक है, अतएव प्राकृत बन्धन का प्रवर्त्तक है। किन्तु वही आचारात्मक प्राकृत गुणात्मक कर्म्म 'कौशल' रूप 'योग' के कारण अपनी गुणात्मकता से पृथक् होता हुआ अकर्म्मात्मक कर्म्म बन कर उस अकर्म्म-अकृत-अक्रतु-रूप अनन्ताव्ययपुरुष का संग्राहक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है, इस तथ्य का समन्वय कर ही नहीं सके वे कर्म्मशून्य भाग्यहीन जगन्मिथ्यात्ववादी दार्शनिक। तथा संसार, और उस के कर्म्म को असार समझ बैठने वाले वीतरागी सन्यासी जी, त्यागी जी महाराज, एवं तदनुगत भावुक सन्तसम्प्रदायवादी-गण। योगात्मक कर्म्मकौशल से वही प्राकृत-कर्म्म अप्राकृत कर्म्म बन जाता है, अबन्धन-निष्काम कर्म्मात्मक ईश्वरकामकर्म्मात्मक सहजकर्म्म बन जाता है, जो कि गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि दार्शनिकों के सुप्रसिद्ध प्राकृत ज्ञान,

भक्ति, कर्म्म, नामक तीनों कल्पित योगों से सर्वथा पृथक् वैसा गुह्यतम योग ही है, जिस का अत्र विस्तार अनपेक्षित है * ।

२६१–धारणा–ध्यान–समाधि–लक्षण,–भावुकता–संरक्षकमात्र अभिनवयोग से असंस्पृष्ट बुद्धियोगात्मक गीता का योग, एवं स्वधर्म्मनिष्ठात्मक–आचारयोग की योगात्मकता, और–'योगी भवार्जुन !' का समन्वय—

नापि इस कौशलात्मक योग से वह धारणा–ध्यान-समाधि-लक्षण-दार्शनिक योग (पातञ्जलदर्शन-सम्मत सिद्धि–चमत्कार-व्यामोहनात्मक–चान्द्री प्रकृति से समन्वित प्राकृतयोग) ही अभिप्रेत है, जिसका 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (वे० द० २।१।३।) इत्यादि रूप से स्वयं दार्शनिकसूत्र ने हीं निराकरण कर दिया है । अपितु यह तो शास्त्रीय आचारात्मक, वर्णाश्रमाचारसिद्ध-लोकस्वरूपसंरक्षक-वह योग है, जिसके साथ मानव की व्यक्तिगत एषणा का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है । यह तो सुप्रसिद्ध आचारात्मक धर्म्मरूप कर्त्तव्यकर्म्मात्मक वह योग है, जिसे 'स्वधर्म्म' कहा गया है, जो 'यज्ञार्थकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जो सर्वथा 'अबन्धन' ही माना गया है÷। यह तो वैसा योग है, जिस स्वधर्म्मरूप क्षात्रयोग का अनुगमन कर अर्जुन 'योगी' बन गया था–'तस्माद्योगी भवार्जुन' ! कदापि अर्जुन धारणा-ध्यान-समाधिरूप अव्यक्तप्रधान कायक्लेशात्मक योग की साधना में प्रवृत्त नहीं होगया था भगवान् के–'योगी भवार्जुन' ! इस आदेश के माध्यम से । अपितु अपनी प्राणात्मिका–जीवभावना का परित्याग कर गुणातीता अव्ययभावना से गुणातीत बनते हुए इसने बुद्धियोगात्मक स्वधर्म्मात्मक योग का अनुगमन कर दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को निःशेष ही बनाया था ।

२६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध–आधिदैविक–सृष्टिसर्गबोध से अपरिचित रह जाने के दुष्परिणाम, एवं सर्गस्वरूपवञ्चिता-काल्पनिक आध्यात्मिकता के व्यामोहन से व्यामुग्ध, विविध मतवादासक्त–दिग्देशकालभ्रान्त राष्ट्रीय–जनमानस—

वस्तुस्थिति वास्तव में उस आधिदैविक सर्ग से सम्बन्ध रख रही है, जिसका न तो दार्शनिक ने ही स्पर्श किया, एवं न तत्–गतानुगतिक साम्प्रदायिक सन्तोंनें हीं । केवल अधिभूत, और केवल अध्यात्म, इन दो के वाग्विजृम्भण में हीं इनके सम्पूर्ण प्रयास समाप्त होगए । पार्थिव–साम्वत्सरिक–मूर्त्त–भौतिक द्रव्यों की नामावली से उत्पीड़ित दार्शनिकों नें अपने शरीर के साथ ही इन नामों का सम्बन्ध जोड़ कर अपना कर्त्तव्य समाप्त कर लिया । एवमेव आधिदैविक सर्ग के जो नाम इनके सम्मुख आए, उनका भी इन्होंनें अपने इस कल्पित अध्यात्म के साथ ही समन्वय जोड़ जाड़ कर आधिदैविक सर्गानुगत आधिभौतिक आचारों की उपेक्षा हीं कर डाली । 'पिण्ड' ही इनके लिए इनका सम्पूर्ण काल्पनिक 'ब्रह्माण्ड' बन गया । ये स्वयं अपने आपको उसकी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कर सके । अपितु उस सम्पूर्ण को ये अपनी महिमा ? के गर्भ में

---

*–७०० पृष्ठात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस अबन्धन–कौशलरूप–योगात्मक कर्म्मलक्षण 'बुद्धियोग' का स्वरूप स्पष्ट कियां जाचुका है ।

÷–यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः । (गीता) ।

ही विलीन कर बैठे अपने व्यक्तित्व-निमोहन के कारण। 'अडसठ तीरथ घट में बिराजे, कर दरसण काया माँही' कहते हुए इन भक्तोंनें सम्पूर्ण तीर्थों को अपने मानस सङ्कल्पमात्र में ही निमज्जित कर लिया। अतएव न तो इनके लिए इनके भूतपिण्ड–शरीरपिण्ड (जिसे ये भ्रान्ति से अध्यात्म मान बैठे हैं) के अतिरिक्त प्रतीक प्रतिरूप–प्रतिमान–रूप आधिभौतिक तीर्थों का ही कोई महत्त्व शेष रहा, न इनके मूलभूत आधिदैविक तीर्थों के महामिद्ध स्वरूपों का ही ये समन्वय कर सके। 'अध्यात्म' नामच्छल से ये अपने नश्वर शरीर का ही उपमर्द्दन करते रह गए, जहाँ शून्य के अतिरिक्त और क्या मिलना था। तभी तो–'चामडा की पूतली भजन करए' जैसे भजन विनिःसृत हो पड़े इन अध्यात्मवादियों के श्रीमुख से। यों अनन्तब्रह्म के ही महिमामय आधिदैविक–प्राकृतमर्ग को विस्मृत कर बैठने के दुष्परिणाम–स्वरूप ही तन्मूलक अधिभूत, एवं तन्मूलक अध्यात्म–सभी कुछ विलुप्त होगया इनके लिए। रह गया -'शरीर' नामक काल्पनिक अध्यात्म। और काल्पनिक संसार के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म का जोड़ तोड़ बैठाना ही इनका समस्त कर्म्मकौशल प्रज्ञाकौशल बना रह गया, जिस इस कल्पना नें ही तो इन्हें आज उस स्थिति पर ला खड़ा किया है कि, इनके लिए सर्वत्र इन बुद्धिवादगम्य–व्याख्याओं के अतिरिक्त अनुरञ्जन का और कोई भी तो क्षेत्र नहीं रह गया है। आचारात्मक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों से शून्य ये बुद्धिवादी दार्शनिक, ये पिण्डब्रह्माण्डवादी सन्त, और इनका अन्धानुकरण करने वाले ये भावुक मानवभक्त, सभी सम्मिलितरूप से आज धर्म्मात्मक कर्त्तव्य को, किंवा कर्त्तव्यात्मक धर्म्म को राष्ट्रमानव के लिए सर्वथा निरपेक्ष ही तो प्रमाणित करते जारहे हैं, जिसके परिणाम, किंवा भीषणतम घोरघोरतम भयावह दुष्परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख प्रत्यक्ष प्रमाणित होचुके हैं।

२६३–आधिदैविक–भावानुगत 'सर्ग' की प्राकृतता, एवं 'प्रतिसर्ग' की अप्राकृतता, तदाधारभूत शाश्वतब्रह्म-लक्षण मनु, तथा प्रलयावस्था में भी मनु की शाश्वतता का समन्वय—

आधिदैविक सर्ग का स्वरूप हम यह बतलाता है कि, इसका सर्गानुगत महिमारूप जहाँ प्राकृत है, वहाँ प्रतिसर्गात्मक स्वस्वरूप अप्राकृत ही है। महतोमहीयान् स्वरूप ही प्राकृत विश्व है, एवं अणोरणीयान् स्वरूप ही अप्राकृत आत्मा है। अप्राकृत आत्मा ही महिमा से प्राकृत विश्व बना है। अप्राकृत आत्मा का नाम आधिदैविकसर्ग–परिभाषा में है–'मनु'। आधिदैविकसर्ग के स्वरूप–विश्लेषक पुराणशास्त्र से हम सुनते आए हैं कि, जब जब भी प्राकृत प्रलय होता है, तो मनु इस प्रलय में बच जाते हैं। प्रकृति अपना स्वरूप संवरण कर लेती है, जैसाकि इसका सहज स्वभाव है। किन्तु मनु-रूप शाश्वत अनन्त ब्रह्म की तो कोई भी क्षति नहीं होती इस प्राकृतप्रलयावस्था में भी *। अणोरणीयान् शाश्वतब्रह्मरूप अनन्त मनु ही वह कालातीत तत्त्व है, जिसके एक एक अन्तर–प्रत्यन्तर–सूक्ष्मान्तर का नाम एक एक मन्वन्तरकाल है, जोकि मन्वन्तरकाल इस मनु की ही, शाश्वतब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है।

---

*-इन्द्रमेके, परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। (मनु)

२६४–शाश्वत मनु, एवं उनका शाश्वत मन्वन्तरकाल, तथा मनुपत्नी 'मनावी' का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अतएव मनन्तररूप काल अवश्यमेव शाश्वतमनु से अभिन्न है। कौनसा मन्वन्तरकाल ?। क्या वह मन्वन्तरकाल, जिसके अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल–पर्य्यन्त पूर्व में आठ विवर्त्त बतलाए गए हैं ?। निषेध नही करेंगे। किन्तु स्वीकृति में हम उस मन्वन्तरकाल को आप के सम्मुख रक्खेंगे, जो मनु, और सुप्रसिद्ध मन्वन्तर, इन दोनों के मध्य में एक और तीसरा ही रहस्यात्मक वैसा मन्वन्तर प्रतिष्ठित है, जो मनु की महिमा को प्राकृतकालात्मक मन्वन्तर के साथ समन्वित करता है। और वही मध्यस्थ मन्वन्तर है वह सुप्रसिद्ध–'मनावी' तत्त्व, जोकि–'मनुपत्नी' नाम से प्रसिद्ध हुई है पुराणशास्त्र में, एवं ब्राह्मणग्रन्थों में जो–'इड़ा' कहलाई है।

२६५–रुक्माभ–स्वप्नधीगम्य–अणोरणीयान् -मनु, तदभिन्ना श्रद्धात्मिका 'इड़ा', एवं–'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' का संस्मरण—

अणोरणीयान् मनु * की महिमा का नाम ही अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सरकाल–पर्य्यन्त व्याप्त प्राकृत विवर्त्त है। अणोरणीयान् मनु 'प्रशासिता' है। अर्थात् शब्दात्मिका व्याख्या में तो 'अक्षर' (प्रकृति) ही इन का स्वरूप है। अक्षर ही शास्ता, प्रशासिता माना गया है। 'रुक्माभम' शब्द इन के कर्म्मकौशलात्मक 'योग' का परिचायक है। पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व का केन्द्र हिरण्मय सूर्य्य ही है, जिसे रुक्ममण्डल (सुवर्णमण्डल) भी कहा गया है। यही सौरकेन्द्रात्मक अक्षर बुद्धियोगात्मक–'योग' की प्रतिष्ठाभूमि है, जिसे आधार बना लेने के अनन्तर प्राकृत विश्वभार सर्वात्मना समतुलित होता हुआ निर्भार बन जाता है। केन्द्रानुगत भार भार रहता ही नहीं,–नेमवग्लापयन्ते। केन्द्रविच्युति में हीं प्राकृतभार भार बन कर मानव को उत्पीड़ित किया करता है, जिस इस केन्द्रविद्या का ही–'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। मनुपत्नी मनावी–इड़ा ही वह 'श्रद्धा' है, जिस से अणोरणीयान् मनु (केन्द्राक्षररूप सत्य) प्राकृत विश्वमहिमारूप से अभिव्यक्त हुए है। महिमाभाव ही व्यक्त मन्वन्तर है, एवं मनु ही केन्द्ररूप है। इस केन्द्रसत्य, तथा महिमासत्य का संयोजक हृदयमन्वन्तरात्मक–मनुपत्नीरूप–श्रद्धातत्त्व ही है—'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्'।

२६६–परमपुरुषात्मक मनु, तदभिन्ना अक्षरप्रकृति, एवं मनुके तात्त्विक–स्वरूप के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

इसप्रकार केन्द्रीय तत्त्व यद्यपि है अक्षर (प्रकृति) ही। किन्तु यह केन्द्र अपने केन्द्ररूप से, विशुद्ध केन्द्ररूप से उस अनन्ताव्यय से अपृथक् ही प्रमाणित है। महिमात्मक अनन्तकाल–प्राकृतकाल–का माया–

---

* प्रशासितारं सर्वेषां–अणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः।
जन्म–वृद्धि–क्षयै–र्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
—मनुः १२।१२२,१२४।

कृतात्मान के साथ अवसान माना जासकता है । किन्तु केन्द्रात्मिका मनुरूपा हृदयाक्षरस्वरूपिणी मूलप्रकृति का बीजात्मक (बलात्मक) स्वरूप तो पुरुषाव्ययवत् अक्षुण्ण ही है, शाश्वत ही है–'प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि' । अतएव मनुरूपा हृदयाक्षरप्रकृति को तो उस परपुरुष से अभिन्न ही मान लिया गया है । अतएव प्रमाणिता अक्षररूप भी मनु के लिए राजर्षिने–'तं विद्यात पुरुष परम' रूपेण 'परपुरुष' (अव्यय-पुरुष) नाम अन्वर्थ मान लिया है । केन्द्रात्मिका मूलप्रकृति 'पर' (अव्यय) है, इसी का महिमात्मक-बलप्रकृतिभाव 'परम' (अक्षर) है । अव्ययात्मक केन्द्रीय अक्षर ही मनु है, एव अक्षरात्मक-महिमामय कालरूप मनु ही मन्वन्तर है । मनु अव्यय है, मन्वन्तर अक्षर है । अव्यय पुरुष है, अक्षर प्रकृति है । और इस दृष्टि से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अव्यय से अभिन्न बनते हुए 'त विद्यात पुरुष परम' को भी चरितार्थ कर रहे हैं । ये ही मनु कालात्मक–प्रकृत्यात्मक बन कर इन्द्र–प्राण–कालाग्नि–प्रजापति–आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतसर्ग के सर्वेश्वर हैं, ये ही प्राकृत मनु पूर्वोपवर्णित 'प्राकृतमानव' की मूलप्रतिष्ठा बने हुए हैं । एवं ये ही मनु अपने अप्राकृत–अव्यय–रूप शाश्वतब्रह्मभाव से 'अप्राकृत-ऋषिमानव' (कालातीत मानव) की प्रतिष्ठा बन रहे हैं । मनु के इस हृदयात्मक कालातीत रूप, तथा महिमात्मक कालरूप का समष्टिरूप से ही निरूपण करते हुए राजर्षिने कहा है—

कालात्मको मनु – { एतमेके वदन्त्यग्नि मनु–मन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणम् } —प्राकृतमनु –अक्षर

कालातीतो मनु – { .... अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ } —अप्राकृतमनु –अव्यय

२६७–कालातीत–अप्राकृत–मनु का विश्वकर्म्मात्मक–योगात्मक–कौशल, एवं–'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का समन्वय—

केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मात्मक–अप्राकृत–कालातीत मनु अपने महिमारूप–अनन्तकालात्मक–प्राकृत-कालिक विश्वरूप को, एवं विश्वाचारात्मक विश्वकर्म्म को दिग्देशकालचक्र से व्यवस्थित करते हुए, स्वयं प्रतिष्ठारूप से सब के आधार बनते रहते हुए अपने केन्द्रीय समत्व (अव्ययसमत्व) रूप योगात्मक कर्म्म-कौशल से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' । असङ्गो ह्यय पुरुषः–न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति । एवमेव इसी दिव्य मनु–अप्राकृत मनु से समन्वित अप्राकृत ऋषिमानव इसी समत्वयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण प्राकृत आचारों में उत्तरदायित्वरूपेण यावज्जीवन * कर्म्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुरूप से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' ।

२६८–सृष्टि में प्रविष्ट मनुब्रह्म की शाश्वत-अभ्युदय-निःश्रेयस्-ता का तात्त्विक-समन्वय-

गुणात्मक प्राकृत कर्म्म से जहाँ मानव का प्राकृत मनुस्वरूप अभ्युदय-पथानुगामी बना रहता है, तथैव गुणातीत दृष्ट मनु से अनुप्राणित कर्मकौशलात्मक–बुद्धियोग से इस का अप्राकृत मनुस्वरूप निःश्रेयस्-

* कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥
—ईशोपनिषत्

पथानुगामी बना रहता है। और यों–'तत्तु समन्वयात्' मूला समन्वयनिष्ठा से मानव का उभय पुरुषार्थ संसिद्ध हो जाता है। बुद्धियोगात्मक इस संसिद्धिभाव से ही इन में अनन्तब्रह्म स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाता है। योगनिष्ठा के द्वारा आचारधर्म्मों का अनुगमन ही योगसंसिद्धि है। और 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' का यही तात्त्विक समन्वय है।

२६९–प्राकृतिक–त्रैगुण्य से असंस्पृष्टा प्रकृति की उपादेयता, एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का समन्वय—

त्रिगुणमात्र का विरोध है, कर्म्म का नहीं। भगवान् ने 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' ही कहा है, वेदशास्त्रसिद्ध आचारात्याग के लिए नहीं ! यदि ऐसा होता, तो सम्पूर्ण–कृष्णार्जुनसंवाद (गीताशास्त्र) ही व्यर्थ प्रमाणित हो जाता। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः', अर्थात् वैदिक कम्मकाण्ड गुणात्मक है व्यक्तिगता कालकामना के अनुबन्ध से। यदि यहाँ गुणभाव नहीं है, तो वही कर्म्म बुद्धियोगरूपेण अबन्धन है–'न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत्'। अतएव सर्वात्मना संसिद्ध है कि, आत्मब्रह्माभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली योगसंसिद्धि श्रुति-स्मृति-पुराण से संसिद्ध-संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही हैं *। सांस्कृतिक आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों की क्या स्वरूप–दिशा है ?, प्रश्न का उत्तर इसी निबन्ध के पूर्वखण्डों से गतार्थ है। यही वह प्रासङ्गिक प्रतिज्ञात दृष्टिकोण था (देखिए ५१६ वाँ पृष्ठ, २५० वाँ परिच्छेद), जिस के प्रासङ्गिक समन्वय के लिए हमें आचारधर्म्मात्मिका–प्राकृतकर्म्मनिष्ठा (योगनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा) के सम्बन्ध में इस कर्णकटुप्रसङ्ग का अनुगमन कर लेना पड़ा।

२७०–प्रतीकविधि से असंस्पृष्टा 'प्रतिरूपविधि', तन्माध्यम से अनन्त–मानव की अनन्तब्रह्मानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

पुनः प्रकृतमनुसरामः। अप्राकृत ऋषिमानव ही एक वैसा तथ्य है, जो उस अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक ही नहीं, अपितु–'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' के अनुसार प्रतिरूप बन सकता है, बना ही हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, स्वयं मानव ही उस अनन्त का साक्षी है। उस के, और इसके मध्य में कोई भी वैसा प्राकृत माध्यम नहीं है, जो इसे उस तक पहुँचादे। भारतीय निष्ठाक्षेत्र में उस के, और इस के मध्य में यदि कोई माध्यम है, तो वह है–एकमात्र 'अप्राकृत ऋषिमानव', जिसे दृष्टान्तरूप से प्रतीक मान–कर प्राकृत मानव अपना अभ्युदय–निःश्रेयस् साधन कर सकता है, अवश्य ही करलेता है। और यही पुनः हमें कालप्रेमियों का ध्यान एक अन्य प्रासङ्गिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर ही देना है, जिस के बिना यह प्रतीकता अभ्युदय–निःश्रेयस् के स्थान में 'प्रत्यवाय' का ही कारण बन जाया करती है।

---

* इन तीन प्रक्रमों में से 'सांस्कृतिक–आयोजन' नामक तीसरे प्रक्रम का दिग्दर्शन–'भारतीय–सांकृतिक–आयोजनों की रूपरेखा' नामक सहस्र पृष्ठात्मक (प्रकाशित) स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है।

२७१–अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक–दृष्टान्तात्मक–ऋषिमानव के अन्वेषण–उपलब्धि की दुरधिगम्यता—

'अप्राकृत ऋषिमानव' अवश्य ही उस अनन्तब्रह्म के, और इस सादिसान्त प्राकृत मानव के मध्यम में नमा मध्यस्थ–प्रतीक–है, जिस की दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता–मध्यस्थता से यह उसे प्राप्त कर लेता है अनायासेनैव, जैसेकि कालात्मक सादि–सान्त भी प्राकृत विश्व उस अनाद्यनन्त कालातीत अव्ययब्रह्म की अनन्तता से मध्यस्थ हृदयमनुरूप अप्राकृत मनुतत्त्व के माध्यम–प्रतीक से–समन्वित होता हुआ महिमामय बन रहा है। किन्तु प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि, उस अप्राकृत ऋषिमानव को इस प्राकृत विश्व में हम ढूँढें कहाँ ?, जबकि स्वयं–अप्राकृत मनु की भाँति प्राकृत–मूर्त्त–भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ वह अणोरणीयान ही बना हुआ है हम प्राकृत मानवों की स्थूल–भूतदृष्टि के लिए।

२७२–कालात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मनः–शरीर–बुद्धि–लक्षण–प्राकृतभावों का अन्वेषण सम्भावित, एवं कालातीत–पुरुषविध–आत्मरूप–ऋषिमानव का अन्वेषण असम्भव, तथा प्राकृत मानव के सुख–स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है, प्राकृत शरीर, मन, बुद्धि, महान्, और अधिक से अधिक अव्यक्त का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा ही यदि समाप्त कर डालें, तो सर्वान्त में इन पाँचों पर्वों का अभ्युद्भूत महिमारूप चामत्कारिक जीव ढूँढ लिया जासकता है। यों प्राकृत विश्व में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त ढूँढने से और किसी अप्राकृत मानव का तो साक्षात्कार सर्वथा असम्भव ही है। जिस प्राकृत मानव को हमने पूर्व में षड्विध प्राकृतिक विवर्त्तात्मक ही बतलाया है, ऋषिमानव तो इन ६ ओं से अतीत ही है। भला उसे इस विश्व में कैसे, कहाँ प्राप्त किया जासकता है ?। सर्वथा असम्भव। अतएव पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल। बड़े प्रयास से, दिग्देशकालव्याख्याओं के महान् आटोप से जैसे तैसे तो पहिले अनन्तकाल की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इसे भी प्राकृत भावानुबन्ध से अन्ततोगत्वा छोड़ देना पड़ा। पुनः प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृतमानवों के माध्यम से अप्राकृत–ऋषिमानव की खोज आरम्भ हुई। उसका स्वरूप महता समारम्भेण प्रतिपादित हुआ। और इसी आधार पर जब यह आशा हो चली थी कि, अब इस अप्राकृत–ऋषिमानव की प्रतीकता, किंवा प्रातरूपता से तो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा, तो सहसा इस प्राकृत–अन्वेषण–कर्म्म ने, इस ढूँढा–ढाँढी ने पुनः प्राकृत मानव के सम्पूर्ण सुख–स्वप्न वेतालवृत्ति में ही परिणत कर दिए, इत्यहो प्राकृतिकतत्त्वचिन्तनस्य–महती–अभ्यता, महती यत्नता।

२७३–सर्वदिक्तः असहाय–विवश–मानव का अशरण–शरण–धर्म्म, एवं तत्स्वरूप–जिज्ञासा—

अपने आप्तपुरुषों से परम्परया ऐसा सुनते आए हैं कि, जब मानव चारों ओर से सङ्कटपरम्पराओं से आवृत हाजाता है, तो उस विपन्नदशा में माता–पिता–गुरु–भ्राता–भगिनी–मित्र–पुत्र–सेवक–आदि आदि सभी विमुख हो जाते हैं। और इस सर्वथा असहायावस्था में एकमात्र 'धर्म्म' ही मानव का विपत्ति से सन्त्राण करता है। 'कोऽयं धर्म्म' ?। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यवस्थापित, इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म्म है ?।

२७४–प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका भावुकतापूर्णा अनुभूतियाँ, एवं गुरुओं की अनुभूति से भावुक शिष्यों का बुद्धिविमोहन—

यदि ऐसा होता, तब तो चिन्ता ही क्या थी। इस सम्पूर्ण प्राकृतवाद को तो हम आरम्भ में ही जलाञ्जलि समर्पित कर बैठे हैं। फिर तो प्राकृत मानवों की अनुभूति को ही क्यों, साक्षात् इन्हीं को प्रतीकात्मक माध्यम नहीं मान लेते हम तत्प्राप्ति के लिए, जैसेकि अन्यत्र ऐसा ही कुछ माना, और मनवाया जा-रहा है। प्राकृत मानव जहाँ अपनी अनुभूतियों, अपने चमत्कारों से स्वयं ही प्रतीक बन बैठते हैं जिन प्रकृत्यभिनिविष्ट भावुक मानवों के लिए, उनके लिए तो ये प्राकृत–प्रतीक–गुरुमानव ही पर्य्याप्त हैं। उन भावुकों के लिए तो अनुभूतिपरायण–चमत्कारपरायण–मध्यस्थ गुरु प्रतीक ही नहीं, अपितु ये गुरुजी ही साक्षात् ब्रह्म हैं *। गुरुजी की अनुभूति–अनुभव–चमत्कारों की भी कहाँ आवश्यकता है इन भावुक भक्तों को। उनका उच्छिष्ट भोजन, उनका चरण–मर्द्दन, आदि आदि उनके स्थूल भूतों का सेवन ही पर्य्याप्त है इन भक्तों के उद्धार के लिए। किसी आचार–धर्म्म–कर्म्म–लोक-समाज–परिवार–राष्ट्र-निष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु अहोरात्र सर्वतोभावेन ऐसे गुरुजी की सेवा–शुश्रूषा ही इन भावुक भक्तों के न केवल इसी जन्म के, अपितु इनके अनेक जन्मों के पापों का सर्वथा विनाश ही तो कर देती है। भूले, बहुत भूले। गुरुजी को सेवा कहाँ अभीप्सित है ऐसे सेवकों की। असंख्य हैं इनके ऐसे सेवक। किन किन को सेवा का अवसर प्रदान करें ये एक 'गुरुजी महाराज' नहीं–'गुरमहाराज'। 'गुरुजी' नहीं, अपितु 'गरूजी'।

२७५–अनुभूतियों के परमाचार्य्य ? गुरुवरों ? के अकाण्ड–ताण्डव, एवं तन्निग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिभव—

अतएव चेलों पर निःसीम अनुग्रह कर ये 'गुरह्माराजा' स्वस्थान में मूर्त्तिवत् सुशोभित–विराजमान रहते हुए ही तत्तत्प्रान्तवर्त्ती अपने चेलों के लिए वैसी भूतसेवा [द्रव्य–वस्त्रादि परिग्रहसेवा] की ही सुव्यवस्था कर देते हैं, जिसमें कदापि कोई अन्तराय नहीं आने पाता। हाँ, चेले अन्ततोगत्वा अभी चेले हैं। भूल भी कर सकते हैं इस परोक्ष सेवाकर्म्म में। अतएव वर्ष में चेलों की योग्यता के अनुपात से ?, एक दो बार स्वस्थान में किसी भी अनुभवपूर्ण निमित्त से सेवकों का आमन्त्रण कर लेना कदापि विस्मृत नहीं करते गुरुदेव। यदि इस पद्धति में भी शिथिलता प्रतीत होने लगती है, तो परदुःखकातर–दुःख-भय–भञ्जक गुरुदेव स्वयं ही पाँवपियादे ही भक्तों के घर पहुँच जाते हैं उद्बोधनप्रदानानुग्रहमात्र के लिए। तत्प्रतीकार में सेवक भक्त जो कुछ करते हैं, वह सब तो आनुषङ्गिक ही मान लिया जाता है। निश्चयेन कर्म्मभूमि इस भारतदेश की कर्म्मगर्भिता पावन-मिट्टी से कृतशरीरी अस्मदादि प्राकृत मानव तो कदापि ऐसी सुलभा प्रतीकता के पात्र नहीं ही बन सकते। इसीलिए तो अप्राकृत-प्रतीक-अन्वेष्टव्य बना था हमारे लिए, जो मानवरूप में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव 'अप्राकृत-ऋषिमानव' तो केवल हमारे मानस जगत की

---

* गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवमहेश्वरः
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥
—लोकभावुकतासूक्तिः

ही वस्तु बने रह गए। और इसी सर्वद्वारावरोध-स्थिति, किंवा विषमा परिस्थिति में 'धर्म्म' ने ही हमारा परित्राण किया।

२७६-मानव का अनन्य-सहायक मानवधर्म्म, तत्प्रतिपादिका शास्त्रत्रयी, तन्मूलक ऋषिमानवदृष्ट धर्म्म, तन्निबन्धन प्राणात्मक ऋषितत्त्व, एवं तदुपबृंहित आर्ष-धर्म्मात्मक शास्वतधर्म्म—

किस धर्म्म ने ?, मानवधर्म्म ने। किस मानवधर्म्म ने ?, शास्त्रसिद्ध मानवधर्म्म ने ?। स्वरूप क्या है शास्त्र का ?, श्रुति-स्मृति, और पुराण। क्या शास्त्रसिद्ध धर्म्म प्रमाण बन गया ?, ऋषिदृष्ट होने से। के ते ऋषय ?, हुए मनुप्राण के महिमामय प्राणात्मक ऋषि। किसने इन ऋषिप्राणों का साक्षात्कार किया ?, उन अप्राकृत मानवोंने, जो बुद्धिगम्या सीमाओं को तोड कर अपनी ऋतुदृष्टि से उन ऋषिप्राणों का साक्षात्कार कर स्वय भी उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध होगए, एवं इसी ऋषिप्राणद्रष्टृत्व से जो शास्त्रद्रष्टा [न तु कर्त्ता] कहलाए, अतएव जो 'अप्राकृत-ऋषिमानव' कहलाए। इन महामहर्षियों की योगसिद्धा आचारधर्म्मनिष्ठा--योगजदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म ही-'आर्षधर्म्म' कहलाया*, यही 'ऋषिधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ, यही स्मृतिभाषा में 'मानवधर्म्म' कहलाया, जिसका मूल श्रुतिशास्त्र में ही सुरक्षित रहा। धर्म्म का धर्म्मतत्त्व प्रतिपादित हुआ ऋषिदृष्ट अपौरुषेय वेदशास्त्र में, विधिरूप आचार-पक्ष प्रतिपादित हुआ स्मृतिशास्त्र में, एवं आयोजनपक्ष प्रतिपादित हुआ पुराणशास्त्र में।

२७७-शब्दशास्त्र की प्रतिरूपता के माध्यम से ही अप्राकृत ऋषिमानव की उपलब्धि—

यों ऋषिदृष्ट शब्दशास्त्र के रूप में ही हमें 'अप्राकृत-ऋषिमानव' उपलब्ध हुए। शब्दशास्त्र को छोड़कर इसके अतिरिक्त प्राकृत मानवों की भाँति ऋषिमानव 'ऋषिमानव' रूप से तो आजतक किसी भी प्राकृत मानव को न तो उपलब्ध हुए ही, न उपलब्ध होंगे ही। वेदसूक्तों के उपक्रम में जो 'ऋषि' नाम हम सुनते आए हैं, उनको किसने देखा ?। उस युग के प्राकृत मानवों ने तो देखा ही होगा उन ऋषिमानवों को, इसके लिए भी कोई आधार नहीं मिल रहा। क्योंकि हम उन्हीं ऋषि-मानवों के मुख से-'न विजानामि' को अद्धा वेद०'-' न त विदाथ०'-'नाहं मन्ये सुवेदेति०' इसप्रकार की प्राकृत-भाषा सुनते हैं, तो हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है। इनकी इस ऋजुभाषा के द्वारा उस युग में भी इनके अप्राकृत-ऋषि स्वरूप को किस प्राकृत मानव ने समझा होगा ?, सन्देह ही है-'सोऽङ्गवेद, यदि वा न वेद' के अनुसार।

२७८-अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् वासुदेव के अप्राकृत-कालातीत-स्वरूप के तद्युग में एकमात्र ज्ञाता वस्वग्नि के अवतार महात्मा भीष्म—

सुनते हैं-अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् कृष्ण को आचारधर्म्मनिष्ठ महात्मा देवव्रत [भीष्म-पितामह] के अतिरिक्त और किसी ने भी ठीक ठीक नहीं समझा था। दुर्योधन जैसे बुद्धिमान्-राजनीति-कुशल-

---

*-आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च। (गीता)

चाणाक्षचतुर ने तो भगवान् की भगवत्ता से सदा ही अपने आपको असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा। तभी तो वह इन्हें राजसभा में बन्दी बनाने के लिए आतुर हो पड़ा था। अतएव कहना पड़ेगा कि, लोकसंग्राहक अवतार-पुरुषों, तथा ऋषिमानवों के प्राकृत-भौतिक स्वरूप के आधार पर, इनकी सहजा-बुद्धिव्यामोहनशून्या-व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा से असंस्पृष्टा-ऋजुवाणी के आधार पर तो न पहिले किसी ने उन्हें समझा, न आज ही कोई समझ सकता।

२७६–भगवान् के महाकालात्मक अनन्त-विराट्स्वरूप के दर्शनमात्र से विकम्पित तत्सखा भावुक आर्जुन—

भगवान के भी प्राकृत नन्दनन्दनरूप का तो सब ने यशोगान कर लिया, इनके प्राकृत बालभाव की, बाललीलाओं की तो सबने आराधना करली। किन्तु विराड्भावानुगत–सर्वानुगत–वासुदेवस्वरूप के साक्षात्कार का सौभाग्य तो इन प्रकृतिवादियों को नहीं ही मिल सका *। सुनते हैं–अर्जुन को क्षणमात्र के लिए विराट्स्वरूप के दर्शनों का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था। क्या परिणाम हुआ इस स्वरूप–दर्शन का ?। अन्ततोगत्वा अर्जुन को, प्राकृत–भावुक–अर्जुन को यही प्रार्थना कर देनी पड़ी कि, भगवन् ! संवरण कीजिए ! अपने इस विराटरूप का। और मुझे तो वही मेरा–सखा–रूप........................ !

२८०–गुरुभक्तों-भावुक-भक्तों के द्वारा अन्तर्य्यामी ? के दर्शन ?, तदतिमान से तद्-द्वारा शास्त्रीय धर्म्माचारों की आत्यन्तिक–उपेक्षा, एवं तथाविध मलीमस–व्यामोहन के प्रति उद्बोधन–प्रदाता श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप आचारधर्म्मशिक्षात्मक गीताशास्त्र—

भावुक भक्त कहते हैं–गुरुकृपा से जब हमें अपने अन्तर्य्यामी के दर्शन मिल गए, तो अब हम इस धर्म्म–कर्म्म–शास्त्रादि के पचड़े में क्यों पड़ें ?। गुरु का ध्यान, और गुरु अपने अनुभव ? द्वारा जिस ज्योति-ईश्वर–अन्तर्य्यामी–सुरत–आदि का ध्यान बतलावें, तदतिरिक्त अब और कुछ भी कर्त्तव्य शेष नही रह जाता हमारे लिए। गुरुभगवान् की, और गुरुभगवान् के अनुभव से प्रमाणित ? भगवान् की रट लगाते हुए ही हम तो भवसागर से पार उतर जायँगे अजामील–गीध–व्याध–गणिकावत्। तात्पर्य्य यही कि, ईश्वर-साक्षात्कार के अनन्तर आचारादि शास्त्रीय-कर्त्तव्य–कर्म्मों की कोई भी अपेक्षा–आवश्यकता शेष ही नही रह जाती इन भावुक-भक्तों की दृष्टि में। किन्तु सत्तासिद्ध भगवान्, तथा उनके सत्तारूप के ही उपासक सत्तासिद्ध ही भक्त, ये दोनों वर्ग तो भावुक भक्तों की उक्त मान्यता के ठीक विपरीत ही गमन करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। जब तक अर्जुन 'अपनी अनुभूति–अनुभव–प्राकृतबुद्धि' से स्थिति के नीर-क्षीर-विवेक का अनुगामी बनता हुआ अपने अनुभव के आधार पर ही पाप–पुण्य की व्यवस्था में तल्लीन रहा, तबतक यह भावुक ही बना रहा। जब अनेक प्रकार की बुद्धिगम्या व्याख्याओं से भी इसकी भावुकता का मूलोच्छेद न हुआ, तो अन्ततो गत्वा

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

—गीता ७।१६।

भगवान् को इसे अपने विराट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन कराने पड़े। इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी भावुकतापूर्णा अनुभूतियाँ, कल्पनाएँ ध्वस्त हुईं, एवं तदनन्तर ही, इस ईश्वरनिष्ठा के माध्यम से ही यह स्वधर्मात्मक क्षात्रधर्म (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त हुआ। आज की परिभाषानुसार तो अर्जुन को इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करतालें' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम-राम-राम-हरे-हरे-में हीं तल्लीन हो जाना चाहिए था आचारात्मक सम्पूर्ण धर्म-कर्मों को छोड़छाड़ कर। किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस भक्त को तो कर्त्तव्यनिष्ठा में आस्था ही उपलब्ध हुई, जबकि आज के भक्त केवल गुरुदर्शनमात्र से ही शास्त्रीय आचारों से विमुख हो पड़ते हैं। अतएव कदापि इस प्राकृत-गुरुभाव को भारतीय प्रज्ञा ने तो मध्यस्थता प्रदान नहीं ही की। इसके लिए तो उसकी प्राप्ति का एकमात्र मध्यस्थ-माध्यम वह शब्दशास्त्र, एवं शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म ही है, जिसे हम अप्राकृत-ऋषिमानव का ही मूर्त्तरूप कहा करते हैं।

२८१-मानव की प्राकृत-कालिक-बुद्धि के लिए अदृष्ट-ऋषिमानव, एवं अदृष्ट सुसूक्ष्म-धर्म्म, तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-श्रुतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामाणिकता—

अदृष्ट हैं हमारे लिए अप्राकृत-ऋषिमानव, तथैव अदृष्ट है हमारे लिए धर्म्म का भी सुसूक्ष्म स्वरूप। अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए वैसा दृष्ट-श्रुत-प्रतीक है, जिसे मध्यस्थ बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं, एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत अभ्युदय का भी रक्षण कर सकते हैं। शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है। यत्-शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्। यतो हि शब्दप्रमाणका एव वयम्। तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ *।

२८२-शब्दात्मिका श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत-ऋषिमानव के प्रति प्रतिरूपशिल्पता, तदनुगता कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्म्माणम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-ऋषिमानव का प्रतिरूप शिल्प है। इसी को प्रतीक बनाकर, इसी से ससिद्ध आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म को माध्यम बना कर प्राकृत मानव कौशलपूर्वक (बुद्धिनिष्ठा-पूर्वक) उस योग को ससिद्ध कर लेता है, जो योगससिद्धि ही कालान्तर में इसमें स्वत ही अनन्तभाव अभिव्यक्त कर देती है। योगात्मक-कर्म्मकौशल से समन्वित वही गुणात्मक आचारधर्म्म शाश्वतधर्म्म-अप्राकृतधर्म्म बनता

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥
—गीता

हुआ प्राकृत मानव को कालान्तर में अप्राकृत-ऋषिमानव की कोटि में हीं ला खड़ा करता है, जिस इस तथ्य का वैखरी-वाणी से कदापि कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव ही नही है। आचारात्मक योग से मानव का केन्द्रीय मनुरूप परपुरुषात्मक अव्ययज्ञान स्वतः ही उद्बुद्ध हो पड़ता है, जिससे कर्म्मजनित त्रिगुणभाव आसक्त होने हीं नहीं पाते। अतएव कर्म्म में सर्वथा वर्त्तमान भी यह योगी अव्ययनिष्ठ ही बना रहता है *। यों आचारनिष्ठा से, आचारात्मिका योगनिष्ठा (धर्म्मनिष्ठा-विधिनिष्ठा—कर्त्तव्यकर्म्मानुगति) से इसका लोकाभ्युदय भी 'प्रकृतिस्थ' बना रहता है, एवं तत्संसिद्ध-व्यवस्थानुगता अव्ययनिष्ठा से इसका आत्मनिःश्रेयस् भी 'स्वस्थ' प्रमाणित होजाता है। तथा च—

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥

—गीता ४।४१।

२८३—स्वनिष्ठात्मिका 'धर्म्मनिष्ठा' का संस्मरण, तन्मूलक स्वस्वरूपबोध, एवं अपौरुषेय तत्त्ववेद के आधार पर आचारधर्म्म की व्यवस्थिति—

अलमतिविस्तरेण। उक्त प्रासङ्गिक अवधेय दृष्टिकोणों के माध्यम से प्रकृत में निवेदन हमें यही करना है कि, मानव को स्वयं अपनी निष्ठा से ही अपना लक्ष्य व्यवस्थित कर लेना है। यह 'अपनी निष्ठा' ही इस की वह 'धर्म्मनिष्ठा' है, जो शब्दशास्त्र के द्वारा ही व्यवस्थित हुई है। अतएव धर्म्मप्रतिपादक पुराण-स्मृतिशास्त्र, तथा धर्म्म के धर्म्मत्त्व (मौलिक रहस्य—ज्ञानविज्ञानात्मिका आधिदैविक—उपपत्ति) का प्रतिपादक अपौरुषेय-स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र × ही इसके अभ्युदय—निःश्रेयस्—संसाधक—स्वरूपबोध का एकमात्र प्रतीक है, जिस की मध्यस्थता से ही अप्राकृत—ऋषिमानव को हमने पूर्व में प्रतीकात्मक दृष्टान्त कह दिया है। ऋषिमानव 'ऋषि' है, इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण नही है। अपितु क्योंकि वह अपनी वाणी से ईश्वराज्ञासिद्ध—अपौरुयेय—तत्त्वात्मक—वेद के आधार पर ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के द्वारा हमारे लिए आचार-धर्म्म व्यवस्थित करता है, इसलिए ही ऋषिमानव हमारे लिए प्रमाण है।

---

*—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्त्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥
-वर्त्तमानोऽपि, आचारात्मके कर्म्मणि प्रवर्त्तमानोऽपि, मयि अनन्ताव्यये।

×—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ ॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

—मनुः २।१०,१३, श्लोक

२८४–मानवऋषि की 'अनुभूति' से असंस्पृष्टा, तद्दृष्टिमात्रानुगता शब्दशास्त्रनिष्ठा, एवं 'स्वानुभूति' के सम्बन्ध में ऋषिमानव के आर्ष उद्गार, तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का संस्मरण—

इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण है कि, यह प्रामाणिकता ऋषि की अपनी अनुभूति से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं रख रही। जब ऋषि से उनकी अनुभूति पूँछी जाती है, तो वे तत्काल यही कह देते हैं कि—'न विजानामि-यदि वेदमस्मि'-'कवीन्पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्'-'नाह मन्ये सुवेदेति'। अपितु-'इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्व्याचचक्षिरे' रूप से अपने प्राकृत-व्यक्तित्वविमोचन से असंस्पृष्ट रहते हुए ऋषि परम्परासिद्ध-शाश्वत-अप्राकृत-धर्म्म को ही हमारे सम्मुख रख देते हैं। अतएव उनका वचन हमारे लिए प्रमाण बन जाता है। और यों आर्षवाणीरूप से अप्राकृत ऋषिमानव अवश्य ही स्वस्वरूपबोध के महान् प्रतीक प्रमाणित हो रहे हैं, जिस प्रतीकता की अन्तिम पर्य्यवसानभूमि तो-'शब्दशास्त्र' ही माना जायगा। कदापि 'व्यक्ति' को, किंवा व्यक्ति की 'अनुभूति' को अन्न कदापि कोई भी प्रतीकता-मध्यस्थता-नहीं दी जासकेगी, नहीं दी गई। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ में ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्त्ति का माध्यम अन्ततोगत्वा एकमात्र 'शास्त्र' को ही माना है, जैसाकि सुप्रसिद्धा सूत्रचतुष्टयी के अन्तिम सूत्र-'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्र से प्रमाणित है।

२८५–ऋषिदृष्टि मे दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित 'आचरण' के माध्यम की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानभूमि शास्त्रीय-आचारनिष्ठ-'आचार्य्य'—

अब इस सम्बन्ध में प्राकृत मानव की केवल एक जिज्ञासा शेष रह जाती है, उसी का समाधान कर यह मीमांसा-प्रकरण उपरत हो रहा है। अप्राकृत, अतएव लोकातीत, योगजदृष्टिपरायण, साक्षात्कृतधर्म्मा (दृष्ट तत्त्व के आधार पर आचरण के अनुगामी) ऋषिमानवों की दृष्टि से दृष्टमात्र (न तु कृत), श्रुति-स्मृति-पुराणोपवर्णित-शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म (कर्त्तव्यनिष्ठात्मक-प्रकृतिभेदभिन्न-स्वधर्म्म) 'आचरण' से ही सम्बन्ध रखता है। इस 'आचरण' पक्ष का माध्यम कौन ?, यही वह अन्तिम प्रश्न है, जिसका समाधनकर्त्ता शास्त्रनिष्ठ, शास्त्रीय आचारपरायण मानवश्रेष्ठ ही यहाँ-'आचार्य्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो तूष्णीं अपने अन्तर्जगत् में जिज्ञासात्मक सम्प्रश्नों का उत्थान करता हुआ शास्त्रानुमोदित, परम्परानुमोदित सुतर्कों के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करता हुआ आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है। ऐसे आचार्य्य को माध्यम बना कर ही अस्मदादि बालप्रज्ञ प्राकृत मानव आचार्य्य के सान्निध्य में-अन्त में-समीप रहते हुए अपने आपको 'अन्तेवासी' बनाते हैं। एवं आचार्य्य के आचरणात्मक धर्म्म के अनुसार आचार्य्य के द्वारा आदिष्ट-प्रदिष्ट-पद्धतियों के अनुसार ही धर्म्माचरण की शिक्षा प्राप्त करने में सफल बन सकते हैं।

२८६–'आचार्य्य, और 'अन्तेवासी' शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं-'आचार्य्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' इत्यादि श्रुति का संस्मरण—

यही आचार्य्य, और अन्तेवासी-शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त है, जिसके साथ स्वानुभवानुगत गुरुपद का, एवं तदनुकरणशील शिष्यपद का कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। आचार्य्य प्रमाण नहीं है अन्तेवासी

के लिए। अपितु आचार्य्य का आचरण प्रमाण है अन्तेवासी के लिए। वैय्यक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं, अपितु शास्त्रसिद्ध आचरण। अतएव आचार्य्य का माध्यम भी तत्त्वतः शास्त्रीय-आचारधर्म्म की ही मध्यस्थता प्रमाणित कर रहा है। वेदरहस्यवक्ता, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारशिक्षक शास्त्रनिष्ठ आचार्य्य ही अन्तेवासी को आचारधर्म्म की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत कराता है। भले ही मानव-स्वप्रतिभा से आचारधर्म्म का मौलिक रहस्य समझ जाय, भले ही गोचारणादि देवभावों के माध्यम से इस में ऋजुभाव का समावेश हो जाय, और भले ही इस ऋजुता से इस में आत्मभाव भी प्रस्फुटित हो जाय। किन्तु तबतक इसका यह बोध अपरिपक्व-अव्यवस्थित ही बना रहता है, जबतक कि यह आचारनिष्ठ आचार्य्य का अन्तेवासी नहीं बन जाता। तभी तो गोचारणात्मक दिव्याचरण से ऋजुभाव में परिणत, अतएव आत्मभाव से समन्वित भी सत्यकाम जाबालि आचार्य्यश्रेष्ठ गोतम के-'ब्रह्मविदेव वै सोम्य! भासि। को नु त्वानुशशास ?' यह जिज्ञासा करने पर यही उत्तर देते हैं कि-"भगवाँस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः-आचार्य्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" इति (छां० उप० ४ अ०। ९ खण्ड)।

२८७-शास्त्ररहस्यज्ञाता-'आचार्य्य', आचार-प्रतिपादक-'शब्दशास्त्र', तद्द्रष्टा 'ऋषि', 'तत्स्मर्त्ता मुनि', तत्संस्थापक 'अवतारपुरुष', आदि मानवविभूतियों का अप्राकृत ऋषिमानवकोटि में अन्तर्भाव—

तदित्थं-वेदशास्त्र का रहस्यज्ञाता आचारनिष्ठ आचार्य्य, तद्द्वारा आदिष्ट आचारात्मक कर्त्तव्य, तत्-प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक शब्दशास्त्र, एवं तद्द्रष्टा ऋषि, स्मर्त्ता मुनि, तथा तत्संस्थापक अवतार-पुरुष, इन सब का परम्परया 'अप्राकृत-ऋषिमानव' कोटि में ही अन्तर्भाव माना जासकता है। एवं अन्ततोगत्वा इस समन्वय के माध्यम से उस कालातीत अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूपात्मक प्रतीकात्मक सिद्धान्तरूप दृष्टान्त अवश्य ही उस-'अप्राकृत-ऋषिमानव' को ही माना जासकता है, जिसके गर्भ में हीं आचार्य्य, तत्कर्त्तव्य, शब्दशास्त्र, आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं, इति नु नमः परम-ऋषिभ्यः! नमः परम-ऋषिभ्यः!! नमः परम-ऋषिभ्यः-मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः!!!*।

---

*-(१)-ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः॥

—ऋक्सं० ९।११४।२।

(२)-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥

(३)-नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचम्॥

—देखिए उप० वि० भा० भूमिका द्वितीयखण्ड

२८८–सहज मानवश्रेष्ठ के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप-परिचय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा—

"पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से यावज्जीवन वर्णाश्रमाचारसिद्ध आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने कालातीत 'मानव' स्वरूप को यथायावत् प्राकृतिक प्रतीकभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट बनाए रखना ही सहज-मानवश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है"। 'अनन्तब्रह्म' के संसाधक जिस इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रस्तुत 'दिग्-देश-काल-मीमांसा' नामक स्तम्भ प्रवृत्त हुआ है। इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही कालसूक्तों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से काल-दिक्-देश-विवर्त्तों की, तथा दिक्-देश-काल-विवर्त्तों की स्वरूप-परिभाषा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवश्रेष्ठों की सेवामें प्रणतभाव से उपस्थित कर देने का प्रयास हुआ है।

२८९–प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव, तथा–'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः'—

अबतक अनेक 'प्रतीक' भावों के माध्यम से हमने प्रतीकातीत जिस अनन्तब्रह्मबोध-समाधक परमपुरुषार्थ के समन्वय की प्राकृत-चेष्टा की है, उस 'प्रतीकता' सम्बन्ध का अन्ततोगत्वा 'अप्राकृत ऋषिमानव' पर विश्राम हुआ प्रकृति की भाषा में ही। और यह अप्राकृत-मानव ही सैद्धान्तिक-प्रतीकरूप दृष्टान्त बना प्रकान्त प्रतीकविधि में। क्या इस प्रतीकविधि को सिद्धान्त मान लिया जाय?। इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ को लक्ष्य बनाते हैं, तो पुन. हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिए निराश ही होजाना पड़ता है कि, अप्राकृत मानव कदापि उसका प्रतीक नहीं बन सकता। जो प्राकृतभाव प्रतीक कहे जाते हैं, वे वस्तुगत्या प्रतीक हैं नहीं, एवं जिस अप्राकृत मानव को प्रतीक मान लिया जाता है, उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से समन्वित होती नहीं। अतएव अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल'।

२९०–'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकमध्येषे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण—

'प्रतीयते इति, प्रत्येति वा' ही प्रतीक शब्द का निर्वचनार्थ है, जिसका अर्थ है 'अङ्ग'-'भाग'-'अवयव'। अङ्गुलि पुरुष का अवयव है, अतएव यह प्रतीक है। अवश्य ही अवयवरूपा, अतएव प्रतीकभूता इस अङ्गुलि के ग्रहण से अङ्गीरूप, अवयवीरूप सम्पूर्ण पुरुष (पुरुषशरीर) का सङ्केतग्रहात्मक बोध हो जाता है, और अङ्गुलिग्रहीता–'मैंने पुरुष का ग्रहण कर लिया, पुरुष को पकड़ लिया' यह शक्तिग्रह प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। पट (वस्त्र) के एक अवयव-कोण के दग्ध हो जाने पर भी–'पटो दग्ध' (कपड़ा जल गया) यह व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य में–'समुदाये हृष्टा शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। और अङ्गाङ्गीभाव-अवयव-अवयवी-भावानुबन्धी पर्व-अङ्ग-भाग-अंश-का ही नाम प्रतीकभाव है, जैसाकि निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र से स्पष्ट प्रमाणित है—

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी 'प्रतीक'-मध्येधे अग्निः ॥
—ऋक्संहिता ७।३६।१।

२६१–प्रतीकसापेक्ष-अङ्गाङ्गीभाव, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दर्शन—

उक्त मन्त्र में अग्नि को पृथिवी का प्रतीक इसलिए बतलाया गया है कि, 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इत्यादि श्रुति के अनुसार भूपिण्ड में चित्यरूप से, तथा भूमहिमारूपा पृथिवी में चितेनिधेयरूप से गायत्र अग्नि प्रतिष्ठित है। एवं इसी गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को-'गायत्री' * कह दिया जाता है। जिसप्रकार पृथिवी में आपः–फेन–मृत्–सिकतादि आठ ब्रह्मौदन पर्व, तथा ओषधि–वनस्पति–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–धातु–उपधातु-आदि आदि असंख्य इतर प्रवर्ग्य पर्व अङ्गरूप से प्रतिष्ठित हैं, तथैव यह अग्नि भी इसका एक अङ्ग ही बन रहा है। अतएव इसे पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। क्या अप्राकृत मानव इसप्रकार का 'अङ्ग' है उस अनन्तब्रह्म का ? । 'प्रतीकमध्येधे अग्निः' यह ऋषि-वाक्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। 'प्रतीक' भाव का उदय वस्तुगत्या पार्थिव–अग्नि (भूताग्नि) पर ही आ के होता है।

२६२–पार्थिवसर्गाधारभूत सौर-पारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक-क्षरानुगत केवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सर्ग से पूर्व पूर्व के जितने भी (सौर–पारमेष्ठ्य–स्वायम्भुव–आदि) प्राकृत सर्ग हैं, उनमें कहीं भी अंङ्ग–अङ्गी–भावात्मक–प्रतीकभाव नहीं है। जहाँ कार्य्य–कारण–सम्बन्ध होता है, वहीं अङ्गाङ्गीभाव रहा करता है। कार्य्य-कारण-भाव क्षर के धर्म्म हैं, उस मूर्त्त-व्यक्त-क्षर के धर्म्म हैं, जो पार्थिव-भौतिक-स्थूल-जगत् में अभिव्यक्त होता है-'क्षरः सर्वाणि भूतानि'।

२६३–अक्षरात्मक केन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौर मण्डल, एवं तदभिन्न सौर मानव—

सौर मण्डल अपने केन्द्रीय-अक्षरानुबन्धी देवात्मक प्राणभाव से अक्षरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अणोरणीयान् मनु से आरम्भ कर सौरमण्डल पर्य्यन्त का समस्त प्राकृतभाव तो अपनी प्राणाक्षरनिबन्धना अमूर्त्तता-अव्यक्तता के कारण अङ्गाङ्गीभावों से 'सर्वथा ही असंपृष्ट है। तभी तो अप्राकृत मानव का नाम

---

*–देवाश्च ह वा–असुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । तान्त्स्पर्द्धमानान् 'गायत्री'-अन्तरा तस्थौ। या वै सा 'गायत्री'-आसीत्' इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ।
—देखिए ! शतपथब्राह्मण १।४।१।३४

'सौरमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रख दिया गया है, जैसाकि पूर्वखण्डानुगता 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है ।

२६४-सौररश्मिमण्डल की अच्छिद्रपवित्रता, तदनुगत मन्वन्तरभाव, एवं सूर्यादि-अनन्तकालान्त-विवर्त्तों में 'प्रतीक' भाव का असंस्पर्श—

अङ्गरूप अवयवभाव-पर्वभाव-से असंस्पृष्ट रहने के कारण ही तो सौरप्राणात्मक रश्मिमण्डल को 'अच्छिद्रपवित्र' कहा गया है । छिद्रता का नाम ही अङ्गता-पर्वता अवयवता, तथा तदनुबन्धिनी प्रतीकता है । जबकि इसप्रकार स्वयं प्राकृत विश्व में भी पार्थिवसर्ग से परस्तात् के प्राणप्रधान सूर्य्यादि अनन्तकालान्त, किंवा मन्वन्तर-भावों में अङ्गाङ्गीभावात्मक कार्य्यकारणभाव नहीं है, अतएव जहाँ उन प्राकृत विवर्त्तों में भी जब प्रतीकता-लक्षणा अङ्गता अनुपपन्न है, तो प्रकृति से अतीत, अतएव कालातीत अप्राकृत मानव के साथ प्रतीकता का सम्बन्ध सम्भव ही कैसे हो सकता है ? । और ऐसी स्थिति में आत्यन्तिकरूप से निर्विशेष-अनन्तब्रह्म के स्वरूपबोध के सम्बन्ध में 'प्रतीक' का, कार्य्यकारणभावों का, अङ्गाङ्गीभावों का प्रश्न उठाना ही अनतिप्रश्नात्मक अचिन्त्य-असमाधेय प्रश्न ही बन रहा है ।

२६५-नानाभावात्मक अङ्गभावों से अभिन्न अङ्गी—

'अङ्ग' भाव ही 'अङ्गी, और अङ्ग' इन दो सापेक्षभावों का जनक बन जाता है । अङ्गी अङ्ग से कोई पृथक्तत्त्व नहीं है । नानाभाव ही 'अङ्ग' की स्वरूप-परिभाषा है । इन नानाभावों की राशि-स्तूप-ढेर-कूट-का नाम ही 'अङ्गी' है, अवयवी है, जो कि अङ्गों से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है ।

२६६-अङ्गाङ्गीभावात्मक-प्रतीकात्मक-अङ्गभावों से व्याप्त आचारनिष्ठाशून्य दार्शनिकों का वाग्विजृम्भण —

तभी तो अङ्गाङ्गी-भावों में व्यामुग्ध दार्शनिक भूतात्मक-शरीरपुद्गल से अतिरिक्त किसी अवयवी आत्मा की स्थापना में असमर्थ ही प्रमाणित रह गए हैं । इसी भ्रान्तिने तो अनात्मवादमूलक नास्तिकवाद, क्षणिक-क्षणिक-शून्य-शून्य-दुःख-दुःख-रूप लोकायतिकवाद को जन्म दे डाला है । यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारशून्य उन आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों का वैडालव्रतिक-कार्य्यकारणनिबन्धन-अङ्गाङ्गीभाव-निबन्धन-सर्वथा ही निरर्थक वह वाग्विजृम्भण है, जिससे आस्तिक, नास्तिक, सभी दार्शनिक आद्यन्त के शून्य-शून्य ही प्रमाणित होते आरहे हैं ।

२६७-अङ्गाङ्गीभावनिबन्धना--प्रतीकता के व्यामोहन से आस्तिक--नास्तिक-दर्शनों में निरर्थक वाक्कलह, एवं कार्य्यकारणात्मक प्रतीकभावों से असंस्पृष्ट महिमात्मक विवर्त्त के द्वारा कलह की उपशान्ति का प्रयास—

शरीर भौतिक है, अगणित चरकूटों की समष्टि है, अनेक अङ्गों-अवयवों की राशिमात्र है, ढेरमात्र है । कदापि भौतिक शरीर इन अङ्गभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र-नित्य-अविनाशी-एक-अङ्गी-

अवयवीभाव नहीं है, जिसे प्रमाणित करने लिए एक ओर भूत-माध्यम-वादी, अतएव अन्तवादी आस्तिक-दर्शन एडी से चोटी का जोर लगाकर थक थक जारहा है, तो दूसरी ओर केवल इस जड़भूत का ही अन्यतम प्रेमी नास्तिकदर्शन आस्तिकदर्शन के भौतिक तर्कों का खण्डन करने में परिश्रान्त हो रहा है। जबकि तत्त्वतः न तो आस्तिकदर्शन के मण्डनात्मक तर्कों का ही कोई महत्त्व, एवं न नास्तिकदर्शन के खण्डनाभासात्मक-तर्काभासों का ही कोई मूल्य। दोनों ही स्व-स्व-दिग्देशकालानुगता-मूर्त्त-पार्थिवभूत-कालानुबन्धिनी-बुद्धिगम्या काल्पनिक-व्याख्याओं के विजृम्भणों में ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। जबकि वह अनन्ततत्त्व आस्तिक के कल्पित धर्म्म, तथा नास्तिक के कल्पित अधर्म्म, दोनों से ही अतीत महिमामय ही तत्त्व है *, जिसके साथ परिणामात्मक कार्य्य-कारणभावों का, सामान्य-विशेष-भावों का, अङ्ग-अङ्गी-भावों का कदापि कोई भी स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है। वञ्चित ही रह गया है आस्तिक–नास्तिक–शिरोमणि दार्शनिक अनन्त के महिमामय आधिदैविक विवर्त्तरूप-असर्गात्मक सर्ग के समन्वयबोध से। यही तो विभूतिरूप–महिमामय–विवर्त्त में, तथा बन्धरूप–परिणामात्मक–कार्य्यकारणभाव में वह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही दिग्देशकालमीमांसा प्रवृत्त हुई है।

२६८–क्षरात्मक भौतिक–शरीरानुगत-प्रतीक-लक्षण--अङ्गाङ्गी–भाव, एवं तत्सम्बन्ध में-'अङ्गादङ्गात्सम्भवति' इत्यादि श्रौतसन्दर्भ का संस्मरण—

हाँ, तो अङ्ग से अङ्ग का उद्भव, अवयव से ही अवयव का आविर्भाव, किंवा स्थूलभाषानुसार–शरीर से ही शरीर (उदाहरण मूढगर्भ का, और मानवेतर सम्पूर्ण अण्डज–स्वेदज–जरायुज–उद्भिज्जादि प्राणियों का, जहाँ मानववत् नालच्छेद का संस्पर्श भी नहीं है) की उत्पत्ति, बस यही है वह दार्शनिकता, जिसने शरीर में 'जीवात्मा' ढूँढने का प्रयास करते हुए, इन कार्य्यकारणरूप अङ्गों के माध्यम से ही अपने काल्पनिक अङ्गी को ढूँढते रहने में ही अपनी सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा समाप्त करदी है। पशुसर्गात्मक भौतिकसर्ग में 'अङ्गी' जैसा निरवयव कोई अनन्त–अविनाशी तत्त्व है ही नहीं, जिसका महता समारम्भेण एक (आस्तिक) दार्शनिक ने तो मण्डनप्रयास किया है, एवं दूसरे (नास्तिक) दार्शनिकने खण्डनप्रयासाभास किया है। लक्ष्य बनाइए इस श्रुतिवचन को, जिसने शरीर को अङ्ग मानते हुए इससे उत्पन्न दूसरे भौतिक शरीर को विस्पष्ट शब्दों में 'अङ्ग' ही प्रमाणित किया है—

"अङ्गादङ्गात्–सम्भवति, हृदयादधिजायते।
स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमामूं मयि॥
—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।४।६।

---

*–अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत्तत् पश्यसि, तद्वद॥
—कठोपनिषत्

२९९ पूर्वाङ्ग का अङ्गित्व, उत्तराङ्ग का अङ्गत्व, एवं अङ्गात्मक 'प्रतीक' में हीं-अङ्गी-अङ्ग-भावों का अन्तर्भाव, तथा 'प्रतीक'-शब्देतिहास का संस्मरण

अङ्ग से अङ्ग की उत्पत्ति में उत्पादक-कारणात्मक अङ्ग तो कार्य्यरूप उत्पन्न अङ्ग की अपेक्षा 'अङ्गी' मान लिया जाता है, एवं तदपेक्षया उत्पन्न भूत 'अङ्ग' बन जाता है। यों कारण-कार्य्यात्मक पूर्व उत्तर-अवस्थाओं के भेद से अङ्गमात्र में हीं अङ्गी-अङ्ग-ये दो विभिन्न भाव व्यक्त हो जाते हैं पार्थिव भूतसर्गवत्, भूताग्नि-सर्गवत्, पशुसर्गवत्, जिसके साथ आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व जैसी निरवयवता का सम्पर्श भी तो नहीं है। कार्य्यात्मक ऐसा उत्तररूपात्मक भौतिक अङ्ग ही 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन इतिहास है, जिस चिरन्तन इतिहास का उपक्रमोपसंहार पार्थिव-चान्द्र-नामक भौतिक-मूर्त्त-सम्वत्सरचक्र में ही परिसमाप्त है।

३००-स्वरभावनिबन्धना सगुणोपासना से अनुप्राणित 'प्रतीक' भाव की अनन्तब्रह्म-धरातलपेक्षया आत्यन्तिक-निरपेक्षता—

अवश्य ही स्वरभावनिबन्धना सगुणोपासना (जिसे उपासना न कह कर-'भक्ति' ही कहा गया है) इस प्रतीकता का भी बालोपलालनमाध्यम से संग्रह होगया है। अतएव द्वारादिवत्-भूतोपासनात्मिका भक्ति में अवश्य ही प्रतीकरूपेण भौतिक माध्यमों का भी संग्रह हो पड़ा है। किन्तु अनन्तब्रह्मधरातल पर तो इस प्रतीकता का संस्मरण भी निषिद्ध है। अतएव वस्तुस्थिति के समन्वय-प्रसङ्ग में कदापि प्रतीकभाव समाविष्ट नहीं होसकता। और तो और, अपने अमूर्त्त-अव्यक्त-स्वरूप से निरवयव प्रमाणित अनन्तकालादि-सौरकालान्त के प्राकृत विवर्त्त भी तो उस अनन्त के प्रतीक नहीं बन सकते, जबकि इनका भी ऋषिमानव ने 'महिमा' रूप से ही समन्वय किया है, जो महिमात्मक-विवर्त्तभाव आधिदैविक-प्राणात्मक-महिमासर्ग से वञ्चित दार्शनिकों की दृष्टि में समाविष्ट ही नहीं हो पाया है।

३०१-सर्वश्रीशङ्कराचार्य्यमहाभाग का अध्यासवादात्मक, अतएव आधिदैविक-आचार से असंस्पृष्ट अद्वैतवाद, एवं तत्प्रतीकनिग्रहेणैव राष्ट्रीय-आचारनिष्ठा का शैथिल्य, इति नु महद्दुःखास्पदमेव—

हमें यह निवेदन करते हुए अत्यन्त ही क्लेश हो रहा है कि, पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य्यने जहाँ महिमात्मक विवर्त्त के माध्यम-पर्य्यन्त दिग्देशकालानुबन्धी परिणामवाद को विध्वस्त कर आस्तिकदर्शन की प्रतिष्ठा को अमुक अंशमें सुरक्षित कर लिया है, वहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदभाग की आधिदैविक-सृष्टिविद्या का स्पर्श न करने के कारण, अतएव अपने बाह्यरूप से दार्शनिकभावापन्न प्रतीयमान उपनिषद्भाग, तथा गीताभाग की आधिदैविक-महिमासर्गान्विता सृष्टिस्वरूपव्याख्या का किसी अज्ञात कारण से समन्वय न करने के कारण उस महिमामय विवर्त्त के समन्वय के लिए अध्यासवादात्मक वैसे भौतिक दृष्टान्तों को ही माध्यम बना लिया है, जिनके कारण ही आचार्य्यवर के द्वारा शास्त्रीय-आचारपक्ष सर्वथा शिथिल ही प्रमाणित होगया है।

२०२–प्रतीकसमन्वयासक्ति के व्यामोहन से अनुप्राणित मानव के 'पुरुष–मानव–मनुष्य–नर' नामक चार श्रेणि-विभाग—

अलमतिविस्तरेण प्रतीकशब्देतिवृत्तेन । हमने केवल अपने बालोपलालन के लिए ही 'प्रतीक' शब्द के माध्यम से अनेक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिसे अत्र समष्टिरूप से संकलित करते हुए यहीं उपरत कर देते हैं । अपनी इस प्रतीकभावासक्ति के संकलानात्मक समन्वय के लिए हम मानव के चार श्रेणि-विभाग मान लेते हैं, एवं इन चारों का क्रमशः **पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव, मनुष्यात्मक-मानव, नरात्मक मानव,** यह नामकरण भी कर लेते हैं । **पुरुष, मानव, मनुष्य, नर,** चारों शब्द यद्यपि लोकव्यवहार में समानार्थक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं । तथापि कालानुबन्धी सर्ग–भेद से चारों ही शब्द पृथक्–पृथक्–चार तत्त्वों–भावों–के ही समर्थक बन रहे हैं । मानववर्गचतुष्टयी से पहिले उस प्राकृत–विवर्त्त–चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा, जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्द्धा विभक्त हुआ है । बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह समतुलनात्मक–समन्वय, जिसके माध्यम से ही प्राकृत मानव का 'प्रतीक–व्यामोहन' उपशान्त होसकता है ।

२०३–अनन्तकालात्मक 'प्रथम' प्रतीक–व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती धृष्टता—

पहिला प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिसे हमने अन्यान्य-भूत–भौतिक–दृष्टान्तों–प्रतीकों के समतुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है, एवं जिसे कालातीत निर्विशेषानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है । इस प्रतीकताव्यामोहन का आधार बना है–'**एकांशेन जगत्सर्वम्**' का मूलाधारभूत–'**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः–पादोऽस्येहाभवत्पुनः**' यह वेदवाक्य । ब्रह्म को चतुष्पात् मान लिया गया है, इसे ही अनन्तब्रह्म घोषित कर दिया गया है । एवं इसी का एकांश–एक–पाद मान लिया गया है अक्षरात्मक अनन्तकाल । जब अनन्तकाल उसीका अंश–भाग–अङ्ग बन गया, तो निश्चयेन ऊर्ध्व–उदैत्–त्रिपान्मूर्त्ति वह अनन्तब्रह्म अङ्गी प्रमाणित होगया । अङ्ग ही जब प्रतीक की परिभाषा है, तो इस दृष्टि से एकांश–एकाङ्गरूप अनन्तकाल अवश्य ही उसका प्रतीक प्रमाणित होगया, और इस अनन्तकालप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपको धन्य–कृतकृत्य ही मान लिया । प्रकृतिसर्ग में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यो एकांशरूप काल ही प्रमाणित होगया, जिसके समर्थन में ही हमने अथर्ववेदीय दो कालसूक्तों का भी महता समारम्भेण समन्वय–धाष्टर्य कर ही तो डाला ।

३०४–अनन्तकालानुगता 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' लक्षणा साम्वत्सरिक-प्रतीकत्रयी का संस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल को आधार मानकर सत्यं–शिवं–सुन्दरम्–नामक उन तीन कालविवर्त्तों की पारम्परिक–प्रतीकताका भी समन्वय कर ही तो डाला, जो प्रतीकत्रयी क्रमशः **सत्यभावात्मक-सौरसम्वत्सरकाल, शिवभावात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल, एवं सुन्दरभावात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल** नाम से प्रसिद्ध है । अनन्तकाल बना सर्वाधार, सत्यसौरसम्वत्सरकाल बना मूर्त्तसर्ग का मूलप्रवर्त्तक, शिव–पार्थिवसम्वत्सरकाल बना पुरुषसर्ग का आरम्भक, एवं सुन्दरचान्द्रसम्वत्सरकाल बना स्त्रीसर्ग का आरम्भक ।

३०५-निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्वत्सरकाल, एवं प्रतीकगणनात्मिका अङ्गादङ्गादूरूपा सन्तान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आत्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णता के माध्यम से निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल, इस अनन्तकाल का प्रतीक बन बैठा सत्यभावापन्न सौरसम्वत्सरकाल, इस का प्रतीक बन गया शिवभावापन्न पार्थिव सम्वत्सर, किंवा तदभिन्न शिवमूर्त्ति पुरुष, एवं इस का प्रतीक बन गया सुन्दरभावापन्न चान्द्रसम्वत्सर, किंवा सुन्दरी नारी। और यहाँ आकर एक प्रतीकधारा उपरत होगई, जिस का आगे जाकर-'अङ्गादङ्गात्-सम्भवति' रूपा सन्तानप्रतीकता में भौतिक विस्तार होता गया। ऐसा विस्तार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आजतक उपराम ही नहीं हो पाया है। मानव की असंख्य पीढ़ियाँ गणन करते करते, अन्वेषण करते करते थक थक गईं। किन्तु यह प्रतीक-परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ, समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-व्यामोहन-परम्परा से तो। कदापि इत्थंभूत प्रतीक-परिगणन से मानव इस काल-चक्र से परित्राण प्राप्त कर ही न सकेगा, और अनन्तकाल की सर्वश्रेष्ठ-प्रतीकता का भी वही परिणाम होगा, जो परिणाम सादि-सान्त-भौतिक-प्रतीक-वादियों का हुआ करता है, एवं जिन के प्रति आकृष्ट हो कर ही बड़े गर्व से हमने अनन्तकाल को प्रतीक उद्घोषित कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली है।

१-अनन्तब्रह्मणो निर्विशेषस्य-अनन्तकालः-प्रतीक (प्रकृतिसर्गे सर्वश्रेष्ठदृष्टान्त-ब्रह्मण-एकांशत्वेन)
२-अनन्तकालस्य सविशेषस्य-सौरसम्वत्सरकाल -प्रतीक-(अनन्तकालस्य-एकांशत्वेन)
३-सौरसम्वत्सरकालस्य विशेषस्य-पार्थिवसम्वत्सरकाल -प्रतीक-(सौरकालस्य प्रवर्ग्यत्वेन)
४-पार्थिवसम्वत्सरकालस्य-मूर्त्तस्य-चान्द्रसम्वत्सरकाल प्रतीक (पार्थिवकालस्य-अङ्गत्वेन)

*-तस्य प्रतीका इमे साम्वत्सरिका -चेतनाचेतनपदार्था -अनन्ता.-चान्द्रकालस्य-अङ्गत्वेन

प्रकारान्तरेण—

१-निर्विशेषस्यानन्त्यब्रह्मण -प्रतीक -अनन्तकाल -सर्वाधारकाल. (अनन्तो निर्विशेषस्य)
२-अनन्तकालस्य प्रतीक -सत्यभावापन्न -सौरकाल -मूर्त्तसर्गाधारकाल. (सूर्य्य -अनन्तस्य)
३-सौरकालस्य प्रतीक -शिवभावापन्न -पार्थिवकाल -पुरुषात्मककाल (नर -सूर्य्यस्य-प्रतीकभूत)
४-पार्थिवकालस्य-प्रतीक -सुन्दरभावापन्न -चान्द्रकाल -स्त्र्यात्मक काल (नारी-नरस्य-प्रतीकभूता)

*-तस्य-प्रतीका -अनन्ता -असंख्या-सन्ततिरूपाः-कालचक्रे-आबद्धा —

३०६–सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या के महिमाविद्या, कालविद्या–नामक दो विवर्त्त, एवं तन्मूलक महिमासर्ग, तथा रेतोधासर्ग का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

अत्र एक दूसरी दृष्टि से इस प्रतीकवाद का समन्वय कीजिए। सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या को –**महिमाविद्या, कालविद्या,** भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है, जिन इन दोनों भावों का मूलाधार–'**रेतोधा आसन्, महिमान आसन्**' इत्यादि मन्त्र ही है, जिसका कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। '**महिमान आसन्**' ही महिमाविद्यात्मक **महिमासर्ग** है, एवं '**रेतोधा आसन्**' ही कालविद्यात्मक **कालसर्ग** है। इन दोनों सर्गों के आगे चलकर सृष्ट्यनुबन्धभेद से दो दो अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं। महिमा सर्ग के दोनों विवर्त्त क्रमशः **अव्ययात्मक अक्षरसर्ग, अव्ययानुगत अक्षरसर्ग**, इन नामों से, तथा कालसर्ग के दोनों विवर्त्त क्रमशः **अक्षरात्मक क्षरसर्ग, अक्षरानुगत क्षरसर्ग,** इन नामों से समन्वित माने जासकते हैं। इन चारों को क्रमशः **अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षराक्षरसर्ग, क्षरसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। इन्हीं को क्रमशः **पुरुषसर्ग, मूलप्रकृतिसर्ग, प्रकृतिविकृतिसर्ग, विकृतिसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। प्रकारान्तरेण इन्हीं चारो को क्रमशः **अप्राकृतसर्ग, प्राकृतसर्ग, अनन्तकालसर्ग, सम्वत्सरकालसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। पहिले अवधान–पूर्वक तालिका-रूपेण इन चारों सर्गों को लक्ष्यारूढ कर लीजिए। तदनन्तर प्रतीकता का समन्वय कीजिए।

महिमान आसन्	१–अव्ययात्मकः–	अक्षरसर्गः–	अव्ययसर्गः–	पुरुषसर्गः——	अप्राकृतसर्गः	—महिमासर्गः
	२–अव्ययानुगतः–	अक्षरसर्गः–	अक्षरसर्गः—	मूलप्रकृतिसर्गः–	प्राकृतसर्गः	
रेतोधा आसन्	३–अक्षरात्मकः—	क्षरसर्गः	क्षराक्षरसर्गः–	प्रकृतिविकृतिसर्गः-	अनन्तकालसर्गः	—कालसर्गः
	४–अक्षरानुगतः –	क्षरसर्गः	क्षरसर्गः	विकृतिसर्गः——	सम्वत्सरकालसर्गः	
	इति वा चतुर्द्धा	इति वा	इति वा	इति वा	इति वा	
	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्–इत्याहुराचार्य्याः					

३०७–भावसर्गात्मक ऋषिसर्ग की मनुसर्गता का दिग्दर्शन—

चिद्भाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्त्तों का समन्वय कीजिए। अव्ययात्मक अक्षरसर्ग को कहा जायगा **चिदात्मसर्ग**, अव्ययानुगत अक्षरसर्ग को कहा जायगा **चित्सर्ग**। एवं इन दोनों महिमासर्गों की समष्टि को माना जायगा–**अव्ययनिबन्धन मानससर्ग**, किंवा **भावसर्ग**, किंवा **ऋषिसर्ग**, किंवा **मनुसर्ग**।

यह स्मरण रहे कि, मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है, एवं ऋष्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत चित्सर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायँगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही, मानससर्ग ही।

३०८–चिदात्मसर्ग- चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक क्षरसर्ग को कहाजायगा चेतनसर्ग, एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत क्षरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग, एवं इसे ही माना जायगा वाङ्मय विकारसर्ग। चिदात्मसर्ग, चित्सर्ग, दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग, इन दोनों रेतोधाऽर्गों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गचतुष्टयी का दूसरा 'चिद्भावात्मक समन्वय' होगा, जैसा कि परिलेख मे स्पष्ट है—

अव्ययसर्गः	१–अव्ययात्मक –क्षरसर्ग –एव–चिदात्मसर्ग –मानससर्ग –भावसर्ग *	—पुरुषसर्गः (१)
	२–अव्ययानुत –अक्षरसर्ग –एव–चित्सर्ग ––ऋषिसर्ग ––मनुसर्ग	—महिमान आसन्—
अक्षरसर्गः	३–अक्षरात्मक –क्षरसर्ग –एव–चेतनसर्ग –गुणसर्ग (अनन्तकालसर्ग)	–प्रकृतिसर्गः (२)
	४–अक्षरानुत –क्षरसर्ग –एव–अचेतनसर्ग –विकारसर्ग (सम्वत्सरकालसर्ग)	—रतोधा आसन्—

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप- परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्त्तों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम 'वर्णतत्त्व' है, जो प्राकृत–कालिक–सर्ग–के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम–यच्चयावत् पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म–प्रतिष्ठित हैं। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठ) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विकारात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव जहाँ चतुरशीतिलक्ष (चौरासीलाख) हैं, अवश्य तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) जहाँ इतनी ही हैं, वहाँ वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में, जाति की प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं, जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है, शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है, वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक–इमाः–प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

है। उदाहरण के लिए-एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशजाति के वृक्ष मे ब्राह्मवर्ण ही क्यों कि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे 'ब्राह्मणवृक्ष' ही मान लिया गया है-'पालाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता-सम्बन्धसे सावित्री-दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत) में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णरहस्य का आधिदैविक-समन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिवश आज वर्ण, और जाति शब्द पर्य्याय बन गए हैं। इसी साङ्कर्य्य ने वर्गद्वेषमूलक वह उत्पात खड़ा कर दिया है, जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्कृष्टता को, तथा तन्मूला जातियों की अभिव्यक्तियों को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०-वर्णसर्गचतुष्टयी के ब्रह्मौदनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्ग्यवर्णसर्ग-लक्षण दो प्रधान विवर्त्त—

चिदात्मसर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरसर्गरूप प्रथम सर्ग परभावात्मक (अव्ययभावात्मक) अगोत्र-अवर्ण-अब्रह्म-अक्षत्र-लक्षण * अवर्णसर्ग है। चित्सर्गात्मक,-अव्ययानुगत-अक्षरसर्गरूप द्वितीय सर्ग परावरभावात्मक (अक्षरभावात्मक) गोत्र-वर्ण-प्रवर्त्तक-ब्रह्म-क्षत्र-लक्षण 'ब्रह्मौदनवर्ण' है। चेतनसर्गात्मक, अक्षरात्मक-क्षरसर्गरूप तृतीयसर्ग अवरभावात्मक (क्षरभावात्मक) विट्-पौष्ण-लक्षण-'प्रवर्ग्यवर्ण' है। एवं अचेतनसर्गात्मक, अक्षरानुगत-क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अवरवर्णात्मक 'अवरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार वर्णदृष्ट्या भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमानः	१-परभावात्मकः—चिदात्मसर्गः-स एव अवर्णसर्गः	-वर्णातीतसर्गः	महिमासर्गः
	२-परावरभावात्मकः-चित्सर्गः——स एव ब्रह्मक्षत्रवर्णसर्गः	-ब्रह्मवर्णः	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
प्रजाः	३-अवरभावात्मकः-चेतनसर्गः—स एव विट्पौष्णसर्गः	-क्षत्रवर्णः	प्राकृतसर्गः
	४-अवरभावानुगतः-अचेतनसर्गः-स एव अवरवर्णसर्गः	-अवरवर्णसर्गः	

३११-अवर्णब्राह्मणात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण-ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से यह प्रतीकात्मक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने जारहा है। चिदात्मसर्गात्मक-परभावात्मक अवर्ण-

* यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं-सुसूक्ष्मं तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।)
तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

सर्गानुबन्धी–अप्राकृत–ऋषिमानव का ही नाम है 'पुरुष', एवं यही है पहिला वह चिदात्मसर्ग, जिसे हम अगोत्र–अवर्ण, किन्तु गोत्र–वर्ण–प्रवर्त्तक, सर्गातीत–किन्तु सर्गप्रवर्त्तक अव्ययात्मक–अक्षरसर्ग कह रहे हैं, जिस की उपनिषदोंने अवर्णरूप से ही स्वरूप–व्याख्या की है। कदापि इस का अर्थ यह नहीं है कि, ब्राह्मण–वर्णोचित आचारधर्म्म का ऋषिमानव परित्याग कर देते हैं। अपितु अपने अनुशीलनभाव से इनकी आचार–पद्धति तो सदा ही जागरूक बनी ही रहती है। ये ही तो आचारधर्म्मात्मक आर्य–मानवधर्म्म के महान् स्तम्भ हैं। वर्णब्राह्मण, तथा ऋषिब्राह्मण में अन्तर है केवल सिद्धावस्था का, तथा साध्यावस्था का। ब्राह्मणमानव की पूर्वावस्था का नाम ही वर्णब्राह्मण है, एवं इसी की उत्तरावस्था का नाम अवर्णब्राह्मण है। योगारुरुक्षु ब्राह्मण वर्णब्राह्मण है, एवं योगारूढ ब्राह्मण अवर्णब्राह्मण है। वर्णब्राह्मण आचार से नियन्त्रित है, एवं आचार अवर्ण–ब्राह्मण से नियन्त्रित है। वर्णब्राह्मण आचारधर्म्म में प्रतिष्ठित है, एवं आचारधर्म्म अवर्णब्राह्मण में (ऋषिमानव में) प्रतिष्ठित है। वर्णब्राह्मण धर्म्मशील है, एवं अवर्णब्राह्मण धर्म्मप्रवर्त्तक है।

३१२–वर्णानुबन्धिनी त्रैवर्णिक–प्रजा से अनुप्राणित मानव–मनुष्य–नर–भावों का समन्वय—

अब दूसरे वर्ग का समन्वय कीजिए। चित्सर्गात्मक–परावरभावात्मक–ब्रह्मक्षत्रवर्ण–सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (ब्राह्मण, और क्षत्रिय मानव) का ही नाम है–'मानव,' एवं यही दूसरा सर्गविवर्त्त है। चेतनसर्गात्मक–अवरभावात्मक–विट्–पौष्ण–सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णसर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (वैश्य, और शूद्र–मानव) का ही नाम है–'मनुष्य'। एवं अचेतनसर्गात्मक–अवरवर्णसर्गानुबन्धी वैकारिक–अवरवर्णमानव (अन्त्यज–अन्त्यावसायी–दस्यु–म्लेच्छ–रूपेण चार अवरवर्गों में विभक्त अवरवर्णमानव) ही अवरवर्णात्मक 'नर' है। यह स्मरणीय है कि, चतुर्थ सर्गव्यामोहनासक्ति से ऋषिमानव नरमानव कोटि में आजाता है, तो नर मानव सोपानपरम्परया प्रथमसर्गानुगति से ऋषिमानवकोटि में आसकता है। वही मानव इन सर्गभेदों से नर–मनुष्य–मानव–पुरुष–आदि सभी कुछ बन सकता है। अन्ततोगत्वा वही नर ऋषिकोटि का भी अतिक्रमण कर नारायणभाव में भी परिणत हो सकता है इस तथाकथित पूर्वोक्त आचारधर्म्म के माध्यम से।

३१३–प्रकृतिसिद्ध–वर्णधर्म्मात्मक–'स्वधर्म्म' से अनुप्राणिता वर्णचतुष्टयी, एवं 'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' का समन्वय—

यदि प्रकृतिसिद्ध, वर्णधर्म्मसिद्ध, स्वधर्म्मात्मक, अपने जन्मानुबन्धी प्राकृत–व्यवस्थित विशेषधर्म्म का परित्याग कर अपनी कल्पना से ही यह अपने आपको सबकुछ मान बैठने की भूल कर बैठता है, तो उस वर्गभेद–विरहिता भ्रान्ति से तो फिर इस नर का प्राकृतिक नरत्व भी उच्छिन्न हो जाता है, एवं उस दशा में तो इसे स्वैराचार–परायण पशु की कोटि में ही अपना नामोल्लेख करा लेना पड़ता है। ब्राह्मणपुरुष, क्षत्रिय–मानव, वैश्यमनुष्य, एवं शूद्रनर, चारों स्व–स्व–प्रकृतिसिद्ध–विभक्त–स्व–स्वधर्म्मात्मक–स्व–स्वकर्त्तव्य–कर्म्मों में कर्म्मकौशलात्मक–योगाधारेण एकनिष्ट बनते हुए समानरूपेण अभ्युदय–निःश्रेयस् के उपभोक्ता बन जाते हैं। 'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नरः'–'स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'–'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः'–'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' इत्यादि आर्षवचन वर्गभेदमूलक–प्रकृतिभेदभिन्न इसी स्वधर्म्म का समन्वय व्यक्त कर रहे हैं।

महिमानः	१–अवर्णसर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—पुरुषसर्गः—ब्राह्मणमानवः २–ब्रह्मक्षत्रवर्णानुगतः—मानवसर्ग एव—मानवसर्गः—क्षत्रियमानवः	—महिमसर्गौ
योधाः	३–विट्पौष्णवर्णानुगतः—मानवसर्ग एव—मनुष्यसर्गः—वैश्यमानवः ४–अवरवर्णानुगतः—मानवसर्ग एव—नरसर्गः—शूद्रमानवः	—प्राकृतसर्गौ

यस्य ब्रह्म च, क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद, यत्र सः। एतद्वै तत्। (उपनिषत्)

३१४–स्वधर्म्म से अनुप्राणित चतुर्विध पुरुषार्थों का नामसंस्मरण—

क्या स्वरूप है उस 'स्वधर्म्म' का, जो 'स्वे–स्वे–कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' के अनुसार प्रकृतिभेदभिन्न पुरुषादि–नरान्त मानव के चार वर्गभेदों में विभक्त होकर चतुर्द्धा, एवं अवान्तर महिमाओं में विभक्त होकर अनेकधा विभक्त होरहा है ?, प्रश्नोत्तर के समन्वय का अत्र प्रस्तुत खण्ड में अवसर नहीं हैं विस्तारभिया। सम्भव हुआ, तो संकल्पित–'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस दिशा में कुछ निवेदन करने की चेष्टा की जायगी। प्रकृत में तालिकात्मक समन्वय–सन्दर्भ–सङ्गति की दृष्टि से यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्राकृतधर्म्मभेदात्मक यह स्वधर्म्म भी सर्गचतुष्टयी के कारण क्रमशः ब्राह्मणधर्म्म–क्षत्रियधर्म्म–वैश्यधर्म्म–शूद्रधर्म्म भेद से चार ही भागों में विभक्त होरहा है, जिन इन चारों के ही पारिभाषिक नाम मोक्ष, धर्म्म, काम, अर्थ–रूप से प्रसिद्ध हैं।

३१५–आत्मपर्वानुगत मोक्षभाव, बुद्धिपर्वानुगत धर्म्मभाव, मनःपर्वानुगत कामभाव, शरीरपर्वानुगत अर्थभाव, एवं चतुष्पर्वानुगत पुरुष-मानव-मनुष्य-नर-भावों का चतुर्विध स्वधर्म्मों से क्रमिक-सम्बन्ध—

धर्म्म–काम–अर्थ–गर्भित–'मोक्ष' नामक प्रथम धर्म्म चतुष्पर्वा मानव के प्रथमपर्वात्मक 'आत्मपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'आत्मधर्म्म' है। चतुर्विध मानववर्गों में से आत्मनिष्ठ 'ब्राह्मणमानव' नामक 'पुरुष' का इसी आत्मधर्म्म से प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही 'पुरुष' (ब्राह्मण) का प्रमुख स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष–काम–अर्थ–गर्भित–'धर्म्म' नामक द्वितीय धर्म्म मानव के द्वितीय पर्वात्मक 'बुद्धिपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'बुद्धिधर्म्म' है। बुद्धिनिष्ठ 'क्षत्रियमानव' नामक 'मानव' का इसी बुद्धिधर्म्म से

प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (क्षत्रिय) का मुख्य स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म-अर्थ-गर्भित 'काम' नामक तृतीय धर्म्म मानव के तृतीय पर्वात्मक 'मनःपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'मनोधर्म्म' है। मनोनिष्ठ 'वैश्यमानव' नामक 'मनुष्य' का इसी मनोधर्म्म से क्योंकि प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (वैश्य) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म-काम-गर्भित 'अर्थ' नामक चतुर्थ धर्म्म मानव के चतुर्थ पर्वात्मक 'शरीरपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'शरीरधर्म्म' है। शरीरनिष्ठ 'शूद्रमानव' नामक 'नर' का इसी शरीरधर्म्म से क्योंकि विशेष सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (शूद्र) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। त्रिगर्भित 'मोक्ष' नामक स्वधर्म्म प्रथम चिदात्मसर्ग से, त्रिगर्भित 'धर्म्म' नामक स्वधर्म्म द्वितीय चित्सर्ग से, त्रिगर्भित ही 'काम' नामक स्वधर्म्म तृतीय चेतनसर्ग से, एवं त्रिगर्भित ही 'अर्थ' नामक स्वधर्म्म चतुर्थ अचेतनसर्ग से उसी क्रमानुपात से समन्वित है, और यही अथ से इति पर्य्यन्त के शास्त्रीय-चतुर्विध-'आचारधर्म्म' का संक्षिप्त स्वरूप-दिग्दर्शन है।

३१६-पुरुषात्मानुगत अनुशीलनधर्म्म, मानवबुद्ध्यनुगत आचरणधर्म्म, मनुष्यमनोऽनुगत अनुसरणधर्म्म, नरशरीरानुगत अनुकरणधर्म्म, एवं स्वधर्म्म के महिमाभाव-

ये ही चारो स्वधर्म्म अत्यन्त-रहस्यपूर्ण तत्त्व का संग्रह करने वाले क्रमशः अनुशीलन, आचरण, अनुसरण, अनुकरण इन पारिभाषिक नामों से समन्वित हैं। आत्मानुगत मोक्षधर्म्म का अनुशीलन ही होता है, बुद्ध्यनुगत धर्म्म का आचरण ही होता है, मनोऽनुगत कामधर्म्म का अनुसरण ही होता है, एवं शरीरानुगत अर्थधर्म्म का अनुकरण ही होता है।

३१७-शरीरप्रधान नरों का प्रजात्व, तदनुगत अनुकरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित प्रजातन्त्र-

(१) शरीरनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक स्वार्थमात्रनिष्ठ, शरीरधर्म्मा शूद्रमानव (नर) का अभ्युदय-निःश्रेयस (चतुर्विधा पुरुषार्थसिद्धि) मोक्ष-धर्म्म-काम-गर्भित, शरीरानुगत अर्थधर्म्मरूप अनुकरणधर्म्म पर ही अवलम्बित है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है-'एप आदेश'। अपने व्यक्तितन्त्र के अतिरिक्त इस अनुकरणधर्म्म में परिवार-समाज-राष्ट्र-हितों का कोई समावेश नहीं है। और यही शरीरमात्रप्रधान 'प्रजातन्त्र' की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थप्रधान राष्ट्र ही प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिसके यत्त्यावत् विधि-विधान 'परानुकरण' पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीरमात्र ही इस तन्त्र में गच्छतः-स्खलन-रूप से व्यक्त रहता है, जबकि राष्ट्र का मन, राष्ट्र की बुद्धि, राष्ट्र का स्वतन्त्र आत्मा, तीनों तो अन्तर्मुख-प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुकरणात्मक-प्रजातन्त्र में।

३१८-मनःप्रधान मनुष्यों का गणत्व, तदनुगत अनुसरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित गणतन्त्र-

(२)-मनोनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक-स्वार्थ साधनपूर्वक पारिवारिक स्वार्थनिष्ठ, शरीर-मनोधर्म्मा वैश्यमानव (मनुष्य) का अभ्युदय-निःश्रेयस् मोक्ष-धर्म्म-अर्थ-गर्भित, मनोऽनुगत-कामधर्म्मरूप 'अनुसरणधर्म्म' पर ही अवलम्बित है, जिस की मूलप्रतिष्ठा है-'एप उपदेश.'। अपने वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ के अतिरिक्त इस अनुसरणधर्म्म में समाज, तथा राष्ट्र के हितों का कोई समावेश नहीं है।

और यही शरीर–मनो–मात्र–प्रधान 'प्रजातन्त्रीय–गणतन्त्र' की, किंवा गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र' की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थ–काम–प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीया प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिस के सम्पूर्ण विधि–विधान परानुकरणगर्भित–परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरञ्जन–मात्र ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है, जबकि राष्ट्र की बुद्धि, और राष्ट्र का प्रभुसत्तासमर्थ आत्मा, ये दोनों तो अन्तर्म्मुख–प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुसरणात्मक–गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र में भी।

३१६–बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यत्त्व, तदनुगत आचरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित-राजतन्त्र-

(३)–बुद्धिनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक–पारिवारिक–स्वार्थ–साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वार्थ-निष्ठ, शरीर–मनो–बुद्धि–धर्म्मा क्षत्रियमानव (मानव) का अभ्युदय–निःश्रेयस् मोक्ष–काम–अर्थ–गर्भित, बुद्ध्यनुगत 'धर्म्म' धर्म्मरूप **'आचरणधर्म्म'** पर ही अवलम्बित है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–**'एतदनुशासनम्'**। अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक–तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वार्थ के अतिरिक्त इस आचरणधर्म्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का कोई समावेश नहीं है। और यही शरीर–मनो–बुद्धि–मात्रप्रधान **राजन्यतन्त्र** की स्वरूप–परिभाषा है। आत्मनिष्ठा से वञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही तो, ऐसे राजतन्त्र से उद्भाविता प्रान्तीयता से ही तो-**'राजा कौन बनें ?'** मूलक व्यामोहन से राष्ट्रीय संघठन छिन्न भिन्न हो जाता है, परिणाम-स्वरूप परसत्ताएँ ऐसे शिथिल–असंघठित राज्य-पदलोलुप राष्ट्र को स्वाधिकार में ही लेलिया करती हैं।

३२०–आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिकुशलत्त्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म्म, एवं तदनुप्राणित नीतितन्त्र, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म्म–चतुष्टयी का समन्वय–प्रयास—

(४)–आत्मनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–स्वार्थसाधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वार्थनिष्ठ, शरीर–मनो–बुद्धि–आत्म–धर्म्मा ब्राह्मणमानव (पुरुष) का अभ्युदय–निःश्रेयस् धर्म्म–काम–अर्थ–गर्भित, आत्मानुगत–'मोक्षधर्म्म' रूप 'अनुशीलन' पर ही अवलम्बित है, जिस की मूलप्रतिष्ठा है–**'एषा संवित्'**। अतएव यह वर्ग आदेश–उपदेश–अनुशासन, तीनों की सीमाओं से असंस्पृष्ट है। इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक स्वार्थ प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है। जिन वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–स्वार्थ–साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है, क्षणमात्र में उन सब का परित्याग कर यह सर्वतोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म्म प्रणतभाव से समर्पित कर देता है। भूयो भूयः हम प्रणामाञ्जलियाँ ही समर्पित कर रहे हैं आस्था–श्रद्धा–पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ, राष्ट्रहितनिष्ठता के ही माध्यम से विश्वहितनिष्ठ बने रहने वाले ब्राह्मणमानव के लिए पुनः पुनः। एवं इस प्रणति–समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्म्मपरिभाषा, जिसका तालिकात्मक समन्वय इत्थं–रूपेण सम्भव है—

मुख्यौ-धर्मौ { १–चिदात्मसर्गानुगत –अनुशीलनधर्म्म –ब्राह्मणस्य स्वधर्म्म. [मोक्षात्मक] } प्रतिरूपधर्मौ
२–चित्सर्गानुगत.——आचरणधर्म्म.— क्षत्रियस्य स्वधर्म्म' [धर्म्मात्मक]

गौणौ-धर्मौ { ३–चेतनसर्गानुगत.—–अनुसरणधर्म्म.—वैश्यस्य स्वधर्म्म [कामात्मकः] } प्रतीकधर्मौ
४–अचेतनसर्गानुगत –अनुकरणधर्म्म. –शूद्रस्य स्वधर्म्म [अर्थात्मक']

१–शरीर–मनो–बुद्धि—गर्भित —आत्मनिष्ठ –ब्राह्मणमानव [राष्ट्रहितनिष्ठ]।

२–शरीर–बुद्धि–आत्म–गर्भित —बुद्धिनिष्ठ –क्षत्रियमानव' [समाज–प्रान्त–हितनिष्ठ.]।

३–शरीर–बुद्धि–आत्म–गर्भित —मनोनिष्ठ –वैश्यमानव [परिवारहितनिष्ठः]।

४–मनो–बुद्धि–आत्म–गर्भित —शरीरनिष्ठ'–शूद्रमानव [वैय्यक्तिकहितनिष्ठः]।

१–राष्ट्रहितनिष्ठो ब्राह्मण एव पुरुष —संविदनुगत [एषा संवित्]।

२–प्रान्तीयहितनिष्ठ क्षत्रिय एव मानव'–अनुशासनानुगत [एतदनुशासनम्]।

३–परिवारहितनिष्ठो वैश्य एव मनुष्य –उपदेशानुगत. [एष उपदेश]।

४–वैय्यक्तिकहितनिष्ठः शूद्र एव नर —आदेशानुगत [एष आदेश]।

१–संविदनुगत–नीतितन्त्रम्–(ब्राह्मणस्यैवात्मनिष्ठस्य)–मोक्षप्रधानम्–राष्ट्रीयम्।

२–अनुशासनानुगत–राजतन्त्रम्–(क्षत्रियस्यैव बुद्धिनिष्ठस्य)–धर्म्मप्रधानम्–प्रान्तीयम्।

३–उपदेशानुगत–गणतन्त्रम्–(वैश्यस्यैव मनोनिष्ठस्य)–कामप्रधानम्–पारिवारिकम्।

४–आदेशानुगत–प्रजातन्त्रम्–(शूद्रस्यैव शरीरनिष्ठस्य)–अर्थप्रधानम्–वैय्यक्तिकम्।

३२१-पौरुष, तथा भाग्य के अनुबन्ध से सर्गचतुष्टयी का स्वरूपोपक्रम, एवं 'पौरुष' की स्वरूप-परिभाषा —

अब पौरुष, और भाग्य की दृष्टि से भी सर्गचतुष्टयी का समन्वय क्यों न कर लिया जाय ! । अवश्य कर लिया जाय, जिस पुरुषार्थ, और भाग्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली महती समस्या का पूर्वखण्डों में यत्र-तत्र संक्षेप से, तथा विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है । 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' इस श्रुति-सिद्धान्तमूलक अनन्तात्मब्रह्मानुगत, सर्वशक्तिसमन्वित 'पौरुष' के लिए कुछ भी असम्भव इसलिए नहीं है कि, समस्त प्राकृतिक सर्ग के महिमात्मक [आधिदैविक], तथा परिणामात्मक [आधिभौतिक] क्रम-संस्थान, इनका फलाफल ब्रह्मविद्यावित् आत्मनिष्ठ अप्राकृत मानव के लिए सर्वथा विज्ञात ही बना रहता है । अतएव यह कालानुबन्धी–दिग्देशानुबन्धी–भाग्य का वशवर्त्ती न रह कर भाग्य को वश में रखता हुआ– 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ' ही बन जाता है । अव्ययपुरुषानुगत सत्यसंकल्प, एवं तदनुगत सत्यकर्म्मा-व्यवसाय इसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण कर देते हैं–'यं यं कामयते, तं तमाप्नोति' ।

३२२-दिग्देशकालानुप्राणिता भूताभिव्यक्ति, एवं भाग्यवादी, तथा पुरुषार्थनिष्ठ में प्राकृतिक विभेद —

यह ठीक है कि, दिग्देशकालानुबन्धो के बिना व्यक्त भूतभाव अभिव्यक्त नही हुआ करते । इस दिग्देश-कालाधीनता का नाम हीं तो भाग्य, किंवा भाग्यवाद है । अवश्य ही अव्ययपुरुषानुगत आत्मनिष्ठ ब्रह्मविद्यावित् को भी अनुगमन तो भाग्यवाद के मूलप्रतिष्ठारूप दिग्देशकालानुबन्धों का करना ही पड़ता है । किन्तु भाग्यवादी में, और इस अव्ययपुरुषनिष्ठ पौरुषशाली ब्रह्मविद्यावित् में अन्तर केवल इतना सा है कि, भाग्यवादी जहाँ दिग्देशकालाधीन है, वहाँ पौरुषशाली मानव सत्यसंकल्पानुसार ऐच्छिक दिग्देशकाल तत्काल अभिव्यक्त कर लेता है । इसलिए करलेता है कि, जहाँ भाग्यवादी दिग्देशकाल के गर्भ में रहने से दिग्देशकालाधीन है । यह स्वयं अपनी इच्छा से न चल सकता, न सोच सकता, न कुछ कर ही सकता । अपितु काल ही इसका वहन करता रहता है । अतएव कालगति के अनुसार ही इसे अपने व्यक्त जीवन का यापन करते रहना पड़ता है, जैसाकि कालसूक्त के–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि वाक्यार्थ–समन्वय–प्रसङ्ग में विस्तार से बतलाया जाचुका है । वहाँ ठीक इसके विपरीत ब्रह्मवित् क्रान्तिदर्शी मनीषी कवि अपने प्राकृतरूप से काल के गर्भ में रहता हुआ भी कालातीत अनन्ताव्ययपुरुषलक्षण अप्राकृत–कालातीत स्वरूप से काल को स्वगर्भ में ही प्रतिष्ठित रखता है, जैसाकि उसी मन्त्र के–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' इत्यादि उत्तर–वाक्य से तत्रैव स्पष्ट किया जाचुका है ।

३२३-पुरुषार्थक्षेत्रानुगता दिग्देशकालमर्य्यादा का समर्थन—

कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, इस कालातीत पौरुषशाली ब्रह्मवित् के संकल्प दिग्देशकाल की सीमा से बहिर्भूत केवल भावजगत् में हीं, केवल संकल्परूप से ही पूर्ण हो जाते हैं, जैसाकि तत्त्वमीमांसकोंनें कुछ ऐसा सा ही मान रक्खा है ।

३२४-पौरुषशाली महामानवों की सत्यसंकल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृत-कालमर्य्यादानुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

हम कदापि उन पौरुषशाली महामानवों की इस शक्ति में कोई शङ्का नहीं रख रहे कि, यदि वे चाहें, तो बिना दिग्देशकालानुबन्धों के भी उनके सत्यसङ्कल्पमात्र ही दिग्देशकालात्मक-व्यक्त-मूर्त्तभावों के बिना भी उनकी तृप्ति-तुष्टि-शान्ति के कारण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। तथापि उनका महिमामय कालस्वरूप ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक सङ्कल्प उन के द्वारा अभिव्यक्त-मर्य्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशानुबन्ध से ही सम्पन्न होना चाहिए। क्या वे स्वयं अपने लिए, तथा अपने से अभिन्न ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अपने ही सङ्कल्प से अभिव्यक्त, अपने ही महिमारूप दिग्देश-कालानुबन्धों की यों उपेक्षा कर देंगे ?। कदापि नहीं।

३२५-अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित-चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त-सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार-निष्ठा के प्रति अवहेलना—

अवतारपुरुषों का दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित लीलावृत्त कौन नहीं जानता ?। यदि स्वयं लीलावर विश्वेश्वर, एवं उनके सायुज्य से समन्वित ब्रह्मवित् ही यों मर्य्यादाचारों का परित्याग कर देंगे, तो फिर इन्हीं को आदर्श मानने वाले अस्मदादि लौकिक-प्राकृत नर क्या क्या कल्पनाएँ नहीं कर डालेंगे उनके उदाहरणों को सामने रखते हुए ?, जैसेकि ईश्वराज्ञासिद्ध-दिग्देशकालमर्य्यादित शास्त्रसिद्ध आचार की अवहेलना करने वाले चमत्काराभिभूत सन्तोंने, एवं तदनुगामिनी भावुक-जनताने अपने गुरुओं की, तथा तन्माध्यम से अपने भावनासिद्ध (भातिसिद्ध) भगवान् की दिग्देशकालबन्धनरहिता, सहजमायानुसार-अमर्य्यादिता अलौकिक चमत्कारपरम्पराओं के सर्जनाधार पर अपने आपको शास्त्रीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख कर लिया है।

३२६-भगवान् की सर्वकरणीयता से अनुप्राणित लोकसूत्र, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित भक्त-सन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोहन—

"अवश्य ही भगवान् के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस ईश्वरीय-प्राङ्गण में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो, यह तो असम्भव ही है" लोकनिष्ठ महामानवों के इस लोकसूत्र का वास्तव में कुछ अर्थ है, जिस की भावुकतावश उपेक्षा कर काल्पनिक चमत्कारों के काल्पनिक आवेशों में, तन्मूला आशा दुराशाओं में आसक्त-व्यासक्तमना भावुक-जनता सर्वथा ही आचारशून्या, अतएव सर्वशून्या ही बन गई है, इति नु महद्दु खास्पदम्। जिसे 'अष्टसिद्धि' कहा है-योग ने, तत्सम्बन्ध में भी हम अभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहेंगे कि-'अष्टसिद्धि' नामकी यदि कोई योगविभूति है, तो तद्युक्त वह सिद्धमानव चान्द्रदेवसर्ग का ही कोई अवयव हो सकता है। यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि-"मानव का मानवशरीर में विद्यमान रहते हुए इसका अष्टसिद्धि-प्रदर्शन सर्वथा असम्भव ही है"।

३२७-देवविद्यात्मका चान्द्रीविद्या के सम्भावित प्रदर्शन, एवं तद्द्वारा सिद्धिभक्त भावुक मानवों के आचारात्मक--सहज--नैष्ठिक-स्वरूप का विमोहन—

अवश्य ही देवविद्यात्मिका चान्द्रीविद्या के माध्यम से (जिस का नाम-'योग'-रख लिया गया है) अष्टसिद्धियों का तात्कालिक प्रदर्शन सम्भव है। किन्तु यह प्रदर्शनभक्त अपने व्यक्तित्त्व-प्रतिष्ठापन-लक्षण व्यक्तित्त्व-विमोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो वैसा आचारात्मक-लक्ष्य व्यवस्थित नही कर पाता, जिससे इसके लोकजीवन में कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता हो। कदापि इन प्रदर्शनात्मक विजृम्भणों से यह स्वयं तो देवभाव में परिणत नही ही होसकता।

३२८ देवर्षिभावानुगता नैष्ठिकी-आचारात्मिका सिद्धियों की भावुकतापूर्णा भूतसिद्धियों से असंस्पृष्टता, एवं भूतसिद्धियों के महान् पण्डित एतद्देशीय 'सर्पविमोहनकुशल' अगणित यायावर--लोकमानव—

स्मरण रहे, जिन सिद्ध--योगियों की, नारदादि की यशोगाथाएँ पुराण में सुनीं जाती हैं, वे कोई भूतलोक के-भूतसर्ग के प्राणी नहीं हैं। अपितु वे तो आधिदैविक-प्राणसर्ग की प्राणात्मिका ही विभूतियाँ हैं। तभी तो नारद 'देवर्षि' कहलाए हैं तत्र। सन्त--साधु-फ़क़ीर-उलमा-आदि की सम्प्रदायों में जो यदा कदा कुछ एक अलौकिक-घटनाएँ, चमत्कार देखे, और सुने जाते हैं, उनका देवविद्यात्मक-प्रदर्शन से यत्-किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नही है। अपितु यह तो वह 'भूतसिद्धि' मात्र है, जिसके पारम्परिक प्रकार, हीनतम-जघन्य-तम-मलीमस-प्रकार, न केवल तथाकथित साधु--सन्तों में हीं, अपितु गृहे गृहे द्वारे द्वारे करपट्टिका-खण्डों, तथा ताम्र-कार्षापणों * के लिए 'पूँगी' नामक वाद्यविशेष को वजाते हुए अहोरात्र इतस्ततः भटकते रहने वाले 'सर्पविमोहनकुशल' गैरिकवस्त्रधारी प्राकृत मानव (कालवेलिए) भी यदा कदा ऐसे चमत्कार प्रदर्शित कर सकते हैं, जिन कुछ ऐसे चमत्कारों को देख-सुन कर ही तो भारतीय-योगविद्या की अलौकिक शक्ति की यशोगाथा ! से प्रभावित हो पड़ने वाले सुप्रसिद्ध प्रतीच्य जिज्ञासु **पालब्रन्टन** महाभाग बड़ी कठिनता से अपनी सहज श्रद्धा का संवरण कर सके थे-(देखिए-**पालब्रन्टन**लिखित-'**गुप्तभारत की खोज**' **नामक निबन्ध**)। ऐसी भूतसिद्धियाँ तो भारत के निरक्षरमूर्द्धन्य-उदरम्भरि-यथाजात-ग्रामीणों में भी यदा कदा सरलता से उपलब्ध होजातीं हैं। अन्तर इन में, और साधु-सन्तों में यही है कि, ग्रामीण कौशलपूर्वक उन का प्रदर्शन करना नहीं जानते, नाहीं वे अधिकांश में प्रदर्शन करते ही। जबकि हमारे ये बाबालोग-सन्त-गुरु-महाराज कौशलपूर्वक प्रदर्शन करते हुए उन प्रतीच्यशिक्षाधुरीण-भारतीय सभ्यों तक को तात्कालिकरूप से प्रभावित कर लेते हैं, जिन्होंनें अपने भूतविज्ञान में ऐसी अलौकिक-चमत्कारपूर्ण-घटनाओं को कभी पढ़ा, सुना नहीं है। और जिनका भारतीय तत्त्ववादानुगत, तन्मूलक देवभावात्मक आचारशास्त्र से कभी सम्पर्क रहा ही नहीं है। अतएव ये शिक्षित सभ्य भारतीय महानुभाव ही अज्ञजनों की भाँति, अपितु कहीं कहीं तो उन से भी विशेषरूपेण तथाविध भूतचमत्कारों से प्रभावित होते देखे, एवं सुने गए हैं।

---

* रोटी के टुकड़ों, और तांबे के पैसों के लिए।

३२९–देवविद्यानुगता अलौकिक–सिद्धियों में निष्णात सन्तों के प्रति आस्था–समर्पण, किन्तु तथाविध सिद्ध–सन्त–महापुरुषों की प्रदर्शनों से आत्यन्तिक तटस्थता—

मान लेते हैं, एवं सर्वात्मना आस्था भी कर लेते हैं कि, अवश्य ही देवविद्यानुगत वैसे सन्त–साधु भी इसी भूतल पर विद्यमान हैं, जो देवविद्यामूला अलौकिक सिद्धियों के सगुण स्वरूप बनते हुए माता धरित्री को धन्य बनाते रहते हैं। किन्तु यह सुनिश्चित है कि, ऐसे देवविद्यानिष्ठ परमसन्त महामानव कदापि अपनी इन देवसिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। कदापि इन में शिष्य–सम्प्रदायवृद्धि का व्यामोहन नहीं होता। कदापि वर्त्तमानयुग की भूत–विलास–सामग्रियों से आलोकमय आनन्दाभिमुख व्याप्त सुसभ्य ? नगरों के जनकोलाहलपरिपूर्ण प्राङ्गणा में महान् आक्षेप के साथ 'समाधि' जैसे सामान्यतम प्राणनिरोध–प्रदर्शन के लिए वे परमसन्त आकुल–व्याकुल नहीं बनते रहते। कदापि इन की देवसिद्धियों का कभी भी, किसी के भी अनिष्ट-चिन्तन में उपयोग नहीं होता, जब कि–भूत–प्रेत–यक्ष–राक्षसादि–चान्द्र–भूत–भौतिक–तात्कालिक आवेशों से आविष्ट 'भूतसिद्धिपरायण' सन्त अपने इन भूतव्यामोहनों से भावुक जनता को भयत्रस्त करते रहने में ही अपना परम–पौरुष मानते रहते हैं। स्वयं भगवान् ने निस्पष्ट शब्दों में ऐसे भूतसिद्धिवादियों की सर्वात्मना अवहेलना ही तो की है *।

३३०–दिग्देशकालव्यामोहक–भौतिक–चमत्कारों से तात्कालिकरूपेण तुष्टा-पुष्टा लोकप्रजा का परिणामतः मानवीय–निष्ठादृष्टि से आत्यन्तिक विनाश—

अभ्युपगमवाददृष्ट्या यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं करेंगे कि, भूतसिद्धिपरायण तथाविध प्रदर्शनकारी सन्तों, साधुओं के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों से इनकी भक्तजनता प्रभावित भी अवश्य ही हो-जाती होगी। एतदतिरिक्त इन सन्तों के भौतिक सिद्धिबल से तद्भक्तों के लोक-वित्त-पुत्रैषणात्मक-लौकिक-सामाजिक-पारिवारिक-राजनैतिक-तात्कालिक-स्वार्थ भी सफल होजाते होंगे। तदपि इन सब व्यामोहनों से न तो मानव उस सहज शान्ति-तुष्टि पुष्टि-ऋद्धि का ही अनुगामी बन सकता, न ऐसे सिद्धिप्रलोभन-मक्त मानव का व्यक्तित्व ही अभिव्यक्त हो पाता, न परिवार ही अभ्युदयपथानुगामी बन सकता, न समाज ही व्यवस्थापूर्वक सुव्यवस्थित बन सकता। और राष्ट्रहितानुबन्धी मानवधर्म का तो सस्मरण भी सम्भव नहीं है इस वैयक्तिक

---

*–यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्ष–रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं (जीवं)–तान् विद्धि–आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।४,५,६,।

एषणा-पथ में। अतएव अन्ततोगत्वा आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण इत्थंभूत भूतसिद्धिव्यामोहन का निस्सारत्त्व ही, एवं परिणाम में सर्वनाशकरत्त्व ही प्रमाणित हो जाता है।

३३१-आचारात्मिका-शास्त्रीया-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देव-विद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र-वर्ष-पूर्व के भारत में देवसिद्धियों की सगुणप्रतिमारूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म्म का ही समर्थन-पालन—

भूतसिद्धियों की बातें तो जाने दीजिए। आचारात्मिका प्रकृतिसिद्धा-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में तो असम्भव को सम्भव बना डालने की क्षमता रखने वाली देवविद्यात्मिका पराविद्या का भी समादर नहीं किया तद्विद्य ऋषिमानवोंनें, एवं तन्मूर्त्ति अवतारपुरुषोंने। कभी इन देवविद्याओं के माध्यम से न तो आर्षधर्म्म-प्रवर्त्तक महामहर्षियोंनें हीं दिग्देशकालातिक्रम किया, एवं न आर्षधर्म्मसंरक्षक भगवदवतारपुरुषोंने ही प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय आचारपथ की अवहेलना की। अपितु इनके सभी लोकानुबन्ध-समाज-राष्ट्रादि-व्यवस्थापन दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादासूत्रों से ही समन्वित होते रहे। भूतसिद्धिव्यामोहक साधु-सन्त-गण सम्भवतः यह तो मान ही लेंगे कि, आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के सांक्रामिक-भयावह-काल्वालीकृत-धर्म्मग्लानिरूप महाभारतयुग में इस धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अपने अव्ययात्मक अक्षररूप से अवतीर्ण पूर्णावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में वे सभी सिद्धियाँ विद्यमान थीं, जिनका उपयोग भी धर्म्मद्वेषी तत्त्वों के उपशम के लिए क्वाचित्करूपेण ही हुआ। किन्तु कदापि भगवान् ने लोकनिष्ठा-संरक्षण-प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक-सिद्धि को माध्यम नहीं बनाया। अपने देवभावात्मक विराट्स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता भी उस भावुक अर्जुन के प्रति हो पड़ी थी, जो भावुकतावश, अपनी मानसिक अनुभूति, काल्पनिक-दया, अहिंसा, मानवता के व्यामोहन में आकर आचारसिद्ध दिग्देशकालानुबन्धी-क्षात्रधर्मात्मक आचारधर्म्म को भूल गया था। आचारधर्म्मप्रतिष्ठापन ही तो अवतारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था। न कि देवसिद्धियों, अलौकिक चमत्कारों, एवं भूतसिद्धियों के द्वारा मानवसमाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को बिना ही कर्त्तव्यनिष्ठा के अनायासेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था। सर्वशक्तिसम्पन्न जो भगवान् श्रीकृष्ण अपने संकल्पमात्र से कौरवसेना को क्षणमात्र में भस्मसात् कर भक्त अर्जुन को संघर्षात्मक महान् उत्तरदायित्व से बचा ले सकते थे, उन भगवान् ने वैसा न कर दिग्देशकालानुबन्धी उन्हीं विधि-विधानों का स्वयं भी मानुषी-लीला-भोगपर्य्यन्त पालन किया आस्था-श्रद्धा-पूर्वक, एवं अपने भक्त अर्जुन को भी प्रवृत्त किया इसी आचारनिष्ठा की ओर, तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिसोपानपरम्परात्मक वाङ्मय ब्रह्मस्वरूप (गीताशास्त्र) के द्वारा सम्पूर्ण मानव-समाज को भी कर्त्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया। आचारात्मक ऐसे प्रचण्ड कर्म्मसत्य के सहस्रांशुसूर्य्यतत्व अभिव्यक्त रहने पर भी सम्पूर्ण जाति (भारतीय भावुक हिन्दूजाति) ही काल्पनिक चमत्कारभासों के आकर्षण से आकर्षित होकर तथोपवर्णित सिद्धों-सन्तों के कुचक्र में आकर दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्मों को कैसे, क्यों विस्मृत कर बैठी ?, इस विस्मरण से कैसे इसने अपने सर्वशक्ति-साधन-सम्पन्न भी राष्ट्र को विगत अनेक सहस्राब्दियों से परतन्त्रता के वारुणपाश में आबद्ध करा लिया ?, इत्यादि प्रश्नों का सफल समाधान तो सम्भवतः वे सन्त, वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जिन्होंनें आचारात्मक कर्त्तव्यशून्य तत्त्वविजृम्भण के द्वारा,

एवं काल्पनिक–चमत्कार–प्रदर्शनानुगता कर्त्तव्यहीनता के द्वारा राष्ट्र की कर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा को, यहाँ की शक्तिग्राहिका उपासनापद्धति को सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया है।

३३२–सर्वविध-सिद्धि-चमत्कार–प्रदर्शनों के पारस्परिक–व्यामोहनों से ही भारत राष्ट्र की आचारनिष्ठात्मिका 'श्री' 'समृद्धि' की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता—

स्मरण रखिए। प्रकृतिसिद्ध–दिग्देशकालानुबन्धी–मर्य्यादित- प्रकृतिभेदात्मक–स्वधर्म्मात्मक–विभक्त आचारधर्म्मरूप कर्त्तव्य–कर्म्म ही राष्ट्र की राष्ट्रीयता है, जिससे राष्ट्रीय–सघटन अक्षुण्ण बना रहता है। काल्पनिक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों से सम्भव है आप वैय्यक्तिक, एवं अधिक से अधिक पारिवारिक (जिसकी कि तत्त्वदृष्ट्या हम तो सम्भावना भी नहीं मानते) तात्कालिक स्वार्थ ससिद्ध कर लेने की भ्रान्तिमान के अनुगामी बन जायँ। किन्तु कदापि समाज, तथा समाज–समष्टिरूपा राष्ट्रीयता का, मानवजाति का तो अभ्युदय सम्भव ही नहीं है–कर्त्तव्याचारशून्य ऐसे व्यामोहन–पथों से। अतएव सर्वथा अशक्त ही बन जाता है वह राष्ट्र, जिसमें पहिले तो आचारशून्य दार्शनिकता (तत्त्वचर्चामात्र) जन्म ले पड़ती है, तदाधारपर ही आगे चलकर जिस राष्ट्र में चमत्कार–सिद्धि–प्रदर्शक सन्त–साधु–परम्पराएँ आविर्भूत हो पड़ती हैं, एवं कालान्तर में इन दार्शनिकों, एवं सन्तों की शून्य-शून्य भावना से निराश बनकर वैसा लोकसम्प्रदाय आविर्भूत हो पड़ता है, जो दार्शनिकता–सन्तवृत्तिता के प्रति विद्रोह करता हुआ अपनी कल्पना से, भूतदृष्टिमाध्यम से ही एक वैसा धर्म्मनिरपेक्ष पथ उत्पन्न कर बैठता है, जिसमें तो सभी कुछ स्वाहा होजाता है।

३३३–राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षित शास्त्र, तत्कर्त्तव्य, तन्निष्ठ विद्वान्, तद्रक्षक क्षत्रिय, तदनुवर्त्मा श्रद्धाशील जनतन्त्र, आदि आदि की विद्यमानता में भी त्रिसहस्र–वर्षात्मिका अवधि में राष्ट्रस्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव, एवं सम्प्रश्नात्मक एक महान् प्रश्न ?—

राष्ट्र में शास्त्र भी विद्यमान थे, उनमें प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय कर्त्तव्य भी सुरक्षित थे, धर्म्मनिष्ठ (धर्म्म-भावुक) शास्त्रज्ञ विद्वान् भी प्रचुर संख्या में विद्यमान थे। हँसते हँसते धर्म्म के नाम पर गला कटवा डालने वाले धर्म्मरक्षक क्षत्रिय–सामन्त राजाओं की भी कमी नहीं थी। तदनुवर्त्मा जनतन्त्र भी धर्म्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रख रहा था। तदित्थं–राष्ट्रसरक्षण के लिए जो कुछ साधन–परिग्रह–शक्ति–पौरुष–ज्ञान–ध्यान–धर्म्म-भक्ति–आदि आदि अपेक्षित होने चाहिएँ थे, सभी तो विद्यमान थे अतीतयुगों में। किन्तु सुना यह गया इतिहास के मलीमस अक्षर-वर्णों के माध्यम से कि,—कोटि कोटि धार्मिक जनता के विद्यमान रहते भी विदेशी बर्बर आक्रान्ता निर्बाधगति से आए, आकर यहाँ का सबकुछ तोडफोड कर सम्पूर्ण सम्पत्ति का सग्रह कर प्रसन्न होते हुए कुछ तो लौट गए, और कुछने यहाँ के उन्हीं धर्म्मधुरीणों के आग्रह से यहीं आतिथ्य ग्रहण कर लेना उचित मान लिया। उन युगों में भी चामत्कारिक साधु–सन्तों की कमी तो नहीं रही होगी ?। फिर क्या एक ने भी यह आवश्यक नहीं समझा कि, वह अपने चमत्कार से अपने इष्टदेव सोमनाथलिङ्ग को तो बचा लेता ?। यहीं, इन मूर्तिमानों की प्रतीक्षा में ही वह तथ्य सुनिहित है, जिसका समन्वय कर ही नहीं सका तद्युग का सन्त, विद्वान्, एवं दार्शनिक। हम समझते हैं–हमारी यह स्पष्टवादिता भावुक–जनों की श्रद्धा को विकम्पित कर रही

होगी ? । सो करने दो, और होने दो । वस्तुस्थिति के साथ गजनिमीलिका करते रहने के दुष्परिणाम ही तो उस राष्ट्र की उस जाति को अवनतशिरस्क बनकर आजतक भोगने ही पड़ रहे हैं, जिस राष्ट्र में किसी साधन-परिग्रह-शक्ति-स्रोत का अभाव ही नही था, जिस जाति के नामस्मरणमात्र से भी कभी आततायी विकम्पित हो पड़ते थे, एवं जिस राष्ट्र ने सुदूर-अतीत युगों में सम्पूर्ण विश्व पर एकच्छत्र साम्राज्य किया था । आज वही राष्ट्र, उस राष्ट्र की वही जाति अपने शयन—भोजनादि जैसे सामान्य कर्म्मों की व्यवस्था के लिए भी प्रतीच्य-पद्धतियों का ही अन्धानुकरण करने में अपने. आपको गौरवान्वित मान रही है, एवं विधानपूर्वक बलात्कार से मनवा रही है ।

३३४—परदर्शनमूला भयावहा भावुकतारूपा एक ही 'भूल' के माध्यम से समस्यात्मक प्रश्न का समाधान—

वह ऐसी कौनसी भूल थी, जिसने सब कुछ होते हुए भी भारतराष्ट्र की ऐसी दुर्दशा करवा डाली ?, उत्तर एकमात्र परदर्शनमूला वही भावुकता, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से दिग्देशकालानुप्राणिता निष्ठात्मिका-स्वधर्म्मनिष्ठा-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त ही नहीं होने दिया इस जाति को । अपनी इसी भावुकता से अपने काल्पनिक मतवादों का नाम ही इसने 'धर्म्म', एवं 'कर्त्तव्य' रख लिया । तदनुपात से ही, अपनी मान्यताओं के माध्यम से ही इसने ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी शास्त्र की दार्शनिकता प्रदान करदी । इसी मान्यता के द्वारा इसने अपनी मानसिक—अनुभूति के माध्यम से ऐसे ऐसे विभिन्न सम्प्रदायवाद-सन्तवाद-भक्तिवाद—नामसंकीर्त्तनवाद—रहस्यवाद-आदि आदि अगणित—वाद उत्पन्न कर डाले, जिन नवग्रहग्राहात्मक वादों से इस राष्ट्र का निष्ठाबल सर्वथा ही अभिभूत हो गया, जिन इन नवग्रहग्राहों का इतिहास निबन्ध के द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाचुका है । तथैव किमिदं शास्त्रम् ?, केयं वा शास्त्रनिष्ठा ?, कोऽयं शास्त्रीयांचारः ?, इत्यादि प्रश्न भी तत्रैव द्वितीय—खण्डे समाहित हैं, इति तज्जिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

३३५—दिग्देशकालचक्र से ऊर्ध्व स्थित भी अलौकिक—कालातीत-पुरुषार्थनिष्ठ—मानव के द्वारा कालातीत के महिमारूप काल का सम्मान, एवं तदपेक्षित कर्म्मभोग का समादर—

प्रकृत में इस सन्दर्भ के माध्यम से हमें केवल यही निवेदन करना है कि, चिदात्मसर्गानुगत अव्ययनिष्ठ अप्राकृत-अलौकिक मानव यद्यपि दिग्देशकाल—चक्र से ऊपर है । तथापि ब्रह्म के महिमामय इस काल—विवर्त्त की उपेक्षा नहीं करता यह ब्रह्मवित्—'पुरुष' । अपितु इसे भी लोकवत् उसी मर्य्यादित कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगामी बना रहना पड़ता है सहजरूप से, अनायासेनैव, जबकि कालगर्भित भाग्यवादी को कालचक्रानुपात के अनुसार ही कर्म्मभोग भोगने पड़ते हैं ।

३३६—आत्मनिष्ठ पुरुष—मानव, और उसका कर्म्मबन्धन से पार्थक्य—

चिदात्मसर्गानुगत, ब्रह्मविद्यावित् आत्मनिष्ठ मानव आत्माव्ययपुरुष के सत्यसंकल्प से नित्य समन्वित रहता हुआ पुरुषानुगता (अव्ययानुगता) पौरुषशालिता से क्योंकि आत्मरतिनिष्ठ (अव्ययपुरुषात्मक बुद्धियोग-

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म्म,—कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली कालिक पराधीनता (जिसे 'भाग्य' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का कदापि संस्पर्श नहीं करसकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत-कर्म्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में हीं परितृप्त है, आत्मभाव में ही परितुष्ट है। अतएव 'कर्त्तव्य' कहने जैसी कोई वस्तु इसे कदापि पराधीन नहीं करसकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे आत्मबोधनिष्ठ-आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट-पुरुष के लिए कोई भी विधि-विधान, कोई भी शास्त्रीय-लौकिक-कर्त्तव्य-कर्म्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते, तो भी अत्युक्ति न होगी।

३३७-आत्मकाम, आत्मरति-लोकातीत मानव की कर्म्मासंस्पृष्टता, एवं-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का समन्वय—

सचमुच यह कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचार की सीमा से बहिर्भूत है अपने आत्मानुशीलन-भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है, तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिशय ही उत्पन्न हो जाता, एवं न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी-भूत-भौतिक-व्यक्त-मूर्त्त-कालिक-द्वन्द्वात्मक फलाफलों में इसकी कोई आसक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगर्भ में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन गर्भीभूत कालिक-दैशिक-भूतों में प्राप्त करने जैसा कोई भी तो अर्थ शेष नही रह जाता, जिसे प्राप्त करने की कामना से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध-मर्य्यादित-कर्त्तव्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्य्यं न विद्यते'।

३३८-आत्मतृप्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सचमुच आत्मनिष्ठ-आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट के लिए कर्त्तव्यकर्म्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ? । क्या सचमुच पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अभिनव वेदान्ती की भाषा के अनुसार-ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ? । निम्नलिखित गीतावचन तो प्रश्नों का 'ओमित्येतत्' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं, ऐसे वचनों नें हीं उन जगन्मिथ्यात्ववादी अभिनव-वेदान्तियों को प्रभावित किया है, जिन्होंनें शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमाचारात्मक यज्ञ-तप-दान, इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-आदि कर्त्तव्य-कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो दिया है उन्होंनें कि,—"शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्मों, कर्त्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आवरण-पाप्मा मल को हटाने मात्र में हीं विधिशास्त्र का, यज्ञ-यागादिका उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म्म, पवित्रकर्म्म'-अर्थात्

'मलविशोधक-कर्म्म' कहा है भगवान् ने *। एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-तपो-रूप प्रवृत्तिकर्म्मों, तथा तदुपलक्षित इष्ट–आपूर्त्त–दत्त-नामक लौकिक सत्कर्म्मों की अवश्यकर्त्तव्यता का समर्थन भी कर लिया है भगवान् ने। इसी से स्पष्ट है कि, जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कर्त्तव्यकर्म्मों की आवश्यकता है। आत्मबोध हो जाने के अनन्तर तो कतकरजोवत् ये कर्म्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। और उस ब्राह्मीस्थिति में पहुँचने के अनन्तर उस आत्मबोधनिष्ठ के लिए कोई भी कर्त्तव्य–कर्म्म शेष नहीं रह जाता। फिर तो-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः, को निषेधः' ही एकमात्र पक्ष शेष रह जाता है"। प्रतीज्ञात गीतावचनों को भी लक्ष्य बनाइए !

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

—गीता ३।१६,१८।

३३६–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरक्षीरविवेक—

'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का 'कर्म्मत्याग'–रूप मर्म्म समझ बैठने वाले त्यागी–वैरागी–जगन्मिथ्यावत्वादी, वैदिक–लौकिक–कर्त्तव्यकर्म्मों के अन्यतम शत्रु उन संन्यासियों से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि, क्या 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का यही अर्थ है कि, "आत्मबोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म्म से, शास्त्रीय–विधि–निषेधों से, शास्त्रानुमोदित वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–राष्ट्रीय–उत्तरदायित्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता"? । यदि ऐसा ही है, तब तो इन संन्यासियों की दृष्टि में उन भगवान् ने भी बड़ा ही अपराध कर डाला, जिन्होंने सिद्धान्त तो स्थापित कर डाला–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' यह, और अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रवृत्त रहे वैसे वैसे कर्त्तव्य–कर्म्मों में यावल्लीलाभोगपर्य्यन्त, जिन सारथित्त्व–पाण्डवदूतत्त्व–सन्धिविग्राहकत्त्व–आदि आदि लौकिक कर्म्मों को देख–सुन कर आज के युग का तो एक सभ्य–लौकिक मानव भी आश्चर्य्य से स्तब्ध बन रहा है। विशोधक यज्ञ–तप–दानादि कर्म्म ही नहीं, अपितु लोकसाधारण में सर्वथा सामान्यकोटि की माने जाने वाली कोचवानी, समाचार–प्रेषण-साधनभूत–दौत्यकर्म्म, युद्धविश्रामावसरों पर स्वयं एक कुशल कोचवान–साईस-की भांति थके घोड़ों का मर्द्दन–जलाभिषेक–आदि आदि वैसे लौकिक कर्म्मों में भी तो भगवान् ने कभी संकोच नहीं किया, जिन कर्म्मों के संस्मरण से भी आज के सभ्यताभिमानी लज्जा-संकोच का अनुभव कर सकते हैं, करने लग पड़ते हैं।

---

*–यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५।

३४०–आचारनिष्ठ भगवान् का सारथित्व, कर्त्तव्योपरत भावुक अर्जुन की भगवान् के द्वारा कर्त्तव्य 'प्रवृत्ति,' एवं आचरणात्मिका-कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अत्याज्या स्वधर्म्मनिष्ठा—

भक्तजन समाधान करते हैं कि, 'यह तो भक्त अर्जुन की भक्ति की महिमा थी, जिस के कारण भगवान् को रथ हाँकना पड़ा'। हम उन समाधानकर्त्ताओं से पूँछते हैं कि, क्या अर्जुन वैसा ही भक्त था, जिसे झञ्झा–ताल–मृदङ्ग–करतालादि के माध्यम से क्योंकि भगवान् की नामसकीर्त्तनात्मिका भक्ति से अवकाश नहीं मिलता था। अतएव भगवान् को अपनी भगवत्ता की, तथा भक्ति की रक्षा के लिए सारथि बनकर ऐसे भक्त अर्जुन का रक्षण करना पड़ा ?। और यों अपने भक्त की लाज रख लेनी पड़ी *१। जैसी आत्मतुष्टि कर्म्मत्यागी सन्यासी की, वैसी ही मानसिक–तुष्टि समाधानकर्त्ता आज–के भक्तों की। हम अनुमान करते हैं कि, यदि अर्जुन भ्रान्ति से भी अपने भगवान् के सम्मुख अपने ये मनोभाव मूकभाषा में भी व्यक्त कर देता कि,– "भगवन्! जब आप साक्षाद्रूप से इस भक्त को मिल ही गए, तो अब तो बस आपका नाम हीं प्रेमपूर्वक जपने दीजिए, जिस से आप का यह अनन्यभक्त कौरव–सैन्यसागर ही क्या, भवसागर ही पार कर जाय" तो निश्चयेन तत्क्षण ही भगवान् सुदर्शनचक्र से अपने ऐसे भावुक-भक्त का शिरश्छेद ही कर डालते, जबकि शिशुपाल को तो थोड़ा अवसर भी दे दिया था लोकसंग्राहक भगवान् ने। केवल –'न योत्स्ये' (मैं नहीं लड़ूँगा) कहने मात्र से तो भगवान् ने अपने विराट् स्वरूप–प्रदर्शन से भक्त अर्जुन को उस सीमापर्य्यन्त विकम्पित कर डाला था कि, । अच्छा तो, अब यह भावुकतापूर्ण-प्रसङ्ग यहीं उपरत कर दीजिए, और प्रक्रान्त स्थिति का समन्वय कीजिए।

३४१–भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा आचारात्मक स्वधर्म्म के परिपालन का दृढतम आदेश, एवं 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः' का संस्मरण-

अन्तर्य्यामी भगवान् उस भावुक अर्जुन को उद्बोधन प्रदान कर रहे थे गीताशास्त्र के माध्यम से, जो अपने-'न योत्स्ये' मूलक कर्म्मसंघर्षत्याग के प्रति आकर्षित हो पड़ा था––अपनी काल्पनिक दार्शनिकता, बुद्धिमानी, किंवा गीता के शब्दों में 'प्रज्ञावाद' के कारण। बहुत सम्भव था, और अनेक बार ऐसा ही कुछ सम्भव बनता आरहा था कि, भावुक अर्जुन भगवान् के अभिप्राय को समन्वित करने में असमर्थ बनता हुआ विचलित होरहता था मध्ये मध्ये। कर्त्तव्यकर्म्म के प्रति भावुकतावश उदासीन बन बैठ जाने वाले भावुक अर्जुन के मानस पटल पर 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का क्या तात्कालिक प्रभाव पड़ सकता था ?, यह अन्तर्य्यामी जान रहे थे। अतएव-'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः (३।१८)' के अनन्तर ही भगवान् को यह कह ही तो देना पड़ा कि––

---

*–सारथि बन कर रथ को हाँको, चक्रसुदर्शनधारी–भक्त की टेक न टारी, अब की टेक हमारी, लाज राखो गिरिधारी० इत्यादि लोकप्रसिद्ध भावुकतापूर्ण भजन

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर !
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

—गीता ३।१६।

३४२–भगवान् के द्वारा समस्या–निराकरणात्मक सफल समाधान, एवं–'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' का संस्मरण–

"अर्जुन ! अव्ययात्मनिष्ठ मानव के सम्बन्ध में–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' हमारे इस कथन का कदापि यह तात्पर्य्य मत समझ बैठना कि, तू कर्त्तव्य से विमुख ही होजाय। तुझे तो असक्तबुद्धि से निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगमन करते ही जाना है। आसक्तिबन्धन–रहित होकर आत्मनिष्ठापूर्वक कर्त्तव्य–कर्म्म करते रहने वाला निश्चयेन अव्ययपुरुष का साक्षात्कार कर ही लेता है"। बात अभी पूरी बैठी नही। 'अनासक्त-कर्म्म से अव्ययपुरुषपद प्राप्त हो जाता है' इस वाक्य से तो काल्पनिक दार्शनिक को छिद्र मिल गया। वह कहने लग पड़ा कि, जबतक अव्ययब्रह्म की आप्ति (प्राप्ति) नही हो जाय, अर्थात् जबतक आत्मबोध का उदय न होजाय, तबतक के लिए तो हम स्वयं ही कर्त्तव्य–कर्म्म का अनुष्ठान शुद्धि के लिए आवश्यक मान रहे हैं। स्पष्ट है कि–उसे प्राप्त करने के अनन्तर कदापि 'कार्य्यं न विद्यते' पक्ष ही सिद्धान्त-पक्ष है। और 'असक्तो ह्याचरन् कर्म्म–परमाप्नोति पूरुषः' से सिद्धान्तपक्ष ही समर्थित है परम्परया। 'कर्म्म का आचरण करो ! अव्ययपुरुष की प्राप्ति के लिए'। अर्थात् जब वह प्राप्त हो जाय, तो–पुनः तदनन्तर-'तस्य कार्य्यं न विद्यते'। फिर भगवान् के सामने वही भावुकता-पूर्णा समस्या उपस्थित हो पड़ी। इसी समस्या का एक परोक्ष दृष्टान्त के द्वारा निराकरण करने के लिए भगवान् को आगे जाकर विस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर ही देनी पड़ी कि—

कर्म्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

—गीता ६।२०,२१।

३४३–राजर्षि विदेह जनक की दिग्देशकालात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा, एवं-'लोकसंग्रहमेवापि--सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि' का संस्मरण—

"राजर्षि जनक विदेह थे, जीवन्मुक्त थे, और जीवन्मुक्त सर्वश्री भगवान् शुकादि के साथ इनका ब्रह्मोद्य हुआ करता था", इत्यादि इतिवृत्त अर्जुन के लिए परोक्ष नही था। अतएव क्षत्रिय अर्जुन के उद्बोधन के लिए क्षत्रिय जनक के अतिरिक्त दूसरे विशिष्ट उदाहरण का मिल सकना कठिन था। ब्रह्मबोधनिष्ठ राजर्षि जनक, और ब्रह्मबोधनिष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य के संवाद का ही नाम बृहदारण्यकोपनिषत् है, जिसमें इन दोनों की संवाद-भाषा के माध्यम से कार्य्यकारणातीत वेदान्तपुरुष का ही यशोगान हुआ है। इत्थंभूत राजर्षि विदेह 'क्षत्रिय'

जनक यदि शास्त्रीय-विधि-विधानों के अनुसार क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का पालन करना अपना परमधर्म्म मान रहे हैं, तो अब अर्जुन के लिए कोई भी प्रश्न शेष नहीं रहना चाहिए था। अर्जुन अधिक से अधिक अब यही प्रश्न कर सकता था अपनी सहजसिद्धा भावुकता के आवेश में आकर कि-विदेह जनक जब आत्मनोविनिष्ठ बन गए थे, तो-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' आप के (भगवान् के) इस सिद्धान्त के विपरीत किया ही क्यों जनक ने कर्त्तव्य-पथ का अनुगमन ?, क्या प्रयोजन था उन्हें आत्मनोधानन्तर भी कर्म्ममार्गानुगमन से ?। 'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्-कर्त्तुमर्हसि' के अतिरिक्त भावुकतापूर्ण इस प्रश्न का और क्या समाधान हो सकता था ?। ठीक है प्रिय (भावुक) अर्जुन ! सचमुच जनक को संसार से कुछ लेना देना नहीं था। वे यदि कुछ न करते, तब भी उनका कोई इष्टानिष्ट सम्भव नहीं था। फिर भी उन्होंने किया, और यावज्जीवन किया। केवल इसलिए कि, यदि वे न करते, तो साधारण प्राकृत जन-जो असाधारण-लोकश्रेष्ठ मानवों को ही अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य में प्रमाण मानते आए हैं,-वे कर्म्मशून्य विदेह जनक का अनुकरण कर कर्त्तव्य से विमुख ही हो जाते। अतएव (तुम अपनी भावुकता के परितोष के लिए यही समझ लो अभी कि) जनकने लोकसंग्रह के लिए ही कर्त्तव्यकर्म्म का अनुगमन किया। मान लेते हैं-तुमने आत्मनोविनिष्ठा प्राप्त करली। फिर भी हम आग्रह करेंगे तुम से कि, जिसप्रकार अतीतयुगों के आत्मनोविनिष्ठ भी तुम्हारे ही पूर्वपुरुषों (जनकादि क्षत्रियप्रवरों) नें भी लोक-संग्रहार्थ कर्म्म करना आवश्यक समझा था, तथैव तुम भी इत्यादि इत्यादि।

३४४-महती विभीषिकारूपा-भावुकता का मूलाधार-'प्रत्यक्षजगत्', तन्निग्रहेण परिणामदर्शिता का आत्यन्तिक अभाव, एवं अतीत का द्रोही, तथा केवल वर्त्तमानवादी प्राकृत भावुक-मानव—

'भावुकता' वह महती विभीषिका है, जिसका मूलाधार है 'प्रत्यक्ष'। प्रत्यक्ष से प्रभावित होने का नाम ही तो भावुकता है। कालपुरुष के जिन भूत-भवत्-भविष्यत्-नामक तीन विवर्त्तों का यशोगान प्रक्रान्त है, उनमें से प्रत्यक्षवादी भावुक की दृष्टि में भूत-भविष्यत्, और तत्परिणाम हैं हीं नहीं। उसके चर्म्मचक्षुओं के सामने है प्रत्यक्षानुगत केवल वर्त्तमान। अतएव पशुवत् सम्मुख उपस्थित स्थूल-वर्त्तमान के आधार पर ही वह अपनी मनस्तुष्टि कर सकने में समर्थ बनता है, और यही प्रत्यक्षप्रमाण का सम्पूर्ण महत्त्व है, जिस पर बुद्धिवादी बड़ा अभिमान किया करते हैं, जबकि भारतीय दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी को तो 'नास्तिक' ही कहा गया है, जो सबकुछ सुन कर भी, देख कर भी, समझ कर भी कुछ नहीं सुनता, नहीं देखता, नहीं समझता। अतएव अतीत का तो द्रोही ही बना रहता है यह प्रत्यक्षवादी-वर्त्तमानकालवादी-भावुक प्राकृत मानव।

३४५-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के भावुक नेताओं के द्वारा अतीत का प्रचण्ड विरोध, वर्त्तमान के व्यामोहन से स्वराष्ट्रनिष्ठा-विरोधी प्रतीच्य राष्ट्रों का अन्धानुकरण, एवं भारत के सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्म्मुखता—

तभी तो आज दुर्भाग्यवश इस आत्मनिष्ठ भी, नितान्त नैष्ठिक भी, त्रिकालानुगामी भी पावन भारतराष्ट्र में ऐसा कुछ सुना जारहा है कि-"हमें तो अब पुराने खण्डहरों को भुला ही देना है। क्योंकि पुराना सब कुछ गल सड़ चुका है। अब तो हमें वर्त्तमान के आधार पर ही सब कुछ नवीन हीं रचना कर डालनी

है"। सामान्य प्राकृत जन ही नहीं, अपितु जिन-बुद्धिमान्-शुचिहृदय, पवित्र मानवों के हाथों में आज राष्ट्र का नेतृत्व है, वे भी प्रायः अपने प्रतिदिन के सम्भाषणों में जबतक एक दो बार भारतराष्ट्र के अतीत को गाली-प्रदान नहीं कर लेते, तबतक उनका मानस तुष्ट ही नहीं होता। यही तो भावुकता का वह ज्वलन्त उदाहरण है, जिसके निग्रहात्मक अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण जीवनपद्धतियाँ आज वर्त्तमान के साँचे में ही बलपूर्वक ढालीं, और ढलवाईं जारहीं हैं, जिनका न तो भारत के अतीत-संस्कारों से ही कोई सम्बन्ध, न वर्त्तमान-संस्कारों से ही। और भविष्य की बात इसलिए नहीं कही जायगी कि, यदि वर्त्तमान इसी भावुकता का अनुगामी बना रहा, तो कौन कह सकता है कि, भविष्य में भारत 'भारत' न कह कर कुछ और हीं न बन जाय?।

३४६-वर्त्तमानकालवादी प्रत्यक्षासक्त भावुक अर्जुन की विदेहजनकात्मक अतीत के के उदाहरण के प्रति परिलक्षिता असन्तुष्टि —

हाँ, तो अर्जुन भावुक था, प्रत्यक्ष से तात्कालिकरूपेण प्रभावित होने वाला प्रत्यक्षवादी था। तभी तो सैन्यदल को देखने मात्र से वह विकम्पित हो पड़ा था, और अपने पारम्परिक क्षात्रधर्म्म को विस्मृत कर बैठा था इन भावुकतापूर्णा मानवता-करुणा-दया-अहिंसा-मैत्री-विश्वबन्धुत्व-सहास्तित्त्व आदि के व्यामोहन से। और इसीलिए तो-'न योत्स्ये' कह कर रथ से उतर पड़ा था। कहाँ तो ऐसा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन !, और कहाँ सुदूर अतीतकाल के विदेह जनक !। कैसे अर्जुन मान ले उस उदाहरण को, जबकि वह उदाहरण तो इतिहास का उदाहरण था, वर्त्तमान-मान्यता के अनुसार तो गला-सड़ा-उस युग का उदाहरण था, जो वर्त्तमान से कोई भी सम्बन्ध नहीं रख रहा था।

३४७-स्वानुगत प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन का आचार-निष्ठात्मक समाधान—

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, 'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' कहने के साथ ही नैष्ठिक भगवान् के मानस में वर्त्तमानप्रेमी प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन प्रतिभासित हो पड़ा होगा। और तत्काल ही अपनी संवित्प्रज्ञा से भगवान् ने यह निर्णय कर लिया होगा कि, जबतक इस प्रत्यक्षवादी के सम्मुख इस युग का ही, इस की श्रद्धा का ही, इसके सम्मुख अवस्थित ही कोई प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित नहीं कर दिया जायगा, तबतक कदापि इसकी भावुकता उपशान्त न होगी, और यह हमारे 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का अर्थ कर्म्मत्याग ही समझ बैठेगा। अतएव इसी निश्चय के अनुसार भगवान् को अन्ततोगत्वा अगतिक-गतिरूपेण स्वयं अपने आपको ही उदाहरणरूप से इस भावुक अर्जुन के सम्मुख उपस्थित कर ही तो देना पड़ा इस रूप से कि—

> न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥१॥
> यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ॥
> मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥२॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥३॥
—गीता ३।२२, २३, २४।

३४८–प्रत्यक्षवादी धर्म्मभीरु अर्जुन के करुणा–अहिंसा–मानवता–त्याग–तपस्यादि-मूलक भावुकता-पूर्ण उद्गार, एवं नितान्त अवधेय–'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्-उपहन्यामिमाः प्रजाः' उद्गार—

यह अविस्मरणीय है कि–'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'० (गीता० ३।१७।) से आरम्भ कर–'उत्सीदेयुरिमे लोका ०' [३।२४] पर्य्यन्त सम्पूर्ण श्लोक धारावाहिक रूपेण क्रमबद्ध हैं। अतएव 'यस्त्वात्मरति'०' से उपक्रान्त प्रकरण 'उत्सीदेयु' पर ही विश्रान्त है। अब यह निष्ठाशीला प्रज्ञाओं का काम है कि, इस सन्दर्भ से कर्म्मत्याग का समन्वय कर डालें, अथवा तो कर्म्मसंग्रह का। स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र हमारा कर्त्तव्य था, जिसके 'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्–उपहन्यामिमाः प्रजाः' इस अन्तिम वाक्य की ओर ही विशेषरूप से हम पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। प्रत्यक्ष से सहसा प्रभावित हो पड़ने वाले, क्षत्रियोचित-प्रकृतिसिद्ध–युद्धकर्म्म से सहसा पराङ्मुख हो जाने वाले प्रत्यक्षप्रभाववादी भावुक अर्जुनने अपनी इस भावुकता के समर्थन के लिए उत्तेजना–करुणा–बीभत्स–आदि आदि विविध भावान्वित अनेक उत्तराभास प्रदान करने जैसे प्रज्ञावादों का अनुगमन कर लिया था। उन सब में अर्जुन की दृष्टि में धर्म्मसंस्थापक भगवान् के लिए दो कारण प्रमुख बन बैठे थे, एक तो वर्णसङ्करता, और दूसरा आत्मजनों का नाश (कुलक्षय, और प्रजाक्षय)। वर्णसंकरता के निरोध के लिए, एवं जनतन्त्र के संरक्षण की कामना से, इन दो प्रमुख कारणों से ही अर्जुन के श्रीमुख से 'न योत्स्ये' निकल पड़ा था, जैसाकि निम्नलिखित प्रसिद्ध कारणों से प्रमाणित है–

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥१॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥२॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ॥
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं, अधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥३॥
अधर्म्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥४॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥५॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ॥६॥
उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥७॥

—गीता १।३८ से ४४ पर्य्यन्त ।

३४६-प्रत्यक्षमूलक-तात्कालिक-भावों से आविष्ट अर्जुन का धारावाहिक व्याख्यान, तथा चाकचिक्यपूर्ण--लोकप्रिय प्रज्ञाकौशल—

विशुद्ध भावुक अर्जुन के उक्त उद्गार किस भावुक को प्रभावित नही कर देगें, जिन में व्यक्ति-कुल (परिवार)–समाज (जाति)–और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मङ्गलकामना के बीज सुनिहित प्रतीत हो रहे हैं। बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं अर्जुन के ये उद्गार, जिनके गर्भ में भारतराष्ट्र के भावुकतापूर्ण सर्वविनाश का इतिवृत्त ही मानो लिपिबद्ध कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने। भावुक मानवों की विचारसरणि का उत्थान सदा 'पर' को (दूसरे को) अवलम्ब बना कर ही होता है। वह सदा दूसरों को आधार बना कर ही (अंत-एव अपने आपको विस्मृत कर के ही) बात आरम्भ करता है, जब कि भ्रान्ति उसे यही बनी रहती है कि, वह कर रहा है अपनी ही ओर से, अपनी ही बात। और इस दृष्टि से भावुक अर्जुन अपने धार्म्मिक ?, हाँ विशुद्ध धर्म्मभीरुतापूर्ण विचारों का उपक्रम करता हुआ निर्बाधगति से, बीच में क्षणमात्र भी विश्राम न कर, सुनने वाले के मनोभावों की ओर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्वक एक कुशल प्रज्ञाशील–धर्म्म-स्वरूप-व्याख्याता-उपेदशक-उद्बोधक-विवेचक-की ही भाँति अनर्गलरूप से यों कहने लग ही तो पड़ता है कि–

"भगवन् ! यह ठीक है कि, यद्यपि दुष्टबुद्धि आततायी दुर्य्योधनप्रमुख ये कौरवगण राज्यलोभ के कारण सम्पूर्ण विवेक खो बैठने के कारण 'युद्ध' के भावी परिमाणों का विचार नहीं कर रहे हैं। और यों एकमात्र राज्यलोभवशवर्त्ती बन कर ये सर्वनाश के लिए समराङ्गण में आखड़े हुए हैं। इसी लोभावरणने इनके अन्तःकरण को उस सीमापर्य्यन्त मलिन बना दिया है कि, युद्ध से सम्भावित कुलक्षयरूप महान् दोष को, तथा मित्रद्रोहात्मक महापाप को, एवं इसके भावी परिमाणों को देखने की शक्ति ही उनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्ही का अनुकरण करने लग पड़ें?, और हम भी युद्ध जैसे नृशंसकर्म्म के लिए समुद्यत हो जाँय ? । इस महान् दोष, महान् पाप से बच निकलना क्यों नही हमारी भी समझ में न आवे ? । हमें तो समझ लेना ही चाहिए इस भूल को, एवं भूल के भयानक परिमाणो को। जनार्दन ! आप ही कृपया बतलाइए कि, कुलक्षय से सम्भावित इस महान् दोष को देखते हुए भी क्या हमें भी उन पापात्माओं का अनुसरण कर लेना चाहिए ? । उत्तर दीजिए ! (२) ॥ यह आप से तो परोक्ष नही है भगवन् ! कि–कुलों के नष्ट हो जाने से, कुलों के सनातन–परम्परासिद्ध–कुल-धर्म्म हीं उच्छिन्न हो जायँगे। कुलधर्म्म ही जब नष्ट हो जायँगे, तो कुलधर्म्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कुल कहाँ बचेंगे ? । अवश्य ही धर्म्मनाश के साथ साथ कुल भी नष्ट हो जायँगे। धर्म्मनाश, एवं तद्द्वारा कुलनाश।

और जानते हैं आप, क्या परिणाम होगा इसका ?। धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का साम्राज्य प्रतिष्ठित होजायगा (३) ॥ आगे क्या होगा ?, यह भी सुन लीजिए ! भगवन् ! अधर्म्म के द्वारा जब धर्म्म सर्वात्मना अभिभूत-पराभूत-पराजित हो जायगा, तो कुलस्त्रियों में आचारदोष उत्पन्न हो पड़ेगा (अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम् ! महतीय भावुकता भावुकार्जुनस्य-परप्रत्ययनेयजिमूढस्य) । और हे वृष्णिवंशकुलोद्भव, कुलधर्म्मसंरक्षक वार्ष्णेय ! स्त्रियों के इसप्रकार अनाचारपथ पर आजाने से अकुलात्मक वर्णसङ्कर उत्पन्न होने लग पड़ेंगे (४) ॥ यह शास्त्रसिद्ध ही है कि, वर्णसंकर सन्तान तो नरकगति का ही कारण बनती है। क्योंकि इसके द्वारा पिण्ड-दानादि क्रियाएँ सर्वथा विलुप्त हो जाती हैं। सङ्करसन्तान प्रथम तो श्रद्धापूर्वक पिण्डदान-लक्षण प्रेतपितृ-श्राद्ध करती ही नहीं। यदि लोकानुबन्ध से करती भी है, तो सप्तपुरुषानुगता सपिण्डता से असंस्पृष्टा इस सङ्करसन्तति के द्वारा प्रदत्त पिण्ड चन्द्रलोकस्थ, महानात्मरूप प्रेतपितरों की सद्गति के कारण भी नहीं बन पाते। फलतः उन प्रेतपितरों को इन सङ्करसन्तानों की कृपा से नरकगति का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है। और यों प्रत्यक्षदृष्ट कुलक्षय, धर्म्मविलुप्ति, तथा अधर्म्मप्रसार के साथ साथ युद्धजनिता हिंसा से अदृष्टरूप परोक्षलोक भी विकृत होजाते हैं (५) ॥ इत्थम्भूत कुलघाती सन्तानों के वर्णसङ्करात्मक इन महान् दोषों, पातकों से परम्परया कुलसमष्टिरूपा जाति के ही धर्म्म उच्छिन्न होजाते, हैं एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रप्रजा ही धर्म्म च्युता बन जाती है। हे जनार्दन ! प्रजास्वरूप-जातिस्वरूप संरक्षक ! यों युद्धरूपा हिंसा की कृपा से व्यक्ति-कुल (परिवार)-जाति, तथा तदुपलक्षित राष्ट्र, सभी के धर्म्म, सभी के शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं (६) ॥ और हे भरतर्षभ ! भरतकुल के अभिभावक ! रक्षक ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म्म, तथा जातिधर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं, उनके प्रेतपितर तो नरक में निवास करते ही हैं (पूर्वकथानुसार), तदतिरिक्त स्वयं इनको भी अन्ततोगत्वा उसी नरकगति का सम्मान्य अतिथि बन जाना पड़ता है। (इसीलिए तो भगवन्-'न योत्स्ये') । इन सब भौतिक-आत्मिक-दैविक-विपत्तियों से स्वयं को, परिवार को, समाज को, एवं राष्ट्र को बचाने की पुण्यकामना से ही तो यह आपका सखा अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता" (७) ॥

३५०-अर्जुन की महत्त्वपूर्णा वक्तृता का मानवता-प्रेमियों के द्वारा अभिनन्दन, तत्स-मतुलिता आज के राष्ट्रीय-नेताओं की कर्णप्रिया व्याख्यानशैली, एवं तदनुग्रह से ही तीन सहस्र-वर्षों से क्रूर आततायी-वर्गों के प्रति राष्ट्र का आत्मसमर्पण-

अर्जुन की उक्त वक्तृता की कौन मानवताप्रेमी श्लाघा-स्तुति नहीं करेगा ?। आज हमारा वर्त्तमान भारतराष्ट्र, विशेषतः इस राष्ट्र में एकमात्र अपने आपको ही 'राष्ट्रीय'-मानने मनवाने के लिए विशेषरूप से आतुर राष्ट्रीय कर्णधारों की भाषा तो मानों अर्जुन के व्यामोहन का ही प्रतीक है। एवं विगत तीन सहस्र वर्षों से इस राष्ट्रीय ? भारतीय ? मानव ? (नितान्त भावुक मानव) पर जब जब भी दुष्टबुद्धि-आत-तायियोंने निर्म्मम आक्रमण किया, तब तब ही अपनी भावुकतामूला कल्पित मानवता, अहिंसा-करुणा, दया, के माध्यम से, सर्वोपरि व्यर्थ के रक्तपात से राष्ट्रप्रजा को बचा ले जाने की मङ्गलकामना से, और सम्भवतः सङ्करप्रजानुगता लुप्तपिण्डोदकक्रिया के भय से धर्म्मरक्षा के लिए ही मानो प्रसन्नतापूर्वक ही समझौता करके उन दुष्टबुद्धियों को इस भारतीय नितान्त भावुक 'हिन्दूमानव' ने सबकुछ समर्पित कर ही तो दिया।

३५१–अर्जुन से समतुलिता भावुकता की कृपा से ही भारतराष्ट्र के श्री-वैभव का आततायीवर्ग के द्वारा निर्म्मम अपहरण, और हमारी कायरतापूर्णा अहिंसासक्ति—

कल ही तो हमारे राष्ट्रने अपने त्रिसहस्त्रवर्षात्मक उसी महत्त्वपूर्ण ? इतिहास को हँसते हँसते ही बड़े गौरव से दोहराने ने जैसा महत्पुण्यार्जन कर लिया था। और आज भी, अब भी आततायी-दुष्ट-दस्यु-चोर-उचक्को को क्षमादान, उन का मानवता के नाम से निर्म्माण, और निरीह प्रजा की उपेक्षा। जाने दीजिए। वर्त्तमाना भावुक प्रजा अर्जुनवत् सम्भवतः सह न सकेगी इन आलोचनाओं को। हमें सहन कराना भी नही है। हमें तो वस्तु-स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र कर देना है एक बार राष्ट्र की मङ्गलकामना से, राष्ट्रप्रजा को संकरता से बचा लेने की कामना से, एवं राष्ट्रप्रजा के संरक्षण की कामना से।

३५२–मातृशक्ति पर अभियोग लगा बैठने वाले निर्लज्ज अर्जुन के प्रति हो पड़ने वाली भगवान् की आश्चर्य्यमयी उपेक्षा—

क्या आततायी-वर्ग के संरक्षण से हमारी प्रजा सुरक्षित रह जायगी ?। क्या उन नृशंसो, मानवता के विध्वंसकों को प्रश्रय देने से हमारी कुलस्त्रियों का सतीत्व अक्षुण्ण बना रह जायगा ?, जिस सतीत्व के सम्बन्ध में भावुक, अतएव सर्वथा निर्लज्ज कर्त्तव्यनिष्ठा-विमुख अर्जुन ने–'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः-' 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः' इसप्रकार की दग्धा-निर्लज्जा-पापमयी वाणी का उच्चारण करते हुए अपने आप को उसी क्षण भूगर्भ में सदा के लिए ही क्यों नहीं निमज्जित कर लिया ?। और आश्चर्य्य है कि, भगवान ने स्वयं ही जगन्मान्या पूज्या अनन्यश्रद्धेया मातृशक्ति पर यों कलङ्क लगा बैठने वाले भीरु अर्जुन का सुदर्शन से तत्काल ही शिरश्छेद कर स्वयं ही महाभारत युद्ध का उपक्रम कर कौरवों का विनाश क्यों नही कर दिया ! ।*'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' का मर्म्म भगवान् के तो सम्मुख विद्यमान था। फिर स्वस्वरूप से सर्वात्मना अनपराधिनी जननी-पराम्बिका मातृजाति पर दोषारोपण सुन कर भी भगवान् ने कैसे इसे क्षमा कर दिया ?, उत्तर। वही उत्तर आगे चल कर स्वयं भगवान् को ही–'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्-उपहन्यामिमाः प्रजाः' (३।२४।) इस रूप से दे देना पड़ा है, जिस के समन्वय के लिए ही हमें भावुक अर्जुन के भावुकतापूर्ण-धर्म्मभीरुतापूर्ण व्याख्यान का पूर्व में दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

---

* एवं स्त्री नापराध्नोति, नर एवापराध्यति ॥
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥१॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति।
एवं नारीं, मातरंश्च गौरवे चाधिकां स्थिताम्।
'अवध्यां' तु विजानीयुः-पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥
—महाभारत-शान्तिपर्व-मो० २६६ अ०।

३५३–सर्वनाशपरम्पराओं की जन्मदात्री भावुकतापूर्णा स्वधर्म्म-विच्युति, एवं स्व-धर्म्मात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही राष्ट्रस्वरूप–संरक्षण—

धर्म्म का अभिभव, अधर्म्म का साम्राज्य, कुलक्षय, निरपराधा मातृजाति का अवमान-उत्पीडन, वर्णसंकरता, आदि आदि समस्त अपराधों का एकमात्र कारण है–मानव का स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाना। फिर इस पराङ्मुखता का कारण आरम्भ में भले ही दार्शनिकता रहा हो, आगे चलकर भले वही जो सन्तानुगत भक्तिवाद बन गया हो, और आज भले ही जो कल्पित मानवतावादात्मक बन रहा हो। अन्याय–अत्याचार–पाप–अधर्म्म–परम्पराओं को, तदनुगामी दुष्ट–आततायियों को कर्त्तव्यनिष्ठारक्षण के लिए दण्डित न कर प्रश्रय प्रदान करना ही उक्त सर्वनाश-परम्पराओं का प्रमुख कारण है।

३५४- हिंसा-अहिंसा,-दण्ड-क्षमा, ध्वंस-निर्म्माण, आदि प्राकृतिक द्वन्द्वों से समन्विता दिग्देशकालात्मिका प्रकृति, एवं तन्माध्यमानुपात से ही प्राकृत भावों की प्रकृति-सिद्धा व्यवस्थिति—

हिंसा, और अहिंसा, दण्ड–और क्षमा, निर्म्माण–और ध्वंस, संरक्षण–और उत्पीडन, स्वधर्म्म की सीमा में दिग्देशकालानुबन्ध से ये सभी द्वन्द्वभाव समाविष्ट हैं। नारी की उच्छृङ्खलता जहाँ क्षमादान से उपशान्त होगी, वहाँ हिंसक सिंह व्याघ्रादि कदापि क्षमादान से 'मानवश्रेष्ठकोटि' में नहीं आसकेंगे, नहीं आसके आज तक तो। और त्रिगुणात्मक विश्व में तो ऐसा कभी सम्भव होगा भी नहीं। इसीलिए तो निष्ठा के परमाचार्य्य महामानव हमें यह उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, अहिंसा, क्षमा, करुणा, आदि धर्म्म के अङ्ग अवश्य हो सकते हैं, किंवा धर्म्म के लक्षण अवश्य होसक्ते हैं। किन्तु कदापि ये स्वयं धर्म्म का आसन ग्रहण नहीं करसक्ते। क्योंकि देश–काल–पात्र–द्रव्यादि के भेद से हिंसा–दण्ड–आक्रोश भी उसी स्वधर्म्म के अङ्ग बने हुए हैं। कहाँ हिंसादि अङ्ग मान्य हैं ?, और कहाँ अहिंसादि अङ्ग मान्य हैं ?, इसका निर्णय कदापि प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के माध्यम से सम्भव ही नहीं। अपनी प्रत्यक्षदृष्टि से जिसे हम क्षमा करना चाहते हैं, बहुत सम्भव है–उसका परोक्षरूप वैसा सुनने को मिले, जिसे सुनकर उसे हम क्षमादान के स्थान में भस्मसात् ही कर देना चाहें। एवमेव जिसे हम प्रत्यक्ष में कुटिल कर्कश जान कर दण्ड देने के लिए आतुर हो पड़ें, बहुत सम्भव है उसकी यह कुटिलता-कर्कशता भी सकारण हो।

३५५–पूर्वापरात्मक-भूतभविष्यत् की परिणामदर्शिता के माध्यम से ही वर्त्तमान स्थिति का न्यायविधान के द्वारा सम्भावित निर्णय, एवं तन्माध्यमेनैव प्राकृत-वर्त्तमानवादी–मानव की भी शास्त्रैकशरणता—

कौन इसका निर्णायक ? । क्या मानव की वर्त्तमाना प्रत्यक्षप्रभावमूला–भावुकता–परिपूर्णा–तात्कालिकी भूतदृष्टि, किंवा तात्कालिकी प्रज्ञा प्रत्यक्षस्थितिमात्र से क्षमा, एवं दण्ड का निर्णय कर डालेगी ?। तब तो उसे अपने लोकानुबन्धी सम्पूर्ण विधि-विधान (कानून) भी क्षणमात्र में स्मृतिगर्भ में ही विलीन कर देने पड़ेंगे अपने ही हाथों। पूर्व-अपर, अर्थात् भूत और भविष्यत् की परिस्थितियों के आधार पर ही तो कानून

वर्त्तमान का निर्णय करता है । फिर तो इसके स्वयं के अपने ही मुख से भी प्रत्यक्षात्मक वर्त्तमान का कोई भी महत्त्व नही रहा । यही वह मूलबिन्दु है, जिसके माध्यम से ही वर्त्तमानवादी का ध्यान हम उस कर्त्तव्य-निष्ठा की और आकर्षित करसकते हैं, जिसका मूल त्रिकालज्ञ ऋषियों की प्रज्ञा से दृष्ट त्रिकालव्यवस्थापक शास्त्र (मानवजीवन के कानून) से ही है । यदि इसे शास्त्र से, शास्त्रसिद्ध स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म से चिढ़ है, तो सर्वप्रथम हम इससे प्रणतभाव से यही नम्र आवेदन कर लेंगे कि, जिस हेतुवाद से यह शास्त्र को नष्ट कर देना चाहता है, उसी, अपने हीं हेतुवाद से इसे अपने सम्पूर्ण कानून को भी क्रव्यादाग्नि में आहुत कर उस कोटि में हीं आजाना चाहिए, जिस सुप्रसिद्धा प्राकृत जीवकोटि के लिए न कभी कोई शास्त्र बना है, न कानून । अपितु प्रत्यक्षप्रभावात्मिका तात्कालिकी प्रकृति ही जिस वर्ग के लिए शास्त्र, किंवा कानून बनी हुई है । और हम समझते हैं, स्वरूपतः ही आत्मना परिपूर्ण कोई भी मानव उस कोटि में आजाना तो कभी भी अभीष्ट नही ही मानेगा अपने आप को ।

३५६–प्रचण्ड–दुर्दान्त-तस्कर–आक्रान्ता की मानवस्वभावसुलभा पुण्यवासना, एवं मानव का अन्ततोगत्वा मनुनिबन्धन–आत्मनिष्ठ 'मानवस्वरूप' पर ही विश्राम —

क्यों कि, सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि, एक प्रचण्ड दुर्दान्त डाकू भी अपने आपको 'पापात्मा' कहलाने के स्थान में 'पुण्यात्मा' कहलाने में ही अपने अन्तर्जगत् में गौरव का अनुभव करता है । इसलिए अनुभव करता है कि, मानव प्रत्यक्षवादी प्राकृत पशु नहीं है । अपितु वह मानव है । आत्मानुगता अभ्युदयनिष्ठा-पुण्यनिष्ठा ही उसका अपना मौलिक स्वरूप है । अतएव अन्ततोगत्वा मानव '**मानव**' ही है, जिसके स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यों का व्यवस्थापक शास्त्र ही जिसे प्रत्यक्षमूला भावुकता से बचा लिया करता है—'**तस्माच्छास्त्रं-प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' ।

३५७–झञ्झा–ताल-मृदङ्गादि से समन्वित नामसंकीर्त्तन के विपरीत स्वभक्त अर्जुन के प्रति भगवान् का कर्त्तव्यकर्म्मादेश, एवं शास्त्राचारनिष्ठ भगवान्—

यदि भगवान् शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से भावुक अर्जुन को उस भीषण परिस्थिति में क्षात्रधर्म्मरूप स्वधर्म्म में प्रवृत्त न करते, ठीक इसके विपरीत यदि कण्ठी–माला–झाँझ–मँजीरा–देकर उसे भजन–कीर्तन, और स्वनाम–संकीर्त्तन करने के लिए ही छोड़ देते, तो आततायी वे कौरव क्या क्या नवीन अनर्थ नहीं कर डालते !, जिन्होंनें अपने आत्मीयबन्धु पाण्डवों तक को वारणावतनगर के लाक्षागृह में जीवित जला डालने के प्रयास में भी कोई कमी नही की थी । **वर्णसङ्करता–कुलक्षय–अधर्म्म–नारीजाति का अपमान,** ये सभी आसुरी-प्रवृत्तियाँ जिन कौरवों में जन्मतः ही विद्यमान थीं, उनका रक्षण क्या इन प्रवृत्तियों को मूर्त्तिमान नहीं बना देता ? । क्या भावुक अर्जुन भूल गया था महाशक्ति द्रौपदी के महतोमहीयान् उस घोरघोरतम अपमान की घटना को, जो घटना ही महाभारतसमर का प्रमुख कारण बन बैठी । एवं एकमात्र केवल इस एक, हाँ एक मातृशक्ति के अपमानने ही, इस के अश्रुपूर्णाकुलेक्षणने ही, इस के विकीर्ण केशपाशने ही उस विश्वेश्वर को भी विकम्पित कर डाला था, जिसकी भृकुटीमात्र से अनन्त ब्रह्माड भी विकम्पित होपड़ता है । भगवान् के इसी क्षणिक

विकम्पनाग्नि में अन्ततोगत्वा आततायीवर्ग जल कर भस्मात् हो ही तो गया। यों भगवान्ने आततायीवर्ग को नि.शेष बना कर अपनी इस आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम-प्रतीक से तत्कालीन भारतराष्ट्र की धर्म्मनिष्ठा को, कुलक्षय को, बचाते हुए जाति को सङ्करदोष से ही बचा लिया, एव इस से प्रजाका स्वरूप सुरक्षित ही हो गया। स्थिति-परिस्थिति अर्जुन की प्रत्यक्षमूला धारणा से ठीक विपरीत होगई। जिस कर्त्तव्यपालन में अर्जुन को वर्णसकरता, और प्रजाविनाश प्रतीत हो रहा था, भगवान् ने उसकी इस भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया कर्त्तव्य-स्वरूपबोधमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से। और यह प्रमाणित कर दिया कि, कर्त्तव्यनिष्ठा ही वर्णसंकरता का निरोध कर सकती है, एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठा से ही प्रजासंरक्षण, किंवा राष्ट्रसंरक्षण सम्भव है। एव उक्त वचनसन्दर्भ के सर्वान्त के-"यदि मैं कर्त्तव्यकर्म्म मे प्रवृत्त न रहूँ, तो लोकमर्य्यादा ही उच्छिन्न हो जाय। कर्त्तव्य से वञ्चित होकर तो मैं सकरता का, तथा प्रजाविनाश का ही निमित्त बनजाऊँ" (३१२८) इस तथ्य का यही प्रासङ्गिक समन्वय है, जिस के द्वारा कर्म्मत्यागमूला दार्शनिकता, सन्तमूला भावुकता, वर्त्तमानकालानुगता धर्म्मनिरपेक्षता, एव तदनुप्राणिता कल्पनया-प्रसूता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-लक्षणा स्वैराचारपरायणता, आदि आदि सभी का सर्वात्मना सम्यक्, ठीक ठीक समन्वय हो जाता है, जैसा कि समन्वय इनका होना चाहिए।

३५८-प्रकृतानुसरणात्मक पौरुष, तथा भाग्य का सस्मरण, एवं सहजकर्म्मनिबन्धन-जरामर्य्यमलात्मक पौरुष की स्वरूप-परिभाषा—

प्रकृतमनुसराम। बात चल रही है पौरुष, और भाग्य की। प्रतीकात्मक चतुर्विध मानों के अनक समन्वयों में पौरुष, एव भाग्य का भी एक विशेष स्थान है, जिनमें से अव्ययात्मक अक्षररूप-चिदात्मसर्गानुगत, ब्रह्मवित्-दिग्देशकालातीत-'पुरुष' नामक प्रथम-मानव के 'पौरुष' के सम्बन्ध से ही कर्त्तव्यनिष्ठा का यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ा था। आत्मबोधनिष्ठ ब्रह्मवित् भी दिग्देशकालानुबन्ध से अस्मदादि प्राकृत मानवों की भाँति ही अवश्यमेव शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्मों में ही-'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत समा' के अनुसार यावज्जीवन लोकसग्रह-दृष्ट्या प्रवृत्त रहेगा निवृत्तिपूर्वक *। किसी भी भारतीय शास्त्र में वैसी सन्यासावस्था का एकान्तत अभाव ही है, जिस में कर्म्मत्याग को प्रशस्त माना गया हो। 'जरया वा जीर्य्यते, मृत्युना वा शीर्य्यते' के अनुसार एकमात्र आ यन्तिक बुढ़ापा, एव सर्वान्त में मृत्युदेवता ही कर्म्मव्यूह के एक अभिक्रम को पूर्ण करता है। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ-सहजकर्त्तव्यनिष्ठ-सहज मानवों का यह सहज कर्म्म ही 'पौरुष' कहलाया है, और यही महिमात्मक सर्ग का प्रथम पर्व है।

३५९-ब्रह्मबलानुगत पौरुष, एवं चत्रबलानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्ययानुगत-अक्षररूप चित्सर्गानुगत दूसरा 'मानव' नामक मानव ही 'पुरुषार्थ' शील मानव कहलाया है। दोनों ही अमुक सूक्ष्म-तारतम्यभेदसे पौरुषकोटि में अन्तर्भुक्त हैं। अन्तर्महिमामय गुहानि-

---

* ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
—गीता

हित अव्यक्त पौरुष ही 'पौरुष' है, एवं बहिर्म्महिमामय–लोकसिद्ध–प्रसिद्ध–व्यक्तपौरुष ही 'पुरुषार्थ' है। पौरुष ब्राह्मणपुरुष का धर्म्म है, एवं पुरुषार्थ क्षत्रियमानव का धर्म्म है। ब्राह्मण केवल पुरुष, किंवा पौरुष है, जिसका आधान होता है क्षत्रिय में–'तत्क्षत्रे एव ब्रह्म–यशो दधाति' (देखिए! मैत्रावरुणब्राह्मण)। ब्राह्मण का पौरुष पुरुषार्थरूप से व्यक्त होता है क्षत्रियके द्वारा, जैसाकि 'सांस्कृतिक-निबन्ध' में विस्तार से निरूपित है। और यहाँ तक, इन दोनों महिमाविवर्त्तों तक कालातीत लक्षणा ही कालिक व्यवस्था है। इसी आधार पर पुरुषार्थी शास्ता क्षत्रियराजा को भी ब्राह्मणवत् कालाधीन न मान कर कालनिर्म्माता-ही बतला दिया गया है-'राजा कालस्य कारणम्' *।

३६०–'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा, अर्थात् शास्ता-शासक, अर्थात राष्ट्र का सत्तातन्त्र ही काल का निर्म्माता है' इस वाक्य के गर्भ में ही भावुकतापूर्ण उस आपातरमणीय प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है, जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्त्तमान राष्ट्र के राष्ट्रीय नेतागण, तथा तदनुवर्त्तिनी गतानुगतिका प्रजा बड़े आक्रोश के साथ भारतीय संस्कृति, तत्–प्रतिपादक श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्र, तत्प्रतिपादित कर्म्मोपनिषत्। (कर्म्मरहस्य)–कर्त्तव्यस्वरूप (कर्म्मेति–कर्त्तव्यता–पद्धति)—कर्म्मायोजन (सांस्कृतिक–आयोजन), तथा तदभिगन्ता–वक्ता–प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के प्रति अत्यन्त ही कुत्सा–गर्हा–पूर्ण भाषा में अभिनिवेश के साथ अपने ये उद्गार अनुदिन प्रकट करते ही रहते हैं कि—

३६१–कालधर्म्मविशारद आज के सत्ताभक्तों के द्वारा भारतीय–ब्राह्मणप्रज्ञा पर आक्रोश-पूर्ण मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणोंने, इन की संस्कृतिने, इनके पुराणादि शास्त्रोंनें, इनके धर्म्माडम्बरोंनें, सर्वोपरि इन के मानवता–विरोधी वर्गभेदोंने, नीच–ऊँच के कल्पित भेदोंनें हीं राष्ट्रीय–संघठन उच्छिन्न किया है, एवं एकमात्र इसीलिए राष्ट्र परतन्त्र हुआ है, जिसे बड़ी कठिनता से पुनः हमारे राष्ट्रीय–नेताओंनें स्वतन्त्र किया है। अतएव अब यह आवश्यक है कि, पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय। एवं अब राष्ट्र की इस अभिनव–स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए उस पुराणपन्थी–धर्म्म–भावनात्मिका सर्वनाशकारिणी पद्धति को जलाञ्जलि समर्पित कर, वर्गभेद का मूलोच्छेद करते हुए धर्म्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमात्र की समानता का समर्थन करने वाले वैसे ही विधि–विधान–बनाए जायँ, जिनके सभी समानरूप से उपभोक्ता हों। तभी प्राप्त स्वतन्त्रता का संरक्षण-अभिवर्द्धन सम्भव है। कदापि इस अभिनव-स्वतन्त्रता में हमें धर्म्म–रूढि–शास्त्र–प्राचीनता–परम्परा–अतीत–आदि आदि–मूलक व्यामोहनों का प्रवेश नहीं होने देना है, जिन व्यामोहनों के कारण हीं भारतराष्ट्र को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना रहने पड़ा है"।

---

* इति ते संशयो माभूत्–राजा कालस्य कारणम्। (महाभारते भीष्मोक्तिः)।

३६२–राष्ट्रवादियों के आपातरमणीय–आक्रोशात्मक–अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र वर्षानुगत भारतीय–ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन—

राष्ट्रवादियों का आपातरमणीय भी उक्त अभियोग इसलिए सर्वात्मना मान्य ही होगा राष्ट्रभक्त प्रत्येक प्रज्ञाशील के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से सचमुच ही धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आचार-ब्राह्मण-विद्वान्-वर्गभेद-मानवता के विरोधी उच्च-नीच-भाव आदि आदि सभी कुछ तथाकथितरूप से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आए हैं, एवं निश्चयेन इन वादों से ही राष्ट्र को आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा सर्वान्त में शारीरिक-परतन्त्रता भोगनी पड़ी है। अवश्य ही इन सब उत्पातों की जड़ धर्म्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट वह ब्राह्मण ही माना जायगा, जिसने उक्त अवधि में भावुक अर्जुन की भाँति परदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद, धर्म, संस्कृति, आदि के समन्वय में अपने काल्पनिक मतवादों को ही प्रमुखता प्रदान कर डाली है, जैसा कि पूर्व के गीता–प्रसङ्ग से स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा ?, जब कि वेदशास्त्र, तत्सिद्ध धर्म्म *, तदनुगता ज्ञानविज्ञानसिद्धा, कर्त्तव्यनिष्ठाएँ सर्वात्मना सभी युगों के लिए हितप्रद मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे इन्हीं के आधार पर अमाङ्गलिक-विधि-विधानोंका सर्ज्जन कर डाला ?। और यदि अमङ्गल-विधान न कर ब्राह्मण ने सब कुछ शास्त्र के अनुसार ही, ठीक ठीक ही व्यवस्थित किया, तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-सङ्गठन क्यों ?, और कैसे उच्छिन्न हो गया ?। अवश्य ही ये प्रश्न आज प्रत्येक उस प्रज्ञाशील के लिए तो उत्पीडक ही बने हुए हैं, जो आस्था-श्रद्धा के कारण एकहेलया 'वेद'–जैसे शास्त्र की भी अवहेलना नहीं कर सकता, तो दूसरी ओर राष्ट्र के अतीत दुःख–पूर्ण इतिहास के साथ भी गजनिमीलिका नहीं करसकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी बड़े ही आक्रोश से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपस्थित हो पड़े हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की जीवन-चर्य्या, राष्ट्रीयता पर जब जब भी हमारा ध्यान गया है, हम विकम्पित ही हो पड़े हैं। कहाँ हमारे शास्त्रीय मङ्गलमय विधि-विधान ?, और कहाँ निरपराध बालाओं का जीते जी कन्यादाग्नि में कूद पड़ना ?, किंवा बलपूर्वक उन्हें कूदने के लिए विवश कर देना ?। कहाँ एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला काटने में ही अपना क्षात्रतेज समर्पित करते रहना, और कहाँ दूसरी ओर उसी क्षात्रतेज को परसत्ताओं के प्रति दासभाव से समर्पित करते रहना ?। कहाँ एक ओर आत्मानुगत अमरपद के गुणगान ?, तो कहाँ दूसरी ओर एक मूषकाक्रमण से भी भयत्रस्त हो पड़ना ?। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आदर्शों, तथा भुक्त–प्रभ्रान्त यथार्थताओं के वैषम्यने सच–मुच हमें सदा ही विकम्पित किया है। और यदि 'हम भूल देखने में भूल नहीं कर रहे', तो निश्चयेन इन सब विकम्पनों का, प्रश्नों का, समस्यापूर्ण आक्रोशों का उत्तर हमें उपलब्ध हुआ है पुराणपुरुष भगवान् व्यास के–'राजा कालस्य कारणम्' इस छोटे से वाक्य के चिरन्तन इतिहास के गर्भ में ही, जिस चिरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध, एवं 'संस्कृति–सभ्यता शब्दों–का चिरन्तन इतिहास' नामक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

---

* वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ। (मनुः)।

३६३–कालनिर्वाहक सत्ताधीशों के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठने वाले ब्राह्मण की सत्तासापेक्षता से ही भारत के सांस्कृतिक वैभव, तथा तन्मूलक भौतिक वैभव की अन्तर्मुखता—

प्रकृत में सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निवेदन पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, **"सत्तातन्त्राधीश शासकों के द्वारा निर्म्मित काल के प्रति अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने से ही ब्राह्मण के द्वारा उन सब व्यामोहनों का आविर्भाव हो पड़ा है, जिन से स्वयं ब्राह्मण भी शक्तिहीन बन गया, एवं तत्स्वामी सत्तातन्त्र भी अशक्त बन गया, और यही भारतराष्ट्र की परतन्त्रता का प्रमुख कारण बना"**। ब्राह्मण का पौरुष अभिभूत होगया सत्तातन्त्र की पुरुषार्थसीमा में। सहजभाषानुसार–संस्कृति–धर्म्म–रक्षण के व्यामोहन से ब्राह्मणने जिस दिन से सत्ता का आश्रय ले लिया, उसी दिन से इसका शास्त्र, इसका धर्म्म, इसका साहित्य, आदि आदि कुछ भी इसका रहा ही नहीं, अपितु सबकुछ सत्ता के ही बन गए। आज की भाषा में–सत्तातन्त्र के द्वारा स्वयं ब्राह्मणने हीं भावुकतावश, किंवा संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि के संरक्षण–व्यामोहन–वश सब का राष्ट्रीयकरण ही करवा लिया प्रसन्नतापूर्वक राजगुरुपद पर समासीन होते हुए। यह राज्याश्रय, यह राजगुरुत्व, यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक व्यामोहन हीं गुहानिहित, सत्ता को आश्रय देने वाले राष्ट्रीय ब्राह्मण की सहज–विमल–निष्ठा के पतन का मूल कारण बना। और यो–**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'–'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** इत्यादि श्रौत उद्बोधनसूत्रों से सर्वथा ही अपरिचित रहने वाला भारतराष्ट्र का राष्ट्रीय ब्राह्मण सत्ता का क्रीतदास ही बन गया, जिसका जैसा, एवं जो कुछ परिणाम होना चाहिए था, वह राष्ट्र के सम्मुख विद्यमान है।

३६४–सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा की अन्तर्मुखता से ही शाश्वतधर्म्मलक्षण कर्त्तव्य का अभिभव, तन्मूलक मतवादों का प्राचुर्य्य, एवं मतवादाभिनिविष्ट ब्राह्मण का अधःपतन—

सत्तातन्त्र बदलते रहे, बदलते रहना स्वाभाविक ही है इनका। इस सत्ता–परिवर्त्तन के साथ साथ ही सत्ताश्रित ब्राह्मणों की भावुकताएँ भी बदलतीं रहीं। तदनुपात से ही मूलसाहित्य भी उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता गया। तत्स्थान में कभी मूलसाहित्य के नाम पर, तो कभी स्वतन्त्ररूप से सत्तातन्त्रों की मान्यता, इच्छा, पोषण, समर्थन, कृपायाञ्चा के अनुपात से राज्याश्रित–सत्ताश्रित–राजभक्त–भावुक विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा नवीन–नवीन ग्रन्थ बनते गए। आगे जाकर तो यह स्वतन्त्र–साम्प्रदायिक–ग्रन्थभार ही उस सीमा–पर्य्यन्त सीमा का अतिक्रमण ही कर गया कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र तो इन विद्वान् ब्राह्मणों की दृष्टि से भी सर्वथा तिरोहित ही बन गया, जबकि परम्परया वेद के प्रति आस्था–श्रद्धा रखने वाली राष्ट्रीय–जनता की वेदानुगता भावुकता के संरक्षणमात्र के लिए इन विद्वानों के काल्पनिक-शास्त्रों, साम्प्रदायिक-ग्रन्थों की प्रामाणिकता के नाम पर यदा कदा नाम वेद का भी समाविष्ट होता रहा। कुछ ऐसे भी (ब्राह्मणेतर) नवीन विद्वान् उद्भूत हो पड़े वर्षाकालीन प्राकृत जीवों की भाँति, जिन्होंनें अपनी अहम्मन्यताओं में आकर आगे चल कर इस वेदनामभक्ति को भी सर्वथा विस्मृत कर दिया, और तत्स्थान में अपनी मान्यता के अनुपात से वैसे ही नवीन साहित्य का अपने

बुद्धिवाद के बल पर ही सर्ज्जन कर डाला, जो इत्थंभूत स्वतन्त्र–कल्पित–साहित्य ही आगे जाकर भारतराष्ट्र का मूलशास्त्र बन गया, एवं उसी के काल्पनिक विधि–विधानोंने धर्म्म, तथा कर्त्तव्य का स्थान ग्रहण कर लिया, जबकि इन में धर्म्म, और कर्त्तव्य का वस्तुतः नामस्मरण भी नहीं था।

३६५–पतनगर्त्तनिमग्ना ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा काल्पनिक-उपनिषदों का निर्म्माण, मौलिक शास्त्रों के प्रति वञ्चकता, एवं निक्षिप्ततानुगता भयावहा प्रक्षिप्तता—

इदमप्यत्रावधेयम्। मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, एवं अमुक सीमापर्य्यन्त आरण्यकभाग, इन तीन वेदपर्वों में काल्पनिक–व्याख्याएँ तो समाविष्ट होगई सत्ताभक्त ब्राह्मणों के द्वारा। किन्तु 'छन्दोऽभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा के बोध से अपरिचित विद्वान् तद्भाषामय इन तीनों पर्वों में ऐच्छिक परिवर्त्तन नहीं कर सके, जबकि संस्कृतभाषाप्रधान उपनिषत्साहित्य में, तथा तद्भाषामय ही स्मृति, तथा पुराणशास्त्र में भूदेवों का यह अकाण्ड ताण्डव भी चल गया, जिसके लिए–रामतापनीयोपनिषत–गोपालतापनीयोपनिषत्–त्रिपुण्ड्भस्मोपनिषत–अल्लोपनिषत्–कलिसन्तरणोपनिषत्–आदि नाम ही पर्य्याप्त होंगे। यही दुर्दशा स्मृतिशास्त्र की हुई। और लोकसामान्य की आस्था–श्रद्धा सुरक्षित रखने के एकमात्र–अन्यतम साधनभूत, भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों के महान् इतिवृत्तरूप आर्य्यसर्वस्वात्मक गरिमामहिमामय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में तो निक्षिप्तों की यह प्रक्षिप्तता सीमा का उल्लङ्घन ही कर गई। राजभक्ति के आवेश ने इस शास्त्र की तो वैसी दुर्दशा कर डाली, जिसके नामोल्लेख से भी हमें प्रायश्चित्त का अनुगामी बन जाना पड़ता है।

३६६–ब्रिटिशसत्तातन्त्र का परमभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, तत्प्रसादप्राप्त्यर्थ ही ब्रिटिशसाम्राज्य का काल्पनिक पुराणरचनों के द्वारा समर्थन, इति नु सर्वथा अब्रह्मण्यमेव—

भारतराष्ट्र की शेषभूता स्वतन्त्रता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर देने वाले अन्तिम परसत्तातन्त्र बृटिशराज्य के प्रति भी अपने उसी पूर्वाभ्यास के अनुसार इस देश के विद्वान् ब्राह्मणोंने हीं, तदुपाधिप्राप्त दासानुदास महामहोपाध्यायोंने हीं सर्वप्रथम न केवल आत्मसमर्पण ही कर दिया, अपितु 'भविष्यपुराण' के माध्यम से, तथा सुप्रसिद्ध 'मेरुतन्त्र' नामक तन्त्रग्रन्थ के माध्यम से वैसे वैसे नवीन श्लोक भी बना डाले, जिनसे यही प्रमाणित करने की चेष्टा की इन राजभक्त विद्वानों नें कि–'यह तो हमारे पुराणों में हीं लिखा है कि, भारत पर कभी अंग्रेज एकच्छत्र राज्य करेंगे' *। न केवल अत्र उनके साम्राज्य का ही, अपितु इन विद्वानों के लिए सम्भवतः पुण्यधाम वाराणसी से भी कहीं अधिक पवित्र उनके 'लन्दननगर' का सस्मरण करना भी विस्मृत नहीं किया उन तर्कालङ्कार, तर्कधुरीण महामहोपाध्याय विद्वानोंनें, इति नु अब्रह्मण्यमेव।

---

*–देखिए–बङ्गीय पण्डित महामहोपाध्याय स्व० श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कार महोदय के–'श्रीगोपाल–मल्लिक फेलोशिप' का अपना द्वितीय व्याख्यान, एवं तदनुगत निम्नलिखित उद्धरण–भविष्यपुराण के नाम से·

३६७-राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता--आन्दोलनों का आलोचक ब्रिटिशसत्ताभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, एवं तन्निबन्धना महती निर्लज्जता—

विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति इनके आभिजात्य के कारण सदा से ही इनका सम्मान करने वाली भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-शीला प्रजा को सम्भवतः यह भी विदित होगा ही कि, जिस निकटपूर्व के युग में भारतराष्ट्र के स्वनामधन्य कतिमय महाप्राण मानवश्रेष्ठ सम्मानित ब्रिटिशसत्ताधीशों, एवं अतिथियों को सम्मानपूर्वक इस देश से विदा कर देने जैसे पुण्यकर्म्म में संलग्न थे, उस युग में भी राजभक्त ब्राह्मणविद्वानोंनें, एवं तदाश्रयप्रदाता सम्मान्य सामन्त राजाओंनें हीं इस कार्य्य में विघ्न उपस्थित किया था। एक ओर राष्ट्रीय महाप्राण जहाँ ब्रिटिशसत्तातन्त्र के द्वारा कारावासों में यामीयातनाएँ सह रहते थे देश को स्वतन्त्र बनाने की पावन कामना से, तो दूसरी ओर हमारे राष्ट्र के, राष्ट्र की संस्कृति के मूल-सूत्रधार विद्वान् पण्डित लन्दन में विराजमान अपने सम्राट् की सामान्य-सी अस्वस्थता से चिन्तित होते हुए अपने उपासना-मन्दिरों में भगवान् से सम्राट् की स्वास्थ्य-कामना अभिव्यक्त करते हुए भी लज्जा से सम्भवतः अपने आपको असंस्पृष्ट ही मानते रहते थे। कैसा था यह उद्वेगकर मलीमस विधि का विचित्र विधान ?, जिसके स्मरणमात्र से भी यह द्विजबन्धु तो वर्णाकर्षण से अपनी तथाविधा निर्लज्जता को कहीं परोक्ष बनाने का स्थान भी तो उपलब्ध नही कर रहा।

पृ० सं० ५७२ की टिप्पणी का शेषांश—

पूर्वाम्नाये नवशतं षडशीतिः प्रकीर्त्तिता।
फिरङ्गीभाषया मन्त्रा येषां संसाधनात् कलौ ॥
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिताः।
'इंग्रेजा' नवषट्पञ्च लन्दजाश्चापि भाविनः ॥

श्लोकों का तात्पर्य्यार्थ यही है कि, "तन्त्रशास्त्र के सुप्रसिद्ध पूर्व-पश्चिम-वाम-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधः-नामक ६ आम्नायों में से पूर्वाम्नायतन्त्र में फिरङ्गी भाषा के (अंग्रेजी भाषा के) सैंकड़ों मन्त्र हैं, जिनकी साधना से कलियुग में मानव भवसागर पार कर जाता है। ये मन्त्र उस इंगलिशभाषा के हैं, जिस भाषा के सर्ज्जक अंग्रेज आज भारत जैसे राष्ट्र के अधिपति हैं, एवं जिन्हें युद्ध में कोई नही हरा सकता। ऐसे इंग्रेज किसी समय लन्दन में उत्पन्न होंगे"। इत्यादि इत्यादि। आश्चर्य्य तो यह है कि, प्रयास करने पर भी मेरुतन्त्रादि ग्रन्थों में हम आजतक तर्कालङ्कार महाभाग के द्वारा सङ्केतित इंगलिशभाषा के तथाकथित मन्त्र उपलब्ध नही कर सके। तभी तो उसी युग के उसी बङ्गप्रान्त के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् (स्व० श्रीअक्षयदत्त महाभाग) ने अपने सुप्रसिद्ध-"भारतवर्षीय-उपासक सम्प्रदाय' नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थ की प्रस्तावना में तथोक्ता भविष्यदुक्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर डाला है। जैसा मण्डन, वैसा ही खण्डन। एक दल राजभक्ति का अनुगामी, तो खण्डनकर्त्ता दल सम्प्रदायभक्ति का समर्थक। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के लिए तो दोनों ही प्रणम्य, इत्यलं पापकथाप्रसङ्गेनैतेन।

३६८-वर्त्तमान स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के भारतीय विद्वानों के युगधर्म्मानुगत विभिन्न दो वर्ग, एवं प्रथम वर्ग के द्वारा धर्म्मव्याज से सत्ता की आलोचना, तथा द्वितीय वर्ग के द्वारा सत्ता की भावुकतापूर्णा मान्यताओं का समर्थन—

और आज के स्वतन्त्रतापूर्ण-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतीय ब्राह्मण विद्वान् क्या कर रहे हैं ?। वही सबकुछ तो कर रहे हैं, जो कुछ तीन सहस्र वर्षों से ये करते आरहे हैं। अन्तर है केवल थोड़ा मनोवृत्ति में। इस से पूर्व के जो परसत्तातन्त्र (ब्रिटिश-मुगल-सिकन्दर-हूण-शकादि-सत्तातन्त्र) थे, उन में भय की ही प्रमुखता थी, स्वार्थ गौण था। किन्तु आज भय का स्थान भी स्वार्थ ने ही ले लिया है। क्योंकि सत्तातन्त्र इनका ही है। अतएव आज ये सस्कृतिनिष्ठ विद्वान् दो वर्गों में विभक्त होगए हैं। जिस वर्ग का सत्तातन्त्र से जोड़-तोड़ नहीं बैठा, वह धर्म्म के नाम से आलोचक बन गया है इस सत्तातन्त्र का, एवं जिसका जोड़ तोड़ बैठ गया है, उसने तो एक स्वतन्त्र दर्शन (गांधीदर्शन) का ही सर्ज्जन कर डाला है। कुछ एक लोकचतुर सस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वान् (किन्तु ब्राह्मण नहीं, अपितु इतर वर्णों को ममलङ्कृत करने वाले) ऐसे भी हैं, जो अपने लोकचातुर्य्य से सत्तातन्त्र को भी प्रसन्न रखने के प्रयास में तल्लीन हैं, एवं अपने इसी वाक्छल के माध्यम से धर्म्मप्राणा जनता के भी श्रद्धाभाजन बने रहने का प्रयास करते रहने में कुशल हैं। तत्त्वत इन विद्वानों की सभी श्रेणियां आज भी आत्मबुद्धिमन'शरीरदासता का ही पुनरावर्त्तन कर रही हैं। इसी सत्ताविमोहन से आज भी मूल सस्कृति, मूल धर्म्म, मूल आचार गुहानिहित ही प्रमाणित हो रहा है। और यों सत्ताश्रयता के कारण ही आज के इस महद्भाग्यशाली स्वतन्त्र भारत में भी भारत की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा आचारपद्धति की ओर न तो विद्वानों का ही ध्यान जासका है, और न सत्तातन्त्र का ही। सत्तातन्त्र चिढ़ा हुआ है राजभक्त, तयैतिद्वृत्तात्मक विद्वानों से, एवं इनकी मतवादात्मिका मान्यताओं से, जिनसे चिढ़ते रहना, और आत्मपरित्राण करते रहना तो प्रत्येक प्रज्ञाशील का हम तो स्वधर्म्म ही मानेंगे। और आज तो जनतन्त्र भी उदासीन होता जारहा है इन्हीं सब कारणों से इन धर्म्मिष्ठों की ओर से। तो क्या अब कोई उपाय नहीं है भारतराष्ट्र की मूलनिधि के पुनराविर्भाव का ?, उत्तर होगा 'एकमात्र'-'राजा कालस्य कारणम्' ही।

३६९-अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहनात्मक स्वराष्ट्रनिष्ठावञ्चित हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं इसके-'स्व' भाव की 'पर' तन्त्रों से अनुगता 'परतन्त्रता'—

स्वय सत्तातन्त्र को ही आज नहीं, तो कल, कल नहीं तो परसों अपनी भूल स्वीकार करनी ही पड़ेगी, जिस भावुकतापूर्ण भूलने ही सत्तातन्त्र की प्रज्ञा को आज अन्तर्राष्ट्रीय-विमोहन-मूलक परदर्शन-परानुकरण की ओर ही प्रवृत्त कर रक्खा है। और इसी भावुकता के कारण अमुक वर्गविशेष-व्यक्तिविशेषों के दोष से उसने भारतराष्ट्र की मूलसस्कृति की ओर दृष्टिपात करना भी पाप मान लिया है। हम साग्रह आवेदन करेंगे अपने प्रभुसत्तासमर्थ सत्तातन्त्र से कि, वह एक बार, केवल एक बार-गुणदृष्टि से नहीं, तो दोषदृष्टि से ही दृष्टिपात का तो अनुग्रह करे अपनी इस उस मूलनिधि की ओर, जिसका एक एक सूत्र सत्तातन्त्र की उन सम्पूर्ण समस्याओं का क्षणमात्र में निराकरण करने की क्षमता रखता है, जिन विषमा समस्याओं के लिए चिन्तित हमारा सत्तातन्त्र आज उन 'परतन्त्रों' के 'परसूत्रों' की ही शरण लेता जारहा है, जो कि 'प्रतीच्य-परसूत्र' समस्या के निराकरण के स्थानमें समस्या के सर्ज्जक ही बनते जारहे हैं।

३७०-सर्वविनाशक-सत्ताश्रयात्मक-राज्याश्रय की निरपेक्षता से ही ब्राह्मणप्रज्ञाओं के द्वारा राष्ट्र का सम्भावित-जागरण—

और अनन्य श्रद्धेय पूज्य विद्वान् ब्राह्मणों से, तथा अन्यान्य संस्कृतिनिष्ठ-साहित्यिकों से भी हम यही निवेदन करेंगे कि, वे सत्तातन्त्र की लोकानुगता मान्यताओं से अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट ही रखते हुए, इस कालचक्र के साक्षीमात्र ही बने रहते हुए, कालसञ्चालन का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र पर ही छोड़ते हुए, साथ ही अपने आपको सत्ताश्रय-राज्यश्रय के सर्वविनाशक महामोह से सर्वथा ही बचाते हुए शुद्धबुद्धि से आस्था-श्रद्धा-पूर्वक (किसी भी व्याख्यामोह में न पड़ते हुए) अपनी मूलनिधि के स्वाध्याय-चिन्तन-अनुशीलन में ही प्रवृत्त हो जायँ। इनके इसी पुण्य से एक दिन सत्तातन्त्र को अवश्य ही इस संस्कृति की शरण में आ ही जाना पड़ेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ अब हम-**'राजा कालस्य कारणम्'** मूलक प्रासङ्गिक निवेदन को उपरत कर पुनः प्रक्रान्त पौरुष, तथा पुरुषार्थ की ओर ही कालप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

३७१-कालसापेक्ष सत्तातन्त्र, एवं कालातीत--शाश्वतधर्म्म के क्षेत्र में तत्तन्त्र का अनधिकार—

'राजा', अर्थात् सत्तातन्त्र काल का कारण अवश्य है। अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी सम्वत्सरकालचक्र (चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र) से सीमित बने रहने वाले भूत-भौतिक-व्यक्त-मूर्त्त-जगत् के भौतिक विधि-विधानों का कारण, किंवा उत्तरदायी अवश्य है। तभी तो शास्त्रने आधिभौतिक-रक्षाकर्म्म का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र को, शास्ता क्षत्रियको ही दिया है,-जैसाकि इसके-**'क्षतात् त्रायते'** निर्वचनार्थक **'क्षत्रिय'** शब्द से प्रमाणित है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी इसे उस कालातीत की व्यवस्था का कोई उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं है, जिसका अव्यक्त-अमूर्त्त भावों से ही सम्बन्ध है, एवं जिस कालातीत-अव्यक्त-अप्राकृत भाव को ही **'शाश्वतधर्म्म'** कहा गया है।

३७२-स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित, सुरक्षित शाश्वतधर्म्म, एवं-'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' का संस्मरण—

इसका उत्तरदायित्व तो वस्तुतः किसी को भी नही है। अपितु धर्म्म तो स्वयं ही अपना उत्तरदायित्व वहन कर रहा है। ब्राह्मण उस का नाम है, जो कालातीता स्थिति में रहता हुआ इस धर्म्म का अनुशीलन करता है, एवं क्षत्रिय उसका नाम है, जो ब्राह्मण के अनुशीलनात्मक धर्म्म को आचार का स्वरूप प्रदान करता है। यो ब्राह्मण जहाँ **'धर्म्मप्रवर्त्तक'** बना हुआ है, वहाँ क्षत्रिय **'धर्म्मरक्षक'** प्रमाणित हो रहा है। **'धर्म्मरक्षकता'** का अर्थ है ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट धर्म्म का प्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक पालन करवाना। वैसे तो स्वयं धर्म्म ही क्षत्रिय का भी रक्षक है, और ब्राह्मण का भी रक्षक है। किंबहुना-सम्पूर्ण विश्व का रक्षक है-**'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**।

३७३-ब्राह्मण के पौरुष की सत्तातन्त्र के द्वारा कार्य्यरूप में परिणति, एवं-'मैत्रावरुण-ग्रहश्रुति' मूलक मित्रब्रह्म-क्षत्रवरुण-के अभिगन्तृत्त्व-कर्तृत्त्व--भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, ब्राह्मण के पौरुष को कार्य्यरूप में परिणत कर देने का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र से ही अनुप्राणित है। जो सत्तातन्त्र अपने कालव्यामोहन में आकर कालातीत धर्म्म की, तत्प्रवर्त्तक

ब्राह्मण के पौरुष की अवहेलना कर देता है, उस के सम्पूर्ण पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' न रह कर कालानुबन्धी तात्कालिक 'प्रकृत्यर्थ' ही बने रह जाते हैं। और पुरुषार्थशून्य, केवल प्रकृत्यर्थपरायण वर्त्तमानवादी ऐसा सत्तातन्त्र कालातीता मूलसंस्कृति के, मूल अप्राकृत शाश्वतधर्म्म के आश्रय से, स्थूलभाषा के अनुसार–ब्राह्मण के आश्रय से वञ्चित होकर कालान्तर में कालसीमा में हीं नष्ट ही हो जाता है, जैसाकि मैत्रावरुणश्रुति के–'यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते–अप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मात्-उ-क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मण। स हैवास्मै तत् कर्म्मऽर्ध्यते" (शत० ४।३।८।६।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है। 'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्' के अनुसार ब्राह्मण जहाँ 'अराजन्य' ('सत्ता-निरपेक्ष') रह कर ही कालातीत धर्म के अनुशीलन में समर्थ बन सकता है, वहाँ क्षात्र सत्तातन्त्र ब्राह्मण-प्रेरणा का आश्रय लेकर ही स्वकालव्यवस्था में सफलता प्राप्त करसकता है।

३७४–मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र के समन्वय-पार्थक्य से राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष-शक्तियों का विघटन, एवं तत्परिणामस्वरूप ब्रह्मक्षत्रसमन्वय से वञ्चित राष्ट्र का अभिभव—

मित्रब्राह्मण, और वरुणक्षत्रिय का जब परस्पर विपर्य्यय हो जाता है, अर्थात् ब्राह्मण जब सत्ता का आश्रय ले लेता है, एवं सत्ता जब ब्राह्मण को आश्रित मान बैठती है, तो ब्राह्मण की तो धर्म्मनिष्ठा ही अन्तर्मुख बनती है, किन्तु सत्तातन्त्र का तो मूलोच्छेद ही होजाता है। इसीलिए कहा गया है कि–'धर्म्मो रक्षति रक्षित'। जिसका सीधा सा अर्थ यही है कि, संस्कृति-धर्म्म–शास्त्र–तत्प्रवर्त्तक ब्राह्मण, इनकी रक्षा से ही ये रक्षा किया करते हैं सत्तातन्त्र की, एवं उसके राष्ट्र की। कालनिर्म्माता सत्तातन्त्र जब धर्मनिरपेक्ष बन जाता है, तो सभी कुछ अरक्षित बन जाता है। अतएव यहाँ आकर हमें उस आक्रोशपूर्ण उस प्रश्न-परम्परा का पूरा पूरा समाधान प्राप्त हो जाता है कि, "शास्त्र-धर्म-ब्राह्मण-संस्कृति-आचार-आदि आदि यच्च-यावत् मङ्गलमय विधि-विधानों की विद्यमानता में भी भारतराष्ट्र क्यों परतन्त्र बना?"। वस्तुगत्या 'राजा कालस्य कारणम्' ही इन सब प्रश्नों का मूल समाधान है। एकमात्र सत्ता के दोष से ही राष्ट्र के ब्राह्मण, राष्ट्र की संस्कृति, राष्ट्र का धर्म्म, राष्ट्र का आचार अभिभूत होजाता है, अन्तर्मुख बन जाता है। सत्तातन्त्र के प्रकृत्यर्थवादी बनते ही इसका पुरुषार्थ विलीन हो जाता है, शेष रह जाती है तात्कालिक भावुकता, तदनुगता मन शरीरनिबन्धना कामभोगपरायणता। यही बना दी जाती है बलपूर्वक राष्ट्र का एकमात्र जीवनीय लक्ष्य। परिणाम जैसा, जो कुछ होता है, हुआ है, हो रहा है, स्पष्टतम है।

३७५–कालातीत-चिदात्मसर्ग से नियन्त्रित 'कालसर्ग', एवं तदनुगता- तद्रूपा कालिक-प्रजा का स्वरूप-परिचय—

जिसप्रकार चिदात्मसर्ग कालातीत सर्ग है, तथैव चित्सर्ग भी कालातीत ही है। अन्तर दोनों में यही है कि, चिदात्मसर्ग जहाँ काल से असंस्पृष्ट है, वहाँ चित्सर्ग काल से संस्पृष्ट है। उस ओर कालातीत ब्राह्मण है, इस ओर काल है, दोनों के मध्य में क्षात्र सत्तातन्त्र है, जो उस ओर के कालातीत ब्राह्मण के पौरुषाश्रय से पुरुषार्थी बनता हुआ इस ओर के काल की प्रकृत्यर्थ–व्यवस्थाओं का नियन्त्रण करता है, नियमन करता है, जिसका अर्थ है प्रजासर्ग की व्यवस्था, जोकि प्रजासर्ग कालात्मक माना गया है। जिसे राष्ट्र कहा जाता

है, उसी का नाम है 'काल', जिससे अभिन्न है प्रजासर्ग, जिसके कि 'विट्', तथा 'शूद्र', प्रवर्ग्यरूपेण ये दो विवर्त्त माने गए हैं।

३७६–कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पौष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप-मनः-शरीर-भावों का समन्वय—

'विशः' और 'शूद्र' ही प्रजा है, यही राष्ट्र का कालिक-भौतिक-स्वरूप है, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था कालानुबन्धिनी ही मानी गई है। सत्तातन्त्र का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य है–इन कालिक सर्गों का नियन्त्रण-पूर्वक सञ्चालन। यदि ये दोनो वर्ग कालसीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं, तो न केवल तद्राष्ट्र में हीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में विकम्पन होजाता है। विट् प्रतीक है काम का, एवं शूद्र प्रतीक है भोग का। भोग की आधार-भूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन। जिन प्रजाओं का मन, और शरीर सत्तातन्त्र के द्वारा नियन्त्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपर्व, और आत्मतन्त्र स्वतन्त्र बना रहता है।

३७७–आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्म-क्षत्र के नियन्त्रण से पृथग्भूत मनःशरीर-निबन्धन-विट्-शूद्र-प्रजा के द्वारा सम्भावित विश्वक्षोभ, एवं 'क्षोभयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनियन्त्रण ही बौद्धिक-आत्मिक-पारतन्त्र्य का कारण बन जाया करता है। तत्त्वतः आत्मबुद्धिस्वतन्त्रतानुगत मनःशरीरपारतन्त्र्य का ही नाम है मानव की 'स्व' तन्त्रानुगता स्वतन्त्रता, जिस इस तथ्य को विस्मृत कर वर्त्तमान प्रतीच्य सत्तातन्त्रोंनें मनः-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-भोग-स्वातन्त्र्य को) ही 'स्वतन्त्रता' मानने की भूल कर डाली है। उसी का अन्धानुकरण कर हमारे सत्तातन्त्रने भी मनः-शरीरानुगता उच्छृंखलता, अमर्य्यादा का नाम ही आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया है। परिणामस्वरूप प्रजा का बौद्धिक, तथा आत्मिक क्षेत्र सर्वथा ही परतन्त्र बन गया है। हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्तातन्त्र उद्बोधन प्राप्त करेगा, और राजर्षि मनु के इस वचन के प्रकृतिसिद्ध मर्म्म का समन्वय कर के ही स्वशासनसूत्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्तातन्त्रोंने आज विश्व में विकम्पन उत्पन्न कर दिया है—

> **वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।**
> **तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥**
>
> —मनुः ८।४१८।

३७८–विड्भावापन्न-मनोधर्म्मा-चान्द्र-प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविध-'मानव', एवं तद-नुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

अक्षरात्मक क्षररूप चेतनसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है–'मनुष्य', इसी का नाम है विट् (वैश्य), और यही है भाग्यवादी-प्राकृत--मानव। कदापि यह भूत, और भविष्यत् पर निष्ठा नही रखता,

नहीं गन सका अपने विट्तन्त्र से । अपितु तात्कालिक वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है । अतएव इसका नियन्त्रण अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक माना है राजर्षि ने । राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आज के सत्ताधीशोंनें भी इस तथ्य को प्रणतमान से स्वीकार कर ही लिया है, फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही सत्तातन्त्र की अपनी विशेषणा ही क्यों न हो ।

३७६–राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोपसुन्द-न्यायात्मक भीषण-परिणाम—

शास्त्रीय–धार्मिक नियन्त्रण में कदापि 'राष्ट्रीयकरण' जैसा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पासका है, जिस इस राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वर्ग का स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया है, और सचमुच यह राष्ट्र के लिए महान् अमङ्गल ही हुआ है । धर्मसूत्र के द्वारा उच्छृ-खलताओं का, आर्थिक दुरुपयोगिताओं का नियन्त्रण ही वह नियन्त्रण था, जिसकी ओर राजर्षि ने सङ्केत किया है । इस दिशा में तो यह वर्ग आज अधिकरूप से अनियन्त्रित ही बन गया है । अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोपसुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा ।

३८०–पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-भेद से वर्णप्रजा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्त्तों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन अब यही करना है कि, चेतनसर्गानुगत विट्-मानव ही मनुष्य है, और यही 'भाग्यवादी' सर्ग है, जिसका तृतीय सर्ग में अन्तर्भाव हो रहा है । शेष रह जाता है अक्षरानुगत चरसर्गरूप अचेतनसर्ग, जिसे कहा गया है 'नर' नामक मानव । इसी को 'भाग्याधीन' मानव माना गया है । यों चातुर्वर्ण्यानुपात से चिदात्म-सर्ग-चित्सर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग-भेद से चतुर्धा विभक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये चारों वर्ण क्रमशः पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-ही प्रमाणित हो रहे हैं । अवश्य ही वर्णभेद के मूलोच्छेद के सुस्वप्न-द्रष्टा आज के भावुक मानव इस तथ्य से गजनिमीलिका कर सकते हैं, करेंगे ही । किन्तु प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, तदनुगता प्राकृतिक-विषमता न कभी हटी है, न कभी हटेगी, जो आज के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्य-मान हैं, जैसाकि एक स्वतन्त्र-निबन्ध में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है * । तथ्य तो सदा तथ्य ही रहता है, जिसे युगधर्मानुगता मान्यताएँ न आज से पहिले कभी बदल सकीं, न आज बदल सकतीं, नापि भविष्य में हीं । 'धाता यथापूर्वकल्पयत्', इस सनातन-सत्य-तथ्य का कौन अतिक्रमण कर सका है ? ।

---

*–"सांस्कृतिक-संघर्ष के लिए आमन्त्रण, एवं श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश"-नामक सामयिकनिबन्ध

महिमभावो	१--चिदात्मसर्गानुगत:-मानव:-पुरुषो ब्राह्मण:—पौरुषमूर्त्ति:	पुरुषार्थवाद: अप्राकृत: —कालातीत:—
	२--चित्सर्गानुगत:——मानव:-मानव: क्षत्रिय:--पुरुषार्थी	
परिग्रहभावो	३–चेतनसर्गानुगत:—मानव:-मनुष्यो वैश्य:—भाग्यवादी	भाग्यवाद:-प्राकृत: —कालात्मक:—
	४--अचेतनसर्गानुगत:--मानव:-नर:--शूद्र:——भाग्याधीन:	

३८१–'क्रान्ति'-भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से समन्विता श्वेत-रक्त-पीत-कृष्ण-क्रान्तियों का नामसंस्मरण—

अत्र सर्वान्त में केवल 'क्रान्ति' मूलक परिलेखमात्र उद्धृत कर इस सर्गसमन्वय को उपरत कर दिया जाता है विस्तारभिया। निबन्ध के तृतीय खण्ड का नाम हुआ है-'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश', और यों 'क्रान्ति' शब्द प्रस्तुत सामायिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। यह क्रान्तिभाव उक्त सर्गक्रमानुपात से ही क्रमश: श्वेतक्रान्ति, रक्तक्रान्ति, पीतक्रान्ति, कृष्णक्रान्ति–भेद से चार विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है, जिसका तत्रैव तृतीयखण्डे सप्रमाण समन्वय किया जा चुका है। प्रकृत में सर्गानुबन्ध से केवल तालिका ही उद्धृत हो रही है—

स्वातन्त्र्यबीजम्	१–चिदात्मसर्गानुगत:–ब्राह्मण:-आत्मनिष्ठ:-श्वेतक्रान्तिप्रवर्त्तक:-पुरुष:	महिमान आसन्
	१–चित्सर्गानुगत:——क्षत्रिय:-बुद्धिनिष्ठ:-रक्तक्रान्तिप्रवर्त्तक:--मानव:	
पारतन्त्र्यबीजम्	३–चेतनसर्गानुगत:—वैश्य:—मनोनिष्ठ:-पीतक्रान्तिप्रवर्त्तक:--मनुष्य:	रेतोधा आसन्
	४–अचेतनसर्गानुगत:–शूद्र:—शरीरनिष्ठ:-कृष्णक्रान्तिप्रवर्त्तक:-नर:	

३८२–प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध 'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विवर्त्तों का समष्ट्यात्मक सिंहावलोकन—

बात चली थी 'प्रतीक' शब्द को लेकर, जिस के सम्बन्ध में यह उत्थानिका हुई थी कि–'अङ्गभाव' से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में समन्वित नहीं हो सकता (देखिए पृ०–सं० ५३८)। इसी उत्थानिका के साथ 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन–शब्देतिहास स्पष्ट किया गया। और

इस प्रतीकता को मध्यस्थ बना कर ही प्रतीक—व्यामोहनात्मक सर्गविवर्त—उपक्रान्त हो पड़े, जिन के 'चतुर्विध कालात्मक-प्रतीकभाव, प्राकृतसर्गात्मक चतुर्विध प्रतीकभाव, चतुर्विध-वर्णसर्गात्मक प्रतीकभाव, चतुर्विध मानवस्सर्गात्मक प्रतीकभाव, चतुर्विध पौरुष-भाग्यविध प्रतीकभाव, एवं सर्वान्त में--चतुर्विध क्रान्तिरूप प्रतीकभाव, रूपेण अनेक विवर्त दृष्टिकोणभेद से प्रासङ्गिक बन गए, जिन के माध्यम से अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, भले ही दिग्देशकालानुबन्धी-भौतिक--पार्थिव, तथा चान्द्र सम्वत्सर-सर्गों में 'अङ्गा-ङ्गान-सम्भरति' मूलक प्रतीकभाव समन्वित रहें। किन्तु महिमासर्ग के सम्बन्ध में (विवर्त के प्रसङ्ग में), एवं महिमावारभूत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में तो कदापि प्रतीक सम्बन्ध घटित हो ही नहीं सकता। क्योंकि ब्रह्म के साथ अङ्गाङ्गी-भावात्मक परिणामवाद का यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है।

३८३–प्रतीकात्मक अङ्गाङ्गीभावों से एकान्ततः असंस्पृष्ट महिमामय सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तत्क्षेत्र में प्रतीकभाव का प्रवेश-निषिद्ध—

'सर्वमात्मैवाभूत' ही उस का महिमामय विवर्तभाव है, जिस में न कोई अङ्ग है, न कोई अङ्गी है। अपितु द्रष्टा भी वही है, दृश्य भी वही है। विज्ञाता भी वही है, ज्ञानसाधन भी वही है, ज्ञेय भी वही है। 'तत्केन कं पश्येत्' ही उस का दर्शन है। 'स्व से स्व का दर्शन' यदि–सम्भव है, तो वैसा दर्शन अवश्य ही अनन्तब्रह्मनिष्ठा में सुरक्षित है, जिस का राजर्षिने इन शब्दों में दिग्दर्शन कराया है मनुस्व-रूप–विश्लेषण–प्रसङ्ग से—

> एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
> स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येन्ति परं पदम् (अव्ययपदम्) ॥
> —मनु. १२।१२५।

३८४–प्रतीकभाव का मूलोच्छेदक-'उद्धरेदात्मनात्मानम्' वचन—

अतएव गीताचार्य्यने भी प्रतीकवादात्मक व्यामोहन का मूलोच्छेद करते हुए 'उद्धरेत्–आत्मना–आत्मानम्' इस सिद्धान्त को ही प्रमाणिकता प्रदान की है। कहीं भी अनन्तात्मब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकवाद को प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं है। काल भले ही अनन्त रहे, किन्तु कलनात्मक, किंवा कलात्मक भाव से अनन्तकाल भी है प्राकृतभाव ही। अतएव यह भी निष्कल–कालातीत ब्रह्म का प्रतीक नहीं बन सकता। काल-महिमा से कदापि उस अनन्तमहिमामय ब्रह्म का सग्रह सम्पन्न नहीं है। अतएव यह कहना कि, अनन्तब्रह्म का एकांशरूप महिमामय अनन्तकाल (अक्षरप्रकृति) उस के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, कदापि समीचीन नहीं है। क्योंकि न वह अंशी है, न उस का कोई एकांश ही है। अपितु वही सबकुछ है।

३८५–सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म, तथा मानव की अभिन्नता, तत्-सम्बन्ध में प्राकृत मानव की बुद्धि का व्यामोहन, एवं मानव के महान् भ्रामक 'समझ' शब्द से अनुप्राणित 'समझ बिना बुध बापडी' इस लोकसूक्ति का संस्मरण—

क्या उस 'वही' की कोई स्वरूपपरिभाषा नहीं है?। नहीं। वह स्वयं ही अपने 'रूप' की, 'स्वरूप की, परिभाषा है। और उसके इसी 'स्वरूप' का नाम है'-मानव'। चौंकिए नहीं। 'मानव वही है' इस

में चौंकने जैसा कुछ भी तो नहीं है। दार्शनिक-दृष्टि अवश्य हीं चौंकाने वाली है, जिस में आचारपक्ष का कोई स्वरूप-विश्लेषण नहीं हुआ है। किन्तु ऋषिदृष्टि। (ज्ञानविज्ञानात्मिका सहजदृष्टि) से सहजरूप से ही इस तथ्य का समन्वय हो जाता है कि, **उस में, और इस में, अनन्तब्रह्म में, और मानव में कोई भी अनन्तर नहीं है। जो वह है, वही यह है। एवं जो यह है, वही वह है**। मानव कहता है-यह बात समझ में नहीं आती। हम कहते हैं–समझ में यह बात आ भी नहीं सकती, यदि 'समझ' का नाम मानव ने वह 'बुद्धि' ही मान रक्खा है तो, जिस के द्वारा कि मानव अपने दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-भौतिक-प्राकृत-पदार्थों की नाप-तोल कर इन्हें समझा, और समझाया करता है। मानव की यह 'बुद्धि' रूपा समझ उस 'समझ' से सर्वथा ही तो असंपृक्त है, जिस उस समझ के विना मानव की बुद्धि सर्वथा निरीहा (बापुरी) ही बनी रहती है। राजस्थान में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'समझ विना बुध बापड़ी'**। सूक्ति का अर्थ यही है कि विना 'समझ' के 'बुद्धि' सर्वथा बापुरी है, सदसद्विवेक में असमर्थ है। पशुओं में क्या बुद्धि नही है ?। है, और अवश्य है। यही नहीं, अपने तात्कालिक स्वार्थ को समझ लेने कीजैसी बुद्धि पशुओं में है, मानव की बुद्धि तो कई क्षेत्रों में उस पशुबुद्धि से भी परास्त है। निकटवर्त्ती–आक्रमणों को जिस तात्कालिता से पशु समझ लेता है, मानव की बुद्धि असमर्थ है–तत्काल निकटवर्त्ती भावों का समन्वय करने में।

३८६–पशु की तात्कालिकी बुद्धि से मानबुद्धि का पराभव, एवं गृहस्थ–क्षेत्र में चतुर्गुणित-बुद्धिशालिनी नारी के द्वारा बुद्धिमान् मानव का अभिभव—

पशु अपनी प्राकृत समस्याओं के लिए अपनी बुद्धि से तत्काल निर्णय कर लेता है, जबकि मानव अमुक समस्याओं के समुपस्थित हो जाने पर एकबार तो हक्का बक्का सा ही बना रह जाता है। स्पष्ट प्रमाणित है कि, 'बुद्धि' के क्षेत्र में तो पशुओंने मानव को भी परास्त कर ही रक्खा है उसीप्रकार, जैसे कि गृहस्थ-क्षेत्र में मानव की बुद्धि परास्त रहती है मानवी की तात्कालिकी निर्णयबुद्धि के समतुलन में। तभी तो भारतीय विज्ञानने मानवी में चतुर्गुणिता मानी है बुद्धि मानव की अपेक्षा से–'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा'। एक अबोध शिशु का उदाहरण सामने रखिए। जिस की वाणी भी अभी प्रस्फुटित नहीं है, ऐसा शिशु तत्काल यह समझ–लेता है कि, अमुक पुरुष, अथवा अमुक स्त्री तो उस से वास्तव में वात्सल्य रखते हैं, और अमुक कृत्रिम। कदापि कृत्रिम प्रेम की ओर वह शिशु आकर्षित नही होता, जब कि वास्तविक वात्सल्य की ओर स्वत: ही इस की बालवृत्तियाँ आकर्षित हो पड़तीं हैं। और मानव ?। स्वयं मानव ही इस बात का ठीक ठीक उत्तर दे सकेगा कि, वह कैसे कृत्रिम अनुरागों के प्रति सत्यभ्रान्ति से आसक्त हो जाता है !, एवं परिणाम में उसे इस कृत्रिम अनुराग के क्या क्या कुफल भोगने पड़ते हैं !। अतएव मानव को मान-लेना चाहिए कि, उस की अपेक्षा तो स्त्रियों, बालकों, एवं सर्वापेक्षया पशुओं में कहीं अधिक बुद्धि है, तात्कालिक समन्वय की अधिक क्षमता है।

३८७–'संवित्' भावापन्न मानव की श्रेष्ठता, एवं 'संवित्'-स्वरूप-दिग्दर्शन—

बुद्धि अवश्य है, और मानव की अपेक्षा अधिक है पशुवर्ग में बुद्धि *। किन्तु मानव में अवश्य ही पशुओं की अपेक्षा बुद्धि से भी कुछ अधिक, तथा अन्य विशिष्ट तत्त्व और है, जिसे लोकभाषा में जहाँ–

---

*–ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे। (सप्तशती)

'समझ' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है –। बुद्धि जहाँ कालानुबन्धिनी है, वर्त्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह संवित् कालातीता, त्रिकालात्मिका है। बुद्धि जहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है, वहाँ–संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत, और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है।

३८८–भूत–भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नग्न-चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का। अपितु वर्त्तमान के आधार पर वह झटिति अपना निर्णय कर डालती है, जिस इस प्रत्यक्षप्रभावात्मक तात्कालिकभाव को ही हम 'भावुकता' कहते हैं। यही भावुकता भावावेश की जननी है, जो मानव को आगा (अपर-भविष्य), पीछा (पूर्व-भूत), कुछ भी तो नहीं सोचने देती। अपितु तरत ही, झटपट ही अपना सर्वस्व पौरुष समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि। और आज का भावुकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना प्रशंसक बन रहा है अपने–'यथार्थ' लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से।

३८९-'प्रत्युत्पन्नमतित्त्व' का शैथिल्य, गृहस्थक्षेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्त्व, एवं पुत्र का अभिनन्दनीय संविद्भाव—

ऐसे 'तुरतबुद्धि' मानव को ही 'प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है, जिसे 'संवित्शाली' मानव (संवेदनशील-समझदार मानव) कदापि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है। बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अधिकांश में भूल ही करता रहता है इस दिशा में, जबकि यह तात्–कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को, बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है, एवं प्रत्यक्ष में योथा चमत्कृत प्रतीयमान, किन्तु 'चिरकारी', अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों, तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है। गृहस्थ में बालक, और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए। दोनों के समतुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्राय पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं। अतएव प्राय मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अप्रशंसक बने रहते हैं। कदापि हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय। अवश्य की जाय। स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है।

— मासा–ब्द–युग–कल्पेषु गतागम्यस्त्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेति संविदेषा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारश्च क्रिया तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ संवित् स्वयंप्रभु ॥२॥
—'संविदा देयम्'–इत्युपनिषत्

३६०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतित्व, और-'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिभावनिबन्धना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से, इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से प्रकृत्या ही वञ्चित पुत्रसन्तति की कन्याओं के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुत्रसन्तति का चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में पुत्रसन्तति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है, प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है, तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परविरोधिनी सभी गृहस्थ–व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है, तो लोकक्षेत्रानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही लोकयात्रा के निर्वाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने तो 'चिरकारी' नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श–किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले, झटिति ही कार्य्यारम्भ, और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम साग्रह निवेदन करेंगे कि, कृपया एकबार वे महाभारत के तत्प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठालें *।

३६१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि,–"भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता", जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

---

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परिताप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—देखिए ! महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

जानता, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना अवश्य जानता है'। इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है। भावुक मानव की बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बनती हुई मनोमयी बनी रहती है। और इस मानसिक–तात्कालिक–अनुभूति का नाम ही इसने 'बुद्धि', किंवा 'बुद्धिमानी' मान रक्खा है। मनोमयी यह बुद्धि इन्द्रियद्वारानुगामिनी बनती हुई प्रत्यक्ष-भूतों की ही उपासना में प्रवृत्त रहती है। प्रत्यक्ष भूत, तत्सग्राहक इन्द्रियवर्ग, इन्द्रियाध्यक्ष मन, एवं तन्मयी बुद्धि, सबकुछ उस चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र की सीमा से सर्वथा सीमित ही बने रहते हैं, जो चान्द्रसम्वत्सरकाल प्रतिक्षण नवीन नवीन–रूप धारण करता रहता है–'नवो नवो भवति जायमान.' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार। इस चान्द्रपरिवर्त्तन के अनुपात से ही मानव के ऐन्द्रियक, मानसिक, तथा तन्मयान बौद्धिक भाव भी क्षण क्षण में बदलते ही रहते हैं। अतएव ऐसे मनोवशवर्त्ती इन्द्रियपरायण-बहिर्मुख-प्रत्यक्षवादी–भौतिक–प्राकृत-मानवों की बुद्धि भी तात्कालिकी ही बनी रहती है।

३९२–मनोवशवर्त्ती-इन्द्रियपरायण बुद्धिमान्–प्रत्युत्पन्नमति–मानवों के महतोमहीयान् आयोजन, किंवा योजनाएँ, एवं उनकी छिन्न-भिन्नता—

इस तात्कालिक क्षणिक आवेश में आकर इनकी बुद्धि, अर्थात् मन तत्काल कार्य्य–आरम्भ तो कर देने की सहज क्षमता रखता है, किन्तु कालपरिवर्त्तन के साथ ही बदल जाने वाले उन मनोभावों के अनुबन्ध से चिरकाल पर्यन्त इनकी बुद्धि आरब्ध प्रारब्ध–कार्य्य में स्थिर नहीं रहने पाती। इसे ही कहा जाता है–'मन का बदल जाना'। मानसिक वृत्ति के बदलते ही आरब्ध कार्य्य ज्यों का त्यों अपूर्ण ही बना रह जाता है। और यों प्रत्युत्पन्नमति–बुद्धिमान्–भावुक–मानवों के कार्य्यों का आरम्भ जहाँ महता समारम्भेण घटाटोपोभयङ्कर –रूप से प्रलय मचाता सा हुआ ही प्रक्रान्त होता है, वहाँ ऐसा भावुकतापूर्ण आयोजन कदापि सर्वाङ्गीण-रूप से सम्पन्न नहीं होपाता। और फिर यही भावुक बुद्धिमान् आगे चल कर अमुकामुक काल्पनिक कारणों का सर्जन कर, अपने दोषों को दूसरों पर थोप कर इन आयोजनों में, वर्त्तमान–युगभाषा के अनुसार–उन बड़ी बड़ी योजनाओं में कटौती के प्रस्ताव पास करता रहता है।

३९३–संविद्भावानुगत- सहजबुद्धिशाली--चिरकारी-नैष्ठिक–मानवश्रेष्ठ के क्षेमकर स्वल्पारम्भ, एवं तत्संवित्–बुद्धि का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ठीक इसके विपरीत नैष्ठिक उसका नाम है, जिसकी बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी नहीं रहती, अपितु मन जिसकी बुद्धि के वश में रहता है। कैसे रहता है ? का उत्तर है–संविद्भाव। जिसप्रकार बुद्धि के इस ओर मन प्रतिष्ठित है, तथैव इसके उस ओर 'भूतात्मा' नामक अव्यक्तात्मा (अनन्तकालरूप स्वायम्भुव आत्मा–प्राज्ञात्मा) प्रतिष्ठित है। इस आत्मभाव का नाम ही 'संवित्' है। इस संवित्शक्ति से समन्विता बुद्धि ही 'संविद्बुद्धि' है, और इसी का नाम है 'ममक', जिसका 'सौरसम्वत्सर' से सम्बन्ध है, जो कि सौरसम्वत्सर सृष्टिरूप अनन्तकालात्मक है, एवं–'कालचक्रमनाद्यन्त भावाभावस्वलक्षणम्' (म० शा० मो० २१० अ०-१३ श्लोक) के अनुसार प्राणात्मक यह सौरकालचक्र त्रिकालात्मक बनता हुआ अनाद्यनन्त है। अतएव इसका परिवर्त्तन मानव के प्राकृत स्वरूप के समतुलन में सर्वथा अपरिवर्त्तन ही प्रमाणित रहता है।

३६४–भावुक, तथा नैष्ठिक की सहज-स्थितियों का श्रुति के द्वारा सहज–स्वरूप–चित्रण—

ऐसे स्थिर–सौरसम्वत्सरकाल से युक्ता आत्मस्थिरतारूपा संवित् से युक्ता बुद्धि की प्रेरणा भी स्थिर-भावानुगता ही बनी रहती है । अपने त्रिकालात्मक–पौर्वापर्य्य के कारण संवेदनशीला आत्मनिष्ठा यह सौरीबुद्धि संवित् के प्रभाव से मन पर नियन्त्रण रखती हुई मन को तो मनमाना करने नही देती, एवं स्वयं तत्काल बिना पूर्वापर का समन्वय किए सहसा कार्य्यारम्भ करती नही । अतएव कहा जासकता है कि, 'नैष्ठिक-मानव कार्य्य आरम्भ करना नहीं जानता' । किन्तु पूर्वापर के निर्णय के अनन्तर भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान के सत्–असत्–परिणामों का अवधानपूर्वक निर्णय कर लेने के पश्चात् यही बुद्धि जब स्थिरता से कार्य्य आरम्भ कर देती है, तो फिर मन को भी विवश बन कर अनिच्छन्नपि इस कार्य्य में प्रग्रह (लगाम) पाश से आबद्ध रथाश्वों की भाँति जुटा ही रहना पड़ता है उस बौद्धिक कार्य्य में । फिर मन की इच्छा–अनिच्छा का कोई मूल्य नहीं रह जाता । महर्षि कठने बड़ी ही प्राञ्जलभाषा में इन दोनों स्थितियों का निम्नलिखित रूप मे स्पष्टीकरण किया है–

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति–अप्रयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि-अवश्यानि–दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ —भावुकः

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ —नैष्ठिकः

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति–अमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति, संसारं चाधिगच्छति ॥ —भावुकः

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ —नैष्ठिकः

३९५ नैष्ठिक के कर्त्तव्य-कर्म्म का आध्यात्मिक समन्वय—

"शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं इस रथ के घोड़े, मन है इन घोड़ों का प्रग्रह (लगाम), और बुद्धि है इस प्रग्रहरूप मन (लगामरूप मन) को हाथ में पकड़े रहने वाला कुशल सारथी, तथा यह संसार, और वह परलोक, ये दो हैं गन्तव्य मार्ग। स्वयं जीवात्मा है यात्री, जो इत्थंभूत रथ में बैठ कर संसारयात्रा करता हुआ परलोकयात्रा की प्रतीक्षा करता रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से जब मन निकल जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो पड़तीं हैं। ऐसे यात्री के लिए न बुद्धि बुद्धि रहती, न मन मन रहता। अपितु इन्द्रियाँ उसी प्रकार दुष्ट बन जाती हैं, जैसेकि सारथी के हाथ से छूटी हुई लगाम को लेकर घोड़े भाग खड़े होते हैं। परिणामतः रथ (शरीर), सारथी (बुद्धि), प्रग्रह (मन-लगाम), घोड़े (इन्द्रियाँ), सभी अपना स्वरूप खो बैठते हैं। यात्री जीव की न यात्रा पूरी होने पाती, न पारलौकिक सद्गति ही इसे मिलती। ऐसे यात्री के सभी संकल्प केवल संकल्प बन कर ही धरे रह जाते हैं, जबकि बुद्धिरूप सारथि के नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रग्रहरूप मन इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करता हुआ यात्री भोक्तात्मा की सभी यात्राएँ निर्विघ्न पूर्ण करा देता है", यही उक्त मन्त्रों का भावार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि, नैष्ठिक का कार्य्य आरम्भ तो थोड़ा विलम्ब से होता है, किन्तु आरम्भ होने पर समाप्त होकर ही वह उपरत होता है।

एक प्रासङ्गिक लौकिक तथ्य का समन्वय और। परमभाग्यशाली सांस्कृतिक राजस्थान में एवं यह भी लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि—'**मोट्यार को खाबो, और लुगाई को हाबो, दोन्यूँ बरोबर**'। सूक्ति का अर्थ है—यदि मानव भोजनादि में ही समय समाप्त कर देता है, तो उसका बाह्य लोकक्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। एवं यदि मानवी शरीरप्रसाधनों में ही अधिक समय खो देती है, तो इसका आभ्यन्तर गृहस्थ क्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। क्या तात्पर्य्य निकला इस उक्तिसूक्ति से ?। समन्वय कीजिए अपनी लोकप्रज्ञा से। सूक्ति का बाह्यरूप जहाँ अत्यन्त सरल दिखलाई पड़ रहा है, वहाँ इसका समन्वय सृष्टि के सुसूक्ष्म समन्वय से ही अनुप्राणित है, जिसका झटिति समन्वय कर लेना कठिन ही है।

३९६—मानव, और मानवी के उभयात्मक स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं मानव-मानवी की स्वरूपानुगता पर्वचतुष्टयी का तात्त्विक-समन्वय—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, मानव में भी मानव, और मानवी, दोनों भाव समाविष्ट हैं। एवं मानवी में भी दोनों समाविष्ट हैं। अतएव दोनों स्वस्वरूप से अपने अपने व्यक्तित्व से परिपूर्ण हैं। दोनों में कोई भी एक दूसरे से छोटा, अथवा तो बड़ा नहीं है। वे ही चारों पर्व मानव में हैं, एवं वे ही चारों पर्व मानवी में हैं। मानव के आत्मा-बुद्धि, ये दो पर्व मानवभाव हैं, एवं मानव के मन, शरीर, नामक दो पर्व मानव के मानवीरूप हैं। और यही स्थिति मानवी के चारों पर्वों की है। इत्थंभूता समानता के विद्यमान रहते हुए भी मानव, और मानवी में प्रत्यक्षदृष्ट स्वरूपभेद कैसे, और क्यों उत्पन्न हो गया ?, यह प्रश्न है, जिसके—'क्यों ?,' का उत्तर तो सर्वज्ञ विधाता से ही पूँछना चाहिए। रही बात कैसे ? की, तो तत्सम्बन्ध में भी ऋषिप्रज्ञा ही ठीक ठीक समाधान कर सकेगी, जिसकी उपासना से मादृश-प्राकृत मानव तो इस से अधिक और कुछ भी निवेदन नहीं कर सकेगा इस सम्बन्ध में कि, इसविभेद का कारण सत्यसौरसम्वत्सरात्मक-पार्थिवसम्वत्सर, तथा ऋतभावापन्न चान्द्रसम्वत्सर का विभेद ही बन रहा है।

३९७-कठिनावयव मानव का आधारभूत सौरसम्वत्सर, तथा कोमलावयवा मानवी का आधारभूत चान्द्रसम्वत्सर—

पार्थिवसम्वत्सरानुगत सौरसम्वत्सर अग्निप्रधान है, यही मानव के भौतिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं चान्द्रसम्वत्सर सोमप्रधान है, और यही मानवी के भौतिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। सौरसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक है, एवं चान्द्रसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक ही है। अन्तर केवल प्रधानता, अप्रधानता का है। सौरसम्वत्सर में सोम गर्भ में है, अग्नि अभिव्यक्त है, तो चान्द्रसम्वत्सर में अग्नि गर्भ में है, सोम अभिव्यक्त है। और इन दोनों सम्वत्सरों की अभिव्यक्ति क्रमशः सूर्य्य, तथा चन्द्रमा की साक्षी में अहः, और रात्रि में हो रही हैं। अहःकालात्मक, सोमगर्भित सौरसम्वत्सराग्नि ही मानव की स्वरूप–प्रतिष्ठा है। एवं रात्रिकालात्मक, अग्निगर्भित चान्द्रसम्वत्सरसोम ही मानवी की स्वरूप–प्रतिष्ठा है। मानव का बाह्य-संस्थान सौराग्निप्रधान बनता हुआ आग्नेय है, कठिन है, कर्कश है, दृढावयव है, जबकि मानवी का बाह्यसंस्थान चान्द्रसोमप्रधान बनता हुआ सौम्य है, मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है।

३९८-बहिःकठिन, अन्तःमृदु मानव, एवं बहिः मृद्वी, अन्तःकठिना मानवी, तथा तदनुपात से सम्वत्सरचक्र का समन्वय—

इसके साथ ही मानव के बाह्य आग्नेय शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शुक्रतत्त्व सौम्य है, मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है, जबकि मानवी के बाह्य सौम्य शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शोणिततत्त्व आग्नेय है, कठिन है, कर्कश है, दृढावयव है। यों मानव भीतर से सौम्य, बाहिर से आग्नेय है, तो मानवी बाहिर से सौम्या, किन्तु भीतर से आग्नेयी है। और इस गौण–प्रधानता से ही दोनों के स्वरूप-सस्थान में महान् मौलिक भेद व्यवस्थित हो रहा है सम्वत्सर–प्रजापति के द्वारा, जिसे आधार बना कर ही शास्त्र ने मानव, तथा मानवी के कर्त्तव्यों की व्यवस्था की है, जिसे न समझ कर ही आज के समानाधिकारवादी इन दोनों का ही स्वरूप विकृत करते जारहे हैं।

३९९-सौर-चान्द्र–सम्वत्सर-भेदभिन्न मानव–मानवी के विभक्त-व्यवस्थित कर्म्म, एवं प्रकृतिविरुद्ध आज के 'समानाधिकारवाद' का स्वरूप-चित्रण—

कहा जाता है कि, जो काम पुरुष कर सकते हैं, स्त्रियाँ भी वे सब काम कर सकती हैं, और पुरुष की अपेक्षा भी कहीं अधिक कौशल–योग्यता से कर सकतीं हैं, कर रहीं हैं भारतेतर राष्ट्र की जाग्रत नारियाँ। कदापि इस 'कर सकने का' प्रकृति विरोध नहीं करती। किन्तु 'करसकना' अन्य पक्ष है, और 'करना' अन्य पक्ष है। परिस्थितिवश प्रकृतिविरुद्ध उत्पीड़न के माध्यम से जिसे नहीं करना चाहिए, उस से भी कराया जासकता है, एवं जिसे करना चाहिए, उसे भी नही कर सकने की स्थिति में ला खड़ा किया जासकता है। स्वभावविरुद्ध ऐसे 'करसकने' के अन्ततोगत्वा क्या परिणाम होते हैं ?, हो जायँगे ?, प्रश्न की मीमांसा करने के लिए भी आज का भावुक मानव सम्भवतः सन्नद्ध न हो। जहाँ मानव, और मानवी केवल शरीर ही शरीर हैं, अधिक से अधिक मन पर ही जहाँ दोनों का स्वरूप समाप्त मान लिया गया है, अतएव शरीर से शरीरोत्पत्ति मात्र ही जहाँ के भौतिक दाम्पत्य की एकमात्र परिभाषा है, उनके लिए तो सभी समान हैं, सभी समानाधिकारी हैं।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्त्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार हल्का कर सकने में समर्थ बन जायँ, तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सक्ते हैं, बनाए जासक्ते हैं, बनाए जारहे हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है, जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं, गृहस्थजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य, तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है, जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्वघातक समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला रखा किया है, जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया, तो मानव, और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य-भाव में परिणत हो जायँगे ?, नहीं कहा जासकता। आस्तां तावत्। बड़ों की बातें बड़ा तक ही सीमित रहें, यही हम छोटों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए, और तदावस्थैव हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व-परिवर्त्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी के सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य, तथा बाह्य आग्नेय है, तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय, तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय, तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, जबकि गौणरूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुबन्ध से उत्पीड़नपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीड़न-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे, तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम सहसा स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान-प्रज्ञाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१-लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, "पुरा सत्ययुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्म्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञसे सौ

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया—व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्ता भ्रान्ति से दुस्तर जङ्गलों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में वही पत्नीकामना—स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए भङ्गास्वन इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर जापहुँचे, जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया, घोड़े को वृक्षस्थूण के बाँधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले, तो इन्होंनें अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्त्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा, और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा, इस चिन्ता ने सन्त्रस्त करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश—काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-शैथिल्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्षतः कष्टसाध्यप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं, बड़ी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है, एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं, और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि, पुत्रो ! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो, तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख—भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा, तो सोचाकि, "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को दिग्-भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं, ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वात्सल्य—सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार लेता गया है, जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं, तो ये इन्द्र से क्षमा माँगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं, तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव !
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः ॥

—वही आख्यान।

"स्त्रीभाव में परिणत होजाने के अनन्तर भङ्गास्वन महाभाग ने पुनः पुरुषरूप में परिणत होजाना क्यों नहीं ठीक समझा ?" यही वह एक ऐसा तथ्य है, जो परोक्षरूप से मानवसमाज की स्वरूपरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्त्व 'नारीप्रकृति' को ही देरहा है। वस्तुतः प्राकृत विश्व में 'पुरुष' नामक वास्तविक पुरुष (अव्यय) तो अनभिव्यक्त ही है। सर्वत्र प्रकृति (अक्षर) का ही साम्राज्य है, जिस इस प्रकृतिरूप स्त्रीतत्त्व की ही पूर्व, उत्तर-रूप से दो अवस्था होजाती हैं, जो क्रमशः 'पुरुष' और 'स्त्री' नाम से प्रसिद्ध हो रही है व्यवहारभाषा में। इसी आधार पर ऋग्वेद का रहस्यपूर्ण-'स्त्रिय सतीस्तॉ उ मे पुंस आहुः' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है, जिस का अक्षरार्थ यही है कि, 'जो वस्तुतः स्त्रियाँ हीं हैं, उन्हें भी हम 'पुरुष' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, प्रकृतिरूपा जिस इस स्त्री की सर्वव्याप्ति को-'पश्यदक्षण्वान, न विचेतदन्ध' (ऋक् सं० १।१६४ सू० १६ मं०)। विश्व अवश्य प्रकृतिमूलक है *। संसार मायामय है, अर्थात् प्रकृतिमय है, अर्थात् दिग्देशकालात्मक है, अर्थात् स्त्रीभावप्रधान है। तभी तो लोकप्रसिद्ध मानव (पुरुष) का स्वरूप-निर्म्माण भी तो नारीगर्भसीमा में ही पुष्पित पल्लवित होता है। अतएव सभी दृष्टियों से मानव, और मानवी में मानवी-तत्त्व ही प्रधान है।

४०२-दाम्पत्यसुख की प्रमुख अधिकारिणी मानवी, सर्वशक्तिमयी आद्या मातृजाति, तत्प्रति शक्तिस्वरूपवञ्चित मानव के अकाण्डताण्डव, एवं समानाधिकारवादी हितशत्रुओं के मातृशक्तिविमोहक जघन्य कर्म्म—

इसी तथ्य को लोकभावुकता-परक्षणमूला भावुकभाषा में पुराणपुरुषने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है उसी आख्यान में कि-'दोनों के दाम्पत्य में नारी ही विशेषरूपेण दाम्पत्यसुख की अधिष्ठात्री बनती है। वैसे व्यवहारजीवन में भी-अपने कल्पित व्यक्तित्व से सर्वात्मना विमूढ बने हुए पतितशिरोमणि मानवाधम के समस्त अक्षम्य अपराध भी इस मातृशक्ति के सहज वात्सल्यदान से क्षम्य ही बनते रहते हैं, जिसका अर्थ यह मूर्खशिरोमणि अपने कल्पित व्यक्तित्व के दम्भ से यह मान बैठता है कि, इसने अपने पौरुष से, बल से ही नारी पर विजय लाभ किया है। बाह्यदृष्टिपरायण इस मूढमति दुर्बुद्धि को यह विदित नहीं है कि, जिस आग्नेय पौरुष पर, शारीरिक पौरुष पर यह गर्व करता है, उस आग्नेय पौरुष का भी नारी के अन्तःप्रतिष्ठारूप, शोणिताग्निरूप प्रचण्डरूपेण कर्कश पौरुष के समतुलन में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। पुरुष का बाह्यशरीरात्मक आग्नेय-पौरुष उत्तेजित होकर जहाँ नारी के बाह्यशरीररूप सौम्यभावमात्र को उत्पीडित कर उपशान्त हो जाता है, वहाँ दुर्भाग्य से मानव के इसी सीमातीत अपराध से यदि नारी का आभ्यन्तर शोणिताग्निमूलक पौरुष जाग्रत हो पडता है, तो एक पुरुष ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के इत्थभूत आसुर-मानव इस प्रचण्डचण्डिका के कालाग्नि में भस्मसात् ही हो पडते हैं। और हम भूल नहीं कर रहे, तो अपने सजातीय मानवबन्धुओं को यह चेतावनी दे देना अपना मानवीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, आज मानव ने कहीं 'देवी'

---

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

—गीता

नाम के छल से, कहीं 'घर की मर्य्यादा' नाम के छल से, कही 'समानाधिकारव्यामोहन' के छल से, तो एवमेव अन्यान्य भी कतिपय अवाच्य–अश्राव्य–कारणों से नारी के उस आभ्यन्तर आग्नेय पौरुष के साथ छीना–झपटी ही आरम्भ कर दी है, जिसमें एकमात्र नारी की मातृत्वानुबन्धिनी सहज कृपा ही अभीतक इस मानव को येनकेन रूपेण शरीतः जीवितमात्र ही रख रही है। यदि अब भी मानव न सँभला, यदि अब भी इसने नारी के बाह्य स्वरूप को ही नारी मानने की भूल प्रक्रान्त रक्खी, तो सभी राष्ट्रों के तथाविध हितशत्रु, तथा वास्तविक शत्रु कालगर्भ में हीं समाविष्ट हो जायँगे।

४०३–स्वैराचारमूलक समानाधिकारव्यामोहन, तद्द्वारा 'सहधर्म्मचारिणी' मानवी का 'सहकामचारिणी' पद पर संस्थापन, तथा कामोपभोगपरायणतामूलक-समानाधिकार का तथ्य–विश्लेषण—

सचमुच सर्वात्मना लज्जित हैं हम अपने जातिबन्धु मानवों के समानाधिकार–व्यामोहन के उन उच्छृङ्खल चरित्रों की गाथा कर्णाकर्णिपरम्परया सुन सुन कर, जिस 'समानाधिकार' का मूल, एकमात्र प्रधान मूल है-मानव की 'स्वैराचारपरायणता'। अपनी इसी अमर्य्यादिता स्वैरिता को नग्नरूप से समालिङ्गित करने के लिए ही इसने–'समानाधिकार' जैसे छल का आश्रय ले लिया है, जिसके माध्यम से आज इसने इस पवित्र-हृदया सर्वशक्तिशालिनी 'सहधर्म्मचारिणी' नारीजाति को 'सहकामचारिणी' जैसे निम्न स्तर पर ही ला खड़ा किया है। और यही है इसके-'समानाधिकार' का जघन्य, किन्तु प्रच्छन्न इतिवृत्त, जो आज तो सर्वात्मना अभिव्यक्त ही होगया है। धार्म्मिक–जीवनपद्धति की उपेक्षा–अवेहलना–तिरस्कार से सर्वप्रथम तो अपने आपको केवल मनःशरीरधर्म्मा कामभोग-परायण बना लेना, तदनन्तर अपनी उद्दामवासनाओं को कार्य्यरूप में परिणत करने की लिप्सा से नारी को भी उसी स्थान पर ला खड़ा कर देना, उसके नारीसुलभ सहजसिद्ध 'निषेध' का बलपूर्वक निरोध करते रहना, उसके न–न करते हुए भी उसे आपणव्यवसायप्रसाधनसाधनवत् एकमात्र अपनी कामभोगपरायणता का सहायक बना डालना, इसी बिन्दु पर 'समानाधिकार' की घोषणा से अपने आपको नारी की सहानुभूति का पात्र प्रमाणित करने की अक्षम्या धृष्टता करते जाना, एवं इसी धृष्टता के बल पर भारतीय पुरातन–नारीजीवन की अवाच्यवाच्या आलोचना के लिए सदा अपने आपको निर्लज्जतापूर्वक सन्नद्ध बनाए रखना, क्या इससे अधिक भी मानव का और भी कुछ भीषण पतन शेष रह गया है?। स्वयं मानव को ही मुकुलितनयन बन कर इस प्रश्न की अपने अन्तर्जगत् में ही, ईश्वरसाक्षीपूर्वक ही मीमांसा कर लेनी है, अविलम्ब कर लेनी है, इसी क्षण कर लेनी है। एवं तदनन्तर ही इसे 'समानाधिकार' का प्रश्न उठाना है।

४०४–मानव के समतुलन में मानवी के सभी मानवीय गुणों की सर्वमूर्द्धन्यता का दिग्दर्शन, एवं प्राकृत विश्व में प्रकृति की सगुणमूर्त्ति मानवी का ही प्राधान्य–

हम पूँछते हैं इस बुद्धिशिरोमणि मानव से कि, उसने किस आधार पर अपने आपको नारी का समानाधिकारी मान लिया?, जबकि सभी क्षेत्रों में मानव नारी की अपेक्षा सर्वथा निर्बल ही प्रमाणित होता आया है। स्नेह-दया-करुणा-ममता-वात्सल्य-श्रद्धा-आतिथ्य-दान आदि आदि मानवतानुबन्धी सभी क्षेत्रों में संसार की सभी जातियों में एकमात्र 'नारी' का ही स्थान मानव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल रहा है, प्रबल

हैं आज भी। जिस धृति-धैर्य्य-गुण की मानव बढ चढ कर बातें करता रहता है, उस धृतिगुण में भी सदा से नारी ही विजय लाभ करती आई है। सुनिश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीवत् मानव को शतांश भी नारी से उत्पीडन उपलब्ध हो जाते, तो सम्भवतः मानवमात्र का उच्छेद ही होजाता, जबकि नृशंस मानव के द्वारा उत्पीडन सहती हुई भी नारीने बडे धैर्य्य से मानव को स्नेहदान से, वात्सल्यदान से अबतक जीवित रक्खा है। कदापि उत्पीडन मानव के लिए कोई धर्म्मपथ नहीं माना गया है। मानव ने अधिकांश में अनिष्ट ही उपाया है अपने इस पापकर्म्म से। लक्ष्य है केवल वह 'धृति' गुण। जिस शारीरिक आग्नेय भाव पर मानव दम्भ करता है, वह भी निस्तेज प्रमाणित हो जाता है नारी के आभ्यन्तर शोणितानुगत आग्नेय तेज के सम्मुख। अब केवल एक दृष्टि से मानव को यह भ्रान्ति है, कि मानो तत्क्षेत्र में मानव ही विजेता हो। स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं की मानसिक-लोकभावुकता के संरक्षण को प्रधान मानने वाली इतिहास की भाषा में पुराणपुरुष ने उस तथ्य के समतुलन में भी मानव को निस्तत्त्व ही प्रमाणित कर दिया है, जिसका समन्वय मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित वचनों के माध्यम से—

स्त्री-रूपे परिणतो भङ्गास्वन उवाच—

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।
तस्मात्ते शक्र ! जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै॥
स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात्कारणाच्छक्र ! स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्॥
रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम !।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप !॥

—म० अनु० 'भङ्गास्वनोपाख्यान' १२ अ०।

४०५–सौरसम्वत्सरानुगत आग्नेय मानव, चान्द्रसम्वत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीत्व, एवं मानवी का मानवत्त्व—

राजस्थान की प्रासङ्गिकी लोकसूक्ति के समन्वय-प्रसङ्ग से मानव, और मानवी के आधिकारिक नहीं, अपितु उत्तरदायित्वपूर्ण निमित्त कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन किया गया। अब पुनः उसी लोकसूक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। मानवसंस्था में भी आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, चारों मानवीय पर्व हैं, एवं मानवी में भी चारों ही पर्व हैं। और इस दृष्टि से दोनों का ही स्वरूप समतुलित है, समान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्वत्सरानुबन्ध से दोनों की इस समानता में विभिन्नता भी समाविष्ट हो रही है, जिसका अर्थ है—**अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधाना मानवी**, जबकि मानव गर्भस्थ शुक्र के सम्बन्ध से सौम्य भी है, एवं मानवी गर्भस्थ शोणित से आग्नेयी भी है। अर्थात् पुरुष को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले चान्द्रसम्वत्सरप्रधान सौम्य स्वरूप का ही नाम मानवी है, एवं स्त्री को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले सौरसम्वत्सरप्रधान आग्नेय स्वरूप का नाम ही मानव है। यों मानव भी मानव-

मानवी-रूप है, तो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूपा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्वत्सरार्द्धचक्राकाश ही मानव है, सम्वत्सरार्द्धचक्राकाश ही मानवी है, दोनों की समन्वितवस्था का नाम ही पूर्ण-कृत्स्न-सम्वत्सरचक्र है, और यही पूर्णताप्रवर्त्तक भारतीय दाम्पत्यजीवस की मौलिक-परिभाषा है, जिसमें अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत नामक तीनों प्राकृत विवर्त्त समाविष्ट हैं।

४०६–आत्मानुगता सौरसम्वत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्वत्सरात्मक मन, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोभावुका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का सौरसम्वत्सराग्नि से ही प्रधान सम्बन्ध है–'धियो यो नः प्रचोदयात्'। एवं मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आधारभूमि भी सौर प्राण ही है–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। यों सौराग्नेय तत्त्व ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि सौर अग्नि ही मानव का मुख्य बाह्य (व्यक्त) स्वरूप है। मानवी क्योंकि सोमप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्वत्सरसोम से ही प्रधान सम्बन्ध है–'चन्द्रमा मनसो जातः–मनश्चन्द्रे ण लीयते'। एवं मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्वत्सर के ब्रह्मौदनरूप पार्थिव सम्वत्सर का ही अंश है। अतएव चान्द्र ऋतुभाव ही पार्थिवाग्नि–माध्यम से शरीर का निर्म्माता बनता है–'चन्द्रमसाद्रेतो-ऋतव आभृतम्'। यों चान्द्र सौम्य तत्त्व ही मन, तथा शरीर, इन दो पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि चान्द्रसौम्यतत्त्व ही मानवी का मुख्य बाह्य (व्यक्त) स्वरूप है। तात्पर्य्य यह निकला कि, मानव के चारों पर्वों में से सौरसम्वत्सराग्निरूप आत्मा, तथा बुद्धि, ये दोनों तो मानव की प्रातिस्विक सम्पत्ति हैं, एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) है। तथैव चान्द्रसम्वत्सरसोमरूप मन, तथा शरीर, ये दोनों तो मानवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, एवं आत्मा, तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) है।

४०७–मानव के मनःशरीरपर्वों की स्वत्वाधिकारिणी भावुका मानवी, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का स्वत्वाधिकारी नैष्ठिक–मानव—

अर्थात् मानव के मनःशरीरपर्वों पर सर्वात्मना मानवी का अधिकार है, तो मानवी के आत्मा-बुद्धि-पर्वों पर मानव का अधिकार है। 'अधिकार' शब्द दोषपूर्ण है, भावुकतापूर्ण है। तत्स्थान में यह कहना नैष्ठिक माना जायगा कि, मानव के मनःशरीरपर्वों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों पर अवलम्बित है, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का संरक्षण मानव के मनःशरीर पर्वों पर अवलम्बित है। सहजभाषानुसार–मानव अपने मन, और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा, तथा बुद्धिपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मनःशरीर) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा, और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन, तथा शरीरपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा–बुद्धि) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यों दोनों अन्योऽन्याश्रितरूपेण एक दूसरे के पूरक बनते हुए दोनों दोनों के रक्षक, तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

४०८—मनःशरीरेण नितान्त भावुक मानव, एवं आत्मना बुद्धया च नितान्त भावुका मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वत. ही ससिद्ध है कि, मानव अपने मन'शरीर से जहाँ भावुक है परावलम्बनता (नारी की अवलम्बनता) के कारण, वहाँ अपने आत्म–बुद्धि–भाव से नैष्ठिक है स्वावलम्बी बनता हुआ। एवमेव अपने आत्मबुद्धिपर्वों से मानवी जहाँ भावुका है परावलम्बनता [मानव की अवलम्बनता] के कारण, वहाँ अपने मन.-शरीर-पर्वों से नैष्ठिकी है स्वावलम्बिनी बनती हुई। अर्थात् मानव अपने आत्म-बुद्धिपर्वों पर मानवी का आक्रमण नही सह सकता, तो मानवी अपने मनःशरीरपर्वों पर मानव के आक्रमण नही सहती। मानव आत्मबुद्धिस्वातन्त्र्य चाहता है, क्योंकि यही मानव का मुख्य स्वरूप है। तो मानवी मन शरीरस्वातन्त्र्य चाहती है, क्योंकि यही मानवी का मुख्य स्वरूप है। अतएव मानव के आत्म-बुद्धिस्वातन्त्र्य को अपने मन शरीरभावों से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों तन्त्रों [आत्म-बुद्धितन्त्रों] की रक्षा का कारण बनती है। अतएव मानवी के मन.शरीरस्वातन्त्र्य को अपने आत्म-बुद्धिभावों से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों तन्त्रों [मन'शरीरतन्त्रों] की रक्षा का कारण बनता है।

४०९—अत्यन्त सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य मानव–मानवी का प्राकृतिक–स्वरूप, अतएव बुद्धि से अतीता तत्कर्त्तव्य–व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र-प्रामाण्यैकशरणता—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म है यह प्राकृतिक समन्वय, जिसका यथावत् समन्वय मानव की प्राकृतबुद्धि [बुद्धि-मानी] कदापि नही करसकती। प्रकृति का यह सुसूक्ष्म समन्वय तो महर्षियों की अप्राकृता दिव्यदृष्टि के ही अलौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है, जिनकी दृष्टि को समझ लेना भी अस्मदादि प्राकृत मानवों की बुद्धि से अतीत ही माना जायगा। अतएव हमारे लिए तो एकमात्र अशरणशरण आदेशात्मक वह कर्त्तव्य ही है, जिसका शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है। कदापि हम अपनी काल्पनिक अनुभूतियों से उन सुसूक्ष्म तत्त्वों के निर्णायक नही बन सकते। अतएव मानव, और मानवी के आधिकारिक, किंवा उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों का अनुगमन ही इनके लिए एकमात्र श्रेय पन्था है–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'।

४१०—मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश-प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण—

हाँ, तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिनिष्ठ है, तो मानवी मन शरीरभावुका है (स्त्रियो हि भावुका ~शतपथब्राह्मण)। अतएव आवश्यक है कि, मानव मनःशरीरानुगत अशनपानादि–कर्मों में आसक्त न बने। तो उधर मानवी मन शरीरप्रसाधनों में ही आसक्त न बने।। भोजनासक्त, आज की भाषा में अहोरात्र चर्वण–भक्षण में ही निमग्न अन्नदास–भोजनदास मानव कदापि आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं रह-सकता। एवमेव अहोरात्र स्नान–उबटन–केशपाशविन्यास-शृङ्गारादि प्रसाधनों में ही रत रहने वाली नारी भी कदापि अपने मानसिक–शारीरिक–उस गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती, जिसके द्वारा ही

मानव के आत्म–बुद्धि–स्वातन्त्र्य की रक्षा हुआ करती है। उधर भोजनासक्त मानव अपनी ही मनःशरीरा–सक्तियों में डूबा हुआ नारी के आत्मबुद्धिभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाता है, तो इधर मानवी अपने मनःशरीरप्रसाधनों–स्नानादि–केशपाशादि व्यासङ्गों में ही संलग्ना रहती हुई मानव के मनःशरीरभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाती है।

४११–शृङ्गारप्रसाधनैकासक्ता मानवी के, तथा आहारादि–भोगासक्त मानव के स्वैराचार से दोनों का ही समान स्वरूप, एवं तत्सम्बन्ध में राजस्थान की एक महत्त्वपूर्णा लोकसूक्ति—

सत्यं चैतत्। जिस घर की कुलदेवियाँ अहोरात्र अपने स्नानादि शृङ्गारप्रसाधनों में ही लग पड़ती हैं, उस घर के कुलपुरुषों की मनःशरीरव्यवस्था भृत्यों के ही आधीन बन जाती है, जहाँ अथ से इति–पर्य्यन्त असन्तोष का ही साम्राज्य बना रहता है। एवमेव जिस घर के कुलपुरुष भोजनपानदास ही बने रहते हैं, वे आत्मबुद्धिस्वरूप–समर्पकक कर्त्तव्यों के लिए समय न निकालते हुए कालान्तर में मनःशरीर-परायण ही बनते हुए निष्ठाबल से वञ्चित ही होजाते हैं। और यों दोनों हीं क्रमशः इस भोजनासक्ति, तथा स्नानाद्यासक्ति से अपनी पारस्परिक–पूरकवृत्ति से पराङ्मुख बनते हुए स्वस्वरूप ही खो बैठते हैं कालान्तर में। इसी तथ्य के आधार पर–**'मोटयार को खाबो, और लुगाई को न्हाबो–दोन्यूं बरोबर'** यह लोकसूक्ति आविष्कृत हो पड़ी है समझ रखने वाले सहज मानवों की उस सहज बुद्धि से, जिसमें अवक्रता–ऋजुता से स्वतः ही प्रकृति के सुगुप्त भी रहस्य सहजरूपेणैव आविर्भूत होते रहते हैं, जिनका बुद्धिमान् मानव प्रयास करके समन्वय भी तो नहीं कर पाते। **'मोटयार को खाबो', मानव की भोजनासक्ति। 'अर–लुगाई को न्हाबो'**,–अर्थात् **'और मानवी की स्नान–शृङ्गार-प्रसाधनाद्यासक्ति'। 'दोन्यूं बरोबर'**, अर्थात् **'भोजनासक्त मानव, तथा स्नानासक्ता मानवी, दोनों का कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता'**, जिस इस शेषता का समन्वय तो 'समझ' से ही सम्बन्ध रखता है।

४१२–बौद्धिक–लौकिक–क्षेत्रों में श्रद्धा का समावेश, अलौकिक–बुद्ध्यतीत–क्षेत्रों में बुद्धि का प्रवेश, एवं क्षेत्रविपर्य्ययात्मिका महती भ्रान्ति से समन्वित भावुक मानव —

तभी तो हमने कहा है कि– **'समझ बिना बुध बापड़ी'**। (देखिए पृ० सं० ५८०)। प्राकृत मानव कहता है कि–**"वह, और यह एक ही तत्त्व है"**, यह बात समझ में नहीं आती, अर्थात् बुद्धि स्वीकार नहीं करती। बुद्धिगम्य नहीं है, यह ठीक है। मानव के लिए बुद्धिगम्य क्या है ?, और क्या नहीं है ?, इस समस्या का भार तो हम उस आज के प्राकृत मानव पर ही छोड़ देते हैं, जो बुद्धिगम्य विषयों में तो परम–श्रद्धालु बना हुआ है, एवं श्रद्धास्पद तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धिमानी को, पाण्डित्य को उलेंड देने के लिए आतुर बना हुआ है। जिस लौकिक–दिग्देशकालात्मक–भौतिक–प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत उपवर्णित–व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिक्षण सतर्कतापूर्वक, आँखें खोलकर बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा-निर्वाह की अपेक्षा-आवश्यकता है, उस व्यावहारिक क्षेत्र में तो हम सर्वात्मना गतानुगतिक, परम्परावादी, अन्धानुकरणवादी बने रहते हैं। एवं

दिग्देशकालातीत, अतएव मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–से भी अतीत अव्यावहारिक–अलौकिक, किन्तु सर्वव्यवहाराधारभूत अनन्ततत्त्व के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिव्यक्त करने लग पड़ते हैं। यों मानव की बुद्धि आज क्षेत्रविचलित होती हुई पशुबुद्धि से भी अर्वाक्कोटि में ही समाविष्ट है।

४१३–पशु की दिग्देशकालनिबन्धना जागरूका व्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में भावुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने व्यावहारिक–प्राकृत–जगत् में तात्कालिक–बुद्धि को अग्रणी बना कर ही, अपने प्राकृत स्वरूप के हानि–लाभ से सतत सतर्क (चौकन्ना) रह कर ही जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अतएव स्वप्रकृत्यनुरूप भोग ही इसके लिए ग्राह्य होते हैं, एवं प्रकृतिविरुद्ध भोग सर्वथा त्याज्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से इस प्राकृत क्षेत्र में सर्वथा ही तटस्थ बनता हुआ, हानि-लाभ का कोई विवेक न करता हुआ परम–श्रद्धालु आस्तिक बनता हुआ ही मानो–देखा देखी–अनुकरण–से सभी कुछ खाने पीने पहनने सुनने–आदि के लिए सन्नद्ध हो पड़ता है। और यों पशुवत् तात्कालिकी परिणामदर्शिता से भी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा जलाञ्जलि ही समर्पित किए रहता है।

४१४–भावुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाण तथाविध भूतासक्त-बहिर्भावुक लोक-मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत सत्तासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इस सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमाण उनका वचन ही, उनकी जीवनपद्धति ही बना रहता है, जिन्होंने अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत भूतों के आधार पर प्राकृत विधि–विधान बना डाले हैं। यों मानव जहाँ एक ओर अलौकिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में अलौकिक क्षेत्रों के द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से अनुप्राणित शास्त्रीय–वचन, एवं तदनुगता आचारपद्धति की अवहेलना करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आतुर हो पड़ता है, और उन शास्त्रीय अलौकिक–क्षेत्रों के लिए जहाँ यह मन्दप्रज्ञ–'परमात्मा ने हमें बुद्धि दी है। हम समझ लेंगे, तभी मानेंगे, तभी करेंगे' इसप्रकार बौद्धिक तर्क खड़ा करता हुआ यत्किञ्चित् भी तो लज्जित नहीं होता। तथैव यही प्रज्ञाशील बुद्धिमान् यों शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विजम्भण खड़ा कर लोकक्षेत्र में अन्धश्रद्धालु की भाँति उन बुद्धिमानों के वचनों का ही, उनकी जीवनपद्धति का ही आँख मींचकर अनुकरण करने लग पड़ता है, और कदापि भूल से भी इन लोक-क्षेत्रों में यह 'बुद्धि'–'तर्क'–'विचार' 'परिणाम' आदि का सस्मरण भी नहीं करता।

४१५–बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकक्षेत्रों में अन्धानुकरण, और तद्द्वारा परिणाम—

अपितु जिसे लोक में 'भेड़ियाधसान' कहा जाता है, जिसे–'अन्धानुकरण' कहा है शास्त्र ने, एवं जिसके आधार पर 'गतानुगतिको लोक – न लोकः पारमार्थिकः' यह न्याय अभिव्यक्त हो पड़ा है, तथाकथित वही इन महान् ? बुद्धिमानों ? का कर्त्तव्यपथ ? बन जाता है। कुछ भी तो जानने की, समझने की, विचारपरामर्श की, सन्मद्विवेक की कोई भी तो आवश्यता अनुभूत नहीं करते ये बुद्धिमान् इन अपने अनुकरणक्षेत्रों में, जो कि अलौकिक कर्त्तव्यों–वचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धितन्त्र को सम्मुख ला खड़ा कर देने में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं करते।

४१६–'समझ' रूपा 'संवित्' के अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (बापड़ी) बुद्धि, एवं--'समझ विना बुध बापड़ी' लोकसूक्ति का समन्वय—

यों मानवने, प्राकृत मानवने इस क्षेत्रभेद का समतुलन खोते हुए अपना 'वह' और 'यह', दोनों हीं अभिभूत कर लिया है। 'यह' अविभूत होगया है बुद्धि की तटस्थता से, तो 'वह' अभिभूत होगया है 'बुद्धि' की सापेक्षता से। सहजभाषानुसार–जहाँ सहजभाव से इसे श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए था, वहाँ तो इसने 'बुद्धि' का भूत खड़ा कर दिया है, एवं जिस लोकक्षेत्र में 'बुद्धि' पूर्वक इसे कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए था–बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर, वहाँ यह सर्वथा जड़भरत–बुद्धिशून्य बन गया है। स्थूलभाषानुसार जहाँ–'बुद्धि' प्रवेश ही नहीं कर सकती, वहाँ तो यह बुद्धिमान्–तर्कवादी बनता जारहा है, एवं जहाँ विना बुद्धिप्रवेश के अनर्थ हो पड़ने की सम्भावना रहती है, वहाँ यह अपनी बुद्धि को जलाञ्जलि समर्पित किए रहता है। परिणाम इस विपर्य्यय का जो हुआ करता है, वही तो हो रहा है आज। और यही 'समझ', तथा 'बुद्धि' का वह महान् अन्तर है, जिसके समन्वय के विना सचमुच ही तो–'समझ विना बुध बापड़ी'।

४१७--'बापड़ी' शब्द के तात्त्विक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकसूक्ति का 'बापड़ी' शब्द बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। परवशता, पारतन्त्र्य, निरीहता, विवशता–आदि हीनभाव ही इस शब्द से अभिव्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व से वञ्चित हो जाती है, वह बुद्धि सचमुच में हीं तो 'बापड़ी', अर्थात् परतन्त्रा बन जाती है। इत्थंभूता विशुद्धा ! बुद्धि को ही तो आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया गया है, जिसके समतुलन में तो मानवेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में कहीं अधिक बुद्धिमान् , अतएव कहीं अधिक स्वतन्त्र हैं। आत्मानुगता सहज बुद्धि से समन्विता स्थितिमूला निष्ठा का नाम है 'आस्था', एवं आत्मानुगत सहज मन से समन्वित स्नेहगुणक सत्यसंग्राहक भाव का नाम है–'श्रद्धा'। आस्था–श्रद्धा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है–'संवित्', और इस संवित् का ही लौकिक नाम है 'समझ', जो बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वानों, वृद्धों में भी नहीं होती, एवं एक साधारण अपठित–ग्रामीण–बालबुद्धि–मानव में भी इस 'संवित्' का अनुग्रह होजाता है। अतएव लोकसूत्र है कि,–"विद्वान् बुद्धिमान् है, अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समझदार है, अतएव वह विद्वान् है"। क्योंकि 'समझ विना बुध बापड़ी'।

४१८–विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समझदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता—

बुद्धिमान् विद्वान् इसलिए मूर्ख है कि, यह अपनी बुद्धि से व्यक्तित्वविमोहन के कारण लोक में काम न लेता हुआ यहाँ तो अन्धश्रद्धालु बना रहता है, एवं अलौकिक क्षेत्र में इस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपठित, किन्तु सहजरूप से ही अपनी परम्परा में आस्था–श्रद्धा रखने वाला मूर्ख भी श्रद्धा से उस अलौकिक ईश्वरभावना से भी समन्वित रहता है, एवं इसी 'समझ' रूपा संवित् से यह अपनी पारम्प-

रिक-लोकपद्धति का अनुगामी बना रहता हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव यह विद्वान् बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह दूसरा लोकसूत्र आविर्भूत होपड़ता है कि-"विद्वान बुद्धिमान् की बुद्धि से लाभ उठा लेजाते हैं अविद्वान्-किन्तु समझदार सहज मानव, जब कि विद्वान् बुद्धिमान् सभी लाभों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोया करता है यावज्जीवन"। क्योंकि-'समझ बिना बुध बापडी'।

४१९-पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एवं भाग्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा 'संवित्' रूपा 'समझ' का संस्मरण—

मूर्ख, किन्तु समझदार जहाँ पुरुषार्थवादी है, अतएव यह आद्यन्त का सुखी है, वहाँ विद्वान, किन्तु बुद्धिमान भाग्यवादी है, अतएव यह आद्यन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है, सन्तुष्ट है अपने प्राकृत-पुरुषार्थ के अनुग्रह से, एवं विद्वान भी बुद्धिमान दुःखी है, असन्तुष्ट है अपने प्राकृत-भाग्यवादानुग्रह से। और निश्चयेन ऐसे विद्वान बुद्धिमान् मानवधुरीणों ने ही अपने बुद्धिवाद के माध्यम से मानव की सहज 'समझ' का तिरस्कार कर ऐसे ऐसे भयावह व्यामोहन खड़े कर लिए हैं, जिन बुद्धिवादात्मक कल्पित-भयों, समस्याओं, विषमताओं से ही सहजरूपेण स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ भी मानव आज अस्वस्थ, तथा अप्रकृतिस्थ ही बन गया है। और यों एक 'समझ' जैसी लोकानीता 'संवित्' का अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं से तिरस्कार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादात्मक महान् पाप से आज सम्पूर्ण मानवता के ही सुख-शान्ति-स्वस्ति-स्वातन्त्र्य को विलुप्त कर दिया है बुद्धिमानी से अनुप्राणिता दिग्-देश-कालातिक्रान्त-युगधर्म्मानुगता घोषणाओं के छल से।

४२०-'समझ' को 'समझलेने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, तदुद्गारों के ठीक ठीक न समझने से 'समझ' की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में--'समझ बिना बुध बापडी'—

एव हि अनुमीयते कि, बुद्धिमान् मानव अवश्य ही 'संवित्' नामक उस अलौकिक 'समझ' को समझने के लिए आतुर हो रहे होंगे, जो सुख-शान्ति की अधिष्ठात्री है। यही तो वह व्यामोहन है, जिसका हम भी सर्वतोभावेन परित्याग कर देना है, एवं इस 'समझ' को 'समझदारी' (बुद्धिमानी) से समझने के लिए आकुल-व्याकुल होने वाले सजातीय, किन्तु बुद्धिमान् मानव-चेष्टाओं को भी परित्याग कर ही देना है। समझने के व्यामोहन का आत्यन्तिक परित्याग ही उस 'समझ' (संवित्) नामक अलौकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्यतम राजपथ है, जो कि-'समझ' नामक तत्त्व ही लोकभाषा में-'समझनेवाला' ('विज्ञाता') कहलाया है। जो 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व स्वयं सबकुछ समझनेवाला है, एवं सब को समझानेवाला (बुद्धिप्रदाता) है, उसे मानव अपनी 'समझ' (बुद्धि) से कैसे समझ लेगा?। इस के लिए तो इसे उस 'समझ' (विज्ञाता) की यत्किञ्चिद्दशरूपा अपनी बुद्धि का दम्भ छोड कर सर्वतोभावेन उस 'नासमझीरूपा समझ' (अविज्ञेय अनन्ततत्त्व) की शरण में ही अपने आपको समर्पित कर देना पडेगा। और यदि बुद्धिमान् यों

अपने बौद्धिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोकधर्म्मों को, अपनी बौद्धिक मान्यताओं को, भावुकतापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वात्मना उस **'समझदेवता' (संविद्देवता)** के अर्पण कर सका, तो निश्चयेन उस 'समझ' को न केवल यह समझ ही लेगा, अपितु फिर तो यह स्वयं ही **'समझ'** बन जायगा, और उस अवस्था में आते ही तो महर्षि गोतमसदृश परीक्षक इस सत्यकाम जैसे 'समझदार' की आकृति को देखते ही कह उठेंगे कि-**'ब्रह्मविदेव सोम्य ! मे प्रतिभासि'** । फिर कदापि इसे न तो इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही बना रहना पड़ेगा, न पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिवादों से सन्त्रस्त ही होना पड़ेगा। अपितु उस अवस्था में तो इस समझ के अनुग्रह से सम्पूर्ण भूतासक्तियों से असंस्पृष्ट रहता हुआ कर्त्तव्यबुद्ध्या इस समझ से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण लौकिक अनुष्ठानों को कौशलपूर्वक व्यवस्थित ही बनाए रहेगा। और यों एकमात्र 'समझ' के स्वतः ही 'ममझ' जाने के अनन्तर इसके अभ्युदय-निःश्रेयस्-स्वतः ही संसिद्ध होते रहेंगे। यदि इसने ऐसा नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिदम्भ में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उस कालातीत समझ को इसने बुद्धि का आधार नही बनाया, तो फिर अन्ततोगत्त्वा हमें एक बार पुनः यही कह देना पड़ेगा कि- **'समझ बिना बुध बापड़ी'** ।

४२१-'समझ' के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारा बौद्धिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समझ' के सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वेद' का उद्घोष—

इस वाग्विजृम्भणात्मक बौद्धिक-व्यामोहन-छल से हम अपने आप को भी सावधान कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस 'समझ' के समझ ने के लिए 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व के प्रति सर्वार्पण (बुद्ध्यर्पण) रूप जो उपाय हमने पूर्व-में बतलाया है, वह भी वस्तुतः बौद्धिक-व्यामोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। हम स्वयं तो क्या समझ गए इस आत्मार्पण से उस 'समझ' को, और दूसरों को क्या समझादिया इस वाक्छलमात्र से 'समझ' का स्वरूप ?। यदि हम अपने आपको **'समझा हुआ'** मान लेते हैं, तो वही बौद्धिक दम्भ। यदि इस से दूसरों को 'समझ' प्रदान कर देने में कुशल मान लेते हैं, तो हमारा आत्यन्तिक पराभव। अतएव मान लीजिए, और हम तो मान ही रहे हैं कि, वह 'समझ' समझने जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं। जो यह कहता है कि मैंने उस 'समझ' (विज्ञाता) को-समझ लिया, जान लिया, पहिचान लिया, विश्वास कीजिए-**न स वेद, न स वेद**। उसने सबकुछ समझ कर भी कुछ भी तो नही समझा।

४२२-वाक्छल से एकान्ततः असंस्पृष्टा सहज धारणा, तदनुप्राणिता 'संवित्' (समझ), एवं हमारी समझ, और उसकी कर्त्तव्यानुष्ठानात्मिका इयत्ता—

स्मरण रखिए! यह वाक्छल नहीं है। अपितु यही तो वस्तुस्थिति है। उस **'समझ'** का तो **'न समझना हीं** उस का **समझ लेना है'**। क्या तात्पर्य्य ?। यही कि-समझने-समझाने, मानने-मनवाने-जैसे बौद्धिक व्यामोहनों, तर्काभासों, युक्तियों, भूतविज्ञानवादों, लोकचातुर्य्यों, आदि आदि से अपने आप को सर्वात्मना असंस्पृष्ट रखते हुए, यह मान कर ही नही, अपितु पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखते हुए कि-'जिन आप्त महर्षियोंने हम प्राकृत मानवों के लिए, हमारे अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए जो धर्म्मसम्मत-कर्त्तव्यकर्म्म निश्चित किया है, वह उन्होंनें 'समझ' के किया हो *, अथवा बिना समझे किया हो, हमें तो आस्था-श्रद्धा-

*-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' । (कणादसूत्र) ।

पूर्वक यावज्जीवन अपनी समझ (बुद्धि), अपना मन, अपनी इन्द्रियाँ, अपना शरीर, इन सब प्राकृत विवर्तों को, एवं सर्वतोभावेन अपने आपको भी उस कर्त्तव्यनिष्ठा में ही केवल कर्त्तव्यबुद्धि से ही समर्पित कर ही देना है। कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान ही हमारी 'समझ' की इयत्ता है। यदि भगवदनुग्रह से यह कर्त्तव्यबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त होगई, तो हम समझ लगे, हमने सबकुछ समझ लिया, जान लिया, पहिचान लिया, एवं प्राप्त कर लिया।

४२३-कर्त्तव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि कर्त्तव्यबुद्धि की समझ नहीं आई हमें, तो फिर कोरी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर देगी ', इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जो समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिभौतिक), पारलौकिक (आधिदैविक) समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर आर्ष्य शास्त्र विमर्शों से स्वयं भी उत्पीड़ित होते रहते हैं, एवं समानधर्म्मा अकर्म्मण्यों को भी उन्निद्र बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर वे सन्तसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे, जो अपनी समझ (बुद्धि) से, अपने गुरु की समझ (कृपा) से सबकुछ समझते हुए अपने भक्तों को अपनी समझ-(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही समझाते रहते हैं कि,-'असारोऽयमसार ' (बच्चा ! सावधान ! ! संसार असार है)। 'जीवनमिदं क्षणभङ्गुरम्' (जीवन दो दिन का भी नहीं, अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदु खी-आगमापायिनौ' (सांसारिक सुख-दु ख-विनश्वर हैं, यों हीं बदलते रहते हैं)। 'अतएव सर्वसम्बन्धत्याग ' सब से सम्बन्ध तोड लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रदाता गुरुभगवान की शरण में ही आजाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।

४२४-स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव दिग्दर्शन—

रही बात हमारी, तो तत्सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, उस 'समझ' के (विज्ञानघन के) एकात्मक प्रतीक के अनन्तकालात्मक महान् कालचक्र के भी अंशतम-प्रत्यंशतम-रूप-चान्द्र-सम्वत्सरचक्र के निःसीम अनुग्रह से समन्वित अपने जन्मदाता सगुण-ब्रह्ममूर्त्ति माता, पिता के चरणों का श्रद्धापूर्वक, किंवा युगधर्म्मानुसार अश्रद्धा-पूर्वक सस्मरण करते हुए उसी प्राजापत्या कर्म्मनिष्ठा का संस्मरण-मात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन व्यतीत कर सके कालपुरुषानुग्रह से, तो यही हमारे लिए पर्य्याप्त होगा। दूसरे शब्दों में-ऋषिशास्त्र पर हमारी गच्छत्-स्खलनरूपा श्रद्धा-सुरक्षित रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवों की कृपा से समुत्पन्ना युगधर्म्मानुगता-विषमा समस्याओं के इस भयावह प्रक्रान्तिकाल में हम यथाकथचित् ऋषिशास्त्र के दर्शन-स्पर्श-मात्र का महद्भाग्य प्राप्त करते रहें, और यों सर्वथा-अव्यवस्थितत्वेनापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करसकें, तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्य्याप्त होगा—

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य-न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥
> —ईशोपनिषत्

४२५-'स एव' लक्षण अनन्तब्रह्म के स्वरूप-सम्बन्ध में सहज-जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक तद्भिन्न 'मानव' एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीतता—

प्रज्ञाशील पाठको को स्मरण होगाकि, प्रतीकात्मक-अंश, तथा अंशीभावों से असंस्पृष्ट कालातीत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकानुगता विप्रतिपत्ति का उत्थापन कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि-'तो क्या उस-'वही'-रूप अनन्तब्रह्म की कोई स्वरूप-परिभाषा नहीं है'। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासु का बहुत ही अधिक आग्रह होता है, तो ऋषिशास्त्र प्रतीकव्यामोहनात्मक सम्पूर्ण दृष्टान्तों को निर्बल प्रमाणित करता हुआ अन्ततोगत्वा एकमात्र 'मानव' को ही उस अनन्तस्वरूपबोध का 'कुछ' मान लेता है। अतएव कहा जासकता है कि, 'जो अनन्तब्रह्म है, वही मानव है, एवं जो मानव है, वही अनन्तब्रह्म है'। इसी दृष्टिबिन्दु पर प्राकृत, किन्तु बुद्धिमान् मानव सहसा कह उठता है कि-'बात समझ में नहीं आरही। हमें तो इस तथ्य को बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा समझाओ'। इसी पर हमें सहजरूप से ही यह निवेदन कर देने की धृष्टता कर देनी पड़ी कि,-'समझ से तो वह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्या समझ से वह समझ में नहीं आसकता। यदि बुद्धि में समझ नहीं है, तो फि' वह बुद्धि सर्वथा असमर्था है उसे समझने में, क्योंकि-'समझ बिना बुध बापड़ी'।

४२६-अनन्तब्रह्म का ही किश्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

ओमित्येत्। जब मानव इस तत्त्वपूर्णा लोकसूक्ति का समन्वय कर लेता है, तो निश्चयेन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाता हैं कि, 'वास्तव में उस में, और मानव में कुछ भी विभेद नहीं है'। सचमुच मानव उसी का 'कुछ' है। 'कुछ' का तात्पर्य्य क्या 'प्रतीक' है ?। नहीं। इस प्रतीक-व्यामोहन के निराकरण के लिए ही तो हमें 'दिग्देशकालमीमांसा' जैसे प्रतीकात्मक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है। बुद्धिमान् मानव चाहता है सबकुछ प्रतीकात्मिका दृष्टान्तविधि से ही समन्वित कर लेना। किसी भी सहज से सहज भी तथ्य को जब भी आप जिस किसी भी मानव के सम्मुख रक्खेगे, तत्काल उसका प्रथम प्रश्न होगा कैसे ? (मस्लन)। अर्थात् 'उदाहरण दे के समझाइए।' इस उदाहरणविधि का नाम ही है-'प्रतीकविधि', एवं स्वयं 'उदाहरण', किंवा दृष्टान्त का नाम ही है-'प्रतीक'।

४२७-प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक बालोपलालनात्मक-श्रौत उदाहरणों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रतीक भी ऐसा होना चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो। अर्थात् जो मानव की बौद्धिक-सीमा में समाविष्ट होसके। अर्थात् बुद्धि जिसे पकड़ सके। अर्थात् प्रतीक होना चाहिए-दिग्-देश-कालात्मक, अर्थात् भौतिक, जिसका कोई न कोई भोगकाल निश्चित हो, जो पूर्वादि दिशाओं से समन्वित हो, साथ ही जो सर्वथा देशप्रदेशात्मक हो, अर्थात् धामच्छद हो, स्थानावरोधी (जगँह रोकने वाला)-स्थूल-मोटा-इन्द्रियगम्य-पदार्थ हो। जैसी यह बालबुद्ध्यनुगता जिज्ञासा है, उदाहरण-दृष्टान्त-प्रतीक-जिज्ञासा है, ऋषिशास्त्रने आरम्भ में वैसे

ही उदाहरण हमके सामने रक्खे भी हैं, जैसाकि-इन्द्र-विरोचनाख्यान में विस्तार से प्रतिपादित है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष, जल में प्रतिबिम्बित पुरुष, चक्षु पटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रज्ञानपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की भावुकतासरलक्षणपद्धति-लक्षणा दार्शनिक-पद्धति के ही सूचक बन रहे हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक है, जबकि सृष्टिविज्ञान के अनुसार इन सभी औपनिषद दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्त्वत 'प्रतिरूपता' से ही सम्बन्ध है, जैसाकि अनुपद में ही निवेदन किया जाने वाला है। और प्रतिरूपविधि से उपनिषत् के वे सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही बने हुए हैं, जिस इस आधिदैविकसर्ग का समन्वय करने में असमर्थ दार्शनिक-प्रज्ञाने सम्भवत. इन औपनिषद प्रतिरूप दृष्टान्तों के आधार पर प्रतीकात्मक-स्थाणुपुरुष-मृगमरीचिका-शशशृङ्ग-वन्ध्यापुत्र-आदि आदि-वैसे भौतिक दृष्टान्त ही मध्यस्थ बना लिए हैं अध्यासवाद के व्यामोहन से, जो कदापि उस अमूर्त्त-अनन्त के न तो प्रतिरूप ही हैं, न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, वे इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अनन्त को बुद्धिगम्य बनाने के लिए आतुर हो पडे थे, एवं दूसरों को भी 'पर' भावानुगता-'दार्शनिकता' के व्यामोहन मे बतलाने के लिए आतुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परानुगता इसी भावुकताने, इसी बुद्धिवादात्मक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक-दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो दिया।

४२८-कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विवर्त्तों का नामसंस्मरण, एवं परम-कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्देशकालात्मक-भौतिक-प्रतीकवाद की पर्य्यवसानभूमि था वह चान्द्रसम्वत्सरकाल, जो अपनी 'वर्ष' मर्य्यादा से गणनकालात्मक बनता हुआ सर्वथा भातिसिद्धकाल ही प्रमाणित है। अतएव तत्त्वत. अपने इस केवल भौतिकरूप से तो न इस काल का ही कोई अस्तित्व, न दिक् का ही, एवं न देशप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्या व्याख्या की वह क्रीडास्थली है, जिस पर दार्शनिक, तथा तदाधारेणैव आविर्भूत-भूतवैज्ञानिक के सम्पूर्ण कालिक-दैशिक आडम्बर नर्त्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपशान्ति के लिए इसी चान्द्रसाम्वत्सरिक-वर्षकालात्मक-मूर्त्तकाल[१] की प्रतीकता के माध्य से शास्त्र ने इस की अपेक्षया महतोमहीयान् पार्थिव सम्वत्सरकाल[२] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् सौरसम्वत्सरकाल[३] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान्-महदक्षररूप पारमेष्ठ्यकाल[४] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् पुण्डीरस्वयम्भूकाल[५] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान अव्यक्त परोरजामूर्त्ति परमाकाशकाल[६] का, एवं तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् अनन्त-अश्वत्थकाल[७] का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रतीकता का पर्य्यवसान किया तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया अनन्तानन्त प्रमाणित उस महान् ...प, कालकालात्मक अनन्तकाल[८] पर, जहाँ पहुँचते पहुँचते तो मानव की कालिक-दैशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही धूलिधूसरित होजाता है। और यहाँ आकर शास्त्रने 'काल स ईयते परमो नु देव' रूप से एकबार पुन बालोपलालन-माध्यम से मानव की प्राकृत-बुद्धि के निःशेषभूत दम्भ को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया इस अनन्तकाल जैसे अनन्तानन्तविवर्त्तों को भी उस कालातीत परम अनन्त का एकांशमात्र-यत्किञ्चिदंशमात्र ही बतलाते हुए। यो यह अन्तिम कालरूप परमकाल एकमात्र बुद्धिव्यामोहन को निःशेष बनाने के लिए ही ऋषिदृष्टि में उस

कालातीत अनन्तब्रह्म का प्रतीकात्मक वैसा सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त बन गया, जिस के समतुलन में वहाँ से (परमकाल से) आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल–(गणनकाल) पर्य्यन्त के प्राकृत–कालिक विश्व में और कोई भी दूसरा अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्तभावात्मक सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं था ।

४२६–बुद्धिपूर्वक समन्वय का महान् आग्रह, तदुपशमनार्थ ही 'दिग्देशकालमीमांसा' का बौद्धिक–विजृम्भण, एवं वस्तुगत्या दिग्देशकालभावों का निस्सारत्व—

बुद्धिगम्या–दिग्देशकालानुगता–भौतिक–व्याख्याओं को ही परमबुद्धिमानी–समझदारी–मानने–मनवाने वाले प्राकृत लोकचतुर मानव, प्रकृतिविमूढ दार्शनिक मस्तिष्क, तथा भूतविमूढ वैज्ञानिक मस्तिक, इन तीनों वर्गों का (जिन का ही आज सम्पूर्ण विश्व में आधिपत्य है) यही महान् व्यामोहन रहता है कि, मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समन्वय बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिए, दिग्देशकालानुगत–क्रमव्यवस्थापूर्वक ही 'वस्तुनिरूपण' होना चाहिए। यही इन तीनों वर्गों की प्रश्नशैली है । एवं इसी क्रमव्यवस्थानुगता, बुद्धिगम्या दिग्देशकालात्मिका उत्तरशैली से यह सन्तुष्ट होता है । जब कि वस्तुतः तथाविधा प्रश्नशैली, एवं तथाविधैव उत्तरशैली, दोनों ही महिमामय विवर्त्त के सम्मुख क्षणमात्र भी अपना अस्तित्व सुरक्षित नहीं रख सकती ।

४३०–दिग्देशकालनिबन्धना बुद्धि के महतोमहीयान् चमत्कारों से प्रभावित प्राकृत मानव का बौद्धिक–व्यामोहन, एवं तन्निग्रहेणैव कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति तन्निरपेक्षता—

किन्तु मानव मानव जो ठहरा, वैसा प्राकृत मानव जो ठहरा, जिसे 'बुद्धि' जैसा वह अमूल्य ! धन ! प्राप्त है, जिसके माध्यम से, इसी बौद्धिक दिग्देशकाल के माध्यम से, तदनुप्राणिता क्रमव्यवस्थासिद्धा भूत–भौतिकी व्यवस्थाओ के माध्यम से उसने बड़े बड़े राज्यतन्त्र–स्थापित कर डाले (प्राकृत–लोकचतुरमानवों नें), बड़े बड़े तत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसात्मक ग्रन्थ लिख डाले (प्राकृत–लोकव्याख्याता दार्शनिक मानवोनें), एवं महतोमहीयान् आश्चर्य्यप्रद भौतिक आविष्कार कर डाले (भौतिक–भूतविज्ञानवादी मानवोंने) । ऐसा सर्व–शक्ति–सामर्थ्य–भूत–परिग्रह–सत्तापद–सम्पन्न बुद्धिमान् मानव क्या बिना सोचे समझे एक अपठित अन्ध श्रद्धालु की भाँति–'शास्त्र कहता है' एतावता ही क्या किसी वैसे तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर लेगा, जिसकी न तो कहीं दिग्देशकालमीमामें ही उपलब्धि हो रही, अतएव न जो समझमें ही आरहा ! ।

४३१–दिग्देशकालविमूढ प्राकृत बुद्धिमान् मानव के बुद्धिदम्भ पर कालातीता आर्ष–प्रज्ञा का प्रचण्ड प्रहार, तद्द्वारा विमोहनोपशान्ति, एवं तदनुग्रहेणैव–'शाधि मां, त्वां प्रपन्नम्' का प्रणतभाव से अनुगमन—

ऐसे ही बुद्धिगर्विष्ठ प्राकृत मानव पर पहिला, और प्रचण्डतम–घोरघोरतम अनन्तकालात्मक वैसा प्रहार होता है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिसके क्षणिक भ्रूविक्षेपमात्र से उक्त त्रिविध मानव महाभागों का सम्पूर्ण प्राकृत विमोहन उपशान्त होजाता है, और यही ऋषिदिष्टा, एवं अत्र निबन्धे श्रद्धा–आस्था–पूर्वक प्रणतभाव से केवल संस्मृता 'दिग्देशकालमीमांसा' का एकमात्र महान् उदर्क है । इस उदर्कबिन्दु पर प्राकृत मानव अपने

जन्मान्तरीय पुण्य से, सर्वोपरि इष्टदेवानुग्रह से यदि स्थिर होजता है एकबार भी, तो अवश्य ही इस की तथाकथिता बुद्धिव्याख्यानुबन्धिनी प्रश्नोत्तरशैली, एवं समझने–समझाने की आतुरता सर्वथा ही उपशान्त ही होजाती है सदा सदा के लिए। एवं यहाँ आकर यह सहज मानव केवल 'मानव' रूप से ही अभिव्यक्त हो पड़ता है, और प्रश्नोत्तरविमर्शों के वारुणपाश से अतिमुक्त ऐसे मानव में हीं 'शुद्धबुद्धि' का उदय होता है। यही शुद्धबुद्धि अर्जुनवत् अपने सम्पूर्ण बौद्धिक–व्यामोहनोंसे उपरत होती हुई अब प्रश्न न कर प्रणतभाव से यही कह कर ऋषिप्रज्ञा के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही तो कर देती है कि—

> कार्पण्यदोषोपहतः स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि-मां, त्वां प्रपन्नम्॥
> —गीता

४३२–दार्शनिक–भाषाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं सहजभाषा–प्रधान मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत्-गीता आदि का सम्मानित- नैष्ठिक–समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत्, तथा गीता, दोनों की भाषा दार्शनिक है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका (ज्ञानविज्ञानात्मिका) सहजभाषा को आधार बनाए बिना उपनिषत्, तथा गीता का सहज समन्वय अन्य प्रयत्न–सहस्रों से भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए–उसी 'प्रतीक' भाव को मध्यस्थ बनादए केवल उक्त गीताभाषा की दृष्टि से। गीता इतिहास की भाषा है, जिस में 'भावुकता' का पदे पदे संरक्षण हुआ है लोकसंग्राहक भगवान के द्वारा, जबकि श्रुतिभाषा (वेदभाषा) में 'भावुकता' का सम्मरण भी निषिद्ध माना गया है। समझनेवाला पात्र है गीता में भावुक, क्षत्रियकुमार अर्जुन। अतएव क्षत्रियोचित दर्प सबकुछ विगलित हो जाने पर भी निःशेष नहीं हुआ अर्जुन का। तभी तो गीतोपदेश के श्रवणानन्तर भी आगे चल कर जयद्रथवध-कर्णवधादि प्रसङ्गों में अनेक बार इस भावुकने धर्म्मव्यतिक्रम कर डाला था, एवं पुनः पुनः भगवान् को ही इस नितान्त भावुक अर्जुन का संरक्षण करते रहना पड़ता था।

४३३–आचारधर्म्मनिष्ठाविरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव की भावुकता—

इसीलिए तो लोकसूक्त है कि–"बुद्धिव्यामुग्ध–व्यक्तित्वविमूढ–भावुक मानव पहिले तो कुछ सुनना–समझना–जानना हीं नहीं चाहता। यदि समझ लेता है, जान लेता है, तो उसे कार्य्यरूप में परिणत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तित्वविमोहनात्मक दम्भ से, किंवा इस भय से कि यदि मैं करने लग पड़ा, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा। यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पड़ा, तो यह कर्त्तव्य चिरस्थायी नहीं बनने पाता।" ऐसी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना, अतएव दिग्विमूढा–देशविमूढा–कालविमूढा यह भावुकता, जिस ने भारतीय सहज भी आस्तिक हिन्दूमानव को विगत तीन सहस्रवर्षों से तो आत्यन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख ही प्रमाणित कर रक्खा है।

४३४–प्रश्न--प्रदर्शनादि भावों से असंस्पृष्ट--नैष्ठिक मानव का आत्मसमर्पण, तदनुबन्धिनी तूष्णींभावानुगता सहज-जिज्ञासा, एवं तद्विपरीत भावुक, किन्तु श्रद्धालु की जिज्ञासा का काल्पालीकृत इतिवृत्त—

आत्मसमर्पण में न तो प्रश्न ही होता, न कोई अन्य प्रदर्शन ही। अपितु यह सब तो यथादेशमूलक 'तूष्णींभाव' से ही सम्बन्ध रखता है। ऋषिभाषानुसार–आर्षपद्धति में कदापि आत्मसमर्पण का ऐसा स्वरूप नहीं है। अपितु तत्र प्रादेशमिता समिधा को प्रतीकरूप से हाथ में लेकर नाम–गोत्र का उच्चारणमात्र कर अन्तेवासी तूष्णींभाव से अभिवादन कर प्रणतमुद्रा से आचार्य्य के सम्मुख ऋजुभाव से खड़ामात्र हो जाता है। न तो कोई प्रश्न, न कोई छटपटाहट, एवं न अश्रुपूर्णाकुलेक्षणता। ऐसी किसी भी भावुकतापूर्णा शिथिल-वृत्ति का वास्तविक-जिज्ञासा के क्षेत्र में कोई भी सम्बन्ध नहीं है (देखिए छां० उप०)। इधर अर्जुन महाभाग अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश में आकर इस रूप से जिज्ञासा कर रहे हैं कि–'**मेरी बुद्धि नष्ट होगई है। मैं आपसे पूँछता हूँ। मैं धर्म्मसम्मूढचेता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे मार्ग वतलाइए! मैं आपकी शरण में हूँ**"। जैसी भावुकतापूर्णा जिज्ञासा, वैसा ही समाधान, और उसका वैसा ही परिणाम। तभी तो सबकुछ समझ कर भी तो अर्जुन की स्खलनपरम्परा उपशान्त न होसकी सर्वात्मना। इसीलिए तो गीता विधिशास्त्र नहीं है आर्षमानव के लिए। अपितु यह तो लोकसंग्राहक-भावुकतासंरक्षक-कर्म्मकौशलशास्त्र-मात्र ही है। तभी तो कर्त्तव्यविधि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान्–'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' रूप से इस महान् उत्तरदायित्व का सम्बन्ध गीता से न मानकर श्रुति–स्मृति-पुराण–शास्त्र से ही मान रहे हैं।

४३५–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त मानव में सहज ब्रह्म-जिज्ञासा का आविर्भाव, एवं तज्जिज्ञासा का धर्म्माचरण पर विश्राम—

तदित्थं–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त बने हुए सहज मानव में हीं '**जिज्ञासा**' का उदय होता है, जिसका–'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। और इस सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा से ही समित्पाणी जिज्ञासु अन्तेवासी मानव अब यहीं से उस '**समझ**' की दीक्षा का अधिकारी बनता है, जिससे बुद्धिव्यामोहनावस्था-पर्य्यन्त तो यह वञ्चित ही प्रमाणित हो रहा था। इस ब्रह्मजिज्ञासा का, और धर्म्माचरण का उपक्रम एक साथ ही हो जाता है आचार्य्यकुल में इस अन्तेवासी का। ध्यान रहे, धर्म्म की जिज्ञासा नहीं होती। **धर्म्म का होता है आचरण, एवं ब्रह्म की होती है जिज्ञासा।**

४३६–जिज्ञासात्मक ब्रह्म, एवं आचरणात्मक धर्म्म, भावुकता के निग्रह से दोनों क्षेत्रों का विपर्य्यय, तथा तन्निबन्धन ब्रह्माचरण-व्यामोहन, और धर्म्मप्रचारव्यामोहन—

ब्रह्म का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध है, तो धर्म्म का आचरण से (विधि–कर्त्तव्य से) ही सम्बन्ध है *। दुर्भाग्यवश जब दोनो का क्षेत्र बदल जाता है, तो दोनो ही लक्ष्य मानव से अन्तम्मुख हो जाते

---

*–**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः**। (पूर्वमीमांसासूत्र)

हैं। मानवबुद्धि जब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की घोषणा, एवं धर्म्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की घोषणा करने लग पड़ती है, तो दोनों ही पराङ्मुख बन जाते हैं मानव से। ब्रह्म कभी आचार में नहीं आता, तो धर्म्म कभी प्रचार में नहीं आता ब्रह्म अनुशीलनात्मिका जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है, तो धर्म्म आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है। जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एवं आचारात्मक प्रश्न का धर्म्म से ही सम्बन्ध है। ब्रह्माचारव्यामोहनानुगत धर्म्मप्रचार-व्यामोहन ने ही एक ओर जहाँ धर्म्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहाँ दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होगया है। ब्रह्मविचारसारपरमा भगवती शारदा की उपासना से पराङ्मुखा मानव की प्राकृतबुद्धि आज धर्म्म पर तो 'विचार' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एवं ब्रह्म पर आचारात्मक 'साक्षात्कार' का प्रयोग करने लग पड़ी है। ज्योतिर्दर्शनव्यामोहनात्मक कल्पित आचार ही आज के ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मदर्शन (ईश्वरदर्शन) बन रहा है। ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-परायण प्राकृत मानव ही धर्म्म-प्रचारमात्र के लिए आतुर बने रहते हैं। धर्म्मप्रचार के 'व्याज' ('छल') से ये अपनी अनुभूतियाँ, अपने ब्रह्मसाक्षात्कारों से ही भावुक जनता को उन्मुग्ध बनाते रहते हैं, जबकि धर्म्मप्रचार की एकमात्र आधारभूमि मानी गई है–'धर्म्माचरण', 'कर्त्तव्याचरण'।

४३७–अभिनिवेशनिवारक धर्म्माचरण, तत एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्म्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्म्माचरण ही वह महान् माध्यम है, जिसके द्वारा मानवबुद्धि का व्यक्तित्वविमोहनात्मक अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) हटा करता है। इस अभिनिवेश के हटने से ही मानव में ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है, जिस जिज्ञासा के उत्तर में इसे उत्तरोत्तर आचारनिष्ठा में ही प्रवृत्त कराते हैं ऋषिमानव। जिज्ञासा का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता। सत्यकाम जाते हैं ब्रह्मजिज्ञासा लेकर महर्षि गोतम के समीप। उत्तर मिलता है गोसेवारूप प्राथमिक उस धर्म्माचरण के रूप में, जो गोपशु और वेदतत्त्वात्मक गोप्राण का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोषों, अभिनिवेशों का परिमार्जक माना गया है। इसी से तो सत्यकाम को कालान्तर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होजाती है, जिससे स्वतः ही सत्यकाम की ब्रह्मजिज्ञासा उपशान्त हो जाती है, एवं पुनरावर्त्तन पर ऋषि को कहना पड़ता है कि–'ब्रह्मविद इव सोम्य ! ते मुखं भाति' (छां०उप० ४।१४।२) स्पष्टतमरूपेण आचार की सीमा में ही ब्रह्मजिज्ञासा का सफल समाधान सुरक्षित है।

४३८–ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असंस्पृष्ट अवतारपुरुषों का धर्म्मात्मक-कर्त्तव्याचार-संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अतएव भारतराष्ट्र के ब्रह्मरूप अवतारपुरुषों तक ने यावज्जीवन धार्म्मिक–कर्त्तव्याचारों का ही स्वयं भी अनुगमन किया है, एवं अपने उपदेशों से तत्कालीन समाज का भी उद्बोधन कराया है। ब्रह्मजिज्ञासा के उपशम के लिए भगवान् कभी करुणा करके अवतार नहीं लिया करते। अपितु भगवान् के अवतार का

एकमात्र मुख्य उद्देश्य है धर्म्माचारसंस्थापन *। अतएव अनन्तब्रह्म की जिज्ञासा के समाधान का, तथा अनन्तब्रह्म के महिमामय प्राकृतिक विश्व के सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का, दोनों का मूलबीज धर्म्माचरण में हीं सुरक्षित है–'तस्माद्धर्म्मात् परं नास्ति'। (शतपथ ब्रा० १४।४।२।२६।)।

४३९–ब्रह्मानुगत अभ्युदय–निःश्रेयस्–भावों की सिद्धि का अन्यतम द्वार धर्म्माचरण, एवं तद्द्वारा ही अनन्तब्रह्म, और अनन्त मानव की अभिन्नता का स्वरूप-बोधोदय—

अनन्तब्रह्मानुगत निःश्रेयस्, एवं विश्वानुगत अभ्युदय, दोनों की सिद्धि धर्म्म पर ही अवलम्बित है–'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः-स धर्म्मः' (कणादसूत्र)। और ऐसे धर्म्मानुशीलनपरायण-धर्म्माचारनिष्ठ-सहज मानव की बुद्धि में हीं 'संविद्' रूपा वह 'समझ' स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती है 'हैमवती उमा' भगवती के अनुग्रह से ÷, जिस समझ के उदित होजाने पर अवश्य ही इसकी समझ में (बुद्धि में) यह बात भी आजती है कि–'जो वह अनन्तब्रह्म है, वही यह मानव है, एवं जो यह मानव है, वही वह अनन्तब्रह्म है'। और यों अन्ततोगत्त्वा यहाँ आकर यच्चयावत् प्रतीकवाद अन्तर्लीन हो जाते हैं, एवं स्वयं मानव ही उस अनन्तब्रह्म का 'किञ्चित्' ('कुछ') बन जाता है। ऐसी अवस्था में तो अब अनन्तकाल की प्रतीकता का भी कोई अर्थ शेष नहीं रह जाता।

४४०–स्वस्वरूपबोधात्मिका 'संवित्', तदनुग्रहप्राप्तिमूलक धर्म्माचरण, एवं स्वतः आविर्भूता पारिभाषिकी 'समझ'—

"'समझ' की 'समझ' को समझने के लिए सर्वप्रथम 'समझ' का स्वरूप ही समझ लेना अनिवार्य्य माना है समझदारोंने"। यदि समझदार (बुद्धिमान्) मानव इस लोकसूत्र का समन्वय कर लेता है, तो फिर इसकी–'समझ में नहीं आता' यह व्यामुग्धा निषेधभाषा सर्वात्मना समाप्त होजाती है। 'समझ' को लौकिक समझदार कहता है–'बुद्धि'। इस बुद्धिरूप लौकिक समझ की जो 'समझ' है, उसीका नाम है–'संवित्'। समझ की (बुद्धि की) इस 'समझ' (संवित्) को समझने के लिए मानव को 'समझ' का (अर्थात् अपनी बुद्धि का) ही स्वरूप समझ लेना पड़ेगा, जान लेना पड़ेगा। सचमुच यदि मानव अपनी इस समझरूपा बुद्धि का स्वरूप, अनन्तकालचक्रानुगता महिमा के समतुलन में इस अपनी बुद्धि की इयत्ता–परिमाण–जान लेता है, तो इसका बुद्धिव्यामोहन स्वतः ही समाप्त हो जाता है। और तत्क्षण ही समझ में (बुद्धि में) न आने वाली समझ (संवित्) भी इसकी समझ में (बुद्धि में) बिना किसी प्रयास के स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ती है।

---

* यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
—गीता

÷ देखिए! केनोपनिषत् ४।१।

४४१–स्वस्वरूपबोध की इयत्ता से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं तद्वञ्चित प्राकृत मानव की प्रकृति–पुरुष–स्वरूप-विमूढता—

"स्वस्वरूप का बोध ही इसे उस स्वरूप का बोध करा देता है, जोकि वही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है" इस सूत्र का भी वही अर्थ है, जो पूर्व सूत्र का है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-दृष्ट्या 'स्वस्वरूप' है, और उसी का नाम है 'प्राकृतस्वरूप'। दुर्भाग्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि, यह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अवस्थित अप्राकृत स्वरूप की बात अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। सचमुच महतोमहीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमहीयान् उस प्राकृत स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, जिसका चिन्तन, और समन्वय इसकी प्राकृत-बुद्धि से ही सम्भव माना है शास्त्र ने।

४४२–प्रकृति की ६ ठी वैकारिकपरम्परम्परा से अनुप्राणित जडभूतों के प्रति प्रकृतित्व-व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसके भीषण परिणाम—

इसने तो अपने आपको इस सीमापर्य्यन्त छोटा कर लिया है, जिसके सम्बन्ध में कोई भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के विकारभूत प्रकृतिविकृतिभाव, तद्विकारभूत वैकारिकभाव, तत्पञ्चीकरणात्मक स्थूलमहाभूतभाव, एवं तत्पञ्चीकरणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक पदार्थ, इस सम्पूर्ण प्राकृत-परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आज पर्य्यन्त के सर्वथा वैकारिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पदार्थों को ही दुर्भाग्यवश 'प्रकृति' मान लिया है, एवं इनकी व्याख्या में ही अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और इस सीमापर्य्यन्त समाप्त कर दी है, जिस सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है, जानकर इन बुद्धिगम्य-भयो से यथाकाल अपना परित्राण कर लेती है, जबकि मानव अपने पशुसमतुलित इन बुद्धिगम्यभावों से उत्पन्न भयों से भी अपना त्राण नहीं कर पाता। इससे अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का, सर्वोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का, एवं तदनुप्राणित कल्पित व्यक्तित्व-विमोहन का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा?। इसीलिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता, तो तद्द्वारा भी इसे अपने अकल्पित अप्राकृत स्वरूप का तो बोध हो ही सकता था।

४४३–स्व प्राकृत, और पौरुष–स्वरूप से सर्वथा पराङ्मुख प्राकृत मानव के लिए अविज्ञाता सौर हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तत्त्वतः स्थूलभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराङ्मुख मानव की सर्वविस्मृति—

किन्तु?। इस किन्तु, परन्तु, नच, नुच में ही यह अपनी बुद्धि को आलोडित–विलोडित करता रहा। भौतिक रूपों की व्याख्या–समन्वयों में तो यह अहोरात्र प्राणपण से जुटा रहा। किन्तु स्वयं 'वह' क्या है?, इस अपने प्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इसने अपनी बुद्धि से क्षणमात्र भी कभी विचार भी नहीं किया *।

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। (ऋक्सं० १। १६४।३७)।

अधिक से अधिक विचार किया भी, तो अपने इस प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान इसने अपने 'मन' पर ही कर लिया। बुरा तो लगेगा प्राकृत मानव को। किन्तु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, इसने हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण की अंशभूता 'बुद्धि' का÷ भी स्वरूप समन्वित नहीं किया, जिस इस बुद्धि पर ही इसका सम्पूर्ण दर्प प्रतिष्ठित है। जिस मानसिक अनुभूति का आधार **चान्द्र मन** है, जिसमें **प्रज्ञा, और प्राण** नामक दो तत्त्व समन्वित हुए हैं, उस मन के इस चान्द्र साम्वत्सरिक स्वरूप का भी यह समन्वय न करसका। और तो और, सर्वान्त के पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के आधारभूत पार्थिव-गायत्र-अग्नि के मर्त्य–चित्याग्निरूप को, तथा अमृत--चिते--निधेयाग्निरूप को भी प्रकृतिसिद्ध चितिक्रम से यह समन्वित न करसका। यों इसने **वैकारिक शरीर, विकारात्मक मन,** विकृति-प्रकृतिरूपा बुद्धि, इन स्थूल पर्वों का भी तो स्वरूपबोध प्राप्त नहीं किया। अपितु केवल अपनी मानसिक अनुभूति का ही नाम, स्पन्दनविशेषात्मिका सूक्ष्मक्रिया-विशेष का ही नाम इसने **'माइण्ड'** रख लिया, इसे ही इसने **'मन'** मान लिया, और यही इसकी बुद्धि की विश्रामभूमि बन गया। ऐसे कल्पित बुद्धिभाव से आविर्भूत कल्पित बुद्धिवाद को आधार बना कर ही इसने अपना अनन्तस्वरूप सर्वात्मना विस्मृत ही तो कर दिया।

४४४ दिग्देशकालभ्रान्त-विस्मृतिपरायण–मानव की कल्पना से आविर्भूता प्रश्नावली, तत्काल्पनिक समाधान, एवं तद्द्वारा इसकी काल्पनिक--तुष्टि—

और इसी विस्मृति को आधार मान कर इसने वैसे वैसे कल्पित प्रश्न खड़े कर लिए कल्पना के माध्यम से ही, जिन्हें यह बुद्धिगम्य प्रश्न मान बैठा, एवं इनके बुद्धिगम्य उत्तर की ही लालसा जागरूक हो पड़ी, जिस इत्थंभूत बुद्धिगम्य प्रश्न का एकमात्र उत्तर इसके बुद्धिगम्य प्रश्न से भी कही भयानक बुद्धिगम्य-प्रश्न ही होसकता है। और आश्चर्य्य है कि, उस प्रश्न को ही यह उत्तर मान कर सन्तुष्ट हो जाता है, मानो इसे इस भारान्वित प्रश्न से ही अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान मिल गया हो।

४४५–प्राकृतशैली से अनुप्राणित–'प्रश्न का उत्तर प्रश्न', तद्द्वारा भावुक मानव के विमोहन का प्रयास, एवं उसका सम्भावित उद्बोधन—

इसी शैली को ही 'प्राकृतशैली' कहा गया है, जिसका अर्थ है–**'प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न ही'**। क्योंकि बिना इस शैली के बुद्धि का अजीर्ण उपशान्त ही नहीं होता। प्रकृतिनिबन्धन, अतएव कार्य्य–कारणात्मक, अतएव च बुद्धिगम्य इत्थंभूत प्रश्नों के उत्तर वैसे प्रश्न ही तो होंगे, जो प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न को ही अधिक विस्तृत कर उसके बुद्धिव्यामोहन को और भी अधिक व्यामोहन में डाल देने की क्षमता रखते हैं। और इस बड़े बुद्धिव्यामोहनात्मक बड़े प्रश्न से ही जब छोटे प्रश्न करने वाले की बुद्धि थक जाती है, तो इस थकान को ही मान लेता है वह अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान।

÷ हिरण्यगर्भो भगवान् (सूर्य्यः) 'बुद्धि'–रिति स्मृतः।
—महाभारत शा० मो० ३०२ अ०।

४४६–सेर का सवासेर से, बताशे का पन्सेरी से परिमाण–समतुलन, एवं तत्समतुलित उत्तर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

सहज–भाषा में यों कह लीजिए कि, वणिक्तन्त्र में सेर को जब सवासेर से तौल दिया जाता है तो तुलवाने वाले की 'सेर' की निष्ठा दृढमूल बन जाती है। उदाहरण तो यहाँतक मिलता है लोक में कि–' बताशे को चतुर वणिक् पन्सेरी से तौलकर दिखला देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में बताशा पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है।" सचमुच इस उपाय के अतिरिक्त प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् के प्रश्न का और कोई भी तो उत्तर नहीं हो सकता, जो उत्तर एक महान् प्रश्न के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७–असमाधेय प्रश्नात्मक 'सम्प्रश्न' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरञ्जन, एवं सम्प्रश्नशैली का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्योंकि उस बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझाया जाय कि, श्रीमन्! वह तत्त्व कार्य्यकारणातीत बनता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिर्भूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्य्यकारणात्मक प्रश्न ही खड़े होसकते, न कार्य्यकारणात्मक उत्तर ही होसकते। किन्तु प्रश्नकर्त्ता प्राकृत–बुद्धिमान् मानव उत्तर के बिना क्यांकि सन्तुष्ट ही नहीं होता। अतएव उस के सम्मुख विवश बनकर तटस्थ मानव को एक और बड़ा प्रश्न ही खड़ा कर देना पड़ता है, दुरधिगम्य महान् प्रश्नात्मक जो उत्तर ही वैदिक–परिभाषा में 'सम्प्रश्न' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन रहा है–'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद' (अरे ! तुम हम से सृष्टि के कार्य्यकारण–सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। भला हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्रश्नों का। हम ही नहीं, इस सम्पूर्ण विश्व का जो परमाकाशात्मक कोई अध्यक्ष (अव्यक्तप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे–यह भी तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान करसकता है, अथवा नहीं, अत्रापि सन्देह'। प्रतारणापूर्वक उद्बोधन की ऐसी विशिष्ट शैली, हम समझते हैं, विश्व के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकती। अब यह प्रश्नकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न से अधिक बुद्धिव्यामोहन में इसलिए आजाय कि–'देखा कैसा प्रश्न किया है। मान गए न अब तो उत्तरदाता भी हमारा इत्यादि'। और यों अपने इस अधिक-व्यामोहन में ही प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् समाप्त हो जाता है। यदि सम्प्रश्न के द्वारा ऋजुतानुग्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है, तो इसी सम्प्रश्न के द्वारा प्रश्नकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहन उसी क्षण उपशान्त हो जाता है, एवं वही सम्प्रश्न इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। 'किमावरीव कुह कस्य शर्म्मन्नम्भ किमासीद्गहनं गभीरम्'-'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'-'कस्मै देवाय हविषा विधेम'–'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस॰' इत्यादि श्रुतियाँ इस * सम्प्रश्नशैली के माध्यम से

* यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्सं॰ १०।८२।३।

ही प्राकृत बुद्धिमान् मानवों को इनके सम्मुख महान् प्रश्न खड़े कर परोक्षरूपेण उद्बोधन ही प्रदान कर रही है।

४४८–वेदशास्त्र के सम्पूर्ण प्राकृत उत्तरों की रहस्यपूर्णा सम्प्रश्नात्मकता, एवं तदनुगत-'न तं विदाथ य इमा जजान' लक्षण महान् उद्बोधनसूत्र—

निश्चय ही वेदशास्त्र के सम्पूर्ण उत्तर सम्प्रश्नात्मक ही बने हुए हैं, यह हमें इस तथ्य से विदित हो जाता है कि, सम्पूर्ण प्राकृत प्रश्नों का आधिदैविक–प्राकृत–सर्ग–विज्ञान के माध्यम से सर्वात्मना समाधान करने वाला भी वही वेदशास्त्र उस अप्राकृत–अनन्तब्रह्मात्मक–कालातीत–कार्य्यकारणातीत–स्वतः प्रमाणित, स्वतः संसिद्ध उत्तर के सम्बन्ध में अपनी इन विज्ञानात्मिका प्राकृत-व्याख्याओं का विमोहन उपशान्त ही कर देता है, जिस शान्तिसूत्र से तो सचमुच ही मानव का बुध्दिदम्भ एकान्ततः ही विगलित हो जाता है। और उस महान् सूत्र का अविकलरूप है यह कि—

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

—ऋक्सं० १०।८२।७।

४४९–सम्प्रश्नात्मक उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तत्समतुलित औपनिषद्-मन्त्र का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

यह उसी ऋग्वेद का महान् सूत्र है, जो भारतीय ज्ञानविज्ञान का, तन्मूलक सम्पूर्ण सृष्टिरहस्यों का महान् कोश है, जिसने सम्पूर्ण प्राकृतिक रहस्यों के उक्थों (मूलकारणों) का विस्तार से विश्लेषण किया है। वही ऋग्वेद स्वयं ही आज उन्हीं उक्थों, तथा उक्थशासों को उस प्रकृत्यतीत अनन्त के समतुलन में उद्बोधन प्रदान कर रहा है। ऋषि कहते हैं स्वयं अपने को ही परोक्षरूप से युष्मच्छब्दरूपेण लक्ष्य बना कर कि–'तुम लोग सर्वथा यह नहीं जानते कि, जिसने यह सबकुछ उत्पन्न किया है'–'न तं विदाथ–य इमा जजान'। 'तुम्हारे अन्तर्जगत्, में–बौद्धिक जगत् में जो ज्ञानात्मक विजृम्भण बैठा हुआ है, वह कुछ और ही है। अर्थात् जैसा तुमने अपनी इन बुद्धिगम्या व्याख्याओं से उसे समझ रक्खा है, तुम्हारे समझे हुए से वह कुछ पृथक् ही है। अर्थात् वह है कुछ और, एवं समझ रक्खा है तुमने कुछ और ही'– 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव'। अब ऋषि परोक्षरूपेण ऐसे कारणतावादियों की (अर्थात् स्वयं अपने आप की ही) आलोचना करते हुए आगे चल कर कहते हैं कि,–'जिसप्रकार नीहारिका से, घनीभूत 'कोहरे' से चारों ओर से आच्छन्न–(ढँका हुआ) एक व्यक्ति सब को स्पष्टतम-सीधा–मार्ग बतलाने की भ्रान्ति करता रहता है, ठीक उसीप्रकार प्राकृत–व्याख्यारूप–कार्य्यकारणविश्लेषणात्मक महतोमहीयान् नीहार से (कोहरे से) चारों ओर से आवृत-(ढँके हुए), साथ ही अत्यन्त स्पष्टरूप से, निर्णायकरूप से–'यह ऐसा ही है, इसी प्रकार अमुक कारण से अमुक कार्य्य अमुक प्रकार से यों ही बना है, बनता है,

बनता रहेगा (धाता यथापूर्वमकल्पयत्), इसप्रकार की व्यक्ता वाणी में जल्पन * करते हुए, किंवा बार बार अपने कार्य्यकारणात्मक सृष्टिविज्ञानों का व्याख्यानरूप जल्पन करते हुए — ऐसे उक्थशास विचर रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्थ' है, जिसके आधार पर ही खण्डात्मिका उक्थविद्याएँ, एवं इन सम्पूर्ण-विद्याओं की मूलभूता 'महदुक्थविद्या' प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विद्याओं की विस्तार से व्याख्या करने वाले ही 'उक्थशास' (कार्य्यकारणविश्लेषक)। कहलाए हैं। और हाँ, कैसे हैं ये जल्प्या उक्थशास ? । 'असुतृप'। अपनी इन व्याख्याओं से ये स्वयं अपने आपको, अपने प्राणों को सर्वात्मना तृप्त मान लेते हैं। सन्तुष्ट हो जाते हैं अपनी इन व्याख्याओं से, एवं दूसरों को भी सन्तुष्ट मान लेने की भ्रान्ति करते रहते हैं-'नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति'। हम समझते हैं—प्राकृत-व्याख्यात्मक बुद्धिव्यामोहन का स्वयं अपने ही मुख से इसप्रकार निराकरण कर देना, अपनी उक्थविद्या के सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों को यों श्रुभाषा से उस अनन्त में समर्पित कर देना प्राकृत मानव का तो काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है, सचमुच वही 'अप्राकृत ऋषिमानव' है। और अवश्य ही ऐसा ऋषिमानव ही उस अनन्त से अभिन्न बनता हुआ उसका 'कुछ' माना जा सकता है। इसी तथ्य को उपनिषत्ने अपनी दार्शनिकी आकाशपृणा व्यक्ता भाषा में यों अभिव्यक्त किया है कि—

> अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
>
> —कठोपनिषत

४५०—दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्प्रश्न के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिणामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एवं तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

दिग्देशकालमीमांसात्मक प्रस्तुत विस्तृत सन्दर्भ से हमने स्वयं अपने प्राकृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासाभास किया है। इस महान् सम्प्रश्न से हमने अपने प्राकृत-बुद्धिव्यामोहन को और अधिक व्यामोहन से ही समन्वित किया है। क्योंकि अपने प्राकृत भार की अपेक्षा इस कालभार से दबे रहना ही हमारे उद्बोधन का किसी न किसी जन्म में तो कारण बन ही जायगा, निश्चयेन बन ही जायगा सम्प्रश्नात्मक अनन्तकालात्मक महाकाल की × माता महाकाली के सहज अनुग्रह से। अभीप्सित नहीं है हमें कालातीत

---

* जप-जल्प-व्यक्तायां वाचि ।

— 'वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि-श्रेयसाधिगमः। (न्यायसूत्र १।१।)

×—त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि-भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

स्वरूप। अपितु हमारे लिए तो कालातीत तत्त्व वह महाकाली जगन्माता जगदम्बा ही है, जिसके बिना न तो महाकाल का महाकालत्त्व ही सुरक्षित रह सकता, न कालातीत अनन्तब्रह्म महिमारूप से अपने आपको 'सर्व-व्यापक' उपाधि से ही समलङ्कृत कर सकता। अतएव हम तो इस 'प्राकृतस्वरूप' को ही अपना (मानव का) स्वरूप मानेंगे। एवं इसी को आधार बना कर पुनः उसी पूर्वसूत्र को दोहरा देंगे कि–'स्वस्वरूप का–(प्राकृतस्वरूप का) बोध ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप का (मायातीत अनन्त ब्रह्म का) बोध करा देता है, जो कि वह स्वरूप (अनन्तब्रह्मरूप) ही इसका (प्राकृत मानव का) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तब्रह्मात्मक) स्वरूप है"। स्वयं अवतारपुरुषोंने भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (सुकृतिनः ÷—इति यावत्)

—गीता ७।१४।

४५१–प्राकृत बुद्धि के द्वारा परिगृहीत दिक्-देश-काल-भावों की वास्तविक–अनन्तता से बुद्धि का पार्थक्य—

बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा मानव उसे समझना चाहता था। उसके समझने के लिए मानव ने जितने भी प्रश्न किए थे, वे सब अवश्य ही बुद्धिगम्य प्रश्न थे। अतएव मानव के इन दिग्देशकालानुबन्धी–क्रमव्यवस्थासिद्ध, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बुद्धिगम्य प्रश्नों का शास्त्र ने समादर किया, एवं समादरभाव की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या व्याख्या से ही अनुप्राणित दिक्-देश–काल-भावों का स्वरूप उपस्थित किया गया, जिस इस स्वरूप के माध्यम से अवश्य ही इसकी बुद्धि ने यह स्वीकार कर लिया कि, काल का जैसा गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धिने समझ रक्खा था, वस्तुतः इसके समझे–समझाए हुए दिक्–देश–काल–की अपेक्षा काल–दिग्–देश कहीं अनन्त हैं। और वह अनन्त ऐसा अनन्त है, जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिग्राह्य नहीं है।

निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा॥२॥
महामायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना॥३॥

—तन्त्रशास्त्रे

÷—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (गीता)

४५२–बुद्धि के द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक-प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकालत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिन्नता—

बुद्धि तन्मयरूप से समझ लेती है उस अनन्तकाल को। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समझे हुए सान्तात्मक दिग्-देश-काल का ग्रहण कर इस पर अपने आचारात्मक प्रयोग कर डालती है, वैसे समझे हुए भी उस अनन्तकाल-दिग्-देश-पर बुद्धि अपना आचारात्मक प्रयोग नहीं करसकती। साथ ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित दिग्-देश-कालों के माध्यम से इस के भौतिक-व्यक्त-मूर्त-प्रयोगात्मक आचार क्रमव्यवस्थापूर्वक व्यवस्थित हैं, क्रमव्यवस्थात्मक, प्रयोगाचारात्मक यह दिग्देशकाल वस्तुतः उस अनन्तकाल-दिग्देश के समतुलन में सर्वथा ही यत्किञ्चिदंश ही है, एवं वही इस का आधार है, किंवा वही अपने यत्किञ्चिदंश से यह बन रहा है। और अंशीरूप वही अंश इस का सर्वस्व स्वरूप है। अतएव वह काल, और यह काल अभिन्न है। वही काल यह काल है, किंवा यही काल वह काल है। किंवा 'वही,' और 'यही' में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य, बुद्धिव्याख्या-सापेक्ष, बौद्धिक आचार-प्रयोगात्मक इस सादिसान्त दिग्देशकाल में, तथा बुद्धिगम्य, बुद्धिव्याख्या-सापेक्ष, किन्तु बौद्धिक प्रयोगाचारों से एकान्त असंस्पृष्ट उस अनाद्यनन्त कालदिग्देश में अन्ततोगत्वा कोई भी मौलिक भेद नहीं है। और सच-मुच यों अपने इस बौद्धिक-बुद्धिगम्य-प्राकृत-कालात्मक-स्वरूप से ही सादिसान्त कालात्मक भी प्राकृत मानव इस थोड़े से अन्तर से, सामान्य से विवेक से ही कैसा अनन्त बन जाता है, कैसा महिमामय बन जाता है, यह जान-कर इस की सादिसान्ता भी बुद्धि क्या इस अपने ही आनन्त्य से प्रभावित नहीं हो जाती ?। हम समझते हैं-हो जाती है, और अवश्य ही हो जाती है। एवं अवश्य ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत कालानन्त्य के संस्मरणमात्र से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक व्यामोहन छोड़ कर अपने ही उस महिमामय प्राकृत कालानन्त्य के लिए-'कालाय तस्मै नमः' इस प्रणतभाव का समर्पण कर देती है।

४५३–ऋजुभावापन्न समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न स्वस्वरूपदर्शन, तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

कैसे अभिव्यक्त हुआ-मानव में यह ऋजुभावापन्न समर्पण ?। उत्तर है एकमात्र-'स्वस्वरूपदर्शन'। मानव की बुद्धि जबतक 'पर' दर्शन को ही अपना अवलम्ब बनाए रहती है, तबतक इसे स्वयं अपने कालानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी बोध नहीं होपाता। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्वदृष्ट विषयों की अपेक्षा अपने आपको बहुत छोटा समझने लग पड़ती है, जबकि वस्तुस्थिति ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत-अचेतन-जड़-पदार्थ मानव की प्राकृत-चेतन-बुद्धि की अपेक्षा कहीं छोटे हैं। मानव की बुद्धि में भूत प्रतिष्ठित हैं। कदापि भूतों में मानव की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव बौद्धिक भूत (बुद्धि की सीमा में प्रविष्ट भूत) ही मानव बुद्धि की तृप्ति के कारण बनते हैं।

४५४–बौद्धिक–ज्ञानानुगत अस्तित्व के 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक तथ्य का स्वरूप–दिग्दर्शन—

जबतक भूत, एवं भूतानुबन्धी भौतिक दिग्देशकाल बुध्दि में समाविष्ट नही होजाते, बुध्दि के गर्भ में नही आजाते, तबकत कदापि उन भूतों का कुछ भी महत्त्व नही है। यह साधारणसी बात ही प्रमाणित कर रही है कि, बुध्दि का क्षेत्र विशाल है बाह्य भूतों की अपेक्षा। क्या बुध्दि के बिना इन भूतो का कोई अस्तित्व है ?। कदापि नहीं। 'ज्ञायते, अत: अस्ति'। 'हम जानते है, इसीलिए ये भूत हैं'। ज्ञानसीमा से पृथक् होते ही नामरूपकर्म्मात्मक भूतों का अस्तित्त्व विलुप्त हो जाता है। किन्तु पराश्रयता से मानवबुध्दि इस भ्रम में पड़ रही है कि, भूतों से ही, भूतात्मक दिग्देशकाल से ही उसे ज्ञान होता है। अर्थात् भूत ही उस की बुध्दि को ज्ञानप्रदान करते हैं। तो फिर सुप्तावस्था में ये भूत बुध्दि को ज्ञान क्यों नही प्रदान करदेते ?। क्योंकि बुध्दि तो मानव में सुप्तावस्था में भी रहती ही है। किन्तु देखते हैं, सुप्तावस्था में सम्पूर्ण बाह्य भूत अपना अस्तित्त्व ही विलुप्त किए रहते हैं। बुध्दि के व्यक्त होते ही, बुध्दि की सीमा में आते ही बौध्दिक अनुग्रह से भूतों का अस्तित्त्व अभिव्यक्त होपड़ता है। यही अवस्था अन्यान्य ऐन्द्रियक विषयों की है। भूतासक्त मानव समझते हैं–बाह्य विषयों में आनन्द है, सुख है, जिनके साथ सम्पर्क स्थापित करके ही इन्द्रियाँ सुखी बनती हैं। किन्तु यहाँ भी बात ठीक इस से उल्टी ही है। इन्द्रियानन्दकी सीमा में प्रविष्ट होकर ही विषय सुखरूप बनते हैं। यदि इन्द्रिय की सीमा में विषय प्रविष्ट नहीं होते, तो उनका कोई मूल्य नही है। इन्द्रियसीमा में प्रविष्ट विषयों में इन्द्रियानन्द मात्रारूप से प्रविष्ट होजाता है। एवं इस इन्द्रियसुख से समन्वित होकर ही विषय सुखात्मक बनते हैं।

४५५-भौतिक–विषयसुखों का स्रष्टा भूतात्मा, एवं तदनुग्रह से ही भौतिक विषयों की सुखरूपता—

हम विषयसुख के जनक हैं, कदापि विषय हमारे सुखके जनक नहीं है। जिन जिन भूत–भौतिक–विषयसुखों का हम भोग करते हैं, वे सम्पूर्ण भोग, वे सम्पूर्ण विषय, वे सम्पूर्ण सुखमात्राएँ पहिले से ही हमारी इन्द्रियों में विद्यमान हैं। हम अपने ही सुखका भोग करते हैं। कदापि विषय हमारे सुखभोग के कारण नहीं है। अतएव जबतक हमारी इन्द्रियसुखमात्रा प्रकृतिस्थ बनी रहती है, तभीतक इन की सीमा में प्रविष्ट विषय सुखमात्रा की प्राप्ति के अधिकारी बने रहते हैं।

४५६–भूतात्मानुगता सुखराशि की अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मन–इन्द्रिय–आदि अर्वाचीन भावों में ऋणदानपरम्परा का स्वरूप–दिग्दर्शन—

जब हमारा इन्द्रियमात्रासुख अन्तर्म्मुख होजाता है, तो फिर कदापि इन्द्रियसीमा में आए हुए भी विषय अपनी सुखमात्रा सुरक्षित नहीं रख सकते। यही कारण है कि, एक व्यक्ति जहाँ लालमरीचिका (मिर्च) खाते ही आँखों में आँसू भर लाता है, तो वहाँ दूसरा सीत्कार भी नहीं करता। मानना पड़ेगा कि, तिक्तता मिर्च का स्वरूप नहीं है। अपितु वह तो इन्द्रियमात्रा है। जब इन्द्रियप्राण अन्तर्म्मुख हो जाते हैं, तो वे ही विषय सुखरूपता से वञ्चित हो जाते हैं। विश्वास कीजिए ! इन्द्रियाँ जिन वैषयिक रसों का उपभोग करली हैं, वे

सम्पूर्ण रस इन्द्रियों की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस तारतम्यानुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों को ये रसमात्राएँ ऋणरूप से मिलती हैं। विषय ऋणी हैं इन्द्रियों के। किन्तु आश्चर्य्य है कि, परदर्शनमूला भावुकता से इन्द्रियोंनें विषयों का ऋणी मान लिया है। भावुकता के आवेश से आविष्ट एक उदारव्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋण में प्रदान कर देता है। इस ऋणदान से कालान्तर में वह स्वयं दरिद्री बन जाता है। और आवश्यकता पड़ने पर वह उसी ऋणग्रहीता के समीप जाता है। एवं वहाँसे जो कुछ इसे मिल जाता है, उसी से यह सन्तुष्टि का अनुभव करता है, एवं इस अपने ही ऋण के परावर्त्तन से यह अपने आप को इस भ्रान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि मानो इसे वह अधमर्ण (कर्जदार) सुख पहुँचा रहा है,लाभ पहुँचा रहा है। वैषयिक सुखों की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुख का ऋण लेकर तो विषय सम्पन्न बने हैं। और इनसे पुनरावर्त्तन कर यह इन्द्रियवर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुझे सुख मिल रहा है। एक व्यक्ति के मुखमें नींबू के नामस्मरण से भी पानी आजाता है, तो दूसरा बड़ी सरलता से इस का निगरण तक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समान, किन्तु ऐन्द्रियक अनुभूतियाँ प्रत्येक की पृथक् पृथक्। ऐसा क्यों? । इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियाँ स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का जैसा स्वरूप होता है, तदनुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुग्रह होता है। और यों सर्वात्मना बुद्धिगम्या दृष्टि से ही प्रमाणित है कि, इन्द्रियसुख ही विषयसुख का कारण है, कदापि विषय इन्द्रियसुख का कारण नहीं है।

४५७–सन्तानधाराक्रमसिद्धा सुखमात्राएँ, एवं अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण के लिए समातुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक–व्यामोहन—

अथान् इन्द्रियाध्यक्ष मन का सुख ही इन्द्रियसुख का कारण है, कदापि इन्द्रियाँ मानसिक सुख का कारण नहीं हैं। मानसिक सुखमात्रा का ऋण लेकर ही इन्द्रियाँ सुखात्मिका बन रहीं हैं। मन कदापि इन्द्रियों में नहीं है, अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनोगर्भ में समाविष्ट हैं। अर्थात्-मनकी अध्यक्षभूता बुद्धि का सुख ही मानसिक सुखका कारण है। कदापि मानसिक सुख बौद्धिक सुखका कारण नहीं है। बौद्धिक–सुखमात्रा का ऋण लेकर ही मन सुखात्मक बन रहा है। बुद्धि कदापि मन में नहीं है। अपितु मन हीं सर्वात्मना बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशालिनी बुद्धिको तृप्त करने के लिए भ्रान्त मानव न केवल मानसिक सुख को ही, नापि केवल इन्द्रियसुख को ही, अपितु भूतों के प्रति अनुधावन करता रहता है, जो इसकी महिमा के समतुलन में अपना कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह कहने लग पड़ता है बुद्धिगम्या–व्याख्या। एवं सर्वोपरि इन भूतव्याख्याओंसे ही इसे यह भ्रान्ति भी हो पड़ती है कि, 'मैं अब अवश्य बुद्धिमान् हूँ', अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोई तत्त्व अवश्य मुझ में है। मानो इन भूतोंनें हीं बुद्धिका अस्तित्त्व स्थापित किया हो। अन्त से अनन्त को ढूँढने के ऐसे ही तो दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं दार्शनिक–बुद्धि को।

४५८–यच्चयावत् प्राकृत–खण्डात्मविवर्त्तों के समतुलन में अनन्त–भावापन्न महान् मानव—

'अर्थात्' की सीमा अभी समाप्त नहीं हुई है। बुद्धि का अध्यक्ष है महान्। यह पारमेष्ठ्य महान् ही बौद्धिक सुख का कारण है। कदापि बुद्धि महत्सुख का कारण नहीं है। महद्ब्रह्म की सुखमात्रा का ऋण

लेकर ही बुद्धि सुखात्मिका बन रही है। महान् कदापि बुद्धि में नही है। अपितु बुद्धि सर्वात्मना महद्–गर्भ में समाविष्ट है। और आगे चलिए। महान् का अध्यक्ष है अव्यक्तभाव, जिस के पुण्डीराव्यक्त, परोरजा–अव्यक्त, अश्वत्थाव्यक्त, एवं सर्वान्त का अनन्त कालात्मक, अव्यक्त, ये क्रमिक सोपानभाव हैं, जिन इन सब की समष्टि को हम यहाँ–'अव्यक्त' नाम से समन्वित कर लेते हैं। (कर लिया है महर्षि कठने)। वह अव्यक्त सुख ही महत्सुख का कारण है। कदापि महत्सुख अव्यक्तसुख का कारण नही है। अव्यक्त-कालब्रह्म की सुखमात्रा लेकर ही महान् सुखात्मक बन रहा है। अव्यक्त कदापि महान् में नहीं है। अपितु स्वयं महान् अव्यक्त के गर्भ में समाविष्ट है। और यहाँ आकर बुद्धिगम्या क्रमव्यवस्था उपशान्त है। भौतिक विषयरूप अर्थ, तदनन्तर इन्द्रियाँ, तदनन्तर मन, तदनन्तर बुद्धि, तदनन्तर महान्, तदनन्तर अव्यक्त, इस बुद्धिगम्या क्रमधारा के समतुलन में सर्वान्त के अर्थरूप भौतिक विवर्त्त का इस इन्द्रिय–मनो–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–रूप प्राकृत मानव के समतुलन में क्या महत्त्व शेष रह जाता है ?, प्रश्न का अब तो प्राकृत मानव को मर्म्म विदित हो ही जाना चाहिए, और हो ही गया होगा। क्योंकि अन्ततोगत्वा मानव 'मानव' है। और निश्चयेन अनन्त है यह 'मानव' इस सम्पूर्ण भौतिक विश्व की तुलना में।

४५६-महाकाल, कालाश्वत्थ, कालाव्यक्त, कालमहान्, कालबुद्धि, कालमन, कालेन्द्रियवर्ग, कालशरीर, आदि आदि यच्चयावत् कालविवर्त्तों के समतुलन में प्राकृत–मानव की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त–महाकालात्मक–प्रथम '१अव्यक्त' पर्व के गर्भ में २अश्वत्थाव्यक्तब्रह्म, तद्गर्भ में ३परोरजामूर्त्ति परमकालाव्यक्तब्रह्म, तद्गर्भ में ४पुण्डीरस्वयम्भू-अव्यक्त-ब्रह्म, और यहाँ तक अनन्त–अमूर्त्त–'अव्यक्त' का ही साम्राज्य, अतएव इन चारों अव्यक्त–ब्रह्मभावों का '१अव्यक्त' नाम से ही संग्रह। इस अव्यक्त के गर्भ में पारमेष्ठ्य २महान्, इस महान् के गर्भ में सौरी ३बुद्धि, इस बुद्धि के गर्भ में ४चान्द्र मन, तद्गर्भ में चान्द्रप्राणविभूतिरूप ५इन्द्रियाँ, तद्गर्भ में चान्द्र-पार्थिव-भूतात्मक बाह्य अर्थ (विषय)। बाह्य अर्थों की समष्टि का नाम ही '६शरीर', और यही प्राकृत मानव का महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप। जैसा महिमामय स्वरूप उस अनन्ताव्यक्तकाल का, वैसा ही स्वरूप इस प्राकृत मानव का। 'वही' 'यह' है। जो 'वह' अनन्त कालाव्यक्त ब्रह्म है, वही 'यह' प्राकृत मानव है। और अवश्य ही बुद्धिगम्या कालदिग्देशात्मिका (दिग्देशकालात्मिका नही) व्याख्या से मानव की यह प्राकृत–अनन्तता समन्वित हो रही है, समझ में आ रही है प्राकृत मानव के। यदि अब भी समझ में नही आ रही, तो अब कहना पड़ेगा कि, फिर न तो मानव 'मानव' ही है, एवं न इस की बुद्धि 'बुद्धि' ही है।

४६०–चक्षुरिन्द्रियानुगत–प्रत्यक्षभूतमात्र के प्रति व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव की बुद्धि के प्रति प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित, एवं तन्माध्यम से तत्प्रति-'विद्धि नष्टानचेतसः' का संस्मरण—

यदि चक्षुरिन्द्रिय के ठीक सामने रक्खे हुए स्थूल-भूतपिण्ड को ही मानव अपनी बुद्धि के प्रयोगात्मक आचार का क्षेत्र मानता है, एकमात्र इस प्रत्यक्षभाव पर ही मानव ने अपनी बुद्धिका, किंवा मानवस्वरूप

का अवसान मान रक्खा है, तो फिर हमें कुछ भी कहना सुनना नहीं है ऐसे तात्कालिक-प्रत्यक्षवादी-भूत-मात्रवादी बुद्धिमान ? मानव के सम्बन्ध में कुछ भी। एवं शास्त्रने कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए। शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथाजात मानवों के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक जगत् में ही सर्वात्मना अपने भौतिक स्वरूप का व्यक्त करते फिरते हैं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक, जैसे कि अन्य जातियों के प्राणियों के लिए कोई भी बौद्धिक मापदण्ड आजतक बना ही नहीं है, जो अन्य प्राणी स्वयं अपनी ही प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत-दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्षदृष्ट-श्रुत-उपवर्णित-भूतों की उपासना करते हुए ही स्वच्छन्दरूप से आहारविहारपरायण बनते हुए सुखपूर्वक ? जीवन व्यतीत करते रहते हैं-'सर्वज्ञान-विमूढाँस्तान्-विद्धि नष्टानचेतसः'। 'अज्ञानं तस्य शरणम्'। ऐसे ही यथाजात मानवों का पारिभाषिक नाम है-'किंपुरुषमानव,' जिन का सम्वत्सरप्रजापति अपने साम्वत्सरिक चयनयज्ञ की क्षतिपूर्ति के लिए ही उपयोग करते रहते हैं। प्रजापति के विस्रस्त-क्षत-भूत भाग की पूर्ति ही इन यथाजात 'भूतमानवों' (जड़मानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है भारतीय 'यज्ञशास्त्र' ने, इत्यालम्यालमेव।

४६१-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक-धर्म्माचरण के महान् उदर्क का संस्मरण, एवं तद्-द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में 'प्रत्यक्षभूत' ही भूत की परिसमाप्ति नहीं है, इस से भी आगे कुछ और है, एवं वह 'और' ही जिस की बुद्धि का क्षेत्र बना रहता है, सूक्ष्म प्रकृतिपरीक्षक परोक्षविमर्शक उस बुद्धिमान् के लिए तो पूर्वोक्त प्राकृत-अनन्त स्वरूप सहजरूपेणैव, शास्त्रस्वाध्यायनिष्ठा के माध्यम से अवश्यमेव विज्ञात बन जाता है। और जब प्रत्यक्षविमोहनात्मक बौद्धिक व्यामोहन से थोड़ा ऊपर उठ कर मानव यों प्रकृति के रहस्यविश्लेषण में प्रवृत्त होता है, तो स्वयं इस की यह ऋजुबुद्धि ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत अनन्त स्वरूप को, अव्यक्तकालस्वरूप को इस के लिए अभिव्यक्त कर देती है *। "तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन-अव्यक्तकालमाध्यमेन-आत्मनि-प्राकृतस्वरूपे-विन्दति' (गीता)"। बुद्धियोगसंसिद्ध-इति यावत्। प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक धर्म्माचरण का यही तो वह महान उदर्क है, जिस धर्म्मा-चरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है।

४६२-अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त प्राकृत-विश्व के उभयात्मक आनन्त्य से समन्वित मानव का महान् पुरुषार्थ, तल्लक्ष्यपूर्त्ति-जिज्ञासा, तथा तत्समाधानानुगता दिग्-देशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्पूर्ण स्थिति से अब हमें बुद्धिपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख अनन्तब्रह्म, अनन्तप्राकृतविश्व, ये दो विवर्त्त समुपस्थित हैं, जिन इन दोनों को इसे लक्ष्य बना लेना है, और यही मानव का सम्पूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। कैसे ये दोनों लक्ष्य बनें ?, इस महान् प्रश्न के समाधान

---

*-उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।
—ऋक्सं० १०।७१।४।

के लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' अभिव्यक्त हुई है बुद्धिनिष्ठ सहजमानवों के सम्मुख। इस मीमांसाने मानव के सम्मुख इसके महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप का ही विश्लेषण किया है। अवश्य ही मानव इस प्राकृत कालदिग्देशस्वरूप के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपने महतोमहीयान् स्वरूप को सर्वात्मना पहिचान सकता है, जान लेता है। एवं इसी प्राकृत स्वरूपबोध से इसके दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण प्राकृत-आचार-(कर्त्तव्य) क्रमव्यवस्थापूर्वक सुव्यवस्थित होजाते हैं। इसी का नाम है प्राकृत मानव का अभ्युदय, ऐहलौकिक पुरुपार्थ, विश्वस्वरूपानुगता सुख-समृद्धि।

४६३-प्रकृति से अतीत अनन्त ब्रह्म की अनुग्रह-प्राप्ति के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता प्राकृतकालात्मक-आचारलक्षण-कर्त्तव्य की अनुगति, तथा आचार के पूर्वबोधात्मक 'शाब्दज्ञान' के 'ज्ञानत्त्व' का, एवं तदुत्तरबोधात्मक 'आचारज्ञान' के 'कर्म्मत्त्व' का समन्वय

अब शेप रह जाता है-अनन्त प्राकृत विश्वाधारभूत, कालातीत अनन्तब्रह्म, जो प्रकृति से अतीत है। और इसीको समझने में प्राकृत मानव की बुद्धि कुण्ठित होजाती है। इसी दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य बनाकर ऋषि इसे यह उद्बोधन प्रदान करते हैं कि, 'तुम्हारी यह कुण्ठित मनोवृत्ति तभीतक है, जबतक कि तुम अपने प्राकृत स्वरूप को पहिचान कर तदनुसार कर्त्तव्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त नहीं हो जाते। कर्त्तव्यवञ्चित प्राकृतबोध वस्तुतः प्राकृत बोध है ही नही। मिश्री का कितना ही बुद्धिगम्य वर्णन क्यों न कर दिया जाय। जबतक उसे रसनेन्द्रिय से समन्वित नही कर लिया जाता, तबतक कदापि वर्णनसहस्रात्मक बोधसहस्रों से भी मिश्री की सहज मधुरता से रसनेन्द्रिय परिचित नही होसकती। यही शब्दात्मक बोध, तथा आचारात्मक बोध में महान् विभेद है। इसका यह तात्पर्य्य कदापि नही है कि, शब्दात्मक बोध का कोई महत्त्व नही है आचारात्मक बोध के समतुलन में। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, बिना शब्दात्मक बोध के आचारात्मक बोध उपक्रान्त ही नही होता। उस एक ही आचार के पूर्वबोध का नाम शाब्दबोध है, एवं उत्तरबोधं का नाम आचारबोध है। शाब्दबोध का नाम ही 'ज्ञान' है, एवं आचारबोध का नाम ही 'कर्म्म' है। शाब्दबोधात्मक प्राकृतज्ञान ही आचारबोधात्मक कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। और इस दृष्टि से 'ज्ञानपूर्वक कर्म्म' को ही प्रशस्त माना जायगा, माना गया है *। अतएव च इसी दृष्टि से यह भी कहा, और मान लिया जासकता है कि, 'बिना समझे कदापि कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए'। क्या तात्पर्य्य है इस वाक्य का?।

४६४-बौद्धिक तर्कजाल से व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव के अभिनिवेश से 'संवित्' रूपा 'समझ', तथा कर्त्तव्य 'काम' भावों की पराङ्मुखता—

प्रश्न इसलिए उपस्थि हो पड़ा कि, इस वाक्य के तात्पर्य्य का समन्वय न करसकने के कारण ही आज मानव की लोकबुद्धि में एक वैसा व्यामोहन उत्पन्न हो गया है, जिसने न तो मानव को कुछ समझने

---

*-ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

हीं दिया है, एवं न कुछ करने ही दिया है। अपितु एकमात्र–'हम तो समझलेंगे, तब मानेंगे, तभी करेंगे' इसी अभिनिवेश का सर्ज्जन कर मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से तटस्थ बन गई है। इसप्रकार के तर्क उपस्थित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठने वाले बुद्धिव्यामुग्ध महानुभाव अन्ततोगत्वा ऐसे ग्रस्यस्त होजाते हैं अपने इस दम्भ में कि, फिर न तो समझ से ही इनका कोई सम्बन्ध रहता, न कर्त्तव्य से ही।

४६५–कर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक शाब्दबोध, एवं तदभिन्न 'संवित्' से मानव की स्वकर्त्तव्य-प्रवृत्ति का समन्वय—

अतएव इस कर्त्तव्यानुगत शाब्दज्ञान की सीमा केवल 'शब्दज्ञान' पर्य्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार-पद्धति में। शब्द के अक्षरार्थज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्य्याप्त है कर्त्तव्यक्षेत्र में, जिस शाब्दबोध में क्यों?, कैसे?, न च–नुच, आदि तर्क कुतर्क सर्वथा ही असंस्पृष्ट माने हैं स्वयं शास्त्रने हीं। आचारकर्त्तव्य की पद्धति का, इतिकर्त्तव्यता का बोध ही शब्दबोध की सीमा है, एवं यही कर्त्तव्यानुगता 'समझ' की सीमा है, जिसमें सीमित रह कर ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कर्त्तव्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिव्यामोहन में आकर रहस्यबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है, तो शब्दशास्त्र तत्काल उसका नियन्त्रण ही कर देता है–'स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो–नास्तिको वेदनिन्दकः'।

४६६–आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत-कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का संस्मरण—

युक्तं चैतत्। यदि एक बालबुद्धि अक्षरारम्भ से पूर्व ही-"इसे ककार ही क्यों कहा जाता है?, मैं लिखूँ ही क्यों?, क्यों अक्षराभ्यास करूँ?। मुझे तो इस क्यों का रहस्य समझा दिया जायगा, तभी लिखूँगा, बाँचूँगा, पढ़ूँगा, करूँगा"–इसप्रकार के कुतर्क करने लग पड़ेगा, तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा, न यह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र, सभी लोकक्षेत्रों में भी साधारण शब्द–बोधात्मक–आदेशजनित-ज्ञान ही कर्त्तव्य की आधारभूमि बना करता है। और यही–'समझ कर करने लगपड़ना' का अर्थ है। इस कर्त्तव्य में स्वयं में हीं ऐसा बल है, जो स्वस्वरूपविकास के साथ साथ तदनुरूपता से ही शनैः शनैः कर्त्तव्य-रहस्य का बोध भी कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कराता जाता है। निम्न लिखित वचन इसी तथ्य का विस्पष्ट शब्दों में विश्लेषण कर रहे हैं, जिसे आधार बनाए बिना मानव कदापि कर्त्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

> ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा ॥
> एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥१॥
>
> सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते 'यथाशास्त्रं' निषेविताः ॥
> 'यथोक्तकारिणं' विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥
>
> —मनु ६।८७,८८, ।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥३॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥४॥
—मनुः ४।१६,२०,।

४६७—'विधि' लक्षण धर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'आचारः परमो धर्म्मः' का संस्मरण—

'ज्ञानपूर्वक कर्म्म करते रहने से' का अर्थ है—'शब्दज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहने से'। यही प्रारम्भिक 'समझ' का अर्थ है, जो कर्त्तव्यनिष्ठा की मूलप्रतिष्ठा बनती हुई कालान्तर में स्वतः ही उस 'बुद्धिनिष्ठा' के रूप में परिणत हो जाया करती है, जिसे हमने पूर्व में—'संवित्' नाम की 'समझ' कहा है। 'समझ-पूर्वक कर्म्म करते रहने से कालान्तर में स्वतः ही समझ आजाया करती है' इस लोकसूत्र का यही समन्वय-निष्कर्ष है। सर्वथा 'समझ' लेने का व्यामोहन न तो समझने ही देता, न कर्त्तव्यनिष्ठ ही बनने देता। अतएव **समझ लेना**, और **समझादेना** कदापि यहाँ धर्म्म नहीं माना गया। अपितु **करना**, और **कराना** ही यहाँ धर्म्म माना गया है। **आचरणात्मक आचार ही भारतीय वह 'परमधर्म्म'** है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा शब्दशास्त्रानुगता आस्थापूर्णा 'श्रद्धा' ही मानी गई है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः—यो यच्छ्रद्धः, स एव सः। अतएव—'श्रद्धावानेव ज्ञानं लभते' *। यही यहाँ के 'आचारः परमो धर्म्मः' इस महान् सूत्र का मौलिक रहस्य है।

४६८—कर्त्तव्यात्मक आचारधर्म्म की अनुगति से कालान्तर में 'अभयब्रह्म' की अनुग्रह-प्राप्ति, एवं तदनुगता 'किञ्चित्' (कुछ) रूपा अभिन्नता का संस्मरण—

कर्त्तव्याचारनिष्ठ बुद्धिशील मानव अवश्य ही इस कर्त्तव्य के माध्यम से ही कालान्तर में अपने महान् प्राकृत स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेता है। एवं यही कर्त्तव्य इसे कालान्तर में कालातीत अनन्त से समन्वित कर देता है, जिसे 'अभयब्रह्म' कहा गया है। यों मानव का प्राकृत स्वरूप जहाँ महतोमहीयान् आधिदैविक प्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है, वहाँ इसी मानव का अप्राकृत स्वरूप महतोमहीयान् उस अप्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है, एवं अब सर्वान्त में पुनः पुनः आलोडित-विलोडित इस 'कुछ'-'कुछ' का कुछकुछ स्वरूप और समन्वित कर लेना है, जिस 'कुछ' के समन्वय के बिना सबकुछ निस्सार ही प्रमाणित होजाता है उसके ही 'कुछ' रूप भी इस मानव का।

---

* श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता ४।३६।

४६९-प्राकृत-व्यामोहनासक्त-प्रत्यक्षवादी मानव की नग्नता, एवं तदनुबन्धेनैव परोक्षभावापन्न भी 'किञ्चित्' (कुछ) भाव की नग्नता का उपक्रम—

कालदृष्टान्त के माध्यम से 'कुछ' का अर्थ प्रारम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के स्वरूपने ही अन्ततोगत्वा हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एवं तभी से 'प्रतीक' के स्थान में हमने 'कुछ'-'कुछ' कह देना आरम्भ कर दिया, जो कि अभीतक परोक्ष ही बन रहा है। इच्छा तो यही थी कि, इस 'कुछ' की मीमांसा को तो परोक्ष ही बना रहने दिया जाता। तभी इस का अर्थ कुछकुछ समझ में आ भी सकता था। किन्तु वर्त्तमानयुग वैसा आपद्धर्म्मात्मक युग है, जिस में परोक्षता कदापि क्षम्य नहीं है, आज के बुद्धिमान् की अभ्यस्ता नग्नता की कृपा से। आज का मानव सबकुछ नग्नप्रदर्शन ही अभीप्सित मानता है, जब कि भारतीय धर्म्मपद्धति में सबकुछ परोक्षपद्धति के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है- 'परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षद्विषः'। तो लीजिए! युगधर्म्मात्मक आपद्धर्म्मरूप कालधर्म्म के सम्मुख धर्म्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए सर्वान्त में उस 'कुछ' का भी नग्नप्रदर्शन कर लेने की धृष्टता करली जाती है परोक्षप्रिय देवताओं से क्षमा याच्ञा करते हुए ही।

४७०-कुछ के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती धृष्टता—

यह 'कुछ' बात है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है। अपनी बात अपने मुख से कभी अच्छी नहीं लगा करती। अतएव हम अपने आपको तो कर लेते हैं सर्वथा परोक्ष। एवं हम से अतिरिक्त परमश्रद्धेय, ब्रह्मविभूतिरूप विश्व के यच्चयावत् पठित-अपठित सभी मानव-श्रेष्ठों को समष्टि, तथा व्यष्टिरूप से बना लेते हैं दृष्टान्तात्मक उदाहरण। एवं उन ब्रह्मरूप मानवों की उदाहरणविधि से ही, उन्हीं के सम्मुख-'त्वदीय वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' न्याय से उन्हीं के 'कुछ' रूप का 'नग्न', किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप रख देने की धृष्टता करली जाती है प्रक्रान्ता दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से ही।

४७१-अभिव्यक्तितत्त्व के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिल्प' का संस्मरण—

सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुछ' का महत्त्वपूर्ण इतिवृत्त आपके सम्मुख रक्खा जारहा है। अनाद्यनन्त * कलिलरूप महाकालात्मक महाविश्व एक ओर है, एवं आप का प्राकृत स्वरूप एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी, और क्या समता है?, क्या साम्य है?, यही आपको स्वयं अपने प्राकृत-स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त-प्राकृत-महाकाल के 'प्रतीक' हैं?। नहीं। क्योंकि 'प्रतीक' का अर्थ तो अवयव-अङ्ग-भाग-अंश-पर्व-एकांश-होता है। क्या आप उस के अङ्ग हैं?, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं होसकते। हैं अवश्य ही कुछ न कुछ आप उसके। तो अब आपका ध्यान 'प्राजापत्यशिल्प' (प्रजापति की कारीगरी) की ओर ही आकर्षित किया जारहा है इस 'कुछ' के समन्वय के लिए।

---

* सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ४।१४।)।
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ५।१३।)।

४७२–दिग्देशकालात्मक–प्राकृत-सृष्ट पदार्थों से सम्बद्ध अनुरूपशिल्प, प्रतिरूपशिल्प, नामक दो शिल्पविवर्त्त, एवं तत्स्वरूप–दिग्दर्शन—

भारतीय वैज्ञानिकोंनें सृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में **अनुरूप, प्रतिरूप,** भेद से शिल्प के दो महिमामय विवर्त्त माने हैं। 'अङ्ग' रूप, अतएव अपूर्णभावापन्न अधूरे शिल्प का नाम है–**'अनुरूपशिल्प'**, एवं **'अङ्गी'**-रूप, अतएव पूर्णभावापन्न पूरे शिल्प का नाम है–**'प्रतिरूपशिल्प'**। 'शिल्प' शब्द का अर्थ है–**'प्रतिकृति'**। मूलकृति का रूपान्तर ही **'प्रतिकृति'** है, जिसे अभी लोकदृष्ट्या समझने के लिए **'नकल'–'नमूना'–(मॉडल)** कह सकते हैं आज के युग की भाषाओं में। कृति का 'प्रति' भाव ही 'प्रतिकृति' है। और अनन्त-काल से उत्पन्न जितनें भी चर–अचर पदार्थ हैं, वे सब 'कृति' रूप काल की 'प्रतियाँ' (प्रति) बनते हुए काल की **'प्रतिकृति'** (काल का शिल्प, काल की कारीगरी, काल की नकल, काल का नमूना) ही प्रमाणित हो रहे हैं। एवं इस 'प्रतिकृति' रूप शिल्प के ही **अनुरूपा प्रतिकृति, प्रतिरूपा प्रतिकृति** भेद से दो भेद निष्पन्न होजाते हैं। **'उस से अभिव्यक्त, और उसके जैसा ही'** इस का नाम है–**'अनुरूपशिल्प'** (अर्थात् जैसा का तैसा) एवं–**'उस से अभिव्यक्त, किन्तु उस का प्रतिद्वन्द्वी'** इस का नाम है–**'प्रतिरूपशिल्प'** (अर्थात् अपने सर्ज्जक को भी अन्ततोगत्वा परास्त कर देने वाला, अर्थात् सर्ज्जक को भी अभिभूत कर देने वाला, लोकभाषानुसार मात कर देने वाला, उस का पुत्र बन कर भी उस का पिता बन जाने वाला–**'यः पितासीत्–प्रजापतेः'**–अर्थात् वर्त्तमानयुग की नग्नभाषा के अनुसार **बाप का भी बाप–'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति'**)। वैसी प्रतिकृति (वैसी नकल), जो असल से मिलती जुलती हो, उसी का नाम **है–'अनुरूपशिल्प'**। एवं वैसी प्रतिकृति, जो असल को भी भुला दे, स्वयं ही असल बन बैठे, उसी का नाम **है–'प्रतिरूपशिल्प'**। निष्कर्षतः अपूर्ण से अपूर्णरूपेणैव अभिव्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है–**'अनुरूपशिल्प'**, एवं अपूर्ण से पूर्णरूपेण व्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है–**'प्रतिरूपशिल्प'**।

४७३–मूर्त्त–भौतिक–रेखाचिह्नों के द्वारा उभयविध शिल्पों का स्वरूप–समन्वय—

ठहरिए ! भौतिक चिह्नों के माध्यम से पहिले स्थिति का समन्वय कर लीजिए। विविध रँग–रञ्जित वस्त्रों के रेखाङ्कनात्मक शिल्प आप के सामने हैं, जिन्हें आप **'बेलबूँटे'** कहा करते हैं। वस्त्रों पर ही नहीं, पाषाण-भित्तियों पर, गैरिकमृत्तिकाभित्तियों पर, पत्रों (कागजों) पर, गृहद्वारों, तोरणद्वारों, कीर्त्तिस्तम्भों, सुवर्ण–रजत–ताम्रादि मुद्राओं, मन्दिरों, मूर्त्तियों, आदि आदि में सर्वत्र भारतीय शिल्पों में रेखाङ्कनात्मक विविध शिल्प आप उपलब्ध कर रहे हैं। इन शिल्पों में जो शिल्पपरम्परा पूर्व–पूर्व–शिल्प के अनुरूप होती है, उसे ही कहा जाता है–**'अनुरूपशिल्प'**। एवं जिस शिल्प के पूर्व, तथा उत्तर रूपों में परस्पर प्रतिरूपता–समसाम्मुख्य होता है, उसे ही कहा जाता है **'प्रतिरूपशिल्प'**। निम्न लिखित रेखाङ्कनों से दोनो का भेद परिलक्षित है—

—अनुरूपरेखाङ्कन (१)

-प्रतिरूपरेखाङ्कन(२)

अपूर्णशिल्प(अनुरूप) (३)

पूर्णशिल्प (प्रतिरूप) (४)

—अनुरूपशिल्पचिह्न (५)

—प्रतिरूपशिल्पचिह्न (६

—इत्यादि—इत्यादि
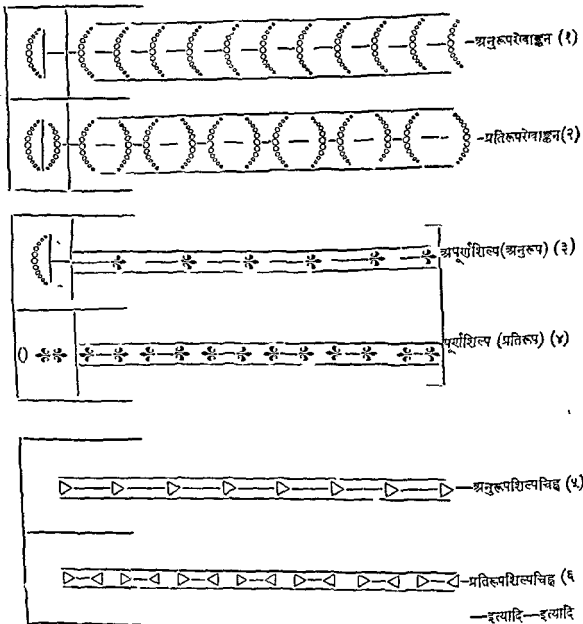
४७४-मानव की प्राजापत्या शिल्पता, एव तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिव्यक्ति उसी अनन्तकालपुरुष से हुई है, एव आपसे अतिरिक्त अनन्तकाल से आरम्भ कर इसके अवसानपर्य्यन्त (यदि आप इसका कोई अवसान मान बैठते हैं अपनी कल्पना में, तो) जितनें भी चर-अचर पदार्थ हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति भी उसी अनन्तकाल से हुई है। यों दोनों ही उसी

की अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी के शिल्प हैं, उसी के पुत्र हैं, उसी की सम्पत्ति हैं, अर्थात् उसी की प्रतिकृतियाँ हैं। और यहीं अब आपको स्वयं यह समझ लेना है कि, आप तथोक्त दोनों प्रकार के शिल्पों में से कौन से 'शिल्प' हैं ?। क्यों ?, क्या इससे भी अधिक नग्न भाषा का अनुगमन किया जाय ?। ओमित्येतत्।

४७५-प्रतिरूपशिल्पात्मक मानव की स्रष्टाप्रजापति से प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्रतिद्वन्द्विता में मानव का विजयश्री के द्वारा संस्मरण—

हाँ, तो आप हैं उसके 'प्रतिरूपशिल्प', अर्थात् 'पूर्णशिल्प', अर्थात् 'प्रतिद्वन्द्वी', अर्थात् उसमें अभिव्यक्त होकर उसी की सीमा का अन्ततोगत्वा उल्लंघन कर जाने वाले '**पुरुषार्थवादी मानवश्रेष्ठ**'। मानवेतर यच्चयावत् प्राणसर्ग (ऋषि-पितर-असुर-गन्धर्व-आदि आदि प्राणविवर्त्त), यच्चयावत् प्राणीसर्ग (पशु-पक्षी-कीट-कृम्यादि सर्ग), तथा यच्चयावत् अर्द्धचेतन (ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि) अचेतन-(लोष्ट-पाषाणादि) सर्ग, ये सम्पूर्ण जहाँ अपूर्णशिल्पात्मक अनुरूपशिल्प हैं उस अव्यक्त-अनन्तकालप्रजापति (अक्षरप्रजापति) के, वहाँ एकमात्र मानव ही उसका वैसा पूर्णशिल्पात्मक प्रतिरूपशिल्प है, जो अपने (प्राकृतरूपके) स्रष्टा-विधाता स्वयं कालप्रजापति के साथ इसी की महाशक्ति महाकाली को मध्यस्थ बनाता हुआ न केवल प्रतिद्वन्द्विता ही करता रहता है, अपितु अपनी कालिकमर्य्यादा में यत्किञ्चित् भी स्खलित न होता हुआ एक दिन इस प्रतिद्वन्द्विता में 'विजयश्री' ही उपलब्ध कर लेता है, जोकि उपलब्धि, किंवा विजयावस्था ही इसकी 'कालातीता' अवस्था कहलाई है।

४७६-मानवेतर सम्पूर्ण प्राकृत-भावों की अंशात्मिका प्रतीकता, किन्तु मानव की महिमारूपा प्रतिरूपता—

'विजयश्री' की बात छोड़ते हैं अभी। अभी तो इसे विजित पराजित मान कर ही प्रतिज्ञात इसके 'कुछ' का समन्वय करते हैं। मानवेतर समस्त प्रपञ्च जहाँ अनुरूपशिल्पता से काल के 'कुछ' (अंशमात्र) बनते हुए जहाँ स्वस्वरूप से 'कुछ' भी नहीं है, वहाँ यह मानव उसका प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ उसका 'सबकुछ' बन रहा है। दूसरे शब्दों में-मानवेतर प्रपञ्च जहाँ तत्तद् विभिन्न कालविवर्त्तों के अंश-प्रत्यंश बनते हुए, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गात्मक अनुरूपशिल्प बनते हुए अङ्गात्मक 'प्रतीक' बन रहे हैं, वहाँ यह प्राकृत मानव अनन्तकाल से (अव्यक्त से) आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल (व्यक्तकाल) पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालपर्वों की साक्षात-पूर्ण-प्रतिमा बनाता हुआ, अतएव स्वयं 'अङ्गी' प्रमाणित होता हुआ उसका प्रतिरूपशिल्प ही प्रमाणित होरहा है। ऋषि-'ऋषि' ही हैं, पितर 'पितर' ही हैं, असुर 'असुर' ही हैं, देवदेवता 'देवदेवता' ही हैं, स्वयम्भू 'स्वयम्भू' ही है, परमेष्ठी 'परमेष्ठी' ही है। और यों ये सभी विवर्त्त पर्वात्मक-अङ्गात्मक-बनते हुए उसके प्रतीक ही हैं। किन्तु मानव ?। मानव सबकुछ है। इसलिए सबकुछ है कि, मानव कालातीत भी है, एवं काल का भी सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प है। ऐसा है यह कालिक मानव, ऐसी है इसके प्राकृत स्वरूप की महत्ता। और यही है इसके कालानुबन्धी उस 'कुछ' का चिरन्तन इतिवृत्त, जिसे लक्ष्य बना कर ही पुराणपुरुष के मुखपङ्कज से यह विनिःसृत हो ही तो पड़ा है सहजरूप से ही कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

—महाभारत

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व, जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'श्वोवसीयस्—अव्ययमना'रूप हृद्यतत्त्व से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप-शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तदभिन्न, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। हृद्य मनु का वही रूप 'वह' कहलाया है, एवं उसी हृद्य 'मनु' का अमुक-प्राणी-रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है, तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इतर यच्चयावत् प्रतीकात्मक-अनुरूपशिल्पात्मक प्राण, तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अङ्ग' हैं, तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक व्याख्या से कालदृष्ट्या भी प्रतिरूप, तो कालातीत दृष्ट्या भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अङ्गी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८।)

४७८-प्रतिरूपशिल्पात्मक--मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव, उतने ही उसके रूप, एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्वात्मना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है, अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज-व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है, वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रुक्माभ-भावापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप-अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त-मनु-कालात्मक-मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। सौर हिरण्यतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ'*कहलाए

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनु. १२।१२२।

हैं। सौर प्राण को ही नाम 'इन्द्र' है, सौरसावित्रतेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सौर-भावानुबन्धों से ही अनन्तकालात्मक हृद्यमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिध्द हो गए हैं ÷।

४८०-गतिरूप कालाक्षर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायावृत्तात्मक 'पुरभावों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'ईयते' रूप गतिभाव ही कालाक्षर का सहजधर्म्म है, वही धर्म्म 'इन्द्र' का है। आगति जहाँ विष्णवक्षर कहलाया है, वहाँ गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण विश्व कालात्मक है, काल मनु है, मनु इन्द्रत्त्वेन गतिधर्म्मा है, गतिरक्षर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपेण यशोवर्णन हुआ है, जैसा कि तद्विज्ञों को भली-भाँति विदित है। अथर्वसूक्त का 'कालः स ईयते', एवं यहाँ का 'पुरुरूप ईयते' एक ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है, यही कालाक्षर है, और यही मायावृत्तात्मक पुरभावों का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित-'दश शतानि', एवं-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण देश-प्रदेशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय वृत्तों का नाम हीं 'मायावृत्त' हैं, जिन्हें 'दिशः' कहा गया है, जोकि हृदयस्थ हृदयरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। कैसा है वह मायावृत्त ?, किंवा कैसा है वह महिमामण्डल ?, जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियाँ' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनसंख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु-'पूर्णं वै सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है, जिसका-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका इसी पूर्णता से वह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनुरूप अनन्तकाल प्रत्येक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपशिल्प है, अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णशिल्प है, और यही मन्त्र का संक्षिप्ततम तात्पर्य्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धवृगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय —

मानव की प्रतिरूपात्मिका परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अव्यक्तादि, शरीरान्त स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-चान्द्रसम्वत्सरकालान्त प्राकृत कालपुरुष का, जिसकी यह प्रतिरूपता अर्द्धवृगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय (२)

÷ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥
—मनुः १२।१२१।

गवाक्षों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्धवृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्धवृत्त का क्या अर्थ है ?, एवं क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भावात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए ! अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानव', उत्तरभावात्मक पूर्व-अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानवी'' एवं (१।२) इन दोनों पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थारूप पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य'। अव्यक्तकालानुबन्ध से पूर्णाकाशात्मक-पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त-सम्वत्सरकालानुबन्ध से अर्द्धाकाशात्मक बनता हुआ 'अर्द्धवृगल' है, 'प्रतिरूपार्द्ध' है, प्रतिरूप की पूर्वावस्था है, आधाररूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्धवृगलात्मक-अर्द्धाकाश की पूर्त्ति अर्द्धवृगलात्मिका मानवी से ही हुई है, जो कि मानव का प्रतिरूपार्द्ध है, इसकी उत्तरावस्था है, आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्वत्सरवृगलद्वयी से सम्पन्ना कृतरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्यरूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगतिलक्षणा रूपं-रूपं-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों वृगलों, दोनों सम्वत्सरार्द्धों के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका, पूर्णव्यक्तकालात्मिका बनती है, और यह साम्वत्सरिकी-पूर्णा-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तकालानुगता पूर्णा-प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्मिक-परिणयानुगता इत्थम्भूता दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सप्तपुरुषानुगता सपिण्डता की प्रवर्त्तिका बनती हुई वंशानुगतिक्रम से प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धारावाहिकरूप से अविच्छिन्न बनाती हुई-'रूप-रूप-प्रतिरूपो बभूव' को अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गाद्रूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य की कालातीता-अनन्तपूर्णता-लक्षणा-प्रतिरूपता का समन्वय—

वहाँ की अनुरूपशिल्पात्मिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्तिः'-'प्राणात्-प्राणोदय'-'अङ्गादङ्गात् सम्भवति' रूपेण तत्रैव परिसमाप्त है। कदापि मानवेतर उस प्राणसर्ग, तथा प्राणीसर्ग में सपिण्डता का,
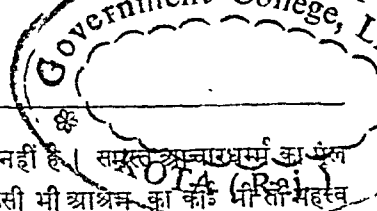
तदनुबन्धिनी प्रतिरूपता का, एवं तद्रूपा परिपूर्णता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। समस्त आचारधर्म्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिरूपात्मक गृहस्थाश्रम * ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्व नही है। जिस आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं, उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही गृहस्थाश्रम है, जिसकी दार्शनिकजगत् में उपेक्षा ही हुई है शुष्कतत्त्वमीमांसन के वाग्विजृम्भण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्म्ममूला, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना आधि-दैविकी प्राकृत-परिपूर्णता का ही अनुगमन करसके, एवं न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही वे समन्वय कर सके।

४८५–अनन्तकालानुगता प्राकृत--प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत--प्रतिरूपता की अविज्ञेयता ही तद्विज्ञेयता—

हाँ, तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिरूप' भाव के दिग्-दर्शन का प्रयास हुआ। अब शेष रह जाता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म, एवं शेष रह जाता है कालातीत मानवानुबन्धी 'कुछ' का इतिवृत्त, जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव तटस्थ हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नही करसकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना ही इसका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त-प्राकृत-कालातीत उस अनन्तब्रह्म के 'कुछ' (प्रतिरूप) रूप इस अप्राकृत 'अहम्' रूप आत्ममानव के सम्बन्ध में, लोकातीत मानव के सम्बन्ध में, इसके महामहिमामय–अनन्तानन्त (अनन्तकाल से भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उसके लिए सबकुछ कह देना है।

४८६–अचिन्त्य--अनन्त--कालातीत--ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यच्चायावत् समाधानाभासों की सम्प्रश्नता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया श्रुतोपश्रुत आप्तपुरुषों की आर्ष–धारणाएँ—

क्योंकि इस आनन्त्य के लिए जो कुछ भी कहा जायगा, वह सब 'सम्प्रश्न' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत–शब्दानुगता वाच्यार्थता के अनुबन्ध से। सुनते यह हैं इस 'कुछ' रूप 'अहं' प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप–रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में, किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्परया यही कुछ कि, अनन्तकाल, अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवान्तर विवर्त्त, एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र, ग्रह, आदि आदि यच्चयावत् प्राकृत विवर्त्त,

---

*–सर्वेषामपि चैतेषां वेद–स्मृति–विधानतः।
'गृहस्थ' उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि॥
यथा नदी–नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
—मनुः ६।८९,९०

इन सब कालविवर्त्तों, तथा कालिक-विवर्त्तों का मूलाधारभूत हुआ मनुतत्त्व, सबकुछ मानव के 'अह' रूप अप्राकृत-कालातीत-स्वरूप की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। और ऐसे 'अह' का प्रतिरूप, किंवा 'अह' रूप मानव ही विश्वम्भर के विश्व में ऐसी महती विभूति है, जिसके सस्मरणमात्र से मादृश विकृत-मानव का क्या हो जाता है ?, यह भी तो यह विकृत मानव नहीं जान रहा। कहाँ मानव का महतोमहीयान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप, और कहाँ उसी विभूतिशाली मानव का यह बुद्धिव्यामोहन, जिससे आपादमस्तक व्यामुग्ध बनता हुआ ही यह विकृत मानव आज मानव जैसी अनन्तविभूति के उद्बोधन की न केवल धृष्टता ही कर रहा है, अपितु 'दिग्देशकालस्वरूपमीमासा' नामक महान् छल का आश्रय लेता हुआ स्वय अपने विकृत-स्वरूप को और भी अधिक विकृत ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७–वाग्विजृम्भणविस्मृतिपूर्वक-'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक उद्बोधनसूत्र के प्रति आत्मसमर्पण, एवं श्रौत मूलसूत्रों का सस्मरण—

अतएव अन्ततोगत्वा अपने इस समस्त वाग्विजृम्भण को सर्वात्मना विस्मृत करते हुए, प्रतिरूपात्मक अप्राकृत-ऋषिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनसूत्रों का माङ्गलिक सस्मरण करते हुए-'अभय वै ब्रह्म। मा भैषी'। योऽस्मान्द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्म, त जम्भे दध्म' इस वरदा-अभया-वाणी के समन्वय-दिग्दर्शन के अव्यहितोत्तरकाल में ही कालसाक्षी में प्रस्तुत दिग्देशकालमीमासा उपरत हो रही है।

मूलसूत्राणि

१-अहमिद्धि पितुष्परि मेधाऽमृतस्य जग्रभ।
अह सूर्य इवाजनि। (ऋक् स० ८।६।१०) ॥

२-अह गर्भमदधामोषधीष्वह विश्वेषु भुवनेष्वन्त'।
अह प्रजा अजनय पृथिव्यामह जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥
—ऋक् स० १०।१८३।३।

३-अह मनुरभव सूर्यश्चाह कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्र ।
अहं कुत्समार्जुनेय न्यृञ्जेऽह कविरुशना पश्यता मा ॥
—ऋक् स० ४।२६।१।

अनन्तब्रह्म

४-स वाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणत', स उत्तरतः। स एवेद सर्वम्।

अप्राकृतमानवः (ब्रह्मणः प्रतिरूपः)

५-अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अह दक्षिणत, अहमुत्तरत। अहमेवेद सर्वम्।

प्राकृतमानवः (प्रकृतेः-प्रतिरूपः) —
६–आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तान्, आत्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः। आत्मैवेदं सर्वम्।

प्राकृतमानवः (फलम्) —
७–स वा एप एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्–आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः,–स स्वराट्–भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

प्राकृतः कालसर्गः —
८–तस्य ह वा एतस्य–एवं पश्यतः, एवं मन्वानस्य, एवं विजानतः-आत्मतः प्राणः। आत्मत-:आशा। आत्मतः-आकाशः। आत्मतः-तेजः। आत्मतः-आपः। आत्मतः–आविर्भाव–तिरोभावौ। आत्मतः–संकल्पः। आत्मतः–मनः। आत्मतो वाक्। आत्मतो नाम। आत्मतः–मन्त्राः। आत्मतः कर्म्माणि। आत्मत एवेदं सर्वम्।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अध्याय, २५–२६ खण्ड

असमर्थ हैं हम दिग्देशकालमीमांसानुगत मानव के प्रतिरूपात्मक संस्मरण से सम्बन्ध रखने वाले उक्त वचनों के अक्षरार्थमात्र-समन्वय में भी। अत्र तो इस समन्वय का भार मानव की सहज प्रज्ञा पर ही छोड़ते हुए 'दिग्देशकालमीमांसा से अनुप्राणित 'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' इस उद्बोधनसूत्र का मीमांसोदर्कात्मक संस्मरण ही और कर लिया जाता है।

४८८–ऋद्धि–समृद्ध्यादि विविध प्राकृत द्वन्दों के प्रति आकर्षित मानवीय मन, तद–नुप्राणित मानवीय मापदण्ड, एवं तदनुगत मानव का महान् प्राकृत स्वरूप—

ऋद्धि-वृद्धि,-सुख-शान्ति, तुष्टि-तृप्ति, समृद्धि-आनन्द, भूमा-अभय ही 'मानव' के प्रमुख लक्ष्य हैं। मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का, सम्पूर्ण प्रश्नों का, सम्पूर्ण उत्तरों का, सम्पूर्ण लोकचातुर्य्यों का, सम्पूर्ण दार्शनिक–मीमांसाओं का, सम्पूर्ण वैज्ञानिक विजृम्भणों का, सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारों, कर्त्तव्यकर्म्मों, उपासनाओं, भक्तिमार्गों, ज्ञानयोगों का, किंबहुना सभी प्रवृत्तियों का, और सभी निवृत्तियों का एकमात्र मूल 'सुख-शान्ति-कामना' ही है, एवं यही एकमात्र एक वैसा मापदण्ड है, जिस के माध्यम से मानव की सदसत्प्रवृत्तियों का, कर्त्तव्याकर्त्तव्यभावों का, शुभाशुभपरिणामों का, पुण्य–पाप–द्वन्दों–का, आदि आदि का मूल्याङ्कन सम्भव बना करता है। महान् है मानव। उस सीमापर्य्यन्त महान् है, जिस सीमापर्य्यन्त सम्पूर्ण विश्व में तो मानव से महान् और कोई भी नहीं है। अतएव महान् ही नहीं, अपितु महतोमहीयान् है मानव अपने प्राकृत स्वरूप से भी, एवं अपने अप्राकृत स्वरूप से भी।

४८९–स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्–अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुह्यतमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही, सहजरूप से ही ऋद्धि, सुख, तुष्टि, समृद्धि, भूमा, आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है महज्जरूपेणैव, वहाँ यही मानव अपने अप्राकृत महतोमहीयान् (महान् प्राकृत स्वरूप से ही भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से वृद्धि, शान्ति, तृप्ति, आनन्द, अभय, आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है महज्जरूप से ही। अपनी इस उभयभावान्विता महत्स्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्क्षरप्रकृत्या), एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषात्मक अभय-भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो, महदक्षर–रूपात्मक प्रकृति–भाव जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में–अनन्ता महदक्षरप्रकृति जिस का 'अनन्त–प्राकृत–स्वरूप' हो, अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त–पौरुष–स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

४९०–इतर प्राकृत-परिणामात्मक-कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत-प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही, वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अजर अमर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के महद्-भयात्मक महान् दण्ड का अनुवर्त्तन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होना ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अभया छत्रच्छाया से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भयरूपेण अभयभाव को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति के लीलाविलासात्मक अनुरञ्जन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों से अपने प्राकृतभाव का अनुरञ्जन करने के लिए। मानवेतर प्राणी वज्रसम महद्भय की प्रवर्त्तिका कालप्रकृति से, प्राकृत कालदण्ड से जहाँ सदा भयत्रस्त बने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत कालदण्डभय को अपने महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिन्न प्रमाणित करता हुआ, अतएव च इस दण्डभय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ 'अभय–वै ब्रह्म' का ही प्रतिरूप बनता हुआ समस्त प्राणियों को 'मा भैषी'–'मा-कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'–'सर्वे सन्तु निरामया' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयब्रह्मवत्।

४९१–मानवस्वरूप को संत्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति ऋषिमानव का प्रचण्ड उद्घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृद्विकम्पन—

और साथ ही जो दुष्टबुद्धि हिंस्रक पशुभाव, एवं असुर राक्षस–पिशाच–यक्ष–अस्मादि भाव मानव के इस 'अभयात्मक' स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयपथानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

जीवन पर आक्रमण करने की कल्पना का भी अक्षम्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभयं वै ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भैषी' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवर्त्तक-दुःखप्रवर्त्तक-व्यृद्धि प्रवर्त्तक, उन सब आततायी-द्वेष्टा-असुर-राक्षसों को अपनी करालकालात्मिका महीयसी दुर्द्दान्ता विकरालदंष्ट्रा में हीं चूर्णित कर डालता है, और यों प्रकृत्सा महान्, तथा पौरुषेण च महतोमहीयान् बना हुआ मानवश्रेष्ठ 'अभयब्रह्म' भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भैषीः'! (मत डरो)! यही उद्बोधन प्रदान करता हुआ अपने कालात्मक, दण्डभयात्मक स्वरूप से यह चेतावनी भी देता जा रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विश्व भावों को संत्रस्त करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः-तं जम्भे दध्मः।

४९२-स्वस्वरूपानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा भयत्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न—

तदित्थं-पुराणपुरुष भगवान् व्यास के ही-'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इस उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान्, तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महतोमहीयान्, अभयब्रह्मात्मक (अव्ययब्रह्मात्मक), दूसरे शब्दों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निर्भय, तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवश्रेष्ठ, अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणियों तक को 'निर्भय' बनाने में सक्षम मानवश्रेष्ठ, भयप्रवर्त्तक दुष्टों को अपनी करालदंष्ट्रा से चूर्णित कर देने की क्षमता रखने वाला मानवश्रेष्ठ, निर्भयस्वरूपात्मक प्राकृत-अनन्तकालाक्षर का प्रतिरूप, तथा अभय-स्वरूपात्मक-अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूप मानवश्रेष्ठ?, कैसे, क्यों आज इसप्रकार अपनी इस महत्ता को इस गरिमामहिमा को, इस सर्वश्रेष्ठता को सर्वात्मना ही विस्मृत कर स्वयमपि भयत्रस्त बन रहा है, एवं अपने इन भयों से अपने समान-प्रतिरूप-मानवों को भी भयत्रस्त प्रमाणित करता जारहा है?, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी भयार्त्त ही बनाता जा रहा है?, सचमुच ये प्रश्न आज प्रत्येक प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठ को तो अपनी ओर आकर्षित करते ही जा रहे हैं।

४९३-दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्म्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कोई नवीन नहीं है। सहज है मानव का यह आकर्षण। सदा से ही मानव प्राकृत-भयों के भौतिक-भेदों की ओर आकर्षित होता आरहा है। किन्तु पुरातन मानवश्रेष्ठने अपनी स्वस्था, तथा प्रकृतिस्था प्रज्ञा को इस आकर्षण-समस्या-के आलोडन-विलोडन-पर ही समाप्त नहीं कर डाला है। अपितु इस आकर्षण के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं इसके प्रतिद्वन्द्वी महान् आकर्षणबल से इस भयात्मक आकर्षण को सर्वथा निर्म्मूल ही बना दिया है इसने, जबकि दिग्देशकालप्रेमी आज का वही मानवश्रेष्ठ स्वयं ही तो ऐसे भयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है, स्वयं ही अपने द्वारा सृष्ट इन भयाकर्षणों की तत्समानधर्म्मा अगणित भयाकर्षणों से बलप्रदान करता जा रहा है, इस बलप्रधानप्रक्रिया से यों स्वयं ही यह अपने आकर्षणभय

को, भयाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता जा रहा है, और यों अथ से इति पर्य्यन्त स्वयं यही, हां एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धिमान् मानव ही, अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के समतुलन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जारहा है, और वही अपने समानधर्म्मा ही भयाकर्षण के जनक-प्रवर्त्तकों से यह प्रश्न भी करता जारहा है कि,-'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ?।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्ज्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान-प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विडम्बनापूर्ण-महान् विमोहन—

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसावृत्तिपरायण-प्रचण्ड-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय परम्पराओं का सर्ज्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है, ठीक वही दशा आज मानवने अपनी करली है। भय से सभी सन्त्रस्त, किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं, जिनका अथ से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल 'भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है। किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है, जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है। और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी, जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है। अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं। और आज तो मानव मानों मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि'-'मित्र ! क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्त्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्म्माण करते जारहे हो' ?।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा सबकुछ क्यों हो रहा है ?। सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में, मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में, इसकी सर्वश्रेष्ठा मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जारहा है ?। क्या आजके लोकचतुर मानवने, अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने, अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ?। किया है, करता जा रहा है, करता ही रहेगा। क्योंकि मानव अन्ततोगत्वा मानव है, महान् है, श्रेष्ठतम है। अतएव कदापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है। अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में, सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही। और अवश्य ही यह स्वयं ही 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनरावर्त्तन करेगा ही। अपेक्षित है आजके प्रयासों में 'यत्किञ्चित्' संशोधन। और अत्यन्त प्रणतभाव से 'दिग्देशकालमीमांसा' रूपेण वही संशोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है-उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही।

४६६–निरूपिता 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' के सम्बन्ध में तद्विस्मृतिरूप 'यत्किञ्चित्' संशोधन, एवं दिग्देशकालनिबन्धन--युगधर्म्मों के प्रति जागरूकता का दिग्दर्शन–

और उस 'यत्किञ्चित् संशोधन' का एकमात्र अर्थ है–'मानव अपने महान् स्वरूप से दिग्देशकालमीमांसा का सर्वथा ही बहिष्कार ही करदे'। यही इस महारम्भा दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र 'संशोधित संस्करण' माना जायगा। "यह हमारी दिशा है–हमारी सीमाविन्दु है। यह हमारा देश है, हमारा प्रदेश है, हमारा प्रान्त है, हमारा राष्ट्र है, और सर्वोपरि यह हमारा काल है, हमारा सत्ताकाल है, हमारा भोग्यकाल है, हमारा समय है (हमारा ज़माना है)" इसप्रकार सर्वथा सीमित, परिच्छिन्न दिग्–देश–काल–भाव ही, दिग्देशकालमीमांसाएँ हीं आज सर्वश्रेष्ट भी, महान् भी मानव को भयाकर्षणों से विमुक्त नहीं होने देरही। अपने दिग्देशकालानुबन्धी–वर्त्तमान–भूतभावानुबन्धी–भौतिक विज्ञानने हीं वैज्ञानिक-मानवों को, मानव की महत्ता को, दिग्देशकालातीता अनन्तता को आज इसी दिग्देशकाल की सीमा में आबद्ध कर लिया है। भूतविज्ञान के वारुणपाश से आबद्धा मानव की बुद्धि अपनी महिमा से पराङ्मुख बन कर आज इन प्रत्यक्षदृष्ट–मूर्त्त·भौतिक–दिग्देशकालों में हीं सीमित हो गई है।

४६७–व्यक्तित्वविमोहनात्मिका 'व्यक्ति' की एषणाओं से अनुप्राणिता दिग्देशकालविमूढ़ता, तदनुगता वैय्यक्तिक-स्वार्थमयी मलीमसा दानवता-लक्षणा मानवता—

ठीक यही स्थिति उन लोकचतुर–लोकनिष्ठ–मानवो की है, जिन की दृष्टि में भी इस प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक दिगादि के अतिरिक्त मानव का और कोई भी स्वरूप है ही नहीं। अतएव वह लोकमानव भी अपनी वैय्यक्तिक सीमा (दिक्), अपने वैय्यक्तिक देश (घर--ज़मीन-जायदाद--सम्पत्ति), एवं अपने वैय्यक्तिक काल (आयुर्भोगकाल) को ही 'मानव' का स्वरूप मान बैठा है। अतएव इस में भी यही वारुणपाशात्मक वैय्यक्तिक मोह जागरूक हो पड़ा है कि, "मैं अपनी सीमा में अपने लिए अपने जीवनकाल में जो कुछ अर्ज्जित–सञ्चित–करलूँगा, वही मेरे लिए, और अधिक से अधिक मेरे परिबार के लिए पर्य्याप्त होगा"। वैय्यक्तिक–स्वार्थमूलक इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालबन्धनने इसप्रकार इस लोकमानव को मानव के अनन्त-स्वरूप से अभिभूत कर आज 'दानव' कोटि में ही ला खड़ा किया है। अपने इस वैय्यक्तिक–दिग्देशकाल के रक्षण–व्यामोहन में यदि आज इसे सम्पूर्ण मानवों का वध कर देना पड़े, तो इसे भी यह अपना लोकचातुर्य्य ही मान बैठता है। इस से अधिक व्यक्तिवादी के इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालव्यामोहन का, तदनुगता क्रमव्यवस्थाओं का, एवं तदनुप्राणिता मावनता? रूपा दानवता का और क्या मलीमस-जघन्य इतिवृत्त होगा?।

४६८–राष्ट्रवादी मानव के 'राष्ट्र' की दिग्देशकालनिबन्धना स्वरूप-व्याख्या, एवं तन्निबन्धन महतोमहीयान् कल्पित--विजृम्भण—

अब उस राष्ट्रवादी मानव को लक्ष्य बनाइए, जिसने भी 'राष्ट्र' का अर्थ 'दिग्देशकाल' ही मान रक्खा है। अमुक पर्वतों, नद-नदियों, धातूपधातों, खनिज द्रव्यों, ओषधि–वनस्पतियों, पशु–पक्षि–कृमि–कीटों, आदि आदि असंख्य अगणित अमुकामुक भूत–भौतिक–परिग्रहों के भार से भाराक्रान्त बने रहने वाले

अमुक भूखण्ड का नाम ही क्या-'राजते' लक्षण 'राष्ट्र' है ?। सर्वथा जड, सर्वथा निष्प्राण मृत्पिण्डात्मक भूपिण्ड के एक प्रत्यशतम भाग का नाम ही क्या 'राष्ट्र' है ?, जिसके रक्षण के लिए तद्राष्ट्रीय मानव आज अन्य भूखण्डों के मानवों का रक्तपात कर देने का नाम हीं-'राष्ट्र के लिए बलिदान' मान रहे हैं, एवं इसी को 'राष्ट्रसेवा'-'देशसेवा'-'देशहित' आदि अभिधाओं से समन्वित करते जारहे हैं। क्यों मानव में ऐसा व्यामोहन हुआ ?, उत्तर वही 'दिग्देशकालमीमांसा'।

४६६-मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप' की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वर्थता—

सृष्टिनिर्माणानुबन्धिनी उस पुरातना-अतिपुरातना-स्थिति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए, जबकि भूभाग पर 'मानव' नाम की सर्वश्रेष्ठा विभूति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी। क्या उस आरम्भिक दशा में यह भूपिण्ड 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कृत था ?। अथवा जाने दीजिए उस उदाहरण को। क्योंकि वह उदाहरण आपके प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिक्रान्त बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो। यही तो मानव का वह महान् व्यामोहन है, जिस 'वर्त्तमान' लक्षण व्यामोहन के कारण ही मानव अपने त्रैकालिक महान् स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है। हाँ, तो जापान के उस वर्त्तमान भूखण्टदेश को लक्ष्योदाहरण बना लीजिए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया, तो भी ऐसे इतिहासों के स्रष्टा समानधर्म्मियों के अनुग्रह से सुन कर भी विश्वास तो कर ही लिया होगा कि, घटना, किंवा घोरघोरतमा दुर्घटना सर्वथा तथ्यपूर्णा ही थी। दिग्देशकालप्रेमी किसी वैज्ञानिक मानव की विमल ? बुद्धि ? से आविष्कृत अमुक दिव्य वरदान ('बमशङ्कर' नहीं, अपितु 'प्रलयङ्कर बम') के निःसीम अनुग्रह से यवद्वीप का वह सुसमृद्ध भूभाग सदा सदा के लिए 'निर्ऋतिदेवता' का ही लीलाविलासक्षेत्र बन गया। अब आज भी देखिए उस प्रान्तविशेष को, दिक्-कालानुगत उसी देशविशेष को जाकर। क्या अब भी आप मृत्पिण्डात्मक भूखण्ड को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ?। क्या मानव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी 'राष्ट्र' की कोई स्वरूप-व्याख्या है ?। दीप्त्यर्थक 'राज्' धातु से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीप्तिभाव, प्रकाशभाव, आलोकभाव के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' को (ऐसे मानव को, जो स्वस्वरूप से, स्वमानवोचिता विभूतियों से प्रदीप्त है, प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है। जिस भूखण्ड में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोकरूप) मानवश्रेष्ठ-'राजते', अर्थात् विद्यमान् है, उस भूखण्ड को ही 'मानवरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है।

५००-'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड--विशेषों की राष्ट्रीयता, 'राष्ट्र' स्वरूपव्याख्यात्मक मानव, एवं तद्व्यापकता का समन्वय—

'राष्ट्रमानव' से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' कहलाया है, न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है। निष्कर्षत मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूप-व्याख्या है, जिसे कदापि किसी भूखण्ड-भूप्रान्त-देश-विशेषरूप मृत्पिण्ड की सीमा में आबद्ध नहीं किया जासकता। जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्ररूप मानव उत्पीडित है, वहाँ वहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' रूपा प्रदीप्ति को जलाञ्जलि समर्पित कर मानवों के लिए उत्पीडक बन गया है,

कदापि उस उस भूखण्ड को 'राष्ट्र' उपाधि से सम्मानित नहीं किया जासकता, नही किया गया। मानवशून्य, प्रदीप्तिरूप मानवशून्य, उत्पीड़ित मानवयुक्त, एवं उत्पीड़क मानवयुक्त सभी भूखण्ड अराष्ट्र हैं, मर्त्य-शवशरीरमात्र हैं, जहाँ के उपास्यदेवता माने गए हैं-'अराजकता'-'विद्रोह'-'विविध रोग'-'अकाल'-'दुष्काल'-'स्वार्थान्धता'-'पदप्रतिष्ठाव्यामोहन', जिन इन देवताओं की गणनाने तो त्रिंशत्कोटिमिता देवगणना की सीमा का भी आज उल्लंघन ही कर दिया है।

५०१-आज के बुद्धिमान् मानव के द्वारा 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' का प्रतिष्ठापन, राष्ट्रीयता के प्रति आक्रोश, तथा तत्स्थान में 'विश्वमैत्री', 'विश्वबन्धुत्त्व' आदि नवीन भावों का आविर्भाव—

सुनते हैं—आज के बुद्धिमान् मानवने 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' को प्रतिष्ठित कर अपनी विशालता का परिचय देना आरम्भ कर दिया है, और इसी अनुबन्ध के माध्यम से आज 'राष्ट्र' 'राष्ट्रवाद'-रूप में परिणत होता हुआ एकप्रकार की प्रान्तीयता का ही सूचक बन गया है। एवं उच्चकोटि के बुद्धिमान् आज 'राष्ट्रीयता' को भी एक हीनता ही मानने लग पड़े हैं। तत्स्थान में प्रतिष्ठित होगए हैं आज-'विश्वमैत्री'-'विश्वबन्धुत्त्व' 'विश्वहित' इत्यादि शब्द। स्वागत ही करना चाहिए था हमें इन विशाल अनुबन्धों का। किन्तु एकमात्र 'मानव' की महत्ता के संरक्षण-व्यामोहन से ही हम तो इस विशालता का यत्किञ्चित् भी तो अर्थ समन्वित नही कर पारहे। इस 'विश्वमैत्री' का कुछ भी तो अर्थ हमारी समझ में नही आरहा। इसलिए समझ में नही आरहा कि, दिग्देशकालानुबन्धिनी 'बुद्धि' का तो सङ्केत हुआ है 'मानवशास्त्र' में। किन्तु वैसी 'समझ' का दिग्देशकाल-सीमा की दृष्टि से मानवशास्त्र में कहीं भी वर्णन नही उपलब्ध न करसके हम आजतक, जो 'समझ' यह प्रमाणित करदे कि-'विश्व' भूखण्ड से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतन-विकसित-पदार्थ तत्त्व है, जिसे तथाकथिता परिभाषा के अनुसार 'राजते' लक्षणा 'राष्ट्र की उपाधि से समलङ्कृत कर दिया जाय ?। और तब तो हमारा यह व्यामोहन सर्वथा ही विगलित हो जाना चाहिए, जबकि अब तो 'भूविश्व' की सीमा के 'चन्द्रलोक' के द्वारा कही अधिक बड़ी होजाने के शुभसंकल्प किए जारहे हैं।

५०२-भूतव्यासक्तिमूला व्यापकता के भावुकतापूर्ण मलीमस इतिहास से अनुप्राणिता विश्वमैत्रीलक्षणा राष्ट्रीयता का स्वरूप--विस्फोटन--

सुना है—विज्ञाननिष्ठ जापान में तो चन्द्रलोक के प्रदेशों का क्रय—विक्रय—भी आरम्भ होगया है। जहांतक लोकान्वेषण का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक की बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। क्योंकि इस से भूमाभाव की ही अनुगति हुई है। किन्तु उस लोक में रहने का आकर्षण, वहाँ देश-प्रदेशों के क्रय-विक्रय का आकर्षण जब वैज्ञानिक के सम्मुख आ खड़ा होता है, तो हम स्तब्ध होजाते हैं उसके इस दिग्देश-काल—व्यामोहन को देख (सुन) कर। और ऐसा—सा ही नहीं, अपितु यही अर्थ है विश्वात्मिका राष्ट्रीयता का भी, जिसमें दिग्देशकालात्मक भूविवर्त्त ही (भूखण्ड ही) लक्ष्य बन रहा है। यही है उस विश्वबन्धुत्त्व का, विश्वमैत्री का नितान्त छल-पूर्ण मिथ्या-प्रदर्शन, जिसके गर्भ में प्रत्येक भूखण्डाधिपति की भूखण्डाभिवृद्धि ही प्रधान लक्ष्य बनी हुई है। दृष्टि के सम्मुख दिग्देशकालातीत अनन्त मानव नही है, अपितु दिग्देश-

कालात्मक सादिशान्त विश्व ही इस मैत्री का, किंवा बन्धुत्व का आधारस्तम्भ बन रहा है, किंवा बलपूर्वक बनाया जारहा है। इस दिग्देशकालानुबन्धताने ही तो आज मानव से 'मानव' को परोक्ष कर दिया है।

५०३-अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तित्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैय्यक्तिक स्वार्थ--

अतएव आज रूस अमेरिका से मित्रता चाहता है, तो भारत रूस की मित्रता के लिए आतुर होता जारहा है, तो मुस्लिमस्तान (पाकिस्तान) अमेरिका का अञ्चल थामे हुए है। मानव मानव की मित्रता आज सर्वत्र अनपेक्षित है। मैत्री अपेक्षित है-देश-की देश के साथ, किंवा दिक् की दिक् के साथ, अथवा तो काल की काल के साथ। प्रत्येक देश, अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से लाभ उठाने के लिए मित्रता की उद्घोषपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन दैशिक-कालिक-अनुरञ्जनों (आज की भाषा में-सांस्कृतिक-आयोजनों) के आवर्त्तों में तल्लीन बनता जारहा है, जैसेकि एक वाराङ्गना अपने इत्थभूत आयोजना से परसम्पत्ति के प्रति गिद्धदृष्टि-निक्षेप किए रहती है। कहीं भी तो न उपक्रम में ही तथाकथिता मैत्री में, बन्धुत्व में 'मानव' का संस्मरण, न उपसंहार में ही मानव का समावेश। एक देश दूसरे देश से मिल कर करता है-दैशिक-कालिक-भूतभौतिक पदार्थों के पारस्परिक आदान प्रदान का, क्रय-विक्रय का समझौता। यदि इस समझौते में सौदा नहीं पटता, तो फिर तत्-वस्तु परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विसर्ज्जित क्या न करदे, कदापि बिना समझौते, अर्थात् दिग्देशकालात्मक लाभ की तात्कालिक, अथवा तो भावी-आशा के समझौते कार्य्यरूप में परिणत नहीं होते। ऐसी विडम्बना क्यों ?। उत्तर वही दिग्देशकाल का व्यामोहन। इस व्यामोहन की विद्यमानता में तो वैय्यक्तिक स्वार्थ-पारिवारिक स्वार्थ-सामाजिक-स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं सर्वान्त का विश्वस्वार्थ, अर्थात् वैय्यक्तिकादि, विश्वान्ता मैत्री, इन सब का एक ही अर्थ है। और उसी अर्थ का नाम है-'दिग्देशकालस्वार्थ', अर्थात् मानवस्वरूप के समतुलन में चरमसीमा का घोरघोरतम 'अनर्थ'।

५०४-तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्याजधर्म्मात्मक आज के मानवता-अहिंसा-सत्य-दया-करुणा-नैतिकता आदि आदि वाग्विजृम्भण, एवं तदनुगता विलक्षणा भावभङ्गिमा--

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आज की वे "मानवता-दया-करुणा-अहिंसा-मैत्री-सहास्तित्त्व-पञ्चशील-सत्यभाषण-परोपकार-त्याग-तपस्या-बलिदान-संयम-नैतिकता-राष्ट्रसेवा-ग्रामसेवा-रचनात्मक कार्य-विकासयोजनाएँ-" आदि आदि समस्त उदात्त-शब्दघोषणाएँ मात्र अन्तर्गर्भित हैं, जिन में सर्वत्र 'मानव' उपेक्षित है, एवं-'दिग्देशकाल ही प्रमुख हैं'। दिग्देशकालानुबन्धी स्वार्थ की यत्किञ्चित् भी हानि की सम्भावना-मात्र से भी वे सभी शब्द क्रमशः-'दानवता-क्रूरता-घृणा-हिंसा-शत्रुता-सहविरोध-पञ्चेन्द्रियलोलुपता-मिथ्याभाषण-स्वस्वार्थ-संग्रह-विश्राम-सरक्षण-स्खलन-भौतिकता-राष्ट्रद्रोह-ग्रामद्रोह-रचनाविध्वंस-संकोच योजनाएँ-" आदि आदि विपर्य्ययभावों में परिणत हो जाते हैं। पूर्व-

क्षण में जहाँ यह सुनते हैं कि, "अमुक देश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढाया", तो उत्तर क्षण में ही दिग्देशकालात्मक विजम्भणों के प्रचार-प्रसार में धुरीण समाचारपत्रों में यह इतिवृत्त उद्धृत सुन लिया जाता है कि-"मैत्रीपूर्णा वार्त्ता के विफल हो जाने से अमुक ने अमुक देश पर गोले बरसाना आरम्भ क· दिया" । धन्य है यह मैत्री ! और तदपेक्षया भी धन्य है इस की यह भङ्ग-भङ्गिमा ! ! (अर्थात्-मैत्रीविच्छेद)

५०५-दिग्देशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौणत्त्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का संस्मरण, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-अनुष्ठानों के आधारभूत काल की स्वरूप-परिभाषा—

तथाकथित सभी दिग्देशकालभावों में दिग्देशकाल बन रहे हैं प्रधान, एवं मानव सर्वत्र बन रहा है गौण, एवं अत्रैव 'भारतराष्ट्र' के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति आज दिग्देशात्मक राष्ट्रवादियों, तथा विश्ववादियों का ध्यान और आकर्षित कर दिया जाता है । दिग्देशकालातीता 'मानव-संस्कृति' के आधार पर प्रतिष्ठिता हमें अपनी दिग्देशकालातीता ही भारतराष्ट्र की 'राष्ट्रीय-संस्कृति' की उस गरिमामहिमा की दिग्देशकालातीतता को देख-सुन कर अणुमात्र भी आश्चर्य्य इसलिए नहीं हो रहा कि, हमारे सभी सांस्कृतिक अनुष्ठान (आचार), आयोजन-आदि आदि किसी व्यक्त-देश-काल से अनुप्राणित न हो कर इन मूर्त्त-भौतिक-व्यक्त-दिक्-देश-कालो से अतीत अमूर्त्त-अभौतिक-अव्यक्त, अतएव महतोमहीयान् अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्तदेश-भावों के आधार पर ही व्यवस्थित हुऐ हैं । वस्तुस्थिति क्योंकि अनन्त प्राणजगत् से सम्बन्ध रखने वाली है, अतएव थोड़ी सूक्ष्म अवश्य है । किन्तु है सहजरूपेणैव बुद्धिगम्य । क्या हम प्रत्यक्ष-दृष्ट श्रुत-उपवर्णित-चान्द्र-सम्वत्सर-वर्ष-कालात्मक सादि-सान्त काल को अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानाचारों में 'काल' (समय) कहते हैं ?। नहीं । अपितु हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत संकल्पित काल वह 'संकल्पकाल' होता है, जो 'ब्राह्मकाल' नाम से प्रसिद्ध है, जिस का परिचायक-संग्राहक-बनता है तदंशभूत वह मन्वन्तरकाल, जो उस ब्राह्म अनन्तकाल का अंशमात्र बनता हुआ भी व्यक्त-व्यावहारिक-वर्षात्मक काल से तो सर्वथा अनाद्यनन्त की बना हुआ है. जिसका कि खण्डा-रम्भ में ही प्रणतभाव से संस्मरण किया जाचुका है । सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरात्मक ब्राह्मकाल ही, वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव का संकल्पकाल है, और वही इसके समस्त प्राकृत विधि-विधानों का साक्षी बन रहा है ।

५०६-तत्त्वात्मक-मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्भाव की स्वरूप-परिभाषा—

यही अवस्था यहाँ के 'दिग्भाव' की है । कदापि हम कल्पित आकारभाव को, इन सादिसान्त अवसान-भावों को 'दिक्' (दिशा) नहीं कहते, जो कि मूर्त्ता दिक् सादिसान्त देशों की परिचायिका बनी रहती है । किन्तु हम उसे प्राची-प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-ऊर्ध्वा-अधः-दिक् कहते हैं, जो क्रमशः इन्द्र, वरुण, सोम, यम, ब्रह्मा, अनन्त, आदि अमूर्त्त-अनन्त-प्राणभावों से अभिन्न अनन्त पारमेष्ठ्य छन्दोदेवता ही हैं । कालदेववत् देवप्राणात्मिका ये दिशाएँ भी हमारे लिए पूज्या हैं, आराध्या हैं, उपास्या हैं, जिन का हमारे आचारधर्म्मों में

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता दशावयव विराट् प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं *।

५०७–काल. तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतदेश' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्ट्या मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की सादि–सान्तताने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है, एवं इस देशविमूढता के माध्यम ने ही जिसमें राष्ट्रप्रेम, विश्वबन्धुत्व, आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का सर्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषामें देशसंग्राहक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों की प्रधानता नहीं देरहे। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर दना है, जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत', जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखण्डात्मक सादि–सान्त–मर्त्य–'देश' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण, किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है, जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास-निवास-करते हैं, क्या उस का नाम 'भारतदेश', किंवा 'भारतराष्ट्र' है ?, क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है, न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है, न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप दिव्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमृताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का, जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं। परिच्छिन्न–भौतिक–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है, जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है, जिसके गर्भ में न केवल यह भूखण्ड-विशेष ही, अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना हीं स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है, जो ब्रह्मवीर्यात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत, प्रकृतिसिद्ध, नित्य चातुर्वर्ण्य में 'ब्राह्मणवर्ण' माने गए हैं। यह वह 'ब्राह्मणाग्नि', किंवा 'ब्रह्माग्नि' है, जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी, सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है, एवं इसी के ऊर्ध्ववितत प्राणात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के द्युलोकीय

---

* तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोर्ध्वा। तेभ्यो नमो अस्तु (यजु स० १६।६४)। प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव महः (गो० पू० ५।१५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५)। दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५) इत्यादि।

साम्वत्सरिक प्राणदेवदेवताओं का भी (पार्थिव हवि के प्रदान से, हविःप्रदानात्मक इस आधिदैविक यज्ञ से) भरण-पोषण होता रहता है। इत्थंभूत ब्राह्मण भारताग्नि इस भरण-पोषण-धर्म्म से ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्राणदेवों के लिए हव्य (सोमाहुति) वहन करने के कारण हीं ये भारताग्नि 'हव्यवाट्' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड क्योंकि इस भारताग्नि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्पूर्ण-भूपिण्ड को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्तदृष्टिकोण से। और हम समझते हैं, जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूखण्डों के मानव अपने अपने सादि-सान्त-दैशिक-प्रान्तीय-कल्पित-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेगें, इसी आर्ष अभिधा (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे, जैसेकि इस भूखण्ड की अनन्तोपासिका ऋषिमान-वप्रज्ञा ने इसी त्रैलोक्यव्यापक 'भारताग्नि' के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूखण्ड का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इसे-'भारतदेश' नाम से व्यवस्थित-समन्वित कर लिया हैं।

५०९-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्य्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आर्य्यता', तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पावन शुभ घड़ी में मानव अपने सीमित दिग्दिशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की 'अनार्य्यता' (वैकारिकता) क्षणमात्र में विलीन होजायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध-'आर्य्यत्त्व' से अभिव्यक्त होजायगा, जिस की इस भारतदेश के आर्य्यश्रेष्ठ ने अपने आर्य्यसाहित्य में-'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' रूपेण मुक्तकण्ठ से मङ्गलकामना अभिव्यक्त की है। निश्चयेन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल बन जायगा 'भारत', एवं इस 'अनन्त भारतदेश' के उपासक अखिलभूमण्डल के मानवमात्र बन जायँगे 'आर्य्य', अर्थात् समदर्शनानुगत आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ, जिस इस सीमित दिग्देशकालात्मिका, किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समदर्शनता (प्राकृतात्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्तद्देशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्म कदापि संघर्ष के कारण नहीं बन पाएँगे।

५१०-अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्य्यावर्त्त' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैशिक-कालिक-विषम (परस्पर विभिन्न) कर्त्तव्य-कर्म्मों में, स्व-स्व-चरित्रों में प्रवृत्त सभी भूखण्डों के मानव स्व-स्व-विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्ता समदर्शनता से निर्विरोध समन्वित होते रहेंगे, इसीको कहा जायगा आत्ममूलक 'साम्य', एवं यही भारतानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्ण व्याख्या होगी, जिसका 'तृतीयखण्ड' में विस्तार से यशोगान किया जाचुका है। एवं जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-चरित्र की शिक्षा उस 'ब्राह्मणमानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों के

सदा से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है, आत्मप्रतीक है, केवल भूखण्डविशेष ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत भरतखण्ड, किंवा भारतखण्ड (सम्पूर्ण भूमण्डलरूप अनन्त भारतदेश का एक प्रतीकात्मक सुप्रसिद्ध 'भारतवर्ष' नामक देश) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतराष्ट्र के द्वारा भारतीय मानवने अपने अनन्त 'भारताग्निशास्त्र', अपौरुषेय ब्रह्माग्निमूलक वेदशास्त्र' के आधार पर सदा इतर भूखण्डों के मानवों की उन उन के चरित्र-कर्त्तव्यों को सुव्यवस्थित बनाते हुए ही उनके लिए 'आर्य्यत्त्व' की मङ्गलकामना की है। कदापि इसने अपने भारतखण्ड के विशेष चरित्रलक्षण उस वर्णाश्रमधर्म्मरूप 'स्वधर्म्म' के प्रति दूसरे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक-मानवों के लिए आग्रह-दुराग्रह व्यक्त किया ही नहीं, जैसे कि अनन्तता के इस व्यापक तथ्य से अपने आप को पृथक् रखने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए उन्हीं का सर्वत्र-प्रचार-करने का प्रयास करते रहते हैं। और निश्चयेन इसी असम्भव-'विशेषप्रकृति' विरुद्ध-प्रयासने मानव को उस सघर्ष पर ला खड़ा किया है, जिसमें अनन्तपुरुषमूला (अव्ययब्रह्ममूला) 'मानवता', तथा अनन्तप्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता', आज सर्वथा ही अन्तर्मुख बनती जारही है।

५११-स्वधर्म्मात्मक श्रौतस्मार्त्त-विशेषधर्म्म का भावुकतापूर्ण विश्वप्रचार-व्यामोहन, तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म्म की अन्तर्म्मुखता, एवं विशेषधर्म्म, तथा आर्य्यत्त्व के पार्थक्य का तात्त्विक-समन्वय—

सहजभाषानुसार-कभी इस भारतदेश ने प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म्म के 'विश्व-प्रचार' का व्यामोहन किया ही नहीं, जैसाकि आज भ्रान्तिवश सोचा जाने लगा है परानुकरण के माध्यम से। "वेदधर्म्म का हम सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करदेंगे, वेदधर्म्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी-शान्त हो सकेगा", इत्यादिरूपेण गतानुगतिक-अन्धानुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्म्मात्मक-कर्त्तव्य प्राकृतिक-कर्त्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आतुर भारतीय, आज के अभिनव वेदव्याख्याता यह विस्मृत कर देते हैं कि, कदापि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। कदापि यहाँ 'धर्म्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं। और कदापि इस का प्रकृतिनिबन्धन स्वधर्म्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म्म' (वर्णानुगत कर्त्तव्यकर्म्म) भारतातिरिक्त भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ भी परस्पर व्यतिक्रम सहन नहीं किया इस वर्णधर्म्म का भारतीय मानवोंनें, केवल अवतारपुरुषों के अतिरिक्त ×। हाँ, उस 'आर्य्यत्त्व' की मङ्गलकामना

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
—मनु

×-धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
—श्रीमद्भागवते

अवश्य ही अभिव्यक्त की है सम्पूर्ण मानवों के लिए इस देश की ऋषिप्रज्ञानं, जो विभिन्नप्रकृतिक सभी विभिन्न मानवों का अविभिन्न–सामान्य-आत्मधर्म्म माना गया है÷ । और यही–'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का स्पष्टार्थ है । व्यापक है आर्य्यत्त्व, एवं सीमारूपेण व्यवस्थित है वर्णाश्रमधर्म्म । अनन्तब्रह्मानुगत है आर्य्यत्त्व, एवं सादि–शान्ता प्रकृति से समन्वित है वर्णाश्रमधर्म्म । आर्य्यत्त्व व्यापकधर्म्म है, सामान्य धर्म्म है, जबकि वर्णाश्रमाचार केवल इस विशेष देश भारत के मानव से ही अनुप्राणित है । वेदशास्त्र का अनन्तात्ममूलक आर्य्यत्त्व ही सम्पूर्ण विश्व से अनुप्राणित माना गया है, जिसका भी प्रचार कदापि अभीप्सित नहीं है । केवल तत्त्वस्थिति का विश्लेषण ही अभीष्ट है, और यही 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का समन्वय है ।

५१२–मानवमात्र की प्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता', एवं दिग्देशकालव्यामोहन से 'अनार्य्यता' का उद्गम, और एतद्देशीय मानवों की भी सम्भाविता 'अनार्य्यता', तथा अन्यदेशीय मानवों की भी सम्भाविता–'आर्य्यता'—

आर्य्य किसी को नवीनरूप से बनाया नहीं जाता । अपितु मानवमात्र मूलतः सहजरूपेणैव आर्य्य ही हैं । अनन्तात्मभाव ही तो 'मनु' रूप मानव का सहज स्वरूप है । दिग्देशकाल के विमोहन से जब मानव अपनी इस आत्मानुगता आर्य्यता को अभिभूत कर लेता है, तो वही मानव अपने इस प्राकृतिक व्यामोहन से 'अनार्य्य' बन जाता है । कदापि आर्य्यता–अनार्य्यता–भूखण्ड–विशेषों में सीमित नहीं है । भारतेतर देशों के मानवश्रेष्ठ भी आर्य्यश्रेष्ठ होसकते हैं, तो भारतदेश के मानव भी अनार्य्य बन सकते हैं, और बन गए हैं आज ।

५१३–प्रकृत्यनुगत सीमित वर्णधर्म्म, तथा प्रकृत्यतीता असीमा आर्य्यता, एवं भारतीय मानव की उभयसम्पत्ति का वर्त्तमान युग में आत्यन्तिक–अभिभव–

भारतीय ब्राह्मण-क्षत्रिय–वैश्य-शूद्र-नामक सभी मानवों की आत्मानुगता, आत्मसाम्यमूला 'आर्य्यता' भी आज अभिभूत है, साथ साथ ही स्वधर्म्मात्मिका 'वर्णता' भी अभिभूत है । न तो प्रकृतिनिबन्धन विशेष-धर्म्मात्मक 'वर्णाश्रमधर्म्म' ही आज सुरक्षित हैं यहाँ के वर्णमानवों का, एवं न प्रकृत्यतीत आत्मानुगत 'आर्य्यधर्म्म' ही व्यवस्थित है। जबकि आर्य्यत्त्वमूलक कतिपय सामान्यधर्म्मों में तो आज भारतेतर कतिपय देशों के मानवश्रेष्ठ ही कहीं अधिक अग्रणी माने जायँगे, जिन के समतुलन में आज के भारतीय मानव को यदि 'अनार्य्य' कह दिया जायगा, तो भी अत्युक्ति न होगी । विश्वानुबन्धिनी आर्य्यता न सही उन में । किन्तु स्वराष्ट्रानुगता 'आर्य्यता' तो स्वीकार करनी हीं पड़ेगी उन की, जबकि यहाँ राष्ट्रानुबन्धिनी आर्य्यता भी आज प्रसुप्ता है । भारतीय मानव का वैय्यक्तिक क्षुद्रस्वार्थ आज अपनी इस राष्ट्रीया आर्य्यता से भी पराङ्मुख हो

÷ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
—गीता

चुका है। नामघोषणा अवश्य है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानवतानुबन्ध मे राष्ट्र के प्रति यत्किञ्चित् भी निष्ठा नहीं है आज भारतीय 'व्यक्तिमानव' की। राष्ट्र–समाज–आदि शब्द आज केवल यहाँ छलपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आज ही नहीं, आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व से अद्यावधि–पर्य्यन्त।

५१४–वर्णावर्णाव्यवस्थाओं, आर्य्य-अनार्य्य-भावों के व्यतिक्रम के तात्त्विक कारण का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों ?, उत्तर वही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश-प्रदेश-घर-परिवार–की सीमाओं में अपना अपना लाभ उठाने के महान् व्यामोहनने ही आज उस भारतीय मानव को 'राष्ट्रीयता' से पराङ्मुख ही कर दिया है, जिस की राष्ट्रीयता तीन सहस्रवर्ष पूर्व के नैष्ठिक युगों म विश्वानुगता ही बनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्य्यता–अनार्य्यता के प्रसङ्ग मे यही निवेदन कर देना था कि, आर्य्यत्व व्यापकधर्म है, ब्राह्मणत्वादि व्याप्यधर्म है। ब्राह्मण 'अनार्य्य' कहला सकता है, जबकि इतर देशीय मानव भी 'आर्य्य' कहला सकता है। कहला रहा है आज के 'अनार्य्य–ब्राह्मण' के समतुलन में। किन्तु इतरदेशीय 'आर्य्य' कदापि 'ब्राह्मण' नहीं कहला सकता। क्योंकि 'ब्राह्मण' शब्द वर्णाश्रमानुगत विशेषधर्म्म का ही संग्राहक है, जिसका एतद्देशीय विशेषवर्ग के साथ ही समन्वय हुआ है, जिस इस दुरधिगम्या 'प्रकृतिमूला' ('तत्वाकृतिमूला') वर्ण विशेषता का समन्वय मानव तभी कर सकेगा, जबकि वह अपने दिग्देशकाल से थोड़ा ऊपर उठ जायगा। तभी वह यह समझ सकेगा कि, एक भारतीय ब्राह्मण 'आर्य्य' तो हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य्य भी मानव कदापि ब्राह्मण नहीं बन सकता। एवमेव क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि सभी विभाग इसी व्याप्य-व्यापक-भावानुबन्ध से सुव्यवस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्राणजगत्–प्राणीजगत्–एवं भूतजगत् में। केवल मानवने ही इन प्रकृतिमूला वर्णावर्णव्यवस्थाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालव्यामोहनों मे।

५१५–भारतदेश के मूल अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हाँ, तो इस देश भारत के इस 'भारत' नाम की आधारभूमि स्वयं यह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। अपितु अनन्तप्राणमूर्त्ति-अमूर्त्त 'भारत–अग्नि' ही इस देश की 'भारत' अभिधा का एकमात्र कारण है। दौष्यन्ति भरत की ही भाँति और और भी अनेक शासकों को भरतसत्तम ! भरतर्षभ ! भारत ! आदि आदि रूपेण 'भारत' अभिधा के कारण माना जासकता है। किन्तु यह मान्यता केवल यशोऽनुबन्धिनी ही मानी जायगी, जबकि आस्था का सम्बन्ध तो 'भारतअग्नि' के से ही माना जायगा। और यही इस देश के नामकरण का चिरन्तन इतिहास माना जायगा, जो कि निम्नलिखित मन्त्र–ब्राह्मण–श्रुतियों से सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ है—

'अग्ने ! महाँ २॥ ऽ असि ब्राह्मण भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह–'ब्राह्मण' इति। स हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्मात्–'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति, तस्माद्वेवाह–'भारते' ति। (शत० ब्रा० १।४।२।२)।—कौ० ब्रा० ३।२।, (तै० ब्रा० ३।५।३।१)।

५१६–अखण्ड भारत अग्नि से समन्वित भारतदेश की अखण्डता, एवं त्रयी-मूलक भारत अग्नि के विस्मरण से अखण्डता की खण्ड-खण्डरूप में परिणति —

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, जबतक भारतीय मानव अपने इस अनन्तप्राणरूप–'भरताग्नि' का, तदनुप्राणित प्राणाग्निरूप 'त्रयीशास्त्र' का, तन्मूला 'अनन्तात्मसंस्कृति' का निष्ठापूर्वक अनुगामी बना रहा, तबतक इसका यह सीमित भरतखण्ड सम्पूर्ण भूलोक का संग्राहक बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व को अपनी 'भारत' उपाधि से, 'अखण्डभारतत्त्व' से अनुप्राणित करता रहा। जिस दिन से इसने अपनी इस 'भारतप्राणात्मिका' ('भारताग्निरूपा') प्राणप्रतिष्ठा को विस्मृत कर दिया, उसी दिन से इसकी यह अखण्डता खण्ड–खण्ड–रूप में हीं परिणत होने लग पड़ी, जिस खण्डता का अवसान अन्ततोगत्वा कहाँ होगा ?, इस प्रश्न का उत्तर तो वे अखण्डभारतवादी आज के राष्ट्रवादी ही सम्भवतः भलीभाँति कर सकेंगे, जिन की दृष्टि में न भारतीय संस्कृति का कोई महत्त्व, न सांस्कृतिक–आचार का ही कोई स्वरूप, एवं नापि सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का ही संस्मरण ? । अपितु जिन की सांस्कृतिक–आयोजन–भक्ति का एकमात्र आधारबिन्दु बने हुए हैं–आज के वे कल्पित आयोजन, जिन के दुःखपूर्ण इतिवृत्त के लिए ही हमें एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है ।

५१७–वर्त्तमान राष्ट्रवादी की कल्पिता अखण्डता का नग्नचित्रण, तदनुबन्धी प्रान्तीयता–व्यामोहन, तद्दुष्परिणाम, और भारत का सम्भावित भीषण-भविष्य--

पुनश्च वे ही अपनी इस कल्पित अखण्डता का समाधान करसकेंगे, जिन की दृष्टि में राष्ट्र के द्वारा प्रान्त, तद्द्वारा ग्राम, तद्द्वारा परिवार, और सर्वान्त में 'व्यक्ति' ही 'अखण्डभारत' की मौलिक परिभाषा बन गई है । इसी दिग्देशकालव्यामोहन से अभी तो महाराष्ट्र-पञ्जाब-आदि कतिपय प्रान्त ही अपने आपको 'अखण्ड-भारत' मानने–मनवाने के लिए आतुर हो रहे हैं । कोई आश्चर्य्य नहीं, कालान्तर में प्रत्येक भारतीय मानव अपने अपने घर को ही 'अखण्डभारत' कह देना आरम्भ करदे । सांस्कृतिक–मूलनिष्ठाओं के प्रारम्भिक स्खलन के ऐसे ही तो दुष्परिणाम हुआ करते हैं । भावावेशमूला–परदर्शनानुगता–अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिव्यामोहनमूला–दिग्देशकालकलुषिता भावुकता के द्वारा हो पड़ने वाली खण्डता (विभाजन) कदापि आज की इन अनेक–खण्ड–खण्ड–भावप्रवृत्तियों का तबतक नियन्त्रण–निरोध कर ही नहीं सकती, जबतक कि अखण्ड-भारत की मौलिक अखण्डता के आधारभूत 'महान् भारत अग्निदेव' की मूलसंस्कृतिनिष्ठा को इन भारतीयों की आधारभूमि नहीं बना दिया जायगा । आज से तीन सहस्र वर्ष के आरम्भ में दिग्देशकालव्यामोहनमूला तात्कालिकी दया-करुणा-अहिंसा-ने आत्मसंस्कृतिविरुद्धा जिस 'शून्यकल्पना' का आविर्भाव कर डाला था इसी देश के एक भावुक मानव ने, उसी के कारण भारतीय-संस्कृतिनिष्ठात्मिका ऐकात्म्यनिष्ठा अन्तर्मुख बन गई । और तभी से अखण्डभारत आततायीवर्गों के द्वारा खण्ड–खण्ड–रूपेण तदुदरों में विलीन होता गया । उसी कल्पित अहिंसावाद के व्यामोहनने, उसी तात्कालिकी दिग्देशकालभ्रान्ति ने अन्ततोगत्वा तो वैसी खण्डता का सर्ज्जन कर ही तो डाला, जिसका प्रायश्चित्त भी आज भारतीय मानव के लिए असम्भव बनता जारहा है ।

इसलिए असम्भव बनता जारहा है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं, दुर्भाग्यवश आज भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा ही उसी दिग्देशकालव्यामोहन से सर्वात्मना निरपेक्षता ही व्यक्त हो रही है भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के प्रति, इति नु महद्दुर्भाग्यम्–भारताग्निप्रतीकभूतस्य–देशस्यास्य खण्ड खण्डात्मकस्य–भारतस्येति–अब्रह्मण्यमेव।

५१८–भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक-जागरण के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिरूप-शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-भावानुबन्धी जड़ की मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कब, किस उपाय से भारतीय मानव की तथाविधा सांस्कृतिक–जागरूकता सम्भव बनेगी ?, बन सकेगी ?, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्वेषण के लिए ही तो 'दिग्देशकालमीमांसा' प्रवृत्त हुई है, जिसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं–एक तो 'प्रतीक', और दूसरा 'प्रतिरूप'। जिस दिन भी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्त का सर्वात्मना समन्वय कर लेगा, उसी दिन, और उसी क्षण इसकी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक–निष्ठा जाकरूक होपड़ेगी। सांस्कृतिक–भारताग्नि की प्रतीकताने ही इसे संस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख बना दिया है। अवश्य ही यह भूखण्ड,–यह भारतभूमि उस भारताग्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इसका–'भारत' नामकरण हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' सदा ही 'जड' 'अचेतन' हुआ करते हैं। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि, तद्द्वारा लक्ष्य की ओर निष्ठा जाग्रत हो जाय। किन्तु जब प्रतीकात्मक दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन जाते हैं, तो लक्ष्य विलीन होजाता है, एवं तत्काल अचेतन–जड–भौतिक–प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले सादि–सान्त–मूर्त–व्यक्त–दिग्देशकालव्यामोहन जागरूक होपड़ते हैं। एवं प्रतीक-माध्यमेन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का सर्वस्व लक्ष्य प्रतीकात्मक दिग्देशकालानुबन्ध ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से, यह स्वयं भी सर्वथा जडभाव में ही परिणत होजाता है, एवं इसके सम्पूर्ण लक्ष्य भी जडात्मक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकभक्ति ने आज मर्त्य–भूखण्ड को 'भारतराष्ट्र' मान लिया है, जबकि यह तो केवल 'भारतराष्ट्र' का जड–माध्यम–प्रतीक–मात्र ही है।

५१९–जडमाध्यमों के विशोधक पुरातत्त्वविदों के द्वारा ध्वंसावशेषों का अन्वेषण, तदनुप्राणित 'पुरातत्त्वानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्रयास—

बात थोडी समझने जैसी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातत्त्वों के विशोधक–संशोधक संस्कृति-निष्ठ ? विद्वान् आज आतुर हो रहे हैं भूगर्भस्थ, तथा भूपृष्ठस्थ ध्वंसावशेषों–अस्थिकङ्कालावशेषों–मृण्मय–उदञ्चनादि–खण्डविशेषों (ठीकरों)–सुवर्ण-रजत ताम्र-आदि की मुद्राविशेषों के अन्वेषण-प्रयास के लिए। क्यों कि इसी अन्वेषण के आधार पर ये 'भारतीय संस्कृति' का मूल–शुद्ध–रूप व्यवस्थित कर देने के सुख स्वप्न देख रहे हैं। जहाँ भी, जब भी, जो भी कुछ टूटा–फूटा–सडा–गला–जीर्ण–शीर्ण–मृत–भौतिक पदार्थ इन्हें उपलब्ध हो जाता है, दौड पड़ते हैं ये उसकी ओर, एवं अपने परिकल्पित मापदण्डों के अनुपात से इन

पदार्थों के दिग्–देश–काल–की मीमांसा में सर्वात्मना जुट पड़ते हैं। इस महान् भगीरथप्रयास का नाम ही है आज की भाषा में-'विशोधन', और इसी का नाम है-'पुरातत्त्वानुसंधान'। सौभाग्य ही माना जायगा यह इन पुरातत्त्वविदों का कि, आज का सत्तातन्त्र भी न केवल इस कार्य्य में अभिरुचि ही ले रहा है, अपितु इन सब खण्डहरों के रक्षण के लिए, भूगर्भ से निकले हुए उन टूटे फूटे भूत–भौतिक–परिग्रहों की व्यवस्था के लिए मुक्तहस्तता का भी परिचय प्रदान कर रहा है। एवं जब भी कहीं बाहिर से कोई सम्मान्य अतिथि आते हैं, तो सत्ताप्रमुख व्यक्ति अवश्य ही इन अपने विभूतिभावों ? के दर्शन करा देने में अपने आपको गौरवान्वित ही मानते रहते हैं।

५२०–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा भूत–भविष्यदनुगत 'पुरातन' का प्रचण्ड विरोध, तत्स्थान में 'नवीनता' का उद्घोष, एवं तदपि महान् व्यामोहनात्मक ध्वंसावशेषों के साथ सत्तातन्त्र का समालिङ्गन—

स्मरण रहे, यह वही सत्तातन्त्र है, जो अपनी प्रत्येक दैनिक–चर्य्या में पुराने–सड़े–गले–सभी खण्डहरो का मुक्तकण्ठ से विरोध करता रहता है। "पुराना सब सड़–गल–चुका है। अतएव आज इसी युग के अनुपात से सब कुछ नवीन ही बनाना चाहिए" यही आज का वह महान् उदघोष है, जो सत्तावन्त्र, का तथा तदनुवर्त्मा जनतन्त्र का, दोनों का ही मूल-आदर्शसूत्र बना हुआ है। और स्पष्ट ही इस मूलसूत्र के द्वारा एकमात्र उस प्राच्य भारतीय सांस्कृतिक–कोशात्मक–शब्दशास्त्र की ओर ही संकेत हो रहा है, जिस 'शास्त्र' के नामश्रवण से भी आज का सत्तातन्त्र उद्विग्न हो पड़ता है। कहीं, कभी भूल से भी 'पुरातनसाहित्य' के आधार पर किसी के मुखसे कुछ निकल जाता है, तो तत्काल हमारे कर्णधार अग्निश्च-वायुश्च हो पड़ते हैं। "अरे, फिर वे ही पुरानी बातें। जमाना बदल गया, सब कुछ बदलगया। और तुम वही पुराणपन्थी बने हुए हो। छिः! छिः! तभी तुम प्रगति नहीं कर सके। पुराना सबकुछ भूल जाओ। पहिले तो हम यही नहीं मानते कि, उन असभ्य-युगों में कुछ 'अच्छा' भी था। यदि कुछ होगा भी, तो उस जमाने के लिए होगा। आज तो..........इत्यादि–इत्यादि"।

५२१-दिव्यदृष्टि से समन्वित महामानवों की बौद्धिक सनातन-कृतियों का जीर्ण–शीर्णत्व–प्रतिपादन, तथा दिग्देशकालानुबन्धी भौतिक–ध्वंसावशेषों का सांस्कृतित्त्व प्रतिपादन, एवं भारत का आत्यन्तिक सांस्कृतिक–अधःपतन—

तात्पर्य्य क्या निकला ?। तात्पर्य्य निकला यही कि, पुरातन मानवों की प्राणात्मिका 'बुद्धि' से चिरन्तन अध्यवसाय के द्वारा विनिःसृत 'शब्दशास्त्र' तो है-सर्वथा सड़ा-गला, अतएव नितान्त अनुपयुक्त। एवं उसी पुरातन मानव के भौतिक–शरीर से भौतिक द्रव्यों–भूतों के द्वारा बनाए हुए खण्ड–खण्डित–ध्वंसावशेष है–'पुरातत्त्व', अर्थात् 'प्राचीन तात्त्विक वस्तु', संस्कृति के महान्–'प्रतीक'। तभी तो संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों का, अर्थात् पुरातत्त्वविदों का भी इसी ओर आकर्षण है, तो सत्तातन्त्र भी इसी कार्य्य को महान् सांस्कृतिक कार्य्य मान रहा है। कैसा है यह विधि का विचित्र विधान ?। चेतन की कृति सड़-गल चुकी, एवं अचेतनकृतियाँ (ध्वंसावशेष) सड़-गल कर भी 'तत्त्व', अतएव संरक्षणीय प्रमाणित होगई। क्यों ?, वही प्रतीकव्यामोहन, तदनुगत दिग्-

देशकालव्यामोहन, सर्वोपरि वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा । कहाँ से, कैसे यह एषणा, ये-पुरातत्त्वविजृम्भण इस भारतराष्ट्र की स्वस्था-प्रकृतिस्था भी प्रज्ञा में सहसा प्रविष्ट हो पड़े ?, प्रश्न का एकमात्र प्रधान उत्तर तो है- **'संस्कृति-साहित्य की सत्तासापेक्षता'**, और दूसरा कारण है **'प्रतीच्या भूतदृष्टि का अन्धानुकरण'** । प्रतीच्य दृष्टि के सम्पूर्ण कार्य्यकलाप भूत से ही उपक्रान्त होते हैं । सर्वव्यापक-अनन्तब्रह्म, तदनुप्राणित अनन्तकाल-अनन्तादिक्-अनन्त-देश-नामक कोई तत्त्व वहाँ आजतक स्पष्ट ही नहीं होसका है । अपितु उनके सम्पूर्ण-परीक्षण भूत से ही उपक्रान्त हैं, एवं भूतपर हीं परिसमाप्त हैं । अवश्य ही शासनकालनिबन्धना 'सभ्यता' के परिवर्त्तनात्मक इतिहासों का मापदण्ड ये ध्वंसावशेष ही बनते आए हैं । किन्तु 'संस्कृति' का कदापि इन भौतिक प्रतीकों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है । **वहाँ सभ्यता ही संस्कृति है, जबकि यहाँ-संस्कृति के एकांश में हीं सम्पूर्ण सभ्यता समाविष्ट है ।**

५२२-भारत, तथा भारतेतरदेशों के संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर, एवं तदनुपातेन भारतीय संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय-प्रयास—

उन की संस्कृति का आधार सभ्यता है, एवं सभ्यता का आधार दिग्देशकाल है, जब कि भारतीय सभ्यता का आधार संस्कृति है, तथा संस्कृति का आधार दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म है । उन की सभ्यता-संस्कृति 'काल' के गर्भ' है, एवं यहाँ का काल 'संस्कृति-सभ्यता' के गर्भ में है । उन को काल लिए चलता है, एवं यहाँ की ऋषिप्रज्ञा काल पर आरूढ है । उनकी आधारभूमि-'कालो अश्वो वहति' है, तो इन की आधारभूमि 'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' है । उनका उद्देश्य दिग्देशकाल, तथा तदनुबन्धी भूत हैं, तो इनका उद्देश्य दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्म है । अतएव उनके लिए ध्वंसावशेष ही तत्त्व, प्राच्यतत्त्व-पुरातनतत्त्व-पुरातत्त्व है, तो हमारे लिए संस्कृति का सन्देशवाहक दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वकालिक ऋषिशास्त्र ही 'तत्त्व' है, यही पुरातनतत्त्व है, यही प्राचीनतत्त्व है । उन की दृष्टि में ऋषिशास्त्र खण्डहर है, सड़ा गला है, अतएव निस्तत्त्व है, तो यहाँ की दृष्टि में सचमुच में 'ध्वंसावशेष' नाम से ही उद्घोषित, अतएव मानव के प्राकृतिक-भौतिक-व्यवस्थित-जीवन के लिए भी-उनकी दृष्टि में भी अनुपयुक्त-ये सब भूत-भौतिक शेषपरिग्रह निस्तत्त्व ही हैं, गले-सड़े ही हैं । और आज दुर्भाग्यवश ऋषिदृष्टि के स्वरूप को विस्मृत कर देनेवाले, साथ ही प्रतीच्या दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतदृष्टि को ही अपना सर्वाराध्य मान बैठने वाले हम भारतीयोंने भी उन्हीं की मान्यताओं को उन्हीं की मात्रा में इन खण्डहर-प्रदर्शन, एवं निगरण-चर्वणात्मक कौशलों को ही 'पुरातत्त्व' कहना, कहलवाना आरम्भ कर दिया है । जिस दार्शनिकने ऐसा भौतिक-प्रतीच्यव्यामोहन पुरायुगों में उत्पन्न कर डाला था, उसी को आज के इस प्रतीच्ययुग के भौतिक विज्ञानवादने सर्वात्मना पुष्पित-पल्लवित ही कर दिया है । अतएव आज 'तत्त्व' नाम से 'दार्शनिकतत्त्व', तथा 'पुरातत्त्व', ये दो ही तत्त्व भारतीय-प्रज्ञा में प्रधान बने हुए हैं, जबकि दोनों का ही भारतीय-आचारानुबन्धी सांस्कृतिक तत्त्व से तो स्पर्श भी नहीं है ।

५२३- ऋषिशास्त्र की प्रतीकता के सम्बन्ध में प्रतिरूप–भाव का संस्मरण, एवं प्रतिरूप शब्द के तात्त्विक--चिरन्तन--इतिवृत्त का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ऋषिशास्त्र क्या है ?। अवश्य ही ये भी है तो प्रतीक ही। किन्तु किसके, और कैसे प्रतीक ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए ही दूसरा 'प्रतिरूप' शब्द हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका यशोवर्णन पूर्व में किया जाचुका है। जिस भारतदेश को हमने जिस प्राणमूर्त्ति अनन्त–दिव्य–भारताग्नि का प्रतीक बतलाया था, यह प्राणाग्नि-भारताग्नि प्रतीक है सौरसम्वत्सराग्नि का। यह सौरसम्वत्सराग्नि प्रतीक है परमेष्ठी का। परमेष्ठी प्रतीक है अनन्ताकाशरूप स्वयम्भू का, और यहाँ आकर प्राकृतिक-प्रतीकभाव समाप्त है। स्वयं मानव, अर्थात् मानव का प्राकृत स्वरूप क्या है इस प्रकृति में ?, उत्तर दिया जाचुका है। प्राणाग्निरूप भारताग्नि (पार्थिवाग्नि) जैसे सौराग्नि का प्रतीक है *, क्या मानव भी वैसे ही प्रकृति के स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–अग्नि–आदि किसी प्राकृत पर्व का प्रतीक (अङ्ग) है ?। नहीं। सर्वात्मना सम्पूर्ण प्रकृति के दूसरे प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप का, इसी पूर्णस्वरूप का साङ्केतिक नाम है–'प्रतिरूप'–'रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव'।

५२४–अनन्ता प्रकृति, और अनन्त प्राकृत मानव का समतुलन—

जैसी अनन्तकाल–अनन्तदिक्–अनन्त–देशात्मिका स्वयम्भू[१]–परमेष्ठी[२]–सूर्य्य[३]–चन्द्र[३]–पृथिवी[५]–रूपेण–पञ्चपर्वा अनन्ता प्रकृति, ठीक वैसा ही, वही अनन्त–कालदिग्देशात्मक–अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मनः–शरीर-रूपेण पञ्चपर्वा अनन्त--प्राकृत मानव। यदि उस अनन्ता प्रकृति के समतुलन में भारतप्राणाग्नि छोटा सा प्रतीकमात्र है, तो अनन्त प्राकृत मानव के समतुलन में भी इस की प्रतीकता का वही अर्थ माना जाना चाहिए था। किन्तु माना इसलिए नही गया, नही हीं माना जाना चाहिए कि, मानव कदापि सादि-सान्त-भावों का अनुगामी नहीं है। अपितु मानव तो है 'अनन्त का उपासक'। अतएव सभी उस की दृष्टि में अनन्त हैं, महान् है, पूज्य है, आराध्य है। इस उदात्तता के कारण ही तो

---

*–(१)–प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्य्यो गाः।
वि सानुना सस्र उर्वी पृथु 'प्रतीक'–मध्येध्ये अग्निः॥
—ऋक्सं० ७।३६।१।

(२)–स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीलेन्यो गिरा।
स्रुचा 'प्रतीक'–मज्यते॥

(३)–स त्वमग्ने 'प्रतीकेन' प्रत्योप यातुधान्यः।
उरु यत्तेषु दीद्यद्॥
—ऋक्सं० १०।११८।३,८,।

इस में 'अनन्तता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अणोरणीयान्-भाव ही इस मानव के महतोमहीयान्-भाव का एकमात्र महान् बीज (महदक्षररूप बीज) है ।

५२५-भूताधिष्ठाता वैश्वानराग्नि की सांस्कृतिकता, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राणाग्नि की बात करते हैं। भारतीय मानव तो अन्नादि-परिपाककर्त्ता प्रसिद्ध भूताग्नि (चूल्हे के अग्नि) को भी 'वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे सत्कृत करना (वैश्वानरतर्पण-बैंमन्दर जिमाने को +)

+ स्तौम्यत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ -नामक त्रिवृत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोमात्मक इन तीन पार्थिव विश्वों के क्रमश अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन 'नर' (नायक-अधिष्ठाता देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के 'तानूनपृत्र' लक्षण अन्तर्याम सम्बन्ध से उत्पन्न त्रात्वधर्मा त्रैलोक्यव्यापक त्रिमूर्ति अग्नि का ही नाम-'विश्वेभ्य -पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्य -नरेभ्य -अग्नि-याय्वादित्येभ्य -उत्पन्न -अग्निरेव-वैश्वानर '-इत्यादि निर्वचन के अनुसार 'वैश्वानर' है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"स य स वैश्वानर -इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नर । अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नर । द्यौरेव विश्वम्, आदित्यो नर." (शतपथब्रा० ९।३।१।३।) ।

'आ यो द्यां भात्यापृथिवीं, वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार भलोक से सूर्य्यलोक पर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यप्राणमूर्ति वही वैश्वानराग्नि आधिदैविक-वैश्वानर' है, जिससे ही प्राणियों के उस 'आध्यात्मिक-वैश्वानर' की अभिव्यक्ति हुई है, जो 'जाठराग्नि' रूप से चतुर्विध भुक्त अन्न का परिपाक करता रहता है, एव जिस इस आध्यात्मिक वैश्वानराग्नि का ही भगवान् ने निम्नलिखितरूप से स्मरण किया है—

> अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
> प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
>
> —गीता १५।१४।

आधिदैविक-आध्यात्मिक-वैश्वानरप्राणाग्नि का ही मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक-तेजोरश्मियुक्त वह तीसरा 'आधिभौतिक-वैश्वानर' है, जिसे लोकसामान्य में 'अग्नि' कहा गया है, जिससे कि सूर्य्यास्त पर ज्योतिर्म्मयी रश्मियां प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होतीं रहती हैं। भूताग्निलक्षण इसी आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

> 'अग्निं' तं मन्ये यो 'वस्तु' रस्तं यं यन्ति धेनवः (रश्मयः) ।
> अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥
>
> —ऋक्सं० ५।६।१।

अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मानता आरहा है। कभी इसने अपनी इस सांस्कृतिक-आचारपद्धति को गली-सड़ी मानने की भ्रान्ति नही की। जिस दार्शनिक भारतीय ने की, उस का आचारात्मक समस्त प्राकृत-सौन्दर्य्य ही उच्छिन्न होगया। बना रह गया वैसा दार्शनिक केवल शून्यवादी-तत्त्ववादी-बुद्धिवादी-दिग्-देशकालभ्रान्त यथाजात मानवाभास। वही अनन्तभावना प्राणाग्नि के प्रतीकभूत भूखण्डात्मक, किंवा सम्पूर्ण भारतदेश (पृथिवी) के सम्बन्ध में विद्यमान है। मृत्पिण्डमात्र ही नही है यह पृथिवी। अपितु यह **'मही' है, अमृता है, अनन्ता है, माता है,** और हम हैं इस के पुत्र ÷। पृथिवी, किंवा तद्वयरूप भारतराष्ट्र भी बहुत बड़ा है। हम तो अपने जन्मप्रान्त को भी यही सम्मान प्रदान करते हैं-**'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'**।

५२६-अनन्तब्रह्म से समन्विता, 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'-लक्षणा अनन्ता प्रकृति से अनुप्राणिता-भारतीय संस्कृति, और सभ्यता के आत्म-देव-भावनिबन्धन अनन्त महिमामय माङ्गलिक-विवर्त्त-

यही नही, अपितु जिस क्षेत्र में हम रहते हैं, जिस प्रासाद में रहते हैं, वह भी हमारे लिए केवल भूतपिण्ड ही नहीं है। अपितु वह तो हमारे लिए साक्षात् **'वास्तुदेवता'** हैं। बिना इस **'देवप्राण-प्रतिष्ठा'** के, इस अनन्त प्राणाधान के घर भी हमारे लिए आवास-निवास-योग्य नहीं बना करता। और इस दृष्टि से तो आपातालात्, आ च लोकालोकात्, आपिपीलिका-कीटपतङ्गेभ्यः-आविद्वज्जन-मूर्ख,-आबाल वृद्ध-पर्य्यन्त, सभी कुछ हमारे लिए अनन्त के ही

तदित्थं-अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-भेद से वैश्वानराग्नि के तीन महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जो उपाधिदृष्ट्या पृथक् पृथक् रहते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न हैं। फलतः हमारे दैनंदिनीय भोजनपरिपाक के अधिष्ठाता आधिभौतिक-वैश्वानर अग्नि का भी स्वरूप उस दैविक-आत्मिक-वैश्वानर अग्नि से अविभिन्न ही प्रमाणित हो जाता है। उसी का यह प्रतीक है 'भूताग्नि-लक्षण वैश्वानर। प्रत्येक आस्तिक भारतीय सद्गृहस्थ इस अग्नि से भोजनद्रव्यों को सम्पन्न कर सर्वप्रथम इस भूताग्नि का उसी देवभावना से संतर्पण कर देना अपना महान् माङ्गलिक दैनिक आचार मानता है। हमारी प्रान्तीयभाषा में यह **"वैश्वानरसन्तर्पणकर्म्म'** ही-**'वैसन्दर जिमाना'** नाम से प्रसिद्ध है। सद्गृहिणी जबतक **'वैसन्दर'** (**वैश्वानर**) नही जिमा देती, तबतक किसी को भी भोजनद्रव्य का उपयोग नहीं करने देती, इत्यहो महद्भाग्यशालिनामाचारनिष्ठानां परमवैज्ञानिकानां-भारतीयानां-गरिमामहिमामयी महामाङ्गलिकी चिरन्तना सैषा-आचारपद्धतिः।

÷ (१)-पृथिवीं मातरं महीम् (तै० ब्रा० २।४।६।८)।
(२)-इयं वै पृथिवी-अदितिः (शत० ५।३।१।४।)।
(३)-अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
—ऋक्संहिता १।८९।१०

प्रतिरूप हैं, अनन्त के ही महामहिमामय विवर्त हैं, अतएव नमस्य हैं, प्रणम्य हैं, सत्य–शिव–सुन्दरम् हैं। अनन्तात्मनिष्ठानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है, जिस का अनात्मवादी, केवल–भूतवादी, अतएव शून्यवादी के साथ तो यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। भले ही ऐसा शून्यवादी परवञ्चकता-मात्र के लिए मानवता-मानवधर्म-विश्वहित-अहिंसा-सत्य-करुणा-दया–तितिक्षा–वीतरागता–आदि के भौतिक शाब्दिक प्रदर्शन–कृतता कराता रहे, कदापि उसे वर्णाश्रमाचारसिद्ध, अनन्तात्मानुगत महिमात्मक सत्य–शिव–सुन्दरम्–के तो सस्मरण का भी अधिकार नहीं मिलसकता, जब कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवश्रेष्ठों को भी एकमात्र अपनी आस्था-श्रद्धा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त ब्रह्म के ही महिमामय 'अन-तर' मान लेते हैं। मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषोंने, जिस हम हमारी श्रद्धामूला अवतारमान्यता को देख सुन कर भी तो अभिनिविष्ट महानुभाव भारतीय ऋषिसंस्कृति के सम्मरण की कृतज्ञता से अपने आप को विमुख ही बनाते रहते हैं, जिन ऐसों को भी हम तो मुहुर्मुहु अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ ही समर्पित करते रहेंगे, एवं उन के लिए भी-'मा कश्चिद्-दु खभाग् भवेत्' जैसी मङ्गलकामना ही व्यक्त करते रहेंगे।

५२७–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा भौतिक अर्थात्मक प्रतीक—

वस्तुस्थित्या-प्राकृत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अपितु 'प्रतिरूप' है। ऐसे प्रतिरूप अनन्त–मानव का प्रतीक है प्राणाग्निरूप भारताग्नि, एवं प्राणाग्निप्रतीक से समन्वित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देशकालातीता अनन्ता सहजबुद्धि से सहजरूपेणैव विनिर्गता प्रतीकात्मिका शब्दराशि का नाम है–'शब्द-शास्त्र', एवं इसी अनन्तमानवाग्नि के प्रवर्ग्यरूप–उच्छिष्टरूप–भूतमात्रा–भाग का नाम है प्रतीकरूप–भूखण्ड, भूमण्डल, एवं तदवयरूप भारतदेश। यों अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से बौद्धिक प्रतीक, तथा भौतिक प्रतीक भेद से दो प्रतीकभाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। प्राणाग्निप्रधान–बौद्धिक प्रतीक का नाम है–'शब्दप्रतीक', एवं भूताग्निप्रधान भौतिक प्रतीक का नाम है–'अर्थप्रतीक'। तदित्थं अनन्तमानवरूप प्राकृतब्रह्म के शब्द, अर्थ–रूप से दो प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं।

५२८–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपभेद का दिग्दर्शन, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकभावों का पार्थक्य, और ऋषि-मानव-लोकमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवमें, तथा सादिसान्त प्रतीकमानवमें अहोरात्र का अन्तर है। दोनों ही मानव 'प्राकृत' हैं, दोनों हीं शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अभिव्यञ्जक, किंवा स्रष्टा हैं,-इस में तो कोई सन्देह नहीं। अन्तर दोनों में है केवल अनन्तता, एवं सान्तता का। अनन्ता प्रकृतिका अनन्त 'प्रति-रूपमानव' (आत्म-बुद्धि-मन –शरीरात्मक मानव) अनन्त कालदिग्देश के माध्यम से अनन्त शब्दों का, तथा अनन्त भावात्मक अर्थों का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्तरूप प्रतीकमानव (मन शरीर-मात्र मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के माध्यम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का, तथा तथाविध ही अर्थप्रतीकों

का सर्ज्जक बनता है । उस के शब्द वैय्यक्तिक नहीं है, अतएव उस के अर्थ भी वैय्यक्तिक नही है । अपितु वह प्रकृति की ही तो भाषा बोलता है, (बोलता नही है, अपितु स्वयं बुलती है वह भाषा), एवं तदनुपात से ही प्राकृत अर्थ व्यवस्थित होते हैं अनन्तकाल के लिए । जब कि इस प्रतीकमानव के शब्द भी वैय्यक्तिक है, एवं तदनुगत अर्थ भी तात्कालिक ही हैं । अतएव कृत्रिम है इस का शब्दार्थप्रपञ्च, जैसे कि पशु–पक्षी–आदि के शब्दार्थप्रपञ्च सर्वथा तात्कालिक ही बने रहते हैं । अतएव इस के शब्द, और अर्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध नही है । शब्दों में भी यदृच्छा, तो अर्थों में भी यदृच्छा । अतएव दिग्देशकालानुबन्धी इस के सभी नाम काल्पनिक हैं, सभी रूप कल्पित हैं, तो सभी कर्म्म कल्पनाप्रसूत हैं । उधर ऋषिमानव के शब्द स्वयं तद्वाच्य अर्थ को अपने गर्भ में रखते है, जैसा कि–'भारत'–'मानव'–'अनन्त'–'प्रकृति' 'विकार' 'हृदय'–आदि शब्दात्मक नामों के चिरन्तन–इतिवृत्त से प्रमाणित है । अतएव तत्र शब्दार्थ का 'औत्पत्तिक' सम्बन्ध ही माना गया है, जब कि अत्र 'उत्पन्न-सृष्ट' सम्बन्ध ही मुख्य बना रहता है । अत्यन्त ही दुरधिगम्य–है यह शब्दार्थ-समन्वय-सम्बन्ध, जिस का अत्र विस्तार अनपेक्षित है । दिग्देशकाल की मध्यस्थता से समन्विता प्राकृत-बुद्धि कदापि अनन्तमूलक दिग्देशकालातीत इस समन्वय–सम्बन्ध को उदयङ्गम कर ही नही सकती ।

५२६–संस्कृति, और सभ्यता का स्वरूप--दिग्दर्शन –

अनन्तप्रकृति के प्रतिरूपात्मक मानव के अनन्त प्रतीकरूप शब्दसंग्रह का नाम ही है–'शास्त्र', और यही है इस की—'अनन्ता संस्कृति का चिरन्तन इतिहास' । एवं अनन्त प्रतीकरूप अर्थसंग्रह का नाम ही है अनन्त विश्व, एवं उस के अनन्त पदार्थ, और यही है इस की–'अनन्ता सभ्यता का चिरन्तन इतिहास' । शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त, एवं सिद्धान्तानुगत कर्त्तव्याचरण हीं संस्कृति, और सभ्यता है । संस्कृति का तत्त्वात्मक पक्ष ही 'संस्कृति' है, संस्कृति का आचारात्मक पक्ष ही सभ्यता है, एवं इन दोनों प्रतीक-भावो में तत्त्वात्मक पक्ष आधार है, तथा आचारात्मक पक्ष आधेय है । तत्त्व में आचार प्रतिष्ठित है, एवं शब्द में अर्थ समाविष्ट है । जैसा शब्द, वैसा ही अर्थ । न कि जैसा अर्थ, वैसा शब्द । यही ऋषिशब्द, तथा लोकशब्द में वह महान् अन्तर है, जिस का मादृशी लोकबुद्धि कदापि समन्वय नहीं कर सकती * ।

---

*–लौकिकानां हि साधूनां-अर्थो वागनुवर्त्तते ॥
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥
—भवभूतिः–उत्तरे रामचरिते

५३०–चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शाश्वत- उपयोगिता—

इसी समन्वय के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पडा कि, अनन्त मानव के माध्यम से निर्गि सृत सहज-नित्यशब्द का नाम ही 'अनन्त शब्दराशि' है, इसी का नाम है-'अनन्त वेदशास्त्र' (अनन्ता वै वेदा –ऐ० ब्रा०)। प्रतिरूपात्मक मानव का प्रथम–आधार वेदशास्त्र ही 'संस्कृति' नामक विवर्त्त है, यही भारतीय परिभाषा में प्राच्यतत्त्व–पुरातनतत्त्व, किंवा पुरातत्त्व है, जिस के माध्यम से ही भारतीय सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजन, सांस्कृतिक-सभ्यता, आदि आदि यच्चयावत् विवर्त्तों की व्यवस्था हुआ करती है। कदापि ऐसा-शब्दशास्त्र, तदनुगत आचारात्मक कर्त्तव्य गला सडा-नहीं करता। चिरपुरातन भी यह समन्वयात्मक प्रतीक (शब्दार्थप्रतीक, तत्त्व, और आचार) चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य्य–चन्द्र–पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भांति। शत-सहस्रादि भी दिग्देशकालातिक्रमण इस चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्त्व' को नष्ट-भ्रष्ट नहीं करसकते। सनातना है प्रकृति, सनातन हैं उस के नियम, सनातन है-तन्नियमव्यवस्थापक शास्त्र, एवं सनातन है तदनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म।

५३१–भौतिक-ध्वंसावशेषों की सांस्कृतिक ? प्रतीकता, एवं पुरातत्त्वात्मकता ? का महान् व्यामोहन—

सड़ते गलते-बदलते-नष्ट-होते रहते हैं वे प्रतीकशब्द, जो दिग्देशकाल की सीमा में 'अर्थ' रूप 'स्वार्थ-वैय्यक्तिक-स्वार्थ' को आधार बनाकर ही बोले, और बुलवाए जाते हैं। ध्वास होता है उन अर्थों-व्यवस्थाओं-नियमों का, जो तात्कालिक स्वार्थ के लिए ही लक्षीभूत बना करते हैं। ऐसे ध्वंसावशेषों को वे ही प्राचीन-तत्त्व, किंवा पुरातत्त्व कहा-सुना करते हैं, जो चेतनमानव की अपेक्षा-जडभूतों को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं। जिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल्य नहीं है, मानव की × बौद्धिक रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है। अपितु जिन इन पुरातत्त्ववादियों की दृष्टि में महत्त्व है उन–जीर्ण शीर्ण-भग्नावशेषों का, जिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है प्रदर्शन-उद्घाटन-भाषण-व्यामोहनों के अतिरिक्त।

५३२–मानवीया सनातन-संस्कृतिका-'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्- 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति--

'यत्किञ्चित्-संशोधन' से सम्बन्ध रखने वाले 'अर्थ' के समन्वय–सम्बन्ध में ही 'प्रतीक' तथा 'प्रतिरूप' भेद से प्रासङ्गिक इतिवृत्त उपक्रान्त हो पडा, जिस अर्थपूर्णा लक्षीभूता यत्किञ्चित्ता की ओर पुनः पाठकों

×--बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (दार्शनिकसूत्र)

का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। मानव की संस्कृति का प्रतिरूप जहाँ स्वयं मानव है, वहाँ इस की संस्कृति का प्रधान, तथा प्रथम प्रतीक इस का बौद्धिक 'शब्दशास्त्र' ही है, एवं दूसरा गौण प्रतीक इस का आचारात्मक 'अर्थशास्त्र' (दिग्देशकालानुबन्धिनी कर्त्तव्यनिष्ठा) ही है, यही इस का 'सभ्यता'-रूप प्रतीक है, जो कि 'शाब्दिकसंस्कृति' (शास्त्र) से ही नियन्त्रित रहता है। दिग्देशकाल को दिग्देशकालातीता संस्कृति से नियन्त्रित रखते हुए ही, दूसरे शब्दों में–अनन्तकालदिग्देशात्मक शाश्वत शब्दशास्त्र से सादि--सान्त–दिग्देशकालों को नियन्त्रित रखते हुए ही, यों अनन्तकाल से सादिसान्त काल को पीड़यन्नेव मानव अपने इस यत्किञ्चित् प्रयास से अपनी गुह्यब्रह्मरूपा सर्वश्रेष्ठा 'मानव--प्रतिरूपता' को अन्वर्थ प्रमाणित कर लेता है।

५३३–'यत्किञ्चित्' संशोधन से पराङ्मुख मानव की दिग्देशकालविमूढ़ता, एवं महान् भी मानव की तन्मूला अल्पता का दिग्दर्शन—

यदि दुर्भाग्यवश वह इस संशोधन की उपेक्षा कर सान्तिसान्त दिग्देशकालों के ही व्यामोहनों में आसक्त बना रह जाता है, तो फिर यह भी उस प्रतीकभाव में ही परिणत हो जाता है, जिस प्रतीकता के ध्वंसावशेष भी शेष नही रह जाते–'भस्मान्तं-शरीरम्' रूपेण। मानवेतर भूत-भौतिक-प्रतीक जहाँ मानवीय भूत (शरीर) की अपेक्षा चिरकालिक हैं, वहाँ स्वयं मानव के ये भौतिक प्रतीक तो इन भूतप्रतीकों के समतुलन में भी नगण्य हैं। क्या मानव का यही स्वरूप है ?, यही इयत्ता है ? । और इस भौतिक शरीर के परिमार्ज्जन-विशोधन–अभिनन्दन–का नाम हीं क्या मानवस्वरूप का अभिनन्दन है ?, क्या यही मानव का व्यक्तित्व है ?, जिस लम्बे–चौड़े–मल्लशरीर को देख–देख कर तो एक 'बलीवर्द' (बैल) भी हुङ्कार करता फिरता है ; सचमुच दिग्देशकालव्यामोहन के कारण ही प्रकृत्या महान् भी मानव आज इसप्रकार छोटा, और बहुत ही छोटा बन गया है, जबकि अपने मानवस्वरूप से यह सभी अवस्थाओं में तत्त्वतः सर्वतः महान् ही है।

५३४–अनन्ताकाशात्मक मानव की अनन्तता में दिग्देशकाल के द्वारा व्यवधान, तद्द्वारा मनुकेन्द्र का विचलन, तदनुगत भय, एवं तन्निग्रहेण अनन्त–अभयब्रह्म के महिमात्मक अनुग्रह की अन्तर्म्मुखता—

मनुकेन्द्ररूप मानव इस अपने केन्द्रभाव से विच्युत ही होजाता है तथाकथित दिग्देशकालव्यामोहन से इसलिए कि, सादि–सान्त ये दिग्देशकाल मानव के केन्द्रानुगत–महिमारूप अखण्ड स्वरूप में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं, जो व्यवधान सङ्केतभाषा में–'उदर' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'भय' का एकमात्र अर्थ है केन्द्रविच्युति, किंवा स्खलन। मानव किसी ऋजुमार्ग (सीधी सड़क–समपथ) से जारहा है। यदि मार्ग सम ही आता रहता है, तो इस की चरणगति केन्द्राभ्यासानुगामिनी बनी रहती हुई अविकम्पिता है, अभया है। मार्गसरणि (फुटपाथ) से यदि दो चार अङ्गुल नीचे के गर्त्त–खड्ड–आदि में भी इस का पैर चला जाता है, तो हृदयसाम्य विकम्पित हो जाता है, और इसी विकम्पन का नाम है 'भय', जिसका अर्थ है–'किञ्चिचलन'।

५३५–भयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन-मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उद्बोधन-प्रदान—

इस भय की उग्रावस्था का नाम ही है दुःख, दुःख की उग्रावस्था का नाम ही है शोक, एवं शोक की चरमावस्था का नाम ही है हृद्गति-का अवरोध, अर्थात् 'मृत्यु'। यों प्रारम्भिक भय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का कारण बन जाया करता है। प्रारम्भिक भय का एकमात्र अर्थ है-हृदयसाम्य का अभाव, इस साम्याभाव का नाम है विषमता, एवं विषमता का ही नाम है दिग्देशकालव्यामोहन। निश्चयेन अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिलक्षणा अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्ता महिमा में, इस अखण्ड-अवारपारीण-पटल में उस समय खण्ड-खण्डता ही आविर्भूत हो जाती है, जबकि तत्प्रतिरूप मानव खण्ड-खण्डात्मक दिग्देशकालभावों का प्रतीक बनता हुआ उस में व्यवधान उत्पन्न कर देता है। यही द्वन्द्वात्मक विषमभाव है, यही द्वन्द्वता 'द्वितीयता' है, और-'द्वितीयाद्वै भयं भवति। यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति' का यही समन्वयार्थ है। 'अपना, और पराया' यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। यह मेरा, और यह तेरा, यह मेरा राष्ट्र, मेरा देश, मेरा समय, एवं यह उस का राष्ट्र, उस का देश, उस का समय, यह 'मेरा-तेरा' ही 'मेरे-तेरे' लक्षण भयात्मक कलहों की मूलभित्ति बनता है। "सभी मेरा है, सभी उस का है, मैं भी वही हूँ, यह भी वही है। सब उसी एक के महिमामय अनन्त विवर्त्त हैं। सभी अनन्त हैं स्व- स्वरूपेण। कहीं किसी के लिए किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं"।

५३६–परिणामवादात्मक सर्वविनाशक कार्य्यकारणभाव, तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्म्मुखता—

परिणामवादने, सर्वविनाशक कार्य्यकारणवादने, तदाधारभूत दिग्देशकालानुबन्धी बुद्धिवादने ही मानव के अनन्तमहिमाभाव में उदरात्मक व्यवधान उत्पन्न किए हैं। और यह बुद्धिवाद ही सहजरूप से मानव को महिमानन्त्य का स्वरूप समझने ही नहीं देता। जब भी यह क्षणमात्र के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है, तदुत्तरक्षण में ही इस की दार्शनिकबुद्धि पुनः कार्य्यकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एवं सदैव महिमासाम्य अन्तर्म्मुख बन जाता है। क्यों? । इसलिए कि इस की बुद्धि आचारनिष्ठा से पराङ्मुख बन गई है। आचार में ही वैसा बल है, जो इस की बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में तो वेद भी शुचिता उत्पन्न नहीं करसकते-'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। अवश्य ही सभी आचार भी दिग्देशकालानुबन्धी ही हैं। किन्तु ये अनुबन्ध उस अनन्तकाल से ही नियन्त्रित हैं। अत-एव रहते हुए भी ये आचारानुबन्धी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को व्यामोहन से समन्वित नहीं होने देते। यही शास्त्रीय आचार, तथा लोककल्पित आचाराभासों में वह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को सहजबुद्धि से भारतीय ऋषिमानवने समझा, तदनुपात से ही उसने अनन्तब्रह्म का साक्षात्कार किया, एवं तदाधारेणैव आत्मसाम्य-मूलक प्राकृतिक कर्त्तव्य व्यवस्थित किए, और यही ऋषिमानव की दिग्देशकालमीमांसा का चरम उदर्क बना, जिसके आधार पर ही इस मानवश्रेष्ठ के मुख से सहजरूप से ही-'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः' जैसा उदात्त-उद्घोष विनिःसृत हुआ, जिस का समन्वय तो उस तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन पर ही अवलम्बित है,

जिस का खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध के मूलाधारभूत निष्ठा, और भावुकता–शब्दों के नीरक्षीरविवेक–माध्यम से भी दो शब्दों में प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना चाहिए ।

५३७–दिग् देशकालनिबन्धन–आचारात्मक–कर्त्तव्यकर्म्मों के सम्बन्ध में कर्म्मत्याग-मूला भयावहा भ्रान्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन—

सम्भव है, और विगत तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली 'भावुकता' के कारण भारतीय भावुक हिन्दू-मानव के लिए तो यही बहुत सम्भव है कि, निर्दिष्ट तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन से हमारी प्राकृत–विमूढता ऐसा कुछ समझ बैठे, मान बैठे कि,-"मानव को अपने अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि के लिए 'वर्त्तमानकाला' त्मक दिग्–देश–काल–भावों की सर्वथा उपेक्षा कर किसी अचिन्त्य, दिग्देशकालातीत, दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, व्यापक, सर्वातीत अनन्तब्रह्म के अनुध्यान–अनुशीलन में हीं सर्वतोभावेन प्रवृत्त होजाना चाहिए"। किंवा वर्त्तमानयुग के वेदान्त की भाषा के अनुसार ऐसा कुछ समझ बैठे, मान बैठे कि–"दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण वर्त्तमान संसार को, इस के समसामयिक लौकिक–नियमोपनियमों को एकान्ततः मिथ्या मान कर मानव को इन सब लौकिक–वैदिक–दिग्देशकालानुबन्धी यच्चयावत् कर्म्मो का परित्याग कर, परिवार–समाज–राष्ट्रादि के व्यामोहनों को छोड़ छाड़ कर, अपने परलोक के अन्यतम शत्रु इन सब जञ्जालों को तोड़ताड़ कर, यहाँ तक कि अपने शरीर–मन–बुद्धि–जीव–भाव को भी विस्मृत कर कर्म्मत्यागमूला विशुद्धा वैराग्यनिष्ठा में हीं मानव को प्रवृत्त हो जाना चाहिए । यही इस के मानवजीवन का परमपुरुपार्थ है, किंवा अन्तिम पुरुपार्थ है"।

५३८–जगन्मिथ्यात्वानुगता–कर्म्मत्यागात्मिका महती भ्रान्ति के निग्रह से ही भारतराष्ट्र के विद्या–पौरुप–अर्थ–शिल्पादि–वैभवों की अन्तर्म्मुखता—

और यदि हम भूल नहीं कर रहे (निश्चयेन नही ही कर रहे), तो हमें यह कह देने, और मान लेने में अब यत्किञ्चित् भी ऐसी भूल नही करनी चाहिए, जिस इस 'महाभूल' ने ही भारतीय मानव को विगत तीन सहस्र वर्षों से अनवरत–निरन्तर–भूलपरम्पराओं का ही सर्ज्जक, तथा दुष्परिणाम–भोक्ता बनाए रक्खा है । अपनी प्राकृत विमूढता से संसार का, दिग्देशकालानुबन्धी सीमाभावों का, तदनुप्राणित कर्त्तव्य–कर्म्मों का कुछ ऐसा सा ही स्वरूप समझ बैठने वाले, मान बैठने वाले दिग्देशकालभ्रान्त प्राकृत मानवोंनें अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनीं राष्ट्रीयता, सामाजिकता (जातीयता), पारिवारिकता, एवं व्यक्तिनिबन्धना कर्त्तव्य-निष्ठाओं को इसी भावावेश में आकर छोड़ते हुए, तथा भावावेशमें ही छुड़वाते हुए विगत तीन सहस्र वर्षों से भारत के सम्पूर्ण साम्राज्यवैभव, समाजवैभव, कौटुम्बिक सौन्दर्य्य, तथा सर्वप्रतिष्ठामूलक वैय्यक्तिक–उत्तरदायित्व को उत्तरोत्तर अभिभूत ही प्रमाणित कर लिया है ।

५३९–एक व्यक्ति की भूल से घटित–विघटित परिवार, समाज, तथा राष्ट्र–विकम्पन के ऐतिहासिक–तथ्य—

इस तथ्य से किसी भी युग का प्रज्ञाशील मानव कदापि गजनिमीलिका नही कर सकता कि, अनेक व्यक्तियों के सह–समन्वयात्मक एक परिवार के किसी एक व्यक्ति की भी महाभूल से सम्पूर्ण परिवार की सुख–

शान्ति-समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि दुःस्वप्नरूप में परिणत हो जाती है, एवं अमुक व्यक्तिविशेष की भूल से ही सर्वसम्पन्न-सुसमृद्ध भी परिवारों को धूलधूसरित होता देखा गया, और सुना गया है। ठीक यही स्थिति 'समाज' की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है, जिस स्थिति का पर्य्यवसान अन्ततोगत्त्वा सम्पूर्ण विश्व पर ही होता है। ऋषिप्रज्ञा तो इस वैय्यक्तिक-विकम्पन को, व्यक्ति की भूल को आगे चल कर 'त्रैलोक्य' विकम्पन का भी कारण मान लेती है। वृत्रासुर-तारकासुर-विद्युन्माली-शालकटङ्कट-रावण-बाणासुर-कंस-आदि आदि एक एक ही व्यक्ति थे, जिन की भूलसे त्रैलोक्य विकम्पित हो पडा था। अतएव व्यक्ति जहाँ अपनी इस अपरिमिता शक्ति से 'महान' है, वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में भूल करता हुआ यही महान् व्यक्ति संसार में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ 'अधम' उपाधि से भी समन्वित हो जाता है। सशक्ता-सशस्त्रा-वयस्ता-प्रचण्डा-विजयवाहिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिणाम-स्वरूप ही प्रतिद्वन्द्वी आततायी पराभूत होते हैं, एवं तद्राष्ट्र सुख-शान्ति का अनुगामी बन जाता है। किन्तु यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, इन सहस्रों महान् सैनिकों में से किसी भी एक भी सैनिक की महत्त्वपूर्णा एक ही भूल से विजयोन्मुख भी सैन्यबल पराजित हो जाता है। और यों केवल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आजाना पड़ता है।

५४०-एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पन-शान्ति, समृद्धि, वैभवोदय, एवं मानव व्यक्ति के महान्, तथा अधम-निवर्त्त--

उदाहरण के विपर्य्यय भी मानव के सम्मुख उपस्थित होते रहे हैं, और हो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार भी उत्कृष्ट बन जाया करते हैं, एक व्यक्ति की योग्यता से समाज का भी अभ्युदय सम्भव बन जाता है, तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का कायाकल्प कर देता है, सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का कारण बन जाता है, जैसे कि सेना के एक सैनिक की तात्कालिक समझ बूझ से पराजय विजयश्री में परिणत हो जाती है। ऐसा है यह व्यक्ति का व्यक्तित्त्व, और ऐसी है इस की महत्ता, एवं अधमता। क्या रहस्य है इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी धर्म्मों का ?, वही व्यक्तिमानव महान्, और अधम-इन दोनों विरुद्ध भावों का अनुगामी कैसे बन जाता है ?। 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' केवल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है, जिसके माध्यम से स्वयं मानव को ही इन प्रश्नों का सम्प्रश्नात्मक समाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्जगत् में हीं।

५४१-संवित्-मूला 'महत्ता', एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुध-बुध, समझ-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वों का संस्मरण--

इन दोनों विरुद्ध-भावों के अर्थसमन्वय के लिए ही [१]'संवित्, और [२]'अनुभूति, ये दो शब्द अवतीर्ण हुए हैं शब्दशास्त्र के अनन्तमहिमामय प्राङ्गण में, लोकभाषा में जिनके लिए ''[१]सुध-[२]बुध' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जोकि-''[१]समझ-[२]ज्ञान'-''[१]बोध-[२]बुद्धि' इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं जिन इन दोनों भावों के लिए ही पूर्व में-'समझ बिना बुध बापड़ी- इस लोकसूक्ति के समन्वय की चेष्टा हुई है।

५४२-मानवव्यक्ति के व्यक्तित्त्वाधारभूत अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति, नामक दो विवर्त्त, एवं तन्मूलक एकत्त्व-अनेकत्त्व-का संस्मरण—

व्यक्ति के वैय्यक्तिक स्वरूप में महतोमहीयान् दो पर्व प्रतिष्ठित-समन्वित हैं, जो **अनन्तपुरुष, अनन्ताप्रकृति**-इन नामों से प्रसिध्द हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्तिमानव अपने पुरुषभाव से भी अनन्त है, महान् है। एवं प्रकृतिभाव से भी अनन्त है, महान् है। पुरुषात्मिका महत्ता का नाम ही है 'संवित्'-'समझ', किंवा 'वोध'। एवं प्रकृत्यनुगता महत्ता का नाम ही है-'अनुभूति'-'ज्ञान',-किंवा 'बुद्धि'। इन दोनों में पुरुष की अनन्तता दिग्देशकालातीत 'एकत्त्व' से अनुप्राणिता है, तो प्रकृति की अनन्तता 'दिग्देश-कालात्मक 'अनेकत्त्व' से अनुप्राणिता है।

५४३-मानवव्यक्तित्त्वानुगत-पुरुषात्मक-दिग्देशकालातीत आनन्त्य, तथा प्रकृत्यात्मक संख्यानुगत आनन्त्य का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यों दोनो के आनन्त्य में ('अनन्तता' रूप साम्य के विद्यमान रहते हुए भी) स्वरूपतः अत्यन्त ही विभेद है। दिग्देशकाल से 'अनन्त', किन्तु संख्या में 'एक', यही 'पुरुष' का स्वरूप-परिचय है। एवं दिग्देशकाल से **सादिसान्त**, किन्तु संख्या में **अनन्त**, यही 'प्रकृति' का स्वरूप-परिचय है। इन दोनों भावों की समन्वितावस्था का नाम ही है **पूर्ण मानव, अनन्त मानव, महान् मानव** पुरुषेण च, प्रकृत्या च। मानव के पुरुषतन्त्रानुगत सम्पूर्ण तन्त्र 'संवित्' को आधार बना कर ही प्रवृत्त होते हैं, होने चाहिएँ। एवं मानव के प्रकृतितन्त्रानुगत सम्पूर्ण तन्त्र 'अनुभूति' को आधार बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं, होने चाहिएँ। यदि ऐसा होता है, तो यह मानव है। मानव ही नहीं, उस अनन्त का महान् प्रतिरूप ही है, जिससे अधिक महान्, श्रेष्ठ सम्पूर्ण विश्व में दूसरा और कोई नहीं है।

५४४-मानव की 'महत्ता', तथा 'अधमता' की आधारभूता शक्तिद्वयी—

और यहीं मानव की उस महती समस्या के समाधानबीज सुरक्षित हैं, जिनसे अपरिचित रह जाने के कारण, किंवा परिचित होजाने पर भी उपयोगिता में साङ्कर्य्य-विपर्य्य कर देने के कारण महान् भी मानव अधमता का सर्ज्जक बनता हुआ स्वय भी अपनी इसी अधमता से अधम बन जाता है, एवं अपने पारिवारिक-सामाजिक-आदि आदि वातावरणों को भी अधम बना डालता है। **पुरुषमूला संवित, और प्रकृतिमूला अनुभूति**, दोनों हीं मानव की वैसी प्रबल शक्तियाँ हैं, जो ठीक ठीक व्यवस्थित होकर जहाँ मानव को सर्व-श्रेष्ठ प्रमाणित कर देतीं हैं, वहाँ अव्यवस्थित दशा में आकर ये ही दोनों महान्-शक्तियाँ मानव को सर्व-**निकृष्ट** बना डालतीं हैं।

५४५-संविन्मूला निष्ठा, तथा अनुभूतिमूला 'भावुकता' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

संविच्छक्ति का आचारात्मक, व्यवहारात्मक स्वरूप **है-"निष्ठा'**, एवं अनुभूतिशक्ति का आचारात्मक स्वरूप है-**'भावुकता'**। 'समझ' का निष्ठा से, एवं 'ज्ञान' का भावुकता से सम्बन्ध है। 'बोध' ही निष्ठा है, एवं 'बुध्दि' ही भावुकता है। अपने संवित्-समझ-बोध-निष्ठा-रूप पुरुषभावों से वही मानव **नैष्ठिक है**, एवं अपने

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-भावुकता-रूप प्रकृतिभावों से वही मानव 'भावुक' है, और दोनों ही मानवस्वरूप विश्वेश्वर में समन्वित विश्व की महती विभूतियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित रहती हुई। पुरुषानुगता निष्ठा दिग्देशकालातीता है, तो प्रकृत्यनुगता भावुकता दिग्देशकालनिबन्धना है। तात्पर्य्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालातीत 'पुरुष' है, एवं भावुकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिका 'प्रकृति' है। क्या तात्पर्य्य निकला इस 'तात्पर्य' शब्द का ?, स्वयं अपनी 'संवित्' से ही समन्वय कर लीजिए। क्योंकि तात्पर्य्य के तात्पर्य्य का कोई भी तात्पर्य्य कदापि वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत भावुकता-मात्र है।

५४६–प्रकृत्यनुगता भावुकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा के संरक्षणक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय—

इस भावुकता की दृष्टि से ही तात्पर्य्य शब्द का यही 'तात्पर्य्य' मान लिया जा सकता है भावुकतासंरक्षणमात्र के लिए कि-भावुकता के क्षेत्र में भावुकता को स्वतन्त्र न बनने देना ही प्राकृत-भावुकता का क्षेत्र-संरक्षण है। एवमेव निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना ही पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र संरक्षण है। क्या तात्पर्य्य के पुत्रभूत इस दूसरे तात्पर्य्य के भी पुत्र का, अर्थात् पौत्र का भी अन्वेषण करना पड़ेगा ?। कर लीजिए। क्योंकि यही तो भावुकता की स्वरूप--महिमा है, जो आरम्भ करना तो जानती है, किन्तु समाप्त करना नहीं जानती। हाँ, तो समन्वय कीजिए इस 'तात्पर्य्य' के पौत्र का। दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के क्षेत्र में साम्राज्य तो भावुकता का, अर्थात् बुद्धि का, अर्थात् ज्ञान का, अर्थात् 'अनुभूति' का ही है।

५४७–संविन्मूला अनुभूति का, तद्रूपा निष्ठासमन्विता भावुकता का प्राकृत-क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला भावुकता के प्रति ही श्रेयोऽर्पण—

अनुभवाहित-संस्काररूप ज्ञान, एवं तद्युक्ता बुद्धि ही प्राकृत विश्व के सम्पूर्ण प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्मों की प्रवर्त्तिका बनेगी, बनती ही है। अतएव प्रकृति के दिग्देशकालानुबन्धी सभी कार्य्य हैं तो भावुकतापूर्ण ही। किन्तु इनकी यह पूर्णता सम्भव तभी बना करती है, जबकि इनके मूल में आधाररूप से पुरुषमूला निष्ठा को, अर्थात् बोध को, अर्थात् समझ को, अर्थात् संवित् को अधिष्ठित-प्रतिष्ठित-कर लिया जाता है, तो। शक्तिमान के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान का ही संहार कर डालती है, तदनन्तर वही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति सम्पूर्ण शक्तिमानों का संहार कर दिया करती है। अतएव घनशक्तिरूपा प्राकृतभावुकता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से, किंवा निष्ठारूप से नियन्त्रित होकर ही आरब्ध कर्म्म को साङ्गोपाङ्गरूपेण पूर्ण-सम्पन्न करने में समर्थ बना करती है। श्रेय सबकुछ भावुकता को ही है, भावुकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है, बुद्धि का ही है, ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है। किन्तु ?। इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है।

६४८–दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु तदाचार से अनुप्राणिता भावुकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक-पुरुष में ऋजुता का आविर्भाव—

दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में साम्राज्य तो 'निष्ठा' का ही है, अर्थात् 'बोध' का ही है, अर्थात् 'समझ' का ही है, अर्थात् 'संवित्' का ही है। दिग्देशकालातीता ऋजुता ही अकर्म्मात्मक स्थाणुपुरुष की

प्रतिष्ठा, किंवा स्वरूप माना गया है। यह ऋजुता, कृतकृत्यता, गत्युपशान्तिरूपा स्थिति, नितरां स्थितिलक्षणा 'निष्ठा' ही इसका स्वरूप है, और यही इसकी परिपूर्णता है। किन्तु इस परिपूर्णता की अभिव्यक्ति सम्भव बना तभी करती है, जबकि इसके क्रोड़ में प्राकृत-भावुकता का समावेश होजाता है। भावुकताके समावेश से ही नैष्ठिक पुरुष में स्वानुगता ऋजुता की अभिव्यक्ति होती है, जिस इस दिग्देशकालातीत नैष्ठिक पुरुष के सम्बन्ध में अब इससे अधिक भावुकतापूर्ण तात्पर्य्यान्वेषण की चेष्टा करना निष्ठानुग्रह से अपने आपको वञ्चित ही कर लेना होगा। अतएव-'मातिप्राक्षीः'। अन्यथा 'मूर्द्धा ते विपांतप्स्यति'। जिसप्रकार भावुकता के मूल में आधाररूप से निष्ठा है, तथैव कदापि निष्ठा के मूल में भावुकता प्रतिष्ठित नहीं है। शक्तिमान् में शक्ति रह सकती है, रहती है। किन्तु कदापि शक्ति में शक्तिमान् समाविष्ट नहीं होता। पुरुष में प्रकृति है, कदापि प्रकृति में पुरुष नहीं है। अर्थात् पुरुष ही आधार है सर्वत्र, सब अवस्थाओं में अपनी दिगदेशकालातीता अनन्तता मे-'न त्वहं तेपु. अपितु ते मयि'। तो फिर इस विपर्य्यय का क्या अर्थ हुआ ?। संवित् से ही उत्तर पूँछिए कि, क्या उत्तर हो सकता है इसका ?।

५४६-भावुकता की आधारभूता अनुभूति का निष्ठाधारभूता संवित् में अर्पण-समर्पण, एवं निग्रह-अनुग्रहों से असंस्पृष्ट अनन्तपुरुष—

भावुकता का निष्ठा के प्रति प्रणतभाव से समर्पण, प्रकृति का पुरुष में अर्पण, बुध्दि का बोध में, ज्ञान का समझ में, अनुभूति का संवित् में सर्वस्व समर्पण। यही तो वह महान् अर्थ है, जिससे प्रकृति को दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का आश्रय भी उपलब्ध हो जाता है, एवं वह स्वयं भी पुरुष की निष्ठामात्र से अपने आप पर (भावुकता पर) नियन्त्रण करने में समर्थ बन जाती है। दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष, कालातीत पुरुष न तो प्रकृति पर अनुग्रह ही करता, न निग्रह ही करता। अपनी अनन्तता से वह इन दोनो ही प्राकृत-धर्म्मों से पृथक् है।

५५०-निग्रह-अनुग्रह-प्रवर्त्तिका भावुकतात्मिका अनन्ता प्रकृति का अनन्तपुरुष के प्रति समर्पण, एवं समर्पण की स्वरूप-परिभाषा—

निग्रहानुग्रह, स्वातन्त्र्य-पारत्न्य स्वयं प्रकृति के, भावुकता के ही धर्म्म हैं, निष्ठा के नहीं, पुरुष के नहीं। यदि अनुग्रह, और निग्रह उसी के धर्म्म होते, तो फिर कहना ही क्या था। क्योंकि प्रकृति उसकी सीमा से बाहिर है कहाँ। उस अनन्त के एकांश में ही तो प्रकृतिदेवी विराजमाना है। आश्रय ले ही तो रक्खा है प्रकृति ने पुरुष का। सबकुछ प्राकृत विवर्त्त उसी में तो बुद्बुद्वत् समाविष्ट हैं। फिर क्या अर्थ है प्रकृति का पुरुष के आश्रित होजाने का ?। इस प्रश्न का उत्तर पुरुष कदापि नहीं देता। न तो यह विधि करता, न निषेध करता। विधि, और निषेध, हाँ, और ना, दोनों इस प्रकृति के ही धर्म्म हैं। वह अनुकूलता में स्वयं ही विधिरूपा बन जाती है, एवं प्रतिकूलता में स्वयं ही निषेधरूपा बन जाती है। प्रतीकता में सर्वत्र प्रकृति निषेधरूपा ही है, एवं प्रतिरूपता में सर्वत्र प्रकृति विधिरूपा ही है। तभी तो हमने मानव को 'प्रतिरूप' ही माना है उसका।

५५१–पुरुषलक्षण–'स्व' तन्त्र' में समर्पिता प्रकृति की 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिरूपता से होता यही है कि, प्रकृति की दिग्देशकालात्मिका भावुकता भी सुरक्षित रह जाती है, एवं अनुरूप पुरुष की निष्ठा से इसकी यह भावुकता कर्त्तव्यनिष्ठा से भी नियन्त्रित बनी रहती है। एवं यही 'पर' तन्त्रानुगता (अव्ययपुरुषतन्त्रानुगता) वह 'परतन्त्रता' है, जिससे प्रकृति 'स्व–(अव्ययपुरुष के) तन्त्र' में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा' बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता का चिन्तनेतिवृत्त है। उसका आश्रय लेने से मानवप्रकृति की भावुकता में ऋजुता तो अवश्य आजाती है। और इस ऋजुता से तदाश्रित मानव महान् भी अवश्य ही बन जाता है।

५५२–पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणिता वास्तविक–वस्तुस्थिति का स्वरूप–समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के, प्रत्यर्पण के इसकी इस ऋजुभावुकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलत: ऐसा केवल महान् भावुक अन्ततोगत्वा अनुभूतिपरायण ही बना रह जाता है। उसका संस्मरण दूसरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्य पक्ष है। सम्मरणात्मक प्रत्यर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें संस्मर्त्ता भक्त की अनुभूति, किंवा भावुकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहां भक्त ही भगवान् से बड़ा मानता रहता है अपने आपको, भगवान् का गुणानुवाद करता हुआ भी। इसी भावना–भावुकता से सम्पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा सर्वथा ही अभिभूत होजाती है ऐसे भावुक भक्तराज की, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भावुक अर्जुन से बड़ा दूसरा और कौन होगा ?। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनात्मक सम्मरण में तत्काल ही निष्ठा का उदय होजाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्त्ता कर्त्तव्यनिष्ठ मानव का 'कर्त्तव्य' ही प्रधान बना रहता है। यहाँ अनुशीलनात्मक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का ही अर्पण होना है, जिसमें अनुशीलन-कर्त्ता की भावना–भावुकता–कल्पना–का सम्पर्श भी नहीं है। कर्त्तव्य का निर्द्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अपितु शास्त्र के द्वारा स्वत: सिद्ध निर्द्धारित कर्त्तव्यकर्म्म के माध्यम से ही अनुशीलन-परायण बना रहने वाला यह कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपनी भावना–अनुभूति–जैसी कोई भी कल्पित वस्तु अपने कोश में नहीं रखता।

५५३–भगवान् के भावुक भक्तों, और नैष्ठिक–भक्तों का संस्मरण, तथा–महान्-भावुक अर्जुन की भावुकता का स्वरूप–दिग्दर्शन, और भगवान् के द्वारा तन्नियन्त्रण—

"भगवान–भक्त–और भावुकता," एवं "भगवान–भक्त–और निष्ठा" दोनों में जो अन्तर है, वही भावुकभक्त में, एवं नैष्ठिकभक्त में अन्तर है। अर्जुन निःसन्देह भावुक भक्त था, अतएव महान् था। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानवता अभिव्यक्त नहीं होजाती। भावावेश में आकर अश्रुपात करने से, नाचना–गाना–पढ़ना से ही तो कर्त्तव्यनिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अर्जुन के लिए भगवान् का आदेश ?, कैसी भक्ति का वरदान मिला अर्जुन को ?, गीताभक्तों से प्रश्नों के समाधान परोक्ष नहीं हैं।

अर्जुन की, भावुक अर्जुन की भावुकता को निष्ठा का ही वरदान मिला था भगवान् के द्वारा, जिसके बल पर इसने गिरते पड़ते कर्त्तव्यनिष्ठा का निर्वाह किया था। अर्जुनने अपनी इस तात्कालिकी भावुक-प्रकृति का कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका क्षात्रप्रकृति से नियन्त्रण किया। इस नियन्त्रण से (कर्त्तव्यनिष्ठा से) नियन्त्रिता यही भावुक्ता निष्ठारूप में परिणत होगई। यही निन्त्रण अपेक्षित है प्रकृति के साम्राज्य में, जिसमें मानव के तात्कालिक अनुभवों का कोई भी महत्त्व स्वीकार नही किया गया, जबकि सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का निर्वाह इन अनुभवों से ही हुआ करता है। यदि दुर्भाग्यवश अर्जुन की यह प्राकृत भावुकता, यह करुणा-दया-अहिंसा-आदि लक्षणा कल्पित-मानवता निष्ठावतार भगवान् के द्वारा नियन्त्रित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ न बन जाती, तो क्या होता ?। होता वही, जो गीतोपदेशकाल के दोहजार वर्ष के अनन्तर, एवं तीन हजारवर्षपूर्वारम्भ में हो पड़ा था, एवं जिस होपड़ने के महान् पाप से आजतक भी नैष्ठिक भी भारतराष्ट्र का परित्राण नही होसका है।

५५४-नियन्त्रण के अभाव से ही भारतीय-मानवों की भावुकता के द्वारा त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में उत्तरोत्तर-पराभव—

क्योंकि तब से आजतक जो उद्बोधक आविर्भूत हुए भारतराष्ट्र में, सबने अपनी अपनी अनुभूतियों, तत्पूर्णा भावुकताओं के प्रचार-प्रसार को ही मानवता-मानवधर्म्म का प्रचार-प्रसार-अनुभूत मात्र किया अपने मानस-जगत् में। यदि ये महानुभाव आँख उठाकर, अपने अनुभवाहित काल्पनिक जगत् से क्षणमात्र के लिए भी बाहिर आँख उठाकर राष्ट्र पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो, तो इनकी इन अनुभूतियो के, कल्पनाओं के अनुग्रह से सर्वथा क्षत-विक्षत होते रहने वाले राष्ट्र की दुर्दशा पर अवश्य ही इनका ध्यान चला जाता। किन्तु चला कैसे जाता ?। अनुभूति जो इनके साथ थी, जो कर्त्तव्य की दृष्टि सर्वथा ही छीन लिया करती है। इनका ईश्वर भी केवल इन्ही का होता है। वह केवल इन्हीं को चुपचाप आकर 'सत्य'-'अहिंसा' आदि का वास्तविक मर्म्म समझा जाता है। और यों ये अपनी अनुभूति के बल पर ही भगवान् के ममसम्बन्धी बनकर अर्जुन की भाँति स्वयं ही निर्णायक बन बैठते है, जिन निर्णयों की अन्धानुसारिणी भावुक प्रजा के कष्ट कम होने के स्थान में उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं भगवान् के नाम पर, एवं भावुक भक्तों की भक्ति के नाम पर।

५५५-'कर्त्तव्यनिष्ठा' वाक्य के 'कर्त्तव्य' पर्व की प्रकृतिपरायणता, एवं 'निष्ठा' पर्व की पुरुषपरायणता, तथा कर्त्तव्य, और निष्ठा के साहचर्य्य से 'अहन्ता' का उदय—

अब उस 'निष्ठा' का भी विचार करलें, जो केवल दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का ही 'धन' है, एवं जिसपर मानवप्रकृति का कोई भी स्वत्त्वाधिकार नही है। 'कर्त्तव्यनिष्ठा' में 'कर्त्तव्य',और 'निष्ठा', ये दो पर्व-विभाग हैं। 'कर्त्तव्य' 'प्रकृति' की सम्पत्ति है, तो 'निष्ठा' पुरुष' की सम्पत्ति है। यदि पुरुषात्मिका निष्ठा के साथ प्रकृत्यात्मक कर्त्तव्य का सांकर्य्य होजाता है, तो कर्त्तव्य तो अवश्य सम्पन्न होजाता है। किन्तु इस कर्त्तव्य में 'अहन्ता' का उदय होजाता है। अनन्तपुरुष का जो यत्किञ्चिदंश प्राकृतभाव से समन्वित होकर-'अहं' रूप जीव बनता है, वह जब निष्ठा-भावुकता का विवेक करने में असमर्थ बनता हुआ (जिस असामर्थ्य का मूल-कारण प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के अतिरिक्त और कुछ भी नही है) प्रकृति के कर्त्तव्य को इस पुरुषांशरूप

'अहं' ('जीव') का कर्त्तव्य मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है, तो इस 'अहं' रूप चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है। और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल जड़प्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है। स्वयं प्रकृतिका अनन्तकालिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढ़ा विकृतिलक्षणा प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है*।

५५६–अहन्तामूला–प्रत्यक्षप्रभावात्मिका भूतजड़ता के द्वारा कर्त्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्त्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'—

स्थूलदृष्टि–भावानुगत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इसकी इस 'जड़ता' का आधार–स्तम्भ बन जाता है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी को 'सम्मूढ' कहा गया है, 'विमूढ' कहा गया है, जब कि केवल भावुक 'मूढ' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढा' (गीता ३।२९।)–'सर्वज्ञानविमूढांस्तान०' (गीता ३।३२।)–'इन्द्रियार्थविमूढस्य' (मैत्र्युपनिषत् ६।३४)–'एतैर्विमोहयत्येष' (गीता ३।४०।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१०।)–इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण–इन्द्रियलोलुप–सर्वज्ञानविमूढ–सम्मूढ–जड़मानवों के इस स्वरूप का ही यशोगान ? कर रहे हैं, जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'कुनैष्ठिक'–'दुष्ट'–'क्रूर'–'आततायी'–'असुर'–'राक्षस'–'नराधम'–'पिशाच'–आदि आदि सम्मानित ! उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्त्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७–परदुःखकातर, अतएव दिग्देशकालविमूढ़ अर्जुन-समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन–सदृश कर्त्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक हैं, निरपराध–सौम्य वैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र सन्नद्ध ही खड़े रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले, परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्मभीरु भावुक मानव हीं अपनी भावुकतापूर्णा अनुभूतियों, उद्गारों से गद्गद करते रहते हैं स्वसमानधर्मा भावुक प्राणियों को। कदापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याण' की ही कामना किया करते हैं–त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिलक्षण पुरुषार्थ का सतत उद्घोष करते रहने वाले वीतराग सन्यासियों की भाँति, किंवा दार्शनिकों की भाँति। मानवसुलभ इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी, परदुःखश्रवणमात्र से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन जाने वाली इन की भावुक–आकर्षक–आकृति, इस परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को, एवं सर्वान्त में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी, सत्य–करुणा–दया–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। किन्तु ?।

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७।

५५८–मोहासक्त, अतएव 'मूढ' उपाधि-विभूषित, परदुःखकातर भावुक–मानवश्रेष्ठों के सम्बन्ध में श्रुति के उद्गार—

इस 'किन्तु'-'परन्तु' का समाधान तो भगवान् हीं कर सके थे, जिनके अवतार की आज भी हम भारत वासी वैसी ही, किंवा उस से भी अधिक आवश्यकता अनुभूत कर रहे हैं। इसलिए विशेषरूप से कर रहे हैं कि, उन का प्रतिरूपात्मक सर्वमूर्द्धन्य आचारनिष्ठात्मक–गीताशास्त्र भी आज भावुक भक्तो की भावुकता का उत्तेजक ही प्रमाणित होता जारहा है, किंवा होचुका है। अर्जुन के भावुकतापूर्ण उद्गार ही आज गीताशास्त्र के सिद्धान्तपत्त माने, और मनवाए जारहे हैं अपनीं अपनीं अनुभूतियों के बल पर उसी भावुकता के आवेश में, **जिन ईश्वरपरायण ऐसे भावुक भक्तों को ही गीताशास्त्र में–'मूढ़' उपाधि मिली है, जैसाकि उसी श्रुति, और स्मृति (गीता) शास्त्र के निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—**

(१)–दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ाः (ज्ञानिनः-पण्डिताः-ब्राह्मणाः)—कठोप० २।५।

(२)–तदिमे मूढ़ा उपजीवन्ति (लोकचतुराः--आस्तिकाः--सत्ताव्यामुग्धाः--त्तत्रियाः)

(३)–प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् (भगवद्भक्ता धनिनः-वैश्याः)—कठोप० २।५।

(४)–यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा (यथाजाताः-आस्तिकाः शूद्राः)–(वृ. उ. ६।१।११।)

(*)–'कवयोऽप्यत्र मोहिताः (१) (गीता ४।१६)–'मूढ़ोऽयं नाभिजानाति' (२) (२।२५।)–'अवजानन्ति मां मूढ़ाः' (३) (९।११।)–'तेन मुह्यन्ति जन्तवः':(४) (५।१५)–'मूढ़ा–जन्मनि–जन्मनि' (१६।२०।)।

५५९–कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा 'मूढ़ावस्था', हीनकर्त्तव्यरूपा 'विमूढ़ावस्था', एवं 'मा ते व्यथा'–'मा च विमूढ़भावः' का संस्मरण—

कर्त्तव्य की विस्मृत्यवस्था का नाम है **'मूढ़ता'**, जिस में मानव शोकसंविग्नमानस बन जाया करता है। *एवं कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा जड़ता, एवं इस जड़ता की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होपड़ने वाली जघन्य–कुकर्म्मप्रवृत्ति से* अभिव्यक्ता शोक–व्यथा–विस्मृति–रूपा आत्यन्तिक जड़ता का नाम है–**'विमूढ़ता'**, जिसमें सभी कुछ समाप्त होजाता है। **'मा ते व्यथा'**–यह पूर्ववाक्य शोकानुभूतिरूपा **'मूढ़ता'** की ओर सङ्केत कर रहा है, एवं **'मा च विमूढ़भावः'** यह उत्तरवाक्य तदुत्तरभाविनी कुकर्म्ममूला आत्यन्तिक–जड़ता–लक्षणा **'विमूढ़ता'** की ओर सङ्केत कर रहा है।

५६०–धर्म्मभीरु–आस्तिक--भावुक की आद्यन्ता दुःखनिमग्नता, एवं तदनुगामी–भक्तों का तथागतित्त्व, किंवा 'तथागतत्त्व'—

निवेदन अत्र यही करना है कि, ईश्वर–परलोक–आत्मा–धर्म्म–कर्म्म–आदि आदि सभी शास्त्रीय भावों के प्रति आस्था रखने वाला, किन्तु परदर्शनमूला भावुकता के कारण **धर्म्मनिष्ठ-शास्त्रनिष्ठ-कर्त्तव्यनिष्ठ**

के स्थान में धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-कर्त्तव्यभीरु-बन जानेवाला परन्तु सकातरमात्र मानवश्रेष्ठ ही 'भावुक' कहलाया है, जो परदु खों की चर्व्वणा में ही आद्यन्त का दु खी बनता हुआ एक दिन इन दु खों में ही समाप्त हो जाता है, एव तदनन्तर उसके अन्ध-अनुयायी उसके भावुकतापूर्ण इन त्याग-तपस्या-विजृम्भणों के यशोगानमात्र से अपने आपको भी उसी भावुकतापूर्ण पथ के पथिक बनाए रहते हैं।

५६१-ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-भीरु, मान्यताभावों में नितान्तभीरु भावुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-ईश्वरभीरु,-सर्वोपरि सत्य, अहिंसा, दया, करुणा-मानवता-आदि में नितान्त भीरु ऐसे भावुक मानवों की पारम्परिक-सृष्टि-परम्पराने ही तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म-शास्त्र-कर्त्तव्य-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्मृति के गर्भ में ही विलीन बनाए रक्खा है। इन की इस भावुकता के ही अनुग्रह से, नि संशय एकमात्र अनुभूतिमूला इस विशुद्धा भावुकता से ही उन विमूढ दुष्टबुद्धि-जड-स्वार्थी-कुनैष्ठिकों को ही उत्तरोत्तर इस राष्ट्र में अन्तर्यामसम्बन्ध से दृढमूल बनाया है, जिनके कारण ही सबकुछ विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र श्री-समृद्धि-विद्या-शौर्य्य-यशो-विहीन ही बनता आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से।

५६२-कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यामुग्ध मानव की तमोगुणान्विता जड़ता, एवं तद्द्वारा भीषण-अकाण्ड-ताण्डव—

निवेदन किया गया है कि, 'कर्त्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कर्त्तव्य' पर्व का प्रकृति से, तथा 'निष्ठा' पर्व का 'पुरुष' से सम्बन्ध है। जब कर्त्तव्यात्मक प्रकृतिभाव निष्ठात्मक पुरुष के क्षेत्र में आता हुआ पुरुष की सम्पत्ति बन जाता है, तो प्राकृत मानव का चैतन्यपुरुषभाव (जीवभावात्मक-अहंभाव) 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस मिथ्यादम्भ में आकर कालान्तर में निश्चित कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही होजाता है। यही अकर्म्मण्यता कालान्तर में इसे तमोगुणप्रधान वैसे जडकर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है, जिनका एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक सिंह-व्याघ्रादि प्राकृत जीवों के नृशंसकर्म्मवत् किसी भी उपाय से-छल-बल-कपट-हिंसा-स्तेय-दस्युवृत्ति आदि से-स्वार्थपोषण करते रहना। यों आरम्भ की 'भावुकता' ही कालान्तर में 'अधमता' की जननी बन जाती है। भावुकता ही यों परम्परया अपने वर्ग में से ही मानवाधम उत्पन्न कर देती है। वैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलत सभी मानव ही हैं। किन्तु इन मानवों की प्रारम्भिक भावुकताने ही सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ मे ही दानव-दस्युओं को उत्पन्न कर डाला है, जो दानव-दस्यु अपनी जननी मानवता को खा-खा कर ही अपनी कायवृद्धि करते रहते हैं। क्योंकि-'जो जिस से उत्पन्न होता है, वह उसी को खाकर जीवित रहा करता है' इस प्राकृतिक-नियम का अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है-निष्ठा के अतिरिक्त।

५६३-धर्म्मभीरु भावुक अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन, एवं इन की धर्म्म-निष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती भ्रान्ति—

समझने मात्र के लिए भावुक की पूर्वावस्था को जहाँ हम 'भावुक' कह सकते हैं, वहाँ इसी की अन्तिम-जडावस्थारूपा विमूढावस्था (उत्तरावस्था) को 'कुनैष्ठिक' कह सकते हैं, एवं आज से पाँच सहस्र वर्ष के

पूर्वयुग में अर्जुन, और दुर्य्योधन के रूप से इन दोनों वर्गों के दर्शनों का महद्भाग्य, किंवा महद्दुर्भाग्य प्राप्त कर सकते हैं, जो उस युग के सर्वश्रेष्ठ **धर्म्मभीरु**, एवं सर्वश्रेष्ठ **कर्म्मभीरु** ही बने हुए थे, किन्तु अपनी भावुकता, तथा कुनिष्ठा से समझ बैठे थे जो अपने आपको क्रमशः **धर्म्मनिष्ठ**, एवं **कर्त्तव्यनिष्ठ ही।**

५६४–धर्म्म, तथा नीति का व्यवच्छेदात्मक भीषणतम महाभारतयुग, एवं धर्माभिनिविष्ट भावुक अर्जुन, तथा नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक दुर्य्योधन—

एक (अर्जुन) धर्म्म का आचार्य्य बनता हुआ मानवता-सत्य-अहिंसा-करुणा के व्याख्यान झाड़ रहा था आँखों में आँसू भर भर कर, तो दूसरा राजनीति का परमाचार्य्य बनता हुआ, देशकाल का पूर्ण ज्ञाता बनने का दम्भ करता हुआ अपनी राज्यलिप्सा के संरक्षण में प्रयत्नशील बना हुआ था सत्-असत्-सबकुछ को कर्त्तव्यनिष्ठा मानता हुआ। यों धर्म्म,और कर्म्म,किंवा धर्म्म और नीति सर्वथा ही विभक्त होगए थे उस युग में। धर्म्माभिनिविशिष्ट भावुक परमार्थी अर्जुनने नीति को जलाञ्जलि समर्पित करडाली थी, तो नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक स्वार्थी दुर्य्योधनने धर्म्म को जलाञ्जलि प्रदान कर दी थी। कौरव–पाण्डवों का संघर्ष क्या था, धर्म्म और राजनीति का संघर्ष था, भावुकता, और कुनिष्ठा की प्रतिद्वन्द्विता थी। कौन, कैसे, विजयी हुआ इस संघर्ष में ?। क्या अर्जुनने अपने भावुकतापूर्ण धार्म्मिक–व्याख्यानों, मानवोचित अहिंसा–करुणादि धर्म्मों की घोषणाओं से दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन का दलन कर डाला ?। स्वयं ही उत्तर प्राप्त कर लीजिए उसी गीताशास्त्र के माध्यम से।

५६५–'ईश्वरनिष्ठात्मिका' सहज 'कर्त्तव्यनिष्ठा' का स्वरूप दिग्दर्शन. तदभिन्ना शास्त्रनिष्ठा, तद्रूपा 'धर्म्मनिष्ठा', एवं तदनुगत पुरुष-प्रकृति--समन्वयात्मक द्वन्द्वों का निर्विरोध--व्यवस्थापन—

कर्त्तव्यनिष्ठा का 'कर्त्तव्य' पर्व प्रकृति के क्षेत्र में ही नियन्त्रित रहना चाहिए, एवं 'निष्टा' पर्व पुरुष के क्षेत्र में हीं, स्वस्वरूप से ही व्यक्त रहना चाहिए। इस से कदापि दम्भ, तन्मूलक मोह (मूढ़ता), एवं विमूढ़ता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। दिग्देशकालानुगत कर्त्तव्य को दिग्देशकालातीता निष्ठा से नियन्त्रित रखने पर जो उभयस्वरूपात्मक तत्त्व सम्पन्न होता है, उसी का नाम है–**'कर्त्तव्यनिष्ठा'**, यही है **'ईश्वरनिष्ठा'**, यही है **'शास्त्रनिष्ठा'**, एवं यही है **'धर्म्मनिष्ठा'**, जिस की ग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदंश अवतीर्ण हुआ करता है। जिस निष्ठा में **पुरुष[1]–प्रकृति[2], संवित्[1]–अनुभूति[2]** **'समझ[1]–ज्ञान[2]',–'बोध[1]–बुद्धि[2]',–धर्म्म[1]–नीति[2],–परलोक[1]-इहलोक[2],–अभ्युदय[2]–निःश्रेयस्[1],–निष्ठा[1]–भावुकता[2], दिग्देशकालातीतब्रह्म[1]-दिग्देशकालात्मक[2]** विश्व, इत्यादि दोनों भाव सर्वात्मना समदर्शनरूपेण, तथा विषमवर्त्तनरूपेण निर्विरोध समन्वित रहते हैं। एवं ऐसे ही मानवश्रेष्ठ को कहा जाता है–**'नैष्ठिक'**, जिस का अर्थ है–**अन्तर्भावुकतागर्भित निष्ठावान्**, जैसाकि निबन्ध के अग्रिम परिशिष्ट–खण्डों में लोकसूत्रपरम्परा के माध्यम से विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

५६६–दिग्देशकालधर्म्मों का समादर, एवं तदनुगत 'यत्किञ्चित्' संशोधन—

हम अनुमान करते हैं कि, अब उस 'यत्किञ्चित्' का अर्थ समन्वित होगया होगा–उक्त समन्वय–सन्दर्भ से। कदापि हम दिग्देशकालधर्म्मों का उच्छेद अभीप्सित नहीं मानते। क्योंकि शास्त्रनिष्ठा यह

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तब्रह्म की अनन्तकालविभूति के महिमारूप दिग्देशकालविवर्त भी तत्वत अनन्त ही हैं। सशोधन अपेक्षित है सचमुच में यत्किञ्चि् -सा ही, जिसे लक्ष्य बना लेने में महान् मानव-श्रेष्ठ को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था है।

५६७-दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्थपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहनने हीं मानव की महत्ता में तथाकथिता अनर्थपरम्पराओं का सर्जन किया है। दिग्देशकालनिबन्धना कर्त्तव्यनिष्ठा अन्य पक्ष है, तो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा) विभिन्न पक्ष है। सम्मुख अवस्थित भौतिक लाभ को, इस वर्त्तमान दिग्देशकाल-निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अतीत और भविष्यत् को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती है इस परदर्शनमूला-विमोहनामिका भावुकता के आवेश में कि, यदि अभी, इसी क्षण किसी भी उपाय से, छलसे-बल से हमने इसे अपने अपने अधिकार में नहीं कर लिया, तो आगामी कल में हमें दु खी ही होजाना पड़ेगा। यही तात्कालिकी दिग्देशकालता हमें वैसे जघन्य सग्रह में प्रवृत्त कर देती है, जो सग्रह अपने सहज आवरणधर्म्म से सग्रहपरम्परा को जन्म देता हुआ इस सग्रह में हीं इसे तल्लीन कर देता है। और यही तल्लीनता इसे आत्ममूलक समदर्शन, एव तदनुगता महती महानता से पराङ् मुख करती हुई महतोमहीयान् भी इसके 'मानवस्वरूप' को ऐसा छोटा बना डालती है, जिस छोटाई में आकर यह अपने सम्मुख विद्यमान भौतिक अर्थों के साथ हिंसक सिंह-व्याघ्रादि की भाँति ही नहीं, अपितु शृगालवत् ही चिपट जाता है। और दुर्भाग्यवश-शवशरीरात्मक क्रव्यादमाससे समतुलित इन निष्प्राण अर्थों की लिप्सा में हीं यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर देता है।

५६८-दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक ही मानव का तद्व्यामोहन से सम्भावित आत्मत्रा —

कौन मना करता है इसे दिग्देशकाल से लाभ उठाने के लिए, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से बाहिर लाभ उठाने जैसा कुछ भी तो नहीं है। जबतक मानव शरीरी है, फिर भले ही वह ऋषि हो, देवता हो, पण्डितराज हो, किंवा तपस्वी वीतराग सन्यासी हो, अवश्य ही सभी को दिग्देशकालात्मिका शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए दिग्देशकालात्मक वर्त्तमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से लाभ उठाता है, वही बुद्धिमान् है, वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिसिद्ध शाश्वत सनातन नियम का अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। जो इस नियम का अतिक्रमण कर जाता है कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद के व्यामोहन में, अपनी दार्शनिकता में, अपनी विद्वत्ता में, अभिनिविष्ट होकर, उसे 'शून्यम्' शून्यम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है ?। दिग्देशकाल-निबन्धना बुद्धिमानी की भावावेश में उपेक्षा करके ही तो अर्जुन यथाधिकारसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित कर बैठा था अपने आपको।

---

* नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः॥
—गीता ३।८

५६९-दिग्देशकालपर्म्मज्ञ, अवसरवादी दुर्य्योधन की धर्म्मशून्या नैतिक–कुशलता, एवं तद्द्वारा लाभान्वित दुर्य्योधन के लोकवृत्त का नीरक्षीरविवेक—

तो क्या दुर्य्योधन का पक्ष ठीक था ? । नहीं । वह तो अर्जुन से भी अधिक बुद्धिमान् ! बन गया था । अर्जुन की बुद्धिमानी एक सीमा में तो थी । वह अपनी इस भावुकतापूर्णा बुद्धि का लक्ष्य दूसरों को तो नहीं बनाना चाहता था । केवल पश्चात्ताप ही कर लिया था इसने अपने आप में ही दुर्य्योधनादि के लिए÷ । किन्तु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन तो इस सीमा का भी अतिक्रमण कर बैठा था । उसने तो कर्ण जैसे महान् धर्म्मिष्ठ तक को अपने जैसा बना ही जो लिया था । उसने भीष्म जैसे धर्म्मज्ञ को विवश कर लिया, द्रोणाचार्य्य जैसे ब्राह्मणश्रेष्ठ को सैनिक बना डाला । और क्या क्या दुष्कर्म्म नही करडाले इस दुष्टबुद्धिने अपने राजनैतिक-संघटन के लिए ? । अवश्य ही इसने उन सभी अवसरों से लाभ उठा लिया, जो भी अवसर इसके सम्मुख दिग्देशकालानुपातसे उपस्थित होते गए। यही नही, इस चाणाक्षचतुर-कालज्ञ-देशज्ञ-महान् मनोवैज्ञानिक-राजनैतिक बिडालाक्षने तो उन पाण्डवपक्षपातियों से (शल्यादि से) भी स्वयं ही उनकी भावुकता से लाभ उठाते हुए पाण्डवोंको मूर्ख ही प्रमाणित कर दिया । और उस समय तो हम सर्वात्मना स्तब्ध ही बने रह जाते हैं दुर्य्योधन की लोकनिष्ठा के इस इतिवृत्त को सुनकर कि, जो भगवान् वासुदेव कृष्ण इस के उद्घोषित शत्रु थे, जिन को कौरवसभा में अवाच्य–वाद कहते हुए भी जिस निर्ल्लज्ज पामर की जिह्वा दग्ध नहीं होगई थी, जो इस विराड्विभूति को बन्दी बनाने तक के लिए अक्षम्य साहस कर बैठाथा, ऐसे अपने प्रचण्ड शत्रु श्रीकृष्ण से भी इसने उन की 'गोपसेना' सहायता के लिए प्राप्त कर ही तो ली थी इस अवसरवादी धूर्त्तराज लोकनीतिविशारद चाणाक्षचतुर धृष्ट दुर्य्योधनने ।

५७०--आततायी दुर्य्योधन के द्वारा प्राप्त 'युद्धसहायता' के सम्बन्ध में धर्म्मशील-मानवों का विकम्पन—

अवश्य ही अपनी सहज भावुकता से कभी कभी हम भगवान् के इस चरित्र से विकम्पित हो पड़ते थे, जो कि विकम्पन उसी कालातीत भगवान् वासुदेव कृष्ण के अनुग्रह से सम्भवतः अब शान्त होता हुआ प्रतीत हो रहा है इस 'दिग्देशकालमीमांसा' के निमित्तानुबन्ध से । भगवान् जैसे नैष्ठिक अवतार भी क्या दुर्य्योधन जैसे लोकनिष्ठ के सम्मुख हार मान गए ?, जिस के कारण दुर्य्योधन जैसा वह आततायी भी उन भगवान् से सहायता प्राप्त कर लेने में सफल होगया, जो भगवान् अवतीर्ण ही हुए थे ऐसे दुष्टों का मूलोच्छेद करने के लिए ही ? । यही वह विकम्पन था, और बहुत सम्भव है-तात्कालिक रूपेण सन्तोष कर लेने पर भी हमारे भावुकतापूर्ण विकम्पन की सर्वात्मना उपशान्ति न कर सकें हम अपनी इस भावुक–बुद्धि से ।

÷ यद्यप्ये ते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
कथं न ज्ञेयस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्द्दन ! ॥
—गीता १।३८,३९,

५७१–ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिह्य निदर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म—

सहसा हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आजतक इस धराधाम पर जितने भी असुर–राक्षस–दस्यु–आदि बर्बर दुष्ट मानव उत्पन्न हुए, सबने इस विश्व की शक्तियों से ही तो विश्व को विकम्पित किया है। भगवान् के साम्राज्य से ही तो इन सब को सबकुछ मिला है। उसी के बल से तो इन्होंने उस पर प्रहार करने में भी कोई न्यूनता नहीं की है। यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार का स्थल भगवान ही बने हैं। ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड दुष्कर्म्म उपक्रान्त बनते हैं। उसे न मान कर ही तो ये स्वयं को ब्रह्म मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। और यह अनीश्वरता ही तो इन्हें संहारकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करती है। उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण ही तो ये सादिसान्त दिग्देशकालों से तात्कालिक लाभ उठा लेना ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं।

५७२–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का संस्मरण, प्रकृतिपरिपाकानुगत भौतिकदण्ड, एवं तत्सम्बन्ध में कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति—

और अब हम ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में ही कि, यदि भगवान् दुर्योधन को भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते, तो सम्भवत सत्य इतिहास के स्रष्टा–द्रष्टा पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपङ्कज से कदापि श्रद्धातापूर्वक उन्मुक्तहृदय से–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' जैसी नैष्ठिकी आर्षवाणी विनिःसृत ही न होती। भगवान् कदापि अपनी भूतप्रजा को भौतिक दण्ड तत्काल ही नहीं दे दिया करते। अपितु भौतिक दण्ड तो उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उत्तरदायित्व पर ही छोड़ दिया गया है। तभी तो भूतासक्त जड़ मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि,–'मेरे ऐसे षड्यन्त्रों से भी जब कि मुझे भूतसमृद्धि अनायासेनैव उपलब्ध हो रही है, तो व्यर्थ है धर्म्म का भय, और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का व्यामोहन'।

५७३–धर्माचार्य्यों के द्वारा कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति परम्पराओं का स्वरूप-विश्लेषण—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है?, स्वयं धर्म्माचार्य्योंनें इसी तथ्य का ओर भी अधिक उदात्तता से समाधान किया कि,–"जो प्राकृत–जड़ मानव दिग्देशकालनिबन्धन स्वार्थ में अन्ध बन कर धर्मपथ का परित्याग करता हुआ, सर्वनियन्ता ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्म्मपथ का अनुगामी बन जाता है, तत्काल वह मानो बढ़ने ही लगता है (आज की भाषा में-'तरक्की' ही करने लग पड़ता है)। अपने इस 'बढ़ाव' से (पदप्रतिष्ठा–अर्थसञ्चयादि से) यह भूतसमृद्ध (सम्पन्न) मानव नित नूतन भद्र अनुष्ठान (उत्सवायोजन) मनाने लगता है। अपने इन लोकायोजनों के बल पर, तथा समृद्ध अर्थबल पर ही यह नराधम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को लोकसंघर्ष में परास्त भी करता रहता है। किन्तु सर्वान्त में?। सो न कहना ही अच्छा है *।

---

*–अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४।

५७४-मानवता-सुलभ क्षणिक उद्बोधन की उपेक्षा कर बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक का अन्ततोगत्वा बुद्धिशून्यता-लक्षण नाशक्षेत्र पर ही अवसान—

अहो ! यदि यह दुर्बुद्धि आरम्भ में ही, क्षणमात्र के लिए ही यह अनुभव कर लेता कि, इत्थंभूत मलीमस-प्रवञ्चनापूर्ण पथ में अग्रेसर होते ही अन्तर्य्यामी के द्वारा प्राप्त होने वाली "अरे ! काम तो बुरा कर रहे हैं,' बुरा हो रहा है' इस परोक्ष-सूचना पर ध्यान दे लेता (जैसा-कि घोरघोरतम पापिष्ठ मानव में भी यदाकदा क्षणमात्र के लिए उस के अन्तःकरण से ही उसे तथाविधा चेतावनी मिलती रहती है, निश्चयेन मिलती ही रहती है), तो सम्भवतः वह आरम्भ में ही अपनी मानवता का संरक्षण कर ले जाता। किन्तु परदर्शन-मूला भावुकता उत्तरक्षण में हीं इसे उस क्षणिक ईश्वरीय उद्बोधन से पृथक् कर देती है। यों बुद्धिव्यामुग्ध यह धृष्ट उत्तरोत्तर अधिकाधिक उस उद्बोधनवाणी के अन्तःश्रवण से दूर-बहुत दूर ही होता जाता है। अन्ततोगत्वा 'नास्ति धर्म्मः, नास्ति वा ईश्वरः' इस बुद्धिशून्यता पर ही इस का पर्य्यवसान हो जाता है।

५७५-भौतिकदण्ड के समतुलन में बौद्धिक दण्ड-विधान की महती भयावहता—

बुध्दि का यह अपहरण तो वैसा दण्ड-विधान है इस भूतवादी के लिए, जिस दण्ड के समतुलन में भूतदण्ड का कुछ भी तो महत्त्व नही है। और जिन में बुध्दि का शतांश-सहस्रांश भी शेष रह जाता है (और अवश्य ही रह जाता है, क्योंकि भगवान् के साम्राज्य में किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नही होता, केवल अभिभव ही होता है), तो वह स्वयं अपने अन्तर्जगत् में हीं यह समतुलन कर सकता है कि, बुध्दि के इस सहस्रांश के समतुलन में उस अन्यायोपार्जित-जड़, एवं जड़ताभिवर्द्धक, अतएव अहोरात्र विविध-चिन्ता-ग्लानि-सर्ज्जक-भूतपरिग्रह का कैसा स्वल्पतम (अत्यन्त नगण्य) महत्त्व है ?।

५७६-बौध्दिक-दण्डानुभूति से अपरिचित जड़भूतवादी मानव की अन्तिम-अवस्थानुगता 'त्राहि माम्' लक्षणा करुणगाथा—

बात केवल इतनी सी है कि, चिरकालिक जड़-भूताव्यासङ्गों की कृपा से बौध्दिक दण्ड की अनुभूति का अभ्यास ही इस जड़वादी को नही रहता। इसे तो तत्काल प्रभावित करता है, कर सकता है केवल भौतिक दण्ड ही। वह फिर शारीरिक हो, अथवा तो आर्थिक। तभी तो ऐसे वर्ग के लिए शास्त्रने भौतिक दण्ड का ही विधान किया है, जबकि प्रज्ञापराधवश भूल कर जाने वाले धार्म्मिक पुरुषों के लिए सामान्य-प्रतारणादि-दण्ड ही पर्य्याप्त मान लिए गए हैं। किन्तु सर्वान्त में जब सर्वस्व के ही अपहरण का समय आता है, जबकि इस के प्राण कण्ठ में अवरुद्ध हो जाते हैं, तो उस समय अवश्य ही इसे 'त्राहि मां त्राहि माम्' ही पुकार उठना पड़ता है, जिस की प्रामाणिकता इस के जीवनकाल में भी रोगादि-स्वजननिधनादि अवसरों पर अभिव्यक्त होती रहती है।

५७७-दुर्य्योधन, तथा अर्जुन को प्रदत्ता सहायता के सम्बन्ध में दिग्देशकालभावानुबन्धी-ऊहापोहों का तथ्यात्मक-स्वरूप समन्वय—

भगवान् क्यों नही तत्काल भौतिक-दण्ड प्रदान कर देते ?, क्यों आततायी दुर्य्योधन जैसे को भी भगवान् ने भौतिक सहायता प्रदान कर दी ?, और कैसे दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन का साहस हो पड़ा अपने महान् शत्रु भी

भगवान् वासुदेव से सहायता याञ्चा कर बैठने का ?, कैसे इस से ऐसी असहाया धृष्टता हो पड़ी ?, इत्यादि प्रश्न गतार्थ हैं उक्त स्पष्टीकरण के माध्यम से ही। किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है, कालातीत भगवच्चरित्रों के सम्बन्ध में हमारी प्रज्ञा सर्वथा भावुक ही है। अतएव अन्ततोगत्वा पुन. यह भावुकता और जागरूक हो ही तो पड़ती है इसी ऐतिह्य-घटना के सम्बन्ध में कि,-भगवान ने अपनी पूर्णावतार-निबन्धना भगवत्ता के कारण दुर्योधन को भौतिक-सहायता दे दी, यहाँतक तो अमुक दृष्टि से बात समझ में आई। किन्तु उसी अवसर पर सहायता की कामना अभिव्यक्त करने भगवान् के अत्यन्त प्रियसखा अर्जुन भी आए हुए थे। दिग्देशकाल के महान् पण्डित, तात्कालिक लाभ उठाने में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कुनैष्ठिक) राजा दुर्योधन के गुप्तचर पाण्डवों के गुप्त से गुप्त भी प्रतिक्षण के समाचार दुर्योधन को पहुँचा रहे थे। अपनी इसी सावधानी से प्रतिक्षण जागरूक बने रहने वाले दुर्योधन ने अन्यत्रान्यत्र जहाँ दूत भेजे —, वहाँ द्वारिका में स्वयं पहुँचे। उधर जब पाण्डवों ने यह सुना कि, दुर्योधन भगवान् से सहायता लेने द्वारिका जा रहे हैं, तो दिग्देशकालविमूढ पाण्डवों को तब कहीं स्वयं भी वहाँ पहुँचने की सूझी। तत्काल अर्जुनने भी अनुधावन किया दुर्योधन का तत्र गमन सुन कर। सौभाग्य से दोनों के प्रवेश में अन्तर थोड़ा ही रहा। पूर्वक्षण में दुर्योधन भगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे, तो तदुत्तर क्षण में ही अर्जुन पहुँच गए *। दुर्योधन अपनी वैय्यक्तिक प्रतिष्ठा के अनुरूप भगवान् के मस्तक की ओर रक्खे हुए बहुमूल्य सिंहासन पर राजोचित सम्मान से सन्नद्ध बन कर बैठ गए, जबकि अर्जुन भगवान् के चरणों के समीप प्रणतभाव से साञ्जलिबन्धरूप से ही खडे हो गए —। कुशल-क्षेमानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्योधन ही इस धर्म्मबुद्धि ! के साथ मन्दहासपूर्वक ही कि,-'इस युद्ध में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१)। क्योंकि आप के लिए हम, और अर्जुन दोनों समानरूप से मित्र हैं। और फिर (मित्रता न भी मानी जाय तो भी) हम दोनों आप के समान-सम्बन्धी तो हैं ही। (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अर्जुन से पहिले आए हैं आप के सन्निकट। सन्तपुरुषों का यह नियम है कि, पहिले आने वाले की बात पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२)। और आप वर्त्तमान समाज में एक श्रेष्टतम सन्त व्यक्ति हैं। अतएव आप को सन्तानुगत सद्वृत्त का पालन करना ही चाहिए ! (अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !) । (दुष्टबुद्धि को जब किसी

—धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः।

*—ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनः।

—उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने (दुर्योधन)।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत्कृताञ्जलिः (अर्जुन)॥

(१)-विग्रहेऽस्मिन् भवान् ! साह्यं मम दातुमिहार्हति।
—अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वाक्य

(२)-अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ! ।
पूर्वं चाभिगतं सन्ता भजन्ते पूर्वसारिणः ।
—कैसी धर्म्मभावना है ?

धर्म्मनिष्ठ से सहायता लेनी होती है, तो वह उसके सम्मुख धार्मिक-कारण का ही छल उपस्थित कर देता है धृष्टतापूर्वक। साथ ही मन्द-मन्द मुसकाता-हँसता हुआ सा ही अपना अभिप्राय इसप्रकार कहना आरम्भ करता है कि, मानो इसे सहायता का प्रयोजन ही नहीं है। अपितु यह तो सामने वाले को धर्म्म-पूर्वक काम करने की प्रेरणामात्र ही देने आया है)।

५७८-कुनैष्ठिक की धृष्टतापूर्ण अवसरवाणी का मूलोच्छेद, एवं भगवान् के द्वारा उभय पक्ष को साहाय्य-प्रदान—

दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन की इस अवसरवाणी का मानो मूलोच्छेद ही करते हुए भगवान् ने यही उत्तर दिया कि,-"दुर्य्योधन! आप अवश्य ही यहाँ पहिले आए हैं। सचमुच आपके इस प्रथमागमन में तो कोई तो सन्देह नहीं है (किन्तु आप यह भी जान गए होंगे कि) दृष्टि मेरी सर्वप्रथम अर्जुन पर ही पड़ी है। हाँ, आप पहिले आए हैं, और अर्जुन पर पहिले दृष्टि पड़ी है। अतएव सहायताप्राप्ति के लिए आप आगमनरूप प्राथम्य से, तथा अर्जुन दृष्टिप्राथम्य से, दोनों ही समानाधिकारी हैं। अवश्य ही दोनों को ही सहायता दी जायगी। इसप्रकार दोनों ही जब आगमन, और दृष्टिरूप से प्रथमश्रेणि में आगए, तो तुम पूँछ सकते हो कि, दोनों में किसके प्राथम्य को प्रथम माना जाय? । सो तुम स्वयं कह चुके हो कि, हम लोकसमाज में श्रेष्ठ हैं। और तुम्हारे जैसे बुद्धि-मान् को यह बतलाना भी निरर्थक ही होगा कि, हमारी यह श्रेष्ठता धर्म्ममूला ही है। हम श्रुतिसिद्ध आज्ञा से ही, श्रौतधर्म्म के परिपालन से ही तो तुम्हारी दृष्टि मे सन्त बने हुए हैं। और निश्चयेन तुम जैसे धर्म्ममर्म्मज्ञ ? से सम्भवतः यह भी परोक्ष नहीं होगा कि, एकसाथ अपना प्राथम्य व्यक्त करने वाले वयस्क-समर्थ-बुद्धिमान्, तथा बालावस्थापन्न, अतएव लोकचातुर्य्य से शून्य-दोनों में से बालभावानुगत व्यक्ति की बात पर ध्यान देने पर ही श्रुति ने बल दिया है—'प्रवारणं तु बालानां पूर्वकार्य्यमिति श्रुतिः' (अवस्था में भी, और लोकविचारों की परिपकता में भी अर्जुन आपसे छोटे हैं, बालक हैं)"। इसप्रकार अपने आपको लोकचतुर-भाषणकला-कुशल-मान बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक धृष्ट दुर्य्योधन के धृष्टतापूर्ण वाक्छल का निरतिशयरूपेण मान-मर्द्दन ही तो कर डाला भगवान् ने। और अन्ततोगत्वा परिणामस्वरूप सर्वप्रथम अर्जुन से ही पूँछा गया कि, एक ओर हम निरस्त्ररूप से सहायता के लिए सन्नद्ध हैं, तो दूसरी ओर सर्वशस्त्रास्त्रसुसज्जिता हमारी 'गोपसेना' है। बोलो अर्जुन! तुम दोनों में से क्या लेना चाहते हो? । प्रश्न का उत्तर सर्वविदित है *।

---

* हमने दिग्देशकालानुबन्ध से स्थितिसमन्वयमात्र के लिए 'भावुकता' के प्रसङ्ग में 'अर्जुन' का नाम स्मरण किया है आक्रोशपूर्वक। किन्तु यह अविस्मरणीय है कि-यह आक्रोश केवल उदाहरणविधि से ही अनुप्राणित है। वस्तुगत्या उस अर्जुन के समान भाग्यशाली और दूसरा कौन होगा, जिसे भगवान् 'बालक' कह कर रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ले रहेहैं। साथही में प्रकृत्या भावुक भी अर्जुन जैसा ईश्वरनिष्ठ भी दूसरा और कौन होगा, जिसने अपने सम्पूर्ण बौद्धिक दम्भों को भगवान् के प्रति ही सर्वतोभावेन समर्पित करदिया था। भावुकता का यही अंश तो अपेक्षित है प्रत्येक नैष्ठिक के लिए। लोकानुगता भावुकता जहाँ सर्वनाशकारिणी है, वहाँ इष्टदेवानुगता वही भावुकता मानव को स्वतः ही कालान्तर में लोककर्त्तव्यनिष्ठा प्रदान कर देती है। भगवत्-समर्पण का यह अर्थ मान बैठना कि, समर्पणकर्त्ता के शयन-भोजन-पठन-स्वाध्याय-आचारादि सब कर्म्म भी भगवान् ही कर जायँगे, समर्पणानन्तर भक्तराज को कुछ भी करना धरना नहीं पड़ेगा, कदापि भगवत्-सम्मत नहीं है। यदि ऐसा ही होता, तो अपने प्रियभक्त अर्जुन को भगवान् कभी भी क्षत-विक्षत होने के लिए रणक्षेत्र

५७९-कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य से ही अन्ततोगत्वा इन का समूल-विनाश—

इतिवृत्त का केवल एक अंश मीमांस्य प्रतीत हो रहा है हमें अपनी भावुकता के दोष से यही कि, जब भगवान् की भगवत्ता का यह निर्णयात्मक स्तम्भ है कि-"कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धियों को भूत से तो वञ्चित नहीं करना

में प्रवृत्त नहीं करते। सबकुछ हुआ भगवत्प्रदत्ता निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किया भगवान्ने ही, सभी कुछ भगवत्सत्ता से ही तो हो रहा है। इस तथ्य को कर्त्तव्यनिष्ठा के उत्तरदायित्व से पृथक् मान बैठना कदापि भगवत्सम्मत तो नहीं ही है। नैष्ठिकी सविद्बुद्धि भगवान का ही तो स्वरूप है, जो कर्त्तव्यनिष्ठा की ही अधिष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म्म-ह्री-आर्जव-रूपा सत्यनिष्ठा के माध्यम से ही भगवदनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। अर्जुन में लोकदृष्ट्या सभी भावुकताएँ ही भावुकताएँ थी। किन्तु भगवान् के प्रति इनकी अनन्यनिष्ठा थी। समझे, बिना समझे भी-'करिष्ये वचनं तव' जैसी समर्पणमूला निष्ठा थी, जिस आदेशमूला निष्ठा का नाम ही 'शास्त्र' माना गया है। जब धृतराष्ट्र बार बार पाण्डवों की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में सञ्जय से प्रश्न करने लग पड़े थे, तो सञ्जयने अन्ततोगत्वा यही कहा था कि-राजन्, पाण्डवों के सम्पूर्ण सैन्यबल का एकमात्र रहस्य यही है कि, वे सत्य-धर्म्म-ह्री-आर्जवादि भगवद्विभूतियों से ही समन्वित हैं। अतएव स्वयं भगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है वहाँ का प्रसङ्ग, जिसे निम्नलिखित रूपेण स्मरण कर हम भी अपनी भावुकता उपशान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूया भूयो हि यद्राजन्! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ॥
सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे शृणु ॥१॥
एकतो वा जगत्कृत्स्नं, एकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥२॥
भस्मकुर्य्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ॥
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्त्तुं जनार्दनम् ॥३॥
यतः सत्यं, यतो धर्म्मः, यतो ह्रीः, आर्जवं यतः ॥
ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥४॥
अधर्म्मनिरतान्-मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्।
कालचक्रं-जगच्चक्रं-युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् ॥
—महाभारत-उद्योगपर्व ६८ अध्याय

आस्था-श्रद्धा-शील पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि, यहाँ का सम्पूर्ण प्रकरण एकबार वे अवश्य ही देख लेने का कष्ट करें, जिसमें सञ्जय के मुख से पुराणपुरुष ने भगवत्सत्ता के सम्बन्ध में महान् उद्बोधन प्रदान किया है मादृश प्राकृत-जड-जीवों के लिए।

चाहिए, किन्तु 'प्रज्ञा', 'संवित्', तथा 'सन्निष्ठा' से उन्हें अवश्य ही विमुग्ध बना देना चाहिए",तो फिर भगवान् को यह आशङ्का हो ही क्यों पड़ी कि,–'कहीं दुर्य्योधन हमें न माँग बैठे सहयोग में, जबकि हमारा 'अपना स्वरूप' तो एकमात्र धर्म्मबुद्धिशील अर्जुन के लिए ही सुरक्षित है ?" । क्या इसी आशङ्का से भगवान् ने पहिले अर्जुन का समाधान करना आवश्यक समझा ? । यदि ऐसा है, तब तो यह भगवान् की भगवत्ता पर ही आक्रमण माना जायगा युगधर्म्म का । इस भावुकता-पूर्ण आशङ्का का समाधान स्वयं भगवान् के उत्तरात्मक कतिपय शब्दों से ही होजाता है । भगवान् अपने स्वरूप से भगवान् ही हैं । नात्र सन्देहः । अवश्य ही इस भगवत्स्वरूपानुबन्ध से भगवान् यदि अर्जुन को प्राथम्य देते हुए भी प्रथम दुर्य्योधन की ही इच्छा जानना चाहते, तो कदापि भगवदिच्छा के विपरीत भगवत्स्वरूप से अपरिचित भी दुष्ट दुर्य्योधन भौतिक–सैन्य–सहयोग के अतिरिक्त निरस्त्र भगवान् की स्वप्न में भी कामना नहीं ही करता । यदि दुर्य्योधन में ऐसी ही सद्बुद्धि होती, तो फिर महाभारत-समर की आवश्यकता ही नहीं रहती । क्या भगवान् की दृष्टि से दुर्य्योधन का भूतैषणात्मक यह मनोभाव परोक्ष था, जिससे भगवान् को आशङ्का हो पड़ी ? । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! ! भगवान् अपने स्वरूप से सर्वतोभावेन भगवान् ही हैं । न इन्हें अर्जुन का अनुरञ्जन करना है, न दुर्य्योधन का । अपितु दोनो को ही उद्बोधन प्रदान करना है भगवान को अपने भगवत्स्वरूप से । दुर्य्योधन को **'भूतदान'** करते हुए भगवान् उसे यही परोक्ष उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, "मूर्ख ! जिस भौतिक–सत्ताबल से तू विजयश्री के सुख–स्वप्न देख रहा है, कदापि तू इस बल पर तो विजयश्री लाभ न कर सकेगा । लेजा, हम भी तुझे अपना भूतबल प्रदान कर देते हैं, जिस एकमात्र भूतबल को ही तैनें 'विजयश्री' का आधार मान लिया है" । यदि दुर्य्योधन में थोड़ी भी प्रज्ञा शेष होती, तो भगवान् का उन्मुक्तहृदय से यों सैन्यबल प्रदान कर देना ही इसके उद्बोधन के लिए पर्य्याप्त था । किन्तु दिग्देशकालविमूढ़ दुर्य्योधनने इस सहयोग को भी अपना लोकचातुर्य्य ही समझ लिया, और इस लोकचातुर्य्यने हीं इसका अन्ततोगत्वा समूल विनाश किया ।

५८०–भगवत्सत्ता के समान-दायाद भोक्ता देवता, और असुर, एवं तत्क्षेत्रानुगता भगवत्सत्ता के स्वाभाविक अनुग्रह का समन्वय—

अब प्रश्न रह गया अर्जुन का । अर्जुन निःसन्देह भगवान् के प्रति जहाँ पूर्ण आस्था रखने वाला था, वहाँ सहज भावुकता के कारण प्रत्यक्ष–दृष्ट–घटनाओं से यह विकम्पित भी हो पड़ता था । कई बार भगवान् ने अर्जुन की इस भावुकता का संवरण किया है, और सँभाला है ऐसे प्रत्यक्ष प्रभावावसरों पर इसे । यह निश्चित था कि, भगवान् के सम्मुख प्रणामाञ्जलिपूर्वक तूष्णीं सहायता के लिए 'याचमान' भावुक अर्जुन से पहिले यदि भगवान् दुर्य्योधन की इच्छा पूरी कर देते, तो निश्चयेन ये सौम्य अर्जुन उन्मना बन ही तो जाते । और बहुत सम्भव था कि, इस सामान्य सी घटना से अर्जुन को ऐसा विमोहन होजाता कि–'लो, अब तो भगवान् ने भी हमारी उपेक्षा करदी, जिनके बल पर ही हम पाण्डव युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं' । युद्ध सन्निकट आरहा था । भगवान् पाण्डवों को निष्ठात्मक उद्बोधन प्रदान करते जारहे थे । ऐसे अवसर पर भावुक अर्जुन का उत्तेजित हो पड़ना कदापि उस पाण्डवपक्ष के लिए हितप्रद नहीं था, धर्म्मपक्षानुबन्ध से जिनका हित ही भगवान् को प्रत्येक दशा में इष्ट था । एकमात्र अर्जुन की इस भावुकता के संरक्षण के लिए ही भगवान् ने अर्जुन को प्राथम्य दिया, जैसाकि–**'प्रवारणं हि बालानां पूर्वकार्य्यमिति श्रुतिः'** के–'बालानां' शब्द से स्पष्ट है । इस 'बालानाम्' से एक ओर जहाँ दुर्य्योधन की उपेक्षा है, वहाँ अर्जुन के प्रति अ

है। अतएव कदापि भगवद्भावों में भावुकतापूर्णा किसी भी आशङ्का-कुशङ्का का कोई भी अवसर नहीं है। भगवान् के साम्राज्य में सुबुद्धि, दुर्बुद्धि, दोनों हीं जीवित रहते हैं। दोनों को ही भगवान् का अयाचित सहयोग मिलता रहता है। देवता, और असुर, दोनों हीं प्रजापति की सन्तान हैं। प्रजापति की भूतसम्पत्ति के दोनों हीं समानरूप से दायादभोक्ता हैं। अन्तर केवल 'दृष्टि' का है। दुष्ट-असुरबुद्धि-सन्तान केवल 'भौतिक दायाद' की ही अधिकारिणी बनती है, जबकि प्रजापति पिता की सृष्टिमर्य्यादा का धर्मपूर्वक निर्वाह करने वाली सत्वबुद्धियुक्ता-सुसन्तति को भूतदायाद के साथ साथ पिताप्रजापति की 'अनुग्रहदृष्टि' भी अयाचितरूपेणैव प्राप्त हो जाती है। और ऐसा ही, सर्वात्मना ऐसा ही हुआ है विश्वम्भर-विराट्प्रजापति भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के प्राङ्गण में इन की इन दोनों सन्ततियों के लिए। एक (दुर्य्योधन) को केवल 'भूत' मिला, तो दूसरे को दृष्टि-अनुग्रह-माध्यम से स्वयं 'भूतपति' प्राप्त हो गए। दृष्टि का अनुग्रह, वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह तो परमभागधेय भाग्यशाली उस भावुक अर्जुन को ही प्राप्त हुआ, जिसने सम्भाव से प्रणतिपुरस्पर भगवान् के चरणपङ्कज में सर्वात्मना समर्पित ही कर दिया था अपने आप को, जिस इस तथ्य का पुराणपुरुष की–"दृष्टस्तु प्रथम राजन्! मया पार्थो धनञ्जय." इस दिव्या वाणी के 'दृष्ट' (दृष्टि, अनुग्रहदृष्टियुक्त) इस शब्द से सर्वात्मना समन्वय होजाता है।

५८१-संवित्-मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला भावुकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति-पुरुष-निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

बात चल रही है उस 'यत्किञ्चित्' संशोधन की, जो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से वाञ्छित है। इसी यत्किञ्चित् संशोधन के प्रसङ्ग की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणिता संवित्-मूला निष्ठा, तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणिता अनुभूतिमूला भावुकता, इन दोनों उन महान् तत्वों का यत्किञ्चित् समन्वय उपक्रान्त हो पड़ा, जो खण्डचतुष्ट्यात्मक प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। दिग्देशकालातीता पुरुषानुप्राणिता 'निष्ठा' भी मानव का ही स्वरूप (स्वस्वरूप) है, एवं दिग्देशकालात्मिका प्रकृत्यनुप्राणिता 'भावुकता' भी मानव का ही स्वरूप है। क्योंकि प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है। मानव का निष्ठारूप पुरुषभाव इसी का लोकातीतभाव है, तदनुबन्धेनैव मानव अप्राकृत-अलौकिक-मानव है, एवं यह 'महतोमहीयान्' (प्रकृतिरूप महान्, किंवा महदक्षररूपा प्रकृति से भी महान्) है। तथा मानव का भावुकतारूप प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है, तदनुबन्धेनैव मानव प्राकृत लौकिक मानव है, एवं यह 'महान्' है। पुरुषरूप लोकातीत क्षेत्र में मानव दिग्देशकालातीत ही बना रहता है, एवं प्रकृतिरूप लोकात्मक क्षेत्र में मानव दिग्देशकालात्मक ही बना रहता है। यों मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। और यहीं मानव उस यत्किञ्चित् से संशोधन की उपेक्षा कर अपनी सहज मानवता, किंवा महत्ता से पराङ्मुख बन जाता है। अतएव यहीं यह यत्किञ्चित् संशोधन वाञ्छित बन रहा है।

५८२-प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषमा समस्या—

दिग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र भावुकतापूर्ण है, इस में तो कोई सन्देह नहीं। अतएव इस में मानव का मूढ, किंवा विमूढ बन जाना भी अप्रत्याशित नहीं कहा जासकता। न तो प्राकृत-भावुकता के क्षेत्र के बिना

मानव के प्राकृत स्वरूप का संरक्षण ही सम्भव, एवं न प्राकृत-भावुकता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सहज विमोहन से परित्राण प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान। क्या करे मानव इस महती विषमा परिस्थिति में ?।

५८३-विषमावस्था की उपक्रममूला मूढ़ता, उपसंहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढ़ता' का ही प्राचुर्य्य—

ऐसी विषमा परिस्थिति मानव में आती कब है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव, तात्कालिक-ऐन्द्रियक-अनुभव के आधार पर ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय कर डालता है तात्कालिक हानि-लाभ-के समतुलन से। इसी तात्कलिकता का नाम रख लिया गया है **मूढ़ता, एवं विमूढ़ता**। विषमा परिस्थिति की पूर्वावस्था-अपरिपक्वावस्था का नाम है-मूढ़ता, जिस में मानव कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है। दिग्देशकालात्मिका परिस्थितियों के समन्वय में असमर्थ ऐसे प्रकृतिपरायण, अनुभूतिपरायण मानव की कर्त्तव्यगति सहसा कुण्ठित हो जाती है, वह हक्का बक्का सा बना रह जाता है। और सवर्षात्मक, उत्तरदायित्वपूर्ण सभी प्राकृत-कर्म्मों से इसे भय सा लगने लगता है। यही इस की **भावुकतापूर्णा मूढा प्राकृत अवस्था** है। एवं ९९ प्रतिशत मानव इसी मूढावस्था की उपासना ? में तल्लीन बने रहते हैं। न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता, न निर्णयात्मक कर्त्तव्य ही सुनिश्चित रहता। अपितु दिग्देशकालप्रवाह के अनुपात से ये उसीप्रकार कालयापन करते रहते है, जैसेकि प्रचण्डवेगात्मिका नदी के प्रवाह से प्रवाहित तृणकाष्टादि नदीवेगानुपात से ही कालयापन करते रहते हैं।

५८४-मूढ़ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिणति, तत्परिणामभूता उग्रकर्म्मानुगति—

ऐसे ही मूढ भावुक मानवों में से कोई सा भावुक मानव अपनी मूढता से विमूढावस्था में आजाता है। मूढ़ की संशयवृत्ति आरम्भ में मूढ़ को गतानुगतिक बना देती है। इस गतानुगतिकता से थक कर यही मूढ (कोई सा मूढ ही) कालान्तर में गतिशून्य-सर्वथा अकर्म्मण्य ही बन जाता है। इसी का नाम है 'जड़ता', जिस में आत्यन्तिकरूप से गत्यवरोध है। इसी जड़ावस्थता का नाम है मूढ़ता की उत्तरावस्था, किंवा **मूढता की परिपक्वावस्था**, और इसी का नाम है '**विमूढता**'। 'भावुकता' में जो एकप्रकार की प्रच्छन्ना सहृदयता रहा करती है, जो कि मूढ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष धन बना रहता है, इस विमूढता में वह भावुकता-सहृदयता भी सर्वथा अभिभूत ही हो जाती है। एवं यहीं से उस क्रूरता-हिंसकता-मत्सरता-का जन्म हो पड़ता है, जिससे यह अकर्म्मण्य विमूढ जड़ मानव सहसा अपने गत्यवरोध को प्रचण्ड रूप से गत्यात्मक ही बना देता है।

५८५-लोकक्षोभप्रवर्त्तिका-जड़तानिबन्धना-कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में ऐतिह्य उदाहरण—

किंवा इस की यह आत्यन्तिक अकर्म्मण्यता-जड़ता ही इसे वैसे असम-साहसों की ओर (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रवृत्त कर देती है, जिससे लोक में क्षोभ उत्पन्न होजाता है। भावुकता जनिता मूढ़ता की परिपाका-

यस्याख्या विमूढता–लक्षणा जडतामिश्रिता प्रतिक्रियात्मिका इस उत्तरावस्था का नाम ही रख लिया जाता है–'कुनिष्ठा,' जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित पितृवात्सल्य के कारण) बार बार रूठ पडने वाला, मचलने वाला, मुँह बिगाड लेने वाला, इतस्ततः पलायित होते रहने वाला नितान्त भावुक वही मूढ दुर्य्योधन कालान्तर में शकुनि–जैसे कुनैष्ठिकों के सद्भ्दोष में आकर अन्ततोगत्वा वैसा 'विमूढमानव' ही बन गया था, जिस की इस आत्यन्तिक जडताने ही इसे उस युग का सर्वमूर्द्धन्य कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

५८६–आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण—

जब कि भावुक, अतएव मूढ–अपरिपक्व अर्जुन को महद्भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुगामिनी बन गई थी। यह सच मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्ठा का प्रश्रय न मिलता, तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खो बैठता। यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्य्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन प्रारम्भक के भावुक दुर्य्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक थे।

५८७–भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना ही अधिक भावुक होता है, अधिक अनुभूतिपरायण होता है, केवल काल्पनिक विचारों में ही डूबा रहता है, वह अवसर मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है–यदि भावुकता के आवेश में वह मर खप नहीं जाता, तो। आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की, परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है, उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना ही अधिक वैय्यक्तिक–जघन्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है। और यों निश्चित कर्त्तव्यपथ की विच्युति से आविर्भूत हो पडने वाली मूढतामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कर्त्तव्यनिष्ठावञ्चित–स्वानुभूतिपरायण–प्राकृत भावुक–मानवों के ही भावुकमानव, कुनैष्ठिकमानव, ये दो वर्ग बन जाते हैं, जिन में प्रथमवर्ग अधिक सख्याओं से अनुप्राणित है, जबकि दूसरे वर्ग में सख्या सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन, और दुर्य्योधन बने हुए हैं।

५८८–अध्यात्मनिबन्धन अस्तित्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अध्यात्मास्तित्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्य्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य–अचिकित्स्य–भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था, तो दुर्य्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति–क्षेत्रों में। दोनों ही प्रकृतिनिबन्धन–'निषेध' के परमाचार्य्य बने हुए थे,

जैसाकि दोनों के-'न योत्स्ये' *, 'नैव दास्यामि'' ÷ इन सुप्रसिद्धा निषेध-घोषणाओं से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अर्जुन) दिग्देशकालमूढता से पुरुषानुगता अस्तित्त्व को विस्मृत कर बैठा था, तो दूसरा (दुर्य्योधन) दिग्देश-कालविमूढता से पुरुषानुगत अस्तित्व का शत्रु बन गया था। एक काल्पनिक 'आस्तिकता' में प्रवाहित था, तो दूसरा काल्पनिक 'नास्तिकता' के वारुणपाश में आबद्ध हो चुका था। यों तत्त्वतः दोनों ही प्रकृत्या भावुक ही थे, लक्ष्यविहीन ही थे। भगवान् ने समानरूप से दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना चाहा था। किन्तु दूसरा उद्बोधन की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था, जबकि अर्जुन उद्बोधन की सीमा में ही विद्यमान था। यत्किञ्चित् संशोधन के लिए भगवान् ने दुर्य्योधन को भी अन्तिम क्षण पर्य्यन्त समझाने में कोई कमी न्ही की थी। किन्तु भावुकता की चरमसीमा—परिपाकावस्था—रूपा कुनिष्ठाने दुर्य्योधन का परित्राण होने हीं नहीं दिया, जबकि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से समन्वित अर्जुन इस उद्बोधन से सँभल गया। कहते हैं—कच्चे घड़े पर ही संस्कार सम्भव है। अपरिपक्वा भावुकता की ही चिकित्सा सम्भव है। यदि वह समय निकल जाता है, तो फिर सभी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तथ्य यही है कि, भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढावस्था में मूढ मानव के मन में 'अभिभूता श्रद्धा' (जिसे 'अन्धश्रद्धा' कहा गया है) विद्यमान रहती है, जिस इस श्रद्धारस के कारण ही ऐसा अपरिपक्व मूढ भावुक आंशिकरूपेण धर्म्मभावनाओं से समन्वित रहता है, जिसे हम 'धर्म्म-भीरुता' ही कहा करते हैं। अवश्य ही सन्निष्ठा का तो उदय नही होने पाता इस धर्म्मभीरुता में। किन्तु धर्म्म—ईश्वर—आस्तिकता—आदि आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनिष्ठा का भी प्रवेश नहीं होपाता ऐसे धर्म्मभीरु भावुक मूढ मानव में। अतएव, इसी धर्म्मभावना के कारण यह दुराग्रह (हठधर्म्म) रूप सर्वविनाशक उस 'अभिनिवेश' से बचा रह जाता है, धर्म्मभावनाविरोधी, धर्म्माचरणप्रतिद्वन्द्वी जिस अभिनिवेश को सुनैष्ठिक आचार्य्योंनें 'अविचिकित्स्य' ही माना है ×, जिसका ज्वलन्त उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिविष्ट विमूढ, अतएव कुनैष्ठिक दुर्य्योधन, तथैव च वर्त्तमानयुग के तत्समान-धर्म्मा वे सभी मानव, जिन्होंनें धर्म्माचरणपद्धतियों से अपने आपको निरपेक्ष, किंवा पराङ्मुख, अथवा तो प्रतिद्वन्द्वी बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना 'लोकाभिनिविष्ट' ही प्रमाणित कर लिया है।

---

*—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
'न योत्स्ये'--इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥
—गीता २।९।

÷—सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव! (महाभारत)।

×लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीड़यन्, पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्य्यटञ्छशविषाणमासादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥१॥
प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्, समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्म्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्गमपि शिरसि पुष्पवद्धारयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥२॥ (भर्तृहरिः)

५८९-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहेणैव भावुक की सन्निष्ठाप्रवृत्ति-

क्या था वह यत्किञ्चित् सा संशोधन ?। अर्जुन की भावुकता-दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी अनुभूति-बुद्धिमानी का उत्तरदायित्व अर्जुन की प्रकृति से हटा कर भगवान् ने इसके पुरुषभाव पर ही इस के उत्तरदायित्व का समर्पण करा दिया। अर्थात् प्राकृत-भावुकता का आधार पौरुष-निष्ठाबल बना दिया गया। अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को नियन्त्रित कर दिया गया। अर्थात् कालातीत से काल को मर्य्यादित कर दिया गया। अर्थात् अनुभूति को संवित् के आश्रय में, ज्ञान को समझ के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में ला खड़ा किया। गीता के शब्दों में-प्राकृत-भावुक-बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अव्ययपुरुष से युक्त करा दिया, जबकि इसकी यह बुद्धि प्राकृत-दिग्देशकालभावों से युक्त होरही थी इससे पूर्व।

५९०-नियन्त्रणात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर-'बुद्धियोग'—

यही संशोधन अव्यय-पुरुषानुगतिरूप से 'बुद्धियोग' (बुद्धि का अव्ययपुरुष से योग) कहलाया, इसी बुद्धियोगात्मिका अव्ययनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालनिबन्धन-प्राकृत-क्षात्रकर्त्तव्य में 'निष्ठाबल' (निश्चयात्मिका बुद्धि) अभिव्यक्त होगया। इसी अव्ययपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से, इसी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रण से नियन्त्रिता इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृतबुद्धि ने विजयश्री का वरण कर लिया अपने आपको दिग्देशकालनिबन्धना-भावुकता के व्यामोहनों से बचाते हुए।

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन, कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्॥
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा, यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम्॥३॥
—भामिनीविलासे

अरण्यरुदितं कृतं, शवशरीरमुद्वर्त्तितं, स्थलेऽब्जमवरोपितं, सुचिरमूषरे वर्षितम्॥
श्वपुच्छमवनामितं, बधिरकर्णजापः कृतः, कृतान्धमुखमण्डना यदबुधो जनसेवितः॥४॥

ज्ञानी समुभत सहज में पर जिन नर अभिमान॥
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नाहिं सुजान॥५॥

सत्यं चैतत्। मानव प्रयास करने पर बालू मिट्टी से तैल निकाल सकता है, मृगतृष्णाजल से पिपासु (प्यासा) अपनी प्यास बुझा सकता है, घूमते फिरते शशशृङ्ग (सुस्से का सींग) भी मिल सकता है, भयानक मकर (मगर) की करालदंष्ट्रा से मणि भी निकाल ली जासकती है, प्रचण्ड तरङ्गायित समुद्र को भी तैर कर पार किया जासकता है, विषधर प्रचण्ड सर्प को भी पुष्पवत् शिरोभूषण बनाया जासकता है, और यों इन सभी असम्भव भी चेष्टाओं को तो सम्भव बनाया जासकता है, किन्तु अभिनिविष्ट-विमूढ-कुनैष्ठिक-आवेशाविष्ट-अभिमानी-क्रूरकर्म्मा-दुष्टबुद्धि को कदापि प्रसन्न नहीं किया जासकता, जैसाकि तथाविध दुर्य्योधन किसी भी उपाय से सन्तुष्ट न होता हुआ 'समूल-विनाश' का ही निमित्त बन गया था, इत्यालम्पल्लवेन।

५६१–दिग्देशकालात्मक-लौकिक-बुद्धिवादात्मक-'बुद्धियोग', तथा दिग्देशकालातीत-अलौकिक-अबुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' के स्वरूप का तात्त्विक-निदर्शन—

दुर्य्योधन में भी 'बुद्धियोग' था। उसका भी प्रत्येक कार्य्य बुद्धिपूर्वक ही होता था, जबकि अर्जुन का तो प्रत्येक कार्य्य आरम्भदशा में बुद्धिव्यामोहनों से ही समन्वित रहता था। फिर क्या बात थी कि, बुद्धिमानीपूर्वक, पूर्ण कौशलपूर्वक सतत जागरूक रहते हुए क्षत्रियोचित कर्त्तव्यनिष्ठा (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त रहने वाले भी दुर्य्योधन को विजयश्री नहीं मिली ? । इस 'कौशल' शब्द के गर्भ में ही इस प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है। दुर्य्योधन की बुद्धि का योग तात्कालिक–स्वार्थ के ही साथ था, 'अर्थ' पूर्ण जो स्वार्थ 'अकर्म्म' कहलाया है। फलांश में ही उसकी बुद्धि निमज्जित थी। कर्त्तव्य की अपेक्षा कर्त्तव्य का 'फल' उसकी दृष्टि में प्रमुख बना हुआ था। तभी तो थोड़ा सा भी पराजय होते देख कर यह भीष्म जैसे सर्वश्रेष्ठ सम्मान्य सेनापति पर भी बिखर पड़ता था। फलाश की यत्किञ्चित् सी भी निराशा इसे इसके वास्तविक भावुक–स्वरूप (चाञ्चल्य) पर ला खड़ा कर देती थी। उस आतुरता के आवेश में तो यह ऐसा अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ता था, जैसा 'अमर्य्यादित-अशिष्ट-अभद्र-अमङ्गल-अशुचि'प्रलाप कभी अर्जुन ने भी नहीं किया। अर्जुन की भावुकबुद्धि उद्बोधन से पूर्व जहाँ कर्त्तव्य से अयुक्त थी, वहाँ दुर्य्योधन की बुद्धि प्रधानरूप से फल से ही युक्त थी। अर्जुन का तो किसी से 'योग' ही नहीं था। न उसे साम्राज्यफलभोग की ही इच्छा थी, न ऐसे फल के सर्ज्जक कर्त्तव्य (युद्ध) में ही उसकी बुद्धि का योग हो रहा था। अपितु वह तो अवारपारीणरूपेण 'भावुक' ही प्रमाणित हो रहा था। किन्तु दुर्य्योधन तो फल के साथ दृढ़रूप से आसक्त होरहा था। इस राज्यलिप्सा के लिए वह अच्छा–बुरा, पाप–पुण्य, सबकुछ कर डालने के लिए सन्नद्ध बना रहता था। कर्त्तव्यविवेक से उसकी बुद्धि का कोई सम्बन्ध, कोई योग नहीं था। अपितु योग था केवल फल से। इसी फलासक्ति ने, फलयोग ने इसकी कर्त्तव्यनिष्ठा में शिथिलता उत्पन्न करदी। इसी एषणाने इसके हितैषियों को भी इसकी ओर से उदासीन बना दिया, जिस उदासीनता के सुपरिणाम ? स्वरूप ही इसे अन्ततोगत्त्वा पराभूत ही हो जाना पड़ा। फल के साथ बुद्धि का आसक्त्यात्मक योग हो नहीं, कर्त्तव्य के साथ बुद्धि का अनन्य योग रहे, इस योग का नाम हीं 'कर्त्तव्यकौशल' माना गया है, जिसका एकमात्र अवलम्ब अव्ययपुरुष के साथ योग कर लेना ही है। जबतक बुद्धि (प्रकृति) उस पुरुष के साथ योग नहीं कर लेती, तबतक इसमें योगात्मक ऐसे कौशल का योग हो ही नहीं सकता, जिसके द्वारा कि, यह कर्त्तव्यनिष्ठ भी बनी रहे, फल का भी आगमन होता रहे, एवं प्राप्त फल में यह बुद्धि आसक्त भी न हो।

५६२–कर्त्तव्यनिष्ठात्मक-बुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' से अनुप्राणिता कालातीता स्थिति, अनन्तकालगति, एवं अनन्तकालस्थिति-रूपा भावत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय–

'कर्त्तव्य' 'कर्म्म' है, कर्म्म 'क्रिया' है, क्रिया 'गति' है, गति 'प्राण' है। प्राण 'अमूर्त्त' है, एवं इस अमूर्त्त तत्त्व का ही नाम है 'अक्षरकाल', जिसे हम 'अनन्तकाल' कहा करते हैं। प्राणाक्षरमूर्त्ति अनन्तकालात्मक गतिभाव से ही 'कर्त्तव्य' का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाङ्मय भौतिक–क्षर का ही नाम है सीमित–दिग्देशकाल, जिसे हम 'चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक–वर्षकाल' कहा करते हैं। यही वाङ्मय व्यक्त–मूर्त्त काल है, जिसका नाम है–मूर्त्तिरूप भौतिक पदार्थ, इन्हीं को कर्त्तव्य का 'फल' कहा जाता है।

अमूर्त्तगति से मूर्त्तभूत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल 'प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्तकाल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्तात्यय पुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है, एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इस सहज स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव्यय पुरुषरूपा स्थिति चिद्घना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'चेतना' है, एवं सादिसान्तविकृतिरूपा अन्तरथा, स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति, अनन्तकालगति-सान्तकालस्थिति, ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष, अक्षरपराप्रकृति, क्षरअपरा-, प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य, कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यकाल, एवं कर्त्तव्यफलकाल, इन दोनों के माध्यम से ही मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) अच्छा-बुरा निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है, तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है, फल की प्रधानता हो जाती है। फलत फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है, फलरूपा आसक्ति जड़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विपरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल का आसक्तिबल शिथिल हो जाता है, कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलत कर्त्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है, एवं फल अपनी जड़ता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥ (गीता)।

५९३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप—समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सङ्ग ही इसे दूसरी 'स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है। पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है, जिसे हमने चिद्घन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। क्षरभूत-विश्व भी स्थितिरूप है, जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्म्मभाव' है, तो कर्त्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्म्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्य-फलात्मिका स्थिति मे समन्वित कर देता है, तो फलस्थित्यासक्त यह मानव जड़भाव में आता हुआ कुनैष्ठिक बन जान जाता है दुर्य्योधनवत्। यही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से समन्वितत कर लेता है, तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जाता है उद्बुद्ध अर्जुनवत्।

५९४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' के 'अकर्म्मणि' का अर्थ है-'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म्म का फल 'अकर्म्म' ही तो होगा। अतएव कर्म्मफल की सहज संज्ञा 'अकर्म्म' बन गई है। उधर कर्म्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

सहज स्थिर भाव से 'अकर्म' है। यों दो 'अकर्म' मानवके सम्मुख उपस्थित हैं। पुरुषसङ्ग इसे फलानङ्ग बना देता है, तो फलसङ्ग इसे पुरुषासङ्ग बना देता है। पुरुषसङ्गता का नाम ही सुनिष्ठा है, एवं फलसङ्गता का नाम ही कुनिष्ठा, किंवा भावुकता है। कैसे मानव को पुरुषसङ्गता प्राप्त हो?, कैसे इसमें बुद्धिनिष्ठा उदित हो?, प्रश्न का एक मात्र उत्तर है-'कालं कालेन पीड़यन्'।

५६५-'कालं कालेन पीड़यन्' सूत्र के तत्त्वात्मक समन्वय-विवर्त्त—

काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव कालान्तर में 'बुद्धियोगनिष्ठा' प्राप्त कर सकता है। कालातीत अनन्ताव्यय-पुरुष की साक्षी में अनन्तकालरूपा प्रकृति से सादिसान्तकालरूपा विकृति को संघर्ष से आवृत करता हुआ ही मानव 'अभ्युदय-निःश्रेयस्' का अधिकारी बन सकता है। कालातीत-सर्वातीत-सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता में पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखने वाला मानव अपने सुनिश्चित (शास्त्रसिद्ध) कर्त्तव्य से कर्त्तव्यफल को पीड़ित करता हुआ ही 'सुखी, एवं शान्त' बना रह सकता है। कालदिग्देश से दिग्देशकाल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'प्रकृतिस्थ' बना रह सकता है। अनन्त से अन्त को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'नियन्ता' बना रह सकता है। एक से अनेक का संवरण करता हुआ ही मानव 'अभिव्यक्त' होसकता है। ज्ञान से विज्ञान का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'विज्ञाता' बन सकता है। अमृत से मृत्यु का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'अमृतलाभ' कर सकता है। सम्भूति से विनाश को आबद्ध रखता हुआ ही मानव 'भूति' का अनुगामी बन सकता है। भूत से भवत् (वर्त्तमान) का समतुलन रखता हुआ ही मानव 'भविष्यत्' का निर्म्माण कर सकता है। स्रष्टा से सृष्टि को समन्वित रखता हुआ ही मानव 'संसृष्टि' का प्रवर्त्तक बन सकता है। निष्ठा से भावुकता को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'भावुकता' से लाभ उठा सकता है। यों सर्वात्मना काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'कालातीत' बना रहता हुआ सम्पूर्ण कालिका-भावों की समृद्धि का असपत्न उपभोक्ता बन जाता है-अभयरूपेण।

५६६-दिग्देशकालत्रयी से उत्पीड़ित भूत-भौतिक-पदार्थ, एवं तद्द्वारा भावुक-मानव का कालिक-उत्पीड़न—

स्मरण रखिए! 'उत्पीड़ितता' ही आपको उत्पीड़क बनाती है। उत्पीड़न से पहिले आप स्वयं उत्पीड़ित हो जाते हैं। यही उत्पीड़ितता आगे चलकर प्रतिक्रियारूप से आपको उत्पीड़क बना देती है, जिससे

आप दूसरों को उत्पीडित करने लग पड़ते हैं। वस्तुतः आप न तो उत्पीडक ही हैं, न उत्पीडित ही। उत्पीडित हैं दिग्देशकालात्मक वे मूर्त्त-भूतभौतिक जडपदार्थ, एवं जडताप्रधान वे पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी, जो उत्पीडनरूप इन भूतभावों से पहिले तो स्वयं उत्पीडित बनते हैं। तदनन्तर प्रतिक्रियारूप से अपने समानधर्म्मा प्राकृत प्राणियों को उत्पीडित करते रहते हैं। और यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पश्वादि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशकालता से, इस उत्पीडनधर्म्म से इसी की अहोरात्र उपासना करते हुए परस्पर उत्पीडित-उत्पीडक ही बने रहते हैं।

५६७-अमूर्त्त काल के द्वारा उत्पीडित मूर्त्त काल—

क्यों ये पश्वादि प्राणी उत्पीडित, तथा उत्पीडक बने रहते हैं ?, इस प्रश्न पर क्या कभी आपने विचार विमर्श किया है ?। नहीं, तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्त्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई भूतकाल है, न भविष्यत्काल, जिस भूतभविष्यत्काल को अव्यक्त-महदक्षररूप 'अनन्तकाल' कहा जाता है। उस अनन्तकाल से सदा ही उत्पीडित यह सादिसान्त सम्वत्सर-मूर्त्त-व्यक्त-वर्त्तमानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीडन ही इसका प्रभवस्थान है, उत्पीडकरूप उस अनन्त-भूत-भविष्यत्-अक्षरकाल से सतत उत्पीडित यह पीडितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है, यही प्रतिष्ठा है, यही परायण है। व्यवधानात्मक भय ही इस उत्पीडित काल का स्वरूप है।

५६८-मूर्त्त काल से निरन्तर उत्पीडित-भयत्रस्त-शङ्कातङ्कितमानस-मूर्त्त-भौतिक-कालिक-पशुसर्ग—

अतएव महद्भयरूप इस पीडितकाल से उत्पन्न, अत्रैव प्रतिष्ठित, एवं अत्रैव लीन होजाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिक्षण से आरम्भ कर विलयनक्षण पर्य्यन्त सदा सब ओर से शङ्कातङ्कितमानस बन कर ही, सदा भयभावों से सतर्क-विकम्पित रहते हुए ही जीवनयापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्भयता-अभय-स्थिरता-जैसा कोई भी शाश्वत स्थिरधर्म्म आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शयन-अशन-पान-आदि आदि सम्पूर्ण भौतिक कर्म्मकलाप सदा शङ्का-भय-आतुरता-विकम्पन-आदि मर्त्यभावों से ही आक्रान्त रहता है, जिसे आज के पशुविज्ञानवेत्ता, प्राणीशास्त्रवित् तो भलीभांति जान ही रहे होंगे, जिस इस सहज भय, सहज उत्पीड़न को ही सम्भवतः वे-'आत्मरक्षा की सहज स्फूर्त्ति' नाम से व्यवहृत कर रहे होंगे, जबकि तत्वतः न इस पशुसर्ग में भारतीय-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अभिव्यक्त है, न तद्रक्षा जैसी त्रिकालानुबन्धिनी जागरूकता का ही इनके साथ कोई सम्बन्ध है।

५६९-आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव आत्मरक्षाधर्म्म से पराङ्मुख पशुसर्ग की दिग्देशकाल-निबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपितु आक्रान्तरूप से सर्वात्मना वर्त्तमानदिग्देशकालनिबन्धन सहज उत्पीडन-सहज भय ही इनका सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस इस भय के विविध परिवर्त्तनों के ही आज के भूतदृष्टिप्रधान प्राणिशास्त्र ने चैतन्य-आत्मा-आत्मत्राण-रक्षा की स्फूर्त्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम रख लिए गए हैं। इस कल्पना का

एकमात्र आधार है–इन प्राणियों के माध्यम से मानव की प्रवृत्तियों का अध्ययन-व्यामोहन, जिससे बड़ा बुद्धिव्यामोहन मानव का और कुछ हो ही नहीं सकता। तभी तो दिग्देशकालभक्त इन अन्वेषकोंनें मानव को विकासशील–प्राणीमात्र ही मान लिया है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

६००–पशुसर्गासक्त भावुक मानवों के द्वारा मानव के स्वरूप-समतुलन की महती भ्रान्ति, एवं तन्निवृत्ति की मङ्गलकामना—

तभी तो इनकी दृष्टि में मानवने प्राकृत पशु–पक्षी–आदि प्राणियों से ही नही, अपितु ओषधि–वनस्पति–लतागुल्म–पर्वत-नद-नदी-सागर-आदि आदि जड़-भूतों से भी प्रेरणा ले लेकर ही क्रमशः अपनी मानवता ? का विकास किया है। और आज तो भूगर्भस्थ–भग्न-त्रुटित-मृण्मय भाण्डादि, जीर्ण–शीर्ण कन्थादि भी मानव की बुद्धि के प्रेरक प्रमाणित कर दिए गए हैं पुरातत्त्वविशारदों के द्वारा। सचमुच इस पशुसर्ग–व्यामोहनने, तदनुबन्धी वर्त्तमानकालविमोहन ने हीं तो मानव को उस 'भय' पर ला खड़ा किया है, जिसका मूलतः सर्ज्जन हुआ था इसी देश के अन्तर्दृष्टिवादी दार्शनिक के अनुग्रह से, एवं जो पुष्पित पल्लवित हुआ आजके भूतविज्ञान की कृपा से, तथा तत्पथानुवर्त्मा विशोधकों के विशोधनों से, और इनके सांस्कृतिक? परिणामों से। इसीलिए हमें मानव से अत्यन्त प्रणतभाव से यही निवेदन करने की धृष्टता कर लेनी पड़ी कि, वह मानव की 'मानवता' पर अनुग्रह कर अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी भावुकतापूर्णा–पशुसर्गनिबन्धना मान्यताओं में तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन कर ही डाले, अविलम्ब कर डाले। अन्यथा जिस काल्पनिक भय का उसने केवल अपने प्रज्ञापराध से इस दिग्देशकाल के द्वारा सर्ज्जन कर डाला है, वह महद्भय इसे कालान्तर में निःशेष ही बना डालेगा। और महत्सौभाग्य है यह मानवता का कि, अब मानवने अंशतः अपनी यह भूल स्वीकार करना उपक्रान्त कर दिया है। क्योंकि अन्ततो गत्वा मानव 'मानव' ही है, 'महान्' ही है, **दिग्देशकालातीत सनातनतत्त्व ही है। अतएव न यह उत्पीड़ित ही रह सकता, न उत्पीड़क ही बना रह सकता अधिक समय पर्य्यन्त। अवश्य ही इसे स्वयं अपनी निष्ठा से ही (बिना हीं पशु–पक्षी–आदि की प्रेरणा के) अपना यह कल्पित भय निर्म्मूल बना हीं डालना होगा।**

६०१–अनन्तकालात्मक महान् भय के स्वरूपबोध से ही सादि-सान्त दिग्देशकालभयों से सम्भावित-आत्मत्राण, एवं 'महद्भय' का माङ्गलिक संस्मरण—

और इस भयत्राण के लिए मानव को सर्वप्रथम स्वयं अपने उस 'महान् भय' का ही स्वरूप समझ लेना होगा, जिस महान् भय के गर्भ में हीं दिग्देशकालात्मक अणोरणीयान् भय समा रहा है। उस महान् भय के स्वरूपबोध पर ही इसका यह दिग्देशकालानुबन्धी स्वल्पभय पलायित होसकेगा उसी प्रकार, जैसे कि सिंहभय के सामने शृगालादि भय क्षणमात्र में विलीन होजाया करते हैं। **आपके उस महान् भयस्वरूप का ही नाम है अनन्तकाल, अनन्तदिक्, और अनन्देश, जिस इस अनन्त कालदिक्देश के सम्मुख यह सादि-सान्त-दिक्देशकालभय क्षणमात्र भी तो नहीं ठहर सकता।** सम्वत्सरकालात्मक-वर्त्तमानदिग्देशकालात्मक पशुभय आपका स्वरूप (प्रकृति) नहीं है, जैसाकि आपने भूतदृष्टिमूला भावुकता से भ्रान्तिवश मान लिया है। अपितु आपका प्राकृत स्वरूप तो है महदक्षररूप वह अनन्तकाल, जिसके आप सर्वात्मक प्रतिरूप हैं,

जिसका पशुसर्ग तो यत्किञ्चित् प्रतीकमात्र ही बना हुआ है। अङ्गी से अङ्ग उत्पीडित हुआ करते हैं। स्वयं अङ्गी कदापि अङ्गी से उत्पीडित नहीं होता। प्रतीकात्मक, अतएव अङ्गरूप पशुसर्ग उस अङ्गी से अवश्य ही उत्पीडित, भयत्रस्त है। किन्तु आप तो उसके अङ्ग, किंवा प्रतीक नहीं हैं, जो उस अङ्गी अनन्तकाल से पशुसर्गवत् आप उत्पीडित होते रहें ?। आप तो उसके प्रतिरूप हैं, स्वयं अङ्गी हैं। अतएव वही हैं। आप से, आपकी नियति से, दण्डभय से तो सम्पूर्ण विश्व भयपूर्वक सञ्चालित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिवस्वरूप हैं। आप सब को अभयपद देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपको भय कैसा ?। अभय ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी, एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२–प्राकृत–विश्व से अनुप्राणिता-भावुकतापूर्णा-भूल के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्त्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्युपाय–प्रदर्शन—

भूल कहां हो पड़ी आप से ?, बस इतना सा, यत्किञ्चित् सा ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से, जिस 'समझ' का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। सादिसान्ता विकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना पहिली भूल, इस प्रत्यक्षदृष्टा विकृतिरूपा दिग्देशकालात्मिका मूर्त्ता भूतप्रकृति के विकृतितम–वैकारिक–पशुसर्ग के, विकारकूटात्मक जड़सर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त हो जाना दूसरी भूल, इन दो भूलों से प्रकृतिविमूढ़ (विकृतिविमूढ़) बनते हुए अपनी इस भ्रान्त मान्यता में ही अभिनिविष्ट हो जाना तीसरी भूल, अभिनिवेश के निवारक धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना चौथी भूल, धर्म्मनिरपेक्षतामूलक काल्पनिक अनुभवों के बलपूर्वक (सत्ताबलमाध्यम से) प्रचार–प्रसार करने के लिए आतुर हो पड़ना पाँचवीं भूल, इस आतुरता से मानव के मौलिक अनन्त–स्वरूप के प्रति विद्रोही बनते हुए, प्रतिक्रियावादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वज्ञ मान बैठना छठी भूल, इस काल्पनिक सर्वज्ञता के व्यामोहन से एकान्ततः व्यक्तित्वविमोहन का अनुगामी बन जाना सातवीं भूल, मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्जगत् में अनुभव करते हुए भी अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप इत्थंभूत काल्पनिक 'व्यक्तित्त्व' के पतनभय से जानते हुए भी नहीं जानना, मानते हुए भी नहीं मानना, यही आठवीं महाभूल, और और भी ज्ञात–अज्ञात परशत छोटी बड़ी भूलपरम्पराओंसे आपादमस्तक ओतप्रोत मानव ने इस यत्किञ्चित् सी भूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा छोटा कर लिया है ?, कितना छोटा करा लिया है ?, इस कल्पनामात्र से भी मानव की मानवता आज विकम्पित हो पड़ी है। 'यत्किञ्चित् सी भूल' इसलिए कि, क्षणमात्र ही तो लगता है अपने इस कल्पित व्यक्तित्वविमोहन का चोला उतार फैंकनें में। यत्किञ्चित् सी ही तो ऋजुता–सरलता–अवक्रता अपेक्षित है अपने आपकी इस कल्पित इयत्ता के यत्किञ्चित् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

---

* भीषास्माद्वातोदेति, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
उपनिषत्

६०३–मानव के आत्मबुद्धिनिष्ठ महान् मानव-स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण भूलों का शरद-अभ्रवत्–विलयन—

क्या मानव को यह समझने में बहुत बड़ा प्रयास करना पड़ेगा कि, केवल **मन**, और **शरीर** का ही नाम मानव नहीं है ?, मानसिक **काम**, तथा शारीरिक **भोग** ही मानव की मानवता के मापदण्ड नही है ?, किंवा अपने मानसिक–शारीरिक–भोगों की इयत्ता–पर्य्याप्ति ही मानव का चिरन्तन इतिहास नही है ? । क्या मानव ने कुछ ऐसा मान लिया है कि, केवल इस एक मानव के आगे पीछे, भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान में और कोई मानव है ही नही ? । किंवा अपनी कामभोगपरायणता की सिद्धि के लिए अपने समाज को, राष्ट्र को, किंवा सम्पूर्ण विश्व को एक महा भयानक गर्त्त में डाल देना ही इसका चरम सुख है ? । हम समझते हैं, मानवमात्र समझ रहे हैं कि, इस 'यत्किञ्चित्' सी, जरा सी भूल को समझने जैसी प्रज्ञा तो आज भी मानव में शेष है ही । अवश्य ही इस यत्किञ्चित् सी भूल को समझ कर तथाकथित यत्किञ्चित् से संशोधन से मानव अवश्य ही विश्वमानवता का परित्राण कर सकता है, करेगा ही, करता ही आया है सदा सदा से ही । कदापि कोई भी भयाशङ्का नही है महान् मानव के उस अभय-अनन्तरूप महान् प्राकृतस्वरूप के लिए, एवं अनन्त पौरुषस्वरूप के लिए, जिस अनन्तस्वरूप के बोधोदय पर सम्पूर्ण भूलें–भ्रान्तियाँ-विमोहन–मूढताएँ–विमूढताएँ–शरदभ्रवत् क्षणमात्र में ही विलीन हो जाया करती हैं । और तब स्वयं मानव ही यह उद्घोष करने लग पड़ता है कि—

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

६०४–सर्गात्मक–पशुसर्ग, तथा असर्गात्मक मानवसर्ग के तत्त्वविवेकानुग्रह से आत्म-बोधोदय, तदनुग्रह से अभयब्रह्म का संस्पर्श, एवं–'अभयं वै ब्रह्म' का संस्मरण—

और तब मानव स्वयं ही यह मान लेता है कि, वर्त्तमानकालात्मक दिग्देशकालव्यामोहन तो पशुसर्ग का ही क्षेत्र है, मन और शरीर तो प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों की ही स्वरूप-व्याख्या है, काम–भोग–परायणता तो विशुद्ध पशुधर्म्म ही है, दृष्टि के सम्मुख उपस्थित भौतिक लाभ से अभिभूत होजाना तो प्रत्यक्षदृष्टिपरायण पशु-पक्षी-आदि प्राणियों का ही सहज स्वभाव है, भूत-भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों से अपरिचित बने रहते हुए वर्त्तमान को ही सर्वस्व मान बैठना तो पशुओं का ही जीवनवृत्त है, तात्कालिक लाभ की सिद्धि के लिए अपने परिजनों को, सामूहिक व्यक्तियों को चीर–फाड़ फेंकना तो पशुओं का ही तात्कालिक धर्म्म है । मानव, हाँ मानव ऐसा नही है, कदापि नहीं है, ऐसा रह ही नहीं सकता मानव । अपेक्षित है–केवल यत्किञ्चित् सा संशोधन । और अब उस यत्किञ्चित् से संशोधन का निष्कर्षार्थ है—"मनःशरीरानुबन्धी–दिग्देशकालात्मक–वर्त्तमानकालात्मक अपने पशुरूप **वैकारिककाल** को बुद्धि-आत्मानुबन्धी–अपने पशुपतिरूप प्राकृत-काल से, अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित करते रहना। एक क्षण के लिए भी इस दिग्देशकाला-त्मक मनःशरीररूप 'काल' को उस **आत्मबुद्धिरूप महाकाल** के निमन्त्रणपाश से पृथक् न होने देना । दूसरे शब्दों में शारीरिक **अर्थ**, तथा मानसिक **काम** का क्रमशः बौद्धिक **धर्म्म**, तथा आत्मिक **मोक्ष** से नियन्त्रण करते रहना ही वह यत्किञ्चित् सा संशोधन है । यही काल से काल का उत्पीड़न है, यही मानव की मानवता का एक मात्र रक्षासूत्र है, **यही अथर्ववेदीय कालसूक्त का आचारात्मक समन्वय है**, यही

मन्वन्तरकाल का चरम उदर्क है,एवं यही है दिग्देशकालमीमांसारूप वाग्विजृम्भण का एकमात्र वह लक्ष्य, जिस लक्ष्य की मूलप्रतिष्ठा है–'अभयं वै ब्रह्म', मा भैषी , योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्म.–त जम्भे दध्म ।

६०४–दिग्देशकालात्मक भयों से असंस्पृष्ट अभयमूर्त्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है । अतएव मानव को कदापि, कभी भी, कहीं भी, किसी से भी, कुछ भी भय नहीं करना चाहिए । कदापि किसी भी दिग्देशकाल के प्रभाव में नहीं आना चाहिए । कदापि किसी भी युगधर्म्मानुगता जगद्धर्म्मानुगता, एवं कालधर्म्मानुगता * प्रत्यक्षप्रभावमूला तात्कालिकी भावुकताओं, प्रदर्शनों, आयोजनों, योजनाओं, आदि से प्रभावित होकर अपना सनातन कर्त्तव्यनिष्ठात्मक लक्ष्य विस्मृत नहीं कर देना चाहिए । दिग्देशकालनिबन्धन सर्वविनाशक भूत-भौतिक महाास्त्रों से कदापि मानव को विकम्पित नहीं होजाना चाहिए । दिग्देशकालनिबन्धन, गन्धर्वनगरलेशसमतुलित, तात्कालिक चमत्कारपूर्ण, तात्कालिक-अनुकूलता-सुख-सुविधा-जनक, किन्तु परिणामत मानवीय जीवनक्रम के सर्वविनाशक भौतिक आविष्कारों से कदापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए । क्योंकि मानवता अजर है, अमर है, शाश्वत है, सनातन है, सत्य है, कालातीत है । अतएव किसी भी प्रकार का दिग्देशकाल-विजृम्भण उसे विकम्पित नहीं कर सकता, नहीं कर सका आजतक नहीं कर सकेगा कभी भी । उस अनाद्यनन्ता दिग्देशकालातीता 'मानवता' का ही हम पुन पुन माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं ।

६०५–सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त विरोधी तत्त्वों को निष्फल प्रमाणित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक-संस्मरण—

दिग्देशकालानुबन्धी, अतएव मन शरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में ज्वलन्त प्रमाण है कि, सृष्टि के आरम्भ से वर्त्तमानक्षण पर्य्यन्त तत्तद् विभिन्न सृष्टिकालों, सत्ताकालों, सभ्यता-संस्कृति-युगों में मानव की मानवता के अन्यतम शत्रु जिन जिन भी आततायी-बर्बर-दस्युओंनें जैसे जैसे भी प्रचण्ड-नृशंस-आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब घोरघोरतम घातक आक्रमणों से केवल अपने बाह्य-दिग्देशकालानुबन्धी मन-शरीरभावों को ही सहर्ष समन्वित करते हुए 'मानवता' ने अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन मौलिक-'मानवता' पर्व को तो असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा । और वे धारावाहिक भी नृशंस आक्रमण मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना 'मानवता' का संस्पर्श भी नहीं कर सके आजतक । अवश्य ही तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के कालिक प्रभावों, अनुबन्धों से मानव की मन शरीरनिबन्धना भावुकता यथायुगानुपात से प्रभावित भी होती रही । किन्तु कदापि, किसी भी युग में आत्मबुद्धिनिबन्धना निष्ठा, तदभिन्ना 'मानवता' यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं हो सकी किसी भी तात्कालिक युगधर्म्म से ।

---

*-कालचक्रं-जगच्चक्रं-युगचक्रं च केशवः ।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् ॥
—महाभारत उद्यो० ६८ अ० ।

६०७–ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–आग्नेयास्त्र–वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय संहारक–महतो-महीयान् प्राकृतिक–विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित महान् मानव—

'हमारे समय के वैज्ञानिक चमत्कार' जैसी दम्भपूर्णा घोषणा करने वाले, अपने चमत्कारोंसे 'मानवता' को अभिभूत करने का व्यर्थ-प्रयास करते रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव यह विस्मृत ही कर जाते हैं कि, और किसी भूखण्ड के मानव के लिए भले ही भौतिक-विज्ञान के ये विजृम्भण अदृष्ट–अश्रु त–पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है–उन भूखण्डों के प्राकृत मानव इन वैज्ञानिक विजृम्भणों से प्रभावित, अतएव विकम्पित होगए हों। किन्तु दिव्यप्राणमूर्त्ति 'भारत अग्निदेव' के प्रतीकरूप इस भरतखण्ड-आर्य्यावर्त्त नामक भूखण्ड के आत्मा-देवप्राणप्रधान, अतएव आत्मबुद्धिनिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में तो इन भूतविज्ञानों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसने अपने पूर्व-युगों में आज के भूतास्त्रों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–वायव्यास्त्र–आग्नेयास्त्र–जैसे सर्वस्वसंहारक शस्त्रास्त्रों का न केवल नाम ही सुन रक्खा है, अपितु निकटपूर्व के पाँच सहस्र वर्ष के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में इन का आचारात्मक उपयोग भी कर लिया है, एवं इनके मानवताविरोधी भीषण परिणामों का साक्षात्कार भी कर लिया है।

६०८–सौभविमान, हर्य्यश्वविमान, नगरविमान आदि देवयुगीय भौतिक–वैज्ञानिक–आविष्कारों का भी उपहास करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ—

एवमेव सौभविमान, हर्य्यश्वविमान, नगरविमान, पुष्पकविमान-ऋभु-विभ्वा-वाज-नामक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत कामगवी, दिव्य चमस, दिव्य नौका, दिवि च भुविचव्याहतगतियुक्त अश्वयुग्म, आदि आदि परःशत भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवताने। खगोलशास्त्र के परपारदर्शी विद्वान् मयासुर के नवीन चन्द्र-सूर्य्य-निर्म्माण के युग भी देख लिए हैं इस देश की मानवताने। निष्कर्षतः-आज जिन्हें–अद्‌भुत–असम्भव–विलक्षण–चमत्कार माना, और मनवाने का प्रयासदम्भ किया जा रहा है, इन्हीं दम्भों के माध्यम से जिस निर्म्ममता के साथ आज 'मानव' की 'मानवता' को विकम्पित करने के सुख-स्वप्न देखे जा रहे हैं, एतद्देशीय मानव की मानवताने अपने पूर्वयुगों में ऐसे दर्प-दम्भों से भी कहीं महतोमहीयान् दर्पदम्भों का सान्निध्य प्राप्त कर रक्खा है, जिन की महत्ताकी तो कल्पना करने मे भी आज के भूतविज्ञानवादी को अभी अनेक शताब्दियाँ हीं लगसकती हैं। उन यच्चयावत् वैज्ञानिक विजृम्भणों को, तदनुप्राणित संहारास्त्रों को, अनुकूलता–सुखसुविधा-जनक आविष्कारों को कदापि अपने युगों में इस देश–की मानवताने सर्वसुलभ नहीं होने दिया एकमात्र 'मानवता' के हितानुबन्ध से ही। अपितु इन भौतिक–कालिक-चामत्कारिक-विजृम्भणों पर 'महाकालात्मिका' 'मानवता' का नियन्त्रण ही रहा इस देश की ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। कदापि वह उन्मुक्तता से इन विजृम्भणों को सार्वजनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसकी एकमात्र 'मानवता' के अनुरोध से ही। भारतीय-महर्षिप्रज्ञा-प्रतिभाने जिन विशिष्टतम शिल्पों-लोकवैभवों-साम्राज्य–राज्य–व्यवस्थाओं का सर्ज्जन किया, यथाशास्त्र यथाकाल जैसा नियमन–व्यवस्थापन किया इन लोकानुबन्धों का, साथ ही इन सब महान्–समारम्भों का सर्ज्जन करते हुए भी इसने अपनी 'मानवता' को जिस

कौशल से ऋजुतापूर्वक अक्षुण्ण बनाए रक्खा, उन सब महत्ताओं के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वल्पतमा नगण्या इन भौतिक-निर्मीविकाओं का।

६०९–मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्त्तकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्त्त-कालानुबन्धी इष्टकामधुक्-विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ–'काल कालेन पीडयन' के माध्यम से भौतिक विजृम्भणों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-ब्रह्मविज्ञानोंका, तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस ब्रह्मविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रक्रान्त रहीं। अतएव संरक्षक जो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों, तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों), दोनों से ही ऊपर ही उठी रही–। कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–प्राणात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०–कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव, ऋषिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तत्संसिद्ध सत्ताब्रह्म के प्रति, तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला, शाश्वत–सनातन–ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव, आर्य्यायणीय मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव, दिव्यप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्ष सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

में उद्घोष ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आरहा है, जब कि इत्थंभूता अनेक वे मानवजातियाँ तत्तद्दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्तत्-सामायिक-भावुकताओं के प्रवाह में प्रवाहित होती हुई, तत्तद्युगीय भौतिक-विजृम्भणों के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करती हुई असमय में हीं विस्मृति के गर्भ में हीं विलीन हो गईं, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रों से धुल-पुँछ गया है। मानते हैं--अपनी मानवतानुबन्धिनी सहजनिष्ठा की 'सनातनता' के साथ विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय 'हिन्दूमानव' भी अपनी 'मानवता' को भावुकता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस जाति की इस 'आस्था' पर भी पूर्ण निष्ठा है कि, भावुकता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस जाति की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सहसा पुनः प्रचण्डरूप से जाग्रत हो ही तो पड़ती है, जिसका आसन्नपूर्व के राष्ट्रीय-आन्दोलनों में हमें अपने वर्त्तमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दर्शन हो चुका है।

६११-आत्मधृतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्बन्ध में दिग्देश-कालभ्रान्ता-प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निकारण, एवं इसकी महती सन्निष्ठा का संस्मरण—

मानवता के साथ अपनी निष्ठा को अन्तर्यामसम्बन्ध से दृढमूल बनाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आत्मसमदर्शनमूलक साम्य को भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मन्दप्रज्ञ इसे निरा भावुक ही मान बैठने की भयानक भूल कर बैठते हैं। इसका यह सहज सौजन्य, सर्वभूतहितरति, विश्वहितैषिता ही कभी कभी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमूढ़ दुर्य्योधन-सदृश कुनैष्ठिकों के द्वारा। इसी भ्रान्ति से यह जाति उत्पीड़ित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध लोकचतुर-चाणाक्षों के द्वारा, जैसाकि ब्रिटिशसत्तातन्त्रने ऐसा ही कुछ मानने, मनवाने की भ्रान्ति कर डाली थी, जिस भ्रान्ति के दुष्परि-णाम उसे शीघ्र ही भोग लेने पड़े। और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के दिग्देशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि-विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षण आतुर बने रहने वाला भारतराष्ट्र का वर्त्तमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एक-मात्र सन्देशवाहक, किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्व-दान से ही तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र का जन्म हुआ है, जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र जीवित है, एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा, निश्चयेन जीवित रहेगा ही।

६१२-सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-संस्कृति, सनातना-शिष्टता, तद--नुप्राणिता धृति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुर-क्षित सनातन-प्रवाह—,

हमारी आस्था है कि, यह 'सनातन-हिन्दूमानव' वर्त्तमान सत्तातन्त्र की इत्थभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। कदापि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

विजम्भण से विकम्पित न होने देगा, जिस मानवताने हो इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आजतक समन्वित रक्खा है। कदापि इसे तात्कालिक उन प्रतिक्रियाभावों का सस्मरण भी नहीं हीं करना होगा, जो उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिशाप ही मानी गई है। अपितु अपने इस मानसिक-शारीरिक उत्पीडन को भगवान् का वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावुकता का परित्याग ही कर देना चाहिए इसे, जिस भावुकताने हीं इसे विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीडित कर रक्खा है। तदर्थ इसे अपने उत्तेजन को अपने निष्ठाबल के जागरण में हीं समर्पित कर देना है, एव तदर्थ दिग्देशकालानुबन्धों का सरक्षण करते हुए दिग्देशकालातीता उस 'मूलसस्कृति' के ही अनुशीलन में इसे अविलम्ब ही प्रवृत्त हो ही जाना है, जिसके स्वल्पयोगाभाव से ही यह आज इतर जातियों की भांति सर्वात्मना नहीं, तो अशत तो तात्कालिक युग-प्रभावों से अभिभूत हो ही पडा है। यही अभिभूति इसे आज उत्पीडित किए हुए है। अपने इस उत्पीडन को उत्पीडित वर्त्तमान काल के प्रति ही समन्यवाद समर्पित करने हुए इसे उस अनन्तकाल, अनन्त दिक्, अनन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है, जिसके नियन्त्रण से नियन्त्रित कालिक उत्पीडन कदापि नैष्ठिक मानव को उत्पीडित नहीं कर सकता। 'दिग्देशकालमीमांसा' के माध्यम से-'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के द्वारा भारतीय आस्तिक सनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रणतभाव से इसी तथाकथित 'यत्किञ्चित्-सशोधन' की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जिस सशोधनका रहस्यात्मक समन्वय मानवता-नुबन्धी महान् मानवधर्म्म के सर्वश्रेष्ठ विधाता भगवान् मनु के-"काल कालेन पीडयन्" इस महान् उद्-बोधनसूत्र के गर्भ में हीं पिनद्ध-सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्ण धृष्टता करने के लिए ही हमें 'दिग्देशकालस्वरूपमीमासा' जैसे गहन-गम्भीर तात्त्विक विषय में प्रवृत्त होना पडा है उसी महान्-काल की प्रेरणा से।

६१३-'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'काल कालेन पीडयन्' यह यत्किञ्चित्-सशोधन सापेक्ष बन रहा है। 'काल से काल को पीडित करता हुआ' वाक्य अपनी अपेक्षा से 'कौन पीडित कर रहा है काल से काल को' ? इस सप्रश्न का ही प्रेरक बन रहा है, जिस इस सम्प्रश्नात्मक अपेक्षाभाव के समन्वय के लिए हमें एकबार पुन राजर्षि मनु की उस सूक्ति का सर्वात्मना सस्मरण कर लेना चाहिए निम्न लिखितरूप से, जिससे स्वत ही वाक्य की सापेक्षता उपशान्त हो जाती है—

> एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
> आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥
> —मनु १।५१।

६१४-'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि-'अचिन्त्य पराक्रमशाली वह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर, तथा मुझे (मनु को) उत्पन्न कर काल से काल को पीडित करता हुआ स्वय अपने आप

में हीं अन्तर्लीन होगया"। "उसने सम्पूर्ण शिव को उत्पन्न किया, मनु को आविर्भूत किया, उसी ने काल से काल को पीड़ित किया, और यह सब विधि-विधान व्यवस्थित कर वह स्वयं परोक्ष बन गया", क्या तात्पर्य्य निकला ?। इस रहस्यपूर्ण सूक्ति के समन्वय के लिए हीतो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का आश्रय लिया गया है। कालात्मक इस विश्व का सर्ज्जक जो कोई भी कालातीत अनन्त तत्त्व है, वही अचिन्त्यपराक्रमशाली वह अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अप्रज्ञात-अलक्षण-सर्वविलक्षण-तत्त्व है, जिसका हम अपनी सापेक्षा भाषा में 'प्रजापति' नाम रख लेते हैं, जबकि 'प्रजासापेक्ष प्रजापति' नाम से भी कदापि उसका संग्रह सम्भव नहीं है। अतएव अन्ततोगत्वा उसका नाम 'सः' ('वह') ही रख लिया जाता है, जो 'सः' शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त सापेक्ष बनता हुआ भी अमुक सीमापर्य्यन्त निरपेक्ष भी बन रहा है। विश्वातीत-निर्विशेषानन्तरूप सर्वनिरपेक्ष तत्त्व ही 'वह' (सः) है, जिससे मनु, और विश्व, ये दो भाव अभिव्यक्त हुए। अणीयांसमणोरूप हृद्य तत्त्व का ही नाम 'मनु' है, जिसका नाम है मूलप्रकृति, इसीका नाम है परमकालात्मक परमदेव, एवं यही हैं पराकृतिरूप 'अक्षरकाल'। इस अक्षरकालात्मक मनु की व्यक्तावस्था का नाम ही है क्षरकाल, यही है व्यक्तकाल, एवं इसी का नाम है विश्व। इसप्रकार उस विश्वातीत-कालातीत अनन्तब्रह्मपुरुष से मनुरूप अक्षरकाल, विश्वरूप क्षरकाल, ये दो विवर्त्त ही आविर्भूत हुए। इन दोनों को उत्पन्न कर इन दोनों के लिए उसने क्या तो व्यवस्था की ?, एवं स्वयं अपने लिए उसने क्या निश्चय किया इनको उत्पन्न करने के अनन्तर ?-'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन्' यह उत्तर-वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। "मनुरूप अक्षरकालात्मक अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त्त काल अपनी अनन्तमहिमामण्डलात्मिका महिमा के एक देश में महिमा के एकांशरूप से अभिव्यक्त होने वाले मन्वन्तररूप क्षरकालात्मक सादिसान्त व्यक्त-मूर्त्त-विश्वकाल को पीड़ित करता रहे" यह व्यवस्था, यह विधि-विधान तो उस अनन्तब्रह्म की ओर से मनु, और विश्व (मनु, और मन्वन्तर, अनन्तकाल, एवं विश्वकाल) इन दोनों प्राकृत विवर्त्तों के लिए व्यवस्थित हुआ, एवं स्वयं अपने आप के लिए उसी की ओर से यह विधान व्यवस्थित हुआ कि-'आत्मन्यन्तर्दधे'। अर्थात् 'वह स्वयं अपनी महिमा में हीं विलीन रहे'।

६१५-मानवीय-वचन के 'सः'-'माम्'-'इदं सर्वम्'-पदों का तत्त्वार्थ-समन्वय—

उक्त मनुवचन में 'सः', 'माम्', 'इदं सर्वम्' इन तीन विवर्त्तों की ओर सङ्केत हुआ। है 'सः' को राजर्षि ने 'अचिन्त्य'(अचिन्त्यपराक्रमः) बतलाया है। 'इदं सर्वम्' को सृष्टिरूप 'अव्यक्ततत्त्व' (सृष्ट्वेदं सर्वम्) बतलाया है, 'माम्' का अर्थ तो स्वतः ही 'मनु' है ही, जिसे अन्यन्त्र स्वयं राजर्षिने अणीयांसमणोरपि अव्यक्त कहा है। यों व्यक्त-अव्यक्त से अतीततत्त्व[1], अव्यक्ततत्त्व[2], व्यक्ततत्त्व[3], ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं सहजरूप से ही सः[1]-मां[2]-इदंसर्वम्[3]-इन तीन शब्दों से। स्पष्ट ही 'कालं[1]-कालेन[2]' का क्रमशः 'व्यक्त[1]-अव्यक्त[2]' से सम्बन्ध प्रमाणित होजाता है। क्योंकि 'महान्' हीं 'अल्प' का उत्पीड़क बना करता है। अव्यक्त मनु 'महान्' है, व्यक्त विश्व (इदं सर्वम्) स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के समतुलन में। अतएव उत्पीड़ककाल अव्यक्तमनुकाल ही हो सकता है, एवं उत्पीड़ितकाल व्यक्तविश्वकाल ही होसकता है। फलतः 'कालेन' का अर्थ 'मनुरूपेणाव्यक्तकालेन' होता है, एवं-'कालं' का अर्थ 'विश्वरूपं व्यक्तकालम्' होता है। इस प्रक्रिया का सर्ज्जक, इस अपेक्षा का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

कालातीत सनातनतत्त्व है । और यों मनुसूक्ति के इन तीनों शब्दों में क्रमशः अव्ययपुरुष, तत्पराप्रकृतिरूप अक्षरकाल (मनु), तत्पराप्रकृतिरूप क्षरकाल (मन्वन्तररूप विश्व), ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं। कालातीत[1], अव्यक्तकाल[2], व्यक्तकाल[3], किंवा अव्यय[1], अक्षर[2], क्षर[3], किंवा स्वोऽरमीयम्मन[1], मनु[2], मन्वन्तर[3], किंवा * पुरुष[1]-प्रकृति[2]-विकृति[3], किंवा अनन्त[1], अव्यक्त[2], व्यक्त[3], किंवा स[1]-मा[2]-इदं[3] सर्वम्, किंवा–अचिन्त्य[1]–कालेन[2]–कालम्[3], इन सब त्रित्वों का एक ही अर्थ है ।

६१६–'कालं कालेन पीडयन्' का रहस्यात्मक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है–'पीडयन' का । उस अचिन्त्यने मनुर्लक्षण 'कालेन' रूप काल के लिए, तथा मन्तवन्तरलक्षण 'काल' रूप काल के लिए यह व्यवस्था की कि 'काल काल को पीडित करता रहे' । इस पीडन का क्या अर्थ ? । इसी 'अर्थ 'का नाम है वह 'यत्किञ्चित्-मशोधन', जिसका पूर्व में अनेक प्रकार से यशोगान किया जाचुका है । पीडन का एक ही अर्थ है–'छन्दोमयी मर्य्यादा' । "महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित 'अल्प' अपने आपको 'महान्' के गर्भ मे हीं अनुभूत करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको महान् मे हीं समर्पित रक्खे", यही पीडन का अर्थ है । इस से होता क्या है ? । होता यही है कि, इस मर्य्यादात्मक समर्पण मे अल्प का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है, अल्पताप्रयुक्त अल्प लक्ष्य भी सफल हो जाते हैं, एवं अल्पताप्रयुक्त सीमात्मक–बन्धनात्मक–मर्त्यभाव भी इस अल्पता में नहीं रहने पाते–महान् के प्रति समर्पण से । यों दिग्देशकालात्मक अल्पभाव उस अनन्त–कालमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी अनन्तमहिमा को साक्षी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं, एवं तत्साक्षी के अनुबन्ध से इनकी अल्पता से भी ये अल्पभाव बच जाते हैं । और ऐसा ही कुछ कालपर्वात्मक सम्पूर्ण सृष्टिधाराओं का सहज क्रम है, जिस क्रम का ही नाम है–'महिमाविवर्त्त' । कालसाक्षी कालातीत अनन्ताव्ययब्रह्म, कालसाक्षी (विश्वसाक्षी) अव्यक्ताक्षररूप अनन्तकाल, इन दोनों साक्षियों के साक्षित्व में सीमारूपेण–मर्य्यादारूपेण-व्यवस्थित स्व-स्व-व्यक्तकालभावों में मर्य्यादित बने रहने वाले मूर्त्तकालभाव, व्यक्तकालभाव स्व-स्व-मूर्त्त-व्यक्त-दिग्देशकालानुबन्धी–कालिक–दैशिक–स्वरूपों को भी व्यवस्थित बनाए रखने में समर्थ होजाते हैं, एवं उस अनन्तकालमहिमा, तथा अनन्तानन्ता ब्रह्ममहिमा के महिमात्मक अनुग्रह से इनका तदनुबन्धी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है, एवं यही 'उत्पीडक' का एकमात्र अर्थ है ।

६१७–कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवर्त्तों का तात्त्विक-संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की साक्षी के अनुग्रह से अनन्तमहिमारूप में परिणत रहने वाले अनन्त–अव्यक्त–अक्षरकाल से (परमाकाशात्मक स्वयम्भूकाल से) परमेष्ठीकाल पीडित है । स्वयम्भूकाल की अनन्तमहिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव 'महदक्षरकाल' नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले परमेष्ठीकाल

---

*–यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
मनु १।११।

से सौरसम्वत्सरकाल पीड़ित है, मर्य्यादित है। परमेष्ठीकाल की महिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव विश्व हृदयकालात्मक 'मन्वन्तरकाल' नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले **सौरसम्वत्सरकाल** से पार्थिवसम्वत्सरकाल पीड़ित है, मर्य्यादित है। अनन्त सौरकाल की महिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव **'विराट्काल'** नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले **पार्थिवसम्वत्सरकाल** से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' पीड़ित है। अनन्त पार्थिवकाल की महिमा से महान् बने रहने वाले, अतएव 'महान्काल' * नाम से प्रसिद्ध 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' से अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–निमेषादि सब कालपर्व अणिमा–महिमारूपेण–पूर्व–पूर्व से उत्तर–उत्तर उत्पीड़ित है। एवं इन चान्द्रकालोत्पीड़नो का ही अन्तिम परिणाम है–भूत–भौतिक पदार्थ, जो इस पारम्परिक पीड़न के रहस्य–समन्वय के माध्यम से जहाँ मानव के लिए अनन्त के महिमारूप बनते हुए अनुत्पीड़क हैं, वहाँ इनके इसी मर्त्य–सीमारूप से इन्हीं में आसक्त–व्यासक्त होजाने से ही भूत–भौतिक काल अपने इस मर्त्य परिणामभाव से मानव के लिए सर्वथा उत्पीड़क, क्लेशावह ही बन जाया करते हैं। **अतएव मानव को अपने प्रक्रान्त भौतिक जीवन में इन सब भूतों को, व्यक्तकालों को उस अनन्तकाल से पीड़ित करते हुए ही कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहना चाहिए कालातीत–अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में सतत जागरूक रहते हुए ही।**

६१८--'अनन्त' से सतत उत्पीड़ित 'अन्त' की 'अन्ततोगत्वा' अनन्तता में परिणति, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मक पक्ष का स्वरूप-दिग्दर्शन —

'अन्त' जब 'अनन्त' से उत्पड़ित होता रहता है, तो उस दशा में अन्ततोगत्वा अन्त को 'अनन्त' ही बन जाना पड़ता है। सतत, निरन्तर अव्यक्त-अमृत-अक्षर-अमूर्त्त–से प्रभावित व्यक्त–मर्त्य–क्षर–मूर्त्त–को अवश्य ही एक दिन अव्यक्ताक्षरामूर्त्तानन्तामृतरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। विद्या से सतत उत्पीड़िता अविद्या को अवश्य ही कालान्तर में विद्यारूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। सम्भूति से निरन्तर उत्पीड़ित विनाश को एक दिन विवश बन कर सम्भूतिरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। अन्त से कदापि अनन्त का उत्पीड़न सम्भव नहीं है, क्योंकि सीमित अन्त की दृष्टि से अनन्त असीम है। उस में यह है, किन्तु यह उसे कदापि स्वसीमा से सीमित नहीं कर सकता, अतएव कदापि उसे उत्पीड़ित नहीं कर सकता, अतएव च कदापि अन्त से अनन्त की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपितु अनन्त से ही अन्त की अनन्तरूप में परिणति हो जाया करती है कालपरिपाकदशा में। इस 'कालपरिपाक का एकमात्र अर्थ है-अनन्त से निरन्तर अन्त को उत्पीड़ित पीड़ित करते रहना'। इस 'पीड़ित करते रहना' का अर्थ है-अनन्त की साक्षी में अन्त को मर्य्यादित बनाए रखना। अर्थात् अन्त को अन्त न मान कर, कार्य्यकारणात्मक न मानकर, दिग्देशकालात्मक न मान कर उस अनन्त का महिमामय विवर्त्त मानते हुए इसे मर्य्यादित-बनाए रहना। अर्थात् मर्य्यादापूर्वक–दिग्देशकालक्रमव्यवस्थापूर्वक–यथाकाल–यथादिक् यथादेश–तद्रूप से ही कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहते हुए उस अनन्तकाल के माध्यम से अनन्तानन्त ब्रह्म के अनुशीलन में प्रवृत्त रहना। अर्थात् यही कि–सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहनात्मक

---

*–चन्द्रमा वै महान्–देवः(श्रुतिः)

आरम्भ से अबतक के दिग्देशकाल-स्वरूप मीमांसात्मक व्यामोहनों से एकान्त असंपृक्त बने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में जागरुकता-पूर्वक आजीवन प्रवृत्त रहना।

६१९-प्रकृतिसिद्ध-उत्तरदायित्त्वपूर्ण-स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म के द्वारा सतत कालोत्पीड़न से ही उत्पीडक काल की पीडाप्रवृत्ति का उपशम—

अथात् कभी एक क्षण के लिए भी इस वर्त्तमान-भौतिक काल को विश्राम नहीं लेने देना। अपितु सदा ही काल को कर्त्तव्य से पीडित ही करते रहना। यह सुनिश्चित है कि, ईश्वरार्पणभावबुद्धया अपने भौतिक जीवनात्मक व्यक्तकाल की कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल से जो मानव सतत पीडित करता रहता है, उसका कभी अन्त नहीं होता। वह मानव अपने कालातीत स्वरूप से अजर-अमर है-सनातन है —यहां भी, और वहां भी, जिस इस लोकातीत तथ्य का 'लोकबुद्धि' से कदापि समन्वय नहीं किया जासकता। बौद्धिक तर्क, विचार-मीमांसा, शास्त्रार्थ, विचारपरामर्श प्रश्नोत्तरविमर्श, कार्य्यकारणविमर्श, आदि आदि किसी भी बौद्धिक विजृम्भण से यह तथ्य समन्वित नहीं होसकता। इस तथ्य के समन्वय का तो एकमात्र राजमार्ग है-'कालं कालेन पीडयन्'। अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्तकर्त्तव्य से सादिसान्त भौतिक जीवन को सतत-उत्पीडित करते रहना''। अकर्म्मण्यता ही बौद्धिक-दार्शनिक-विचारों की उद्गमभूमि बन जाया करती है, जिस दार्शनिकता में कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा का संस्पर्श भी नहीं है। तत्त्वमीमांसा के पारदर्शी उस महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस सद्गृहस्थ को ही 'महान्' माना जायगा, जो उत्तरदायित्व-पूर्ण सहज कर्त्तव्यनिष्ठा से इष्टदेवसंस्मरणपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्वाह करता हुआ दार्शनिक की भांति समाज के लिए आर्थिक-उत्पीडन का कारण तो नहीं बनता।

६२०-कर्त्तव्य-कर्म्म की स्वरूपपरिभाषा—

आचारात्मक कर्त्तव्य का नाम ही धर्म्म है, जो उस अनन्त-शाश्वतब्रह्म का प्रतिरूप बनता हुआ 'शाश्वतधर्म्म' बन रहा है, अतएव जो-'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों में प्रसिद्ध है। धर्म्मात्मक कर्त्तव्य ही महाकाल है। इस काल से जो अपने भौतिक काल को उत्पीडित करने के कौशल से परिचित हो जाता है, निश्चयेन धर्म्म उसका रक्षक बन जाता है,-यतोधर्म्मस्ततो जय। हम अनुमान करते हैं कि-'कालं कालेन पीडयन्' से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' का पर्य्याप्त स्पष्टीकरण होचुका। यदि अब भी सन्तोष न हुआ हो, तो हमें कुछ एक वैसे सूत्रों का निरन्तर अनुशीलन करते रहना चाहिए, जिनके माध्यम से अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के अनुग्रह से अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी उस 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से हमारी लोकबुद्धि भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशत तो अवश्य ही समन्वित हो जायगी।

६२१–कर्त्तव्यकर्म्मस्वरूपपरिचायिका–'कालं कालेन पीड़यन्' मूला अनुशीलनात्मिका–नितान्तमवधेया–'शतसूत्री'—

१—'अचिन्त्य'	की साक्षी में	'माम्' से 'इदं सृष्टं' को	पीड़ित-नियन्त्रित-मर्य्यादित ही रखना चाहिए
२—'अव्यय'	,,	'अक्षर' से 'क्षर' को	,,
३—'पुरुष'	,,	'प्रकृति' से 'विकृति' को	,,
४—'अनन्त'	,,	'अनन्त' से 'अन्त' को	,,
५—'कालातीत'	,,	'अमूर्त्तकाल से 'मूर्त्तकाल' को	,,
६—'सनातन'	,,	'अव्यक्त' से 'व्यक्त' को	,,
७—'परात्पर'	,,	'पुरुष' से 'प्रकृति' को	,,
८—'प्रकृति'	,,	'विकृति' से 'विकार' को	,,
९—'विकृति'	,,	'विकार' से 'भूतों' को	,,
१०—'सुसूक्ष्म'	,,	सूक्ष्म' से 'स्थूल' को	,,
११—'सत्ता'	,,	'मन' से 'प्राण' को	,,
१२—'मन'	,,	'प्राण' से 'वाक्' को	,,
१३—'वाक्'	,,	'नाम' से 'रूप' को	,,
१४—'काम'	,,	'तप' से 'श्रम' को	,,
१५—'अव्यक्त'	,,	'महान्' से 'बुद्धि' को	,,
१६—'महान्'	,,	'बुद्धि' से 'मन' को	,,
१७—'बुद्धि'	,,	'मन' से 'इन्द्रियवर्ग' को	,,
१८—'मन'	,,	'इन्द्रियप्राणों' से 'विषयों' को	,,
१९—'इन्द्रिय'	,,	'विषयों' से 'भौतिक जीवन' को	,,
२०—'अनुपाख्यतम'	,,	'अनिरुक्ततम' से 'निरुक्ततम' को	,,
२१—'विश्वातीत'	,,	'विश्वचर' से 'विश्व' को	,,
२२—'कालातीत'	,,	'काल' से 'दिक्' को	,,
२३—'काल'	,,	'दिक्' से 'देश' को	,,
२४—'दिक्'	,,	'देश' से 'प्रदेश' को	,,
२५—'शाश्वतधर्म्म'	,,	'प्राकृतधर्म्म' से 'अभिनिवेश' को	,,

२६—'सनातनज्ञान' की साक्षी में 'प्राकृतज्ञान' से 'अज्ञान' को पीडित ही रखना चाहिए
२७—'सनातनवैराग्' „ 'प्राकृतवैराग्य' से 'आसक्ति' को „
२८—'सनातन ऐश्वर्य्य' „ 'प्राकृतऐश्वर्य्य' से 'अस्मिता' को „
२९—'विभूति' „ 'सम्भूति' से 'विनाश' को „
३०—'वित्ति' „ 'विद्या' से 'अविद्या' को „
३१—'त्रिकालातीत' „ 'भूतभविष्यत्' से 'वर्त्तमान' को „
३२—'सौरसम्वत्सरकाल' „ 'पार्थिवसम्वत्सर' से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' को „
३३—'पार्थिवसम्वत्सरकाल' „ 'चान्द्रसम्वत्सकाल' से 'अयनकाल' को „
३४—'चान्द्रसम्वत्सरकाल' „ 'अयनकाल' से 'ऋतुकाल' को „
३५—'कालातीत' „ 'अनन्तकाल' से 'अन्तकाल' को „
३६—'अनन्तकाल' „ 'स्वायम्भुवकाल' से 'पारमेष्ठ्यकाल' को „
३७—'स्वायम्भुवकाल' „ 'पारमेष्ठ्यकाल' से 'मन्वन्तरकाल' को* „
३८—'पारमेष्ठ्यकाल' „ 'मन्वन्तरकाल' से 'सौरसम्वत्सरकाल' को „
३९—'मन्वन्तरकाल' „ 'सौरसम्वत्सरकाल' से 'पार्थिवसम्वत्सरकाल' को „
४०—'सौरसम्वत्सरकाल' „ 'पार्थिवसम्वत्सरकाल' से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' को „
४१—'पार्थिवसम्वत्सरकाल' „ 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' से 'अयनकाल' को „
४२—'चान्द्रसम्वत्सरकाल' „ 'अयनकाल' से 'ऋतुकाल' को „
४३—'अयनकाल' „ 'ऋतुकाल' से 'मासकाल' को „
४४—'ऋतुकाल' „ 'मासकाल' से 'पक्षकाल' को „
४५—'मासकाल' „ 'पक्षकाल' से 'अहोरात्रकाल' को „
४६—'पक्षकाल' „ 'अहोरात्रकाल' से 'निमेषकाल' को „
४७—'अहोरात्रकाल' „ 'निमेषकाल' से 'प्राणकाल' को „
४८—'निमेषकाल' „ 'प्राणकाल' से 'जीवकाल' को „

---

* मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥

—मनु १।८०।

अर्थात्—लोकपक्षे—

४९—पुरुषार्थ से भाग्य को उत्पीड़ित—नियन्त्रित करते ही रहना चाहिए
५०—कर्म्मठता से अकर्म्मण्यता को ”
५१—जागरण से निद्रा को ”
५२—अमृत से मृत्यु को ”
५३—सत् से असत् को ”
५४—सदाचार से दुराचार को ”
५५—शील से अविवेक को ”
५६—अदः से इदं को ”
५७—ब्रह्मौदन से प्रवर्ग्य को ”
५८—काल से यज्ञ को ”
५९—यज्ञ से प्रजा को ”
६०—नीति से ब्राह्मण को ”
६१—अनुशासन से क्षत्रिय को ”
६२—गणता से वैश्य को ”
६३—संघ से शूद्र को ”
६४—संवित् से ब्रह्म को ”
६५—अनुशासन से क्षत्र को ”
६६—उपदेश से विट् को ”
६७—आदेश से पौष्ण को ”
६८—समता से विषमता को ”
६९—समदर्शन से विषमवर्त्तन को ”
७०—स्थिति से गति को ”
७१—मर्य्यादा से स्वतन्त्रता को ”
७२—मानवता से दानवता को ”
७३—एकता से अनेकता को ”
७४—ज्ञान से विज्ञान को ”
७५—आर्जव से कुटिलता को ”

७६—लज्जा से निर्लज्जता को उत्पीडित नियन्त्रित करते ही रहना चाहिए
७७– अनग्नता से नग्नता को ,,
७८—सत्ता से भाति को ,,
७९—परोक्ष से प्रत्यक्ष को ,,
८०—शील से अविवेक को ,,
८१—सवित् से अनुभूति को ,,
८२—बोध से बुद्धि को ,,
८३—समझ से ज्ञान को ,,
८४—तथ्य से कल्पना को ,,
८५—महिमा से परिणामवाद को ,,
८६—तितिक्षा से कष्टों को ,,
८७—मोक्ष से काम को ,,
८८—धर्म्म से अर्थ को ,,
८९—विवेक से मूढता को ,,
९०—वृषा से योषा को ,,
९१—प्राण से रयि को ,,
९२—अग्नि से सोम को ,,
९३—स्वाध्याय से पशुता को ,,
९४—आदर्श से यथार्थ को ,,
९५—संस्कृति से सभ्यता को ,,
९६—सभ्यता से सभा को ,,
९७—सभा से समाज को ,,
९८—समाज से लोकजीवन को ,,
९९—पर्वों से उत्सवों को ,,
१००-उत्सवों से सम्मेलनों को ,,

और अवधानपूर्वक मर्य्यादित रखना विस्मृत न कीजिए !

(क)—सम्मेलनों से समारोहों को ,,
(ख)—प्रतिरूपों से प्रतीकों को ,,
(ग)—निष्ठा से भावुकता को ,,

और सर्वान्त में पारिशेष्यात्--

(अ)–शास्त्र से सदा शिल्प को उत्पीड़ित रखिए !

(आ)–कौशल से सदा कला को उत्पीड़ित रखिए !

(इ)–वाणिज्य से सदा अर्थ को उत्पीड़ित रखिए !

(ई)–राष्ट्रीयता से सदा अन्तर्राष्ट्रीयव्यामोहन को उत्पीड़ित रखिए !

तदर्थ–(ऊ)–आत्माभिव्यक्तित्व से सदा शरीराभिव्यक्तित्व-विमोहन को उत्पीड़ित रखिए !

तदर्थ–(ऋ)–कर्त्तव्यनिष्ठा से सदा सर्वदा तत्फलात्मिका भावुकता को सतत उत्पीड़ित करते रहना कदापि विस्मृत न कीजिए, और--

६२२--अनुशीलनात्मिका 'शतसूत्री' से अनुप्राणित--दिग्देशकालस्वरूपमीमांसानुगत--'यत्किञ्चित्' संशोधन की समन्वयनिष्ठा से समन्वित मानव की कृतकृत्यता, एवं दिग्देशकालानुगत--माङ्गलिक–संस्मरणपूर्वक प्रतिज्ञात–निबन्धोपराम---

उक्त 'शतसूत्री' के समन्वय–तथ्य के अनन्तर स्वयं हीं अपनी सहजप्रज्ञा, नैष्ठिकी प्रज्ञा से 'दिग्देश-कालस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से-'कालं कालेन पीड़यन्' से अनुप्राणित-'यत्किञ्चित्-संशोधन' की समन्वयनिष्ठा से अपना मानवजीवन धन्य–कृतकृत्य प्रमाणित करलीजिए, जिस इस प्रमाणन के लक्ष्य से ही, भारतीय हिन्दूमानव के दिग्देशकालनिबन्धन-व्यामोहन के प्रति उद्बोधननिष्ठा से ही यह 'दिग्देशकालस्वरूप–मीमांसा, उपनिबद्ध हुई है कालप्रेरणा से ही। इसी दिग्देशकालोद्बोधन के माध्यम से समदर्शनानुगता विषमवर्त्तनशीला भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने भारतीय आस्तिक हिन्दूमानव के निमित्त से सम्पूर्ण विश्व के मानवों को आत्मसाम्यमूलक, प्रकृतिभेदात्मक वैसे उद्बोधनसूत्र प्रदान किए हैं, जो उद्बोधनसूत्र ही इस की आचारात्मिका ज्ञानविज्ञानसमन्विता 'मानवसंस्कृति' के चरमफल माने गए हैं। उन्हीं चरमफलों के माङ्गलिक संस्मरण के साथ प्रस्तुत 'दिग्देशकालमीमांसा' राष्ट्रमानवनिमित्तेन 'विश्वमानव' के सम्मुख–उपस्थित हो रही है कि—

१–संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥

२–सङ्गच्छध्वं ! संवदध्वं ! सं वो मनांसि जानताम् !।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥

३–समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः–'सुसहासति' ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र–चतुष्टयी के–'ससमभियुवसे'० इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक 'अग्निदेव' का ही संस्मरण किया है, जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि, पार्थिव–भूताग्नि, इन तीन महिमामय विवर्त्तों से ही सप्तलोकात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है, एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योऽस्मरा * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यच्चयावत् इष्टों, कामनाओं के पूरक — हैं । इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं । सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अर्य्य' नाम से प्रसिद्ध हैं । 'इडा' नाम से प्रसिद्धा महिमापृथिवीरूपा उत्तरावेदि में आन्तरिक्ष्य दाह्य सोम की आहुति से प्रचण्डरूप से प्रज्ज्वलित हो पडने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी सस्राष्टिलक्षणा, सम्मिश्रणलक्षणा 'यागात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं । अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है, जैसा कि–'अग्नी-षोमात्मक जगत्' इत्यादि बृहज्जाबालश्रुति से प्रमाणित है । ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के भाग्यविधाता हैं । 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिष्ठाता ये ही 'भारत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-धन्यतम-यशस्यतम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के सर्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं । ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने –'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल, १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१० मण्डल, १९० सूक्त, ३ मन्त्र) पर्य्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली, सोमगर्भित सर्वमूर्त्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है । इत्थंभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उन्हीं अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'ससमियुवसे०' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्–साक्षी में इसी भारताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठ के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है, सूक्त के–'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है, जिस का राष्ट्रभाषा में वर्त्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थंरूपेणैव समन्वय समीचीन होगा कि—

---

*–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

(१)–हमारे राष्ट्र का–'गन्तव्यपथ' एक हो ! (सङ्गच्छध्वम् !) ।

(२)–हमारे राष्ट्र की–'भाषा' एक हो ! (संवद्ध्वम् !) ।

(३)–हमारे राष्ट्र के–'विचार' एक हों ! (सं वो मनांसि जानताम् !) ।

(४)–हमारे राष्ट्र की–'मननशैली' एक हो ! (समानो मन्त्रः !) ।

(५)–हमारे राष्ट्र की–'विधानसमिति' एक हो ! (समितिः समानी !) ।

(६)–हमारे राष्ट्र के–'मनोभाव' एक हों ! (समानं मनः !) ।

(७)–हमारे राष्ट्र की–'प्रज्ञा' एक हो ! (सह चित्तमेषाम् !) ।

(८)–हमारे राष्ट्र की 'गुप्तमन्त्रणा' एक हो ! (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः !) ।

(९)–हमारे राष्ट्र के 'आभ्यन्तर संकल्प' एक हों ! (समानी व आकूतिः !) ।

(१०)-हमारे राष्ट्र का 'केन्द्रबिन्दु' एक हो ! (समाना हृदयानि वः !) ।

(११)-हमारे राष्ट्र का 'अन्तर्जगत्' अभिन्न हो ! (समानमस्तु वो मनः !) ।

श्वेतक्रान्तिमूला उक्ता 'एकादशासूत्री' की 'राष्ट्रीय-घोषणा' के माध्यम से ही हम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए, सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानवों के लिए उन की मनःशरीरनिबन्धना योग-क्षेमात्मिका 'हविः' (अन्न-वस्त्र) की समानरूप से ही व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक-समदर्शनमूलक उस-'साम्यवाद' पथ के ही पथिक बने रहें, जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गण में विभिन्न प्रकृति-सिद्ध विभिन्न गुणकर्म्मात्मक–'स्वधर्म्म'-लक्षण विभिन्न भी प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्म निर्विरोध समन्वित हैं । समान–हविःप्रदान से सम्बन्ध रखने वाले इसी 'सहास्तित्त्व'-रूप माङ्गलिक–विधान का सर्वान्त में प्रचण्ड उद्घोष करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

'समानेन वो हविषा जुहोमि-यथा वः सुसहासति'

सर्वान्ते च भारतराष्ट्र की इसी 'मङ्गल-कामना' के साथ 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–नुगत यह बालोपलालन तत्पाशमुक्ति-कामनयैव उपरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेव च !
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नो ऽस्तु !
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथींश्च लभेमहि !
याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

अर्थात्–हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !

हमारे राष्ट्र में 'वेदतत्त्व', एवं तदनुगता 'सुसन्तति' अभिव्यक्त हो !

हमारे राष्ट्रीय-जनमानस से 'श्रद्धा' कभी पलायित न हो !

हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिए 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित 'अतिथि' प्राप्त करता रहे !

हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'मांगते' ही रहें !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याञ्चा-अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।

दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरंध्रिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !

सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !

योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते

अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ॥

अग्निर्जागार तमयं सोम आह—

तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां 'सर्वमानवाः ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामयाः !

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् !

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !